

कालिदास-ग्रन्थावली

सीतागम चतुर्वेदी

Sc48.08
KAL
64931

अखिल भारतीय विक्रम-पण्डित्

कार्य

सं० २००५ दि०

द्वितीय संस्करण

प्रकाशक—

पंडित गयाप्रसाद ज्योतिषी एम० ए०,

व्यवस्थापक

अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी ।

इस ग्रन्थावलीके किसी एक या सब ग्रन्थोंके सातुवाद प्रकाशनका पूर्ण अधिकार
पण्डित सीनाराम चतुर्वेदीको है ।

पं० श्रीकृष्ण पन्त
अध्युक्त मुद्रणालय, काशी
बसुन्दाव, दुर्गा प्रेस काशी



श्रातम्भार्चरुर्महाएडाचार्य पुण्यश्लोकः पटिल भीमसेनजी वेदपाठी

समर्पण

कालिदास-ग्रन्थावली का यह संस्करण

श्रीतन्मार्त्त कर्मकाण्डके अद्वितीय विद्वान् तथा काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयके
प्राच्य-विद्या-विभागमें वेद तथा पौरुहित्यके आचार्य पूज्य पितृ-
चरण पंडित भीमसेनजी वेदपाठीजीसे सादर श्रद्धाके साथ
समर्पित, जिनके पुण्यसे मैंने बिना प्राप्त की, जिनकी
प्रेरणा और महायत्नासे यह द्वितीय संस्करण
प्रकाशित हुआ और जो इसके प्रकाशनके
पूर्व ही महत्मा स्वर्गोक चले गए ।

मूल प्रेरक
महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजी

सम्पादक तथा अनुवादक

साहित्याचार्य पण्डित सीताराम चतुर्वेदी, एम्० ए० (हिन्दी, पालि, संस्कृत,
ग्रन्थ भारतीय इतिहास तथा संस्कृति) बी० टी०, एल्-एल्, बी०

विषय-सूची

प्रथम खण्ड (काव्य)

	पृष्ठ
रघुवंश (अनुवाद-सहित)	१-२०१
कुमारसंभव (अनुवाद-सहित)	२०३-३४२
मेघदूत (अनुवाद-सहित)	३४३-३७०
श्वेतुसंहार (अनुवाद-सहित)	३७१-३९९

द्वितीय खण्ड (नाटक)

अभिज्ञान-शाकुन्तल (अनुवाद-सहित)	१-१५०
विक्रमोर्वशीय (अनुवाद-सहित)	२५१-२५७
मालविकाग्निमित्र (अनुवाद-सहित)	२५९-३५८

तृतीय खण्ड

समीक्षा-निबन्ध (विद्वानों-द्वारा)	१-१०६
अभिधान-श्लोक—सीताराम चतुर्वेदी	१०७-१६०
पालिदास-भाव्यकालीन मानचित्र	१६८

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

—रघुवंशम्—

॥ प्रथमः सर्गः ॥

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये । जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ १ ॥
क सूर्यप्रभवो वंशः क चान्पविषया मतिः । तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ २ ॥
मन्दः कवियशःश्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् । प्रांशुलभ्ये फले लोमादुद्राहुरिव वामनः ॥ ३ ॥
अथवा कृतपाद्द्वारे वंशोऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः । मणौ वज्रसमुत्कीर्णं सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ ४ ॥
सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् । आसमुद्रद्वितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥ ५ ॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् । यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥ ६ ॥

[वाणी और अर्थ जैसे अलग कहलाते हुए भी एक ही हैं, वैसे ही पार्वतीजी और शिवजी भी कहनेको दो रूप हैं, पर हैं वे सचमुच एक ही । इसलिये] वाणो और अर्थको अपनानेके लिये, उनको ठीक समझने और उनका ठीक व्यवहार करनेके लिये मैं ससारके माता पिता पार्वतीजी और शिवजीको प्रणाम करता हूँ जो शब्द और अर्थके समान एक रूप हैं ॥ १ ॥ [मैं रघुवंशका वर्णन तो करने बैठा हूँ पर मैं देर रहा हूँ कि] कहीं तो सूर्यसे उरपन्न हुआ यह [तेजस्वी] वंश [जिसमें रघु और राम जैसे पराक्रमी उरपन्न हुए हों और] कहीं मोटी खुदिकाल मैं । [मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि मैं रघुवंशका पार नहीं पा सकता फिर भी मेरी मूर्खता तो देखिए कि] तिनकोसे बनो छोटी सी नाव लेकर अपार समुद्रको पार करनेकी बात सोच रहा हूँ ॥ २ ॥ देखिए, मैं हूँ तो मूर्ख, पर मेरी साध यह है कि बड़े-बड़े कवियोंमें मेरी गिनती हो । यह सुनकर लोग मुझपर शक्य होंगें, क्योंकि मेरी यह करनी वही ही है जैसे कोई बौना अपने गह्वे हाथ ऊपर उठाकर उन फलोंको तोड़ना चाहता हो जहाँ तक बचल लग्ने हाथवालोंकी ही पहुँच हो सक्ती हो ॥ ३ ॥ [पर मुझे एक बड़ा भारी भरोसा यह है कि] यादमांकि आदि कवियोंने सूर्यवंशपर सुन्दर काव्य लिखकर वाणीका द्वार पहले ही खोल दिया है । इसलिये उसमें पैठ जाना और उस बरका फिरसे वर्णन करना मेरे लिये वैसे ही सरल हो गया है जैसे हीरेकी कनीसे बिधे हुए भस्मिमें डोरा पिरोना ॥ ४ ॥ मैं जानता हूँ कि मुझे कुछ आता जाता नहीं है, फिर भी मैं उन प्रतापी रघुवर्षियोंका वर्णन करने बैठा हूँ, जिनके चरित्र जन्मसे खेर अन्ततक शुद्ध और पवित्र रहे, जो किसी कामको उठाकर उसे पूरा करके ही छोड़ते थे, जिनका राज्य समुद्रके और-घोर तक फैला हुआ था, जिनके रथ पृथ्वीसे सीधे स्वर्गतक जाया आया करते थे, जो राज्योंके नियमके अनुसार ही चल करते थे, जो

त्यागाय संभृतार्थानां सत्पाय मितभाषिणाम् । यशसै विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
 शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विप्रयैषिणाम् । वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजात् ॥
 रघूयामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्बिम्बोऽपि सन् । तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥
 तंसन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तित्हेतवः । हेन्नः संलक्ष्यते ह्यमौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥
 वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् । आसीन्महीचितामाद्यः प्रणवरत्नन्दसामिव ॥
 तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः । दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविच ॥
 व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः । आत्मकर्मक्षमं देहं क्षाप्रो धर्म इवाश्रितः ॥
 सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना । स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वा क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥
 आकारमदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशात्मनः । आगमैः सदृशात्मन आरम्भसदृशोदयः ॥

मौगने वालोंको मन-चाहा दान देते थे, जो अपराधियोंकी अपराधके अनुसार ही दण्ड देते थे, जो अपराध देवरर ही काम करते थे, जो दान करनेके लिये ही धन बटोरते थे, जो सत्यकी रक्षाके लिये बहुत बम बोलते थे [कि जिसका कर्ज उताना कर नी दिखावे,] जो [दूसरोंका राज हथपने या लूटमारके लिये नहीं करते] अपना धरा बढ़ानेके लिये ही दूसरे देशोंकी जीतते थे, जो भोग विलासके लिये नहीं तरन् सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही विवाह करते थे, जो बाळकपनमें पढ़ते थे, तरणाईमें संसारके भोगोंका त्यागन्द लेते थे, बुझापमें मुनियोंके समान जगलोंमें रहकर तपस्या करते थे और अन्तमें परमात्माना ध्यान करते हुए अपना शरीर छोड़ते थे । तब पृथिवी तो रघुवशियोंके ये सुण जब मेरे काममें पड़े, तब इन्होंने ही मुझे यह काम लियेकी ठिकई करनेकी उभकाया ॥ ५-९ ॥ इस वाक्यको सुननेके अधिकारी भी वे ही सज्जन हैं जिन्हें भले-खुरेकी चपड़ी परत है क्योंकि सोनेका परावन या तोटापन आगमें डालनेपर ही जाना-जाता है ॥ १० ॥ जैसे पेदके पुन्नोंमें सधने पहले ॐ है जैसे ही राजाओंमें सबसे पहले सूर्यके पुत्र वैवस्वत मनु हुए जिसका आदर पड़े-पड़े विद्वान् लोग भी किया करते थे ॥ ११ ॥ उन्हीं वैवस्वत मनुके उज्ज्वल बरगमें राजाओंमें चन्द्रमाके समान सपकी सुख देनेवाले तथा अत्यन्त सुख शरिषणले राजा दिलीपने जैसे ही जन्म लिया जैसे क्षीरसागरमें चन्द्रमाने जन्म लिया था ॥ १२ ॥ राजा दिलीपका रूप देखने ही योग्य था । उनकी चौड़ी छाती, साँझेने ऊँचे धार भारी कंधे, शालके वृष जैसे लंबी भुजाएँ और अपार तेज देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो अश्विपौरा धर्म धरिष्य उनके शरीरमें यह समझकर या घटा हो कि सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंके नारा करनेका जो मेरा काम है वह इस शरीरमें अत्यय परा हो मरेगा ॥ १३ ॥ जैसे सुमेरु पर्वतने अपनी पदशामे भंगारके सब रत्न पत्थरोंको दया दिया है, अपनी चमरने सब चमरनेलो पत्थरोंकी चमर घटा ही है, अपनी ऊँचाईमें सब ऊँची पत्थरोंकी नोखा दिया दिया है और अपने वैवायमे मारी पृथ्वीको दब लिया है जैसे ही राजा दिलीपने भी अपने धन, तेज और धार हीअपने शरीरमें अपने कोया दियाकर मारी पृथ्वीकी अपनी मुठामें पर लिया था ॥ १४ ॥ जैसा सुमेरु उन्नत रूप था, जैसे ही सोने उन्नत बुद्धि थी, जैसी सोनी बुद्धि थी पैसी ही इन्होंने सब साथ वा अपने थे । इसलिये ये आपके अनुसार ही अपने काममें हाथ रखने

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् । अशृष्यश्चाभिमन्यथ यादोरत्नैरिवार्णवः । १६
 रेखामात्रमपि क्षुण्णाद्रामनोर्वर्त्मनः परम् । न व्यतीद्युः प्रजातस्य नियन्तुर्नोमिवृत्तयः । १७
 प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् । सहस्रगुणमुत्सृष्टुमादत्ते हि रत्नं रविः । १८
 सेना परिच्छेदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् । शास्त्रेष्वकुण्ठिता युद्धिर्माँर्वी घनुपि चातता । १९
 तस्य संबृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च । फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव । २०
 जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः । अगृञ्चुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् । २१
 ज्ञाने माँनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः । गुणा गुणानुबन्धिह्वात्तस्य सप्रसवा इवा २२

ये । कब यह होता था कि उन्हें वैश्वे ही उड़ी सफलता भी अरथ्य हाथ लगती थी ॥ १५ ॥ [जिसे धड़ियालों और मगरमच्छोंके डरते लोग समुद्रमें पठनेके डरते हैं, वैश्वे ही] राजा दिलीपके भी उनके सेवक करते थे क्योंकि वे न्यायमें बड़े क्रूर थे [और किसीका पक्षपात नहीं करते थे ।] किन्तु समुद्रके मुन्दर और मनोहर रत्नोंके पानेके लिये जैसे लोग समुद्रमें पठ ही जाते हैं वैश्वे ही राजा दिलीप इतने दयालु, उदार और गुणशाली थे कि उनके सेवक उनकी कृपा पानेके लिये यद् उनका मुँह जोहते रहते थे ॥ १६ ॥ जैसे कनुर सारथी जब रथ चलाता है तब रथके पहिये बालभर भी लकड़के बाहर नहीं हो पाते वैश्वे ही राजा दिलीपके जैसे अग्ने उगमे प्रजायी देगभाल की थी कि प्रजाया कौटु भी व्यक्ति मनुके यथापु हुप नियमोंसे थढ़कर चलनेका साहस नहीं कर सक्ता था । [यब लोग वषों और आधर्मोंके नियमोंके अनुसार ही अपने धर्मका पालन करते थे] ॥ १७ ॥ जैसे मूर्ख अपनी किरणोंमें पृथ्वीका जो जल सोचता है उसका सहस्रगुना भरता देता है, वैश्वे ही राजा दिलीप भी अपनी प्रजासे जितना कर लेते थे यह सब प्रजायी भलाहूमें ही खगा देते थे ॥ १८ ॥ जैसे और राजाओंके पास बर्षा भारी मेना होती थी वैश्वे ही राजा दिलीपके पास भी यही भारी मेना थी पर वह सेना केवल शोभाके लिये ही थी उसमें कोई काम राजा दिलीप नहीं लेते थे । शालोंका उन्हें बहुत अशुभ ज्ञान था और घनुप चलानेमें भी वे शूद्र ही थे । इसलिए वे अपनी सब काम अपनी तीनों युद्ध और घनुपपर यही हुरे थोरी इन दो से ही निवाल लेते थे । [उन्हें किसी काममें किसी और की सहायता नहीं लेनी पड़ती थी] ॥ १९ ॥ राजा दिलीप न तो अपने मनका भेद किसीको यत्ताते थे और न अपनी भावमंगलमें ही यह जानने देते थे कि वे क्या करनेवाले हैं । जैसे हम जन्ममें किसीके सुखी या दुखी जन्मनेके देखकर लोग समझते हैं कि उगने त्रिभुजे जन्ममें अग्ने या पुरे काम किये थे वैश्वे ही राजा दिलीपके मनकी बात भी लोग समी जान पाते थे जब यह काम हो चुकता था, उगने पहले नहीं ॥ २० ॥ ये निश्च होकर अपनी रत्ना करते थे, बड़े धीरजके साथ अपने धर्मका पालन करते थे, सोन धोदकर धन इकट्ठा करते थे और मोड़ धोदकर संसारके सुख भोगते थे ॥ २१ ॥ [जो लोग बहुत लिये पड़ जाते हैं वे अपनी रिवाज दिवारा पीतने हैं, जो बचसान होने हैं वे दूसरोंके मन्त्रोंमें अपनी बधाई मगमने हैं, जो लोग दान देते हैं या किसीके लिये वृत्त रवाय करते हैं तो यह चाहते हैं कि धारा और हमारा नाम हो । पर राजा दिलीपमें यह बात नहीं थी] । वे सब वृत्त जानकर भी पुर रहते थे, शत्रुओंसे बदला खेनेकी शक्ति रहते हुए भी उन्हें पत्ता कर देते थे, और दान देकर वा

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्वानो पारदृश्वनः । तस्य धर्मरतेरासीद्बुद्धत्वं जरसा विना । २३
 प्रजानां विनयाधानाद्रक्ष्याद्भरणादपि । स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः । २४
 स्थित्यै दण्डयतो दण्डयान्परिशोतुः प्रहृतये । अप्पर्यकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः । २५
 दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघना दिवम् । संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् । २६
 न किलालुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः । व्याधृत्वा यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता । २७
 द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् । त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीचोरगच्छता २८

। वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना । तथाहि सर्वे तस्यासत्पराथैकफला गुणाः । २९
 । वेल्लायप्रवल्ग्यां परिखीकृतसागराम् । अनन्यशासनामुर्वीशशासैकपुरीमिव । ३०
 । अयदाक्षिण्यरुद्धेन नाम्ना मगधवंशजा । पत्नी मुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा । ३१
 । क्लृप्तवन्तमात्मानमवरोधे महस्यपि । तथा मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च यमुधाधिपः । ३२
 । तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः । विलम्बितफलैः कालंस निनाय मनोरथैः । ३३
 । संतानार्थाय विधये संभुजादवतारिता । तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिचिपे । ३४
 । अथाम्बर्च्यं विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया । तौ दम्पती वशिष्ठस्य गुरोर्जगत्पुराथमम् । ३५
 । स्निग्धगम्भीरनिघोषमेकं स्पन्दनमास्थितौ । प्राट्टपेण्यं पयोवाहं विद्युदैराधतानिव । ३६
 । मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरौ । अनुभावविशेषानु सेनापरिवृताधिव । ३७
 । सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः । पुष्परेणुतिरैवतिराधूतवनराजिभिः । ३८

निश्चय ही महाराज दिलीपको [पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन] पाँच तारोंसे ही बनाया था क्योंकि [जैसे वे तार निरन्तर गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुणों से सारी सृष्टि की सेवा करते हैं । जैसे ही] राजा दिलीप के सब गुणों से भी केवल दूररोंका उपकार ही होता था ॥ २९ ॥ [जैसे कोई राजा ही] किंगो ऐसी नगरीपर शासन करे जिसके चारों ओर परकोटा और गार्ड हो (जैसे ही) दिलीप इस पूरी पृथ्वीपर छपेले राज्य करते थे जिसका परकोटा समुद्रका तट था और जिसकी गार्डरा काम स्वयं समुद्र करता था ॥ ३० ॥ जैसे राजकी पत्नी दक्षिणा प्रसिद्ध है जैसे ही मगधवंशमें उत्तम मुदक्षिणा नामकी उनकी पत्नी भी संसारमें अपनी पतुसताके लिये प्रसिद्ध थी ॥ ३१ ॥ जैसे तो राजा दिलीपकी बहुत सी राजियाँ थीं, पर वे यदि अपनेको खोसला समझने थे तो लक्ष्मीके समान मनस्विनी केवल अपनी पत्नी मुदक्षिणाके कारण ही ॥ ३२ ॥ उनकी यही इच्छा थी कि मेरी प्यारी पत्नीमे मेरे जैसा पुत्र हो, पर दिन बीतते चले जा रहे थे और उनकी साथ पूरी नहीं हो पा रही थी ॥ ३३ ॥ तब उन्होंने निश्चय किया कि सन्तान उत्पन्न करनेका न कुछ बुद्ध उपाय करना ही चाहिए । उन्होंने पहला काम तो यह किया कि पृथ्वी याज्ञिकका कुल भार अपने कर्गोंसे उतारकर मजिदोंकी मीन दिया ॥ ३४ ॥ राजकी चिन्तासे मुट्टी पाकर पवित्र मनमें राजा दिलीप और देवी मुदक्षिणाके प्रथमके पहले मगधवंशकी पूजा की और फिर वे दोनों पति-पत्नी वर्द्धने अपने कुलगुरु वसिष्ठजीके आश्रमकी ओर चले ॥ ३५ ॥ जिस रूपपर वे दोनों बैठे हुए थे वह मन्त्री-मौली धनधान्यदत्त बना हुआ पना जा रहा था । उम पर बैठे हुए वे दोनों जैसे जान पड़ने थे मानो वानके वाद्वार वेरावन और विजयवीरोंमें चढ़े चले जा रहे हों ॥ ३६ ॥ उन्होंने अपने साथ बहुतसे मेरक नहीं लिए थे क्योंकि विजयवीरोंमें चढ़े चले जा रहे हों ॥ ३७ ॥ उन्होंने अपने साथ बहुतसे मंगल गंधोंके साथ ही आश्रमके काममें बाधा होती, पर उनकी प्रजापति और राजकी प्रजापति का कि उममें जान पड़ता था मानो सागमें बर्दाभरी गंगा बनी जा रही हो ॥ ३८ ॥ सुखे सागमें सापके गोदकी गन्धमें बना हुआ, सुगंधके पराग उड़ाना हुआ और उनके रूपोंकी पत्तियोंकी धारें-धारे के शाला हुआ पवन, उनके शरीरकी सुगंध के साथ उड़ाने में बरना पन रहा था ॥ ३८ ॥

मनोमिरामाः श्रृण्वन्तौ स्थनेमिस्वनोन्मुखैः। पद्भजसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखंडी
 परस्परान्विसादश्यमदूरोज्ज्वलचर्मसु । मृगद्वन्द्वेषु परयन्तौ स्पन्दनावद्दृष्टिषु । १४
 श्रेणीवन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् । सारसैः कलनिर्हादैः कचिदुन्नमिताननौ । १५
 पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः । रजोमिस्तुरगोत्स्रीणैरस्पृष्टालकषेटनौ । १६
 सरसीपरविन्दानां वीचिविचोभशोतलम् । आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वात्तानुकारिणम् । १७
 ग्रामेऽवात्तमविसृष्टेषु मूपचिह्नेषु यज्वनाम् । अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्ध्यानुपदमाश्रियः । १८
 हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् । नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् । १९
 काप्यभिरुया तयोरासीद्भ्रजतोः शुद्धवेपथोः । हिमनिर्मुक्तयोयोगे चित्राचन्द्रमसोरिव । २०
 तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शपन्निप्रदर्शनः । अपि ललितमध्यानं बुधुषे न बुधोपमः । २१
 स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः । सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः । २२

राजा दिलीप और देवी सुदक्षिणाने इपर-उपर दृष्टि सुमाहं और देखा कि कहीं तो रथकी गद्गदावाहट
 सुनकर बहुतसे मोर इस धमसे अपना मुँह इसलिये ऊपर उठाकर दुहरे मनोहर पद्भज शब्दसे
 झूक रहे हैं कि कहीं ऊपर बादल तो नहीं गरज रहे हैं ॥ २९ ॥ कहीं वे देरते हैं कि हरियोंके
 जोड़े मार्गसे कुछ हटकर रथकी ओर एकदूर देख रहे हैं। उनकी सरल चितवनको राजा दिलीपने
 सुदक्षिणाके नेत्रोंके समान समझा और सुदक्षिणाने राजा दिलीपके नेत्रोंके समान ॥ ४० ॥
 कभी जब वे धीरे उठाकर ऊपर देरते तो आकारमें उड़ते हुए धीरे मीठे बोलनेवाले बगुले भी
 उन्हें दिगाई पड़ जाते जो पौतमें उड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो खम्भेके बिना ही
 बन्दनगर टँगी हुई हो ॥ ४१ ॥ पवन भी उनके अनुकूल चल रहा था और यह संदेह दे रहा था
 कि मनकी इच्छामें अवश्य पूरा होगी। वह ऐसी दिशाने चल रहा था कि घोड़ोंके सुरोंसे उठी
 हुई पूल न तो देरी सुदक्षिणाके यालोंकी छू पानी थी और न राजा दिलीपकी पादोंकी ॥ ४२ ॥
 मार्गमें जो तान पड़ने थे उनका लहराकी झंझरीके उड़ती हुई कमलोंकी टटो सुगन्ध लेते
 हुए वे पने जा रहे थे। यह सुगन्धरा पवन उनकी नाँसके समान ही सुगन्धित था ॥ ४३ ॥
 जो गीर्ण उग्राँने मादशौर्षे, टान पर दिए थे और तिनमें स्थान स्थानपर यज्ञके रस्मे रखे हुए
 थे, पहँके मादशौर्षे परले तो अर्घ्य भेट करके उनके पूजा की और फिर उनको ऐसे शारीर्षोद
 दिए जो कभी निकल ही ही नहीं सकते थे ॥ ४४ ॥ गीर्षोंके जे, बड़े बड़े घोड़ी, गायका तुरत
 निकाला हुआ मागल क्षेत्र उनकी भेट करनेके योग्य थे उनके राजा दिलीप और राजा मार्गके धनो
 और दूँको नाम पदोंका चक्रवा थी ॥ ४५ ॥ जैसे चक्रवा पौँके तिन चित्रा नक्षत्रके साथ उजला
 चन्द्रमा चँगोंको अथा लगता है वैसे ही सुन्दरी सुदक्षिणाके साथ मार्गमें जाने हुए उनके यज्ञ पड़ने
 राजा दिलीप भी बड़े मनोहर लग रहे थे ॥ ४६ ॥ पहँको के समान बुदिमान् तथा सुभाषने दिगाई-
 देनेवाले राजा दिलीप अपनी पराँके वे गय [मुरावने हुए] दिशानेमें इनने रम गए थे कि उगई
 यह भी न मात्र ही गया कि मार्ग कब निकल गया ॥ ४७ ॥ गीर्ष होने होने पराँकी राजा

नान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः । पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यत्तैस्तपस्त्रिभिः । ४९
 राक्षीर्णमृषिपत्नीनामुदजद्वारोधिभिः । अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः । ५०
 त्रैकान्ते मुनिकन्यामिस्तत्त्वणोज्झितवृक्षकम् । विश्वासाय विहंगानामालवालाम्बुपापिनाम्
 प्रातपात्ययमंचित्तनीवःरासु निपादिभिः । मृगैर्वतितरोमन्थमुदजाङ्गनभूमिषु । ५२
 प्रभ्युत्थिताग्निपिशुनैरविथीनाश्रमोन्मुत्तान् । पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः । ५३
 अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्निश्रामयेति सः । तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च । ५४
 तस्मै सभ्याः सभायां गोष्ठे गुप्ततमेन्द्रियाः । अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे । ५५
 विधेः सायंतनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् । अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् । ५६
 तयोर्जगृहस्तुः पादानराजा राज्ञी च मागधी । तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः । ५७
 तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् । पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः । ५८

दिलीप अपनी पत्नीके साथ संवर्ग महर्षि वशिष्ठजीके आश्रमतक पहुँच गए । इतने घोड़े सामयमें इतनी दूरवी यात्रा करनेके कारण उनके घोड़े भी थक चुके थे ॥ ४८ ॥ वहाँ पहुँचकर वे देखते क्या है कि संख्याके अग्निहोत्रके लिये बहुतसे तपस्वी हाथमें समिया, हथौड़ा और फल लिए हुए जंगलोंसे लौट रहे हैं ॥ ४९ ॥ बहुतसे मृग वहाँ आश्रममें इधर-उधर पर्यटन कर रहे हैं ॥ ५० ॥ बहुतसे मृग वहाँ आश्रममें इधर-उधर पर्यटन कर रहे हैं ॥ ५१ ॥ बहुतसे मृग वहाँ आश्रममें इधर-उधर पर्यटन कर रहे हैं ॥ ५२ ॥ बहुतसे मृग वहाँ आश्रममें इधर-उधर पर्यटन कर रहे हैं ॥ ५३ ॥ बहुतसे मृग वहाँ आश्रममें इधर-उधर पर्यटन कर रहे हैं ॥ ५४ ॥ बहुतसे मृग वहाँ आश्रममें इधर-उधर पर्यटन कर रहे हैं ॥ ५५ ॥ बहुतसे मृग वहाँ आश्रममें इधर-उधर पर्यटन कर रहे हैं ॥ ५६ ॥ बहुतसे मृग वहाँ आश्रममें इधर-उधर पर्यटन कर रहे हैं ॥ ५७ ॥ बहुतसे मृग वहाँ आश्रममें इधर-उधर पर्यटन कर रहे हैं ॥ ५८ ॥

अथार्थनिघेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः । अर्ध्यामर्धपतिर्वाचमाददे वदतां वरः । ५९
 उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे । दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता स्वमापदाम् । ६०
 तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दुरात्प्रशमितारिभिः । प्रत्यादिरयन्त इव मे दृष्टलक्ष्यमिदः शराः । ६१
 हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदप्रियु । वृष्टिर्भवति मस्यानामवग्रहविशोपिणाम् । ६२
 पुरुषापुपत्नीधिन्यो निरातङ्का निरीतयः । यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् । ६३
 त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना । सानुबन्धाः कथं न स्युः संपदौ मे निरापदः ।
 किन्तु वध्यां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् । न मामवति सद्दीपा रत्नसूरपि भेदिनी । ६५
 नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः । न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः । ६६
 मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया । पयः पूर्वं स्वनिःश्वातैः कवोष्णमुपभुज्यते । ६७
 सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः । प्रकाशधाप्रकाशश्च लोकालोकइवाचलः ।

राजा दिल्लीपने जहाँ अपनी वीरतासे शत्रुघोके नगर जीते थे और धनपति देने थे वहाँ वे बातचीत करनेकी कलामें भी बड़े चतुर थे, इसलिये उन्होंने अथर्ववेदके रचक षडिष्टजोके उत्तरमें यदी अर्थ मरी वाणीमें कहा ॥ ५२ ॥ “शापकी कृपासे इस राज्यमें [राजा, मंत्री, मित्र, राजपौर, राग्य, दुर्ग और सेना से] सारों भाग भरपूर हैं । [अग्नि, जल, महामारी और भकाल ग्यु इन] देवी विपत्तियों और [चोर, डाकू, शत्रु आदि] मानुषी आपत्तियोंको दूर करनेवाले तो आप बड़े ही हैं ॥ ६० ॥ आप मंत्रों के रचयिता हैं । आपके मंत्र इतने शक्तिशाली हैं कि मुझे अपने साथ चलानेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ता, क्यों कि अपने बाणोंसे तो मैं केवल उन्हें ही शेष सकता हूँ जो मेरे आगे जाते हैं, पर आपके मंत्र तो दूरसे ही शत्रुघोको नष्ट कर देते हैं ॥ ६१ ॥ हे यज्ञ करनेवाले ! आप जब शास्त्रीय विधिसे अग्निमें दहन करते हैं तो आपकी आहुतियों धनावृष्टिमें सूर्य हुए धानके खेतोंपर जलवृष्टि हो कर धरमने लगता है ॥ ६२ ॥ यह आपके महत्तेजसा ही तो पल है कि मेरे प्रजामें कोई भी न तो ली वरमने कम आपु पाता और न किसीकी [याद, सूखा, चूत, सोता, राज कष्ट, धीरीकी चढ़ाई आदि] किसी प्रकारकी इति तथा विपत्तिका डर रहता है ॥ ६३ ॥ जब आप स्वयं महाके पुत्र ही हमारे वृत्तगुह होकर सदा हमारे कल्याणको यात सोचने रहते हैं तो हमारी सभ्रति निर्विग्रह क्यों न रहे ॥ ६४ ॥ पर देव ! आपकी इतनी कृपा होने हुए भी जब मेरी इन पर्याके गर्भसे मेरे रामान तेजसा पुत्र नहीं हुआ तब मैंने ही पदा करने वाला, कई शीशों में किसी हुई अपने राज्यकी यह दुर्घा भी मुझे अपना नहीं लग रही है ॥ ६५ ॥ अब तो मुझे ऐसा जान पड़ने लगा है कि मेरे पंजे कोई मुझे पिबट देनेवाला भी नहीं रह जायगा । इसी दुःखसे हमारे पितर मेरे दिए हुए भाइयके अचक्रे भरपूर न बराबर उपाय अचिष्ट भाग जानेके लिये दृष्ट करके लग गए हैं ॥ ६६ ॥ जब मैं तपस्याके समय जपदान देने लगता हूँ तब मेरे पितर यह सोचकर दुःखीकें लीये लगे हैं कि मेरे पंजे उन्हें जब नहीं मिलेगा और फिर वे अपनी सौतेली गारम हुए जलकें ही ही हाथने हैं ॥ ६७ ॥ जिस प्रकार सोचालोक नामका पर्यंत एक चोतमे सूर्यका प्रकार परनेसे कामका है और

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानममुद्भवम् । मंततिः शुद्धवन्दया हि परब्रह्म च शर्मणे ॥६९॥
 तथा हीनं विधातमं कथं पश्यन्न दूयसे । मिक्तं स्वयमिदं स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृत्तकम् ॥७०॥
 असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे । अरुंतुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥७१॥
 तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तथार्हसि । इक्ष्वाकृणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि मिद्वयः ॥७२॥
 इति विज्ञापितो राजा ध्यानस्तिमितलोचनः । क्षणमात्रमृपिस्तस्थौ सुप्तमीन इव हृदः ॥७३॥
 मोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततोः स्तम्भकारणम् । भावितात्मा भूयो भर्तुरर्थेन प्रत्यरोधयत् ॥
 पुरा शक्रमुपस्थाय तयोर्ीं प्रति यास्यतः । आसीत्कल्पतरुच्छायाभाविता सुरभिः पथि ॥७४॥
 धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतस्तातामिमां स्मरन् । प्रदक्षिण्णक्रियार्हायां तस्यां त्वं माधुनाचरः ॥७५॥
 अजानासि मां यस्मादतस्तेन भविष्यति । मध्यस्थितमनाराध्य प्रज्वति त्वां शशाप सा ॥७६॥
 स शापो न त्वप्याराजन्न च मारथिना श्रुतः । नदस्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्पुद्गामदिग्गजे ॥७७॥

दूसरी और प्रकाश न पहुँचने से अंधिपारा रहता है, उसी प्रकार सदा यज्ञ करनेमें लो मेरे विना प्रसन्न रहता है किन्तु पुत्र न होनेसे सदा शोकसे भरा रहता है ॥ ६८ ॥ देव ! तपस्या करनेमें और ब्राह्मणों तथा हीनोंको दान देनेमें जो दुःख मिलता है वह बंजल परलोकमें सुख देता है पर अज्ञो मन्तान सेवा-मुद्रया करके इस लोकमें तो सुख देता ही है साथ ही [तर्पण और विष्णुदान आदि करके] परलोकमें भी सुख देती है ॥ ६९ ॥ हे मुन्दिर ! जिन अनेक हाथोंसे प्रेमसे सीधे हुए अश्रमके टुकमें पत्त लपता म देकर यदा दुःख होता है वैसे ही जब आप मुक्त हुए पात्रको मन्तानहीन देवमें है तो क्या आपको दुःख नहीं होता ॥ ७० ॥ हे भगवन् ! जिन प्रकार हाथोंको उमका रूण अश्रम पट देता है वैसे ही पुत्र न होनेके कारण जो पितरोंका भार मेरे गिर पर चढ़ रहा है वह भी मुझे बहुत पीड़ा दे रहा है ॥ ७१ ॥ इसलिये हे प्रभो ! अब कोई ऐसा उपाय बताएँ, जिसमें मेरे पुत्र-रत्न हो और मैं अपने कित् ऋणसे मुक्त हो जाऊँ क्योंकि इक्ष्वाकुरुजो राजाओंकी मन्थे कठिनाइयों घापकी कृपासे मर्रा दूर होतों रहो है ॥ ७२ ॥ राजाका वक्त मुनहर वसिष्ठजाने चरनी शक्ति वन्द करके सलामके लिये ध्यान लगाया । उसमन्त्र के उप त नके समान स्थिर और निश्चल हो गए निश्चय से मगुनियों में गर्द हों ॥ ७३ ॥ वसिष्ठजाने चरने पातके पचने प्रदान किया कि परिश्रम समाप्तके राजाको पुत्र क्यों नहीं हुआ और राजा पर बुझने पर ये राजाका वक्तमने लगे ॥ ७४ ॥ हे राजन् ! बहुत दिन हुए रि, एक बार जब मुम स्वर्गमें इच्छक सेवा करके स्वर्गको प्राप्त रह भे, सब मार्गमें ब्रह्मरुषी साधकों कामधेनु पड़े हुई था ॥ ७५ ॥ उप मन्त्र सुनारी पर्वते दृश्यता होनेपर राजा विचारा और मुम माधुना रहे ये कि यदि इस मन्त्र उपके मन्त्र सर्वयोग नहीं कहेंगा तो मृदरधक धर्म विना जलगाता । हमी विचारमें पड़े रहनेके कारण मुमने कामधेनुकी और तन्त्रि भी ध्यान नहीं किया । यह बात मुमने टंक नहीं किया, क्योंकि मुझे काटिए था । अब उमको पुत्र और मन्त्रिणा करने हुए मने ॥ ७६ ॥ हमें मन्त्र होकर कामधेनुके मुझे पाव दिया कि मुमने जो मेरा निष्कार किया है इसका वृत्त करो है कि राजाक मुम मेरी मन्त्रावर्ती सेवा नहीं करे, मन्त्रक मुझे पुत्र नहीं दोगा ॥ ७७ ॥ उप मन्त्र के वदे मन्त्राजे दिग्गज आकाशमार्गमें सेकने हुए ।

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्वि सांगलमात्मनः । प्रतिबध्नाति द्विश्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥७९॥
 हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतमः । भुजंगपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥८०॥
 सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः ॥ आराधय सपत्नीकः प्रीता कमदुघा हि सा ॥८१॥
 इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम् । अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥८२॥
 ललाटोदयमाश्रुने पल्लवस्निग्धपाटला । विभ्रती श्वेतरोमाङ्कं संप्येव शशने नवम् ॥८३॥
 भुवं कोप्येन कुण्डोष्णी मेघ्येनावभृथादपि । प्रलवेनाभिर्पवन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥८४॥
 रजःकणैः सुरोद्भूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् । तीर्थामिपेरुजां शुद्धिमादधाना महीचिता ॥
 तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः । याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरत्रवीत् ॥८६॥
 अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगण्यवात्मनः । उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥८७॥
 वन्यवृत्तिरिमां शरवदास्मानुगमनेन गाम् । विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादपितुमर्हसि ॥८८॥

बहुत चिन्था रहने से, इसलिये उस शपथको न तो तुम ही सुन पाए, न तुम्हारा सारभी ही ॥ ७८ ॥ इसलिये तुम्हारे पुत्र न होनेका कारण यही है कि तुमने कामधेनुका तिरस्कार किया है । देवो, जो पूजा शपथने पूज्योंकी पूजा नहीं करता है उसके शुभ कार्योंमें विघ्न पड़ता ही है ॥ ७९ ॥ अब इस समय तो कामधेनु मिल नहीं सकती क्योंकि बरुणदेव पातालमें एक बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे हैं । उस यज्ञमें आहुतियों सामग्री देनेके लिये कामधेनु भी पाताललोक गई हैं और उस लोकके द्वारोंपर बड़े-बड़े बिजबर सब रखवाले भी बड़े हैं ॥ ८० ॥ [बाहिये तो यही था कि पहले तुम कामधेनुको ही प्रसन्न करने पर इस समय तो उनका दर्शन दुर्लभ है ।] इसलिये तुम उनकी पुत्री नन्दिनीको ही उनका प्रतिनिधि समझ लो और अपनी रानीके साथ शुद्ध मनसे उसकी सेवा करो, क्योंकि यदि यह प्रसन्न हो जायगी तो वह तुम्हें इच्छित फल अत्रय दे देगी ॥ ८१ ॥ इधर वशिष्ठजी यह कह ही रहे थे कि उनकी आहुतिके लिये पूत आदि सुदानेवाली मुलवर्णा नन्दिनी गी मनसे लौटकर आ पहुँची ॥ ८२ ॥ नन्दिनीकी देह नये पत्तेके समान कोमल और लाल थी । उसके माथेपर भूरे बालोंकी छेड़ी रेखा धनी हुई थी । इससे वह ऐसी जान पड़ती थी जैसे लाल सव्याके माथेपर द्वितीयाका चन्द्रमा चढ़ आया हो ॥ ८३ ॥ अपनी बत्तुवा देखते ही उसके कुडके समान बड़े धनोंसे बड़ गरम गरम दूध निकलकर पूरवपर टपकने लगा जो धड़के खानके जनसे भी अधिक पवित्र था ॥ ८४ ॥ नन्दिनी के आते समय उसके सुरोंसे उकी हुई भूलेके समानसे राजा दिलीप बैठे ही पवित्र हो गए जैसे किसी तीर्थमें स्नान करके लौटे हों । शकुनके जाननेपाने तपस्वी वशिष्ठजीने जब उस गीकी देखा, जिसके दर्शनसे ही पुण्य मिलता है, तब वे अपने बगवान् उन राजा दिलीपसे बोले जो अपनी प्राधना सफल करानेके लिये वहाँ आए हुए थे ॥ ८५ ॥ हे राजन् ! तुम्हारा मनोरथ बहुत शीघ्र ही पूरा होगा क्योंकि यह कल्याण करनेवाली नन्दिनी नाम लेते ही आ पहुँची है ॥ ८६ ॥ जैसे त्रिवार्षी सब सुखोंको छोड़कर जगन्में विद्या प्राप्त कर लेता है वैसे ही यदि तुम भी तब भोगोंको छोड़कर कन्द-मूल-फल खाते हुए सदा इस गीकी सेवा करोगे तो यह तुमरा प्रसन्न होगे और तुम्हारी इच्छा पूरी करेगी ॥ ८८ ॥

प्रस्थितायांप्रतिष्ठेयाःस्थितायां स्थितिमाचरेः। निपण्यायां निपीदास्यांपीतान्मसिपिवेरपः
 वभूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात् । प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रस्युद्भूजेदपि । १०
 इत्थाप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव । अविन्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् । ११
 तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः । आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः । १२
 अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम् । मनुः मनुतवाक्स्त्रुर्विससर्जोर्जितश्रियम् । १३
 सत्यामपि तपःसिद्धौ निषमापेक्षया मुनिः । कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम्

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्याशालामध्यास्य प्रपतपरिग्रहद्वितीयः ।

तच्छिष्टध्याष्यपननिवेदितावसानां सविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥

इति महाकाव्ये श्रीकालिदासकृती रघुवंशे महाकाव्ये
 वशिष्ठाश्रमाभिगमने नाम प्रथमः सर्गः

जय यह पहले तब तुम भी इसके पंछे पांछे चलना, जब पक्षी हो जाय तब तुम भी रहने हो जाना, जब बैठे तब तुम भी बैठ जाना और जब यह पानी पीने लगे तभी तुम भी पानी पीना ॥ ८९ ॥ तुम्हारा वधू मुद्रदिखाओ चाहिए कि वह निरप्य प्रातः रात बर्षा भक्तिमे रूपको पूजा किया करे और जब यह बनको जाने लगे तब ये सपोरनके धात्रे तक उसके पांछे पांछे जायें और सायंकाल लीटते समय वहींसे अगवाली करके उसे आश्रममें ले जायें ॥ ९० ॥ जबतक यह री प्रमत्त न हो जाय तबतक तुम इसी प्रकार इसकी सेवा करते रहो । हरबर करे मुर्द कोड़े बाबा न हो और जिस प्रकार तुम अपने पिताके योग्य पुत्र हो पीते हो तुम्हें भी योग्य पुत्र प्राप्त हो ॥ ९१ ॥ राजा दिलीप यह सोचकर मनमें बहुत प्रसन्न हुए कि सप्याके समय हयनकी श्रमिके सामने बैठकर वशिष्ठजीने जो कुछ कहा है वह अपरप सत्य होगा । तब पक्षी मगलामे उन्हींने वशिष्ठजीमे कहा कि हम ऐसा ही करेंगे और यह बहदर उन्हींमे और उनकी पत्नीने मुर्दसे इस मतके लिये आज्ञा ली ॥ ९२ ॥ रात हो चली थी । विश्वाम्, सत्ययना, प्रजाके पुत्र वशिष्ठजीने राजा दिलीपको लानेकी आज्ञा दे दी ॥ ९३ ॥ यद्यपि वशिष्ठजी चाहते तो अपनी सपस्याके प्रभारमे राजा दिलीपके योग्य भोजन और सोनेका उचित प्रयत्न कर देते पर वे मतके निषमोंको जानते थे इसलिये उन्हींने राजाने मतके योग्य वन्द्यमूलके भोजन और कुशकी चटार्दका हो प्रयत्न किया था ॥ ९४ ॥ कुचपति वशिष्ठजीने जो वर्षाहुटी बनाई उसीमे राजा दिलीप प्रभारवर्षका पालन करते हुए रात्री मुद्रविष्णुके साथ कुशाकी चटार्द पर ही सोए । प्रातःकाल वशिष्ठजीने जब अपने शिष्योंको वेद पढ़ाना प्रारंभ किया तब उनकी पत्नी कानमें पड़ने ही राजा दिलीप उठ बैठे ॥ ९५ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यका वशिष्ठके आश्रममें आगमन नामका पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥

पुक्तस्तुपारैर्गिरिनिर्भराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
 तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिपेवे ॥ १३ ॥
 शशाम वृष्टयापि विना दवाशिरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
 ऊनं न सञ्चेत्प्वधिको वषाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने ॥ १४ ॥
 संचारपूतानि दिगन्तराशि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
 प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥ १५ ॥
 तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वभ्ययौ मध्यमलोकपालः ।
 वभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥ १६ ॥
 स पल्ललोत्तीर्णवराहयूथान्यावासाद्युक्तोन्मुखवर्हियानि ।
 थयौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥ १७ ॥
 आपीनमारोद्धहनप्रयस्नाद्गृष्टिगुरुत्वाद्द्विपुषो नरेन्द्रः ।
 उभावलंचक्रतुरञ्चित्ताभ्यां तपोवनाञ्चित्पथं गताभ्याम् ॥ १८ ॥
 वशिष्ठधेनोरमुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्ताद् ।
 पपौ निमेषालसपक्ष्मपट्क्तिरुपोपिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ १९ ॥

कारण मधुप रत्न निकल रहे थे ॥ १२ ॥ पहाड़ी कर्तोंकी ठंडी फुहारोंसे लदा हुआ, और मन्द-
 मन्द कँपाए हुए वृक्षोंके फूलोंकी गन्धमें बसा हुआ वायु उन सदापारी राजा दिलीपको ठंडक देता
 चल रहा था जिन्हें छत्र न होनेके कारण धूपसे कष्ट हो रहा था ॥ १३ ॥ राजा दिलीप प्रजापालक
 थे हसीलिये उनके जंगलमें पहुँचये ही वर्षाके विना ही बनकी छाग टटी हो गई, वहकि पेड़ भी
 फल और फूलोंसे लद गए और यहाँके पड़े जाँवोंने छोटे जीवोंकी सत्ताना भी छोड़ दिया ॥ १४ ॥
 दिन चलनेपर नये पत्तोंकी लज्जाईके सामने सूर्यकी लज्जाई चारों ओर फैलकर सब दिशाओंके
 पवित्र करके अन्न विभ्राम करनेको लौट रही थी । उधर लाल रंगकी नन्दिनी भी अपने सुनोंके स्पर्शसे
 मार्गकी पवित्र करती हुई तपोवनकी ओर खीट पड़ी ॥ १५ ॥ पृथ्वीका पालन करनेवाले राजा
 दिलीप भी वशिष्ठ कपिके बन्धु, श्राद्ध, अतिथि पूजा आदि धर्मके कामोंके लिये दूध देने वाली उस
 नन्दिनीके पीछे-पीछे लौट पड़े उस समय वह गौ ऐसी भली लग रही थी जैसे गन्नाकी पुत्री श्रद्धाके
 साथ सदाशर शोभा देता हो ॥ १६ ॥ राजा दिलीप देखते हुए चले जा रहे थे कि कहीं तो छोटे-मोटे
 जानोंमेंसे सूर्योंके मुँह निकल निकल कर चले जा रहे हैं, कहीं मोर अपने बसंतोंकी ओर उड़े
 जा रहे हैं, कहीं हरियर इरी धारोंपर झकझर बैठ गए हैं और धीरे-धीरे सौँक होनेसे लकी सथ धरती
 बुँधली पड़ती जा रही है ॥ १७ ॥ नन्दिनी और दिलीप दोनों धीरे धीरे चले जा रहे थे । नन्दिनी
 अपने धनके भारों होनेसे धीरे-धीरे चलती थी थीस राजा दिलीप भारी शरीर होनेके कारण धीरे धीरे
 चल रहे थे । उन दोनोंकी धीरे-धीरे चलते देखकर तपोवन का मार्ग बस देखते ही बनता था
 ॥ १८ ॥ जब सौँकको राजा दिलीप नन्दिनीके पीछे पीछे लौटे तब सुदृष्टिगा रूपलक नेत्रोंसे उन्हें देखती

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्धता पार्थिवधर्मपन्था ।
 तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्वगतैव संध्या ॥ २० ॥
 प्रदक्षिणोक्त्य पयस्विनीं तां मुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
 प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृद्धान्तरं द्वारमिवार्थमिद्वेः ॥ २१ ॥
 वत्सोत्सुकामपि स्तिमिता सपर्या प्रत्यग्रहोत्सेति ननन्दतुस्ता ।
 मक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रमादचिह्नानि पुरःकृतानि ॥ २२ ॥
 गुरोः सदारस्य निपीड्यपादौ ममाप्य मांघ्यं च त्रिविं दिलीपः ।
 दोहायसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निपण्णाम् ॥ २३ ॥
 तामन्तिकन्यस्तवलिप्रदीपामन्यास्य गोप्ता गृह्णीमहायः ।
 क्रमेण सुप्तामनु मंत्रिवेश गुप्तोत्थितां प्राकरनूदतिष्ठत् ॥ २४ ॥
 इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं ममं मर्ष्या महनीपतीतैः ।
 सप्त व्यतीयुद्धिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धस्फोञ्चितस्य ॥ २५ ॥
 श्रन्देद्युरात्मानुचरस्य भारं जिज्ञाममाना मुनिहोमथेलुः ।
 गङ्गाप्रपातान्तपिरुदशप्यं गौरीगुगेर्गहरमात्रिवेश ॥ २६ ॥

रह गई मानो उमकी छाँवें राजा दिलीपका रूप पानेकी प्यासों हों ॥ १९ ॥ आभ्रमंडे मागोंमें हाँसे
 पोते राजा दिलीप थे और शामे घनशानीके लिये रानी मुदक्षिणा गरी थीं । इन दोनोंके बीचमें
 यह आस रंगशाली मन्दिनी गेमी सोभा दे रही थी जैसे दिन और रातके बीचमें सौमकी ललाई ॥ २० ॥
 पहले तो मुदक्षिणाने हाथमें क्षपण आदि मामगरी लेकर मन्दिनीकी पूजा करके मुदक्षिणा की, फिर
 प्रणाम करके उमकी सींगोंके बीचमें माथेपर चन्दन अक्षत लगाया क्यों कि उमकीने ममके लिये था कि
 वे सींग था मध्य नहीं धरतु मेरी पुत्र-वधना पूरी करनेके दो द्वार हैं ॥ २१ ॥ यद्यपि मन्दिनी उम गमप
 क्षपणा बहुत देवनेके लिये बहुत उतावली थी फिर भी यह रानीके पूजा करानेके लिये मर्षा हो गई ।
 मन्दिनीका यह प्रेम देखकर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए, क्योंकि मन्दिनीके समान मनातप पूर्व करने-
 वाले यदि भक्तपर प्रसन्न हो जायें तो ममके लो कि काम पूरा हो गया ॥ २२ ॥ गौरी पूजा हो
 जानेपर शत्रुओंके महारक राजा दिवांषने पहले वशिष्ठजी और अश्वत्थामजीके घरोंकी वन्दना की और
 फिर क्षपणे मर्षाके लिये कर्मोंके समाप्त किया । जब मन्दिनीका दूध बूढ़ लिया गया और वह बूढ़
 गई तब राजा दिलीप फिर उमकी सेवामें लग गए ॥ २३ ॥ प्रजाशानक राजा दिलीप अरनी पत्नीके
 साथ बहुत देवक मन्दिनीकी सेवा और पूजा करने रहे । जब यह सो गई तब वे दोनों भी मने
 लये गए और उमकी यह संका उम मर्षाकी इन दोनोंकी और भी दूढ़ गई ॥ २४ ॥ इन प्रकार
 अरनी पत्नीके साथ मन्दाक प्राणिके लिये वह कठोर सा करने हुए दोनोंके एक पर कर्मिकानों
 राजा दिलीपके दूहाप दिन बीत गए ॥ २५ ॥ तब मन्दिनीने साक्षा कि मैं करने मेवक राजा दिलीपके
 पत्नीका क्यों न लूँ कि ये मन्वे भगवे सेवा कर रहे हैं या केरक करार्य मन्ने । हमकीने राजा

द्वितीयः सर्गः

अथ प्रजातामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
 वनाय पीतप्रतिवद्धवस्तां यशोधनो धेनुमृपेर्मुमोच ॥ १ ॥
 तस्याः सुरन्यामपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
 मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्यं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥
 निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरमेयीं सुरभिर्यशोगिः ।
 पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोष गोहृषधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥
 व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यपेधि शेषोऽप्यनुयायिवगोः ।
 न चान्यतस्तस्य शरीररत्ना स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रद्वतिः ॥ ४ ॥
 आस्वादवद्भिः कवलैस्त्रुणानां कण्डूयनैर्दशनियारणैश्च ।
 अद्याहृतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्पगोऽभूत् ॥ ५ ॥
 स्थितः स्थितामृचलितः प्रयातां निपेदुपीमामनबन्धवीरः ।
 जलाभिलापी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छन् ॥ ६ ॥

दूसरा सर्ग

दूसरे दिन प्रातःकाल राजा सुदक्षिणाने पहले मूल माला चन्दन लेकर नन्दिनीकी पूजा की,
 फिर जब नन्दिनीके मद्रूपेने मूष की लिया तब यशोधः राजा दिलीपने उसे धीरे दिया और प्रकियकी
 गौरी जगलमें यशोधरे विवे ग्योल दिया ॥ १ ॥ नन्दिनी बसो जा रही थी और उसके सुरसे उर्वा
 दुहे पून मार्ग को परिप करती जा रही थी । उसी मार्गमें नन्दिनीके पीठे-पीठे चलती हुई उस रामयरी
 पतिप्राप्तों में सर्वश्रेष्ठ रामो सुदक्षिणा टीक बैयो ही लग रही थी जैसे धुनिवे पीठे-पीठे स्मृति चली
 जा रही हो ॥ २ ॥ काम्य हृदयवाने यशोधो राजा दिलीपने आधमके द्वार परसे ही राजा सुदक्षिणाको
 खीर दिया और अपने आप उस नन्दिनीकी रक्षा करने लगे जो पुरी प्रतीत होतो को मानो मन्वा
 पुरीने ही मन्वा रूप धारण कर लिया हो और जियके धारो धन ही पुरीके चार समुद्र हो ॥ ३ ॥
 राजा दिलीपने केपय शान्ति हो ही नहीं परन्तु तब और-पारसे को भी लीग दिया क्योंकि उन्होंने तो
 गो को योग का मत ही धरे लिया था । रक्ष करने सारकी रक्षा की बात उसके विवे उन्होंने विना
 मोरु को धारणरक्षा नहीं समझी क्योंकि जिय राजाने मनुके यशोधे जन्म लिया ही यह यशोधे रक्ष
 तो यशोधे ही गच्छा है । राजा दिलीप यदीरगवने नन्दिनीकी सेवा करने थे । कभी तो वे उने रासी
 चण्डी मुट्टीकी विज्ञाने थे, कभी उगकी देहको सुरन्याने, कभी लीपे उरुने थे यह और जिय भी ज वा
 यशोधो भी उपर उने जले देने थे ॥ ४ ॥ यह वह वरु ही होतो तो राजा को मरु ही जगने और उर्वा ही वह
 यशोधे को वग बहानी होतो ही वे गो यम देने थे । यह बैरु तो वे भी बैरु जाने और जब यह
 जग यशोधे ही रक्षा करती तभी राजाको भी प्यार लग जाती थी । यह यह समझिए कि ये पुराके

सन्पस्तचिह्नमपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
 आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥ ७ ॥
 लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यघ्नन्वा विचचार दावम् ।
 रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्धन्यान्विनेप्यत्रिव दुष्टसत्त्वान् ॥ ८ ॥
 विस्मृष्टपाश्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।
 उदोरयामासुरिवीन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरविः ॥ ९ ॥
 मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारदभिवर्तमानम् ।
 अवाकिरन्वाललताः ग्रथ्यतैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥ १० ॥
 धनुर्मृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमारुपातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः ।
 विलोकयन्तश्च वपुरापुरङ्ग्यां प्रकामविस्तारफलं हरिष्यः ॥ ११ ॥
 स कीचकैर्मलितपूर्णेन्द्रैः कूजङ्गिरापादितवंशकृत्यम् ।
 शुश्राव कुक्षेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥ १२ ॥

समान ही उसके पीछे पीछे चल रहे थे ॥ ६ ॥ किन्ती संतमले हार्योंके साथेमे मद्रकी धारा न भी निरुद्धती हो तो भी उसको देखते ही उसके तेज वा अनुमान हो जाता है । राजा दिलीपके साथ भी ठोक यही बात थी । उन्होंने गौकी सेनाके प्रतिके कारण यद्यपि [घुम, घोर, आदि सब] राज चिन्हों और राजकी टाट छोड़ दिये थे फिर भी उनके गटे हुए शरीर और मुण्डके घेजकी देग्पर कोई भी यह सकता था कि ये सम्राट् ही हैं ॥ ७ ॥ उनकी शिर की लट्टे जंगलकी लताओंके समान उलझ गई थीं । जब ये हाथमें धनुष लेकर जंगलमें घूमते थे तब उन्हें देग्पर देमा लगता था मानो मन्दिनीकी रक्षाके सहाने वे जंगलके दुष्ट जाँगीके शान्त रहनेकी सीप दे रहे हों ॥ ८ ॥ मार्गके वृक्षोंपर अनेक मतयाले पक्षी चहचहा रहे थे । उनके फरफरकी सुनकर देमा जान पड़ता था मानो मार्गके वृक्ष यह समझकर बरणके समान तेजस्वी राजा दिलीपकी जय-जयकार कर रहे हों कि उनकी जय करनेवाला कोई भी शेरक उनके साथ नहीं है ॥ ९ ॥ [जब वृक्षोंने राजाका सम्कार किया तब वनकी लताएँ ही क्यों पीठे रहीं] इसलिये जिधर जिधर राजा दिर्नाप जाने थे उधर उधाको लताएँ अधिक समान तेजस्वी और पूजनीय राजा दिलीपके ऊपर उगी प्रकार वृक्षोंकी पक्षी कर रही थीं जिन प्रकार राजाके इनामतमें नगरकी कन्याएँ राजाके ऊपर धानकी खीलों बरमाती हैं ॥ १० ॥ राजा दिलीपके हाथोंमें धनुष देग्पर भी हरिषियकी छर्ची नहीं क्योंकि ये उन्हें देखने ही लाइ गईं कि ये सबे कोमल हृदय वाले हैं, [साथ न चलायेंगे] राजा दिलीपके सुन्दर शरीरके वे पृच्छक देग्पता ही रह गईं मानो नेत्रोंके चढ़े होनेका उन्हें मचा फल माल हो गया है ॥ ११ ॥ राजा दिलीप सुन रहे थे कि वन-देवता वनकी कुम्भोंमें ऊँचे स्वरमें उनका वरा गा रहे हैं । उन वन-देवताओंके गीतके साथ वे सीम भी मधुर धीमुरी बजा रहे थे जिनके छेड़ोंमेंसे वायु भर जानेके

सा दुष्प्रधर्मा मगसापि हिंस्रै रित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
 अलक्षितास्युरपतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥ २७ ॥
 तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिवद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
 रश्मिप्लिवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥
 स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केशरिणं ददर्श ।
 अधित्यकायामिव धातुमथ्यां लोभ्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥
 ततो मृगेन्द्रम्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
 जाताभिपङ्क्तौ नृपतिर्निपङ्क्तादुद्धतुमैच्छत्प्रसभोद्धतारिः ॥ ३० ॥
 वामेतेरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूपितकङ्कपत्रे ।
 सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ ३१ ॥
 बाहुप्रतिष्टम्भिविद्वदमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
 राजा स्वतेजोभिरदबवान्तर्भांगीव मन्त्रौपधिकृद्दीर्यः ॥ ३२ ॥

दिलीप जय वार्हण्ये दिन उसे वनमें ले गए तो वह ऋद्धि हिमालयकी उस गुफामें घेठ गई जिसमें
 राजाजीकी धारा गिर रही थी और जिसके तटपर धनी हरी-हरी घास पड़ी हुई थी ॥ २६ ॥ राजा
 दिलीपने भी उधर जानेसे उसे नहीं रोका क्योंकि उन्हें यह प्रियत्व था कि कोई भी हिंसक जन्तु
 नदिनीपर शास्त्रमथ करनेकी यात भी नहीं लीज सकता । इतनेमें ही अध्यात्म गुरु सिंह मीकी दृष्टि
 ही तो घेठ । उस समय राजा दिलीप पर्वतकी शोभा देख रहे थे इसलिये उन्हें दिवाई ही नहीं पड़ा
 कि उसपर सिंह क्या करता ॥ २७ ॥ सिंहकी मगसमें नन्दिनी रैमाने लगी और उसकी धरमि गुफामें
 गूँज उठी । राजा दिलीप उस समय पर्वतकी शोभा निहारनेमें लगे हुए थे पर हय पुकारने उनकी
 दृष्टिकी उनी प्रकार धीरे धिया जैसे दिगोने रस्योमें औरर धीरे धिया ही ॥ २८ ॥ धनुषवारी
 राजा दिलीपने देखा कि उस सात गीवर घेठ हुआ सिंह ऐसा लज रहा है जिसे रोक्के पहाड़की ढाल-
 पर बहुतसे पीले नृपौपाता लोचका वेद फूट रहा हो ॥ २९ ॥ उस समय सिंहके सामान चलनेवाले,
 राजपागल-रुपक और पतपूरक मनुष्योका संहार करनेवाले राजा दिशंय कोवने लाज हो गए और
 उन्होंने समझा कि यह सिंह मतो मारनेके वार्हं दुर्दै गीर्धे मारकार मेश करमान करना चाहता है ।
 राजा दिशंय उस सिंहके मारने जा रहे थे और करीं यह हुआ कि] उनके दाहिने हाथकी उँतवियी
 उनके ननों में लमहने वाडे चालीके पंसीगे गिरक गईं । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ने
 लगा जैसे काल निहारनेका प्रकाश करनेका दिगोने पित्त धीरे धिया ही ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ इसी
 प्रकार हाथ फेंक जानेसे राजा दिशंय बग हो गये मारनेकी मरदा न पर मरनेके कारण
 कोउसे लमपया रहे और अपने नेत्रों और ही भंगर उनी प्रकार करने लगे जैसे मार और मर्दा

तमार्यगृहं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
 विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुमचं निजगाद सिंहः ॥ ३३ ॥
 अलं महीपाल तव श्रमेष्य प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
 न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोचये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥
 कैलासगौरं वृषमारुहन्तोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
 श्वेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥
 अमुं पुरः पश्यसि देवदाहं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभघ्नजेन ।
 यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पथमां रमज्ञः ॥ ३६ ॥
 फण्ड्यमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विप्रेनोन्मथिता स्वगस्यं ।
 अथैनमद्रेस्तनया शुश्रोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥ ३७ ॥
 तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां ग्रामार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
 व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहस्वमङ्गागतमत्त्वृत्ति ॥ ३८ ॥
 तस्यालमेवा क्षुधितस्य तृष्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
 उपस्थिता शोणितपारथा मे सुरद्विपथान्द्रममी सुधेव ॥ ३९ ॥

से वैवा हुआ सौं ॥ ३२ ॥ सजनोंके मित्र, मनुष्यशके शिरोमणि और सिंहके समान पराक्रमी राजा
 दिलीप बड़े अचभमेमें पड़े हुए थे और जब वह सिंह मनुष्यकी बोलीमें बोलने लगा तब तो उनके
 अचरज का दिवाना ही नहीं रहा ॥ ३३ ॥ सिंह बोला—हे राजा ! तुम मुझे मारनेका जतन मत
 करो क्योंकि मुझपर जो भी अस्त्र चलाओगे वह व्यर्थ जायगा । देवो ! बापुरा जो वेग वृषोंको
 जपसे उखाड़ फेरनेकी शक्ति रखता है वह परंतप वृष भी नहीं रिगाद सकता ॥ ३४ ॥ [मुझे तुम
 साधारण सिंह न समझना] मैं सर्वशक्तिशाली शहरजीरा कृपापात्र और मेवर दुग्गादुर नामका
 गण हूँ और शिवजीके शक्तिशाली गण निकुम्भमित्र हूँ । जब शहरजी वैनाय परंतपके समान
 उजले नन्दीपर चढ़ते हैं तब उसके पहले अपने चारबाँये मेरी पीठ परिय चले हैं ॥ ३५ ॥ और
 यह जो तुम्हारे सामने बड़ा सा देवदाहका पेड़ दिखाई दे रहा है हमे शहरजी अपने पुत्रके समान
 मानते हैं क्योंकि स्वयं पारंतपजीने अपने मौनेके चरुद स्तनोंके सम्ये भीष भीषकर हमे हतना
 यदा किया है ॥ ३६ ॥ [तुम जानते नहीं हो कि पारंतपजी हमे शिवा प्यार करता है ।] एक
 बार एक जंगली हाथी आकर हमसे राद रादकर अपनी वनपंगे गुजताने लगा । उसमे हमका
 पोसां फाला दिन गई । यम, इतनेपर ही पारंतपजीको मेरा शोक हुआ तब मैं योंने चारबाँये धायल
 स्वामिशक्तिपेचको देखकर हुआ था ॥ ३७ ॥ हमसे शहरजीने जगन्तो हाथियोंको हरानेके लिये मुझे
 यहाँ पदाहके चालकर रखवाया यतकर रम दोड़ा है और मेरा पेठ मारनेके लिये मुझे आजा दे दी
 है कि वहाँ जो जीव चाहे उसे मारकर खा जाया बरां ॥ ३८ ॥ तबे यमन्द्रमाका अमृत हाथुको
 मिलता है तबे ही शिरजीकी हगामे टोच भोजनने मगवरर बदां गा गई है और मेरे आत्रके

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दशितशिष्यमक्तिः ।
 शस्त्रेण स्स्यं यदशक्यरचं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिप्रोति ॥ ४० ॥
 इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
 प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्धवज्रां शिथिलीचकार ॥ ४१ ॥
 प्रत्यग्रवीच्यै नमिपुप्रयोगे तत्पूर्वमङ्गे वितथप्रयत्नः ।
 जङ्गीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणै न वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ ४२ ॥
 संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
 अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भावान्भावमतोऽभिधास्ये ॥ ४३ ॥
 मान्यः स मे स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
 गुरोरपीदं घनमाहिताग्नेर्नर्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥ ४४ ॥
 स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निवर्तयितुं प्रसीद ।
 दिनावसानोत्सुक्त्वात्तस्मात्सिद्धयतां धेनुरियं महर्षेः ॥ ४५ ॥
 अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।
 भूयः स भूतेष्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद्विहस्यार्थवति वभापे ॥ ४६ ॥

भोजनके लिये यह बहुत है ॥ ३९ ॥ इसलिये अब तुम ताम्र छोड़कर पर लौट जाओ । तुमने यह
 तो दिला ही दिया है कि तुम अपने गुल्के यद्दे भक्त हो । पर जब किसी वस्तुकी रक्षा शक्यसे हो
 ही न सके तो इसमें शम धारण करने बालेका क्या दोष, इससे उसका तो अपयश होता नहीं
 है ॥ ४० ॥ सिंहकी ऐसी हीठ बातें सुनकर अब राजाको यह विश्वास हो गया कि शंकरजीके प्रभावसे
 ही हम सब नहीं चला सके तब उनके मनकी आसक्त्यानि कुछ कम हुई ॥ ४१ ॥ किसी समय
 इन्द्रने शिरजीवर वज्र पत्ता दिया था । शिवजीने केवल उनकी चीर देकर भर दिया कि इन्द्र कठमारेसे
 ही गए । ठीक वही दया दिलीपकी भी हो गई । अणु चलानेमें पहले पहल विफल होनेवाले, हाथ-
 योंसे राता दिलीपने सिद्धने कहा ॥ ४२ ॥—हे सिंह ! हाथके बंध जानेमें मैं कुछ कर नहीं सकता
 इसलिये जो कुछ मैं कहूँगा उसकी सब सिद्धा ही उद्धारोंमें, फिर भी तुम सरके मनकी बात जानते
 हो, इसलिये मैं तुमने ही कह रहा हूँ ॥ ४३ ॥ देवों ! जड़-चेतन सभी प्राणियोंको जन्म देनेवाले
 पालन पोषण करने वाले और मंदार कलेशासे शिरजीका मैं क्या खाद करता हूँ । पर साथ ही
 मैं अगिरेसो गुल्के इस गौरुकी घनरो भी घनरो बालोंके आगे नष्ट होते नहीं देव सकता ॥ ४४ ॥
 इसलिये तुम मुझे गारु वरभी भूय मिटा लो और इस महर्षि वशिष्ठजीकी गौरु तोड़ दो क्योंकि
 इसका पुरोगा यद्दे शक्य हो जलनेसे इसकी बात ज्ञेय रहा होगा । ॥ ४५ ॥ यह सुनकर यह
 शिरजीका मेवक सिंह गुल्के बंधेमें दौटकी चमकते उजाड़ा करवा हुआ कुछ इसकर राजासे

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुष ।
 अल्पस्य हेतोर्वहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥ ४७ ॥
 भूतानुक्रम्या तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
 जीवन्पुनः शश्वदुवप्लयेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पामि ॥ ४८ ॥
 अथैकधेनोरपराधचण्डाद्गरोः कृशानुप्रतिमाङ्गिभेपि ।
 शक्योऽस्य मनुर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता वटोष्ठीः ॥ ४९ ॥
 तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्त्रलमात्मदेहम् ।
 महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥ ५० ॥
 एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
 शिलोचयोऽपि चित्तिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभापतेव ॥ ५१ ॥
 निशम्य देवानुचरस्य वार्त्तं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।
 धेन्वा तदध्यासितकातरांश्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥ ५२ ॥
 क्षतात्किल प्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रुढः ।
 राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तोः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ ५३ ॥

गोला ॥ ४६ ॥ हे राजन् ! जान पड़ता है कि तुममें यह सोचनेकी शक्ति भी नहीं रह गई है कि तुम्हें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, क्योंकि तुम एक साधारण सी गौने पीछे इतना बड़ा राज्य, सौन्दर्य और गोला सुन्दर शरीर छोड़नेपर उत्तारू हो गये हो ॥ ४७ ॥ यदि तुम केवल प्राणियोंपर दया करनेके विचारसे ही पैसा कर रहे हो तो भी यह त्याग ठीक नहीं है, क्योंकि इस समय यदि तुम मेरे भोजन बनते हो तो केवल एक गौकी रक्षा होगा, पर यदि जाते रहोगे तो पिताके समान तुम अपनी पूरी प्रजाकी रक्षा कर सकेगे ॥ ४८ ॥ और यदि तुम गौके स्वामी और अङ्गिके समान अपने जेठसुतीं गुरूजोसे करते हो तो उन्हें बड़े बड़े धनोवाची करोठों गाँवों देकर तुम उन्हें बना सकते हो ॥ ४९ ॥ देखो ! अभी तुम्हारे खेलने खानेके दिन हैं । इसलिये तुम अपने बलवान शरीरकी रक्षा करो, क्योंकि जिद्दागोने जहा है कि तुम और समूहिय भरा हुआ राज्य शुष्कापर ही स्वर्ग बन जाता है । उस स्वर्गसे इस स्वर्गमें इतना ही अन्तर होता है कि यह भूमिमा स्वर्ग होता है और वह देवलोका ॥ ५० ॥ जब राजा दिलीपसे इतना कहकर सिंह चुप हो गया तब पर्वतकी कन्दरासे भी उसकी गूँज सुनाई पड़ी मानो वसन्ते में प्रसन्न होकर सिद्धी ही यत्नोंका समर्थन किया हो ॥ ५१ ॥ राजाने एक और सिंहकी बातें सुनीं और दूसरी ओर देखा कि सिंहके नीचे ब्याँ हुई गाय वातर नेत्रोंसे रक्षाकी भीख माँग रही है । दयालु राजा दिलीपका ही मत थाया और वे बोले— ॥ ५२ ॥ हे सिंह ! यह शब्दना शर्म ही यह है कि दूसरोंको नष्ट होनेसे बचावे । यदि मैंने यह काम नहीं किया तो मेरा राज्य करना ही किस कामका और आपका लेकर जाते रहना

कथं न शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्रायनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।
 इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम् ॥ ५४ ॥
 सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रवेण न्यास्या मया मोक्षयितुं भवत्तः ।
 न पारया स्याद्विहता तवैवं भवेदल्लुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥ ५५ ॥
 भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्तस्तथ देशदारौ ।
 स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाशय रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥ ५६ ॥
 किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः ।
 एकान्तविष्वंसिषु मद्विधानां पितृडेघ्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ ५७ ॥
 संबन्धमीभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते ।
 तद्भूतनाथानुग नर्हसि त्वं सम्यन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ ५८ ॥
 तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तवाहुः ।
 स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिचामिपस्य ॥ ५९ ॥
 तस्मिन्क्षये पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
 श्वाश्वरस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥ ६० ॥

हो रिम कामरा ॥ ५३ ॥ तुम समझते हो कि इसके बदले में दूसरी गौएँ देकर मैं महर्षि वशिष्ठको
 मना लूँगा। यह हो नहीं सकता। तुम इस गौको नहीं पहचान रहे हो। यह किसी भी प्रकार
 वामिषेनुसे कम नहीं है। आज शकरजीका बल लेकर ही तुमने इसपर आक्रमण किया है, नहीं तो
 तुममें हतना शक्ति नहीं [कि इसका बाल भी योंक कर सको] ॥ ५४ ॥ इसलिये मुझे अपना
 शरीर देकर भी इसे छुड़ाना ही चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे तुम्हारी भूय भी मिट जायगी और
 गौके न रहनेसे वशिष्ठजीकी जो यज्ञ क्रियाएँ एक जाती, वे भी न रहेंगी ॥ ५५ ॥ देगो भाई !
 तुम भी दूसरेके सेवक हो। और यही समानसे देवदारकी रक्षा कर रहे हो। तुम यह जानते होगे
 कि जियरी रक्षाना भार संभरको मिलता है यदि यह मछ हो जाय और सेवक जित्त रह जाय तो
 यहीभी वह अपने स्वामीके आगे कौन मुँह खेर जायगा ॥ ५६ ॥ यदि तुम किसी कारणसे मेरे
 ऊपर दया करना चाहते हो तो मेरे यगरी रक्षा करो, क्योंकि मुझ जैसे लोग पञ्च-साधने यज्ञ इस
 गरवर शरीरसे सन्निक भी मोह नहीं करते ॥ ५७ ॥ देगो भाई ! वास्तवतः जाननेके जाने हम दोनों
 मित्र हो गये हैं, इसलिये हे शिवरे संनिक ! अपने मित्रकी मारना न दुःखराखो ॥ ५८ ॥ यह सुनकर
 सिंह बोला—अच्छी बात है, यही सही। नथाल दिलीपका हाथ मुल गया और रात्रा दिलीप
 अपने अग्र पंजर भौंके विद्ये समान विद्ये आगे जा पड़े ॥ ५९ ॥ सोचा मुँह करके राजा
 दिलीप यह सोच हो रहे थे कि अब यह ऊपर दूटने ही पाला है कि इसने मैं ही मगा पानेक

उत्तिष्ठ वंस्तेत्यमृतायमानं बचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
 ददर्श राजा जननीमिव स्यां गामग्रतःप्रस्रविर्षीं न निहम् ॥ ६१ ॥
 तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्गाव्य पगीक्षितोऽमि ।
 ऋषिप्रमायान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं क्षिप्तान्पहिंस्ताः ॥ ६२ ॥
 मक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृषीष्व ।
 न केरलानां पयसां प्रसूनिमघेहि मां कामदुषां प्रसंघाम् ॥ ६३ ॥
 ततः समानीय स मानितार्थी हर्ता स्वहस्ताजितरीशब्दः ।
 वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं गुदक्षिणार्थां तनयं ययाचे ॥ ६४ ॥
 मंतानकामाय तथेति कामं राजे प्रतिश्रुत्य पयम्विनी मा ।
 दुग्धा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥ ६५ ॥
 चत्मस्य होमार्थमिषेध शेषसृपेनुत्तामधिगम्य मातः ।
 श्राधम्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं पष्टांशमुर्न्या इव रक्षितायाः ॥ ६६ ॥
 इत्थं क्षितीशेन वशिष्ठधेनुनिष्ठापिता प्रीततरा बभूव ।
 तदन्विता हैमवताच कुलेः प्रत्याप्रयासाश्रममश्रमेण ॥ ६७ ॥

राजा दिक्षीपके ऊपर छायाशय्ये विराधर्मेने कृतोर्वा मर्षा जता ह्रीं ॥ ६० ॥ इत्या चंय चमृपके समान मंठे बचन शुवाई दिण—“उठो वेश” ! राजा दिक्षीपके फिर उठयात । देवने क्या है कि कामे स्तनीये कृप दरगानी हुई मायाके समान मन्दिरां मदीं है चंय विरहा कर्षी माय मा मदीं है ॥ ६१ ॥ राजा दिक्षीप अथरजनीं क्षीणोये यह मय देव सं ये । इतमेने मन्दिरां मनुष्यका ये कामे बचने मयो—हे मायु ! मैंने माया रूपर तुझाई पाया को मीं । बर्षा कर्षिके प्रयायने वसगाज भी मेरा पुत्र मदीं विगाय मदीं फिर चंय कृपरे टिपक जायेईं तो क्या हो क्या है ॥ ६२ ॥ हे पुत्र ! तुमने जो बचने गुमे मजि चंय मुझका द्या दिगपाईं है तमये मैं बहुत प्रसन्न हूँ । तुम तो कही पर मीं । तुम मुझे बचन कृप देवेगयो मयपय री न समझना । मैं प्रयत्न हो जाऊं तो मुझने जो मींया जाय वही बच दे गवनी हूँ ॥ ६३ ॥ तय मींमोईं मयपया तय देवेगये चंय कपने पात्रमयो चंय बदकनेकयो राजा दिक्षीपने इण जाहकर यह पर मींया कि मेरी पयती काली सुदृदिनाके गर्भये मेगा पयका पुत्र हो तिमये मूदेम बराबर कपता कपने प्र१४३ मन्दिरां मयपय मींमोवगये राजा दिक्षीपके प्रतिमा बं कि मीं मेरी कृपया पुर्न कर्षीये चंय यह कपता हूँ कि मु कक होवेमी मेगा दूय दूयव भी जा ॥६४॥ कपने कप—हे मीं ! मैं कपता हूँ कि कडेके दो सुदमेण चंय इवम किपने बचदेव कर्षिके कपता चंय मीं तमये प्रकाय मयपया कृप मयल कर्षीये मीं कपकी कप क हे उठयां कृप माय मयय कपता हूँ ॥६५॥ यह चंय गुपका मीं मन्दिरां कृप हूँ

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रमादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
 ग्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥ ६८ ॥
 स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्बत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
 पपी वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवात्तितृष्यः ॥ ६९ ॥
 प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्वयनं प्रपुज्य ।
 तौ दंपती स्त्रां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामासवशी वशिष्ठः ॥ ७० ॥
 प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धती च ।
 धेतुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥ ७१ ॥
 श्रोत्राभिरामधनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
 ययावनुद्धातसुखेन मार्गं स्वनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥ ७२ ॥
 तमाहितौसुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकशिताङ्गम् ।
 नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौपधीनाम् ॥ ७३ ॥

प्रसन्न हुई थीं और राजाके साथ ही हिमालयकी उस कन्दरासे बिना थके ही आधमकी ओर लौटी ॥६७॥
 निर्मल चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाले राजाधिराज दिलीप जब वशिष्ठजीके पास पहुँचे तब उनकी
 प्रसन्नताको देखते ही वशिष्ठजी सब बातें पहलेसे समझ गए । इसलिये राजाने जो समाचार सुना था
 वह उन्हें ऐसा लगा मानो दुपमा कहा जा रहा हो । गुरुजी से वह सुकनेपर राजा दिलीपने यह
 समाचार सुदक्षिणासे भी कह सुनाया ॥६८॥ जब बहुत दूध पौ चुका और हवन भी हो चुका
 सब सजनों के प्यारे प्रशसनीय राजा दिलीपने वशिष्ठजीकी आज्ञासे नन्दिनीके दूधको ऐसे पौ लिया
 मानो उन्हें बड़ी प्यास लगी हुई हो और उस दूधके उजलेपनका तो कहना ही क्या । उनकी जान
 पड़ता था कि स्वयं उजला यह ही दूध बनकर चला आया हो ॥६९॥ दूसरे दिन प्रातःकाल
 जितेन्द्रिय वशिष्ठजीने समझ लिया कि गौकी सेवका मत तो पूरा हो ही गया इसलिये उन्होंने राजा
 और रानी दोनोंको आशीर्वाद दिया कि तुम्हारा मार्ग आनन्दसे कटे और उन्हें आयोष्याके लिये विदा
 कर दिया ॥७०॥ विदा लेते समय राजाने पहले हवन कृष्णं, फिर गुरु वशिष्ठको, तब माता अरु
 पत्नीकी और सबसे पीछे बड़केके साथ बैठी हुई नन्दिनीकी परित्रमा की । महर्षिके आशीर्वाद पानेसे
 उनकी सेव और भी अधिक बढ़ गया था ॥ ७१ ॥ सदनशील राजा दिलीप अपनी धर्मपत्नीके साथ
 जिस रथपर चढ़कर आयोष्याको चले उसकी प्रति वानोंकी यज्ञ भीठी लग रहा था और वह ऐसा
 प्रसन्न था कि उसमें नागको भी हथक नहीं लगता था । इसलिये उसपर मुखसे चढ़कर जाते हुए वे
 ऐसे लगते थे मानो वे अपने सन्त मनोरथ पर चढ़े हुए जा रहे हों, रथ पर नहीं ॥ ७२ ॥ राजाकी
 आयोष्यामें गए बहुत दिन हो गए थे इसलिये प्रजा उनके दर्शनके लिये तरस रही थी । पुत्रकी
 उत्पत्तिके लिये जो उन्होंने प्रसन्न लिया था उसमें वे कुछ हुपले हो गए थे । अब इतने दिनों पर
 लौटनेसे उनकी प्रजा उन्हें ऐसा एकदम होकर देखने लगती जैसे लोग द्वितीयाके चन्द्रमाके उदय होनेपर

पुरंदरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजोन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससज्ज ॥ ७४ ॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रैरिव द्यौः
सुरक्षरिदिव तेजो वह्निनिष्प्रतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावं ॥ ७५ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये नन्दिनीचरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

उसे ध्यानमें देखते हैं ॥ ७३ ॥ इन्द्रके समान मन्सतिशाली राजा दिल्लीमें प्रजाका आदर पाकर उग्र प्रयोज्या नगरमें प्रवेश किया जिसमें उसके स्वागत के लिये भंटे ऊँचेतर दिए गए थे वहाँ पहुँचकर उन्होंने शेषनागके समान अपनी चलती भुजाओं में फिर राजकाज समाप्त किया ॥ ७४ ॥ जैसे अग्नि अग्निदे नेत्रसे निकरती हुई अन्द्रमारुपी ज्योतिको आरामाने धारण किया और जैसे इन्द्रकी वापस करनेवाले शंकरजीके उस तेजकी गगनोत्तरे धारण किया जिसे अग्नि भी नहीं समाप्त करी थी, वैसे ही शशी सुदृढिगाने राजा दिल्लीपरक वंश चलानेके लिये [आठों दिशाओंके] लोकपालोंके समान तेजस्वी पुरोंके तेजमें भरा हुआ गर्भ धारण किया ॥ ७५ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यके नन्दिनी चर-प्रदान नामक दूरवा गरा समाप्त हुआ ।



तृतीयः सर्गः

अथेप्सितं भर्तृरुपस्थितोदयं सखीजनोद्गीच्छकौमुदीमुखम् ।
 निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य संततेः सुदक्षिणा दौर्हदलक्षणं दधौ ॥ १ ॥
 शरीरसादादसमग्रभूपया मुखेन सालक्ष्यत लोभ्रपाण्डुना ।
 तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पया शशिनेव शर्वरी ॥ २ ॥
 तदाननं मृत्सुरभि क्षितोश्वरो रहस्पुपात्राप न तृप्तिमाययौ ।
 करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम् ॥ ३ ॥
 दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः ।
 अतोऽभिलापे प्रथमं तथाविधे मनो वयन्धान्यरसान्विलह्य सा ॥ ४ ॥
 न मे द्वियाशंसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुपु केषु मागधी ।
 इति स्म पृच्छत्यनुवेलमाद्यतः प्रियासखीरुत्तरकोशलेखरः ॥ ५ ॥
 उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव यत्रे तदपश्यदाहृतम् ।
 न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिव्यधन्वनः ॥ ६ ॥

तीसरा सर्ग

घोरे घंरे रानी सुदक्षिणाके शरीरमें उस गर्भके लक्षण दिखाई देने लगे जो राजा दिलीपकी दृष्टि पारी होनेका सन्देश दे रहे थे, जिन्हें देख देखकर रानीकी सन्धियोंके नेत्रोंको ऐसा सुख मिल रहा था मानो चाँदनी देवकर मगन हो रहे हों और जो इस बातके प्रमाण थे कि अब दृष्टाकु वंश नष्ट नहीं होगा, धराधर चलता रहेगा ॥ १ ॥ गर्भिणी होनेसे रानी दुबली पड़ गई थी इसलिये उन्होंने अपने बहुतसे गहने उतार दाले । उनका मुँह लोपके फूलके समान पीला पड़ गया-और इन वेशमें वे भी फाते समझती उस रात जैसी लगने लगी जब भौड़ेसे तारे बचे रह जाते हैं और चन्द्रमा भी पीला पड़ जाता है ॥ २ ॥ जैसे गर्भके अन्तमें पहला बार वर्षा होनेसे जंगलके छोटे-छोटे तालोंकी मिट्टी सोंपी हो जाती है और हाथों उसे बार-बार सूँघते हैं वैसे ही मिट्टी रानिसे रानी सुदक्षिणाका जो मुँह सोंधा हो गया था उसे पृच्छन्तों बार-बार सूँघकर भी राजा दिलीप थपते नहीं थे ॥ ३ ॥ रानी होकर भी सुदक्षिणाने सब पदार्थ छोड़कर मागो इसलिये मिट्टी राना प्रारंभ किया कि भविष्यमें उसका पुत्र भी सन्ध्या पृच्छन्त उसी प्रकार राज करे जैसे इन्द्र स्वर्गपर राज करते हैं ॥ ४ ॥ राजा त्रिलोक यह समझते थे कि सुदक्षिणा बड़ी लजीली है और अपनी दृष्टि हमसे मकड़ नहीं करती है इसलिये वे बार-बार उसके घाम रहनेवाली सन्धियों से पड़ते रहते थे कि रानीको कौन कौन सी वस्तुओंकी दृष्टि होती है ॥ ५ ॥ गर्भिणी रानी सुदक्षिणा का जब जिव वस्तुपर मन चलता था वह उसी समय उन्हें मिल भी जाती थी क्योंकि धनुष्यामी राजा दिलीपकी स्वर्गकी भी वस्तुएँ मिल सकती थी

क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा ।
 पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव संनद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ ७ ॥
 दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् ।
 तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पद्मजकोशयोः श्रियम् ॥ ८ ॥
 निधानगर्भाभिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
 नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्वां महिषीममन्यत ॥ ९ ॥
 प्रियानुरागस्य मनः समुन्नतेर्भुजाजितानां च दिगन्तसंपदाम् ।
 यथाक्रमं पुंमवनादिकाः क्रिया वृत्तेषु धीरः सद्यशीर्ष्यधत्त सः ॥ १० ॥
 सुरेन्द्रमाज्ञाश्रितागर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया शृङ्गागतः ।
 तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥ ११ ॥
 कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते मिपग्भिराप्तैरथ गर्भमर्मणि ।
 पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥ १२ ॥
 ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुचमंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसंपदम् ।
 असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥ १३ ॥

फिर इस लोककी वस्तुओंकी तो बात ही क्या ॥१॥ धीरे-धीरे जब गर्भके प्रारम्भिक कष्ट थित गए तब रानी बैसे ही हृष्ट पुष्ट और सुन्दर लगने लगी जैसे बसल ऋतुमें खताएँ पुराने पत्ते गिराकर नये कोमल पत्तों से लदकर सुन्दर लगने लगती हैं ॥ ७ ॥ थोड़े ही दिनों में उसके बड़े बड़े स्तनोंकी छुटियाँ काली पड़ गईं । इससे रानीके स्तन ऐसे सुन्दर लगने लगे कि उनकी शोभाके धामे कमलके जोड़े पर बैठे हुए भीरोंकी शोभा भी हार मान बैठी ॥ ८ ॥ राजा दिल्लीप गर्भिणी रानी सुदक्षिणाको बैसी ही महत्ववाली समझते थे जैसे शम्भुज रत्नों से भरी हुई पृथ्वी, अपने भीतर अग्नि रखनेवाला शमीका वृक्ष या भीतर ही भीतर जल बहानेवाली सरस्वती नदी ॥ ९ ॥ राजा दिल्लीप जितना रानीको प्यार करते थे, जितनी उन्हें प्रसन्नता थी और जितना बड़ा उनका राज्य था उतने ही ढाट बाट से उन्होंने पुसवन आदि सस्कार भी किए ॥ १० ॥ जब धीरे धीरे रानी सुदक्षिणाका वह गर्भ बढ़ने लगा तिममें लोकपालों के अरु भरे थे तब उन्हें उठने बैठने में भी कठिनाई होने लगी, इसलिये जब राजा रनिबागमें आते तब वे बड़ी कठिनाईसे उनके स्वागतके लिये उठ पाती थीं, उनको प्रणाम करनेके लिये जब वे हाथ जोड़ती थीं तब दायां बाजू ही जाते थे और धकावटमे चारपाय शीनों में धाँसू था जाते थे । इन बातों को देखकर राजा दिल्लीप बड़े प्रसन्न होते थे [क्योंकि वे समझ रहे थे कि अरु पुत्र होनेमें विलम्ब नहीं है] ॥ ११ ॥ बच्चोंकी चिकित्सा करनेवाले बहुतसे चतुर वैद्य ने सब उपाय कर रहे थे जिनसे गर्भिणी सुखसे बचा जनती है और गर्भ पुष्ट होता है । इससे महीनेमें राजाने देखा कि शीघ्र ही पुत्रकी जन्म देनेवाली रानी ऐसी लग रही थी जैसे तत्काल बरसनेवाले बादलों से घिरा दुग्धा आकाश हो ॥ १२ ॥ जिन प्रकार राजा अपनी सौन साधनायोगवाली शक्तिसे [रोज, उरमाह और षष्ठी मन्त्रवासे] अचल सम्पत्ति पा लेता है वैसे ही इन्द्राणीके समान तेजवाली सुदक्षिणाके भी वह

दिशः प्रसेदुर्मरुतो बभूवः सुखाः प्रदक्षिणाचिर्हविरगिराददे ।
 बभूव सर्वं शुभशंसि तत्त्वयं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥ १४ ॥
 अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा ।
 निशीथदीपाः सहसा हतत्विषी बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥ १५ ॥
 जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसंमिताक्षरम् ।
 अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रगुमे च चामरे ॥ १६ ॥
 निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तां पिवतः सुताननम् ।
 महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद् गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥ १७ ॥
 स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
 दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं वभौ ॥ १८ ॥
 सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोपिताम् ।
 न केवलं सन्ननि मागधीपतेः पथि व्यजम्भन्त दिवोकसामपि ॥ १९ ॥
 न संपतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः ।
 ऋष्याभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितृणां मुमुचे स बन्धनात् ॥ २० ॥

पुत्र उत्पन्न किया जिसके सौभाग्यशाली होनेकी सूचना वे पाँच शुभ ग्रह दे रहे थे जो उस समय ऊँच स्थानपर थे और स्वयं सूर्यके न होनेसे फल देनेमें समर्थ थे ॥ १३ ॥ बालकके उत्पन्न होनेके समय आकाश खुल गया था, धीतल मन्द-सुगन्ध वायु चल रहा था और हवनकी अग्निकी लपटें दक्षिणी ओर धूमकर हवनकी सामगियों ले रही थीं। सभी शकुन अच्छे हो रहे थे [और यह उचित भी था,] क्योंकि ऐसे बालक संस्कारके कल्याणके लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥ उस भाग्यवान बालकका तेज सौरी-घरमें चारों ओर इतना छाया हुआ था कि आधी रातके समय घरमें रखे हुए बीपोंका प्रकाश भी एकदम फीका पड़ गया और वे ऐसे जान पड़ने लगे मानो चित्रमें बने हुए हों ॥ १५ ॥ भट अन्तःपुरके सेवकोंने राजा द्वितीय के पास आकर पुत्र होनेका समाचार सुनाया। यह सुनकर वे इतने प्रसन्न हुए कि छत्र और दोनों चैत्र तो न दे सके [क्योंकि वे राजबिह्व थे] शेष सब आभूषण उन्होंने उतारकर उसे दे डाले ॥ १६ ॥ वे तरहाल भोतर गए और जैसे वायुके एक जानेपर कमल निघ्न हो जाता है वैसे ही वे एकटक होकर अपने पुरका मुँह देखने लगे। जैसे चद्रमाको देखकर महासमुद्रमें ज्वार आ जाता है वैसे ही पुरको देखकर राजाको इतना अधिक आनन्द हुआ कि यह उनके हृदयमें समा न सका ॥ १७ ॥ पुरोहित वशिष्ठजीने भी जब यह शुभ समाचार पाया तब वे भी रायचनसे आए और स्वभारसे ही सुन्दर उस बालकके जातकर्म आदि संस्कार किए। संस्कार हो जानेपर वह बालक वैसे ही सुन्दर लगने लगा जैसे रामसे निकालकर खरादा हुआ हीरा ॥ १८ ॥ यह बालक तो सत्कारका कल्याण करनेवाला था इसलिये उसके जन्म लेनेपर वैजल सुदक्षिणाके पति दिलीपके ही राजमन्दिरमें मनोहर बाजे और घेरवाओं के नाच आदि उत्सव नहीं हो रहे थे वरन् आकाशमें देवताओं के यहाँ भी नाच-गाय हो रहा था ॥ १९ ॥ [जब राजकुमारका जन्म होता है तब बन्दी-मुदों

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भरुस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः ।
 श्रवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्भविचकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम् ॥ २१ ॥
 पितुः प्रयत्नात्स समप्रसंपदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने ।
 पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥ २२ ॥
 उमावृषाङ्गी शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरंदरी ।
 तथा नृपः सा च सुतेन मागधीननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्नमौ ॥ २३ ॥
 रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् ।
 विमक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥ २४ ॥
 उवाच धात्र्या प्रथमोदितं बचो यया तदीयामवलम्ब्य चाङ्गलिम् ।
 अभूच्च नम्र प्रथिपातशिङ्गयापितुर्मुदंतेन तवान सोऽर्भकः ॥ २५ ॥
 तमङ्गुमातोप्य शरीरयोगैः सुखैर्निविञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
 उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतरस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥ २६ ॥
 श्रमंस्त चानेन परार्थ्यजन्मना स्थितेरभेचा स्थितिमन्तमन्वयम् ।
 स्वमूर्तिभेदेन गुणाय्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥ २७ ॥

से यन्दी छोड़े जाते हैं पर राजा दिलीपके साथसाथ ऐसा शब्दा प्रत्यय था कि कोई शपराव ही नहीं करता था । इसलिये] राग्यमें कोई यन्दी ही नहीं था जिसे वे पुत्र-जन्मकी प्रसन्नतामें छोड़ते । इसलिये उन्होंने यही समझा कि पुत्र न होने से जो मैं पितरोंके शब्दके बन्धनमें था उस बन्धनसे आज मैं ही छूट गया हूँ ॥ २० ॥ [शब्दोंके बीच] यथे पदचाननेवाले राजाने (रमि) धातु-का 'जाता' शब्द समझकर अपने पुत्रमा नाम इसलिये रघु रक्या कि वह सम्पूर्ण शास्त्रोंके पार भी जायगा और शुद्धशेखरमें शत्रुघ्नोके दूहोंके तोड़कर उनके भां पार जायगा ॥ २१ ॥ जैसे शुक्ल पक्षकी प्रतिषेदाका चन्द्रमा सूर्यकी किरणों पावर दिन दिन बढ़ने लगता है वैसे ही बालक रघुके योग भी क्षयतिशाली पितानी देखरेखमें दिन दिन बढ़ने लगे ॥ २२ ॥ जैसे कालिंशके समान पुत्रको पावर शकर और पावती को आश्वन्त प्रसन्नता हुई थी और जयन्त जैसे प्रतापी पुत्रकी पावर इन्द्र और शची प्रसन्न हुए थे, वैसे ही राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा भी इन दोनों के ही समान संजरी पुत्रको पावर वदे प्रसन्न हुए ॥ २३ ॥ राजा और रानीमें अक्ल और चर्चके समान वाशा प्रेम था । वह प्रेम यद्यपि एकमात्र पुत्र रघुपर बंट गया था फिर भी उनके परस्पर प्रेममें कमी नहीं हुई, उल्टे वह बढ़ता ही गया ॥ २४ ॥ जब बालक रघु कुछ वदे हुए तब धायने उन्हें जो बुद्ध सिखाया, उगे वह अपनी खोतली बोलोंमें बोलने लगे, उलकी डैगली पढ़कर चलने लगे, और सिर झुकाकर वदोंको प्रणाम करना भी सीख गए । राजा दिलीप अपने पुत्रकी इन बाल लीलाओंको देखकर पूले नहीं समाते थे ॥ २५ ॥ जब राजा उसे गोदमें उठाये तब उसके शरीरको छूनेसे ही उन्हें ऐसा जान पड़ता था मानो उनसे शरीरपर चमत्कारी तुहारें बरस रहे हों । उस समय शरीर बन्द करके वे बहुत देर तक यह आनन्द लेते हां रह जाते थे ॥ २६ ॥ जैसे प्रतापति

स वृत्तचूलश्चलकारुपचकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
 लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाघ्नयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥ २८ ॥
 अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्दुरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
 अवन्ध्वयत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥ २९ ॥
 धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
 ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥ ३० ॥
 त्वचं स मेघ्यां परिधाय रौस्वीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
 न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥ ३१ ॥
 महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं क्लमः श्रयन्निव ।
 रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोप गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥ ३२ ॥
 अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः ।
 नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवावधुः ॥ ३३ ॥
 युवा युगव्यायतचाहुरंसलः कपाटवत्ताः परिखाद्दकंधरः ।
 वपुः प्रकर्षादिजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत् ॥ ३४ ॥

श्रीहाने अपने सतोगुणवाले अरुसे विष्णुके प्रकट होनेपर यह समझ लिया कि जब हमारी सृष्टि अमर
 हो गई, जैसे ही मर्यादापालक दिसीपने भी यह समझ लिया कि रघुसे भी सूर्यवत् सदा चलता
 रहेगा ॥ २७ ॥ मुण्डनसंस्कार हो जानेपर रघुने चण्डल लड़ोवाले तथा समान आशुवाले मंत्रियोंके
 पुत्रोंके साथ पहले बर्षामाला लिखना पढ़ना सीखा और फिर साहित्यका अध्ययन करना प्रारम्भ कर
 दिया मानो नदीके मुहानेसे होकर समुद्रमें पठ गए हों ॥ २८ ॥ यज्ञोपवीत हो चुकनेपर रघुको चतुर
 पण्डितलोग सब विद्याएँ भी पढ़ाने लगे । इसमें गुरुर्योका सारा परिश्रम सफल हो गया क्योंकि चतुर
 शिष्यको जो शिक्षा दी जाती है वह अवश्य फलती ही है ॥ २९ ॥ जैसे सूर्य अपने सरपट दौड़नेवाले
 घोड़ोंकी सहायतासे थोड़े ही समयमें चारों दिशाओंको पार कर लेता है वैसे ही बुद्धिमान् रघुने अपनी
 तीव्र बुद्धिकी सहायतासे शीघ्र ही चार समुद्रोंके समान निस्तृत [आन्वीक्षिकी, शयी, वार्ता तथा दण्ड-
 नीति ये] चारों विद्याएँ सीख लीं ॥ ३० ॥ पवित्र रथ सृगङ्गा चर्म पहनकर रघुने मन्त्रयुक्त अर्धोंकी
 शिक्षा अपने पितासे ही प्राप्त की क्योंकि उनके पिता केवल चक्रवर्ती राजा ही नहीं थे वरन् अद्वितीय
 धनुष चलानेवाले भी थे ॥ ३१ ॥ जैसे गायका बड़ड़ा बड़ा हो कर सॉट हो जाता है और हाथिका बच्चा
 बढ़कर गजरज हो जाता है वैसे ही जब रघुने भी बचपन विताकर युवावस्थामें पैर रक्ता तब उनका
 शरीर और भी खिल उठा ॥ ३२ ॥ राजाने गोदान संस्कार करके उनको विवाह कर दिया । जैसे दक्ष-
 की [अश्विनी आदि] कन्याएँ अश्वत्थामा जैसे पतिकी पाकर प्रसन्न हुई थीं वैसे ही राजकुमारियों भी रघु
 जैसे प्रतापी पतिकी पाकर प्रसन्न हुई ॥ ३३ ॥ युवावस्थाके कारण रघुकी भुजाएँ हलके लुपके समान
 हृद् और लम्बी हो गई, छाती चौड़ी हो गई और कन्धे भारी हो गए । इस प्रकार उन्नत-शील बढ़
 जानेके कारण रघु अपने बड़े पितासे ऊँचे और तगवे खगते थे, फिर भी वे इतने मन्त्र थे कि उन्होंने

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता ध्रुम् ।
 निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥ ३५ ॥
 नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीधुर्वराजसंज्ञितम् ।
 अगच्छदंशेन गुणामिलापिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ॥ ३६ ॥
 विभावसुः सारथिनेन वायुना धनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।
 बभूव तेनातिरां सुदृःसदः कटप्रमेदेन करीव पार्थिवः ॥ ३७ ॥
 नियुज्य तं होमतुरंगरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्भुतम् ।
 अपूर्णमेकेन शतकतुपम शतं क्रतुनामपविघ्नमाप सः ॥ ३८ ॥
 ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरंगमृत्सृष्टमनर्गलं पुनः ।
 धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥ ३९ ॥
 विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।
 वशिष्ठेषुश्च यदच्छ्रयागता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥ ४० ॥
 तदङ्गनिस्पन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
 अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥ ४१ ॥
 स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसंभवः ।
 पुनः पुनः स्रुतनिपिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिमंयतम् ॥ ४२ ॥

कभी अपनी बड़ापन प्रकट नहीं होने दिया ॥ ३४ ॥ जब राजा दिलीपने देखा कि शिष्टा आदि संस्कारों से रघु नष्ट हो गए हैं और भली भाँति राज्य सँभाल सकते हैं तब उन्होंने सोचा कि बहुत दिनों से जो राज्य मैं चला रहा हूँ उसे रघुको क्यों न सौंप दूँ । यह विचारकर उन्होंने रघुको युवराज बना दिया ॥ ३५ ॥ जैसे सुन्दरतामें देवी मुरझाए हुए कमलको छोड़कर नये कमल पर थप जाती है वैसे ही राज्य लक्ष्मी भी वृद्धे दिलीपका छोड़कर धीरे धीरे रघुपर पहुँच गई ॥ ३६ ॥ जैसे वायुकी सहायतासे अग्नि, शरद पत्तुके लुले हुए आकाशको पारर सूर्य और मद पहनेके कारण हाथी प्रचंड हो जाता है वैसे ही प्रतापी रघुकी सहायतासे दिलीप भी इतने शक्तिशाली हो गए कि उनके शत्रु उनसे काँपने लगे ॥ ३७ ॥ इन्द्रके समान प्रभावशाली दिलीपने यज्ञके घोड़ेकी रक्षाके भार रघु और अन्य धनुर्धर राजकुमारों को सौंपकर निन्दानये अधमेध यज्ञ बिना यथाके पूरे कर लिये ॥ ३८ ॥ तब दिलीपने सीधे यज्ञ करनेके लिये घोड़ा छोड़ा । इन्द्रको यह पाठ पढ़की और उन्होंने अपनेको विपाकर धनुषभारी रथोंके देखते देखते उस घोड़ेकी सुरा लिया ॥ ३९ ॥ जब घोड़ेकी रक्षा करनेवाली रघुकी सेनाने देखा कि घोड़ा देखते देखते अदृश्य होगया तब वे बड़े घबराए और उन्हें आश्चर्य भी हुआ । ठीक उसी समय वहाँ वशिष्ठ ऋषिने प्रभावशालिनी गौ नन्दिनी धूमती घमती थली आई ॥ ४० ॥ समनों के सम्मानित रघुने तत्काल नन्दिनीके मूँचको अपनी आँखोंसे लगाया जिससे उन्हें उन सब वस्तुओंके देख सकनेकी शक्ति प्राप्त हो जो किसी भी इन्द्रियसे किसीको नहीं प्रकट होती ॥ ४१ ॥ इस प्रकार दिव्य

शतैस्तमङ्गामनिमेपशृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः ।
 अबोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव ॥ ४३ ॥
 मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे ।
 अजस्रदीक्षाप्रयत्स्य मदगुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ॥ ४४ ॥
 त्रिलोकनाथेन सदा मखाद्विपस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
 स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः ॥ ४५ ॥
 तदङ्गमर्ष्य मघवन्महाक्रतोरसुं तुरंगं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
 पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमत्तामाददते न पद्धतिम् ॥ ४६ ॥
 इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्पाधिपतिर्दिवोकसाम् ।
 निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥ ४७ ॥
 यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
 जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥ ४८ ॥
 हरिर्ययैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्यम्यक एव नापरः ।
 तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी न हि शब्द एषनः ॥ ४९ ॥

दृष्टि प्राप्त करके रघु देतले गया है कि पर्वतोंके पल फाटनेवाले इन्द्र स्वयं उस घोड़ेको लिए चले जा रहे हैं और वह घोड़ा भी उनके रथके पीछे बैठा हुआ, हुड़कार भागनेका पल कर रहा है जिसे इन्द्रका सारथी धार-धार सँभालनेका पल कर रहा है ॥ ४२ ॥ रघुने शीघ्र गड़ाकर देखा कि घोड़ेको हटने वालेके शरीरपर शीघ्र ही शीघ्र हैं, उन शीघ्रोंकी पलके भी नहीं गिरती हैं और उनके रथके घोड़े भी हरे हरे हैं । इस रघुने समझ लिया कि हो न हो ये इन्द्र हो हैं और ऊँचे शरीर स्वर से इस प्रकार इन्द्रसे बोले मानो उन्हें लौटनेको ललकार रहे हों ॥ ४३ ॥ हे देवेन्द्र । विद्वानोंका कहना है कि पशुना भाग सनसे पहले आपको ही मिलता है । मेरे पिताजी भी आप लोगोंके लिये ही बंध कर रहे हैं फिर न जाने क्यों आप उसमें विश्र डाल रहे हैं ॥ ४४ ॥ उलटते आपको तो यह प्यहिये कि संसारमें जो कोई भी यज्ञमें विश्र डाले उग्रे आप स्वयं दण्ड दें, क्योंकि आप तो तर्तोलोकोंके स्वामी हैं, और जब स्वय आपही यज्ञमें विश्र डालने लगेंगे तब तो संसारसे धर्म-ह्रास ही हो जायगा ॥ ४५ ॥ हमलिये हे इन्द्रदेव । आप मेरे पिताके अघनेन यज्ञके लिये हम घोड़ेकी छोट दीजिए । वेदका मार्ग दिग्गनेवाले महाभागों को ऐसा थोड़ा काम करना शोभा नहीं देता ॥ ४६ ॥ रघुके अभिमान भर इन वचनोंको सुनकर इन्द्रका यदा आश्चर्य हुआ और आपना रथ धुमाकर वे बोले ॥ ४७ ॥ हे राजकुमार । हम जो कहते हो वह सब ठीक है । पर हम यशस्विपोंका यह भी वर्तण्य है कि जो यज्ञसे होइ करे उग्रे अपने यशकी रक्षा भी करें । मैंने सी यज्ञ फलनेका जो यश पाया है उसे गुप्तारे पिता मुझ्ने धीमना चाहते हैं ॥ ४८ ॥ देवो ! जिस प्रकार पुरुषोत्तम केवल विष्णु ही हैं, मन्वन्वकेवन शकर ही हैं वेग ही मुनि लोग शतक्रतु (गरी यज्ञ करने वाला) केवल मुके ही

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयापहारितः ।
 अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य संततेः ॥ ५० ॥
 ततः प्रहस्यापमयः पुरंदरं पुनर्वधापे तुरंगस्य रक्षिता ।
 गृहाण शस्त्रं यदि सर्गं एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥ ५१ ॥
 स एवमुत्पन्नामधवन्तमुन्मुखाः करिष्यमाणः सशरंशरासनम् ।
 अतिष्ठदास्तीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः ॥ ५२ ॥
 रघोरवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि चतो गोत्रमिदप्यमर्षणः ।
 नत्राम्बुदानीरुमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥ ५३ ॥
 दिलीपसूतोः स बृहद्भुजान्तरं प्रविश्य भीमामुस्शोणितोचितः ।
 पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥ ५४ ॥
 हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गलौ ।
 भुजे शचीपत्रविशेषरुद्धिते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥ ५५ ॥
 जहार चान्येन मयूरपत्त्रिणा शरेण शक्रस्य मदाशनिध्वजम् ।
 चुकोप तस्मै स भृशं सुराश्रियः प्रसन्न केशव्यपरोपणादिव ॥ ५६ ॥

पढ़ते हैं । जिन मामों ने हम लोग प्रसिद्ध हैं वे नाम दूसरे नहीं रंग सारने ॥ ४९ ॥ हृषलिये जिनके कपिल मुनिने तुम्हारे पुरारे सगरके घोड़ेको हर लिया था धीमे ही मैंने तुम्हारे पित्तके हथ घोड़ेको हर लिया है । तुम इन्ने मुझनेका प्रयत्न मत करो, नहीं तो जैसे कपिल मुनिके क्रोधसे सगरके साठ महत्त पुत्र भस्म हो गए थे धीमे ही हमारे क्रोधसे तुम भी भस्म हो जाओगे ॥ ५० ॥ यह सुनकर अश्वके रथक रघुने निरर होना हैसने हुए इन्द्रसे कहा—यदि आपने यदी निशय किया हो तो शश उठाएँ और सुद्ध कीजिए । रघुको जैसे बिना आर घोड़ा ले कर नहीं जा सकते ॥ ५१ ॥ यह कहकर रघुने धनुषपर बाण चढ़ाया और पैतरा गांधक इन्द्रके और ऊपर मुँह परके रखे हो गए । उस समय वे जैसे लग रहे थे मानो इन्द्रसे सुद्ध करनेके लिये शशवं शंकर भगवान् का दंड हो ॥ ५२ ॥ रघुने रंगके समान रथ एक बाण इन्द्रके दातीमें गादा । इससे इन्द्र बड़े क्रोधित हुए और अपने धनुषपर ऐसा बाण चढ़ाया जिसका वार कभी चूँटा नहीं । इन्द्रका यह धनुष दूतना मुन्द्र या कि घोड़ी देरके लिये उतने गण बादलों में इन्द्र-धनुष जैसे रंग भर दिए ॥ ५३ ॥ बड़े-बड़े राजगोष्ठा रथ पीनेजाने उस बाणने लूचके दातीमें सुद्ध कर दर्शिका रथ बड़े आश्चर्ये दिया क्योंकि उने सभ्योक्त मनुष्य के रथका म्वाद तो मिला ही नहीं था ॥ ५४ ॥ कार्तिकेयके समान पराक्रमी रघुने भी चढ़ना नाम सुहा हुआ एक बाण इन्द्रसे उभे बाँटे भुजामें मारा जिसको उँगलियाँ ऐश्वर्यकी धार-धार पराक्रमनेके बर्षा हो गई थी और जिसपर गर्जने कुंकुम स्यादिते पुत्र विप्रकरो कर दी थी ॥ ५५ ॥ फिर रघुने मौरके पाँवजाने दूसरे बाणसे इन्द्रकी चक्र-जैसी पराजो काट टापा । उससे इन्द्रका ऐसा क्रोध हुआ मानो किराने बलपूर्वक देवताओंकी ताग-व्यवसायके गिराके बल कर दिए हो ॥ ५६ ॥

शतैस्तमङ्गलामनिमेपवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिमिः ।
 अयोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव ॥ ४३ ॥
 मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे ।
 अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मदगुरोः क्रियाविधाताय कथं प्रवर्तसे ॥ ४४ ॥
 त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विपस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
 स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः ॥ ४५ ॥
 तदङ्गमप्यं मघवन्महाक्रतोरसुं तुरंगं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
 पथः श्रुतेदर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ॥ ४६ ॥
 इति प्रसन्नं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवीकसाम् ।
 निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥ ४७ ॥
 यदात्थ राज्ञन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
 जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लक्षयितुं ममोद्यतः ॥ ४८ ॥
 हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्वम्येक एव नापरः ।
 तथा विदुर्मां मुनयः शतकतुं द्वितीयगामी न हि शब्द एषनः ॥ ४९ ॥

दृष्टि प्राप्त करके रघु देखते क्या हैं कि पर्वतोंके पंच फाटनेवाले इन्द्र स्वयं उस घोड़ेको लिए चले जा रहे हैं और यह घोड़ा भी उनके रथके पीछे बंधा हुआ, तुझपर भागनेका यत्न कर रहा है जिसे इन्द्रका सारथी धार-धार संभालनेका यत्न कर रहा है ॥ ४२ ॥ रघुने श्राँख मन्त्राकर देखा कि घोड़ेको हरने वालेके शरीरपर श्राँखें ही श्राँखें हैं, उन श्राँखोंकी पलकें भी नहीं गिरती हैं और उनके रथके घोड़े भी हरे हरे हैं । वस्तु रघुने समझ लिया कि हो न हो ये इन्द्र ही हैं और ऊँचे गभीर स्वर से इस प्रकार इन्द्रसे बोले मानो उन्हें लौटनेको ललकार रहे हों ॥ ४३ ॥ हे देवेन्द्र ! विद्वानोंका कहना है कि दक्षका भाग सबसे पहले आपको ही मिलता है । मेरे पिताजी भी आप लोगोंके लिये ही यज्ञ कर रहे हैं फिर न जाने क्यों आप उसमें विद्यमान रहते हैं ॥ ४४ ॥ उल्टे आपको तो यह चाहिये कि संसारमें जो कोई भी यज्ञमें विद्यमान रहे आप स्वयं दृष्ट करें, क्योंकि आप ही तीनोंलोकों के स्वामी हैं, और जब स्वयं आपही यज्ञमें विद्यमान रहते हैं तो संसारसे धर्म-सुख ही हो जायगा ॥ ४५ ॥ इसलिये हे इन्द्रदेव ! आप मेरे पिताके अश्वमेध यज्ञके लिये इस घोड़ेको छोड़ दीजिए । वेदका मार्ग दिखानेवाले महारत्नाओं की ऐसा शोभा काम करना शोभा नहीं देता ॥ ४६ ॥ रघुके अभिमान पर इन्द्र यज्ञोंको सुनकर इन्द्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और अपना रथ घुमाकर वे बोले ॥ ४७ ॥ हे रामकुमार ! तुम जो कहते हो यह सब ठीक है । पर हम यशस्वियोंका यह भी कर्तव्य है कि जो अपनेसे होड़ करें उनसे अपने यशको रक्षा भी करें । मैंने ही यज्ञ करनेका जो यश पाया है उसे तुम्हारे पिता तुमसे छीनना चाहते हैं ॥ ४८ ॥ देखो ! जिस प्रकार पुरपोत्तम केवल विष्णु ही हैं, अश्वमेध केवल शक्र ही हैं वैसे ही मुनि लोग शतकतुं (सौ यज्ञ करने वाला) केवल मुझे ही

अतोऽयमस्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयापहारितः ।
 अर्लं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य संततेः ॥ ५० ॥
 ततः प्रहस्यापभयः पुनंदरं पुनर्वभापे सुरगस्य रक्षिता ।
 गृह्णाण शस्त्रं यदि सर्गाएते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥ ५१ ॥
 स एवमुत्क्रामधवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरंशरासनम् ।
 अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः ॥ ५२ ॥
 रघोरवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि क्षतो गोत्रमिदप्यमर्षणः ।
 नवाम्बुदानीऋमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥ ५३ ॥
 दिलीपन्नोः स बृहद्भुजान्तरं प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः ।
 पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥ ५४ ॥
 हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गलौ ।
 भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥ ५५ ॥
 जहार चान्वेन मयूरपत्त्रिणा शरेण शकस्य महाशनिघ्नजम् ।
 लुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसव्य केऽन्यपरोपणादिव ॥ ५६ ॥

बहते हैं । जिन नामों में हम लोग प्रसिद्ध हैं वे नाम दूसरे नहीं रख सकते ॥ ४९ ॥ इसलिये जैमे
 कपिल मुक्तिने सुन्दरने पुराने सगरके घोड़ेको हर लिया था वैसे ही मैंने सुन्दरने पिताके ह्म घोड़ेको हर
 लिया है । हम हमें लुकाकेका प्रथम मत करो, नहीं तो जैमे कपिल मुक्तिने सोधने सगरके हाथ
 महग पुत्र भस्म हो गए थे वैसे ही हमारे सोधने तुम भी भस्म हो जाओगे ॥ ५० ॥ यह सुनकर
 अथके रघुक रघुने निरर होकर हँसने हुए इन्द्रके कहा—यदि आगने यही निश्चय किया हो तो आज
 उठाएँ और बुद्ध बंजिए । रघुने जाँते बिना आर घोड़ा ले कर नहीं जा सकते ॥ ५१ ॥ यह बटकर
 रघुने धनुषर बाण चढ़ाया और पैतरा गायकर इन्द्रकी ओर ऊपर मुँह करके गये हो गए । उस
 समय वे ऐसे लग रहे थे मानो इन्द्रने बुद्ध करनेके लिये स्वयं शंकर भगवान् था उठे हों ॥ ५२ ॥
 रघुने वंभेके समान रङ एक बाण इन्द्रकी दातामें मारा । इसने इन्द्र बड़े मोहित हुए और अपने
 धनुषर पैसा बाण चढ़ाया जिसका पार नहीं हुआ नहीं । इन्द्रका यह धनुष रत्नना सुन्दर था
 कि घोड़ी देरके लिये उगने गए बादलों में इन्द्रबुद्धजैमे रंग भर दिए ॥ ५३ ॥ वंभेके बाणकोका रण
 पोनेवापे उम बाणने हृदयकी दातामें धुंधर पड़िका रण बड़े आगने बिना रणोकि उमे घनीक
 मनुष्य के रणका पार में लिया हो नहीं था ॥ ५४ ॥ कार्तिकेयके समान पराजयो रघुने भी चरना
 नाम लुका हुआ एक बाण इन्द्रकी उम बाड़ी भुजामें मारा जिसकी उँगलियाँ पैरासकको कार-कार
 धगगावनेमें बड़ी हो गई थी और निरर राबने कुं कुं म आदिये कुछ विकरारी कर ही थी ॥ ५५ ॥
 फिर रघुने मारके बाणबाजे दूसरे बाणने इन्द्रकी पत्र-जैमे पत्रको उठ हाया । उगने इन्द्रकी पैसा
 बाण हुआ मानो किर्तने बघावके देवजाकोई राग मर्दानके निरके वल काट लिए हों ॥ ५६ ॥

शतैस्तमक्षामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिमिः ।
 अबोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव ॥ ४३ ॥
 मखांशभाजां प्रथमो मनोपिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे ।
 अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ॥ ४४ ॥
 त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विपस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
 स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः ॥ ४५ ॥
 तदङ्गमदयं मधवन्महाक्रतोरमुं तुरंगं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
 पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्वतिम् ॥ ४६ ॥
 इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं ब्रह्मो निशम्प्याधिपतिर्दिवोकसाम् ।
 निवर्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥ ४७ ॥
 यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
 जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥ ४८ ॥
 हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।
 तथा विदुर्मां ह्यनयः शतक्रतुं द्वितीयगानी न हि शब्द एष नः ॥

अतोऽप्यमरुतः कपिलानुकारिणा पितृस्त्वदीयस्य मयापहारितः ।
 अलं प्रयत्नेन तवात्रि मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य संततेः ॥ ५० ॥
 ततः प्रहस्यापभयः पुनंदरं पुनर्यभापे तुरंगस्य रक्षिता ।
 गृहाण शस्त्रं यदि सर्गं एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥ ५१ ॥
 न एवमुत्क्यामपघ्नन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः नशरं शरामनम् ।
 अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्ररूपेण विडम्बितेरनरः ॥ ५२ ॥
 रघोरवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः ।
 नयान्पुदानीरमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोर्षं समधत्त सायकम् ॥ ५३ ॥
 दिलीपघ्नोः स बृहद्भुजान्तरं प्रधिरय भीमासुरशोणितोचितः ।
 पपायनास्त्रादितपूर्वमाशुगः बृहद्वलेनैव मनुष्यशोणितम् ॥ ५४ ॥
 हरेः कुमारोऽपि कुमारिक्रमः सुरद्विपाष्कालनकरुंशाङ्गली ।
 भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्क्षिते स्नानामचिह्नं निचरान सायकम् ॥ ५५ ॥
 जहार चान्येन मयूरपत्त्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिघ्नजम् ।
 सुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसृत्य केशवपरोपयादिव ॥ ५६ ॥

बहते हैं । निच नामों से हम लोग प्रसिद्ध हैं ये नाम दूसरे नहीं हय सन्ने ॥ ४९ ॥ इसलिये जैसे कपिल मुनिने तुम्हारे पुत्रों सगरके घोड़ेकी हर लिया था वैसे ही मैंने तुम्हारे पित्तके इस घोड़ेकी हर लिया है । तुम हमें शुक्रानेका भयब मत् करो, नहीं तो जैसे कपिल मुनिके माघसे सगरके सख सदाय पुत्र मरम हो गय थे वैसे ही हमारे क्रोधसे तुम भी मरम हो जाओगे ॥ ५० ॥ यह सुनकर शक के रक्त रघुने निश्च होकर हैंसते हुए इन्द्रसे कहा—यदि आपने यही निश्च क्रिया हो तो शक उठाइए और युद्ध कीजिए । रघुनी जीवे बिना प्राय घोड़ा ले कर नहीं जा सन्ने ॥ ५१ ॥ यह बहकर रघुने धनुषपर बाण चढ़ाया और पैसा सायकर इन्द्रकी और ऊपर मुँह करके राड़े हो गय । उस समय ये घने लग रहे थे मातो इन्द्रसे युद्ध करनेके लिये स्वय शबर भगवान् आ डटे हों ॥ ५२ ॥ रघुने गम्भेके समान हट एक बाण इन्द्रकी छातीमें मारा । इससे इन्द्र बड़े क्रोधित हुए और अपने धनुषपर पैसा बाण चढ़ाया जिसका धार कर्मा चुकता नहीं । इन्द्रका वह धनुष इतना सुन्दर था कि घोड़ी देरने लिये उबने नष्ट बादलों में इन्द्र धनुष जैसे रंग भर दिए ॥ ५३ ॥ बड़े-बड़े राक्षसोंका रक्त पीनेवाले उस बाणने रघुनी छातीमें घुसकर उहाँका रक्त बड़े चावसे पिया क्योंकि उसे असीतक मनुष्य के रक्तका स्वाद ता मिठा ही नहीं था ॥ ५४ ॥ कार्तिकेयके समान पराजयी रघुने भी अपना नाम सुना हुआ एक बाण इन्द्रकी उम चाईं तुनामें मारा जिसकी उँगलियों पैरावतकी धार धार धापपानेसे पसी हावाई थी और जिनपर शचीने कुकु म आदिसे युद्ध चित्रकारी कर दी थी ॥ ५५ ॥ फिर रघुने मोरके पंखवाले दूसरे बाणसे इन्द्रकी वज्र-जैसी चरमाकी काट दाहा । उसने इन्द्रकी पैसा पौप हुआ मानो निर्माने बलपूर्वक देवताओंकी राज्य-सर्पोंके सिरके ध ल काट लिए हों ॥ ५६ ॥

तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविपभीमदर्शनैः ।
 वभूव युद्धं तुष्टुलं जयैपिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्त्रिभिः ॥ ५७ ॥
 अतिप्रबन्धमहितास्त्रशृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः ।
 शशाकनिर्वापयितुं न वासवः स्वतरच्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः ॥ ५८ ॥
 ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
 रघुः शशाकार्धमुखेन पत्त्रिणा शरासनज्यामलुनाद्विडौजसः ॥ ५९ ॥
 स चापमुत्सृज्य विबुद्धमत्सरः प्रयाशनाय प्रवलस्य विद्विपः ।
 महीभ्रपक्षव्यपरोपखीचिर्तं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥ ६० ॥
 रघुर्मूर्शं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
 निमेषमात्रादवधूय तद्व्यपथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ॥ ६१ ॥
 तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुपः ।
 तुतोप वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥ ६२ ॥
 असङ्गमद्रिष्वपि सारवचया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम् ।
 श्वेहि मां प्रीतमृते तुरंगमात्किमिच्छामीति स्फुटमाह वासवः ॥ ६३ ॥

रघु और इन्द्र दोनों ही अपनी अपनी जीत चाहते थे और दोनों सूर्यके समान तीरे बाणों से भयंकर युद्ध कर रहे थे। रघुकी लक्ष्य बनाकर इन्द्र नीचेकी घोर अपने बाण चलाते थे और इन्द्रकी ताक-
 ताककर रघु ऊपर बाण चला रहे थे। ऊपर वेवता और नीचे रघुके सैनिक इस शरजरभरे युद्धको देख
 रहे थे ॥ ५७ ॥ जैसे बाणल घोर परां करके भी अपने हृदय में उत्पन्न विजलीको नहीं चुका सस्ता वैसे
 ही इन्द्र भी अपने घंसे पैदा हुए रघुको बाणोंकी परांसे हरा न सके ॥ ५८ ॥ तब रघुने धर्-
 शाकारके याचने इन्द्रकी ठीक कबाईके पास धनुषकी बह डोरी काट डाली जिससेसे बाण चलाते
 समय ऐसा प्रसङ्ग शब्द होता था जैसे मधे जानेके समय और समुन्द्रमें होता था ॥ ५९ ॥ धनुषकी
 डोरी काट जाने से इन्द्रकी बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने धनुषकी तो दूर फेंका और अपने प्रबल शत्रु
 रघुको मारनेके लिये परंतों के पंच पादनेमाले, अग्निके समान चमरांलि वज्रकी उठा लिया ॥ ६० ॥
 उम चमरां मारते रघु धूर्त्वार गिर पड़े। उनके गिरते ही उनके मैत्रिकोंने शीता-पोटना धारम क
 दिया। अतः सब भार्ये ही से समचकर उठ पड़े हुए और उनके साथ ही उनके सैनिकोंकी जपजप-
 कर भी आकाशमें गूँठ उठी ॥ ६१ ॥ वज्रकी चोटने सब भार्ये समझकर रघु फिर लड़नेके लिये शा
 डते। उनकी इस अद्वितीय वीरता की देखकर इन्द्र बड़े संतुष्ट हुए। ठीक भी था, क्योंकि गुणोंका
 धार सर्वत्र होता हो ॥ ६२ ॥ इन्द्रने कहा—हे राजहृमार! परंतोंके पंच बानेवासे मेरे शत्रोर
 वज्रकी चोटकी तुम्हें पौरुष धार-तक किमाने नहीं सदा। मैं तुम्हारी वीरतापर प्रसन्न हूँ। तुम इस

ततो निपङ्गादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम् ।
 -नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निपुं प्रियंवदः प्रत्यवदत्सुरेश्वरम् ॥ ६४ ॥
 अमोच्यमस्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि ।
 अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥ ६५ ॥
 यथा च घृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।
 तथैव संदेशहराद्विशंभुपतिः शृणोति लोकेश तथा विधीयताम् ॥ ६६ ॥
 तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान्घोर्यथागतं मातलिसारथिर्ययौ ।
 नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणास्रनुरं पि न्यवर्तत ॥ ६७ ॥
 तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः ।
 परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशघ्न्याङ्कितम् ॥ ६८ ॥
 इति त्रितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः ।
 समारुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ॥ ६९ ॥

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनुवे
 नृपतिककुटुंबं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।

घोड़ेको घोड़कर थीर जो कुछ सुनने में गना चाहे, मँग लो ॥ ६३ ॥ इन्द्रके ये वचन सुनकर
 रघुने तूपाँसे आये निकाले हुए उस बाणको फिरसे उसमें डाल दिया जिसके सुनहरे पंखकी चमकसे
 रघुकी लँगलियों के नख भी चमक उठे थे थीर फिर ये इन्द्रसे बोले ॥ ६४ ॥—हे इन्द्र! यदि आप
 घोड़ेको नहीं देना चाहते हैं तो यहाँ वरदान स्वीजिए कि मेरे पिता त्रिषिपूर्वक यज्ञकी समाप्ति करके
 इस घोड़ेके विना ही सौ अश्वमेध यज्ञ करनेका फल पा जायें ॥ ६५ ॥ हे लोकेश! मेरे पिता यज्ञ-
 मंडपमें अष्टमूर्ति शिवजीके एक अश्वके रूपमें बैठे हुए हैं अतः वहाँ इस समय हम लोगोंसे कोई
 पहुँच नहीं सकता। इसलिये ऐसा उपाय कीजिए जिससे आपका ही कोई दूत जाकर उनको यह
 समाचार सुना आये ॥ ६६ ॥ इन्द्रने कहा—ऐसा ही होगा। यह कहकर जिस मार्गसे ये आए थे
 उसी मार्गसे चले गए। सुदक्षिणाके पुत्र रघु भी अपने पिता राजा दिलीपकी सभामें लौट आए। वे
 यने त्रिशु थे यों कि इन्द्रसे युद्धमें जीतनेपर भी अश्वमेधका घोड़ा लौटा न पाने का उम्हें बड़ा दुःख
 था ॥ ६७ ॥ रघुके पहुँचनेके पहले ही इन्द्रके दूतने राजा दिलीपको सब घृत्तान्त सुना दिया था।
 इसलिये जब रघु वहाँ आए तब राजा दिलीपने उनकी बड़ी प्रशंसा की थीर वहाँ उम्हें वज्र लगा था
 वहाँ धीरे-धीरे सहलाने लगे ॥ ६८ ॥ इस प्रकार जिस दिलीपकी आज्ञा कोई शाल नहीं सकता था
 उम्होंने मानों स्वर्ग जानेके लिये निम्नानवे दर्जोंकी सोढ़ी सी बना ली थी ॥ ६९ ॥ तब संसारके
 सब विषय घोड़कर राजा दिलीपने अपने नवयुवक पुत्र रघुकी शास्त्रोंके अनुसार पृथ, धँवर आदि

मुनिवन्दनतर्कच्छायां देव्या तथा सह शिश्रिये
मलितवपसामिक्ष्माहृणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ ७० ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ॥

राजचिह्न दे दिष्ट श्रीत देवी मुदकिण्णके साथ तप करनेके लिये जंगलकी राह ली । वर्यो कि द्दवराकु-
वंशके राजाओं में यही परंपरा बली आई है कि वे बूढ़े होनेपर जंगलमें जाकर तपस्या क्रिया करते
थे ॥ ७० ॥

महाकवि श्री कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रघुका राज्याभिषेक
नामके तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥



चतुर्थः सर्गः

राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं वभौ । दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः । १
लीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम् । पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः । २
ऋतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः । नवाम्बुत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः । ३
नमेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना । तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् । ४
।यामण्डलक्षयेण तमदृश्या किल स्वयम् । पद्मा पद्मात्पत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् । ५
रेकल्पितसांनिध्या काले काले च वन्दितुम् । स्तुत्यं स्तुतिभिरध्व्याभिरुपतप्ये सरस्वती । ६
मुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः । तथाप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्गुणधरा । ७
हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः । आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः । ८
दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ । फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः । ९
रविद्धिर्नवे राज्ञि सदसचोपदक्षितम् । पूर्वं एवाभवत्पद्मस्तस्मिन्नामवदुत्तरः । १०

चौथा सर्ग

जैसे सौंभके सूर्य से तेज लेकर आग चमक उठती है वैसे ही अपने पितासे राज्य पाकर रघु और अधिक तेजस्वी हो गए ॥ १ ॥ जब दूसरे राजाओंने सुना कि विलोप के पीछे रघु राजा होगा तब उनके हृदयमें घैरकी जो आग धीरे धीरे मुलग रही थी वह मानो भड़क उठी ॥ २ ॥ जब राजा रघु ने ऊँचे सिंहासनपर बैठते थे तब उनकी प्रजारें सब बूढ़े वस्त्रों के ऊपर और और उठाकर देपते हुए ही प्रसन्न होते थे जैसे आवाजमें उठे हुए नये इन्द्रधनुषको देखकर लोग प्रसन्न होते हैं ॥ ३ ॥ पाँके समान मस्त चालने चलनेमाले राजा रघुने पिताके सिंहासनपर और अपने शत्रुओंपर एक प्र अधिकार कर लिया ॥ ४ ॥ जब वे सिंहासनपर बैठते थे उस समय उनके चारों ओर प्रकारका स घैरा सा बन जाता था । उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मी स्वयं छिपकर उमंग कमल छत्र लेकर उनके पीछे खड़ी हो ॥ ५ ॥ समय समयपर सरस्वती भी उनके चारों ओर बगैरोंमें बैठ कर अपने विरद सुनारर उन प्रशंतीय राजा रघुका गुण मालती थी ॥ ६ ॥ यों ही रघुने पहले मनु दि बहुतसे प्रतापी राजा पृथ्वीका भोग कर चुके थे पर रघुके हाथमें पहुँचकर वही पृथ्वी धरती गई न पड़ती थी मानो पहले-पहल रघुके हाथोंमें-पार्द हो ॥ ७ ॥ जैसे समतला वायु बहुत शीत या गरम होनेने कारण सबको भाता है [वैसे ही रघु भी चाकरवजमाने अधिक बड़ेर या कौमत्र दण्ड नहीं] थे ।] जो जैसा अराध करता था उमको मीमा ही दण देने थे । इस प्रकारके स्वापने उनको प्रजा तसे बढ़ी प्रसन्न थी ॥ ८ ॥ और जैसे आमके मुन्दर फल देखकर लोग उमके पीर को मूल जाने हैं ३ ही रघुमें राजा दिर्ज्ञापने अधिक गुण देखकर लोग दिर्ज्ञावकी मूलने गए ॥ ९ ॥ नीति जाननेवाले श्रेयों ने रघुको सरल और दुष्टिल दोनों प्रकारको नीतियों से राज्य चलानेकी विधिवा मिया दी,

मुनिवनतरुच्छायां देव्या तथा सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्षराहूणामिदं हि कुलघ्नतम् ॥ ७० ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतो रघुवंशे महाकाव्ये
रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ॥

राजचिह्न दे दिग् और देवी मुदचिह्नके साथ तप करनेके लिये जगलकी राह ली । क्यों कि इन्द्राह-
वंशके राजाओं में यह परंपरा चली आई है कि वे बड़े होनेपर जंगलमें जाकर तपस्या क्रिया करते
थे ॥ ७० ॥

महाकवि श्री कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रघुका राज्याभिषेक
जगतके तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥



मदोदग्राः कङ्कबन्तः सरितां कूलमुद्भुजाः । लीलाखिलमनुप्राप्तुर्महोद्यास्तस्य विक्रमम् ॥२२॥
 प्रसवैः सप्तपर्शानां मदगन्धिमिराहताः । अमृषयेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्तुवृः ॥२३॥
 सरितः कुर्वती गाधाः पथधारयानकर्दमान् । यात्रायै चोदयामास तं यत्केः प्रथमं शरत् ॥
 तस्मै सम्यग्पुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ । प्रदक्षिणाचिन्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥२४॥
 स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपाण्डिरयान्वितः । पड्विबन्धं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ।
 अथाकिरन्वयोद्भृद्वाक्त्वं लाजैः पौरयोपितः । पृथतैर्मन्दरोद्भूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम् ॥२७॥
 स ययौ प्रथमं प्राचीं तुन्यः प्राचीनवर्हिषा । अहिताननिलोद्भूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥२८॥
 ज्योभिः स्पन्दनोद्भूतैर्गलैश्च घनसंनिभैः । भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥२९॥
 तापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम् । ययौ पश्चाद्वादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः ॥३०॥
 नरुपुष्टान्युदम्मांसि नाज्याः सुप्रतरा नदीः । विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमन्वाचकार सः ।

गया, उधर शत्रुघ्नोके मन्में यह कामकर स्वतवली मच गई कि अब न जाने कर रघु चलाई भर
 है ॥ २१ ॥ कहीं ऊँचे-ऊँचे कंधोंवाले मतवाले सौंद नदियोंके किनारे उभरे हुए ऐसे लगने थे मानो
 । रघुके लक्ष्मणके खेलवाड़ोंका अनुकरण कर रहे हों ॥ २२ ॥ (शरद ऋतुमें चारों ओर) दृष्टिगतके
 तो फूल फूले हुए थे उनका मद जैसे गन्ध पाकर [रघुके हाथियों ने सोचा कि ये भी हाथी हैं और
 ऐसे हीच करके मद बहा रहे हैं । इसलिये वे भी] रावके मारे घपना सूँढ़के नथनेगे दोनों कपोलो
 ने, कमरसे और दोनों आगोंसे मद बहाने लगे ॥२३॥ शरदके आते ही नदियोंका पानी उतर गया
 और मार्गका बीचद भी सूख गया, मानो शरद ऋतुने रघुके सोचनेसे पहले ही उन्हें दिग्बिजय
 करनेको उकसा दिया हो ॥ २४ ॥ यात्राके लिये चलनेसे पहले घोड़ोंकी पुत्राकं लिये दान होने
 गया और हवनकी आग में दाहिनों ओर पूजता हुई उठ रहे भी मानो अपने हाथ उठा उठाकर
 'घुके पहलेसे ही विजय दे रही हों ॥२५॥ मीमांस्यशास्त्रे रघुने पहले राजधानी और मीमांकें गढ़ोंके
 आका प्रबन्ध किया किन्तु मुहूर्तमें [सुदगवार, हाथी, रथ, पैदल, गुप्तचर और शत्रुके राज्यके
 तार्कों जाननेवाले हूँ] घुः प्रकारकी सेनाओंकी लेकर ये विजयके लिये चल पड़े ॥ २६ ॥ जैसे
 म्दतकल्पने नभसे स्वतः उभरे आकाशकी जलसे भी उदत्ता हुई उजली कुतर दिग्बिजयका अर्थ
 रम रही थीं जैसे ही नगरकी चर्च-पूरी शिवोंने विजय-यात्राके लिये जाने हुए रघुके ऊपर घानकी
 लिये परगाई ॥ २७ ॥ इन्द्रके समान प्रतापी राजा रघु पहले दिग्बिजयके लिये पूर्वी ओर चले ।
 ए लगनेसे सेनाका जो शक्तिवै कटकरा रही थीं वे मानो शत्रुओंकी उगली उठा-उठाकर दाट रही
 हैं ॥ २८ ॥ रघुके रथोंके चक्केने जो भूज ऊपर उठीं उभने आकाशको छूनी बना दिया । ह्यर
 ध्योपर चलती हुई गेताके बाये-कले हाथी पादल लिये लग रहे थे विजयने पूर्वी भी आकाश जैसी
 लगने लगी थी ॥ २९ ॥ [रघुका प्रताप इतना अधिक था कि गेताके चक्केने पहले ही शत्रु बाँध
 लिये थे ।] इस प्रकार आगे-आगे उगता प्रताप चक्का था, पीछे उनकी सेनाका बीचदव गुनाई
 जाता था, सब भूज उड़ती दिगाई देती थी और मचने पीछे रथ आदिकी गेता चलने का
 ही थी रघुको सेना मानो इस प्रकारके चर मानोंमें यैने हुई चल रही थी ॥ ३० ॥ रघुके
 ॥स ऐसे साधन थे कि शरदृमिमें भी जलकी पारण बहने लगी, गढ़ों शदियोंपर पुत्र बंध गद और

पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः । नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥ ११ ॥
 यथा प्रह्लादनाचन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा । तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥ १२ ॥
 कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशालेतस्य लोचने । चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिन
 लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता । पार्थिवश्रीद्वितीयेव शरत्पङ्कजलदणा ॥ १४ ॥
 निर्वृष्टलघुभिर्मघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः । प्रतापस्तस्य भानोश्चयुगपद्भ्यानशे दिशः ॥ १५ ॥
 वार्षिकं संजहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ । प्रजार्थसाधने तौ द्वि पर्यायोद्यतकार्मुकौ ॥ १६ ॥
 पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः । ऋतुविडम्बयामासन पुनः प्राप तद्भिन्नपम् ॥ १७ ॥
 प्रसादसुमुखे तस्मिन्चन्द्रे च विशदप्रमे । तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः ॥ १८ ॥
 हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु । विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥ १९ ॥
 इक्षुच्छायनिपादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् । आङ्गुमारकथोद्वा शालिगोप्यो जगुर्यशः
 प्रसादादोदयाद्भवः कुम्भयोनेर्महौजसः । रघोरनिभवाशङ्कि चुम्बुमे द्विपतां मनः ॥ २१ ॥

उस धर्मात्मा राजाने सीधी नीतिको ही अपनाया और देगी गतिको छोज दिया ॥ १० ॥ रघुके सिंहा-
 सनपर बैठते ही जलकी मिटास अधिक हो गई, फूलोंकी सुगन्ध बढ़ गई और [पृथ्वी, जल, धनि
 वायु, आकाश इन] पाँचों सरबोंके गुण भी बढ़ने लगे । ऐसा जान पड़ने लगा मनो नए राजाको पाकर
 सभी बस्तुएँ नई ही गई हो ॥ ११ ॥ जैसे सबको आनन्द देकर चन्द्रमाने अपना चन्द्रनाम
 सार्थक किया और सबको तपाकर सूर्यने धरणा तपन नाम सार्थक किया, वैसे ही रघुने भी प्रजाको
 रंजन करके, उन्हें सुख देकर अपना राजा नाम सार्थक कर दिया ॥ १२ ॥ यद्यपि रघुके नेत्र कानों-
 तक फैले हुए और बहुत बड़े-बड़े थे पर उन्हें अधिक भरोसा अपने उस शास्त्र-चक्षुपर था जिससे वे
 सूक्ष्मसे सूक्ष्म बातको भी समझ जाते थे ॥ १३ ॥ जब रघुने अपने राज्यमें शान्ति स्थापित कर ली और
 उसका चित्र दिक्काने हुआ उस समय दूसरी राज्य-लक्ष्मों के समान बड़े शरद ऋतु आ गई थी जिसमें
 चारों ओर सुन्दर कमल खिल गए थे, ॥ १४ ॥ यहाँ बीच लुकी थी, बादल हट गए थे और जैसे झुले
 जानेपर रघुका प्रपञ्च प्रताप भी चारों ओर फैल गया था वैसे ही शत्रुओंके नष्ट हो
 धनुष हटाया तब रघुने अपना विजयी धनुष हाथमें उठा लिया क्योंकि ये दोनों ही शरी-बारीसे प्रजाकी
 भलाई किया करते थे ॥ १५ ॥ शरद-ऋतु भी रघुके छत्र और बैचरको देखकर कमलके छत्र और फूले
 हुए कासके चैवर लेकर रघुसे होश करने लगी, पर सब हुए करके भी उनकी शोभा नहीं पा सकी
 ॥ १६ ॥ शरद ऋतुमें रघुके खिले हुए सुख और उजले चन्द्रमा दोनोंकी देखकर दर्शकोंकी एक सी
 धामन्द मिलता था ॥ १७ ॥ उजले हँतोंकी उबरी हुई पाँतों, शरभों खिले हुए तिमटिमाते तारों
 और तारोंमें खिली हुई कुँड़ोंकी देखकर यह जान पड़ता था कि रघुकी नीतिको ही इतने रूप धनाकर
 फैली हुई है ॥ १९ ॥ (प्रजाको वे इतने प्यारे थे कि) धामके खेतोंकी रखवाली करने वाली
 गीत बना-बनाकर गाती थी ॥ २० ॥ इधर तो चामकीले अगस्त्य तारेके निकलनेसे जब निर्भय हो

लम्बुलानां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः । नारिकेलसर्वं योधाः शाश्वतं च पपुर्यशः ।
 पृथग्विप्रमिषुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः । श्रियं महेंद्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥४३॥
 ततो वेल्लतटैर्नैव फलवत्पृग्मालिना । श्वगरस्याचारितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥४४॥
 स सैन्यपरिमोगेण गजदानमुगन्विना । कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥४५॥
 बलैरघुपितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः । मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयार्द्ररुपरयकाः ॥४६॥
 सप्तजुरस्वश्रुणानामेलानामृन्पतिष्णवः । तुन्यगन्धिषु मत्चेभ्रुटेषु फलरेणवः । ४७॥
 मोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् । नास्तमत्करिणां प्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि । ४८॥
 दिशि मन्दायने तेजो दर्शयिष्यां स्वर्गपि । तस्यामेव रथोः पाण्डुरोः पतापंन विपेदिरे । ४९॥
 ताप्ररणीभमेतस्य मुक्तासारं महोदयेः । ते निपत्य ददुस्तस्मै यथाः स्वमिव संचितम् । ५०॥
 स निर्विन्द्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ । स्तनाश्रित दिशस्तस्याः शैलौ मलयदुर्गौ । ५१॥
 श्रमणविक्रमः मह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता । नितम्बमिव मेदिन्यास्तस्तांशु रुमलङ्घयत् ॥ ५२॥

कावेरी धर्मांसे न्नात करके विजय पाई ॥ ४३ ॥ लडाई हो चुकनेपर रघुके वीर सैनिकों ने महेंद्र पर्यंतपर
 पानके पत्ते बिड़ाकर मडिराज्य बनाया और वहाँ नारियलकी मडिराके साथ साथ मानो शत्रुसोंका मर
 मो भी गए ॥ ४४ ॥ राजा रघु तो धर्म युद्ध करने थे इसलिये उन्होंने महेंद्र पर्यंतके राजाको बन्दी तो
 बना लिया पर तब टपने इनकी शधीनता स्वीकार कर ली तब ठपे छोड़ भी दिया । इस प्रकार
 उन्होंने महेंद्रके राजाको राज्यभी तो ले ली पर राज्य उन्होंने भी छोड़ दिया ॥ ४३ ॥ पूर्व दिशाकी
 बालाकर विजयी रघु समुद्रके उभ तटपर होते हुए दक्षिण दिशाको गए तबपर परी हुई सुपारियोंके
 पर लगे हुए थे ॥ ४४ ॥ जब वे कावेरीके तटपर पहुँचे तब राजा रघुके सैनिक जो भरबर नहाए
 और कपको मय दिया । फिर हाथियों के नहानेने मरती कथली गन्ध भी जलमें आने लागे । इस
 प्रकार कावेरी बदीकी घेमी दुर्गति कर ली गई कि जब यह अपने पति समुद्रके पास जाय तो उसे
 उनके सिरमें मन्देह होने लगे ॥ ४५ ॥ बदायिं चलने चलते वे बहुत दूर निबल गए और निबल
 आनेवाले रघुके सैनिक मत्पाचत्रकी उभ तराईमें उतरे जहाँ काली मिर्चकी कविचोंमें हरे हरे
 सुने इतर तटपर टक रहे थे ॥ ४६ ॥ वहाँ पृथ्वीपर गिरे हुए लीगवे रीज मोर्चोंकी टापोंसे शिवपर
 क्युके मशारे हाथियों के उन गालों पर घिपक गए जहाँ उन्हींके गन्ध कैरी मर्दपी गन्ध निबल रही
 थी ॥ ४७ ॥ सौँपोंके मद्दा लिपट रहनेने वहाँके चन्दनके पेड़ों के पारों और गहरी रेखाएँ बन गई
 थी तिनमें सेवे हुए रन्गोंकी वे हाथी भी न ताँद सके जो परके रन्गोंकी भट्टेने तोड़ चालते
 थे ॥ ४८ ॥ दक्षिण दिशामें महाप्रतापी मूर्खका तेज भी मन्द पड़ जाता है पर रघुका तेज इतना
 मजबूत था कि वहाँके पाँचव राजा भी इनके आगे न टकर सके ॥ ४९ ॥ दक्षिणके पाँचव राजाओं के
 कपूरकी और समुद्रके संगमने तिनने माली यतारे थे वे सब उन्होंने रघुको लेने सौँप दिए मागो
 अपना शरीर हुआ मर ही उन्हें दे जाता हो ॥ ५० ॥ उन्हें जातकर महा प्रतापी रघुके उभ मलय
 और दुर्ग नामकी पहाड़ियोंपर बहुत दिनों तक पड़ाव डाला तबपर चन्दनके पेड़ लगे थे और जो
 पेड़ दिखते पड़ने थे मानों चंदन लगे हुए दक्षिण दिशाके हो गये हैं ॥ ५१ ॥ तब से मरती

स सेनां महतीं कर्पणपूर्वसागरगामिनीम् । वभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥३२॥
 त्याजितैः फलमुत्पातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः । तस्यासीदुन्वयो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥३३॥
 पौरस्त्यानेनमाक्रमैस्तौस्ताञ्जनपदाञ्जयी । प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥३४॥
 अनघ्राणां समुद्रतुस्तस्मात्तिन्धुरयादिव । आत्मा संरक्षितः सुद्वैर्घृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥
 बङ्गानुत्थाय तरसा नेता नौसाधनोद्यवान् । निचरान जयस्तम्भान्गङ्गास्रोतोन्तरेषु सः ॥
 आपादपन्नप्रयाताः कलमा इव ते रघुम् । फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥३७॥
 स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः । उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥३८॥
 स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णान्यवेशयत् । अद्भुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥३९॥
 प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तम्भैर्गजसाधनः । पन्नच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ॥४०॥
 द्विपां विपद्य कालुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम् । सन्मङ्गलम्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥४१॥

घने जगलो में सुले मार्ग वन गए ॥ ३१ ॥ अपनी विराल सेनाके साथ जब वे पूर्वी समुद्रकी ओर जा रहे थे उस समय वे ऐसे लग रहे थे मानो शकरजमी जटसे निकली हुई गंगाजाँको साथ लिए हुए भागीरथजी (पूर्वी समुद्रकी ओर) चले जा रहे हों ॥ ३२ ॥ जैसे कोई बलवान जंगली हाथी किसी घुड़को धका मारकर छोड़ देता है किसीकी उखाड़ फेंकता है और किसीको तोड़ देता है वैसे ही रघुने भी किन्हीं राजासे कर लेकर उसे छोड़ दिया किसीका राज्य उखाड़ फेंका और किसीको लड़ाईमें धरत कर डाला । इस प्रकार शत्रुओं को नाश करके उन्होंने अपने मार्गके सब रोड़े दूर कर डाले ॥ ३३ ॥ विजयी राजा रघु पूर्वी राज्यों की जीतते हुए उस समुद्रके किनारे पहुँचे जो तटपर खड़े हुए ताड़के वृक्षोंकी छाया पड़नेसे काला दिखाई पड़ रहा था ॥ ३४ ॥ जैसे घेतकी शाखाएँ नदीका धारमें झुककर खड़ी रह जाती हैं वैसे ही सुल देशके राजाओंने अधिमानियोंको उखाड़ फेंकनेवाले रघुकी अधीनता चुपचाप कान दबाकर मान ली और अपने प्राण बचा लिए ॥ ३५ ॥ फिर सेनानायक रघुने उन बँगाली राजाओंको हराया जो जलसेना लेकर लड़ने चाहे थे । उन्हें जोतकर रघुने गङ्गासागरके द्वीपोंमें अपना विजयका झंडा गाड़ दिया ॥ ३६ ॥ [जैसे एक खेतसे उखाड़ उखाड़कर दूसरे खेतमेंले जाकर रोपते हुए] धानके पौधे किसानका धर धन्नसे भर देते हैं वैसे ही रघुने उन राजाओंकी फिर राजपर बैठा दिया जो उनके पैरों पर आकर गिर पड़े थे और जिन्होंने बहुतसा धनधान्य भेंटमें देकर रघुका राज्यकोष बढ़ाया था ॥ ३७ ॥ वहाँसे चलकर रघुने हाथियोंका पुल बनाकर अपनी पूरी सेनाको कपिला नदीके पार कर दिया । वहाँ उर्द्वाराके राजाओंने अधीनता तो स्वाकार की ही साथ ही शमेका मार्ग भी बताया और रघु कलिङ्गदेश जीतनेके लिये पहाड़ पर पहुँचकर उरुकी चोटीपर अपना पड़ाव जमा दिया ॥ ३९ ॥ जैसे पथर बरखानेवाले पहाड़को पथर बरसाकर पर्वतोंके पल काटनेवाले हृन्दका सामना किया था वैसे ही कलिङ्ग प्रदेशने हाथियोंकी सेना लेकर और पथर बरसाकर रघुका सामना किया ॥ ४० ॥ जैसे तीलोंके जलसे स्नान कराकर राजाओंका राज्यनियेक होता है और उन्हें राज्य लक्ष्मी मिलती है वैसे ही रघुने भी रघुओंके

ताम्बूलीनां दलैस्त्वत्र रचिताऽऽयानभूमयः। नारिकेलस्रवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः।
 गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः। श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥४३॥
 ततो वेलालतेनैव फलवत्पृग्मालिना। अग्रस्याचारितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥४४॥
 स सैन्यपरिभोगेण गजदानमुगान्धना। कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥४५॥
 बलैरधुपितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः। मारीशोद्भ्रान्तहारीता मलयपद्रेरुपत्यकाः ॥४६॥
 ससञ्जुरस्वक्षुरणानामेलानामुत्पतिष्यथः। तुल्यगान्धिषु मत्तभक्तप्रेषु फलरेशवः ॥ ४७॥
 भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्। नासत्करिणां श्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥ ४८॥
 दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां श्वेरपि। तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः पतापं न विपेहिरे ॥ ४९॥
 ताम्रपर्णीप्रभेतस्य मुक्तासारं महोदधेः। ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम् ॥ ५०॥
 स निर्विन्द्य यथाकामं तटेष्वालोनचन्दनौ। स्तनाशिव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥ ५१॥
 अस्रविक्रमः सहं दूरान्मुक्तमुदन्वता। नितम्बमिव मेदिन्या स्रस्तांशुक्रमलक्षपत् ॥ ५२॥

याहोंकी चर्पासे स्नान करके विजय पाई ॥४३॥ लदाई दो सुकनेपर रघुके जीर सैनिकों ने महेन्द्र पर्वतपर पानके पत्ते चित्ताकर मंदिरालय बनाया और वहाँ नारियलकी मंदिरके साथ साथ मानो शत्रुओंका दश भी पी गये ॥४४॥ राजा रघु तो धर्म सुद करते थे इसलिये उन्होंने महेन्द्र पर्वतके राजाको बन्दी तो बना लिया पर जब उसने इनकी अधीनता स्वीकार कर ली तब उसे छोड़ भी दिया। इस प्रकार उन्होंने महेन्द्रके राजाको राज्यभी तो ले ली पर राज्य उन्हींकी लीटा दिया ॥ ४५ ॥ पूर्व दिशाकी जीतकर विजयी रघु समुद्रके उस तटपर होते हुए दक्षिण दिशाको गये जिसपर पक्षी हुई सुपारियोंके पेड़ लगे हुए थे ॥ ४६ ॥ जब वे कावेरीके तटपर पहुँचे तब राजा रघुके सैनिक लौ भरकर नहाण और जलको मग्न किया। फिर हाथियों के नहानेमे मदकी कर्बली गन्ध भी जलमें आने लगे। इस प्रकार कावेरी नदीकी ऐसी दुर्गति कर दी गई कि जब वह अपने पति समुद्रके पास जाय तो उसे उसके चरित्रमें सम्बेद होने लगे ॥ ४७ ॥ वहाँसे चलते चलते वे बहुत दूर निकल गये और विजय चाहनेवाले रघुके सैनिक मलयाचलकी उम तराईमें उतरे जहाँ काली मिर्चकी भाँडियोंमें दरे दरे सुगो धूप उपर उड़ रहे थे ॥ ४८ ॥ वहाँ पृथ्वीपर गिरे हुए लौंगिके बीज घोड़ोंकी चर्पासे पिसकर बाबुके सट्टारे हाथियोंके उन गालों पर चिपक गए जहाँ उन्हींके गन्ध जैसी मदकी गन्ध निकल रही थी ॥ ४९ ॥ लौंगोंके सदा लिपटे रहनेसे वहाँके बन्दनके पेड़ोंके चारों ओर गहरी रेखाएँ बन गई थीं जिनमें बँधे हुए रस्सोंको वे हाथी भी न तोड़ सके जो घेरके रस्सोंकी भटकेमे तोड़ डालते थे ॥ ५० ॥ दक्षिण दिशामें महाप्रतपगो मूर्धका तेज भी मन्द पड़ जाता है पर रघुका तेज इतना प्रबल था कि वहाँके पाँच राजा भी इनके आगे न उठर सके ॥ ५१ ॥ दक्षिणके पाँच राजाओं ने चापप्रणी और समुद्रके संगमसे गितने मोती कटारे थे वे सब उन्हींके रघुको देने लौंग दिए मानो अपनी बरोता हुआ दश ही उन्हीं के डाला हो ॥ ५० ॥ उन्हीं जीतकर महा प्रतापी रघुने उन मलय और दुर्गर नामकी पहाड़ियोंपर बहुत दिनों तक पड़ाव डाला जिनपर चन्दनके पेड़ लगे थे और जो ऐसी दिग्घाई पड़ते थे मानो चंद्रन लगे हुए दक्षिण दिशाके दो स्तन हों ॥ ५१ ॥ फिर वे सत्तकी

स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम् । वभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥३२॥
 त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः । तस्यासीदुन्वयौ मार्गः पादपैस्त्रि दन्तिनः ॥३३॥
 पौरस्त्यानेनमाक्रमैस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी । प्राप तालीवनदयाममुपकण्ठं महोदधेः ॥३४॥
 अनप्राण्यां समुद्रतस्तस्मात्सिन्धुरयादिव । आत्मा संरक्षितः सुखैर्बृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ।
 वङ्गात्तुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् । निचखान जयस्तम्भान्गङ्गास्रोतोन्तरेषु सः ।
 आपादपत्रप्रणाताः कलमा इव ते रघुम् । फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥३७॥
 स तीर्त्वा कपिशान् सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः । उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥३८॥
 स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णान्यवेशयत् । अद्भुशं द्विरदस्येय यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥३९॥
 प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तम्भैर्गजसाधनः । पञ्चच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीञ्च पर्वतः ॥४०॥
 द्विषां विपहा काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम् । सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥४१॥

वने जगलो में खुले मार्ग वन गए ॥ ३१ ॥ अपनी विशाल सेनाके साथ जब वे पूर्वी समुद्रकी ओर जा रहे थे उस समय वे ऐसे लग रहे थे मानो शकरजीकी जटासे निकली हुई गंगाजीकी साथ लिए हुए भागीरथजी (पूर्वी समुद्रकी ओर) चले जा रहे हों ॥ ३२ ॥ जैसे कोई बलवान जगली हाथी किसी घुसकी धक्का मारकर छोड़ देता है किसीको उखाड़ फेंकता है और किसीको तोड़ देता है वैसे ही रघुने भी किसी राजासे कर लेकर उसे छोड़ दिया किसीका राज्य उखाड़ फेंका और किसीको लबाड़में ध्वस्त कर डाला । इस प्रकार शत्रुओंको नारा करके उन्होंने अपने मार्गके सब रोड़े दूर कर डाले ॥ ३३ ॥ विजयी राजा रघु पूर्वी राज्योंको जीतते हुए उस समुद्रके किनारे पहुँचे जो तटपर खड़े हुए हाड़के बुल्लोंकी छाया पड़नेसे बराला दिखाई पड़ रहा था ॥ ३४ ॥ जैसे बैतकी शाखाएँ नदीकी धारमें झुककर खड़ी रह जाती हैं वैसे ही सुभद्र देवके राजाओंने अभिमानियोंको उखाड़ फेंकनेवाले रघुजी अधीनता सुपचाप वान दबाकर मान ली और अपने प्राण बचा लिए ॥ ३५ ॥ फिर सेनामायक रघुने उन वैगली राजाओंको हराया जो जलसेना लेकर लड़ने आये थे । उन्हें जीतकर रघुने गङ्गासागरके द्वीपोंमें अपना विजयका रुडा गाड़ दिया ॥ ३६ ॥ [जैसे एक खेतसे उखाड़ उखाड़कर दूसरे खेतमेंले जाकर रोपते हुए] धावके पीछे किसानका घर धन्नसे भर देते हैं वैसे ही रघुने उन राजाओंको फिर राजपर बैठा दिया जो उनके पीछे पर आकर गिर पड़े थे और जिन्होंने बहुतसा धनधान्य भेंटमें देकर रघुका राज्यकोष बढ़ाया था ॥ ३७ ॥ वहाँसे चलकर रघुने हाथियोंका गुल बनाकर अपनी पूरी सेनाको कपिशान् नदीके पार कर दिया । वहाँ उड़ीसाके राजाओंने अधीनता तो स्वाकार की ही साथ ही योगेका मार्ग भी बताया और रघु कलिङ्गदेश जीतनेके लिये आगे बढ़े ॥ ३८ ॥ जैसे मतवाले हाथोंके माथेमें हाथीदान अड्डा गढ़ाता है वैसे ही रघुने भी महेन्द्र पहाड़ पर पहुँचकर उसकी चोटीपर अपना पड़ाव जमा दिया ॥ ३९ ॥ जैसे पत्थर बरसानेवाले पहाड़ने पत्थर बरसाकर पर्वतोंके पार काटनेवाले इन्द्रका सामना किया था वैसे ही कलिङ्ग नरेशने हाथियोंकी सेना लेकर और अख बरसाकर रघुका सामना किया ॥ ४० ॥ जैसे लीथोंके जलसे स्नान कराकर राजाओंका राजाभिषेक होता है और उन्हें राज्य-सभामें मिलती है वैसे ही रघुने भी शत्रुओंके

ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः । नारिकेलसवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ।
 गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः । श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥४३॥
 ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना । श्रगरस्याचारितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥४४॥
 स सैन्यपरिमोनेषु गजदानसुगन्धिना । कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिधाकरोत् ॥४५॥
 प्रलैरध्रुपितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः । मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयद्रेरुपत्यकाः ॥४६॥
 ससञ्चुरश्वक्षुपणानामेलानामुन्पतिष्णधः । तुन्यगन्धिषु मत्तमकटेषु फलरेणवः । ४७
 भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां सभर्षितम् । नास्रप्रत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि । ४८
 दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां स्वेरपि । तस्यामेव रथोः पाएच्छाः पतापं न विपेहिरे । ४९
 ताप्रपर्णांशमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः । ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव मंचितम् ॥५०॥
 स निर्विन्द्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ । स्तनाधिव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥५१॥
 श्रमद्यविक्रमः सखं दूरान्मुक्तमुदन्वता । नितम्बमिव मेदिन्या घस्तांशुरुमलक्षयत् ॥५२॥

याज्ञोक्ती वर्षामे स्नान करके विजय पाई ॥४१॥ लक्षार्ह हो सुत्रनेवर रघुकं पीर मेनिशो ने महेन्द्र पर्वतपर
 पानके पत्ते विद्याकर मदिरालय बनाया और वहाँ नारियलकी मदिराके साथ साथ मागो शत्रुयोका यश
 भी पो गए ॥४२॥ राजा रघु तो धर्म सुद करते थे हमलिये उम्होंने महेन्द्र पर्वतके राजाको बन्दी तो
 बना लिया पर जय उरने इनकी शधीनता स्वीकार कर ली गय उमे घोड़ भी दिया । इस प्रकार
 उन्होंने महेन्द्रके राजाकी राज्यधी तो ले ली पर राज्य उम्हेंकी खाँटा दिया ॥ ४३ ॥ एवं दिशाके
 जीतकर विजयी रघु समुद्रके उम तटपर होने हुए दक्षिण दिशाके गण गिगवर परी हुई सुपरिवेके
 पेद लगे हुए थे ॥ ४४ ॥ जय वे कावेरीके तटपर पहुँचे तब राजा रघुके सैनिक जो भरकर नहाए
 और जलको मय दिया । फिर हाथियों के नहानेके मद्दी करिषी मलय भी जावमें खाने लगे । इस
 प्रकार कावेरी नदीकी पेशी दुर्गाति कर री गई कि जय यह अपने पनि समुद्रके पास जाय हो उसे
 उमके चरित्रमें स्मन्हेह होने लगे ॥ ४५ ॥ वहाँके अत्यन्त बलके वे समुद्र तट निकल गए और विजय
 चादनेवाले रघुके सैनिक मलयपारकी उम तराईमें उतरे तहाँ कारी मिर्चकी कादिवेमें हरे हरे
 सुनने हुएर उबर उद रहे थे ॥ ४६ ॥ यहाँके पर्वतपर गिरे हुए शीतके शत्रु धोकीका तापीके विजयकर
 भी ॥ ४७ ॥ सर्वोंके सदा लिफ्टे रहनेके यहाँके अमृतके पेड़ी के काई और गहरी रेशाके धन हाई
 थे ॥ ४८ ॥ दक्षिण दिशामें महाप्रतापी सुपेदा मंत्र भी समुद्र पर जागा है पर रघुका सैन्य इनका
 प्रयत्न था कि वहकि पारुष राजा भी हमके साथ न रहत सके ॥ ४९ ॥ अथिणके पारुष राजाभी के
 चपला बशोर हुआ यश ही उम्हें दे खाया हो ॥ ५० ॥ उम्हें जीतकर महा प्रतापी रघुके उम मलय
 और दुर्दर नामको महादिवेपर बहुत दिनों तक पदाप काता त्रिगवर अमृतके पेद लगे थे और भी
 देने दिवाई पढ़ते थे मानो चंदन लगे हुए दक्षिण दिशाके की बलके हैं ॥ ५१ ॥ फिर वे मलयकी

तस्यानीकैर्विसर्पद्विरपरान्तजयोद्यतैः । रामास्रोत्सारितोऽप्यामीत्सहस्रम् इवार्णवः । ५३
 मयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोपिताम् । अलकेषु चमूरेषुस्वर्णप्रतिनिधीकृतः । ५४
 गुरलामारुतोद्भूतमगमत्कैतकं रजः । तद्योधवारवाणानामयत्नपटवासताम् । ५५
 अय्यभूयत् वहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः । वर्मभिः पवनोद्भूतराजतालीवनश्वनिः । ५६
 खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदीन्द्रासुगन्धिषु । कटेषु करिणां पेतुः पुंतागेभ्यः शिलीमुखैः । ५७
 अबकाशं किलोदन्वानामायाम्भयर्थितो ददौ । अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् । ५८
 मचेमरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम् । त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः । ५९
 पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना । इन्द्रियारूपानिव रिपूस्तच्चज्ञानेन संयमी ६०
 यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः । बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः । ६१
 संश्रामस्तुमुलस्तस्य पाथात्पैरश्वसाधनैः । शार्ङ्गकुजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् । ६२

उस पहाड़ीको पार करके आगे बढ़े जो समुद्रके दूर हट जानेमे ऐसी विधाई पवती थी मानो वह
 पृथ्वीका नितंब हो और जिस परसे कपड़ा हट गया हो ॥ ५३ ॥ यद्यपि परशुरामने अपने फरसेसे ही
 समुद्रको सह पर्वतसे हटा दिया था फिर भी उसके पाससे जाती हुई रघुकी सेना ऐसी लगती थी
 मानो समुद्र फिर समुद्रके पाससे होकर बह रहा हो ॥ ५३ ॥ रघुके भयसे जो केवल देवकी क्षिप्रों
 साज-सिंघार झोपड़ा बरसे भाग खड़ी हुई थी उनके बालों पर रघुकी सेनाके चलनेसे उठी हुई जो
 धूल बैठ गई थी वह ऐसी लगती थी मानो कस्तूरीका धूसर लगा हुआ हो ॥ ५४ ॥ गुरला मदीकी
 श्रोतसे आनेवाले वायुके कारण जो केवड़ेके फूलोंकी घुल उड़ रही थी वह सैनिकों के कवचों पर बैठकर
 बिना पत्रके ही सुगन्धित चूर्णका काम देने लगी ॥ ५५ ॥ चलते समय धोड़ोंके शरीरपरके कवच पेटे
 ऊँचे स्वरसे खन खन रहे थे कि वायुके चलनेसे जो बड़े बड़े ताठके पेड़ोंसे ध्वनि निकल रही थी
 वह भी उसके आगे फोको पड़ गई ॥ ५६ ॥ नागकेसरके फूलोंपर बैठे हुए मीरोंको जैतेही खरकी
 डालों से बंधे हुए हाथियोंके कपोलों से टपकते हुए मदीकी गन्ध मिली कि ये उन्हें झोंकर दूनपर
 आ हटे ॥ ५७ ॥ पचिद्रमके राजाओं ने जो रघुके शरीर होकर उन्हें कर दिया था वह मानो उन्हेंले
 नहीं चरन् उस प्रतापी समुद्रने ही कर दिया जिसने बहुत प्रार्थना करनेपर परशुरामजीको घोड़ी स्त्री
 मृगि दी थी ॥ ५८ ॥ वहीं रघुके मतवाले हाथियोंने अपने दाँतोंकी चोटों से त्रिकूट पर्वतपर जो रेखाएँ
 बना दी थीं उनसे वह पर्वत ऐसा अपने जमा मानो वह रघुकी विजयका स्मरण दिलानेवाला जय-
 स्तम्भ खड़ा हो जिसपर रघुकी विजय-कथा लिखी हुई हो ॥ ५९ ॥ जैसे कोई योगी इन्द्रिय कर्षी
 शत्रुओंकी जीतनेके लिये तावज्ञानका सहारा लेता है वैसे ही रघुने भी परस्त्री राजाओंकी जीतनेके
 लिये स्थल-मार्ग परका ॥ ६० ॥ जैसे जयमयम उठे हुए बादलोंमें प्रयातकी धूमने धिले हुए
 कामलोंकी चमक जाती रहती है वैसे ही रघुके अचानक आक्रमणसे मन्दिरासे लाल गालोंवाली
 यवनियोंके मुख-कमल मुटका गए ॥ ६१ ॥ वहीं पचिद्रम देशके पुत्रसवार राजाओं से रघुकी
 पनवीर सहाई हुई । सेनाके चलनेसे हलनी धूल उड़ी कि घाल-वाल हुए भी नहीं दिखाई पड़ता था,

मल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः रमश्रुलैर्महीम् । तस्तार सरधाव्याप्तैः सचौद्रपटशैखि । ६३
 अपनोतशिरस्त्राणः । शेषास्तं शरणं ययुः । प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् । ६४
 विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम् । आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु । ६५
 ततः प्रतस्थे कौबेरिं भास्वानिव रघुदिशम् । शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्ररिप्पनूरसानिव । ६६
 विनीताध्वश्रमास्तस्य मिन्युतोरविचेष्टनैः । दधुश्रुर्वाजिनः स्फुन्धोऽलप्रकुङ्कुमकेमरान् । ६७
 तत्र हृणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् । कपोलपाटलादेशिवभून् रघुचेष्टितम् । ६८
 काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः । गजालानपरिक्लिष्टैरचोष्टैः मार्थमानताः । ६९
 तेषां सदश्वभूमिष्ठास्तुङ्गाद्रविखराशयः । उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोशलेश्वरम् । ७०
 ततो गौरीगुरुं शैलमाहुरोद्धारसप्तधनः । वर्धयन्ति न तरुक्रानुद्धूर्तधार्तुरेणुभिः । ७१
 शशं तुल्यसत्रानां नैयघोपेऽप्यसंभ्रमम् । गुहाशयानां सिंहानां परिवृक्ष्यावलोक्तिम् ।
 भूर्जेषु मर्मरीभृताः कीचरुध्वनिहेतवः । गद्गाशीरुरिणो मार्गे मरुतस्तं मिषेविरे । ७३

केवल धनुषकां टङ्कारसे हीं सैनिक लोग शत्रुको पहचान पावे थे ॥ ६२ ॥ मधुमन्त्रिणोंमें भरो हुए
 लुत्तेके समान दाढ़ियोंवाले यरनोंके सिरोंको भङ्ग नामके बाणोंमें फाट-फाट कर रघुने पृथ्वी पाट
 दी ॥ ६३ ॥ उनमेंमें जो जिते बच गए उन्होंने अपने लोहेके डोप उतार-उतार कर रघुके चरणोंमें
 रख दिए क्योंकि महापुराणोंकी कृपा प्राप्त करनेका यहाँ उपाय है कि उनकी शरणमें पहुँच जाया
 जाए ॥ ६४ ॥ रघुके सैनिक टाप की सत्राओंसे घिरी हुई पृथ्वीपर सुढावनी मृगदानाणें विद्वान्
 चिनसे बैठ गए और मदिरा पी-पीकर लड़ाईकी घमासट मिटाने लगे ॥ ६५ ॥ जैसे सूर्य अपनी तीखी
 किरणोंमें पृथ्वीका जल गींचनेके लिये उत्तरी और घूम जाता है वैसे ही रघु भी उत्तरके राजाओंको
 जीतनेके लिये उधर घूम पड़े ॥ ६६ ॥ मिन्यु नदीके सतपर पहुँचकर रघुके घोड़े, बर्सेही रतोंमें
 छोट छोटकर अपनी शक्ति मिटाने लगे । छोटनेमें उनके शरीरमें जो केसर खग गई सो उन्ने उड-
 उडकर उन्होंने हिलाकर भाड़ दिया ॥ ६७ ॥ बर्से रघुने अपने प्रथम पराक्रममें जिन हुए राजाओंको
 मार डाला, उनकी स्त्रियों इतना गिर पड़े पीटकर रोई कि उनके गाल लाज हो गए ॥ ६८ ॥ कंबोज
 या बाहुलके राजा भी लड़ाई में रघुके घामे नहीं टहर सके । हाथियोंके बाँधनेमें जैसे बर्सेको
 अस्त्रोत्की डालियों हुए गई थीं वैसे ही वे राजा भी रघुके आगे मुक गए ॥ ६९ ॥ कंबोजके हारे
 हुए राजाओंने रघुका बहुत से घोड़े और बहुतसा धन दिया पर उतना धन पाकर भी रघुकी शक्तिमान
 नहीं हुआ ॥ ७० ॥ बर्सेसे वे अपने घोड़ोंका सेना लेकर हिमानय पदादपर आ गए मानो
 अपने घोड़ोंकी टापोंमें उठी हुई गेम्ब आदि घातुओंकी खाल-खाल धूलमें हिमानयकी घाँटियोंकी और
 भी डूबी बरना चाहते हों ॥ ७१ ॥ सैनिकोंके समान ही चलान गिर गुणाओंमें छेडे छेडे आँसे
 पुमाकर रघुका सेनाकी क्षैर रहे थे । उनकी सेनाके कोलाहलमें वे सन्निक भी मनमें घबराते नहीं
 थे ॥ ७२ ॥ बर्से भोजपुरमें मर्मर बरता हुआ, बीचक नामके बर्सेके छेड़ोंमें पुपपर बाँधुरा गो
 बरता हुआ और गामाजीकी पुहारोंसे उग्रा हुआ बाबु रघुकी सेवा करता जा रहा था ॥ ७३ ॥

विश्वमूर्धनेरुष्यां छायास्वर्षास्य सैनिकाः । दृपदो वासितीत्सङ्गा निपण्यमृगनाभिभिः ।
 सरलासक्तमातङ्गप्रैवेयस्फुरितत्विषः । आसन्नोपधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः ॥ ७५ ॥
 तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः । गजवर्ध्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥ ७६ ॥
 तत्र जन्यं रघोघोरं पर्वतीयैर्गखैरभूत् । नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥ ७७ ॥
 शरैरुत्सवसंकेतान्स कृत्वा विरतोत्सवान् । जयोदाहरणं बाह्यैर्गापयाभास किन्नरान् ॥ ७८ ॥
 परस्परेण विज्ञानस्तेषूपायनपाणिषु । राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिया ॥ ७९ ॥
 तत्राक्षोभ्यं यशोराशि निवेश्यावसुरोह सः । पौलस्त्यतुलिनस्याद्रेरादधान इव हियम् ॥ ८० ॥
 चक्रम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः । तद्वज्रालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥ ८१ ॥
 न प्रसेहे स रुद्रार्कमधारावर्षदुर्दिनम् । रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुन एव पताकिनीम् ॥ ८२ ॥
 तमीशः कामरूपस्थामत्यास्रण्डलविक्रमम् । भेजे भिन्नकटैनगैरन्यानुपसुरोध यैः ॥ ८३ ॥
 कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् । रत्नपुष्पोपहारेण च्छायामानर्च पादयोः ॥ ८४ ॥

श्रीर रघुके सैनिक भी वहाँ नमस्के वृत्तों के सले उन पथरीली पाटियोंपर बैठकर सुस्ताने लगे जिनमेंसे
 वज्रहारी मृगों के देखनेसे सुगन्ध था रही थी ॥ ७४ ॥ देवदारके पेड़ोंमें बँधे हुए हाथियोंके गलेमें
 जो सॉकल्ले पड़ी थी वे रातको चमकने वाली वृष्टियों के प्रकारसे चमचना उठती थीं और इस प्रकार
 उन वृष्टियोंने रघुके लिये बिना सैलके ही दीपक जला दिए ॥ ७५ ॥ जब रघुने वहाँसे अपनी सेनाका
 पड़ाव हटा लिया तब वहाँ देव-दारकी ऊँची ऊँची शाखाओंपर हाथियोंके गलेकी सॉकल्लोंसे चली
 रेखाओंको देखकर ही जंगली किरातों ने रघुके हाथियोंकी ऊँचाईवा अनुमान किया ॥ ७६ ॥ पहाड़ी-
 सेनाओंसे रघुकी सेनाकी घनवीर लड़ाई हुई । रघुकी सेना बाण चलती थी और पहाड़ी लोग
 फरार घनाते थे । इस प्रकार जब लोहे और पत्थरकी भिड़न्त हो जाती थी तो कभी कभी आग
 उत्पन्न हो जाता करती थी ॥ ७७ ॥ रघुने धुआँधार बाण बरसा कर उत्पन्न संकेत नामक पहाड़ियोंके
 छत्रके छुड़ादिए । इसपर किन्नरोंने मिलकर रघुकी वीरताके बहुतसे गीत गाए ॥ ७८ ॥ पहाड़ी
 राजाओंने रत्नोंके ढेर रघुको भेंटमें दिए जिसे देखकर रघुने हिमालयके अतुल्य धनका अनुमान किया
 और हिमाद्रयने भी युद्धमें रघुके पराक्रमका अनुमान कर लिया ॥ ७९ ॥ हिमालयपर अपना भंडा
 गाड़कर आगे वैजानकी ओर न बढ़कर रघु लौट गये । इससे कैशाल पर्वतकी दस बातकी लज्जा हुई
 कि एक बार रावणने मुझे क्या उठा लिया कि खभी मुझे हारा हुआ समझने लगे ॥ ८० ॥ लौहित्य
 नदीको पार करके रघु प्राग्ज्योतिष था असममें पहुँचे । वहाँ हाथियोंके बँधनेसे जैसे कालागुरुके
 पैर काँपते थे वैसे ही प्राग्ज्योतिषके राजा भी रघुके भयसे काँपने लगे ॥ ८१ ॥ वहाँके राजाने
 देखा कि बारलोंके विना ही कैसे रघुकी सेनाकी धूलसे ही सूर्य छिप गया । जब इस धूलसे ही वह
 बहुत घबरा गया तो फिर सेनासे यह जड़वा ही क्या ॥ ८२ ॥ तब शयसके राजाने जिन हाथियोंको
 लेकर बड़े-बड़े शत्रुओंको हरा दिया था उन्हीं हाथियोंको उसने इन्द्रसे भी अधिक पराक्रमी रघुको
 भेंटमें दे दिया ॥ ८३ ॥ और जैसे कीर्द्ध भक्त फूल-माला आदिसे भक्ति पूर्वक देवताकी पूजा करता
 है वैसे ही कामरूपके नरेशने सोनेके पाँच पीढ़ेपर बनी हुई रघुके चरणोंकी छायाकी रथोंसे पूजा ॥ ८४ ॥

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम् । रजो विश्रामयन्रात्रां ह्यत्रशून्येषु मौलिषु
स विश्वनिनमाजहे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम् । आदानं हि विसर्गाय सतां वारिसुचामिव ॥ ८६
सत्त्वान्ते सचिवसखः पुरस्कृत्यामिर्गुर्वाभिः शमितपराजयव्यलीकान् ।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकाधरो घान् राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥ ८७ ॥
ते रेत्साध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं सम्राजधरणयुगं प्रसादलभ्यम् ।
प्रस्थानप्रणतिभिरहुलीषु चक्रुर्मौलिस्त्रकच्युतमरुन्दरेणुगौरम् ॥ ८८ ॥

इति महाकाव्ये श्रीकालिदासकृतो रघुचर्ये महाकाव्ये
रघुदिग्धिजयो नाम चतुर्थः ॥

इस प्रकार त्रिजयो रघु सारी पृथ्वीको जीतकर अपनी राजधानी अयोध्याको लौटे तो उनरे रथके पहियोंसे उभरो हुई धून पांटे पाटे चलनेवाले हारे हुए राजाघोंके छत्र-रहित मुट्टोंपर बैठवा चलता थी ॥ ८६ ॥ दिग्धिजपने लौटकर रघुने विश्वजित् नामका यज्ञ किया जिसमें उन्होंने अपने अपनी सारी सम्पत्ति दक्षिणामें दे दी । जैसे बाल पृथ्वीसे जल लेकर फिर पृथ्वीपर बरसा देते हैं वैसे ही महात्मा योग भी धन-सौ दान करनेके लिये ही इकट्ठा करते हैं ॥ ८६ ॥ यज्ञ समाप्त हो जानेपर रघुने और उनके मन्त्रियोंने हारे हुए राजाघोंवा बड़ा स्पर्शर किया और उनके मनमें हारनेकी जो लाज थी उसे दूर कर दिया । फिर अपनी सानियोंसे बहुत दिनसे यिदुपे हुए उन राजाघोंको उन्होंने अपने अपने देगोंमें जानेकी आज्ञा दे दी ॥ ८७ ॥ जाते समय उन राजाघोंने रघुके उन चरणोंमें सुन्दर प्रणाम किया जिनपर ध्वजा, यज्ञ और छत्र आदिकी रेखाएँ बनी हुई थीं । उन समय उन राजाघोंके निररी मालाघोंसे जो पराजतिर रहा था उससे रघुके चरणोंकी उँगलियों गौरी हो गई ॥ ८८ ॥

महाकाव्ये श्रीकालिदासके रचें हुए रघुचर्ये महाकाव्यमें रघुदिग्धिजय
नामक चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।



पञ्चमः सर्गः

तमध्वरे विश्वजिति त्रितीशं निःशेषविश्राणितकोपजातम् ।
 उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ १ ॥
 स मृगमये वीतहिरण्यमयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
 श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ २ ॥
 तमचंपित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।
 विशांपतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥ ३ ॥
 अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ।
 यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ ४ ॥
 कायेन वाचा मनसापि शश्वद्यत्संभृतं वासवधैर्यलोपि ।
 आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कचिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥ ५ ॥
 आधारबन्धप्रसूतैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
 कचिन्न वाय्वादिरूपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ ६ ॥
 क्रियानिमित्तेष्वपि चत्सलत्वादभ्रमकामा मुनिभिः कुशेषु ।
 तदङ्कशय्याच्युतनामिनाला कचिन्मृगीयामनघा प्रवृत्तिः ॥ ७ ॥

पाँचवाँ सर्ग

जिस समय रघु विश्वजित यज्ञमें अपना सब कुड़ दान किए बैठे थे उसी समय वरतन्तुके
 शिष्य कौत्स ऋषि गुरुदक्षिणाके लिये धन माँगनेको उनके पास आ पहुँचे ॥ १ ॥ अतिथिका सत्कार
 करने वाले, अत्यन्त शीलवान्, और यशस्वी रघु मिट्टी का पात्र लेकर विद्वान् अतिथि [कौत्स ऋषि]
 की पूजा करने चले गये कि सोने-चाँदीके पात्र तो उन्होंने सप दान ही कर दाले थे ॥ २ ॥ तपस्वी
 कौत्स कुशाके आसनपर बैठे हुए थे । शांखके जाननेवाले सम्माननीय रघुने वदी विधिसे उगर्ग पूजा
 की और हाथ जोड़कर उनसे बोले ॥ ३ ॥ हे बुद्धिमान् ! जैसे सूर्य अपने प्रकाशसे सोए हुए संसारको
 जगा देता है वैसे ही जिस गुरने आपको ज्ञानकी उद्योति देकर जगाया है और जो मन्त्र-द्रष्टा ऋषि-
 योमें सर्वश्रेष्ठ हैं वे आपके गुरु कुशलसे तो हैं न ॥ ४ ॥ और उन्होंने शरीर, मन और वचन तीनों
 प्रकारका जो कठिन तप करना प्रारम्भ किया था और जिसे देखकर दन्द्र भी घबरा उठे थे वह तप तो
 ठीक चल रहा है न ॥ ५ ॥ और आप लोगों ने आश्रमके जिन गृहोंके भींचले चोंचपर उन्हें पुत्रके
 समान जतनसे पाला है और जिनसे पथिकोंकी छाया मिलती है उन गृहोंको आधीपानोसे कोई हानि
 तो नहीं पहुँची है ॥ ६ ॥ और हरिमिथों के ये झोंटे झोंटे बच्चे तो कुशलसे हैं न, जिन्हें ऋषि लोग
 घड़े प्यारसे गोदमें बैठाकर खिलाते हैं, जिनकी गामिका नख ऋषियों की गोदमें ही रखकर गिरता
 है और जिन्हें ऋषिलोग यज्ञके लिये बटोरी हुई उराकें भी खानेसे नहीं टोकते ॥ ७ ॥

निर्वर्त्यते चैरियमाभिपेको येभ्यो निवापाजलयः पितृणाम् ।
 तान्युञ्ज्युपष्टाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्धजलानि कैचित् ॥ ८ ॥
 नीवारपाकादि कडंगरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कचित् ।
 कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥ ९ ॥
 अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्पञ्चिनीपानुमतो गृहाय ।
 कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥ १० ॥
 तवार्हतो नाभिगमेन त्वं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।
 अप्याङ्गुयाशासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्नाम् ॥ ११ ॥
 इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निश्चम्य ।
 स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यञ्चोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥ १२ ॥
 सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् ।
 सूर्ये तपस्यावस्थाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥ १३ ॥
 भक्तिः प्रतीक्ष्वेषु कुलोचिता ते पूर्वांमहाभाग तयातिशेपे ।
 व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामधिमात्रादिति मे विपादः ॥ १४ ॥

हाँ, उन नदियोंका जल तो रोक है न जिनमें आपलोग प्रतिदिन स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि करते हैं और जिनकी रेतोंपर आप लोग अपने लुने हुए अन्नका छटा भाग राजाका अंश समझकर रख छोड़े है ॥ ८ ॥ तिस्रोदेजित अन्न और जिन फलोंसे आप लोग अतिथियोंका सत्कार करते हैं और जिन्हें खाकर ही आप लोग रह जाते हैं उन्हें वास्तुपायके गाँवों के पशु तो नहीं आकर चर जाते ॥ ९ ॥ क्या आपने आपकी विद्वत्तासे प्रमत्त होकर आपको गृहस्थ बन जानेकी आज्ञा दे दी है, क्योंकि आपकी वृत्तर्ता अवस्था भी हो गई है कि आप विवाह करें और तपका भला करनेवाले गृहस्थाश्रममें प्रवेश करें ॥ १० ॥ आप जैसे पूजनीय महात्म्याके आगे मरने में तो नहीं भरा मुझे कुछ सेवा करनेकी भी आज्ञा वांछित और यह बताइए कि आपने जेहन अपने गुरुदेवकी आज्ञासे ही नहीं आकर मुझे वृत्तार्थ किया है वा अपनी इच्छासे ही आपने कृपा की है ॥ ११ ॥ कौरवने क्यामले रघुकी उदार भाँति मुनीं पर देखा कि उनके हाथमें केवल मिट्टीका पात्र यथा है । उन्होंनेने समझ लिया कि रघुके पात्र एक कीड़ी भी नहीं है । उनका मुँह उतर गया और उन्होंने समझ लिया कि यहाँ हमारा काम नहीं बनेगा । यह मोचकर वरतन्तुके शिष्य कौम्म बोले ॥ १२ ॥—“हे राजन् ! आपके राजमें हमें तप प्रकल्पना मुम है । जैसे सूर्यके रहते हुए सँपेरा नहीं बदर पाता वैसे ही आपके राजा रहनेपर प्रतामें दुःखका नाम भी नहीं है ॥ १३ ॥ हे भाग्यवाशी ! बर्तोंकी पूजा करना आपके अंगका ही धर्म है और आप तो हम बातमें अपने पूर्वजों में भी आगे बढ़े हुए हैं । मैं आपके वास्तु कुछ नहींने आज्ञा था पा मैं समझता हूँ कि मुझे आपमें कुछ मिलने ही गया है, हमीका मुझे

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितद्विः ।
 आरण्यकोपात्फलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥ १५ ॥
 स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं भखजं व्यनक्ति ।
 पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥ १६ ॥
 तदन्यतस्तावदनन्यकापों गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये ।
 स्वस्तपस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्धनं नार्दति चातकोऽपि ॥ १७ ॥
 एतावदुक्त्वा प्रतियातु कामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निपिष्य ।
 किं वस्तु विद्वन्गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुक्त ॥ १८ ॥
 ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै समयावेशविवर्जिताय ।
 वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णां विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे ॥ १९ ॥
 समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै ।
 न मे चिरायास्सल्लितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्वुस्तात् ॥ २० ॥
 निर्वन्धमंजातरुषार्थकार्श्यमधिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः ।
 विचस्य विश्रापरिमंख्यया मे कोटीश्वतस्रो दश चाहरेति ॥ २१ ॥
 मोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् ।
 श्रम्युत्सहे मंप्रति नोपरोद्ध्युमन्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य ॥ २२ ॥

वेद है ॥ १४ ॥ हे राजन् ! आपने अपना स्वयं धन शब्दे लोपोंको दे दाना है और केवल यह शरीर
 भर आपके पास बचा है । इससे आप उस तिलोंके पीपेकी हूड लेने रह गए हैं जिसके दाने उपरिपर्यो
 ने झाड़ लिए हैं ॥ १५ ॥ चमत्ती होये हुए भी यज्ञमें सब कुछ देख कर और दरिद्र होकर आप उस
 चन्द्रमाके समान बड़े सुन्दर लग रहे हैं जिसकी सारी कलाएँ धीरे-धीरे देवताओं ने धीं डाली हैं ॥ १६ ॥
 आपके पास तो कुछ है नहीं, हमलिये मैं अब किसी दूसरे धनीका द्वार परतलयाता हूँ क्योंकि पर्याहा
 भी बिना उपचारे यदुर्तोसे पानी नहीं माँगता । आपका पहलाप हो ॥ १७ ॥ मेरा कहकर कौन
 उठकर अपने लगे । रघुने उन्हें रोका और पूजा—“आप गुरुजीके गया और मितना देना चाहते हैं,
 कुछ कदिर भी तो” ॥ १८ ॥ यज्ञकारा कौनसे देना कि विश्रमित यज्ञ करनेपर भी रघुको भूमिमान
 छु नहीं गया हमलिये पर्यं और आप्रमज्ञं रण करनेवाले रघुसे उन्होंने अपने अपने मनसों बात कहनी
 प्रारम्भ की ॥ १९ ॥—“राजन् ! विद्या यद् सुकनेरा मेने गुरुजीसे कहा कि आप मुझसे गुरु-दक्षिणा
 माँगिए । गुरुजीने कहा—“मैं गुरुजीसे गुरुभक्तिये ही बहुत प्रसन्न हूँ फिर गुरु-दक्षिणा केरु क्या
 होगा ।” मेने बड़े भक्तिये जो उनको रोका की थी उसे ही उन्होंने गुरु दक्षिणा समझ लिया था
 ॥ २० ॥ पर नर मेने बार बार दक्षिणा माँगनेके विषे उनसे हठ दिया तो वे विगए रहें हुए और
 मेरी दरिद्रताका विषाह किए बिना ही घोल उठे—“मेने गुरुहें धौदह विद्याएँ पढ़ाई हैं हमलिये मुझे
 धौदह श्रेयस्व स्वयं गुरुहें ला कर दो” ॥ २१ ॥ आपके हाथमें मिष्टीरा पात्र देकर ही मैं समझ

इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो घेद्विदां वरेण ।
 एतेनियुत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगद् भूयो जगदेरुनाथः ॥ २३ ॥
 गुर्वैर्मर्षी श्रुतवारदृष्ट्वा रघोः ममशादनवाप्य कामम् ।
 गतो वदान्थान्तमिदमर्थं मे मा भृत्वरीषादनमातरः ॥ २४ ॥
 म त्वं प्रज्ञप्ते महिते मदीये वमंश्रुतुर्धोऽग्निरिगम्यगारे ।
 द्विजाख्यहान्यर्हसि, मोढुमर्दन्यायद्यने गाधयितुं त्वदर्धम् ॥ २५ ॥
 तथेति तस्याग्निर्धं प्रवीतः प्रत्यग्रहोत्संगमप्रजन्मा ।
 गामान्तमारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्कण्ठमर्थं चरुगे कुरेत् ॥ २६ ॥
 वशिष्ठमन्त्रोद्यगजान्तमारादुदनादाकाशमहीधरेषु ।
 मग्न्मग्न्यम्बेर वलाद्दृश्य गतिर्विजप्ते न हि तद्रथम् ॥ २७ ॥
 अथाधिशिरये प्रयतः प्रदोषे र्थं रघुः कल्पितशम्यगमम् ।
 गामन्तमंभारनर्षेय धीरः क्लान्तमार्थं तस्मा त्रिगीषुः ॥ २८ ॥
 प्रातः प्रयागाभिगुत्वाय तर्मे मविन्मयाः कोपगृहे नियुक्ता ।
 हिरण्यस्यो कोपगृहस्य मध्ये शृष्टिं शशंगुः पतिर्वा नमन्तः ॥ २९ ॥
 तं भूपनिर्भागुग्हेमराशिं लज्जं कृपेगदभियान्यमानान् ।
 दिदेत्त कोत्वाय मगम्भेर पादं गुमेरोरि वत्तमिदम् ॥ ३० ॥

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसन्तौ ।
 गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽधिकामादधिकप्रदश्च ॥ ३१ ॥
 अथोद्भवाभीशतवाहितार्यं प्रजेरवरं प्रीतमना महर्षिः ।
 स्पृशन्करेणानतपूर्वकार्यं संप्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥ ३२ ॥
 किमत्र चित्रं यदि कामसृर्भूर्धृते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ।
 अचिन्तनीयस्तु तत्र प्रभासो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा ॥ ३३ ॥
 आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाख्यधिजग्मुपस्ते ।
 पुत्रं लभन्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीदृथं भवतः पितेव ॥ ३४ ॥
 इत्थं प्रयुज्याशिपमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम् ।
 राजापि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः ॥ ३५ ॥
 ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुपुत्रे कुमारम् ।
 अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ॥ ३६ ॥

धी कि] रघुकी चर्चाई का यात वानमें पदवेही लुनेने रातको ही सोनेकी चर्चा कर दी थी । वह सोनेका ढेर ऐसा घमक रहा था जैसे किन्हीने घसले सुमेरु पर्वतका एक टुकड़ा काटकर गिरा दिया हो । रघुने वह मारा मोना कीसनी भेंट कर दिया ॥३०॥ [उसे देखकर कीसने बड़ा—मैं इतना सोना खेर गया करूँगा । तुमके तो गुरु-दण्डिणा लुनेने भर्त्सना धन चाहिए । इस पर रघु बोले—यह नहीं हो सकता । यह मारा धन आप ही ले जाइए ।] चर्चोपवा निरासिधो मे इन दोनोंकी चर्चा प्रशंसा का क्यों कि उन दोनों में एक तो इतना सन्तोषी था कि आश्चर्यकतासे एक कीसने अधिक लेनेकी उद्यत नहीं था और दूसरा इतना यज्ञ दाया था कि मँगिये अधिक धन देनेपर हुना हुआ था ॥ ३१ ॥ रघुने उस मारे धनको मैक्यों ऊँचों और रखतौर लदवा दिया और जब कौत्स चलने लगे तब राजाने चर्चा ब्रह्मणसे उन्हे प्रणाम किया । कौत्स चर्चा प्रमन्न थे और उन्होंने राजाके मिर-पर हाथ पाये हुए कहा ॥३२॥ धर्मोमा राजाओं के लिए यदि रघुको उनकी इच्छाके अनुसार धन दे तो कोई अपराज नहीं है, पर तुम्हारे प्रभावको देखकर तो सबसुख बड़ा आश्चर्य होता है क्योंकि तुमने तो स्वर्गसे भी जितना चाहा उतना धन ले लिया ॥ ३३ ॥ समारकी सभी पत्नियों तुम्हें प्राप्त हो सकती हैं हरजिये तुम्हें उनके लिये आशीर्वाद देना तो स्वर्ग है तो भी मैं तुम्हें यह आशीर्वाद देता हूँ कि जैसे तुम्हारे पिता दिग्भोषको तुम्हारे जिया श्रेष्ठ पुत्र मिला जैसे ही तुम्हें भी तुम्हारे ही समान प्रतापी पुत्र हो ॥ ३४ ॥ राजाको यह आशीर्वाद देखकर ब्रह्मण कीस तो चर्चने तुम्हारीके पास चले गए और जैसे गुरुने समारको प्रकृत मिला है जैसे ही ब्रह्मणके आशीर्वादसे भोजे ही दिनोंमें रघुको भी पुत्र-रज प्राप्त हुआ ॥ ३५ ॥ रघुकी रानीकी कोणसे लड़के प्राप्तमुहूर्तमें कार्तिकेयके समान नेत्रस्वी पुत्र जनमा तो ब्रह्म मुहूर्तमें जन्म होनेसे विज्ञाने ब्रह्मके नामपर लड़कोका नाम सत्र रक्वा ॥३६॥

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम् ।
 न कारणात्स्वादिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥ ३७ ॥
 उपाचविद्यं विधिवद्गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम् ।
 श्रीः साभिलापापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष ॥ ३८ ॥
 अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वगुरिन्दुमत्पाः ।
 आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥ ३९ ॥
 तं श्लाघ्यसंबन्धमसौ विचिन्ध दारक्रियायोग्यदर्शं चपुत्रम् ।
 प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥ ४० ॥
 तस्योपकारपरिचितोपचारा वन्येतरा - जानपदोपदाभिः ।
 मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसुतोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥ ४१ ॥
 स नर्मदारोधसि सीकराद्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले ।
 निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्रान्तं रजोधूमरकेतु सैन्यम् ॥ ४२ ॥
 अथोपगिष्टाद्धर्मैर्भ्रमद्भिः प्राक्सृचितान्तःसलिलप्रवेशः ।
 निर्धातदानामलण्डमिच्छिर्वन्यः सरिनो राज उन्ममज्ज ॥ ४३ ॥

जैसे एक दीपारमे बलाए जानेपर दूसरे दीपमें भी जो दीक पैसी हो जाँ और प्रकृति होता है वैसे ही राज भी कर, गुण राज मनी बातोंमें रघुके जैसा ही था, क्रिमों भी बातमें कम नहीं था ॥ ३७ ॥ जैसे शैल्यवती कन्या अरती दरुङ्गके अतुषार रूप-गुणशाली परकी पुत्रवर भी विवाहके लिये पिताजी बाला से लेता चाहती है वैसे ही राज्य-लक्ष्मी भी यद्यपि सुन्दर युवा अजबो इरामी यवाना चाहती भी फिर भी यह रघुजी आज्ञाकी याद जोह रही थी कि वे कय राजकी राज्य मैपें ॥ ३८ ॥ इसी वीरमें विद्वभं देखके राजा भोजने अरती बहन इन्दुमतीके स्वयंवरमें अजबो सुनानेके लिये एक अपना विरजयराज दूत रघुके पास भेजा ॥ ३९ ॥ रघुने भी सोचा कि भोजके पंखके साथ अपने कुतका सम्पन्न करना ठीक ही होगा और कुमार अज भी विराहके योग्य हो गए हैं । हृदयके उन्हेने सेनाके साथ अजबो विद्वभं देखकी राजराजकी भेज दिया ॥ ४० ॥ मार्गमें अजके रहनेके लिये अनेक प्रकारके ऐसे पितानोंका प्रयत्न किया गया था जिनमें सय प्रकारके गुणकी सामग्री पत्र कर ही गई और वहाँके पासके गौरशालीने अजके लिये अर्धशुद्धी यस्तुर् भेजमें ला कर दी । [इस मरके कारण] वे सामोय स्थान भी ऐसे स्थाने लगे गाने अज रातकी विषाम-उपायमें ही ॥ ४१ ॥ वहाँके अजवर अजो नर्मेश मरुके द्विजारे अरती उग यकी दुई सेनाका पदाव दापत जिनकी पताकट्टे मार्गकी पूज रागनेके मरुकी ही गई थी । वहाँ बड़ा शीतल वायु यह रहा था और उसके ओषोंमें अग्निके पैर अज रहे थे ॥ ४२ ॥ इसी वीर एक जंगली हाथी नर्मेशके जलमेंसे अमला हुआ निकला । जिनके जलमें घुतनेकी सूचना जलके ऊपर ही मनभवाने पाले भेजे दे रहे थे । और जलमें स्नान करनेके कारण उनके माथेके दोनों ओरका मद

निःशेषविद्वालितधातुनापि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
 नीलोर्ध्वरेखाशवलेन शंसन्दन्तद्वयेनाशमविकुण्ठितेन ॥ ४४ ॥
 संहारविक्षेपलघुक्रियेण - हस्तेन तीराभिमुखः सशन्दम् ।
 पभौ स भिन्दन्वृहतस्तरंगान्वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः ॥ ४५ ॥
 शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां जालानि कर्पन्नुरसा स पश्चात् ।
 पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥ ४६ ॥
 तस्यैकनागस्य कपोलभित्तयोर्जलाशगाहक्षणमाश्रयान्ता ।
 वन्यतरानेकपदर्शनेन पुनर्दिदीपे मददुर्दिनश्रीः ॥ ४७ ॥
 सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमस्रमाम्राय मदं तदीयम् ।
 विलङ्घिताघोरणतीव्रपलाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥ ४८ ॥
 स च्छिन्नवन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
 रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥ ४९ ॥
 तमापतन्तं नृपतेरवधो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः ।
 निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जवान नात्यापतकृष्टशार्ङ्गः ॥ ५० ॥

धुल गया था ॥ ४३ ॥ यद्यपि नहानेसे उसके दौंतोंमें लगी गेरुकी लाली तो छूट गई थी फिर
 भी टीलोंपर टकर मारनेसे उसने दौंतोंपर जो नीली-नीली रेखाएँ बन गई थीं उनसे जान पड़ता
 था कि उसने झूठवाण पर्वतकी शिलकोंमें टकरा मारी है ॥ ४४ ॥ यह हाथी ज्यों ज्यों सटकी और
 आने लगा त्यों त्यों धपनी सूँड़ फैलाकर और निकोड़कर चिम्बावत्ता हुआ जलकी लहरोंकी सीने
 लगा । उस समय यह ऐसा जान पड़ता था मानो वह जलानदी खींचके तोड़ रहा हो ॥ ४५ ॥
 यह पहाड़के समान लम्बा-चौड़ा हाथी अपनी छातीसे सेवार-से अपने साथ खींचता हुआ सटपर आ
 पहुँचा और इससे जलमें जो लहरें उठी थीं वे उससे भी पहले सटपर पहुँच चुकी थीं ॥ ४६ ॥
 यद्यपि नदीमें नहानेसे उस हाथीके माथेका सप मद् धुल जुका था फिर भी अजबकी सेनाके हाथियोंको
 देवरर यह चलान हाथी कोचसे तमतगा उठा और उसके माथेसे फिर धुयोंधार मद् धरसने लगा
 ॥ ४७ ॥ जब अजबके हाथियोंने उसके छितवनके दूधके समान कवैले मद्की गन्ध पाई तब वे
 हाथीयारोंके पार पार रोकनेपर भी इधर-उधर भाग पड़े ॥ ४८ ॥ उस विशाल जंगली हाथीकी
 देखते ही सब छोड़े भी रस्ता तुड़ा-मुड़ाकर भाग पड़े । इस भगदड़में जिन स्थानोंके धुरे टूट गए वे जहाँ-
 तहाँ गिर पड़े थे । सैनिक लोग अपनी धियोंको छिपानेके लिये सुरक्षित स्थान ढूँढने लगे । उस पक्ष
 हाथीने सेनामें इतनी भगदड़ मचा दी ॥ ४९ ॥ यह हाथी धरती और पला आ रहा था किन्तु अजबने
 सोचा कि यह जंगली हाथी है, हमसे मारना उह नहीं है । इसलिये उन्होंने अपने धनुषको मोटा

स विद्वमात्रः किल नागरुपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः ।
 स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तं चपुष्पोंगचरं प्रपेदे ॥ ५१ ॥
 अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः ।
 उवाच वाग्मी दशानप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहातः ॥ ५२ ॥
 मतङ्गशापादयलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम् ।
 अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियचन्दं मां प्रियदर्शनस्य ॥ ५३ ॥
 स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत् ।
 उभ्यात्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥ ५४ ॥
 इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्युजः कुम्भमयोमुद्येन ।
 संयोक्ष्यसे स्वेन चपुर्गहिम्ना तदेत्यबोचत्स तपोनिधिमाम् ॥ ५५ ॥
 संमोचितः सन्ववता त्वयाहं शापाधिरप्रार्थितदर्शनेन ।
 प्रतिप्रियं चेद्भवती न कुर्यां पृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः ॥ ५६ ॥
 संमोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
 गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिर्हिंसा विजयश्च हस्ते ॥ ५७ ॥

सा रीषिकर एक बाल्य उसके मस्तकमें पैदा मारा जिसने यह वीटि जाय ॥ ५० ॥ बाण उससे ही यह
 अपना हार्थिका शरीर छोड़कर देवताओंके समान सुन्दर और सेजपूर्ण शरीर लेकर रहा हो गया ।
 यह देवकर राजके सेविक तो और कइकर अचरजसे देवगं हुए जहाँ के तहाँ रये रह गए ॥ ५१ ॥
 उस देवताका येन धारण करनेवाले पुत्रने अपने प्रभावसे कल्पद्रुमके फूल मँगाकर राजके ऊपर परमाणु
 और लप उसने धोनेके लिये मुँह खोला तब उसके शीशोंकी चमकमें उगके गलेमें पद्म हुआ हार
 दमक उठा ॥ ५२ ॥ [यह बोला] मैं गन्धर्वोंके राजा प्रियदर्शनका पुत्र प्रियचन्द हूँ । एक बार मैंने
 अभिमानमें शावर महंग क्षत्रिय अपना नाम दिया था । उन्हींके शापसे मैं हाथी हो गया ॥ ५३ ॥ जब
 मैंने क्षत्रिके बहुत हाथ-पैँव जाँचे तब उन्हें देवा का गढ़ खोजके जल तो चाणुकी गर्मी पाकर ही गर्म
 होता है, उसका शपना स्वभाव तो टटा ही होता है ॥ ५४ ॥ तब प्रयत्न होकर उम शपन्याने
 कहा—इक्ष्वाकु वंशमें राज नामके कुमार उभयग्य होमे और जब वे गुह्यसे मगधपर लोदिके फलकाल
 बाण मारगे तब मुझे फिरसे अपना वारतदिक शरीर प्राप्त हो जायगा ॥ ५५ ॥ उन्ही दिनमें मैं हाथी
 हो गया और तबसे तदा शापके पालनेकी सत्त देना बरता था । आज यह भाग्यसे पाप चाणु और मुझे
 शापसे मुक्त दिवा । इस उपकारके बदलेमें यदि मैंने चाणुकी कंई मचाई न की तो मेरा यह शरीर
 पामा स्वयं ही है ॥ ५६ ॥ देखिए । मेरे पाप यह सामं हन नामक गन्धर्वोंके हैं, जिसके पानने और
 रोषनेके फलका फलका मन्त्र है । इस दुर्भाग कइको शाप से लीजिये । इससे यह विच्छेदता है कि तब

श्रुतं हिया मां प्रति यन्मूहूर्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिपेक्षरीक्ष्यम् ॥ ५८ ॥

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं तोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः ।
उदद्युखः सोऽस्त्रविदह्नमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात् ॥ ५९ ॥

एवं तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुपोः सख्यमचिन्त्यहेतु ।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान्सौराज्यरम्भानपरो विदर्भान् ॥ ६० ॥

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः ।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोमिरिवोर्मिमाली ॥ ६१ ॥

प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तयोपाचरदर्पितधीः ।
मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥ ६२ ॥

तस्याधिकारपुरुषैः प्रसूतैः प्रदिष्टां ग्रामद्वारवेदिविनिवेशितपूर्वकुम्भाम् ।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकायां बाल्यात्पराभिव दशां मदनोऽध्युवास ॥ ६३ ॥

तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः ।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥ ६४ ॥

आप इसे चलावेगे तब आप शत्रुके प्राण लिए बिना ही उसे जीत लेंगे ॥ ५७ ॥ जान पड़ता है कि आपने जो मेरे ऊपर बाण चलाया है उससे आपके मनमें कुछ संतोच हो रहा है । पर इसमें लजाने-की क्या बात है, क्योंकि बाण चलावे समय भी आपके मनमें मुझे मारनेकी इच्छा तो थी नहीं । आपने तो दया करके ही बाण चलाया था । अब मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूँ कि आप वह शत्रु ले लीजिए, आना-जानो न कीजिए ॥ ५८ ॥ चन्द्रमाके समान सुन्दर लगने शन्वर्षका कहना मान लिया । उन्होंने पहले चन्द्रमासे निकली हुई नर्मदाके जलका आशमन किया और फिर उधर की ओर चूँह प्लके शापसे छूटे हुए उस शन्वर्षके वह शत्रु ले लिया और उसके चलाने और रोक्नेका मन्त्र भी सीख लिया ॥ ५९ ॥ इस प्रकार देवयोगसे अज और प्रियवन्दकी मार्गमें ही गिनता हो गई । वहाँसे प्रियवन्द तो कुशके चित्ररथ नामक उपवनकी ओर चला गया और अज भी उस विदर्भ देशकी ओर चल पड़े जो शन्डे शासन के कारण बड़ा सुन्दर था ॥ ६० ॥ जब विदर्भ के राजाको यह समाचार मिला कि अज आ गए हैं तब वे पड़े प्रसन्न हुए और जैसे समुद्र गपनी लहरें ऊँचे उठारकर चन्द्रमाका स्वागत करता है वैसे ही उन्होंने भी नगरके बाहर अजके पदावमें जाकर उनका स्वागत किया ॥ ६१ ॥ राजा भोज आपने साथ अजको नगरमें ले गए और वहाँ उन्हें अपना सज-सुख भेंट करके ऐसी नहाताके साथ उनका सरकार किया कि लोग यही समझने लगे कि अज ही इस परके स्वामी हैं और भोज प्रतिधि हैं ॥ ६२ ॥ वहाँसे भोज-राजके सेवक, अजको यही नगरवासे उस मनोहर राज-मंदिरमें ले गए जिसके द्वारकी चीकियोंपर जलसे भरे मंगल कलश रखे हुए थे । उस मनमें रघुके प्रतिनिधि अज ऐसे रहने लगे माने कामदेवने अपना बचपन बिताने जगतीमें पैर धरा हो ॥ ६३ ॥ अब अजको

तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम् ।
 वृतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रमोर्धं प्राबोधयन्नुपसि वाग्निमहदारवाचः ॥ ६५ ॥
 रात्रिर्गता मतिमतांवर मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता ।
 तामेकतस्तव विभक्तिं गुरुर्विनिद्रस्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥ ६६ ॥
 निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा पर्युत्सुकत्वमवला निशि स्वाण्डितेव ।
 लक्ष्मीर्धिनोदयति येन दिगन्तलम्बी मोऽपि न्यदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥ ६७ ॥
 तद्वल्गुना युगपदुन्मिपितेन तावत्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
 प्रस्पन्दमानपरुषेतारमन्तथक्षुस्तथ प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥ ६८ ॥
 वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैरुष्णांशुभिर्नैः ।
 स्वाभाविकं-परसुणेन विमातवायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते सुरामारुनस्य ॥ ६९ ॥
 ताम्रोदरेषु पतितं तरुणल्लवेषु निर्धातहारमुलिकाविशदं हिमाम्भः ।
 आभाति लब्धपरमागतयाधरोष्ठे लीलास्मितं नदशनाचिरिव त्वदीयम् ॥ ७० ॥

यह चाह दुई कि किसी प्रकार उस बन्वाको प्राप्त करें जिते पानेके लिये सैरवाँ राजा स्वयम्बरमें थाव
 थे । इसी उलझनमें पड़े रहनेके कारण खुपन यौनोंमें रातकी उसी प्रकार बहुत विलम्बे नींद आई
 जैसे अपने पतिके मनकी न जाननेवाली नई यह अपने पतिके पास विलम्बे जाती है ॥ ६५ ॥ एक
 करवट सोनेके वारण अजके भरे हुए बन्वोंपर पुण्ड्रके दबनेसे उष्णता चिद्र पद गया और विर्धुनि-
 की रगड़ते उनके शरीरपर लगा हुआ अमरता भी सुँड़ गया था । दिन निकलते ही उनकी समान
 अवस्थावाले और मधुर योजनेवाले मूर्तोंके पुत्र यह खुनि ना नाकर पुदिमान अजरी जगाने लगे
 ॥ ६५ ॥ हे परम पुदिमान ! रात चल गई है, अब शय्या छोड़िए । यज्ञाने दृष्टीका भार खेचल दो
 भागोंमें बाँटा है, जिसे एक और तो तुम्हारे पिता सदा खग्य होकर सम्भालते हैं और दूसरी और
 तुम्हें जागरूक सम्भालना है ॥ ६६ ॥ देखो, तुम्हारी मौँदर्य-लक्ष्मीने जब यह देखा कि तुम निद्रा रूपी
 दूसरी स्त्रीके चरणों हो तब यह तुम्हें चाहते रहनेपर भी रुठ होकर तुम्हारे ही मूर्त्यके समान
 सुन्दर अन्द्रमाके पाग चली गई थी पर इस समय अन्द्रमा भी मलिन हो गया है और इसलिये यह
 मौँदर्य-लक्ष्मी बेचारा निराधार हो गई है, [क्योंकि तुम्हारे मूर्त्यको परोंवरी खरनेवाला और मौँद
 सुन्दर पदार्थ तो है नहीं जिनके पाग यह आ सके ।] इसलिये जागरूक तुम उसे फिर अपने लो
 ॥ ६७ ॥ इस समय तुम्हारी अन्द्र यौनों में पुतलियाँ धूम रही हैं और तालों में कमलोंके मोतर
 औरें गुँज रहे हैं । इस समय उठो तो मूर्त्यके निकलनेपर तुम्हारे नेत्र और वमन एक साथ गिचकर
 एक जैसे सुन्दर लगने लगे ॥ ६८ ॥ प्रातःकालका पवन शृषोंकी सायाओंपर भ्रजनेवाली स्त्रीके
 कोठपाने वृत्तोंकी गिरगा दुधा सूर्यकी छिरियोंमें गिरे हुए कमलोंकी तुता हुआ चर रहा है मानों
 तुम्हें जगा हुआ न देखकर यह तुम्हारे सुवर्णी स्वाभाविक सुगन्धिनी दूसरोंमें खेनेका प्रयास कर रहा है
 ॥ ६९ ॥ हारके उज्जले मौँतियोंके समान निर्मल आंफके कण शृषोंके साथ परोंपर गिरकर जैसे ही

यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानुरद्वाप तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
 आयोधनाग्रमरतां त्वयि वीर याते किं वा रिषूस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति ॥ ७१ ॥
 शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्भेरमा मुखरशृङ्खलरुपिणस्ते ।
 येषां विभ्रान्ति तरुणाह्वारायोगाद्भिन्नाद्भिन्नैरिक्तटा इव दन्तकोशाः ॥ ७२ ॥
 दीर्घेष्वमीनियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजान् वनायुदेरयाः ।
 वक्रोन्मथा मलिनयन्ति पुरोगतानि लोहानि सैन्धवशिलाशरुलानि बाहाः ॥ ७३ ॥
 भवति विरलभक्तिम्लानपुष्पोपहारः स्फुरिखपरिवेपोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
 श्रयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्तामनुवदति शुरुस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः ॥ ७४ ॥
 इति विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झांचकार ।
 मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकम् ॥ ७५ ॥

अथ विधिमवसाद्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुल्लोचितमञ्जितान्निपक्षमा ।

कुशलविरचितानुक्लवेषः क्षितिपममाजमगात्स्वयंपरस्थम् ॥ ७६ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृपे रघुवंशे महाकाव्ये अजस्वयंपराभिगमनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥

सुन्दर लग रहे हैं जैसे तुम्हारे हैंसनेके समय तुम्हारे लाल लाल शोडोंपर पड़ी हुईं तुम्हारे दाँतोंकी चमक सुन्दर लगती है ॥ ७० ॥ सूर्यके उदय होनेके पहले ही उनका चतुर सारकी अरुच संसारसे अंधेरेकी भागा देता है । यह ठीक भी है क्योंकि जब सेवक चतुर रहता है तब स्वामीकी स्वयं कार्य करने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता । देखो, जब तुम्हारे जैसे योग्य पुत्र सुधर्म जाकर लड़ते हैं तब तुम्हारे पिताजीकी क्या कभी शत्रुधर्मको स्वयं मारनेका कष्ट उठाना पड़ता है, कभी नहीं ॥ ७१ ॥ तुम्हारी सेनाके हाथी, दोनों ओर करवटे बंदलकर शनखनाती हुई सौक्यकोलींघते हुए उठ खड़े हुए हैं । लाल सूर्यकी किरणें पड़नेसे उनके दाँत ऐसे लगते हैं मानो वे शमी गेरुके पहाड़की खोदकर चले आ रहे हों ॥ ७२ ॥ हे कललके समान नेत्रबाले ! बड़े-बड़े पट मंडपोंमें बंधे हुए तुम्हारे वनायु (कामुल) देशके घोड़े नौदि छोड़कर संधे नमस्के उन डुकवोंकी श्रपने मुँहकी भापसे मैला फेर रहे हैं जो घाड़नेके लिये उनके आगे रचते हुए हैं ॥ ७३ ॥ रातकी सजावटके फूल सुरभाकर भड़ गए हैं । उजाला हो जानेके कारण दीपकका प्रकाश भी अब अपनी लौ से बाहर नहीं जाता और पिजरेमें बैठा हुआ भीठी खेती भोलनेवाला तुम्हारा यह सुग्गा भी हमारी ही पाजोंका दुहरा रहा है ॥ ७४ ॥ जैसे आकाशवाणीकी रीतीमें लेता हुआ सुप्रतीक नामका देवताधर्मका हाथी, राजहंसोंका शब्द सुनकर जाग उठता है जैसे ही चारणोंकी सुरधित पाणी सुनकर राजकुमार अजकी नौदि खुल गई और वे उठ बैठे ॥ ७५ ॥ सुन्दर पलकोंवाले राजकुमार अजने उठकर शास्त्रसे यतार्ह हुईं प्रातःकालकी सर उचित क्रियाएँ कीं और फिर उनके चतुर सेवकोंमें उन्हें बहुत सुन्दर वस्त्र पहनाए । इस प्रकार राज पाजकर वे स्वयम्बरके राज-समाजकी ओर चल दिए ॥ ७६ ॥

महाकवि कालिदासके रहे हुए रघुवंश महाकाव्यमें अजका स्वयम्बरका गमन नामका पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

पष्ठः सर्गः

म तत्र मध्येषु मनोज्ञेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।
 वैमानिकानां महानामशयदाकृष्टलीलान्नरलीकपालान् ॥ १ ॥
 रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण ।
 काङ्क्षुत्सधमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेंद्रुमतीनिराशम् ॥ २ ॥
 वैदर्भनिर्दिष्टममौ कुमारः कल्पेन सोपानपथेन मक्षम् ।
 शिलाविभंगैर्भृंगराजशावस्तुङ्गं नगोत्संगमिवारुरोह ॥ ३ ॥
 परार्धवर्षास्तिरणोपपन्नमासेदिवाब्रलवदासनं सः ।
 भूयिष्ठमासीदुपमेप्रकान्तिर्मयुरपृष्ठाश्रयिणा गुह्येन ॥ ४ ॥
 तासु त्रिधा राजपरम्परामु प्रभाविशेषोदपदुर्निरिक्षयः ।
 सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोध्रुवां पंक्तिषु विद्युतेव ॥ ५ ॥
 तेषां महार्हामनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये ।
 रराज धाम्ना रघुमुरुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः ॥ ६ ॥
 नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्मृपतीन्निपेतुः ।
 मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे घन्य इव द्विरेकाः ॥ ७ ॥

छठा सर्ग

स्वयम्बरमें जाकर खड्गने देखा कि सत्रे हुए मर्चोपर बैठे हुए राजा लोग ऐसे सुन्दर लग रहे हैं जैसे विमानोंपर देवता बैठे हुए हों ॥ १ ॥ जब दूसरे राजाओंने अजको देखा तब उन्होंने इन्दु-
 मतोंको पानेकी सब आशाएँ छोड़ दीं क्योंकि राजा ऐसे लग रहे थे मानो सागर का मदेन हों, जिसे
 शिवजीने रतियों प्रायेणपर फिरसे जोरित कर दिया हो ॥ २ ॥ जैसे बिहना यथा एक एक शिलापर
 पर खरता हुआ पहाड़पर चढ़ जाता है वैसे ही राजकुमार अज भी सुन्दर सीढ़ीपर चढ़कर भोजके
 बतार हुए मंथपर जाकर बैठ गए ॥ ३ ॥ जिन सिंहासनपर थे जाकर बैठे, वह सोनेका बना हुआ
 था, उसमें रज जड़े थे और उभर पर रत चिरगे सग बिठे हुए थे । उभर बैठे हुए वे ऐसे सुन्दर लग
 रहे थे मानो पारिकेय अथवा मोरपर चढ़े बैठे हों ॥ ४ ॥ वहाँ बैठे हुए राजाओंके शत-शत और
 उभरी लङ्क-भद्रक देवकर अग्नि धौषिर्षी जाती थी और घेरता जान पड़ता था मानो जड़मणि अथवा
 सोमा उन लोगोंमें उर्सी प्रकार पडि ही हो जैसे बिजली अथवा चमर पादलोंमें घडि देता है ॥ ५ ॥
 जैसे जन्मन कतनेके वृक्षोंमें पारिजात ही सबसे अधिक सुन्दर है वैसे ही यदुमुर्य सिंहासनोंपर
 बैठे हुए और सबे टाट बाटने सत्रे हुए राजाओंके बीचमें खरने अज ही गिन रहे थे ॥ ६ ॥ जैसे
 फूलवाले वृक्षोंको घोंचकर मर बदलेवाले जंगली हाथियोंपर मीरे झुक पड़ने हैं, वैसे ही नगरवापियोंकी

अथ स्तुते वन्दिभिरन्वपज्ञैः सोमार्कव्यस्यै नरदेवलोके ।
 संचारिते चागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तोः ॥ ८ ॥
 पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतोः ।
 प्रध्मातशब्दे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे ॥ ९ ॥
 मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि ।
 विवेश मश्रान्तरराजमार्गं पतिवरा ब्रूतविवाहवेया ॥ १० ॥
 तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नैत्रशतैकलक्ष्ये ।
 निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमामनेषु ॥ ११ ॥
 तां प्रत्यभिष्यक्तमनोरथानां महोपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
 प्रवालशोभा इव पादयानां शृङ्गारचेष्टा विविधा वभूवुः ॥ १२ ॥
 कथितकराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
 रजोभिरन्तःपरिवेषन्धि लीलारविन्दं भ्रमयांचकार ॥ १३ ॥
 विस्रस्तमंसादपरो विस्रासी रत्नानुविद्राङ्गदकोटिलप्रम् ।
 प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥ १४ ॥

शौचं सब राजाशौसे दृढकर अजर जा लगी थी ॥ ७ ॥ इतनेमें सब राजाओंका वंश जाननेवाले
 भौदोंने सूर्य और चन्द्रके चरममें उत्पन्न होनेवाले उन सब राजाओंके प्रशंसा की। उधर शहरके
 सारसे बनाई हुई धूप-वस्त्रियोंका धुँआ चारो ओर उड़ता हुआ फहराती हुई भडिपौलक चढ़ गया ॥ ८ ॥
 जिन शंखों और मंगल यात्रोंके बजनेपर नगरके आस पासकी शमराद्योंमें रहनेवाले मोर उसे
 वादलका गरजना समझकर नाच उठते हैं उन यात्रोंकी ध्वनिसे दसों दिशाएँ गूँज उठीं। इसी बीच
 बर चुननेके लिये विवाहके समयका वेप धारण किए हुए इन्द्रमती, पालकीपर चढ़कर मर्चोंके बीचवाले
 राजमार्गसे आई। यह पालकी मनुष्य दो रहे थे और उसके चारो ओर दासियाँ पैदल चलती था रही
 थीं ॥ १० ॥ यह कन्या वया थी, जयाकी रचनाकी पूरु बहुत ही सुन्दर कला थी जिसे सैकड़ों शौच
 पकटक होकर देख रही थीं। उसकी सुन्दरता देखते ही सब राजाओंके मनमें तो उसपर चले गए,
 केवल उनके शरीर भर मचोवर रह गए ॥ ११ ॥ रणायों ने अपना प्रेम जतानेके लिये जो इच्छाके
 पत्तोंके समान अनेक प्रकारसे भीह आदि चलाकर शृंगार चेष्टाएँ कीं वे मानो उनके प्रेमका इन्द्रमतीतरु
 पहुँचानेवाली दूतियाँ थीं ॥ १२ ॥ कोई राजा हाथमें सुन्दर कमल लेकर उसकी उठल पकड़कर घुमाने
 लगा। उसके घूमनेसे सारे तो धपर-उधर भाग गए पर उसमें जो पराग भरा हुआ था, उसके
 फैलनेसे कमच के भीतर चारो ओर एक कुण्डली सी बन गई। [उसे घुमाकर बट यह प्रमट करता
 था कि विवाह कर लेनेपर हम भी तुम्हारे हाथमें इसी प्रकार नाच सकते हैं] ॥ १३ ॥ दूसरा एक
 विलासी राजा, थोड़ा मुँह घुमाकर कन्धसे खरकी हुई श्रोत घुनरन्ध्रमें डलकी हुई रसोकी मालाकी
 उठाकर फिरसे गलेमें डीकते पढ़ने लगा। [इसमें उसने यह संकेत किया कि मैं सदा तुम्हें गवैका

आकुञ्चिताप्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
 तिर्यग्विसंसर्पितखप्रमेख पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥ १५ ॥
 निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्संनिवेशादधिकोन्नतांसः ।
 कश्चिद्विबुचत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् ॥ १६ ॥
 विलासिनोविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकवर्द्धमन्यः ।
 प्रियानितम्बोचितसंनिवेशैर्निपाटयामान युवा नखाग्रैः ॥ १७ ॥
 कुशेशयाताप्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन ।
 रत्नाङ्गुलीपप्रभयानुविद्वानुदीरयामास सलीलमद्याम् ॥ १८ ॥
 कश्चिद्यथामागमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्दधतिलङ्घिनीव ।
 वज्रांशुगर्भाङ्गुलिन्यभ्रमेकं व्यापारयामास करं किरिटे ॥ १९ ॥
 ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंश्वत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
 प्राक्प्रानिकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥ २० ॥
 असौ शरण्यः शरयोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः ।
 राजा प्रजारङ्गनलम्बवर्णः परंतपो नाम पथार्थनामा ॥ २१ ॥

हार बनाए रहुँगा ॥ १७ ॥ तीसरा राजा भी है मटकाकर, पैरकी उगलियाँ मोड़कर, पैरके नखोंके
 पंख तिरछी ढालते हुए पैरकी उँगलियोंसे सोनेके पाँव-पैरेपर कुछ लिपने लगा । [इस संवेतमे
 यह हनुमतीकी धपने पाप तुलाना चाहता था] ॥ १५ ॥ कोई राजा विहासतके एक घोर घाई भुजा
 टेकर बैठ गया और अपने पास बैठे हुए मित्रसे बातें करने लगा, जिससे उसका माया कन्धा उठ गया
 और गलेकी माला भी पीठपर लटक गई । [इससे उसने यह संवेत किया कि मैं सदा तुम्हें अपनी
 घाई धोर बिठाऊँगा] ॥ १६ ॥ एक दूसरा युवा राजा था, जिसके नख मानो शिपाके नितम्बोंपर
 चिद्र बनानेके लिये ही घने थे । वह उन नखोंसे केतकीके उन धीसे पत्तोंको मोच रहा था जो किसी
 बिलासी कीके शंभारके लिये कानके आभूषणके रूपमें बड़े हुए थे । [इस संवेतसे उसने प्रकट
 किया कि हम इसी प्रकार तुम्हारे नितम्बोंपर नख-चिद्र लगायेंगे] ॥ १७ ॥ एक दूसरे राजा थे,
 जिनकी हथेली कमलके समान लाल थी और जिसपर धजाकी रेखाएँ बना हुई थीं । ये अपने हाथमें
 पाये उल्लास रहे थे, और उनकी चोंचकी मूलक पामोंपर पढ़ रही थी । [ये संवेत कर रहे थे कि
 तुम्हारे साथ शिवाइ होनेपर हम दिन रात तुम्हारे साथ पाया गेला करेंगे] ॥ १८ ॥ एक दूसरा
 राजा बार-बार धपने हाथसे उस सुहृदकी सीधा कर रहा था जो पहलेमे ही सीधा था । ऐसा करनेमें
 उसके हाथोंकी उँगलियोंके पीषका माग रत्नोंकी विशेषताएँ कम उठता था । [इसने यह यह संवेत
 करता था कि मैं तुम्हें सदा सिर-घाँघोंपर बिठाए रखूँगा] ॥ १९ ॥ इसी पीष पुराणोंके समान बंट
 और राजाघोंके पुराणोंकी कथा जाननेवाला रजिवायकी प्रतिहारी सुनन्दा, अपने पहले हनुमतीकी
 मगध-नरेशके आगे ले गई और बोली ॥ २० ॥ ये राजा बड़े पण्डित हैं और अपनी शरणमें
 आनेवालोंकी रक्षा करते हैं । अपनी प्रजाको सुख देकर इन्होंने बड़ा नाम कमाया है । इनका नाम

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
 नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥ २२ ॥
 क्रियाप्रबन्धादयमध्वराखामजस्रमाहृतसहस्रनेत्रः ।
 शच्याश्विरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशृत्यानलकांश्चकार ॥ २३ ॥
 अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे ।
 प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥ २४ ॥
 एवं तपोक्ते तमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिदूर्वाङ्गमधूकमाला ।
 अञ्जुप्रशामक्रिययैव तन्धी प्रत्यादिदेशैनमभापमाणा ॥ २५ ॥
 तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
 समीरखोत्थेव तरङ्गलेखा पद्यान्तरं मानसराजहंसीम् ॥ २६ ॥
 जगाद् चैनामयमङ्गनाथो सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः ।
 विनीतनागः किल स्रजकारैरेन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥ २७ ॥
 अनेन पर्यासयताश्रुविन्दून्मुक्ताफलस्थूलानमान्स्तनेषु ।
 प्रत्यर्पिताः शत्रुत्रिलासिनीनामुन्मुच्य स्रजेण विनैव हाराः ॥ २८ ॥

परंतप हे शौर ये सबमुच परन्तप [अर्थात् शत्रुघ्नोको ताप देनेवाले] हैं ॥ २१ ॥ जिसे चारों, प्रहो शौर
 नक्षत्रोंसे मरी रहनेपर मो रात तभी चँदनी रात कहलाती है जय चन्द्रना खिला हुआ हो, ऐसे
 ही यद्यपि संसारमें सहस्रों राधा हैं किन्तु पृथ्वी इन्हींके रहनेसे राजावाली कहलाती है ॥ २२ ॥
 इन्हींने एक पर एक यज्ञ करके बार बार इन्द्रको अपने यहाँ बुलाया जिसका फल यह हुआ कि
 इन्द्राणीके सिरकी चोटी कल्पद्रुमके फूलोंका शृङ्गार न होनेसे उसके पीले गालोंपर भूलने लगी,
 [क्योंकि पतिके पास न रहनेसे उन्होंने शृङ्गार करना ही छोड़ दिया था] ॥ २३ ॥ यदि इनके साथ
 तुम विवाह करना चाहते हो तो अवश्य करो । क्योंकि जब तुम विवाह करके इनके साथ इनकी
 राजधानी [पाण्डिपुरमें] पहुँचोगी तब यहाँकी शिष्यों भक्तियोंमें बैठकर तुम्हें देखेंगे और तुम्हारी
 सुन्दरता देखकर उनकी शीलियोंकी सुरा मिलेगा ॥ २४ ॥ सुनन्दाकी बात सुनकर इन्द्रमहीने तनिक
 सी धीरे उठाकर राजाकी देखा । उसके हागकी दूबमें गुपी हुई महुएकी माला कुछ सरक गई और
 बिना कुछ फटे-सुने सीपा सा प्रणाम करके उसे धरवीकार भरती हुई वह भागे चढ़ गई ॥ २५ ॥
 जैसे धायुसे उठी हुई जहरके सहारे मानसरोवरकी राजहंसिनी एक कमलसे दूसरे कमल तक पहुँच
 जाती है, उसी प्रकार सुनन्दा भी राजकुमारी इन्द्रमहीको दूसरे राजाके घामे पहुँचाकर लगी हो
 गई ॥ २६ ॥ और यौजी—ये घंग देशके राजा हैं ! इनके यौवनकी देवताओंकी शिष्यों भी चाहा
 करती हैं । इधियौसी विवाके पदे घड़े गुणो लोग इनके हाथियोंको सिखाते हैं । ये पृथ्वीपर रहते
 हुए भी इन्द्र ही भयके जाते हैं ॥ २७ ॥ इन्होंने [जिन राजाओंको युद्धमें मार डाला था] उनको
 दिश्योंने धरने पतियोंके शोकमें मोतियोंके हार तो उतार फेंके थे पर उनके रोनेसे उनके स्तनोंपर
 गिरती हुई शीशुओंकी सूँदें चढ़े चढ़े मोतियोंके समान लगती थीं उन्हें देखकर ऐसा जगता था मामो

निसर्गमिन्नारपदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
 कान्त्या गिरा स्रज्जुतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया ॥२९॥
 अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्वामवदत्कुमारी ।
 नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥३०॥
 ततः परं दुष्प्रसहं द्विपद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ ।
 निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिधेन्दुमत्स्यै ॥ ३१ ॥
 श्रवन्तिनायोऽयमुदग्रधाहुर्विशालवक्षास्तनुषृत्तमघ्यः ।
 आरोग्य चक्रभ्रममुष्णतेजारत्वप्लव यत्नोन्मिलित्वितो विभाति ॥ ३२ ॥
 अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
 कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥ ३३ ॥
 असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
 तमित्तपद्मेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नायतो निर्विशति प्रदोषान् ॥ ३४ ॥
 अनेन यूना सह पापिषेन रम्भोरु कचिन्मनसो रुचिस्ते ।
 सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परानु ॥ ३५ ॥

इन्द्रो ने शशुओंकी खियोंके गलेसे मोतियोंके हार उतारकर उन्हें बिना दोरेवाले [आसुओंके] हार पहना दिए हैं ॥ २९ ॥ यों तो तुम जानती ही हो कि लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंमें कमी नहीं बनती, पर इनके पास दोनों ही मिलकर रहती हैं । इसलिये हे कल्याणी ! तुम सुन्दर भी हो और सुन्दरी मयुर बाणी भी है, इसलिये तुम उन दोनोंके साथ सीतरी बनकर पहुँच सकती हो ॥ ३० ॥ इन्दुमतीने उस अंग देशके राजापरसे आँखें हटाईं और सुनन्दासे कहा—आगे चलो । यह बात नहीं थी कि यह राजा सुन्दर न हो और न यही बात थी कि इन्दुमतीने उसे उँकसे देखा न हो । पर अपनी अपनी रचि ही तो है, किसीको कोई अन्धा लगता है किसीको कोई ॥ ३० ॥ यहाँसे आगे बढ़कर प्रतिहारी सुनन्दाने एक दूसरे राजाको दिखाया जिसने सब शशु खँपते थे और जिसका रूप और जीवन पूतोंके उल्टे हुए चन्द्रमाके समान सुन्दर था । उसे दिखाकर सुनन्दा बोली—देखो, ये जो लक्ष्मी भुजा, चौड़ी छाती और पल्लवी गोल कमर वाली राजा रूपके समान चमक रहे हैं, ये अग्रन्ति देशके राजा हैं, और ऐसा जान पड़ता है कि विश्वकर्माने अपने शान बँदानेके अकार इन्हें यद्ये यानसे खराद दिया है ॥ ३२ ॥ जब ये शक्तिशाली राजा शशुओंपर चढ़ाई करते हैं तब सेनाके आगे चलने वाले घोड़ोंकी टाँपोंसे उठी हुई धूमने शशुओंके मुठ्योंकी चमक सुधमी पड़ जाती है ॥ ३३ ॥ इनका राज-भवन महाकाल मन्दिरमें बँधे हुए शिरपर चन्द्रमा धारण करनेवाले गिरगीके पास ही है । इसलिये बँधे परतमें भी शिपरीके शिरपा बने हुए चन्द्रमाकी धँदनीसे ये अपनी खियोंके साथ सदा उजले पावका हो सालन्द लेते हैं । देखोके लम्बेके सामग [धिक्की और उल्लो] जँपकाका इन्दुमती ! क्या तुम अपनीके उन उपातोंमें विहार करना चाहती हो तिनमें दिन-

तस्मिन्नमिद्योतितवन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
 वबन्ध सा नोचमसौकुमार्या कुमुद्रती भानुमतीव भावम् ॥ ३६ ॥
 तामग्रतस्तामरसान्तराभामनृपराजस्य गुणैरनुनाम् ।
 विधाय सृष्टिं ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा ॥ ३७ ॥
 राङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिस्त्रातयुषः ।
 अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी क्लिप्त कार्तवीर्यः ॥ ३८ ॥
 अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात् ।
 अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥ ३९ ॥
 ज्यावन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्ब्रह्मपरम्परेण ।
 कारागृहे निजितवासवेन लङ्केश्वरेणोपितमाप्रसादात् ॥ ४० ॥
 तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्याममवृद्धसेवी ।
 येन श्रियः संश्रयदोपरुढं स्वभावलोलेत्पयशः प्रमृष्टम् ॥ ४१ ॥
 श्रायोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।
 धारां शितां रामपरश्वधस्य संभावयत्युत्पलपत्रसारात् ॥ ४२ ॥

रात्र शिप्रा नदीका ठंडा वायु हरहरता रहता है ३५ ॥ सुनन्दाकी बात सुनकर भी सुकुमारी इन्दुमती
 को यह मित्रोंको प्रसन्न करनेवाला और शत्रुओंको मारनेवाला प्रतापी राजा उसी प्रकार अच्छा नहीं
 लगा जैसे कुमुद्विनीको यह सूर्य नहीं भाता जो कमलकी खिलाता है और कीचड़को सुखा देता
 है ॥ ३६ ॥ कमलके समान सुन्दरी, बड़ी गुणवती, विधाताकी सुन्दर रचना और सुन्दर दौतियोंवाला
 इन्दुमतीकी बहनोंसे अगुण राजाके आगे ले जाकर सुनन्दा बोली ॥ ३७ ॥ बहुत दिनोंकी बात है,
 एक कार्तवीर्य नामके बड़े योगी हो गए हैं । उनमें बड़ी भारी बात यह थी कि जब वे लड़ने जाते
 थे तब उनके सहयोगी हाथ निकल आते थे । उन्होंने अठारह द्वीपोंमें जाकर वृद्धके सम्ने राइ दिए
 थे वे ऐसे प्रतापी थे कि उनके सामने कोई शत्रुको राजा ही नहीं कह सकता था ॥ ३८ ॥ उनके
 समयमें यदि कोई पाप करनेका विचार भी करता था तो वे धनुष-बाण लेकर उसके सिरपर जा
 पड़ते थे । इस दगसे उस दंडधारीने सब लोगोंके मनसे पाप निकाल डाला था ॥ ३९ ॥ जिस
 राखने इन्द्रको भी जीत लिया था उसको भी उन्होंने ने अपने कारागारमें बन्दी रख कर छोड़ा था
 और उसकी सुजायें क्षम प्रकार धनुषकी टोरीसे फसकर बाँध दी थीं कि वह बेचारा दिनरात उतासों
 भरता रहता था और अत्यंत कासवीर्य उसपर प्रसन्न नहीं हुए तबतक उन्होंने ने उसे छोड़ा नहीं ॥ ४० ॥
 उन्हीं प्रसिद्ध राजाके वंशमें वे उत्पन्न हुए हैं । वे वेदों और बड़े बुद्धिमत्तवा वेदके पण्डितोंकी बड़ी
 सेवा करते हैं । सख्तोंको जो बचलताका दोष लगाया जाता था पर उनकी वह भी तबसे छुल गया
 जबसे वह हमके साथ रहने लगीं [क्योंकि सखी तो उसी पुरुषको छोड़कर पंचता होकर जाती
 है तो स्पसनी होते हैं । इनमें कोई स्पसन नहीं, हमलिये इन्हें क्यों छोड़कर जायें] ॥ ४१ ॥ ये
 राजा इतने बलवान हैं कि अग्निही सहायता पा लेनेसे वे परचुरामजीके उस फरसेकी तेज धाराको

अस्याङ्गलक्ष्मीर्मव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।
 प्रासादजालैर्जलवेणिरम्भां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥ ४३ ॥
 तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव ।
 शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः ॥ ४४ ॥
 सा शूसेनाधिपतिं सुपेणमुदिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम् ।
 आचारशुद्धोमयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी ॥ ४५ ॥
 नीपान्वयः पार्थिव एष यञ्चा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण ।
 सिद्धाश्रमं शान्तमिर्वृत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥ ४६ ॥
 यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिहिमांशोरिव संनिविष्टा ।
 हर्म्याग्रसंहृदतृणाट्कुरेषु तैजोऽविपह्यं रिपुमन्दिरेषु ॥ ४७ ॥
 यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्धारिविहारकाले ।
 कलिनन्दकन्या मधुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति ॥ ४८ ॥
 व्रस्तेन ताक्ष्यात्किञ्च कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः ।
 वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुर्भ ह्येपपतीव कृप्याम् ॥ ४९ ॥

जो कमलकीर्ण परवर्द्धके समान कोमल तसकले हैं जिसने युद्धमें अत्रियोंका सहाय कर डाला था ॥ ४२ ॥
 तुम यदि राजभवनके भूतोलोंसे उस सुन्दर लहरोंवाली नर्मदाका मनोहर दृश्य देखना चाहती हो
 जो माहिष्मतीनगरके चारो ओर तगड़ी जैसी घूम गई है तो इस महाबाहु राजासे विवाह कर लो ॥ ४३ ॥
 जैसे सुले प्राकृतवाली शरदकण्ठका मनोहर चन्द्रमा भी कमलिनिकी नहीं भाता वैसे ही यह सुन्दर
 राजा भी इन्दुमतीके गर्भमें नहीं जँबा । तब रनिवासकी सेनिका सुनन्दा, राजकुमारीको मधुराके
 उस राजा सुपेणके आश्रम ले गई जिसकी कीर्ति स्वर्गके देवता भी गाते थे और जिसने अपने
 शुद्ध अत्रियसे माता श्रीम प्रिठाके दोषों उल्लेखोंका उजागर कर दिया था । उन्हें दिग्वावर सुनन्दा
 बोली ॥ ४५ ॥ ये राजा यकी अत्रियसे यज्ञ करते हैं और प्रशतनीध वरामें उत्पन्न हुए हैं । जैसे
 अत्रियोंके शान्त आश्रममें सप जीव पैर छोड़कर एक साथ रहते हैं वैसे ही विद्वत्ता और मौन रहना
 ये परस्पर विरोधी गुण भी इन्में एक साथ रहते हैं ॥ ४६ ॥ चन्द्रमा की चोर्दनाके समान आश्रमोंका
 सुख देनेवाला इनका प्रकाश तो घरमें रहता है और सूर्य के समान प्रचण्ड तेज शत्रुओंके उध राज-
 भवनोंपर दिखाई देता है जिनके उजड़ जानेपर उनमें घाम जम आई है ॥ ४७ ॥ जब ये जल-
 विद्या करते हैं और इनका रानियोंके स्तनोंपर लगा हुआ चन्दन जलमें मिलकर यमुनामें पड़ने
 लगता है उस समय मधुरामें गो यमुनाजीका रंग ऐसा प्रकट होता है मानों बर्षोंपर उनका
 गंगाजीकी लहरोंसे संगम हो गया हो ॥ ४८ ॥ जब ये अपने गलेमें यह मणि पहन लेते हैं, जो
 उन्हें उस कालिय नागने दी थी जो गरुडके दरसे यमुनाके जलमें रहने लगा था, उस समय इनकी
 शोभाके आगे कौस्तुभ मणि पहने हुए आर्याणजीकी शोभा भी फाँकी पड़ जाती है ॥ ४९ ॥

संभाष्य भर्तारमसुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये ।
 वृन्दावने चैत्ररथादनुते निर्विरयतां सुन्दरि यौवनधीः ॥ ५० ॥
 अष्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि ।
 कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥ ५१ ॥
 नृपं तमावर्तमनोज्ञनामिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री ।
 महीधरं मार्गयशादुपेतं स्रोतोवहा सागरसामिनीव ॥ ५२ ॥
 अथाङ्गदारिलष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् ।
 आसेदुषीं सादितशशुपक्षं वालामवालेन्दुमुखीं प्रभापे ॥ ५३ ॥
 असीं महेंद्राद्रिसमानसारः पतिर्महेंद्रस्य महोदधेक्ष ।
 यस्य चरत्सेन्यगजच्छलेन यात्रासु योतीव पुरो महेंद्रः ॥ ५४ ॥
 ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां विभर्ति यथापभृतां पुरोगः ।
 रिपुश्रियां साञ्जनवाण्यसेके बन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे ॥ ५५ ॥
 यमात्मनः सद्यनि संनिकृष्टो मन्द्रध्वनिस्थाजितयामतूर्यः ।
 प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ॥ ५६ ॥

हे सुन्दरी । इनके साथ विवाह करके आप कुबेरके चैत्ररथ नामके उद्यानसे भी बढ़कर सुन्दर वृन्दावनमें
 कोमल पत्तों और फूलोंकी शैवाश्रोंपर बिहार करना ॥ ५० ॥ और वहाँके दिनोंमें गोवर्धन पर्वतकी
 सुहावनी गुफाओंमें पानीकी फुहारोंसे भोगी हुई शिलाशैतकी गन्धवाली परधरकी काश्चियोंपर बैठकर
 मोरोंका नाच देखना ॥ ५१ ॥ पानीकी मँवरके समान महरी नाभिवाली और किसी अन्यसे विवाह
 करने की इच्छावाली इन्दुमती, राजा सुपेयको छोड़कर उसी प्रकार आगे बढ़ गई जैसे समुद्रकी और
 बढ़ती हुई नदी बीचमें पड़ते हुए पहाड़को छोड़ जाती है ॥ ५२ ॥ वहाँसे सुगन्दा दासी पूतके
 कन्दमाके समान सुवद्याली, इन्दुमतीको, उम, बलिग, वेणुके राजा हेमाङ्गदके आगे ले गई, जो, चापनी,
 बौहमें भुजबन्ध पहने हुए थे और जिन्होंने अपने शत्रुओंको नष्ट कर डाला था । उन्हें दिपलाती हुई
 सुगन्दा बोली ॥ ५३ ॥ इनको देखती हो ! ये महेंद्र पर्वतके समान शक्तिवाले हैं और महेंद्र
 पर्वत और समुद्र दोनोंपर इनका अधिकार है । जब ये सुन्दके लिये चलते हैं उस समय इनके आगे-
 आगे चलने वाले सरावले हाथी ऐसे समते हैं मानो हाथियोंका वेप बनाकर स्वयं महेंद्र पर्वत चला
 जा रहा हो ॥ ५४ ॥ इनको देखती हो न, कैसी सुन्दर इनकी भुजाएँ हैं और धनुषधारियोंमें तो
 इनसे बढ़कर कोई है ही नहीं । इनकी भुजाओंपर जो दो काली-काली रेखाएँ धनुषकी डोरी खींचनेसे
 बन गई हैं, वे ऐसी जान पड़ती हैं मानी ये शत्रुओंकी उस राज्य लपटोंके आनेकी दो पगदडियाँ हैं
 जो उन्होंने शत्रुओंसे छीन ली हैं और जिनके कजरारे नेत्रोंसे बड़े हुए शत्रुओंके कारण ये काले पद
 गए हैं । ठीक इनके राजभवनके नीचे ही समुद्र हिलोरेँ जैता है । उसकी लहरें राजभवनके भूतोंसे
 स्पष्ट दिवाई देती हैं । जब ये अपने राजभवनमें सोते हैं तब वह समुद्र ही नगादेकी ध्वनिले भी

अनेन सार्धं विहराम्बुराशोस्तोरेषु तालीवनमर्मरेषु ।
 द्वीपान्तरानीतंलवङ्गप्रुणैरपाकृतस्वेदलरा मरुद्भिः ॥ ५७ ॥
 प्रलोमिताप्याकृतिलोमनीया विदर्भराजावरजा तयैवम् ।
 नस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येन लक्ष्मोः प्रतिहूलदैवात् ॥ ५८ ॥
 अबोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्थ ।
 इतश्चकोरादि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद् भोज्याम् ॥ ५९ ॥
 पाण्डुरोऽयमंमार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
 आभाति बालातपरक्तसानुः मनिर्भरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ६० ॥
 विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निःशेषपीतो जिम्भतमिन्धुराजः ।
 प्रीत्यास्वभेधानमृषार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्पगरत्पः ॥ ६१ ॥
 अस्त्रं हरादाप्तवता दुराषं येनेन्द्रलोकावजयाय दत्तः ।
 पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की संधाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ॥ ६२ ॥
 अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
 रत्नानुविद्वार्षवमेसलाया दिशः सपत्नी भर दक्षिणस्याः ॥ ६३ ॥

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूपास्वलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
 तमालपत्रास्तरस्यासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्यलीपु ॥ ६४ ॥
 इन्दीवररूपामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरपट्टिः ।
 अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोपदयोरिवास्तु ॥ ६५ ॥
 स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
 दिवाकरादशेनचन्द्रकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ॥ ६६ ॥
 संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिवरा सा ।
 नरेन्द्रमार्गाद् इव प्रपेदे विवर्ण्यभावं स स भूमिपालः ॥ ६७ ॥
 तस्यां रघोः सूरुरूपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलाऽभुत् ।
 वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ॥ ६८ ॥
 तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्तनान्योपगमान्कुमारो ।
 न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृत्तान्तरं काङ्क्षति पट्टपाली ॥ ६९ ॥
 तस्मिन्समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।
 प्रचक्रमे वक्तुमनुकम्पया सविस्तरं वाक्पमिदं सुनन्दा ॥ ७० ॥

पृथ्वीकी सीत वन जाओ जिसकी तगही स्वय रत्नोंसे भर समुद्र है ॥ ६९ ॥ यदि तुम सदा मलय
 पर्वतकी उन घाटियोंमें विहार करना चाहो, जिनमें पानकी बेलोंसे ठके हुए सुपारीके पेड़ खड़े हैं,
 इलायचीकी बेलोंसे लिपटे हुए चन्दनके पेड़ लगे हैं और स्थान स्थानपर ताड़के पत्र फैले हुए हैं, तो
 तुम इनसे विवाह कर लो ॥ ६४ ॥ फिर ये नोल कमलके समान सौंदर्य हैं और तुम मोरोचन जैसी
 गोरी हो, इसलिये यदि तुम दोनोंका विवाह हो जायगा तो तुम ऐसी सुन्दर लगोगी जैसे बादलके
 साथ बिजली ॥ ६५ ॥ सुनन्दाकी बातें इन्दुमतीके मनमें बुरे ही नहीं घर कर सकीं जैसे सूर्यके न
 दिग्विहारे देवेपर चन्द्र कमलके भीतर चन्द्रमाकी किरणें नहीं पहुँच पातीं ॥ ६६ ॥ रातको जब रम
 दीपक लेकर चलते हैं तब जो जो रात्रमार्गके भयन पीछे छूटते चलते हैं वे अँधेरेमें पड़ते जाते हैं,
 वैसे ही जिन जिन राजाओंकी छोड़कर इन्दुमती प्रागे बढ़ गई उनका मुँह उदास पग गया ॥ ६७ ॥
 जब वह रघुके पुत्र भक्तके भागे आकर लकी हुई तब अजके मनमें भी यह शुकुचुकी होने लगी कि यह
 मुझे बरोगी या नहीं। पर उसी समय भुजङ्गके पास उनका दाढ़ भुजा फड़क उठी जिससे उनकी
 संका दूर हो गई ॥ ६८ ॥ इन्दुमतीने जब उस सर्पान्द-सुन्दर राजा धनको देखा तब वह यहीं रुक
 गई और फिर किसी राजाके आगे नहीं जा सकी क्योंकि जब भीरोंका झुण्ड आगेके वृक्षपर पहुँच
 जाता है तब उन्हें दूसरे वृक्षोंके पास जानेकी चाह नहीं रहती ॥ ६९ ॥ सुनन्दा तो बात पचानेका
 बड़ा दंग जानती थी इसलिये जब उसने देखा कि चन्द्रमाके समान मुखवाली इन्दुमती भक्तके रूपपर

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुद्दं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्ष्योऽभूत् ।
 काकृतस्थशब्दं यत् उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोशलेन्द्राः ॥ ७१ ॥
 महेन्द्रमास्थाय महोत्तरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
 चकार धारैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोपितपत्रलेखाः ॥ ७२ ॥
 पेरवतारफालनविश्रुधं यः संघट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन ।
 उपेपुपः स्वामपि मूर्तिमश्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितृष्टौ ॥ ७३ ॥
 जातः कुले तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः ।
 अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राम्पस्रयाविनिवृत्तये यः ॥ ७४ ॥
 यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
 वातोऽपि नास्रंसपदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥ ७५ ॥
 पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता ।
 चतुर्दिगाव्रजितसंभृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभृतिम् ॥ ७६ ॥
 श्रावुडमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
 ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुवन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥ ७७ ॥

अमौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः ।
 गुर्गं धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं विभक्तिं ॥ ७८ ॥
 कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
 त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥ ७९ ॥
 ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या ।
 दृष्ट्वा प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव ॥ ८० ॥
 सा धूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम् ।
 रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वानिराकामदरालकेस्याः ॥ ८१ ॥
 तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी चेन्नभृदावभाषे ।
 आर्ये ब्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वपूरुवाकुटिलं ददर्श ॥ ८२ ॥
 सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीहराम्बां फरभोपमोरुः ।
 आनञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवावुरागम् ॥ ८३ ॥
 तया स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवचःस्थललम्बया सः ।
 अमैस्त कण्ठापितबाहुपाशां विदभंराजावरजां वरेण्यः ॥ ८४ ॥
 शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेवमूक्तं जलनिधिमनुरूपं जह्नु रूपावतीर्णा ।
 इति समगुणयोगप्रोत्पस्तत्र पौराः श्रम्य रुद्रु नृशायामे क्वाक्पं विवदुः ॥ ८५ ॥

मैं धीर भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें सब कहीं तो उनका मर फैला हुआ है ॥ ७७ ॥ की
 इन्द्रके पुत्र जयन्त बड़े प्रतापी हुए थे जैसे ही कुमार अन्न भी उन्हीं प्रतापी रघुके पुत्र हैं धीर ये
 अपने प्रतापी पिताके समान ही राज्यका सब काम संभालते हैं ॥ ७८ ॥ इतना बल, रूप, धीर
 धीर भद्रता मे सब गुण तुम्हारे हाँ गीमे हैं । तुम इनसे अवश्य विवाह करो जिसमें रत्न धीर से
 का श्रीकृष्ण केर हो जाव ॥ ७९ ॥ जब सुनकर कद सुखी तब इन्द्रमूर्तिने संकोच धोकर धर
 हैंतकी हुई धरिं धरपर टाकीं धीर धीरिं-धीरिंमि इस प्रकार उन्हें पर लिया मानो यह दृष्टि
 स्वयंकी माला हो ॥ ८० ॥ राजके भारे इन्द्रमूर्ति अपने प्रेमके घाव भरसे कह तो न सको
 उस प्रेमके कारण बने रोमांच हो थावा धीर धुं पराके वालोंवाली इन्द्रमूर्तिके हृदयका यह प्रेम क्षिप
 पर भी न क्षिप सका मानो नये हुए रोमांचके स्वरमें यह प्रेम शरीर फोड़कर निकल आया हो ॥ ८१ ॥
 सुनन्दने इन्द्रमूर्तिके यह दया देवहर डिओली करते हुए कहा—आर्ये, बलिष् आगे बड़िष् । इस
 इन्द्रमूर्तिने धीरिं शरैका सुनन्दकी धीर देगा ॥ ८२ ॥ हापीकी सूँके समान धंधाधीवा
 इन्द्रमूर्तिने यह स्वयंकी माना सुनन्दके हाथों रघुके पुत्र अन्नके गलेमें पहनवा हो । उस माक्ष
 धं रेमें लगी हुई रोजी सापाए अन्नरागके समान ही लग रही थी ॥ ८३ ॥ जब अन्नके गलेमें ।
 पुरीकी मंगल थावा पक्षी धीर उनकी धीरिं फातीपर मृत गईं सब उसे दीपकर अपने यही सम
 भायो इन्द्रमूर्तिने मेरे गलेमें अपनी मुठायें ही बाल ही हों ॥ ८४ ॥ जब यहाँके नगर-यासिने

प्रमुदितवरपद्ममेकतन्त्रत्विपतिमण्डलमन्यतो वितानम् ।
उपसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥ ८६ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
स्वयंघरघर्षणो नाम पद्यः सर्गः ।

देखा कि समान गुणवाले शत्रु और हनुमतीका सम्बन्ध हो गया तब वे एक साथ चील उठे—यह तो चीन्ही और चन्द्रमाका मेल हुआ है और गंगाजी समुद्रमें मिल गई हैं । दूसरे राजा खोग ज्यों ज्यों वे सब बातें सुनते जा रहे थे, त्यों त्यों मनमें कुदले चले जा रहे थे ॥८५॥ स्वयंघरके मंठपमें एक घोर घनके सामोईसते हुए रतने थे और दूसरी घोर उदास सुँहवाले राजा लोग । उस समय वह मण्डप प्रातः कालके उस सरोवर जैसा लगने लगा तिममें एक शोर भिले हुए कमल दिखाई देरहे हैं और दूसरी घोर सुँदे कुमुदोंका झुण्ड खड़ा हो ॥ ८६ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें हनुमती स्वयंघर नामका
सुठा सर्ग समाप्त हुआ ॥



सप्तमः सर्गः

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
 स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशामिमुखो बभूव ॥ १ ॥
 सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विमानग्रहमन्दभासः ।
 भोक्त्या प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्भूपेषु वेपेषु च साम्यसूयाः ॥ २ ॥
 सांनिध्ययोगात्किल तत्र शक्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभायः ।
 काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥ ३ ॥
 तावत्प्रकीर्णामिनवोपचारमिन्द्रायुधघोतिततोरणाङ्गम् ।
 वरः स बध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥ ४ ॥
 ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु ।
 यभूयुरित्यं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५ ॥
 आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
 यद्गुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्वोऽपि च कैशपाशः ॥ ६ ॥

सातवीं सर्ग

स्वयंवर हो चुकनेपर योग्य पतिले ब्याहो हुई अपनी बहन इन्दुमतीको साथ लेकर विदर्भ-
 नरेश नगरकी ओर चले । अपनी पत्नी इन्दुमतीके साथ जाते हुए राज मेसे लग रहे थे मानो साक्षात्
 देवसेनाके साथ स्कन्द चले जा रहे हों ॥ १ ॥ दूसरे राजा लोग भी मातःकालके तारोंके समान
 अपना उदास मुँह लेकर अपने अपने देरोंमें यह कहते हुए चले गए कि जब इन्दुमती ही नहीं
 मिली तब हम लोगोंका यह रूप और यह पैर रहा किम कामका ॥ २ ॥ उस स्वयंवरमें स्वयं
 इन्द्रायो उपरिपठ धो हुनलिये यहाँ किमीका साहस नहीं हुआ कि कुछ गद्दपई कर सके । यों तो
 जितने द्वारे हुए राजा थे वे सभी घबसे मन ही मन चुनते थे किन्तु इन्द्रायोके रहनेमे उनका भी
 मोच टगा पड़ गया ॥ ३ ॥ उस समय राज अपने पत्नीके साथ नगरके बीचले राजपथपर चले
 जा रहे थे । स्थान-स्थानपर सुन्दर नये फूल उनपर धरताए जा रहे थे और इन्द्रधनुसके समान रंग-
 बिरंगे तौरथ उनके सन्धारमें लगाए गए थे । नगरमें इतनी भण्डियाँ लगाई गई थीं कि भूय भी
 रुक गई थी ॥ ४ ॥ उनकी देगनेके लिये नगरकी सुन्दरियाँ अपना-अपना काम छोड़कर अपने घरोंके
 धरोहरोंकी ओर दौड़ पड़ीं ॥ ५ ॥ एक सुन्दरी उर्द्वे देगनेके लिये जब धरोहरकी ओर लपकी तब
 गहना उगका जूहा गुन गया । उस दृश्यमें अपना जूहा दौड़नेकी भी उसे मुच न रही थीर पड़
 जाने के कारण धागे ही तिडकीपर पड़ गई । पत्नीके शोके पक जानेसे उनमें गुणे हुए फूल

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमालिष्य काचिद्भूवरागमेव ।
 उरसृष्टलीलागतिरागवाहादलक्तकाङ्क्षा पदवीं ततान ॥ ७ ॥
 विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
 तथैव घ्रातापनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरां वहन्ती ॥ ८ ॥
 जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानमिन्नां न वचन्ध नीवीम् ।
 नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थायवस्तम्ब्य घामः ॥ ९ ॥
 अर्धाञ्चित्ता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमित्ते गलन्ती ।
 कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमद्भुष्टमूलापितम्व्रशेषा ॥ १० ॥
 तामां मुसैरामवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
 विलोचनेत्रभ्रमरैर्गवाहाः सहस्रपत्राभरणा इवामन् ॥ ११ ॥
 ता राघवं दृष्टिभिरापिवन्त्यो नायों न जग्मुर्विषयान्तरास्थि ।
 तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ १२ ॥
 स्थाने वृता भूपतिभिः परौवैः स्वयंवरं साधुमर्मस्त भोज्या ।
 पद्मेव नारायणमन्यथासां लमेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ॥ १३ ॥

बराबर नीचे गिरते जाते थे ॥ ६ ॥ एक दूसरी स्त्री अपनी रंगार बरनेवाली दासीसे पैरों में महावर
 लगावा रही थी । वह भी उससे पैर खींचकर गीले पैरों से ही भरोसेकी ओर हींड़ी जिससे मरोसे
 तक लाल पैरोंके धापकी पॉतसी बनती चली गई ॥ ७ ॥ एक तीसरी स्त्री अपनी आँखोंमें अँजन
 लगा रही थी । दाईं आँखमें तो लगा चुकी थी पर बाईं आँखमें अँजन लगाए बिना ही वह सलाहें
 लिए हुए मरोसेकी ओर हींड़ पड़ी ॥ ८ ॥ एक और स्त्री मरोसेमें खींच लगाए रखी थी । उसका
 नाड़ा खुल गया था पर उसे खींचनेकी सुध ही उसे नहीं थी । वह अपने कपड़े हागसे धामे इस
 प्रकार रखी थी कि उसके हाथके अंगूरखोंकी चमक उसकी नाभितक पहुँच रही हो ॥ ९ ॥ एक
 स्त्री घड़ी हुई मणिकोंकी लगदी गूँघ रही थी जिसका एक धोर उसने एक पैरके खँगूटेमें बाँध रक्खा
 था । वह अभी घाघी ही गिरी पाई थी कि सहसा उठकर अगको पैरनेके जिये मरोसेकी ओर खपकी ।
 फल यह हुआ कि वहाँ पहुँचते पहुँचते मणि तो भिक्ख निकलकर इधर उधर गिरत गए, केवल
 बोर भर पाँवमें बँधा रह गया ॥ १० ॥ मद्रिकाके गन्धसे सुगमित गुणोंवाले, मनोखोंमें उन्मुक्तके
 साथ मँकतो हुई ये स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती थींमनो भरोखोंमें बहुतसे कमल सने हुए हों और
 उनपर बहुतसे भौरे बैठे हुए हों क्योंकि उनके सुन्दर मुर्जोर आँखें ऐसी जान पड़ती थीं किने
 कमलपर भौरे बैठे हों ॥ ११ ॥ वे स्त्रियाँ ऐसी एकदक होकर अपने भेदोंसे घमका रूप भी रही थीं
 कि उनका ध्यान किनो और कामकी ओर गया ही नहीं मानो उनकी सय इन्द्रियोंकी शक्ति एक
 आँखोंमें ही घा बसी हो ॥ १२ ॥ [स्त्रियों कापसमें कह रही थीं] यों तो बहुतसे राजाओं ने
 अपने आप आकर इन्दुमतीसे विवाहकी प्रार्थना की थी, पर राजकुमारोंने स्वयंवर करके ही अपना

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
 अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥ १४ ॥
 रतिस्मरौ नूतमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथाहि बाला ।
 गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥ १५ ॥
 इत्युद्गताः पौरवधूम्रखेम्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
 उद्भासितं मङ्गलसंविधामिः संबन्धिनः सद्य समाससाद ॥ १६ ॥
 ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
 वैदर्भनिदिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥ १७ ॥
 महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
 भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥ १८ ॥
 दुकूलधासाः स वधूममीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
 वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिन्न चन्द्रपादैः ॥ १९ ॥
 तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधो हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निरूपः ।
 तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये चधूवरी संगमयांचकार ॥ २० ॥

विवाह करना उचित समझा और यह ठीक भी किया । जैसे स्वयंवरमें लक्ष्मीने नारायणको घर लिया
 वैसे ही इन्दुमतीने भी शत्रुघ्नको घर लिया है । यथाश्रो तो यिना स्वयंवरके उतरे ऐसा योग्य घर कैसे
 मिलता ॥ १३ ॥ यदि प्रकृता इस सुन्दर जोड़ोंकी व मिलताते तो इन दोनोंको सुन्दर बनानेका उनका
 सब परिश्रम ही व्यर्थ जाता ॥ १४ ॥ ये दोनों पिछले जन्ममें रति और कामदेव ही रहे होंगे ।
 इसीलिये तो सहस्रों राजाओंके बीचमें इन्दुमतीने उन्हें प्राप्त कर लिया क्योंकि पिछले जन्मके
 सम्बन्धकी मज तो नली भोंति पदबाण ही सेता है ॥ १५ ॥ नगरकी महिलाओंके मुँहसे इस
 प्रकारकी बातें सुनते हुए कुमार राज अपने सम्बन्धी भोजके उस राज-मन्त्रमें पहुँचे जो संगल
 सामग्रियोंकी सजावटसे जगमगा रहा था ॥ १६ ॥ वहाँ पहुँचकर वे मन्त्रसे हृदिनिसे नीचे उतरे और
 कामरूपके राजके हाथमें हाथ देकर विदर्भराजके बगल हुए भीतरी चौकमें ऐसे बैठ गए मानो ये
 वहाँकी छियोंके मनमें भी बैठ गए हों ॥ १७ ॥ वहाँ वे सुन्दर बहुमूल्य सिंहासनपर जाकर बैठ
 गए । भोजने उन्हें रेशमी बख्तोंके एक जोड़ेके साथ जो [दही, मधु और घी मिला हुआ] मधुपर्क
 भेंट किया उसे उन्होंने वहाँकी बाँकी चितवनके साथ साथ स्वीकार कर लिया ॥ १८ ॥ जैसे
 चन्द्रमाली गईं छिर्यों समुद्रकी उजली भागबालो जहनोंकी खींचकर दूर किनारेतक ले जाती हैं वैसे
 ही रतिवासके नाम सेवक शत्रुघ्नको इन्दुमतीके पास ले गए ॥ १९ ॥ वहाँ विदर्भ-राजके अग्निके समान
 तेजस्वी पुरोहितने घी आदि सामग्रियोंसे हवन करके और उसी अग्निके साथी बनाकर वर वधुका

हस्तेन हस्तं परिगृह्य चञ्चाः स राजपुत्रुः सुवरां चक्रासे ।
 अनन्तराशोकललाप्रनालं प्राप्येद चूतः प्रतिपल्लवेन ॥ २१ ॥
 आसीद्वरः कष्टप्रकोष्ठः स्वित्नांगुलिः संवदते कुमारी ।
 तस्मिन्द्वये तत्त्वणमात्मवृत्तिः मर्मं विभक्तेव मनोभवेन ॥ २२ ॥
 तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि ।
 हीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ २३ ॥
 प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदक्षिपस्तन्मिथुनं चक्रासे ।
 मेरोरुपान्तेधिष्व वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ २४ ॥
 नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
 चकार सा मत्तचकारनेत्रा लज्जारती लाजत्रिसर्गमग्री ॥ २५ ॥
 हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुद्विपाय धूमः ।
 कपोलमंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकणोत्पलतां प्रपेदे ॥ २६ ॥
 तदञ्जनक्रेदसमाकुलाबं प्रम्लानवीजाङ्कुरकर्मभ्रमम् ।
 वधूर्मुखं पाटलगण्डलेसमाचारधूमग्रहशाद्रभूम् ॥ २७ ॥
 तौ स्नातकैर्वन्धुमता च राज्ञा पुरंघ्रिमिष्व क्रमशः प्रयुक्तम् ।
 कन्याकुमारी कनकासनस्थायाद्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥ २८ ॥

गठजोड़ा कर दिया ॥ २० ॥ जैसे आमका पेठ अपनी परियों के साथ अरोक लताकी लटक परियों के मिल जानेसे मनोहर लगता है वैसे ही जब अपने अपनी यहूका हाथ धामा तब वे भी बहुत सुन्दर लगने लगे ॥ २१ ॥ बहूके हाथ भागनेसे अन्नके गहूके पास रोमाच ही आया और हनुमतीकी उँगलियों में पसीना आने लगा । उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानो कामदेवने अपने प्रेमका भाव उन दोनों में बराबर बाँट दिया हो ॥ २२ ॥ वे कवतियों से एक दूसरेकी ओर देखते थे और झौंलें पार होतेही एक दूसरेकी देखकर लज्जासे झौंलें नीची कर लेते थे । उनका यह लाजभरा सकोच देखनेवालोंको क्या सुन्दर लग रहा था ॥ २३ ॥ अन्न और हनुमती जब हवनकी अग्निके फेरे देने लगे उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो दिन और रातरा जोड़ा मिलकर सुमेरु पर्वतकी फेरी दे रहा हो ॥ २४ ॥ तब बड़े बड़े नितम्बों वाली, मत्त अङ्गोरके समान झौंलेंवाली, लजीली हनुमतीने बहूके समान पूण्य पुरोहितके कहनेसे अग्निसँ धानकी झौंलें छोड़ी ॥ २५ ॥ घी, रातोंके पत्तों और धानकी लीलाकी गन्धसे भरा हुआ पवित्र धुआँ अग्निसँ निकलकर जब हनुमतीके कर्णोलतक पहुँचा तब ऐसा जान पड़ा मानो हनुमतीने भीले कमलका कर्णकूल पहन रक्ता ही ॥ २६ ॥ उस विवाहकी अग्निका धुआँ लगनेसे हनुमतीको झौंलें से अग्निसँ मिला हुआ घौँड़ निकलने लगा, कामों के कर्णधूल लुग्दला गप और गाल लाल होगप ॥ २७ ॥ फेरे ही जुबनेपन सोनेके सिंहासनपर बैठे हुए घर बधूके ऊपर स्नातकों ने, वृष्टिमिषों ने, भोजराजने और पुरोहितजीने बारी-बारीसे गीले सपल छौंड़कर अपनीबाँद

इति स्वसुभोजकुलप्रदीपः संपाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
 महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिथीः ॥ २९ ॥
 लिङ्गैर्मुद्रः संवृतविक्रियास्ते हृदाः प्रसन्ना इव गूढनकाः ।
 वैदर्भमामन्त्र्य यद्युस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाञ्छत्नेन ॥ ३० ॥
 स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलम्प्यम् ।
 आदास्यमानः प्रमदामिपं तदावृत्त्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥ ३१ ॥
 भर्तापि तावत्कथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः* ।
 सत्त्वानुरूपाहरणीकृतधीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥ ३२ ॥
 तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गं वसतीरुपित्वा ।
 तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वत्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥ ३३ ॥
 प्रमन्थवः प्रागपि कोशलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।
 अतो नृपश्चक्षुमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥ ३४ ॥
 तमुद्दहन्तं पथि भोजकन्यां रुरीष राजन्वगणः स ह्यसः ।
 वलिप्रदिष्टां श्रियमादानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥ ३५ ॥

दिए ॥ २९ ॥ उस भोज-कुलके दीपक, लक्ष्मोवाग् राजाने अपने बहनका विवाह-संस्कार पूरा करके
 सेवकोंकी आज्ञा दी कि वे अलग-अलग सब राजाओंका आदर सत्कार करें ॥ २९ ॥ जैसे तालके
 निर्मल जलके मोतार ही घड़ियाल रहता है वैसे ही दूसरे राजा भी ऊपरसे तो बड़े प्रसन्न दिखाई देते
 थे पर नगमें बड़े कुदे हुए थे । वे सब विदर्भराजसे आज्ञा लेकर उनकी दी हुई सामग्रीकी भेंटके
 बहानेसे लौटाकर अपने-अपने देशोंकी लौट चले ॥ ३० ॥ इन राजाओं ने मिलकर पहले ही
 निश्चय कर लिया था कि जब अज इन्दुमतीकी लेकर चले तो उन्हें घेर लिया जाय और उनके
 सुन्दरों इन्दुमतीकी लीन लिया जाय इसलिये वे सब मिलकर आगे अजका मार्ग रोककर बीचमें ठहर
 गए ॥ ३१ ॥ इमर छोटी बहिनका विवाह करके विदर्भ-राजने भी अपने सामर्थ्यके अनुसार धन
 देकर रघुके पुत्र अजकी बिदा ली और उनके साथ साथ जाकर कुछ दूरतक उन्हें पहुँचा आए ॥ ३२ ॥
 बुविहनपुरके राजा भोजने तीनों लोकोंमें विख्यात अजके साथ मार्गमें तीन रातों बिताई और फिर
 जैसे ही लौट आए जैसे अमावास्या होनेपर सूर्यके पाससे चन्द्रमा लौट आता है ॥ ३३ ॥ जो राजा
 मार्ग रोकें खड़े हुए थे, उनका कोशल गति रघुने विविधजयके समय धन लीन लिया था इसलिये वे
 पहलेसे ही उनसे घेर मानते थे । इसीलिये वे यह भी नहीं सह सके कि रघुका पुत्र हम लोगोंके
 रहते हुए शिवोंमें रत्न इन्दुमतीकी लेकर चला जाय ॥ ३४ ॥ जब अज इन्दुमती की साथ लिए चले
 जा रहे थे उस समय उन अभिमानी राजाओंने अजको उसी प्रकार रोक लिया जैसे इन्द्रके शत्रु
 इषामुरने यामनके चरणको उस समय रोक लिया था जब वे बलिकी राण लक्ष्मी लेकर चले थे ॥ ३५ ॥

तस्याः स र्वार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सच्चिवं कुमारः ।
 प्रत्यग्रहीन्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण्य इवोत्तरंगः ॥ ३६ ॥
 पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम् ।
 यन्ता गजस्याभ्यपतद्रजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥ ३७ ॥
 नदस्तु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान् ।
 बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोजितं चापमृतः शशांसुः ॥ ३८ ॥
 उत्थापितः संयति रेणुरस्रैः सान्द्रीकृतः स्पन्दनशंशचक्रैः ।
 विस्तारितः कृज्जरकर्षतालेनैत्रक्रमेणोपल्लोघ सूर्यम् ॥ ३९ ॥
 मत्स्यध्वजा वायुवशादिदीर्घमुसैः श्रवृद्धध्वजिनीरजांसि ।
 वृष्टुः पिवन्तः परमार्थमत्स्याः पर्याविलानोव नवोदकानि ॥ ४० ॥
 रथो रथाङ्गणनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नागः ।
 स्वमर्तु नामग्रह्याङ्गभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावयोधः ॥ ४१ ॥
 आनृण्यतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजम्भितस्य ।
 शस्त्रक्षताश्रद्धिपथीरजन्मा शालारुणोऽभृद्दधिप्रवाहः ॥ ४२ ॥

अजने अपने पिताके मंत्रीकी आज्ञा दी कि थोड़ेसे योद्धा साथ लेकर इन्दुमर्वाकी रक्षा करो और
 स्वयं उस सेनाकी रोककर उसी प्रकार लड़े हो गए जैसे वादके दिनोंमें ऊँची तरंगोंवाला शोखानद
 गङ्गाकीभी धाराको रोक लेता है ॥ ३६ ॥ लड़ाई थिर गई । पैदल पैदलोंसे भिड़ गए, रथवाले
 रथवालोंसे जूझ गए, घुड़सवार घुड़सवारोंसे टलकर पड़े, हाथी-सवार हाथी-सवारोंपर दूट पड़े ।
 इस प्रकार परापर जोरकी लड़ाई होने लगी ॥ ३७ ॥ बंदों इतनी गुरदियों बन रही थीं कि जूझ
 सुनाई नहीं देता था । इसलिये धनुषवारी अपना कुल धौर नाम भी नहीं पुकार रहे थे । पर वे जो
 बाण चला रहे थे उनपर लुटे हुए अस्त्रों से ही उनके नामोंका ज्ञान हो जाता था ॥ ३८ ॥ युद्ध-क्षेप-
 में घोड़ोंकी टापोंसे जो धूल उठी, उसमें रथके पहियोंसे उठी हुई धूल मिलकर और भी घनी हो
 गई । हाथियोंके कामोंके हलानेसे ऐसी धूल चारों ओर फैल गई मानी सूर्यको कण्ठसे टक दिया गया
 हो ॥ ३९ ॥ वायुके कारण सेनाकी मञ्जरीके आकार वाली मंडियोंके मुँह खुल गये थे । उनमें जब
 धूल घुस रही थी तब वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो पर्याका गदला पानी पीती हुई सखी मञ्जरीयों हों
 ॥ ४० ॥ धूल इतनी गहरी छा गई थी कि उस युद्ध-क्षेत्रमें पहियोंका शब्द सुनकर ही वे समझ पाते
 थे कि रथ आ रहा है और अपना पराण सत्र समझते थे जब दोनों ओरके सैनिक अपने-अपने राजा-
 योंका नाम ले-लेकर युद्ध करते थे ॥ ४१ ॥ योंको अपने ऊँधरा छा देने वाली और सुदभूमिमें
 पैरों हुई धूलके अधिपारमें, शस्त्रोंसे घायल दोनों, हाथियों और योद्धाओंके शरीरसे निकला हुआ

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्ठात्पवनावधूतः ।
 श्रङ्गारश्लेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे ॥ ४३ ॥
 प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तनुपालस्य निवर्तिताश्चान् ।
 यैः सादिता लक्षितपूर्वकेतुस्तानिव सामर्पतया निजघ्नतुः ॥ ४४ ॥
 अप्यर्धमार्गे परवाणत्क्ष्णा धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः ।
 मंप्रापुरेवात्मजवानुघ्नस्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम् ॥ ४५ ॥
 आधोरणानां गजसंनिपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः ।
 हतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥ ४६ ॥
 पूर्वं प्रहतां न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममध्वसादी ।
 तुरङ्गमस्कन्धनिपण्यदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचक्राहृष्ट ॥ ४७ ॥
 तनुत्पजां वर्मभृतां विकोशैर्दृष्टसु दन्तेभ्यस्तिभिः पतद्भिः ।
 उद्यन्तमग्निं शमयांवभूवुर्गजा विविशाः करशीकरेण ॥ ४८ ॥
 शिलीमुखोत्कृतशिरः फलाक्ष्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चपकोत्तरेव ।
 रणक्षितिः शोणितमद्यकुन्या रराज सृत्पोरिव पानभूमिः ॥ ४९ ॥

लड़, भातःफलके सूर्यकी लाली जैसा लगाने लगा ॥ ४२ ॥ पृथ्वीपर हतना रक्त बहा कि नीचेकी धूल
 दब गई थीर जो धूल उठ चुकी थी वह वायुके सहारे ऊपर-उपर फैलकर उस धुएँ जैसी लगने लगी जो
 अग्नि से उठकर ऊपर फैल चुका हो और नीचे केवल धंगारे धबे रह गए हों ॥ ४३ ॥ जो योद्धा पीट
 लगानेसे मूर्छित हो गये थे उनको उनके हारयो रथपर ढालकर लौटा लाए । पर जब उनकी मूर्छा दूर
 हुई तो वे अपने हारशियोंको बहुत बुरा-भला कहने लगे और जिनकी मारसे वे घायल हुए थे उन्हें
 रणके फण्डोंसे पहचान पहचानकर मारने लगे ॥ ४४ ॥ जिन अनुषंगारियोंके हाथ बाण चलानेमें सधे
 हुए थे उनके धग्य मद्यपि शत्रुओंके बाणोंसे बीचमें ही दो टूट हो जाते थे फिर भी उनमें हतना घेरा
 होता था कि उनकी फल लगा हुआ अगला भाग लक्ष्यपर पहुँच ही जाता था ॥ ४५ ॥ जहाँ द्यधि-
 योंका युद्ध हो रहा था वहाँ पैंने घुरेवाले चक्रों से जिन हाथीवानोंके सिर कट गये थे वे सिर बहुत
 देरते पृथ्वीपर गिरते थे, क्योंकि उनके हत्ये लगने बाल बाजों के नखों में उलकनेसे बहुत देरतक
 ऊपर ही टँगे रह जाते थे ॥ ४६ ॥ एक युद्धमारने अपने शत्रु युद्धमारपर पहले पीटकों । पीट खातेही
 वह धोनेके कन्धेपर झुक गया और उसमें हतनी भी शक्ति न रही कि सिरतक उठा सके । जिस युद्ध-
 सवारने प्रहार किया था उसने यह देखकर फिर उसपर हाथ नहीं बडाया, उलटे यह मनाने लगा कि
 वह फिरसे जी उठे ॥ ४७ ॥ जो कवचधारी योद्धा अपने प्राण हथेलीपर जिए लव रहे थे, उन्होंने
 नंगी चलनासे जब द्यधियोंके दाँतों पर पीटों की सप चिनगाही निकलने लगी । उस चिनगाहीसे
 दायी इतने डर गए कि वे अपनी सूर्यके जलसे उस धागको बुझाने लगे ॥ ४८ ॥ वह युद्धधेव सत्यु-

उपान्तेथोनिष्कृपितं विहंगैराल्पिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि ।
 केयूरकोटिञ्चिततालुदेशा शिवा मृजच्छेदमपाचकार ॥ ५० ॥
 कश्चिद्द्विपत्खड्गमहतोचमाङ्गः सद्यो विमानप्रसृतामुपेत्य ।
 वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कवन्धं समरं ददर्श ॥ ५१ ॥
 अन्योन्यस्रतोन्मथनादभूतां तावेव स्रतां रथिनो च कौचित् ।
 व्यश्रौ गदान्यायतसंप्रहारौ भद्रायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥ ५२ ॥
 परस्परेण क्षतयोः प्रहत्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव ।
 अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरःप्रार्थितयोर्विवादः ॥ ५३ ॥
 व्यूहायुधौ तावितरेतरस्माद्भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम् ।
 पश्चात्पुरोमाहृतयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्वेव महार्णवोर्भी ॥ ५४ ॥
 परेण भग्नेऽपि बले महीजा ययावजः प्रत्यरिसेन्यमेव ।
 धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव बद्धिः ॥ ५५ ॥
 रथी निपङ्गी कवची धनुष्मान्दत्तः स राजन्पकमेकवीरः ।
 निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्भूतमिवार्षवाम्भः ॥ ५६ ॥

देवके उस मदिराजय सा जान पत्र रहा था जिसमें बाणसे भटे हुए सिर ही मानो फल हों, उलटकर गिरे हुए फेंक ही मानो प्याले हों और सहता हुआ रक्त ही मानो मदिरा ही ॥ ४९ ॥ एक स्थानपर कित्तीके बाँझका टुकड़ा कटा पड़ा था जिसे गिद्ध आदि पक्षियोंने नोच रक्ता था । उसे मांसके लोभसे सिवारिन खींच ले गई, पर ज्योंही उसने उसपर मुँह मारा त्योंही बाँझमें चँपे हुए भुजवन्धकी मोकसे उसका तालु छिद् गया और उसने उसे वहींपर धोष दिया ॥ ५० ॥ एक घोड़ाका सिर शत्रुकी तलवारसे कट गया । युद्धमें शत्रु होनेसे यह देवता हो गया और अपने बाएँ एक अप्सरा लिए हुए विमानपर चढ़कर आकाशसे यह देखने लगा कि मेरा भद्र रणभूमिमें किस प्रकार काच रहा है ॥ ५१ ॥ दो घोड़ाश्योंके सारथी मारे जा चुके थे इतलिये वे अपने छात्र रथ भी चला रहे थे और लड़ भी रहे थे । पर जब उनके घोड़े भी मारे जा चुके तब वे रथ से उतरकर पैदल ही गया लेकर लड़ने लगे और जब गर्दण भी टूट गई तब वे सकल-युद्ध करने लगे ॥ ५२ ॥ दो बीर एक दूसरेके प्रहारसे एक साथ मारे गए । दोनों देवता होकर जब स्वर्गमें पहुँचे तब वहाँ एक ही अप्सरापर दोनों रीत गए और वहाँ भी वे आपसमें भगवने लगे ॥ ५३ ॥ जैसे समुद्रकी दो लहरें आगे पीछे मोंका खेनेवाले बायुसे हटती पड़ती रहती हैं वैसे ही वे दोनों सेनाएँ भी कभी जातनी थीं और कभी हारती थीं ॥ ५४ ॥ अथपि शत्रुमोंने घातकी सेनाकी सारकट भगा दिया था पर महापराकमी राज, शत्रुकी सेनामें बइते ही चले गए क्योंकि बायु पुँको भजे ही उपादे पर भग तो बलके सहारे घामकूलको पकवती ही चली जगती है ॥ ५५ ॥ जैसे मलयके समय बराह भगवान समुद्रके बड़े हुए जलकी परिवे हुए चलते थे वैसे ही घोड़ेपर चढ़े

स दक्षिणं तूष्णमुखेन वामं व्यापारयन्हस्तमलक्ष्यताजौ ।
 आकर्ण्यकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मांसीति वायान्सुपुत्रे रिपुमान् ॥ ५७ ॥
 स रोपदष्टाधिकलोहितोष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्बहद्भिः ।
 तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुंकारगर्भैर्द्विपतां शिरोमिः ॥ ५८ ॥
 सर्वैर्यलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटमेदिमिथ ।
 सर्वप्रपत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजहुर्युधि सर्व एव ॥ ५९ ॥
 सोऽस्त्रत्रजैश्छन्नरथः परेषां ध्रजप्रमात्रेण वभूव लक्ष्यः ।
 नीहारमशो दिनपूर्वभागः किञ्चित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥ ६० ॥
 प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः ।
 गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रफान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौघ्यः ॥ ६१ ॥
 ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
 तस्थौ ध्वजस्तम्भनिपणखदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥ ६२ ॥
 ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः ।
 तेन स्वहस्ताजितमेकधीरः पियन्वशो मूर्तेमिवावभासे ॥ ६३ ॥
 शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः ।
 निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥ ६४ ॥

तूष्णीं बंधे स्वाभिमानी बंधे अत्र अकेले हो शत्रुओंको सेनाको चीरते चले जा रहे थे ॥५७॥ वे दूतनी कुर्वीसे वाण चला रहे थे कि वह पता ही नहीं चलता था कि उन्होंने कप धपना हाथ तूष्णीमें डाला और कब वाण निकाला । वरन् ऐसा जान पड़ता था कि वे जब कानतक धनुषकी डोरें खींचते थे तब उसीमेंसे शत्रुओंका नार करनेवाले वाण निकलते चले जा रहे थे ॥५८॥ जिन राजाओंने श्लोथसे चर्पा-चर्पाकर श्लोथोंको छालकर किया था और जो भीहैं तानतानकर टूटकर करते हुए घाने घट रहे थे उनके सिर काट-काट कर अजने पृथ्वी पाट दी ॥५९॥ जय उन राजाओंने यह देखा तब वे रथ, घोड़े और पैदल लेकर कबचतक काट देने वाले पैंने शत्रुओंसे पूरा बल लगाकर एक साथ अजपर प्रहार करने लगे ॥६०॥ इन राजाओंने अजपर इतने अस्त्र धरसाए कि उनका रथ टक गया । जैसे कौहरेके दिन, प्रभात होनेका ज्ञान धुंघले सूर्यको देखकर होता है वैसे ही अजका पता उनके रथकी पताकाके सिरको देखकर ही मिलता था ॥ ६० ॥ तब महाराज रघुके पुत्र, कामदेवके समान सुन्दर, साबधान अजने प्रियवदका दिया हुआ वह गान्धर्व अस्त्र राजाओं पर छोड़ा जिससे निद्रा आ जाती है ॥ ६१ ॥ अस्त्र छोड़ते ही उन राजाओंकी सेनाके हाथ ऐसे रुक गए कि वे अपने धनुषतक न खींच पाए । उनकी पराजिर्मी गिरकर कन्धोंपर झूल गई और सारी सेना अज्ञानोंके दर्शकों सहारे सो गई ॥ ६२ ॥ उस समय इन्दुमतीके चुम्बतका रस लेनेवाले अपने श्रोत्रोंसे शस्त्र फूँकते हुए अज ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने पाहुपक्षने उत्पन्न किए हुए मूर्तिमान यशको हा पी रहे हों ॥ ६३ ॥ शस्त्रकी ध्वनिको पहचानकर

सशोषितैस्तेन शिलीघृत्ताप्रैर्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम् ।
यशो हृतं संप्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्याः ॥ ६५ ॥
स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिर्कर्षणभिन्नमौलिः ।
ललाटवद्धश्रमवारिचिन्दुर्भातां प्रियामेत्य वचो वभाषे ॥ ६६ ॥
इवः परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदभिं पर्यानुमता मयासि ।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैमिः ॥ ६७ ॥
तस्याः प्रतिद्वन्द्विभयाद्विषादात्सद्यो विमुक्तं मुखमावभससे ।
निःश्वासवाष्पापगमात्प्रपन्नः प्रसाद् मात्मीयमिवात्मदर्शः ॥ ६८ ॥
हृष्टापि सा हीविजितान साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत् ।
स्थली नवाम्भःपृषताभिष्टृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रशृन्दम् ॥ ६९ ॥
इति शिरसि स वार्ष पादमाघायराज्ञा-

मुदबहदनवधां तामवद्यादपेतः ।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रुचालकाग्रा
समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्ता बभूव ॥ ७० ॥

अज्ञके घोड़ा लौंड थाए । सोते दुण शत्रुओंके बीच अज्ञ उन्हें ऐसे लगे मानो मुँदे हुए कनलोंके बीचमें चन्द्रमा चमकता हो ॥ ६४ ॥ तब उन मूर्छित पड़े हुए राजाओंकी भवभावों पर शफिरसे सने धारोंकी नोकोंसे यह लिख दिया गया—हे राजाओ ! इस समय राजकुमार अजने तुम लोगोंका यश तो वे लिया पर क्या करके प्राण नहीं लिए ॥ ६५ ॥ अजने अपने शिरका कूँड़ उतारा तो उनके याल छितरा गए, उनके माथेपर पसीना छा गया और धनुषके एक छोरपर बाँह टेककर वे इन्दुमतीके पास आकर बोले ॥ ६६ ॥ इन्दुमती ! खली तो तुम्हें दिखावें कि युद्धभूमिमें राजा लोग इस प्रकार छोए पड़े हैं कि बालक भी उनके शस्त्र छीन लायें । देखो, इसी प्रकार ये तुम्हें मेरे हाथोंसे छीनने चले थे ॥ ६७ ॥ जब इन्दुमतीको विश्वास हो गया कि शत्रु मारे गए तब उसका मुँह उस दर्पणके समान सुन्दर लगने लगा । गिलपर पड़ी हुई साँसकी भाप पौड़ दी गई हो ॥ ६८ ॥ अपने पतिका पराक्रम देखकर इन्दुमती प्रसन्न तो हुई पर वह इसनी जता गई कि उसके मुँहसे उसके स्वागतके लिये शब्द ही नहीं निकले । पर जैसे नये मादलोंकी घूँदोंसे भीगी हुई पृथ्वी मोरके शब्दोंसे मेवाँका स्वागत करती है वैसे ही उसकी सखियोंने जो भजनी प्रशंसा की वह मायो इन्दुमतीने ही उनका अभिवादन किया हो ॥ ६९ ॥ इस प्रकार पवित्र अज्ञ उन राजाओंके विरोधपर भायो पैर रखकर सुन्दरी इन्दुमतीको लेकर चले । उनके रथके घोड़ोंकी टापोंने उठी हुई धूलसे इन्दुमतीके केश भर गए

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य रत्नाध्यजापासमेतम् ।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभून्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ॥ ७१ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अजेनेन्दुमतीपाणि-
अहयौ नाम सप्तमः सर्गः ॥

थे थीर वह साक्षात् विजयलक्ष्मी जैसी जान पड़ रही थी ॥७०॥ रघुकी यह सब समाचार पढ़ते ही मिला
लुका था इसलिये उन्होंने सुन्दरी पत्नीके साथ आग हुए विजयी अजका स्वागत किया थीर फिर उन्हें
कुटुम्बका भार सौंपकर मोरकी साधनामें लग गए, क्यों कि सूर्यवंशी राजाओंका यह नियम है कि
जब पुत्र कुलका भार सँभालनेके योग्य हो जाता है तब वे घरमें नहीं रहते ॥ ७१ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें अजका विवाह
नामक सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ



अष्टमः सर्गः

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं विभ्रत एव पार्थिवः ।
 वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापराम् ॥ १ ॥
 दुरितैरपि कर्तुं भात्मसात्प्रयतन्ते नृपसूनुवो हि यत् ।
 तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्ण्या ॥ २ ॥
 अनुभूय वशिष्ठमभृतैः सलिलैस्तेन सहागिपेचनम् ।
 विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव ॥ ३ ॥
 स वभूव दुरासदः परैर्गुरुषुः शार्थविदा कृतक्रियः ।
 पवनाशिसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदह्नतेजसा ॥ ४ ॥
 रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः ।
 स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि ॥ ५ ॥
 अधिकं शुशुभे शुभंघुना द्वित्रयेन द्वयमेव सङ्गतम् ।
 पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥ ६ ॥
 सदयं बुभुजे महाभुजः सहस्रोद्देगमियं ब्रजेदिति ।
 अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥ ७ ॥

आठवाँ सर्ग

अभी अजने विवाहका सुन्दर मङ्गल-रूप उतारों भी नहीं था कि रघुने अजने हाथोंमें हाथी पृथ्वी इस प्रकार सौंघ दी मानो वह भी दूसरी इन्दुमती हो ॥ १ ॥ जिस राज्यको पानेके लिये दूसरे राजकुमार छोटे उपार्थोंका प्रयोग करनेमें भी नहीं संकोच करते, उसी राज्यको अजने केवल अपने पिताकी आज्ञा मानकर ही स्वीकार कर लिया, भोगकी इच्छासे नहीं ॥ २ ॥ जिस समय अजका राज्यभियेक हुआ उस समय वशिष्ठजीने उनके ऊपर जो पवित्र जल सिद्धका वह पृथ्वीपर भी पड़ा । उसके कारण पृथ्वीसे जो भाव निकली वह मानो यह सूचित करती हो कि उसे भी अजके राजा होनेसे सम्ताप है ॥ ३ ॥ अथर्ववेदके जाननेवाले वशिष्ठजीने जब उनका राज्यभियेक कर दिया तब वे हूतने तेजस्वी हो उठे कि उनके सब शत्रु कौंए गए क्योंकि जब पात्र तेजके साथ ब्रह्मदेव मिल जाता है तब यह पैसा ही पल्लवाली हो जाता है जैसे वायुका सहारा पाकर अग्नि ॥ ४ ॥ वहाँकी मनाने भी अजके राजा होनेपर यही समझा मानो रघु ही फिरसे युवा हो गए हैं क्योंकि अजने केवल रघुकी राज्य-लक्ष्मीकी ही नहीं पाया था परन्तु रघुके सप गुण भी उनमें आ गए थे ॥ ५ ॥ उस समय संसारमें केवल दो ही वस्तुएँ एक दूसरेसे मिलकर सुन्दर जैसी, एक हो पिताका भरापूरा राज्य पाकर अज और दूसरे अजकी नश्रता पाकर उनका भया यौवन ॥ ६ ॥ महाबाहू अजने नहीं पाईं नहीं पृथ्वीका

अहमेव मतो महीपतेरिति सवः प्रकृतिष्वाचिन्तयत् ।
 उदधेरिव निघ्नगाशतेष्ममन्नास्य विमानना क्वचित् ॥ ८ ॥
 न खरो न च भूपसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहामिव ।
 स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपानजुद्धरन् ॥ ९ ॥
 अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवचया ।
 विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥ १० ॥
 गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दित्तीपवंशजाः ।
 पदवीं तद्वल्कवासमां प्रपताः संयमिनां प्रपेदिरे ॥ ११ ॥
 तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः ।
 पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥ १२ ॥
 रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
 न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥ १३ ॥
 स क्लिप्ताश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्रहिः ।
 समुपास्यत पुत्रमोग्रया स्नुषपेनाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥ १४ ॥

पालन वह समझकर दयालुताके साथ करना प्रारम्भ किया कि कहीं अधिक कठोरताका व्यवहार करनेसे वह नई व्याही हुई बहूके समान धरवा म जाय ॥ ७ ॥ वे अपनी प्रजाको बहुत प्यार करते थे । इससे सब लोग यही सोचते थे कि वे हमें ही सबसे अधिक मानते हैं । बात यह भी कि जैसे समुद्र सैकड़ों नदियोंसे एकसा ही व्यवहार करता है वैसे ही वे भी किसीका बुरा नहीं चाहते थे और न किसीसे वैर करते थे ॥ ८ ॥ वे न तो बहुत कठोर थे और न बड़े कोमल । उन्होंने बौधका मार्ग पकड़ा था और अपने शत्रु राजाओंको राजगद्दीसे उतारे बिना ही उनको उसी प्रकार मर दे दिया जैसे मध्यम गतिसे बहनेवाला वायु धूलोंको उखाड़ता तो नहीं पर सुका अवश्य देता है ॥ ९ ॥ जब रघुने देखा कि हमारे पुत्र अजका प्रजामें बड़ा आदर है और वह मली भोंति राज कर रहा है तब उन्हें इतना आश्चर्यमान हो गया कि स्वर्गके उन सुख की चाह भी उन्होंने छोड़ दी जो कभी न कभी नाश हो ही जाते हैं ॥ १० ॥ दिलीपके वशमें जितने राजा हुए वे धृष्टीतीमं सब राज काज अपने गुणवान पुत्रको सौंपकर निवससे देवकी छात्र का वस्त्र पहननेवाले सन्यासियोंके समान जंगलमें चले जाते थे ॥ ११ ॥ इसलिये जब राजा रघु जंगलमें जानेको उद्यत हुए तब अपने मनोहर पगड़ी वाला अपनी सिर उनके चरणोंमें नवाकर प्रार्थना की कि आप मुझे छोड़कर न जाएँ ॥ १२ ॥ अपने पुत्र अजको रघु बहुत प्यार करते थे, इसलिये अजकी आँखोंमें आँसू देखकर वे रक तो गए पर जैसे सौंप अपनी केंचुकी छोड़कर फिर उसे नहीं ग्रहण करता वैसे ही उन्होंने जिस राज्य लक्ष्मीकी एक बार छोड़ दिया फिर स्वीकार नहीं किया ॥ १३ ॥ वे सन्यास लेकर नगरके बाहर एक छुटियामें रहने लगे । जिस भूमिपर उनके पुत्र राज्य कर रहे थे वह जितेन्द्रिय रघुको फल फुल देकर उसी

प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।
 नमसा निभृतेन्दुना तुलासुदिताकेण समारूरोह तत् ॥ १५ ॥
 यतिपार्थिवलिङ्गधारिणी ददशाते रघुराघवौ जनैः ।
 अपवर्गमहोदयार्थयोर्ध्वमंशाविष धर्मयोगतौ ॥ १६ ॥
 अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युजे नीतिविशारदैरजः ।
 अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिमिः ॥ १७ ॥
 नृपतिः प्रकृतीरवेचितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
 परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूर्तं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥ १८ ॥
 अनवत्प्रभुशक्तिसंपदा वशमेको नृपतीननन्तरान् ।
 अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥ १९ ॥
 अकरोदचिरेश्वरः चिनौ द्विपदारम्भफलानि मस्मसात् ।
 इतरो दहने स्वकर्मणां वष्टते ज्ञानमयेन वद्धिना ॥ २० ॥
 पशवन्वमुखान्गुणानजः पटुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।
 रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः ॥ २१ ॥

प्रकार सेवा कर रही थी मानो उनकी पराङ्मुख हो हो ॥ १५ ॥ उक्त समय सूर्य-वश उस आकाशके
 सामान लगा रहा था जिसमें एक ओर चन्द्रमा दिन रहे हों और दूसरी ओर सूर्य निकल रहे हों,
 [क्योंकि एक ओर राजा रघु सम्पास लेकर ज्ञानिनी जीवन विता रहे थे और दूसरी ओर पेशवपंशाली
 अत्र राजा बनकर गहरापर बैठे थे] ॥ १५ ॥ सम्पासनी यने हुए रघु और राजा बने हुए अजको देखकर
 लोगोंने यह समझ लिया कि मोक्ष और ऐश्वर्य देनेवाले धर्मोंके दो शंभु पृथ्वीपर साथ चले आए हैं
 ॥ १६ ॥ एक ओर अज नीति जाननेवाले मन्त्रियोंके साथ दिग्विजयका विचार करने लगे, दूसरी ओर
 रघु भी मोक्ष पद पानेके लिये तत्त्वदर्शी योगियोंके साथ शास्त्र-वर्षा करने लगे ॥ १७ ॥ इधर युवा
 राजा अज जनताके कर्मोंकी देखभाल करनेके लिये म्पासके आसनपर बैठे थे, उधर बूढ़े रघु अपने
 मनकी साधनेका सम्पास करनेके लिये चक्रेनेमें तुलाके पवित्र आसनपर बैठे थे ॥ १८ ॥ अजने तो
 अपने प्रभुत्व और शक्तिसे अज-वासके शत्रु राजाओंको वशमें कर लिया था और रघुने अपने योगबल-
 से शरीरके भीतर रहनेवाले [प्राण, अज्ञान, समान, उद्दान और म्यान इन] पाँचों पदार्थोंको अपने
 वशमें कर लिया था ॥ १९ ॥ अजने पृथ्वीपर शत्रुओंकी सब शक्तें नष्ट कर डालीं और रघुने
 ज्ञानकी दृष्टिसे अपने सारे कर्मोंको राख कर डाला ॥ २० ॥ एक ओर अज [सधि, विग्रह, पान,
 आसन, आश्रय और द्वैधीभाव इन] षड् नीतियोंका परिणाम समझकर प्रयोग करने थे, दूसरी ओर
 मिट्टी और मोना दोनोंको बराबर समझनेवाले रघुने भी प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंको

न नवः प्रभुराफलोदयारिस्थिरकर्मा विरराम कर्मणः ।
 न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ॥ २२ ॥
 इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिपिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ ।
 प्रसिताबुदयापवर्गयोरुभयोः सिद्धिमुभाववाप्तुः ॥ २३ ॥
 अथ काश्चिदज्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
 तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥ २४ ॥
 श्रुतदेहविसर्जनः पितृशिरमश्रूणि विमुच्य राघवः ।
 विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥ २५ ॥
 अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृमक्त्या पितृकार्यकल्पयित् ।
 न हि तेन पथा तनुप्यजस्तनयावजित्पिण्डकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥
 स परार्धर्षगतेशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः ।
 क्षमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥ २७ ॥
 चित्तिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम् ।
 प्रथमा बहुरत्नसुरभूदपरा वीरमजीजनत्सुवम् ॥ २८ ॥

जीत किया ॥ २५ ॥ यह प्रतिज्ञावाले अज जब किसी कामकी उठाते थे तो उसे तपवक नहीं छोड़ते थे जबतक वह पूरा नहीं हो जाता था, वेसे ही स्थिर चित्तवाले रघुने भी तपवक योगक्रिया नहीं छोड़ी जबतक उन्हें परमात्मका दर्शन नहीं हो गया ॥ २२ ॥ इस प्रकार एक और अज सारे संसारके ऐश्वर्यकी प्राप्त करनेमें लगे हुए थे और दूसरी ओर रघु मोक्ष प्राप्त करनेमें लगे हुए थे । अजने अपने शत्रुओंका बदनाम रोककर और रघुने इन्द्रियोंको वशमें करके अपनी-अपनी सिद्धियों प्राप्त कर लीं ॥ २३ ॥ सबको समान समझनेवाले रघुने अजके कहनेसे कुछ वर्ष संसारमें और बिताए । फिर योगवत्से सदा प्रकाशमान, अविनाशी परमात्मामें लीन हो गए ॥ २४ ॥ अपने पिताके देहत्यागका समाचार पाकर अग्निहोष करनेवाले अज बहुत रोए । उन्होंने अपने पिताके शरीरका दाहसंस्कार नहीं किया वरन् योगियोंके साथ उनके शरीरको ले जाकर पृथ्वीमें समाधि दे दी [क्योंकि संन्यासियोंका दाहसंस्कार नहीं किया जाता] ॥ २५ ॥ यद्यपि रघु जैसे सो महात्मा योगवत्से शरीर त्याग करके मुक्त हो जाते हैं उन्हें अपने पुत्रोंसे पिण्डदानकी आवश्यकता नहीं रहती, फिर भी अज तो यह जानते ही थे कि पिताका संस्कार किस प्रकार करना चाहिए । इसलिये उन्होंने बड़ी भक्तिसे अपने पिताके श्राद्ध आदि संस्कार किए ॥ २६ ॥ तत्त्वज्ञानी पण्डितोंने जब अजकी रामकथा कि तुम्हारे पिताने मोक्ष पा लिया है तब उन्हें धीरज हुआ और उनका शोक कम हुआ । तब वे धनुष-बाण लेकर सारे संसारपर एकद्वार राज्य करने लगे ॥ २७ ॥ पृथ्वी और इन्दुमती दोनों अज जैसे महापराक्रमीको पतिके रूपमें पाकर बड़ी प्रसन्न हुईं और बदलेमें पृथ्वीने बहुतसे रत्न उपान्न किए

दशरिभशनोपमव्रति यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
 दशपूर्वार्थं यमास्त्रया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्गुणाः ॥ २९ ॥
 अग्निदेवगणस्त्रयाभुजां श्रुतयागप्रसवेः स पार्थिवः ।
 अनृणात्वमुपेयिवान्धमौ परिधेर्मुक्त इवोप्यदीधितिः ॥ ३० ॥
 यत्नमार्तमयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।
 यसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥ ३१ ॥
 स कदाचिद्वेषितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजा ।
 नगरोपवने शचीसरो मरुतां पालयितेव नन्दने ॥ ३२ ॥
 अथ रोधसि दक्षियोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम् ।
 उपवीणपितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः ॥ ३३ ॥
 कुसुमेर्ग्रथिवामपार्थिवः स्रजमातोषशिरोनिवेशिताम् ।
 श्वहरत्किन्त तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः ॥ ३४ ॥
 अमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः ।
 ददृशे पवनावलेपजं सृजन्नी वाप्यमिमाञ्जनाविस्तम् ॥ ३५ ॥

और इन्दुमतीने और पुत्रकी जन्म दिया ॥ २८ ॥ ये अमरके पुत्र पत्नी थे जो दस सौ किरणोंवाले सूर्यके समान रोगस्त्री थे, तिनका यश दसों दिशाओंमें फैला था, जो इस रामके पिता थे जिन्होंने दस तिरवाले शकलकी मर। या और जिन्होंने पौरुष लोभ दशरथ कहते हैं ॥ २९ ॥ इस प्रकार वेदोंका अध्ययन करके ऋषियोंके ऋणसे, यज्ञ करके देवताओंके ऋणसे और पुत्र उत्पन्न करने अपने पितरोंके ऋणसे मुक्त होकर अन्न धरते ही योगित हुए कैसे मण्डलसे सूटकर सूर्य सीमा देता है ॥ ३० ॥ अपने केवल अपने धनसे ही दूसरोंको लाभ नहीं पहुँचाया परन्तु अपने गुणोंसे भी लोगोंका उपकार किया । क्योंकि अपने पराक्रमसे सौ उम्होंने हीन दुर्बलोंका डर दूर किया और अपने शास्त्रके ज्ञानसे त्रिदार्णोका सत्कार किया ॥ ३१ ॥ एक दिन अश्वि संतानवाले, प्रजापालक राजा अन्न अपनी रानी इन्दुमतीके साथ नगरके उपवनमें ठसी प्रकार विहार कर रहे थे जैसे देवताओंका फलन करनेवाले इन्द्र मन्दन वनमें इन्द्रियोंके साथ विहार करते हैं ॥ ३२ ॥ उसी समय दक्षिणती समुद्रके किनारेपर गोक्षर्म पते हुए शंकरजीको घोषाके साथ माना मुनानेके लिये नारदजी आकाशसे चले जा रहे थे ॥ ३३ ॥ उनकी धीमाके तिरिपर स्वर्गीय फूलोंसे सुधी हुई माखा लटकी हुई थी । कहा जाता है कि उस समय वेगसे चलनेवाले वायुके कारण यह माता खिलककर नाँचे गिर गई मानो वायुने ही मन्थके लोमसे उसे बहलसे उतार लिया हो ॥ ३४ ॥ वह माखा तो गिर गई पर फूलोंके साथ लगे हुए और अती सक नारदजीकी वीणापर सँदरा रहे थे । उम्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो

अभिभूय विभूतिमार्तवीं मधुगन्धातिशवेन वीरुधाम् ।
 नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुरिथितिम् ॥ ३६ ॥
 क्षयमात्रसखीं मुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला ।
 निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचंद्रा तमसेव कौमुदी ॥ ३७ ॥
 वपुपाकरशोऽन्कितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत् ।
 ननु तैलनिपेकविन्दुना मह दीपाचिरुपैति मेदिनीम् ॥ ३८ ॥
 उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः ।
 विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः ॥ ३९ ॥
 नृपतेर्व्यजनादिभिस्तपो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता ।
 प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ॥ ४० ॥
 प्रतियोजयितव्यवहृत्क्रीसमवस्थामथ सत्त्वविह्वलात् ।
 स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्गमङ्गनाम् ॥ ४१ ॥
 पतिरङ्गनिपण्णयी तथा करुणापायविभिन्नवर्णया ।
 समस्तक्षयत विभ्रदाविलां मृगलेखामुपसीव चन्द्रमाः ॥ ४२ ॥
 विललाप स चाप्यगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
 अभितप्तमयोऽपि मादंवं भजते कैव कथा शरीरिणु ॥ ४३ ॥

वायुसे अपमानित होकर वीणा में कमल मिले हुए धुएँ बहने लगी हो ॥ ३५ ॥ उस स्वर्गीय मालामें
 इतना अधिक मधु और इतनी अधिक गन्ध थी कि उसके धामे वसन्तके चूको और लताओंका मधु
 और सुवास लजा जाता था । वही माला अबावक रानी इन्दुमतीके बड़े-बड़े रत्नोंके ठीक बीचमें
 आकर गिरी ॥ ३६ ॥ क्षयमरके लिये अजकी प्रियतमाने अपने रत्नोंकी सखी उस मालाको देखा
 और देखते ही उसने ब्यस्त होकर आँसूँ भूँद लीं मानो चन्द्रमाको राहुने मस लिया हो ॥ ३७ ॥
 प्रणहनी होनेसे वह गिर पड़ी और उसके साथ साथ अज भी गिर पड़े क्योंकि गिरते हुए तैलकी बूँदों-
 के साथ क्या दीपककी लौ पृथ्वीपर नहीं गिर पड़ती ॥ ३८ ॥ उनके जिन सेवकोंने चबराकर रोना-
 चिल्लाना प्रारम्भ कर दिया था उनसे दूरकर मालाओंमें रहनेवाले पत्नी भी इस प्रकार चिल्ला उठे
 मानो वे भी उनके दुःखमें झुली हो ॥ ३९ ॥ पला हुआने और दूसरे उपायोंसे किसी प्रकार अजकी
 मुर्झा तो दूर हो गई पर रानी इन्दुमती ज्यों की त्यों पड़ी रही क्योंकि शीघ्र ही तमी काम करती है न
 जब आशु रोप हो ॥ ४० ॥ तब उस अत्यन्त प्यारे राजाने अपनी मृत पत्नीको अपनी गोदमें उठाकर
 उसी प्रकार रख लिया जैसे तार मिलाने के समय वीणा रख ली जाती है ॥ ४१ ॥ प्राण निवृत्त
 जानेसे इन्दुमतीके शरीरका रंग पीला पड़ गया था । उसे गोदीमें लिटाए हुए राजा वस प्रातःकालके
 चन्द्रमाके सामान दिखाई दे रहे थे जिसकी गोदमें सुधली सुगन्धी छाया हो ॥ ४२ ॥ उनका
 स्वाभाविक धीरज जाता रहा, गला भर आया और वे दाढ़ मारकर रोने लगे, क्योंकि अपनेपर कुछ

कुसुमान्पि गात्रसंगमात्प्रभवन्त्यापुरपोहितं यदि ।
 न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यता विधेः ॥ ४४ ॥
 अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तरुः ।
 हिमसेरुविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥ ४५ ॥
 स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
 विपमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विपमोक्षरेच्छया ॥ ४६ ॥
 अथवा मम भाग्यविप्लवादर्शनिः कल्पित एष वेधसा ।
 यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विदुषाश्रिता लवा ॥ ४७ ॥
 कृतवत्यसि नावधीरखामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि ।
 कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥ ४८ ॥
 ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलास्तव ।
 परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छद्य गतासि मामितः ॥ ४९ ॥
 दयितां यदि तावदन्वगाद्दिनिवृत्तं किमिदं तथा विना ।
 सहतां हतजीवितं मम प्रवलात्मात्मकृतेन वेदनाम् ॥ ५० ॥
 सुरतश्रमतंभृतो मुखे ध्रियते स्वेदलबोधमोऽपि ते ।
 अथ चास्तमिता स्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥ ५१ ॥

मो नरम हो जाता है फिर देहवारिर्बोको तो यात ही क्या है ॥५३॥ [वे रोते हुए कहते जा रहे थे]—
 हाय ! जब कूल भी शरीरको छू कर प्राण ले सकते हैं तब तो देव जब किसीको मारना चाहेगा तब
 किसी भी वस्तुसे मार सकता है ॥ ४४ ॥ या समकते कोमल वस्तुको मारनेके लिये देव कोमल
 वस्तुका ही प्रयोग करता हो, क्योंकि मैंने पहले हा देव लिखा है कि नलिनीको नष्ट करनेके लिये
 पाजा ही बहुत होता है ॥ ४५ ॥ और यदि इस मालामें ही प्राण हरनेकी शक्ति है तो जो मैं भी
 इसे ज्ञातापर रखे होता हूँ पर यह मुझे क्यों नहीं मारे डालतो है । यह ईश्वरकी इच्छा ही तो है,
 कहीं विप भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विप हो जाता है ॥ ४६ ॥ या वह मेरा
 दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि विघाताने इस मालाको ऐसी बिजली बनाकर गिराया है जिसने
 वेदकी तो छोड़ दिया पर उसके साथ लिपटी हुई जलाकी जला दिया ॥ ४७ ॥ हे इन्दुमता ! मैंने
 बहुत अपराध किए पर तुमने कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया फिर आज एकाएक विना अपराधके
 ही तुम मुझे यात करनेके योग्य भी क्यों नहीं समझ रही हो ॥ ४८ ॥ हे मधुर हँसी हँसनेवाली !
 तुमने सचमुच यह समझा है कि मैं तुमसे भृता प्रेम करता हूँ हृत्सलिये तो मुझसे विना पूछे तुम
 सद्गके लिये परलोकको चल थीं ॥ ४९ ॥ मेरे ये नीच प्राण जब विघाके साथ साथ एक बार चले
 गए थे तब ये लौट क्यों आए । जब इनकी करनी ही ऐसी है तब ये भोगें हुए । मैं क्या कर सकता
 हूँ ॥ ५० ॥ अभी तुम्हारे मुँहपरसे सम्भोगकी थकावटके पत्तनेकी बूँदें भी नहीं सूँधी और तुम चल

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
 ननु शब्दपतिः चित्तेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥ ५२ ॥
 कुमुतोत्सचितान्वलीभृतश्चलयन्मृङ्गरुचस्तवालकान् ।
 करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥ ५३ ॥
 तदपोहितुमर्हसि प्रिये प्रतिबोधेन विपादमाशु मे ।
 ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुद्दिनाद्रेरिव नक्तमोपधिः ॥ ५४ ॥
 इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
 निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विस्ताभ्यन्तरपद्पदस्वनम् ॥ ५५ ॥
 शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतस्त्रिणाम् ।
 इति तौ विरहान्तरवमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥ ५६ ॥
 नवपन्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
 तदिदं विपहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥ ५७ ॥
 इयमप्रनिबोधदायिनीं रशना त्वां प्रथमा रहःसखी ।
 गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥ ५८ ॥
 कलमन्यभृतासु भापितं कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
 पृपतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥ ५९ ॥

पत्नीं । पिछार है मनुष्यकी इस नश्वरताको ॥ ५१ ॥ मैंने कभी मनसे भी तुम्हारी बुराई नहीं की, फिर
 तुम मुझे क्यों छोड़े जा रही हो । [सत्य पूछो तो] मैं श्रेयोका पति तो नाम भरको हूँ; मेरा सच्चा
 प्रेम तो केवल तुमसे ही है ॥ ५२ ॥ हे सुन्दर जाँधोंवाली ! कुलोंसे गुँथो और भीरों के समान काली
 तुम्हारी लट्टें जब वायुसे हिलती हैं तब मेरे मनमें यही आशा होने लगती है कि शय तुम शवश्य जी
 उठोगी ॥ ५३ ॥ इसलिये हे प्रिये ! जैसे रातमें चमकनेवाली वृष्टियाँ थपने प्रकाशसे हिमालयकी
 छँधेरी गुफामें भी चोँदनी कर देती हैं वैसे ही तुम भी फिरसे जागकर मेरा दुःख मिटाओ ॥ ५४ ॥
 मौन भीरोंसे भरे हुए और रातमें मुँदे झरने कनलके जैसा लगनेवाला तुम्हारा विलसते जलकोंसे ढका
 मौन मुख देखकर मेरा हृदय फटा जा रहा है ॥ ५५ ॥ देखो चन्द्रमाको रात्रि फिर मिल जाती है,
 चक्रवर्ती चक्रकी भी प्रातः मिल ही जाती है, इसलिये उन्हें विद्रोहका दुःख भोगी ही देरतक रहता है
 पर तुम तो सदाके लिये चली जा रही हो, फिर बताओ मैं विरहकी आगमें जलकर क्यों न भस्म हो
 जाऊँ ॥ ५६ ॥ कोमल पल्लवोंका बिल्वीना भी जिसके शरीरमें चुभता था, हे सुन्दर जंघावाली ! बताओ
 वही शरीर चितापर कैसे चढ़ सकेगा ॥ ५७ ॥ क्या तुम नहीं देख रही हो कि तुम्हारी हावभरी
 चालके बन्द हो जानेसे तुम्हारी एकान्त सखी यह तगधी भी तुम्हें सदाके लिये सोती देखकर तुम्हारे
 शोकमें मरी सी दिखाई दे रही है ॥ ५८ ॥ तुम्हारी मीठी बोलनी कोयलोंने ले ली, तुम्हारा धीरे-धीरे
 चलना कजलसिनियोंके से लिया, तुम्हारी चंचल चितवन हरिणियोंको मिल गई और तुम्हारा जुल-

त्रिदिवोत्सुक्याप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
 विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्वचलम्बितुं चमाः ॥ ६० ॥
 मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ ।
 अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसांप्रतम् ॥ ६१ ॥
 कुसुमं कृतदोहदरस्त्वया यदशोकोऽपमुदीरयिष्यति ।
 अलमाभरणं कथं नु तच्च नेष्यामि निवापमान्यताम् ॥ ६२ ॥
 स्मरतेव सशब्दन् पुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
 अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे ॥ ६३ ॥
 तव निःश्वसितानुहारिभिर्वकुलैरर्धचितां समं मया ।
 असमाप्य विलासमेसलां किमिदं किन्नरकण्ठ सुप्यते ॥ ६४ ॥
 समदुःखसुखः सखीजन प्रदिपचन्द्रनिभोऽयमात्मजः ।
 अहमेकरसस्तथापि ते न्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥ ६५ ॥
 धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुनिस्तसवः ।
 गतमाभरखप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ ६६ ॥

तुलापन वायुसे हिलती हुई लताओं में पहुँच गया ॥ ५९ ॥ अपने स्वर्ग जानेकी उतावलीमें यद्यपि तुमने मुझे यहलानेके लिये अपने गुण यहाँ छोड़ दिए पर तुम्हारे विछोहसे तो मैं इतना अपीर हो गया हूँ कि इन सबले मेरे हृदयको किसी प्रकार भी सन्तोष नहीं मिल रहा है ॥ ६० ॥ विये ! तुमने उस आम और भिर्गुलवाका विवाह ठीक किया था । इन दोनोंका विवाह किए बिना तुम्हारा जाना ठीक नहीं ॥ ६१ ॥ देली ! जिस अशोककी तुमने अपने चरणोंकी ठोकर लगाई थी वह जब भागे चलकर फूलेगा तब तुम्हारे पैरोंकी समानेवाले अगके फूलोंकी मैं जलदानकी अजलिमें कैमे ले सकूँगा ॥ ६२ ॥ हे सुन्दरी ! तुम्हारे झनझनाते विद्युर्घोवाले चरणकी ठोकर किसीको नहीं मिलती पर तुमने यही कृपा करके उस अशोकको ठोकर लगाई थी । अब उन तुम्हारे चरणोंकी कृपाकी स्मरण करके हो यह अशोक वृष फूलोंके चौरु वरसाकर तुम्हारे लिये रो रहा है ॥ ६३ ॥ हे मरु-भाषिणी ! अपने श्वासके समान सुगन्ध वाले मीलसिरी के फूलोंकी जो सुन्दर नाला तुम मेरे साथ गूँव रही थी उसे अर्धगुँथो हो छोड़ कर क्यों सी रही हो ॥ ६४ ॥ तुम्हारे सुल दुःखकी साथी ये सखियाँ रची हैं, सुख पथके अन्धमाके समान प्रसन्न सुखवाला तुम्हारा पुत्र भी यही है और तुम्हारा अनन्य प्रेमी मैं भी तुम्हारे पास हूँ, फिर हम लोगोंकी छोड़कर चले जानेकी जो तुमने ठान ली है यह तुम्हारी बड़ी बढोरता है ॥ ६५ ॥ आज मेरा धीरज छूट गया, अगनन्द जाता रहा, गंगा पजाना दूर गया, अतुष्ट फीकी पद गई, पहनना-ओढ़ना बेकाम हो गया और शीवा भी सूनी हो गई ॥ ६६ ॥

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
 करुणाविम्वखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥ ६७ ॥
 मदिरावि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे ।
 अनुपास्यसि वाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥ ६८ ॥
 विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गणयताम् ।
 श्रूतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः ॥ ६९ ॥
 विलपन्निति कोशलाधिपः करुणार्थमथितं प्रियां प्रति ।
 अकरोत्पृथिवोरुहानपि स्तुतशास्त्रारसवाष्पदूषितान् ॥ ७० ॥
 अथ तस्य कथंचिदङ्कृतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम् ।
 विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायानैरुचन्दनैधसै ॥ ७१ ॥
 प्रमदामग्न संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात् ।
 न चकार शरीरमग्निसात्सह देव्या न तु जीविताशया ॥ ७२ ॥
 अथ तेन दशाहतः परे गुणश्रेषामुपदिश्य भामिनीम् ।
 विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥ ७३ ॥
 स विवेश पुरीं तया विना क्षुब्धदापायशशाङ्कदर्शनः ।
 परिवाहमिवावलोकयन्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु ॥ ७४ ॥

गुम्हीं मेरी स्त्री थी, सम्गति देनेवाली मित्र थी, एकान्तकी सखी थी और गान विद्या आदि कलाओं-
 के ललित कार्योंमें शिष्या थी । तुम्हें यताश्रो तुम्हें मुझसे छीनकर निर्दयी विधाताने मेरा क्या नहीं
 छीन लिया ॥ ६७ ॥ हे मदभरे नयनोंवाली ! तुमने मेरे मुँहसे छूटे हुए रसादिष्ट घ्रासवको पीया है,
 अब तुम श्रोत्रियोंके जलसे मिथो हुई गँदली जलाञ्जलिको परलोकमें कैसे पी सकोगी ॥ ६८ ॥ इतना
 पेरवर्ष होनेपर भी तुम्हारे विना शत्रुका सारा सुख मिट्टी हो गया है क्यों कि मुझे और किसी वस्तुसे
 तो प्रेम है नहीं, मेरे लो मय सुखोंका केन्द्र गुम्हीं थी ॥ ६९ ॥ जब कोशलनरेश अज अपनी प्रियाके
 लिये इसप्रकार शोक करके रो रहे थे उस समय उन्हें देखकर वृष भी मानो अपनी शाखाओंसे रस
 बहाकर रोने लगे ॥ ७० ॥ क्रुद्धमिषयोंने अजकी गोदीसे ज्यों ज्यों करके हन्दुमतीका शरीर हटवाया और
 उसी पुष्पमालासे उसका शंभार करके शगर और चन्दनकी लकड़ियोंसे उसका दाह संस्कार किया
 ॥ ७१ ॥ अपनी पत्नीके वियोगमें राजा अज इतने व्याकुल हो गए कि उन्हें जीनेकी साध जातो
 रही किन्तु वे हन्दुमतीके साथ इसलिये चिता पर नहीं चढ़े कि कहीं लोग यह न कहने लगे कि राजा
 अजने विद्वान् होकर भी अपनी स्त्रीके पीछे प्राण दे दिए ॥ ७२ ॥ जिस हन्दुमतीके केवल गुण भर
 बचे रह गए थे उस प्रियाके सब किया कर्म शास्त्र जानने वाले अजने दस दिन पीत जानेपर उसी
 उपवनमें बड़े धूम-धामसे पूरे किए ॥ ७३ ॥ हन्दुमतीके वियोगमें अज ऐसे उदास लगने लगे जैसे
 रात पीत जानेपर चन्द्रमा मन्द पड़ जाता है । जब वे नगरमें पुसे तब उन्हें देखकर नगर भरकी

अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः ।
 अभिपङ्कजडं विजङ्गिवानिति शिष्येण क्लान्त्वबोधयत् ॥ ७५ ॥
 असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तथ विद्वानपि तापकारणम् ।
 न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥ ७६ ॥
 मपि तस्य सुवृत्तं वर्तते लघुमदेशपदा सरस्वती ।
 भृशु विश्रुतसञ्चसारं तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥ ७७ ॥
 पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीर्तं च भवच्च भावि च ।
 स हि निष्प्रतिषेधेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥ ७८ ॥
 चरत्तः किल दुश्चरं तपस्तृणविन्दोः परिशङ्कितः पुरा ।
 प्रजिघास समाधिमेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥ ७९ ॥
 स तपःप्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम् ।
 यशपद्भ्य मात्तुपीति तां शमवेलाप्रलपोमिषा भुवि ॥ ८० ॥
 भगवन्परशान्धं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे ।
 इति चोपनतां चितिसृष्टं कृतवाना सुरपुष्पदर्शनात् ॥ ८१ ॥
 कथकैशिकवंशसंभवा तव भूत्वा महिषी चिराथ सा ।
 उपलब्धवती दिवश्च्युतं विवशा शापनिवृत्तिहारणम् ॥ ८२ ॥

खिली फुट-फुटकर रोने लगीं मानो अजक शोक इतनी शॉलोंसे यह निकला हो ॥ ७४ ॥ उन दिनों
 वशिष्ठजी यज्ञ कर रहे थे । उन्होंने आधमर्मे ही योगबलसे रातके शोकका कारण जान लिया और एक
 शिष्यसे अज्ञके पास सन्देश भेजा । शिष्यने अज्ञसे शाकर कहा— ॥ ७५ ॥ वशिष्ठ मुनिका यज्ञ
 समाप्त नहीं हुआ है हमलिये आपके दुःखको जानते हुए भी न तो वे शा ही लके और न थापको इस
 शोकमें धीरज हो सँवा सके ॥ ७६ ॥ हे सचरित्र राजा ! मैं उनका एक झेठारा सन्देश लाया हूँ,
 उसे आप धीरज रखकर सुनिष्ट और समझिए ॥ ७७ ॥ वे अपने ज्ञानके नेत्रोंसे तीनों लोकोंकी बातों
 हुई, होती हुई और होनेवाली सभी बातें जानते हैं ॥ ७८ ॥ एक बार तृणविन्दु नामक ऋषि तप कर
 रहे थे । उनकी लक्ष्मणसे टकरकर इन्द्रने उनका तप भंग करनेके लिये हरिणी नामकी घप्सरा भेजी
 ॥ ७९ ॥ जैसे प्रलवहालकी लहर समुद्र तटको गिरा देती है वैसे ही ऋषिका तप टिगानेके लिये वह
 घप्सरा यहाँ पहुँची । घप्सराको देखते ही मुनिने शोषित होकर शाप दिया कि जा तू संसारमें मनु-
 ष्यकी स्त्री हो ॥ ८० ॥ शाप सुनते ही घप्सरा घबरा उठी । वह हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाकर बोली—
 हे भगवन् ! मैंने दूसरों के कहनेसे यह काम किया है, मेघ इसमें कुछ भी दोष नहीं है, मुझे क्षमा
 कीजिए । इसपर ऋषिने कहा—जब तक तुम्हें स्वर्गीय पुण्य नहीं दिलाई पढ़ेंगे तबतक तुम्हें पृथ्वीपर
 रहना ही पड़ेगा ॥ ८१ ॥ रही घप्सरा कथकैशिक (विदर्भ) वंशमें जन्म लेकर सुम्हारी रागी हुई और इतने
 दिनोंपर जैसे ही उसे स्वर्गीय पुण्य दिलाई पड़े, वैसे ही वह शापसे छुटकर शरीर छोड़कर खली गई

तदलं तदपायचिन्तया त्रिपटुत्पत्तिमतामुपस्थिता ।
 वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृताः कलत्रिणः ॥ ८३ ॥
 उदये मदवाच्यमुञ्जना श्रुतमाविष्कृतमात्मवच्यया ।
 मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरङ्गीचतया प्रकार्यताम् ॥ ८४ ॥
 रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते ।
 परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥ ८५ ॥
 अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्य निवापदत्तिभिः ।
 स्वजनाश्रु क्लितातिसंततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥ ८६ ॥
 मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।
 क्षणमप्यवतिष्ठते स्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ ८७ ॥
 अथगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शन्यमार्पितम् ।
 स्थिरघोस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्रघृणम् ॥ ८८ ॥
 स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंपोगविपर्ययो यदा ।
 विरहः किमिवानुतापयेद्दद वाञ्छैर्विषयैर्विपरिचतम् ॥ ८९ ॥

॥ ८२ ॥ इसीलिये अब थाप उसकी सुरुका शोक न कीजिए, क्योंकि जो जन्म लेता है वह मरता ही है । इसलिये सब शोक छोड़कर साजवान होकर थाप पृथ्वीका पावन कीजिए, क्योंकि राजा-
 शौकी सबकी सहस्रमंवारिणी तो पृथ्वी है ॥ ८३ ॥ देखिये पावर राजा लोग नतवाले हो जाते हैं,
 किन्तु थाप सुखके दिनोंमें भी इस अपपरासे बचे रहे और अभिमान छोड़कर अपने अपने आत्मज्ञानका
 परिचय दिया । जैसे ही इस दुःखके समयमें भी धोरत धरकर थाप फिर उसी अध्यात्मज्ञानका प्रकाश
 कीजिए ॥ ८४ ॥ रोनेकी तो बात ही क्या, यदि थाप मर भी जायें तब भी इन्दुमती थापको नहीं मिल
 सकती, क्योंकि मरनेपर सब प्राणी अपने-अपने कर्मके अनुसार अलग-अलग मार्गसे जाते हैं ॥ ८५ ॥
 थाप थाप सब शोक छोड़कर विण्डवान आदि करके अपनी पत्नीका परलोक सुधारिए क्योंकि शास्त्र
 कहते हैं कि जब ब्रह्मर्षी बहुत रोते हैं तब उससे प्रेतारमाको बड़ा कष्ट होता है ॥ ८६ ॥ देखिए,
 जितने देह धारण की है उसका मरना तो स्वाभाविक है । विद्वानोंका तो यह कहना है कि वास्तवमें
 जीना ही यदा भारी विकार है । इसलिये प्राणी जितने देह जी जाय उतनेसे ही उसे सन्तोष
 करना चाहिए ॥ ८७ ॥ विषयनकी मृत्युको मूर्ख लोग वैसा ही कष्टकारक मानते हैं जैसे छातोंमें कौल
 गद गई हो, पर विद्वान् लोग यह समझते हैं कि जो मर गया वह सब भ्रमोंसे छूट गया । उनकी
 मनकमें मृत्यु वैसा ही सुख देती है जैसे हृदयमें गद्दी हुई वील निकालने पर होता है ॥ ८८ ॥
 थापही यथाह्व कि जब शरीर शीर आत्मा भी आपसमें बिदुहनेवाले माने गए हैं, तब पुत्र, स्त्री आदि

न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम गन्तुमर्हसि ।

द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥ ९० ॥

स तयेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य बचो विससर्ज मुनिम् ।

तदलम्बपदं हृदि शोकघने प्रतिपातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥ ९१ ॥

तेनाष्टौ परिगमिता समाः कथंचिद्दुःखालत्वादवितथसञ्जतेन स्रुतोः ।

सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥ ९२ ॥

तस्य प्रसन्न हृदयं किल शोकशंकुः सलप्ररोह इव सौधतलं विभेद ।

प्राणान्बहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥ ९३ ॥

सम्यग्भिन्नोत्तमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रचयविधौ विधिवत्प्रजानाम् ।

रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्विभूव ॥ ९४ ॥

तीर्थतोयवपतिकरमवे जह्नुर्न्यासरन्वोदेंहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।

पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ स्त्रीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाम्यन्तरेषु ॥ ९५ ॥

इति महाकविभ्रीकालिदासरचनी रघुवंशे महाकाव्ये
अज्ञयिलापौ नाम अष्टमः सर्गः

बाहरी संबन्धियों के विद्योद्देशे विद्वानोंको क्यों दुःख हो ॥ ८९ ॥ और फिर प्राण तो जिनेन्द्रियों में

संश्लेष है । प्राण साधारण लोगों के समान शोक मत कोत्रिप । यदि श्वेत भी वृक्षकी अति शर्धासे

हिल उठेगा तो उन दोनोंमें अन्तर ही क्या रहा ॥ ९० ॥ विशाख शिषक मुद्र यशिष्टजीका उपदेश

राजाने रक्षीकार किपा और उनके शिष्यको इस प्रकार विद्वा ही मानो अपने शोकभरे हृदयमें स्थान न

दे सकनेसे उनका उपदेश ही लौटा दिया हो ॥ ९१ ॥ मिय, सधभाषी अजने अपने पुत्रके बचपनका

ध्यान करके और प्रियाके चित्रकी देख-देकर तथा स्वप्नमें प्रियासे लुण भरके समागमका आनन्द लेकर

किन्ही प्रकार आठ वर्ष कष्ट दिए ॥ ९२ ॥ कहा जाता है कि जैसे बच्ची जयार्दे मवर्की लकीको उद-

कर नीचे घुस जाती हैं वैसे ही शोककी बर्झाने राजा के हृदय को यत्पूर्वक आरपार खेप दिया था ।

पर अपनी प्रियाके पीछे प्राण देनेको वे इनने उतावले थे कि उन्होंने प्राण हर लेनेवाली और वीरोंसे

अच्छी न होने वाली उस शोककी बर्झाने भी सहायक ही समझा ॥ ९३ ॥ तप सुशिक्षित कवचधारी

कुमार दशरथकी शासके यजुसाह प्रजाका पालन करनेका उपदेश देकर वे रोगी शरीरसे मुटकारा जानेके

लिए अनशन करने लगे ॥ ९४ ॥ थोड़े दिनोंमें ही गंगा और सरयूके संगमपर उन्होंने अपना

शरीर छोड़ दिया और तत्काल देवता बनकर पहले शरीरसे भी अधिक सुन्दर शरीरवाली भायोंके साथ

धन्वन् बनके खिलास-वनों में विहार करने लगे ॥ ९५ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें
अज्ञयिलाप नामका अठवें सर्ग समाप्त ॥

नवमः सर्गः

पितुरनन्तरमुत्तरकोश्लान्समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
 दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥ १ ॥
 अधिगतं विधिवद्यदपालयत्प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम् ।
 अभवदस्य ततो गुणवत्तरं सनगरं नगरभ्रकरौजसः ॥ २ ॥
 उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम् ।
 चलनिपूदनमर्थपतिं च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम् ॥ ३ ॥
 जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः ।
 क्षितिरभूत्फलवत्यजनन्दने शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे ॥ ४ ॥
 दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम् ।
 तमधिगम्य तथैव पुनर्वभौ न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥ ५ ॥
 समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः ।
 अनुययी यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाप्रसरं रुचा ॥ ६ ॥

नवौ सर्ग

संवत्सरे शपत्री इन्द्रियोंको जीत लेनेवाले घोषियोंमें और प्रजावा पालन करनेवाले राजाओंमें सर्वश्रेष्ठ दशरथजीने शपने विताके पीछे उत्तर कोशलका राज्य बड़ी योग्यतासे संभाला ॥ १ ॥ क्रीड पहाड़को फाड़ देनेवाले कार्तिकेयके समान वे मलवान थे । उन्होंने अपने पुरखों से पाई हुई राजधानी और मण्डलोंको ऐसे ऋते ढंगसे पालन किया कि सारी प्रजा उन्हें पहलेके सभी राजाओंसे बढ़कर मानने लगी ॥ २ ॥ विद्वानोंका कहना है कि सत्तारमें दो ही तो ऐसे हुए हैं जिन्होंने कर्तव्य पालन करनेवाले लोगोंको उनके परिश्रमका ठीक ठीक पुरस्कार दिया है । उनमें से एक तो है इन्द्र जिन्होंने समयपर वर्षा करके किसानोंका परिश्रम सफल किया और दूसरे हैं मनुष्यों दशरथ, जिन्होंने सुकर्मियोंको धन देकर उनका पालन-पोषण किया ॥ ३ ॥ दशरथजी देवताओंके समान सेजस्वी थे और उनका मन भी सब प्रकारसे शान्त था । राज्यकी दायमें लेते ही उनका देश धन-धान्यसे भर गया, रोग भी उनके राज्यकी सीमामें पैर न रख सके, फिर शत्रुओंके आक्रमणकी तो संभावना ही नहीं थी ॥ ४ ॥ जैसे दसों दिशाओंके जीतनेवाले रघुने और उनके पीछे उनके पुत्र अत्रने पृथ्वीकी शोभा बढ़ाई थी उसी प्रकार उन्हीं दोनोंके समान रुचिशाली महापराक्रमी दशरथकी पाकर पृथ्वीकी शोभा न बढ़ी हो यह बात नहीं है ॥ ५ ॥ जैसे राम सनको एक समान समझते हैं वैसे ही वे भी सबसे एक सा व्यवहार करते थे । जैसे सुधेर धन बरसाते हैं वैसे ही वे भी धन बाँटते थे । जैसे वरुण दुष्टोंको दब देते हैं वैसे ही वे भी दुष्टोंको दंड देते थे और जैसे सूर्यका बढ़ा पैज है वैसे ही उनका भी पैज था ॥ ६ ॥

न मृगयामिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
 तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यत्मानमपाहरत् ॥ ७ ॥
 न कृपणा प्रभवत्यपि व्रासने न वितथा परिहासकथास्वपि ।
 न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपलया परुषाच्चरमीरिता ॥ ८ ॥
 उदयमस्तमयं च रघुद्रहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः ।
 स हि निदेशमलङ्घयतामभूत्सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्जताम् ॥ ९ ॥
 अजयदेकरथेन स मेदिनीप्लुदधिनेमिमघिज्यशसासनः ।
 जयमघोपयदस्य तु केवलं राजवती ज्वतीप्रदया चमूः ॥ १० ॥
 अचनिभेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्मृतः ।
 विजयदुन्दुमितां ययुरर्षवा घनरवा नरवाहनसंपदः ॥ ११ ॥
 शमितपद्मवलाः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरंदरः ।
 सशरवृष्टिमुखा धनुषा द्विषां स्वनवता नवताभरसाननः ॥ १२ ॥
 चरषयोर्नखरागसमृद्धिमिर्मुकुटरत्नमरीचिमिरस्पृशन् ।
 नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमस्यिडितपौरुषम् ॥ १३ ॥
 निवधृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितवालसुताङ्गलीन् ।
 समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम् ॥ १४ ॥

सान्नायिक पेरपर्यकी कठोरनेमें ये ऐसे लगे हुए थे कि आगेंडका व्यसन, जयका लेख, चन्द्रमाकी परझरि
 पकी हुई मदिना और नवयौवना पत्नी, कोई भी उन्हें न लुमा सका ॥ ७ ॥ ये इतने मनरवी थे कि
 इन्द्रतकके आगे ये कभी नहीं गिबगिहाए, हँसोमें भी उन्होंने कृठ नहीं बोला और मोहित होनेकी सो
 धात ही दूर है, उन्होंने अपने शत्रुको भी कोई कठोर शब्द नहीं कहा ॥ ८ ॥ उन रघुकुलमें श्रेष्ठ
 दशरथके हाथों पहुँचते राजा बने और यहुत से निगड़े क्योंकि जो उनकी कहा मान लेते थे उन्हें तो
 ये इया करके झोड़ देते थे पर जो घुँटकर उनसे टकर लेते आते आते थे उन्हें वे मिटाकर ही छोड़ते थे
 ॥ ९ ॥ एक भयुष लेकर और अकेले एक रथपर चढ़कर ही उन्होंने समुद्रतक पैको हुई तारी पृथ्वी
 जीत ली । वेगड़े चलनेवाले हाथों-धोकोकी उनकी सेना तो फेवल जब जगकार भर पनती थी ॥ १० ॥
 जिस समय अकेले सुरचित रथपर चढ़े हुएके समान सम्भतिशाली धनुषधारी दशरथकी पृथ्वी जीतते
 हुए चलते थे । उस समय यादलके समान गरजता हुआ समुद्र उनकी विजय दुन्दुमां पजाता था ॥ ११ ॥
 जैसे इन्द्रने अपने ही नोकोवाले बज्रते पर्वतोंके पल काः दिष्ट थे वैसे ही नये कमलके समान सुन्दर
 सुरवाले दशरथजीने अपने साथ परसनेवाले धनुषने शत्रुकोके मारकर विष्ठा दिया ॥ १२ ॥ और
 जैसे देवता लोग इन्द्रके परस घूते हैं वैसे ही सैकड़ों राजाओं ने पराक्रमी दशरथके चरणोंपर अपने
 ये मुकुट वाले स्त्रि रथ त्रिप जिन्के मखि दशरथजीके परके ननोंकी ललाई से दमक दहते थे ॥ १३ ॥
 उन्होंने जिन जिन देशोंके राजाओंको मार डाला था उतकी रानियाँ अपने पुत्रोंको छेकर राजा दश-

उपगतोऽपि च मण्डलनामितामनुदितान्यसितातपवारणः ।
 श्रियमवैक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः ॥ ११ ॥
 तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमारमभवं च पतिव्रता ।
 नृपतिमन्पमसेवत देवता सकमला कमलाधवमधिषु ॥ १६ ॥
 तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः ।
 मगधकोशलकैक्यशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥ १७ ॥
 प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्वभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः ।
 उपगतो विनिनीपुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥ १८ ॥
 स किल संयुगमूर्ध्नि सहापतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः ।
 स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुखधूरवधूतमयाः शरैः ॥ १९ ॥
 क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्बसुना कृताः ।
 कनकपुपसमुच्छ्रयशोभिना वितमसा तमसाक्षरयूतटाः ॥ २० ॥

रथके आगे आई और उन देशोंके गंत्रियोंने उन राजपुत्रोंको दशरथके नामे हाथ जोड़कर खड़ा कर दिया । उन सुले देशवाली शत्रुओंकी रानियोंके साथ दशरथजीने बड़ी दयाका व्यवहार किया और उस महासमुद्रके तटसे वे अपनी उस अबोध्या राजधानीको लौट आए जो पृथ्वीको राजधानी अलकसे किली प्रकार कम नहीं थी ॥ १४ ॥ चारों ओरके राजाओंका मण्डल उनके हाथमें आ गया जिससे वे अग्नि और चन्द्रमाके समान वैजस्वी लगने लगे । उनका प्रताप इसना यद गया कि उनके आगे कोई भी दूसरा राजा श्वेत द्रुत्र नहीं लगा सकता था । पर चक्रवर्ती हो जानेपर भी आलस्यको वे अपने पास नहीं फटकने देते थे क्योंकि वे जानते थे कि जहाँ एक भी दोष आया कि लक्ष्मी हमें छोड़कर जाती ॥ १५ ॥ और फिर भगवान् विष्णु और दशरथको छोड़कर और दूसरा राजा ही कौन सा था, जिसके यहाँ हाथमें कमल धारण करनेवाले पतिव्रता लक्ष्मी स्वयं जाकर रहती ॥ १६ ॥ जैसे पर्वतोंसे निकलनेवाली नदियों समुद्रको पाते लेते हैं वैसे ही कोशल, मगध और वैक्य देशके राजाओंकी कौशलवा, सुमित्रा और कैकेयी नामकी रानियोंने शत्रुसोंपर पाण परतानेवाले दशरथजीको पतिके रूपमें पा लिया ॥ १७ ॥ शत्रुओंका नाश करनेवाले दशरथजी अपने तीनों रानियोंके साथ वैसे जान पड़ते थे मानो पृथ्वीपर राज्य करनेके लिये स्वयं इन्द्र ही [प्रभाव, उस्ताद और मंत्र नामकी] अपनी तीनों शक्तियोंके साथ अवतार लेकर चले आए हो ॥ १८ ॥ यह कहा जाता है कि महारथी दशरथने युद्धमें इन्द्रकी सहायता करके और अपने चारों से उनके शत्रुओंका नाश करके देवताओंकी श्रियोका सब घर दूर कर दिया और वे सब दशरथजीके बाहुबलके भीत गाने लगीं ॥ १९ ॥ उन्होंने अपने बाहुबलसे चारों ओरका धन लाकर इकट्ठा किया था, और उनमें नामकी भी तामसी भण्य नहीं था । वही राजा दशरथने अपना मुकुट उतारकर अशमेग यज्ञ करते समय तमसा और सरथके किनारे

अजिनदण्डभृतं कुरामेरलां यनगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।
 अधिरसंस्ननुमधरदीचितामयमभाममभामयदीथरः ॥ २१ ॥
 अयमृथप्रपतो निपतेन्द्रियः गुरसमाजममाक्रमयोचितः ।
 नमयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेरस्ये शिरः ॥ २२ ॥
 असकृदेकरवेन तरस्विना हरिहयाग्रमरेण धनुर्मुता ।
 दिनकरामिमुखा रखरेणवो रुधिरे रुधिरेण सुरद्वियाम् ॥ २३ ॥
 अय समापयुने कुसुमैर्नवैध्वामिव सेवितुमेकरगाधियम् ।
 यमकृषेरजलेयवरज्जियां यमधुरं मधुरञ्चितविक्रमम् ॥ २४ ॥
 जिगमिपुर्धनपाष्पुपितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः ।
 दिनमुपानि रश्मिर्दिगनिग्रहैर्दिगलयन्मलयं नगमत्पजम् ॥ २५ ॥
 कुसुमजन्म ततो नयपन्लाशास्तदनु पट्पट्कोकिलाकृतितम् ।
 इति यथाक्रममाविरभूमधुर्दुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥ २६ ॥
 नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।
 अमिपयुः सरसो मधुर्नभृतां कमलिनीमलिनीरपतस्त्रिणः ॥ २७ ॥

खानेके यज्ञ-रत्नम् शब्दे कर दिए ॥ २० ॥ जय वे मृगशाला पहनकर, दाधमें दण्ड धेकर, सुराकी
 सगरी घोषकर सुरपाप हरिणकी सींग लिए यज्ञ की दीवा लेकर बैठे, उस समय भगवान् अष्टमूर्ति
 महादेव उनके शरीरमें पैद गये जिससे उनकी शोभा और भी अधिक बढ़ गई ॥ २१ ॥ यज्ञ समाप्त हो
 जानेरा जब वे स्नान करके पवित्र हुए तब देवताओंके साथ बैठने योग्य सर्वमी राजा दशरथने केरल
 मनुषि राचनके शत्रु तथा जज्ञ ब्राह्मणैवाले एक इन्द्रके भागे ही अपना ऊँचा मस्तक छुकाया ॥ २२ ॥
 अनेले रथपर चढ़कर मुख्य पत्नेवाले पराक्रमी, धनुर्धर और सुदमें इन्द्रसे भी ज्ञाने बलनेवाले दशरथने
 कई बार सूर्यपर छोड़े हुए सुदकी भूल राचसंके राक्षसे सींच सींचकर दयाई दे ॥ २३ ॥ यम, कुषेर,
 परुष और इन्द्रके सामान पराक्रमी उन एकद्वय राजाका अभिर्नन्दन करनेके लिए बसंत-फलु भी प्ये
 नये वृक्षोंकी भेंट लेकर यहाँ का पहुँची ॥ २४ ॥ सूर्य भी उत्तरकी ओर घूम जाना चाहते थे इसलिये
 बनके सारथी चरणने घोड़ोंकी हास उधर हो मोड़ दी । सही दूर फरके, प्रातःकालका पाबा दशरथ
 वसे और भी अधिक बमकाते हुए सूर्यने मलय पर्वतसे निश की ॥ २५ ॥ पहले फलु लिये, फिर नई
 कोपलें कुंठी, फिर भीरे गूँजने लगे और तब कोपलकी गूँ भी सुनाई पढ़ने लगी । इस समयने धारे-
 धारे वनस्पतियों वसन्त पकट होने लगा ॥ २६ ॥ राजा दशरथकी चतुर नीतिके उनके पास बहुत
 धन इकट्ठा हो गया था और उस धनसे वे अपनी प्रजाका बहुत उपकार भी करते थे । इसीलिए जैसे
 उनकी सन्तोके शाने यहुतसे संगम हाथ फैलाया करते थे, वैसे ही वसन्तकी शोभासे सबी हुई तालकी

कुसुममेव न केवलमार्तवं नमशोक्तरोः स्मरदीपनम् ।
 किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥ २८ ॥
 विरचिता मधुनोपवनश्रियाममिनवा इय पत्रविशेषकाः ।
 मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरवका रवकारणतां ययुः ॥ २९ ॥
 सुवदनाशदनासवसंभृतस्तदनुयादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
 मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैवकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥ ३० ॥
 उपहितं शिशिरापगमश्रिया सुकुलजालमशोभत किंशुकैः ।
 प्रणयिनीव नखचतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया ॥ ३१ ॥
 ब्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विपयीकृतमेतलम् ।
 न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरलं विरलं कृतवान्हिमम् ॥ ३२ ॥
 अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
 अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥ ३३ ॥
 प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
 सुरभितान्ध्रिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥ ३४ ॥

कमलिनीके घासपास भँरे और हंस भी मँटराने लगे ॥ २७ ॥ उन दिनों वसंतमें फूले हुए अशोकके फूलोंको देखकर ही कामोदीपन नहीं होता था वरन् कामियोंकी मतवाला बनानेवाले जो की मलयकाप-
 लीके गुच्छे खिलाने अपने कानोंपर रख लिए थे उन्हें देखकर भी मन हाथसे निरख जाता था ॥ २८ ॥
 वनमें खड़े हुए कुरवकके पेड़ ऐसे जान पड़ते थे मानों वनतमें वनध्रीके शरीरपर चैलकूटे चोंतकर उसका
 शृङ्गार किया हो । उन पेड़ों से इतना मधु बह रहा था कि भँरे मस्त होकर उन्हींपर गुनगुना रहे थे
 ॥ २९ ॥ यकुलके जो बृष सुन्दरी खिलाने गुलजी मदिशके कुबलेसे फूल उठे थे और जिनमें उन्हीं
 खियोंके समान गुण भी भरे थे, उनकी सुगन्ध बनाकर उड़ते हुए मधुके लोभी भौरों ने बड़ा कव-
 म्मोरा ॥ ३० ॥ वनतके अपनेसे पलासमें भी कलियों फूट निरलीं ! ये ऐसी जान पड़ती थीं मानो
 कामके आवेशमें लाज छोड़कर किसी कामिनीने अपने प्रियतमके शरीरपर नख-चत कर दिए
 हों ॥ ३१ ॥ अभी वह ठंड मनी प्रकार दूर नहीं हुई थी जिसमें पतियोंके दर्तों से घावल हुए खियों
 के छोटे तुला करते हैं और उषडी होनेके कारण खियों अपनी कमरको तगड़ी भी उतार डालती हैं ।
 पर हीं सूर्यने कुछ जाड़ा कम अवश्य कर दिया था ॥ ३२ ॥ नये चँरे हुए आमके बूखोंकी डालियों
 मनपके वायुसे कूम उठीं मानो उन्हींने अभिनय तोरना प्रारंभ कर दिया हो । उन्हें देखकर राम-
 ङ्गैयकी जीतने वाले योगियोंका मन भी मचल उठा ॥ ३३ ॥ जिस समय मनहर सुगन्धवाली वनकी
 लताओंपर बैठकर कौदलने एक सुनाई तो ऐसा जान पड़ा मानो कहीं कोई सुधा नायिका हो यलो

श्रुतिसुखमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो वसुः ।
 उपवनान्तलताः पानाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिमिः ॥ ३५ ॥
 ललितविभ्रमवन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
 पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥ ३६ ॥
 शुशुभिरे स्मितचारुतरानना व्रिय इव श्लथशिक्षितमेखलाः ।
 विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमाः ॥ ३७ ॥
 उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः ।
 सदृशमिष्टमागमनिर्घृतिं वनितयानितया रजनोवधुः ॥ ३८ ॥
 श्वेतुपारतया विशदप्रमेः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः ।
 कुसुमचापमतेजपदंशुभिर्हिमकरो मकरोजितकेतनम् ॥ ३९ ॥
 हुतहुताशनदीप्ति-वनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत् ।
 युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके दलकेसरपेशलम् ॥ ४० ॥
 अलिभिरञ्जनपिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः ।
 न खलु शोमपति स्म चनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिध ॥ ४१ ॥

टही हो ॥ ३५ ॥ वनके किनारे यही हुई लताएँ ऐसी सजीव सी जान पड़ती थीं भागो कानों को सुन
 देनेवाली भीरींजी गुजार हो उनके गीत हों, रिखे हुये कोमल फूल ही उनकी हँसोके दाँत हों श्री।
 वासुसे हिली हुई शाखाओं वाले हाथों से वे श्लेक बनारके हाथ भाव दिया रही हों ॥ ३५ ॥ चितवन
 खादि मधुर हास-भास कहनेको उकसानेवाले और मधुलको भी अपने गन्धमे हटानेवाले कामदेवके
 साथी मधको खियों ने अपने पतिके प्रेममें विना थापा दिए ही पी लिया ॥ ३६ ॥ लोगों के घरों के
 भीतर बनी हुई बाधखियों में जो कमल खिले हुए थे और वहाँ मधुर शब्द बरते हुए जो जप-पपी
 तैर रहे थे वनसे वे बाधखियों में तो सुन्दर जान पड़ती थीं मानो उनमें मुझराती हुई सुन्दर सुलवाली
 और सीधी होनेके कारण बजती हुई तगर्ची (करवग) वाली खियों जिहार कर रही हों ॥ ३७ ॥ जैसे
 अपने प्रियतमसे समागम न होनेके कारण खडिता नायिका खूबतो जाती है वैसे ही शक्ति रूपी नायिका
 भी वास्तवके जानेमे छोटी होती चली गई और उसका चन्द्रमाशाला मुख भी पीला पड़ता गया ॥ ३८ ॥
 पाता दूर हो जानेसे चन्द्रमा निर्मल होगया । सभोगकी थकावटकी दूर करनेवाली उसकी उंगी निरर्थी
 से कामदेवके फूलोंके धनुषको मानो और भी अधिक यत्न मिल गया हो ॥ ३९ ॥ हवनकी अग्निके
 समान चमकते हुए शरीरके फूल वनलधर्मके कानोंके कर्णकूल जैसे जान पड़ते थे । अपने प्रियतमोंके
 हाथों से जड़ोंमें सूँसे हुए वे सुन्दर पंखड़ी वाले शीर परत वाले पृथ खियोंके बेशोमें बड़े सुन्दर
 लग रहे थे ॥ ४० ॥ तिलकके बचने भी चन्द्रखलीकी कम शोभा नहीं बनाई । जैसे किसी युवताके
 गंगारके लिये उसका मुँह पीला जाता है वैसे ही उस तिलक बचके फूलों पर मँडराने हुए काजलकी
 बुंदियों के समान सुन्दर भीरे वैसे जान पड़ते थे मानो चन्द्रखलियों का मुख भी पीला दिया गया हो

अमदयन्मधुगन्धसनायया कितलपाधरसंगतया मनः ।
 कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥ ४२ ॥
 अरुणरागनिपेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यथांकुरैः ।
 परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरयलैरवलीकरसाः कृताः ॥ ४३ ॥
 उपचितावयवा शुचिभिः कशैरलिकदम्बकयोगमुपेपुषी ।
 सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजालकजालकमौक्तिकैः ॥ ४४ ॥
 ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतरत्नविकरं मुखचूर्णमृतुभियः ।
 कुसुमकेसररेणुमलित्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥ ४५ ॥
 अनुभवन्नयदोलमृत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिह्वृचया ।
 अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामवलाननः ॥ ४६ ॥
 त्वज्जत भानमलं चत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
 परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधुजनः ॥ ४७ ॥
 अथ यथासुखमार्तवस्तुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः ।
 नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मयसंनिभः ॥ ४८ ॥

॥४१॥ वहाँ वृक्षोंकी सुन्दरी नायिका नवमल्लिका लता भी थी । यह अपने भक्तन्द रूपी मयकी गन्धसे मरी लाल-जाल-पत्तों के धोठोंपर फूलों की सुसकाव लेकर देखने वालोंको भी पागल बनाये हालती थी ॥ ४२ ॥ प्रातःकालकी लड़ाईसे भी अधिक जाल-पत्तों ने, कानपर रखे हुए जीके धंजुरों ने और कोपलकी झूकोंकी सेना लेकर चलनेवाले कामदेवने ऐसा जाल बिछाया कि सभी यिज्ञासी पुरुष युवती खियोंके प्रेममें मुग मुग लो बैठे ॥ ४३ ॥ तिलकके फूलोंके गुच्छे उजले परागसे भरे वड़ चुके थे । उनपर मँडराते हुए भौरोंके झुण्डके कारण ये ऐसे सुन्दर लगने लगे जैसे किसी स्त्रीने अपने सिरपर मोतियोंकी जाली पहन ली हो ॥ ४४ ॥ उपवनके फूलोंका पराग जो वायुने उड़ाया तो भौरोंके झुण्ड भी उसके पीछे पीछे उड़ चले । यह उड़ता हुआ पराग ऐसा जान पड़ता था मानो धनुषधारी काम-देवका झण्डा हो या वसंतश्रीके सुअपर लागनेका श्वंगार चूर्ण हो ॥४५॥ जो खियों वसन्तोत्सवमें नये झुण्डों पर सावधान होकर झूत रही थीं वे भी अपने हाथसे पकड़ो हुई रस्तीको इसलिए ढीला छोड़ देती थीं कि हाथ छूटनेपर हमारे प्रियसम हमें धाम ही लेंगे और हल प्रकार हम उनके गलेसे भी लग जायेंगी ॥ ४६ ॥ उन दिनों कोपलकी झूक मानो कामदेवका यह आदेश सुना रही थी कि हे खियो स्वभा छोड़ दो, लवार्न मयदा छोड़ो, शोता हुआ जीवन फिर हाथ नहीं धोता । यह सुन सुनकर सभी खियों अपने पतियोंके साथ फिर रमण करने लगीं ॥ ४७ ॥ विष्णुके समान पराङ्गी, वसंत ऋतुके समान प्रसन्न और कामदेवके समान सुन्दर दशरथजीने भी सुन्दरी खियोंके साथ वसंत ऋतुकी

परिचयं चललक्ष्यनिगतने मयरूपोश्च तदिङ्गितबोधनम् ।
 श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्पसौ तनुमतोऽनुमतः सचिधैर्यथौ ॥ ४९ ॥
 मृगवनोपममद्यमवेपमृद्विपुलरूढनिपक्तशारागनः ।
 गगनमश्वरुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥ ५० ॥
 ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसर्वार्थतनुच्छदः ।
 तुरगवन्गानचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥ ५१ ॥
 तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृक्षयः ।
 ददशुरध्वनि तं वनदेवताः सुनयनं नपनन्दितकोशलम् ॥ ५२ ॥
 श्वगाणिवामुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः ।
 स्थिरतुंगमभूमि निपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥ ५३ ॥
 अथ नमस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिङ्गुखसंयुतम् ।
 धनुरधिष्मनाधिगुपाददे नरवरो स्वरोपितकैसरी ॥ ५४ ॥
 तस्य स्तनप्रख्यमिभिर्मुहुरेशशश्वैर्घ्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
 श्वाधिर्बभूव कुशगर्भसुखं मृगायां युथं तदग्रसरगर्वितकृष्यसारम् ॥ ५५ ॥

आनन्द लिया और फिर उनके मनमें आयेत करनेकी इच्छा होने लगी ॥ ४८ ॥ आयेतसे यहें काम भी होते हैं । पहली बात तो यह है कि उससे चलते हुए लक्ष्यको देखनेका अभ्यास हो जाता है । फिर उससे लीचों के मय और क्रोध आदि भावोंकी पहचान हो जाती है और परिश्रम करनेसे शरीर भी मर्लौ प्रकार गठ जाता है । इसलिये मत्रियोंसे सम्मति लेकर वे आयेतके लिये निकल पड़े ॥ ४९ ॥ जब अदेरीका वेप बनाकर, अपने ऊँचे कन्धेपर धनुष रानी, वेगलवी राजा दशरथ घोड़ेपर चढ़कर चले तब उनके घोड़ोंकी टाँगोंसे इतनी पूल उठी कि आकाशमें शँशोषा सा लग गया ॥ ५० ॥ उनके केशों में पनमाला गुँथी हुई थी । वे मृगके पत्तोंके समान गदरे रंगका कपड पहने हुए थे और घोड़ेके वेगसे चलनेके कारण उनके कानोंके कुण्डल भी हिल रहे थे । इस वेपमें चलते चलते वे उस जगलमें जा पहुँचे जहाँ एक जातिके हरिय बहुत घूमा करते हैं ॥ ५१ ॥ कोमल लताओंकी रूप धारण करने लीकी झालों से समवेष्टता भी उन सुन्दर नेत्रयुक्ते और कोशलकी प्रजाको सदा सुख पहुँचानेवाले राजा दशरथको देखनेके लिये यहाँ पहुँच गए ॥ ५२ ॥ तब वे उस जगलमें पहुँचे जहाँ पहिलेसे ही जान और शिकारी लुगे लेकर उनके सेवक पहुँच चुके थे । यहाँ न तो शत्रिका भय था न शोरीका । यहाँ की पृथ्वी छोड़ोंके लिये पत्नी थी । यहाँ बहुतसे जाल थे जिनके चारों ओर बहुतसे हरिय पक्षी और पत्तली चारु घूमा करती थीं ॥ ५३ ॥ तब उस सुन्दर शश्व राजने अपना वह वन हुआ धनुष उठाया जिसकी टंकर सुनकर सिंह भी गरज उठे उस समय से उस भादोंके महीनेके समान जग रहे थे जिसमें इन्द्रधनुष निकला हुआ हो और जिसमें सोनेके रंगकी पीछी विजलीकी चोरी सँधी हो ॥ ५४ ॥ उन्होंने देखा कि भागे हरिणीका सुन्दर चला जा रहा है जिसमें बहुत सी हरिदिकों भी हैं जो अपने

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूष्णीमुज्जोद्धनशरेण विशीर्यपङ्क्ति ।
 श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेरितोत्पलदलप्रभैरिवाद्रैः ॥ ५६ ॥
 लक्ष्मीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रगानः प्रेक्ष्य स्थिनां सहचरीन्पववाय देहम् ।
 आकर्ण्यकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिमंजहार ॥ ५७ ॥
 तस्यापरेण्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्य विभिदे निचिडोऽपि मुष्टिः ।
 त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥ ५८ ॥
 उत्सथुपः सपदि पञ्चलपङ्कमव्यान्मुस्तामरोहकवलावयवानुकीर्यम् ।
 जग्राह स द्रुतवराहकुलस्यमार्गं सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरापताभिः ॥ ५९ ॥
 तं चाहनाद्यनतोत्तरकायमीपद्विष्यन्तमुद्धतसटाः प्रतिहन्तुमीपुः ।
 नात्मानमस्य विचिदुः सहसा वराहा युक्षेपु विद्वमिपुभिर्जघनाश्रयेषु ॥ ६० ॥
 तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पश्रो वन्यस्य नेत्रविवरे महिपस्य मुक्तः ।
 निर्भिद्य विग्रहमशोषितलिप्तपृहस्तं पातपां प्रथममास पपात पथात् ॥ ६१ ॥

उन छीनों के कारण रुकती चलती हैं जो कुन्ती चत्राते-ध्याते अपने माँके रतनोंसे दूध पीनेके लिये बीच-बीचमें रुके ही जाते हैं । इस झुण्डके आगे आगे एक गर्बिला काला हरिण भी चला जा रहा था ॥ ५५ ॥ राजाने ज्योंही अपने घेतानामी घोड़ेपर चढ़कर और अपने तूष्णीमें से बाण निकालकर उनका पीछा किया कि वह झुण्ड वितर वितर हो गया और उनकी घबराई हुई आँखों से भरा हुआ वह सारा जगल ऐसा लगने लगा मानो पापुने नीले कमलोंकी पंखड़ियों लाकर वहाँ बिटेर दी हों ॥ ५६ ॥ इन्द्रके समान शक्तिशाली चतुर धनुषधारी राजा दशरथने देखा कि वे जिस हरिणको मारना चाहते थे उसको हरिणः बीचमें आकर रुकी होगई । वे स्वयं भी प्रेमी थे । अपने हरिणके लिये हरिणी का यह प्रेम देखकर उनका हृदयभी दयसे भर आया और उन्होंने कानतक खींचा हुआ भी अपना बाण उतार लिया ॥ ५७ ॥ वे दूसरे हरिणों पर बाण चलायाना चाहते थे और उन्होंने बाणकी सुटकी कान तक खींच भी ली थी पर जब उन्होंने उन हरिणोंकी डरी हुई आँखोंको देखा तो उन्हें अपनी सुवसो मियतमके चञ्चल नेत्रोंका स्मरण हो आया और उनके हाथ ढीले पड़ गए ॥ ५८ ॥ उन्हें छोड़कर दशरथजो उधर घूम पड़े जिधर आधे चपे हुए मोथकी दासके मुठ्ठे स्थान स्थान पर बिलरि हुये थे और पैरकी गीली छापोंकी पँतको देखकर जान पड़ता था कि तालोंके बीचदूरे निकल-निकलकर वनेले सूअरोंका झुण्ड उधरकी भागा है ॥ ५९ ॥ ज्योंही उन्होंने घोड़ेपर चढ़े हुए अपने शरीरको आगे झुकाकर उन सूअरोंपर बाण चलाए त्योंही वे भी अपने कड़े बाल लटे फाँके राजादशरथपर भपटे । किन्तु उन्होंने तालाल ऐसे कसकर बाण मारे कि सूअरोंको पता ही नहीं चला कि वे उन पेड़ों में बाणके साथ कब चिपक गए जितके सहारे वे खड़े थे ॥ ६० ॥ दतनेमें ही उन्होंने देखाकि एक जगल मेंसा उदकी और भपटा चला था रहा है । उन्होंने उसकी आँखमें एक ऐसा बाण मारा कि वह भँसेके शरीरमें से दतनी कुर्कीसे पार हो गया कि बाणके पलमें तनिक सा भी रक्त नहीं लगा और विशेषता यह थी कि बाण

प्रापो विषाणपरिमोक्षलघूचमाङ्गान्घ्रिचकार नृपतिर्निश्चितैः क्षुरप्रैः ।
 शृङ्गं सद्यस्त्रयिनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ॥ ६२ ॥
 व्याघ्रानमीरमिष्टुखोत्पतितान्गुहाभ्यः फुल्लासनाप्रविष्टपानिव वायुलक्षणात् ।
 शिन्नात्रिशेषलघ्रुहस्ततया त्रिभेषात्तूणीचकार शरप्रूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥ ६३ ॥
 निर्वातोपैः कुञ्जलोनास्त्रिवांसुर्ज्यानिषेपैः क्षोभयामास सिंहान् ।
 नूनं तेषामभ्यस्यपापरोऽभ्रद्वीर्षोद्ग्रे राजशब्दे मृगेषु ॥ ६४ ॥
 तान्दत्त्वा मज्जकुलपद्मतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाप्रलप्रभुक्तान् ।
 आत्मानं रखाकूनकर्मणां गजानामानृपयं गतमिव मार्गाणैरमन्त ॥ ६५ ॥
 चमरान्परितः प्रवर्तितारवः क्वचिदाकर्णविकृष्टभन्तवर्षी ।
 नृपतीनिव तान्वियोज्य सद्यः सितवालपजनैर्जगाम शान्तिम् ॥ ६६ ॥
 अपि तुरगसमीपाद्दुपतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं दण्डालन्वीचकार ।
 सपदि गतमनस्कश्चित्रमान्यानुकीर्णै रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥ ६७ ॥

तो देरसे गिरा किन्तु मैंसा पहले ही घृष्वापर गिर पड़ा ॥ ६१ ॥ इतनेमें उन्हें वारहविंशोका मुंड
 दियाई दिया । राजा दशरथने शर्दचन्द्र बाणोंसे उनके सींग काटकर उनके सिंहा बोक हलका कर
 दिया । वे सिर उठाकर चलनेवालोंका दमन अथरथ करते थे इसी क्षिपे उन्होंने पँदकर चलनेके साथन
 सींगोंको काट डाला अथपि राजाको उनके बाणों से कोई बुरा नहीं था ॥ ६२ ॥ जब सिंह अपनी मोर्छों
 मेंसे निकलकर उनको घोर मारते सब निर्भय राजा दशरथने इतनी शक्तिसे उनपर बाण चलाए कि
 उन सिंहोंके मुले हुए हुई उनके बाणोंके तूफान पर गए और वे ऐसे जान पड़ने लगे जैसे आँधीसे
 उछड़े हुए फूले आसनके पेड़को पुनगिर्यो हो ॥ ६३ ॥ भावियों में खेदे हुए सिंहोंके मारनेके क्षिपू
 पहले उन्होंने आँधीके समान भयकर शब्द करनेवाली अपने धनुषको बोरासे टंकारकी जिसे सुनते ही
 सिंह मरक उठे । बात यह थी कि राजा दशरथको उन शय्यन्त शक्तिशाली सिंहोंकी इस बातसे चिद
 हो रही थी कि वे आँधी के राजा क्यों कहलाते हैं ॥ ६४ ॥ यम, उन्हेंने हाथियोंसे घेर रखने बाधे
 उन सिंहोंकी मार डाला जिनके लोकीले अगले पंजों में शत्रुतक गज मुत्तारों बलको हुई थी इस प्रकार
 बहुशय-बंसी राजा दशरथने मानो अपने बाणों से उन हाथियोंका शय्य बुझा दिया जो बुद्धमें उनकी
 सेनामें काम आ रहे थे ॥ ६५ ॥ चामर मृगों के घरो घोर अपना योद्धा दीकते हुए मातेकी लोका
 वाले बाण परसाकर उन्होंने उन मृगोंकी पैरावाली पूँजे काट डाली । इससे उन्हें ऐसा सन्तोष हुआ
 मागो खँवरघारी राजाओं के खँवर ही उन्हेंने छान क्षिपू हों ॥ ६६ ॥ कर्मों-कर्मों उनके पाससे सुन्दर
 चमकीली पृष्ठीयले मोर भी उड़ जाते थे । पर ये उनपर बाण नहीं चलाते थे । क्यों कि उन्हें देरकर
 दशरथकी रंग-विरंगी साझाओं से मँते प्रम और संवीरके कारण सबे हए अपनी प्रियाके वेगोंका

तस्य कर्कशविहारसंभवं स्वेदमाननविलग्नजालकम् ।
 आचचाम सतुपारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो घनानिलः ॥ ६८ ॥
 इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
 परिष्टद्वारागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥ ६९ ॥
 स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौपधिदीपिकासनाथाम् ।
 नरपतिरतिवाहयांबभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रिथामाम् ॥ ७० ॥
 उपसि स गजयूयकर्णतालैः पटुपटहृष्वनिभिर्विनीतनिद्रः ।
 अरमत मधुराणि तत्र श्रृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि ॥ ७१ ॥
 अथ जातु रोगुर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्ष्वचरैरलक्ष्यमाणः ।
 श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरंगमेण ॥ ७२ ॥
 कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुचचार निनदोऽम्भसि तस्याः ।
 तत्र स द्विरदृष्टद्विदशङ्की शब्दपातिनमिपुं विससर्ज ॥ ७३ ॥
 नृपतेः प्रतिपिद्मेव तत्कृतयान्पङ्क्तिरथो विलङ्घय यत् ।
 अपथे पदमर्षयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥ ७४ ॥
 हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विपण्यस्तस्यान्विष्यन्चेतसगूढं प्रभवं सः ।
 शून्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तःशून्य इवासीदिवतिपोऽपि ॥ ७५ ॥

स्मरण हो जाता था ॥ ६७ ॥ कठिन परिश्रमसे उनके मुँहपर जो पसीना छा गया था उसे उनके उस
 वायुने सुखा दिया जो जलके कणों से शीतल होकर पत्तों और कलियोंको गिराता चल रहा था ॥ ६८ ॥
 इस प्रकार अपना सब काम भूले हुए और राजका मार भंत्रियों पर छोड़कर वनमें आए हुए राजा
 दशरथका मन आश्लेषके व्यवहारे उसी प्रकार लुभा लिया जैसे कोई स्त्री अपने पतिकी सेवा करके उसे
 अपने धरममें कर लेती है ॥ ६९ ॥ यह आश्लेषका व्यवहार उन्हें ऐसा लगा कि कभी-कभी उन्हें सारी
 रात फूल पत्तोंको सँघेरपर, रातको चमकनेवाली वृष्टियों के प्रकाशके सहारे, बिना किसी रोचकके धवे ले
 हो काटनी पड़ी ॥ ७० ॥ श्रीर मातःकाल जब नगावों के समान शब्द करनेवाले हाथियों के कानोंकी
 फलफट होती थी तब उनकी श्रद्धा सुलतो थी और उस समय उनके पत्नी चारणों के समान लो मङ्गल
 गीत गाते थे उन्हें सुनकर ही वे मगन हो जाते थे ॥ ७१ ॥ एक दिन तंगलमें रह नृमका पीछा करते
 हुए वे अपने साथियों से दूर भटक गये । धरमके कारण उनका पीछा सुहते भाग फँकने लगा ।
 उसी पर चढ़े हुए वे तमसा नदीके उस तटपर निकल गए जहाँ बहुतसे तपस्वियों के आश्रम देने हुए
 थे ॥ ७२ ॥ वहाँ जलमें कोई घड़ा भर रहा था । इन्होंने समझा कि यह कोई हाथी है । वायु निकाला
 और शब्दपर लक्ष्य करके इन्होंने भट शब्दधेयी बाण चला दी तो दिया ॥ ७३ ॥ हाथीको मारना
 शरभसे विरुद्ध है । इसलिए दशरथने जो किया वह राजाके लिए ठीक नहीं था पर कभी कभी विद्वान्
 लोग भी जब आवेशसे शंभे हो जाते हैं तब वे भी उल्टा काम कर ही बैठते हैं ॥ ७४ ॥ सहसा कोई

तेनावतीर्य तुस्मात्प्रथितान्वयेन पृष्टान्वयः स बलकुम्भनिपण्यदेहः ।
 तस्मै द्विजेतरतपस्त्रिभुतं सखलङ्घिःरात्मानमक्षरपदैः कथयामिभूव ॥ ७६ ॥
 तचोदितश्च तमनुद्दृष्टशश्वमेव पित्रोः सकाशमवसन्नदशोर्निनाय ।
 ताम्पां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्रचरितं नृपतिः शशंस ॥ ७७ ॥
 तौ दंपती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्त्रां शश्वं निघातमुदहरयतामुरस्तः ।
 तोऽभूत्तरामुरथ भूमिपतिं शशाप हस्तापितैर्नयनवारिमिरेव वृद्धः ॥ ७८ ॥
 दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोकादन्धे वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम् ।
 आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजंगं प्रोवाच कोशलपतिः प्रथमापराद्धः ॥ ७९ ॥
 ज्ञापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
 कृप्यां दहन्मपि खलु चित्तिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं जनलनः करोति ॥ ८० ॥
 इत्थंगते गतघृणः किमयं विधत्तां वधपस्तचेत्यभिहितो वसुधाधिपेन ।
 एधान्हुताशनवतः स मुनिर्ययाचे पुत्रं परामुमनुगन्तुमनाः सदारः ॥ ८१ ॥

धिरजाया—हाय पिता ! यह सुनकर इनका माया इनका श्रीर ये बसे हूँने चले । देता कि नरककी
 भावियों में बँवले मिथा हुआ, भदेपर शुका हुआ किली मुनिका पुत्र पदा है । उसे देखकर उनके
 ऐसा बध हुआ माचो इहँ भी बाण लग गया हो ॥ ७५ ॥ जब धेष्टवंश वाले राजा दशरथने भदेपर
 हुने हुए मुनि-पुत्रसे उसका वध-परिचय पूरा तब उसने जदलदासी बाणसे बताया कि मैं माहात्म्य
 नहीं हूँ, मेरे पिता वैश्य हूँ और मेरी माता शूद्रा है ॥ ७६ ॥ उसने राजा दशरथसे कहा कि मुझे
 मेरे अंधे माता-पिताके पास ले चलो । राजा दशरथने उस बाणसे विधे मुनि पुत्रको उठाया और
 उनके माता पिताके पास ले गए और वहाँ पहुँचकर उन्होंने उनसे तब क्या पता दो कि भूजसे
 मैंने आपसे एकछोले पुत्रपर किस प्रकार बाण चला दिया है ॥ ७७ ॥ यह सुनते ही वे दोनों तो
 पाद मारकर रोने लगे और उभरोंने अपने पुत्रके हत्यारेको आज्ञा दी कि मेरे पुत्रकी छातीमेंसे बाण
 निकाल लो । बाण निकालते ही मुनि कुमारके प्राण भी निरल गए । इसपर चूरे तपस्वीने अपने
 अँसुओंसे अपनी जंगली भरकर राजाको यह शाप दिया— ॥ ७८ ॥ हे राजा जाओ तुम भी
 हमारे ही समान सुतापेन पुत्र-शोकसे प्राण छोड़ोगे वैरसे दग्धेपर सर्प जैसे विष उगलकर शान्त हो
 जाता है वैसे ही शाप देकर जब वे बूढ़े मुनि शान्त हो गए तब पहले पहल अपराध करनेवाले राजा
 दशरथ उनसे बोले— ॥ ७९ ॥ हे मुनि ! मुझे आजतक पुत्रके मुक्त-कमलका दर्शन तक नहीं हुआ
 है इसलिये मैं आपके शापको बरदाय ही समझता हूँ क्योंकि इसी महाने मुझे पुत्र तो प्राप्त होगा ।
 जंगलकी लकड़ीकी जाग चाहे एक बार पृथ्वीको भले ही जला दे किन्तु यह पृथ्वीको इतनी उपजाऊ
 बना देता है कि हमने उसमें वर्षों बरसों उपज होती है ॥ ८० ॥ यह कहकर राजाने फिर उनसे
 कहा—मैं तो इसी योग्य हूँ कि आप मेरा वध करें । अब मुझ भीचके लिये आपकी क्या आज्ञा
 होती है । यह सुनकर उस मुनिने कहा कि इस और हमारी जो वध अपने पुत्रके साथ ही नर

प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्य राजा संपाद्य पातकविलुप्तश्रुतिनिवृत्तः ।
अन्तर्निपिष्टपदमात्मविनाशहेतुं शापं दधज्ज्वलनमौर्वमिवाम्बुगशिः ॥ ८२ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
मृगयाघर्षतो नाम नवम सर्ग

जायेंगे । हतलिपु अथ हमारे लिये हैंवन और अग्नि जुगधो ॥ ८१ ॥ राजा दशरथके अनुचर भी
समस्तक पहुँच गए थे । सरकाज हैंधन और अग्नि जुग दी गई । जैसे समुद्रके हृदयमें बहवानल अज्ञा
काता है वैसे ही, अपने पापसे घधीर हृदयमें मुनिका शाप लिए हुए थे घर लौटे ॥ ८२ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें आक्षेप-वर्णन
नामका नववाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥



दशमः सर्गः

पृथिवीं शासतस्तस्य पारुशासनतेजसः । किञ्चिद्नमनूनद्धैः शारदामयुतं ययौ ॥१॥
 न चोपलेमे पूर्वेषामृष्यनिमोक्षसाधनम् । सुनामिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥२॥
 अतिप्रत्यययोपेक्षसंततिः स चिरं नृपः । प्राङ्मन्यादन्नमिष्यक्त्वाहोत्पत्तिरिवार्णवः ॥३॥
 ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः संतानकाङ्क्षिणः । आरेमिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः
 तस्मिन्नवसरे देवाः । पौलस्त्योपसुता हरिम् । अभिजग्मुर्निदावातारं द्वापावृक्षमिवाध्वगाः ५
 ते च प्राङ्गुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः । अब्याश्रेपो भविष्यन्त्याः कार्ष्णिद्वेहिं लक्षणां ६
 भोगियोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवोकसः । तत्कथामसङ्गलोदचिर्मथियोतितविग्रहम् ७
 श्रियः पञ्चनिपण्यायाः क्षौमान्तरितमेखले । अङ्गे निधिसचरणमास्तीर्यंकरपल्लवे ॥८॥
 प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिमांशुकम् । दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥९॥
 प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् । कौरुतुमारुपमयां सारं विभ्राणं बृहतोरता ॥१०॥

दसवाँ सर्ग

जबार घनवाले श्रीर इंद्रके समान वैजल्यो राजा दशरथको पृथ्वीपर राज करते करते लग-भग
 दस सहस्र शरद् बॉत गए थे ॥ १ ॥ पर अभीतक पितरोंके अथसे छुटकारा दिलानेवालो श्रीर
 शोकके अँपेरेको दूर करनेवालो यह ज्योति उज्ज्वे नहीं मिल सकी जिसे पुत्र कहते हैं ॥ २ ॥ जैसे
 समुद्रको रत्न उत्पन्न करनेके लिये मये जानेतक ठहरना पड़ा था वैसे ही संतानके लिये उपाय होनेतक
 राजा दशरथकी भी ठहरना पड़ा ॥ ३ ॥ तब ऋष्यशृङ्ग प्राप्ति जितेतिष्ठ श्रीर संगत पश करनेवाले
 ऋषियोंने संज्ञान चाहनेवाले राजा दशरथके लिये पुत्रोपेि यज्ञ करना प्रारंभ किया ॥ ४ ॥ ठीक उसी
 समय रावणके अत्याचारसे घबराकर देवता लोग उठी प्रकार विष्णुकी शरणमें गए जैसे
 पूरसे भ्याकुल होकर पथिक, छायावाले वृक्षके नीचे पहुँच जाते हैं ॥ ५ ॥ ज्यों ही देवता
 लोग श्रीर सागरमें पहुँचे त्यों ही विष्णु भगवान् भी योग-निद्रासे जाग उठे । काममें देर न
 होना ही उसके पूरे होनेका सगले मरा लक्षण है ॥ ६ ॥ देवताओंने देखा कि विष्णु भगवान्
 शेष शय्यापर लेटे हुए हैं श्रीर शेषके कर्णोंकी मणियोंसे उजगल शरीर श्रीर भी अधिक चमक
 उठा है ॥ ७ ॥ उर्दूके पास कमलपर लक्ष्मी बैठी हुई थीं जिनकी कमरमें रेशमी वस्त्र पड़ा हुआ था
 श्रीर जो विष्णु भगवान्के चरण अपनी गोदमें लेकर पलोट रही थीं ॥ ८ ॥ जैसे सिले हुए कमलों
 श्रीर कन्याराजिके सूर्यसे शरद् ऋतुके प्रारंभिक दिन बने सुदाधने लागते हैं वैसे ही लिले हुए कमल
 जैसी अँल्लोंशले, प्रातःकालकी पूरके समान सुगहले वर परने श्रीर शयनमा धोवियोंको परलक्ष्मी
 दर्शन देनेवाले विष्णु भी यसे सुन्दर लग रहे थे ॥ ९ ॥ उनके पीछे वक्षस्थलपर यह कौस्तुभमणि
 चमक रहा था जिसमें लक्ष्मीगी अंगारके समय लयवा हाव-भाव करते हुए शयना सुँद देना करती हैं
 श्रीर जिनकी चमकने मृगुके चरणके प्रहारसे बना हुआ भीवास चिह्न भी चमक उठता था ॥ १० ॥

बाहुभिर्विष्टपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः । आविर्भूतमपामं मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥११॥
 दैत्यस्त्रीगणडलोखानां मदरामविलोपिमिः । हेतिमिश्रैतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥१२॥
 सुक्तशेषविरोधेन कुलिशत्रणल्लङ्घयत् । उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥१३॥
 योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलो रुनैः । भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृपीन् ॥१४॥
 प्रथिपस्य सुरास्त्वस्मै शशपित्रे सुरद्विषाम् । अथैनं तुष्टुः स्तुत्यमवादानसगोचरम् ॥१५॥
 नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु भिन्नते । अय विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥१६॥
 रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते । देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमपिक्रियः ॥१७॥
 अमेयो मितलो कस्त्वत्प्रमनर्थी प्रार्थनागहः । अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम्
 हृदयस्थमनामन्नमकामं त्वां तपस्विनम् । दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥१९॥
 सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्तमात्मभूः । सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकरत्वं सर्वरूपभाक् ॥२०॥

आभूषणोंसे सजी हुई उनकी बड़ी-बड़ी मुनाएँ पृथक् शालाओंके समान थीं और उनसे वे ऐसे लगते थे मानो समुद्रमें एक दूसरा कल्पवृक्ष निकल आया हो ॥११॥ असुरोंको मारकर उनकी छियोंके गालोंसे तदकी छाड़ी मिटानेवाले उनके चक्र, गदा आदि अस्त्र सर्वांग होकर उनको जपजपकार कर रहे थे ॥ १२ ॥ शेषनागसे स्वामाविक विरोध छोड़कर इन्द्रके पत्नी की चोटका विद्व धारण किए हुए गरुड़ जी बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर उनकी सेवामें लगे थे ॥ १३ ॥ वे योग-निद्रासे उठकर अपनी स्वच्छ और पवित्र चित्तवशासे उन भृगु आदि ऋषियोंको अनुगृहीत कर रहे थे जो उनसे पूछ रहे थे—भगवन् आप सुप्तसे तो सोए हैं ॥ १४ ॥ तब देवताओंने देवोंके नाम करनेवाले विष्णु भगवानको प्रणाम किया और उन प्रसंगीय विष्णु की स्तुति करने लगे जिनतक न तो क्षणी ही पहुँचती है और न तो मन ही पहुँच सकता है । वे बोले—॥ १५ ॥ पहले विरवकी यनानेवाले, फिर उसका पालन करनेवाले और अंतमें उसका संहार करनेवाले ये तीनों रूप आप अपने में धारण करते हैं । आपको प्रणाम है ॥ १६ ॥ जैसे एक स्वादवाला वर्षादा जल अलग-अलग देसोंमें बरसकर अलग-अलग स्वादवाला हो जाता है वैसे ही आप सब प्रकारके विकारोंसे दूर होते हुए भी सब, राज और लम हीनों गुणोंको लेकर पहलसे रूप धारण कर लेते हैं ॥ १७ ॥ हे भगवन्! आप कितने बड़े हैं यह तो कोई नहीं माप सकता पर आपने सब लोक माप डाले हैं । आपको स्वय कोई इच्छा नहीं है पर आप सबकी इच्छाएँ पूरी करते हैं । आपको कोई नहीं जीत सकता पर आपने सबको जीत लिया है । आप किसीको नहीं दिखाई देते पर आपने ही सब दिखाई देनेवाले संसारको उत्पन्न किया है ॥१८॥ हे भगवन्! बिहगोंका कहना है कि आप सबके हृदयमें रहते हुए भी दूर हैं । आप कोई इच्छा नहीं करते, फिर भी [हर नारायणके रूपमें बदरिकाश्रममें] तपस्या करते हैं । आप दयालु हैं पर आपको पुण्य नहीं छूटा । आपको लोग पुराण [अर्थात् पुरातन पुरुष] कहते हैं पर आप कभी मृदे नहीं होते ॥ १९ ॥ आप सबको जागते हैं पर आपको कोई नहीं जानता । आपने सारी सृष्टि उत्पन्न की है पर आपको किसीने उत्पन्न नहीं किया है । आप सबके स्वामी हैं पर आपको कोई स्वामी नहीं

सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम् । सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैरुसंश्रयम् ॥२१॥
 चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थायतुर्युगाः । चतुर्वर्णमयो लोकरुस्त्वचः सर्वं चतुर्मुखात् ॥२२॥
 श्रम्यामनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् । ज्योतिर्मयं विचिन्वन्तियोगिनस्त्वां विमुक्तये २३
 अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः । स्वपतो जानरूकस्य याथाश्रयं वेदे कस्तव ॥२४॥
 शब्दादीन्विषयान्मोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः । पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम्
 बहुधाप्यागमैर्मिन्नाः पन्थानः सिद्धहेतवः । त्वय्येव निपतन्त्योवा जाह्नवीया इवार्णवे ॥२६॥
 त्यव्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् । गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयःसंनिवृत्तये २७
 प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो महादिर्महिमा तवा । अपात्रावागन्तुमानाभ्यां साध्वं त्वां प्रति का कथा
 केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः । अनेन वृत्तयः शेषा निवृद्धितास्त्ययि ॥२९॥
 उदघेरिव रत्नानि तेजांसोऽयं विचख्यतः । स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ३०

हैं और एक रूप होते हुए भी आप संसारके सब रूप धारण किए हुए हैं ॥ २० ॥ विश्वर्षभ कहना है कि सामवेदके सातों प्रकारके गीतों में आपके ही गुणों के भीत हैं । आप ही सातों समुद्रोंके जल में निवास करते हैं । सातों प्रकार के प्रति आपके ही मुग्ध हैं और सातों लोगोंके आप ही एक सहारे हैं ॥ २१ ॥ आपके ही चारों मुग्धोंके धर्म, धर्म, काम और मोक्ष फल देनेवाला जान उपमन हुआ है । सततगुण, नेता, हार और कजि इन चार गुणोंमें बंध हुआ समय में आपने ही उपमन किया है और चार यज्ञोंवाला यह संसार भी आपका ही बनाया हुआ है ॥ २२ ॥ योगी लोग महा प्राणायाम आदिसे मनको बशमें करके मुक्ति पानेके लिये जाने हृदयोंमें बैठे हुए ज्योतिस्वरूप आपके ही लोभ किया करते हैं ॥ २३ ॥ हे भगवन् ! आप धन्यवा कदाकर भी जन्म लेते हैं और कर्म-रहित होकर भी शत्रुघोषका संहार करते हैं । योग निद्रामें सोते हुए भी आप जागते ही रहते हैं, फिर ब्रह्महृष्ट, आपका सच्चा भेद कौन जान सकता है ॥ २४ ॥ आप [श्रम्य आदि रूपोंमें] शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिका भोग करते हैं । [नर-नारायण रूपमें] कभी तपस्या करते हैं । [राम आदि रूप धारण करते] प्रजा का पावन करते हैं और [बुद्ध आदि] ज्ञान रूप धारण करते उदासीन भी बन जाते हैं ॥ २५ ॥ जैसे गंगाजीकी समीप धारण समुद्रमें ही गिरती है उसी प्रकार परमात्मन् पानेके लिये मार्ग बताए गए हैं वे अलग अलग राहोंमें अलग अलग रूपमें बताए जानेपर भी सब धारणोंही पहुँचते हैं ॥ २६ ॥ जो योगी लोग महा आपका ही प्यान करते हैं, जिन्होंने अपने सब कर्म धारणों ही समर्पित कर दिए हैं और जो लोग आपने मृत हैं उन योगियोंको तो आप ही श्रम-मार्गके कथनसे लुटकारा देते हैं ॥ २७ ॥ यद्यपि पूर्वा आदिको देगनेने आनकी महिमा प्रकट होती है पर वतनेसे आपका वर्णन नहीं हो सकता । फिर भला वेदोंके वर्णनसे और अनुमानके आपका कैसे ज्ञान हो सकता है ॥ २८ ॥ आपके स्मरण म प्रमे ही भोग विय हो जाते हैं । जिस यज्ञ उगरे आपका दर्शन हो जाय, वे आपका धारण हुए सब और धारणों वाले मुन मडे हो उगरे जिनका पुत्र्य होगा उनका वर्णन कौन कर सकता है ॥ २९ ॥ जैसे समुद्रके सब और रूपोंकी बिरों जिनो नहीं जा सकतीं जैसे ही मुक्ति करके आपके ही चरितका वर्णन नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

अनवासमवासव्यं न ते किञ्चन विद्यते । लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ३१
 महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संहियते वचः । श्रेमेण तदशक्त्या वान गुणानामियत्तया ३२
 इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोचजम् । भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ३३
 तस्मै कुशलसंप्रश्रव्यञ्जितप्रीतये सुराः । भयमप्रलयोद्भेलादाचख्युनैर्नर्तुतोदधेः ॥ ३४ ॥
 अथ वेलासमामन्नशैलरन्ध्रानुनादिना । स्वरेखोवाच भगवान्परिभूतार्णवध्वनिः ३५
 पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता । बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥३६॥
 बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्वदनोद्भता । निर्यातशेषा चरणाद्भङ्गेषोर्ध्वप्रवर्तिनी ३७
 जाने वो रक्षसाक्रान्तावनुभावपराक्रमौ । अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ३८
 विदितं तप्यमानं च तेन मे भुवनत्रयम् । अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनसा ॥३९॥
 कार्येषु कैककार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वञ्चिणा । स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते
 स्वासिधारापरिहृतः कार्यं चक्रस्य तेन मे । स्थापितो दशमो मूर्धा लभ्यांश इव रक्षसा ४१

संसारमें प्राप्त करने योग्य कोई भी ऐसा वस्तु नहीं है जो आपके हाथमें न हो । फिर भी आप जो जन्म लेते हैं और कर्म करते हैं उसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि आप संसारपत्र अनुग्रह करना चाहते हैं । ३१ । आपके महत्ता की प्रशंसा करके जो हम जुप हो रहे हैं, इसका यह कारण नहीं है कि हमने आपके सब गुण बखान डाले, बरन् इसका कारण यही है कि हम थक गए हैं और आगे बोलनेकी शक्ति हममें नहीं रह गई है ॥ ३२ ॥ जो भगवान किसी भी इन्द्रियसे प्राप्त नहीं होते हैं उनकी स्तुति करके देवताओंने उन्हें प्रसन्न कर लिया । वह स्तुति भी उनकी मूर्ती प्रशंसा नहीं थी परन्तु सब बातें सचनी ही थीं ॥ ३३ ॥ विष्णु भगवानने प्रसन्न होकर उनसे कुशल-मंगल पूछा, जिसके उत्तरमें देवताओंने कहा कि आज-कल ऐसे राक्षस उत्पन्न हो गए हैं जिन्होंने दिना प्रलयकाल आए ही सारे संसारकी नर्पादा भंग करके चारों ओर हाहाकार मचा दिया है ॥ ३४ ॥ यह सुनकर समुद्रसे भी बढ़कर गंभीर ध्वनिमें जब भगवान उत्तर देने लगे तब और-सागरके तटपर सारे हुए पहाड़ोंकी गुफाओंमें उनके शब्द गूँज उठे ॥ ३५ ॥ विष्णु भगवान् तो सबसे पहले कवि हैं इसलिये जब कण्ठ, शालु, दाँत, श्रोत्र आदि उच्चारणके स्थानोंसे भली-भाँति वायो निकली तब मानो सरस्वतीने अपने जन्म लेनेका फल पा लिया ॥ ३६ ॥ उनके दाँतोंकी धमकसे जगमगाती हुई उनकी वाणी जब मुँहसे निकली तब यह ऐसी शोभा देने लगी मानो उनके चरणोंसे निकलकर गंगाजी ऊपरकी जा रही हों ॥ ३७ ॥ विष्णु भगवान् बोले— हे देवतागणो ! जैसे संसारके जीवोंके सर्वोगुण और रजोगुणको हमका तमोगुण दया होता है वैसे ही आपके तेज और बलको रावण दया होता है ॥ ३८ ॥ वी यह भी जानता हूँ कि जैसे अनजानमें किए हुए पापसे सज्जनका मन पचरा जाता है वैसे ही सारा संसार रावणके शपापारसे पचरा उठा है ॥ ३९ ॥ इसलिये रावणरो मिटा डालनेका काम वीसा इन्द्रका है वीसा ही मेरा भी है । इसके लिये इन्द्रने जो मेरी प्रार्थना की है उसकी मैं कोई धारणकरता नहीं ममभता हूँ क्योंकि भग की सहायताके लिये पापुने कहना नहीं पड़ता, यह तो स्वयं आगतकी उभाव देता है ॥ ४० ॥ शिष्टोंकी प्रसन्न करनेके लिये रावणने अपने

स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः । अतपारूढं रिपोः तोढं चन्दनेनेन भोगिनः ४२
 धातारं तपसा प्रीतं यवाचे स हि राक्षसः । देवात्सर्गादिवधत्वं मर्त्येऽप्यास्थापराधुखः ४३
 सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्वलिचमम् । करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरः कमलोच्चयम्
 अचिराद्यन्वभिर्भागं कल्पितं विधित्पुनः । भावाधिभिरनालीढमादास्पध्वे निशाचरैः
 वैभानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि । पुष्पकालोकसंधोर्भं मेधावरणतत्पराः ४६
 मोक्षध्वे स्वर्गवन्दीनां वेणीबन्धानदूषितान् । शापयन्त्रितपीलस्त्यबलात्काररुचग्रहैः ४७
 रावणावग्रहद्वान्तमिति वागसृहेन सः । अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेवस्तिरोदधे ४८
 पुरुहूतप्रभृतयः सुरकायोद्यतं सुराः । अंशोरनुपयुत्रिण्युं पुष्पैर्वायुमिव द्रुमाः ॥ ४९ ॥
 अथ तस्य विशांपत्सुरन्ते काम्यस्य कर्मणः । पुरुषः प्रयभूवाग्नेर्विस्मयेन सह त्विजाम् ५०
 हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयथरुम् । अत्रुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥ ५१ ॥

नी सिर फाटकर चद्रा दिने थे । अब जान पड़ता है कि उस राक्षसने अपना दसवाँ सिर मेरे चरणने कटनेके लिये रख छोड़ा है ॥ ४१ ॥ ब्रह्माजीने जो उसे वरदान दे दिया है उससे मैंने उस तुष्टका दिन-दिन ऊपर चढ़ना उसी प्रकार सदा है जैसे अपने ऊपर चढ़ते हुए सॉपको घन्दनका पेड़ सह जाता है ॥ ४२ ॥ जब ब्रह्माजी उसकी तरफसे प्रसन्न हुए तब उसने यही वरदान माँगा कि मैं देवताओंके हाथसे न मारा जा सकूँ क्योंकि मनुष्यों को जो वह कुछ समझता ही नहीं है ॥ ४३ ॥ इसलिये मैं राजा दशरथके यहाँ जन्म लेकर अपने तीखे बाणोंसे उसके सिरोंको कमण्डले समान उतर कर रणभूमिकी भेंट चढ़ाऊँगा ॥ ४४ ॥ हे देवताओ ! परमान लोग जो विधिले दिया हुआ दशरथ भाग तुम्हें दे देंगे उसे अब राक्षस लोग झूठकर नहीं खा सकेंगे । सब आप लोगोंकी ही मिलेगा ॥ ४५ ॥ अब आप लोग निदा होकर अपने-अपने विमानोंपर चढ़कर आकाशमें घूमिए और राक्षसके पुष्पक विमानको देखाकर और उससे डरकर यादलों में छिपना छोड़ दीजिए ॥ ४६ ॥ रावणने स्वर्गकी जिन छियोंको अपने यहाँ बन्दी किया है उनके जूँको नल्लक्षरके शापके दामे उसने हाथ नहीं लगाया है । अब आप लोग ही उन बन्दी छियोंके जूँ अपने हाथोंसे खोलेंगे ॥ ४७ ॥ जैसे सुखके दिनोंमें कोई यादल धानके खेतपर जल बरसाकर निकल जाय वैसे ही राक्षसके उससे मूखे हुए देवताओंपर अपने मरुत चञ्चल बरसाकर विष्णु भगवान् भी अन्तर्धान हो गए ॥ ४८ ॥ जैसे वायुके चलनेपर वनके पृष्ठ स्वरूप उसके पाँखे न जाकर अपने फूल उसके साथ भेज देते हैं वैसे ही जब भगवान् विष्णु देवताओंका धार्य करनेके लिये चले तब इन्द्र आदि देवताओंने भी अपने अपने अंश उनके साथ भेज दिए ॥ ४९ ॥ इन्द्र यहाँ ही राजा दशरथका पुत्रेष्टि बल समस्त हुआ यहाँ ही यज्ञकी अधिमूर्ति एक पुरुष प्रकट हुआ जिसे देखकर यज्ञ करने वाले सभी ऋषि बड़े अचरजमें पड़ गए ॥ ५० ॥ उस पुरुषके हाथमें रीरसे मरा हुआ सोनेका कटोरा था । उस रीरमें सारे ब्रह्माण्डको अंभालने वाले विष्णु भगवान् धँडे हुए थे इसलिये वह दिव्य पुरुष भी उस बटोरेकी बड़ी कठिनाईसे

प्रजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नुप । वृषेऽप्यसां सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥ ५२ ॥
 अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यन्यदुर्लभाः । प्रसूतिं चक्रमे तस्मिन्नैलोक्यप्रभवोऽपि यत्
 स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंगितम् । द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्षतिरिवातपम् ॥ ५४ ॥
 अर्चिता तस्य कौशल्या प्रिया केरुयवंशजा । अतः संभावितां ताम्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः
 ते बहुद्वयस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः । चरोरर्धार्घमागाभ्यां तामयोजयतामुमे ५६
 सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि । अमरी वारणस्येव मदनिस्पन्दरेखयोः ॥ ५७ ॥
 तामिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशमभयः । सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः ५८
 सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापायदुरतिवपः । अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव संपदः ५९
 गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः । जलजासिगदाशाङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ६०
 हेमपद्मप्रभाजालं गगने च वितन्वता । उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुखा ॥ ६१ ॥
 विश्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् । पर्युपास्पन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया
 कृतामिषकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः । ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ६३

सैमल पा रहा पा ॥ ५३ ॥ जैसे इन्द्रने समुद्रमेंसे निकले हुए असुरके कलशको धाम लिया था
 वैसे ही राजा दशरथने भी उस दिव्य पुरणके हाथसे वह खोर ले ली ॥ ५२ ॥ उस दिव्य पुरणने
 राजा दशरथके अथाधारण गुणोंकी इतनी प्रशंसाकी कि विष्णु भगवानकी भी उनके यहाँ जन्म लेनेकी
 इच्छा होने लगी ॥ ५३ ॥ जैसे सूर्य अपनी नई धूप पृथ्वी और आकाश दोनोंमें बाँट देता है वैसे
 ही लीरके रूपमें पाप हुए विष्णुके तेजको राजाने कौशल्या और कैकेयीमें बराबर बाँट दिया ॥ ५४ ॥
 कौशल्या उनकी वही रानी थी और कैकेयी उनकी प्यारी रानी थी इसलिये वे चाहते थे कि वे दोनों
 रानियाँ ही अपने अपने भागमेंसे स्वयं कुछ माग देकर सुमित्राका सम्मान करें ॥ ५५ ॥ सब कुछ
 जाननेवाले राजा दशरथकी उन दोनों रानियोंने अपनी अपनी सोरहवा भाषा भाषा भाग सुमित्राकी
 दे दिया ॥ ५६ ॥ जैसे हाथीके दोनों कपोलोंसे निकलनेवाली मदकी दोनों धाराओंसे भेँदी बराबर
 प्रेम बरती है वैसे ही सुमित्रा भी अपनी दोनों सीतों से बराबर प्रेम करती थी ॥ ५७ ॥ जैसे असुर
 नामकी जल बरसानेवाली सूर्यकी किरणें ससारके कदाणके लिये जल लिए रहती हैं वैसे ही उन
 सीतों रानियों ने लोकके कदाणके लिये विष्णुके अशसे भरे गर्भको धारण किया ॥ ५८ ॥ एक साथ गर्भ
 धारण करनेवाली ये रानियाँ गर्भमें पीली पत्रनेके कारण उन अनाजकी बालोंके समान पीली लगती
 थी जिनमें दाने पड़ गए हैं ॥ ५९ ॥ उन्हें यह स्वप्न दिखाई देता था कि कमल, तलवार, गद्ग,
 शार्ङ्ग धनुष और चक्र लिए हुए कोई योनि-सा पुरुष हमारी रक्षा कर रहा है ॥ ६० ॥ और अपने
 सोनेके पगोंसे प्रकृत किनाता हुआ अपने वेगके कारण अपने साथ यादुओंकी भी खींचकर ले जाता
 हुआ गरुड हमें आकाशमें उड़ाकर ले जा रहा है ॥ ६१ ॥ और बहस्यलपर कौस्तुभमणि पहने
 हुए लक्ष्मी हाथों कमलका पत्रा लेकर हमारी सेवा कर रही हैं ॥ ६२ ॥ इतना ही नहीं, आकाश

ताम्यस्तथाविधानस्वप्नाच्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः । मेने परार्च्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः
 विमक्तात्मा विभ्रुस्तासामेकः कुक्षिभ्यनेरुधा । उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रतन्नानामपामिव
 अथाऽपमहिषी राज्ञः प्रवृत्तिसमये सती । पुत्रं तमोपहं सेमेनक्तं ज्योतिरिवीपधिः ६६
 राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः । नामधेयं गुरुधके जगत्प्रथममङ्गलम् ॥६७॥
 रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा । रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवामवन् ॥६८॥
 शय्यागत्येन रामेण माता शातोदरी वभौ । सैकताम्भोजरत्निना जाह्नवीव शरत्कृशा ६९
 कैकेय्यास्तनयो जत्रे भरतो नाम शीलरान् । जनयित्रोमल्लं चक्रे यः प्रथप इव श्रियम् ७०
 सुतो लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रासुपुत्रे यमौ । सम्पगाराविता विद्या प्रबोधविनयाविव ७१
 निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् । अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ७२
 तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचक्रितेश्वराः । विरजस्केर्नमस्यद्भिर्दिश उच्छ्र्वसिता इव ७३
 कृशानुरपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः । रत्नोविप्रकृतावास्तामपविद्मशुचाविव ॥ ७४ ॥
 दशाननकिरीटेभ्यस्तत्त्वर्णराक्षसश्रियः । मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुचिन्दवः ७५

गह्वारों स्नान करके ससर्पि भी वेद-गाठ करते हुए हमारी ही उपासना कर रहे हैं ॥१३॥ जय रात्रियोंने
 राजाले अपने ये स्वप्न सुनाए तब वे बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने समझ लिया कि शत्रु सत्कारमें
 मुझसे बढ़कर कोई नहीं है क्योंकि मैं संसारके शुभ विष्णुजीका भी पिता बन रहा हूँ ॥ ६४ ॥
 पद्यवि विष्णुका एक ही रूप है पर जैसे निर्मल जलमें चन्द्रमाके उद्भूतसे प्रतिबिम्ब पड़ जाते हैं वैसे
 वे भी तानों रात्रियोंके गर्भोंमें अलग-अलग निवास कर रहे थे ॥ ६५ ॥ जैसे परंतकरी बहुत सी
 चूड़ियोंमें हातको रींघरा दूर करनेवाला प्रकाश प्रा जाता है वैसे ही राजाकी परशानी कीशय्याने
 तमोगुणको दूर करनेवाला पुत्र उत्पन्न किया ॥ ६६ ॥ उस चाचरुका मनोहर शरीर देखकर बशिष्ठजीने
 वनका सत्कारमें सबसे अधिक गहलखाती नाम राम रख दिया ॥ ६७ ॥ रघुवंशको उजागर करनेवाले
 वसु पात्रकका इतना तेज था कि सीरी घरके सब दीपनोंकी ज्योति उसके आगे मग्द पड़ गई ॥ ६८ ॥
 गर्भसे दुपली माता कीशय्या, नन्हेंसे रामको लिए हुए पलंगपर लेटी हुई ऐसी सुन्दर जान पड़ती
 थी जैसे शरद् ऋतुमें पतली धरवाली गह्वारोंके सतर किरीका चढाया हुआ नीला कमल स्वप्न
 हुआ हो ॥ ६९ ॥ कैकेयीने भारतको जन्म दिया । उन्हें पाकर वे ऐसी सोभा दे रही थीं जैसे लक्ष्मीके
 साथ विनय सोभा देता है ॥ ७० ॥ जैसे अम्भालने पार्द हुई विभासे ज्ञान और विनय दोनों मिल
 जाते हैं वैसे ही सुमित्राके लक्ष्मण और शत्रुह नामके दो लुढ़कों पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ७१ ॥ उस समय
 संसारसे सारे दोष भाग गए और चारो ओर गुण ही गुण फैल गए मानो विष्णु भगवानके साथ साथ
 स्वर्ग भी पृथ्वीपर उतर आया हो ॥ ७२ ॥ दसो दिशाओंमें जिना धूलकी जो स्वप्न धवार चलने लगी
 वह ऐसी लगती थी मानो राक्षसे बड़े हुए पुंनर आदि दिग्गलोंने पृथ्वीपर तार रूपोंमें आए हुए
 भगवानके पाकर सन्तोषकी शक्ति ली हो ॥ ७३ ॥ राक्षसे पीढ़ा पाए हुए अक्रिका पुर्यां निरुल गया
 और स्वर्ग भी निर्मल हो गए मानो दोनोंका शोक दूर हो गया हो ॥ ७४ ॥ उसी समय राक्षसे
 मुकुटके कुल मणि पृथ्वीपर गिर पड़े मानो राक्षसोंकी लक्ष्मीके आँसू ही डुलक पड़े हों ॥ ७५ ॥

पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्णानां तस्य पुत्रिणः । आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ७६
 संतानकर्मणी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुपी । सन्मङ्गलोपचाराणां सैत्रादिरचनाभवत् ७७
 कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपापिनः । सानन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ७८
 स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा । सुमूर्च्छं सहजं तेजो हविषेऽ हविर्भुजाप् ७९
 परस्पराविरुद्धास्ते तद्रघोरनघं कुलम् । अलमुद्द्योतयामासुर्देवारण्यमिबर्तवः ॥ ८० ॥
 समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ । तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्रव्यं यभूवतुः ८१
 तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं विभिदे न कदाचन । यथा वायुविभावस्त्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ८२
 ते प्रजानां प्रधानाथास्तेजसा प्रथयेण च । मनो जहुर्निदाधान्ते श्यामाभा दिवसा इव
 स चतुर्धा वभौ व्यस्ता प्रसवः पृथिनीपतेः । धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक् ८४
 गुणैराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः । तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः ॥ ८५ ॥
 सुरमज इव दन्तैर्भ्रमद्देत्यासिधारैर्नय इव पशुवन्वक्ष्यक्तयोगैरुपायैः ।

हरिरिव युगदीर्घदोर्भिरंशैस्तदोयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥ ८६ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये रामावतारो नाम दशमः सर्गः ॥

पुत्रवान् राजा दशरथके गर्ह्ये पुत्र-जन्मके समय, लगावे आदि बाजे पांटे चजे, पहले देवताभोजने ही
 सर्गमें यवार्दकी दुन्दुभी बजाई ॥ ७६ ॥ और उनके राजभगपर आ.फालासे कश्यपुर्गके फूलोंको जो
 वर्षा हुई उसीसे उनके माङ्गलिक संस्कारोंका शारंभ हुआ ॥ ७७ ॥ जातकर्म आदि संस्कार हो
 चुकनेपर धायका दूध पी-पीकर जैसे-जैसे राजकुमार अपने लगे घैसे ही घैसे राजा दशरथका आनन्द
 भी बढ़ने लगा। मानो वह आनन्द उन चारो राजकुमारोंका जेडा भाई हो ॥ ७८ ॥ जैसे घों आदि
 पढ़नेसे हवन ही अधिक स्वभाविक तेज बढ़ जाता है वैसे ही शिला पानेसे उन चारों राजकुमारोंको
 स्वभाविक भयका और भी अधिक बढ़ गई ॥ ७९ ॥ जैसे जतुर्दु नन्दनवनको चमका देते हैं वैसे
 ही परस्पर प्रेमसे उन चारो कुमारोंने पवित्र रघुबलको वजागर कर दिया ॥ ८० ॥ यद्यपि चारोंमें
 परस्पर बहुत प्रेम था, फिर भी विदोष प्रेमके कारण जैसे राम और लक्ष्मणकी एक जोड़ ही गई वैसे
 ही भात और शत्रुघ्नकी भी जोड़ हो गई ॥ ८१ ॥ जैसे वायु और अग्नि तथा चन्द्रमा और
 समुद्रका जोड़ा कभी अलग नहीं होता वैसे ही राम और लक्ष्मणका तथा भरत और शत्रुघ्नका साथ
 कभी नहीं छूटा ॥ ८२ ॥ उन प्रजाके स्वामी राजकुमारोंने अपने तेज और वज्र व्यवहारसे अपनी
 प्रजाका मन उसी प्रकार हर लिया जैसे गर्मीके अंतमें काले चादल लोगोंके मन आकर्षित कर लेते
 हैं ॥ ८३ ॥ राजाकी चारो संतान ऐसी शोभा दे रही थी मानो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारोंने
 शयसार ले लिया हो ॥ ८४ ॥ चारों विदुषक राजकुमारोंने राजा दशरथको अपने गुणोंसे उसी
 प्रकार प्रसन्न कर लिया जैसे चारो समुद्रोंने स्व देकर चारो दिशाओंके स्वामी राजादशरथको प्रसन्न
 कर लिया था ॥ ८५ ॥ जैसे जतुर्दुकी तनचारोंकी चार कुंडित करनेवाले अपने चार दिशांसे पेटागत
 शोभा देता है, जैसे ताम, दाम, दण्ड और भेद इन चार उपायोंसे राजनीति शोभा देती है और जैसे
 रथके शुकके समान अपने लक्ष्मी-लक्ष्मी चार भुजाओंने विष्णु भागवान् शोभा देते हैं वैसे ही राजा
 दशरथ भी अपने चार गुणोपर दुर्गोसे मुशीभित हुए ॥ ८६ ॥

महाकवि कालिदासके रथे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रामावतार नामका दशमं सर्गं समाप्त हुआ ।

एकादशः सर्गः

कौशिकेन स किल चितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये ! ।
 कारुण्यधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥ १ ॥
 कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णमात्तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम् ।
 श्रप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥ २ ॥
 यावदादिशति पाथियस्त्वयोर्निर्गमाय पुरमार्गमस्मिक्रयाम् ।
 तावदाशु निदधे मरुत्तमैः सा सपुणजलरपिभिर्वनैः ॥ ३ ॥
 तौ निदेशकरणोद्यता पितुर्धन्विनी चणयोर्निपेततुः ।
 भूपतेरपि तयोः प्रवन्स्यतोर्नम्रघोरुपरि चाप्यनिन्दयः ॥ ४ ॥
 तौ पितुर्नयनजेन वारिण्या किञ्चिदुत्तिशिशुण्डकायुभौ ।
 धन्विनी तमृपिमन्यगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गनोरणौ ॥ ५ ॥
 लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदपिरित्यनौ नृपः ।
 आशियं प्रयुयुजे न वाहिनीं ना हि रचणमिधौ तयोः क्षमा ॥ ६ ॥
 मातृवर्गचणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पटवीं महौजवः ।
 रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनी मास्करस्य मधुमाधवायिव ॥ ७ ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

एक दिन विरवामित्रजी राजा दशरथके पास गायु और उम्होंने कहा कि मेरे बगली रघुके लिये काठपत्र धारी रामको हमारे साथ भेज दोतिए । ठीक हाँ है, भो जेबकी दोसे है, उनके लिये यह नहीं विचार किया जाता कि ये छोटे हैं या बड़े ॥ १ ॥ यद्यपि दशरथजीने राम और लक्ष्मणको बड़ी तपस्याके साथ या या पर ये जिज्ञासोके इतने मन्थ थे कि उम्होंने तत्काल राम-लक्ष्मणको मुनिके साथ भेज दिया क्योंकि रघुकुत्रकी सद्गति यह रूति रही है कि यदि कोई प्राण भी मरे तो उसे विमुक्त नहीं लीजते ॥ २ ॥ अभी राजा दशरथ उनही बिदार्थके लिये बरक मजानेकी आज्ञा देने सेबकी दे ही रहे थे कि इतनेमें वायुने कृष् और बादलोंने जय खाबर गढ़कोपर बरसा ही तो दिया ॥ ३ ॥ विगाही आज्ञा वाहन करनेको मग्न होकर दोनों राजकुमार अपने पिताके बरखोमें प्रदान करनेको मुठे ही थे कि दशरथजीकी आज्ञोमें उन दोनोंपर खोवू टपक पड़े ॥ ४ ॥ और उन खोसुको से दोनों राजकुमारोंकी खोसियां भीग गईं । जब धनुष लेकर दोनों राजकुमार विरवामित्रजीके खोसे खड़े आ रहे थे तब समक उठे देनेसे हुए पुरवामित्रोंकी खोसे सेयोई लगे भी मानो नेयोकी बदनामो खोव ही गई हो ॥ ५ ॥ विरवामित्रजी केवल राम और लक्ष्मणको ही सं जाना चाहते थे अतः राजाने उनको हाइयनाके लिये बदना साग पौद ही दिया, सेवा नहीं । क्योंकि उनका आज्ञोई ही उनको रघुके लिये पचास था ॥ ६ ॥ मागकोके बरप एवम दोनों राजकुमार तब

वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवान्चपलमप्यशोभत ।
 तोयदागम इवोद्धयभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम् ॥ ८ ॥
 तौ यत्नातिवल्लयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
 मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव ॥ ९ ॥
 पूर्ववृचकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः ।
 उद्यमान इव बाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत् ॥ १० ॥
 तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्रिणः ।
 वायवः सुरभिपुष्परेणुमिश्रज्जायया च जलदाः सिपेविरे ॥ ११ ॥
 नाम्भसां कमलशोभिनां तथा शाखिनां च न परिश्रमच्छिदाम् ।
 दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभवोस्तपस्विनः ॥ १२ ॥
 स्थाणुदग्धवपुपरतपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकामुकः ।
 विग्रहेण मदनस्य चारुषा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥ १३ ॥
 तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकादिदितशापया पथि ।
 निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी स्त्रीलयैव धनुषी अधिज्यताम् ॥ १४ ॥

तेजस्वी मुनिके पीछे चलते हुए ऐसे शोभित होते थे मानो सूर्यके पीछे पीछे सैज और वैशाख मास चले जा रहे हों । बचपनके कारण लहरोंके समान बचल बाहोंवाले राजकुमारोंका सुन्दरुलापन ऐसा सुन्दर लग रहा था मानो वर्षा ऋतुमें दोनों उद्बुध्य और मिथ नदियों जहराती दुधलाती तटोंको हाती हुई चली जा रही हों ॥ ८ ॥ [ध्यानतक उन बालकों ने घरसे बाहर तो पैर रखा ही न था। इसलिये] मार्गमें ही विश्वामित्रजीने उन्हें बला और धतियला नामकी दोनों विद्याएँ सिखा दीं जिससे उदय-प्रायश्चरनके मार्गमें चलते हुए उन्हें थकान नहीं हो रही थी और बैसा ही सुख हो रहा था जैसे वे मलिनो से लड़े हुए अपने मनमें अपनी माताके आसपास घूम रहे हों ॥ ९ ॥ जो राम और लक्ष्मण सदा दिव्य रथोंपर चढ़कर चलते थे उन्हें तनिक भी चकावट नहीं हुई क्योंकि उनके पिताके मित्र विश्वामित्रजी उन्हें मार्गमें पुरानी कथाएँ सुनाते चले जा रहे थे ॥ १० ॥ सरोवरोंने अपना भीठा जल बिखारकर, पत्थियोंने मधुर गीत सुनाकर, वायुने सुमन्यत्र पराग फैलाकर और बादलोंने शीतल छाया देकर मार्गमें उन दोनों की बड़ी सेवा की ॥ ११ ॥ कमलों से भरे हुए सरोवरों तथा चकावट हरनेवाली वृक्षोंकी छायाको देखकर भी आश्चर्यसे तपस्वी उताने प्रसन्न कभी नहीं हुए थे जितने इन दोनों राजकुमारोंको देखकर प्रसन्न हुए ॥ १२ ॥ जिस लपोवनमें शिपजीने कामदेवको भस्म किया था वहाँ जब सुन्दर शरीरवाले राम, धनुष उठाए हुए पहुँचे तब जान पड़ा मानो वे वहाँ कामदेवकी सुन्दरताके प्रतिनिधि बनकर आए हों, उनके कर्णोंके नहीं ॥ १३ ॥ वहाँ मार्गमें उन्हें यह सुकेतुवी कन्या ताड़का हाथी मिली जिसने सारे मार्गको उजाड़ बना दिया था और जिसके शपकों कथा महर्षि विश्वामित्रने पहले ही रामको सुना दी थी । उसे देखते ही उन दोनों बाहोंने अपने धनुषोंको पृथ्वी-

ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलध्रुवाञ्छ्रविः ।
 ताडका चलरुपालरुण्डला कालिकेव निविडा यस्ताकिनी ॥ १५ ॥
 तीव्रवेगध्रुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरससा स्वनोम्रया ।
 अम्यभावि भरताग्रजस्तया वात्पयैव पितृकाननोत्थया ॥ १६ ॥
 उद्यतैकभुजयष्टिमापतीं श्रोणिलम्निपुरुषान्त्रमेखलाम् ।
 तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्त्रिणा सह मुमोच राघवः ॥ १७ ॥
 यच्चकार विवरं शिलाघने ताडकोरसि स रामसायकः ।
 श्रप्रविष्टविषयस्य रत्नसां द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥ १८ ॥
 पाणमिन्नहृदया निपेतुपी सा स्वकाननभुवं न केवलाम् ।
 विष्टपत्रपपराजयस्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥ १९ ॥
 राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
 गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेश्वरसतिं जगाम सा ॥ २० ॥
 नैर्ऋतसप्तमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोपितात् ।
 ज्योतिरिन्धननिपाति मास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः ॥ २१ ॥
 वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरुषेपिवान् ।
 उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नापि बभूव राघवः ॥ २२ ॥

पर डेकर होरिवाँ चदा कीं ॥ १४ ॥ उनके धनुषकी दोरोकी टकार सुनते ही, कानोंमें खटकी हुई मनुष्यकी
 खोपधियोंकी वृण्डल हिलाती हुई अमाश्रयाकी शक्तिसे समान काली कच्छी ताडका उनके धारो पाकर
 इस प्रकार खरबे हो गईं मानो यशुलोंकी पीतोंसे भरी काली बूझी हो ॥ १५ ॥ बड़े वेगसे मार्गके वृक्षोंकी
 डांती हुई भेदोंके बन्ध पहने हुईं, और अर्धकर गरजनेवाली तथा श्मशानसे उठे हुए बवंडरके समान
 आकृति रखते ताडका, हलके ऊपर हूट पड़ी ॥ १६ ॥ वृक्षकी शरणाके समान अपनी कोई उतराते हुईं
 और कमरमें शीतोंकी तगकी (करघन) पहने हुईं उस ताडकाकी देरकर रामने खीकी मारनेकी घृणा
 और बाण दोनों एक साथ छोड़े ॥ १७ ॥ रामके उस बाणने पत्थरकी चक्रानके समान कड़ी ताडकाकी
 छातीमें जो छेद किया वह मानो राघवोंके उस देशमें अमराजके प्रवेश करनेके द्विये द्वार खोल दिया
 हो जहाँ अर्न्तक वह जा नहीं पाया था ॥ १८ ॥ रामके बाणसे ताडकाकी छाती फट गई और वह
 मोचे गिरी तब उसके निरनेसे वह जलल ही नहीं वरन् सीनों लोकोकी जीतनेसे पाई हुई रावणकी
 राजलक्ष्मी भी काँप उठी ॥ १९ ॥ रामके बाणसे विषकर दुर्गन्धमो यधिरसे छिपटी हुई ताडका इस
 प्रकार सीधे यमलोक चली गई मानो कामके बाणसे बाणल हुई कोई अभिस्तारिका अग्निका क्षेप
 करके अपने प्रियके घर जा रही हो ॥ २० ॥ जैसे सूर्य, लकड़ी जलानेका तेज सूर्यकान्त मखिकी दे
 देता है वैसे ही ताडकाके भरनेसे महर्षि विश्वामित्र इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने रामको राघवोंका
 संहार करनेवाला मंत्र संहित दिव्य धरु दे दिया ॥ २१ ॥ वहाँसे राघवचन्द्रजी वामनके उस पवित्र

आससाद् मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पिताहंशम् ।
 बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥ २३ ॥
 तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विन्नतो दशरथात्मजौ श्रैः ।
 लोकमन्धतमसात्कमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव ॥ २४ ॥
 वीक्ष्य वेदियथ रक्तविन्दुभिर्वन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम् ।
 संभ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां श्युतमिषङ्कतसुचाम् ॥ २५ ॥
 उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो प्राणमाश्रयमुखात्समुद्धरन् ।
 रक्षासां बलमपरयदम्बरे शृध्रपक्षपवनेरितध्वजम् ॥ २६ ॥
 तत्र यावधिपती मल्लद्विपां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान् ।
 किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते ॥ २७ ॥
 सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः संदधे धनुषि वायुदैवतम् ।
 तेन शैलगुरुमप्यपातयत्पांडुपत्रमिव ताडकासुतम् ॥ २८ ॥
 यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया ।
 तं शुरप्रशकलीकृतं कृती पत्त्रिणां व्यभजदाश्रमाद्वाहिः ॥ २९ ॥

आश्रममें गए जिसके विषयमें विधानिद्रजोने उन्हें सप यता दिया था । वहाँ अपने पूर्व जन्मके वामनायसारकी जीलाश्रोक कीक-कीक स्मरण न होनेपर भी ये कुछ उल्कहितसे हो गए ॥ २२ ॥
 वहाँसे मुनि अपने उस आश्रमपर पहुँचे जहाँ शिष्योंने पूजाकी सब सामग्री इकट्ठी कर रखी थी, जहाँ वृक्ष भी अपने पत्तोंकी अञ्जली बाँधे सड़े थे और जहाँ मृग भी यहाँ उल्लुक्तासे इन लोगोंको देख रहे थे ॥ २३ ॥ जैसे सूर्य और चन्द्रमा घाटी घाटीसे अपनी किरणोंसे पृथ्वीका आँधेरा दूर करते हैं वैसे ही आश्रममें घाटी-घाटीसे राम और लक्ष्मण यज्ञ करनेवाले ऋषिके विन्न दूर कर रहे थे ॥ २४ ॥
 इतनेमें ही यज्ञकी घेदोपर बन्धुजीव (दुपहरिया) के कुल्लके समान धवा यड़ी रखी हुई देखकर ऋषियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने यज्ञ करना बन्द करके अपने अपने खैरके सुवे रख दिए ॥ २५ ॥ उसी समय रामने अपने तूषीरसे प्राण निकाले और ऊपर मुँह करके आकाशकी ओर देखा कि गिल्लके पत्तोंके समान हिलती हुई आशावाला राक्षसोंकी सेना रुठी लड़ी है ॥ २६ ॥ रामने और सबको धोड़कर उन्हीं दो राक्षसोंको बाण मारे जो उस सेनाके सेनानायक थे और जो यज्ञसे पुष्य करते थे ॥ २७ ॥ क्योंकि मल्लः बड़े बड़े सपोंपर आक्रमण करनेवाला गरुड क्या कभी अलके सुँटे-सुँटे सपोंपर आक्रमण किया करता है ॥ २८ ॥ दिव्य द्रष्टा चलानेमें रामका हाथ देखा गया हुआ था कि उन्होंने मल्ल अपने धनुषपर चायस्य अक्ष चढ़ाया और पर्यंतसे भी बड़े ताड़काके पुत्र गारोथको उस बाणसे उड़ाकर वैसे ही दूर फेंक दिया जैसे कोई सूखा पत्ता उड़ा दिया हो ॥ २९ ॥ सुबाहु नामकी जो बूरा राक्षस अपनी माथासे हथ-उपर पूर रहा था उसे भी रामने अपने बाणोंसे टुकड़े टुकड़े करके आश्रमके बाहर मार गिराया जिसे पक्षियोंने चण भरमें खाँट खाया ॥ २९ ॥

इत्यपास्तमसविघ्नयोस्तयोः सांबुगीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।
 ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः ॥ ३० ॥
 तौ प्रणामचलकारूपक्षौ ध्रातरानभृथाप्सुतो मृनिः ।
 आशिषा मनुपदं समस्पृशद्भ्रमपाटिततलेन पाणिना ॥ ३१ ॥
 तं न्यमन्त्रयत्त संभृतक्रतुर्मथिलः स मिथिलां व्रजन्वशी ।
 राघवावपि निनाय विभ्रतौ तद्भ्रजुःश्रवणजं कुतूहलम् ॥ ३२ ॥
 तैः शिवेषु वसतिर्गताध्वमिः सायमाश्रमतर्ह्यगृह्यत ।
 वेषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणकलत्रतां ययौ ॥ ३३ ॥
 प्रस्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी ।
 स्वं वपुः स किल किन्विषच्छिद्रां रामपादरजसामनुग्रहः ॥ ३४ ॥
 राघवान्वित्तुपस्थितं मृनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः ।
 अर्थकामसहितं सपर्यया देहवद्धमिव धर्ममभ्यगात् ॥ ३५ ॥
 तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गतानिव दिवः पुनर्वस्र ।
 मन्यते स्म, पियतां विलोचनैः पद्मपातमपि वञ्चनां मनः ॥ ३६ ॥

जब यज्ञ करनेवाले ऋषियोंने देखा कि छोड़े ही समयमें रामने सब विघ्न दूर कर दिए तो उन्होंने राम और लक्ष्मणके पराक्रमकी बड़ी प्रशंसा की और मान धारण किए विश्वामित्रजीने विधिके साथ अपना यज्ञ समाप्त कर लिया ॥ ३० ॥ यज्ञ समाप्त होनेपर, स्नान करके महर्षि विश्वामित्रने उन राम और लक्ष्मणको बड़ा आशीर्वाद दिया जिनकी लड़के प्रणाम करके समय मूल रही थीं । ऋषिने पुरासे दिल्ली हुई अपनी इच्छेसे उनके स्तिरपर रुग्णर जनपद अपना बड़ा स्नेह दिनाया ॥ ३१ ॥ उन्हीं दिनों राजा जनकने धनुष यज्ञ ठग रखा था उसमें उन्होंने मुनियोंकी भी निन्त्रण दिया था । धनुषयज्ञकी यात मुनवर दोनों राजकुमारोंको बड़ा कुतूहल हुआ, इसलिये विश्वामित्रजी उन दोनोंको साथ लेकर मिथिलापुरीकी ओर चल दिए ॥ ३२ ॥ वे कुछ दूर चले तो सौम हो गई और वे उस आश्रमके सुन्दर वृक्षोंके तले ठिक गए जहाँ महातपस्वी गौतमकी स्त्री आइया छोड़ी डेरके लिये दृग्दकी पत्नी बन गई थीं ॥ ३३ ॥ रामके चरणोंकी पूजा सब पापोंकी हरनेवाली थी इसलिये उसके कृते ही पतिके शपथसे पत्नर बनी हुई अहकामकी किर इतने दिनों पीछे बड़ी पहलेवाला सुन्दर शरीर मिल गया ॥ ३४ ॥ जब राजा जनकजीकी यह समाचार मिला कि विश्वामित्रजीके साथ राम और लक्ष्मण भी आए हुए हैं तब वे पूजाकी सामग्री लेकर उनकी आगतिके लिये मिलने चले । जनकजीको ये ऐसे करने मानो धर्मके साथ धर्म और काम हो चले आए हैं ॥ ३५ ॥ वे दोनों राजकुमार ऐसे सुन्दर खग रहे थे मानो दो पुनर्वसु गणध ही वृक्षोंपर उतर आए हैं । जनकपुरके निवासी ऐसे भागन होकर अपनी आँखोंसे उनका रूप भी रहे थे कि पलकोंका निरना भी उन्हें बना करार रहा था ॥ ३६ ॥

यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवशवर्धनः ।
 राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयां वभूव सः ॥ ३७ ॥
 तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः ।
 स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया ॥ ३८ ॥
 अत्रवीच भगवन्मतङ्गजैर्वद्बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम् ।
 तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोयवृत्ति कलमस्य चोष्टितम् ॥ ३९ ॥
 ह्येपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात धनुषा धनुर्मृतः ।
 ज्यानिघातफठिनत्वचो भुजान्स्यान्विधूष धिगिति प्रतरिधरे ॥ ४० ॥
 प्रत्युवाच तमृपिर्निशम्यतां सारतोऽयमयथा गिरा कृतम् ।
 चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव ॥ ४१ ॥
 एवमाप्तवचनात्स पौरुषं काकपक्षकधरेऽपि राघवे ।
 श्रद्धे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि ॥ ४२ ॥
 ज्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकामिहरणाय मैथिलः ।
 तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचनः ॥ ४३ ॥
 तत्प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं वीक्ष्य दाशरथिराददे धनुः ।
 विद्वत्कृतमृगानुसारिणं येन बाणमसृजद्बृषध्वजः ॥ ४४ ॥

जब धनुष्यशकी सब क्रियाएँ समाप्त हो गईं तब डीक अवसर हममकर विश्वामित्रजीने जनकजीसे कहा कि राम भी यह धनुष देखना चाहते हैं ॥ ३७ ॥ जब जनकजीने एक और प्रसिद्ध धरामें उलपन्न हुए बालक रामके कोमल शरीरको देखा और दूसरी ओर अपने उस कठोर धनुषपर इष्टि डाली जिसे बदे-बदे वीर भी नहीं छुका सके थे, तब उन्हें इस बातका बड़ा पछतावा हुआ कि मैंने अपनी कन्याके विवाहके लिये यह धनुष तो देनेका प्रसंगा लगा क्यों दिया ॥ ३८ ॥ वे विश्वामित्रजीसे बोले— हे भगवन् ! जो काम बदे-बदे मतवाले हाथी नहीं कर सकते, उसे हाथीके बच्चेसे करना व्यर्थका खेलावाच है । इसलिये मेरा मन तो नहीं चाहता कि इससे धनुष उठवाया जाय ॥ ३९ ॥ इस धनुषके उठानेमें बदे-बदे धनुषधारी राजा अपनी सा मुँह लेकर रह गये और अपनी उन भुजाओंको पिछारते हुए सबे गए जिनपर धनुषकी डोरीकी फटकारसे बदे बदे घटे पड़ गये थे ॥ ४० ॥ यह सुनकर मुनि बोले— राजन् ! इनकी शक्ति मैं आपको बतलाता हूँ । पर कहनेसे होता क्या है । जैसे राजकी शक्तिकी परीक्षा महाद्वार होती है वैसे ही इनकी शक्तिकी परीक्षा धनुषपर ही हो जायगी ॥ ४१ ॥ मुनिके कहनेसे जनकजीको कुछ-कुछ विश्वास होने लगा कि जैसे वीरयहूरीके बराबर चन्हीं सी विनगारोंमें भी जजानेकी शक्ति छिपी रहती है वैसे ही कारुण्यधारी राममें भी धनुष उठानेकी शक्ति अवश्य होगी ॥ ४२ ॥ इसलिये जनकजीने अपने सेवकोंको उसी प्रकार धनुष लानेकी आज्ञा दी जिसे इन्द्र, पारसोंको अपनी धनुष प्रकट करनेकी आज्ञा दे देते हैं ॥ ४३ ॥ धनुष लाया गया । वह ऐसा जान

श्राततज्यमकरोत्स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः ।
 शैलसारमपि नातिपत्नवः पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः ॥ ४५ ॥
 भज्यमानमतिमात्रकर्षणात्तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः ।
 भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत् ॥ ४६ ॥
 दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुक्कममिनन्ध मैथिलः ।
 राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥ ४७ ॥
 मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम् ।
 संनिधौ द्युतिमत्स्वपोनिषेरयिसाचिक इवातिसृष्टयान् ॥ ४८ ॥
 प्राहिणोच महितं महाद्युतिः कोशलाधिपतये पुरोधमम् ।
 भृत्पमावि दुहितुः परिग्रहादिरथवां कुलमिदं निमेरिति ॥ ४९ ॥
 अन्वयेप सदृशीं स च स्तुपां प्राप चैनमनुह्लवाग्निजः ।
 सद्य एव मुकुटां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् ॥ ५० ॥
 तस्य कल्पितपुरस्क्रियाधिधेः शुश्रुभान्वचनमग्रजन्मनः ।
 उच्चचालु बलमितसखो वशी सैन्यरेणुमुपितार्कदीधितिः ॥ ५१ ॥

पवता था मानो कोई बड़ा भारी अज्ञान राधा हुआ ही । रामने देखते-देखते शङ्करजीके धनुषको उठा
 लिया जिसे हाथमें लेकर शङ्करजीने भृगुके रूपमें दीप्तेवाले वज्रदेवताके ऊपर पाष छोड़े थे ॥ ४५ ॥
 यह देखकर सब समासत्रोंको बड़ा आश्चर्य हुआ अरु रामने वज्र पर्वतके समान भारी धनुषपर धिनी
 ही सरलतासे छोड़ी वहा ही जैसे कामदेव अपने मूर्खोंके धनुषपर बोली चढ़ाता है ॥ ४६ ॥ रामने
 धनुषमें इतना धान लिया कि वह वज्रके समान मयङ्कर शब्द बरके कलकलाता हुआ टूट गया,
 मानो उसने महाशोधी परशुरामको सूचना दे दी हो कि छत्रियोंने अरु फिर फिर उठाना प्रारम्भ कर
 दिया है ॥ ४६ ॥ राजा जनकने जब देखा कि धनुष तोड़कर रामने अपना पराक्रम दिखला दिया
 है तब उन्होंने रामका वडा आश्चर्य किया और पृथ्वीसे उत्पन्न हुई अपनी कन्या जानकी उसी प्रकार
 रामके हाथ खींच दी मानो साक्षात् अपनी लक्ष्मी ही उन्हें दे खाती हो ॥ ४७ ॥ तब प्रतिज्ञा
 करनेवाले जनकने विधानिप्रतीको ही विवाहका साधु अग्नि समझ लिया और तत्काल उन्हींके धामे
 रामको सीता समर्पित कर दी ॥ ४८ ॥ तब महातेजस्वी राजा जनकने अपने पूज्य पुरोहितने
 पुरोधमको पाव यह कहला भेजा कि मेरी पुत्री सीताको रक्षकर बरके हम निमि-शुक्लप देनी ही
 हूँ। कीक्षिपु जीयां चाप अपने सेवकोंपर कामे है ॥ ४९ ॥ अथर दशरथ यह विचार ही रहे थे कि
 योग्य पतोह हमारे घरमें आवे कि इतनेमें जनकजाडे पुरोहित रखा दशरथजी का इच्छा पूरी होनेका
 समाचार लेकर जा पहुँचे । रोक भी है, पुण्यभागोंकी अभिलाशा कष्टगुरुके समान लकाज फल देने-
 वाली होती मो है ॥ ५० ॥ इन्द्रके मित्र, जितेन्द्रिय दशरथने पुरोहितजीका वडा साकार किया ।
 उनकी बातें सुनकर वे इतनी सेवा लेकर चले कि उसने उद्ये हुई पूज्यमें सूर्य भी दक गावा ॥ ५१ ॥

आसत्ताद् मिथिलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपां बलीः ।
 प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिमोगमायतम् ॥ ५२ ॥
 तौ समेत्य समये स्थिताद्युभौ भूपती वरुणवासवोपमौ ।
 कन्यकातनयकौतुकक्रियां स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥ ५३ ॥
 पार्थिवीमुदबहद्रघूद्बहो लक्ष्मणस्तदनुज्ञामथोर्मिलाम् ।
 यौ तयोरवरजौ वरोजसौ तौ कुशध्वजमुते सुमध्यमे ॥ ५४ ॥
 ते चतुर्थसहितास्त्रयो वधुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः ।
 सामदानविधिभेदनिग्रहाः सिद्धिमन्त इव नस्य भूपतेः ॥ ५५ ॥
 ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम् ।
 सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः ॥ ५६ ॥
 एवमात्तरतिरात्मसंभवाँस्वान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र सः ।
 अध्वसु त्रिषु विस्मृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत ॥ ५७ ॥
 तस्य ज्ञातु मरुतः प्रतीपगा वत्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः ।
 चिक्रिशुभ्रशतया वरुधिनीमुचता इव नदीरयाः स्थलीम् ॥ ५८ ॥
 लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्वद्धमीमपरिवेपमण्डलः ।
 वैन्तेपशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ॥ ५९ ॥

वे इस ठाठ वाटसे मिथिला पहुँचे मानो उसे ऐसे हूए थाए हों । बाहर मिथिलाके उपवनको तो
 उबकी सेनाने रौंद ही खाया । पर इत भे मके वेको उस नगरीने उसी मझार सहन किया जैसे कोई
 स्त्री अपने प्रियतमके कठोर संभोगको सहन करती है ॥ ५२ ॥ वरुण और इन्द्रके समान उन दोनों
 प्रतापी राजाओंने मिलकर शास्त्रकी विधिसे अपने ऐश्वर्यके अनुकूल अपने पुत्रों और कन्याओंका विवाह
 कर दिया ॥ ५३ ॥ रामका लीलासे और लक्ष्मणका सीताजीकी छोटी बहन उर्मिलासे विवाह हुआ ।
 भरत और शत्रुघ्नका विवाह जनकजीके छोटे भाई कुशध्वजकी माण्डवी और श्रुतिकीर्ति नामकी
 कन्याओंसे हुआ ॥ ५४ ॥ वे चारों भाई नई बहनोंके साथ ऐसे सुशोभित हुए मानो राजा दशरथके
 साम, दाम, दण्ड और भेद, इन चारो उपायोंके सिद्धियों मिल गई हों ॥ ५५ ॥ उन चारों राज-
 कुमारोंको पाकर रामकन्याएँ और रामकन्याओंको पाकर राजकुमार निदान हो गए । यह वर और
 वधुओंका मिलन ऐसा हुआ जैसे शब्दके मूलरूपोंमें प्रत्यय जुड़ गए हों ॥ ५६ ॥ इस प्रकार
 दशरथने चारों पुत्रोंका विवाह करके तीन पढ़ाव पहुँचकर वहाँसे जनकजीको लीटा दिया और स्वयं
 बड़े प्रसन्न मनसे थयोपवाकी ओर बढ़े ॥ ५७ ॥ जैसे बनी हुई नदीकी धारा आस पासकी भूमिको
 उजाड़ देती है वैसे ही एक दिन मार्गमें सेनाके ध्वजारूपी वृष्टोंको ऋक्षसेनेवाले प्रायुने सारी सेनाको
 व्याकुल कर दिया ॥ ५८ ॥ उससे पूर्वके चारों ओर एक बड़ा भारी मण्डल बन गया और यह ऐसा
 लगने लगा जैसे गढ़इसे मारा हुआ कोई साँप अपने सिरसे गिराई हुई भक्षिके चारो ओर घुण्डली

स्येनपक्षपरिभ्रमराललाः सांध्यमेघरुधिरार्द्रवासनः ।
 अङ्गना इव रजश्चला दिशो नो बभ्रुरवलोकनक्षमाः ॥ ६० ॥
 भास्करश्च दिशमधुधास यां तां श्रिताः प्रतिभयं प्रवागिरे ।
 चत्त्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥ ६१ ॥
 तत्प्रतीपपयनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्ययित् ।
 अन्वयुङ्क्त गुरुमोक्षरः क्षिणेः स्वन्तमित्यलघयत्स तदुच्यथाम् ॥ ६२ ॥
 तेजगः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल्ला बाहिनीसुरे ।
 यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिधिरात् ॥ ६३ ॥
 विज्यमंशसुयवीतलक्ष्यं मातृकं च घनुरुजितं दधत् ।
 यः ससोम इव धर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥ ६४ ॥
 येन रोपपरुपात्मनः पितुः शामने स्थितिभिदोऽपि तस्थुपा ।
 वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥ ६५ ॥
 अक्षवोजनलयेन निर्वमौ दक्षिणध्रुवणमंस्थितेन यः ।
 चस्त्रियान्तकरणौ रुविशतेर्षाजपूर्वगणनामिषोद्भृद् ॥ ६६ ॥

मारकर पदा हुआ हो ॥ ५९ ॥ जैसे रूपे, मैंने राज्ञोंवाली तथा रूपके जाल करशेंवाली रजस्वला का
 देपनेमें शरणी नहीं लगती उन्नी प्रकार उस समय चारों ओरका वे दिशाएँ भी शरियोंकी नहीं सुहा
 रही थीं जिनमें मर्ममेंजे चारोंके पर उधर उधर उचर रहे थे और सन्धाके लाल बादल छाए हुए
 थे ॥ ६० ॥ जिधर सूर्य था उधर ही सिधारिनिये भयानक रूपके रोने लग्यो मानो चरियोंके रक्तसे
 अपने पिताका संपर्क करनेवाले परसुतामरो वे प्रकार रही हों ॥ ६१ ॥ विरोधी इषाके चलने प्रादि
 अराकृत होते देखकर उसका शान्तिके लिये दशरथजीने अपने मुखसे पूजा कि अब क्या करना चाहिये ।
 इसपर मुखजने कहा—बिन्तानी कोई बात नहीं है । इसका फल प्रसन्ना ही होगा । यह सुनकर
 दशरथजीके मनमें कुछ डाढ़म येषा ॥ ६२ ॥ इसी बीच अचानक एक देवा प्रकारका पुत्र तेनाके
 धामे उठता दिपाई दिया जिसे देखकर सब सैनिकोंकी शरि चँधिवा गई । जब उन्होंने शरि मस्त-
 कर देना तब वह भकाशका पुत्र एक पुरुषके रूपमें दिपाई देने लगा ॥ ६३ ॥ उस तेजस्वी पुरुषके
 नतीरपर आकाश पिताके अंतका सूचक यज्ञोपवीत मोमा दे रहा था और कन्धेरर उग्रिय गाताका
 अश सूचित करनेवाला धनुष लटक रहा था । इस वेशमें वे ऐसे जान पवते थे जैसे सूर्यके साथ
 चन्द्रमा हो या चन्द्रके पेशले सौर लिपटे हों ॥ ६४ ॥ उन्होंने जिन समय शोषते कटोर
 हृदयवाले और उचित अनुचितका विचार छोड़ देनेवाले अपने पिताकी आज्ञा मानकर अपनी कर्पती
 हुई माताका सिर काट बिदा था उस समय उन्होंने पहले ही पृथाकी जीत जिया और फिर पृथ्वीकी
 जीत लिया था ॥ ६५ ॥ उनके दाएँ कानपर दृष्टोत दानेको रदाउको माहा छटक रही थी मानो वह
 इन्द्रसे वाद चरियोंके भाग करनेकी गिनती करनेके लिये ही उन्होंने पहन रगनी हो ॥ ६६ ॥

तं पितृव्यधमवेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितम् ।
 बालद्वनुरवलोक्ष्य भार्गवं स्वां दशां च विपत्ताद पार्थिवः ॥ ६७ ॥
 नाम राम इति तुल्यमात्मजे वर्तमानमहिते च दारुणे ।
 हृद्यमस्य भयदायि चाभवद्रत्नजातमिव हारसर्पयोः ॥ ६८ ॥
 अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
 क्षत्रकोपदहनार्चिपं ततः संदधे दशमुदग्रतारकाम् ॥ ६९ ॥
 तेन कार्मुकनिपक्तगुष्टिना राघवो विगतभीः पुरोगतः ।
 अङ्गुलीविबरचारिणं शरं कुर्वता निजगदे युयुत्सुना ॥ ७० ॥
 क्षत्रजातमपकारवैरि मे तन्निहत्य बहुधाः शमं गतः ।
 सुप्तमर्ष इव दण्डघट्टनाद्रोपितोऽस्मि तव विक्रमश्रयात् ॥ ७१ ॥
 मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं क्लिप्तमितपूर्वमक्षयोः ।
 तन्निशम्य भवता समर्थये वीर्यशृङ्गमिव भद्रमात्मनः ॥ ७२ ॥
 अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्यते एव मामगात् ।
 ग्रीडमावहति मे ससंप्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ॥ ७३ ॥
 विश्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतो समागतौ ।
 धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्तिमपहर्तुमुद्यतः ॥ ७४ ॥

जब दशरथजीने उन परशुरामको देखा जिन्होंने अपने पिताके मारे जानेपर क्रोधसे चत्रियोंको बाध करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी तब दशरथजीको अपनी दशा देखकर बड़ी चिन्ता हुई क्योंकि उनके पुत्र अभी बच्चे ही थे । ॥ ६७ ॥ उनके पुत्र और परशुराम दोनोंमें राम नाम था । इसलिये जैसे गलेके हार और सर्प दोनोंमें रहनेवाली मणि आनन्द भी देती है और भय भी, वैसे ही अपने पुत्र और परशुराम दोनोंमें आगे हुए राम नामसे उन्हें सब भी हुआ और आनन्द भी ॥ ६८ ॥ दशरथजी अभी कहते ही रह गए कि आपके सरकारके लिये यह अर्घ्य है, किन्तु परशुरामजीने उधर ध्यान न देकर चत्रियोंको जलानेवाली अपनी देरी बितवनने रामको देखा ॥ ६९ ॥ सुदृषके लिए उद्यत और मुट्टीमें धनुष पकड़कर उल्लिखीमें बाध चढ़ते हुए परशुरामजीने अपने आगे निडर खड़े हुए रामसे कहा ॥ ७० ॥ मेरे पित का बध करके चत्रियोंने मुझसे शत्रुता मोल ले ली है । उन्हें बहुत बार मारकर मुझे कुछ शान्ति मिली थी । पर जैसे टटेसे छेद देनेपर सर्प फुलकार उठता है वैसे ही तुम्हारा पराक्रम सुनकर मेरे शरीरमें भी आग लग गई है ॥ ७१ ॥ जनकजीके जिन धनुषको कोई राजा झुका भी न सका उसीको तुने लोप दिया है । यह सुनकर मैंने यही समझा है कि आजतक जो मैं सबसे बड़का मखवान् समझा जाता था वह यश मानो आज नष्ट हो गया हो ॥ ७२ ॥ पहले सगरमें राम कहनेसे लोग मुझे ही समझते थे पर उषों-उषों तुम ऊँचे चढ़ते चले जा रहे हो उषों-उषों वह अर्धं तुम्हारे नामके साथ लगता जा रहा है । यह सब देखकर मुझे लगता लगने लगा है ॥ ७३ ॥ जित परशुरामके बध

क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि ।
 पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपियः ॥ ७५ ॥
 विद्धि चात्पलमोजसा हरैरैश्वरं धनुर्भाजि यन्त्रया ।
 खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्पि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥
 तन्मदीपमिदमापुषं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।
 विष्टुत प्रधनमेवमप्यहं तुन्यवाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥
 कातरोऽसि यदि वोद्गताचिषा तजितः परशुधारया मम ।
 ज्यानिघातकठिनाङ्गलिर्वृथा वष्यतामभययचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥
 एवमुक्तवति भीमदर्शने मार्गवे स्मितधिकम्पिताधरः ।
 तदनुग्रहणमेव राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥ ७९ ॥
 पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनेऽभवत् ।
 केवलोऽपि तुमगो नवाम्बुदः किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः ॥ ८० ॥
 तेन भूमिनिहितैककोटि तत्कार्मुकं च बलिनाधिरोपितम् ।
 निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतनः ॥ ८१ ॥

पहारोंसे टकराकर भी झुगिटा नहीं होते उसके दो ही शत्रु शरगतक समान प्रपराध करनेवाले हुए हैं, उनमें पहला तो या सहस्राबाहु जो मेरे पितासे कामधेनुका चढ़वा छौनकर ले गया था, और दूसरे ही तुम, जो मेरी कीर्ति छीननेपर कमार करते बैठे हो ॥ ७५ ॥ इसलिये क्षत्रियोंका नाश करनेवाला मेरा पराक्रम तबतक मुझे शक्य नहीं लगता जबतक मैं तुम्हें न जीत लूँ । क्योंकि अग्निहा प्रताप अभी सराहनीय है जब वह समुद्रमें भी घसे ही मद्ककर जले जैसे धूरी घासके डेरमें ॥ ७५ ॥ तुम्हें यह समझ रचना चाहिये कि शिवजीके जिस धनुषको छोड़कर तुम पैठ रहे हो उसकी कठोरता तो विष्णुजीने पहले ही हर ली थी । इसलिये उसे तोड़कर तुमने कोई धारताका काम नहीं किया है, क्योंकि जिस कृष्णकी जड़ नदीकी प्रकण्ड धाराने पहले ही खोपकी कर दी हैं उसे वायुके तल्लिखसे भोंकेमें ही टह जानेमें क्या देर लगती है ॥ ७६ ॥ देखो राम ! सुद तो फाँटे होगा, पहले तुम मेरे इस धनुषपर डोरी चढ़ाकर इसे वायुके साथ खींचो सो । यदि तुम इतना भी कर लोगे सो मैं समझूँगा कि तुम मेरे ही समान बलवान् हो और मैं इतनेसे ही हार मानकर लौट जाऊँगा ॥ ७७ ॥ और यदि तुम मेरे फरसेकी शक्तकी हुई धारको देखकर बर गए हो तो अपने उन हाथोंको जोड़कर जनपकी शिषा गोंगो जितकी उँगलियोंमें धनुषकी डोरीकी फटकारसे धर्य ही गढ़े पद गए हैं ॥ ७८ ॥ भयङ्कर वेशधारी परशुरामजीने जब यह कदा तो रामने हँसते हँसते इस प्रकार बह धनुष हाथमें ले लिया मानो परशुरामजीके वचनोंका यही ठीक उत्तर हो ॥ ७९ ॥ जैसे हां उन्होंने वह अपने पिछले जन्मवाला धनुष हाथमें लिया थाही उनको शोभा और भी बढ़ गई, क्योंकि एक तो नया बारल यों ही सुन्दर लगता है, फिर यदि उसमें इन्द्र धनुष भी पन जाय तब तो उसकी शोभाका कहना ही क्या ॥ ८० ॥ पराक्रमी रामने उस धनुषकी एक छोर पृथ्वीपर टककर जैसे ही उत्तर डोरी चढ़ाई जैसे ही क्षत्रियोंके शत्रु

तानुभात्रपि परस्परस्थितौ धर्ममानपरिहीनतेजसौ ।
 पश्यति स्म जनता दिनात्पये पार्वणौ शशिदिवास्तौविय ॥ ८२ ॥
 तं कृषामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राधाः रघुलितवीर्यमात्मनि ।
 स्वं च संहितममोघमाशुगं व्याजहार हरयुगुमनिभः ॥ ८३ ॥
 न ग्रहर्तुमलमस्मि निर्देयं विप्र इत्यगिमवत्यपि स्वपि ।
 शंस किं गतिमनेन पत्स्त्रिया हन्मि लोकरुमुत ते मस्यार्जितम् ॥ ८४ ॥
 प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेत्ति पुरुषं पुरातनम् ।
 गां गतस्य तय धाम वैष्णवं कोपितो ह्यमि मया दिदृक्षुषा ॥ ८५ ॥
 भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्रमाद्य वसुधां ससागराम् ।
 आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥ ८६ ॥
 तद्गतिं मतिमतां चरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रघु मे ।
 पीडयिष्यति न मां पिलीकृता स्वर्गपद्वतिरमोगलोलुपम् ॥ ८७ ॥
 प्रत्यपद्यत तथेति राघवः प्राङ्मुखश्च विससर्ज सायकम् ।
 भार्गवस्य मुकुतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिधो दुरत्ययः ॥ ८८ ॥
 राघवोऽपि चरणी तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत् ।
 निर्जितेषु तरसा तरस्थिनां शशुषु प्रणतिरेव कीर्तये ॥ ८९ ॥

परशुरामजी वसी चन्द्रिके समान निस्तेज ही गए जिसमें केवल धुआँ भर रह गया हो ॥ ८१ ॥
 रामने सामने एवै हुए राम और परशुरामसे एकत्र तेज बढ़ गया और दूसरेका घट गया और
 इस प्रकार वे दोनों ऐसे जान पड़ने लगे जैसे वे सन्ध्या समयके अन्धरा और सूर्य हैं
 ॥ ८२ ॥ कार्तिकेयके समान तेजस्वी दयालु रामचन्द्रजीने एक बार निस्तेज परशुरामजीको
 और फिर भगुपपर चढ़े हुए अपने अचूक बाणको देखा और बोले ॥ ८३ ॥ — यद्यपि आपने हमारा
 अपमान किया है पर आप ब्राह्मण हैं, इसलिये मैं निर्देय होकर आपको मारूँगा नहीं। पर यह
 बताइए कि अब इस बाणसे मैं आपकी गति रोहूँ या आपका उन दिव्य लोकोर्मों पहुँचना रोक दूँ।
 जो आपने यज्ञ करके जीत लिए हैं ॥ ८४ ॥ यह सुनकर परशुरामजी बोले—यह बात नहीं है कि
 आपको देखते ही मैं पहचान न गया हूँ कि आप ही साक्षात् पुरातन पुरुष हैं, किन्तु मैंने यह जाननेके
 लिये आपको कष्ट दिया था कि देखूँ आप विष्णुका कितना तेज लेकर पृथ्वीपर उतरे हैं ॥ ८५ ॥
 पिताके शशुषोंका साथ करनेवाले और सागरतक फैली हुई पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान देनेवाले मुझ
 परशुरामके लिये आप परमपुरुषके हाथों हारना भी गौरवकी ही बात है ॥ ८६ ॥ इसलिये आप
 मेरी गति न रोकिए जिससे मैं पवित्र तीर्थोंमें आ-जा सकूँ। मुझे भोगकी तो इच्छा है नहीं इसलिए
 यदि मुझे स्वर्ग न भी मिले तो कुछ हुआ नहीं होगा ॥ ८७ ॥ रामने परशुरामजीका कहना मान
 लिया और पशुपती और मुँह करके बाण छोड़ दिया। यद्यपि परशुरामजीने बहुत पुण्य किए थे
 किन्तु यह बाण सदाके लिये परशुरामजीके स्वर्गका मार्ग रोककर रक्का हो गया ॥ ८८ ॥ तब रामने

राजसत्त्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा ।

नन्दनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥ ९० ॥

साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यतः ।

ऊचिवानिति वचः सत्सङ्गणं लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे ॥ ९१ ॥

तस्मिन्गते विजयिनं परिरम्य रामं स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम् ।

तस्याभयत्क्षयशुचः परितोपलामः कक्षाश्लिखिततरोरिव वृष्टिपातः ॥ ९२ ॥

अथ पथि गमयित्वा कलमरम्योपकार्यं कतिचिद्वनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः ।

पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शिनीनां कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥ ९३ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृती रघुवंशे महाकाव्ये सीताविवाहवर्षनो नामैकादशः सर्गः ॥

१

परशुरामजीने क्या मँगते हुए उनके घरघौंमें प्रणाम किया ; क्योंकि जब कोई पराक्रमी अपने पहले अपने शत्रुको जीत लेता है तब यदि वह बगल भी दिरावे तो उसकी कीर्ति ही बढ़ती है ॥ ८२ ॥ परशुरामजी बोले—आजने मुझे यह वृष देकर मेरा बड़ा भाग्य उपकार किया है । इससे मेरा यदा भारी काम तो यह हुआ कि आपने सत्रिय मातामे पाए हुए मेरे रजोगुणकी दूर करके मुझे पिताका सतोषुष दे दिया ॥ ९० ॥ मैं अत्र जाता हूँ । आप देवताओंको जो कार्य करनेके लिये आप हैं वह दिन विज्ञके पूरा हो । राम पीर लक्ष्मणसे यह कहकर परशुरामजी अन्तर्धान हो गए ॥ ९१ ॥ उनके चले जानेपर विजयी रामकी वृशशकीने गलेमें लगा लिया और वे स्नेहमें भरकर यह समझने लगे कि रामका दूसरा जन्म हुआ है । इस थोड़ी देरके दुःखके पश्चात् उन्हें ऐसा संतोष मिला जैसे जंगलके आगसे झुलसे हुए पेड़की तर्पिका जल मिल जाय ॥ ९२ ॥ तब शिवके समान राजा दशरथमे कुछ रातें तो उस मार्गमें बिताईं उनके लिये सुन्दर सेरे लगे हुए थे । फिर वे उस अयोध्या नगरमें पहुँचे जहाँ खोलापानी देगनेके लिये रामुष, नगरकी सुन्दर छियोंकी आँतें भरोघौंमें कमलके समान दिराईं बढ़ रदी थीं ॥ ९३ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें सीतार्थके विवाहका वर्णन नामक खारहवों सर्ग समाप्त हुआ ।



द्वादशः सर्गः

निबिंष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान् । आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपाचिरिवोपसि ॥१॥
 तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति । कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छन्नना जरा ॥२॥
 सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः । प्रत्येकं हृदयां चक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥३॥
 तस्याभिपेक्षसंभारं कल्पितं क्रूरनिश्चया । दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥४॥
 सा क्लिप्ताश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ । उद्ववामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमन्नाविवोरगौ ॥५॥
 तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्रात्राजयत्समाः । द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥६॥
 पित्रा दत्तां रुद्रनामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत । पश्चाद्दनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥७॥
 दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले । ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥८॥
 स सीतालक्ष्मणसखः सत्याद्गुरुमलोपयन् । विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकं च सतां मनः ॥९॥
 राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम् । शरीरत्वागमाश्रेय शुद्धिलाभममन्यत १०

चारहवाँ सर्ग

राजा दशरथने संसारके सब सुख भोग क्षिप्त और बूढ़े हो चले । अब उनकी दशा प्रातः कालके उस दीपक जैसी हो गई थी जिसका तेल चुक गया हो और पल बह बुझने ही वाला हो ॥ १ ॥ उनकी कनपटीके पासके बाल पक गए थे मानो बुढ़ापा, कैकेयीने संकित होकर राजाके कानमें झांकर यह कह रहा हो कि अब रामको राज्य सौंप ही देना चाहिये ॥ २ ॥ जैसे पानीकी गूलसे तिसकर पूरे उद्यानके वृक्ष इरे भरे हो जाते हैं वैसे ही नगरवासियोंके प्यारे रामके राज्याभिषेकका समाचार सुनकर शयोष्याके लोग कूले नहीं समाए ॥ ३ ॥ पर निदुर कैकेयीने ऐसा चक्र चलाया कि राज्याभिषेकका सारा उत्सव छोड़ते सपे हुए राजा दशरथके आँसुओंसे लिप गया ॥ ४ ॥ जब राजा दशरथने उस कठोर स्वभाववाली कैकेयीकी बहुत मनगढ़ा तब उसने ये दो वर माँगे जिनके लिये राजा दशरथ पहलेसे ही वचन दे चुके थे । ये दो वर ऐसे ही थे जैसे वर्षासे भीगी हुई पृथ्वीके छेदोंमेंसे दो सौंप निकल पड़े हों ॥ ५ ॥ कैकेयीने एक वर तो यह माँगा कि चौदह वर्षके लिये राम वनमें चले जाय और दूसरा यह कि जेरे येते भरतकी राज्य मिले । पर इस वर माँगनेका प्रकार फल यही निकला कि कैकेयी विषया हो गई ॥ ६ ॥ जब दशरथजी रामको राजगद्दी दे रहे थे उस समय रामने आँसुओंमें आँसु भरकर उसे स्वीकार किया था और जब उससे कहा गया कि वन चले जाओ तब रामने इस आज्ञाको हँसते-हँसते स्वीकार लिया ॥ ७ ॥ यह देखकर लोगोंके आश्चर्यका दिग्गाना न रहा कि रामके सुँदरका साथ जैसा राज्याभिषेकके रोजगी दस्य पहनते समय था ठीक वैसा ही वन जानेके लिये वेदकी छालके वस्त्र पहनते समय भी था ॥ ८ ॥ अपने पिताके वचन साथ करनेके लिये ये सीता और लक्ष्मणके साथ केवल दण्डक वनमें ही नहीं पड़े बल्कि अपने इस साथ उपवहनसे उन्होंने सबानोंके मनमें भी पर कर लिया ॥ ९ ॥ उनके वियोगमें राजा दशरथकी मर्दा दुःख हुआ । उन्हें मुनिका साथ

विशोपितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम् । रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विपामामिपतां ययौ ११
 अथानायाः प्रकृतयो मातृवन्धुनिवासिनम् । मौलैरानापयामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः १२
 श्रुत्वातथाविधं मृत्युं कैकेयीवनयः पितुः । मातुर्न केवलं स्वस्था श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः
 ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रमालयैः । तस्य पश्यन्तसौमित्रैरुदश्रुर्वसतिद्रुमान् १४
 चित्ररूढवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः । लक्ष्म्या निमग्नयांचक्रे तमनुच्छिद्यसंपदा १५
 स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे । परिषेचामात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः १६
 तमशक्यमपाक्रष्टुं निदेशात्स्वर्गिणः पितुः । ययाचे पादुकेपथात् कर्तुं राजवाधिदेवते १७
 स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रात्रा नैवाविशत्पुरीम् । नन्दिप्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासनिवासुनक्
 दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापरासुखः । मातुः पाषस्य भरतः प्रापश्चिनमिवाकरोत् १९
 रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन् । चचार सानुजः शान्तो वृद्धेच्चाक्रुत्तं युवा २०
 प्रमावस्तम्भितच्छापमाश्रितः स वनस्पनिष्ठा । कदाचिदङ्के सीतायाः शिश्ये किंचिदिव श्रमात्

स्मरण हो थाया और उन्होंने समझ लिया कि अब प्राण देकर ही मेरी सुखि होगी ॥ १० ॥ दशरथ-
 जीके यह तो ऐसे शवसरकी तारुमें ही थे । जब उन्होंने देखा कि शयोध्याके राजा स्वर्ग चले गए
 और राजकुमार भी राज्य छोड़कर चले गए तो उन्होंने रुद्र शयोध्यापर धावा बोल दिया ॥ ११ ॥
 यह देखकर शयोध्याकी जनानुप प्रजाने उन कुल-मन्त्रियोंको भेजकर भरतको उनकी ननिहालसे बुलाया
 जिन्होंने अपने शीशु निकलने नहीं दिए थे ॥ १२ ॥ जब भरतजीको अपने पिताकी मृत्युका सब
 समाचार मिला तब वे केवल अपनी माँसे ही नहीं बरन् शयोध्याकी राज-लक्ष्मीसे भी बड़े चिढ़ गए
 ॥ १३ ॥ उन्होंने अपने साथ सेना ली और रामकी इज्जते निकल पड़े । जब मार्गके
 आश्रमवासियोंने उन्हें बड़े वृष दिखाए जिनके तले राम और लक्ष्मण जाते हुए रिके थे तो उनकी
 शीशुने शीशु छलक थाए ॥ १४ ॥ उन दिनों राम चित्ररूढवनमें रहते थे । वहाँ जाकर
 भरतजीने उन्हें दशरथजीको मृत्युका समाचार सुनाया और कहा कि श योध्याकी
 राजलक्ष्मीको मैंने बुझा भी नहीं है । आप ही उसे खलक सँभालिए ॥ १५ ॥ क्योंकि जिस
 राज्यको बड़े भाईने स्वीकार नहीं किया उसे लोग मैं उतना ही बड़ा पाप समझता हूँ जितना
 बड़े भाईके अविवाहित रहनेपर लूटे भाईका विवाह कर लेना ॥ १६ ॥ किन्तु राम अपने स्वर्गाप
 पिताकी आज्ञासे तनिक भी उससे मत नहीं हुए । तब भरतजीने सबसे प्रायनाकी कि आप मुझे
 अपनी गद्दाऊँ दे दीजिए जिन्हें मैं आपके स्थानपर रखकर राज्यका काम चलाऊँ ॥ १७ ॥ रामने
 अपनी स्वजाऊँ दे दी । उसे लेकर भरतजी लूटे पर वे शयोध्यामें नहीं आए । उन्होंने नन्दिप्राममें देहा
 बाला और शीशुसे शयोध्याके राजवली उसी प्रकार रक्षा की मानी अपने भाईकी धरोहर सँभाल रहे
 हैं ॥ १८ ॥ इस प्रकार अपने बड़े भाईमें भक्ति करके और राजपदको ठुकराकर मानी भरतजीने अपनी
 माताके पापका प्रायश्चित्त कर डाला हो ॥ १९ ॥ उधर राम भी सीता और लक्ष्मणके साथ कन्द मूल-
 फल खाते हुए युवावस्थामें ही वह मत करने लगे जो हृष्यकृष्णराजसे बुद्धयमें किया करते हैं ॥ २० ॥
 एक बार वे बड़े हुए सीताजी की गोदीमें सिर रखे एक वेने हृषके नीचे लेटे हुए थे जिसकी सुआ

ऐन्द्रि किल नखैस्तस्या विददार स्तनी द्विजः । प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन्
 तस्मिन्नास्थदिपीकास्त्रं रामो रामावबोधितः । आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः २३
 रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्भरतागमनं पुनः । आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥ २४ ॥
 प्रययावातिथेषु यसन् ऋषिकुलेषु सः । दक्षिणां दिशमृक्षेणु वार्षिकेष्वाव भास्करः ॥ २५ ॥
 बभौ तमनुमच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता । प्रतिपिद्वापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी २६
 अनसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् । सा चकाराङ्गरागेण पुण्योचलितपटपदम् ॥ २७ ॥
 संघ्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः । अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः २८
 स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः । नभोनभस्ययोर्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे ॥ २९ ॥
 तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूपयति स्थलीम् । गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचखनतुः
 पञ्चवट्यां ततो रामः ज्ञाननात्कुम्भजन्मनः । अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव
 रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा । अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीत्र मलयद्रुमम् ॥ ३२ ॥

उन्होंने अपने शारीरिक प्रभावसे बाँध दी थी ॥ २१ ॥ इसी बीच इन्द्रका पुत्र जयन्त कौरा बनकर
 आया और उसने अपने नखोंसे सीताजीके स्तनोंपर डूंग मारी मानो वह सीताजीके स्तनोंपर रामके
 हाथसे धने हुए नखचतोंको प्रकट कर अपनी यह धान यता रहा हो कि मेरा काम ही दूसरोंका दोष
 डूँटना है ॥ २२ ॥ मूट सीताजीने रामको जगारया । तत्काल रामने उसपर सँकित्वा वाण छोड़ा ।
 उससे बचनेके लिये वह कौरा बहुत इधर-उधर चकर खाटता रहा पर जयन्त उसने अपनी एक शक्ति
 नहीं दे दी तबतक उसका सुदकारा नहीं हुआ ॥ २३ ॥ थोड़े दिनों पीछे ही रामने चित्रकूटका वह
 आश्रम छोड़ दिया जहाँके हरिण उनके दूतने हिलमिल गये थे कि दिन-रात उन्हें ही देखते रहते थे ।
 रामने इस दस्से चित्रकूट छोड़ा कि अयोध्या पामने ही है, ऐसा न हो कि भरत फिर यहाँ पहुँच
 जाय ॥ २४ ॥ जैसे तबके दस नक्षत्रोंमें उहरता हुआ सूर्य दक्षिणको घूम जाता है वैसे ही
 अतिथि-सत्कार करनेवाले ऋषियोंके आश्रमोंमें टिकते हुए राम भी दक्षिणकी ओर बढ़ चले ॥ २५ ॥
 यद्यपि कैकेयीने रामको राजलक्ष्मीसे हटा दिया था फिर भी उनके पीछे पीछे चलनेवाली सीता ऐसी
 जान पड़ती थी मानों गुणोंके पीछे चलनेवाली साधारण लक्ष्मी हो हों ॥ २६ ॥ अत्रि ऋषिके आश्रममें
 जब वे पहुँचे तब उनकी पत्नी अनसूयाजीने सीताजीके शरीरमें ऐसा सुगन्धित अहाराग लगाया
 कि उसकी पवित्र गन्ध पाकर भीरी मो अंगली फुलोंसे उबड़बुन्दर उपर ही टूट पड़े ॥ २७ ॥ जैसे
 चन्द्रमण्डल मार्ग राहु रोक लेता है वैसे ही संघ्याके बादलके समान लाल रंगवाला विराध राघव
 भी रामका मार्ग रोककर खड़ा हो गया ॥ २८ ॥ जैसे कोई रोडा ब्रह्मसावन और भादोंके महीनोंके
 पंचमे वर्षाको ले पीतका है, वैसे ही उस राघवने राम और लक्ष्मणके बीचसे सीताजीको हर लिया
 ॥ २९ ॥ पर राम लक्ष्मणने उसे तत्काल मार डाला और यह सोचकर उसे पृथ्वीमें गड़ दिया कि
 यहाँ इसके शरीरकी दुर्गन्धि हव देशमें न फैल जाय ॥ ३० ॥ जैसे अगस्त्यजीकी आश्रमने विन्ध्याचल
 अपनी सर्वदासों ही रह गया था वैसे ही राम भी सर्वदापूर्वक पञ्चमयीमें रहने लगे ॥ ३१ ॥ जैसे
 भूषे पढ़ाकर कोई पागिन चन्द्रके पैरके पाव पहुँच गई हो वैसे ही कामने पीड़ित रावणकी

सा सीतार्त्तनिधावेव सं वध्रे कथितान्वया । अत्यारुढो हि नारीयामकालज्ञो मनोमवः ॥३३॥
 कलत्रयानहं पात्ते कनीयांसं भजस्व मे । इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशाम ताम् ॥३४॥
 ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिता । साभूद्रामाश्रयाभूपो नदीबोभयकूलमाक् ॥३५॥
 संरम्भं मैथिलीहामः क्षणसौम्यां निनाय ताम् । निवातस्तिमितां वेलीं चन्द्रोदय इयोदधेः ॥
 फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि पश्य माम् ॥ मृग्या परिभवो व्याघ्रयामिहप्रवेदित्वयाकृतम्
 इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तृरङ्गे निविशतीं मयात् । रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत ॥३८॥
 लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा शोकिलामञ्जुवादिनीम् । शिवाघोरस्वनां पश्चाद्बुधुबुधे विकृतेति ताम्
 पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः । वैरूप्यौ नररूपेण भोषणां तामयोजयत् ४०
 सा वक्रनखधारितया वेणुकर्कशपर्वया । अङ्कुशाकारयाङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥४१॥
 प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम् । रामोपक्रममाचख्यौ रक्षःपरिभयं नवम् ४२

छंदी बहन शूर्पणखा रामके पास जा पहुँची ॥३३॥ पहले तो उसने अपने कुलका परिचय दिया और फिर सीताजीके सामने ही लक्ष्मणे कहने लगी कि मैं तुम्हें अपना पति मानती हूँ । क्योंकि क्षिप्रों जब बहुत अधिक कामासक्त हो जाती हैं तब उन्हें इस बातका ध्यान ही नहीं रहता कि हमें इस समय क्या करना चाहिए क्या न करना चाहिए ॥३३॥ वानासक शूर्पणखाकी यह बात सुनकर सीतकेसे जैसे कन्धोवाले राम बोले—शाले ! मेरा तो विवाह हो चुका है । तुम मेरे छोटे भाईके पास जाओ ॥३४॥ यह भट लक्ष्मणके पास पहुँचा । लक्ष्मणने उससे कहा—तू पहले मेरे बड़े भाईके पास विशादकी दृष्ट्याते जा चुकी है इसलिये तू मेरी माताके समान है । मैं तुम्हें विवाह नहीं कर सकता । यह सुनकर वह फिर रामके पास पहुँची । राम और लक्ष्मणके पास आते-जाते उसकी दशा उस नदीके समान हो गई जो घाटी-घाटीसे अपने दोनों तटोंको छूती हुई बह रही हो ॥३५॥ जैसे वायुके बके रहनेसे शान्त समुद्रका तट अद्भुतके निकलनेपर हिकोरों लेने लगता है वैसे ही सीताजीकी इससे हुए देखकर लक्ष्मणके लिये सुन्दर रूप धारण करनेवाली वह कुरूप शूर्पणखा भी एकदम विगड़ पड़ी हुई ॥३६॥ और बोली—इधर देखो ! तुम्हें इस देसीका फल बहुत शीघ्र ही दूँगी । तुमने वैसे ही मेरा अपमान किया है जैसे कोई हरिणी किसी यासिबका अपमान करे । समझी ! ॥३७॥ सीताजी तो यह सुनते ही बरके सारे रामकी ओरमें जा क्षिप्रों और शूर्पणखाने, अपने नामके अनुसार रूपके समान बड़े-बड़े नखवाला अपना भयङ्कर रूप दिखाया ॥३८॥ जब लक्ष्मणने देखा कि खमी तो यह कौयलके समान मधुर बोल रही थी और अग सिवारिनके समान दुर्घो कर रही है तब उन्होंने समझ लिया कि यह धों बड़ी सीटी है ॥३९॥ और यह समझने ही से काट अपनी कुट्टिवामें गए और चढ़ते तलवार लाकर शूर्पणखाके नाक-भ्रान कट लिए । नाक कान कट जानेसे वह और भी अधिक कुरूप दिखाई देने लगी ॥४०॥ नववीं पृची होकर वह आकाशमें उड़ी और प्रकृत जैसी उड़े उड़े नखोंवाली और घोंबकेसे भड़े पंखोंवाली अपनी डँगलियों चमका चमकाकर राम-लक्ष्मणको धमकाने लगी ॥४१॥ चढ़ते चढ़कर वह तबकाल जनस्थानमें पहुँची और नर आदि राक्षसोंको उमादा कि प्राण पहले ही बार रामने इस प्रकार राक्षसोंका अपमान किया है ॥४२॥

मुखवयवल्लूनां तां नैर्ऋता यत्पुरो दधुः । रामाभियापिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ॥४३॥
 उदायुधानापततस्तान्दृष्टान्प्रेक्ष्य राघवः । निदधे विजयाशांसां चापे सीतां च लक्ष्मणे ४४
 एको दाशरथिः कामं यातुधाना सहस्रशः । ते तु यावन्त एवाजौ तावांश्च दृष्ट्ये स तैः ४५
 असञ्जनेन काङ्क्षस्थः प्रयुक्तमथ दूषणम् । न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥४६॥
 तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः । क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवोद्ययुः ॥४७॥
 तैस्त्रयाणां शितैर्वायैर्पथापूर्वविशुद्धिभिः । आयुर्देहातिगैः पीतं रुधिरं तु पतत्रिभिः ॥४८॥
 तस्मिन्नामशरीत्कृत्ते बले महति रक्षसाम् । उत्थितं दृष्ट्येऽन्यच्च कवन्धेभ्यो न किञ्चन ॥४९॥
 सा वाखर्विण्णंरामं योधयित्वा सुरद्विपाम् । अप्रबोधाय सुव्याप गृध्रच्छाये वरुधिनी ॥५०॥
 राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम् । तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत् ॥५१॥
 निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः । रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु ॥५२॥
 रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवो । जहार सीतां पत्नीन्द्रप्रयासक्षयविभितः ॥५३॥
 ती सीतान्वेषिषौ मृध्रं लूनपक्षमपश्यताम् । प्राणैर्दशरथप्रीतेरनुसं करठवर्तिभिः ॥५४॥

मार्ग-श्रावणे नक्षत्री-पूर्वी शूर्पणखा और उसके पीछे पीछे ये राक्षस रामसे लड़ने निकल पड़े। इन नक्षत्रीको धामे करके उन लोगोंने पड़ले ही अपना समुल विगाय दिया ॥ ४३ ॥ रामने दूरसे देखा कि हाथमें शस्त्र उठाए घनघटी राक्षस धामे पड़े चले आ रहे हैं तो उन्हें विश्वास हो गया कि इन्हें तो हम अकेले अपने धनुषसे ही जीत लेंगे। इतलिये उन्होंने सीताकी रक्षाका भार लक्ष्मणको सौंप दिया ॥ ४४ ॥ राम अकेले थे और राक्षस सहस्रों थे पर राम हम प्रकार लड़ रहे थे कि यहाँ जितने राक्षस थे उन्हीं उतने ही राम दिखाई पड़ रहे थे ॥ ४५ ॥ जिस प्रकार सदापती अपने ऊपर नीच पुरुषों द्वारा लगाया हुआ दूषण या कलङ्क नहीं सह सकते थे वैसे ही ये युद्धमें दूषण राक्षसका धाना भी नहीं सह सकते ॥ ४६ ॥ उन्होंने दूषण, खर और त्रिशिरापर अपने वाण एक एक करके चलाए किन्तु शयन्त गणधरासे चलाए हुए वे वाण वेमे जान पड़ते थे मानो वे एक साथ धनुषसे छूटे हों ॥ ४७ ॥ वे वाण उनके शरीरको छेद कर इतने वेगसे आर निकल गए कि उनमें रक्त भी नहीं छल सका, शरीरके बाण तो उनकी आया पीनेके लिये गए थे, उनका रक्त तो विषा पचिबॉने ॥ ४८ ॥ रामने अपने बाणोंसे राक्षसोंकी पूरी सेनाको इस प्रकार काट दाहा कि युद्ध-भूमिमें राक्षसोंके घड़ोंकी घोड़कर और कुल भी नहीं दिखाई दे रहा था ॥ ४९ ॥ वाण पारसानेधाने रामसे लड़कर वह राक्षसोंकी सेना गिद्धों के पीरोंकी क्षायामें सदाके लिए लो गये ॥ ५० ॥ और रामके अग्रसे मारे हुए उन राक्षसोंकी मृत्युका समाचार रावणके पास पहुँचानेके लिए अकेली शूर्पणखा ही बच पाई ॥ ५१ ॥ वहनका अपमान और खर-दूषण आदि अपने संबन्धियोंका यह रावणको इतना अपमानजनक जान पड़ा मानो रामने उसके शरीर लिये पर रस दिया हो ॥ ५२ ॥ तब उसने मारीचको माया मृग बनाया और राम-लक्ष्मणको पीला देकर सीताकोही सुराकर लक्ष्मणमें ले गया। मार्गमें मृदराज उदायु उससे लड़ा भी, पर वह कुछ कर न सका ॥ ५३ ॥ राम और लक्ष्मण घण सीताको ढूँढने लगे। उन्होंने मार्गमें जरायुको देखा। उसके पीर बड़े हुए थे। उसके माण्ड कण्ठ तक आ गये थे पर उसने सीताके सुरा ले

स रावणहृतां ताम्बां वचसा चट्ट मैथिलीम् । आत्मनः सुमहत्कर्म ब्रह्मैरावेध संस्थितः ॥५५॥
 तपोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः । पितरीवाग्निं संस्कारात्परावहृतिरे क्रियाः ॥५६॥
 वधनिर्धूतशापस्य कवन्धस्योपदेशतः । मुमुर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरीः ॥५७॥
 स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते । धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ५८॥
 इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः । कपयश्चेहरार्तस्य रामस्यैव मनोरथाः ॥५९॥
 प्रवृत्वापुपल्लवार्थां तस्याः संपातिदर्शनात् । मारुतिः सागरं तीर्थः संसारमिव निर्ममः ६०॥
 दृष्ट्वा विचिन्वता तेन लङ्कायां राजसीयता । जानकी विपवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥६१॥
 तस्यै भर्तुरभिज्ञानमद्भुगुलीयं ददौ कपिः । प्रत्युद्रतमिवाणुष्णैस्तदानन्दाश्रुपिन्दुभिः ॥६२॥
 निर्वाप्य प्रियमदेशैः सोतामचवधोद्धतः । स ददाह पुरीं लङ्कां चणसोडारिनिग्रहः ॥६३॥
 प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती । हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव भूर्तिमत् ॥६४॥

जानेवाले रावणमे लड़कर अपने मित्र दशरथको ऋण चुका दिया था ॥५५॥ यह राम-लक्ष्मणमे बोला कि सीताजीकी रावण से गया है । जटायुके चाबूकी ही देलकर यह स्पष्ट था कि यह कितने जी-जानसे रावणसे लड़ा था ॥ ५५ ॥ केवल इतना ही कह कर जटायु वैधवा पड़ गया । उसके मरनेमे राम लक्ष्मणको उठना ही शोक हुआ कितना उन्हें अपने पिताके मरनेपर हुआ था । उसका विचित्र दृढ़ संस्कार करके उन्होंने उसका श्राद्ध आदि किया ॥ ५६ ॥ वहसि वे आगे बड़े तो उन्हें कन्ध मिला जो किसी ऋणिके शापसे राखल हो गया था । रामने उसको बाहें काट दाखी जिससे उसका माप छूट गया और यह फिर देवता हो गया । उसने प्रसन्न होकर सुग्रीवका पता चलाया । इस सुग्रीवके भी राज्य और धीको उसके भाई बलिले छीन लिया था, इसलिये उसने धीसे विमुड़े हुए रामसे शीघ्र हो मित्रता कर ली ॥ ५७ ॥ पराक्रमी रामने वालिके मातृकर उसके मिहासचपर सुग्रीवको वैसे ही बैठा दिया जैसे कोई वैवाकरण, लिङ्-लुट् आदि शकारोंमें शस्त्र धारुके पहले भू धारुको बैठा देता है ॥ ५८ ॥ सुग्रीवने जानकारोंको आज्ञा दी कि जाओ और जाकर सीताजीका पता लगाओ । जैसे विरदो रामका मन सीताजीकी खोजमें धर-उधर मलकता था वैसे ही यानर भी धर-उधर भूमकर सीताजीकी खोज करने लगे ॥ ५९ ॥ मार्गमें जटायुके भाई सम्पातीसे उनकी मेट हुई । उसने कतलाया कि समुद्र पार लङ्काधीका राज रावण सीताजीको हर ले गया है । यह सुनकर हनुमानजी उसी प्रकार समुद्रको लॉप गए जैसे निर्मोही पुरा संसार-सागरको पार कर जाता है ॥ ६० ॥ लङ्गामें पहुँच कर इतने-तुलने उन्होंने एक स्थानपर सीताजीको देखा । चारों ओर राक्षसियों से घिरी हुई वे ऐसी लग रही थीं जैसे विपकी खताओंके बीचमें संजोवनी पड़ी हो ॥ ६१ ॥ उनके पास जाकर हनुमानजीने रामकी अंगूठी उन्हें दी, जिसका स्वागत सीताजीने आनन्दके डटे आँसुओंसे किया ॥ ६२ ॥ पहले तो उन्होंने राम-चन्द्रजीका प्यार-भरा सपेरा सुनाकर सीताजीको दाइत बताया कि रावणके पुत्र अचपकी मार दाहा और घोड़ी देरतक कष्टुणोंके हाथ बन्दी रहकर उन्होंने खड्गमें भाग लया ही ॥ ६३ ॥ फिर सीता-जीसे मिलनेकी पहचानके लिये उनसे ब्रह्ममणि लेकर वे रामके पास जाँट आए यह मणि पाकर रामकी वैसा ही जानम् हुमा मानो साचर सीताजीका दृश्य ही अपने आप चला आया हो ॥६४॥

स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः । अथयोधरसंसर्गा प्रियालिङ्गनिर्वृतिम् ॥६५॥
 श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः । महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखल्लघुम् ॥६६॥
 स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्रुतः । न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि संवाधवर्त्मभिः ॥६७॥
 निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः । स्नेहाद्रावसलक्ष्म्येव बुद्धिमादिश्य चोदितः ६८॥
 तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुभात् राघवः । काले खलु समारब्धाः फलं वचन्ति नीतयः ६९॥
 स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि । रसातलादिवोन्मग्नं श्रेयं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः ७०
 तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां रोधयामाम पिङ्गलैः । द्वितीयं हेमप्रकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः ॥७१॥
 रणः प्रवृत्ते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् । दिग्भिज्जम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयधोपणः ॥७२॥
 पादपाविद्धपरिवः शिलानिष्पिष्टमुद्ररः । अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुणमर्तगजः ॥७३॥
 अथ रामशिरस्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेननाम् । सीतां नाथेति संसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ७४
 कामं जीवति मे नाथऽनिसा त्रिजहौ शुचम् ॥ प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता

उस मखिको हृदयसे लगाकर वे सुध-बुध भूलकर मग्न हो गए । उन्हें उस समय बेसी ही प्रसन्नता हो रही थी मानो स्तनके स्पर्शको छोड़कर सीताजी ही हृदयसे जो लगी हों ॥ ६५ ॥ मियाका सन्देश सुनकर राम उनसे मिलनेके लिये उतावले हो गए । उत्साहमें उन्हें लङ्काके चारों ओरका चौड़ा और गहरा समुद्र खार्हसे भी कम चौड़ा लगने लगा ॥ ६६ ॥ वे वानरोंको अथार सेना साथ लेकर शत्रुका संहार करने लगे । वह सेना इतनी अधिक थी कि पृथ्वीकी कान बड़े, आकाशमें भी बड़ी कठिनाईसे चल पाती थी ॥ ६७ ॥ जब राम समुद्रके तटपर पहुँचे तो रावणका भाई विभीषण उनसे मिलने आया मानो राक्षसोंकी राजलक्ष्मीने उसकी बुद्धिमें पैठकर वह समझा दिया हो कि अब रामकी शरणमें जाने पर ही तुम्हारा कल्याण होगा । ॥ ६८ ॥ रामने भी उससे यह प्रतिज्ञा कर ली कि हम तुम्हें राक्षसोंका राजा बना देंगे । ठीक भी है । समयपर काममें लाई हुई दृढ़-नीति आगे चलकर अचरय ही फल देती है ॥ ६९ ॥ रामने वानरोंको लगाकर समुद्रपर जो पथमेंका धवल पुल बंधवाया वह ऐसा जान पड़ता था मानो विष्णुको अपने ऊपर सुलानेके लिये स्वयं शेषनाग हो उतर आए हों ॥ ७० ॥ उस पुलसे समुद्र पार करके पीले पीले वानरोंने लङ्काकी चारों ओरसे घेर लिया । उनसे घिरी हुई लङ्का ऐसी जान पड़ती थी मानो लङ्काके चारों ओर सोनेका एक दूसरा बाकोठा बन गया हो ॥ ७१ ॥ वहाँ वानरों और राक्षसोंका ऐसा भयङ्कर युद्ध होने लगा कि राम और रावणकी जय-जपकारोंसे दिशाएँ फटी पड़ती थीं ॥ ७२ ॥ उस युद्धमें वानर, पेशोंसे मार-मारकर राक्षसोंकी लोहेंकी गद्दों सोढ़ डालते थे, पथार परसाकर उनके मुद्गर पास बाँधते थे, अपने नबोंसे ऐसे भयङ्कर घाप करते थे कि राक्षसोंसे भी घैसे घाव बह्री हो सकते थे और लङ्काके हाथियोंके गिरोंपर बड़ी चट्टानें पटक पटककर उनका कचूर निकाल देते थे ॥ ७३ ॥ उसी समय एक राक्षसने मायासे रामका तिर बनाकर सीताजीके आगे ला पटका । उसे देखते ही सीताजी मुद्वित होकर गिर पड़ीं । पर जब विजयाने उन्हें गमगाया कि, यह सब राक्षसी माया है तब सीताजीके जानमें जान आई ॥ ७४ ॥ यह जानकर उनका शोक तो छूट गया कि मेरे पतिदेव भविष्य हैं पर उन्हें इस बातकी बड़ी मरता हुई कि पतिने मारे जानेका समाचार सुनकर भी

गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्रवन्धनः । दाशरथ्योः क्षयक्लेशः स्वमृत्च इवामवत् ॥७६॥
 ततो विभेद पौलस्त्यःशक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् । रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्घहृदयःशुचा
 स माहृतिसमानीतमहौषधिहृतवपयः । लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शूरैः ॥७८॥
 स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् । मेघस्यैव शरत्कालो न किञ्चित्पर्पशेषपत् ॥७९॥
 कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुङ्गपावस्यः स्वसुः कृतः । रुरोध रामं शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमनःशिलः८०
 अकाले बोधितो आत्रा प्रियस्वमो वृथा भवान् । रामेपुमिर्तिवामौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः८१
 इतराप्यपि रचांसि पेतुर्गानरकोटिषु । रजांसि समरोत्यानि तच्छोणितनदीष्विव ॥८२॥
 निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात् । अरावणभरामं वा जगदद्येति निधितः ॥८३॥
 रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च यरुधिनम् । हरियुग्मं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरंदरः ॥८४॥
 तमाधूतध्वजपटं व्योमगङ्गोर्मिवायुभिः । देवव्रतशुभ्रालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥८५॥
 मातलिस्तस्य माहेन्द्रमागुमोच तनुच्छदम् । पत्रोत्पलदलक्रेण्यमम्राण्यपुः सुरद्रिषाम् ॥८६॥
 अन्योन्पदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं चिरात् । रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थमिवाभवत् ॥८७॥

मैं जोधित रह गई, मरी गई ॥ ७५ ॥ उर्षी समय मेघनादने राम और लक्ष्मणको नागपातमें बंध
 जिया पर गदकने घाबर यह फटा सुरंग काट दिया । पातमें बंधनेका यह सब भाका क्लेश भी उन
 दोनों भाइयोंको ऐसा जान पड़ा मानो स्वयंमें हुआ हो ॥ ७६ ॥ तब मेघनादने लौंखर लक्ष्मणकी
 छातीमें शक्ति-बाण मारा । लक्ष्मण गिर गद और उन्हें शंखकर रामका हृदय शोकमें कटने लगा ।
 इतुमानमें ताकाल हिमालयमें जाकर संजीवनी धुंती ले आए, जिसके बिलाने ही लक्ष्मणकी सारी पीड़ा
 जाती रही और फिर डडकर उन्होंने अपने बाणोंमें अगमिनत राक्षसोंको मारकर लङ्गामें बुढ़ाराम गया
 दिया ॥ ७८ ॥ जैसे गरुड पतुके घानेपर न हो बादलका गर्जन रह पाता है न इन्द्रधनुष ही दिग्विह
 देता है वैसे ही लक्ष्मण भी मेघनादके गर्जनको धार इन्द्रधनुषके समान पतुपकी चपलतामें से बाँटे
 ॥ ७९ ॥ ऊपर सुरीधने कुम्भकर्णको नाक-काटकर उसे शूर्पबन्धाके समान बना दिया था और यह
 रामका मार्ग रोककर उसी प्रकार गया हां गया जैसे शौंगीमें कठो हुई कीर्ति मैत्रसिद्धकी चट्टान या गिरी
 हो ॥ ८० ॥ रामके बाँधोंमें पावल होकर यह गिरका मर गया, मानो रामके बाँधोंमें उमे यह कड-
 कर गहरी नींदमें सुना दिया हो कि तुमको नींद नहीं प्यारी है, तुम्हारे भाईने स्वयं ही तुम्हें अममय-
 में जगा दिया ॥ ८१ ॥ और भी बहुतने रावण कोशों वानरोंकी सेनाके बाँधमें हुए प्रहार गिर रहे थे
 मानो राक्षसोंके रथकी मरीमें रथीप्रसे उठी हुई पूल पड़ रही हो ॥ ८२ ॥ जब रावणने गव काटकर
 मुता तब यह अपने राक्षसधनसे निकलकर रथ-भूमिमें आया । उसने मनमें ठान लिया था कि आज
 वसतारों या तो रावण ही मरि रहेगा या राम ही मरि रहेंगे ॥ ८३ ॥ रावणको रथका और रामकी
 विश्व देगकर इन्द्रने धरना यह सब भेजा जिसमें दोहे रंगके घोड़े तुने हुए थे ॥ ८४ ॥ तब रथकी
 पत्रा भाङ्गल गगाही लहरोंके पवनमें जड़कदाती चल रहा था इन्द्रके मारती मानजिहा हाव आसक्त
 रामचन्द्रकी उपपर यह गद ॥ ८५ ॥ मागजिने उन्हें इन्द्रका यह कथप भी पटना दिया जिसपर राव
 मोके घाघ लेने लगने थे मानो वे घाघ न हीं बरन् बम्भके वृष हो ॥ ८६ ॥ आज बहुत दिनेंपा

भुजमूर्धोऽर्वाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः । दद्वे ह्यथापूर्वो मातृवंश इव स्थितः ॥८८॥
 जे ३११ लोकापालानां स्वमुखैरर्चिनेश्वरम् । रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत ॥८९॥
 तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासंगमशंसिनि । निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरं भुजे ॥९०॥
 रावणस्यापि रामास्तो मित्त्वा हृदयमाशुगः । विवेश भुवमाखपातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥९१॥
 वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रं निघ्नतोः । अन्योन्यजयसंरम्भो बबूधे वादिनोरिव ॥९२॥
 विक्रमन्यतिहारेण सामान्याभूद्द्वयोरपि । जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥९३॥
 कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः । परस्परशरव्राताः पुष्पवृष्टिं न सेहिरे ॥९४॥
 अयःशंकुचितां रक्षःशतश्रीमथ शत्रवे । हुतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥९५॥
 राघवो रथमप्राप्तं तामाशां च सुरद्विपाम् । अर्धचन्द्रमुखैर्वाणैश्चिच्छेद कदलीमुखम् ॥९६॥
 अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः । ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्पनिष्कर्षणौषधम् ॥९७॥

राम और रावणने एक दूसरेको देखा । छाज उन दोनोंको अपनी वीरता दिखानेका अवसर मिला और इस प्रकार दोनों लोकोमें जो राम-रावणका युद्ध प्रसिद्ध था वह आज सकत हो गया ॥ ८७ ॥ रावणके मारे जानेके कारण रावण अकेला रह गया था फिर भी अपनी बहुतसी माहौं और बहुतसे मुखोंके कारण वह ऐसा जान पड़ता था मानो उसके साथ बहुतसे राक्षस हों ॥ ८८ ॥ जिस रावणने इन्द्र खादि लोकपालोंकी जीत लिया था, जिसने अपने सिर काट काटकर लिवर्जाकी चढ़ा दिए थे और जिसने कैलास पर्वतको उंगलियोंपर उठा लिया था उसे देखकर रामने समझ कि यह कुछ कम पराक्रमी नह है ॥ ८९ ॥ रावणने वषा क्रोध करके रामकी उस दाहिनी भुजामें बाण मारा जो फड़कती हुई शुभ सूचना दे रही थी कि अब सीताके प्राण होनेमें देर नहीं है ॥ ९० ॥ रामने जो बाण छोड़ा वह रावणकी छातीको छेदकर पातालको चला गया मानो पाताल वासियोंको रावणके मरनेको शुभ सूचना देनेके लिए चला गया हो ॥ ९१ ॥ ये दोनों क्रोध करके एक दूसरेको लालकारते हुए और अस्त्रकी शस्त्रसे काटते हुए लड़ रहे थे और उनका क्रोध उसी प्रकार बढ़ता जा रहा था जैसे विजयके लिये शास्त्रार्थ करनेवालोंका क्रोध बढ़ता चलता है ॥ ९२ ॥ कभी राम अधिक पराक्रम दिखाने थे और कभी रावण । इसलिए बितरबनो कभी रामके पास जाती थी तो कभी रावणके पास । उसकी दशा वैसी ही हो गई जैसे लड़ते हुए मतवाले हाथियोंके बीचकी दीवाल की हो ॥ ९३ ॥ जब राम बाण चलाते थे रावणका पार रोहते तब देवता उनके ऊपर फूल बरसाने लगते और जब रामपर रावण प्रहार करता था तबका धार रोकता तब असुर उसपर फूल बरसाने लगते । पर रामके अस्त्र रावणके ऊपर बरसते हुए फूलोंकी ऊपर ही लियर बितर कर देते और रावणके बाण रामपर बरसनेवाले फूलोंकी आकाशमें ही क्षिप्त होते थे ॥ ९४ ॥ रावणने लोहेको कीलोंसे जड़ी हुई वह शतश्री रामपर चलाई जो वनराजके अस्त्र कूटशाल्मलीके समान भयङ्कर थी ॥ ९५ ॥ उस समय राक्षसोंकी पूरा आशा हो गई कि इस अस्त्रसे तो राम अवश्य ही समाप्त हो जायेंगे । पर रामने उस शतश्रीकी रथक पहुँचनेके पहले ही तिरछी मोड़वाले बाणोंसे ऐसी क्षरलतासे टुकड़े टुकड़े कर डाला मानो बेला खील रहे हों । वह देखकर राक्षसोंकी राही-राही आशा भी भङ्ग हो गई ॥ ९६ ॥ राम कीई साधारण धनुषधारी थोड़े

तद्वधोऽस्मि शतधा भिन्नं दददो दीप्तिमन्मुलम् । वपुर्महोरगस्येव करालक्षणमण्डलम् ॥९८॥
 तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत् । स रावणशिरःपक्तिमज्ञातव्रणवेदनाम् ॥९९॥
 चालार्कप्रतिगेषाम्पु वीचिभिन्ना पतिष्यतः । रराज रत्नः कायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा ॥१००॥
 मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि । मनो नातिविशश्चास पुनःसंधानशङ्किनाम् १०१
 अथ मदगुरुपक्षैर्लोकपालद्विपानामनुगतमलिबुन्दैर्गण्डभिर्चीविंहाय ।
 उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्षं पपात ॥१०२॥
 यन्ता हरेः सपदि संहतकार्मुकज्यमापृच्छय राघवमनुष्ठितदेवकार्यम् ।
 नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टिमूर्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय ॥ १०३ ॥
 रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य त्रियां त्रियसुहृदि विभीषणे संगमद्यथ त्रियं वैरिणः १०४
 रविमुतसहितेन तेनानुपातः ससौमित्रिणा भुजविजितविमानरत्नाधिरुढः प्रतस्थे पुरीम् ॥
 इति महाकविभीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः ॥

ही थे । उन्होंने रावणको मारनेके लिये धनुषपर बह मद्राज चढ़ाया जो कभी स्वर्ध ही नहीं जाता ।
 पद ऐसा था गानो सांताके शोकलगी कौटोकी निकालनेकी अचूक चीपधि हो ॥ ९० ॥ वह मद्राज
 भाकायमें जाते ही दस भागोंमें फट गया और उसमेंसे जो आग निकली वह ऐसी थी गानो फलोंका
 पमकाया मण्डल लिए हुए खेपनाग ही हों ॥ ९८ ॥ मन्त्रसे पसाए हुए उस मद्राजमें रामने
 रावणके दमों सिरोंको आधे पलमें काटकर पृथीवर गिरा दिया जिसमें रावणको तनिक भी कष्ट न
 हुआ ॥ ९९ ॥ रावणके शिर काटकर गिरते हुए ऐसे अच्ये लगते थे जैसे संवत्न सहस्रोंमें पातःकाजके
 सूवंश प्रतिविम्ब सोभा देता है ॥ १०० ॥ रावणके कटे हुए सिरोंको देखकर भी देवताओंको विश्वास
 नहीं हुआ क्योंकि उन्हें यह डर था कि कहीं ये फिर न जुड़ जायें ॥ १०१ ॥ त्रिय रामपर रावणानिधे
 कजा जल सिद्धका जानेवाला था उन्होंने सिरपर देवताओंने ये पूज पासाए तिनकी सुगन्ध पाकर
 मद्रो भांगी हुई पौष्पोंकाधे और देवताओंके हाधियोंके मद बहानेवाले पत्रोंको छोड़कर रत छेने
 उनके पीछे पड़े दौड़ पड़े ॥ १०२ ॥ रामने धनुषकी डोरी उतार दी क्योंकि उन्होंने देवताओंका काम
 पूरा कर दिया था । हनुके सारथी मातन्त्रि उनसे आज्ञा लेकर अपनी तस्वी छोड़करवाला रथ लेकर
 स्वर्गमें चला गया । उस रथको पञ्जापर अभीतक रावणके नाम सुने हुए बालोंके पिछ पड़े हुए थे
 ॥ १०३ ॥ रामने रावणकी शायत्री विभीषणकी सौंप दी और कि सांताजःको समिमें सुदूष करके
 सुधीय, विभीषण और रावणके साथ करने चाहुपदने शीते हुए पुत्रक विमानपर चढ़कर अयोध्याकी
 ओर लौटे ॥ १०४ ॥

महाकवि भीकालिदासके रथे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रावणवध नामः

बारदनी सर्ग समाप्त हुआ ॥

त्रयोदशः सर्गः

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
 रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥ १ ॥
 वैदेहि पश्यामलयाद्रिभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
 छायापथेनेव शरत्प्रमत्तमाकाशमाविष्कृतचारुनारम् ॥ २ ॥
 गुरोरियवचोः कपिलेन मध्ये रसातलं संक्रमिते तुरंगे ।
 तदर्थमुर्वामवदारयद्भिः पूर्वेः किल्लापं परिवर्धितो नः ॥ ३ ॥
 गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विष्टुद्विमत्राशुवते वसूनि ।
 अविन्धनं बह्निमौ विभक्तिं प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥
 तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।
 विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥ ५ ॥
 नाभिप्ररुढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
 अमुं युगान्तोचिनयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥ ६ ॥
 पञ्चच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरत्पमेनं शतशो महीध्राः ।
 नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥ ७ ॥

तेरहवाँ सर्ग

विमानपर चढ़े हुए और उड़ आकाशमें जाते हुए जिसका गुण शब्द है, गुणी तथा राम कह-
 ल नेवाले विष्णु भगवान्, समुद्रको देखकर सीताजीसे प्रकान्तमें बोले ॥ १ ॥ हे सीते ! इस फेनसे भरे
 हुए समुद्रको तो देखो जिसे मेरे यनाए हुए पुलने मलय पर्वततक दो भागोंमें बाँट दिया है जैसे सुन्दर
 तारोंसे भरे हुए शब्द ऋतुके लुके आकाशको आकाशगहा दो भागोंमें बाँट देती है ॥ २ ॥ [जानती
 हो समुद्र कैसे बना है ?] जब हमारे पुरखे महाराजा स्वयं वाश्वनेय यज्ञ कर रहे थे तब कवितर्क
 उनका घोड़ा पाताल लोकमें चुरा ले गये । उस समय समरजीके पुलोंने घोड़ेको खोज करनेके लिये
 समुद्र पृथ्वी खोद डाली, वसीसे यह समुद्र इतना लम्बा-धीका हो गया है ॥ ३ ॥ [यह समुद्र है
 यद्ये कामका ।] देखो इधरमेंसे सूर्यकी किरणें जब सींचती हैं और [पृथ्वीपर बरसती हैं] इसीमें सब
 पदते हैं, अपने शत्रु पदवानलको भी यह अपनी गोदमें पालता है और सुरकारे प्रकाशवाला चन्द्रमा
 भी इसीमेंसे उत्पन्न हुआ है ॥ ४ ॥ यह अपना रूप भी सदा बदलता रहता है और यह इतना पदा
 है कि इसी दिशाओंमें दूरतक फैला हुआ है । इसलिये जैसे विष्णु भगवानके विषयमें नहीं कहा जा
 सकता कि वे ऐसे और इतने बड़े हैं वैसे ही इसके विषयमें भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह ऐसा
 है या इतना पदा है ॥ ५ ॥ जब ब्रह्मिपुरण विष्णु भगवान् तीनों लोकोंका सहार कर चुकते हैं तब
 परी पहुँचकर योगविद्वानों सोचते हैं और इनकी मामिले निकले हुए कमलसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माजी
 पदा इनके गुण गाया करते हैं ॥ ६ ॥ जैसे शत्रुओंके दरसे राजा लोग किसी धर्मोत्तर और तत्प

रसातलादादिभवेन पुंसां भुवः प्रयुक्तोद्बहनक्रियायाः ।
 अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृत्तं मुहूर्तवक्त्राभरणं वभूव ॥ ८ ॥
 मुखार्पणेपु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
 अनन्यसामान्यप्रलवृत्तिः पिवत्यसौ पाययते च सिन्धुः ॥ ९ ॥
 ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः संमोलयन्तो विष्टताननत्वात् ।
 अमी शिरोभिस्तिमयाः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्नि जलप्रवाहान् ॥ १० ॥
 मातङ्गनक्रैः सहस्रोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
 फगोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णच्छयचामरत्वम् ॥ ११ ॥
 वेत्नानित्थाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिभिस्फूर्जद्भुनिविशेषाः ।
 वर्षाशुभंपर्कममृद्भारगैर्व्यज्जन्त एते मणिभिः कण्ठस्थैः ॥ १२ ॥
 तत्राधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहस्रोर्मिवेगात् ।
 ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथंचित्क्लेशादपक्रामति शहयुधम् ॥ १३ ॥
 प्रवृत्तमात्रेण पर्याप्तिं पातुमावर्तवेगाद्भ्रमता धनेन ।
 आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरियोव भूयः ॥ १४ ॥
 दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।
 आभाति वेत्ना लम्बाम्बुराशेर्भरानिवद्धेव कलङ्करेखा ॥ १५ ॥

राजाकी शरण खोते है धीसे ही उन सैरकों पहारोंने भी इनकी शरण ली थी जिनके पंख इनके काट
 दिए थे और जिनका समिमान इनके पूर कर दिया था ॥ ७ ॥ यहिके चारभों जय बराह भगवान्
 पृथ्वीको पातालसे ले जा रहे थे उस समय प्रलयसे बड़ा हुआ इनका स्वच्छ जल तथा भरके लिये बरतक
 पूँछ बन गया था ॥ ८ ॥ देखो ! दूसरे लोग केवल स्थिरोंका अधरवान करते हैं, अपनी अधर उन्हें
 नहीं पिलाते । पर समुद्र इस बातमें भी धीसे बहरते हैं क्योंकि जब भद्रियों की होकर सुभनके
 लिये अपनी सुभ इसके सामने बढ़ती है तब यह बड़ी चतुराईसे अपनी तराह रूपी अधर उन्हें पिलाता
 है और उनका अधर स्वयं पीता है ॥ ९ ॥ यह देखो वे सके-सके मगरमच्छ अपनी मुँह गोलवर मछ-
 लियोंको लिए दिए समुद्रका जल पी जाते हैं और फिर मुँह बन्द करके अपने बिरके छेदोंसे पानीकी
 जल-धाराएँ खोके खगते हैं ॥ १० ॥ इन मगरमच्छोंके अधरान उठनेसे समुद्रकी पटी हुई फेनको तो
 देखो ! इनके गोलोंपर जल भरके लिए खगी हुई यह फेन वेनी दिग्दर् देती है मानो इनके कानोंपर
 अधर टंगे हुए हों ॥ ११ ॥ वे जो बड़ी बड़ी लहरोंके जैसे तटपर दिग्दर् दे रहे हैं वे सँप हैं जो तरका
 बाधु पानेके लिये बाहर निकल पाए हैं । पर जब सर्पकी बिराणोंसे इनकी मणिर्षी चमक जाती
 है तब वे पहचानमें आ जाते हैं ॥ १२ ॥ देखो, लहरोंकी यह कर्मे लुग्दारे अधरोंके समान माल लाल
 गूँगेकी चट्टानसे टकरा जानेसे इन जीवित सर्पों के मुँह दिग्द गए हैं और उभय पंखोंसे वे
 वेचारे बड़ी बहिनईसे अधर अधर पला पा रहे हैं ॥ १३ ॥ यह देखो ! बाले काले बाबल समुद्रका
 पानी खेने आए हैं और समुद्रकी अधरके साथ साथ बड़ी तीव्र गतिसे अधर काट रहे हैं । इस समय
 यह समुद्र घेना जान पड़ रहा है मानो मन्दर पाल फिर इसे मथ रहा हो ॥ १४ ॥ देखो ! पूर

वेलानिलः केनकरेणुभिस्ते संभावयत्यातनमायताच्च ।
 मामन्वमं मण्डनकालहानेवैतीव विम्बाधरवद्भृष्टम् ॥ १६ ॥
 एते वयं सैकतमिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
 प्राप्ता मुद्घुतेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥
 कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गं मृगप्रवेदिणि दृष्टिपातम् ।
 एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥ १८ ॥
 क्वचित्पथा संवर्तते सुराणां क्वचिद्धनानां पततां क्वचिच्च ।
 यथाविधो मे मनसोऽभिलापः प्रवर्तते परय तथा विमानम् ॥ १९ ॥
 असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
 आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥ २० ॥
 करेण वातापनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।
 आमुञ्चतीवामरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्यद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥
 अमी जनस्थानमपोडविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि ।
 अघ्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्जिगान्याश्रममण्डलानि ॥ २२ ॥
 सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नृपुत्रमेकमुर्वाम् ।
 अदृश्यत स्वचरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव यत्नमौनम् ॥ २३ ॥

होनेसे पहिपकी हालके समान बहुत पतल और ताप तथा तमाल आदि वृक्षोंके कारण नीला
 दिखाई देनेवाला समुद्र-तट ऐसा जान पड़ रहा है जैसे चक्रकी धारपर मुर्चा जम गया हो ॥ १५ ॥
 हे सुलोचने ! समुद्रतट का वायु तुम्हारे मुखपर केतकीका पराम विड़क रहा है मानो वह यह जान
 गया है कि मैं तुम्हारे अघोंको चूमने ही वाला हूँ और अब अधिक शृङ्गारकी बात नहीं देखूँगा ॥ १६ ॥
 यह देखो हम लोग विमानके तौर चलनेके कारण पण भामें ही समुद्रके उस तटपर पहुँच गए जहाँ
 बादलपर चीपोंके फेज जानेसे मोती बिखरे पड़े हैं और पत्तोंके भारसे सुराणोंके पैर झुके लड़े हैं ॥ १७ ॥
 हे कदकोंके समान ज्योतिवाली मृगयन्त्री ! पोटेही खोर तो देखो । दूर निकल आनेसे यह जंगलोंसे
 भरी हुई भूमि ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो समुद्रमेंसे अभी अवाक निकल पड़ी हो ॥ १८ ॥
 देखो ! मैं जियर चाहता हूँ उधर ही यह विमान घूम जाता है । यह कभी तो देवताओंके मार्गमें
 उड़ता चलता है, कभी वाइलोंके मार्गमें पहुँच जाता है और कभी परिषोंके मार्गमें उड़ने लगता
 है ॥ १९ ॥ देशवतके मदकी गन्धमें यमा हुआ और आकाशगङ्गाकी लहरोंसे ठण्डाया हुआ
 आकाशका वायु तुम्हारे मुखपर दोपहरकी गर्मीसे दाईं हुई पत्तियोंकी वृद्धोंको पीटा चलता है ॥ २० ॥
 हे चन्द्रो ! जब तुम खेज-खिलमें अरुणा हाथ विमानसे बाहर निकाल कर बादलको छू खेती हो तो
 तुम्हारे मण्डपके पारों और बिजली कैप जाती है । उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो बादल
 तुम्हारे हाथमें दूसरा कंगन पड़ना रहे हो ॥ २१ ॥ नीचे देखो ! राक्ष आदि राक्षोंके भारे जानेकी
 बात सुनकर इन खोरधरों तपस्विनोंने समझ लिया है कि अब कोई खटका नहीं रहा और इपलिय
 वे नहीं कुटिया बना-बनाकर, तपोवनमें सुरमे रहते हैं ॥ २२ ॥ देवो ! यह वरी स्थान है जहाँ लगे

त्वं रक्षता भोरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
 अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥ २४ ॥
 मृगयथ दर्भाङ्कुरिनिर्यपेक्षास्तवागतिद्वं समबोधयन्माम् ।
 व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पचमराजीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥
 एतद्विरेमन्जिवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
 नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥ २६ ॥
 गन्धथ धाराहतपल्वलानां कादम्बमघोद्वृतकेसरं च ।
 स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभ्रुयुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥ २७ ॥
 पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भोरु तवोपगूढम् ।
 गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथंचिद्वनगर्जितानि ॥ २८ ॥
 आसारसिक्तचित्तिबाष्पयोगान्मामक्षिण्योद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
 विदम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणालीचनश्रीः ॥ २९ ॥
 उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिस्त्रवसारसानि ।
 दूरावतीर्णं पिपतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥
 अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नान्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
 द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ॥ ३१ ॥

हूँ बते हुए मैंने शृङ्गीपर पका हुआ तुम्हारा बिजुषा देखा था । खुरचाप पका हुआ वह देखा लग रहा था मानो तुम्हारे घरखोले अलग हो जानेके दुःखसे सुष हो गया हो ॥ २३ ॥ हे माँक ! रावण तुम्हें जिस मार्गसे ले गया था उस मार्गकी लताएँ मुझे कृपा करके तुम्हारे आगेका मार्ग यताना चाहती थीं पर षोल न सकनेके कारण उन्होंने अपनी पगोंवाली ढालियाँ ही उधर झुकाकर मुझे तुम्हारा पता बता दिया था ॥ २४ ॥ हरिषियाँने भी जप देखा कि मुझे तुम्हारे जानेके मार्गका पता नहीं है तब वे अपनी उठी हुई पलकोंवाली खोपेँ दृष्टि देखायी और करके मुझे मार्ग समझाने लगी थीं ॥ २५ ॥ देखो ! यह जो भागे मादवजन पर्वतकी जैको छोटी दिशाई देती है, वहाँ जप बादलोंने नया जल धारताना आरम्भ किया, उस समय तुम्हारे न रहनेसे मेरी खोपेँ भी जल धारताने लगी थीं ॥ २६ ॥ उस समय पशुके कारण पोगाँमें से उठी हुई सोपी गन्ध, अथशिकी मञ्जरियोंवाले कन्दमूके वृक्ष और मोरोंके मनोहर स्वर तुम्हारे बिना मुझे बदे धारते ॥ २७ ॥ जप वहाँ बादल धारतते थे और गुफाओंमें उसकी प्रतिध्वनि होने खगतां यो तब मुझे वे दिन स्मरता हो जाएँ जप बादलोंके गर्जनसे बरकर गुम मुम्मे खिपट जाती थी । सचमुच मादवजन पर्वतपर वे पावसके दिन मैंने बड़े बड़मे विलाएँ ॥ २८ ॥ पशुके कारण वहाँकी धरतीसे जो भाप निकलती, उससे कन्दलियाँकी खलियाँ विजल उठी और धनी ही लाल-खाल हो गईं जैसे विवाहके समय हवनका धुआँ खगमेमे तुम्हारी धारें खाल हो गई थीं । धराः उधेँ देखकर तुम्हारा स्मरण हो आनेमे मैं धेवेन हो गया था ॥ २९ ॥ देखो ! बहुत उँचेमे देखनेके कारण और बँतके जंगलोंसे बके होनेके कारण परग सरोवरका जल टोक टोक नहीं दिशाई दे रहा है । फिर भी घन-पर तीरते हुए सारस सुष कुष दिशाई पक जाते हैं ॥ ३० ॥ हे प्रिये ! वहाँ पकना-पकनीके मोने एक दूसरेकी

वेलानिलः केनकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताचि ।
 मामचमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव विम्बाधरबद्धवृष्णम् ॥ १६ ॥
 एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
 प्राप्ता मृद्वेतेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥
 कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गं मृगप्रोचिस्थि दृष्टिपातम् ।
 एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥ १८ ॥
 क्वचित्पश्चा संचरते सुराणां क्वचिद्वनानां पततां क्वचिच ।
 यथाविधो मे मनसोऽमिलापः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥
 असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गागाधीचिविपर्दशीतः ।
 आकाशनापुर्दिनपीवरोत्थानाचामति श्वेदलवान्मुसे ते ॥ २० ॥
 करेण वातापनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।
 आप्नुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्यद्वलपो घनस्ते ॥ २१ ॥
 अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवीटजानि ।
 अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्जिक्तान्याश्रममण्डलानि ॥ २२ ॥
 सैषा स्थली पत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मयानूपुरमेकमुर्व्याम् ।
 अदृश्यत स्वचरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥ २३ ॥

होनेसे पहिपकी हालके समान बहुत पतला और लघु तथा सनाल आदि पृष्ठीके कारण मोला
 दिखाने देनेवाला समुद्र-तट ऐसा जान पड़ रहा है जैसे लकड़ी धारपर मुर्चा जम गया हो ॥ १५ ॥
 हे सुधीचने ! समुद्रतटका वायु तुम्हारे मुखपर केंतकीड़ा पराग दिग्गक रहा है मानो यह यह जान
 गया है कि मैं तुम्हारे अपराणोंके चूमने ही वाला हूँ और अब अधिक श्रद्धाकी बात नहीं देखूँगा ॥ १६ ॥
 यह देखो हम लोग विमानके सीम चलनेके कारण षण भामों ही समुद्रके उस तटपर पहुँच गए जहाँ
 बालुपर सीपोंके फैल जानेसे मोती बिखरे पड़े हैं और फलोंके भारसे सुवारोंके पैद झुके खड़े हैं ॥ १७ ॥
 हे कदलोंके समान जीर्णोबाहो सृगनयनः ! पीछेकी ओर तो देखो ! दूर निकल आनेसे यह जंगलोंसे
 भरी हुई भूमि ऐसी दिखाने पड़ रही है मानो समुद्रमेंसे अभी अबालक निकल पड़ी हो ॥ १८ ॥
 देखो ! मैं अजिब चाहता हूँ उधर हो यह विमान घूम जाता है । यह कभी तो देवताओंके मार्गमें
 उड़ता चलता है, कभी यात्रियोंके मार्गमें पहुँच जाता है और कभी पक्षियोंके मार्गमें उड़ने लगता
 है ॥ १९ ॥ ऐरावतके भद्रको गन्धमें पया हुआ और आकाशगद्गाकी लहरोंसे ठण्डाया हुआ
 आकाशका वायु तुम्हारे मुखपर दोपहरकी गर्मीसे धाई हुई पत्तियोंकी बूँदोंकी पीठा चलता है ॥ २० ॥
 हे चण्डो ! जब तुम खेल-खेलमें धपना हाथ विमानसे बाहर निकाल कर बादलकी छूँछली हो सो
 तुम्हारे मण्डनके चारों ओर बिम्बकी कौपि जाती है । उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो बादल
 तुम्हारे हाथमें कुमरा कंगन पहना रहे हो ॥ २१ ॥ नीचे देखो ! राक्षस आदि राक्षसोंके मारे जानेकी
 बात सुनकर इन पीरभरों तपस्विणोंने समझ लिया है कि अब कोई तटका नहीं रहा और हृषिकेश
 ने गई बुद्धिया बना-बनाकर, तपोवनमें सुगमे रहते हैं ॥ २२ ॥ देखो ! यह वही स्थान है जहाँ तुम्हें

त्वं रक्षसा मीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
 अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावजितपल्लवाभिः ॥ २४ ॥
 मृगश्च दर्भाद्भ्रुनिर्व्यपेक्षास्तवागतित्तं समबोधयन्माष् ।
 व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पन्नराजीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥
 एतद्दिरेर्मान्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
 नवं पयो यत्र घनैर्मया च स्वद्विप्रयोगाशु समं विस्तृष्टम् ॥ २६ ॥
 गन्धश्च धाराहतपन्वलानां कादम्बमधोद्भूतकेसरं च ।
 ख्लिग्वाश्च केकाः शिखिनां बभ्रुवुर्यस्मिन्नसद्धानि विना त्वया मे ॥ २७ ॥
 पृथ्वीभूतं स्मरता च यत्र कम्पोतरं मीरु त्वोपगृह्यम् ।
 गुहाविसारीप्यतिवाहितानि मया कथंचिद्दन्नाजितानि ॥ २८ ॥
 आसारसिक्तचित्तिवाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
 विडम्ब्यमाना नवकन्दलौस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥ २९ ॥
 उपान्तवानीरयनोपगूढान्यालक्ष्यपारिस्त्रवसारसानि ।
 दूरावतीर्णं पिपतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥
 अत्राविद्युक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
 इन्द्रानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमोक्षितानि ॥ ३१ ॥

इन्द्रते हुए मैंने पृथ्वीपर पदा हुआ तुम्हारा विद्युत्पा देता था । सुवचाप पदा हुआ वह ऐसा लग रहा था मार्गो तुम्हारे चरणोंसे चलता हो जानेके दुःखसे चुप हो गया हो ॥ २३ ॥ हे मीरु ! राख्य तुम्हें जिस मार्गसे ले गया था उस मार्गसे लताएँ मुझे कृपा करते तुम्हारे जानेका मार्ग घताना पाइती थीं पर घोडा न सकनेके कारण इन्द्रोंने घपनी पणोंवाली छालियों ही उभर हुआकर मुझे तुम्हारा पता बता दिया था ॥ २४ ॥ हरिणियोंने भी जप देखा कि मुझे तुम्हारे जानेके मार्गका पता नहीं है तब वे घपनी उठी हुई पलकोंवाली और दक्षिण दिशाकी ओर करके मुझे मार्ग समझाने लगी थीं ॥ २५ ॥ देतो ! यह जो आने मान्यवान पर्यतकी ऊँची छोटी दिवार है देती है, वहाँ जप बाइकोंने तथा जल बासाना शारम्भ किया, उस समय तुम्हारे न रहनेसे मेरी शक्ति भी जल परसने लगी थीं ॥ २६ ॥ उस समय वर्षाके कारण पौत्राँमें से उठी हुई सौंवी गन्ध, चपखिची मन्त्रियोंवाले कन्दुगके फूल और मोतीके मनोहर रत्न तुम्हारे बिना मुझे बड़े धरते ॥ २७ ॥ जप वहाँ बाइक गरजते थे और गुफाओंमें उलझी प्रतिपत्ति होने लगती थी तब मुझे ये दिन स्मरण हो चाप जब बाइकोंके गर्जनेसे दरकर हम मुझसे छिप जाती थी । सचमुच मान्यवान पर्यतपर वे पावणके दिन मैंने बड़े कष्टसे बिताए ॥ २८ ॥ वर्षाके कारण वहाँकी धरतीसे जो भाप निकली, उससे पन्डलियोंकी कलियों गिन्न उठी और देती हो लाग-लाग हो गईं जैसे विवाहके समय हवनका धुआँ खानेसे तुम्हारी शक्ति खाल हो गई थीं । अतः उम्हें देखकर तुम्हारा स्माय हो खानेसे मैं धरुण हो गया था ॥ २९ ॥ देतो ! बहुत उँचेमे देतनेके कारण और बँतके जंगलोंसे ढके होनेके कारण पत्त सरोवरका जल ठीक ठीक नहीं दिवार दे रहा है । फिर भी जल-परतेसे हुए सारस कुण्डकुण्ड दिवार पत्र जाते हैं ॥ ३० ॥ हे जिये ! वहाँ अकान-अकानके ओरे एक दूसरेकी

बेलानिलः केनकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताचि ।
 मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वैचीव विन्वाधरवद्धृत्पणम् ॥ १६ ॥
 एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
 प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥
 कुलुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गं मृगप्रवेदिणि दृष्टिपातम् ।
 एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥ १८ ॥
 क्वचित्पथा संचरते सुराणां क्वचिद्धनानां पततां क्वचिच्च ।
 यथाविधो मे मनसोऽभिलापः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥
 असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गागात्रीचिविमर्दशीतः ।
 आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥ २० ॥
 करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डिड कुतूहलिन्या ।
 श्रामुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्यद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥
 अमी जनस्थानमपोडविघ्नं मत्वा समारब्धनचोटजानि ।
 अघ्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोम्भितान्याश्रममण्डलानि ॥ २२ ॥
 सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नृपुरमेकमुर्व्याम् ।
 अदृश्यत त्वच्चरखारविन्दविश्लेषदुःखादिव वद्धमौनम् ॥ २३ ॥

होनेसे पहिपकी हालके समान बहुत पतला और ताड़ तथा तमाल आदि पृथोकें कारण नीला
 दिखाई देनेवाला समुद्र-तट ऐसा जान पड़ रहा है जैसे चक्रकी धारपर मुर्चा लम गयी हो ॥ १५ ॥
 हे मुझे ! समुद्रतटका वायु तुम्हारे मुखपर श्वेतकीड़ा पराग छिड़क रहा है मानो यह यह जान
 गया है कि मैं तुम्हारे अर्धशरीरों को घूमने ही वाला हूँ और अब अधिक श्रद्धाकी शक्त नहीं देखूँगा ॥ १६ ॥
 यह देखो हम लोग विमानके तौम चलनेके कारण क्या मरने ही समुद्रके उस तटपर पहुँच गए जहाँ
 बालपर सीपोंके फेड़ जानेसे मोती विश्वरे पड़े हैं और फलोंके भारसे सुषारोंके पैर मुके लगे हैं ॥ १७ ॥
 हे कदलोंके समान आँधोंवाली मृगयनी ! पीठकी घोर तो देखो ! दूर निकल जानेसे यह जंगलोंसे
 भरी हुई भूमि ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो समुद्रमेंसे यमी अथवाक निकल पड़ी हो ॥ १८ ॥
 देखो ! मैं जितना चाहता हूँ उधर ही यह विमान घूम जाता है । यह कभी तो देवताओंके मार्गमें
 उड़ता चलता है, कभी धारलोंके मार्गमें पहुँच जाता है और कभी परिषदोंके मार्गमें उड़ने लगता
 है ॥ १९ ॥ ऐरावतके मदकी गन्धमें घसा हुआ घोर आकाशगद्गाकी लहरोंसे टण्डाया हुआ
 आकाशका वायु तुम्हारे मुखपर दोपहरकी गर्मसे धाई हुई धरोंकी धूलोंको पीता चलता है ॥ २० ॥
 हे चन्द्रो ! जब तुम मेल-मेलमें अपनी हाथ विमानमें बाहर निकल कर बादलोंको छू लेती हो तो
 तुम्हारे मणिकण्ठके चारों घोर विज्रकी टैपि जाती है । उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो बादल
 तुम्हारे हाथमें घूमता बंगन पड़ना रहे हो ॥ २१ ॥ नीचे देखो ! रावण आदि राजाओंके मारे जानेकी
 बात सुनकर इन चीरधरी तपस्वियोंने समझ लिया है कि अब कोई शक्य नहीं रहा और इतकिए
 से मैं कुटिया बना-बनाकर, तपोवनमें सुगमने रहते हूँ ॥ २२ ॥ देखो ! यह यही स्थान है जहाँ तुम्हें

पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मचोना ।
 समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्मरोयौवनकृटवन्धम् ॥ ३९ ॥
 तस्यायमन्वर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदङ्गघोषः ।
 विषद्वृतः पुष्परुचन्द्रशालाः क्षुण्णं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥ ४० ॥
 हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये सल्लटतपमममसिः ।
 अतो तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतोक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥ ४१ ॥
 अमुं सहासप्रहितेक्षणांनि न्धाजार्धसंदंशिवमेसलानि ।
 नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥
 एषोऽक्षमालारत्नपं मृगाणां वण्डयितारं कुशमूचिलानम् ।
 सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः मध्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥ ४३ ॥
 वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्निः ।
 दृष्टिं निमानव्यवधानशुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि मंनिषते ॥ ४४ ॥
 अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्रस्तपोवनं पारनमाहिताग्नेः ।
 चिराय संतर्प्य समिद्धगिरिधि यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहोषीत् ॥ ४५ ॥
 ज्ञायाविनीताध्वपरिश्रमेण भूपिष्ठसंभाव्यफलेष्वमीषु ।
 तस्यातिथीनामधुना सपर्वा स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेय ॥ ४६ ॥

चन्द्रमा हो ॥ ३९ ॥ पहले वे महर्षि तपस्या करते समय मृगोंके साथ पास चरा करते थे । इनकी ऐसा तपस्या देखकर इन्द्रकी यह भय हुआ कि कहीं ये हमारा इन्द्रमन न ध्यान लें, इसलिये इनका तप दिगामेके लिये इन्द्रने, एक माघ पाँच अम्बराओंका जाल इनपर फँका और येचारे फँस गए ॥ ३९ ॥ यह जो नाच गाना सुनाई दे रहा है यह जलके भीतर बने हुए उन्हींके मन्त्रका है । वहीके मृदङ्गकी ध्वनि आकाशमें पुष्परुचिमानकी क्षुण्णरीमें टकाकर गूँद रहा है ॥ ४० ॥ यह जो चार अक्षिपोंके बीचमें धीरे ऊपर सूर्यकी किरणोंसे तपते हुए तपस्वी भँडे हैं इनका नाम तो सुतोक्ष्ण [अर्धान् पदा लीला] है पर ये हैं यदं लीले ॥ ४१ ॥ इनके शपसे डरकर इन्द्रने इनके पास भी अम्बराओंकी भेजा । वे गुप्तकरा गुप्तकरा इनपर तिरछी चितवन यलाठी थी और किसी न किसी यद्दामे धरनी लगदी भी उठाकर इन्द्रने दिया देती थी पर उनका यह तप पटल-मटक इन्द्रने सुभा सकी ॥ ४२ ॥ देखो ! ये मुझे देकर रत्नापका माला कंधी हुई, मृगोंकी यहलानेकली और कुल उलाहनेवाली धरनी दादिना सुता उठाकर मेरा स्वागत कर रहा है ॥ ४३ ॥ ये भीत रहते हैं इसलिये फेकल तिर दिलाकर ही इन्द्रने मेरे अण्डामको स्वीकार किया है । विमानके बीचमें आजानेये जो हकी दृष्टि सूर्यसे छल्लग हो गई थी यह तिर इन्द्रने सूर्यमें खगा ली है ॥ ४४ ॥ यह चागे शरणागतकी रक्षा करनेवाले अग्निहोत्री शरभङ्ग अथवा सपोवन है जिन्होंने बहुत दिनोतक अतिके अग्निवासे गुह करके अन्तमें अग्नि पवित्र शरीर भी उसनें हवन कर दिया था ॥ ४५ ॥ जैसे सुपुत्र अपने पिताके

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्राम् ।
 त्वस्त्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥ ३२ ॥
 अमूर्ध्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
 प्रत्युद्गजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥ ३३ ॥
 एषा त्वया पेशलमप्ययापि घटाम्बुसंबन्धितवालचूता ।
 आनन्दपत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥ ३४ ॥
 अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः ।
 रहस्त्वदुत्सङ्गनिपणमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ ३५ ॥
 भ्रूमेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
 तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥ ३६ ॥
 त्रेताग्निभूमाग्रमनिन्द्यकीर्तैस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
 प्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्रुते मे लविमानमात्मा ॥ ३७ ॥
 एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णैः पञ्चाप्सरो नाम विहारचारि ।
 आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्षपमिवेन्दुचिम्बम् ॥ ३८ ॥

प्रेमपूर्वक कमलका केसर दिया करते थे। तुमसे दूतनी दूर होनेके कारण उन्हें देख देखकर मैं यही सोचा
 करता था कि मुझे भी वे दिन कर देखनेको मिलेंगे ॥ ३२ ॥ तुम्हारे वियोगमें मैं ऐसा पागल हो गया
 था कि एक दिन स्तनके समान गुच्छोंवाली इस पतली अलोक लताको मैंने यह समझकर गले
 लगाया था कि तुम ही हो। जैसे ही मैं उसे गले लगाने चला तो मेरा यह पागलपन देखकर
 रोते हुए खम्बामें मुझे बहाँसे हटा लिया ॥ ३३ ॥ यह देखो! विनातके नीचे लटकती हुई सोनेकी
 किङ्किणियोंका शब्द सुनकर गोदावरी नदीके सारसोंको पतले ऊपर उड़ी चली आ रही है मानो वे
 तुम्हारी आगवाणी करने आ रही हों ॥ ३४ ॥ आज बहुत दिनोंपर इस पञ्चवटीको देखकर मेरा जी
 खिल उठा है। यह देखो! बहाँके मृग ऊपर सिर उठाकर विमानको देख रहे हैं। यहींपर तो तुमने
 अपना पतली कमरपर घड़े से लेकर आमके दुर्षोंको खींचकर पाला-पोसा था ॥ ३५ ॥ मुझे वे दिन
 समझ हो रहे हैं जब मैं यहाँ पञ्चाप्सरो, बँतकी कोंपड़ोंमें तुम्हारी गोदमें सिर रखकर सोया करता था
 और गोदावरीका ठण्डा बापु मेरे शरीरकी थकावट मित्र्या करता था ॥ ३६ ॥ यह देखो! आगे ही
 इन तपस्वी आगस्त्य ऋषिका आश्रम है, जिन्होंने केवल भौंटे तानकर ही राजा नहुषको इन्द्रके पदसे
 नीचे टकेल दिया था। वे ही जब उदय होते हैं तब वर्षाका सब गँदवा जल स्वप्न कर देते हैं ॥ ३७ ॥
 उसी यशस्वी ऋषिकी, गार्हपत्य और आहवनीय ऋषियोंसे हवन सामग्रीको गन्धसे मिला हुआ वह
 धुम्रा विमानके पासतक उड़ा चला आ रहा है जिसे सूँघते ही मेरा आत्मा पवित्र हो गया है ॥ ३७ ॥
 हे भामिनी! यह आगे शातकर्णी ऋषिका पञ्चाप्सर नामका शंश-सरोवर चरों और काले काले
 जङ्गलसे घिरा हुआ दूरमें ऐसा दिखलाई पन रहा है मानो बादलोंके बीचमें कुछ कुछ दिखलाई देनेवाले

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
 अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरैव ॥ ५४ ॥
 क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
 अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितैव ॥ ५५ ॥
 क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शत्रुलीकृतेव ।
 अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवास्तत्पनमःप्रदेशा ॥ ५६ ॥
 क्वचित्च कृष्णोरगभूषणैव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
 पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ ५७ ॥
 समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलापिपेकात् ।
 तत्रवावशेषेन विनापि भूयस्तनुत्पजां नास्ति शरीस्वन्धः ॥ ५८ ॥
 पुरं निपाद्राधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमयि विहाय ।
 जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥ ५९ ॥
 पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरैण्यु यस्याः ।
 ब्राह्मं सरः कारयमाप्तवाचो बुद्धेरिवान्यक्तमुदाहरन्ति ॥ ६० ॥
 जलानि या तीरनिखातयुषा बहत्पयोध्वामनु राजधानीम् ।
 तुरंगमैधावभृथावतीर्त्सरिच्चाकुमिः पुरपतरीकृतानि ॥ ६१ ॥

भरे हों ॥ ५३ ॥ हे सुन्दरी ! देखो यमुनाको सौवली लहरोंसे मिली हुई उजली लहरोंको गङ्गाको
 कैसी सुन्दर लग रही है । कहीं तो ये चमकनेवाली इन्द्रनील मणियोंसे गुँथी हुई माला जैसी लगती
 है, कहीं, नीले और श्वेत कमलोंकी मिली हुई माला जैसी दिखाई पड़ रही है ॥ ५४ ॥ कहीं सौवले
 रंगके हंसोंसे मिले हुए उजले रंगके राजहंसोंकी पंक्तिसे समान शोभा दे रही है, वहाँ श्वेत चन्द्रमसे
 चीती हुई पूर्वापर बीच बीचमें काले भ्रगरसे चीती हुई सी लग रही है ॥ ५५ ॥ कहीं-कहीं ये
 वृषके नीचेकी उत चोंदनीके समान लगती है जिसके बीच बीचमें पत्तोंकी छाया पड़ी हो और कहीं
 पर शरद् ऋतुके उन उजले यादलोंके समान जान पड़ती है जिनके बीच बीचमें नीला काक्या
 भँक रहा हो ॥ ५६ ॥ और कहींपर लगाए हुए शिवजीके शरीरके समान दिखाई पड़ रही है जिसपर
 काले-काले सर्प लिपटे हुए हों ॥ ५६-५७ ॥ समुद्रकी इन दो पश्चिमों अर्थात् गङ्गा-यमुनाके राहमें
 जो स्नान करके पवित्र होते हैं वे सप्तमानी न होनेपर भी तटारके अर्धमोंसे छूट जाते हैं ॥ ५८ ॥
 यह जाने वही निपाद्राज गुहका नगर है जहाँ मैंने सुकृतमणि उत्तरकर जश बौधी भी थीर जिसे
 देवप्रकर सुमन्त्र यह कहकर रोने लगे थे कि हे कैकेयी ! तेरी दृष्ट्या सफल हो गई ॥ ५९ ॥ जेमे
 लयि लोग कहते हैं कि अम्पक्ये [अर्थात् प्रकृतिसे] बुद्धि उत्पन्न हुई वगे ही यह सत्यु नदी भी उस
 मानसतोषारसे निकली है, जिसके कमलोंका पराग पत्तोंकी अर्धा भरने स्वयंसे लगती है ॥ ६० ॥
 यह नदी इच्छाकुपंसी राजाओंकी राजधानी अयोध्यासे लगी बहती है । इसके तटपर जहाँ-तहाँ वनोंके

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ भृङ्गाग्रलद्गाम्बुदवप्रपङ्कः ।
 वघ्नाति मे वन्दुरगात्रि चक्षुर्दक्षः ककुच्चानिव चित्रकूटः ॥ ४७ ॥
 एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
 मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भ्रूमेः ॥ ४८ ॥
 अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
 यद्वाङ्मुरापावण्डुकपोलशोभी मयावतंसः परिकल्पितस्ते ॥ ४९ ॥
 अनिग्रहश्रासविनीतसञ्चमपुंषलिङ्गात्फलवन्धिवृक्षम् ।
 वनं तपःसाधनभेतदत्रेराविष्कृतोद्ग्रतरप्रभावम् ॥ ५० ॥
 अत्रामिपेकाय तपोधनानां सप्तपिंहस्तोद्ग्रतहेमपद्माम् ।
 प्रवर्तयामास किलानुश्रया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥ ५१ ॥
 धीराशनैर्घर्षानुपामृषोण्याममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
 निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥ ५२ ॥
 त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
 राशिर्मथोनायिव गारुडानां सपन्नरागः फलितो विभाति ॥ ५३ ॥

धर्मका पालन करते हैं वैसे ही अतिथि-सेवाका काम उनके बदले वे आधमके वृक्ष करते हैं जिनकी
 धारामें वैदिक अधिक धरनी बनाए कर करते हैं और जिनमें बड़े भांडे भांडे फल भी लगते हैं ॥ ४६ ॥
 हे मुन्दरी । मशुर्साँदके समान यह चित्रकूट पर्वत मुझे बड़ा मुदावना लग रहा है । इसकी गुफा ही
 इसका मुख है, इससे निकलनेवाले जलकी धाराका शब्द ही साँदकी ठकार है, इसकी थोड़ी ही
 उसकी सींगें हैं और उसपर धूप हुए बादल ही मानो सींगोंपर लगी हुई हैं शब्द है ॥ ४७ ॥ यह सो
 मन्दाकिनी का गई । इनका जल कैसा स्वच्छ और धीरे धीरे बह रहा है । दूर होनेके कारण ये कितनी
 पतली दिराई दे रही हैं । चित्रकूट पर्वतके भाँचे बहते हुए वे ऐसी जान पड़ती हैं मानो पृथ्वी रूपी
 नादिकाके गलेमें मोतियोंकी माला पड़ी हुई हो ॥ ४८ ॥ पहलके ढालपर जो तमालका वृक्ष दिराई
 दे रहा है यह वही है जिनकी कोंपलका बरसूज बनाकर मैंने तुम्हारे कानमें पहनाया था और जो
 तुम्हारे ओके झुरके समान पीछे गालोंपर लटकता हुआ बड़ा मुन्दर लगता था ॥ ४९ ॥ यह धारो
 अत्रि मुनिका तपोवन है जहाँके विंद प्रादि पनु विना मारे फोंडे ही ऐसे सीधे हो गए हैं कि जिनसे
 पुत्र बोलते गहों । यह तपोवन इतना प्रभाशाली है कि यहाँ विना वृक्ष आए ही पृथ्वीमें फल लग
 जाते हैं ॥ ५० ॥ अत्रिका पत्नी अनुश्रयाजी प्रथिवीके स्नानके लिये उन त्रिपदाय तत्राजोकी यहाँ
 से आई हैं जिनमेंसे सप्तपिण्ड स्वर्ग कमल पुत्रा करते हैं और जो शिवजीके निरपर आकाके समान
 मुन्दर लगती हैं ॥ ५१ ॥ इस आधमके वृक्षोंके तले वैदियोंपर तपशी लोग वीरसन लगा आकार
 प्यान करते हैं और यहाँके वृक्ष भी वायु म चलनेके कारण ऐसे स्थिर बने हैं मानो वे भी योग भाष
 रहे हों ॥ ५२ ॥ यह बाला काना पद्मी पद्मका पैर है जिनकी लम्बे मर्गांतो मानी थी । रूपमें जो
 बाल-काय ब-पोजियाँ गयी हैं उनमें यह पैर देखा लग रहा है जैसे भालगके डेरमें पड़ते साव

तस्मात्पुरःसरविभीषणदशितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः ।
 यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः ॥ ६९ ॥
 इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य स भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते ।
 पर्यश्रुतस्वजत मूर्धनि चोपजघ्नौ तद्भक्त्ययोढपितृराज्यमहामिपेके ॥ ७० ॥
 रमश्रुप्रवृद्धिजनितानन विक्रियांश्च सुक्षान्प्ररोहंजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान् ।
 श्रन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा ॥ ७१ ॥
 दुर्जातघ्नधुरयमृचहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरः प्रहर्ता ।
 इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ॥ ७२ ॥
 सौमित्रिणा तदनु संसृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
 रुढेन्द्रजित्प्रहरणवणकर्कशेन क्रिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन ॥ ७३ ॥
 रामज्ञया हरिचमूपवस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारूढुर्गजेन्द्रान् ।
 तेषु चरस्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलोभिरे ते ॥ ७४ ॥
 सानुस्रवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे स्थान्दशरथप्रमवाचुशिष्टः ।
 मायाविकल्पपरचितैरपि ये तदीयैर्न स्पन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥ ७५ ॥

पंखे पल्लववाली सारी जनता शीत फाड़ फाड़कर उन्हें देखने लगी ॥ ६८ ॥ सेवामें चतुर सुमीचके हाथोंके सहारे स्फटिक नवियोंसे जड़ी हुई सीढ़ीसे रामचन्द्रजी विमानसे उतरे और विभीषण आगे-आगे मार्ग दिखाते चले ॥ ६९ ॥ किन्तु रामने पहले इक्ष्वाकुवंशके गुरु वशिष्ठजीको प्रणाम किया । फिर अर्घ्य ग्रहण करके शीतमें शीत भरकर उन्होंने पहले भरतजीको छातासे लगा लिया फिर उनके ऊपर मस्तकको छूँवा जिसने रामको भक्तिके कारण शंभ्यामिपेके भी शस्त्रोत्कार कर दिया था ॥ ७० ॥ फिर वृद्ध मन्त्रियोंसे मिले, मूँह और दाढ़ी बढ़ जानेसे ये ऐसे दिखार्य दे रहे थे जैसे घने बरोहवाले बड़के वृष हों । रामने प्रेम-मयी शीतोंसे मधुर भाषामें उनसे व्यापारिक सुखल-महल पूछा ॥ ७१ ॥ भरतजीसे सुजाँबकर परिचय देते हुए रामने कहा कि वे वानरों और भालुओंके सेनापति हैं और बड़े गाढ़ दिनोंमें ये हमारे काम आए हैं । फिर विभीषणका परिचय देते हुए कहा कि ये सुखरथ कुलमें उत्पन्न हुए विभीषण हैं । ये युद्धके समय इनसे आगे बढ़ कर शत्रुओं पर महार करते थे । यह सुनकर भरतजीने लक्ष्मणको छोड़कर पहले उन्हें दोनोंका स्वागत किया ॥ ७२ ॥ तब भरतजी लक्ष्मणसे मिले और प्रणामके लिए कुँके हुये लक्ष्मणके सिरको उठाकर मेघनादके प्रहारोंसे बँधे हुए उनकी छातीकी धपनी भुजाओंसे दबाते हुए उन्हें अपनी छातासे लगा लिया ॥ ७३ ॥ रामके कहनेसे वानरों और भालुओंके सेनापति मनुष्योंका वेश बना बनाकर हाथियोंपर चढ़ गए । उन हाथियोंके मस्तकने मदकी धारा बह रही थी, इसलिये मूँहकी धारासे चढ़ते समय उनकी चढ़ी छान्द मिजा माने भरतोंवाले पहारोंपर ही चढ़ रहे हों ॥ ७४ ॥ रामको आज्ञासे विभीषण और उनके साथी भी रथों पर चढ़ गए । वे रथ पथपर मनुष्योंने बनाए थे फिर भी वे इतने सुन्दर थे कि राजाओंकी मायासे बनाए हुए रथ भी उनकी सुन्द-

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।

सामान्यधात्रीमिव वानसं मे संभावयत्युत्तरकोशलानाम् ॥ ६२ ॥

सेपं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्विद्युक्ता ।

दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरंगहस्तैरुपगूहतीव ॥ ६३ ॥

विरक्तसंस्थाकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमृज्जिहीते ।

शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥ ६४ ॥

श्रद्धा श्रियं पालितसंगराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।

हृत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥ ६५ ॥

श्रुत्वा पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः ।

वृद्धैरमात्यैः सह चीरवामा मामर्घ्यवाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥ ६६ ॥

पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं सुवाप्यङ्कगतामभोक्ता ।

इयन्नि वर्षाणि तया महोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमामिधारम् ॥ ६७ ॥

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा ।

ज्योतिष्यादवततार सविस्मयामिरुद्धीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगामिः ॥ ६८ ॥

रामने गये हुए हैं जिनमें चौपकर पशुओंकी बलि दी जाती थी । धरवमेध कानेके अन्ततर सूर्यवंशी राजाघोने जो इसमें स्नान किया है उससे इसका जल पवित्र हो गया है ॥ ६१ ॥ मैं इस नदीका पद घादर करता हूँ क्योंकि यह उत्तरकोशलके राजाघोने धाय है । इसीके बालमें गेल गेलकर ये सब पलते हैं और इसीका मीठा जल पीकर पुष्ट होते हैं ॥ ६२ ॥ माननीय महाराज दशरथसे विद्युद्दी हुई मेरी माताके ही समान यह सरयू अपने ठंठे वायुवाले तरंग रूपी हाथ उठा रही है मानो इतने ऊँचे परते ही मुझे गले लगाना चाहती हो ॥ ६३ ॥ देवो ! लाल सन्धाके समान जो भूल पृथ्वीसे उठ रही है उसने जान पड़ता है कि हनुमानजीने मेरे आनेका समाचार सुनकर भरत सेना खेर मेरा स्वागत करने आ रहे हैं ॥ ६४ ॥ गरदूषण आदि राष्ट्रोंको मारकर मैं जब खीग था उस समय जैसे लक्ष्मणने तुम्हें मेरे हाथ सुरक्षित रूपसे खीग दिया था वैसे ही अब मैं जबधि पूती करदे जो खीग हूँ तो जान पड़ता है कि साजन भरत मुझे सुरक्षित राज्यलक्ष्मी अण्डर ही खीगेंगे ॥ ६५ ॥ और वहने, पैरल चलने हुए हाथमें पूजाका सामग्री लिए हुए मन्त्रियोंके साथ भरत मेरे ही पास आ रहे हैं । देतो इनके आगे आगे वशिष्ठजी चल रहे हैं और पीछे पीछे सेना पक्षी आ रही है ॥ ६६ ॥ जैने किसी सुवा पुण्यकी गोदमें कोई सुन्दर स्त्री आकर बैठ जाय और वह उमने भोग न करके तलवारकी धारपर चलनेके समान बटोर, दृष्टियोंकी वशमें अपनेका मत बर ले, दिने ही भरतने भी विनाकी दूरी हुई तापकर्मोंकी भोग कानेकी शक्ति रहते हुए भी मेरे कारण उमका भोग न करके ब्रह्मिण अग्निधार लक्ष्मी पावन किया है ॥ ६७ ॥ जब राम नेमा वह रहे थे उसी समय रामकी इच्छाकी ही विमानका आलस मानवर वद विमान आकाशमें नीचे उतर आया और भरतजीके

चतुर्दशः सर्गः

भर्तुः प्रथाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने ।
 अपश्यतां दासुरथी जनन्थी छेदादिशेषकृतरोर्ब्रतत्यौ ॥ १ ॥
 उभावुभाम्यां प्रसूतां हजारी यथाक्रमं विक्रशोमिनौ तौ ।
 विस्पष्टमस्त्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥ २ ॥
 आनन्दजः शोकजमथ्रु वाप्यस्तयोरशीतं शिघ्रिरी विभेद ।
 गङ्गासुरस्योर्जलप्लुप्यतप्तं हिमाद्रिनिस्पन्द इवावतीर्ष्यः ॥ ३ ॥
 ते पृत्रयोर्नैश्र्यतश्चमार्गानाद्गानिगङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ ।
 अपीप्सितं चत्रकुलाङ्गनानां न वीरसृशब्दमकामयेताम् ॥ ४ ॥
 क्रेशायहा भर्तुरलक्ष्याहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्तौ ।
 स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ध्वन्दे ॥ ५ ॥
 उचिष्ठ वत्से ननु सासुजोऽपौ घृणेन भर्ता शुचिना तथैव ।
 कृच्छ्रं महतीर्ष्य इति प्रियार्हां तामूवतुस्ते प्रियमप्यमिभ्या ॥ ६ ॥
 अघामिपेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्थौ ।
 निर्वर्तयामासुरमास्यदृष्ट्वास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः ॥ ७ ॥

चौदहवां सर्ग

उस उपवनमें पहुँचकर राम अपनी माताओंसे मिले जो उतां डकार उदरस खग रही थीं
 जैसे हुएके बट जानेपर उसके सहारे पर्वी हुई जताएँ गुरम्य जाती हैं ॥ १ ॥ पराम्परी राम और
 लक्ष्मणने पारी पारीसे- कौशल्या और सुमित्राके प्रणाम किया । अपने पुत्रोंके देखने ही दोनों
 माताओंकी आँसुओंमें आँसु प्लुजपत्रा घाए इत्यजिये वे आँसु मर उगड़े देखे मर नहीं सकीं पर पुत्रोंके
 प्यारसे पुत्रकारने समय उगड़े पहचान गई ॥ २ ॥ जैसे गर्दीके दिनोंमें हिमाचलका शीतल जल गङ्गा
 और सरयूके गर्म जलको ठंडा कर देता है वैसे ही उन दोनों नारिणोंकी आँसुओंमें पड़े हुए आनन्दके
 ठंडे आँसुओंमें शोकके गरम आँसुओंको ठंडा कर दिया ॥ ३ ॥ पुत्रोंके शरीरके मित भंगोंपर
 रासुओंके शोकके प्रायः बने थे वहाँ वे दोनों माताएँ हुए प्रकार सहजाने लगीं। माता पाच आसीं इरे
 हीं हीं । उस समय अपने पुत्रोंकीही ओटें देखकर वे स्वर्गी व्याकुल गई कि उगड़े बंद पुत्रकी माँ
 कदवाना भी क्या गई लगी ॥ ४ ॥ मैं हीं पतिके बट देनेवाली बुजबुजा सीता हूँ—बट बटने
 हुए सीताजीने एक सी भक्तिसे रजांभयो समुद्रकी दोनों शक्तिओंके चरण दूर ॥ ५ ॥ माताओंने
 सीताजीको उदरने हुए बरी प्यारी और मधो बात कही—उरी बेटी । मेरे हीं पतिकेबटने प्रमाणने
 राम और लक्ष्मण हुए बने भारी संकटने पार हुए हैं ॥ ६ ॥ त्रिप राणालोकका आरम्य माताओंके
 हर्ष करे आँसुओंसे दुःखा पा, उन लभिनैकरी मोनेके पारोंने मरे लंघोंने खाए हुए उजगी रामको

भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताकमध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।
 दोपातनं बुधहृत्स्पतियोगदृश्यस्वारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥ ७६ ॥
 तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं वर्षात्पत्येन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः ।
 रामेण मैथिलमुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्प्रत्युद्धृतां धृतिमयीं भरतो वचन्दे ॥ ७७ ॥
 लङ्केश्वरप्रणतिमङ्गद्वद्वतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।
 ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुमयं समेत्य ॥ ७८ ॥
 क्रोशार्थं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
 शशुभप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमधुवाप्त ॥ ७९ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 दण्डकाटप्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ।

रत्ताके आगे पानी भरते थे ॥७५॥ जैसे बुध और वृहस्पतिके साथ होनेसे विशेष दुर्गन्धीय चन्द्रमा सन्ध्याको विजलीवाले बादलोंपर बैठता है वैसे ही राम भी भरत और लक्ष्मणके साथ पताकाओंसे सजे हुए और इच्छानुसार चलनेवाले पुष्पक विमानपर चढ़ गए ॥ ७६ ॥ जैसे आदि वरगहने प्रलयसे पृथ्वीको उबार लिया था, जैसे वर्षा भीतनेपर शरद, बादलोंसे चँदनी छीन लेता है वैसे ही रामने रावण रूपो सङ्कटसे जिसे उबार लिया था उस विमानमें बैठे हुए सीताजीको भरतजीने जाकर प्रणाम किया ॥७७॥ सीताजीके त्रिन पवित्र शरणोंने रावणकी प्रणय प्रार्थनाको दृढ़तापूर्वक टुकरा दिया था उनपर जब भरत-जीने बड़े भार्दकी भविके कारण यद्दी हुई जटाबाला घपना सिर खला तो इन दोनोंने आपसमें मिलकर एक दूसरेको पवित्र कर दिया ॥ ७८ ॥ आगे रामे ज्योत्स्नाकी जनता चल रही थी और पीछे पीछे यह पुष्पक विमान धीरे-धीरे चला जा रहा था जिसपर राम बैठे हुए थे । इस प्रकार शाय कोसतक चलकर उन्होंने ज्योत्स्नाके उस सुन्दर उपवनमें देरा जमाया जिसे पहलेसे ही शशुभने मन्त्री-भौति सजा रखता था ॥ ७९ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें दण्डकवनसे खीटना
 नामका तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



वेश्मानि रामः परिवर्हन्ति विश्राय्य साँहार्दनिधिः सुहृद्भयः ।
 वाप्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥ १५ ॥
 कृताञ्जलिस्तत्र यदभ्य सत्वान्नाम्रश्यत स्वर्गफलाद्गुर्लः ।
 तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भस्तस्य मातुः ॥ १६ ॥
 तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधामिः ।
 संकल्पमाश्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥ १७ ॥
 सभाजनापोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः ।
 शुश्राव तेभ्यः प्रमवादि वृत्तं स्वधिक्रमे गौरवमाद्धानम् ॥ १८ ॥
 प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुप्रादविज्ञातगतार्थमानान् ।
 सीतासहस्तोपहृताभ्यपूजान् रघुःकपीन्द्रान्विससर्ज रामः ॥ १९ ॥
 तत्रात्मचिन्तासुलभं विमानं हतं सुरारेः सह जीवितेन ।
 कैलासनायोद्धहनाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वर्मस्त ॥ २० ॥
 पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
 धमार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥ २१ ॥

किर क्षमिमें यैटा दिया हो ॥ १५ ॥ मित्र प्रेमी रामने पहले तो सुग्रीव आदि मित्रोंको सब प्रकारकी सामग्रीसे सत्रे भरनोंमें उहराया और सब वे धरने पितृजीके पूजाघरमें गए । यहाँ दशरथजीका आकेला मित्र देखकर रामही भौल्लोंमें आँसू आ गए ॥ १५ ॥ बँकेपी यहाँ उदास बैठा हुई थी । रामने हाथ जोड़कर बँकेपीसे कहा—माँ ! सुम्हारे दो पुष्पके प्रतापसे हमारे पिताजी धरने उस सत्यमे नहीं दिने जियसे स्वर्ग मिलता है । यदि तुम उनसे वरदान न माँगती तो उम्होंने भी सुम्हें वरदान देनेकी प्रतिज्ञा की थी वह सुनें हो जाती । यह सुनकर बँकेपीके मनमें जो आत्मग्लानि भरी हुई थी कि राम मेरे लिये न जाने क्या सोचते होंगे और मैं उम्हें कैसे सुँह दिवाऊँगी, यह सब जाती रही ॥ १६ ॥ यहाँसे आकर उम्होंने सुग्रीव और विभीषण आदि मित्रोंका भला भौँति खामत सत्कार किया । उन लोगोंको यह देखकर वरदा आरचरी हुआ कि हम जो कुछ चाहते हैं वह म्हें पता कहे ही मिल जाता है ॥ १७ ॥ तब रामने उन आगत्य आदि ऋषियोंका सत्कार किया जो उम्हें बधाई देने आए थे । फिर उन ऋषियोंसे उम्होंने धरने शपु शरणके जन्मसे शुरु तकका वह पृथान्त सुना जो उम्हेंकी गौरव धरनेवाला था ॥ १८ ॥ ऋषियोंके चले जानेपर रामने उन शपुओं और पानर-सेनापतिोंको विदा किया जो प्रबोरवासमें इतने आनन्दमे रहे कि उम्हें पता ही न चला कि आधा महोला कब बीत गया । अन्तमे समय सीतार्जने स्वयं धरने हाथोंसे उनकी पूजा की ॥ १९ ॥ तब रामने उस स्वयंके वृद्धके समान पुष्पक विमानको भी कुंवरके पास जानेकी आज्ञा दी जो सदा रूपदा करते ही उनकी सेवाके लिये आ जाता था और जिसे उम्होंने रावणके प्राणके साथ साथ उमसे क्षीन किया था ॥ २० ॥ हम प्रकार विनाकी आज्ञामे चलकामके अवधि बिताकर रामने धरने पिताका राज्य फिरसे पाया । जैसा वे धर्म, धर्म और कामके साथ समान व्यवहार करने थे

सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रत्नःकपीन्द्रैरुपपादितानि ।
 तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य भेषप्रभवा इवापः ॥ ८ ॥
 तपस्विषेपक्रियवापि तावद्यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव ।
 राजेन्द्रनेपथ्यविधानशाभा तस्योदिताऽऽसीत्पुनरुक्तदोषा ॥ ९ ॥
 समौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
 विवेश सौधोद्वतलाजिवर्षाम्बुत्तोरखामन्वयराजधानीम् ॥ १० ॥
 सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः ।
 धृतातपत्रो भरतेन साक्षाद्दुपायसंघात इव प्रवृद्धः ॥ ११ ॥
 प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वापुवशेन भिन्ना ।
 वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवाचभासे ॥ १२ ॥
 स्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णारथस्थां रघुवीरपत्नीम् ।
 प्रासादवातायनदृश्यवन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणोमुः ॥ १३ ॥
 स्फुरत्प्रभामण्डलमानुष्यं सा विभ्रती शाश्वतमङ्गरागम् ।
 रराज शुद्धेति पुनः स्वपुप्यं मंदर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥ १४ ॥

नदलाकर घूदे मन्त्रियोंने पूरा कर दिया ॥ ७ ॥ राक्षसों और बानरोंके नायकोंने नदियों, समुद्रों
 और झरनोंसे जो जल काकर दिया वह अभियेकके समय रामके शिरपर बैठे ही बरस रहा था जैसे
 विन्ध्यपर्वतकी चोटीपर बादलोंका लामा हुआ जल बरसा करता है ॥ ८ ॥ जो राम तपस्वीके वेशमें
 भी बहुत सुन्दर लगते थे वे इस समय राजसी वस्त्र पहनकर और भी सुन्दर लगने लगे ॥ ९ ॥
 वृद्ध मन्त्रियों, राक्षसों और बानरोंके साथ लेकर रामने अपनी सेनाके साथ उस रामपानी अपोष्यामें
 पैर रखे जो चारों ओर अग्दनवारोंसे सजाई गई थी, जहाँके श्वेत भवनोंपरसे धातकी खिली बरस
 रही थी और जहाँके निवासी गुरही आदि जातोंके मुन मुनकर बड़े प्रसन्न हो रहे थे ॥ १० ॥
 लक्ष्मण और शत्रुघ्न रामपर घेरा हुआ रहे थे और भरत हाथमें धनु लिए हुए थे । उस प्रकार जब
 राम अपने भाइयोंके साथ अपोष्यामें प्रविष्ट हुए तब चारों भाई ऐसे जान पड़े रहे थे मानो साम,
 दाम, दण्ड और भेद ये चारों उपाय इकट्ठे हो गए हों ॥ ११ ॥ भवनोंके ऊपर वायुसे द्धितराया
 हुआ काले अंगरका पुष्पों पेसा लग रहा था मानो बनसे लौटकर रामने अपोष्यापुरीका जूड़ा हो
 अपने हाथसे खोजकर चितरा दिया हो ॥ १२ ॥ भवनोंके भरोजोंमें हाथ बाँधे दिखाई पड़नेवाली
 अपोष्याकी महिलाओंने हाथ जोड़कर उन साताजीके प्रणाम किया जो उस समय पाखकीपर बैठी
 पत्त रहने थी और जिन्हें कौशल्या आदि सातोंने बड़े मनोहर वंशसे बड़ा और आभूषणोंसे सजा
 रखा था ॥ १३ ॥ सीताजीके शरीरपर अक्ष भी यह अमित कान्तिवाला अङ्गराग लगा हुआ था
 जो अक्षुष्याजीने उनके शरीरमें लगा दिया था । उससे अक्षके सन्तान प्रकाशमान उनका
 शरीर ऐसा दिखाई पड़ रहा था मानो पुरबावियोंकी सीताजीकी शुद्धता दिखानेके लिये रामने उन्हें

ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः ।
 विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकरणटोपवनानि रेमे ॥ ३० ॥
 स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः ।
 सर्पाधिराजोरुभ्रुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिमद्रः ॥ ३१ ॥
 निर्वन्धपृष्टः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीपम् ।
 अन्यत्र रक्षोभवनोपितायाः परिग्रहान्मानवदेव देव्याः ॥ ३२ ॥
 कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहृतं कीर्तिविपर्ययेण ।
 अयोधनेनाय इवामितसं वैदेहिवन्धोर्हृदयं विदद्रे ॥ ३३ ॥
 किमात्मनिर्वाद्कथापुपेक्षे जायामदोषामुत संत्यजामि ।
 इत्येरुपक्षाश्रयधिक्रवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः ॥ ३४ ॥
 निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत् ।
 अयस्वदेहादिक्रमुतेन्द्रियार्थायशोधनानां हि यशो गरीयः ॥ ३५ ॥
 स संनिपात्यावरजान्हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
 कौलीनमात्माश्रयमाचक्षे तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम् ॥ ३६ ॥

यच्छ्री वात है । हम सुद्धे उस तपोवनमें अवरण भेजेंगे । वहाँसे उठकर वे अपने सेवकोंके साथ
 सुन्दर अयोध्याकी छटा निहारनेके लिये आकाशसे वाते करनेवाले अपने ऊँचे राजमवन-
 को छतपर जा चढ़े ॥ २९ ॥ वहाँसे उन्होंने देखा कि राजमार्गकी दुकानें धनधान्यसे भरी हुई हैं,
 सरयूमें मार्यें चल रही हैं और अयोध्याके उद्यानोंमें खिलायी सुरवासी मसन्न होकर विलास कर रहे
 हैं ॥ ३० ॥ मगरीकी यह शोभा देखकर सुन्दर बोलनेवाले, सदाचारी और सेवकाके समान परी-
 षदी बाँहों और जर्षिवाले लक्षुविजयी रामने अपने भद्र नामके दूतसे पूछा—कहो भद्र ! हमारे निय-
 यमें मजा क्या कहती है ॥ ३१ ॥ पहले तो भद्र चुप रहा पर जब राम बार बार उतते पूछने लगे
 तब वह बोला—हे नरश्रेष्ठ ! जनता आपकी सत्र बातोंकी प्रशंसा करती है, किन्तु आपने राज्यके
 घरमें रहनेवाली देवी साँताकी किरसे प्रकण्ड कर लिया है, उसे लोग बरपूज नहीं समझते ॥ ३२ ॥
 आपनी पत्नीपर लगाए हुए इस भीषण कलत्रको गुनकर साँतापति रामका हृदय बैसे ही फट गया जैसे
 धनको खोले तपावा हुआ खोहा फट जाता है ॥ ३३ ॥ ये मनमें सोचने लगे कि अब तो ही उपाय
 है । या तो मैं इस बातको छनसुनी हो कर दूँ और टाल जाऊँ या फिर निर्दोष पत्नीको मर्दाके लिये
 छोड़ दूँ । उस समय उनका विष दिँदीना बना हुआ था, ये निश्चय ही नहीं कर पा रहे थे कि इन
 दोनों में क्या करना चाहिए क्या नहीं ॥ ३४ ॥ पर उस बलद्रको मिथानेका कोई दूसरा मार्ग नहीं
 था । इसलिये उन्होंने निश्चय कर लिया कि साँत को दगा कर दो यह बलद्रक मिथाना चाहिए । क्यों
 कि परास्त्रियोंको धरना परा अपने शरीरसे भी पछिड़ प्यारा होता है फिर श्री आदि भोग्यी
 बरपूजों की तो बात ही क्या ॥ ३५ ॥ उदास मुँहसे रामने भाइयोंको बुलाया तो वे भी उनकी

सर्वासु मातृश्रुति वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
 पटाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥ २२ ॥
 तेनार्थर्वल्लोमपसाङ्गमुखेन तेन धनता विघ्नभयं क्रियावान् ।
 तेनास लोकः पितृमान्निनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ॥ २३ ॥
 स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्वा ।
 उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृतोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥ २४ ॥
 तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सशसु चित्रवत्सु ।
 प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥ २५ ॥
 अधाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण ।
 आनन्दयित्री परिशेत्तुरासीदनचरव्यञ्जितदोहदेन ॥ २६ ॥
 तामङ्कमारोष्य कृशाङ्गपटिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् ।
 विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम् ॥ २७ ॥
 सा दष्टनीवारवल्लीनि हिंसैः संवद्वैखानसकन्यकानि ।
 इयेष भूयः कुर्यावन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि ॥ २८ ॥
 तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः ।
 आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रसादमभंलिहमारुरोह ॥ २९ ॥

उसी प्रकार वे अपने माइयोंके साथ भी समान प्रेमका व्यवहार करते ॥ २१ ॥ जैसे स्वामिकारिणके अपने लः मुल्लोसे लुथों कृत्तिकायोंका स्तन पीकर समान रूपसे प्रेम दिखलाते थे, वैसे ही रामचन्द्रजी भी अपनी माताओंकी बराबर प्यार करते थे ॥ २२ ॥ वे निलोम थे इसीलिये उन्हींमे प्रजापर कोई कर नहीं लगाया । फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनोंमें प्रजा धनी हो गई । वे कहीं भी बिग्न थाने ही नहीं वेते थे, इसलिये सब लोग प्रसन्नतासे यज्ञ आदि क्रियाएँ करने लगे । वे सबको लोक मार्गपर पलाते थे इसलिये सब उन्हें पिताके समान मानते थे और विपत्ति पढ़नेपर वे सबकी सहायता करते थे इसलिये वे प्रजाके पुत्र भी थे ॥ २३ ॥ वे ठीक समयपर प्रजाका काम देख-भागकर सीताजीके साथ रमण भी करते थे । ऐसा जान पड़ता था मानो राजबलधराने ही रामके साथ रमण करनेकी इच्छासे सीताका सुन्दर रूप धर लिया हो ॥ २४ ॥ वे दोनों उस भवनमें इच्छानुसार विलास करते थे, जिसमें वनवासके समयके चित्र टेंगे हुए थे । उन चित्रोंको देखकर वनवासके दुःखोंका स्मरण करने भी उन्हें सुख ही मिलता था ॥ २५ ॥ धीरे-धीरे सीताजीके नेत्रोंकी शोभा बढ़ने लगी और उनकी मुख परके सरपत्तके समान पीला पड़ने लगा । इन गर्मके लक्षणोंको देखकर राम यद प्रसन्न हुए ॥ २६ ॥ जब उन्हें परका विरवास ही गया कि सीताजी गर्मिणी हैं तब वे दुबली तथा काली घुग्गीके स्तनों वाली लजीली सीताजीको घुग्गीतमें गोदमें बैठाकर पढ़ने लगे—बताओ, तुम्हें क्या-क्या आदिष्ट ॥ २७ ॥ सीताजी बोलीं—मैं गङ्गाजीके तटके उन तपवनोंको देखना चाहती हूँ जहाँके हिंसक जन्तु मांस न खाकर नोवार ही खाते हैं, जहाँ मेरी सखियाँ तपस्वियोंकी कन्याएँ रहती हैं और जहाँ कुशाकी भोपदियाँ चरती और खड़ी हैं ॥ २८ ॥ रामचन्द्रजीने कहा—

स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकप्रथगीतकीर्तिः ।
 सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥ ४४ ॥
 प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
 स त्वं रथी तद्वचपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजेनाम् ॥ ४५ ॥
 स शुश्रुवान्मातरि भागवेषु पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत् ।
 प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥ ४६ ॥
 यथानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्तुभिर्युक्तधुरं तुरंगैः ।
 रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥ ४७ ॥
 सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियंकरो मे प्रिय इत्यनन्दत् ।
 नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यमिपन्नवृत्तम् ॥ ४८ ॥
 जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्मन्येतरेण स्फुरता तदक्षया ।
 आख्यातमस्यै गुरु भाषि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ॥ ४९ ॥
 सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्तव्यः परिम्लानमुखारविन्दा ।
 राज्ञः शिवं सागरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरथाह्वैः ॥ ५० ॥
 गुरोर्नियोगाद्गनितानां घनान्ते साध्यां सुमित्रावनयो विहास्यन् ।
 अवार्यतेवोस्थितवीचिहस्तैर्जहोर्दुहित्रा स्थिनया पुरस्तात् ॥ ५१ ॥

रथ हो कर लडा, न विरोध ही ॥ ४३ ॥ तीनों लोगों में प्रसिद्ध यशस्वी, अपनी यात्रा के पत्रके रामने
 जन देखा कि लक्ष्मण उसकी यात्रा माननेको तैयार हैं तब वे लक्ष्मणसे कहने लगे—लक्ष्मण ! तुम
 यहाँ चले हो । और यह कहकर उन्हें यज्ञान्तमें ही गए और बोले— ॥ ४४ ॥ तुम्हारी गर्भिणी भामिनी
 तपोवन देवता चाहती ही है इसलिए तुम उन्हें इसी महानेसे रथपर ले जाकर वाल्मीकीजोके आश्रम-
 तक पहुँचाकर छोड़ आओ ॥ ४५ ॥ लक्ष्मणने सुन ही रजता था कि पितारी आज्ञा पाकर परदुरामताने
 अपनी माताको धैरे ही विदेहताके साथ मर दाला जैसे कोई अपने शत्रुको मारे । हमलिये उन्हेंने पितारके
 समान रामकी आज्ञा फिर चला ली, क्योंकि यज्ञोक्त आज्ञामें मीन मोग निजालना ठीक नहीं है ॥ ४६ ॥ सीता-
 की यह सुनकर यज्ञ प्रसन्न हुई कि लक्ष्मण हमें तपोवन दिखाने को जा रहे हैं । लक्ष्मणकी उन्हेंने मेरे रथ-
 पर चढ़ाकर ले चले जिसे स्वयं सुमन्त्र हीक रहे थे और जिसके घोड़े ऐसे सजे हुए थे कि रथके चलते
 समय गर्भिणी सीताको तनिक भी हलक नहीं लगने पाती थी ॥ ४७ ॥ मनोहर महेशीमेंको रथपर जाना
 हुई सीताजो यह सोचकर वर्षा प्रसन्न हुई कि मेरे प्राणप्रिय सदा मेरे मनकी ही बात करते हैं ।
 उन्हें बया पता था कि हम समय से मेरे लिये मनारथ पूजा करनेवाले कवचवृणके बदले उस समिपत्रके
 पूषके समान कटदापक हो गए हैं जिसके पों लज्जारे समान पने होवे हैं ॥ ४८ ॥ लक्ष्मणने
 सीताकीसे मार्गमें हुन भी नहीं पताथा कि तुमपर क्या विपत्ति आनेवाली है पर सीताकीके इन्हिने
 भेजने पड़कर आगे आनेवाले तुमको सुचना दे ही तो ही ॥ ४९ ॥ यह अच्युत होवे ही उनका
 मुँह उदात्त हो गया और वे मन ही मन गवाने लगीं कि भाइयोंके साथ राजा सुयोग रहे, उनपर
 कोई बल न आवे ॥ ५० ॥ मार्गमें गजानां पत्नी जन्मों जो खटरे उठ रही थीं वे बड़े सार्थी

राजपिपंशस्य रधिप्रसूतेरुपस्थितः परयत कीदृशोऽयम् ।
 मत्तः सदाचारशुभेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ॥ ३७ ॥
 पौरिषु सोऽहं बाहुलीमथन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलविन्दुम् ।
 सोढुं न तत्पूर्वमवर्णामीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ॥ ३८ ॥
 तस्यापनोदाय फलप्रवृत्ताद्युपस्थितायामपि निर्व्यपेत्तः ।
 त्यज्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥ २९ ॥
 अवैमि चैनामनघेति किंतु लोकापवादां प्लवान्मतो मे ।
 छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥ ४० ॥
 रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय ।
 अमर्षणः शोणितकण्डूक्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥ ४१ ॥
 तदेव सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिपेधनीयः ।
 यद्यथिता निर्वृतवाच्यशल्पान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥ ४२ ॥
 इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम् ।
 न कथन भ्रातृषु तेषु शक्तो निपेद्दुमासीदनुमोदितं वा ॥ ४३ ॥

दशा देखकर सन्न रह गये अपने भाइयोंसे राम बोले—॥ ३६ ॥ यद्यपि मैं सदाचारी होनेके कारण पवित्र हूँ फिर भी जैसे भाव पदनेसे स्वच्छ दर्पण भी धुँधला हो जाता है, वैसे ही देखो, सूर्यवंशी राजपिपोंके कुलमें मेरे कारण कैसा कलङ्क लग रहा है ॥ ३७ ॥ जैसे पानीकी लहरोंके ऊपर तैलकी बूँद फैल जाती है वैसे ही इस समय घर-घर मेरी निन्दा फैल रही है। इसलिये जैसे हाथी अपने खलानसे लौंभ कर उसे उखाड़नेकी चेष्टा करता है वैसे ही मैं भी अपने इस कलङ्कको भ्रव नहीं सह सकता ॥ ३८ ॥ इस समय यद्यपि सीताको पुत्र होनेवाला है तो भी अपने कलङ्कको मिटानेके लिये मैं सब गौड़ सोदकर उसे वैसे ही छोड़ दूँगा जैसे पिताकी आज्ञासे मैंने राज्य छोड़ दिया था ॥ ३९ ॥ मैं जानता हूँ कि वह निर्दोष है पर बदनामी सस्पसे भी अधिक बलवती होती है। देखो! निर्मल चन्द्र-चिन्ध के ऊपर पड़ी हुई पृथ्वीकी छायाको लोग चन्द्रमाके कलङ्क कहते हैं और झूठ होनेपर भी सारा ससार इसे ही ठीक मानता है ॥ ४० ॥ तुम यह कहोगे कि यदि ऐसा ही था तो रावणोंको क्यों मारा। उसका उत्तर यह है कि सीताको छुड़ानेके लिये मैंने जो रावणों की मारा यह मेरा प्रयत्न सीताको निकाल देनेसे बेकार नहीं कहा जायगा क्योंकि वह तो मैंने अपनी स्त्रीके हरणका उन रावणोंसे बदला लिया है। क्योंकि जब कोई साँप पैरके नीचे दब जाता है तब वह रक्तके लोभसे थोड़े ही जँसता है, वह तो बदला लेनेके लिए ही उँसता है ॥ ४१ ॥ इसलिये यदि तुम भोग इस कलङ्कके बाणको मेरे हृदयसे निकालकर मुझे जीवित रखना चाहते हो तो केवल सीताकी दृश्याप दया करके उसका पक्ष लेकर तुम मेरे इस निश्चयका विरोध मत करो ॥ ४२ ॥ जब भाइयोंने देखा कि रामा इतनी निदुराई करना चाहते हैं तब भाइयोंमेंसे न तो कोई उनका मत-

स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः ।
 सौम्येति चामाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥ ४४ ॥
 प्रजावती दोहदशमिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
 स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेषां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजेनाम् ॥ ४५ ॥
 स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेषु पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विपदम् ।
 प्रत्यग्रहीदग्रजशामनं तदाज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया ॥ ४६ ॥
 अथानुसूलश्रवणप्रतीनामत्रस्तुभिर्युक्तपुरं तुरंगैः ।
 रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥ ४७ ॥
 सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियं करो मे प्रिय इत्यनन्दत् ।
 नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यामिपन्नवृत्तम् ॥ ४८ ॥
 जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्पण्येवरेण स्फुरता तदक्षया ।
 आरुपातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्पन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ॥ ४९ ॥
 सा दुर्निमित्तोपगताद्विपादात्सद्यः परिम्लानमुत्सारविन्दा ।
 रात्रः शिशं सारजस्य भूयादित्याशशंसे करयौरवाहौः ॥ ५० ॥
 गुरोर्नियोगाद्गतितां घनान्ते साध्यां सुमित्रावनयो विहास्यन् ।
 अवार्यतेवोरित्यतोचिहस्तैर्जहोर्दुहित्रा स्थिनया पुरस्तात् ॥ ५१ ॥

मैन हो कर सधा, न चितोष ही ॥ ४३ ॥ तीनों लोकों में प्रसिद्ध यशस्वी, अपनी यात्राके परके रामने
 जय देया कि लक्ष्मण उनकी आज्ञा माननेको तपर हैं तब वे लक्ष्मणसे कहने लगे—जन्मा ! तुम
 पथे चरणे हो । और यह कहकर उन्हें पृथान्तमें ले गए और बोले— ॥ ४४ ॥ तुम्हारी गर्भिणी आमा
 तपोवन देखना चाहती हो है इसलिये तुम उन्हें रथी यहलैसे रथपर ले जाकर वाल्मीकिताके आश्रम-
 तक पहुँचाकर छोड़ आओ ॥ ४५ ॥ लक्ष्मणने सुन ही रग्या था कि गिताई आज्ञा पाकर परगुरागतांने
 अपना माताको वैसे ही निर्दयताके साथ मार डाला जैसे कोई अपने शत्रुको मारे । इसलिये उन्होंने गिता-
 समान रामकी आज्ञा स्मि पढ़ा ली, क्योंकि यहाँमा आज्ञामें मान लेव निराश्रय ठीक नहीं है ॥ ४६ ॥ गिता-
 जी यह सुनकर पदा प्रसन्न हुई कि लक्ष्मण हमें तपोवन दिखाने ले जा रहे हैं । लक्ष्मणकी उन्हें ऐसे रथ-
 पर चढ़ाकर ले चले गिसे स्वयं सुमन्त्र हीके रहे थे और जिसके घोड़े ऐसे मधे हुए थे कि रथके चलते
 समय गर्भिणी सीताको ठगिक भी दबक नहीं लगने पाती थी ॥ ४७ ॥ मनोहर प्रेरणामेंको रथपर जाओ
 हुई सीताजी यह सोचकर बड़ी प्रसन्न हुई कि मेरे प्राणप्रिय तदा मेरे मनकी ही बात करते हैं ।
 उन्हें क्या पता था कि हम समय वे मेरे लिये मत्तारण पुरा करनेजाके क्यरशुकें बद्धके उभर गियेपरके
 घुषने समान कष्टदायक हो गए हैं जिनके पते लज्जारे समान पने होते हैं ॥ ४८ ॥ लक्ष्मणने
 सीताके मे मार्गमें दुःख भी नहीं थलाया कि सुनकर क्या विरगि आयेबकी है पर सीताजीके हाडिने
 नेपने बचकर आगे मानेपाने दु राकी मूचना वे हा तो हो ॥ ४९ ॥ यह अत्युर होते हो उनका
 हौद उदास हो गया और वे मन ही मन मनने लगीं कि साध्योंके साथ राजा मुसठे रहे, उनका
 कोई धर्म न थावे ॥ ५० ॥ मार्गमें गदाजी पड़ी । उनमें जो बदरे उठ रही थीं वे बने भाईकी

रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहाचां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य ।
 गङ्गां निषादाहृतनौविशेषस्ततार संधामिव सत्यसंघः ॥ ५२ ॥
 अथ व्यवस्थापितवाक्यार्थचित्सोमित्रिरन्तर्गतवाष्पकण्ठः ।
 श्रौतवातिन्तो मेघ इवारमवर्षं सहीपतेः शासनमुज्ज्वगार ॥ ५३ ॥
 ततोऽगिपद्भानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना ।
 स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम ॥ ५४ ॥
 इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्परिर्यवृत्तः ।
 इति चित्तिः संशयितेव तस्यै ददां प्रवेशं जननी न तावत् ॥ ५५ ॥
 सा लुप्तमंत्रा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यनान्तः ।
 तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहाद्भूत्कष्टतरः प्रबोधः ॥ ५६ ॥
 न चायदद्भुतं स्वर्णमार्या निराकरिष्णोर्धृजिनादृतेऽपि ।
 आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनःपुनर्दृष्टकृतिनं निनिन्द ॥ ५७ ॥
 आश्वास्य रामावरजः सर्तीं तामारूपातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।
 निम्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं देवि क्षमस्वेति बभूव नम्रः ॥ ५८ ॥

आज्ञासे पतिमता सीताको वनमें छोड़नेके लिये ले जाते हुए लक्ष्मणसे मानो हाथ डिलाकर कह रही थी कि ऐसा न करो, ऐसा न करो ॥ ५१ ॥ गङ्गातीरेके तटपर पहुँचकर सारथीने रात खींच ली । सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाले लक्ष्मणने सीताजीको रेतोपर उतार लिया और केवटने जो नाव लाकर दी । उसपर चढ़कर सीताजीके साथ गङ्गातीरेसे भी पार हो गए और अपनी उस प्रतिज्ञासे भी पार हो गए जो उन्होंने सीताकी गङ्गापार छोड़नेके लिये रामसे की थी ॥ ५२ ॥ पार पहुँचकर लक्ष्मणने शीघ्र रोफकर, हँधे हुए गलेसे सीताजीको रानाकी आज्ञा इस प्रकार सुनाई जैसे कोई भयङ्कर वादल शीले धरसा रहा हो ॥ ५३ ॥ जैसे लू लंगनेसे कतके फूल भड़ जाते हैं और वह खूबकर पृथ्वीपर गिर पड़ती वैसे ही इस अपमानजनक बातको सुनकर सीताके धामूषण भी गिर पड़े और वे भी अपनी माँ पृथ्वीकी गोदमें गिर पड़ीं ॥ ५४ ॥ उस समय पृथ्वीने सीताजीको मानो दुविचाके कारण अपनी गोदमें नहीं सना लिया कि इधरकु वशी सदाचारी पति इस प्रकार सीताजीको पचावक बरों छोड़ देंगे ॥ ५५ ॥ मूर्खों आ जानेसे उन्हें उस समय तो बुद्ध नहीं हुआ पर जब वे मूर्खोंसे जगतीं तब उनके हृदयमें बर्षा प्यथा हुई । लक्ष्मणने प्रयत्न करके जो उनकी मूर्खों दूर की पद बात उन्हें मूर्खोंसे भी अधिक कष्ट देनेवाली जान पड़ी ॥ ५६ ॥ ये इतनी साधी थीं कि निरपराध पत्नीको निकालनेवाले अपने पतिको उन्होंने कुछ भी बुरा-भला नहीं कहा परन्तु बार बार वे अपने भापको ही कोसने लगीं ॥ ५७ ॥ लक्ष्मणने उन्हें बहुत समझाया बुझाया और बाल्मीकिका प्राथम दिवाकर कहा—देवि ! मैं पराधीन हूँ । इसलिये त्वागीकी आज्ञासे मैं ने आपके साथ जो कठोर व्यवहार

सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव ।
 विडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम् ॥ ५९ ॥
 श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः ।
 प्रजानिपेकं मयि वर्तमानं सनोरनुध्यायत चेतसेति ॥ ६० ॥
 वाच्यस्त्वया मद्रचनात्स राजा बह्वी विशुद्धामपि यत्समक्षम् ।
 मां लोकाद्भवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥ ६१ ॥
 कन्यास्यवुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
 ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जपुरप्रमहः ॥ ६२ ॥
 उपस्थितां पूर्वमपास्य स्रक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः ।
 तदास्पदं प्राप्य तयातिरोपात्सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥ ६३ ॥
 निशाचरोपप्लुतमर्तुकायां तपस्विनीनां मवतः प्रसादात् ।
 भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥ ६४ ॥
 किंवा तवात्यन्तप्रियोगमोघे कुर्वाणुषेवां इतजीवितेऽस्मिन् ।
 स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥ ६५ ॥
 साहं तपः व्यर्पनिविष्टदृष्टिर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
 भूयो यथामे जननान्तरंऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥ ६६ ॥

विधा है उसे धाप जमा खीजिये ॥ ५८ ॥ सीताजी उठीं और लक्ष्मणसे बोलीं—हे सौम्य ! मैं तुमपर
 प्रसन्न हूँ । तुम बहुत दिन तक जियो । क्योंकि जैसे इन्द्रके छोटे भाई विष्णु सदा अपने घरके भाईकी
 आज्ञा मानते हैं वैसे ही तुम भी अपने घरके भाईको आज्ञा माननेवाले हो ॥ ५९ ॥ तुम जाकर रामकी
 सान्त्वये मेरा प्रणाम कहकर कहना कि मेरे गर्भमें धापके पुत्रका तेज है । इसलिये धाप लोग हृदयसे
 उसकी कुशल मानते रहियेगा ॥ ६० ॥ और राजासे जाकर तुम मेरी औरसे कहना कि अपने अपने
 सामने ही मुझे धारिनें गुरुप याया था इस समय धरजलके दरसे जो धापने मुझे छोड़ दिया है
 यह क्या उस प्रतिद्वेष तुलझे शोभा देता है जिसमें धापने जन्म लिया है ॥ ६१ ॥ पर नहीं, धाप
 तो स्वकी भलाई करनेवाले है धाप अपने मनमें हमारे साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सके । यह
 सब मेरे पूर्व जन्मके पापोंका ही फल है ॥ ६२ ॥ जान पड़ता है कि कुछ समय पहले
 धाप जिस राजसभामें था तिरकस करके मेरे साथ वनमें चले गये थे यह राज्यतन्त्री
 मुझसे दृष्ट हो गई है और तबसे धापके घरमें मेरा प्रतिष्ठा-पर्वके रहना देखा नहीं गया
 ॥ ६३ ॥ विदुषी पार धापकी कृपासे मैंने वनवासके समय बहुतसी वेदी तपस्वियोंको
 अपने घरों धापके दिवा या जिनके पतिवोंके हाथों ने सता रण्य था । अब धाप हो पठाए कि
 धापके रहते हुए मैं क्या मुंहसे उन्हीं तपस्विनोंकी आज्ञा शोकर रहूँगी ॥ ६४ ॥ यदि मेरे गर्भमें
 धापका पुत्र धापका यह तेज वाधा न देना जिसकी रक्षा करना धापके है, तो मैं धापने सदाके
 लिये विदुषे हुए अपने प्राय गो बंध देती ॥ ६५ ॥ पर पुत्र हो जानेपर मैं स्वयं प्रति शोचर

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
 निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षीया ॥ ६७ ॥
 तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते ।
 सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विश्वा कुरीव भूयः ॥ ६८ ॥
 नृत्यं मपूराः कुमुमानि वृद्धा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिययः ।
 तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्बुद्धितं वनेऽपि ॥ ६९ ॥
 तामभ्यगच्छद्बुद्धितानुसारी कविः कुशेभ्माहरणाय यातः ।
 निपादविद्वाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ७० ॥
 तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता वबन्दे ।
 तस्यै मुनिदोहदल्लिङ्गदर्शी दाधान्सुपुत्राशिपमित्युवाच ॥ ७१ ॥
 जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादाक्षुभितेन भर्वा ।
 तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्तासि वैदेहि पितुर्निकेतम् ॥ ७२ ॥
 उत्स्नातलोकप्रयकण्टकेऽपि सस्यप्रतिज्ञेऽप्यविकल्पनेऽपि ।
 स्थां प्रत्यकस्मात्कल्पप्रवृत्तावस्त्येव मनुभर्ताग्रजे मे ॥ ७३ ॥
 तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
 धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या ॥ ७४ ॥

ऐसी तपस्या करूँगी कि अगले जन्ममें भी आपही मेरे पति हों, आपसे मुझे प्रलग्न होना पड़े ॥ ६६ ॥
 मनुने कहा है—राजाधर्म का धर्म बर्षों और धाश्रमोंकी रक्षा करना है इसलिये घासे निकाल देने
 पर भी आप यह समझकर मेरी देख-भाल करते रहिएगा कि सीता भी उनकी प्रजा और
 तपस्विनी है ॥ ६७ ॥ यह सुनकर लक्ष्मण बोले—मैं सब कह दूँगा । यह कहकर उबोही वे बहसि
 चलकर चौकीसे शीघ्रतः हुए कि विपत्तिके भासे व्याकुल होकर सीताभी, उरी हुई कुरीके समान डाढ़
 मार-मारकर रोने लगी ॥ ६८ ॥ उनका रोना सुनकर मोरोंने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष फूलके
 श्रौं गिराने लगे और हरिद्विपोंने मुँहमें भरी हुई घासफा कौर गिरा दिया । सीताजीके दुःखसे दुखी
 होकर सारा जगल रोने लगा ॥ ६९ ॥ जिन महाहृपाल वाक्मूर्तिके कृपितः शोक व्याधके हापसे मारे
 हुए कौशिके देखकर श्लोक बचका निकल पड़ा था वे उस समय कुछ उपायने निकले थे । रोनेका
 शब्द सुनकर वे सीताजीकी ओर आए । उन्हें देखकर सीताजीने शीघ्र पौड़कर सुप चाप उन्हें प्रणाम
 किया । कृपिते गर्भके चिह्न देखकर उन्हें आशीर्वाद दिया कि तुम पुत्रवती हो । आशीर्वाद देकर
 वे बोले— ॥ ७१ ॥ बेटी ! मैंने योगचलसे जान लिया है कि तुम्हारे पतिने भूटे अपजससे डरकर तुम्हें
 घासे निकाल दिया है । बेटी ! यहाँ मैं तुम अपने पिताका हों पर समझी और शोक छोड़ दो ॥ ७२ ॥
 यद्यपि राम तीनों लोकोंका हुआ दूर करनेवाले हैं, अपनी प्रतिज्ञाके पक्षके हैं और अपने मुँहसे अपनी
 पदाई भी नहीं बगते फिर भी तुम्हारे साथ जो उन्होंने यह महा व्यवहार किया है इसे देखकर
 मुझे उनपर बड़ा क्रोध आ रहा है ॥ ७३ ॥ तुम्हारे पशुकी श्वशुरजी मेरे मित्र थे और तुम्हारे पिता

तपस्विंसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन् ।
 इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥ ७५ ॥
 अशून्यतीरां मुनिसंनिवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्व ।
 तत्सैकतोत्सङ्गधलिक्रियाभिः संपरस्यते ते मनसः प्रसादः ॥ ७६ ॥
 पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो वीजं च वाल्मेयमकृष्टरोहि ।
 विनोदयिष्यन्ति नवाभिपङ्गासुदारवाचो मुनिकन्यकारस्वाम् ॥ ७७ ॥
 पयोघटैराश्रमवालवृचान्संवर्धयन्ती स्वयलानुरूपैः ।
 अशंस्यं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥ ७८ ॥
 अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां वाल्मीकिरादाप दयार्द्रचेठाः ।
 सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाप ॥ ७९ ॥
 तामर्पयामास च शोकदीनां तदानमप्रीतिषु तापसीषु ।
 निर्बिष्टसारां पितृमिहिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौपधीषु ॥ ८० ॥
 ता इङ्गुदस्नेहकृतप्रदीपमान्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
 तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते नियासहेतोरुदजं वितेरुः ॥ ८१ ॥

जनकजी भी ज्ञानोपदेश देकर बहुतसे विद्वानोंको संसारके बन्धनमे छुड़ाने लहेये हैं, तुम स्वयं प्रतिमताओंमें सर्वश्रेष्ठ हो और फिर तुममें ऐसा दोष हो कौन-सा है जो मैं तुम्हारे ऊपर कृपा न करूं ॥ ७५ ॥ देखो तपस्वियोंके साथ रहते रहते यहाँके सब जोष वदे संधे ही गये हैं । मे कित्तीसे लुप्त करते मुनते नहीं । हमो आश्रममें तुम भी निर्भय होकर रहो । तुम्हारे पवित्र सन्तानके जातकर्म आदि संस्कार में यहाँ करूँगा ॥ ७५ ॥ पाप मिटानेवाली जिस तमसाके किनारे तपस्वी खोंग सदा सन्ध्या पूजा करते हैं उसमें स्नान करके तुम उसकी रेतोंगर देवताओंको यलि दिया करो, इससे तुम्हारा मन प्रसन्न रहेगा ॥ ७६ ॥ यहाँकी मुनि-कन्याएँ तुम्हें सब कृतुओंमें वरपन्न होनेवाले पूजा-पूजा और पूजाके योग्य अन्न लाकर रख दिवा करेंगी और मीठी-मीठी बातें करके तुम्हारा मन भी यहलाया करेगी ॥ ७७ ॥ जो जलके घड़े तुमसे उठ सकें उन्हें लेकर तुम आश्रमके पीथोंको प्रेमसे सींचा करो । इससे बड़ा लाभ यह होगा कि बरसा होनेके पहले ही तुम यह सींच जाओगी कि यहाँ से कैसे प्रेम करना चाहिये ॥ ७८ ॥ सीताजीने उनकी कृपारो बहुत सराहा और ब्यास वाल्मीकिके साथ उनके आश्रममें चली गईं । सींच हो जानेके कारण बहुतसे मृग वहाँ बेदीको घेरकर बैठे हुए थे और सिंह आदि जन्तु भी सुषुप्ताप शीघ्र सूँचे पड़े थे ॥ ७९ ॥ जैसे अमावास्या जड़ी वृष्टियों और कृता-मृषोंको पाश्र्वाकी वह सारदान चण्डिम कडा सींच देता है जिसका अमृत पितर सींच लेते हैं, वैसे ही श्रुतिने भी शोकसे व्याकुल सीताकी आश्रममें उन तपस्विणियोंके हाथ सींच दिया जो सीताजीके यहाँ आश्रमसे बड़ी प्रसन्न हो गई थीं ॥ ८० ॥ पूजा हो सुषुप्तेपर उन तपस्विणियोंने सीताके रहनेके

तत्रामिपेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनातिधिभ्यः ।
 वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासंततये चभार ॥ ८२ ॥
 अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
 शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥ ८३ ॥
 बभूव रामः सहसा सशष्पस्तुपारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
 कौलीनभीतेन गृहाक्षिरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ ८४ ॥
 निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
 स भ्रातृसाधारणभोगमृद्वं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥ ८५ ॥
 तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।
 वक्षस्यसंधद्वसुखं वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥ ८६ ॥
 सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
 तस्या एव प्रतिकृतिसखी यत्कृतूनाजहार ।
 वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भतुः
 सा दुवारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥ ८७ ॥
 इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये सीतापरित्यागो
 नाम चतुर्दशः सर्गः ।

जिये एक पत्नीकी कृतिवा दे दी जिसमें हिंगोटके तेलका दियो जल रहा था और जिसमें नीचे
 भुगचर्म बिछा हुआ था ॥ १८ ॥ वहाँ सीताजी प्रतिदिन स्नान करके बड़े नियमसे रहती थीं,
 ठीक विधिते अतिधियोंकी पूजा करती थीं, वृत्तोंकी झालके कपड़े पहनती थीं और केवल पतिका बंध
 चन्द्रानेकी इच्छासे ही बन्द मूल खाकर शरीर धारण करती थीं ॥ ८२ ॥ सीताजीने रो-रोकर जो बातें
 कही थीं वे सब शयोध्या पहुँचकर लक्षमणजीने रामसे यह सोचकर बड़ दीं कि देखो राम अब भी
 पल्लागते हैं या नहीं ॥ ८३ ॥ उन बातों को सुनकर धोल बरसानेवाले पूनके चन्द्रनाके समान रामकी
 आँखों से टपटप आँसू गिरने लगे बयो कि उन्होंने सीताजीको अपनी इच्छासे नहीं परन्तु कलङ्कके दरसे
 ही छोड़ा था ॥ ८४ ॥ वर्णाश्रमधर्मके रक्षक बुद्धिमान् राम संसारके सुखोंका मोह छोड़कर और
 शोकको रोककर भाइयोंके साथ अपने भरे-पूरे राक्षक शासन करने लगे ॥ ८५ ॥ राजाने कलङ्कके
 दरसे अपने रावीको छोड़ दिया इसलिये मानो बिना सीतकी होकर राक्षसलक्ष्मी ही उनके हृदयमें
 सुगमसे निवास करने लगी ॥ ८६ ॥ रामने सीताको त्यागकर किसी दूसरी स्त्रीसे विवाह नहीं किया,
 परन्तु अश्रवमेव यत् करते समय उन्होंने सीताजीकी सोनेकी मूर्तिको ही अपने साथै धीरवा था । जब
 सीताजीने अपने पतिकी ये बातें सुनीं तब उनके मनमें जो छोड़े जानेका दुःख था वह कम हो
 गया ॥ ८७ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचेहुए रघुवंश महाकाव्यमें सीता-परित्याग
 नामका चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

पञ्चदशः सर्गः

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम् । शुभ्रजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केरलाम् ॥१॥
 लवणेन विलुप्येज्जपास्तामिक्षेण तमभ्ययुः । मुनयो यमुनाभाजः शरस्यं शरणाधिनिः ॥२॥
 अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन् प्रजहुः स्वतेजसा । आत्याभावे हि शापाह्वाः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ३
 प्रतिशुश्राव कङ्कत्स्थस्तेभ्यो विप्रप्रतिक्रियाम् । धर्मसंरक्षार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः ॥४॥
 ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विपः । दुर्जयो लवणः शूली विशूलः प्राप्यतामिवि ॥५॥
 आदिदेशाथ शशुभ्रं तेषां क्षेमाय राघवः । करिष्यन्निव नामास्य यथार्यमरिनिग्रहात् ॥६॥
 यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परंतपः । अथवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥७॥
 अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी । ययो वनस्थलोः पश्यन्पुष्पिताः सुरभीरभीः ॥८॥
 रामादंशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये । पश्चादभ्ययनार्थस्य घातोरधिराभवत् ॥९॥
 यादिष्टवर्त्मा मुनिभि स मच्छंस्तपतां वरः । विरराज रथप्रद्वैर्वालखिन्यैस्त्रिंशुमान् ॥१०॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

सीताजीकी छोड़ देनेपर रामा रामचन्द्रजीने केवल खमुनों से यिती हुई श्रेणीका ही भोग किया, कियी दूसरी सीसे विवाह नहीं किया ॥ १ ॥ इसी बीच एक दिन यमुना तटपर रहनेवाले कुछ तपस्वी, शरणागतवास्तव रामके पास शरद भोगने आय, क्योंकि लवणासुर राघवके उपद्रवोंके कारण उनको पशु आदि क्रियाएँ बन्द हो गई थीं ॥ २ ॥ वे तपस्वी यदि चाहते तो अपने तेजसे लवणासुरको भस्म कर डालते किन्तु उन्होंने ऐसा करना ठीक नहीं समझा क्योंकि भिन लोगोंमें राघव देकर भस्म करनेकी शक्ति होती है वे तपस्यासे यहीरे हुए तेजको ऐसे काममें तभी लगाते हैं, जब कोई दूसरा उनका रक्षक न हो ॥ ३ ॥ रामने उनके विप्र दूर करनेकी प्रतिज्ञा की क्योंकि धर्मकी रक्षाके लिये ही तो वे सस्यारमें अवतार लेते हैं ॥ ४ ॥ तब मुनिपाने रामका भनाया कि कपतक लवणासुरके हाथमें भाता रहेगा तपतक उसका हारना कदिन है इसलिये उसपर ऐसे समव धातमय करना चाहिए जब उसके हाथमें भाता न हो ॥ ५ ॥ रामने उन मुनिपानकी रक्षाका भार शशुभ्रको सीता मायी शशुभ्रके हाथों शशुभ्र संहार करकर उनका शशुभ्र नाम सचा करा देना चाहते हैं ॥ ६ ॥ जैसे अक्षरकमें कोई अक्षरवाला गुद व्यापक निपनवाले सूत्रको भी उलट देता है वैसे ही राघुके पशुपत यथा यथा दूतना यज्ञवान होता था कि वह शशुभ्रको पद्माद संहत था ॥ ७ ॥ अब शशुभ्र निद्रा होकर रथपर चढ़कर चले तब रामने उन्हें धार्मिकता दिया और वे मुगन्धित यनोंकी लुटा विहारते हुए चल पड़े ॥ ८ ॥ रामकी आज्ञामे शशुभ्रके साथ जो सेना गई वह वैसे ही व्यर्थ भी जैसे अक्षरयन शब्दमें हट पायते सता हुआ अति उपसर्ग । [क्योंकि हटका ही अर्थ अक्षरयन होता है, उलमे अक्षरके कोई विशेषता नहीं पड़ती] इसी प्रकार अक्षरशशुभ्रको शशुभ्र प्रदेले अंत तकले थे, चाहे सेना जाती या न जाती ॥ ९ ॥ जैसे रथपर चढ़े हुए सूत्रके वाजिरथ नामके अति लोग मार्ग दिखाने करने हैं वैसे ही रथपर चढ़े हुए शशुभ्रको भी अति लोग मार्ग दिखाने

तस्य मार्गवशादेका यभून वसतिर्यतः । स्थस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ॥११॥
 तमृषिः पूजयामास कुमारं ज्ञान्तवाहनम् । तपःप्रभावमिद्वामिर्विशेषप्रतिपत्तिमिः ॥१२॥
 तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजापती । सुतायस्यत संपन्नौ क्रोशदण्डाविष च्छितिः १३
 संतानत्रयणाद्धातुः सौमित्रिः सोमनस्यमान् । प्राज्ञलिर्मुनिमामन्व्य प्रातर्युक्तरथो ययौ १४
 स च प्राप मधूपध्नं कुम्भीनस्याथ कुचिजः । वनात्करमिवादाय सत्तराशिसुपस्थितः ॥१५॥
 धूमधूमो वसागन्धी ज्वालावभ्रशिरोरुहः । क्रव्याद्भ्रमपरीवारश्चिताशिरिव जंगमः ॥१६॥
 अथशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणतुजः । कुरोध संमुखीनो हि जपो रन्ध्रप्रहारिणोम् ॥१७॥
 नातिपर्याप्तमालचय मस्तुक्षैरथ भोजनम् । दिष्टया त्वमसि मे धात्रा मोतेनेवोपपादित ॥१८॥
 इति संतर्ज्य शत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया । प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्भमिव द्रुमम् १९
 सौमित्रेर्निशितैर्वायैरन्तरा शरुलीकृतः । गात्रं पुष्परजः प्राप न शाखी नैर्ऋतेरितिः ॥२०॥
 त्रिनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तरमै महोपलम् । प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पृथगिव स्थितम् २

दिलाने चले ॥ १० ॥ मार्गमें जाते हुए उन्होंने पहली रात तो पारसीकिंगके उस आश्रममें बितार्ह
 जहाँके मुग उनके रथके शब्दको सुनकर यद्दे चावसे उबर देखने लगे थे ॥ ११ ॥ शत्रुघ्नकी वंदे
 भी थक गए थे इसलिये रकना आवश्यक हो गया । तब पारसीकिंगने अपनी सपत्न्याके प्रभावसे
 अतिथिपकी सब सामग्री जुटाकर शत्रुघ्नका बड़ा सत्कार किया ॥ १२ ॥ उसी रातको द्रुमकी गर्मिखी
 भभी सीताने दो तैजस्वी पुत्रोंको उसी प्रकार जन्म दिया जैसे पृथिवी अपने राजाके लिये धन धीर
 सैन्य उत्पन्न करती है ॥ १३ ॥ भाईके पुत्र होनेकी बात सुनकर शत्रुघ्नका जी खिल गया और
 भगले दिन तकके ही वे हाथ जोड़कर मुनिसे आज्ञा लेकर रथपर चढ़कर आगे पड़े १४ ॥ जिस
 समय वे मधूपध्न नगरमें पहुँचे, उसी समय रावणकी पहल कुम्भीनसीका येडा लवणासुर बहुजसे
 पशुखोंको मारकर वनसे इस प्रकार खीटा चला आ रहा था 'मानो वनने' उसे यह सब भेंटमें दिया
 हो ॥ १५ ॥ उसका रंग घुँघुँ जैसे काळा था, उसकी देहसे चर्चौंसी गन्ध निकल रही थी, आगकी
 लपटोंके समान उसके चिहारे हुए बाल थे और मात खानेवाले राक्षस उसके चारों ओर चल रहे थे ।
 इस प्रकार यह उस चित्ताकी अग्निके समान लग रहा था जो घुँघुँसे घुँघुँकी हो, जिसमेंसे चर्चौंकी
 गन्ध निकलती हो, जिसमें लपटें निकल रही हों और जिसके आसपास कुरो और गिद्ध आदि मास
 भक्षी पशु पक्षी घूम रहे हों ॥ १६ ॥ शत्रुघ्नने देखा कि यह अचरित जीक है क्योंकि इसके हाथमें
 भाला नहीं है । अतः मन्त्र उन्होंने लवणासुरको घेर लिया क्योंकि जो शत्रुके शक्ति हाँव होनेपर प्रहार
 करता है वह अचरित बिजली होता है ॥ १७ ॥ शत्रुघ्नकी देखकर लवणासुर गरज उठा—आज
 मेरे भोजनकी सामग्री कम थी, यह देखकर प्रशाने करकर मेरा भोजन पूरा करनेके लिये तुम्हें यहाँ
 भेज दिया है ॥ १८ ॥ यह कहकर उसने शत्रुघ्नकी मारनेके लिये एक बड़ा भारी पेड़ ऐसे धरिसे
 उखाड़ लिया जैसे मोथा उखाड़ लिया जाता है ॥ १९ ॥ लवणासुरने उपाँदी बंद हुए शत्रुघ्नपर
 फेंका क्योंकि उन्होंने उसे बीचों ही टुकड़े टुकड़े कर टाला । इस प्रकार यह हुए तो उनके शरीरतक
 नहीं पहुँच सका केवल उसके फूलोंका परांगमर उनतक पहुँच पाया ॥ २० ॥ उस वृक्षसे टुक टुक
 हो जातेपर उस राक्षसने एक पेड़ो भायङ्कर शिला उठाकर शत्रुघ्नपर फेंकी मानो वह यमराजका घूँसा

ऐन्द्रमहमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः । सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम् ॥२२॥
 तमुपाद्रवदुग्धम् दक्षिणं दोर्निशाचरः । एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः ॥२३॥
 कार्ण्वेन पत्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन् । आनिनाय भुवः कम्पं जहाराभ्रवासिनाम्
 वयसां पङ्क्तयः पेतुर्हृतस्योपरि त्रिद्विपः । तत्प्रतिद्वन्द्विनो मर्दिन दिव्याः कुसुमवृष्टयः २५
 स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः । भ्रातुः सोदर्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोमिनः ॥२६॥
 तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः । शुशुभे विक्रमोदग्रं व्रीडयावनतं शिरः ॥२७॥
 उपकूलं स कालिन्याः पुरीं पौरुषभूषणः । निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मधुरां मधुराकृतिः ॥२८॥
 या सौराज्यप्रकाशाभिर्धमौ पौरविभूतिभिः । स्वर्गामिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिता ॥२९॥
 तत्र सौधगतः परयन्यमृनां चक्रवाकिनीम् । हेममक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये ॥३०॥
 सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् । संवस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ॥३१॥
 स तौ कुशलशोन्मृष्टगर्भक्रेदौ तदारुणया । कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥३२॥
 साङ्गं च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवी । स्वकृतिं मापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ३३॥
 रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः । तद्वियोगव्यथां किञ्चिच्छिथिलीचक्रतुः सुतौ ३४॥

श्री हो ॥ २१ ॥ पर शत्रुघ्नेने ऐन्द्र मन्त्र चलाकर उसे चूर-चूर कर दिया ॥ २२ ॥ तब वह राक्षस
 रूपना दाहिना हाथ ऊपर उठाये हुए शत्रुघ्नकी धीर भयता । उस समय वह ऐसा लगा मानो बन्दर
 से उदाया हुआ कोई ऐसा पहाड़ चला आ रहा हो जिसकी चोटीपर ताकता पेड़ खड़ा हो ॥ २३ ॥
 घेरकर बाण लगाते ही वह राक्षस पृथ्वीपर जा गिरा । उसके गिरनेसे ऐसी धमक हुई कि धरती काँप
 उठी । पर ही, आभ्रमनापियोका वर्षाणा वृत्त हो गया ॥ २४ ॥ मरे हुए शत्रुघ्ने के ऊपर गिद्ध आदि पक्षी
 दूट पड़े और शत्रुघ्ने के ऊपर स्वर्गसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ २५ ॥ शत्रुघ्नजी जब लवणापुरको
 मार चुके तब उन्हें यह राजतोष हुआ कि शत्रुघ्न मरे शत्रुघ्नकी पदार्थ करने लगे । अपनी
 प्रशंसा सुनकर शत्रुघ्नजी शमितके मारे खत्ता गए ॥ २७ ॥ तब पराक्रमी, संवर्मी और सुन्दर शत्रुघ्ने
 पशुनाके किनारे मधुरा नामकी नगरी बसाई ॥ २८ ॥ अष्टा राजा पा जानेसे उस नगरी के लोग ऐसे
 धनी और सुखी हो गए मानो स्वर्गमें जनसंख्या बढ़ जानेके कारण यहकि कुछ लोग यहाँ जाकर अपना
 दिए गए हैं ॥ २९ ॥ शत्रुघ्नेने मधुराके एक ऊँचे भवनपर चढ़कर उस नीचे जखवाली पशुनाको देखा
 जिसमें बहुतसे चक्रे पहचहा रहे थे । उस समय पशुना उन्हें ऐसा सुन्दर दिखाई पड़ी मानो वह
 सुनदरी पुन्दीवाली पृथ्वीकी चोटी हो ॥३०॥ हृष्ट मन्त्रदश बाह्यमूर्तिजाने दगरथ और जनक दोनोंके
 मित्र होनेके भाते सांताओंके पुत्रोंके जातकर्म आदि सब सस्कार बर्षों विधिसे दिए ॥३१॥ जेठे खदके सब
 के उत्पन्न होते समय सांताओंकी वसत्य-वीणा गावकी पूँके वादने दूर हुई और घोंटेके तमय पुत्राये ।
 इसलिये बाह्यमूर्तिजाने दोनों बर्षोंका नाम इन्हीं दोनों बालुओंके नामपर जब और बुरा रूप दिया ॥३०॥
 अब वे बच्चे बड़े हुए तो कपिले उन दोनोंको वेद वेदाङ्ग पढ़ाया और फिर उन्हें धर्मना रचना आदि-
 काहय रामायणका गाना सिखाया ॥ ३३ ॥ उन दोनों बालकोंने अपनी माताके अपने रामका पत्र

इतरेऽपि रघोर्वरयास्त्रपस्त्रेताग्रितेजसः । तद्योगात्पतिवत्नीपु पत्नोष्वासन्धिसूनुवः ॥३५॥
 शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते । मधुराविदिशे सूनोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः ॥३६॥
 भूयस्तपोव्यया मा भूद्बाल्मीकेरिति सोऽस्पगात् । मैथिलीतनपोद्गीतनिःस्पन्दमृगमाश्रमम्
 वशी विवेश चायोष्यां रथ्यासंस्कारशोभिनीम् । लवणस्य वधात्पौरैरीक्षितोऽस्पन्तगौरवम्
 स ददर्श सभामध्ये सभासङ्घिरुपस्थितम् । रामं सीतापरित्यागादत्तमान्यपतिं भुवः ३९॥
 तमभ्यनन्दस्त्रणतं लवणान्तकमग्रजः । कालनेमिवधात्प्रीतस्तुरापाडिव शार्ङ्गिणम् ॥४०॥
 स पृष्टः सर्वतो वार्तामाख्यद्राज्ञे न संततिम् । प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात् ४१
 अथ जानपदो विप्रः शिशुमप्राप्तयौवनम् । अवतार्याङ्गशर्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपतेः ॥४२॥
 शोचनीयासि वसुधे या त्वं दशरथाच्छ्रुता । रामहस्तमनुप्राप्य कटात्कण्ठतरं गता ॥४३॥
 श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिहाय राघवः । न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत् ॥४४॥
 स मुहूर्तं चमस्वेति द्विजमाश्वास्य दुःखितम् । यानं सस्मार कौवेरं वैवस्वतजिगीषया ॥४५॥

गान्गाकेर उनका बहुत मम बंदखाया ॥ ३५ ॥ वाञ्छितारथ, गार्हपत्य और ग्राहवतोष इन तीन कर्त्तियोंके समान तेजस्वी भरत, लवणय और शत्रुघ्न इन तीनों भाइयोंने भी अपनी अपनी पत्नियोंके साथ संभोग करके दोन्दो पुत्र उत्पन्न किए ॥ ३५ ॥ शत्रुघ्न अपने बड़े भाइयोंसे मिलनेको ध्यातुर थे इसलिये उन्होंने शत्रुघाती और सुबाहु नामक अपने दो विद्वान् पुत्रों को मधुरा और विदिशाका राज्य सौंप दिया ॥ ३६ ॥ कौटिले समय शत्रुघ्नजी वाचनीकिके उस तपोधनमें नहीं गए जहाँके मृग शान्त होकर लव और कुचके गीत सुना करते थे, क्योंकि शत्रुघ्नने यह सोचा कि मेरे जानेपर वाचनी-
 किकी अपनी सिद्धियोंके बलसे मेरे सकारको सामग्री जुटाने लगेंगे, जिससे स्वर्ण ही उनकी तपस्याको शक्ति कम होगी ॥ ३७ ॥ यहाँसे चलकर जितेन्द्रिय शत्रुघ्नजी इस जगोपयामें पहुँचे जहाँकी सड़कें उनके स्वागतमें बड़ी सुन्दरतासे सजाई गई थीं । वे लववासुरको मारकर लौटे थे इसलिये पुरवासी उन्हें बड़े आदरसे देख रहे थे ॥ ३८ ॥ राज-सभामें पहुँचकर उन्होंने देखा कि राम धैरे हुए हैं और बहुतसे समासद् उनको सेवा कर रहे हैं और सीताजीकी छोड़ देनेपर अब वे एकमात्र पृथ्वीके ही स्वामी रह गए हैं ॥ ३९ ॥ जैसे इन्द्रने प्रसन्न होकर कालनेमिको मारनेवाले विष्णुका स्वागत किया था वैसे ही जब लववासुरको मारनेवाले शत्रुघ्नजी उन्हें प्रणाम करनेको लुके तब रामने भी उनका अभिमानन्द किया ॥ ४० ॥ रामके पहुँचनेपर उन्होंने और लव दातों तो कह सुनाई, पर पुत्र होनेकी बात नहीं कही क्योंकि वाचनीकिके जाने उन्हें कह दिया था कि समय आनेपर हम स्वयं दोनों पुत्र रामको सौंप देंगे, तुम मत कहना ॥ ४१ ॥ थोड़े दिनों पीछे एक दिन उसी जनपदका रहनेवाला एक ब्राह्मण अपने गरे हुए भवपुत्रक पुत्रकी राजाकी ल्योदीपर गोदसे उतारकर यह कह कर कूट-
 फूटकर रोने लगा ॥ ४२ ॥—हे पृथ्वी ! तुम दशरथके साथमे लूटकर रामके हाथमें आकर बड़े कष्टमें पद गई दो । तुम्हारी दशा बड़ी शोचनीय ही गई है ॥ ४३ ॥ प्रजापालक रामने जब उसके शोककी बात सुनी तब उन्हें बड़ी सज्जा आई क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके राज्यमें किसीकी भी अकाल मृत्यु नहीं होती थी ॥ ४४ ॥ रामने उस दुःखी ब्राह्मणको यह कहकर दाइत बँधाया कि तुम थोड़ी देर ठहरो मैं अभी तुम्हारा शोक दूर करवा दूँ । यह कहकर धनराजकी जीतनेकी इच्छासे उन्होंने पपक विमा-

आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितः स रघूद्वहः । उचचार पुरस्तस्य गृह्णवा सरस्वती ॥४६॥
 राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते । तमन्विष्य प्रथमयेर्भविवासि ततः कृती ॥ ४७ ॥
 इत्यास्रवचनाद्गामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम् । दिशः पपात पत्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥४८॥
 अथ धूमामिताम्राचं वृक्षशाखावलम्बितम् । ददर्श कंचिदंशुवाकुरस्तपस्यन्तमधोमृतम् ॥४९॥
 पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः । आत्मानं श्मश्रुकं नाम शूद्रं सुरपदायिनम् ॥५०॥
 तपस्यनधिकारित्वात्मजानां तमघावहम् । शीर्षच्छेद्यं परिच्छेद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥५१॥
 स तद्वपत्रं हिमक्लिष्टविज्जन्कमिव पङ्कजम् । ज्योतिष्क्याहतरमश्रुकण्ठनालादपातयत् ५२
 कृतदण्डः स्वयं राजा लेभे शूद्रः सतां गतिम् । तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥५३॥
 रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसंदर्शितात्मना । महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥५४॥
 कुम्भयोनिरलंकारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम् । ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम् ॥५५॥
 तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना । पश्चान्निवृत्ते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः ॥५६॥
 तस्य पूर्वोदितो निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः । स्तुत्या निवर्तयामासत्रातुर्व्यवसनादपि ॥५७॥

नको स्मरण किया ॥४५॥ जरावे अथ शक्ये ईस होकर पुरस्कृतिमानर वैठकर चलने लगे तब यह आकाश
 वाणी सुनाई पड़ी ॥४६॥—हे राजन् ! आपकी प्रजामें कुछ वर्ण-धर्म सम्बन्धी दोष आ गया है उसे जोर
 कर दूर करो, तभी तुम्हारा उद्देश्य पूरा होगा ॥४७॥ इस विश्वास-भरे बचनको सुनकर वेगमे चलनेके कारण
 बाँपती हुई अज्ञानाले पुष्पक विमानपर चढ़कर राम यह देखनेके लिये सब दिशाओंमें चरकर काटने लगे
 कि वर्ण-धर्ममें कहीं दोष आया है ॥४९॥ घूमते-घामते एक स्थानपर राम क्या देखते हैं कि एक वेड़ी
 शास्त्रपर उलटा लटका हुआ एक मनुष्य नीचे जलती हुई आगका धुआँ पी-पीकर तप कर रहा है
 और धुआँ लगनेसे उसकी बाँटों काल हो गई हैं ॥ ४९ ॥ रामने उसमे पूछा—आपका नाम क्या है
 और आप किस वंशके हैं । यह तपस्वी योला—मैं देवपद पानेके लिये तप कर रहा हूँ । मेरा ना-
 मशूद्र है और मैं शूद्र हूँ ॥ ५० ॥ शूद्रोंको तप करनेका अधिकार नहीं है । इसी अनधिक-
 कारके बतनेसे प्रजामें पाप फैल रहा था । हृदयलिये रामने निश्चय कर लिया कि दरहा बंध कर
 ही होगा । उन्होंने हागमें राध उठा लिया ॥ ५१ ॥ और उसका तिर उसी प्रकार गले परसे का-
 दिया जैसे कमलकी बंदी परसे कमल उतार दिया गया हो । आगकी चित्रगारिणोंसे मुन्गरी दाईंबाक
 उसका मिर घेया लग रहा था जैसे पालके जली हुई फेशरवाला कमलगहा हो ॥ ५२ ॥ राजामें दू-
 पानेके कारण शूद्रको यह तद्गति मिल गई जो वह अपने उस करीर तपमे कभी न पाता जो ब-
 चपने वर्ण-धर्मका उल्लङ्घन करके पाई रहा था ॥ ५३ ॥ जैसे शूद्रना शरदू जगुने मित्रता ।
 जैसे ही रामको मार्गमें अगाध कल्पि भी मिले ॥ ५४ ॥ कल्पिने उन्हें वे सुन्दर आभूषण दिए ज-
 ं उन्हें समुदने उस समय दण्डके रूपमें दिए थे, जब उन्होंने समुद्रको पी डाला था ॥ ५५ ॥ रामने
 वे आभूषण लेकर अपनी उन मुसाओंमें बाँप लिये जो साँताजीके घन पत्रे जनेने उनके कपड़े
 पकनेसे बचिता हो रहे थे । जब राम कपोप्या समे तप उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके बानेके पहरे
 ही आभूषण पुत्र से उठा ॥ ५६ ॥ पुत्रके जी उठनेपर उस अज्ञानने रामकी बर्षा स्तुति की और

तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः । मेघाः सस्यमिवाभ्योभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥५८॥
 दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनममिजगमुर्महर्षयः । न भौमान्येवधिष्येयानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि
 उपश्लथ्यनिविष्टैरतैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ । अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः । ६०॥
 श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेहाः पत्युः प्राग्भवंशवासिनः । अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जायाहिरण्यमयी
 विधेरधिकसंगारस्ततः प्रवृत्ते मखः । आसन्यत्र क्रियाविद्या राक्षसा एव रक्षिणः ॥६२॥
 अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः । मैथिलेयौ कुशलवौ जगत्तुर्गुरुचोदितौ ॥६३॥
 वृत्तं रामस्य बान्मीकेः कृतिस्तौ किंनरस्वनौ । किं तद्येन मनो हर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम्
 रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्जैर्निवेदितम् । ददर्श सातुजो रामः शुभाव च कुतूहली ॥६५॥
 तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ । हिमनिष्यन्दिनी प्रार्त्तनिर्वानेव वनस्थली ॥६६॥
 वयोवेषविसंवादी रामस्य च तयोस्तदा । जनता प्रेक्ष्य सादृश्यं नात्तिकम्पं व्यतिष्ठत् ॥६७॥
 उभयोर्न तथा लोकः प्रावीख्येन विसिम्भिये । नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतरुहृतया यथा ॥६८॥

पहले जो मिन्दा की थी उसे अपनी स्तुतिसे धो डाला क्योंकि रामने उसके पुत्रको यजराजके हाथसे लुटामा था ॥ ५७ ॥ कुछ दिन पोछे रामने अरवसेप यज्ञके लिये घोड़ा छोड़ा । जैसे बादल धानके खेतपर जल बरसाते हैं वैसे ही सुग्रीव विभीषण आदि नें आकर रामके धामे भँटके धनकी वर्षा कर दी ॥ ५८ ॥ यज्ञके लिये रामने तीनों लोकोंके ऋषियोंको आमन्त्रित किया था । वे ऋषि पृथ्वीसे ही नहीं, वरन् सप्तर्षि-मण्डल आदि दिव्य स्थानोंसे भी रामके पास आए ॥ ५९ ॥ वे लोभ आकर नगरके आस-पासके देहातोंमें ठिके हुए थे । जब वे अयोध्याके चारों द्वारोंसे नगरमें पड़े तब चार द्वारोंवाली बह अयोध्या ऐसी जान पड़ने लगी मानो नाकाल सृष्टि करनेवाले यज्ञकी चतुर्मुखी मूर्ति हो ॥ ६० ॥ सीताके त्यागसे रामकी एक बह भी प्रशसा हुई कि रामने किसी दूसरी स्त्रीसे अपनी विवाह नहीं किया । इसलिए यज्ञमें सोनेकी सीता बनाकर रामने अपनी पत्नीके स्थानपर बैठा दिया ॥ ६१ ॥ इस प्रकार वह प्रसिद्ध यज्ञ आरम्भ हुआ जिसमें आपरयकतासे अधिक तो सामग्री इकट्ठी हुई थी और विशेषता यह थी कि यज्ञ क्रियामें विघ्न करनेवाले राक्षस ही उसकी रखावली कर रहे थे ॥ ६२ ॥ तब बादमीकिजीकी आज्ञासे सीताजीके पुत्र लव और कुश उनका बनाया हुआ रामायण गाते हुए ऊपर-ऊपर घूमने लगे ॥ ६३ ॥ एक तो रामका चरित, उसपर बादमीकिजी उसके रचयिता, और फिर किन्नरोंके समान मधुर कण्ठवाले लव और कुश उसके गायक फिर अतएव उसमें रह ही क्या गया था कि लोभ उसे सुनकर लट्टू न हो जाते थे ॥ ६४ ॥ यह बात रामके कानों तक भी पहुँची । उन्होंने बादमीकिजीको बुला मेला और अपने भाइयोंके साथ उन दोनों बालकोंके रूप और गीतकी मधुरता को आश्चर्यके साथ देखा और मुना ॥ ६५ ॥ सारा समा गूँगी होकर उनका गीत सुनती जा रही थी और आँसुओंसे आँसू बहाती जा रही थी । उस समय वह सभा प्रातःकालकी उस शान्त वनस्थलीके समान दिखाई देने लगी जिसमें वृक्षोंसे टपटप खोसकी बूँदे गिर रही हों ॥ ६६ ॥ लोगोंने एकटक होकर राम और उन दोनों बालकोंका एकदम मिलता जुलता बह रूप देखा जिसमें अंतर इतना हो था कि वे दोनों अपनी कुमार भे तथा वनवासियोंके से बड़ा पहने हुए थे और राम प्रीति से तथा राजसो बख पहने हुए थे ॥ ६७ ॥ जनताको इनने बानेका कौशल देखकर बतना आश्चर्य नहीं हुआ जितना इस बात पर हुआ कि

गेये को नु विनेता वां कस्य चैयं कृतिः कवेः । इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम्
 अथ सावरजो रामः प्राचेतसमुपेयिवान् । ऊरीकृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥७०॥
 स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ । कविः कारुणिको वज्रे सीतायाः संपरिग्रहम्
 तात शुद्धा समर्चं नः स्तुपा ते जातवेदसि । दौरात्म्याद्ब्रह्मसस्तां तु नात्रत्याः श्रद्धुःप्रजाभा॥७२॥
 ताः स्वचारित्र्यमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली । ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया॥७३॥
 इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः । शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिवा॥७४॥
 अन्येद्युरथ काकूत्स्थः संनिपात्य पुरौकसः । कथिमाह्वाययामास प्रतुतप्रतिपत्तये ॥७५॥
 स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया । ऋचेनोदचिपिं धूर्य रामं मुनिरुपस्थितः ॥७६॥
 ऋषापाथपरिवीतेन स्वपदापित्तक्षुपा । अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ॥७७॥
 जनास्तदालोक्यथात्प्रतिसंहतचक्षुषः । तस्थुस्तेऽवाब्युखाः सर्वे फलिता इव शाल्यया॥७८॥
 तां दृष्टिविषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः । कुरु निःसंशयं वत्से स्ववृत्ते लौकमित्यशात् ॥७९॥
 अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं ययः । आचम्योदीरयामास सीता सरयां सरस्वतीम्
 वाद्यनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे । तथा विद्यंभरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ॥८१॥
 राजाने उर्ध्वं प्रेमसे जो दाव दिया वह मो उर्ध्वोने लीटा दिया ॥ ६८ ॥ जय रामने उगसे पदा कि
 तुर्हें किसने संगीत सिखाया है और यह किस कविकी रचना है तय उर्ध्वोने वाल्मीकिजीका नाम
 भता दिया ॥ ६९ ॥ अपने भाइयोंको साथ लेकर रामचन्द्रजी वाल्मीकिजीके पास गए । उर्ध्व ने
 वाल्मीकिजीके पास जाकर अपनेको छोड़कर शेष सारा राज्य उनको भेंट कर दिया ॥ ७० ॥ दयालु
 ऋषिने रामसे कहा कि ये दोनों गायक कुमार सीताजीके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं और तुम्हारे पुत्र हैं ।
 अब तुम्हें चाहे कि सीताजीको स्वीकार कर लो ॥ ७१ ॥ रामने कहा कि आपकी पतोहू सीता हमारे
 सामने ही अभिर्भूत हुई हो चुकी हैं, पर रायणीकी दुष्टताका विचार करके यहाँकी प्रजाकी विरवास नहीं
 होता ॥ ७२ ॥ इसलिये यदि सीता अपनी शुद्धताका प्रमाण देकर प्रजाको विरवास दिलावे, तय मैं
 आपकी आज्ञासे पुत्रोंके साथ उन्हें प्रदण कर लूँगा ॥ ७३ ॥ रामकी ऐसी प्रतिज्ञा सुनकर वाल्मीकि-
 जीने शिष्योंकी भेजकर सीताजीको इस प्रकार सुलाया मानो वे विदमोंके द्वारा अपने सिद्धि बुझा
 रहे हों ॥ ७४ ॥ दूसरे दिन रामने इस कामके लिये प्रजाको इकट्ठा करके वाल्मीकिजीको बुलाया ॥ ७५ ॥
 वाल्मीकिजी लक्ष्मण और सीताजीके साथ लेकर रामके भागे उपस्थित हुए । पुत्रोंके साथ रामके
 पास जाती हुई सीताजी ऐसी सागती थीं मानो स्वर और संस्कारोंके साथ गायत्री, सूर्यके पास जा
 रही हों ॥ ७६ ॥ वेएए पञ्च पढ़ने और अपनी योग्ये नीची किए हुए सीताजी अपने शान्त शरीरसे
 ही पवित्र दिव्यार्द्र देती थीं ॥ ७७ ॥ उर्ध्व देखते ही सब लोगोंने उसी प्रकार अपने शरीरों नीचा
 कर लीं जैसे फले हुए धानके कलम हलु जाते हैं क्योंकि उर्ध्व लागल संगी कि हम लोगोंने स्वयं ही
 इस साधुपर कलक लाया ॥ ७८ ॥ ब्राह्मणपर धेरे हुए वाल्मीकिजीने सीताजीसे कहा—देवी ।
 जनताके भयसे तुम्हारे परिग्रहे विषयसे भी सन्देह है वह तुम अपने वतिके भागे ही मिटा दो ॥ ७९ ॥
 वाल्मीकिजीके शिष्यने पवित्र जल जाकर सीताजीको दिया और उसका आचमन करके सीताजीने यह
 सत्य वचन कहा ॥ ८० ॥—यदि मैंने मन, वचन, कर्म किसी प्रकारसे भी भ्रमना पतिग्रत भ्रम न

एवमुक्ते तथा साध्या रन्ध्रात्सद्योभवाद्भुवः । शातहृदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलंमुद्ययौ ॥८२॥
 तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिपेतुषी । समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्बसुंधरा ॥८३॥
 सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेवणाम् । मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात्
 धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैपिणः । गुरुविधिवलापेदी शमयामास धन्विनः ॥८४॥
 ऋषीन्विस्सृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् । रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥८५॥
 युधाजितश्च संदेशात्स देशं सिन्धुनामकम् । ददौ दत्तप्रभावाय भरताय मृतप्रजः ॥८७॥
 भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम् । आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥८८॥
 स तत्रपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययोः । अभिपिन्व्याभिपेकाहौ रामान्तिकमगात्पुनः
 अङ्गदं चन्द्रकेतुं च लक्ष्मणोऽप्यात्मसंभवौ । शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥९०॥
 इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः । भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥९१॥
 उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम् । रहःसंवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥९२॥
 तथेति प्रतिपन्नाथ विवृतात्मा नृपाय सः । आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः ॥९३॥
 विद्वानपि तयोर्द्वारस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत् । भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसंदर्शनाथिनः

किया ही तो है धरती माता । तुम मुझे अपनी गोदमें ले लो ॥ ८२ ॥ पतिव्रता सीताके ऐसा कहते ही पृथ्वी कटी और उसमेंसे बिजलीके समान चमकीला एक तेजोमण्डल निकला ॥ ८३ ॥ उसमें तो नागके फणपर रखे हुए सिंहासनपर बैठी हुई, समुद्रकी तगड़ी पहने साक्षात् धरती माता प्रकट हुई ॥ ८३ ॥ उन्होंने उन सीताजीको अपनी गोदमें ले लिया जो रामकी प्रीत रखती थीं थीं । राम कहते ही रह गए—हैं ही यह क्या करती हो, यह क्या करती हो ; पर ये सबके देखते-देखते पातालमें समा गई ॥ ८४ ॥ रामको पृथ्वीपर चढ़ा क्रोध थाया और पृथ्वीसे सीताको लीज लेनेके लिये उन्होंने अपना धनुष उठाया । पर राजाजी तो सब कुछ जानते ही थे, उन्होंने आकर रामको समझाया और इनका क्रोध शान्त किया ॥ ८५ ॥ किसी प्रकार वह समास हुआ और चञ्च हो जानेपर रामने पत्थियोंको छुड़ी दी । अब ये अपने पुत्रोंसे उतना ही प्रेम करने लगे जितना सीताजीसे करते थे ॥ ८६ ॥ प्रजापालक रामने भारतके मामा युधाजितके कहनेपर सिन्धु देशका राज्य प्रभावशाली भरतको दे दिया ॥ ८७ ॥ भरतने गन्धर्वोंको जीतकर उनके हाथमें केवल बीजा तो रहने ही किन्तु धनुष छुड़ा दिया ॥ ८८ ॥ उन्होंने लक्ष और पुष्कल नामके शीघ्र पुत्रोंको, तच्च और पुष्कल राजधानियोंका राजा बना दिया और स्वयं रामके पास लौट आए ॥ ८९ ॥ रामकी आज्ञासे लक्ष्मणने अङ्गद और चन्द्रकेतु नामके अपने दोनों पुत्रोंको कारापथका राजा बना दिया ॥ ९० ॥ इस प्रकार पुत्रोंको राज्य देकर अब चारोंने अपनी स्वर्गीया माताओंके आश्रय आदि संस्कार किए ॥ ९१ ॥ यह सब हो जानेपर एक दिन रामके पास मुनिजगत् बेश बनाकर काञ्च थाया और बोला—मैं आपसे एकान्तमें कुछ बातें करना चाहता हूँ । जो भी कोई हम लोगोंकी बातके बीचमें आवे उसे आप देशनिकाला दे दीजिए ॥ ९२ ॥ रामने कहा—अच्छी बात है । तब उसने अपना सच्चा रूप दिखाया और कहा कि राजाकी आज्ञा है कि अब आप चलकर वैकुण्ठमें रहें ॥ ९३ ॥ यह बात ही रही थी कि इतने बीच दुर्वासजी आ घमके । उन्होंने द्वारपर बैठे हुए लक्ष्मणसे कहा कि अभी जाकर रामसे कहो कि मैं थाया हूँ, नहीं तो मुंहसे कुछकी श्मो आपसे भ्रम कर दूँगा । लक्ष्मण जी जानते ही थे कि जो इस समय रामके पास जायगा उसे देश-निकाला होगा फिर भी बातचीतके

स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित् । चक्रावतिथ्यां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥९५॥
 तस्मिन्नात्मचतुर्भुजि प्राङ्नाकमधितस्थुषि । रावणःशिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिधादिव ९६
 स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम् । शरावत्यां मतां सुक्तैर्जनिताश्रुत्वं लवम् ॥९७
 उदकप्रतस्थे स्थिरधीःसाजुजोऽग्निपुरःसरः । अन्वितः पतिवात्सल्याद्गृहवर्जमयोष्यया ९८
 जगद्गुस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिरावताः । कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाश्रुमिः ॥९९॥
 उपस्थितविमानेन तेन भक्तानु रुम्पिना । चक्रे त्रिदिवनिश्रेयिः सरयूरनुयायिनाम् ॥१००॥
 यद्गोप्रनरकल्पोऽभूत्संमर्दस्तत्र मज्जताम् । अतस्तदारूपया तीर्थं पालनं भुवि पप्रथे ॥१०१॥
 स विभुर्विभुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु । त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥१०२॥
 निर्घृत्स्यैवं दशमुत्तशिरस्यैदकायं सुराणां । विष्णुसैनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ।
 लङ्कानाथं पथनतनयं चोभयं स्थापयित्वा । कीर्तिस्तम्भद्वयमित्र गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च १०३
 इति महाकविधोकादिदासकृषी रघुवंशे महाकाव्ये रामचर्यारोहणे नाम पञ्चदशः सर्गः ।

वीचमें ही पहुँचकर उन्होंने सूचना दे दी ॥ ९४ ॥ वदति खीहरर योगमार्गके जाननेवाले सप्याथने
 सरयूके किनारे जाकर योग बलसे राखी छोड़कर यद्वे भाईकी प्रतिज्ञाकी रक्षा कर ली ॥ ९५ ॥ अपने
 पीमाई अंश अण्णयके स्वर्ग चले जानेपर राम उसी प्रकार डोले पद गए जैसे पृथ्वीपर प्रेता युगमें
 खीन पैरवाला धर्म डीला पद जाता है ॥ ९६ ॥ स्थिर मुद्रिवाले रामने शत्रु-रूपी शत्रुओं के लिये
 भक्तिके समान भयदायक कुशको कुशावतीका रावण दे दिया और अपने मयुर वचनोंसे सजनोंकी
 शौचोंसे शौचकी धार पहानेवाले लवको उन्होंने शरावतीका राजा बनाया ॥ ९७ ॥ फिर अग्नि-
 हीप्रदी यति याने करके भाइयोंके साथ वे उत्तरीकी ओर चले । जत्र अयोध्या-वासियोंने यह सुना
 तो रामके प्रेममें वे सब भी केवल अपने अपने घर पीठे छोड़कर उनके साथ हो लिए ॥ ९८ ॥
 रामके सगर्भ यात्र जाननेवाले यानर और राक्षस भी उनके पीठे पीठे चले । जिस मार्गसे राम चले
 जा रहे थे वह मार्ग रामके पीठे-पीठे जानेवाली जनताके शौचोंसे गीला हो गया था ॥ ९९ ॥
 भक्तोंपर कृपा करनेवाले राम विमानपर चढ़कर स्वर्ग चले गए और सरयूको उन्होंने अपने पीठे
 धारनेवालोंके लिये स्वर्गकी सीढ़ी बना दिया [अर्थात् जो सरयूमें स्नान करता था वह गुरुत स्वर्ग
 चला जाता था] ॥ १०० ॥ वहाँ स्नान करनेवालोंकी चर्मा ही भीड़ हुई जैसी गोपोंको पार कराते
 समय होती है, इसलिये उस पवित्र तीर्थका नाम ही संशयमें गोमठर प्रसिद्ध हो गया ॥ १०१ ॥
 देवताओंके संरक्षारी लोचु वागर्नेने भी अपना देवरूप धारण कर लिया इसलिये इतने खीन स्वर्गमें
 पहुँच गए कि सामर्थ्यशाली रामको देवद प्राप्त करनेवाले अयोध्यावासियोंके रहनेके लिये एक
 दूसरा स्वर्ग बनाना पड़ा ॥ १०२ ॥ विष्णु भगवानने इन प्रकार रावणका पद करके देवताओंका
 काम पूरा किया और उत्तरगिरि हिमालयका हनुमानकी तथा दक्षिणगिरि विष्टार विभीषणकीको
 अपने ही कीर्तिस्तम्भोंके रूपमें स्थापित करके तीनों लोकोंको धारण करनेवाले भगवान् अपने विरट
 गरीभमें लीन होगए ॥ १०३ ॥

श्री महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें रामका स्वर्गरोहण
 नामका पंद्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

पोडशः सर्गः

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च ।
 चक्रुः कुशं रत्नविशेषमार्जं सौभ्रात्रमेपां हि कुलानुसारि ॥ १ ॥
 ते सैतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्धैः ।
 अन्योन्पदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥ २ ॥
 चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।
 सुरद्विषानामिव सामशोनिर्मिन्नोऽष्टधा विप्रसत्सार वंशः ॥ ३ ॥
 अधार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः ।
 कुशः प्रवासस्थकलत्रवेपामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत् ॥ ४ ॥
 सा साधुमाधारस्वपार्थिवद्वैः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुदूतमासः ।
 जेतुः परेषां जपशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बन्ध ॥ ५ ॥
 अथानपोदार्णलमप्यगारं द्यामिवादर्शनलं प्रविष्टाम् ।
 सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतन्पः ॥ ६ ॥
 लब्धान्तस सावरणेऽपि गेहे योगप्रभाषो न च लक्ष्यते ते ।
 विमर्षि चाकारमनिर्बृत्तानां मृषालिनी हैमविवोपरागम् ॥ ७ ॥

सोलहवाँ सर्ग

जब प्रादि सात रघुवंशी वीरोंने अपने सबसे बड़े भाई कुशको अपना मुखिया बनाया क्योंकि
 भ्रातृमेव तो उनके कुलधर्म धर्म ही था ॥ १ ॥ वे सभी पुत्र बंधने, कृपिकी रक्षा करने और हाथियों
 को इकट्ठा करनेमें कुशल थे । फिर भी जैसे समुद्र अपने तटका उल्लङ्घन नहीं करता है, वैसे ही
 उनमेंसे कियोंने भी अपने राज्यकी सीमा लाँचकर दूसरे भाईके राज्यको सीमामें प्रवेश करने का यत्न
 नहीं किया ॥ २ ॥ जैसे सामवेदके कुर्ममें उरान्न मतवाले दिग्गजोंका कुल आठ भागोंमें बँट गया था
 वैसे ही विष्णुके वंशसे उत्पन्न हुए रामका दानी कुल भी आठ भागोंमें फैला ॥ ३ ॥ एक दिन आधी
 रातकी, जब अपने गृहका दीपक टिमटिमा रहा था और सब लोग सोए हुए थे, कुशकी एक स्त्री दिखाई
 दी । उसे उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था पर उसका वेश देखनेसे जान पड़ता था कि उसका पति
 परदेश गया है ॥ ४ ॥ अपनी सम्पत्तिसे स्वर्गजनोंका उपकार करनेवाले, इन्द्रके खमान तेजस्वी
 और शत्रुघ्नकी जीतनेवाले कुशके आगे वह दमो हाथ जोड़ कर खड़ी हो गई ॥ ५ ॥ जैसे दर्पणमें सुँद-
 का प्रतिबिम्ब पैठ जाता है, वैसे ही द्वार बन्द रहनेपर भी वह स्त्री घरके मोतर झा गई थी । उसे देख-
 कर कुशको बड़ा आश्चर्य हुआ । वे शीघ्रपर आधि उठकर उससे बोले ॥ ६ ॥—तुम हमारे हल बन्द
 भवनमें हुए तो भाई हो, पर तुम्हारे मुखसे यह नहीं प्रकट होता कि तुम योगिनी हो, क्योंकि तुम

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते ।
 आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ ८ ॥
 तमत्रवीत्सा गुरुखानवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन ।
 तस्याः पुरः संप्रति चीतनाथां जानीहि राजन्प्रथिदेवतां माम् ॥ ९ ॥
 वस्त्रौकसारामभिभूय साहं सौराज्यवद्वोत्सवया विभूत्या ।
 समप्रराक्तां त्वयि सूर्यवंशे सति प्रवन्ना करुणामवस्थाम् ॥ १० ॥
 विशीर्षतन्पादृशतो निवेशाः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे ।
 विदम्नयत्यस्तनिमप्रसूयं दिनान्तमुग्रानिलमिन्नमेवम् ॥ ११ ॥
 निशासु भास्वत्कलनपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
 नदन्मुखोल्काविचितामिषामि स वाहते राजपथः शिवामिः ॥ १२ ॥
 मास्त्रालितं यश्चमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
 वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥ १३ ॥
 वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
 प्राप्ता द्वोल्काहतशेषवर्हाः क्रीडामयूरा वनवर्हिण्यत्वम् ॥ १४ ॥
 सोपानमार्गेषु च येषु रामा निवृत्तवत्यश्वरथान्तरागान् ।
 सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्त्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥ १५ ॥

पालेसे सारी हुई वनजिर्नीके समान उदास दिवाई दे रही हो ॥ ७ ॥ हे तुम ! तुम कौन हो ? तुम्हारे पतिका क्या नाम है और मेरे पास किस लिए आई हो । तुम यह समझकर मुझे खोलना कि रघुव-
 शिर्षोका भिन्न पदाई खोकी खोर नहीं जाता ॥ ८ ॥ उस खोले उत्तर दिया—हे राजन् ! जब मगवान्
 राम वैकुण्ठ जाने लगे, तब जिस निर्दोष शयोध्यापुरीके निवासियोंको वे अपने साथ लेते गए उसी
 अनाथ शयोध्यापुरीकी मैं नगरदेवी हूँ ॥ ९ ॥ पहले अथवा राम होनेके कारण मैं इतनी पेश्वर्यशालिनी
 हो गई थी कि मेरे आगे कुबेरकी अलकापुरी भी फोकी लगती थी । आजकल तुम्हारे ऐसे प्रवापी राजा-
 के रहते हुए भी मेरी बहुत बुरी दशा हो गई है ॥ १० ॥ स्वामीके न रहनेसे बोले श्यारियोंके दूट
 जानेसे मेरी निवासभूमि शयोध्या देवी उदास लगती है जैसे सूर्यास्तके समयकी यह सन्ध्या,
 जिसमें वायुके बेगसे हृष-उषर झिराए हुए दादल दिवाई देते हों ॥ ११ ॥ रातके समय पहले जिन
 सड़कों पर चमकते हुए विटुसौंवाली अभिमारिकाएँ चलती थीं, उन्हींपर आजकल शिवारिणें घूमती हैं
 जिनके मुखसे चिट्ठाले समय चिन्तारिणों निकलते हैं ॥ १२ ॥ नगरकी जिन शालियोंका जल पहले
 जलक्रीड़ा करनेवाली सुन्दरियोंके हाथके धपेहोंसे मृदङ्गके समान गम्भीर सन्द करता था, यह आज-
 कल जलकी भँसोंके सीरोंकी चोटसे कान फोड़े टालता है ॥ १३ ॥ शृङ्गोंके दूट जानेसे यहाँके
 मोर अब वृक्षोंपर जाकर बैठते हैं और मृदङ्ग न बजनेके कारण उन्हींसे नाचना भी बन्द कर दिया है ।
 अब वे उन जंगली मोरोंके समान लगते हैं, जिनकी पूँछें सबकी आगते जल गई हों ॥ १४ ॥ और
 क्या कहें, पहले जिन सोदिय पर सुन्दरियों अपने मदापर लगे साज लाज फिर रखती
 चलती थीं, उन्हींपर मृग मारनेवाले पाप अपने रकवे सने लाज फिर रखते चलते हैं ॥ १५ ॥

चित्रद्विपा. पद्मवनावतीर्णाः करेणुमिर्दत्तमृणालमङ्गाः ।
 नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥ १६ ॥
 स्तम्भेषु योषित्प्रतिपातनानामुत्क्रान्तवर्षाक्रमधूसराणाम् ।
 स्तनोत्तरीपाणि मथन्ति सङ्गात्रिणोरुपशृङ्गाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥ १७ ॥
 कालान्तररयामगुधेषु नक्तमितस्ततो रुढरणाङ्कुरेषु ।
 त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥ १८ ॥
 आवर्ज्यशाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
 वन्यैः पुलिन्दैरिव धानरैस्ता. क्लिरयन्त उद्यानलता मदीयाः ॥ १९ ॥
 रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुरश्रीविद्युता दिवापि ।
 तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥ २० ॥
 वलिक्रियावर्जितसैरुतानि स्वानीपमसर्गमनाप्नुवन्ति ।
 उपान्तवानोरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयुजलानि ॥ २१ ॥
 तदर्हसीमां वसति विसृज्य मामभ्युपेतुं कुलराजधानीम् ।
 हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम् ॥ २२ ॥

जिन चित्रोमें ऐसा दिखाया गया था कि हाथी कमलके तालमें उतर रहे हैं और हथिनियाँ उन्हें सूँदसे कमलकी डण्डल तोपकर दे रही हैं, उन चित्रित हाथियोंके मातृसकों सिंहोंने सब्से हाथीका मस्तक समझकर नलोंसे काट दिया है ॥ १६ ॥ जिन बहुतसे रात्रोमें छिपोंकी मूर्तियाँ बनी हुई थीं आजकल उन मूर्तियोंका रंग उड़ गया है । उन खणोंकी चन्दनका वृक्ष समझ कर जो सोंप उनसे लिपटे हैं उनको केतुल्लें छूँकर उन मूर्तियोंसे सदा गर्द हैं, और वे ऐसी लगती हैं मानो उन छिपोंके स्नान करनेके लिये कोई कपड़ा खाल दिखा रो ॥ १७ ॥ जिन भवमोंपर कभी मोतीकी मालाके समान सुभ्र चाँदनी चमका करती थीं उनपर अब चाँदनी भी नहीं चमकती क्योंकि बहुत दिनोंसे भस्मत्त न होनेके कारण कौनों के पूनेका रंग काला पड़ गया है और उनपर जहाँ तहाँ घास जन थाई है ॥ १८ ॥ पहले उद्यानकी जिन लताओंकी धारेसे झुकाकर सुन्दरी लियों फूल उतारा करती थीं उन मेरी प्यारी लताओंकी जगली म्हेच्छोंके समान उरवाती चन्द्र भकभोर डालते हैं ॥ १९ ॥ आजकल अटारियोंके भरोखोंसे न तो रातकी दीपकोंकी किरणें निकली हैं, न दिनमें सुन्दरियोंका मुख दिखाई देता है और न कहींसे भ्रगरुका धुँधा ही निकलता है । अब वे करीबे मकड़ियोंके जालोंसे ढरु गद हैं ॥ २० ॥ मुझे यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि अब न तो सरयूके प्रायोंपर वैषल्यमोंके लिये दलियाँ जाती हैं और न लियोंके स्नान करनेसे उसमेंसे अमराय आदिकी गन्ध ही निकल रही है । सरयूके तटपर बनी हुई वेंतकी मोंपदियों भी सूनी पड़ी रहती हैं ॥ २१ ॥ इसलिये जैसे तुम्हारे नितार रामने रात्रतोंको मारनेके लिये जो मनुष्य शरीर धारण किया था उसे छोड़कर परमात्मामें पहुँच गये जैसे ही तुम भी इस नई रात्रतानी कुलराजकी छोड़कर अपनी कुल-

तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः प्रस्यग्रहीत्याग्रहरो रघूणाम् ।
 पूर्य्यभिव्यक्तमुद्रप्रतादा शरीरबन्धेन तिरोभवत् ॥ २३ ॥
 तदद्भुतं ममदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
 श्रुत्वा त एनं कुन्तराजधान्याः माचात्पतित्से वृतभ्रमनन्दन् ॥ २४ ॥
 कुशावर्ता भोजिवसात्स कृत्वा यात्रानुहूलेऽहनि सावरोधः ।
 अलुद्रुतो चापुरिवाग्रहृन्दैः मेन्यैस्योष्याभिसुराः प्रतस्थे ॥ २५ ॥
 सा केतुमालोपयना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतये नारीः ।
 सेना स्थोदारमृदा प्रयाणे नस्याभवजंगमराजधानी ॥ २६ ॥
 तेनातवप्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिरामभूमिम् ।
 बभौ पलायः शशिनोदितेन वेत्तामुदन्वानिव नीयमानः ॥ २७ ॥
 तस्य प्रयातस्य बहूयिनीनां षोडशमर्षात्तृतीयोत्तुम् ।
 वसुंधरा विष्णुपदं द्वितीयमध्वात्लोहेव रजश्छत्तेन ॥ २८ ॥
 उदयच्छमाना गमनाय पथात्पुरे निवेद्ये पथि च व्रजन्ती ।
 सा यत्र सेना दृष्ट्ये नृपस्य तत्रैव सामग्यमतिं चकार ॥ २९ ॥
 तस्य द्विपानां मदवारिसेकार्युरामिधाताच्च तुरंगमाश्याम् ।
 रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कमावं पङ्कोऽपि रेणुत्पमियाय नेतुः ॥ ३० ॥

परंपराकी राजधानी अयोध्यामें चलकर रही ॥ २३ ॥ कुन्तने बसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली थीर
 बहू—ऐसा ही करेगी। यह सुनकर अयोध्याकी नगरदेवी भी अन्तर्धान हो गई ॥ २३ ॥
 राजाने रातकी वह अचरजमरी घटना प्रातःकाल सभामें साझ्योंसे कही। यह सुनकर साझ्योंने उनकी
 प्रशंसा की कि भाव धन्य हैं, जिन्हें कुल-राजधानीने अपना इच्छासे अपना पति चुना है ॥ २४ ॥
 उन्होंने कुशावती तो वेदवती साझ्योंकी शीर्ष की थीर जैसे वायुके पीछे-पीछे मादक चलते हैं वैसे ही
 पीछे चलनेवाली सेनाके साथ शुभ सुहृत्तमें अयोध्याके द्विजे चल दिए ॥ २५ ॥ यात्राके समय
 चलती हुई वृषकी सेना चलती फिरती राजधानीके समान चलती थी क्योंकि उसका अज्ञानसेवाला
 भाग सतथात्से उपवनः जैसे लग रहा था, वही वही हाथी बनावती पर्यंतों जैसे जान पड़े थे थीर
 रथ ऊँची-ऊँची अवारियों जैसे लग रहे थे ॥ २६ ॥ जैसे अन्नमा उदित होकर समुद्रकी तटतक
 शीर्ष जाता है, वैसे ही श्रेष्ठ वृषधारी वृष अपनी सेनाको रघुपुत्रकी पुत्राकी राजधानी अयोध्याकी
 ओर ले चले ॥ २७ ॥ चलते समय वृषकी सेनाका भार वृषो नदी सँभाल ली, इसीद्विजे उदती
 हुई भूल देसी जान पड़ रही थी मग्नो वृषकी विष्णुके दूतरे पद [आश्या] में पहुँच गई हो ॥ २८ ॥
 कुशावतीसे चलती हुई या आगेके पक्षवपर पहुँची हुई या मार्गमें चलनेवाली मिथनी भी कुशाकी
 सेनाकी टुकड़ियों थीं, वे सब पूरा सेना ही प्रतीत होती थीं ॥ २९ ॥ वृषके हाथियोंके मद्गलसे

मार्गोपिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना ।
 चकार रेवेव महाविरावा यद्धप्रविश्रुन्ति गुहामुखानि ॥ ३१ ॥
 स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः ।
 व्यलङ्घ्यद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥ ३२ ॥
 तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
 अयत्तवालव्यजनीवभूयुर्हसा नमोलङ्घनलोलपदाः ॥ ३३ ॥
 स पूर्वजानां कपिलेन रोपाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम् ।
 सुराऽलयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्तोतसं नौलुडितं वचन्दे ॥ ३४ ॥
 इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुराः सरय्याः ।
 वेदिप्रतिष्ठान्वितताध्वराणां गृपानपरयच्छतशो रघूयाम् ॥ ३५ ॥
 आधूय शाखाः कुमुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीतान्सस्यूतरङ्गान् ।
 तं ज्ञान्तसैन्यं कुलराजधान्याः प्रत्युजगामोपवनान्तवायुः ॥ ३६ ॥
 अयोपशब्धे रिपुमशशल्प्यस्तस्याः पुरः पौरसद्यः स राजा ।
 कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि ॥ ३७ ॥
 तां शिल्पिसंधाः प्रभृश्या निशुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात् ।
 पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा विदाघग्लपितामिवोर्वाम् ॥ ३८ ॥

मार्गकी भूल कीचड़ बर गई और कीचड़ भी घोड़ोंकी टापोंसे भूल बन गयी ॥ ३० ॥ मार्ग भूल जानेके कारण वह सेना विन्ध्यापलके आस-पास मार्ग डूँढ़ने लगी और कई मार्गोंमें बँट गई । उस सेनाने नर्मदाके समान जो गम्भीर गर्जन किया उससे पर्वतकी गुफाएँ भी गूँज उठीं ॥ ३१ ॥ गेरु आदि धातुओंसे जिसके शक्रे पहिंद लाल हो गए और जिसकी चलती हुई सेनाके शब्दसे टाटोंके शब्द भी दब गए वह कुछ विन्ध्यापलवासो किराणियोंके हाथसे पाई हुई भेंट सामग्रीमें देखते हुए आगे बढ़े ॥ ३२ ॥ वहाँ पास ही उलटी पश्चिमकी और बहनेवाली गङ्गाजीपर हाथियोंका पुल बनाकर वे पार उतरने लगे । उस समय आकाशमें जो चञ्चल पक्षीवाले हंस उड़ते थे वे कुशपर डुलते हुए बैवरके समान लग रहे थे ॥ ३३ ॥ कुराने नावोंके चलनेसे चंचल जलवाली गङ्गाजीको प्रणाम किया । क्योंकि कपिलके कोपसे जले हुए उनके पूर्वज सगरके पुत्र उसी जलकी कृपासे स्वर्ग पहुँचे थे ॥ ३४ ॥ इस प्रकार मार्गमें कुछ दिन बिताकर कुर, सरयूके किनारे पहुँचे । वहाँ उन्हें बड़े-बड़े पक्ष करनेवाले रघुवंशी राजाओंके गाँव हुए सैकड़ों यज्ञके खम्भे दिखाई दिए ॥ ३५ ॥ अयोध्याके उपबर्णोंमें फूले हुए चुबोंकी बालियोंकी हिलाटा हुआ तथा सरयूके शीतल जलके स्पर्शसे ठण्डे वायुने आगे बढ़कर सेनाके साथ बड़े हुए कुशका स्वागत किया ॥ ३६ ॥ शशुबिनायक प्रजा-हितैषी राजाने फहराती हुई ध्वजावाली अपनी सेनाको नगरके आस-पासके स्थानोंमें रुहरा दिया ॥ ३७ ॥ जैसे इन्द्रकी आज्ञासे यक्ष, जल बरसान्तर गरमोसे तपी हुई पृथ्वीकी हरी-भरी कर देते हैं, वैसे ही कुराको

ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्वप्रतिमागृहायाः ।
 उपोषितैर्वास्तुविधानविद्धिर्निर्वर्तयामाम रघुप्रवीरः ॥ ३९ ॥
 तस्याः न राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रधिरय ।
 यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं संभावयामास यथाप्रधानम् ॥ ४० ॥
 मा मन्दुरासंश्रयिमिभ्रुरंगैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नार्गः ।
 पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनट्टामरणेषु नारी ॥ ४१ ॥
 वमन्स तस्यां वमतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम् ।
 न मैथिलेयः स्पृहयांधभूत भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ॥ ४२ ॥
 अथास्य रत्नप्रथितोत्तरीपमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम् ।
 निःश्वातहार्यांशुरुमाजगाम घर्मः प्रियावेषनिवोपदेन्दुम् ॥ ४३ ॥
 अगस्त्यचिह्नादयनात्ममीपं दिगुत्तरा भास्यति संनिवृत्ते ।
 आनन्दशीतामिव वाप्यवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज ॥ ४४ ॥
 प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी ।
 उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥ ४५ ॥
 दिने दिने शैवल्यन्त्यधस्तात्नोपानपर्वाणि निमुञ्चदम्भः ।
 उद्धवडपत्रं गृहदीर्घिकायां नारीनितम्बदपसं पभूत्र ॥ ४६ ॥

आजाते कातोर्गर्भे अपने घन्नोंडी सहायतासे अयोध्याका क्रायापलट कर दिया ॥ ३९ ॥ फिर मृत
 और उपवास करनेवाले वास्तु विधानके पण्डितोंसे रघुवीर कृष्णने अनमोल मूर्तियोंसे भरे घण्टीवाली
 अयोध्याका विधिपूर्वक पूजन कराया और पशुओंका बलिदान भी कराया ॥ ३९ ॥ जैसे कामी पुण्य
 खोके हृदयमें कष्ट जाता है वैसे ही कृष्ण भी अयोध्याके राजध्वनमें प्रविष्ट हो गए और उन्होंने अपने
 मन्त्रियों आदिके रहनेके लिये दूसरे बहुतसे भवन दे दिए ॥ ४० ॥ अयोध्याके हारोंमें सुन्दर सुन्दर
 वस्तुएँ बिकनेको लगाने लगे हुए थीं, सुहृन्मालमें घोड़े बँधे हुए थे, हथमारोंके लम्बोंसे हाथी बँधे हुए थे ।
 इस प्रकार वह नगरी ऐसी सुन्दर लगने लगी जैसे सारे शरीरपर गदगा पहने हुए कोई स्त्री हो ॥ ४१ ॥
 अयोध्या फिर पहली जैसा सुन्दर लगने लगी । उसमें निवास करके जानकीजीके पुत्र कृष्णकी पैसा
 सुन मिला कि न तो उन्हें सुन्दर सुन्दर अस्तराओंसे भरे स्वर्गके स्वामी बननेकी इच्छा रह गई और
 न असंख्य खौंवाली धलकापुरीकी हों खेने की ॥ ४२ ॥ हठनेमें भोग्य कतु आई जिसने मार्गो इन्हें
 अपनी उस प्रियाका स्मरण कष्ट दिया जिसकी ओढ़नीमें रत्न लगे हैं, जिसके गारे-गोरे स्तनोंपर
 मोतियोंका हार लटका हो और जो साँससे उड़नेवाले महीन कपड़े पहने हुए हो ॥ ४३ ॥ गर्भोंमें
 जो हिम गलने लगा वह पैसा लगता था मनो वक्षिण दिशासे सूर्यके लीट जानेकी प्रसन्नतामें उत्तर
 दिशाने आनन्दके ठट्टे आँसुओंके समान पानीकी टडी घारा हिमालयसे बहाई हो ॥ ४४ ॥ अत्यन्त
 सन्तापसे भरे दिन और अत्यन्त खोटी रातें, ये दोनों उभ पड़तावे हुए पति पत्नीके समान दिखाई
 देने लगे जो आपसमें भगवा करके एक दूसरेसे रुठ बैठे हैं ॥ ४५ ॥ गर्भोंके कारण घरकी वास्तुविधि

वनेषु सायंतनमन्त्रिज्ञानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।
 प्रत्येकनिधिसपदः सशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥ ५७ ॥
 स्वेदानुविद्वार्द्रनसत्तताङ्के भूयिष्ठसंदष्टशिखं कपोले ।
 च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥ ५८ ॥
 यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।
 शिलाविशेषानधिशाय्य निन्दुर्घारागृहेऽभातपमृद्धिमन्तः ॥ ५९ ॥
 खानार्द्रमुक्तैश्चनूधूपवासं विन्यस्तमायंतनमन्त्रिकेषु ।
 कामो वसन्तात्पयपन्दवीर्यः केशेषु लेभे वलमङ्गनानाम् ॥ ६० ॥
 श्रापिञ्जरा वद्वरजःकण्ठत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य ।
 दग्धापि देहं गिरिशेन रोपात्सखडीकृता ज्येव मनोभवस्य ॥ ६१ ॥
 मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीघ्रं नवपाटलं च ।
 संबन्धता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाधारधिना प्रमृष्टाः ॥ ६२ ॥
 जनस्य तस्मिन्समये विगाढे चभूवतुर्द्रौ सविशेषज्ञान्तौ ।
 तापापनोद्धमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च ॥ ६३ ॥
 अयोर्मिलोलोमद्राजहंसै रोधोलतापुष्पवहे सरस्याः ।
 विहर्तुमिच्छन् वनितासखस्य तस्याम्मसि ग्रीष्मसुखे चभूव ॥ ६४ ॥

भी सेवार जमी हुई सीढ़ियोंको छोड़कर पीछे हटने लगीं [अर्थात् उनका पानी सूखने लगा] । उनमें कमलकी डंठियों दिखलाई देने लगीं और पानी घटकर छिपकोंको कमर तक रह गया ॥ ६६ ॥ वनोंमें चमेली खिल गई और उसकी सुगन्ध चारों ओर फैलने लगी । सरयाको गुनगुनाते हुए मौरे उसके एक एक फूल पर बैठकर मानो फूलोंकी गिनती करने लगे थे ॥ ६७ ॥ छिपकोंके गालोंपर प्रियतमके हाथोंसे बने नखचतोंपर परसनेकी बूंदें फैल जाती थीं और कानपर रखे हुए सिरसके फूलोंका केसर उनसे सट जाता था । इसीलेवे जब वे फूल कान परसे गिरते भी थे तो सहसा पृथकोंपर नहीं गिर पाते थे ॥ ६८ ॥ धनी लोग गर्मीमें ठंडी रहनेवाली उन विशेष प्रकारकी शिलाओंपर सोकर दुपहरि बिताते थे जो चन्द्रसे धुली होती थीं और जिनके चारों ओर जब धाराएँ गूटती रहती थीं ॥ ६९ ॥ वसन्त ऋतु जानेके कारण जो कामदेव मन्त्र पढ़ गया था वह छिपकोंके उन केशोंमें जाकर बस गया जो स्थान करनेपर खोल दिए जाते थे और जिनमें धूपसे सुगन्धित करके शासको फूलनेवाली चमेलीके सुगन्धित फूल खोंस लिए जाते थे ॥ ७० ॥ परागसे भरी कुछ पीली पीली अर्जुनकी मन्त्ररी पेसी लगती थी मानो कामदेवका शरीर मसम करनेके परचात् शिवजीके हाथसे तोड़ी हुई कामदेवके धनुषकी डोरी हो ॥ ७१ ॥ मनोहर गन्धवाली आमकी बीर, पुरानी मदिरा और नये पाटलके फूल लाकर ग्रीष्म ऋतुने कामो पुष्पोंकी सख फगी पूरी कर दी ॥ ७२ ॥ उस कठिन ग्रीष्म समयमें उदित होकर दो ही प्रताकें बहुत प्यारे हुए । एक तो सेवासै प्रखन्न होकर निर्धनता आदि सन्त्रापोंको दूर करनेवाले रासा कुछ और दूसरे शोचल छिपकों से गर्मीका ताप दूर करनेवाले चन्द्रमा ॥ ७३ ॥ एक दिन कुशाकी

स तीरभूमौ विहितोपकार्यमानायिमिस्तामपकृष्टनकाम् ।
 विगाहितुं श्रीमद्विमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभावः ॥ ५५ ॥
 सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीमिः ।
 सनूपुरचोमपदाभिरासीदुद्विग्रहंसा सरिदङ्गनामिः ॥ ५६ ॥
 परस्पराभ्युक्ष्यतत्पराख्यं तासां नृपो मञ्जनरागदर्शी ।
 नौसंश्रयः पार्श्वगतं किरातीमुपात्तवालव्यजनां वभासे ॥ ५७ ॥
 पश्चावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलितङ्गरागैः ।
 संघवोदयः साभ्र इवैव चणं पुण्यत्पनेकं सरयूप्रवाहः ॥ ५८ ॥
 विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरङ्गिः ।
 तद्वध्नतीभिर्मदरानशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमाशाम् ॥ ५९ ॥
 एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्योद्बुमशक्नुवत्यः ।
 गाढाङ्गदैर्वाहुभिरप्सु यालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ॥ ६० ॥
 अर्मा शिरीषप्रसवावर्तसाः प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम् ।
 पारिस्रवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोत्तांश्छल्यन्ति मीनान् ॥ ६१ ॥
 ध्यासां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्षिषु शीकरेषु ।
 पयोघरोत्नर्षिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिद्रोऽपि द्वारः ॥ ६२ ॥

इत्या इदं कि जहरोंके जहरानेसे मतवाले बने हुए हंसोंवाले, तटकी लताओंके फूलोंकी महामेवाले
 और गर्मीमें सुख देनेवाले सरयूके जलमें चरती रानियोंके साथ विहार करें ॥ ५५ ॥ यह निश्चय
 करके बिलुके समान प्रभावशाली कुश, सरयूके जलमें विहार करने गले । सरयूके सटपर डरे ताज
 दिए गए और मपचाहोंने जाल डालकर ग्राह आदि सब और जन्तु उसमेंसे निकाल दाले ॥ ५५ ॥
 जब मुशकी रानियों सीढ़ियोंसे पानीमें उतरने लगीं, उस समय उनके सुमधन्द एक दूसरेसे रगड़
 खाने लगे, परके बिलुके बजने लगे और इन सुन्दरों मुन-मुनकर सरयूके हंस गलज उठे ॥ ५६ ॥
 रानियों एक दूसरे पर जलके छींटे उड़ाने लगीं । उन रानियोंके स्नानकी शोभा देखकर भावरा
 थैडे हुए राधा, पासमें बैकर खेकर स्वकी हुई किरातिनसे कहने लगे ॥ ५७ ॥ देख तो । मेरे स्नान
 की सीढ़ियों रानियोंके स्नान करनेसे और उनके शरीरमें गुडे हुए भंगामके मिष्ठ जानेसे सरयूकी
 धारा ऐसी रंग चिरगी लगाने लगगी है जैसे वादलोंसे भरी लग्ना ॥ ५८ ॥ नारोंके पत्रमेंसे
 जलमें जो खहर उठती हैं उन्हेंने इन सुन्दरियोंकी शीर्यका अत्रन धो दिया है और उसके पदोंमें
 मद्रपानके समर्थके लाली हानकी शीर्यों में भर दी है ॥ ५९ ॥ भारी निक्षयों और स्नानोंके कारण
 ये रानियां भली भाँति तीर नहीं पालीं फिर भी रोपणों समिपित होनेके कारण ये मोटे मोटे मुन
 पन्दोंवाली बहिनसे जलमें चली किरातिये तीर रहीं हैं ॥ ६० ॥ इन जल-क्रोडा कामेवाली रानियोंके
 जानेसे तिरराके कर्माहृत निरसकर गर्दीमें तिर कर तीर रहे हैं । इनकी देवघर मद्रियोंकी
 रोपणका भ्रम हो रहा है और ये इनके मुँह मारनेको मरत रहीं हैं ॥ ६१ ॥ देख. जल-क्रोडा

आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्मङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।
 जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ॥ ६३ ॥
 तीरस्थलीवर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकैरभिनन्द्यमानम् ।
 श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुर्गं वारिसृदङ्गवाद्यम् ॥ ६४ ॥
 संदण्डवस्त्रेष्वचलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोद्गतुण्याः ।
 अमो जलापूरितस्रजमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥ ६५ ॥
 एताः करोत्पीडितवारिधारा द्रपत्सस्त्रीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।
 वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्त्वमन्ति ॥ ६६ ॥
 उद्वन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
 मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेपः ॥ ६७ ॥
 स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु ।
 स्फुन्धावलमोद्गतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥ ६८ ॥
 ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्युना सातिशयं विरेजुः ।
 प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामोः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥ ६९ ॥

लगी हुई इन रानियोंको यह भी नह पता कि हमारे द्वार दूढ़ गए हैं और मोती बिखर गए हैं । ये उन मोतियों के समान बूँदोंकी ही मोती मानकर समके वैश्री हैं कि द्वार दूढ़ा नहीं है ॥ ६३ ॥ देख, सुन्दरी रानियोंके शरीरके अंगोंके समान जो चस्तुँ संकरमें प्रसिद्ध हैं वे तब इन सुन्दरियोंके शरत्-पास लुट आई हैं । ये पानीकी ज्वर इनकी गहरी नाभिके समान है, लहरें इनकी भोंदोंके समान हैं और चकवा-चकरी इनके स्तनोंके समान हैं ॥ ६३ ॥ ये गा-गाकर जो सुद्वंग बनानेके समान थपको दे देकर जल ठोक रही हैं उसे सुनकर तटपर बैठे हुए मोर अपनी पूँछ उठाकर और बोलकर उनका अभिनन्दन कर रहे हैं ॥ ६४ ॥ इन रानियोंने अपने नितम्बोंपर रवेत वस्त्र लपेट लिया है जिसके नीचे तगड़ोंके पुँछुस ऐसे दिखाई देते हैं जैसे चौरनीसे उके हुए तारे हों । तगड़ोंके दोरों में जल भर जानेसे इन रानियों के हृदयसे उधर दीवनेपर भी ये बज नहीं रहे हैं ॥ ६५ ॥ जब इनकी सखियों इनके मुँहपर पानी डालती हैं और ये अहंकारसे अपनी सखियोंपर पानी उड़ानती हैं तब इनके संधे लठके हुए बालोंसे लुफुम मिली हुई लाल रंगकी पूँदे चूने लगती हैं ॥ ६६ ॥ यद्यपि इनके कारण बाल पुल जानेसे, मुँहपर और स्तनोंपर पानी हुई चित्रकारीके भुल जानेसे, तथा मोतियोंके कर्णपूल कानसे निकल जानेसे इन रानियोंका चेहरा धेड़गा हो गया है फिर भी देख, ये रानियाँ मनोहर लग रही हैं ॥ ६७ ॥ यह कहकर राजा भी पानीमें उतर पड़े और जैसे कमखिरियोंको उत्साहकर कन्धेपर लटकाए हुए हाथी, हथिनियोंके साथ जलनोदण करता है वैसे ही वे भी उन रानियोंके साथ जल विहार करने लगे ॥ ६८ ॥ उस कान्तिमान राजाके साथ मोचा फाली हुई वे रानियाँ पहलेसे भी अधिक सुन्दर लगने लगीं क्योंकि मोती तो यों ही सुन्दर होका है और फिर

वर्योदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमापताक्षवः प्रशयादमिञ्चन् ।
 तथागतः सोऽतितरां वमासे सघातुनिष्यन्द इन्द्राद्रिराजः ॥ ७० ॥
 तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिदरां ताम् ।
 आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्दृतो मरुःमाननुयातलीलः ॥ ७१ ॥
 यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाप राज्येन समं दिदेश ।
 तदस्य जैत्राभरणं निहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ञ ॥ ७२ ॥
 स्नात्वा यथाकाममत्सी सदारस्तीरोपकायां गतमान एव ।
 दिव्येन शून्यं क्लृप्तेन बाहुमपोदनेपव्यविधिर्दर्श ॥ ७३ ॥
 जयश्रियः मंत्रनतं यतस्तदमुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात् ।
 सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्म तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥ ७४ ॥
 तवः समाज्ञापयदाशु सर्मानानापिनस्त्वद्विचये नदीष्णान् ।
 वन्वपश्रमास्ते सरयुं विगाह्य तमचुरम्लानमुखप्रसादा ॥ ७५ ॥
 कृतः प्रयत्नो न च देव लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते ।
 नागेन सौम्यात्कुमुदेन नूनमुपासमन्तर्हदवासिना तत् ॥ ७६ ॥
 ततः स कृत्वा धनुराततज्य धनुर्धरः कोपनिलोहिताद्यः ।
 मारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजंगनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥ ७७ ॥

यदि यह इन्द्र जीवमणिके साथ गूँध दिया जाय तब तो कड़वा ही पवा ॥ ६९ ॥ ये स्त्रियो सोनेके
 विचकारियोसे रग छोड़ छोड़कर उन्हे भिगोने लगीं । उस समय ये ऐसे बजने लगे जैसे पर्वतराज
 हिमालय परसे गेरुका झरना गिर रहा हो ॥ ७० ॥ जियोके साथ सरयूमें जल प्रीति करते समय
 कुछ ऐसे छगले थे मानो देशराज इन्द्र अन्तराष्ट्रके साथ आकरागङ्गामें जनकीदा कर रहे हों ॥ ७१ ॥
 रामको अगस्त्य ऋषिने जैत्र [अर्थात् अदा जितानेवाजा] जो अमृषण्य दिया था उसे रामने रागदके
 साथ ही कुशाको दे दिया था । जल प्रीति करते समय यह आभूषण पानीमें गिर पड़ा थीर किन्तु कौ
 इसका पता नहीं चला ॥ ७२ ॥ शनियोके साथ इन्द्रनुसार जल प्रीति करके जय कुश पाकर
 निकले थीर ऐमें गए तब कपड़े बदलनेके पहले ही उन्होंने देखा कि सुन्दर यह दिव्य आभूषण
 नहीं है ॥ ७३ ॥ सुदिमान राजा कुश, कुछ थीर आभूषण दीवाका बराबर समझने थे । अत उन्हे
 उस आभूषणके सोनेका हारलिये बुझ नहीं था कि यह बहुमूल्य था, परन्तु एतलिये कुछ हुआ कि यह
 आभूषण बिजय लक्ष्मी प्राप्त करानेवाला था थीर जितका विष्ट था ॥ ७४ ॥ तब उन्होंने सर धीपराज
 आभूषण हूँदनेकी आज्ञा दी । बहुत देरतक उन सामोने पानी भरना पर उरघर सर परिधन
 व्यर्ज गया । वे कुशाके पास आकर बोले— ॥ ७५ ॥ हे देव ! बहुत परिश्रम करनेपर भी हम आज
 जन्ममें परे हुए आकरका आभूषण नहीं पा सके । आज पदमा है कि हम जहाँ रहनेवाले कुशुद
 नामके नाममें सोमने उम्ने पुत्र जिया है ॥ ७६ ॥ यह सुनते ही कुशका मनमें अचये साथ ही गई

तस्मिन्हृदः संहितमात्र एव चोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः ।
 रोधांसि निम्नत्रवपातमग्नः करीव वन्यः पर्युष ररास ॥ ७८ ॥
 तस्मात्समुद्रादिव मध्यमानाद्दुद्वृत्तनकात्सहसोन्ममज्ज ।
 लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृत्तः कन्यां पुरस्कृत्य भुजंगराजः ॥ ७९ ॥
 विभूषणप्रत्युपहारहस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशापतिस्तम् ।
 सौपर्णमस्रं प्रतिसंजहार प्रह्वेष्वनिर्वन्धरूपो हि सन्तः ॥ ८० ॥
 त्रैलोक्यनाथप्रमवं प्रमावात्कुशं द्विपामङ्कशमस्रविद्वान् ।
 मानोन्नतेनाप्यमिवन्ध मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो वभाषे ॥ ८१ ॥
 अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।
 सोऽहं कथं नाम तवाचरेवमाराधनीस्य घृतेर्विघातम् ॥ ८२ ॥
 कराभिघातोत्थितकन्दुकैयमालोक्य बालातिकुतूहलेन ।
 हृदास्पतज्ज्यौतिस्विान्तरिचादादत्त जैत्राभरणं त्वदीपम् ॥ ८३ ॥
 तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्वाघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
 भुजेन रचापरिवेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥ ८४ ॥
 इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुदतीं नार्हसि नानुमन्तुम् ।
 आत्मापरार्धं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ॥ ८५ ॥

और वहीं कटपर सदे होकर उन्होंने धनुषको शिक किया और उसपर नागोंका नाश करनेवाला
 गार्ग्यरथ चढ़ाया ॥ ७७ ॥ उनके धनुष चढ़ाते ही वहाँका जल, खलपड़ता हुआ, अपने तरंग रूपी
 हाथ जोड़े हुए, तटको छोड़ता हुआ ऐसे गरजने लगा जैसे गड्ढेमें पड़ा हुआ कोई हाथी चिपचाद
 रहा हो ॥ ७८ ॥ उस जलको समुद्रके समान मथा जाता देखकर घड़ियाल आदि जीव घबरा उठे ।
 इतनेमें ही उस जलमेंसे अचानक एक कन्याको आगे किए हुए नागराज कुमुद इस प्रकार निकले
 मानो लक्ष्मीकी साथ लेकर स्वपृथक् विकल आया हो ॥ ७९ ॥ कुमुदने देखा कि कुमुदके हाथमें
 चढ़ी अश्रुपथ है, इसलिये उन्होंने धनुषपरसे पारकासत्र डकार किया क्योंकि सज्जन लोग उनपर
 क्रोध नहीं करते जो सत्र होकर उनके आगे आते हैं ॥ ८० ॥ शिबोकीनाथ रामके पुत्र तथा शशुर्योको
 शशुराके समान दुःख देनेवाले राजा वृषाको मानसे उठा हुआ अपना सिर नवाकर कुमुदने प्रणाम
 किया क्योंकि यह कुमुदके याचनी शक्ति भली भाँति जानता था । प्रणाम करके यह बोला— ॥ ८१ ॥
 मैं यह जानता हूँ कि आप, शशुरोंका नाश करनेके लिये धनुषका शरीर धारण करनेवाले विष्णुके
 ही दूसरे रूप सार्धं हुए हैं, इसलिये आप पूजनीय हैं । फिर मैं मन्ना आपसे देवे धैर कर
 सता हूँ ॥ ८२ ॥ यह मेरी कन्या गौड़ लेल रही थी । इसकी यपकीसे गौड़ ऊपर उड़ल गई । उसे
 देनेके लिये अपने सो ऊपर आँसे उठाई तो देखा कि आकाशसे गिरते हुए तारेके समान आपका
 आभूषण नीचे पला था रहा है । इसने मन्त्र उसे पठल किया ॥ ८३ ॥ आप इधे कीजिए और
 अपनी उस मोठी और पुरनों तक लगी मुणामें फिर सँधि कीजिए जिसमें धनुषकी दोरीकी कटहरने
 पट्टे पर गए हैं और जो शशुरोंकी रचा करती है ॥ ८४ ॥ हे राजन् ! यह मेरी छोरी यहन कुमुदती

इत्युचिचानुपहृताभरणः क्षितीशं श्लाघ्यो भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम् ।
 संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः कन्यागयेन कुमुदः कुलभूपणेन ॥ ८६ ॥
 तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते माङ्गल्योर्खात्रिलयिनि पुरः पावकस्योच्छ्रितस्य
 दिव्यस्तर्यध्वनिरुद्धचरद्वयश्चुवानो दिगन्तान्गन्धीदयंतदनु ववृषुः पुण्यमाश्रयमेवाः ॥ ८७ ॥
 इत्थं नागस्त्रियुवनगुरोरसं मैथिलेयं लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशःपं चमं तच्चकस्य ।
 एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैततेयाच्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास ॥ ८८ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 कुमुदतीपरिणयो नाम षोडशः सर्गः ॥



जीवन भर चापनी सेवा करके अपना अवरग्य मिथाना चाहतो है, इसलिये आप हमे अपनी पत्नीके स्पर्शमें ग्रहण कर लीजिए ॥ ८५ ॥ यह कहकर कुमुदने वह आनूपण कुशको दे दिया । कुश बोले—भ्रात्रसे आप मेरे आदरणीय सम्बन्धी हुए । यह सुनकर कुमुदने अपने कुटुम्बियोंको बुलाया और वही धूमधामसे अपनी कन्या कुशके व्याहृ दी ॥ ८६ ॥ जब राजा कुशने अग्निः घागे उस कन्याका ऊनी कंगन घँथा हुआ हाथ पकड़ा, उस समय पुरही आदि वाजोंकी प्वलिते दिगार्ये गूँज उठी और विभिन्न प्रकारके मेघोंने आकर आकाशसे सुगन्धित फूल बरसा दिए ॥ ८७ ॥ इस प्रकार नागराज कुमुदने त्रिलोकीनाथ विष्णु अर्थात् रामके सन्धे पुत्र कुशको अपना सम्बन्धी बनाकर गृहसे दरना छोड़ दिया क्योंकि धब वह उसके सम्बन्धीके पिताका वाहन मात्र था । कुशने भी नागराज तत्त्वके पौत्रों पुत्र कुमुदको सम्बन्धी बना लिया जिससे सर्प शान्त हो गए और कुश पृथ्वीपर भोजी भौलि राम करने लगे ॥ ८८ ॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें कुमुदतीका विवाह
 नामका सोलहवें सर्ग समाप्त हुआ ॥



सप्तदशः सर्गः

अतिथि नाम काकुत्स्थात्पुत्रं प्राप कुमुदती । पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥१॥
 स पितुः पितृमान्वांशं मातृत्वानुपमद्युतिः । अपुनात्सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥२॥
 तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः । पथात्पार्थिवकन्यानां पाथिमग्राहयत्पिता ॥३॥
 जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः । अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ॥४॥
 स कुलोचितमिन्द्रस्य सहायकमुपेयिवान् । जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥५॥
 तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुदती । अन्वगात्कुमुदानन्दं शशांकमिव कौमुदी ॥६॥
 तपोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक् । द्वितीयापि सखी ज्ञान्याः पारिजातांशभागिनी ७
 तदात्मसंभवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः । स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः संग्रामयायिनः ८
 ते तस्य कल्पयामासुरभिपेक्षाय शिल्पिमिः । विमानं नवमुद्देदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ९
 तत्रैनं हेमुकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थचारिभिः । उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥१०॥
 नदद्भिः खिग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः । अन्वमीयत कन्यायुग्ं तस्याविच्छिन्नसंततिः ११
 दूर्वायवाङ्कुरसूक्ष्मत्वगभिन्नपुटोत्तरान् । ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥१२॥

सत्रहवाँ सर्ग

जैसे रातके बीये पहर अर्थात् मास मुहूर्तमें बुद्धिकी नयापन मिल जाता है वैसे ही कुशको कुमुदतीसे अतिथि नामका पुत्र प्राप्त हुआ ॥ १ ॥ जैसे तेजस्वी सूर्य अपने प्रकाशसे उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओंको पवित्र कर देता है, वैसे ही सुशिक्षित अतिथिने माता और पिताके दोनों कुलोंको पवित्र कर दिया ॥ २ ॥ पिता कुशने पहले उसे आन्धीबिन्ही, शत्रु, घातों और दण्डनीति से धारों विद्यार्थ सिखाई फिर राजाओंकी कन्याओंसे उसका विवाह करा दिया ॥ ३ ॥ अतिथि भी कुशके समान ही बुजुर्ग, शूर और जितेन्द्रिय थे इसलिये कुश अपने पुत्रको अपना ही दूसरा रूप समझते थे ॥ ४ ॥ अपने कुलकी अजनके अनुसार कुश भी एक बार युद्धमें इन्द्रकी सहायता करने गए । वहाँ शक्तिशाली दुर्जय नामके राक्षसको मार कर ये द्वय भी वर मतिकी प्राप्ति हुए ॥ ५ ॥ जैसे कुमुदकी सिलानेवाले चन्द्रमाके अस्त होनेके साथ-साथ चान्दी भी क्षिप्त जाती है, वैसे ही नागराज कुमुदकी पदम कुमुदती भी कुशके साथ ही सती हो गई ॥ ६ ॥ कुशको तो इन्द्रके सिंहासनका आधा भाग मिला और कुमुदती जाकर इन्द्राकी साथ पारिजातमें आधा भाग ले बैठी ॥ ७ ॥ सदाईमें जाते समय कुशने जो आज्ञा दी थी उसके अनुसार मंगियोंने उनके पुत्र अतिथिकी राजा बनवाया ॥ ८ ॥ मंगियोंने उसके अभिप्रेक्षके लिये पारोग्योंसे चार रथोंका गया मद्यप बनवाया ॥ ९ ॥ राजाने भद्रपीठपर धरे हुए राजा अतिथिकी सोनेके चढ़ाईमें भरे हुए तीर्थोंके जलसे नहलाया ॥ १० ॥ थाप पदनेपर गुरुद्वय आदि चार्णोंसे जो मोटा धीरे गर्भार शब्द निकल रहा था वह वह सूपनः दे रहा था कि राजा अतिथिदा सदा कल्याण होगा ॥ ११ ॥ दूध, जीके चढ़ाए तथा चर्चों घाल होनेमें रत्नकर कुशके चढ़ाईमें जो आरतों की, उमें राजा अतिथिने पद आदरसे रथोंकर किया ॥ १२ ॥

पुरोहितपुरोगास्तं जिपुं जैत्रैरथर्वभिः । उपचक्रमिरे पूर्वमभिपेक्तुं द्विजातयः ॥१३॥
 तस्यौषमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचन । सशब्दमभिपेकृश्रीर्गङ्गे त्रिपुरद्विपः ॥१४॥
 स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स चन्दिगिः । प्रत्यूह इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः १५
 तस्य सन्मन्त्रपूनाभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः । चतुधे वैद्युतस्याध्वैर्घृष्टिसेकादिव द्युतिः १६
 स तावदभिपेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु । यावतैषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः १७
 ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिपमुदैरयन् । मा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पथान्कृता फलैः १८
 बन्धच्छेदं स बद्धानां वधाहाण्यामवष्यताम् । धुपर्णां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्भवाम् १९
 क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुक्रादयः । लब्धमोक्षास्तदादेशावधेष्टगतयोऽभवन् २०
 ततः फक्ष्यानन्तरन्यस्तं गजदन्तामनं शुचिः । सोत्तरच्छ्रदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः २१
 तं धूपारयानकेशान्तं तोयनिर्णितपाणयः । आरुण्यसाधनैतैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः २२
 तैऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम् । प्रत्यूषुः पञ्जरानेख प्रमामण्डलशोभिना २३
 चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना । समापथ्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥२४॥
 आयुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुह्लरान् । आगौदतिशयप्रक्षयः स राज्यश्रीवधुवरः ॥२५॥

तत्र पुरोहितजीको आगे ऊरके माझण आए श्रीर उन्होंने विजयो राजाको अथर्ववेदके उन मन्त्रोंको पढ़कर
 नहलाता प्रारंभ किया चिनसे विजय प्राप्त होती है ॥ १३ ॥ उनके सिरपर गिरती हुई अभिपेकके
 जलकी धारा ऐसी सुन्दर लगता थी मानो शिवजीके सिरपर गङ्गाजीकी धारा गिर रही हो ॥ १४ ॥
 उस समय माट श्रीर चारण जब उनका चिरद यथानने लगे तो ऐसा लगता था मानो बहुतसे चानक
 मिलकर वादकके गुण या रहे हों ॥ १५ ॥ मन्त्रोंसे पवित्र हुए जलसे स्नान करने समय उनके
 शरीरका तेज जैसे ही बढ़ गया जैसे वर्षाके जलसे मिजलीकी धमक बढ़ जाती है ॥ १६ ॥ अभिपेकके
 पश्चात् उन्होंने यह करानेवाले माताजीको इतना धन दिया कि उस धनसे वे स्वयं गहरी दक्षिणा दे
 देकर अपना एक एक घर कर सकते थे ॥ १७ ॥ माताजीने प्रसन्न होकर उन्हें जो आशीर्वाद दिया
 उस आशीर्वादकी फलीभूत होनेके लिये बहुत दिन देवने पड़े क्योंकि आशीर्वादके समय तो राजा
 अतिथि अपने पूर्व जन्मके सरङ्गों का ही पत्र भोग रहे थे, आशीर्वादका फल तो उस फलके समाप्त
 होनेपर प्रारंभ होता ॥ १८ ॥ राजभविष्यकी प्रसन्नतामें अतिथिने आज्ञा दी कि चन्दिर्वाकी
 छोड़ दिया जाय, मृत्यु दण्ड पाए हुए मारे न लार्थ, दोसा होनेवाले पशुओंके कन्धेपरसे छुए उतार
 लिए जायें और गौर्षोंका दूध चण्डोंको पीनेके लिये छोड़ दिया जाय ॥ १९ ॥ उनकी आज्ञासे विजयके
 सुमे आदि पक्षी भी छोड़ दिए गए जो अपने मनसे हवर-उपर उड़ने लगे ॥ २० ॥ तब यह
 अपना राजसी सिंगार करानेके लिये हाथी दौतके बने जिहासमपर मैदा, जो राजभवनमें एक ओर
 रक्ता हुआ था और जिसपर बिलारुम दिडा हुआ था ॥ २१ ॥ सिंगारियोंने स्वयं हाथों से, धूपसे
 सुगन्धित केशवाले राजा अतिथिकी सत्र प्रकारसे सजा दिया ॥ २२ ॥ फूल और मोतियोंकी मालाओंसे
 सुँधे हुए राजाके सिरपर उन्होंने यह पद्मरागमणि बंधी जिसकी सुन्दर धमक चारों ओर फैल
 गई ॥ २३ ॥ तब उन्होंने कल्त्रोंमें बसे हुए चन्द्रका अग्रयाग समाकर गौरोचनसे राजाका मुँह
 धोता ॥ २४ ॥ शाभूषण श्रीर माया पहने हुए, दस घण्टा हुआ दुपटा ओढ़े हुए रम्या अतिथि उस

नेपथ्यदर्शिनश्चाया तस्यादर्शे हिरण्यमे । विरराजोदिते सूर्ये भोरौ कल्पतरोरिव २६
 स राजककुदन्वग्रपाणिभिः पार्ष्ववर्तिभिः । ययायुदीरितालोकः सुधर्मानिवमां समाम् २७
 वितानसहितं तत्र मेजे, पैतृकमासनम् । चूडामखिमिरुद्रुष्टपादपीठं महीक्षिताम् २८
 शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् । श्रीवत्सलक्षणं वक्षःकौस्तुभेनेव कैशवम् २९
 वभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः । रेखाभावाद्गुणरुढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः ३०
 प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् । मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ३१
 स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् । क्रममाण्यश्वकार द्यां नागेनैरापतौजसा ॥३२॥
 तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्ध्नि तेनामलत्विषा । पूर्वराजद्वियोगौघ्न्यं कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ।
 धूमादग्रेः शिखाः पश्चाद्गुदयादर्शवो रवेः । सोऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुणैः ।
 तं प्रीतिविशदैनैर्नैरन्वयुः पौरयोपितः । शरत्प्रसन्नैज्योतिर्मिर्विभाष्य इव ध्रुवम् ॥३५॥
 अयोध्यादेवतारश्मैर्न प्रशस्तायतनार्चिताः । अनुदध्पुरुनुध्येयं सान्धिष्यैः प्रतिमागतैः ३६।

समय ऐसे सुन्दर दिखाई देते थे मानो राजलक्ष्मणरूपी बहूके दृष्टे हों ॥ २५ ॥ सोनेकी चौलटवाले
 दुर्घर्षमें जब वे अपनी सजावट देखने लगे उस समय उनका प्रतिबिम्ब ऐसा खत रहा था मानो
 सूर्योदयके समय सुमेरु पर्वतपर कल्पवृक्षका प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो ॥ २६ ॥ तब वे अपनी उस सभा-
 की ओर चले जो किसी भी प्रकार देवताओंकी समासे कम नहीं थी । उनके पीछे पीछे पहलसे सेवक
 हाथसे चंबर हुलाते और जय शयकार करते चल रहे थे ॥ २७ ॥ वहाँ पौदीवा लगे हुए अपने पूर्व
 पुरखोंके सिंहासनपर बे जा बैठे । उनके पीरके नीचे जो पीड़ा रक्खा था वह प्रणाम करनेवाले राजाओंके
 सिरली मणियोंकी रमाइसे घिस गया था ॥ २८ ॥ जैसे भृगुके चरणको चोटसे बने हुए श्रीकृष्णके
 चिह्नवाला विष्णुका पप, स्थल कोस्तुभमण्डिसे चमक उठता है वैसे ही राजा अतिथिके बैठनेसे यह
 सभा नवन भी जगमगा उठा ॥ २९ ॥ राजा अतिथिके सुवराज बननेका धवसर ही नहीं आया
 क्योंकि वे कुमार अवस्थाके पश्चान् गुरन्त ही महाराज हो गए, मानो एक कलावाले चन्द्रमामें गुरन्त
 सोलहों कलाएँ धा गई हों ॥ ३० ॥ उनका मुख सदा प्रसन्न रहता था, और वे सयसे हँसकर बोलते
 थे इसलिये उनके सेवक उन्हें साधवत् विश्वासके समान मानते थे ॥ ३१ ॥ इन्द्रके समान ऐश्वर्यशाली
 राजा अतिथि जब ऐरावतके समान यलवान हाथीपर शयकर अयोध्यामें घूमने निकले तब कल्पवृक्षके
 समान ध्वजाओंवाली अयोध्या नगरी स्वर्गके समान लगने लगी ॥ ३२ ॥ यद्यपि राक्ष-घ्नर वैजय
 अतिथिके सिरपर ही लगा हुआ था पर उस श्वेत रंगके छत्रने सारे संसारके उस तापको दूर कर
 दिया जो वृक्षके जियोगसे उदपन्न हो गया था ॥ ३३ ॥ आगनी छपट बुद्धों निकलनेके पीछे उठती
 हैं और किरणें सूर्यके उदय होनेके पीछे दिखाई देती हैं पर अतिथिने इन तेजदिव्योंके नियमोंकी भी
 उलट दिया, क्योंकि उनके गुण उनके राजा बननेके साथ साथ प्रकट हो गए ॥ ३४ ॥ जैसे शब्द
 आगनी निर्मल राखोंके सारे धु घटे चारों ओर घूमते हैं, वैसे ही नगरीके जियोंकी प्रेम भरी चालें
 अतिथिपर खट्ट हो गई ॥ ३५ ॥ अयोध्याके यदे यदे मन्दिरोमें जिन देवताओंकी पूजा की गई
 उन्हींमें अपनी मूर्तियोंमें बैठेपैठकर कृपाके योग्य राजा अतिथिपर बड़ी कृपा थी ॥ ३६ ॥

यावन्नास्यायते वेदिरभिपेरुत्रलाप्लुता । तावदेवास्य वेलान्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ॥३७॥
 वशिष्ठस्य गुरोर्मन्याः सायकान्तस्य धन्विनः । किं तत्ताव्यं यदुभये सावयेयुर्न संगताः ।
 स धर्मस्यसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् । ददर्श संशयच्छेद्यान्वधहारानतन्द्रितः ३९।
 ततः परमभिन्पक्तप्रौमनस्यनिवेदितैः । युयोज पाताभिमुखैर्भृत्पान्विज्ञापनाकलैः ॥४०॥
 प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो नभसेऽ विवर्धिताः॥ तस्मिंस्तु भूयसीं वृद्धिं नभस्ये ता इवाययुः ४१
 यदुवाच न तन्मिथ्या यद्दौर्न जहार तत् । सोभूञ्जनवतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ४२।
 वयोहूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् । तानि तस्मिन्तमस्तानि न तस्योत्सिपिचे मनः ४३
 इत्य जनितरागासु प्रकृतिप्लनुवासरम् । अलोभ्यः स नवोऽप्यासीद्दृढमूल इव द्रुमः ४४।
 अनित्याः शत्रवो बाह्य विप्रकृष्टाश्च ते यतः । अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान्पूर्वमजयद्विपून्
 प्रसादाभिमुखे तस्मिंश्चपलापि स्वभावतः । निकपे हेमरेखेन धीरासीदनपापिनी ४६।
 कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं स्वापदचेष्टितम् । अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाम्यामन्वियेष सः।
 न तस्य मण्डले रात्रौ न्यस्तप्रणिधिदीधितेः । अदृष्टमभवर्तिकिद्व्यचप्रस्येव विवस्वतः ४८

शमी अभिषेकके जलसे भीगी हुई वेदी सूजने भी न पाई थी कि उनका दुस्सह प्रताप समुद्रके तटतक पहुँच गया ॥ ३७ ॥ गुरु वशिष्ठके मन्त्र और धनुषधारी राजाके साथ दोनोंने, कोई ऐसा कार्य नहीं था जिसे मिलकर पूरा न कर सका हो ॥ ३८ ॥ धर्माभ्यासोंके मित्र राजा अतिथि, आलास्य छोड़कर बाढ़ी-प्रतिवादिश्योंके वेबीदे भगदे स्वय निपटाते थे ॥ ३९ ॥ जैसे वृक्षको फूला हुआ देखकर यह जान लिया जाता है कि इससे हतने फल मिलेंगे वैसेही राजा अतिथिके प्रसन्न मुखको देखकर ही उनके सेवक जान जाते थे कि हमें हतना धन मिलेगा ॥ ४० ॥ दुःसहके समयमें जो प्रजा सावकी मदके समान भरी-पूरी थी वह फिर अतिथिके राज्यमें मारोकी नर्शके समान थीर भी अधिक उतराने लगे ॥ ४१ ॥ राजा अतिथिने मुँहसे जो कह दिया उसे पूरा कर दिखाया, जिसे जो दे दिया उससे फिर लिया नहीं । पर हाँ, शत्रुओंकी उबाड़पर उन्हें फिर जमाते समय उन्होंने यह नियम तोष दिया था ॥ ४२ ॥ जीवन, सौन्दर्य और पेशवर्ष, इनमेंसे एक भी वस्तु मिलके पास होती है वह मतवाला हो जाता है. पर राजा अतिथिके पास में सभी थे फिर भी उन्हें अभिमान छू तक न गया था ॥ ४३ ॥ इस प्रकार प्रजा उसने दिन पर दिन अधिक प्रेम करने लगी और नये राजा होनेपर भी वे गहरी जड़वाले वृक्षके समान घबल हो गए ॥ ४४ ॥ यह सोचकर कि बाहरी शत्रु तो सदा होते नहीं और होते-भा हैं तो दूर रहते हैं, इसलिये उन्होंने शरीरके भीतर सदा रहनेवाले काम आदि दुष्टों शत्रुओंको पहले ही जीत लिया ॥ ४५ ॥ स्वभावसे घबल खपमी भी प्रसन्न मुखवाले अतिथिके पास आकर उसी प्रकार घबल होकर बैठ गई जैसे कसौटीपर यनी हुई सोनेकी लकौर पकी होकर बैठ जाती है ॥ ४६ ॥ केवल वृद्धनीजिसे काम लेना कठोरता है और मारकासे जोरना द्विमक पशुओंका स्वभाव है, इसलिये उन्होंने वृद्धनीति और मारकाट दोनोंको मिलाकर शत्रुओंको जीता ॥ ४७ ॥ जैसे गुले आकारमें सूटीकी किरणोंके फैल जानेसे कुछ भी दिया नहीं रह जाता, वैसे ही अतिथिने चारों ओर दूलाभा देखा जाल विद्या दिया कि प्रजाकी कोई बात बनने लियी

रात्रिदिवविभागेषु यदादिष्ट महीक्षिताम् । तस्तिपथे नियोगेन स विकल्पपराध्रुवः ॥४९॥
 मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य वभूव सह मन्त्रिभिः । स जातु सेव्यमानोपि गुप्तद्वारो न सूचयते ॥५०॥
 परेषु स्वेषु च क्षिप्रैरविज्ञातपरस्परैः । सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ॥५१॥
 दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यसंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् । न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरिगुहाशयः
 भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः । गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे ।
 श्रपथेन प्रवृत्ते न जातूपचितोऽपि सः । वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥५४॥
 कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः । कस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ५
 शक्येष्वेवाभवधात्रा तस्य शक्तिमतः सतः । समीरणसहायोऽपि नाम्मःप्रार्थी दवानलः ।
 न धर्ममर्थकामाम्यां वधाधे न च तेन तौ । नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥५७॥
 हीनान्यनुपकर्तृणि प्रवृद्धानि विकुर्वते । तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः ।

नहीं रह पाती थी ॥ ४८ ॥ शास्त्रोंने राजाओंके लिए दिन और रातके जो कर्तव्य निर्धारित किए हैं उन सबको राजा अतिथि विश्वासके साथ नियमपूर्वक पालते थे ॥ ४९ ॥ वे प्रतिदिन मन्त्रियोंके साथ राज्यकी बातें करते थे, पर वे धार्ते इतनी गुप्त रखी जाती थीं कि प्रतिदिन व्यवहारमें धानेपर भी किसीको उनका पता नहीं चलता था ॥ ५० ॥ उन्होंने अपने कर्मचारियों तथा शत्रुओंको भेद जाननेके लिये ऐसी चतुराईसे उनके पीछे दूत लगा रखे थे कि वे दूत भी आसन्नमें एक दूसरेको नहीं पहचान पाते थे । उन दूतोंसे सब समाचार मिलते रहनेके कारण वे सोते हुए भी गाने जागते रहते थे ॥ ५१ ॥ यद्यपि वे युद्धमें ही शत्रुओंको घेते थे, फिर भी उन्होंने राजधानीके चारों ओर घट्ट वड़े-वड़े दुर्ग बनावा दिए थे क्योंकि हाथियोंको मारनेवाला सिंह शुष्कमें हाथियोंके भयसे नहीं सोता है वरन् उसका स्वभाव ही वैसा होता है ॥ ५२ ॥ वे जो काम करते थे सब कल्याणकारी होते थे । वे कोई काम करनेके पहले उसपर भलीभाँति विचार भी कर लेते थे । इसलिये उसमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पड़ती थी । जीवे धानका दाना गीतर ही गीतर पक जाता है वैसे ही उनका काम भी गुप्त रूपसे ही प्रारम्भ होकर पूरा हो जाता था । ॥ ५३ ॥ ऐश्वर्यशाली होकर भी उन्होंने छोटे मार्गमें पैर नहीं धरा क्योंकि जगत्के समय भी जय समुद्र यदता है तब नदियोंके मार्गसे ही चला है दूसरे मार्गसे नहीं ॥ ५४ ॥ उनमें इतनी शक्ति थी कि प्रजामें यदि किसी कारण असंतोष हो तो उसे पण भरमें दूर कर दें पर उन्होंने प्रजामें कोई ऐसा असंतोष उत्पन्न ही नहीं होने दिया जिसे दूर करनेकी आवश्यकता पड़े ॥ ५५ ॥ वे शक्तिमान थे इसलिये शक्तिशाली राजाओंपर ही चढ़ाई करते थे, दुर्बलोंपर नहीं । क्योंकि वायुकी सहायता मिलनेपर भी धर्म लगी हुई प्रायः धर्मको नहीं जलाती ॥ ५६ ॥ उन्होंने धर्म और कामके लिये कभी धर्मकी नहीं छोड़ा और धर्मसे वैचकर धर्म और कामको नहीं छोड़ा और न धर्मके कारण कामको वा कामके कारण धर्मको छोड़ा वरन् धर्म, धर्म और काम दोनोंके साथ वे पूर-सा व्यवहार करते थे ॥ ५७ ॥ यदि नीच मित्र मिल जाते हैं तो कुछ न कुछ नोट धरकर करवे हैं, यदि धनी मिल जाते हैं तो कुछ न कुछ बाधा डालते हैं, इसलिये उन्होंने ऐसे लोगोंकी मित्र बनाया जो न नीच ही थे न धनी ही

परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम् । यथावेभिर्वलिष्ठश्रेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा
 कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः । अम्बुगर्भो हि जीमूतधातकैरभिनन्द्यते ॥६०॥
 परकर्मापहः सोऽभूद्यद्यतः स्वेषु कर्मसु । आबृणोदात्मनो रन्त्रं रन्ध्रेषु प्रहरन्निभून् ॥६१॥
 पित्रा सः वर्धितो नित्यं कृनाम्नः सांपर्यायिकः । तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिश्रियत
 सर्पस्वैव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः । स चर्कप परस्मात्तदयस्कान्त इत्रायसम् ६३
 चापोष्विव स्रग्न्तीषु बनेषूपवनेष्विव । सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेह्वैरंशमस्वित्वाद्रिषु ६४
 तपो रत्नस्य विद्योभ्यस्तस्करेभ्यश्च संपदः । यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि पडंशमाक् ६५
 खनिभिः सुपुत्रे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं बनेर्गजान् । दिदेश वेतनं तमै रचासदृशमेव भूः ६६
 स गुणानां बलानां च पणानां पणमुरखविक्रमः । बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ६७
 इति क्रमात्प्रपञ्चानो राजनीतिं चतुर्विधाम् । आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ।
 कृत्युद्धविधिज्ञोऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि । भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी
 प्रायः प्रतापमन्नत्वाद्रीणां तस्य दुर्लभः । रथो गन्धद्विपरस्येव गन्धमिन्नान्यदन्विनः ७०
 प्रवृद्धो हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः । स तु तत्समष्टद्विश्च न चाभूत्ताविषक्षणी

धे ॥ ५८ ॥ यदाई करनेके पहले वे अपने और अपने शत्रुके बल और युक्तिको मन्त्री भौति तौस लेते
 थे । जब शत्रुसे अपना बल अधिक देना तभी उसपर आक्रमण किया नहीं तो चुप बैठे रहे ॥ ५९ ॥
 उन्होंने इसलिये धन इकट्ठा किया कि एक तो इससे आदर होता है और दूसरे, जिन लोग आन्तर
 आश्रय लेते हैं वहाँके शासक उन्हें आदरको स्वागत करते हैं जिनमें पार्ष्णी मत्ता होता है ॥ ६१ ॥
 शत्रुको बलीग नष्ट करके वे अपने उद्योगमें लग गए । उन्होंने शत्रुको दोषका लाभ उठाकर
 उन्हें नष्ट कर दिया और अपने दोषको दूर कर लिया ॥ ६१ ॥ कुशके प्रपदसे ही यही हुई शकास्य
 बलाना माननेवाली और युद्ध करनेमें सस्यं जो उनकी सेना थी उसे दण्डपर अतिथि अपने उस शरीरके
 समान ही प्यार करते थे ॥ ६२ ॥ जैसे सर्पके सिरसे मणि नहीं निकाली जा सकती वैसे ही शत्रु इनके
 प्रभाव, उत्साह और मन्त्र इन तीन शक्तिषुको अपनी शरीर नहीं खींच सके । पर जैसे कुम्भक लोहेको
 अपनी शरीर खींच लेता है वैसे ही उन्होंने शत्रुको उन तीनों शक्तिषुकी अपनी
 शरीर खींच लिया ॥ ६३ ॥ अतिथिः इतरः प्रताप या कि व्यापारी लोग ऐसे थे शेरुद्रोक्त व्यापार
 करते थे कि नदियाँ उनके लिए बाजारियाँ जैसी धरेल, वन भी उद्यान जैसे सुखकर, और पहाड़ अपने
 भवम जैसे सुगम हो गये ॥ ६४ ॥ उन्होंने दिशासे सपत्नियोंके लक्ष्मी रक्षाकी, पौरासे प्रजाकी सन्त-
 तिको पचाया और चारों आश्रमों तथा चारों वर्णोंसे उनके धनके अनुभार पुत्र भाग पाया ॥ ६५ ॥
 जिस प्रकार वे रथा कर रहे थे उस प्रकार पुत्री भी उन्हें ऐश्वर्य देती जा रही थी । खानेने रत्न
 दिए, सेताने अन्न दिया और घनेने उन्हें हाथी दिए ॥ ६६ ॥ कार्तिकेयके सामान् पराक्रमी राजा
 अतिथि यह भलोभौति जानते थे कि [सन्धि, विमद, यान, आसन, संग्रह और देवीभाव इन]
 छ राजगुणोंको कैसे व्यवहारमें लाया चाहिये, तथा छः प्रकारकी सेनाओंके साथ कैसा यत्न करना
 चाहिये ॥ ६७ ॥ इस प्रकार साम दाम दण्ड भेद इन चार उपायोंके साथ राजनीति चलाते हुए
 उन्होंने मन्त्रियों आदिको सहायतासे उन उपायोंका निर्बिघ्न फल पा लिया ॥ ६८ ॥ वे कष्ट युद्ध भी
 जानते थे पर युद्धक्षेत्रमें वे धर्मकी लड़ाई ही लड़ते थे, इसलिये शरीरकी सखी विजयधी उनके पास
 शक्तिरिहाते समान चुम्बके पहुँच जाती थी ॥ ६९ ॥ युद्ध-क्षेत्रमें अतिथिको देखते ही शत्रुको
 पुत्रके छूट जाते थे और वे प्राण डेर भाग पड़े होते थे, इसलिये जैसे बिना मदपाते हाथी, मतवाले
 हाथीसे नहीं लड़ पाते वैसे ही प्रतापी राजा अतिथिसे लड़नेका कोई साहस ही नहीं करता था ॥७०॥
 एत वद चुम्बनेपर चन्द्रमा धरने लगता है और समुद्रकी भी यही दशा होती है, पर अतिथिके स च

सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः । उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दान्त्वमर्थिनः ७२
 स्तूयमानः स जिह्वाय स्तुत्यमेव समाचरन् । तथापि बधूधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः
 दुरितं दर्शनेन घ्नंस्तत्त्वार्येन मुदंस्तमः । प्रजाः स्वतन्त्रपांचक्रे शश्वत्सूर्यं हबोदितः ॥७४॥
 इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदंशयः । गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ७५
 परामिसंधानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् । जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥७६॥
 एवमुद्यन्त्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना । वृषेव देवो देवानां राजा राजा बभूव सः ॥७७॥
 पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः । भूतानां महतां पृथमष्टमं कुलभृताम् ॥ ७८ ॥
 दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनापिताम् । दधुः शिरोभिर्भूपात्ता देवाः पौरंदरीमिव ७९
 ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ । यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ८०
 इन्द्राद्दृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभूद्यदोनाथः । शिवजलपथः कर्मणे नौचरायाम् ।
 पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोपवृद्धिं कुवेरस्तस्मिन्दण्डपोनतचरितं मेजिरे लोकपालाः ॥८१॥

इति महाकविश्रीकालीदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
 अतिथिवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥

पह बात उलटी थी । ये चन्द्रमा और समुद्र के समान बड़े तो सही पर उनके समान घटे नहीं ॥७१॥
 जैसे बिना पानीके मेघ समुद्रके पास जाते हैं और धड़ उन्हे इतना जल दे देता है कि वे संसार
 भरको जल बाँटने लगते हैं, वैसे ही जो बहुतसे निर्धन विद्वान् अतिथि के पास जाते थे उन्हे ये इतना
 धन दे देते थे कि वे विद्वान् स्वयं भी दूसरोंको दान देने लगते थे ॥ ७२ ॥ उनके समी काम प्रशं-
 साके योग्य होते थे पर जब कोई उनका प्रशंसा करता या तब वे खुशचा जाते थे पर प्रशंसाकी इच्छा
 न करनेपर भी उनका पश बढ़ता ही गया ॥ ७३ ॥ जैसे निकलते हुए सूर्यके दर्शनमे पाप दूर हो
 जाते हैं वैसे ही उनके दर्शनसे पाप भाग जाते थे । वे ज्ञानी भी थे इसलिए वे दूसरोंको तरब-ज्ञान
 सिराकर भ्रमज्ञानका शंभेरा भी मिश्रते थे । इसलिये उन्हे ज्ञानकी सब प्रकारसे धपनी मुझीमे कर
 लिया ॥ ७४ ॥ चन्द्रमाकी किरण कमलोंमें तथा सूर्यकी किरण कुमुदोंमें नहीं पैठ जाती, पर अति-
 थिहे गुणोंने शत्रुओंके हृदयमें भी धर कर लिया था और शत्रु भी उनके गुणोंका लोहा मानते थे ॥७५॥
 धरबमेधके लिए जब ये दिग्विजय करने निकले तब इनका काम यद्यपि शत्रुओंको जित-तिस प्रकार
 हराना हो था पर उस समय भी उन्हे धर्मसे ही काम लिया, कृदनीति धयता पत्रसे नहीं ॥ ७६ ॥
 इस प्रकार शाश्वतके अनुसार चलनेसे अतिथिका प्रभाव यह गया और जैसे इन्द्र देवताओंके देवता हैं
 वैसे ही वे भी राजाओंके राजा हो गए ॥ ७७ ॥ इन्द्र आदि चारों ऋषयोंके समान पराक्रम होनेके
 कारण लोग उन्हे पूर्वोक्त लोकपाल कहने लगे थे [वृषकी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन] पांचो
 तावके समान महान होनेके कारण लोग उन्हे पृथु सार कहते थे और हिमालय आदि सात कुल
 परतोंके समान विराजल होनेके कारण ये आठवें कुल परत कहलाते थे ॥ ७८ ॥ जैसे देवता लोग
 इन्द्रकी आज्ञा मानते हैं वैसे ही राजा लोग भी अपने धर्म उदारपर उनकी आज्ञा अपने सिर-मथे चढ़ाते
 थे ॥ ७९ ॥ धरबमेधके समय जिन न क्षत्रियों यशु करया था उनका अतिथिने इतना सहाय किया कि
 लोग इन्हे भी दूसरा कुवेर कहने लगे ॥८०॥ इन्द्रने उनके साध्याज्यपा सर्ग की, यमराजने रोषोका बढ़ना
 रोका, धरयने नाच चलानेयाज्यके लिये जलके मार्ग खोज दिए और कुवेरने इनका राज-कोश भर
 दिया । इस प्रकार इन्द्र आदि लोकपाल माने इनके प्रतापसे ही धरकर इनकी सेवा कर रहे थे ॥८१॥

महाकवि श्रीकालिदासके रहे हुए रघुवंश महाकाव्यमें अतिथि-वर्णन

नामका सप्तदश सर्ग समाप्त हुआ ।

अष्टादशः सर्गः

स नैषधस्यार्थपतेः सुतापामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः ।
 अनृनसारं निषधाद्यगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥ १ ॥
 तेनोहरीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्पमाख्येन ननन्द यूना ।
 सुदृष्टियोगादिषु जीयलोकः सख्येन संपत्तिफलोन्मुखेन ॥ २ ॥
 शब्दादि निर्निश्य सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः ।
 कौमुद्वतेयः कुमुदानदातैर्धामजितां कर्ममिराहरोह ॥ ३ ॥
 पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।
 एकातपनां भुवमेकरीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥ ४ ॥
 तस्थानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशधियं प्राप नलाभिधानः ।
 यो नडवल्लानीय गजः परेषां वलान्यमृट्टान्नलिनामयक्तूः ॥ ५ ॥
 नमश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नमस्तलरयामतनुं तनूजम् ।
 ख्यातं नमःशब्दमयेन नाम्ना कान्तं नमोमासपिन प्रजानाम् ॥ ६ ॥
 तस्मै तिसृज्योत्तरकोशलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभूत्तम् ।
 मृगैरजयं जरसोपदिष्टमदेहवन्धाय पुनर्नन्द ॥ ७ ॥

अठारहवाँ सर्ग

शत्रुघ्नोका नाम करनेवाले राजा अतिथि की राणी निषध-राजका पुत्री थीं । उस राणीसे अतिथिने निषध पर्वतके समान बलवान पुत्र उत्पन्न किया और उसका नाम भी निषध रखा ॥ १ ॥ जैसे समयकी वर्षासे फले हुए घनाजके पेतोंको देखकर सत्कारके प्राणी प्रसन्न हो जाते हैं, वैसे ही अत्यन्त प्रतापी युवराज निषधको देखकर राजा अतिथि भी प्रसन्न हुए ॥ २ ॥ कुमुद्वतीके पुत्र अतिथिने बहुत दिनोंतक सुख भोगा और फिर निषधको राजपुत्र सौंपकर अपने पुण्यके बलसे पाप हुए स्वर्गलोकमें सुख भोगने चले गए ॥ ३ ॥ कमलके समान नेत्रवाले, समुद्रके समान गम्भीर चित्तवाले और नगरके गभारण काटकरी शर्ंगलाके समान बड़ा बड़ा बाहोंवाले अद्वितीय धीर निषधने भी सागरतक फैली हुई पृथ्वीका भोग किया ॥ ४ ॥ उनके पीछे उनके अतिके समान तेजस्वी पुत्र गज राजा हुए । उस कमलके समान सुन्दर मुखवाले राजाने शत्रुघ्नके बलके बैसे ही तोड़ बाधा जैसे हाथी नरकटके गढ़के तोड़ बाधता है ॥ ५ ॥ वे इतने पशस्वी थे कि आकाशमें गन्धर्व लोग उनका पथ गाते थे । उन्हें आकाशके समान सर्वत्र नभनामका पुत्र उत्पन्न हुआ जो लोगोंको घेरा ही प्यारा लगा जैसे सावकका मर्दाना ॥ ६ ॥ धर्मोत्तम बलने उस पुत्रको उत्तरकोशलका राज्य सौंप दिया और स्वयं बुद्धावैके कारण जगज्जमें जाकर सृष्टीके साथ इसलिये रहने लगे कि फिर स्वार्थमें जन्म

तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजरयोऽजनि पुण्डरीकः ।
 शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः ॥ ८ ॥
 स क्षेमधन्वानममोधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम् ।
 क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चचार ॥ ९ ॥
 अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत् ।
 व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य ॥ १० ॥
 पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन ।
 पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान्बभूव ॥ ११ ॥
 पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्षचतुष्टयस्य ।
 पुरं निधायैकनिधिर्गुणानां जगाम यज्जा यजमानलोकम् ॥ १२ ॥
 वशी सुतस्तस्य वशंवदस्वात्स्वैपामिवासीद्विपतामधीष्टः ।
 सकृद्विप्रानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणात् प्रहीतम् ॥ १३ ॥
 अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनवाहुद्रविषः शशाम ।
 यो हीनसंसर्गस्पाङ्मुखत्वाद्युवाप्यनर्थैर्व्यसन्नैर्विहीनः ॥ १४ ॥
 गुरोः स चानन्तरमन्तरज्ञः पुंसां पुमानाद्य इवावतीर्थः ।
 उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव ॥ १५ ॥

न लेना पदे ॥ ७ ॥ नभको पुण्डरीक नामका पुत्र हुआ और जैसे हाथियोंमें पुण्डरीक नामका हाथी सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही उस समयके राजाघोमें वे ही सर्वश्रेष्ठ थे । पिताके स्वर्ग चले जानेपर बमल धारण करनेवाली लक्ष्मीने उन्हीं ही विष्णु मानकर वर लिया ॥ ७ ॥ उन सकल धनुषधारी पुण्डरीकने प्रजाका बरपाण करनेमें समर्थ और शान्त स्वभाववाले अपने पुत्र क्षेमधन्वाको राज साँप दिया और स्वयं शान्त होकर जङ्गलमें तपस्या करने चले गए ॥ ९ ॥ उस क्षेमधन्वाको भी इंद्रके समान पुत्र हुआ जो सुदमें तेनाके घामे घामे चलता था और जिसका देव शब्दसे आरम्भ होनेवाला और अनीक शब्दसे अन्त होनेवाला देवानीक नाम स्वर्गमें भी प्रसिद्ध हो गया ॥ १० ॥ जैसे इस विष्णुके पुत्रको पाकर क्षेमधन्वा सुपुत्रवान हुए, वैसे ही पुत्रको प्यार करनेवाले पिताको पाकर देवानीक भी पितापाले हुए ॥ ११ ॥ बड़े-बड़े पक्ष करनेवाले गुणी क्षेमधन्वा अपने ही समान तेजस्वी पुत्रको चारों बरोंकी रक्षाका भार साँपकर स्वर्ग चले गए ॥ १२ ॥ उनके त्रिवेन्द्रिय पुत्र देवानीक इतना मधुर बोलते थे कि शत्रु भी उनका पैया ही आदर करते थे जैसे मित्र । क्योंकि मधुर बचनमें पैया प्रभाव होता है कि एक बार टराए हुए हरिण भी यशमें हो जाते हैं ॥ १३ ॥ देवानीकके पुत्रका नाम अहीनग था । उनके बाहें बड़ी शक्ति शक्तिनी थीं । उन्होंने कमी गोंध कोनोंका साथ नहीं दिया, इसलिये स्पसनेसे दूर रहकर मुनाधामे ही वे मागी पूर्णपर शासन करने लगे ॥ १४ ॥ वे बड़े चतुर थे और सबके मनकी बातें जान लेते थे । पिताके पीछे राजा होकर वे मरुतलाके साथ राम-शाम-दंड भेदका प्रयोग करके शोध ही विष्णुके समान चारों दिशाओंके

तस्मिन्प्रयाते परलोकगत्रां जेत्यरीणां तनयं तदीयम् ।
 उच्चैःशिरस्त्वाज्जितपारियात्रं लक्ष्मीः सिपेवे किल पारियात्रम् ॥१६॥
 तस्याभवत्सूनुरुदारशीलः शिलः शिलापट्टविशालवक्षाः ।
 जितारिपद्मोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामवज्रदीव्यमानः ॥१७॥
 तमात्मसंपन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव ।
 सुखानि सोऽभ्युक्त सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्रवृत्तम् ॥१८॥
 तं राणवन्धिव्यवितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम् ।
 विलासिनीनामरतिचमापि जरा वृथा मत्सरिणी जहार ॥१९॥
 उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यापधार्योन्नतनामिरन्ध्रः ।
 सुतोऽभवत्पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नाभिर्गुणमसदलस्य ॥२०॥
 ततः परं वज्रधरप्रमाचस्तदात्मजः संयति वज्रघोषः ।
 बभूव वज्राकरभूषणायाः पतिः पृथिव्याः किल वज्रणोमः ॥२१॥
 तस्मिन्गते दां सुकृतोपलब्धां तत्संभवं शङ्खयमर्यावान्ता ।
 उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारेरुदितैः खनिभ्यः ॥२२॥
 तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमश्विरूपः ।
 वेलातटेपृषितसैनिकारवं पुराविदो यं व्युषिताश्चमाद्भुः ॥२३॥

स्वामी हो गए ॥ १५ ॥ उस शत्रुपित्री राजाके स्वर्ग चले जानेपर शत्रोप्यामी राज-लक्ष्मी उनके प्रजापी पुत्र पारियात्रकी सेवा करने लगी जिन्होंने अपने सिरकी ऊँचाईसे पारियात्र पर्यंतकी भी नीचा दिखा दिया था ॥ १६ ॥ उन्हें शिल नामका पहा शीलवान् पुत्र हुआ जिसकी दाती पत्थरकी पटी जैसी पीढ़ी थी । यद्यपि उन्होंने बाणोंसे शत्रुओंको जीत लिया फिर भी स्वयं वे नव ही रहे ॥ १७ ॥ शुद्ध चरित्रवाले पारियात्रने बुद्धिमान् शिलको युवराज बनानेपर ही सुख भोगना प्रारंभ किया । क्योंकि राजा रहते हुए उन्हें इतने अधिक काम थे कि उन्हें सुख भोगनेके लिये थपसर ही कहीं मिलता था ॥ १८ ॥ वे अभी भोगोंसे थकाए नहीं थे और सुन्दरी सिरोंसे भोग कर हो रहे थे कि उन्हें उस बुद्धपावस्थाने आ घेरा जो स्वयं योगने योग्य न होनेपर भी सुन्दरियोंसे स्वर्ध ही ईर्ष्या करता है ॥ १९ ॥ शिलको उन्नाभ नामका प्रसिद्ध पुत्र हुआ जिसका नामि यदरी थी और जो विष्णुके समान पराक्रमी होनेके कारण संसारके सर्वा राजाओंके मुलिया बन गए ॥ २० ॥ उनके पीछे उनके पुत्र वज्रनाभ, हीरेकी सानोंका भूषण पहननेवाली पृष्ठीके स्वामी हुए । वे इंद्रके समान प्रभाववाली थे और सुदृढ़ क्षेत्रमें वज्रके समान गरजते थे ॥ २१ ॥ उन्होंने अपने पुण्यके बलसे स्वर्ग प्राप्त किया और उनके पीछे शंख नामका उनका शत्रुविनाशक पुत्र सारी पृष्ठीका शासक हुआ ॥ २२ ॥ उनके पीछे उनके भरिजनीकुमारके समान सुन्दर और सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र राजा हुए जिन्होंने सब देशोंको जीतकर अपनी सेना और घोषोंको समुद्रके तटपर दक्षिणा दक्षिणे प्रदुर्गते उनका नाम व्युषिताश्व अर्थात् बहुत दूरतक घोषोंको खे जानेवाला रखा ॥ २३ ॥

धाराधय विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।
 पातुं सहो विश्वमस्रुः समग्रां विश्वंभरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥२४॥
 अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते हिरण्यनामे तनवे नयज्ञः ।
 द्विपामस्रुः सुवरां तरूणां हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत् ॥२५॥
 पिता पितृणामनृणस्त्वमन्ते वयस्वनन्तानि सुखानि लिप्सुः ।
 राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती बल्कलवान्भूव ॥२६॥
 कौशल्य इत्युत्तरकोशलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य ।
 तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सव सोम इव द्वितीयः ॥२७॥
 यशोभिरात्रद्वसमं प्रकाशः स ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम ।
 ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम् ॥२८॥
 तस्मिन्कुलापीडनिमे विपीडं सम्यङ्मर्द्दीं शासति शासनाङ्गम् ।
 प्रजाशिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्य ॥२९॥
 पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्ररथेन्द्रकेतोः ।
 तं पुत्रिणां पुष्करपत्रनेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥ ३० ॥
 वंशस्थितिं वंशकरेण तेन संभाव्य भावी स सखा मघोनः ।
 उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौक्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप ॥ ३१ ॥

उन्होंने काशीके विरवेरवाकी धाराधना करके विरवसह नामक पुत्र पाया जो 'संसारमें बने प्रिय हुए
 और जिन्होंने सारी पृथ्वीपर शासन किया ॥ २४ ॥ उस नीतिज्ञ दिग्बलके हिरण्यनाभ नामक
 पुत्र उरपन्न हुआ जो साक्षात् विष्णुका अग्र था। ऐसे पुत्रको पाकर विरवसह राघुओंके लिये वैसे ही भयंकर
 हो गए जैसे वायुकी सहायता पाकर शूर्पोंके लिये अग्नि भयाकर हो उठती है ॥ २५ ॥ जब ये पिताके
 आणसे उभरण हो गए और बहुत सुख भोगकर धृष्टापथमें पुत्रको राज्य देकर धर्म ब्यक्तल पहनकर वनमें
 चले गए उत्तरकोशलके स्वामी और सूर्यकुलके भूषण उन हिरण्यनाभको कौशल्य नामका पुत्र हुआ, जो
 सबकी शीलोकै उसी प्रकार आगन्द देनेवाला था मानो दूसरा चन्द्रमा ही हो ॥२७॥ कीरण्यका यह
 प्रजाकी सभा तक प्रतिद्व ही गया। वृद्धावस्थामें उन्होंने मदिष्ठ नामके अपने मातृजाती पुत्रको राज्य
 दे दिया और स्वयं प्रजा-प्राप्तिके लिये वनमें तप करने चले गए ॥ २८ ॥ भली सन्तानवाले ब्रह्मिष्ठ
 भी अपने कुलके शिरोमणि थे। उन्होंने यही योग्यतसे प्रजाका शासन किया। उनके सुन्दर
 शासनको देखकर प्रजाको आनन्दके शौल्य था जाते थे। उनके शासनमें प्रजा बहुत दिवसक सुख
 भोगती रही ॥ २९ ॥ उनके सुपुत्रने उन्हें पुत्रवानोंका शिरोमणि बना दिया। पिताकी सेवा सुभ्रया
 करनेसे वे बड़े योग्य हो गए थे। वे शष्कपुत्र विष्णुके समान सुन्दर थे और उन कमललोचनका
 नाम भी पुत्र ही था ॥ ३० ॥ विषय-यासनाशौसे दूर रहकर इन्द्रके माथा मिस्र मदिष्ठने अपनी कुल-
 प्रतिष्ठा अपने पुत्र पुत्रको सौंप दी और स्वयं त्रिपुष्कर क्षेत्रमें स्नान करके स्वर्ग चले गये ॥ ३१ ॥

तस्य प्रभानिर्जितपुष्परामं पौष्पां त्रिधौ पुष्पमसूत पत्नी ।
 तस्मिन्नपुष्पन्तुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्प इव द्वितीये ॥ ३२ ॥
 महीं महेच्छः परिकीर्यं सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
 तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥ ३३ ॥
 ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसंधिहर्षीम् ।
 यस्मिन्नभूज्यायसि सत्यसंधे संधिध्रुवः संनमतामरीणाम् ॥ ३४ ॥
 सुने शिशवेव सुदर्शनारूपे दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः ।
 मृगायताद्यो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥ ३५ ॥
 स्वर्गामिनस्तस्य तमैरुमत्पादमात्यवर्गः कुलवन्तुभेकम् ।
 अनाथदोनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनार्थं विधिवच्चकार ॥ ३६ ॥
 नवेन्दुना तन्नमसोपमेयं शार्ङ्गकमिहेन च काननेन ।
 रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत् ॥ ३७ ॥
 लोकेन भाषी पितुरेव तुल्यः संभावितो मौलिपरिग्रहात्सः ।
 दृष्टो हि वृषवन्कलमप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः ॥ ३८ ॥
 सं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरखालम्बितमध्यवेशम् ।
 पङ्कवर्षदेशीयमपि प्रभ्रुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥ ३९ ॥

राजा पुत्रकी पत्नीसे पूषकी पुष्टिमाके दिन पद्मरागमबिसे भी अधिक कान्तिमान पुष्प नामक पुत्र
 हुआ । उसके जन्म होनेसे प्रजा उसी प्रकार अनन्धाम्यसे भरपूर हो गई मगो वृत्तरा पुष्प नक्षत्र ही
 निकल आया हो ॥ ३२ ॥ राजा पुत्र यदे उदार हृदयवाले थे वे संसारमें फिर जन्म लेना नहीं चाहते
 थे इसीलिये उन्होंने श्रुवोका मार अपने पुत्र पुष्पको सौंप दिया और स्वयं जैमिनि ऋषिके शिष्य
 होकर उनसे योग सीखकर आवागमनसे मुक्त हो गए ॥ ३३ ॥ पुष्पके पीछे उनके ध्रुवके समान
 निश्चल पुत्र ध्रुवसमि राजा हुए जिनसे उरकर शशुषोने सन्धि कर ली । उनका शिखा हुआ सन्धिपत्र
 पत्रका होता था क्योंकि वे अथवा वातके धनी थे ॥ ३४ ॥ उनके नेत्र सृगोंके नेत्रोंके समान बढ़े बढ़े
 थे और वे पुरषोने सिंहके समान थे । एक दिन वे जंगलमें गालेड करते हुए मारे गए । उस समय-
 तक द्वितीयाके चन्द्रमाके समान सुन्दर लगनेवाला सुदर्शन नामका उनका पुत्र बालक ही था ॥ ३५ ॥
 उन स्वर्गयामी राजाके मन्त्रियोंने राजाके न होनेसे प्रजाकी दीनदशा देखकर सर्वसम्मतिसे उनके
 हकलीते पुत्र सुदर्शनको विधिपूर्वक साकेतका स्वामी बना दिया ॥ ३६ ॥ इस बातरुसे राजा शुक
 कुल वैसे ही शोभा देने लगा जैसे दिलीपाके चन्द्रमासे आकाश, सिंहके बन्धेसे बन और कमलकी
 कलीसे ताल शोभा देता है ॥ ३७ ॥ उस बालक सुदर्शनने जब सिरपर मुहुट धारण किया सभी
 प्रजाके शोक लिया कि यह पिताके समान ही वैजस्वी होगा, क्योंकि हाथीके बन्धेके समान घोडा
 दिखाई देनेवाला बाइल भी पुरवा पवनका सहाय पाकर चारों दिशाओंमें फैल जाता है ॥ ३८ ॥
 जब वे घुः वर्षके घोड़ेसे राजा हाथीपर चढ़कर राज-मार्गसे निकलते थे तब हाथीबान उनके राजसी

कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय ।
 तेजोमहिम्ना पुनरावृत्तात्मा तद्व्याप चामीकरपिञ्जरेण ॥ ४० ॥
 तस्मादधः किञ्चिद्विवाशतीर्णाश्रिसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
 सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैवन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥ ४१ ॥
 मथौ महानील इति प्रमावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या ।
 शब्दो महाराजइ वि प्रतीनस्तथैव तस्मिन्युयुजेऽर्भकेऽपि ॥ ४२ ॥
 पर्यन्तसंवारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपद्मात् ।
 तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्त्राल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥ ४३ ॥
 निर्घृतजाम्बूनदपद्मशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः ।
 तेनैव शूट्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखधकार । ४४ ॥
 शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूपणेन ।
 नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुमावाद्भुरं धरित्र्या विभरां वभूव ॥ ४५ ॥
 न्यस्ताचरामचरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत् ।
 सर्वांश्च तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दयङ्गीतेः ॥ ४६ ॥
 उरस्यपर्पाशनिवेशमागा प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा ।
 संजातलज्जेव तमातपत्रच्छायाच्छ्लेनोपजुगूह लक्ष्मीः ॥ ४७ ॥

क्योंकि कोनेको धामे रहता था कि कहीं वे गिर न पड़ें। उस समय भी उन्हें देखकर जनता उनके
 पिताके समान ही उनका आदर करती थी ॥ ३९ ॥ वे छोटे थे इसलिये जब वे अपने पिताके
 सिंहासनपर बैठते थे तो वह पूरा भाता नहीं था। पर उनके शरीरसे जो सुवर्णके समान चेत निकलता
 था उससे वह सिंहासन भर सा ही जान पड़ता था ॥ ४० ॥ उस सिंहासनसे उनके पैर लटकते रहते
 थे क्योंकि छोटे होनेके कारण पाद पीठक पहुँच नहीं पाते थे। राजाओंने अपने प्रसिद्ध मुकुटोंसे उन
 महावरलगे पैरोंका चन्दन किया ॥ ४१ ॥ जैसे छोटे होनेपर भी मणिक महानील नाम विरपक नहीं
 होता, वैसे ही वालक राजा सुदर्शनका महाराज नाम भी उन्हें वही पड़ता था ॥ ४२ ॥ उनके आस
 पास चेशर हुआए जाते थे और उनके गालोंपर लट्टे लटकती रहती थीं। इस वाक्त्रक व्यवस्थामें भी
 उन्होंने जो आजाएँ दीं उन्हें समुद्रके तटवर्गे लोगोंने भी नहीं टाला, फिर पास रहनेवालोंकी तो बात
 ही क्या ॥ ४३ ॥ सोनेका पट्टा जैसे हुए अपने ललाटपर वे स्वयं तिलक लगाते थे और सदा हंसमुख
 रहते थे, पर सप्राममें शत्रुओंको नष्ट करके उन्होंने शत्रुओंकी शिपोंके मुलपरका तिलक और उनकी
 सुन्दरादृष्ट दोनों धीन की ॥ ४४ ॥ वे सिरसके कृतसे भी अधिक सुकुमार थे इसलिये यद्यपि उन्हें
 गहने पहननेमें भी कष्ट होता था फिर भी उनमें आत्मशक्ति हलती थी कि उन्होंने
 धृष्टीके अत्यन्त भारी भारको सँभाल लिया ॥ ४५ ॥ अन्ती वे पटियापर भसी भँति
 अक्षर भी लिखना नहीं खाए पाए थे कि विद्वानोंके संगमसे वे दृग्गतीति और राजनीतिकी
 बातें धाते जान गए ॥ ४६ ॥ वालक राजाके हृदयको अभी छोटा रामभद्र क्षत्री

अनश्नुमानेन युगोपमानमवद्वमौर्वीकियलाञ्छनेन ।
 अस्पृष्टसुडगतमरुणापि चामीद्रक्षातती तस्य भुजेन भूमिः ॥४८॥
 न केनलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरानयवा विवृद्धिम् ।
 वंश्या गुणाः खल्यपि लोकरुक्ताः प्रारम्भयुद्धमाः प्रथिमानमापुः ॥४९॥
 म पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निमाव्लेशकरो गुरुणाम् ।
 तिस्रस्त्रिधर्माधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ॥५०॥
 व्यूह स्थितः किंचिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितमव्यजानुः ।
 आरुर्णामाकृष्टमराण्यवन्ना षपरोचनाश्चेषु विनीयमानः ॥५१॥

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मनसिजतरुपुष्पं रागवन्धप्रनालम् ।
 अकृतकप्रिधि सर्वाङ्गीणमारुण्यजातं विलसितपदमाद्यं यौननं स प्रपेदे ॥ ५२ ॥
 प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिमंदंशिताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धगंतानरामैः ।
 अधिविविदुरमात्यैराहुनास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवो राजकन्याः ॥ ५३ ॥

इति महाकविधोकादिदासकृतो रघुवंशे महाकाव्ये
 वंशानुक्रमो नामाष्टादश सर्गं ॥

उनके सुवा होनेको आशा लगाए बैठी थीं पर बाघ बीचमें छत्रकी छाया बनकर उनका आलिङ्गन कर
 हा लेता थीं मानो छोटा पति होनेके कारण उनसे मुलकर गले लगाने में लजा रही हों ॥ ४७ ॥
 यद्यपि उनको भुजा जुएके समान माटी और लम्बो नहीं हुई थीं, धनुषकी दोरी खींचनेसे कड़ी भी नहीं
 हो पाई थी और तलवारकी मूठ भी नहीं छू सकी थी फिर भी उसने पृथ्वीकी रक्षा मलों भौंति कर ली
 ॥ ४८ ॥ कुछ ही दिनों में केवल उनके शरीरके अंग ही नहीं बढ़े बल्कि उनके घे वर परम्परागले
 गुण भी बढ़े जो पहले छोटे ही थे और जो प्रजाको बहुत प्यारे लगते थे ॥ ४९ ॥ उन्होंने धर्म, धर्म
 और काम कर्म देनेवाली शर्पा (तीनों वेद), वाता (रुद्रि) और वृद्धभौंति तीनों विद्याओंकी इतनी
 शीघ्रतासे सीप लिया मानो पूर्व जन्ममें ही ये उन्हें पढ़ चुके हों । साथ ही अपने पिताकी प्रजाकी भी
 उन्होंने अपने वरमें कर लिया ॥ ५० ॥ जब वे धनुषिया सीलते समय अपने शरीरका ऊपरी भाग
 कुछ धामे बढ़ा देते थे, याल ऊपर बांध लेते थे, बाई बांध कुछ कुछ लेते थे और बाण चढ़ाकर
 धनुषकी दोरी कानतक लींचते थे उस समय वे बड़े सुन्दर लगते थे ॥ ५१ ॥ तब सुदर्शनके शरीरमें
 बढ़ जवाना था गई जो खियोंकी खीलोंकी मद्रिा होती है, शरीरको स्वाभाविक खोमा होती है और
 विश्वासका पड़का अद्भुत होता है । ५२ ॥ दूतियों भिन्न भिन्न राजधानियोंमें जाकर सुन्दर सुन्दर
 राजकुमारियोंका चित्र ले आईं और राजको सन्तान होनेकी हृष्यारो मन्त्रियोंने चित्रले बढ़कर सुन्दरी
 उन राजकुमारियोंका महाराज सुदर्शनसे विवाह करा दिया । विवाह हो जानेपर वे सब राजकुमारियाँ,
 राजाकी पहली रानियोंका, पृथ्वीकी और राजलक्ष्मीकी सीतके समान हो गई ॥ ५३ ॥

महाकवि धोकादिदासके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें वंशानुक्रम
 नामका अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

एकोनविंशः सर्गः

अग्निवर्षामभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम् ।
 शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥ १ ॥
 तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः ।
 साँधवासमुदजेन विस्मृतः संचिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥ २ ॥
 लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी ।
 भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥ ३ ॥
 सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काञ्चन स्वयमवर्तयत्समाः ।
 संनिवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत् ॥ ४ ॥
 कामिनोसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
 अद्भिमन्तमधिकद्विरुत्तारः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥ ५ ॥
 इन्द्रियार्थपरिशून्यमचमः सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम् ।
 अन्तरेव विहरन्दिवानिशं न व्यपैवत समुत्सुकाः प्रजाः ॥ ६ ॥
 गौरवाद्यपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ ।
 तद्वाचविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥ ७ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग

विद्वान् राजा सुदर्शनने पुत्रपुत्रेण अग्नि के समान तेजस्वी पुत्र अग्निवर्षाको राजा बना दिया
 और स्वयं नैमिषारण्यमें रहने लगे ॥ १ ॥ वहाँ ये तीर्थ-जङ्गलके आगे घरकी यावलिपोंको, भूमिपर
 विठे हुए कुशके आगे राजसी पलंगको तथा कुटिवाके आगे बड़े बड़े महलोंको भूख गये और फलकी
 हृष्टा जोड़कर तप करने लगे ॥ २ ॥ पित्तले पाई हुई पुरुषोंका पालन करनेमें अग्निवर्षाको कोई कठिनाई
 नहीं हुई क्योंकि उनके पित्तले शत्रुओंको पहले ही हरा दिया था । हमलिये हुई तो केवल भोग
 करनेके लिये ही राग्य भिजा था, रागके शत्रुओंको मिश्रनेके लिये नहीं ॥ ३ ॥ हमका कत यह हुआ
 कि अग्निवर्षा कामुक हो गए । कुछ दिनोंतक तो उन्होंने स्वयं राजकाज देखा पर फिर मन्त्रिपोंपर
 राज्यका भार डालकर क्षत्राणीका रस लेने लगे ॥ ४ ॥ यह कामी राजा कामिनिर्षेके साथ उन भवनों-
 में दिन रात पड़ा रहने लगा । जिनमें बराबर मृदंग बजते रहते थे और प्रतिदिन एक एक बंदक ऐसे
 उल्लस होये रहते थे कि अगले दिनके उसके धूम धकाकेके आगे पहले दिनका उल्लस फौका पड़ जाता
 था ॥ ५ ॥ उने ऐसा चसका लग गया कि यह पण भर भी भोगविज्ञासके विना नहीं रह सकता था ।
 हमलिये यह सदा रजिवासके भीतर रहकर ही विहार करने लगा । उसके दरानके लिये अनन्त आशोर
 रहती थी पर वह कभी उनको सुध नहीं खेता था ॥ ६ ॥ यदि कभी मन्त्रिपों के कड़वे-मुननेमे यह
 प्रजाको बर्षान भी देता तो क्या इतना ही कि आँखिमे एक पैर बाहर करका देता था ॥ ७ ॥

तं कृतप्रख्यतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूपितम् ।
 मेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम् ॥ ८ ॥
 यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाद्य दीर्घिकाः ।
 गूढमोहनगृहास्तदम्बुमिः स व्यगाह्यत विगाहमन्मथः ॥ ९ ॥
 तत्र सेकहतलोचनाञ्जनैर्धौत्ररागपरिपाटलाधरैः ।
 अङ्गनास्तमधिकं व्यलोमयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुल्लैः ॥ १० ॥
 घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः ।
 अभ्यपद्यत स बासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः ॥ ११ ॥
 सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दचममिलेपुरङ्गनाः ।
 तामिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ॥ १२ ॥
 अङ्गमङ्गपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुमे ।
 वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥ १३ ॥
 स स्वयं प्रहृतपुष्करः कृती लोलमाल्यवल्लयो हरन्मनः ।
 नर्तकीरमिनयातिलङ्घिनीः पारर्षधतिषु गुरुन्वलज्जपत् ॥ १४ ॥
 चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदमिन्नतिलकं परिश्रमात् ।
 प्रेमदत्तवदनानिलः पिवन्नत्यजीवदमरालकेश्वरो ॥ १५ ॥

राजकुमारी उनके नखोंकी कालीवाले उस चरणका नमस्कार करके शांतवता करते थे जो प्रयातकी
 लावकरियोंसे भरे हुए कमलके समान था ॥ ८ ॥ वह महाकामी राजा उन यावतियोंमें सुन्दर छियों-
 के साथ विहार करता था जिनमें बिलास-धर भी बने हुए थे । छियोंके ऊँचे स्तन जब बावलीके
 कमलों से टकराते थे तब ये कमल हिलने लगते थे ॥ ९ ॥ जत्रमें स्नान करनेसे जब उन छियोंकी
 शौलिका अञ्जन छूट जाता था श्रीर शोशोंपर लगी हुई आनी पुत्र जाती थी तब उनकी स्वाभाविक
 सुन्दरताको देखकर वह श्रीर भी अधिक मोहित हो उठता था ॥ १० ॥ हाथी जैसे गिरनी हुई
 कमलिनियोंके गन्धसे भरे सरोवरमें हथिनियों के साथ पड़ता है, वैसे ही अश्रियों की सुन्दरी छियोंके
 साथ मद्यके गंधमें पसी हुई पानशाला या मदिराघरमें पहुँचता था ॥ ११ ॥ वहाँ ये छियाँ अमिरियोंका
 ज्येष्ठ मन्त्रीका साथ बड़े प्रेमसे पीती थीं । जैसे मौलमिरीका पेड़ छियोंके मुखका चापय पानेको
 गरसा करता है उसी प्रकार उन श्रियोंके मुखमें चापय पीनेकी इच्छा करनेवाला अश्रियों को उनके
 मुँहका चापय पीना करता था ॥ १२ ॥ मोदकी बैठने योग्य हो ही तो वस्तुएँ हैं—एक तो मनोहर
 शब्दवाली बीवा और दूसरी मधुर भाषिणी कानिनी । इन दोनोंने उतकी मोदकी सदा भरपूर रचना
 ॥ १३ ॥ जब नर्तकियोंके माथेसे समय बह स्वयं गुरुंग यत्राने लगता था तब उनके गलेकी माया
 दिख उठती थी । उस समय वह ऐसा सुन्दर लगता था कि नर्तकियाँ सुष-सुष शोच्य मायता भी भूख
 जाती थीं । इसका फल यह होता था कि उन्हें मायता मिगाने वाले उनके को मुद यहाँ बैठे रहने से
 उनके आगे वे अपनी हम बातपर सजा जाती थीं ॥ १४ ॥ जब शून्य समस्त हो जाता था श्रीर

तस्य सावरणदृष्टसंघयः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः ।
 वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिधुक्तविषयाः समागमाः ॥ १६ ॥
 अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम् ।
 मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥ १७ ॥
 तेन दूतिचिदितं निपेदुषा पृष्ठनः सुरतवाररात्रिषु ।
 शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥ १८ ॥
 लौढ्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्तर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
 वर्तते स्म स कथंचिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥ १९ ॥
 प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादापताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
 निन्युरुत्सवविधिच्छ्लेन तं देव्य उज्ज्वितरुपः कृतार्थताम् ॥ २० ॥
 प्रातरेत्यपरिमोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
 प्राङ्गलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽधुनोत्प्रणयमन्धरः पुनः ॥ २१ ॥

नाचनेके परिश्रमसे उनके मुखपर पसीनेकी सूँधीं झा जाती थीं तब राजा श्रित्रिवर्य प्रेमपूर्वक फूँक मार-
 मारकर उनके मुखको चूमने लगता था । उस समय वह समझता था कि मैं इन्द्र और कुबेरसे भी
 बढ़कर सुखी और भाग्यवान् हूँ ॥ १५ ॥ वह सदा नई-नई भोगकी सामग्रियों चाहता था । जिस
 वस्तुसे उसका मन भर जाता था उसे वह छोड़ देता था । इसलिये स्त्रियों संभोगके समय राजासे
 प्राची ही रति करके उठ खड़ी होती, पूरी नहीं । क्योंकि उन्हें डर था कि यदि राजा पूर्ण रूपसे तृप्त
 हो जायगा तो हमें छोड़ देगा ॥ १६ ॥ कभी-कभी जब वह राजा इन कामिनीयोंको धोखा या चकमा
 दे जाता था तब वे विगड़कर अपने खाल खाल उँगलियोंको चमकाकर धमकाती थीं, मैंही तूरेती थीं
 और राजाको अपनी करघनीसे बंध देती थीं ॥ १७ ॥ जिस दिन रातको उसे किसी स्त्रीसे संभोग
 करने जाना होता तो दूतीसे सब बातें पताकर वह पास ही छिपकर बैठ जाता । वह स्त्री जब आती
 और विप्रलब्धा नायिकाके समान दूतीसे विरहवर्षी (इस प्रकार) बातें करने लगती [कि पता नहीं
 वे क्या आवेंगे, धार्मिक प्राण क्यों नहीं क्षयदि,] तब वह उन बातोंको छिपे-छिपे बड़े प्रेमसे सुनता
 था ॥ १८ ॥ जब कभी उसे रानियोंसे रोक लेती, तब नर्तकियोंके न मिलनेसे विरह-कातर हो जाता
 और हाथमें तूलिका लेकर किमी नर्तकीका चित्र बनाने लगता था । उस समय उसे वह नर्तकी स्मरण
 हो आती और सात्विक भावके कारण उसकी उँगलियोंमें पसीना आ जाता और सूँधी किसल पड़ती
 थी । इस प्रकार वह बड़ी कठिनाईसे चित्र बना पाता था ॥ १९ ॥ यदि राजा किसी रानीसे प्रेम
 करता तो वह गर्वसे फूलों न समझती । यह देखकर उसकी सीतें जल उठती थीं और कामाग्रा हो
 जाती थीं और किसी उत्सवका पहनावा परके राजाको अपने पहाँ सुलाकर उसके साथ अपने
 तपन सुकाती थीं ॥ २० ॥ रातमें बाहर किसी स्त्रीसे संभोग करके जब राजा प्रातःकाल धर
 खंडिता था तब रातके भोगवाले सुन्दर वेगमें उसे देखकर उसकी प्रेमिकाएँ गंवडिता
 नायिकाके समान क्रान्ति यद्गाने लगती थीं तब राजा हाथ जोड़कर उन्हें मना करता था ।

स्वप्रकीर्तितविषयमङ्गनाः प्रत्यमैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
 प्रच्छदान्तगलिनाश्रुचिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ॥ २२ ॥
 कलस्रपुष्पशयनान्जलतामृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
 अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽज्वरोधभयवेषधूतरम् ॥ २३ ॥
 नाम बल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्षयते ।
 लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रविस्सलितमृचुरङ्गनाः ॥ २४ ॥
 चूर्णचभ्रुलुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम् ।
 उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपाशुषोद् ॥ २५ ॥
 स स्वयं चरणरागमादधे योपितां न च तथा समाहितः ।
 लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुरुपदैर्नितम्बिभिः ॥ २६ ॥
 चुम्बने विपरिवर्तितार्धरं हस्तरोधि रशनाविषट्टने ।
 विमित्तेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्रधूरतम् ॥ २७ ॥
 दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमलुपृष्टमपरिभ्रतः ।
 क्षायया स्मितमनोज्ञया वधूहीनिमीलितमुखीप्रकार सः ॥ २८ ॥

पर जब रातकी घण्टाबजके कारण यह उनसे भरपूर प्रेम नहीं करता था तो वे फिर बड़ा क्रुद्ध हो उठनी थीं ॥ २१ ॥ जब खिचोई देवती कि राजा स्वप्नमें व्यवहारते हुए किन्हीं दूसरी स्त्रीकी वधाई कर रहा है तब वे कामिनीयो विना योकी ही पिच्छरके कोनेपर शीत्सू गिराती हुई, प्रीथसे कंगन तोड़कर उनसे पीठ के पार हो जाती थीं और इस प्रकार उनसे कूट जाती थीं ॥ २२ ॥ कभी कभी दूतिको राजाको मार्ग दिखानेकी हुई उल स्थानपर ले जातीं जहाँ लताशोके बीचमें सम्भोगके क्रिये दूतिको सेज बिलो रहती थीं । उस समय उसे यह घर होता कि कहीं वे दामिनी जाकर दामिनीसे न कद दें । इसलिये दामिनीको पुमलानेके लिये वह उन दामिनीसे सम्भोग करके उन्हें प्रसन्न कर देता था ॥ २३ ॥ कभी कभी यह मूलते खिचोके प्रागे किन्ही बादरी प्रेमिकाका नाम ले लेता । उसे सुनकर वे खिचोई कहने लगतीं कि यदा यच्छया दुष्ठा जो भ्रातने यपनी प्रेमिकाका नाम बना दिया । धन्य है उमरा माय । पर क्या करें, हमारा भी तो लोभी मन नहीं मानता । चापको केंने पीष दें ॥ २४ ॥ जब यह सोकर उठता तब उसका पलंग, पीठे हुए बेगारके पूर्णसे सुनहरा दिवारा देता था । उसपर दूतिकोई मसली हुई मलापुं और दूटी हुई सगकिचोई पदा रहती थीं और जहाँ तहाँ महापारकी दाप पड़ी रहती थी, जिसे देखकर यह पष्ट होता था कि यह कितना विकारी है ॥ २५ ॥ कभी कभी यह खिचोके पैरोंमें स्वय महापार लगाने बैठ जाता । पर उसी समय उसको रति खिचोके उम निराम्भोवर पड़ जाती थी जिनपरसे कपड़ा सरका हुआ रहता था । उन्हें देखकर यह देता सुग्य हो जाता कि भली शीत महापार भी नहीं लगा पाया था ॥ २६ ॥ सम्भोगके समय जब यह खिचोके कोड पूम्ने लगता तब वे मुँह फेर लेती थीं और जब कमरका नाडा गोंकने लगता तब हाथ घाम घेतीं । इस प्रकार वह जो कुछ करना चाहता, खिचोई कुछ भी नहीं करने देती थीं, फिर भी उमका काम बढ़ता ही गया ॥ २७ ॥ जब कभी खिचोई दर्पणके प्रागे गयी होकर दृष्टि करने या पूंने चादि

कण्ठसक्तमृदुवाहुवन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः ।
 प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्पयविसर्गञ्जुम्बनम् ॥ २९ ॥
 प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेशमतिशक्रशोभिनम् ।
 पिप्रिये न स तथा यया युवा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम् ॥ ३० ॥
 मिश्रकृत्पमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः ।
 विद्य हे शठ पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः ॥ ३१ ॥
 तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
 अभ्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥ ३२ ॥
 संगमाय निशि गृहचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः ।
 वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोघृतः कामुकेति चक्रुपुस्तमङ्गनाः ॥ ३३ ॥
 योषितामुडुपतेरिवाचिषां स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन् ।
 आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥ ३४ ॥
 वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नरपदाङ्कितोरवः ।
 शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्वानयना व्यलोभयन् ॥ ३५ ॥

संभोगके चिह्नोंकी देखने लगती थीं, तब राजा उनके पीछे लुपकेसे छाकर रूढ़ा हो जाता और मुसकरा देता । जब दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब छिपों देख लेतीं तब वे भौंकर मुँह नीचा कर लेती थीं ॥ २८ ॥ जब यह प्रातःकाल पलोंसे उठकर जाने लगता तब छिपोंकी इच्छा होती कि चित्तुदनेके पदले राजा एक पार गलेमें बाँधें टालकर चूम लो ले ॥ २९ ॥ यह राजा इन्द्रके चट्टोंसे भी सुन्दर अपने राजसी बखको दर्पणमें देखकर उतना प्रसन्न नहीं होता था जितना संभोगके चिह्नोंकी देखकर ॥ ३० ॥ कभी-कभी अपने रानियोंके पास बैठे बैठे उसके मनमें किसी प्रियतमके पास जानेकी इच्छा होती वो यह यह कहकर उठने लगता—अरे मुझे एक मित्रसे मिलने जाना है । यह सुनकर रानियों ताड़ जातीं और कहने लगतीं कि हम भी भली भौंति जानती हैं कि हम किस मित्रके यहाँ जा रहे हो फिर बाल पकड़कर उसे रोक लेतीं ॥ ३१ ॥ जब कभी उसके साथ बहुत देरतक संभोग करनेके कारण छिपों अज्ञता जाती थीं तब वे अपने मोटे-मोटे स्तनोंसे राजाकी छातीके अङ्गुलीको पोंछती हुई उसके बच-स्पर्शपर हस प्रहार लो जातीं थीं मानो वे संभोगका यह कटस्थ नामका आसन राजा रही हों जिसमें छिपों पतिके ऊपर सोकर अपने स्तनोंसे धारे-धारे अपने प्रियतमकी छातीको चपकते हुए फसाकर छातीसे छिपट जाती हैं ॥ ३२ ॥ रातकी यह संभोगकी इच्छासे छिपकर जब बाहर जानेकी होता था तो दूतियोंसे समाचार पाकर उसकी छिपों उसके घामे पहुँच जाती थीं और यह कहते हुए धीरे-धीरे जाती थीं कि कहीं चक्रमा देन रातको छिपकर चले ॥ ३३ ॥ छिपोंके स्वयंसे उसे बैसा ही आनन्द मिलता था जैसा चन्द्रमाकी छिपोंसे । घतः यह तुम्हारे समान रातभर जागता रहता और दिनभर सोता रहता ॥ ३४ ॥ उसने यानेराकी छिपोंके मोठोंपर अपने दाँतके और उनकी आँवोंपर पूँट पूँटकर नज़रोंके पैसे धाब कर दिए थे कि जब वे अपने अर्धरात्र बामुरी और

अद्भुतसत्त्ववचनाश्रयं मियः स्त्रीषु नृत्यमुपघाय दर्शयन् ।
 स प्रयोमनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजयर्ष सह मित्रगंनिधौ ॥ ३६ ॥
 थंसलाम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजमाह्वरागिणः ।
 प्रावृषि प्रमदवर्हिणोऽभूत्कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः ॥ ३७ ॥
 विग्रहाद्य शयने पराञ्जुलोर्नानुनेतुमचलाः स तत्त्वरे ।
 ध्यायन्काञ्च घनशब्दविक्रमास्ता विवृत्य विशतीर्षुजान्तरम् ॥ ३८ ॥
 कार्तिकीषु मन्वितानहर्म्यमग्न्यामिनीषु ललिताङ्गनाससः ।
 अन्वमुद्धुक्त सुरवश्रमावदां मेघमृक्तविशदां ग चन्द्रिकाम् ॥ ३९ ॥
 सैःतं च सस्युं विवृण्वतीं श्रोत्रिण्म्वमिन् हंममेखलम् ।
 स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं मौघजालविधरेर्व्यलोरुपत् ॥ ४० ॥
 मर्मरैरगुरुधूपगन्धिमिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमोःकृतः ।
 जङ्गराप्रथममोचलोलुपं हैमुर्ननिजमर्नः सुमध्यमाः ॥ ४१ ॥
 आर्षितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेरमसु निनातकृत्विषु ।
 तस्य सर्वसुरतान्तरत्नमाः साक्षिणां शिशिरात्रयो ययुः ॥ ४२ ॥

दक्षिणेन पवनेन संभृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम् ।
 अन्वनेपुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहविषोममङ्गनाः ॥ ४३ ॥
 ताः स्वमङ्गमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया ।
 मुक्तरज्जु निविडं भयच्छलात्कण्ठवन्धनमवाप बाहुभिः ॥ ४४ ॥
 तं पयोधरनिपिक्तचन्दनैर्मौक्तिकप्रथितचारुभूपयैः ।
 ग्रीष्मवेषविधिभिः सिपेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥ ४५ ॥
 यत्स लघ्नसहकारमासवं रक्तषाटलसमागमं पयौ ।
 तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृश्विचयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥ ४६ ॥
 एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुक्तः स पार्थिवः ।
 आत्मलक्षणनिवेदितानृतनृत्यवाहयदनङ्गवाहितः ॥ ४७ ॥
 तं श्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः ।
 आमयस्तु रतिरागसंभ्रवो दक्षशाप इव चन्द्रमचिषोद् ॥ ४८ ॥
 दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत्सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः ।
 स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ॥ ४९ ॥
 तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
 राजपद्मपरिहानिराययी कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥ ५० ॥

वे दीप धे जो बायुके न जानेसे पकटक होकर सपको देख रहे थे ॥ ४२ ॥ मलय पर्वतसे थाए हुए
 दक्षिणी पवनसे आर्तोमें और छा गए जिन्हें देखकर प्रेमिकाश्रोने कामोन्मत्त होकर राजासे स्तन
 छोड़ दिया और उनके बिरहमें प्याकुल होकर स्वयं उन्हें दू देने लगी ॥ ४३ ॥ उन स्त्रियोंको गोदमें
 पैदाकर वह उन मूर्खोंमें मूचने लगा जिन्हें भीकर मुला रहे थे । राजाने एक बार मूलनेको जो मरुका
 दिया तो उन स्त्रियोंने भयका बढ़ाना करके रस्सा छोड़ दी और राजाके गलेमें बाँध डालकर उससे
 लिपट गई ॥ ४४ ॥ ग्रीष्म ऋतुमें स्तनोंपर चन्दन लगाकर, मोतियोंका आभूषण पहनकर और
 नितम्बर मणिकी लगदी लटककर वे स्त्रियों उस राजाके साथ संभोग करके उसके प्रसन्न करती
 थी ॥ ४५ ॥ उस समय वह आमकी और और पाटल । जल फूल पात्रमें लगाकर आसय पीता
 था जिससे वसन्त बीतनेसे मद पया हुआ उसका काम फिर जाग उठता था ॥ ४६ ॥ इस प्रकार वह
 कामी राजा राज-काज छोड़कर इन्द्रिय-सुखोंका रस लेता हुआ ऋतुमें विताने लगा । यह काम-
 क्रोधाके लिये भिन्न भिन्न ऋतुओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारका वेष बनाया करता था, इसलिये उसके
 वेशको देखकर शात हो जाता था कि किय समय कौनसी ऋतु है ॥ ४७ ॥ इतना स्वसतमें जीन
 होनेपर भी दूसरे राजा उसके राजपर आक्रमण नहीं करते थे । फिर भी जैसे उसके मापसे चन्द्रमाको
 पव रोग हो गया था वैसे ही अधिक भोग-विजास करनेसे उसे भी पव रोग हो गया और धीरे धीरे
 बढ़ने लगा ॥ ४८ ॥ चित्तोंके बार-बार रोकनेपर भी उसने कामको जगानेवाली वे वस्तुएँ नहीं छोड़ीं,
 क्योंकि जब इन्द्रियों एक बार विषयोंमें फँस जाती हैं तब उन्हें रोकना कठिन हो जाता है ॥ ४९ ॥
 धीरे-धीरे उसका शरीर पीला पड़ गया, दुर्बलताके कारण उसने आभूषण पहनना भी छोड़ दिया,

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव धर्मपल्वलम् ।
 रात्रि तत्कूलमभूत्क्षपातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ॥ ५१ ॥
 बाढमेप दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने ।
 इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वद्भुरयशङ्किनीः प्रजाः ॥ ५२ ॥
 स त्वनेकयनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य संततिम् ।
 वैद्यपत्नपरिमाविनं गदं न प्रदीप इव चायुमल्पगात् ॥ ५३ ॥
 तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
 रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधुः ॥ ५४ ॥
 तैः कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहेराशु तस्य सहधर्मचारिणी ।
 साधु दृष्ट्युभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम् ॥ ५५ ॥

तस्यास्तयानिघनरेन्द्रविपत्तिशोकादुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमामितम् ।

निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्ज्वलेन वंशागिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥ ५६ ॥

तं गानार्थं प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजानामन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोधीजमुष्टिं दधाना ।

मौलैः साधं स्थविरसचिवैर्हमसिंहासनस्या राज्ञी राज्यं विधिवदशिपद्भर्तुरव्याहतात् ॥ ५७ ॥

इति महाकाव्यीशोकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अश्विघर्षभृष्टकारो नामैकोनविंशः सर्गः ॥

॥ इति रघुवंशम् ॥

यह भीकरीके कन्धेपर सहारा देकर चलने लगा, उसकी बोलो धोमी पढ़ गई और यन्मा रोगसे
 सुखकर यह डीक विरहियोंके समान दिताई देने लगा ॥ ५० ॥ राजके लय रोगसे रोगी होनेपर
 सूर्यकुल ऐसा रह गया जैसे एक कजा भर बचा हुआ दृश्य पक्षी चतुर्दशिका चन्द्रमा हो या
 कीचक भर बचा हुआ गर्भके दिनेका ताल हो या तनिक सो बंधी हुई दीपककी ली हो ॥ ५१ ॥
 जब प्रजा पृथ्वी भी कि राजाको कोई भवानक रोग तो नहीं है, उस समय मन्त्री लोग प्रजाको यह
 कहकर समझाते थे कि राजा इस समय पुत्रोपत्तिके लिये व्रत आदि कर रहे हैं, इसीलिये दुखली होते
 जा रहे हैं । इस प्रकार ये लोग राजाके रोगकी बात जनतप्से छिपा रहे थे ॥ ५२ ॥
 अनेक रातियोंके होते हुए भी यह राजा पुणका मुँह नहीं देख सका और वैद्य लोग राजाको बन्धु
 नहीं कर सके । जैसे वायुके आगे दीपकका बुझ भी पण नहीं चलता वैसे ही राजा भी रोगसे
 नहीं बचाया जा सका ॥ ५३ ॥ अन्वयेष्टिकी विधि जाननेवाले पुरोहितसे मित्रकर मंत्रियोंने रोग-
 शान्तिके बदलेसे राजाके श्वको राजभवनके उपवनमें ही चुपचाप जलता अग्नि रर दिया कि कहीं
 यादर छे जानेसे यह रोग प्रजामें फैल जाय ॥ ५४ ॥ मन्त्रियोंने शीघ्र ही प्रजाके नेताओंको इच्छा
 किया और उनकी सम्मतिसे राजाकी उस परधानको सिंहासनपर बैठा दिया जिसमें गर्भके धुम बिन्दु
 दिखाई दे रहे थे ॥ ५५ ॥ राजाकी ऐसी हुरदद सुनसे महारानीकी शीलोंके गरम-गरम शीतुधर्मने
 शेषे हुए गर्भपर जब कुल-परम्पराके अनुसार होने वाले अभियेष्टके समय सोनेके बदले हीतक जल
 पड़ा तब यह गर्भ शीतल हो गया ॥ ५६ ॥ जैसे सावगमें बोर हुए मुँह भर धोंकोंको पृथ्वी छिपाए
 रहती है वैसे ही महारानी भी धरती उस प्रजाकी भलाईके लिये गर्भ परण छिपे हुए थी जो पुत्र
 उत्पन्न होनेकी बात जोड़ रही थी । इस प्रकार जिसका कहना कोई ताल नहीं सकता था यह गर्भवती
 महारानी पहले मन्त्रियोंकी सम्मतिके अनुसार राजकाज चलाने लगी ।

महाकवि धोंकाजिदामके रचे हुए रघुवंश महाकाव्यमें अविद्येश शंकर

नामका उर्नीधरों सगे समाप्त हुआ ।

॥ रघुवंश महाकाव्य समाप्त हुआ ॥

॥ श्रीः ॥

कुमारसंभवम्

प्रथमः सर्गः

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ १ ॥
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भासन्ति रत्नानि महौषधीथ पृथूपदिष्टां दुदुर्धुरित्रीम् ॥ २ ॥
अनन्तरत्नप्रमयस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुण्यसंनिपाते निमज्जतीन्दोः क्रिखेण्विवाहूः ॥ ३ ॥
यथाप्सरोविभ्रमण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्विमर्ति ।
वलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंख्यामिव धातुमचाम् ॥ ४ ॥
ध्यामेखलं संचरतां घनानां छापामघःसानुगतां निपेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिमिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्पातपवन्ति सिद्धाः ॥ ५ ॥

प्रथम सर्ग

भारतके उत्तरमें देवताके समान पूजनीय हिमालय नामका बड़ा भारी पहाड़ है। यह पूर्य और पश्चिमके समुद्रों तक फैला हुआ ऐसा सगता है मानो यह पृथ्वीको मापने लीकनेका मापदंड हो ॥ १ ॥ रामा पृथुके कहनेसे सब पर्वतोंने मिलकर इसे बड़का बनाया और दूहनेमें चतुर मेद परंतको म्बाला मापकर पृथ्वी रूरी गौसे सब घमकीले रत्न और जड़ी-बूटियाँ दूहकर निकाल लीं ॥ २ ॥ इस अनगिनत रत्न उत्पन्न करनेवाले हिमालयकी शोभा हिमके कारण कुछ कम नहीं हुई क्योंकि जहाँ बहूतने गुण हैं वहाँ यदि एक मात्र धवगुण भी था जायें तो उसका धैमे ही पता नहीं चल पाता जैसे पादमाका किरणोंमें उसका कलक दिख जाता है ॥ ३ ॥ हिमालयकी कुछ चोटियोंपर मेद आदि घानुषोंका अनेक रंग विरगी पड़ाने हैं। इसलिये कभी-कभी उन पहाड़ोंके पास पहुँचे हुए बादलोंके टुकड़े उनके रंगकी लुपा बढनेसे सगपाके बादलों जैसे रंग-विरगी दिवार्दे बढने लगते हैं। उन्हें देखकर सगपा हालीने पड़ते हैं। वहाँकी अमरताओंको यह धाम हो जाता है कि सगपा हो गई और इन उषयोंमें वे मायंकालके माय-मानके लिये घपना गृहार बना प्राग्भ कर देती हैं ॥ ४ ॥ इसमें कुछ चोटियाँ रहती हैं जो उठी हैं कि मेघ भी उनके वांचतक ही पहुँचकर रह लागे हैं, उनके ऊपरका भाग माग सेपोंके ऊपर निकला रहता है। इसलिये जिनके आतमें तापाका अतन्म छोनेवाले मित्र प्राग जर अविच बर्रा होनेसे बरदा रहते हैं, सब वे बादलोंके ऊपर उठी हुई उन चोटियोंपर ऊपर रहने लगते हैं वहाँ इन धाम

पदं तुपारस्रुतिधौतरक्तं : यस्मिन्नदृष्ट्वापि हतद्विपानाम् ।
 विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्गुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥ ६ ॥
 न्यस्ताक्षरा धातुस्सेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरविन्दुशीशाः ।
 व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥ ७ ॥
 यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरयेन ।
 उद्गास्यतामिच्छति किंनराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥ ८ ॥
 कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विषद्वितानां सरलद्रुमाणाम् ।
 यत्र स्रुतचीरतया प्रधृतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥ ९ ॥
 वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिपक्तमासः ।
 भवन्ति यत्रौषधयो रज्न्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥ १० ॥
 उद्वेजयत्यङ्गुलिवाष्णिभामान्मार्गं शिलीभूतहिमेऽपि यत्र ।
 न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥ ११ ॥
 दिवाकराद्रचति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
 क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने समत्वमुच्चैःशिरसां सतीव ॥ १२ ॥

पूर्य बनी रहती है ॥ ५ ॥ यहाँके सिंह जब हाथियोंको मारकर चले जाते हैं तब रहते लाल उगके पत्रोंकी पत्ती हुई धाप दिमके धारासे धुल जाती है । फिर भी उन सिंहोंके नखोंसे गिरी हुई यज्ञ-मुक्ताओंको देखकर ही यहाँके किरात पता चला लेते हैं कि सिंह कियर गए हैं ॥ ६ ॥ इस पर्वतपर उरपन्न होनेवाले जिन भोज पत्रोंपर लिखे हुए, अपर हाथीकी सूँटपर बनी हुई लाल मुँदकियों जैसे दिवाई पदते हैं उन्हें विद्याधरियाँ छपने प्रेम-यत्र खिलनेके काममें लाया करती हैं ॥ ७ ॥ इस पहाड़पर ऐसे छेदवाले बाँस बहुतायतसे होते हैं जो वायु भर जानेपर धजने लगते हैं तब ऐसा जान पड़ता है मानो ऊँचे दरसे गानेवाले विन्नरोंके गीतोंके साथ ये संगत कर रहे हों ॥ ८ ॥ तब यहाँके हाथी अपनी कनपटी गुजलागेके लिए देवदरके पेड़ोंसे माया रगड़ते हैं तब उनसे ऐसा सुगन्धित रूपे बहने लगता है कि उसकी महकसे इस पर्वतकी सभी चोटियों एक-साथ गमक उठती हैं ॥ ९ ॥ यहाँकी मुक्ताओंमें रातकी चमकनेवाली जड़ी-बूटियों भी बहुत होती हैं । इसलिये यहाँके किरात लोग जब अपनी-अपनी प्रियतमाओंके साथ उन मुक्ताओंमें विहार करने आते हैं, तब ये चमकती जड़ी-बूटियाँ ही उनकी काम कीयाके समय बिना सेजके सूँपक बन जाती हैं ॥ १० ॥ यहाँकी किरियाँ जब जमे हुए हिमके मार्गोंपर चलती हैं तब उनकी ठंडकियों कीर पड़ियों पड़ जायीं हैं, पर ये दर क्या ? अपने भारी निठरों कीर रतनोंके धोमके भारे से बेचारी शोषताले पल नहीं पातीं कीर चालते हुए भी ये अपनी रीमाविक मन्द गतिको नहीं छोड़ पातीं ॥ ११ ॥ हिमालयकी सभी गुफाओंमें दिनमें भी छँपेला सुया रहता है । ऐसा लगता है मानो छँपेला भी दिनसे दूरनेवाले उल्लूके समान इसकी गहरी गुफाओंमें जाकर दिनमें विप आता है कीर हिमालय नसे अपनी गोदमें शरण दे देता है क्योंकि जो महान् होते हैं वे अपनी शरणाँ आए हुए-भोग खोगोंसे भी पैया ही अपनीपत बनाए रहते हैं इसा गजनोंके साथ ॥ १२ ॥

लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥१३॥
यत्राशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिभ्र्वास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥१४॥
भागीरथोनिर्भरसीकराणां चोढा मुहुः कम्पितदेचदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिराण्डवर्हः ॥१५॥
सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः ।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः ॥१६॥
यद्वाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च ।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञमार्गं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ॥१७॥
स मानसीं मेरुसखः पितृणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः ।
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनीपयेमे ॥१८॥
कालक्रमेणैवाथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे ।
मनोरमं यौवनमुद्बहन्त्या गर्भोऽभवद्दूधरराजपत्न्याः ॥ १९ ॥
असूत सा नागवधूपमोग्यं मैनाकमम्भोनिधिबद्धसरथम् ।
क्रुद्धेऽपि पद्मच्छिदि वृत्रशत्राववेदनाज्ञं कुलिशचतानाम् ॥ २० ॥

जिन हिरण्योकी पूछोंके चौर बनते हैं वे बनरी हरिणियों जब यहां चन्द्रमाकी किरणोंके समान अपनी धौली पूँछोंके इधर-उधर घुमाती हुई चलती हैं तब ऐसा प्रतीत होता है मानो वे हल पर्यंत राजपर पूँछके चौर हुलाकर इसका गिरिराज नाम सच्चा कर रही हों ॥ १३ ॥ जब यहाँकी गुला-शोमें किन्नरियों अपने प्रियतमोंके साथ काम-क्रीड़ा करती रहती हैं उस समय जब वे शरीरपरसे वस्त्र हट जानेके कारण लज्जाने लगती हैं तब बादल उन गुलाशोंके द्वारोंपर आकर छोट करके झेंपेता कर देते हैं ॥ १४ ॥ गंगाशोके मरनोंकी कुहारोंसे लदा हुआ, धार-धार देवदारुके वृक्षके कंधानेवाला शीर किरातोंकी कमरमें बंधे हुए मोरपंखोंके फरफानेवाला यहाँका शीतल मन्द सुगन्ध धरन उन किरातोंकी शकल गिटाटा चलता है जो शृंगोंकी शोभामें दिवालयपर इधर-उधर घूमते रहते हैं ॥ १५ ॥ इसकी ऊँची छोटियोंपरके तालामें खिलनेवाले कमलोंकी स्वयं सतर्पिण्य पूजाके लिये अपने सतर्पि मण्डलसे आकर होट खे जाया करते हैं । उनके सुननेसे जो कमल बच रहते हैं उन्हें नीचे उड़व होनेवाला सूर्य अपनी किरणों ऊँची करके गिराया करता है ॥ १६ ॥ पत्नमें काम करनेवाली सामन्ति-योंको उत्पन्न करनेके कारण शीर वृष्णीको सँभाले रखनेकी शक्ति होनेके कारण इस दिवालयकी स्वयं मन्नाजीने उन परतोंका स्वामी बना दिया जिन्हें वज्रमें भाग पानेका अधिकार मिला हुआ है ॥ १७ ॥ मुनेरुके मिय शीर मयादा जाननेवाले दिवालयने अपनी पंथ चढ़ानेके लिये मेना नामकी उस कन्यासे शरदके अनुसार विवाह किया जो पितरोंके मनमें उत्पन्न हुई थी, जिसका मुनि लोग भी आदर करते हैं शीर जो दिवालयके समान ही ऊँचे बुल शीर शीलवाली थी ॥ १८ ॥ विवाह हो जानेपर दिवालय शीर मेना दोनोने मनपाहा भोग बिलास किया शीर हुए ही दिनोंमें दिवालयकी वह सुन्दर शीर पुरती पर्यं मेना गर्भवती हो गई ॥ १९ ॥ मेनाके ठग गर्भसे मैनाक नामका बह मलारी पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने भाग-

अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दत्तस्य कन्या भवपूर्वपत्नी ।
 सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपैदे ॥ २१ ॥
 सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या ।
 सम्यक्प्रयोगादपरिच्यतायां नीताविद्योत्साहगुणेन संपत् ॥ २२ ॥
 प्रसन्नदिक्पांसुविचिक्तवार्तं शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि ।
 शरीरिणां स्थावरजंगमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव ॥ २३ ॥
 तथा दृहिंश्रा सुतरां सवित्री फुरत्प्रभामण्डलया चक्रासे ।
 विदूरभूमिनैवमेषशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकवेव ॥ २४ ॥
 दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा ।
 पुषोपल्लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तरासीव कलान्तराणि ॥ २५ ॥
 तां पार्वतीत्यामिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव ।
 उमेति मात्रा तपसो निपिद्धा पश्चाद्गुह्यां सुमुखी जगाम ॥ २६ ॥
 महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
 अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेकमाला सविशेषसङ्गा ॥ २७ ॥
 प्रभामहत्या शिखरेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
 संस्कारवत्येऽगिरा मनीषी तथा स पूतथ विभूषितथ ॥ २८ ॥

कन्याके साथ विवाह किया, समुद्रके साथ मित्रता की और जितने पर्वतोंके पंख काटनेवाले दुन्द्रके रूप होनेपर भी उनके बलकी चोट अपने शरीरको नहीं लगाने दी ॥ २० ॥ मैनाकाके जन्मके कुछ ही दिनों पीछे ऐसा हुआ कि महादेवजीकी पहली पत्नी और पत्नी कन्या परम साध्वी सतीने अपने पिताले अपमानित होनेके कारण योग-बलसे अपना शरीर छोड़ दिया और दूसरा जन्म लेनेके लिये वे मैनाकी कौखल्यें प्राप्त कीं ॥ २१ ॥ और जैसे ठीक ठीक कर्ममें लगीं जायेसे न त्रिगदनेवाली नीति, उत्साहका नेत्र पाकर यकी सम्पत्ति उत्पन्न करती है, वैसे ही हिमालयने पतिव्रता मैनासे उस कल्पारणीकी जन्म दिया ॥ २२ ॥ उसके जन्मके दिन आकाश खुला हुआ था । पवनमें भूचक्र नाम भी नहीं था, आकाशसे गैल बजनेके साथ-साथ फूल बरस रहे थे और घर-आ घर सभी उनके जन्मसे प्रसन्न हो उठे थे ॥ २३ ॥ जैसे नये मेघके गरजनेपर विदूर पर्वतके खोंमें झरुर फूट आते हैं और उनके प्रकाशसे विदूर पर्वतकी भूमि चमक उठती है वैसे ही त्रेत्रोमण्डलसे भरे सुसजली उस कन्याको गोदमें पाकर मैना भी खिल उठी ॥ २४ ॥ धीरे-धीरे पार्वतीकी चन्द्रकलाके समान दिन-दिन बढ़ने लगीं, और जैसे चाँदनीके बढ़नेके साथ साथ चन्द्रमाकी और समी कन्या भी बढ़ने लगती हैं वैसे ही ज्यों-ज्यों पार्वतीकी बढ़ने लगीं त्यों-त्यों उसके सुन्दर अंग भी सुदीर्घ होकर बढ़ने लगे ॥ २५ ॥ पर्वतसे उत्पन्न होनेके कारण पिताने और बुद्धिपूर्वकने साथको दुलारी उस कन्याको पार्वती कहकर पुरातना धारम्भ कर दिया । पीछे जब पार्वतीको इनकी माताने उमा [उ = हे (करने) मा = (तुम-सब-को)] कहकर रूपस्या करनेसे रोका था तपसे उनका नाम उमा पद गया था ॥ २६ ॥ जैसे भीलोंकी पत्तें बस लके ढेरों फूलोंको छोड़कर धामकी मंगरियोंपर ही फूलती रहती हैं वैसे ही अनेक सत्तानोंके होते हुए भी हिमवानकी धार्यें पार्वती-पर ही सटकी रहती थीं ॥ २७ ॥ जैसे आत्यन्त प्रशस्तमान लीको पाकर दीपक, मन्दाकिनीको पाकर

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
 रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारमं निर्विशतोव वाल्ये ॥२९॥
 तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तगिवात्ममासः ।
 स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥ ३० ॥
 अतंभृतं मण्डनमङ्गपटेरनासवासुधं करुणं मदस्य ।
 कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं वाल्यात्परं साध वयः प्रपेदे ॥ ३१ ॥
 उन्मीलितं तूलिक्रुपेय चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
 वभूव तस्याधतुरस्रशोभि धपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥ ३२ ॥
 अभ्युन्नताङ्गघनरूपमभिर्निक्षेपणाद्रागनिवोद्विरन्तौ ।
 आजहतुस्तचरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥ ३३ ॥
 सा राजहंसैरिव संनताङ्गी गतेषु लीलाञ्जितविक्रमेषु ।
 व्यनीयत प्रंत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरसिञ्जितानि ॥ ३४ ॥
 वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवत्स्तदीये ।
 शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य ह्वात्त यत्नः ॥ ३५ ॥

स्वर्गका मार्ग और व्याकरणमे शुद्ध वाणी वाक्त्र विद्वान् लोग पवित्र और सुन्दर लगने लगते हैं जैसे ही पार्वतीजीको पाकर दिग्गज भी पवित्र और सुन्दर हो गए ॥२८॥ पार्वतीजी अपनी सपनोंके साथ कमी तो गंगा जीके बलुपु तटपर देखियाँ बनाती थीं, कमी गेद खेकती थीं और कमी मुद्रियाँ बना-बनाकर सजाती थीं । इस प्रकार तेल कूदमें उनका पूरा व्यपन गया ॥२९॥ जब अत्यन्त सोच बुद्धिवाली पार्वतीजीने पटना प्रारम्भ किया उस समय पूर्व जन्मकी सभी किराएँ उठे उसी प्रकार अपने आप स्मरण हो भाँदें जैसे शरत् ऋतुके प्रा जानेपर गंगाजीमें इस आ जाती हैं या जैसे अपने आप चमकनेवाली जड़ी-बूटियोंमें रातको चमक आ जाती है ॥३०॥ इस प्रकार धीरे धीरे उनका व्यपन बीस गया और उनके शरीरमें यह बीजन फूट पड़ा जो शरीरकी लतान्ध स्वाभाविक सिंघार है, जो मंदिरके चिना ही मनको मलबाजा बना देता है और जो कामदेवका चिना फूलोंवाला बाण है ॥३१॥ जैसे कूँचीसे रोक-डोक रग भरनेपर चिन्न खिल उठता है और सूर्यकी किरणोंका परस पाकर कमलका फूल हँस उठता है जैसे ही पार्वतीजीका शरीर भी नया बीजन पाकर बहुत ही खिल उठा ॥ ३२ ॥ जब वे चरती थीं तब उनके स्वाभाविक लाल और कोमल पैरोंके उठे हुए झँडोंके नतीसे निकलनेवाली चमकको देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे पैर ललाई कराल रहे हों और जब वे अपने इन पैरोंको टटा उठाकर रखती चरती थीं तब तो ऐसा जान पड़ता था मानो वे पाग-पाग पर स्थलकमल उगाना चल रही हों ॥ ३३ ॥ बीजनके भारसे हुयी हुई जब वे हाव-भावमे चलती थीं तब समय ऐसा जान पड़ता था मानो उनके विपुलोंसे निकलनेवाली मधुर पवित्रो सोपानके लिए ललचाए हुए राजहंसोंने अपनी हाव-मारी पाल उन्हें पढ़ते ही बदलेमें सिखा दी ही ॥ ३४ ॥ उनके समूचे शरीरकी सुन्दर बनानेके किये मसाने सुन्दरताकी गितनो सम्मिथियाँ इकट्ठा क थीं वे सब तो उनकी पद्म-उत्तरवाली, शोल और

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः ।
 लब्ध्यापि लोके परिखाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानवाह्याः ॥ ३६ ॥
 एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः ।
 आरोपितं यद्विरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्गम् ॥ ३७ ॥
 तस्याः प्रविष्टा नतनामिरन्ध्रं रराज तन्वी नवल्लोमराजिः ।
 नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणोरिवाचिः ॥ ३८ ॥
 मध्येन सा वेदविलग्नमध्या वलित्वयं चारु यभार वाला ।
 आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥ ३९ ॥
 अन्वोन्यमुत्पीडपदुत्पलाच्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम् ।
 मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृशालस्रत्रान्तरमप्यलम्बम् ॥ ४० ॥
 शिरीषपुष्पाधिकसौकुर्वी वाहू तदीयामिति मे वितर्कः ।
 पराजित्तेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥ ४१ ॥
 कण्ठस्य तस्याः स्तनचन्द्रस्य मुक्तारूलापस्य च निस्तलस्य ।
 अन्वोन्यशोभाजननाद्भूव साधारणो भूषणभूष्यभाषः ॥ ४२ ॥

चन्द्रं गता पद्मगुणान् भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीममिख्याम् ।
 उमासुरं तु प्रतिपद्य लोला दिनंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ ४३ ॥
 पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
 ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रीपुष्पस्यस्वरुचः स्मितस्य ॥ ४४ ॥
 स्वरेण तस्याममृत्सनेन प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।
 अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताज्यमाना ॥ ४५ ॥
 प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
 तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाम्पस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनामिः ॥ ४६ ॥
 तस्याः शलाकाङ्गननिर्मितेव कान्तिर्भ्रूवोरायतलेखयोर्था ।
 तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥ ४७ ॥
 लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पवतराजपुत्र्याः ।
 तं केशपाशं प्रसमोचम कुर्युर्बालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥ ४८ ॥
 सर्वोपमाद्रूपसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
 सा निर्मिता विश्वमृजा प्रयत्नादिरुस्थसौन्दर्यदिदृच्छयेत् ॥ ४९ ॥

जवत्तक वे वरपन्न नहीं हुई थीं तबतक चंचल गोमावाली लक्ष्मी वही दुविधायी पंथी रहती थीं, क्योंकि रातको जब वे चन्द्रमामें पहुँचती थीं तब उन्हें कमलका आनन्द नहीं मिल पाता था और जब दिनमें वे कमलमें आ बसती थीं तब रातके चन्द्रमाका आनन्द उन्हें नहीं मिल पाता था । पर जबसे वे चन्द्रमा और कमल दोनो के गुणवाले पारवतीजीके मुखमें आ बसीं तबसे उन्हें चन्द्रमा और कमल दोनोंका आनन्द एक साथ मिलने लगा ॥ ४३ ॥ उनके लाल-लाल ओठोंपर कैली हुई उनकी सुन्दरताइतका उजलापन ऐसा सुन्दर लगता था जैसे लाल कोंपलमें कोई उजला फूल रहता हुआ हो या स्वच्छ मूँगेके बीचमें मोती जड़ा हुआ हो ॥ ४४ ॥ वे मजुर बग्योवाली जब बोलने लगती थीं तब मानो अमृतकी धारा फूट निकलती थीं । उनकी मीठी बोलोके आगे कोयलको कूक कानोंको ऐसी कदवी लगती थी जैसे किसी अगाड़ीने अगमिली घोवाके घेसुरे तर छेड़ दिए हैं ॥ ४५ ॥ उन वर्य वर्य श्रोत्रोवालीकी चितवन, श्रोत्रोसे दिले छे छे नीचे कमलोंके समान चंचल थीं । उसे देखकर यह पता हो नहीं चल पाता था कि यह कला उन्होंने हरिषियोंने सीखी थी या हरिषियोंने ही उनसे सीखा था ॥ ४६ ॥ उनकी लगरी और मनोहर भाँई ऐसी लगती थीं जैसे छितीने मुखिका लेकर बना डाली हो । वे भाँई हतनी सुन्दर थीं कि कामदेव भी अपने पशुपती सुन्दरताका जो अमण्ड लिए फिरते थे यह इन भाँईके आगे चूर चूर हो गया ॥ ४७ ॥ उनके बाल हठने सुन्दर थे कि यदि पशु-पशियोंने भी मनुष्यके समान लज्जा हुआ करती तो अपने बालोंपर इतरानेवालों कीही हरिषियों भी उनके बाल देखकर अपने चोंचोंपर हठजाना मूल जातीं ॥ ४८ ॥ पारवतीजीको देखकर ऐसा जान पड़ता था कि संतारके बनानेवाले मन्नाजी पुष्पापरकी साँड़ सुन्दरता एकपाय देखना चाहते थे । इसीलिये तो उन्होंने सुन्दर श्रोत्रोंको उपमामें आनेवाली सब बस्तुओंको मतनसे बटोरकर उन्हें सब श्रोत्रोंपर यथास्थान सजाकर सुन्दरताकी मूर्ति पारवतीजीको बनाया था ॥ ४९ ॥

तां नारदः कामचरुः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे ।
 समादिदेशैकवधुं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ॥ ५० ॥
 गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवरामिलापः ।
 श्रुते कृशानोर्न हि मन्त्रभूतमर्हन्ति तेजस्यपराशि हृद्यम् ॥ ५१ ॥
 श्रयाचितारं नहि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।
 अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्वस्थमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ॥ ५२ ॥
 यदैव पूर्वं जनने शरीरं सा दक्षरोपात्सुदती ससर्ज ।
 तदाप्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशुतामपरिग्रहोऽभूत् ॥ ५३ ॥
 स कृत्विवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोच्चित्तदेवदारु ।
 प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगंधि किंचित्कश्चात्किंनरमभ्युवात् ॥ ५४ ॥
 गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः ।
 मनाःशिलाविच्छुरिता निपेदुः शैलेयनद्वेषु शिलातलेषु ॥ ५५ ॥
 तुषारसंघातशिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन्दर्पकलः ककुभान् ।
 दृष्टः कथंचिद् गवयैर्विचिन्नेरसोर्ढासिद्धधनिरुचनाद् ॥ ५६ ॥

अपने मनसे धर-उपर घूमनेवाले नारदजी एक दिन घूमते-वामते हिमालयके पर्वों पहुँचे तो क्या देखते हैं कि हिमालयके पास उनकी कन्या भी बैठी हुई है। उन्हें देखते ही नारदजीने यह भविष्य थायी कर दी कि यह कन्या अपने भ्रमसे शिवजीके आधे शरीरकी स्वामिनी और उनकी अकेली पत्नी बनकर रहेगी ॥ ५० ॥ यद्यपि पार्वतीजी सयानी होती चली जा रही थीं पर नारदजीकी बातसे हिमालय हतने निश्चिन्त हो गए कि उन्होंने दूसरा वर भोजनेकी चिन्ता ही छोड़ दी। क्योंकि जैसे मन्त्रसे वी हुई दहनकी सामग्री, अग्निको छोड़कर और कोई नहीं ले सकता धैसे ही महादेवजीकी छोड़कर पार्वतीजीको और ग्रहण ही कौन कर सकता था ॥ ५१ ॥ पर हिमालयने सोचा कि जयराक स्वयं महादेवजी हो कन्या भोगने नहीं आये तबतक अपने-आप उन्हें कन्या देने जाना ठीक नहीं जँचता। इसीलिये जहाँ सज्जन लोगोंको निरादरका कर होता है वहाँ ये अपने काममें किसी विचवर्द्धको साप ले लेते हैं ॥ ५२ ॥ हुएर जनसे सतीने अपने पिता दृषके हाथों महादेवजीका अग्रमान होनेपर शोध करके दक्षकी अग्निले अपना शरीर छोड़ा था तभीसे महादेवजीने भी सब भोग बिलास छोड़ दिए थे और दूसरा विचवर्द्ध नहीं किया था ॥ ५३ ॥ इतना ही नहीं अपनी इन्द्रियोंको जोतनेवाले और शक्त शोधनेवाले भगवान शङ्करजी कस्तूरीकी गन्धमें बसी हुई हिमालयकी एक ऐसी सुन्दर चोटीपर जाकर तप करने लगे जहाँके देवदारुके वृक्षोंको रांमाजीकी धारा परपर सींचती थीं और गन्धर्ध दिन रात गाते रहते थे ॥ ५४ ॥ उनके पास ही सिरपर गमेदके फीमल फूलोंकी माला बाँधे, शरीरपर मोतपत्र लपेटे और मँगसिद्धके रत्नसे अपने शरीर रँगे हुए उनके भ्रम्य आदि गण लोग यज्ञाभातसे पुकी हुई चटानोंपर बैठे पढ़ा देते रहते थे ॥ ५५ ॥ उनके पास ही उनकी गर्वीका नन्दो रौं भी रहता था जो गरजते हुए सिद्धकी वहाद को न सड़

तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः ।
 स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार ॥ ५७ ॥
 अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गैकसामर्चितमर्चयित्वा ।
 धाराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रपतां तनुजाम् ॥ ५८ ॥
 प्रत्यर्धिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
 विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥ ५९ ॥
 अचिंतबलिपुष्पा वेदिमंमार्गदक्षा नियमविधिजलानां वर्धिषां चोपनेत्री ।
 गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ॥ ६० ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतो कुमारसंभवे महाकाव्ये
 उमीत्पत्तिर्नाम प्रथमः सर्ग ।

सकनेके कारण जब अपने सुरोंसे हिमकी पहानोंकी रूढ़ता हुआ टकर उठता था तब नीबगाएँ
 पवराकर उसे देखती रह जाती थीं कि यह सिद्ध जैमः गरजनेवाला दूसरा कौन था पहुँचा ॥ ५६ ॥
 उसी छोटीर सब तपस्याओं का स्वयं फल देनेवाले शिवजीने अपनी ही दूसरी मूर्ति अग्निकी
 समिधासे जगाकर न जाने किस कणकी इच्छासे तप करना प्रारंभ कर दिया था ॥ ५७ ॥ जिस
 महादेवजीकी स्वर्गके देवता पूजते हैं, उनकी पूजाके लिये हिमालय अपनी पुत्राके साथ महादेवजी
 की सेवामें यदुमूल्य पूजाके सामग्री लेकर पहुँचे । पहले उन्होंने स्वयं उनकी पूजा की और फिर
 अपनी कन्याकी आज्ञा दी कि अपनी सन्धिके साथ जल्द शिवजीकी पूजा करो ॥ ५८ ॥ यद्यपि
 पार्वतीजीके यहाँ रहनेसे शिवजीके तपमें बाधा पड़ सकती थी, कि भी उन्होंने पार्वतीजीकी सेवा
 की, क्योंकि सच्चे धीर महात्मा उन्हें ही समझना चाहिए शिवका मन विकार उत्पन्न करनेवाली
 यस्तुओंके बीच रहकर भी तिलमर न दिगे ॥ ५९ ॥ सुन्दर बाज्रवालो पार्वतीजी यहाँ रहकर नियमसे
 प्रति-दिन पूजाके लिये बृल चुनकर बड़े शरटे लगाते वेदीकी धो पोंपुकर और नित्यकर्मके लिये जल
 धीर हुआ साकर बिना घसाउट माने उनकी सेवा किया करती क्योंकि महादेवजीके माथेपर सँडे
 हुए चन्द्रमाईकी टण्डी किरणें पार्वतीजीकी पकान सदा मियाती रहती थीं ॥ ६० ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव नामके महाकाव्यमें उमाका

जन्म नामका पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥



द्वितीयः सर्गः

तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः । तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः ॥ १ ॥
 तेषामाविशभूद्ब्रह्मा परिस्नानमुखश्रियाम् । सरसां सुप्तपद्मानां प्रातर्दीधितिमानिव ॥ २ ॥
 अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम् । वागीशं वाग्भिरथर्षाभिः प्रस्थिपत्योपतस्थिरे ॥ ३ ॥
 नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने । गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुगे ॥ ४ ॥
 यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज त्वया । अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे ॥ ५ ॥
 तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् । प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारयतां गतः ॥ ६ ॥
 स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया । प्रसूतिमाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥ ७ ॥
 स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिदिवस्य ते । यौ तु स्वप्रायवोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ ॥ ८ ॥
 जगद्योनिरयीनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः । जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥ ९ ॥
 आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना ॥ आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे १०

दूसरा सर्ग

उन्हीं दिनों तारक नामके राक्षसने देवताओंको हतना सता रक्ता था कि वे सब इन्द्रको
 आगे करके ब्रह्माजीके पास पहुँचे ॥ १ ॥ जब उदरस मुँहवाले देवताओंके सामने ब्रह्माजी उसी
 प्रकार आकर प्रकट हो गए जैसे तालमें सोए हुए कमलोंके आगे प्रातःकालका सूर्य निकलता है ॥ २ ॥
 ब्रह्माजीके सामने देखते ही वे सब देवता आर मुँहवाले और सारे जगत्की बनानेवाले ब्रह्माजीको
 प्रणाम करते बड़े भेद-भरे शब्दोंमें यह स्तुति करने लगे ॥ ३ ॥ हे भगवन् ! संसारको रचनेके
 पहले एक ही रूपमें रहनेवाले पर जब संसार रचने लगते हैं उस समय सत्व, रज और तम तीन
 गुण उत्पन्न करके ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामसे तीन रूपके बन जानेवाले आपकी प्रणाम है ॥ ४ ॥
 हे ब्रह्मन् ! आपने सबसे पहले जल उत्पन्न करके उनमें ऐसा बीज बो दिया जो कभी शकारथ नहीं
 जाता और जिसमें एक घोर ये पशु, पक्षी, मनुष्य आदि घटनेवाले जीव और दूसरी घोर घृण,
 पहाड़ आदि न चलनेवाला पगव उत्पन्न हुआ है । इसीलिये आपकी ही सन संसारका उत्पन्न
 करनेवाला बताते हैं ॥ ५ ॥ आप ही शिव, विष्णु और हिरण्यगर्भ इन तीन रूपोंसे अपनी शक्ति
 प्रकट करके संसारका नाश, पालन और उरणदन करते हैं ॥ ६ ॥ आप ही जब स्त्री और पुरुषकी
 रूढ़ि करने चलते हैं, उस समय आपकी ही स्त्री और पुरुष दो रूप बन जाते हैं । वे ही दोनों रूप
 सारे संसारके माता पिता बड़े जाते हैं ॥ ७ ॥ आपने समयकी जो आप बना रखी है उसके अनुसार
 जो दिन और रात होते हैं, उसमें जब आर सोते हैं तब संसारका महाप्रलय हो जाता है और जब
 आप जागते हैं तब संसारकी सृष्टि होती है ॥ ८ ॥ संसारकी आपने उत्पन्न किया है पर आपकी
 स्थिति उत्पन्न नहीं किया । आर संसारका अन्त करते हैं पर आपका कोई अन्त नहीं कर सकता ।
 आपने संसारका प्रारम्भ किया है पर आपका कभी प्रारम्भ नहीं हुआ । आप संसारके स्वामी हैं पर
 आपका कोई स्वामी नहीं है ॥ ९ ॥ आप, अपने अपनेको अपनेमें ही जानते हैं और अपने आप
 अपनेको उत्पन्न करते हैं और जब अपना काम पूरा कर चुकते हैं तब अपनेको अपनेमें ही लीन कर

द्रवः संपातकठिनः स्थूलः स्रक्ष्मो लघुर्गुरुः । व्यक्तोवक्तेरश्वासि प्राकाम्यं ते विभृतिषु ११
उद्धातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम् । कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्
त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् । तद्दर्शिनमुदासीनं स्वामेव पुरुषं विदुः ॥१३॥
त्वं पितृणामपि पिता देवानामपि देवता । परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि ॥१४॥
त्वमेव हृद्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः । वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम्
इति तेभ्यः स्तुतीः श्रुत्वा यथार्था हृदयंगमाः । प्रसादाभिमुखो वेधाः प्रत्युवाच दिवोकसः १६
पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता । प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ॥१७॥
स्वागतं स्वानधीकारान्प्रभाधैरवलम्बयवः । युगपद्युगवाहुभ्यः प्राप्तेभ्यः प्राज्यविक्रमाः ॥१८॥
किमिदं द्युतिमात्मीयां न विभ्रति यथा पुरा । हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतीषीव मुखानि वः ।
प्रशमादचिंपामेतदनुदीर्णसुरायुधम् । धृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठितार्थीव लक्ष्यते ॥२०॥
किंचायमरिदुर्वारः पाणौ पाशः प्रचेतसः । मात्रेण हतवीर्यस्य फणिनो दैन्यमाश्रितः ॥२१॥
कुवेरस्य मनःशल्यं शंसतीव पराभवम् । अपविद्गदो बाहुर्मप्रशास इव द्रुमः ॥२२॥

यमोऽपि विलिखन्भूमिं दंडेनास्तमितत्विया। कुरुतेऽस्मिन्नमोघेऽपि निर्वाणालातलाघवम्
 अमी च कथमादित्थाः। प्रतापक्षतिशीतलाः। चित्रन्यस्ता इव गताः प्रकामालोकनीयताम्
 पर्याकुलत्वान्मरुतां वेगभङ्गोऽनुमीयते। अम्मसामोघसरोधः प्रतीपगमनादिव ॥ २५ ॥
 आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः। रुद्राशामपि मूर्धानः क्षतहंकारशंसिनः २६
 लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं युयं किं बलवचरैः। अपवादेरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः ॥ २७ ॥
 तद्भ्रूत वत्साः किमितः प्रार्थयध्वं समागताः। मयि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्माश्ववस्थिता
 ततो मन्दानिलोद्धृतकमलाकरशोभिना। गुरुं नेत्रसहस्रेण नोदयामास वासवः ॥ २९ ॥
 स द्विनेत्रं हरेश्चक्षुः सहस्रनयनाधिकम्। वाचस्पतिरुवाचेदं प्राञ्जलिर्जलजासनम् ॥ ३० ॥
 एवं यदास्थ भगवन्नामृष्टं नः परैः पदम्। प्रत्येकं विनियुक्तात्मा कथं न शास्यसि प्रमो ॥ ३१ ॥
 भवहृद्वधवरोदीर्घस्तारकारुण्यो महासुरः। उपस्रवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः ॥ ३२ ॥
 पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम्। दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते ॥ ३३ ॥
 सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिर्निपेवते। नादत्तं केवलां लेखां हरच्छादनशीकृताम् ॥ ३४ ॥

जैसे कटी हुई शालावाला वृक्षका टुकड़ा हो। यह बता रहा है कि किसी बड़े तगड़े शत्रुसे हार जानेका
 कौटा इनके हृदयमें कसक रहा है ॥ २२ ॥ अपने निस्तेज दण्डले पृथ्वीको, डरेदते हुए यमराज
 ऐसे यथो लय रहे हैं मानो उनका करार दण्ड भी हुआ है। लड़क जैसा बेकाम हो गया हो ॥ २३ ॥
 यह धारह आदित्य भी अपनी तेज भँवाकर छोड़े पड़े हुए, ऐसे चित्रलिते से और मंदे क्यों दिखाई दे
 रहे हैं कि कोई भी अवतक चाहे उन्हें शक्ति गदाकर देता रह जाय ॥ २४ ॥ जैसे उँचेकी शीर
 बहनेवाले जलका बहाव भीमा पड़ जाता है वैसे ही उनवासों पवन ऐसे क्यों दिखाई पड़ रहे हैं
 जैसे वे भी पयराइते मन्दे पड़ गए हों ॥ २५ ॥ हारके दुःखसे झुकी हुई सुनी जटाओंमें लटकती
 हुई चन्द्रकलाप्रोवाले ग्यारह तारोंके माथे में यह बता रहे हैं कि उनकी हंकार करनेकी शक्ति
 भी जाती रही है ॥ २६ ॥ जैसे व्याकरण आदि शास्त्रोंमें किसी व्यापक नियमको शपनादवाला
 नियम व्यर्थ कर देता है वैसे ही क्या आप लोग भी किसी पराक्रमी शत्रुसे अपनी अपनी अधिकार
 लुटवा बैठे हैं ॥ २७ ॥ हे देवताओ! मुझे बताइए कि आप लोग मेरे पास इकट्ठे होकर क्या कहनेके
 लिये आए हैं, क्यों कि हमारा काम तो केवल संसारकी सृष्टि करना भा है, उसकी रक्षा करना तो
 आप ही लोगोंके हाथमें है ॥ २८ ॥ ब्रह्माजी की यह बात सुनकर इन्द्रने अपने सहस्र नेत्रोंको इस
 प्रकार चलाकर बृहस्पतिजीको बोलनेके लिये संबोधित किया जैसे मन्द पवनके चलनेपर कमलका धन
 हिल उठता है ॥ २९ ॥ जिनके दो नेत्रोंमें ही इन्द्रके सहस्र नेत्रोंसे भी पड़कर देखनेकी शक्ति
 थी वे बृहस्पतिजी, हाथ जोड़कर ब्रह्माजीसे कहने लगे ॥ ३० ॥ हे ब्रह्मा! आप जो कुछ कहते
 हैं वह सब सत्य है। हम लोगोंके सब स्थान शत्रुओंने अपने हाथमें कर लिए हैं। आप तो
 सबके घट-घटमें रमें हुए हैं, भला आपसे कोई बात छिपी थोड़े रहती है ॥ ३१ ॥ हे भगवन्!
 आपका बरदान पाकर तारक नामका डीठ राक्षस उसी प्रकार सिर उठाता चला जा रहा है जैसे
 संसारका नाश करनेके लिये पुच्छला (धूमकेतु) तारा निकल आया हो ॥ ३२ ॥ प्रबन्ध किरणोंवाला
 सूर्य भी उससे हलना करता है कि उसके नगरपर केवल उतनी ही किरणें फैलाता है जिनसे
 राजके कमल भर फिल उठें ॥ ३३ ॥ चन्द्रमा यहाँ पूरे महीने भर अपनी पूरी कला लेकर धूमका
 करता है, केवल उस एक कलाकी झोड़ देता है जिसे शिवजीने अपने भरतकका मुख बना

व्यावृत्तगतिरुद्याने कृत्तुमस्तेयसाधनसात् । न वाति वायुस्तत्पारर्षे तालवृन्तानिलाधिकम्
पर्यायसेवापुत्सृज्य पुष्पसंभारतत्पराः । उद्यानपालसामान्यमृतवस्तुपासते ॥३६॥
तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरितां पतिः । कथमप्यम्मसामन्तरानिपत्तोः प्रतीचते ३७
ज्वलन्मणिशिखाधैरं वासुकिप्रमुखा निशि । रियरप्रदीपतामेत्य भुजंगाः पर्यापासते ॥३८॥
तरुक्रतानुग्रहापेक्षी तं मुहुर्दृत्तहारितैः । अनुकूलपतीन्द्रोऽपि कल्पद्रुमविभूषणैः ॥३९॥
इत्यमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् । शाम्येत्प्रत्ययकारेण नोपकारेण दुर्जनः ४०
तेनामरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः । अभिज्ञारल्लेदपातानां क्रियन्ते नन्दनद्रुमाः ॥४१॥
योज्यते स हि संसृप्तः श्वसमावास्थानिलैः । चामरैः सुरवन्दीनां वाप्यसीकरवर्षिभिः ४२
उत्पाद्य मेरुवृक्षाणि क्षुण्णानि हरितां सुरैः । आक्रोडपर्वतास्तेन कल्पिताः स्वेषु वेरमसु
मन्दाकिन्याः पयः श्रेपं दिग्धारणमदाविलम् । हेमाम्भोरुहसस्यानां तद्व्याप्यो धाम सांप्रतम्
भुवनालोकनप्रीतिः स्वर्गिमिनित्नुभूयते । खिलीभूते विमानानां तदापातभयात्पथि ४५
यज्वभिः संभृतं हव्यं विततेष्वधरेषु सः । जातवेदोमुत्तान्मायी मिपतामाच्छिनत्तिनः ४६
उर्ल्वैरुच्यै श्रवास्तन हयरत्नहारि च । देहवद्भिर्मिन्द्रेण्य चिरकालाजितं यशः ॥४७॥

जिया है ॥ ३६ ॥ पवन भी उसके पास पंखोंके बालुमें थपिक वेगसे नहीं घड़ता क्यों कि उसे
दर है कि नहीं तारकामुरकी फुलवारीके फूल झड़ जायँ थीर उसे चोरका दण्ड भोगना पड़े ॥ ३५ ॥
एथो कृतपूर्व अपने समपका विचार छोड़ कर एक साथ फुलवारीकी मालिनियोंके समान एक
दूसरे बालुके फूलोंको गिना छेदे हुए अपने-अपने कृतके फूल उपजाकर तारकामुरकी सेवा करती
हैं ॥ ३६ ॥ समुद्र भी उसके पास गँठके योग्य रत्न भोगनेके लिये सबतक जलके भीतर घाट जोड़ता
रहता है, अथवाक कि ये रत्न ठीक चढ़ न जायँ ॥ ३७ ॥ चमकते हुए मणिके मनवाले वासुकि आदि
यदि यदि सौंघ रातकी अपने मणियोंके न भुक्तनेवाले हीप से छेहर उसरी सेवा किया करते हैं ॥ ३८॥
इन्द्र भी उसके कृपा पानेके लिये धार-धार अपने दूतोंके हाथ कदपट्टके सुन्दर रत्न उसके
पास भोगकर उसे प्रसन्न रहता करते हैं ॥ ३९ ॥ इतनी सेवा करनेपर भी वह असुर तीनों भुवनोंकी
पीडा देता जा रहा है क्योंकि सासके देवता घातमे नहीं मानते ॥ ४० ॥ मन्दनवनके जिन
वृक्षोंके कोमल पत्तोंको देवताओंकी छियाँ पड़ी कोमलताके साथ अपने कन्दकूट बनानेके लिये तोडा
करती थीं उन्हींको वह शपथ करी निदेषतामे काट-काट कर गिरा रहा है ॥ ४१ ॥ जय यह मोया
करता है उस समय देवताओंकी वन्दी छियाँ गरम-गरम उर्माति खेती हुई थीर आँसू पड़ता हुआ
उसपर चौर हुआवा करती है ॥ ४२ ॥ सूर्यके घोड़ोंमे दोनों पड़ी हुई मेरुकी चोटियोंको उखाड़-
उखाड़कर उसने अपने घरमें ले जाकर गेबके पहाड़ बना डाले हैं ॥ ४३ ॥ मन्दाकिनीके सोनचमल
उत्साह-उत्साहकर उमने अपने घरकी धात्रलियोंमें लगा लिये हैं और हरीत्रिये मन्दाकिनीमें धात्र-
कल केवल दिग्गजोंके मदमे गँदला जड़ भर दियाई दिया करता है ॥ ४४ ॥ पहले देवता लोग
विमानोंपर चढ़कर हम लोभते उस लोभमें घूमते-छिाने थे, पर अब उनके धात्रमणके दरमे
आकाशमें निखलना भी दुभर हो गया है ॥ ४५ ॥ यह देवता भारी दुनिया है कि जब यज्ञमें यममान
हम लोभोंकी आहुति देता है तब वह हम लोभोंके देवने-देवने अलिके सुँदमे हमरा भाग छीन
खेता है ॥ ४६ ॥ हमने उरुप्रवा नामका यह सुगर घोडा भी छीन लिया है जो बहुत दिनोंसे

तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः। धीर्यवन्त्यौपधानीव विकारे सांनिपातिके
जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा। हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्कमिवापितम्
तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्करावर्तकादिषु। श्रम्यस्यन्ति तटाघातं निर्मितैरावता गजाः।
तदिच्छामो विभो स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये। कर्मवन्वच्छिद्रं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः
गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रमित्। प्रत्यानेप्यति शत्रुभ्यो वन्दीमिव जयश्रियम्
वचस्यवसिते तस्मिन्ससर्ज गिरमात्मभूः। गर्जितानन्तरां वृष्टिं सौभाग्येन जिगाय सा ४३
संपत्स्यतेवःकामोऽयं कालः कश्चित्पतीक्ष्यतामून त्रस्य सिद्धौ यास्यामि सर्गवशापारमात्मना
इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीनेत एवाहति क्षयम्। विपवृक्षोऽपि संवर्ष्य स्वयं छेत्तुमर्साप्रतम् ५५।
वृचं तेनेदमेव प्राच्याया चास्मै प्रतिश्रुतम्। शरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्पपः ५६।
संयुगे सांपुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः। अंशाद्वते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥५७।
स हि देवः परंज्योनिस्तमःपारे व्यवस्थितम्। परिच्छिन्नप्रभार्त्तर्द्धिनं मया न च विष्णुना
उमारूपेण ते यूयं संयमस्त्वितमितं मनः। शंभोर्यतश्चमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत् ५९।

इच्छते किं हुए इच्छते यशके समान ही महान् था ॥ ४७ ॥ जैसे सन्निपातमें बड़ी बड़ी धोपधियों
भी फान नहीं कर पातीं उसी प्रकार हम भी उस दुष्टको मारनेके लिये जितने उपाय करते हैं वे सब
न्यर्थ हो जा रहे हैं ॥ ४८ ॥ विष्णुके विम प्रकार हम लोग जीतकी आस लगाए बैठे थे, वह भी
जब उसके गलेपर जाकर टहराता है तब उसमेंसे निकलता हुई चिनगारियों ऐसी जाग पड़ती हैं
माबो उस राक्षसके गलेमें माला पड़ना ही गई हो ॥ ४९ ॥ थाज पुरावतको भी हरा देनेवाले उसके
हाथी पुष्करावर्तक आदि वादलोंसे टकर ले-लेकर अपनी टीले टाहनेका खेलापाइ किया करते हैं ॥५०॥
इसलिये हे प्रभो ! विम प्रकार मोच पानेकी दुश्वा करनेवाले लोग जन्म-मरणसे छूटनेके लिये-कर्मके
बन्धनों की कटनेवाला उपाय खोजा करते हैं जैसे ही हम लोग भी उस राक्षसकी नष्ट करनेके
लिये एक ऐसा सेनापति उपन्न करना चाहते हैं ॥ ५१ ॥ जिसे देवताओंकी सेनाका रणक बनाकर
और उसे सेनाके आगे करके भगवान् हरद, शत्रुओंके हाथमें वन्दीके समान पर्वी हुई विजय-श्रीकी
छीटा फावें ॥ ५२ ॥ उनके कइ चुकनेपर मन्नाजी ऐसी मधुर वाणी बोले जो भेषके रजनेके पीछे
होमेवाली वर्षाके समान भली लगती थी ॥ ५३ ॥ ये बोले—आप लोगोंकी इच्छा तो पूरी हो
जायगी पर थाप लोगोंकी थोड़े दिन और बट जोहने परेगी क्योंकि मारकासुरको मारनेके लिये
मैं स्वयं तो अवतार ले नहीं सकता ॥ ४५ ॥ क्योंकि उस राक्षसको मने ही वरदान दिया है
हसलिये अपने हाथसे उसे मारना मुझे नीह नहीं लगता। अपने हाथसे लगाए हुए विपके
पेड़की भी अपने ही हाथसे काटना ठीक नहीं होता ॥ ५५ ॥ उसने मुझसे उस समय जो
वरदान माँगा था यदि मैं उसे न देता तो उसकी तदृश्यासे सारा संसार जल उठता
॥ ५६ ॥ महादेवजीके धीर्यसे उपन्न होनेवाले पुरके प्रतिरिक्त उस दुष्ट-भूमिमें लड़नेवाले
प्रसिद्ध लड़ाके तारकासुरका नाम और कोई दूसरा नहीं कर सकता ॥ ५७ ॥ क्योंकि शबर भगवान्
अन्यकारके पार रहनेवाले वे परम तेज हैं जिन्हें अविद्या छू नहीं पाती। इसलिये हम और विष्णु
भी उनकी सहायका दिखना अवतक नहीं लगा पाए हैं ॥ ५८ ॥ अत्र थाप लोग कोई ऐसा जतन

उभे एव च उभे वोढुमभयोर्वीजमाहितम् । सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ॥६०॥
 तस्यात्मा शितिऋष्टस्य सेनापत्यमुपेत्य वः । मोक्षयते सुरवन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः ॥
 इति व्याहृत्य विद्युधान्निश्चयोनिस्त्रिरोदधे । मनस्याहितकर्तव्यास्तेऽपि देवा दिवं ययुः ॥
 तत्र निधित्थ कंदर्पमगमत्पारुशासनः । मनसा कार्यममिद्वौ रमराद्विगुणरंहता ॥६३॥
 अथ स ललितयोपिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं रतिवलयपदाङ्गे चापमामज्य फण्टे ।
 सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुराग्रः शनमसमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पघन्वा ॥६४॥

इति महाकविभ्रोकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
 ब्रह्मसाक्षात्कारो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

कालिदास कि जीमे शुभचरते कोहा त्रिषु शाता द्वै वने ही समधि लगाम् हुए संकरजीका मन भी
 पार्वतीजीके रूपकी शौर त्रिषु थावे ॥ ५९ ॥ क्योंकि हमारे शौर शिषजीके वीर्यको धारण करता कोई
 हीनो टट्टा नहीं है । शिषजीके वीर्यको देवन पर्वतीजी धारण कर सख्यां है शौर हमारे वीर्यको
 ब्रह्मका रूप धारण करनेवाली शिषजीके मूर्ति ही धारण कर सकती है ॥ ६० ॥ उन्हीं पार्वतीजीके
 संकरजीका जो पुत्र होगा वही चाप कोमोजि सेनापति शौर जाने पराक्रमसे देवनाथकी बन्दी
 शिषीको पुझाई उनके डलके हुए पात्र सुतपत्र सरेगा ॥ ६१ ॥ तपारको उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मजी
 इतना कहकर शिषीके शोकन हो गए शौर देवता लोग भी आयेहा काम सोच विचारकर रसगोष्ठी
 पले गए ॥ ६२ ॥ इन्द्रके रसगोष्ठीमें पहुँचकर मज्जी-गति सोच विचारकर अपने कामके जिये
 वेगसे शीघ्रनेवाले मनमें कामदेवको समःप विधा ॥ ६३ ॥ स्मरण करने ही रतिके संगमची रूप वही
 हुए गजेमें, सुन्दर थीकी मूर्तिके सामान सुन्दर धनुष बंसेर लटकाकर शौर अपने शार्पी वपनके
 हाथमें आगके शौरका बाण देकर, वागदेव हाथ जोड़कर इन्द्रके आगे जा गया हुआ ॥ ६४ ॥

१. महाकवि भ्रोकालिदासके २७७ हुए कुमारसंभव नामके महाकाव्यमें ब्रह्मके
 ओट नामका कृता सर्ग समाप्त हुआ ।



तृतीयः सर्गः

तस्मिन्मघोन्नखिदशान्विहाय सहस्रमक्षणां युगपत्सपात ।
 प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु ॥ १ ॥
 स वासवेनासनसंनिकृष्टमितो निपीदेति विसृष्टभूमिः ।
 भर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मूर्ध्ना वक्तुं मिथः प्राक्रमतैवमेनम् ॥ २ ॥
 आज्ञापय ज्ञातविशेष पुंसां लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति ।
 श्वनुग्रहं संस्मरयप्रवृत्तमिच्छामि संवर्धितमाज्ञया ते ॥ ३ ॥
 केनाभ्यस्रया पदकाङ्क्षिणा ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभिः ।
 यावद्भवत्याहितसायकस्य मत्कार्मुकस्थास्य निदेशवर्ती ॥ ४ ॥
 अयंसंमतः कस्त्वव मुक्तिमार्गं पुनर्भवङ्गेशमयात्प्रपन्नः ।
 बद्धश्चिरं तिष्ठतु सुन्दरीयामारेचितभ्रूवतुरैः कटाक्षैः ॥ ५ ॥
 अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विपस्ते ।
 कस्यार्थधर्मो वद पीडयामि सिन्धोस्तटानोघ इव प्रवृद्धः ॥ ६ ॥
 कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनथारुतया प्रविष्टाम् ।
 नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलङ्गां कण्ठे स्वयंग्राहनिपक्तयाहुम् ॥ ७ ॥

तीसरा सर्ग

कामदेवके शापे ही इन्द्रकी सहस्रों श्रॉलें देवताओंपरसे इटकर एक साथ आदरके साथ
 कामदेवकी और घूम गईं क्योंकि प्रायः ऐसा होता है कि स्वामीको अपने सेवकोंसे जब जैसा काम
 निकालना होता है उसकोके अनुसार वे उनका आदर भी किया करते हैं ॥ १ ॥ इन्द्रने कामदेवसे
 कहा—आओ यहाँ बैठो । यह कहकर उसे अपने पास ही बैठा लिया । उसने भी सिर झुकाकर
 इन्द्रकी कृपा स्वीकार कर ली और उनसे गुण गुण यातचीत करने लगा ॥ २ ॥ यह योजा—
 सबके गुणोंको पहचाननेवाले हे स्वामी । आप आज्ञा दीजिए, तीनों लोकोंमें ऐसा कौन-
 सा काम है जो आप मुझसे कराना चाहते हैं क्योंकि मुझे स्मरण करके आपने जो कृपा
 की है उसे मैं आपकी आज्ञाका पालन करके और भी बढ़ाना चाहता हूँ ॥ ३ ॥ कहिए तो ऐसा कौन
 पुरुष उत्पन्न हो गया है जिसने बहुत पदा-पदा तपस्याएँ करके आपके मनमें ईर्ष्या जगा दी है ।
 आप मुझे उसका नाम भर बतला दीजिए फिर तो मैं अपनी जाँर उसे अपने इस बाण चढ़े हुए धनुषसे
 लोखे लाता हूँ ॥ ४ ॥ बतलए तो ऐसा कौन पुरुष है जो आपका शत्रु बनकर संसारके कष्टोंसे
 घबरकर मोक्षकी ओर चले पड़ा है—मैं उसे अपनी उन पुत्रियोंके नेत्रोंमें बहुत दिनोंके लिये
 फँसा देता हूँ जो वहाँकी चितवन चलानेमें बड़ी चतुर हैं ॥ ५ ॥ आपका वह शत्रु यदि शुक्र-
 चार्यसे भी नीतिराज्य पढ़कर आया होगा तब भी आपका भोगकी इच्छाको ऐसा दूत यना-
 त्र मैं उसके पास भेजता हूँ जो उसका धर्म और धर्म दोनों उसी प्रकार धार कर देगा जैसे
 (रसात्मने) पदी हुई बदीका बहाव दोनों तरफको बहा ले जाता है ॥ ६ ॥ क्या कौन सों ऐसी

कयासि कामिन्सुरतापराधात्पादानतः कोपनयावभूतः ।
 तस्याः करिष्यामि वृढानुतापं प्रवालशय्याशर्यं शरीरम् ॥ ८ ॥
 प्रसीद विश्राम्यतु चौर वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुरारिः ।
 विभेतु मोधीकृतवाहुभीर्यैः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताऽधराम्यः ॥ ९ ॥
 तव प्रसादात्कुसुमापुष्पोऽपि सहायमेकं भधुमेव लब्ध्वा ।
 कुपां हरस्यापि पिनाकपाणैर्धैर्यच्युतिं के मम घन्विनोऽन्ये ॥ १० ॥
 अथोरुदेशादवतार्य पादमाक्रान्तिसमावितपादपीठम् ।
 संकल्पितार्थे विधृतात्मशक्तिमात्रएडलः काममिदं वभाषे ॥ ११ ॥
 सर्वं सखे त्वय्युपपन्नमेतदुमे ममास्त्रे कुलिशं भर्वाथ ।
 वज्रं तपोवीर्यमहरस्तु कुण्ठं त्वं सर्वतोयामि च साधकं च ॥ १२ ॥
 अवैमि ते सारमतः खलु त्वां कार्ये गुरुव्यात्मममं नियोज्ये ।
 व्यादित्यपते भूधरतामवेक्ष्य कृम्येन देहोद्धृताय शेषः ॥ १३ ॥
 आशांसता वाशगतिं शृपाङ्गे कार्यं त्वया नः प्रतिपन्नकल्पम् ।
 नियोज्य यज्ञांशुजामिदानीमुच्चैर्दिषामीप्सितमेतदेव ॥ १४ ॥

सुन्दरी चौर दण्डोली प्रतिमता है जो आपके चञ्चल मनमें बैठ गई है । मैं अभी उस सुन्दरी-
 पर ऐसा काय चलाता हूँ कि वह सब लाज-सीज छोड़कर आपके गलेमें आ सके ॥ ७ ॥
 हे कामी ! कीन सा ऐसी साँ है जो आपका संभोग न पायेपर क्रोध करके आपसे हतना रुठी
 बैठी है कि परोंपर गिरकर मनानेपर भी अभी तक नहीं मानी है । मैं उसके मनमें ऐसा पद-
 ताया उरपन्न करता हूँ कि वह अपने आप आकर आपके पत्तोंके टण्डे निर्दानेपर बैठ जायगी ॥८॥
 हे चौर ! आप विन्ता छोड़कर अपने बड़ाको भी विश्राम कर लेने दें । आप मुझे बताइए
 यह कौन-सा श्रेय है जो मेरे बाणोंकी मारसे ऐसा शक्तिहीन हो जाऊँगा है कि आपसे
 कर्षिते हुए शोभावाली नाराँ तक उसे धरा दें ॥ ९ ॥ आपकी शृपा हो तो मैं केवल वातगुहो
 अपने साथ लेकर अपने वृत्रके बाणोंसे ही पितृक धारण करनेवाले स्वयं महादेवकीके लुपके
 लुप हूँ, फिर चौर दूसरे धनुषधारियोंकी साँ गिनती ही क्या ॥ १० ॥ यह बात सुनकर हनुको
 लुप बाणस शृपा चौर उन्हींके अपने पैर तोड़कर पाँव पंजैर रखने चौर त्रिम कामदेवने
 उनके लोचने हुए काममें अपने आप रतना उल्लाह दिवाया या उमरेंगे मोझे ॥ ११ ॥ हे मित्र !
 तुम सब बुझ कर सरने हो क्यों कि मैं तुम चौर वज्र, ये ही सो मेरे दो बाण हैं पर शत्रुओं
 की तपस्थाने हमारे वज्रको धार उधार दो है । अब तुम्हीं ऐसे बच रहे हो जो पेटोह-उंड तक
 चौर आ भी सके हो चौर हमारा काम भी कर ला सके हो ॥ १२ ॥ मैं सुन्दरी शक्ति
 मन्त्री-मौलि जानता हूँ, इमोजिये मैं तुम्हें अपने जैसा मानकर हुए बड़े काममें लगाया जाएगा
 हूँ । जानते हो, प्रलय होनेपर अपने सोनेके जिने मातानने शेषकी ही अपनी शय्या क्यों बनाया
 या ? क्योंकि ये देव बुझे थे कि शीतनाग जब शृपाको धारण कर सरने हैं तो मेरा मोध भी
 सह सके ॥ १३ ॥ मन्त्री-कामी तुमने कहा है कि हम अपने बाणोंसे शंकरजीको भी बटये कर

श्रमो हि वीर्यप्रभवं भवस्य जपाय - सेनान्यमुशन्ति देवाः ।
 स च त्वदेकेषुनिपातसाध्यो ब्रह्माङ्गभूर्ब्रह्मणि योजितात्मा ॥ १५ ॥
 तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व ।
 योफित्सु तद्दीर्यनिपेक्षभूमिः सैव कृमेत्यात्मभ्रुवोपदिष्टम् ॥ १६ ॥
 गुरोर्नियोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुं तपस्यन्तमधित्पकायाम् ।
 अन्वास्त इत्यप्सरसां मुखेभ्यः श्रुतं मया मत्प्रणिधिः सर्वगः ॥ १७ ॥
 तद्रच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यमधोऽवमर्थान्तरभाव्य एव ।
 अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वां वीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्गः ॥ १८ ॥
 अस्मिन्सुराणां विजयाभ्युपाये तवैव नामास्त्रगतिः कृती त्वम् ।
 अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म ॥ १९ ॥
 सुराः समभ्यर्थयितार एते कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम् ।
 चापेन ते कर्म न चातिहिंस्रमहो बलासि स्पृहणीयवीर्यः ॥ २० ॥
 मधुधु ते मन्मथे साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।
 समीरणो नोदपिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ॥ २१ ॥

सकते हैं। इसलिये एक प्रकर्मसे तुमने हमारा काम करनेका बीजा ही उठा लिया है। इसलिये समझ लो कि यज्ञवान शत्रुसे सत्ताए हुए और बरे हुए देवता तुमसे यही काम कराना चाहते हैं ॥ १४ ॥ ये देवता लोग चाहते हैं कि शत्रुको जीतनेके लिये शिवजीके बोर्यसे हमारा सेनापति उत्पन्न हो। इसलिये मन्त्रके बलसे यज्ञमें ध्यान लगाए हुए महादेवजीकी सत्ताधि तुम्हों अपने एक बाणसे तोड़ सकते हो ॥ १५ ॥ अर तुम ऐसा जतन करो कि समाधिमें बैठे हुए महादेव-जीके मनमें हिमालयकी-कन्या पार्वतीके लिये प्रेम उत्पन्न हो जाय, क्योंकि ब्रह्माजीने स्वयं यह बात बताई है कि स्त्रियोंमें वे ही एक ऐसी हैं जो शिवजीका वीर्य धारण कर सकती हैं ॥ १६ ॥ गुह्यचरका काम करनेवाली अपनी अप्सराओंके मुँहसे हमने सुना है कि पार्वतीजी अपने पिताजी आज्ञासे हिमालय पहाड़पर तप करते हुए महादेवजीकी सेवा कर रही हैं ॥ १७ ॥ इसलिये तुम जाओ और देवताओंका यह काम कर डालो वगैरे कि इस काममें बस एक कारख भर आदिये था। जैसे बीजको अंकुर बननेके लिये जलकी आवश्यकता पड़ती है वैसे ही यह काम भी तुम्हारी सहायताके भरोसे ही अटका हुआ था ॥ १८ ॥ देवताओंकी जीत तुम्हारे ही बालोंसे ही सकती है। तुम सचमुच बड़े भाग्यशाली हो क्योंकि संसारमें ऐसा असाधारण काम करनेसे ही धन मिलता है जिसे कोई दूसरा कर न सके ॥ १९ ॥ और फिर एक तो सय देवता लोग तुमसे इस कामके लिये भीख माँग रहे हैं, दूसरे यह कार्य वीरों ही लोकपालोंका है और तीसरी बात यह है कि यद्यपि इस काममें तुम्हारा धनुष काम आयेगा सही पर इससे किसीकी हिंसा नहीं होगी। आज तुम्हें देखकर सबके मनमें यह हृच्छा जग उठी है कि हमें भी तुम्हारे जैसी ही शक्ति मिल जाय ॥ २० ॥ हे कामदेव ! हमने तुम्हारी सहायताके लिये वस्तुका नाम इसलिये नहीं लिया कि यह तो तुम्हारा साथी दे ही।

तथेति शेषामिष मर्तुराज्ञामादाय मूर्धा मदनः प्रतस्थे ।
 ऐरावतास्फालनरुर्कशेन हस्तेन पस्पर्श तदङ्गमिन्द्रः ॥ २२ ॥
 स माधवेनाभिमतेन सख्या रत्या च साशङ्कमनुप्रपातः ।
 ब्रह्मव्ययप्रार्थितकार्यसिद्धि रथाण्यभ्रमं हैमवतं जगाम ॥ २३ ॥
 तस्मिन्वने संयमिनां गुनीनां तपः समावेः प्रतिकूलवर्ती ।
 संकल्पयोनेरभिमानभूतमात्मानमाधाय मधुर्जज्जम्मे ॥ २४ ॥
 कुनेरगुतां दिशमुप्यरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलह्य ।
 दिग्दक्षिणा गन्धवहं सुरेन व्यलीकनिश्चासमिवोत्मसर्ज ॥ २५ ॥
 अक्ष्ण सद्यः कुसुमान्यशोकः स्तब्धात्प्रभुभ्येय सपञ्चलानि ।
 पादेन नापेक्ष्य सुन्दरीणां संपर्कमासिञ्जितनूपुरेण ॥ २६ ॥
 सद्य प्रयालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नञ्चूतभाषे ।
 निवेशयामास मधुद्विरेफाशामाक्षराणीन मनोभवस्य ॥ २७ ॥
 वर्षाप्रकर्षे सति पथिकारं दूनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
 प्रायेण सामग्यविधौ गुणानां पराञ्जुषी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥ २८ ॥
 वाञ्छेन्दुवक्राण्यविक्रासमानाद्ब्रह्मः पलाशान्यनिलोहितानि ।
 सद्यो वसन्तेन समागतानां नखच्छतानीन वनस्थलीनाम् ॥ २९ ॥

क्योंकि भग्न पवनको नहीं यह थोड़े ही कहा जाता है कि तुम जाकर आगको सहायता करो । यह तो आगको भङ्गकाल ही है चाहे कोई कहे या न कहे ॥ २२ ॥ कामदेव घोड़ा—जीवी आग । और जैसे कोई उपहारमें दी हुई माला लेकर निरंतर चला होता है वैसे ही कामदेवने दृढ़की आज्ञा सिर धरा ही । जब वह चलने लगा तब इन्द्रने उसकी पंखर चपला यह हाथ पंखर उठे उरसाहित किया जो पुरातनको संतुष्ट खगले लगाने कहा यह गया था ॥ २३ ॥ उतने निशप कर दिया कि प्राण देकर भी मैं देवताओंका काम करूँगा । फिर यह पवनको साथ लेकर उधर चल दिया निरंतर निरपको घेरे चरपा कर रहे थे । इनके पीछे पीछे ये गरी रति मनमें हाँसी चली जा रही थी कि आज न जाने क्या होनेवाला है ॥ २४ ॥ उत पारमें पहुँचकर मुनिवोंके तपकी समाधिकी दिगानेवाला और कामदेवका सहायक बननेका पण्डित बरनेवाला वसन्त चपला पूरा रूप लोलकर चले और धा गया ॥ २५ ॥ वसन्तके घुने ही समयमें ही मूर्ध्व दक्षिणावतसे उपरापण चले आया । तब समय दक्षिणारे जो मजप पवन चला था यह देगा प्रतीत होता था मानो चलने पति मूर्ध्वके चले जानेका दक्षिण दिशा दुर्गा होकर चलने मुँहसे खपवा-खपवा लीके होइ रही हो ॥ २६ ॥ अगोकरा दृष्ट भी सफाई भीसे से ऊपरतक पूर-पणोंसे सर गया और भनकलले विपुर्गोवाजे मुग्धविकोके चरकोके प्रहारकी बल भी उमरो गयी देयो ॥ २७ ॥ सुन्दर वसन्तने नई बोंपणोंके पण खगाकर आगकी संतसियोंके साथ निरंतर कर दिए और उधर उतने जो गीरे बसन्त के उभे खगले थे मानो उन पावोंपर कामदेवके नामके चपल लियो हुए हों ॥ २८ ॥ वहाँ चले हुए बरिष्कर देवने ही सुन्दर थे पर गंध न होनेके कारण मनको भले न थे । अज्ञाकी बुद्ध देगी जान हो यह मूर्ध्व के कि वे किसी भी वायुमें पूरे गुण भले ही नहीं ॥ २९ ॥ वसन्तके चले ही दूबने चन्द्रगाके समान देते, काम-

लभद्विरेफाञ्जनमक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकारय ।
 रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोगुमलंचकार ॥ ३० ॥
 मृगाः प्रियालङ्घुममञ्जरीयां रजःकरैर्विधिनतदृष्टिपाताः ।
 मदोद्धताः प्रत्यनिलाः विचेरुर्जनस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः ॥ ३१ ॥
 चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः पुँस्कोकिलो यन्मधुरं चुङ्गज ।
 मनखिन्नोमानविघातदहं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥ ३२ ॥
 हिमव्यपायाद्विशदाधराखामापोण्डरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
 स्वेदोद्गमः किंपुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥ ३३ ॥
 तपस्विनः रथाणुवनौरुसस्तामाकालिकीं वीक्ष्य मधुप्रवृत्तिम् ।
 प्रयत्नसंस्तम्भितविक्रियाणां कथंचिदीशा मनसां बभूवुः ॥ ३४ ॥
 तं देशमारोपितपुष्पचापे रविद्वितीये मदने प्रपन्ने ।
 काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः ॥ ३५ ॥
 मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
 शृङ्गेया च स्पर्शनिमित्तिताचीं मृगीमकण्ड्वयत कृष्णसारः ॥ ३६ ॥
 ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डपजलं करेणुः ।
 अर्घोपशुक्तेन वितेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ॥ ३७ ॥

काक-लाल आर्षणने टेसूके फूल बनगूमिमें फैले हुए ऐसे लग रहे थे मानो वसन्तने वनस्थलियोंके
 साथ विहार करते वनपर अपने नखोंके नये चिह्न बना दिए हैं ॥ २९ ॥ यहाँ उभते हुए मैरे खिले
 हुए तिलकके फूल और प्रातःकालके सूर्यकी लालीसे चमकनेवाली कोंपलें ऐसी लगती थीं मानो
 वसन्तकी शोभा रूपी खाने भैंरे रूपी अँजनसे अपने मुँह चीतकर, अपने माथेपर तिलकके फूलकी
 तिलक लगाकर और प्रातःकालके सूर्यकी कोमल लालीसे चमकनेवाले धामकी कोंपलोंसे अपने छोट
 रंग लिए हैं ॥ ३० ॥ खँलोंमें विवाहके फूलोंके परागके उड़ उठकर पड़नेसे जो मतवाले हरिय भली
 भीति देख नहीं पा, रहे थे वे पवनसे कड़े हुए सूखे पत्तोंसे भर्भर करती हुई वनकी भूमिपर इधर-
 उधर दौपते फिर रहे थे ॥ ३१ ॥ धामकी मञ्जरियाँ धा लेनेसे जिस कोकिलका बँठ भौंटा हो गया
 था वह जब मीठे स्वासे कूक उठता था तब उसे सुन सुनकर कठी हुई क्षियाँ अपना कूठना भी भूल
 जाती थीं ॥ ३२ ॥ जाड़ेके बीतने और गर्मीके आ जानेसे कोमल छोड़ें और सुन्दर मोरे सुलौंवाली
 किन्नरियोंके मुखपर खीती हुई चित्रकारीपर पलीना माने लगा ॥ ३३ ॥ महादेवकीके साथ उस वनमें
 रहनेवाले तपस्वी लोगोंने वसन्तकी आया हुआ देखकर अपना मन विकारसे इटाकर यही
 कठिनाईसे रोह रक्खा था ॥ ३४ ॥ फिर जब अपने फूलके धनुषपर बाण चढ़ाकर रतिको साथ लेकर
 कामदेव आया तब चर और अचरोंकी अत्यन्त बड़ी हुई सम्मोगकी रचड़ा उनमें दिखाई देने लगी ॥ ३५ ॥
 भैंरा अपनी प्यारी भैंराके साथ एक ही फूलकी कठोरीमें मकरन्द पीने लगा । काला हरिय अपनी
 उस हरिणीकी सींगसे तुजवाने लगा जो उसके स्पर्शका सुख लेती हुई झॉल मुँदे बैठी थी ॥ ३६ ॥
 इयिनी बड़े प्रेमसे कमलके परागमें बसा हुआ सुगन्धित जल अपनी सूँबसे निकालकर अपने हाथोको

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेखीः किञ्चित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
 पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषधुत्तुम्ब ॥ ३८ ॥
 पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौघमनोहराम्बुः ।
 लतावधूम्यस्तरवोऽप्यवापुर्निमग्नशाखाभुजबन्धनानि ॥ ३९ ॥
 श्रुताप्सरोमीतिरपि क्षणोऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
 आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥ ४० ॥
 लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी धामप्रकोष्ठापितहेमवेत्रः ।
 मुखापितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गयान्वयनेपीत् ॥ ४१ ॥
 निष्कम्पवृत्तं निमृत्तद्विरेफं मूलाण्डजं शान्तमृगप्रचारम् ।
 तच्छ्लासनात्काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्ये ॥ ४२ ॥
 दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुरुमिव प्रयागे ।
 प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश ॥ ४३ ॥
 स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मन्यवधानवत्याम् ।
 आसीनमामन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥ ४४ ॥
 पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्जायतं संनमितोभयांसम् ।
 उत्तानपाण्ड्यसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्गमथ्ये ॥ ४५ ॥

विज्ञाने लगी थीर चक्रवा भी प्रापी कुतरी हुई कमलकी नाज खेहर बहनोंकी भेंट करने लगा
 ॥ ३७ ॥ फिर लोम गीतोंके बीचमें ही अपनी प्रियाओंके ये मुख घूमने लगे जिनपर
 गरुडके कारण पत्नीना दृग् गया था, जिनपर चीतां हुई चित्रकारी किए गई थी और
 जिनके नेत्र फूलोंकी मरिचासे मतवाले होनेके कारण बड़े सुभावने लग रहे थे ॥ ३८ ॥
 वृत्त भी अपनी सुंदरी हुई दालियोंकी पैला-फैलाकर ठम लताओंसे लिपटने लगे जिनके बड़े बड़े
 फूलोंके गुच्छोंके रूपमें सान लटक रहे थे और पत्तोंके रूपमें जिनके सुन्दर घोंड दिख रहे थे ॥ ३९ ॥
 हसी बीच श्रमसामर्थ्ये भी धरना माग-गाना धारण कर दिया पर महादेवजी टलने मन न हुए
 और अपने ध्यानमें ही मग्न रहे क्योंकि जो लोग धरना मन बशमें कर खेते हैं उनको समाधि क्या
 भजा कोई लुका सकता है ॥ ४० ॥ ठम समय नन्दी धरने काँट हाथमें सोनेका ढंढा लिए हुए जला-
 संकष्टके द्वारपर पैदा सुँडार उँगली रखकर सब गणोंको संकेतसे मना कर रहा था कि तुम लोग
 भद्रप्रदयम चौककर पुनचाप यैशो ॥ ४१ ॥ उमकी चापला पाते ही इषाने हिलना बन्द कर दिया,
 भीतने गूँसना बन्द कर दिया, सब भीव जन्तु पुन ही गए और पशु भी जहाँके तहाँ रखे रह गए,
 यहाँ तक कि सात वन उस एक ही संकेतमें ऐसा लगने लगा मानों विषमें शिषा हुआ हो ॥ ४२ ॥
 जैसे यात्रा करनेके समय लोग रामनेके चुकड़ी रशि सपाते हैं वैसे ही कामदेव भी नन्दीकी चारों
 बचाकर नभेदकी शाराओंसे घिरे हुए उस स्थानमें आ चुका जहाँ महादेवजी समाधि लगाए
 बैठे थे ॥ ४३ ॥ योही ही श्रेयमें मृगुके सुँडमें पहुँचनेवाला वह कामदेव देखता क्या है कि देवदारुके
 पेड़की जड़में पधारकी शक्तिसे बनी हुई चाँदीर चापपर विद्या हुआ है और उसपर महादेवजी
 समाधि लगाए बैठे हुए हैं ॥ ४४ ॥ इन्होंने वीर मन लगा रखा है, धरना घट गीया और प्रवच

भुजंगमोक्षद्वजटाकलापं कर्णाविसक्तद्विगुणात्सूत्रम् ।
 कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥ ४६ ॥
 किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोग्रतरैर्ध्रुविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः ।
 नेत्रैरविस्पन्दितपद्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥ ४७ ॥
 अष्टाष्टिसंस्ममिवाम्बुवाहमशमिवाधारमनुत्तरंगम् ।
 अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निघातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥ ४८ ॥
 कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।
 मृशालश्रवाधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लायन्तमिन्दोः ॥ ४९ ॥
 मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
 यमचरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यबलोकपन्तम् ॥ ५० ॥
 स्मरस्तयाभूतमयुग्मनेत्रम् पश्यन्तदूरान्मनसाप्यष्टुष्यम् ।
 बालव्यत्साध्यससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥ ५१ ॥
 निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संभुव्यन्तीव वपुर्गुणेन ।
 अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥ ५२ ॥
 अशो कनिर्मलितपरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
 मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पावरणं वहन्ती ॥ ५३ ॥

का लिया है और अपने दोनों कंधे सुकाकर अपनी गोदमें कमलके समान दोनों हथेलियोंको ऊपर
 किए वे बिना दिजे हुले बैठे हैं ॥ ४५ ॥ सापोंसे उनकी जश बड़ी हुई है । दाहिने कानपर दुहरो
 रुदाचक्री माला टँगी है और गलेकी बोली चमक से और भी अधिक सौन्दर्य दिवाई पढ़नेवालों
 गूगलाला उनकी शरीरपर गोंठ मारकर कपी हुई हैं ॥ ४६ ॥ भौंहे तानकर कुज-कुज प्रकाश देनेवाली,
 निश्चल, उग्र तारोंवाली और अपनी किरणें नीचे, डाकनेवाली धौंखीसे नाकके अगले भागपर दृष्टि
 जमाए वे बैठे हुए हैं ॥ ४७ ॥ और शरीरके भीतर चलनेवाले सब पवनोंकी रोककर वे ऐसे अचल
 हुए बैठे हैं जैसे त वरसनेवाला बादल हो, बिना लहरोंवाला निश्चल ताल हो या पवन रहित स्थानमें
 लकी ली बाला दीपक हो ॥ ४८ ॥ उस समय उनके फिर और नेत्र से जो जेज निकल रहा था उसके
 आगे कमलके सन्तुप्त भी अधिक कोमल बाल चन्द्रमाकी शोभा भी कुछ नहीं थी ॥ ४९ ॥
 वहाँ समाधिमें बैठे हुए शंकरजी अपनी उस अतिनारी आत्माकी ज्योतिःकी अपने भीतर देख रहे थे
 जिसे ज्ञानी लोग अपनी बर्षों इन्द्रियोंके द्वार रोककर मनको समाहित वशमें करके हृदय गामके
 स्थानमें रोककर जाने पाते हैं ॥ ५० ॥ तीन नेत्रवाले शंकरजीका जो रूप बुद्धि और मनसे भी परे था
 उसी रूपकी इतने धामसे देखकर कामदेवके हाथ डलके मरे ऐसे दीखे पद गए कि यह यह भी न
 जान सका कि मेरे हाथसे घनुष बाण छूटकर गिर कर गए ॥ ५१ ॥ उसके मरे कामदेवकी शक्ति तो
 नष्ट हो गई थी पर जब उसने माझिनी और विजया नामकी वन-देवियोंके साथ अत्यन्त सुन्दरी
 पत्नीका मनोहर रूप देखा तब मानो उसकी छोई हुई शक्ति फिर जाग उठी ॥ ५२ ॥ उस अत्यन्त

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणाङ्गराम् ।
 पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेषु ॥ ५४ ॥
 स्रस्तां निनम्वादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम् ।
 न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयामिव कार्मुकस्य ॥ ५५ ॥
 सुगन्धिनिश्वासविद्वद्गुण्यं विम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
 प्रतिबन्धं संभ्रमलोलादृष्टिर्लालारविन्देन निवारयन्ती ॥ ५६ ॥
 तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि द्वीपदमादधानाम् ।
 जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंस ॥ ५७ ॥
 भविष्यतः पत्युरुमा च शंभोः समाससाद् प्रतिहारभूमिम् ।
 योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपासाम ॥ ५८ ॥
 ततो भुजंगाधिपतेः फणाग्रैरथः कथंचिद्भूतभूमिमागः ।
 शनैः कृतप्राणविमुक्तिरीशः पर्यङ्कवन्धं निविडं विभेद ॥ ५९ ॥
 तस्मै शशंस प्रविपत्य नन्दी शुभ्रपया शैलसुतामुपेताम् ।
 प्रवेशयामास च सुर्तुरेनां भ्रूक्षेपमानानुमतप्रवेशाम् ॥ ६० ॥

पार्वतीजीके शरीरपर लाख मणिकी लज्जित करनेवाले शरीरके पणोंके, सोनेकी चमककी घटानेवाले
 कणिकारके कूजोंके और मोतियोंकी मालाके समान उनके सिन्धुवारके पासन्ती कूजोंके शश्रूपण
 हुए थे ॥ ५३ ॥ स्वर्णके बोकनेके लिये हुए शरीरपर प्रातःकाजके सूर्यके समान लाल कण
 वे ऐसी लग रही थीं जैसे कूजोंके गुच्छेके भासते हुकी हुईं नई लाल छाल केँपल्लोवाली पक्षी
 किरती खता हो ॥ ५४ ॥ उनकी कमरमें पड़ी हुई केसरके कूजोंकी सगरी (काधनी) जव-जव निचम्पसे
 नाचे धितक छाती भी तव-तव से उसे अपने हाथो पकड़कर ऊपर सरका खेती थीं। वड सगरी ऐसी
 लगी थी मानो वहाँ क्या पहनना चाहिए इस बातकी जाननेवाले कामदेवने अपने हाथमें उनकी
 कमरमें अपने धनुषकी दूसरी डोरी पहना दी हो ॥ ५५ ॥ कामदेवने देखा कि उनकी सुगन्धित
 सोंतपर लखवे हुए भीरे जव-जव उनके साज-साल घोड़ोंके पास आते हैं तव-तव से घपराहने
 सोँते नचाती हुई छोटे छोटे कमलोंसे मारकर उन्हें भाग देती हैं ॥ ५६ ॥ कामदेवने जब इतिके भी
 लज्जानेवाली, अधिक सुन्दर शंभोवाली पार्वतीजीको देखा तब उसके मनमें त्रिवेन्द्रिय महादेवकी
 घटमें करनेकी आशा फिर हरी हो उठी ॥ ५७ ॥ इसी बीच पार्वतीजी भी अपने भागी पति शंभरकी
 आश्रमके द्वारपर धा पहुँची। ठीक वही समय महादेवजीने भी परमात्मनामकी परम ज्योतिष्का
 दर्शन करके अपनी समाधि छोड़ी ॥ ५८ ॥ सोँते लोडकर उन्होंने धरे-धीरे सोँते घेना प्रारम्भ कर
 दिया और अपनी कटोर पकड़ो भी शोध दी। हवींजिये उनका यह शरीर जो समाधिके समय बहुत
 दृढ हो गया था फिर हलना भारी हो गया कि उनके शरीरकी भूमिके शंभु गणवान वही कटिनाईने
 अपने पत्थर तैयार पाए ॥ ५९ ॥ उनकी समाधि सुनो देवद्वार नरसीने जाकर उन्हें प्रदान करके
 कहा कि आपकी सेवा करनेके लिये पार्वतीजी आई हुई हैं। महादेवजीने अपनी भीड़ोते उन्हें

भुजंगमोक्षद्वन्द्वकलापं कर्णावसक्तद्विगुणात्सूत्रम् ।
 फण्टप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥ ४६ ॥
 किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोप्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः ।
 नेत्रैरविस्पन्दितपद्ममालैर्लक्ष्मीकृतघ्राणमधोमयूसैः ॥ ४७ ॥
 अट्टष्टिसंस्ममिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम् ।
 अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥ ४८ ॥
 कपालनेत्रान्तरलम्ब्रमागैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।
 मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लानयन्तमिन्दोः ॥ ४९ ॥
 मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवस्पम् ।
 यमचरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥ ५० ॥
 स्मरस्तथाभूतमधुमनेत्रम् परयन्नदूरान्मनसाप्यवृष्यम् ।
 नालक्ष्यत्साभ्यससन्नद्वस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥ ५१ ॥
 निर्वाणभूयिष्ठमयास्य धीर्यं संधुक्ष्यन्तीव वपुर्गुणेन ।
 अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकृन्वा ॥ ५२ ॥
 अशो कनिर्भरिततपत्ररागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
 मुक्ताकलापीकृत्सिन्धुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥ ५३ ॥

का जिवा दे थीर अपने दोनों कंधे हुआकर अपनी गोदमें फलके समान दोनों हथेलियोंको ऊपर
 किए थे बिना हिले हुये बैठे हैं ॥ ४५ ॥ सामने उनकी जगह खोई हुई है । दाहिने वामपर हुदरी
 रुद्राक्षकी माला टेंगी है और गलेकी मोली चमक से थीर भी अधिक सौवली दिखाने पड़नेवाली
 नृगधुवाला उनकी शरीरपर गोंठ मारकर कपो हुई है ॥ ४६ ॥ भौंहें तानकर कुङ्कुम प्रकथा देनेवाली,
 निश्चल, उम सारोवाली थीर अपनी फिरवों नीचे, धाकनेवाली अर्धतौले नारके अगले भागपर दृष्टि
 लगाए थे बैठे हुये हैं ॥ ४७ ॥ श्री शरीरके भीतर चलनेवाले सब परमोंको रोक्कर थे ऐसे अचल
 हुए बैठे हैं जैसे न परसनेवाला बन्दल ढो, बिना लहरोंवाला निश्चल तालू हो या पवन रदित स्थानमें
 खड़ी ली वाला दीपक हो ॥ ४८ ॥ उस समय उनके विर थीर नेत्र से जो तेज निकल रहा था उसके
 आगे कमलके सन्तुने भी अधिक कामज बालचन्द्रमाकी शोभा भी कुछ नहीं थी ॥ ४९ ॥
 वहाँ समाधिमें बैठे हुए शंकरकी अपनी उम अनिनाशी झांझकी उपासिके। अपने भीतर देव रहे थे
 जिसे ज्ञानी लोग अपनी नजों दृष्टियोंके द्वार रोक्कर मनको समाधिसे वरमें करके हृदय नामके
 स्थानमें रखकर जाने पाते हैं ॥ ५० ॥ तीन नेत्रगले शंकरकी जो रूप बुद्धि थीर मनसे भी परे था
 उसी रूपको हतने पाससे देखकर कामदेवके हाथ उसके मरे ऐसे लीले पड़ गए कि यद यह भी न
 जान सका कि मेरे हाथसे पनुप बाण टूटकर विर पय गए ॥ ५१ ॥ वरके मरे कामदेवकी शक्ति को
 नष्ट हो गई थी पर जब उसने मात्तिली थीर विषया नगकी वनदेवियोंके साथ अत्यन्त सुशरी
 पापकी मनीहर रूप देता था मानो उसकी जोई हुई शक्ति विर जाग उठी ॥ ५२ ॥ वय समय

श्रावर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसना तद्व्याकर्णायम् ।
 पर्यासपृष्पस्तवकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥ ५४ ॥
 स्रस्तां निगम्नादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम् ।
 न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयागिव कार्मुकस्य ॥ ५५ ॥
 सुगन्धिनिध्यासविबृद्धतृष्णं विम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
 प्रतिक्ष्यं संभ्रमलोलदृष्टिर्लालारविन्देन निवारयन्ती ॥ ५६ ॥
 तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम् ।
 जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्पासिद्धिं पुनराशशंस ॥ ५७ ॥
 भविष्यतः पत्युरुमा च शंभोः समाससाद प्रतिहारभूमिम् ।
 योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपासाम ॥ ५८ ॥
 ततो भ्रुजंगाधिपतेः फण्यग्रैरथः कथंचिद्भृत्भूमिभागः ।
 शनैः कृतप्राणविमुक्तिरीशः पर्यङ्कवन्धं निविडं विमेद ॥ ५९ ॥
 तस्मै शशंस प्रणिपत्य नन्दो शुश्रूषथा शैलसुतासुपेताम् ।
 प्रवेशयामास च घृतुरेनां भ्रूतेपमात्रात्सुमप्रवेशाम् ॥ ६० ॥

पार्वतीजीके शरीरपर लाल मलिको लज्जित करनेवाले धरोरुके पर्णोके, सोनेकी चमकछो घशनेवाले
 कणिकारके फूलोंके धीर मोतियोंकी मालाके समान उजवे मित्शुशरके वातन्ती फूलोंके चागूपच सजे
 हुए थे ॥ ५२ ॥ रत्नोंके बोझसे मुझे हुए शरीरपर प्राप्त कानके सुनके समान लाल काने परने हुए
 थे ऐसी लग रही थी जैसे फूलोंके गुच्छेके भारसे सुकी हुई नई लाल लाल केशरजोवाली चक्रवा
 किरती जाता हो ॥ ५३ ॥ उनकी कमरमें पड़ी हुई केसरके फूलोंकी लताकी (करघनी) जय-जय नितारके
 गांचे शिरक धाती थी तब-तब थे उसे अपने हाथसे पकड़कर ऊपर सरका खेती थीं । वह लगदी ऐसी
 लगती थी मानो कहीं तथा पहनना आदिष्ट हुए घातको जाननेवाले कामदेवने अपने हाथसे उनकी
 कमरमें अपने धनुषकी दृमरी डोरी पहना दी हो ॥ ५४ ॥ कामदेवने देखा कि उनकी सुगन्धित
 सौतिलर लक्ष्मणे हुए मीरे जय-जय उनके लाल-लाल घोड़ोंके पास आते हैं तब-तब वे वषादरवे
 घोंठे नचाती हुई हाँसे धुंसे कमलोंसे मारकर उन्हें भाग देती हैं ॥ ५५ ॥ कामदेवने तब शिखो मो
 लज्जनेवाली, अधिक सुपर चमकौवाली पार्वतीजीके देखा तब उसके मनमें जितेन्द्रिय महादेवजीके
 वचन करनेको धारण फिर हरो हो उठी ॥ ५६ ॥ हरी जीव पार्वतीजी मो अपने भावी पति शंभुजीके
 आश्रमके द्वारपर आ पहुँचे । शंभु उसी समय महादेवजीने भी परमात्मनाम्ही परम उपासिका
 दर्शन करके अपनी समाधि छोड़ी ॥ ५७ ॥ घनौं गोठकर उठने परे-परि लौं देना मानम पर
 दिया धीर अपनेको बड़े पक्षी भी छोड़ दो । हरीजिने उनका वह शरीर जो तमपिके समय बहुत
 दरका हो गया था फिर हलना भाती हो गया कि उनके पीनेकी भूमिको शेष भागदान करो कटितारने
 अपने चरोंपर लौंता ५८ ॥ ५९ ॥ उनकी समाधि सुनो देकर लड़ने जाया उन्हें प्रणाम करके
 क्या कि आपकी सेवा करनेके लिये पार्वतीजी आई हुई हैं । महादेवजीने धरती धौंते उन्हें

तस्याः सखीभ्यां प्रणियातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्ययस्य ।
 व्यकीर्यत ज्यम्बकपादमूले पुष्पोचयः पल्लवभङ्गमिनाः ॥ ६१ ॥
 उमापि नीलालरुमध्यशोभिं विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम् ।
 चकार कण्व्युतपल्लवेन मूर्धा प्रणामं धूपमध्वजाय ॥ ६२ ॥
 अनन्यभाजं पतिभाम् हीति सा तथ्यमेवामिहिता भवेन ।
 न हीश्वर्यावाहृतयः कदाचित्पुष्पान्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥ ६३ ॥
 कामस्तु वाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवद्वह्निमुखं विविक्षुः ।
 उमासमन्तं हरपदलक्ष्यः शरासनज्यां मुहुराममर्श ॥ ६४ ॥
 अयोपनिन्दे गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण ।
 विशोषितां भानुमतो मयूक्षैर्मन्दाकिनीपुष्करवीजमालाम् ॥ ६५ ॥
 प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च ।
 संमोदनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधन वाणम् ॥ ६६ ॥
 हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्पुराशिः ।
 उमामुखे विभ्रमफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ ६७ ॥
 विदृष्यती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्वालकदम्बकल्पैः ।
 साचीकृता चारुतरेण तस्यां मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥ ६८ ॥

पुत्रानेक संकेत किया और पार्वतीजीके चन्दो भीतर ले जाए ॥ ६० ॥ पहले पार्वतीजीकी दोनों
 सखियोंने शंकरजीको प्रणाम किया और फिर अपने हाथमे चुने हुए, पत्थरके टुकड़े मिले हुए वासन्तो
 कूलोका ढेर उनके पैरोपर चढ़ा दिया ॥ ६१ ॥ पार्वतीजीने भी शिवजीको प्रणाम करनेके लिये
 क्योंही अपना भिर झुकाया क्योंही उनके काले-काले बालोंमें चुंधे हुए कर्णिकारके फूल और कानपर
 धरे हुए परो पुष्पोपर गिर पड़े ॥ ६२ ॥ प्रणाम कारी हुई पार्वतीजीको भगवान् शंकरने यह सत्य
 वाच्योच्यं दिया कि तुम्हें ऐसा पति मिले जो किलों भी स्त्रीको न मिला सका हो । बोक हो या ऐसे
 पेशवर्षशालियोंकी बानी कभी झूठी थोड़े ही होता है ॥ ६३ ॥ जैसे कोई पतंग पागमें बूढ़नेकी
 उतावला हो घैते ही कामदेवने भी सोचा कि पस बाप छोड़नेका यहो ठीक संयम है । बस
 यह पार्वतीजीके धारो घैटे हुए शिवजीपर ताक ताककर धनुषको सोरो रखने ही तो लगा ॥ ६४ ॥
 उपर पार्वतीजीने प्रणाम करके समाधिले जगे हुए शंकरजीके गलेमें भ्रूममें मुग्याये हुए
 मन्दाकिनीके कमलके बज्रोंका माला अपने काल-काल हाथोंसे पहना दी ॥ ६५ ॥
 शिवजीने मगपर प्रेम करनेके लिये पार्वतीजीकी यह माला जी ही कि कामदेवने भी
 सम्मोहन नामका बहुत बाल अपने धनुष पर चढ़ा लिया ॥ ६६ ॥ जैसे चन्द्रमाके निकलनेपर
 समुद्रमें ज्वार आ जाता है वैसे ही पार्वतीजीकी पेशवर महादेवजीके हृदयमें भी वृत्त हलचल-सी
 होने लगी और वे पार्वतीजीके विगाके (पुष्पकज) समान वास-खाद्य घोटोंपर अपनी लक्ष्मणार्थ शक्ति
 कावने लगे ॥ ६७ ॥ और पार्वतीजी भी फले हुए नये कर्णिके समान पुनर्जित धरोरो प्रेम आताही हुई,
 शरीकी शक्तियोंसे अपना धरवत्त सुन्दर मुग्य मुग्य तियां करके गयी रह गई ॥ ६८ ॥
 पर महादेवजी लक्ष्मण रीतन गए । संदर्भ होनेके कारण उन्होंने लक्ष्मण इन्द्रियों की संघटताकी
 बहुरूपक शोक किया और यह देखनेके लिये धारो और इति हींवाई कि मेरे मनमें यह विचार आया

अधेन्द्रियचोमपयुग्मनेत्रः पुनर्बशित्ताद्वलनन्निगृह्य ।
हेतुं स्वचेतोपिकृतेर्दिद्वन्दुदिशासुपान्तेषु समर्जं दृष्टिम् ॥ ६९ ॥
स दक्षिणापाङ्गनिषिष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं श्रद्धर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥ ७० ॥
तपःपरामर्शविद्वद्धमन्वोर्भ्रं भङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुत्सव्य तस्य ।
स्फुरन्नुदधिः महिमा वृत्तयोदक्ष्यः कृशानुः क्लिप्त निष्पपात ॥ ७१ ॥
क्रोधं भ्रमो संहरं मंहरेति यावद्विरः से महतां चरन्ति ।
वायस्य बह्विर्मनेत्रजन्मा भस्मान्मयेषं मदनं चकार ॥ ७२ ॥
तीव्राभिपङ्गश्रमवेष्यं श्रुत्ति मोहेन संस्वप्नयतेन्दियाणाम् ।
अत्रातमर्तुव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥ ७३ ॥
तमाशु निद्रं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य ।
स्त्रीसंनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूवपतिः समृतः ॥ ७४ ॥

शीलात्मजापि पितुरुच्छिरगोऽभिलाषं व्यर्थं ममर्ध्यं ललितं वपुरात्मनेभ ।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलजा शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथंचित् ॥ ७५ ॥
सपदि मुवृलितार्थीं रुद्रसंरम्भभीत्या दुहितरमनुकृप्यामद्रिरादाय दोम्भ्याम् ।
सुरगज इव निभ्रत्यपिनीं दन्तललां प्रतिपथगतिरामीद्वेगदीर्घांकृताङ्गः ॥ ७६ ॥

इति महाकथिभ्रीकालिदासकृतौ कुमारसंमये महाकाव्ये
मदनदहगो नाम तृतीयः सर्गः ॥

कीर्ण ॥ ६९ ॥ शकरजी देखते क्या है कि अपने अनुपको खींचकर योन किं हृदय, दाहिनी
बाँवकी औरतक घुटकीने दाती नीचे हृदय, दाहिनी क्या हुआकर बाएँ पैरका घुटना मारे हृदय
कामदेव मुकुन्दर बाण पताने ही वाजा है ॥ ७० ॥ अपने तन्म बाधा जाननेवाले कामदेवर
महादेवकी हृत्ना श्रेय आया कि उनही पक्षी भाँदोंके बाधने नेत्र देगा नहीं जाता या ।
अतः उनका यह तीव्रता नेत्र सुजा और उत्तमसे महत्ता जतनी हुई आगकी क्षण निरुत्तर परी ॥ ७१ ॥
यह देखते ही पुरु राय तप देगा आकाशमें पित्रता उठे-ई, ई, शक्तिसे तेकिये अपने कोपके घनु ।
पर हृत्नी क्षेम तो महादेवनाम शक्तिमें निरुत्तनेवाजा उस दानने कामदेवको अक्षर राख
ही जो कर दाजा ॥ ७२ ॥ अपने निररर भाई हुई हृदय मारी विरहितके देकर कामदेवकी
क्षी तो मूर्च्छित हाथर तिर पक्षी तयकी इन्द्रकी स्तम्भ ही गई और देगा जन्म पक्ष मनी
मगधानने हृत्ना करके उत्तरी देखे लिये पत्रिका मृगुहा जग इर कर उमे दुःखने वधए रवता ॥ ७३ ॥
जैसे विरक्षी क्षिपी वेदर गिरकर उसे ताद साधनी है उभी प्रकार अपने तापाम्यं बाधा
बाधनेवाले कामदेवका जकाकर सिद्धने निरक्षर किवा कि क्षिपीका माय जोष देना पाहिए ।
इसक्षिपे तापका महादेवका तापकर अपने नूर्तो प्रेतीकी ताप छकर अन्तर्गत ही गर ॥ ७४ ॥
यह देवका पार्वतीकी ही इस काकी पक्षी लज्जा हुई कि जात तत्रिषोडश भागे मेरे हृदये
विरक्षके विरक्षा मनेभय और मेरे मृदुताका दोनो दक्षरथ ही गई और वे बने उदय
मासे क्षिपी किवा प्रकाश पर और पक्षी ॥ ७५ ॥ ताकात हिमदय जो बर्षो का पक्षी और
जैसे देवताका अपने शक्तिंका कमत्रिषोडश उदा से धिमे ही महादेवकी कोपने दरकर क्षिपि
कन्द करके जाती हुई अपनी दुर्गी क-वाको हिमदयने तादने उगा किवा और देगने तीव्र
शारा हिए हृदय विरक्षा काप धे उपा ही ॥ ७६ ॥

महाकथि भ्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंमये नामके महाकाव्यमें मदन-दहन
नामका अंशका सर्ग तन्मत्त हुआ ।

चतुर्थः सर्गः

अथ मोहपरायणा सती विवशा कामवधूर्विचोधिता ।
 विधिना प्रतिपादयिष्यता नचवैधव्यमसह्यवेदनम् ॥ १ ॥
 अवधानपरे चकार सा प्रलयान्तोन्मिषिते विलोचने ।
 न विवेद तयोरत्सव्योः प्रियमत्यन्तविलुप्तदर्शनम् ॥ २ ॥
 अपि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
 ददृशे पुरुषाकृति दितौ हरकोपानलमस्म केवलम् ॥ ३ ॥
 अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी ।
 विललाप विकीर्णमूर्धजा समद्गुःखामिव कुर्वती स्थलीम् ॥ ४ ॥
 उपमानमभूद्विलासिनां करखं यत्तव कान्तिमत्तया ।
 तदिदं गतमीदृशीं दशां न विदीर्ये कठिनाः खलु ध्रियः ॥ ५ ॥
 क्व तु मां त्वदधीनजीवितं विनिकीर्य क्षणगिन्नसौहृदः ।
 नलिनीं क्षतसेतुवन्धनो जलसंघात इवासि विष्टुतः ॥ ६ ॥
 कृतघानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम् ।
 किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते ॥ ७ ॥

चौथा सर्ग

महादेवजीके अन्तर्धान होजानेपर और पार्वतीजीके चले जाने पर शकैलो काटके समान
 मूर्च्छित पड़ी हुई कामदेवको पतिमत्ता पानोंको मजाने रमे विषवाचनका दुःख सहनेके लिये जगा
 दिया ॥ १ ॥ मूर्छा इतने ही यह धर्मों और धर्मों काष फानुकर देखने क्षणी, पर उसे यह
 पता ही न पत्ता कि जिसे सदा अपने धामे देखते रहने पर भी शक्ति कपातो नहीं थीं वही
 प्यारा सदाके लिये शौल्लोसे क्षोभल हो गया ॥ २ ॥ हे प्रायनाथ ! क्या तुम जीते हो—यह कहती
 हुई गयोही यह पक्षी हुई वो देखतो क्या है कि महादेवजीके मोघमे जलो हुई सुरपके आकारकी
 एक हासकी देर सामने शूर्वीपर पड़ी हुई है ॥ ३ ॥ अब रातकी देरको देखते ही रति बेहाश
 हो उठी और मर्दमें खोट खोट कर, काक विन्देकर गुरी मिलल विरलकर रोने लगी मानो सगुनी वन-
 मूमि ही बलके साथ साथ हो रहा हो ॥४॥ यह रो कर कहती जा रही थी—हे प्यारे ! आजतक विला-
 सियोंके शक्तिकी तुलना तुम्हारे जिय सुन्दर जरीमे की जानी थी उसे इस बुराये देवपत्र भी मेरी
 पातो फट नहीं गई । सचमुच जियोंके हरष क्या कठोर होता है ॥ ५ ॥ जैसे पानीका बहान बॉरकी
 पौकबर जलमें बहनेपाती बगलियोंकी धर्ती घोंककर गयो निकल जाता है धिते ही तुम्हारे हाथों
 अपने माथ शीपनेकाओ मुक्त समानितसे जाता तोइकर तुम हतनी शोभापने रुचकर बर्ती पत्र
 रिप ॥ ६ ॥ प्यारे ! हमने कभी मेरो अन्तर्धान पात नहीं की और मैंने भी कभी तुम्हारी बात नहीं

स्मरसि स्मर भेषलागुणैस्त गोत्रस्तलितेषु बन्धनम् ।
 च्युतकेशरदूषितेक्ष्णान्यवतंसोत्पलताडनानि वा ॥ ८ ॥
 हृदये बससीति मत्प्रियं पदबोचस्तदवैमि कैतवम् ।
 उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥ ९ ॥
 परलोकगवंप्रयासिनः प्रतिपत्स्ये पदवीमहं तव ।
 विधिना जन एष वञ्चितस्त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम् ॥ १० ॥
 रजनीतिमिरात्रमुषिठने पुरमार्गे घनशब्दविक्रान्तः ।
 वमतिं प्रिय कामिनां प्रियास्त्वहते प्रापयितुं क ईश्वरः ॥ ११ ॥
 नयनान्परुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलन्यपदे पदे ।
 अस्सति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥ १२ ॥
 अवगम्य कथीकृतं चपुः प्रियबन्धोस्तव निष्फलोदयः ।
 बहुलोऽपि गते निशाकरस्तनुतां दुःखमनङ्ग मोक्षयति ॥ १३ ॥
 हरितारुण्यचारुबन्धनः कलपुंसकोकिलशब्दसूचितः ।
 वद संप्रति कस्य वाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति ॥ १४ ॥

राजी । फिर बिना बातके ही मुझे बिलपती हुईको तुम दर्शन क्यों नहीं दे रहे हो ॥ ७ ॥ हे कामदेव ! पहले जब भूखसे तुमने अपनी कितनी दूरी प्यारीका नाम से डाखा था उसपर मैंने जो तुम्हें अपनी लगदीसे बाँध दिया था, क्या वही रसतल फाँके तो तुम मुझसे रुठ नहीं बैठे हो ! वा जब मैंने अपने काममें पहले हुए कमलसे तुम्हें पीटा था उस समय उसका पराग पद जानेसे जो तुम्हारे कर्णों हुआने लगी थी, क्या उसको स्मरण करके तो मुझसे रुठे नहीं गए हो ॥ ८ ॥ तुम मुझसे जो यह सीधी-सीधी बात बनाया करते थे कि तुम मेरे हृदयमें सदा रहती हो वह तब मेरी सम्झने में गूँथी, क्योंकि यदि यह बात केवल मेरा मन, अपने मरके न होती तो तुम्हारे साथ हो जानेपर तुम्हारे वह इति भक्षा कैसे होती बची रह जाती ॥ ९ ॥ तुम अभी-अभी स्वर्गको गए हो, मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे वहीं चली था रही हूँ । आशाने मुझे गूँथित करके वहा भोला दे दिया, नहीं तो मैं उसी समय तुम्हारे साथ पल देती क्योंकि मेरा ही नहीं बरन् सारे संसारका सुख तुम अपने साथ लिये चले गए हो ॥ १० ॥ बताओ प्यारे ! अब क्योंकि दिनोंमें रातको घनी अंधियारीसे भरे डरावने नगरके भागोंमें विशालीकी कड़कबाहुरसे घर बटनेवाली कामिनीयोंको उनके प्यारोंके घर तुम्हारे बिना कौन पहुँचायेगा ॥ ११ ॥ अपने खाल खाल नेत्र सुनातो हुई और एक-एक शब्दपर रुक-रुकर बोधती हुई प्रसदाशोंका सदिरा पीना अब तुम्हारे न रहनेपर बना किय कामका होगा ॥ १२ ॥ हे धर्मत ! तुम शब्दसाथे बड़े प्यारे मित्र थे । अब उसे वह पता चलेगा कि तुम्हारा शरीर केवल बहानी भर रह गया है तब यह भ्रष्टरथ उगा हुआ शब्दमा धुनत्र परमें भी वही बटिबार्दने अपना दुखड़ापन छोड़ पायेगा ॥ १३ ॥ तुम्हारे ही और खाल रंगमें पैदा हुआ और कोपकथी मीठे रूपसे गूँथता हुआ आमका गया और, बताओ अब किसका बाप बना करेगा ॥ १४ ॥

अलिपंक्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्वे धनुषो नियोजिता ।
 विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितीव माम् ॥ १५ ॥
 प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः ।
 रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् ॥ १६ ॥
 शिरसा प्रणिपत्य याचितान्युपगूढानि सवेपथूनि च ।
 सुरतानि च तानि ते रहः स्मर संस्मृत्य न शान्तिरस्ति मे ॥ १७ ॥
 रचितं रतिपण्डित त्वया स्वयमङ्गेषु ममेदमार्तवम् ।
 ध्रियते कुमुमप्रसाधनं तव तचारु वपुर्न दृश्यते ॥ १८ ॥
 विदुधैरसि यस्य दारुणैरसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः ।
 तमिमं कुरु दक्षिणोत्तरं चरणं निर्मितरागमेहि मे ॥ १९ ॥
 अहमेत्य पतङ्गवर्त्मना पुनरङ्काश्रयणी भवामि ते ।
 चतुरैः सुरकामिनीजनैः प्रिय यावन्न विलोभ्यसे दिवि ॥ २० ॥
 मदनेन विनाकृता रतिः घणमात्रं किल जीवितेति मे ।
 वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण त्वामनुयामि यद्यपि ॥ २१ ॥
 क्रियतां कथमन्त्यमण्डनं परलोकान्तरितस्य ते मया ।
 सममेव गतोऽस्यतिक्रितां गतिमङ्गेन च जीवितेन च ॥ २२ ॥

जिन भौंकी पीतोंकी तुम अनेक बार अपने धनुषकी डोरी बनाया करते थे उनको दुःखमयी गुंजार
 ऐसी जान पड़ती है गाती वे नी मुक्त दुःखमें विलसती हुईके साथसाथ रो रही हों ॥ १५ ॥
 हे काम ! तुम अपने इस राखके शरीरको दौड़कर पड़के लैसा सुन्दर शरीर धारण करके स्वभावसे ही
 मधुर धोखेमें पतुर इस कोपलको आश दो कि यह अपनी मधुर पृष्ठसे प्रेमियोंको मिलानेका स्याव
 बताना आरंभ कर दे ॥ १६ ॥ हे कामदेव ! मुक्त स्त्री हुईको मनानेके लिये जब तुम मेरे पीतों
 पड़कर कोंपले हुए मुझे मनाकर गल्लेसे लगाया करते थे और फिर मेरे साथ अनेक प्रकारसे संयोग
 किया करते थे, अब उन यातोंका स्मरण करके मेरा जी फटा जाता है ॥ १७ ॥ हे कामकीपाशोंमें
 पतुर ! तुमने अपने हाथोंसे मेरा जो वास्तवी सिंगार किया था वह तो अभी अर्धोका शेष बचा हुआ
 है पर तुम्हारा सुन्दर शरीर अब कहीं देखनेको नहीं मिल रहा है ॥ १८ ॥ अभी थोड़ा देर पहले जब
 तुम मेरे पीतोंमें महाप्रणमनसे बैठे थे और केवल दाहिने पाँवमें ही लगा पाए थे कि इसी बीच कटोर
 दृश्यवाले देवताओंने तुम्हें अपने कामके लिये बुला लिया । अब आकर मेरे इस बाँधे पीतों की
 महाप्रणमनों में ही बसता जाते ॥ १९ ॥ हे प्यारे ! जबतक स्वर्गकी पतुर धरतारों तुम्हें अपने रूपमें
 तुमारे वसने पहले ही मैं आगमें जलकर तुम्हारी शोभने जा पहुँचती हूँ ॥ २० ॥ हे रमण ! यह तो
 निरवयव है कि मैं तुम्हारे पीतों पीतों भा रही हूँ, फिर तुम्हारा यह कलंकका टोंक तो सदाके लिये
 अग ही गया कि कामदेवके न रहनेपर रति थोड़ी देर तक जोती रह गई ॥ २१ ॥ मुझे इसी बातका
 खौफ है कि तुम अपना शरीर और प्राय दोनों एक साथ लेकर स्वर्ग वाले गये अब मेरी समझमें ही

- ऋजुतां नयतः स्मरामि ते शरमुत्सङ्गनिपणधन्वनः ।
 ॥ मधुना सह सस्मितां कथां नयनोपान्तविलोकितं च तत् ॥ २३ ॥
 क तु ते हृदयंगमः सखा कसुमायोजितकार्मुको मधुः ।
 ॥ न खल्वग्रहा पिनाकिना गमितः सोऽपि सुहृद्गवां गतिम् ॥ २४ ॥
 अथ तैः परिदेविताचरैर्हृदये दिग्धशरैरिवाहतः ।
 ॥ रतिमभ्युपपत्तुमातुरां मधुरात्मानमदर्शयत्पुरः ॥ २५ ॥
 तमवेक्ष्य रौद्र सा भृशं स्तनसंघाघसुरो जघान च ।
 ॥ स्वजनस्य हि दुरमग्रतो विवृतद्वारमिचोपजायते ॥ २६ ॥
 इति चैनमुवाच दुःखिता सुहृदः पश्य वसन्त किं स्थितम् ।
 तदिदं कथशो विकीर्ययते पवनैर्मस्म कपोतकर्धुरम् ॥ २७ ॥
 अपि संप्रति देहि दर्शनं स्मर पर्युत्सुक एष माधवः ।
 दयित्वास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृदने ॥ २८ ॥
 धमुना ननु पार्श्ववर्तिना जगदाज्ञां ससुरासुरं तथ ।
 ॥ विसतन्तुगुणस्य कारितं धनुषः पेलवपुष्पपत्त्रिणः ॥ २९ ॥
 गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः ।
 ॥ अहमस्य दशेव पश्य मामविपलव्यसनेन धूमिताम् ॥ ३० ॥

यहाँ था रहा है कि तुम्हारे परलोक चले जानेपर मैं तुम्हारे शरीरका अंतिम सिंगार कैसे करूँ ॥ २३ ॥
 तुम्हारा यह गोदमें धनुष रखकर पाया सीधा करना, वसन्तके साथ हँस-हँसकर यात्रा करना और बाल-
 बालमें मेरी और तिरछी चितवनसे देखना मुझे मूलतः यहाँ है ॥ २३ ॥ अब कहाँ गया यह तुम्हारे
 किये फूलोंका धनुष बनानेवाला प्यास मित्र वसन्त ! कहीं यह भी महादेवजीके तीरे कोपको भ्रमसे
 अपने मित्रके साथ-साथ भ्रम हो नहीं हो गया ॥ २४ ॥ यह सुनते ही विलपता हुई वियोगिनी
 रतिके दाइस रंधानेके किये वसन्त यहाँ था राधा हुआ । यह ऐसा दुःखे जान पड़ रहा था मानो
 वसन्तके हृदयको रतिके शिलाके चवनोंके पाषाणोंने धीरे धारा हो ॥ २५ ॥ वसन्तको देखकर यह और
 भी पूट-पूटकर और जाती पीट-पीटकर रोने लगी क्योंकि दुरासने अपने स्वर्गोंको देखते ही
 दुःख उठी प्रकार यह जाता है तीरे दहाँ वस्तुको बाहर निकालनेके किये बड़ा भारी द्वार मित्र
 साथ ॥ २६ ॥ यह रोती हुई वसन्तके कोपसे — हे वसन्त ! बतलाओ तो, तुम्हारे मित्रकी यह दृशा
 कैसे हो गई । यह देखो ! तुम्हारा मित्र साथ हुआ पड़ा है । और देखो ! कलरके पंखके समान
 वसन्तकी भूरी शरको यह परत हथर उधर विंगेर रहा है ॥ २७ ॥ हे कामदेव ! तुम्हारा मित्र वसन्त
 दुःखे देखने के लिये यदा उतापित है, भाकर हमे दर्शन तो दो । क्योंकि पुरा धनकी खीसे प्रेम
 करभोग मछे ही हिलार्द कर दे पर धनने मेरी मिश्रमें तो इसका प्रेम चञ्चल ही होता है ॥ २८ ॥
 तुम्हारे इस साथी वसन्तके ही कारण तो ये सब देवता और राक्षस तुम्हारे कमलकी सन्तुने बनी हुई
 होतीवाले पूजोंके पापबाजे धनुषका छोड़ा मानते थे ॥ २९ ॥ हे वसन्त ! देखो तुम्हारा मित्र वसन्तके

विधिना कृतमर्धवैशसं ननु मां कामवधे विमुञ्चता ।
 अतपायिनि संश्रयद्गुमे गजभग्ने पतनाय बह्वरी ॥ ३१ ॥
 तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम् ।
 विधुगं ज्वलनातिसर्जनाश्रनु मां प्रापय पत्पुरन्तिकम् ॥ ३२ ॥
 शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीपते ।
 प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि त्रिचेतनैरपि ॥ ३३ ॥
 श्रमुनैव कृपापितस्तनी सुमगेन प्रियगात्रभस्मना ।
 नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ ॥ ३४ ॥
 कुसुमास्तरणे सहायतां बहुशः सौम्य रीतिस्त्वभावयोः ।
 कुरु संप्रति तावदाशु मे प्रशिपाताञ्जलियाचितक्षिताम् ॥ ३५ ॥
 तदनु ज्वलनं सदपितं त्वरयेद्दक्षिणघातवीजनैः ।
 विदितं खलु ते यथा स्मरः क्षणमप्युत्सहते न मां विना ॥ ३६ ॥
 इति चापि विधाय दीयतां सलिलस्याञ्जलिरिक एव नौ ।
 अविमज्य परत्र तं मया सहितः पास्यति ते स यान्धवः ॥ ३७ ॥
 परलोकविधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः ।
 निवपेः सहकारमञ्जरीः प्रियचूतप्रसवो हि ते सखा ॥ ३८ ॥

क्योंकिसे मुझे हुए दीपकके समान जाकर धव लीटता ही नहीं दे । धव अत्यन्त दुःखमें मरी हुई मैं
 उस मुझे हुए दीपकके पुत्रों देता हुई पत्नी भर यथा रह गई हूँ ॥ ३० ॥ हे वसन्त ! स्वोत्तम
 समझते हो कि मझाने मुझे जीता छोड़कर मेरे धाधे धग कामदेवका धध करके बैचल थाया ही धध
 किया है । उसने मुझे भी मार डाला है क्योंकि तुम्हीं यतामो भला हार्थीको टकराने वृषके दूट जानेपर
 उसके सहारे चढ़े हुई खता क्या कमी यथा रह पाती है ॥ ३१ ॥ धय तुम यन्त्र होनेके नाते मेरे
 लिये हठया तो कर दो कि मेरा दाह फरके मुझे मेरे पतिके पास पहुँचा दो ॥ ३२ ॥ देवो ! चोदनी
 चन्द्रमाके साथ चलो जातो है विजली पार्श्वके साथ ही ध्रिप जाती है, इसलिये पतिके साथ जाता तो
 जहाँमें भी पाया जाता है फिर मैं चेतन होकर अपने पतिके पास क्यों न जाऊँ ॥ ३३ ॥ धय मैं
 अपने सामने पथे हुए प्यारेके शरीरकी सुन्दर भव्यसे अपने स्तनोंका शृंगार करके चिताही आगमें
 पड़कर वसी प्रकाश छेद रहूँगी जैसे कोई गई गई आज कोपल्लोसे सजी हुई सेम पर जा सोये ॥ ३४ ॥
 हे वसन्त ! तुमने बहुत बार हम लोगोंको मूलके बिछीने बनानेमें सहायता दी है धय मैं तुमसे हाथ
 जोड़कर पीतों पड़कर यह भीप माँगती हूँ कि तुम मेरे लिये शीघ्र ही धिता रच डालो ॥ ३५ ॥
 और फिर शीघ्र ही दक्षिण पवनका पन्ना मञ्जर दनमें पड़ी खपरेँ भी टडा दो जिससे मैं अच्युत
 शीघ्र मञ्जर रच हो जाऊँ, क्योंकि तुम जानते ही हो कि मेरा प्यास कामदेव मेरे विना एक क्षण
 नहीं रह सकता है ॥ ३६ ॥ और जब मैं जल जाऊँ तो तुम हम दोनोंके लिये एक साथ अहते
 लपंथ करना जिससे परलोकमें गया हुआ सुगता मिथ मेरे ही साथ जल पी सके ॥ ३७ ॥
 हे वसन्त ! जब तुम कामदेवका अहद करना तो उनके लिये पत्नीश्री आगमो मंत्रों अचरव देना

इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशमवा सरस्वती ।
 शकतीं हृदशोपविक्लवां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पयत् ॥ ३९ ॥
 कुसुमायुधपति दुर्लभस्त्वव मर्ता न चिराद्भविष्यति ।
 मृष्टु येन स कर्मणा गतः शलभत्वं हरलोचनाचिपि ॥ ४० ॥
 अभिलापमुदीरितेन्द्रियः स्वसुतायामकरोत्प्रजापतिः ।
 अथ तेन निगृह्य विक्रियामभिशप्तः फलमेतदन्वभूत् ॥ ४१ ॥
 परिखेप्यति पार्वतीं यदा तपसा तत्प्रवय्यीकृतो हरः ।
 उपलब्धसुखस्तदा स्मरं वपुषा स्वैन नियोजयिष्यति ॥ ४२ ॥
 इति चाह स धर्मयाचितः स्मरशापाद्भविदां सरस्वतीम् ।
 अशनेरमृतस्य चोभयोर्षशिनधाम्बुधराश्च योनयः ॥ ४३ ॥
 तदिदं परिरक्ष शोभने भवितव्यप्रियसंगमं वपुः ।
 रविपीतजला तपात्यथे पुनरोधेन हि युज्यते नदी ॥ ४४ ॥
 इत्थं रतेः किमपि भूतमदरपरूपं मन्दीचकार मरणव्यवसायवृद्धिम् ।
 तत्प्रत्ययाच कुसुमायुधचन्द्रुरेनामाश्वासयत्सुचरितार्थपदैर्बचोभिः ॥ ४५ ॥

क्योंकि तुम्हारे मित्रको कामकी मङ्गली बहुत प्यारी थी ॥ ३८ ॥ जैसे अचानक परसनेवाली बर्षाकी पहली बूँदें सूखते हुए तालाबकी व्याकुल मङ्गलिय को जिला देती हैं वैसे ही अचानक सुनाई पड़नेवाली आकाशवाणीसे भी प्राण छोड़नेकी उत्तारू रविर यह कृपाकी बाणी बरसा ही ॥ ३९ ॥—
 हे कामदेवकी पत्नी ! तुम्हारा पति तुम्हें भोड़े ही दिनोंमें भिन्न जायगा । यह महादेवजीकी शीलकी उजालामें पतंग बनकर कैसे जाता यह सुनो ॥ ४० ॥ मङ्गलजीने सृष्टि करते समय जब सरस्वतीको उत्पन्न किया था उस समय कामदेवने उनके मनमें देसा पाप भर दिया कि ये सरस्वतीके रूपपर मोहित हो गए और उससे संभोग करनेकी इच्छा करने लगे । पर इतनेमें ही कामदेवकी काली कानूतका उर्द पता चल गया और उन्होंने अपने मनको रोक्कर कामदेवकी शपथ दिया कि जाओ, तुम शिवजीके तीरेने नेत्रकी अग्निसे जलकर राख बन जाओगे । उसीका यह सब फल है ॥ ४१ ॥ पर जब धर्मने मङ्गलजीसे सृष्टिकी रक्षाके लिये कामदेवकी जिलानेकी प्रार्थना की तब मङ्गलजीने कहा कि जब पार्वतीजीकी तपस्यासे प्रसन्न होकर महादेवजी उनके साथ विश्राह कर लेंगे तब कामदेवकी शपथना सहायक समझकर उसे पहले वीसा शरीर दे देंगे और तभी हमारा नाप भी छूट जायगा । सत्य है जैसे बादलमें बिजली की जल दोर्नो साथ साथ रहते हैं वैसे ही संयमी लोगोंके मनमें कोप और दमा दोर्नो इकट्ठी ही रहते हैं ॥ ४२-४३ ॥ इसलिये हे सुन्दरी ! अपने प्यारेसे मित्रनेके लिये तुम अपने शरीर की रक्षा करो । देखो ! जो नदियाँ गरमोंमें सूर्यकी किरणोंकी धरना जब पिनाकर झिपुओ हो जाती हैं उन्हीं नदियोंमें धरती आनेपर बाद पत जाती है ॥ ४४ ॥ इस प्रकार आकाशवाणी सुनकर रविने अपने माय्य देनेका विचार छोड़ दिया और उस आकाशवाणीपर विरतान् बनके

अथ मदनवधूरुल्लवान्तं व्यसनकृशा परिपालयांश्भूव ।
शशिन इव दिवातनस्य लेखा किरणपरिचतधूसरा प्रदोपम् ॥ ४६ ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसमये महाकाव्ये
रतिविलापो नाम चतुर्थः सर्गः ॥

कामदेवके मित्र वसन्तने भी बहुत कुछ समझा-बुझानर उसे टाडस बँधाया ॥ ४५ ॥ आकाश-
वाणी और वसन्तके धीरज पँधानेपर शोकसे दुबली रति, कामदेवके शाप धीतनेकी अवधिकी
वसो प्रकार धाट जोहने लगी जैसे दिनमें दिखाई देनेवाले निस्तेज चन्द्रमाकी किरण सँक होनेकी
धाट जोड़ती है ॥ ४६ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें रति विलाप
नामका चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।



पञ्चमः सर्गः

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भयमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥ १ ॥
इथेप सा कर्तुं मन्त्रन्व्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं श्रेम पतिश्च तादृशः ॥ २ ॥
निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।
उवाच मेना परिभ्य वक्षसा निवारयन्ती महती भ्रुन्निवृत्ताद् ॥ ३ ॥
मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ।
पदं सहेतु अमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्त्रिणः ॥ ४ ॥
इति श्रुत्वा मनुशासती सुतां शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात् ।
क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पपश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥ ५ ॥
कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा मनोरथञ्च पितरं मनस्विनी ।
अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये ॥ ६ ॥

पाँचवाँ सर्ग

महादेवजीने देवदेवके कामदेवको मरम कर दाया । यह देखकर पार्वतीजीकी सव
घण्टायें धूलमें मिला गईं और वे भी भरकर अपनी सुन्दरताको कोसने लगीं, क्योंकि जो सुन्दरता
अपने प्यारेको न रिमा सके उसका होना न होना दोनों परापर है ॥ १ ॥ उस ऊँहोंने उन
लिया कि मिले मैं रूपसे नहीं रिमा सकी उसे धन सन्ने मनसे तपस्या करके पाऊँगी । यात
भी ठीक है क्योंकि ऐसा निराला प्रेम, और ऐसा निराला पति जिना तपस्याके भी नहीं मिला
करता है ॥ २ ॥ जब उनकी माँ मेताने सुना कि हमारी पुत्री शिवजीपर रीझकर उनके लिये
तप करनेपर तुली हुई है तब पार्वतीजीकी गलेसे लगाकर उन्हें हटनी कही तपस्या करनेसे
परजनी हुई वे योलीं ॥ ३ ॥ वरसे । तुम्हारे घरमें ही इतने बड़े-बड़े देवता हैं कि तुम जो चाहो
उनसे माँग लो । फिर तपस्या करना कोई हँसा खेल थोड़े ही है । यथाथो, कहीं तो तपस्या
और कहीं तुम्हारा कामका शरीर । देखो ! शिरीषके वृक्षपर भीरे भले ही छाकर बैठ जायें
पर यदि कोई पत्नी उसपर आकर बैठने खगे तब तो वह नर्ही सा फूल झड़ ही जायगा ॥ ४ ॥
पर सन कुछ समझनेपर भी वे अपनी पुत्रीकी टेक नहीं टाल पाईं क्योंकि अपनी पाठके
धनी खोनाका मन और भीचे मिलते हुए पानाका वेग भला कौन टाल सकता है ॥ ५ ॥
हिमालय लो पार्वतीजीके मनकी यात जानते ही थे । इसी सोच एक दिन पार्वतीजीने अपनी
प्यारी सखीसे कहलाकर अपने पिताजीसे पुसवाया कि क्या मैं तपसके लिये वनमें जाकर
तपस्या कर सकती हूँ जनसक शिवजी सुम्हार प्रसन्न न हो जायें ॥ ६ ॥ जब हिमालयने समझ

अथ मदनवधूरुल्लवान्तं व्यसनकृशा परिपालयांशभूव ।
शशिन इव दिवातनस्य लेखा किरणपरिचितधूसरा प्रदोषम् ॥ ४६ ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसमवे महाकाव्ये
रतिविलापो नाम चतुर्थः सर्गः ॥

कामदेवके मित्र वसन्तने भी बहुत कुछ समझा-बुझाकर उसे डाइस बैधाया ॥ ४५ ॥ आकाश-
वाणी और वसन्तके धीरज बैधानेपर शोकसे दुबली रति, कामदेवके शाप ब्रोतनेकी श्रापिकी
उसो एकार बात जोहने लगी जैसे दिनमें दिखार्दे देनेवाले निस्तेज चन्द्रमाकी किरण सँक होनेकी
बात जोहती है ॥ ४६ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें रति विलाप
नामका चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।



पञ्चमः सर्गः

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्यती प्रियेषु सौभाग्यकला हि चारुता ॥ १ ॥
इयेष सा कर्तुं मयन्ध्वरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥ २ ॥
निशम्य चैनां तपसे कृतोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।
उवाच मेना परिम्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥ ३ ॥
मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तारकं वपुः ।
पदं सहेतु अमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रियः ॥ ४ ॥
इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात् ।
क्व ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पपथ निम्नाभिहृत्यं प्रतीपयेत् ॥ ५ ॥
क्वदाचिदासन्नसखीमुखेन सा मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी ।
श्रयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये ॥ ६ ॥

पाँचवाँ सर्ग

महादेवजीने वैरते देवते कामदेवको मस्म कर बाबा । यह देखकर पार्वतीजीकी सप
शाशापु धूलमें मिल गईं और वे जो भरकर अपनी सुन्दरताको कोसने लगीं, क्योंकि जो सुन्दरता
अपने प्यारेको न रिक्का सके उसका होना न होना दोनों बराबर है ॥ २ ॥ वह उन्होंने टान
लिया कि जिते मैं रूपसे नहीं रिक्का सकी उसे धन सच्चे मनसे तपस्या करके पाऊँगी । यात
भी ठीक है क्योंकि देसा निराखा प्रेम, और देसा निराखा पति बिना तपस्याके भी कहीं मिलता
करता है ॥ २ ॥ जब उनकी माँ नेमाने सुना कि हमारी पुत्री शिवजीपर रोमाकर उनके लिये
तप करनेपर तुली हुई है तब पार्वतीजीको मलेसे लगाकर उन्हें इतनी कड़ी तपस्या करनेमे
परमता हुई वे बोलीं ॥ ३ ॥ वत्से ! तुम्हारे घरमें ही इतने बड़े-बड़े देवता हैं कि तुम जो चाहो
उनसे माँग लो । फिर तपस्या करना कोई हँसी खेल थोड़े हो है । यताभी, कहीं तो तपस्या
धीरे कहीं तुम्हारा कोमल शरीर । देलो । फिरापके पूजापर गीरे मले ही आकर पैठ जायें
पर यदि कोई पपी उसपर आकर बैठने धरगे तब तो यह नन्दों का फूल मड़ हो जायगा ॥ ४ ॥
पर सब कुछ समझानेपर माँ ने अपनी पुत्रीकी टोक नहीं टाल पाई क्योंकि अपनी यातके
पनी खोगोका मन और नीचे गिरते हुए पानीका वेग भला कौन टाल सकता है ॥ ५ ॥
हिमालय ही पार्वतीजीके मनकी यात जानते ही थे । इसी योष एक दिन पार्वतीजीने अपनी
प्यारी सखीसे कहलाकर अपने पिताजीसे पुछाया कि क्या मैं तपस्यके लिये यतमें लाकर
तपस्या कर सकती हूँ जबतक शिवजी मुझपर प्रसन्न न हो जायें ॥ ६ ॥ जब हिमालयने समझ

अथातुरूपाभिनिवेशतोपिणा कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा ।
 प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया जगाम गौरीशिखरं शिखण्डिमत् ॥ ७ ॥
 विमुच्य सा हतमहार्यनिश्चया विलोलपट्टिप्रविलुप्तचन्दनम् ।
 बबन्ध बालारुणबभ्रु बन्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्यसंहति ॥ ८ ॥
 यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्दाननम् ।
 न पट्पदश्रेणिमिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥ ९ ॥
 प्रतिदणं सा कृतरोमविक्रियां व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां वमार याम् ।
 अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तथा सरागमस्या रसनागुण्यास्पदम् ॥ १० ॥
 विसृष्टरागादधरात्त्रिवर्तितस्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
 कृचाङ्गुरादानपरिचिताङ्गुलिः कृतोऽक्षसुप्रप्रणयी तथा करः ॥ ११ ॥
 महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।
 अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निपेदुपी स्थण्डिल एव केवले ॥ १२ ॥
 पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तथा द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
 लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिण्याङ्गनासु च ॥ १३ ॥

लिया कि पार्वतीजी अपनी सचो देखसे शिर्गी नई तब उन्होंने पार्वतीजीकी तप करने
 की आज्ञा दे दी । अपने पूज्य पितासे आज्ञा पाकर ये हिमालयकी उस चोटीपर तप करने
 पहुँची जहाँपर बहुतसे भोर रहा कर ये और पोछे जिसका नाम उन्हींके नामपर गौरीशिखर
 पड़ गया ॥ ७ ॥ अपनी देहकी पत्नी पार्वतीजीने अपना बड़ दार उतार फेंका जिसके सदा दिलते
 रहनेसे उनकी छाती परका हरिचन्दन उसमें डूँल कर रखा हुआ था । उसके स्थानपर उन्हींने
 प्रातःकालके सूर्यके समान लाल-लाल बन्कल लपेट लिया ॥ ८ ॥ जटा रख देनेपर भी उनकी मुख
 वैसा ही प्यार लगता था जैसा पहले सजी हुई चोटियों से लगता था । क्यों कि केवल भोरसे
 ही कमल अञ्जा नहीं लगता बरन् सेवारसे छिपटा होनेपर भी यह वैसा ही लज्जला
 लगता है ॥ ९ ॥ उन्हींने तपस्याके लिये अपनी कमरमें जो मौञ्जीकी तिहरी लगी थी वह रखी
 थी वह उनके कौमल शरीरपर इतनी लुमती थी कि उससे धर्न-धर्न वे काँप उठती थीं और
 पहले पहले उसे पहननेसे उनकी सारी कमर लाल पड़ गई थी ॥ १० ॥ कहीं तो वे अपने
 हाथोंसे झोठ रेंगा करती थीं और स्तनके थंगारागते लाल रंगी हुई गोंद खेला करती थीं,
 कहीं कहीं कौमल हाथोंमें उन्हींने रुद्राक्षकी माला खे ली थी और कुशाके धैतुपे उर्रादकर
 अपने उन्हीं हाथोंकी धँगडियोंमें बांध कर दिए ॥ ११ ॥ अपने पिताके घर पर टाठ बाँधसे
 सजे हुए पञ्जापर करबट्टे लेते समय अपने बालोंसे भड़े हुए दूतोंके दपनेसे जो पार्वतीजी
 सो सी कर उठती थीं वे ही अपने हाथोंका सकिया बनाकर चिना बिछी हुई भूमिपर धेरी धेरी
 सो जाती थीं ॥ १२ ॥ तपके समय ये वैसी शांत हो गई थीं मानो तप करनेके समय तकके
 लिये उन्हींने अपना हाथ गांव कौमल अताधोंकी और अपनी बंधल चितवन हरिणियोंकी धरोहर
 बनाकर दे दी हो ॥ १३ ॥ आज्ञा लोचकर उन्हींने यहाँके जिन छोटे-छोटे पीपोंको अपने

अतन्द्रिता सा स्वयमेव शृङ्गकान्धटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
 गुहोऽपि धेर्षा प्रथमाप्तजन्मना न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥ १४ ॥
 अरुण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्या हरिणा विशश्वसुः ।
 यथा तदीयैर्नयनेः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥ १५ ॥
 कृताभिषेकां हुतजातवेदसं स्वगुत्तरासङ्गवतीमघीतिनीम् ।
 दिदृक्ष्वस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥ १६ ॥
 विरोधितस्त्वोज्जिह्वनपूर्वमत्सरं ह्रुसैरमीष्टप्रसवार्चितातिथि ।
 नवोटजाभ्यन्तरसंमृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पावनम् ॥ १७ ॥
 यदा फलं पूर्वतपः समाधिना न तावता लभ्यममस्त काङ्क्षितम् ।
 तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रवक्रमे ॥ १८ ॥
 क्रमं ययौ कन्दुकलीलपापि या तथा मुनीनां चरितं व्यगाह्यत ।
 ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं गृध्र प्रकृत्या च ससारमेव च ॥ १९ ॥
 शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिरिमता मध्यगता सुमध्यमा ।
 विजित्य नेत्रप्रतिधातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥ २० ॥

स्तनों के जैसे बर्हों के जलसे सींच-सींचकर पाला या उर्हों वे पुत्रों के समान इतना प्यार करती थीं कि पीछे जब स्वामी कातिकेयका जन्म हो गया तब भी उनका यातनय प्रेम इन पीध पर कम नहीं हुआ ॥ १४ ॥ बर्हों के जिन हरियोंको उर्होंने अपने हाथसे तिन्नोंके दाँने खिला खिलाकर पाला पोसा था वे इतने परच गये थे कि कभी-कभी मन बहलायके लिए अपनी हरियोंके घाने उर्हों खाकर वे तन हरियोंके नेत्रोंसे अपने नेत्र मापा करती थीं ॥ १५ ॥ वपुषि पार्वतीजी छोटी-सी ही थीं फिर भी जब वे स्नान करके, हवन करके, घल्लकी छोड़मां छोड़कर बैठी पाठ पूजा किया करती थीं, उस समय उर्हों देवनेके लिये दूर-दूरसे बदे-बदे अग्नि-मुनि उनके पास आया करते थे । क्योंकि जो धर्मका जोषन विधानसे बदे-बदे होते हैं उनके लिये फिर यह नहीं देखा जाता कि वे छोटे हैं या बड़े ॥ १६ ॥ तब तपोवनमें रहनेवाले सब वपु-पवित्रोंने अपना पिछला आपनका धैर छोड़ दिया था, बर्होंके हुए इतने यत्न पूलसे ऊपर गये थे कि आप हुए अतिथि जो चाहते थे बर्हों उर्हों मिल जाता था और बर्हों मई वर्षकुटीमें सदा हवनकी अग्नि अजती रहा करती थी । इन सब बातोंसे वह तपोवन बड़ा पवित्र हो गया था ॥ १७ ॥ पार्वतीजीने जब देखा कि इन प्रारम्भिक नियमोंसे काम नहीं लगता उस उर्होंने अपने शरीरकी कोमलताका ध्यान छोड़कर बर्हों कठोर तपस्या धरम्म कर ही ॥ १८ ॥ जो पार्वतीजी पहले गेद रोखनेमें भी यत्न लगा करती थीं उर्होंने ही अब मुनियोंका कठोर धाना से जिण तप देणा जान पड़ने लगा मार्गो उनका शरीर सोनेके कमलोंसे बना था, जो कमलोंसे बने होनेके कारण तपसापरे कोमल भी था पर साथ ही साथ सोनेका बना होनेसे देता परदा भी था कि तपसापरे कुंभशा न लके ॥ १९ ॥ पतली कमरवाली हैंसमुख पार्वतीजी तामीके दिनोंमें अपने चारों ओर भांग अलाहर उलीके बीच लक्ष्मी रने लगीं और चकार्थव करनेवाले सूर्यके प्रकाशकी भी जीतकर वे सूर्यकी ओर दृष्टक होकर देखती

तथावितप्तं सवितुर्गभस्तिभिर्मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ ।
 श्रपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम् ॥२१॥
 अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योद्भुपतेश्च रश्मयः ।
 —अम्बुव तस्याः किल पारस्याविधिर्न वृच्चवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः ॥ २२ ॥
 निकामतप्ता विविधेन बह्विना नभश्चरेणेन्धनसंभृतेन सा ।
 तपात्यये धारिभिरुचिता नवैर्भुवा सहोष्माद्यममुश्चदूर्ध्वगम् ॥ २३ ॥
 स्थिताः क्षणं पद्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूषिताः ।
 वलीघ्रतस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदधिन्दवः ॥२४॥
 शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु ।
 व्यलोकयन्नुन्मिपितैस्तडिन्मयैर्महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ॥२५॥
 निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा ।
 परस्पराक्रन्दिनि चक्रवारुयोः पुरो वियुक्ते मिधुने कृपावती ॥ २६ ॥
 मुखेन सा पञ्चस्रगन्धिना निशि प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना ।
 तुपारवृष्टिस्तपत्रसंपदां सरोजसंधानमिवाकसोदपाम् ॥ २७ ॥

रहने लगीं ॥ २० ॥ इस प्रकार तप करते रहनेपर भी उनके मुख सूर्यकी किरणोंसे तपकर लुम्हलाया नहीं वरन् कमलके समान खिल उठा । हाँ, इतना अत्यन्त हुआ कि उनकी चढ़ी चढ़ी आँखोंकी कोरोंमें धीरे धीरे कुछ सौंजलापन धामे लगा ॥ २१ ॥ फिर वर्षाके दिनोंमें वे एक तो बिना मणि अपने भाप परसे हुए जलकी पीकर और दूसरे अन्तसे भी अन्द्रमारी किरणोंकी पीकर ही रह जातीं । बस यह समझ लोकिये कि उन दिनों पार्वतीजीका खाना पाना नहीं था जो सुर्षोवा होता है ॥ २२ ॥ वर्षा होनेपर उधर तो गर्मीसे तपी हुई पृथ्वीसे भाप निकल उठी और हृषर ईधनकी धाम तथा सूर्यकी गर्मीसे तपे हुए पार्वतीजीके शरीरसे भाप निकल उठी ॥ २३ ॥ उनके तिरपर जो वर्षाका जल पड़ता था वह पलभर तो उनकी पलकोंमें टिकता था, फिर वहाँसे हुलककर उनके श्रोत्रोंपर जा पड़ता था, वहाँसे उनके कंठो स्तनोंपर गिरकर वूँद वूँद बनकर क्षिप्रा जाता था और फिर उनके पेटपर चढ़ी हुई सिकुचनोंमें होता हुआ वह बड़ी देरमें नाभितक पहुँच पाता था ॥ २४ ॥ जिन दिनों अगधोर वर्षाके साथ-साथ रात-रातभर आँखियाँ बला करती थीं उन दिनों भी वे तुले मैदानमें पत्थरकी पटियापर ही पड़ी रहा करती थीं और वे धँधेरी रातें अपनी भिजलीकी आँखों खोल-खोलकर इस प्रकार उन्हें देखा करती थीं मानो वे उनके कंठो तपकी साँची हों ॥ २५ ॥ पलकी जिन रातोंमें यहाँका सरसराता हुआ पवन चारों ओर हिम ही हिम बिधेरता चलता था, उन दिनों वे रात रातभर जलमें बैठी बिता देती थीं और उनके सामने ही चक्रे और चक्रोंका जो जोड़ा एक दूसरे से बिटुका हुआ कियत्राया करता था उन्हें वे दावस यथाया करती थीं ॥ २६ ॥ उन जाड़े की रातोंमें जलके ऊपर पार्वतीजी का मुँद भर दिग्दर्श पड़ता था जाड़ेसे उनके श्रोत्रों परसे वे भी उनकी साँससे कमलकी गन्धके समान जो सुगन्ध निकल रही थी उसकी गन्ध चारों ओर फैल जाती थी । उस समय जलमें चढ़ी हुई वे

स्वयं विशीर्यद्भुमपणवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ।
 तदप्यपाकीर्यमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्येति च तां पुराविदः ॥ २८ ॥
 मृषालिहापेलवमेवमादिमिर्व्रतैः स्वमङ्गं शपयन्त्यहर्निशम् ।
 तपः शरीरैः कठिनैरुपाजितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥ २९ ॥
 अथाजिनापाटधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निर ब्रह्ममयेन तेजसा ।
 विवेश कश्चिज्जटिलस्त्वपोवनं शरीरवद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥ ३० ॥
 तमातिथेशी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती ।
 भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां चपुर्विशेषेऽप्यनिगौरवाः क्रियाः ॥ ३१ ॥
 विधिप्रयुक्तां परिगृह्य सत्क्रियां परिश्रमं नाम विनीय च घण्टम् ।
 उमां स पश्यन्नुजुनेव चक्षुषा प्रचक्रमे चक्षुमनुज्झिताक्रमः ॥ ३२ ॥
 अपि क्रियार्थं तुल्यं समित्कृशं जलान्यपि स्नानविधिष्यमाणि ते ।
 अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तते शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥ ३३ ॥
 अपि त्वदारजितवारिसंभृतं प्रवालभासाऽमनुपन्धि बीरुधाम् ।
 चिरोज्जितालककृपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा ॥ ३४ ॥

अपि प्रसन्नं हरियोषु ते मनः कस्वदभ्रप्रण यापहारिषु ।
 य उत्पलाच्चि प्रचलैर्विलोचनेस्त्वदाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ॥ ३५ ॥
 यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।
 तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥ ३६ ॥
 विकीर्णसप्तपिचलिप्रहासिभिस्तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः ।
 यथा त्वदीयैश्चितैरनाविलैर्महीधरः पावित एष सान्वयः ॥ ३७ ॥
 अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि ।
 त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥ ३८ ॥
 प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि ।
 यतः सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः सात्तपदीनमुच्यते ॥ ३९ ॥
 श्रतोऽत्र किञ्चिद्भवती बहुन्ममां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः ।
 अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोघने न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥
 कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसखिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः ।
 श्रमृग्यमैरवर्षसुखं नवं वयस्तपःफलं स्यात्किमतः परं वद ॥ ४१ ॥
 भवत्यनिष्टादपि नाम दुःसहान्मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी ।
 विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कुशोदरि त्वयि ॥ ४२ ॥

ध्यानकर खानेवाले इन हरियोमें तो आपका मन यदला रहता है न, मिनकी ओर
 आपकी ओरके समान हो चला है ॥ ३५ ॥ हे पार्वतीजी ! यह ठीक ही कहा जाता है कि
 सुन्दरता पापको घोर कभी नहीं छुडती, क्योंकि हे सुन्दरी ! आपका हो रहन-सहन देखें तो वह इतना
 सपना है कि बड़े बड़े तपस्वी भी उससे सोच ले सकते हैं ॥ ३६ ॥ यों तो सप्तऋषियोंके हाथसे
 पड़ाए हुए पूजाके कुञ्ज और आकाशसे उतरी हुई गंगाकी धाराएँ हिमालयपर गिरती हैं, पर इन सपसे
 भी हिमालय उतना पवित्र नहीं हुआ जितना आपके पवित्र रहन-सहनसे हुआ है ॥ ३७ ॥ हे देवि !
 आपके इस आचरणसे ही मैं समझ रहा हूँ कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंमें धर्म ही सबसे
 बढ़कर है क्योंकि अर्थ अर्थ और कामसे अपने मनको हटाकर बनेले धर्मका पहला धामकर उसकी
 सेवा कर रही हैं ॥ ३८ ॥ हे सुन्दरी ! यह कहा जाता है कि स्वजन लोगोंकी पहली ही भेंटमें
 उनकी मित्रता पक्की हो जाती है, इसलिये आपने जो मेरा सत्कार किया है उसीसे यह सिद्ध है कि
 आप मुझे कोई पराया नहीं समझती ॥ ३९ ॥ हे तपस्विनी ! यदि उलो अपनेपनके नाते मैं ब्राह्मण
 होनेकी ठिठई करके आपसे कुछ ऐसी-बैसी बातें पूछ बैहूँ तो आप बुरा न मनिष्ठा और
 यदि कोई द्विषानेकी बात न हो तो आप कुछ करके उत्तर भी दे दीजिएगा ॥ ४० ॥ मैं यही पूजना
 चाहता हूँ कि प्रकृति बंशमें तो आपका जन्म, शरीर भी आपका ऐसा सुन्दर माने तीनों ओरोंकी
 सुन्दरता आपमें ही आकर भरी हो, धनका सुख इतना कि कुछ पूजना ही नहीं और जपाने भी
 धनो पूज ही रही है; फिर यथाहए कि भापको तप करनेकी आवश्यकता क्या था परी ॥ ४१ ॥
 हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपने पीरीसे बढ़ला खेनेके लिये भी भाविनी शिर्षा कंठर

अलम्यशोकाभिभवेयमाकृतिर्विमानना सुभ्रु कुत्राः पितुर्गृहे ।
 पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं प्रसारयेत्पन्नगरलक्ष्मणे ॥ ४३ ॥
 किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया चार्थरुशोमि वल्कलम् ।
 यद् प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥ ४४ ॥
 दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः ।
 अधोपयन्तारमलं समाधिता न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ ४५ ॥
 निवेदितं निःश्रितितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।
 न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥ ४६ ॥
 अहो स्थिरः क्रीडपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोन्पलशून्यतां गते ।
 उपेक्षते यः श्वथलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाप्रविद्धलाः ॥ ४७ ॥
 मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकशिंतां दिवाकरप्लुटविभूषणारूपदाम् ।
 शशाङ्कलोत्सामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूषते ॥ ४८ ॥

तपस्या पर पेटती है पर जहाँ तक मैं समझता हूँ, ऐसी भी कोई बात आपके साथ नहीं है ॥ ४२ ॥
 क्योंकि दे सुन्दर भौदोवाली । आपका रूप ही ऐसा है न तो आपपर कोई शोध ही कर सकता है न
 आपका निरादर कर सकता । क्योंकि पिताके घरमें तो आपका निरादर करनेवाला कोई है नहीं,
 और वह भी नहीं हो सकता कि कोई शत्रु आपको आपका अपमान करे, क्योंकि ऐसा कौन माईका
 लाल जन्मा है जो सौंफकी मणि लेनेके लिये उसपर हाथ डालेगा ॥ ४३ ॥ इसलिये हे गौरी ! आप
 यह तो बताइए कि इस भरो जशानीमें आरने सुन्दर गहने छोड़कर ये पुर्विवाले यहल
 क्यों पहन लिए हैं । चलाएँ भला यदभी हुई गतही सजावट लिये हुए चन्द्रमा कीर काँसे होती
 है या सपेरेके सूर्यकी छाजोते ॥ ४४ ॥ और यदि आप स्वयं पानेकी इच्छासे तप कर रही हों तप
 तो आपका सारा परिश्रम व्यकारण है क्योंकि आपके पिता हिमाचल का जितना राज्य है वनेमें ही तो
 तप देवता रहते हैं, और यदि आप अपने योग्य पति पानेके लिये तपस्या करती हों तप भी
 तपस्या व्यर्थ है क्योंकि मणि किसीकी खोजने नहीं जाता, उल्टे मणिको ही खोज खोजते फिरते
 हैं ॥ ४५ ॥ आपने जो लक्ष्मी सौंफ की है इससे मैं समझ रहा हूँ कि आप योग्य पति पानेके लिये ही तपस्या
 कर रही हैं, पर मेरे जामें यह क्या भारी सन्देह उठ रहा हुआ है कि जला आप लिये चाहती हों यह
 आपको न मिले, यह बात ही कैये सकती है; क्योंकि मुझे तो संसारमें कोई ऐसा पुरुष नहीं अबला
 जिसके पीछे आपको दौड़ना पड़े ॥ ४६ ॥ यह सचमुच यह अचरजकी बात है कि जित युवकोंको
 आप चाहती हों यह ऐसा इतने ही बहुत दिनोंमें बर्खोशुषते रूने आपके गल्लोपर लटकी हुई इन
 धानके बालोंके समान पीली जडाँकोंके देवका भी न रिचकता हो ॥ ४७ ॥ ऐसा कौन जोता-जागता
 पुरुष होगा जिसका जो तपस्यासे आपका सूर्य हुए आपके हम शरीरकी देरकर ही न पड़े तपकर
 आपका पदने से शंभु सूर्यकी चिरकौसे सुखम गप दें और जो दिनके अन्धकारी सेपके समान
 बदास रिताहं पव रहा है ॥ ४८ ॥ मैं समझता हूँ कि आप लिये प्यार करती हैं यह चरनी
 सुन्दरताका मन्त्र धारण लिये, पिता है नहीं तो उसे भरतक यहाँ आकर चरने सुँफकी आपकी

अथैमि सौभाग्यमदेन चञ्चितं तव प्रियं यश्चतुरावलोकिनः ।
 करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः ॥ ४९ ॥
 कियच्चिरं भ्राम्यसि गौरि विद्यते ममापि पूर्वाश्रमसंचितं तपः ।
 तदर्धभागेन लमस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ॥५०॥
 इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना मनोगतं सान शशाक शंसितुम् ।
 अयो वयस्यां परिपार्थवर्तिनीं विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत ॥ ५१ ॥
 सखी तदीया समुवाच वशिनं निषोध साधो तथ चेत्कुतूहलम् ।
 यदर्थमम्भोजमिवोष्णवाराणं कृतं तपः साधनमेतया वपुः ॥ ५२ ॥
 इयं महेन्द्रप्रभृतीनाधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी ।
 अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥ ५३ ॥
 असह्यहुंकारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः ।
 इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्विशीर्षमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥ ५४ ॥
 तदाप्रभृत्सुन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसरालका ।
 न जातु बालालमते स्म निर्वृतिं तुपारसघातशिलातलेष्वपि ॥ ५५ ॥

कदोली भीर्होवाले सुन्दर नैनोंका छवय पशाना पाटिए था ॥ ४९ ॥ अचक्षा, यह तो पताइए गीरीजी !
 कि आप कब तक यह तपस्वा करती रहेंगी ? देखिए, प्रज्ञाचर्यकी अवस्थामें मैंने
 बहुत ही तपस्वा इन्द्राक्षर रखी है । उसका आधा भाग आप ही लीजिए और आधकी जो भी साथ
 हों, सब उनसे पूरा कर लीजिए । पर हाँ, इतना तो कमसे कम ब्रता हीजिए कि बड़ है कौन ॥ ५० ॥
 उस महाद्वयने इस ढंगसे बातें कहीं मानो पार्वतीजीके हृदयमें फेठकर सब बातें जान ली हों ।
 उन्हें सुनकर पार्वतीजी देखती लज्जा गई कि वे अपने मनकी बात भी अपने मुँहसे कह न पाईं ।
 हसद्विये अपने बिना काजल छोड़े नेत्र पास बैठी हुई सखीकी धोर घुमाकर उन्हेंने उसे बोलनेके
 लिये संश्लेष किया ॥ ५१ ॥ तब पार्वतीजीकी सखी उस महाद्वयजीसे बोलती—हे साधु ! यदि आप
 सुनना ही चाहते हैं तो मैं पताती हूँ कि जैसे कोई धूप बघानेके लिये कमलका दूता लगा ले
 जैसे ही इन्होंने भी अपना कोमल शरीर छोड़ कर तपःधाममें क्यों लगा दिया ॥ ५२ ॥ महेन्द्र आदि
 बड़े बड़े आर्यो दिग्गवाहोंकी छोड़कर ये मानिनी उन महादेवजीसे विवाह करनेपर तुली हुई हैं जो
 शाय कामदेवके मण्ड हो जानेपर केवल रूप दिग्गवाह नहीं रिहाए जा सकते ॥ ५३ ॥ उस समय
 कामदेवने शिवजीके ऊपर जो बाण चलाया था यह उस समय तो उनकी हुंकार सुनकर ही लौट
 गया पर उस जलकर रास घने हुए कामदेवका यह बाण मेरी सखीके हृदयमें जाकर यद्वा भारी
 घाव कर गया है ॥ ५४ ॥ तन्नासे ये बेचारी अपने पिताके घर इतनी प्रेमकी पीड़ासे व्याकुल
 हुईं परी रहती थीं कि मायेपर हुये हुए धन्दनसे बाल भर जानेपर भी और जमे हुए हिमकी
 पाटियोंपर खड़े रहनेपर भी इन्हें धैर्य नहीं मिलता थी ॥ ५५ ॥ जब ये महादेवजीके गीत गाने

उपानवर्णं चरिते पिनाकिनःसन्नाप्यकण्ठस्तलितैःपदैरियम् ।
 अनेकशः किंनरराजकन्यका चनान्तसंगीतसखीरोदयत् ॥ ५६ ॥
 त्रिभागशेषामु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
 क नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठापितचाहुबन्धना ॥ ५७ ॥
 यदा बुधैःसर्षगतस्त्वमुच्यसे न वेत्ति भावस्थमिमं कथंजनम् ।
 इति स्वहस्तोन्मिलितश्चमुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥ ५८ ॥
 यदा च तस्यामिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती ।
 तदा सहास्माभिरनुज्ञया गुरोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥ ५९ ॥
 द्रुमेषु सख्या कृत्नजन्मसु स्वयं फलं तपःसाक्षिषु दृष्टमेष्वपि ।
 न च प्ररोहामिमुखोऽपिदृश्यते मनोरथोऽस्याःशशिमौलिसंश्रयः ॥६०॥
 न धेभि स प्रार्थितदुर्लभः कदा सखीभिरस्रोत्तरमोक्षितामिमाम् ।
 तपःकृशामभ्युपपत्स्यते सखीं वृषेव सीतां तदवग्रहचताम् ॥ ६१ ॥
 अगूढसद्भाषमितीक्ष्णितज्ञया निवेदिते नैष्ठिकसुन्दरस्तया ।
 अयीदमेवं परिहास इत्युमामपृच्छद्व्यञ्जितहर्षसत्तयाः ॥ ६२ ॥

छगतो धीं तव वे चनवासिनी किन्नरी राज कुमारियां मी इनके रीषे हुए गलेसे निकले हुए शब्दोंकी मुन-मुनकर बहुत बार रो देती थीं जो इनकी संगीतकी सखियां थीं ॥ ५६ ॥ रातके पहले ही पहरमें पण भरके लिये आँच लगी नहीं कि निना मातके ये चींक्कर बरनराती हुई जाग उठती थीं कि हे नीलकण्ठ ! तुम कहाँ जा रहे हो धीर उसी सपनेके धोरोंमें ये अपने हाथ मुँसे फेलाठी थीं मानो शिवजीके गलेमें हाथ डालकर उन्हें रोक रही हों ॥ ५७ ॥ इस प्रकार नींदमें उठकर ये अपने हाथसे बनाए हुए शंकरजीके धिन्नकी ही सच्चे शंकरजी समझकर उन्हें यह कह कहकर उलाड़ना देने लगती थीं कि आपके लिये पण्डित लोग तो कहते हैं कि आप घर धरकी सत्तें जानते हैं फिर आप मेरे जीकी जलन क्यों नहीं जान पाते जो आपके सच्चे मनसे प्यार करती है ॥ ५८ ॥ जब उन संसारके स्वामी शिवजीकी पानेका इन्हें कोई दूसरा उपाय न सूझा तो ये अपने पिताकी आज्ञा लेकर हम लोगोंके साथ तप करनेके लिये यहाँ तपोवनमें चली आईं ॥ ५९ ॥ हमारी सखाकी यहाँ तपस्या करते हुए इतने दिन हो गए कि इनके हाथके रीषे हुए जिन वृषोंने इनके सक्की सदे सदे देता है वे भी फल वाप पर महादेवजीकी पानेकी जो इनकी साथ थी उसमें अभी थकुवे भी नहीं छूट पाये ॥ ६० ॥ तपने इन्हें ऐसा खुसा दिया है कि इन्हें देखकर हमारी सखियोंको आँसु भी डबडबा आती हैं । इतने पर भी जिस दुर्लभ तरकी पानेके लिये ये इतनी साँसत भोग रही हैं वह देखें कर हमारी सखापर उसी प्रकार कृपा बरखाता है जैसे लकी हुई होनेपर भी पानी न धारनेसे सूखी हुई धरतीपर इन्द्रे पानी बरसा देते हैं ॥ ६१ ॥ हम प्रकार पारंगतोंके मनकी बात जाननेवाली सखीने तपस्या करनेका ठाक-ठीक कारण बता दिया । यह सुनकर उस मद्राचारी और सुन्दर पुराने अपने मुसपर प्रसन्नताकी एक रेखा भी नहीं पढ़ने की और उलझे पारंगतीजीसे

अथाग्रहस्ते सुकुलीकृताङ्गलौ समर्पयन्ती स्फटिकाक्षमालिकाम् ।
 कथंचिदद्रेस्तनया मिताक्षरं चिरञ्चयवस्थापितवागभापत ॥ ६३ ॥
 यथा श्रुतं वेदविदां वर तया जनोऽयमुच्चैःपदलङ्घनोत्सुकः ।
 तपः किलेदं तदवासिसाधनं मनोरयानामगतिर्न विद्यते ॥ ६४ ॥
 अथाह वर्षीं विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे ।
 श्रमङ्गलाम्यासरति विचिन्त्य तं तवानुवृत्ति न च कर्तुमुत्सहे ॥ ६५ ॥
 अवस्तुनिर्वन्धपरे कथं नु ते करोऽयमासुक्तविवाहकौतुक ।
 करेण शंभोर्वलपीकृताहिना राहिष्यते तत्प्रथमावस्यन्मन् ॥ ६६ ॥
 त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।
 षडूदकूलं कलाहंसलक्षणां गजाजिनं शोणितविन्दुवर्षि च ॥ ६७ ॥
 चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवानुमन्यते ।
 अलक्तकाङ्गानि पदानि पादयोर्विंकीर्णकेशासु परेतभूमिषु ॥ ६८ ॥
 अयुक्तरूपं किमतः परं वद त्रिनेत्रवचःसुलभं तत्रापि यत् ।
 स्तनद्वयेऽस्मिन्हरिचन्दनास्पदे पदंचिताभस्मरजःकरिष्यति ॥ ६९ ॥

पढ़ने लगा कि ये जो कुछ कह रही हैं वह क्या सत्य है, या ये हँसी कर रही हैं ॥ ६२ ॥
 बहुत देर तक तो पार्वतीजी सागरके कारण कुछ सो नहीं बोलीं पर उन्होंने अपनी अंगुलियोंको
 समेटकर स्फटिककी माला हाथमें पहन ली और वदे नये-नूले धक्करोँमें धे किसी किसी प्रकार बोलीं ॥ ६३ ॥
 हे वेदके परम पंडित ! आपने जैसा सुना है मेरे मनमें वैसा ही ऊँचा पद पानेकी साथ जाग उठी
 है और यह तप भी मैं उन्हींको पानेके लिये कर रही हूँ, क्योंकि साथ कहाँ तक पहुँचती है हलका
 फीहँ टिकाना तो है ही नहीं ॥ ६४ ॥ पार्वतीजीकी बात सुनकर भद्रवारी बोला कि जिसने पहले ही
 आपके प्यारको ठुकरा दिया, उसके पानेके लिये क्या आपके मनमें अभी तक साथ पनो हुई है ? अब
 मैं वन भेदे वैश्याले शिवकीका विचार करता हूँ तब मेरा मन तो नहीं करता कि आपको इसने लिये
 सम्मति हूँ ॥ ६५ ॥ पार्वतीजी ! आप भी फिर वैतुकेमे प्रेम करने लगी हैं । बताइए तो,
 पाणि-ग्रहणके समय विवाहके मंगल सूत्रसे सजा हुआ आपका यह हाथ शंकरजीके सौंप लिये हुए
 हाथको कैसे छू पायेगा ? ॥ ६६ ॥ आप स्वयं सोचिए कि कहाँ तो इस धृषी दुर्दै सुँदरी छोड़े
 हुए आप और कहाँ रखकी घूँद टपकाती हुई महादेवकीके धन्धेपर पड़ी हुई हाथीरी पाल । नला
 ये दोनों कहाँ मेल ला सकती हैं ॥ ६७ ॥ आप अभी तक कूल जिसे हुए चौधमें चलती आई हैं ।
 अब बताइए आप अपने महावरसे रंगे पैरोंको उस शमशानकी भूमिमें कैसे रखेंगी जहाँ हथ-बधर
 मृत प्रेतोंके बाल बिगरे पड़े होंगे । यह बात तो आपका शत्रु भी आपके लिये नहीं चाहेगा ॥ ६८ ॥
 और बताइए, यदि शिवजी आपके मित भी जायें तो भी हमसे यहकर मरो और क्या बात होगी
 कि आपके मित रत्नोंपर हरिचन्दन पुता हुआ है उनपर पिताको मरम लाकर पोती जाय ॥ ६९ ॥
 और अपने अभी हँसीकी बात तो तप होगी अब आप हाथी छोड़कर उनके घूँसे दीवर पर चढ़कर अपनी

इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदृढया चारणराजहार्यया ।
 विलोक्य वृद्धोद्यमधिष्ठितं स्वया महाजनःस्मेरमुखो भविष्यति ॥ ७० ॥
 इयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः ।
 कला च सा कान्तिमती कलायतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ ७१ ॥
 वपुर्विरूपाक्षमलक्षपजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
 वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥ ७२ ॥
 निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा ।
 अपेक्ष्यतेसाधुवनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया ॥ ७३ ॥
 इति द्विजाती प्रतिकूलवादिनि प्रवेपमानाधरलक्ष्यकूपया ।
 विकृञ्चितभ्रूलतमाहिते तथा विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते ॥ ७४ ॥
 उवाच चैर्न परमार्थतो हरं न वैरिस नूनं यत एवमात्थ माम् ।
 श्लोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विपन्ति मन्दाथरितं महात्मनान् ॥ ७५ ॥
 विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ।
 जगच्छरणस्य निराशिषः सतः क्रिमेभिराशोपहृताःमवृत्तिभिः ॥ ७६ ॥

ससुरालको चलेगी और नगरके भलेमानुस सन शपको देकर साक्षिणी पताचगे ॥ ७० ॥
 मैं तो समझता हूँ कि शिवजीको पानके घेरमें दोके साथ छूट गए, एक तो चन्द्रमाकी कलाके,
 जो उनके माथेपर है और दूसरे आपके जो संसारके मेरुकी रिलानेवाली है ॥ ७१ ॥
 और देखिए, तीन ती उनके आँल, जन्मका उनके कोई ठिकाना नहीं, और उनके सदा भंगे रहनेसे
 ही घाय समक सकता होंगा कि उनके घरमें क्या होगा । इसलिये हे मृगके सीनेकी आँख लैसा
 आँखवालो पार्वतीजी ! घरमें जो गुण लोने जाये हैं उनमेंसे एक भी तो महादेवजीमें नहीं है ।
 [न रूप है, न बल है और न धन है] ॥ ७२ ॥ इसलिये आप अपने मनसे यह सोई हृष्टा हठा
 ही सीजिए । कहाँ तो महादेव और कहाँ सुन्दर लक्षणावाली आप । देखिए, शूलों देनेके लिये
 श्मशानमें जो संभा गदा रहता है उसमें किस प्रकार सज्जन लोग यज्ञके यन्त्रका काम नहीं लेते
 हैं वैसे ही इन महादेवजीकी पति बनाना भी आपको शोभा नहीं देता ॥ ७३ ॥ उस प्रायश्चकी
 ऐसा उल्टी-सीधी बातें सुनकर पार्वतीजीके श्रोत्र कोधते काँपने लगे, उनकी आँखें लाल हो गईं
 और उन्होंने भीहँ तानकर उस मङ्गलवाली और आँखें तरेकर देजा ॥ ७४ ॥ और बोली—
 सव आप महादेवजीको भली प्रकार जानते ही नहीं जो मुझमें इस प्रकार कष्ट रहे हैं । जो लोटे
 लोग होते हैं वे उन गदगदामाँके समोरी कामोंको उठा मताये ही हैं जिन्हें पहचाननेकी उनमें
 योग्यता नहीं होती ॥ ७५ ॥ लोग जो गन्ध आदि मङ्गल वस्तु काममें लाते हैं उसका कारण
 यह है कि वा तो वे धर्मगल मूर करनेके लिये ऐसा करते हैं वा फिर अपनी तदव-भदक दिग्जानेके
 लिये पर जो तीनों छोर्कोंकी क्या करनेवाले हैं और जिनके मनमें कोई हृष्टा ही नहीं रहती
 वे शंकरजी इन वस्तुओंको लेकर करेंगे ही क्या ? ॥ ७६ ॥ पासमें उद्य न होते हुए भी सात

अकिंचनः सन्प्रभवः स संपदां त्रिलोकनाथः पितृसन्नगोचरः ।

स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथाऽर्प्यविदः पिनाकिनः ॥७७॥

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुक्कलधारि वा ।

रूपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥ ७८ ॥

तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चितामस्म रज्जोविशुद्धये ।

तथाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ॥७९॥

असंपदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्धारणवाहनो वृषा ।

करोति पादाद्बुधगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररज्जोरुणाङ्गुली ॥ ८० ॥

विवचता दोषगपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम् ।

यमामनन्त्यात्मभुरोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति ॥ ८१ ॥

अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः ।

ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥ ८२ ॥

निवार्यतामालि किमप्ययं बद्धुः पुनर्विबक्षुः स्फुरितोत्तराघरः ।

न केवलं यो महतोऽपभापते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥ ८३ ॥

सम्पत्तियाँ उन्हींसे उत्पन्न होती हैं, रमशानमें रहते हुए भी वे तीनों लोकोंके स्वामी हैं और
हरावने दिखाई देनेपर भी वे सबका बख्खाण करनेवाले कहे जाते हैं, इसलिये उनका सचा रूप
संसारमें कोई ठीक ठीक समझ नहीं पाता है ॥ ७७ ॥ संसारमें जितने रूप दिखाई देते हैं
वे सब उन्हींके होते हैं इसलिये उनका शरीर गहनोंसे चमकता हो वा सँगिते लिपटा हुआ हो,
हाथीकी खात लटकाने हुए हो या बख् छोड़े हुए हो, गलेमें खोपकियोंकी माला पहने हुए हो या
माथेपर चन्द्रमा सजाये हुए हो पर उसपर यह विचार नहीं किया जाता कि वह कैसा है कैसा
नहीं ॥ ७८ ॥ उनके शरीरसे छगकर चिताही रापर भी पवित्र हो जातो है, इसीलिये जो जब वे
साँढव श्रुत्य करते लगते हैं उस समय उनके शरीरसे कहीं हृद् भस्मकी ब्रंभता जोग बड़ी बख्खासे
अपने माथे चढ़ाते हैं ॥ ७९ ॥ जिन्हें आप दरिद्र यथाते हैं वे गर अपने बैलपर चढ़कर चलने
लागते हैं तब मतवाले घेराबतपर चढ़नेवाला हृद् भी आकर उनके पैरोंपर भरतक नवावा करता
है और फूले हुए कलकलके परागसे उनके पैरोंकी उँगलियाँ रँग करता है ॥ ८० ॥ आपने अपने
हुए स्वभावसे कहे-कहे कमरे कम एक बात तो उनके लिये ठीक कह दो कि जो प्रकृतिको
उत्पन्न करनेवाला यथाया जाता है उस ईश्वरके जन्म और लुनके कोई जान ही कैसे सकता है ॥ ८१ ॥
इसलिये, अब यह कगवा आगे हीनिए । आपने उन्हें जीया सुना, वे वेने ही सही पर मेरा मन
को उन्हींमें रम गया है । जब किसीका मन किसीपर लग जाता है तब वह किसीके कहने मुननेपर
प्यान मोड़े ही देता है ॥ ८२ ॥ इतनेमें उन्हींने देखा कि मन्त्रकारी बुद्ध और बोकना चाहता है ।
यह देवदर वे अपनी सखीसे बोली—देतो सती ! इन मन्त्रकारोंके छोट पदक रहे हैं । ये फिर
उप कहना चाहते हैं । इनसे कह दो कि अब एक बात भी न बोलो बसोंकि जो बसोंकी विन्दा

इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनमिलनवल्कला ।

स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितःसमाललाम्बे वृपराजकेतनः ॥ ८४ ॥

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गपटि-निक्षेपषाय पदमुद्धृतमुद्रहन्ती ।

मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजवनया न ययौ न तस्थौ ॥ ८५ ॥

अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि त्वास्मि दासः क्रीवस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौली ।

अह्वाय सा नियमजं कलमप्लुत्ससर्ज क्लेशः फलेन हि पुनर्नयतां विधत्ते ॥ ८६ ॥

इति महाकवि श्रीकालीदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये

तपःफलोदयो नाम पञ्चमः सर्गः ।

पष्ठः सर्गः

अथ विश्वात्मने गौरी संदिदेश मिथः सखीम् । दाता मे भूमृतां नायः प्रमाणीक्रियतामिति

तया व्याहृतसंदेशा सा वभौ निभृता प्रिये । चूतयटिरिवाभ्याशे मघौ परभृतोन्मुखी ॥२॥

स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमासु । ऋषीञ्ज्योतिमयान्सप्त सस्मार स्मरशासनः ।३

करता है केवल बहो पापों नहीं होता बल्कि सुखता है उसे भी पाप लगता है ॥ ८३ ॥

या तो मैं ही यहाँसे उठकर चली जाती हूँ । यह कहकर वे उठीं । इस हृदयक्षीमें उनके स्तनपर

पद्मा हुआ वल्कल पट गया और ज्यों ही उन्होंने चलनेको पैर बढ़ाया सौही महादेवजीने अपना

संघा रूप धारण करके मुहराते हुए उनका हाथ धाम लिया ॥ ८४ ॥ महादेवजीको देखते ही

पार्वतीजीके शरीरमें कंपकंपो छूट गई । वे पसाने-पसीने हो गईं और आगे चलनेको उठाए हुए

अपने पैरको उन्होंने जहाँका तहाँ रोक लिया । जैसे धाराके बीचमें पहाड़ पड़ जानेसे व तो नदी

आगे बढ़ पाती है न पीछे हट पाती है वैसे ही हिमालयकी कन्या भी न तो आगे ही बढ़ पाई

न खड़ी ही रह पाई ॥ ८५ ॥ शिवजी बोले—हे कोमल शरीरवाली ! शरामसे तुम मुझे तपसे

मोक्ष लिया हुआ अपना दास समझे । इतना सुनना भय था कि तपःपासे पार्वतीजीको जितना

कष्ट हुआ था वह सब जाता रहा क्योंकि जब काम पूरा हो जाता है तब उसके जिये किया हुआ

कष्ट फिर पटकता नहीं ॥ ८६ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभवमहाकाव्यमें तपका

फल नामक पाँचवां सर्ग समाप्त हुआ ॥

छठा सर्ग

तप पार्वतीजीने, चर-धरमें रमनेवाले शंकरजीको अपनी सखीके मुँहसे धीरेसे बहलाया

कि मेरा विवाह करे या न करनेवाले मेरे पिता हिमालय हैं, इसलिये यदि धार मुझमें विवाह

करना चाहते हैं तो पहले उन्हें आकर मना लीजिए ॥ १ ॥ प्रेममें पनी हुई पार्वतीजी अपनी

सखीके मुँहसे महादेवजीको यह तन्देश कहलाता हुई वही ही सुसंमित हुई जैसे कीचलको

बोलीमें बलन्तके पास अपना संदेश भेजती हुई धामकी बाल सोमा देती है ॥ २ ॥ महादेवजीने

कहा—भरजो बात है उन्होंने यदी कठिनाईने पार्वतीजीको पर जानेकी आज्ञा दी । पार्वतीजीके

ते प्रभामण्डलैर्व्योम द्योतयन्तस्तपोधनाः । सारुन्धतीकाःसपदि प्रादुरासन्पुरः प्रमोः ॥४॥
 आप्लुतास्तीरमन्दारकुसुमोत्तिकरवीचिषु । व्योमगङ्गाप्रवाहेषु दिङ्नागमदगन्धिषु ॥५॥
 मुक्तायज्ञोपवीतानि विभ्रतो ह्यैमवल्कलाः । स्नाक्षत्त्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रिताः ॥६॥
 अथःप्रस्थापितारवेन समावर्जितकेतुना । सद्भस्तरश्मिना साक्षात्सप्रमाणमुदीचिताः ॥७॥
 आसक्तबाहुलतया सार्धमुद्भृतया भुवा । महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्ताः प्रलयापदि ॥८॥
 सर्गशेषप्रख्यनाद्विश्वपोनेरनन्तरम् । पुरातनाः पुराविद्धिर्घातार इति कीर्तिताः ॥९॥
 प्राक्तनानां विशुद्धानां परिपाकमुपेयुषाम् । तपसामुपभुञ्जानाः क्लान्त्यपि तपस्विनः ॥१०॥
 तेषां मध्यगता साध्वी पत्युः पादापितेजसा । साक्षादिव तपःसिद्धिर्बभासे बहुरून्धती ॥११॥
 तामगौरवमेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः । स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥१२॥
 तद्दर्शनाद्भूर्ध्वर्भूर्ध्वान्दाराथमादरः । क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥
 धर्मेषां पितृपदं शर्वे कारिते पार्वती प्रति । पूर्वापराधर्मीतस्य कामस्योच्छ्वसितं मनः ॥१४॥
 अथ ते मुनयः सर्वे मानयित्वा जगद्गुरुम् । इदमूचुरनुमानाः प्रीतिकण्टकितत्वचः ॥१५॥

चले जानेपर उन्होंने तेजसे जगमगानेवाले सप्त ऋषियोंको मन्त्रने स्मरण किया ॥ ३ ॥
 स्मरण करते ही अपने तैजोमंडलसे उजाला करते हुए अरुन्धतीको साथ लेकर तत्काल शंकरजीके
 आगे वे सातों तपस्वी आकर खड़े हो गए; जिन्होंने उस आकाश-भागमें स्नान कर रक्ता धा
 जो अपने शीरपर गिरे हुए कल्पवृक्षके फूलोंको अपनी छहरोंपर उछाळती चळती है और विमर्के
 जलमें दिग्गजोंके मर्कटों सुगन्ध आया करता है, जिनके कन्धोंपर मोतीके यज्ञोपवीत लटक रहे थे,
 पीठपर सोनेके बहकड़ पड़े हुए थे, शर्धोंमें रत्नोंकी मालाएँ थीं, जो इस वेद्यमें ऐसे जान पड़ते थे मानो
 कल्पवृक्षोंके संन्यास ले लिया हो, जिनके तबसे जाता हुआ सूर्य अपने घोड़े नीचे रोककर और भंडो
 उतारकर यहाँ नम्रतासे जिन्हें ऊपर भाँस डहाकर प्रणाम किया करता है, जो प्रलयके समय पराह
 भगवानके जपघोंसे उषारी हुई पृथ्वीके साथ-साथ उनके जपघोंमें विभ्रम किया करते हैं, जिनके लिये
 लोग कहते हैं कि प्रज्ञाके रूटि कर चुकनेपर इन्हीं ऋषियोंने ही रूटि की थी और इसीलिए जिन्हें
 इतिहास जाननेवाले पुराने लोग विधाता कहा करते हैं, जो अपने पूरे जन्मकी तपस्याका फल
 भोगते रहनेपर भी अब एक तपस्या करते चले जाते हैं और जिनके धोषमें, अपने पति पतिष्ठतीके
 चरणोंकी ओर निहारती हुई सती अरुन्धती ऐसी लगती थीं मानो साक्षात् तपकी सिद्धि ही आकर
 पड़ी हो गई हो ॥ ४-१३ ॥ शंकरजीने अरुन्धतीजीको और ऋषियोंको बिना सौंपुरणके भेद-भाव
 किए समान आदरसे देला क्योंकि सज्जन लोगोंसे व्यवहार करते समय यह नहीं देला जाता कि यह
 पुरुष है या स्त्री, वरुं यही विचार किया जाता है कि इनका चरित्र कैसा है ॥ १२ ॥ शिवजीने
 जब अरुन्धतीजीको देता तब उनके मनमें यह बात थी और भी परकी जरूरी कि बिना पतिव्रता पत्नीके
 विवाह किए धार्मिक क्रियाएँ पूरी नहीं हो सकतीं ॥ १३ ॥ शंकरजीके मनमें पार्वतीजीसे विवाह
 करनेकी इच्छा है वरुं उस धामदेवके मनमें भी शुद्ध-शुद्ध वादम होने लगा जो अपनी सक अपने एक
 पारके किए हुए अपराधसे डरा बैठा था ॥ १४ ॥ तब वेद-वेदाङ्गको जाननेवाले और भ्रमसे मुक्त

यद्व्रजसम्पगाम्नात् यदग्नौ विधिना हुतम् । यच्च तप्तं तपस्तस्य विपकं फलमथ नः ॥ १६ ॥
 यदध्वक्षेण जगतां वप्रमारोपितास्त्रया । मनोरयस्याविष्यं मनोविषयमात्मनः ॥ १७ ॥
 यस्य चेतसि वर्तेथाः स तावत्कृतिर्ना वर । किं पुनर्व्रजयोनेर्यस्त्व चेतसि वर्तते ॥ १८ ॥
 सत्यमर्काच्च सोमाच्च परमध्यास्महे पदम् । अथ तूचैस्तरं ताम्यां स्मरणात्प्रहाचच ॥ १९ ॥
 स्थत्संभावितमात्मानं बहुमन्यामहं वयम् । प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूपत्तमादरः ॥ २० ॥
 यातः प्रीतिविरूपाच्च त्वदनुष्यानसंभवा । सा क्रिमावेद्यते तुम्यमन्तरात्मासि देहिनाम्
 साचादृष्टोऽसि न पुनर्विभ्रस्त्वां वयमञ्जसा । प्रसीद कथयात्मानं न धियां पथि वर्तसे २२
 किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन विमर्षिं तत् । अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एप ते ॥ २३ ॥
 अथवा सुमहत्पेया प्रार्थना देव तिष्ठतु । चिन्तितोपस्थितोऽस्तावच्छ्याधि नः क्तवाम किम्
 अथ मौलिगतस्येन्दोर्विशदैर्दर्शनांशुभिः । उपचिन्त्यन्प्रमां तन्वीं प्रत्याह परमेश्वरः ॥ २४ ॥
 विदितं वो यथास्वार्थान मे काश्चित्प्रवृत्तयः । ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थंभूतोऽस्मि सूचितः
 सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्त्वानिव चातकैः । अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रति याचितः ॥ २५ ॥

शरीरवाले सप्तऋषियोंने शंकरजीका पूजन करके उनसे कहा कि भजी प्रकार वेद पढ़नेका, विधिपूर्वक
 हवन करनेका और तप करनेका जो कुछ भी फल हो सकता है वह सब आज हमें मिल गया ॥ १६ ॥
 क्योंकि आपके जिस मन्त्रक किसीकी इच्छाएँ भी नहीं पहुँच सकती उसी मनसे आप संसारके स्वामीने
 हम जोगीको स्मरण किया ॥ १७ ॥ यों तो आप जिसके मनमें बसते हैं वही मनसे क्या पुण्यात्मा है
 पर जो आपके चित्तमें आकर बसता हो उसका तो फिर कहना ही क्या ॥ १८ ॥ यद्यपि हम लोग
 सूर्य और चन्द्रमा दोनोंसे यों ही ऊपर रहते हैं पर आज आपने स्मरण करके हमें उनसे और भी
 ऊँचा बढ़ा दिया है ॥ १९ ॥ आपसे यह आदर पाकर हम अपने मनमें कूले नहीं समाते क्योंकि
 अपने गुणोंपर जोगीको सभी सच्चा विश्वास होता है जब सज्जन लोग उनके गुणोंका आदर
 करें ॥ २० ॥ हे शिवजी ! आपने हमको जो स्मरण किया है उससे हमारे मनमें आपके लिये जो
 प्रेम उत्पन्न हुआ है उसे हम अपने मुँहमें आपके आगे क्या कहें, क्योंकि आप तो घट-घटकी
 जाननेवाले हैं ॥ २१ ॥ हे देव ! यद्यपि हम आपको अपनी छाँटोंके आगे खड़ा देल रहे हैं फिर भी
 हम आपको भेद ठीक ठीक जान नहीं पा रहे हैं इसलिये आप कृपा करके अपना स्वरूप तो बताइए
 क्योंकि हमारी बुद्धि तो आप तक पहुँच नहीं पाती ॥ २२ ॥ यह तो बताइए कि आपकी जो मूर्ति
 हम देख रहे हैं, वह क्या वही है जिससे आप सृष्टि उत्पन्न करते हैं, या वह है जिससे पञ्जन करते
 हैं, या यह है जिससे सत्ता का संहार करते हैं ॥ २३ ॥ पर देव ! यह तो वही
 लक्ष्मी क्या है । हमें अभी रहने दीजिए और पहले यह बताइए कि आपने हमें इस समय
 किस कामके लिये स्मरण किया है । कहिए, हमें क्या करना होगा ॥ २४ ॥ अपनी मन्द हँसिके
 कारण चमकते हुए दाँतोंकी दमकसे, गिरपर बड़े हुए बालचन्द्रमाकी मन्दी चमकको बढ़ाने हुए
 महादेवजी सप्तऋषियोंसे बोले ॥ २५ ॥ हे मुनियो ! आप लोग तो जानते ही हैं कि हम अपने
 लिये कुछ नहीं करते और हमारी छाँटों मूर्तियों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र
 और होवा—इस यातके साथी भी हैं ॥ २६ ॥ जैसे प्यासे आठक, बादलोंमें लक्ष्मी बूँदें माँगते हैं

अथ आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने । उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणम् २८
 तामस्मदर्थेयुष्माभिर्याचितव्योहिगालपः । विक्रियापै न कल्पन्तेसंबन्धाःसदनुष्ठिताः २९
 उन्नतेन स्थितिमता ध्रुमद्रुहता भ्रुवः । तेन योजितसंबन्धं विच मामप्यवञ्चिनम् ॥३०॥
 एवं वाच्यः स कन्यार्थमिति वो नोपदिश्यते । भवरप्रणीतमाचारमामनन्ति हि सांघवः ३१
 आर्याप्यरुन्धती तत्र च्वापारं कर्तुं मईति । प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरंभीयां प्रगल्भता ॥३२॥
 तत्प्रयातौपवोप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम् । महाकोशोप्रपातेऽस्मिन्संगमः पुनरेव नः ॥३३॥
 तस्मिन्संयमिनामाद्ये जाते परिखयोन्मुखे । जहुः परिग्रहवोढां प्राजापत्यास्तपस्विनः ३४
 ततः परममित्युक्त्वा प्रतस्ये मुनिमण्डलम् । भगवानपि संग्राहः प्रथमोद्विष्टमास्पदम् ३५
 ते चाकाशमसिष्यामस्तुत्पत्य परमर्षयः । आसेदुरोपधिप्रस्थं मनसा समरंहसः ॥ ३६ ॥
 अलकामतिवाह्यैव वसतिं वसुसंपदाम् । स्वर्गाभिप्यन्धमनं कृत्वेवोपनिवेशितम् ॥ ३७ ॥
 मङ्गाश्रोतःपरिचिसं वपान्तर्ज्वलितौपधि । बृहन्मणिशिलासालं गुप्तावपि मनोहरम् ॥३८॥
 जितसिंहमयानागा यत्राथा विलयोनयः । यथाः किंपुत्राः पौरा योपितो वनदेयताः ३९

ऐसे ही शत्रुघोषे सताप हुए देवता लोग भी मुझसे पुत्र उत्पन्न कराना चाहते हैं ॥ २७ ॥ इसलिये
 पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छासे मैं पार्वतीजीको उसी प्रकार लाना चाहता हूँ जैसे अग्नि उत्पन्न करनेके लिये
 यजमान शरणि (रगड़कर शाग उपजानेवाला लकड़ी) लाता है ॥२-॥ तो भारलोग मेरी ओरसे जाकर
 हिमालयसे पार्वतीजीको माँग लीजिए क्यों कि समस्त लोग बीचमें पहुँच कर सम्बन्ध करा देते हैं
 उसमें फिर किसी प्रकारको भंग नहीं होता ॥ २९ ॥ फिर ऐसी ऊँची प्रतिष्ठावाले और पूज्यको
 धारण करनेवाले हिमालयसे सम्बन्ध करके मैं भी अपनेकी धन्य समझूँगा ॥ ३० ॥ याप लोगोंने
 यह तो समझावा नहीं है कि कन्याको माँगनेके लिए देसे कहिएगा । क्योंकि इस प्रकारके रिवाजार्थकी
 जो बातें दूसरी पण्डित लोग काममें ला रहे हैं वे सब भाव ही लोगोंने तो बनाई हैं ॥ ३१ ॥
 हाँ, आर्या शरन्धती भी इस काममें सहायता कर सकती हैं क्योंकि इन बातोंमें प्रायः शिर्षा अधिक
 चतुर होती हैं ॥ ३२ ॥ इसलिये शय शाय लोग हिमालयके श्रोतपरिग्रह गंगामें जाकर काम बना-
 हुए और पहाँसे लौटकर महाकंठकी नदीके जलसेप्राप्त करके शय लोग मुझसे मित्र कीजिएगा ॥ ३३ ॥
 जब सब ऋषियोंने देखा कि संयमियोंमें श्रेष्ठ महादेवजी ही विवाहके लिए इतने उतावले हैं तब उन
 लोगोंके मनमें विवाहकी बातोंसे जो भ्रमकट हुआ करता था वह सब जातो रहो ॥ ३४ ॥ तब ऋषि
 लोग उठकर चल दिए और भगवान् शंकर भी वहाँ पहुँच गए जहाँ उन्होंने ऋषियोंके मिलनेको
 कहा था ॥ ३५ ॥ मगरे समस्त वेगसे चलनेवाले वे परम ऋषि लोग कृपायुक्त समस्त नखे आकाशमें
 उड़ते हुए श्रोतपरिग्रह गंगामें पहुँच गए ॥ ३६ ॥ यह नगर देगा भरापूरा था मानो उमने धन-सम्प-
 त्तिले भरी हुई बालकको भी भोगा दिया दिया हो और देना जान पड़ता था मानो दयोंका बड़ा दुमा
 पन निराशाकर इन्में ही था भरा ही ॥ ३७ ॥ उम गंगरके चारों ओर गंगाजोड़ी धाराएँ पड़ती थीं,
 पथकेवाली जहाँ चूर्णों वहाँ प्रकाश करती थी और नदियोंके ऊँचे ऊँचे पारकोंमें धिये रहनेपर
 भी यह नगर बड़ा सुन्दर लग रहा था ॥ ३८ ॥ पहाँके हाथी ऐसे खगते थे कि बिहकी भी पारो तो
 पगार दें, और घोड़े तो मानो विज जातिके थे । पहाँके नागरिक देखते तो भय था तो पच थे या
 स्थिर, और चिर्वा तो सब पक्षदेवियों ही थीं ॥ ३९ ॥ इस नगरके चारों तर दिन-रात

शिरसासक्तमेवानां व्यज्यन्ते यत्र वेरमनाम् । अनुगजितमंदिग्वाः करणैर्मुखजस्वनाः ४०
यत्र कल्पद्रुमैरेव विलोलविटपांशुकैः । गृहयन्त्रपताकाश्रीरपीरादरनिर्मिता ॥४१॥
यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु । ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम् ४२
यत्रौपधिप्रकाशेन नक्तं दर्शितमंचराः । अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिमारि काः ४३
यौवनान्तं वयो यस्मिन्नान्तकःकुसुमायुधात् । रतिश्वेदममुत्पन्ना निद्रा संजाविपर्ययः ४४
अभेदिभिः स स्मृणोर्गैर्ललिताद्भुलितर्जनैः । यत्र कोपैः कृतास्त्रीत्यामाप्रसादार्थिनःप्रियाः ४५
संतानकतरुच्छायासुप्तविद्याधराधरमम् । यस्य चोपवनं वाह्यं गन्धवद्गन्धमादनम् ॥४६॥
अथ ते मुनयो दिव्याः प्रक्षेप हैमवतं पुग्म् । स्वर्गाभिर्बन्धिसु कृतं वञ्चनामित्र मेनिरे ॥४७॥
ते सन्ननि गिरेर्वेगादुन्मूलखद्वाःस्थवीक्षिताः । अन्तेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्लैः ॥४८॥
गगनादवतीर्णा सा यथावृद्धपुरस्सरा । तोयान्तर्भास्करालीव रेजे मुनिपरम्परा ॥४९॥
तानर्घ्यानर्घ्यमादाय दूरात्प्रस्तुद्ययौ गिरिः । नमयन्स्रारगुरुभिः पादन्यासैरसुंधराम् ॥५०॥
धातुवाभ्राधरः प्रांशुर्दवदारुवृद्धद्भुजः । प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुन्यक्तो हिमवानिति ॥५१॥

बादल छाए रहते थे और जब कर्मी ठग घरोंमें सुदृग यत्ने लगता था तब लोगोंको पढ़ते यही भ्रम
होने लगता था कि यह बादलोंकी गरजकी गूँठ है पर फिर उनकी तालसे समझ जाते थे कि ये बादल
वहीं गलते परन्तु सुदृग यत्र रहे हैं ॥ ४० ॥ कल्पद्रुमकी चचल शाखाएँ ही उस नगरकी मंदिपों
की और यद्यपि उन्हें किसी नागरिकने बनाया नहीं था फिर भी वे ऐसी लग रही थीं मानों घरोंपर
ढंढे पड़े करके उनमें मंदिपों वीथ दी गई हों ॥ ४१ ॥ स्फटिकके भवनोंमें सजे हुए मंदिरालयपर
रातको जब तारोंकी परछाई पड़ती थी तो ऐसा जान पड़ता था मानों कियोंने फूल बिलेर दिए हों
॥ ४२ ॥ घरसातके दिनोंमें रातको चमकनेवाली जड़ी घुटियाँ ऐसा प्रकाश देती थीं कि वहाँकी शक्ति
सारिकाओंको घरसातकी घनी छँपियारोंमें भी छँपेरका पता नहीं चलता था ॥ ४३ ॥ वहाँके लोग
सदा-जवान थे, कामदेवकी छोपड़र और कोई किमीकी मारता नहीं था और संभोगकी धपावशसे जो
नींद आती थी वही वहाँकी मूर्खों थी ॥ ४४ ॥ यों तो यहाँ कोई किमीको डटता-उपडता नहीं था पर
हों वहाँकी शिपों में ही चदा-चदाकर, शोठ कँपा कँपाकर और सुन्दर रँगलियाँ चमका चमकाकर अपने
प्रेमियोंको तब तक धरशय डटती थी जयतक वे प्रेमो आगेके लिये काग न पकड़ लें ॥ ४५ ॥ गन्ध-
मादन नामका सुगन्धित पर्वत ही उस नगरके बाहरका उपवन था जिसके वन्य वृक्षोंकी आधामें
विद्यापर लोग चलते चलते भ्रमकर सो जाते थे ॥ ४६ ॥ हिमानपकी उस राजधानीकी देरकर उन
दिव्य मुनियोंने सोचा कि स्वर्गके लिए इतनी तपस्या करके हम लोग रगे ही गए ॥ ४७ ॥ फिरमें
वनी हुई आगकी निश्चय लक्षणेके समान अपनी जगहों लिए दिए जब ये सब वेगसे हिमालयके भवन-
पर उतरे तब हिमालयके द्वार रचक ऊपर मुँह उठा उठाकर इन्हें शहरजके साथ देरने लगे ॥ ४८ ॥
आकाशमें एक-एक करके उतरते हुए वे मुनि ऐसे शोभा देते थे जैसे चलते हुए जलमें पड़ी हुई सूर्यकी
सहस्र ही परछाईयाँ हों ॥ ४९ ॥ उन्हें देखकर हर्म्यमें शर्व पाद लेबर तुरसे ही उनकी दूरा
कानेके लिये जब हिमालय अपने डोस बीचोबीचे पर चढ़ता हुआ चला तो उससे परोंकी धमकती
पृथ्वी भी पग-पगपर झुकती चली ॥ ५० ॥ मुनियोंने देखते ही पहचान लिया कि यह वेद
आदि धातुओंकी जात पहचानों के शीरोवाला, देवदायके सबे-बड़े पृथ्वी सुनाघों पाका और

विधिप्रयुक्तसत्कारैः स्वयं मार्गस्य दर्शकः । स तैराक्रमयामास शुद्धान्तं शुद्धकर्मभिः ॥५२॥
 तत्र वेत्रासनासीनान्कृतासनपरिग्रहः । इत्युवाचेधरान्वाचं प्राञ्जलिर्भूधरेधरः ॥ ५३ ॥
 अपमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम् । अतर्कितोपपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे ॥ ५४ ॥
 मूढं बुद्धमिवात्मानं हैमीभूतमिवायसम् । भूमेर्दिवमिवारूढं मन्ये भवदनुग्रहात् ॥५५॥
 अद्यप्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये । यदध्यासितमर्हद्विस्तद्वि तीर्थं प्रचलते ॥५६॥
 अवैमि पूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः । मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन धौतपादाम्भसा च वः ॥५७॥
 जङ्गमं प्रैष्यभाये वः स्थावरं चरणाङ्कितम् । विभक्तानुग्रहं मन्ये द्विरूपमपि मे वपुः ॥५८॥
 भवत्संभावनोत्थाय परितोपाय मूर्च्छते । अपि व्याप्तदिगन्तानि नाङ्गानि प्रभवन्ति मे ५९ ॥
 न केशलं दरीसंस्थं मास्यतां दर्शनेन वः । अन्तर्गतमपास्तं मे रजसोऽपि परंतमः ॥ ६० ॥
 कर्तव्यं वो न पश्यामि स्याच्चेत्किं नोपपद्यते । मन्ये मत्पावनायैव प्रस्थानं भवतामिह ६१ ॥
 तथापि तावत्कस्मिंश्चिदाज्ञां मे दातुमर्हथ । विनियोगप्रसादा हि किंकराः प्रभविष्युपु ६२ ॥
 एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम् । व्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था वाञ्छवस्तुपु ॥ ६३ ॥

स्वभावसे ही परवरकी शिलाभौवाजी चौड़ी और पत्नी छातीवाला हिमालय ही है ॥ ५१ ॥
 हिमालयने बड़ी विधिके साथ उन ऋषियोंकी पूजा की और उन सत्कर्म करनेवाले ऋषियोंकी
 मार्ग दिखाता हुआ उन्हें अपने साथ रनिवासमें ले गया ॥ ५२ ॥ हिमालयने इन ऋषियोंकी
 बैठके आसनोंपर बैठा दिया और फिर हाथ जोड़कर उनसे कहा ॥ ५३ ॥ आपका इस प्रकार
 आचानक आना मुझे ऐसा खग रहा है जैसे बिना वादलोंके वर्षा हो गई हो या बिना फूलके
 आए ही फल निकल गया हो ॥ ५४ ॥ मैं अपनेको आज ऐसा समझ रहा हूँ मानो मुझ
 मूर्खको ज्ञान मिल गया हो, लोहेसे सोना बन गया हूँ और पृथ्वीपर रहते हुए भी स्वर्गमें चढ़
 गया हूँ ॥ ५५ ॥ मैं आजसे अपनेको ऐसा बड़ा भारी तीर्थ समझने लगा हूँ जहाँ आते
 ही खोग शुद्ध हो जायें, क्योंकि सज्जन लोग जहाँ आकर बस जायें वही तो तीर्थ हो जाता
 है ॥ ५६ ॥ हे महाऋषियो ! मैं अपनेको दो प्रकारसे पवित्र मानता हूँ, एक तो सिरपर
 जलपाणी आना, सिन्दूरे, दूधसे आप जलपाणी अक्षयणी अक्षयणी ॥ ५७ ॥ ॥ शुभान्तो ।
 मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आर लोभोंने मेरे चल और अचल दोनों शरीरों पर अलग-अलग
 कृपा की है क्योंकि मेरे चल शरीरको तो आपने अपना दास बना लिया है और मेरे अचल शरीरपर
 आपने अपने पवित्र चरण धरे हैं ॥ ५८ ॥ आप लोभोंने यहाँ आकर जो कृपा की है उससे
 मुझे इतनी प्रसन्नता हो रही है कि दूर-दूरतक फैले हुए अपने इन बड़े जलोंमें भी मैं फूला
 नहीं समझ रहा हूँ ॥ ५९ ॥ आप जैसे तेजस्वियोंके दर्शनसे केवल मेरी शुभाशुभा की चिंथेरा
 नहीं मिटा बल्कि मेरे हृदयके अज्ञानका चिंथेरा भी जाता रहा ॥ ६० ॥ मेरी समझमें आप
 किसी कामसे तो यहाँ आए नहीं होंगे। क्यों कि आपमें तो स्वयं इतनी शक्ति है कि
 किसी भी कामको घातकी बातमें पूरा कर लें। इसलिये मैं तो यही समझता हूँ कि केवल
 शुभकी पवित्र करनेके लिये ही आप लोभोंने यहाँ आनेका फट किया है ॥ ६१ ॥ पर जब
 आप आ ही गए हैं तो मेरे लिए कोई सेवा बताइए। स्वामीकी सभी प्रसन्न समझना चाहिए
 जब वे सेवकसे कुछ काम करनेकी कहें ॥ ६२ ॥ यहाँ आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये

इत्पूचिर्नास्तमेवार्थं गुहासुखविसर्पिणः । द्विरिव प्रतिशब्देन व्याजहार हिमालयः ॥६४॥
 अथाङ्गिरसमग्रपयमुदाहरणवस्तुषु । ऋषयो नोदयामासुः प्रत्युवाच स भूधरम् ॥६५॥
 उपपन्नमिदं सर्वमतः परमपि त्वयि । मनसः शिष्यराणां च सदृशी ते समुन्नतिः ॥६६॥
 स्थाने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथा वि ते । चराचराणां भूतानां कुचिराधारतां गतः
 गामधास्यत्कथं नागो मृणालमृदुभिः फलैः । आरसावलमूलात्प्रमवालम्बिष्यथान चेत् ॥
 अच्छिद्रामलसंतानाः समुद्रोर्म्यनिनारिताः । पुनन्ति लोकान्पुण्यत्वात्कीर्तयः सरितश्च ते
 यथैव श्लाघ्यते गङ्गा पादेन परमेष्ठिन । प्रभवेण द्वितीयेन तथैवोच्छ्रितमात्वया ॥७०॥
 तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च व्यापको महिमा हरेः । त्रिविक्रमोऽत्र तस्यासीत्स तु स्वामाविकस्त्व ॥
 यज्ञमागभुजां मध्ये पद्मातस्थुपात्प्रया । उच्चैर्हिरण्यमयं शृङ्गं सुमेरोर्नितधीकृतम् ॥७२॥
 काठिन्यं स्थानरे काये भगता सर्वमर्पितम् । इदं तु ते मस्तिनम्रं सतापाराधनं वपुः ॥७३॥
 तदागमनकार्येनः शृणु कार्यं तथैव तत् । थेषसामुपदेशाच्च वयमत्रांशमागिनः ॥७४॥

मैं आपके आगे खड़ा ही हूँ, ये मेरी शिर्षा है और यह मेरे धरमकी प्यारी कन्या है । इनमेंसे जिससे भी आपका काम अने उते आजा दोबिद, क्यों कि धन संपत्ति आदि जितनी बाहरी बातें हैं वे तो आपकी सेवाके लिये गुप्त हैं इसलिये उनका नाम लेते हुए भी मुझे दिक्क हो रही है ॥ ६३ ॥ हिमालयके कह सुननेपर गुफाओंमें से जो पूँज निकलते वह ऐसा जान पड़ती थी मानो हिमालयने अपनी यात फिरसे दुहरा दी हो ॥ ६४ ॥ तब ऋषियोंने महावैवर्तिका संदेश हिमालयके कहनेके लिये अपनेमेंसे उन अगिरा ऋषिको उकसाया जो यातभीत करनेमें यद्दें बहुत थे । तब अगिरा ऋषिने हिमालयसे कहा ॥ ६५ ॥ हे हिमालय ! जो कुछ आपने कहा है वह, और उससे भी अधिक जो कुछ कहा जाय, सब आपकी सोभा देता है । क्यों कि आपका मन वैसा ही ऊँचा है जैसी आपकी चोटियाँ ॥ ६६ ॥ आपको जो सब अचल पदार्थोंका विष्णु कहा जाता है, वह हीक हो है, क्यों कि धर और अधर सब आपकी गोदसे ही सहारा पाते हैं, जितने स्तन हैं वे सब आपकी गोदमें होते हैं और आपकी ही गोदसे निकलते हुई नदियोंसे आर्यावर्त जो रहा है ॥ ६७ ॥ यदि आप पातालके नीचेतक पुच्छीको अपने योमसे न दृशय रहें तो वताहूए सोपनाग अपने कमलको नाकके समान कोमल फूलोंपर पुच्छीको बैये सँभालते ॥ ६८ ॥ जैसे आपके यहाँसे निकलती हुई, निरन्तर बहती हुई और समुद्रकी लहरोंसे भी टकर लेनेवाली निर्मल नदियों अपनी पवित्रतासे सारे ससारको पवित्र करती हैं वैसे ही आपकी कर्तृ भी सब लोकोंकी पवित्र करती है ॥ ६९ ॥ जैसे गवाजी, विष्णुके चरणोंसे निकलकर अपनेको बहुत बड़ा मानती हैं वहाँ प्रफर आपकी शिष्यसे निकलकर बहनेमें भी वे अपनी बड़ाई ही समझती हैं ॥ ७० ॥ भगवान विष्णुकी महिमा ससारमें तब फैली तब उन्होंने ऊपर, नाचे और तिरछे पार रखकर बामन अवतार धारण करके तीन लोकोंकी माप डाला, पर आपकी महिमा तो पहलेसे ही तीनों लोकोंमें फैली हुई है ॥ ७१ ॥ पञ्चम भाग पानेवाले देवताअमें स्थान पाकर आपने सुमेरु पर्वतकी सुनहरी और ऊँची चोटियोंको भी भीका विश्वा दिया ॥ ७२ ॥ आपने अपनी शरीर छोड़ता अपने अचल शरीरमें भर ली है । आपका यह चक्र शरीर भक्तिसे देखा हुआ हुआ है कि सज्जन लोग आ आकर इसकी पूजा किया करते हैं ॥ ७३ ॥ इसलिये हम आपको अपनेका कारण बताते हैं और वह काम देता है जिसमें आपकी

अग्निमादि गुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम् । शब्दमीश्वर इत्युच्चैः सार्धचन्द्रं विभर्ति यः॥७४॥
 कालितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः । येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानिमिवाघ्ननि ॥
 योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवत्तिनम् । अनावृत्तिभयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणाः॥७५॥
 स ते दुहितरं सान्नात्साक्षी विश्वस्य कर्मणाम् । वृणुते वरदः शंभुरस्मत्संक्रामितैः पदैः॥७६॥
 तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि । अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृ प्रतिपादिता ॥
 यावन्त्येनानि भूतानि स्थावराणि चराणि च । मातरं कल्पयन्त्वेनामीशो हि जगतः पिता ।
 प्रणम्य शितिकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम् । चरणां रञ्जयन्त्वस्याञ्जूढामग्निमरीचिभिः ॥
 उमा वधूर्मगन्दाता याचितार इमे वयम् । वरः शंभुरलंक्षेप त्वत्कुलोद्भूतये विधिः ॥८२॥
 अस्तोतुः स्तूयमानस्य बन्धस्यानन्पवन्द्दिनः । सुतासंबन्धविधिना भव विश्वगुरोर्गुरुः॥८३॥
 एवं वादिनि देवर्षी पार्श्वे पितुरधोमुखी । लीलाकमलपत्राणि मण्ययामास पार्वती॥८४॥
 शैलः संपूर्णकामोऽपि मेनामुस्रमुद्दक्षत । प्रायेण गृह्णीतेत्रा कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः॥८५॥

ही भलाई हे श्रीर यह भली बात आपको समझानेके कहने हम लोगोंको भी थोड़ी-सी भलाई मिल जायगी ॥ ७४ ॥ आप तो जानते ही होंगे कि पृथिवी आदि आठों सिद्धियोंके जो स्वामी हैं, जिन्हें छोड़कर दूसरा कोई ईश्वर कहला नहीं सकता, जिनके माथेपर आधा चन्द्रमा यत्न हुआ है, जो अपने पृथ्वी-जल आदि उन आठों शरीरोंसे पृथ्वीको जिलाए रहते हैं जो एक दूसरेकी शक्ति बझानेवाले श्री संसारको इस प्रकार ठीकसे चलानेवाले हैं जैसे घोड़े भागमें रथको लीकमें बाँधे रहते हैं, जिन्हें योगी लोग अपने शरीरके भीतर बैठा हुआ पाते हैं श्रीर जिनके लिये विद्वानोंका कहना है कि ये जन्म मरणके चक्करोंसे बाहर हो हैं, उन्होंने संसार भरके कामोंको देखनेवाले श्रीर वर देनेवाले शंकर-जीने हम लोगोंके मुँहसे सँवेसा भेजकर स्वयं अपने लिये आपकी पुत्री पार्वती माँगी है ॥ ७५-७६ ॥ इसलिये आप शिवजीसे अपनी पुत्रीका वैसे ही अटूट सम्बन्ध कर दीजिए जैसे दासीका गर्भसे हो गया है, क्योंकि अपने पतिसे कन्याका विवाह हो जाय तो पितारी चिन्ता मित जाती है ॥ ७७ ॥ आप यह समझ जाँजिए कि महादेवजी संसारके पिता हैं इसलिये पार्वतीजी भी संसारके वर श्रीर अचर सब प्राणियोंकी माता बन जायँगी श्रीर फिर दूसरी पुत्रनीय हो जायँगी कि देवता लोग महादेवजीको प्रणाम करके अपने सिरपर धरे हुए मणियोंकी किरणोंसे पार्वतीजीके ही शरण रँगा करेंगे ॥ ८०-८१ ॥ श्रीर संयोग तो देखो कि उमा हों वह, आप हों कन्या दान करनेवाले, हम हों विवाहके लिये कहनेवाले श्रीर महादेवजी हों वर । यतागो, तुम्हारे हुलके लिये इससे बढ़कर श्रीर कौन सी प्रतिष्ठाकी बात होगी ॥ ८२ ॥ श्रीर फिर, उनसे आपकी पुत्रीका विवाह काके आप उन महादेवजीके भी बढ़े बन जाइए जो स्वयं किसी को स्तुति नहीं करते पर संसार जिनकी स्तुति करता है श्रीर जो स्वयं किसीकी चन्दना नहीं करतेपर संसार जिनकी चन्दना करता है ॥८३॥ देवर्षि लोग जिस समय यह कह रहे थे उस समय पार्वतीजी अपने पिताके पास बाँचा मुँह दिए शिवजीके कमलके पत्रे बैठी गिन रही थीं ॥ ८४ ॥ मर्यापि हिमालय स्वयं तो इससे सहमत थे पर फिर भी उन्होंने इसका उत्तर पाने के लिये मेनामी घोर देखा क्योंकि जय कभी कम्भाके सम्बन्धकी कोई बात होती है तो गृहस्थ लोग अपनी किरणोंसे ही सम्मति लिया करते हैं ॥ ८५ ॥ मेनामे मं अपने

मेने मेनापि तत्सर्वं पत्युः कार्यमभीप्सितम् । भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः ॥ ८६ ॥
 इदमत्रोत्तरं न्याप्यमिति युद्धवा विमृश्य सः । आददे वचसोमन्ते मङ्गलालंकृतां सुताम्
 एहि विश्वात्मने यत्से भिच्चासि परिकल्पता । अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ८८
 एनाशुदुष्टया तनयामृषीनाह महीधरः । इयं नमति यः सर्वोऽखिलोचनवधूरिति ॥ ८९ ॥
 ईप्सितार्थक्रियोदारं तेऽभिनन्द्य गिरेर्वचः । आशीर्भिरैधयामासुः पुरःपाकाभिरम्बिकाम्
 तां प्रणामादरस्तस्तजाम्बूनदवर्तसकाम् । अङ्गमारोपयामास लज्जमानामरुन्धती ॥ ९१ ॥
 तन्मातरं चाभ्रगुलीं दुहितृस्नेहविकलवाप् । वरस्थानन्यपूर्वस्य विशोकामकरोद्गुणैः ॥ ९२ ॥
 वैवाहिकीं तिथिं पृष्ट्वास्तस्त्वर्णं हरवन्धुना । तेऽपहादूर्ध्वगारुषाय चेरुथीरपरिग्रहाः ॥ ९३ ॥
 ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्राप्य च शूलिनम् । सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः स्वमुद्ययुः

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमपदद्विसृष्टासमागमोत्कः ।

कमपरमवशं न विप्रकुर्वुर्विभ्रमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥ ९४ ॥

इति महाकविधीकालिदासकृतौ कुमारसभये महाकाव्ये
 उमाप्रदानो नाम पद्य सर्गः ॥

पतिकी हौं नौं हौं मिलाकर सब बातें मातली बर्षोंकि जो सती खिर्षो हुआ करती हौं
 वे किसी भी बातमें पतिसे वादर नहीं होतीं ॥ ८६ ॥ अपिषोसे कह चुकनेपर हिमालयने
 सुन्दर मांगलिक वर्रोंसे सजो हुई अपनी बन्धुकी सुताया और कहा—यहाँ आओ वत्से ।
 देखो, यह वटमें रमनेवाले शिवजीने मुझसे तुम्हें मांगा है और यह भिष्मा सोनेके लिये ये ससन्धि
 लोग प्राप्त हुए हैं । तबमुच आज मुझे गृहस्थ होनेका सच्चा फल मिला है कि ऐसे भोगनेवाले
 मेरे द्वारपर पधारे ॥ ८७—८८ ॥ अपनी पुत्रीसे इतना बड़कर वे अपिषोसे बोले—
 यह महादेवजीकी परमा आपकी प्रणाम करती है ॥ ८९ ॥ अपना काम पूरा हुआ देखकर
 ससन्धिपियोने हिमालयकी प्रशंसा की । उन्होंने अग्निदाको ऐसे आशीर्वाद दिए जो तत्काल फल
 देनेवाले हौं ॥ ९० ॥ अपिषोको प्रणाम करनेके लिए पार्वतीजी उवादी लजाती हुई मुकीं कि उनके
 कानोंसे सोनेका पुण्डल खिसक गया और अरुणवर्तजीने उन्हें मउ उठाकर अपनी गोदमें बैठा
 लिया ॥ ९१ ॥ मेना अपनी पुत्रीके स्नेहमें इतनी प्रथीर हो गई कि उनको औरों डबडबा आई पर
 अरुणवर्तजीने उन्हें अनोसे बरके मुया सुना सुनाकर वहा धीरज बँधाया ॥ ९२ ॥ विवाहकी तिथि
 पूरे जानेपर ससन्धिपियोने बताया कि तीन दिन पीछे विवाह करना ठीक होगा यह कहकर वे सब
 अपिषोसे विदा हुए ॥ ९३ ॥ हिमालयसे विदा होकर उन्होंने महादेवजीसे जाकर बताया कि
 सब ठीक हो गया है और फिर उनसे आज्ञा लेकर वे आकाशमें उड़ गए ॥ ९४ ॥ पार्वतीजीसे
 मिलनेके लिये महादेवजी इतने उत्साहले हो गए कि तीन दिन भी उन्होंने वही कठिनाईरी काटे ।
 यथाएव जय महादेवभो जैलोंकी प्रेममें यह दशा हो जाती हो सब मला दूसरे लोग अपने मनको कैसे
 संभाल सकते हैं ॥ ९५ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसभय महाकाव्यमें पार्वतीजीकी
 माँगी नामका छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥

सप्तमः सर्गः

अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम् ।
 समेतबन्धुहिंसमानुसुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ॥ १ ॥
 वैवाहिकैः कौतुकमंविधानैर्गृहे गृहे व्यग्रपुरंघ्रिवर्गम् ।
 आसीत्पुरं सानुमतोऽनुरागादन्तःपुरं चैककुलोपमेयम् ॥ २ ॥
 संतानकाकीर्णमहापथं तचीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम् ।
 भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवावभासे ॥ ३ ॥
 एकैव सत्यामपि पुत्रपङ्क्तौ चिरस्य दृष्टेव मृतोरित्यतेव ।
 आसन्नपाणिग्रहणेति पित्रोरुमा त्रिशेषोऽच्छ्रुसितं वभूव ॥ ४ ॥
 अङ्गाद्यथावङ्गमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुङ्क्त ।
 संबन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाम ॥ ५ ॥
 मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतान्नृत्तरफल्गुनीपु ।
 तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्वन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवरप- ॥ ६ ॥
 सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभम् ।
 निर्नामि कौशेयमुपात्तवाणमभ्यङ्गनेपथ्यमलंचकार ॥ ७ ॥

सातवाँ सर्ग

— तीन दिन पीछे हिमालयने जगसे सातवें घरमें पढ़ी हुई झुक पचकी दाम तिथिकी अपने माह-
 धन्धुर्मा की बुलाकर शकरजीके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया ॥ १ ॥ वहाँके सब लोग
 हिमालयसे ऐसा प्रेम करते थे कि उस नगरके घर घरमें सब स्त्रियाँ बड़ी भूमधामके साथ विवाहका
 उत्सव मना रही थीं । घर और बाहरके सब लोग ऐसे हिलमिलकर काम कर रहे थे मागो सब एक
 ही कुलके हों ॥ २ ॥ यद्यो यद्यो सपकोपर कल्प वृषके फूल पिछे हुए थे, दोनों ओर रेशमी रुद्रियाँ
 पाँवोंमें टँगी हुई थीं और द्वार-द्वार पर सोनेके बन्दनवार बँधे हुए थे । इन सबकी चमकसे जग-
 माता हुआ वह नगर ऐसा जान पड़ता था मानो स्वर्ग ही उतर कर वहाँ बसा आया हो ॥ ३ ॥
 यद्यपि हिमालयके बहुतसे पुत्र थे फिर भी उस समय हिमालय और मेना दोनों की पार्वतीजी ऐसी
 प्राणसे बढ़कर प्यारी लग रही थीं मानो बहुत दिनोंपर मिली हों या भरी जो कर उठे हों क्योंकि
 विवाह हो जाने पर वे धर्मि बहसि चली जाने वाली थीं ॥ ४ ॥ सब कुटुम्बियोंने पार्वतीजीके धर्म-
 पार्ष्णसे अपनी अपनी गोदी में बैठाकर आशीर्वाद दिया और एक से एक बढ़कर सहने दिए । ऐसा
 जान पड़ता था मानो हिमालयके सब कुटुम्बियोंका स्नेह पार्वतीजीमें ही आकर भर गया हो ॥ ५ ॥
 सूर्य निकलनेके तीन मुहूर्त पीछे उत्तर फाल्गुनी नक्षत्रमें कुटुम्बकी सुहागिन और पुत्रपती स्त्रियाँ
 पार्वतीजी का सिंगार करने लगीं ॥ ६ ॥ पहले दूधके घड़ुओं और सरसोंके दानोंसे उनका सिंगार
 किया गया फिर उन्हें नामितक ऊँची रेशमी साड़ी पहना कर उसमें एक साथ खोल दिया गया ।

वसौ च संपर्कमुपेत्य बाला नत्रेव दीक्षाविधिसायकेन ।
 करेण मानोर्बहुलावसाने संधुक्ष्यमाणेव शशाङ्करेखा ॥ ८ ॥
 तां लोभ्रकल्केन हृताङ्गतैलानारयानकालेपकृशाङ्गराम् ।
 वासो वसानामभिपेक्षयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैपुः ॥ ९ ॥
 विन्यस्तवैर्दूर्यशिलावलेऽस्मिन्नावद्धमुक्ताफलमक्तिचित्रे ।
 श्रावजिताष्टापदकुम्भतोवैः सत्सर्वमेनां स्नपयाम्भूषुः ॥ १० ॥
 सा मङ्गलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा ।
 निर्वृत्तपर्वन्यजलाभिपेक्षा प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे ॥ ११ ॥
 तस्मात्प्रदेशाञ्च वितानवन्तं युक्तं मण्णिस्तम्भचतुष्टयेन ।
 पतिव्रताभिः परिगृह्य निन्ये क्लृप्तासनं कौतुकवेदिमध्यम् ॥ १२ ॥
 तां प्राद्भुवीं तत्र नियेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरोनिपण्णाः ।
 भूतार्थशोभाद्विपमाणनेत्राः प्रसाधने संनिहितेऽपि नार्यः ॥ १३ ॥
 धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तमन्तःकुसुमं तदीयम् ।
 पर्याचिपररुचिदुदारबन्धं दूर्वावता पाण्डुमधूकदाप्रा ॥ १४ ॥
 विन्यस्त शुक्लागुरु चक्रुर्ङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्थाः ।
 सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥ १५ ॥

इस प्रकार तेल क्षमाकर सिंगार करनेकी सजाकर पूरी हो गई ॥ ८ ॥ इस नये विवाहका वाद्य कमरमें
 लौमकर पार्वतीजी ऐसे चमकने लगीं जैसे सुकृ पद्ममें सूर्यकी किरण पाकर चन्द्रमा चमकने लगता है
 ॥ ८ ॥ सब मुहागिन जिधोंने उनके शरीरपर मन्त्रे हुए तेलकी लोपट्टी पुरुषोत्तमे मुग्धाया और कुण्ड-
 कुण्ड गीष्ठा मुगन्धिज लेव छेकर उमका शरीर रंगा । सब स्नान करनेका कपडा पहनाकर वे ठगईं
 पीकोर स्नानघरमें जिया खे गईं ॥ ११ ॥ उन स्नानघरमें नीलमणिकी एक सुन्दर थीकी विड्डी हुई थी
 और पारों और रंग बिरंगी मंजिरीकी माला मरी हुई थी । उन थीकीपर उन जिधोंने उमकी घेराया
 और माने-बताये हुए सोनेके घड़ोके जन्मे पार्वतीजीसे नहला दिया ॥ १० ॥ मंगल स्नान करनेसे
 पार्वतीजीका शरीर अत्यन्त निर्मल हो गया और ठगईने विवाहके पत्र पहन लिए । उस समय वे ऐसी
 लगने लगीं मानो गरजते हुए बादलोंके जन्मे पुकी हुई थीं और कान्तिके पूजोमें मरी हुई धरती गोमा दे
 रही हो ॥ ११ ॥ सौ मङ्गल-धुनाकर वे मुहागिनी पतिव्रतापुं पार्वतीजीकी सहास देकर उस एकान्त
 भयनमें खे गईं जहाँ मणिकीके समोरर चढ़वा तना हुआ था, सोचमें मंगल-वेदी लगी हुई थी और
 उदरपर सत्रा हुआ आसन विद्ध हुआ था ॥ १२ ॥ यहाँ ठगईने पार्वतीजीकी पूरकी और सुंद
 करके घेरा दिया । सिंगारकी मर परपुणं पाममें होनेपर भी वे सब पार्वतीजीकी स्वामाधिक
 गोमापर ही इतनी लट्ट हो गईं कि हुए देवतक तां वे सुपुत्र भूषकर उनकी और पृच्छक निहारती
 हुई कैरी रह गईं ॥ १३ ॥ फिर, जिधोंने लो अंग-चन्द्रके पुण्ये उनके शत्रु मुग्धापर बाँझेने पूर
 रूथे और फिर दूरने विरई हुई पांखे मणुके पूजोकी माला उनके चरनें लगे ॥ १४ ॥ जिधोंने

लम्बद्विरेफं परिभूय यज्ञं समेषलेखं शशिनश्च विम्बम् ।
 तदाननश्रीरलकैः प्रसिद्धैश्चिच्छेद सादृश्यकथाप्रसङ्गम् ॥ १६ ॥
 कर्णापितो लोभ्ररूपापरुक्षे गोरोचनाश्लेषनिवान्तगौरैः ।
 तस्याः कपोले परभागलाभाद्भवन्ध चक्षुषि यवप्ररोहः ॥ १७ ॥
 रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किञ्चिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः ।
 कामप्यभिलषां स्फुरितैरपुष्पदासत्रलाशयफलोऽधरोष्ठः ॥ १८ ॥
 पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सरुषा परिहासपूर्वम् ।
 सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्मान्द्येन तां निर्वचनं जघान ॥ १९ ॥
 तस्याः मुजातोत्पलपत्रकान्ते प्रसाधिकाभिर्नयने निरीक्ष्य ।
 न चक्षुषोः कान्तिविशेषयुद्धया कालाञ्जनं मङ्गलमित्युपाचमम् ॥ २० ॥
 सा संभवद्भिः कुण्डुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा ।
 सरिद्विहंगैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे ॥ २१ ॥
 आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शयिन्ने स्तिमितायताली ।
 हरोपयाने स्वरिता वभूव स्त्रीषां प्रियालोकफलो हि वेशः ॥ २२ ॥

उनके शरीरसे बनाया हुआ आंगराम उनके शरीरपर मला और फिर अच्छत लाल गोरोचनसे उनका शरीर पीता । उस समय पार्वतीजी इतनी सुन्दर लग रही थीं कि उनके रूपके आगे उनकी पार-
 वाली उन गंगाजीकी शोभा भी फीकी पड़ गई जिनके तीरे परका बालूमें चकने बैठे हों ॥ १५ ॥
 भौंसे धिरा हुआ कमल और बादलके टुकड़ोंमें लिपटा हुआ चन्द्रमा, कोई भी ऐसा न दिखाई दिया जो उनके गुँथा हुई चौड़ीवाले मुलकी सुन्दरताके आगे बहर सके ॥ १६ ॥ उनके कानोंपर लटकने हुए जीके थंजुर और लोपसे पुले तथा गोरोचन लगे हुए गोरे गोरे माल इतने सुन्दर लगने लगे कि सबको आँखें बरबस उनकी ओर खिंची जाती थी ॥ १७ ॥ मुँहाले अँगोवाली पार्वती-
 जीका जो निचला ओठ ऊपरके ओठसे एक रेखासे अलग हो गया था, जिसपर लगे हुई थिङ्गाईने उसपर और भी लाली चढ़ाकर उसे सुन्दर बना दिया था और जिसकी सुन्दरता बस फलने ही वाली थी, वह ओठ जब फड़कता था उस समयकी उसकी शोभा कहीं नहीं जा सकती ॥ १८ ॥
 पार्वतीजीके शरणाँमें जब सली महाशर लगा चुकी तब उसने दिशेली करते हुए आशीर्वाद दिया कि भगवान् कहे तुम इन पैरोंसे धरने पतके तिरकी चंद्रकलाकी सूपो । इसपर पार्वतीजी मुँहसे तो कुल न बोलीं पर एक मात्रा उठकर उलकी पंथपर उठोने जड़ हो दी ॥ १९ ॥ सिंगार करनेवाली स्त्रीने पार्वतीजीको नीले कमल जैसे बड़ी बड़ी और काली काली आँखोंमें जो काजल लगाया वह इसलिये नहीं कि आँखनसे उनकी आँखोंकी कुछ शोभा बढ़ेगी बल्कि इसलिये कि वह भी मंगल सिंगारकी एक चलन थी ॥ २० ॥ जैसे फूल जानेपर लतामें स्वयं भी खिल उठती हैं वा जैसे तारे निचलनेपर रात जगमगाने लगती है वा जैसे रंगधरने परिषोंके वा जानेसे नदी सुहावनी लगने लगती है, वैसे ही मणियों, मोतियों और सोनेके गहने पहना दिए जानेपर पार्वतीजीकी स्वाभाविक सुन्दरता और भी निखर गयी ॥ २१ ॥ धरने इस सबके रूपकी दर्पणमें देखकर पार्वतीजी भी ठक रह

अथाङ्गुलिभ्यां हरितालमार्द्रं माङ्गल्यमादाय मनःशिला च ।
 कर्णाग्रमक्तामलदन्तपत्रं माता तदीयं सुखमुद्धमस्य ॥ २३ ॥
 उमास्तनोद्भेदमनु प्रवृद्धो मनोरथो यः प्रथमं यभूय ।
 तमेव मेना दुहितुः कथंचिद्विराहदोचातिलकं चकार ॥ २४ ॥
 ययन्व चास्राकुलदृष्टिरस्याः स्थानान्तरे कल्पितसंनिवेशम् ।
 धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणमूर्णामयं कौतुहहस्तसूत्रम् ॥ २५ ॥
 क्षीरोदकेन सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेण शरत्त्रियामा ।
 नवं नवचौमनिगामिनी सा भूयो यभौ दर्पणमादधाना ॥ २६ ॥
 तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रथमस्य माता ।
 अकारपत्कारयितव्यदद्या क्रमेण पादग्रहणां सतीनाम् ॥ २७ ॥
 अस्त्रपिडितं प्रेमलभस्व पत्युरित्पुञ्जते ताभिरुमा स्मनन्ना ।
 तथा तु तस्यार्धशरीरमाजा पथात्कृताः स्निग्धजनाशिपोऽपि ॥ २८ ॥
 इच्छानिभृत्योरनुरूपमद्रिस्तस्याः कृती कृत्यमशेषयित्वा ।
 सम्यः समाया सुहृदास्थितायां तस्यै घृपाङ्गागमनप्रतीच ॥ २९ ॥

तावद्भवस्यापि कुवेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहयानुरूपम् ।
 प्रसाधनं मातृभिरादृताभिर्न्यस्तं पुरस्तात्पुरशासनस्य ॥ ३० ॥
 तद्गौरवान्मङ्गलमण्डनश्रीः सा पस्पृशे केवलमीश्वरेण ।
 स एव वेपः परिणेतुरिष्टं भावान्तरं नस्य विमोः प्रपेदे ॥ ३१ ॥
 बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः ।
 उपान्तभागेषु च रोचनाङ्को गजाजिनस्यैव दुकूलभावः ॥ ३२ ॥
 शङ्खान्तरघोति विलोचनं यदन्तर्निविष्टामलपिङ्गवारम् ।
 सान्निध्यपक्षे हरितालमध्यास्तदेव जातं तिलकक्रियायाः ॥ ३३ ॥
 यथाप्रदेशं मुञ्जपेश्वराणां करिष्यतामभरणान्तरत्वम् ।
 शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे तथैव तस्युः फणरत्नशोभाः ॥ ३४ ॥
 दिवापि निष्कृतमरीचिभासा वान्यादनाविष्कृतलाञ्छनेन ।
 चन्द्रेव नित्यं प्रतिभिन्नमौलेश्चूडामणोः किं ग्रहणं हरस्य ॥ ३५ ॥
 इत्यद्भुतैकप्रभवः प्रभावात्प्रसिद्धनेपथ्यविधेर्विधाता ।
 आत्मानमासन्नगणोपनीते खङ्गे निपक्तप्रतिमं ददर्श ॥ ३६ ॥
 स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचर्मन्तरितोरुपृष्ठम् ।
 तद्भक्तिसंक्षिप्तवृहत्प्रमाणमारुह्य कैलासमिव प्रतस्थे ॥ ३७ ॥

विवाहमें काम आई थीं ॥ ३० ॥ शंकरजीने माताओंका आदर करनेके लिये वे सब मङ्गल शृङ्गारकी सामग्रीएँ छु भर दीं, पहनी नहीं । उन्होंने अपनी शक्तिसे अपने ही पेशको विवाहके योग्य बना लिया ॥ ३१ ॥ उनके शरीरपर पुत्री हुई चित्तकी भरम उजाला आगराग बन गई, कपाल ही गडके सुन्दर आभूषण बन गए और हार्थिका चर्म ही ऐसा रेशमी धतूरा बन गया जिसके शींचलोंपर गोरे-बनासे हंसके जोड़े छपे हुए थे ॥ ३२ ॥ और उनके माथेमें पीछी पुतलीवाला जो चमकता हुआ नेत्र था वही हरतालका सुन्दर तिलक बन गया ॥ ३३ ॥ उनके शरीरके बहुतसे अंगोंमें जो सौंप लिपटे हुए थे वे भी उन-उन अंगोंके आभूषण बन गए पर उनके फणोंपर जो मणि थे वे उषों के हों चमकते रह गए ॥ ३४ ॥ उनके मुकुटपर सदा रहनेवाला जो चन्द्रमा दिनमें भी अपनी किरणें चमकता था और जिसके छोटे होमेके कारण उसमेंका कलक दिखाई नहीं देता था यह चन्द्रमा ही उनका चूडामणि बन गया था इसलिये वे दूसरा चूडामणि लेकर करते ही क्या ॥ ३५ ॥ अपनी शक्तिसे संसारके सभी सिंगारकी पनाने वाले और सदा अनोखा ही काम करनेवाले महादेवजी अपने पास बैठे हुए गणसे राइग मेंगाकर उसमें अपनी मुँह देना ॥ ३६ ॥ फिर नन्दीके हाथका सहारा लेकर वे अपने उस सगरे पीढ़े छाल हीलवाले पैलकी पीठपर चढ़े जिसपर सिंहकी पाल विद्यो हुई थी और जो ऐसा दिराई पड़ता था मानो शंकरजीमें भक्ति रखनेके कारण कैलासने ही अपने बड़े रूपकी छेष्टा बना लिया हो ॥ ३७ ॥ अपने सेजोमङ्गलकी चमकते गोरे-गोरे मुखवाली सुन्दर माताएँ जब

तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनद्योमचलावर्तताः ।
 मृतैः प्रभामचडलरेणुगौरैः पश्चाद्गरं चक्रुरिवान्तरीक्षम् ॥ ३८ ॥
 तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकारे ।
 यत्नाकिनी नीलपयोदराजी दूरं पुरःक्षिप्तशतहृदेव ॥ ३९ ॥
 ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुद्दोरितो मङ्गलतूर्यधोपः ।
 विमानशृङ्गाण्यवमाहमानः शशंस सेवागसरं सुरेभ्यः ॥ ४० ॥
 उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वप्रा नवं निर्मितमातपत्रम् ।
 स तद्दुक्लादविदूरमौलिर्वभौ पतद्गङ्गा इयोचामाङ्गे ॥ ४१ ॥
 मूर्ते च गङ्गायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविपाताम् ।
 समुद्रगारूपविपर्ययेऽपि सहस्रपाते इव सक्ष्यमाणे ॥ ४२ ॥
 तमभ्यगच्छत्प्रथमो विधाता शीघ्रतसलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात् ।
 जयेति वाचा महिमानमस्य संवर्धयन्तौ हविषेव बहिम् ॥ ४३ ॥
 एकैव मूर्तिर्विभिदे त्रिधा सा सामान्यमेपां प्रथमावतरत्वम् ।
 विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्देधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥ ४४ ॥

अपने-अपने रथोंपर बैठकर पीठे पीठे चलीं तो रथोंके मूठकेसे उनके कर्णफूल हिलने लगे ।
 उस समय उनके मुँह आकाशमें ऐसे लग रहे थे मानो किसी लज्जमें, यहलसे कमल खिल गए हैं ।
 ॥ ३८ ॥ सोनेके समान चमकनेवाली उन माताओंके पीठे-पीठे उजले रापरोंसे देव समाए हुए
 भद्रका खीजी आ रही थीं जो ऐसी लग रही थीं मानो यमुल्लोसे भरी हुई और दूर तक चमकती
 हुई विजलीवाली गोले चाड़लों की घटा चलते आ रही हो ॥ ३९ ॥ महादेवजीके आगे
 आगे चलनेवाले गणोंने जो मङ्गल सुरही पशार्इ उतरी धरनिने श्रवताओंके विमानोंकी
 छतरियोंमें गूँसकर यह सूचना दी की अब सबको अपने-अपने काममें लुट जाना चाहिए
 ॥ ४० ॥ मूठ सूयने विश्वकर्माके हाथका बनाया हुआ नया छत्र लेकर शिवजी पर लगा दिया ।
 उस समय शिवजीके सिरके पास छत्रसे लटकता हुआ कपड़ा ऐसा जान पड़ता था मानो
 सांगाजीकी धारा हो गिर रही हो ॥ ४१ ॥ गया और यमुना भी अपना नदीका रूप छोड़कर
 महादेवजीपर घँवर हुलाने लगीं । वे घँवर ऐसे खगते थे मानो इस उड़ रहे हों ॥ ४२ ॥
 जैसे आगमें धो डालनेसे उसकी लपट बढ़ जाती है वैसे ही मद्गा और विष्णुने आकर
 उनकी जयजयकरा करके उनकी महिमा और भी बढ़ा दी ॥ ४३ ॥ सबकी बात तो यह है कि
 मद्गा, विष्णु और महेश एक ही मूर्तिके तीन रूप हो गए हैं और वे सब बराबर आपसमें
 एक दूसरेसे छोटे बड़े हुआ ही करते हैं । कभी शिवजी विष्णुने बढ़ जाते हैं, कभी मद्गा इन
 दोनोंसे बढ़ जाते हैं और कभी ये दोनों मद्गामे बढ़ जाते हैं ॥ ४४ ॥ यहाँ अपना राजसी हाट
 छोड़कर और विनांत येरा बनाकर इन्द्र आदि लोकपाल जब उनके दर्शन करनेको आए तो

तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रोलन्नशोत्सर्गविनीतवेपाः ।
 दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तदर्शिनाः प्राञ्जलयः ग्रयोमुः ॥ ४५ ॥
 कम्पेन भूर्धुः शतपत्रयोनिं वाचा हरिं वृत्रहर्षं स्मितेन ।
 आलोकमात्रेण सुरानशेषान्संभावयामास यथा प्रधानम् ॥ ४६ ॥
 तस्मै जयाशीः ससृजे पुरस्तात्सप्तर्षिभिस्तान्स्मितपूर्वमाह ।
 विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृत्ता मयेति ॥ ४७ ॥
 विश्वावसुप्राग्रहरैः प्रवीणैः संगीयमानत्रिपुरावदानः ।
 अध्वानमध्वान्तविकारलङ्घ्यस्ततार ताराधिपत्न्यङ्घारी ॥ ४९ ॥
 खे खेलगामी तमुवाह वाहः सशब्दचामीकरकिंकिणीकः ।
 तटामिघातादिव लग्नपङ्के धुन्वन्मुहुः प्रोतघने विषाणो ॥ ४९ ॥
 स प्रापद्प्राप्तपराभियोगं नगेन्द्रगुप्तं नगरं मुहूर्तात् ।
 पुरोविलग्नैर्हरदृष्टिपातैः सुवर्णस्रगैरिव कृष्यमाखः ॥ ५० ॥
 तस्योपकण्ठे घननीलकण्ठः कुतूहलादुन्मुखपौरदृष्टः ।
 स्ववाणचिह्नादवतीयं मार्गादासन्नभूष्टृष्टमियाय देवः ॥ ५१ ॥

नन्दिने, संकेतसे इन लोगोंको महादेवजीके दरान कर दिया और तब इन लोगोंने हाथ जोड़कर शिवजीकी प्रणाम किया ॥ ४५ ॥ शिवजीने महाजोकी थोर सिर हिलाकर, विष्णुजीसे कुशल मंगल पूछकर, इन्द्रकी ओर मुस्कराकर और जितने देवता थे उन सबकी केवल देखकर जो जैसा बड़ा छोटा था वैसे ही सबका आदर किया ॥ ४६ ॥ फिर जब सप्तर्षियोंने जब कहकर उन्हें आशीर्वाद दिया, तब शिवजी उनसे बोले कि इस वदे भारी विबाहके काममें पुरोहितका काम मैंने पहलेसे ही आपके लिये रखा छोड़ा है ॥ ४७ ॥ सप्त विकारोंसे परे रहनेवाले महादेवजी जब चलने लगे उस समय उनके आगे-आगे विवाहवस्तु आदि प्रसिद्ध गंधर्व गवैषे त्रिपुरासुरपर विजय पानेके गीत गाते चल रहे थे ॥ ४८ ॥ यहाँ माँटी चालसे चलनेवाला और अपने गलेमें बटकी हुई सोनेकी छोटी-छोटी घंटियोंकी टनटनाता हुआ वह पैल उन बादलोंको अपने सींगोंसे धार-धार झुँकारता हुआ चला जा रहा था जो उसके सींगोंमें इस प्रकार लगे हुए थे मानो नदीके तीर परके डीले टाँटे समय उनमें कौबद लग गई हो ॥ ४९ ॥ किलीसे भी कभी न हारनेवाला वह पैल हिमालयके ओपधिप्रस्थ नामवाले नगरमें इस प्रकार चण भरमें पहुँच गया मानो आगे पढ़ती हुई शिवजीकी कितवमकी सोनेकी टोरियों उसे लीवती ले गई हों ॥ ५० ॥ उसी नगरके पास बादलोंके समान नोले कण्ठवाले महादेवजी उस आकाशसे पूर्वापर उतरे जिसमें उन्होंने त्रिपुरासुरको मारते समय बहुतसे माण्य चलाकर पिढ़ बना दिए थे । वे जब उतर रहे थे तो यहाँके निवासी वड़े चावने ऊपर मुँह उठाए हुए उन्हें देख रहे थे ॥ ५१ ॥ महादेवजीके आनेसे पर्यंतरात्र हिमालय वड़े प्रसन्न हुए और अपने उन धनी कुटुम्बियोंको हाथीपर चढ़ा-चढ़ाकर शिवजीकी सगवानीके लिये ले चले जो

तसृद्धिमद्भ्युजनाधिरुद्वैर्द्वैर्गजानां गिरिचक्रवर्ती ।
 प्रत्युज्जगामागमनप्रतीतः प्रफुल्लवृक्षैः कटकैरिव स्वैः ॥ ५२ ॥
 वर्गाबुभौ देवमहीधराणां द्वारे पुरस्पोद्धृतितापिधाने ।
 समीपतुर्दूरविसर्पिघोषी मिन्नैकसेतू पयसामिबौघौ ॥ ५३ ॥
 हीमानभूद्भूमिधरो हरेण त्रैलोक्यवन्द्येन कृतप्रणामः ।
 पूर्वं महिम्ना स हि तस्य दूरमावर्जितं नात्मशिरो विवेद ॥ ५४ ॥
 स श्रीतियोगाद्विकसन्मुखश्रीर्जामातुरग्रेसरतामुपेत्य ।
 प्रावेशयन्मन्दिरसृद्धमेनमागुल्फकीर्णपिण्णमार्गपुष्पम् ॥ ५५ ॥
 तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीशामीशानसंदर्शनलालमानाम् ।
 प्रासादमालासु बभूयुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि निचेष्टितानि ॥ ५६ ॥
 आलोकमार्गं सहमा व्रजन्त्या कयाचिद्दुष्टेनवान्तमाल्यः ।
 बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ५७ ॥
 प्रसाधिकाऽऽलम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्भूवरागमेव ।
 उत्सृष्टलीलागतिरागवाचादलक्तकाङ्क्षां पदवीं ततान ॥ ५८ ॥
 विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभान्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
 तथैव चातापनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ ५९ ॥

उसी प्रकार सुसज्जित थे जैसे हिमालयकी ढालपर प्लोसे से लदे हुए पृथ ॥ ५२ ॥ इन दोनों
 ही दर्जोंका इतना दूरतक मुलाई पड़ रहा था और वे जब हिमालयकी राजधानीके सुले फाटकों
 वाले द्वारपर आकर मिले तो ऐसे लगने लगे मानों योंच टूट जाने पर जलकी दो धाराएँ
 भाकर आपसमें मिल गई हों ॥ ५३ ॥ शंकरजीने जब पहले हिमालयकी प्रणाम किया तो वह
 लाजसे गड़ गया, पर उसे यह नहीं पता चला कि प्रणाम करनेके पहले ही उनकी महिमाने
 ही उसका सिर झुक चुका था ॥ ५४ ॥ इस सुन्दर सम्बन्धसे हिमालय वड़े प्रसन्न थे । आगे-
 थाने लगकर वे मणियाँ और धेनुदूँडाले सत्रे हुए अपने जामातको उस मार्गसे ले गए
 जहाँ इधने फूल बिजे थे उन फूलों पर घँस जा रहे थे ॥ ५५ ॥ उसी समय महादेवजीके
 दर्शनके लिये चावसे भरी हुई नगरकी सब सुन्दरियाँ अपनी धरना सब काम-काज छोड़कर
 अपने भवनोंकी छतोंपर आ खड़ी हुई ॥ ५६ ॥ एक छोटी ज्यों ही लिङ्कीकी और इतकी
 में मागी कि उसके जूड़ेमें योंच हुई फूलकी माला लुच गई और वह उसे अपने हाथसे पकड़े
 हुए ही पल ही उसे योंचकी मुख न रही ॥ ५७ ॥ एक छोटी अपने पैरमें महादेव लगवा रही
 थी कि उसे चपूरा छोड़कर ही वह म्हापट लिङ्कीके पासतक अपने महादेव-रुगे पैरोंकी छाप
 मनाती हुई खींच गई ॥ ५८ ॥ एक छोटी अपनी दाईं छतमें तो काजल लगा चुकी थी पर दाईं
 छतमें बिना लगएँ हाथमें सजाई किए हुए ही लिङ्कीकी मोर लपकी ॥ ५९ ॥ एक छोटी ज्योंही

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बन्ध नीवीम् ।
 नाभिप्रविष्टाभरणप्रमेण हस्तेन तस्थावबलन्व्य वासः ॥ ६० ॥
 अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमित्ते गलन्ती ।
 कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमहुमुत्प्लापितसूत्रशेषा ॥ ६१ ॥
 तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
 विलोलेनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ६२ ॥
 तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुचोरणं राजपथं प्रपेदे ।
 प्रासादमृङ्गाणि दिवापि कुर्वञ्ज्योत्स्नाभिपेकद्विगुणघतीनि । ६३ ॥
 तमेकदृश्यं नयनैः पिवन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
 तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ ६४ ॥
 स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्शया पेलवयापि तप्तम् ।
 या दास्यमप्यस्य लभेत नारी सा स्यात्कृतार्था किमुताङ्कशय्याम् ॥ ६५ ॥
 परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
 अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत् ॥ ६६ ॥

लिपकीकी जालियोंमें जाकर झोंकने लगी कि उसकी कमरका नाड़ा मुल गया थीर बिना
 रींचे ही उसे इधरसे पकड़े जो खड़ी हुई थी उसके हाथके कंगलके रत्नकी चमकसे उसकी नाभि
 चमकती दिखाई देने लगी ॥ ६० ॥ एक स्त्री डोरेमें मण्डि पिरो रही थी । इतनेमें ही शंकराजीकी
 यातका इच्छा सुनकर वह दृढ़दाकर उठी थीर लिपकीकी ओर दौड़ी । हुआ वह कि लिङ्ग-
 कीतक पहुँचते-पहुँचते मण्डियोंके दाने तो सब बिखर गए पर पैरके अँगूठेमें क्या हुआ कोरा
 ज्योंका त्यों बँसा रह गया ॥ ६१ ॥ उन चावभरे नैन-यालियोंके घाससे महकने हुए थीर
 पचल नेत्रवाले मुल लिपकियोंमें झोंकते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो लिपकियोंको
 जालियोंमें भीरसे भरे कमल टोंग दिष्ट गये हों ॥ ६२ ॥ इतनेमें ही उन चूनेसे पुते हुए उजबले
 भयनोंके कँगूरोंको घबने सिरके चंद्रमानी चाँदनोंसे भीर भो अधिक चमकते हुए महादेवतीने
 स्वजायाँ थीर पताकाओंसे सजे हुए राजमार्गमें प्रवेश किया ॥ ६३ ॥ नगरकी छिपी सत्य
 सुषुप्त भूलकर हम प्रकार एकटक देतती हुई उन्हें घबने नेत्रोंसे भी रही थी मानो उनकी
 सब इन्द्रियों काकर झोंकोंमें ही समा गई हों ॥ ६४ ॥ ये सोचने लगी कि ऐसे परके
 जिसे सुषुमार पार्वतीका तप कराना शक ही था वहाँ कि ये तो ऐसे सुन्दर हैं कि जो स्त्री
 इनकी दाती भी हो जाय वह भां धन्य हो जाय फिर जो इनकी गोदमें जाकर छेदे उसका
 तो कहना ही क्या है ॥ ६५ ॥ सुन्दरतामें एक दूसरेसे चढ़े-चढ़े हुए इस जोड़ेका यदि विवाह
 न होता तो हम यहाँ समझते कि प्रजाजीने इन दोनोंका रूप मनुष्यों जो परिभ्रम किया वह सब
 व्यर्थ ही था ॥ ६६ ॥ अब हमारी समझमें था रहा है कि इन्होंने कामदेवकी शोषकारके भ्रम

न नूनमारुढहया शरीरमनेन दग्धं कुसुमायुधस्य ।
 ग्रीडादगुं देवमुदीक्ष्य मन्ये संन्यस्तदेहः स्वयमेव कामा ॥ ६७ ॥
 अनेन संबन्धमुपेत्य दिष्ट्या मनोरथप्रार्थितमौरवरैण ।
 मूर्धानमालि चित्तिधारणोच्चमुच्चैस्तरं वक्ष्यति शैलराजः ॥ ६८ ॥
 इत्योपधिप्रस्थविलासिनीनां भृणवन्कथाः श्रोत्रसुखास्त्रिनेत्रः ।
 फेयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालपमाससाद् ॥ ६९ ॥
 तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्वनादोधितिमानिवोक्षणः ।
 क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराप्यद्रिपतेर्विवेश ॥ ७० ॥
 तमन्यगिन्द्रप्रमुखाश्च देवाः सप्तपिचूर्वाः परमर्षयश्च ।
 गणाश्च गिर्यालयमभ्यगच्छन्प्रशास्तमारम्भमिवोत्तमार्याः ॥ ७१ ॥
 तत्रेश्वरो विष्टरमाग्यथावत्तरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।
 नये दुकृत्ते च नागोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ॥ ७२ ॥
 दुकृत्तवासाः स पधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधदक्षैः ।
 वेलासमीपं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥ ७३ ॥
 तथा प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुः कुमुदः कुमार्या ।
 प्रसन्नचेतःसलिलः शिवोऽभूत्संसृज्यमानः शरदेव लोकः ॥ ७४ ॥

नहीं किया है वरद कामदेव ही इनकी सुन्दरताको देखकर टीसके मारे स्वयं जन्म मरा ॥ ६७ ॥
 हे सखी ! परवैरवर हिमालय यद्द भाग्यकार है । एक तो शत्रु की धारण करनेसे उनका सिर
 चैले ही ऊँचा था उसपर अनेक मनचारे वर मगरान शंकरजोले सम्बन्ध करके उनका सिर
 धीरे भी ऊँचा हो जायगा ॥ ६८ ॥ श्रोत्रधिप्रस्थकी रित्तोंको ऐसी मीठी-मीठी बातें सुनते हुए, महा-
 देवजी हिमालयके उस घरमें पहुँचे जहाँ इतनी भोग थी कि कुमारियोंने शृणुकर दिलबानेके
 खिचे जो खिले खिचेरी थीं वे वहाँके लोगोंके भुनखण्डकी रगवसे ही विसफर चूर्ण बन गई थीं
 ॥ ६९ ॥ वहाँ पहुँचनेपर विष्णुजीने हाथका सहारा देकर महादेवजीको हृद प्रकर चैलसे उतार
 लिया मानो शरदके उजले बादलोंसे सूर्यको उतार लिया हो । पहिले वे हिमालयके भवनकी
 उभ मीठरकी कोठामें पहुँचे जहाँ प्रकामो पहिलेसे बैठे हुए थे ॥ ७० ॥ उनके पाँजे-पाँजे हृद
 आदि देवता, सहस्रियों के साथ सब महर्षि धीरे महादेवजीके समीप गये हिमालयके घरमें उसी
 प्रकार बैठे जिने किसी कामके शोक-शोक प्रारंभ हो जानेपर उसके पीठे धीरे भी यहुतवे सदे-सदे
 काम सध जाये हैं ॥ ७१ ॥ वहाँ आसनपर महादेवजीको बैठकर हिमालयमें स्त्व, अर्घ्य, मधु,
 वही धीरे नये वस्त्र, जो कुछ खाकर दिए वे सब उन्होंने मंत्रके साथ ले लिए ॥ ७२ ॥
 देवजी वरद पहले हुए महादेवजीको रनिवासके सेवक उसी प्रकार पार्वतीजीके पास ले गए
 जैसे चंद्रमाकी चिरयो बेलबाले समुद्रको टाटाक पहुँचा देती हैं ॥ ७३ ॥ जैसे शरदके आनेपर लोग
 प्रसन्न हो जाते हैं वैसे ही अत्यन्त चमकते हुए चन्द्रमाके समान सुखवादी पार्वतीको देखकर

तयोः समापत्तिषु कातराणि किञ्चिद्व्यवस्थापितसंहृतानि ।
 हीयन्त्रयां तत्क्षणमन्वभूवन्न्योन्यलोलानि विलीचनानि ॥ ७५ ॥
 तस्याः करं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्राहुलिमष्टमूर्तिः ।
 उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य तच्छङ्किनः पूर्वमिव प्ररोहम् ॥ ७६ ॥
 रोमोद्गमः प्रादुरभूद्दुमायाः स्विन्नाहुलिः पुंगवकैतुरासीत् ।
 वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्त्यै मनोभवस्य ॥ ७७ ॥
 प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद्वधुवरं पुण्यति फान्तिमश्याम् ।
 सांनिध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुमपस्य तस्य ॥ ७८ ॥
 प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदचिंपस्तन्मिधुनं चक्रासे ।
 मेरोरुवान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ ७९ ॥
 तौ दंपती त्रिः परिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ ।
 स कारयामास वधूं पुरोधस्तस्मिन्समिद्धाचिंपि लाजमोक्षम् ॥ ८० ॥
 सा लाजधमाञ्जलिमिष्टगन्धं गुरूपदेशाद्ददनं निनाय ।
 कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या सुहृत्कणोत्पलतां प्रपेदे ॥ ८१ ॥

शंकरजीके नेत्ररूपी कुमुद खिल गए और उनका मन जलके समान निर्मल हो गया ॥ ७४ ॥
 पार्वतीजीके और शंकरजीके नेत्र थोड़ी देरके लिये मिलकर फिर हट जाते थे और इस प्रकार एक
 दूसरेको चाह-भरी चित्तवनसे देखकर उनके हृदयमें फिर यही लज्जा मौ धा जाती थी कि हमें
 देखकर दूसरे क्या कहते होंगे ॥ ७५ ॥ तब हिमालयके पुरोहितने पार्वतीजीका हाथ आगे पढ़ाकर
 शंकरजीके हाथपर रख दिया । पार्वतीजीका यह जाल-जाल उँगलियोंवाला हाथ ऐसा लजता
 या माने महादेवजीने बरसे लिये हुए कामदेवके शंकर पदके-पदल निकल रहे हैं ॥ ७६ ॥ हाथ
 पकड़ते ही पार्वतीजीको भी रोमाच हो आया और महादेवजी की उँगलियों से भी पसीना छूटने
 लगा । ऐसा जान पड़ा माने उन दोनोंका हाथ मिलाकर कामदेवने दोनोंको एक साथ अपने
 पसमें कर लिया हो ॥ ७७ ॥ जो पार्वती और शंकर समार भरमें विवाहके समय स्वाण किद्
 जानेपर यह और योंकी शोभा बढ़ाते हैं उन्हीं पार्वती और शंकरका जब रवध ही विवाह हो रहा हो
 तब उनकी शोभाका तो कहना ही क्या है ॥ ७८ ॥ ईश्वरसे जकी हुई अग्निका फेरा देते समय
 पार्वती और शंकरजी इस प्रकार सोभित हुए माने रात और दिन दोनों मिलकर सुमेध पर्वतका फेरा
 लगा रहे हों ॥ ७९ ॥ एक दूसरेको छूनेके कारण पार्वती और शंकरजी अँधेरे मूँदकर आनन्द लेते
 हुए अग्निका फेरा लगा रहे थे । जब लोग बार जलतां हुँद अग्निके फेरे हो गए तब पुरोहितजीने
 अग्निये धानकी सोझोंका हवन कराया ॥ ८० ॥ पार्वतीजीने पुरोहितजीके कहनेसे उस खाँदके होमसे
 उठे हुए सुगन्धित धूपकी अपने हाथपरि आननोंसे रूँधा । यह धूप उनके गालोंके पास पहुँचकर
 चय भरके लिये उनके कानोंका कर्णहृत्त बन जाता था ॥ ८१ ॥ उस हवनके पारम पुरसे पार्वती-

तदीपदाद्राहणमण्डलेखमुच्छ्वासिकालाञ्जनरागमक्षयोः ।
 वधूमुखं क्लान्तपद्मावर्तसमाचारधूमप्रदृशाद्रभूव ॥ ८२ ॥
 वधुं द्विजः प्राह तवैप वत्से वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाधी ।
 शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति ॥ ८३ ॥
 आलोचनान्तं श्रवणे विवृत्य पीतं गुरोस्तद्वचनं भवान्या ।
 निदाघकालोन्वणतापयेव माहेन्द्रमम्भः प्रथमं पृथिव्या ॥ ८४ ॥
 ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन ।
 सा दृष्ट इत्याननमुन्नमस्य हीसन्नक्षयती कथमप्युवाच ॥ ८५ ॥
 इत्थं विधिज्ञेन पुरोहितेन प्रयुक्तपाणिग्रहणोपचारौ ।
 प्रणेषतुस्तौ पितरौ प्रजानां पञ्चामनस्थाथ पितामहाय ॥ ८६ ॥
 वधुर्विधात्रा प्रतिनन्दते स्म कल्याणि वीरप्रसवा भवेति ।
 वाचस्पतिः सन्नपि सोऽष्टमूर्ते त्वाशास्पचिन्तास्तिमितो वभूव ॥ ८७ ॥
 ऋषोपचारां चतुरस्रवेदीं ताघेत्य पश्चात्कनकासनस्थौ ।
 जायापती लौकिकमेपखीयमाद्रावतारोपणमन्वभूताम् ॥ ८८ ॥
 पत्रान्तलप्रेर्जलविन्दुजालैराकृष्टमुक्ताफलजालशोभम् ।
 तयोरुपर्यायतनालदंडमाघत लक्ष्मीः कमलातपत्रम् ॥ ८९ ॥

जोके राज कुष खाल हो गए, सुँहपर पत्तनेकी चूँदें का गई, आँवोंका काला आँजन फैल गया और कानोंपर धरे हुए ज्वे भी सुँवजे पड़ गए ॥ ८२ ॥ तब पुरोहितजीने पार्वतीजीसे कहा कि हे वत्से ! यह अग्नि तुम्हारे विवाहका साणी है । आगसे तुम सब प्रकारकी शंका छोड़कर सदा शिवजीके साम धर्मके काम करना ॥ ८३ ॥ आँखोंतक अपने कान फैलाकर पार्वतीजीने पुरोहितजीकी बात पैसे ही आदरसे सुनीं जैसे गर्मसे तरंग हुईं पृथ्वी वर्षाका पहली चूँदें महण करती है ॥ ८४ ॥ जब शंकरजीने कहा कि ध्रुवकी और त्वेजे तब पार्वतीजीने ऊपर मुँह उठाकर बहुत लजाले हुए किसी-किसी प्रकार इतना कहा—हाँ देख लिया ॥ ८५ ॥ इस प्रकार कर्मअण्ड धाननेवाले पुरोहितजीने संसारके माता-पिता पार्वती और शंकरजीका विवाह पूरा करा दिया । तब कमलके आसनपर बैठे हुए मण्डपजीको धोनीने प्रणाम किया ॥ ८६ ॥ मण्डपजीने पहली तो यह आशीर्वाद दे दिया कि हे कल्याणी ! तुम वीरपुत्रीकी माता बनो, किन्तु बाकीके रजनी होतीं हुए भी उनकी यह समझमें नहीं आया कि सब इच्छाओंसे बरे रहनेवाले शंकरजीको हम क्या आशीर्वाद दें ॥ ८७ ॥ वहलसे महादेवजी और पार्वतीजी, कूलोंसे सजे हुए पीठमें जाए गए और सोनेके आसनपर बैठा दिए गए । तब उनके ऊपर लौकिक विधिसे लोनोंने गीले और पीले अक्षत तिलके ॥ ८८ ॥ तब समय स्वयं खपतीजी, पत्रोंके कोरोंपर षट्पत्ती हुईं और मोतोंके समान चमकती हुईं जलकी चूँदेंसे भरे हुए खम्भी संतल-वाली कमलका अण्ड उनके ऊपर लगाकर पत्नी हो गईं ॥ ८९ ॥ और सरस्वतीजी भी संस्कृत और

द्विधा प्रयुक्तन च वाञ्छयेन सरस्वती तन्मिथुनं जुनाव ।
 संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन ॥ ९० ॥
 तौ संधिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिवद्वरागम् ।
 श्वपर्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ॥ ९१ ॥
 देवास्तदन्ते हरमूढमार्यं किरीटवद्भाञ्जलयो निपत्य ।
 शापावसाने प्रतिपन्नमूर्तेर्ययाचिरे पञ्चशरस्य सेवाम् ॥ ९२ ॥
 तस्यालुभेने भगवान्मिमन्सुर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम् ।
 कालप्रयुक्ता खलु कार्यचिद्धिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ॥ ९३ ॥

अथ विबुधगणैस्त्वानिन्दुमौलिर्विस्तृज्य च्छितिधरपतिरुन्यामाददानः करेण ।
 कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनार्थं च्छितिधिरचितशर्यं कौतुकागारमागात् ॥ ९४ ॥
 नवपरिखयलज्जाभूषणां तत्र गौरां वदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपमीशः ।
 अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचित् प्रमथमुखविकारैर्हासयाभासं गूढम् ॥ ९५ ॥

इति महाकविभोजकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये

उमापरिणयो नाम सप्तमः सर्गः ॥

प्राकृत दोषों भाषाशौर्में शिप श्रीर पार्वतीजीके प्रशंसा करने लगीं । संस्कृतमें तो उन्होंने प्रशंसनीय
 बरकी श्रीर सरलतासे समझमें आनेवाली प्राकृत भाषामें उन्होंने वधूकी प्रशंसा की ॥ ९० ॥ तब
 पार्वती श्रीर शंकरने श्रद्धा थादि रसोंवाला श्रीर सुन्दर हाथ भावसे भरा श्रीर पाँचों सखियोंमें अलग-
 अलग भाषा शैलियोंसे सजा हुआ नाटक धोड़ी देर तक देखा जो शस्त्राशौर्ने खेला था ॥ ९१ ॥
 नाटक समाप्त हो चुकनेपर इन्द्र आदि देवता विवाहित शंकरजीके पास आए और अपने किरीट पाँचे
 हुए शिरपर हाथ जोड़कर यह प्रार्थना की कि आपका विवाह हो जानेसे आपका दिया हुआ शप
 भी समाप्त हो गया, इसलिये आप आज्ञा दें जो कामदेव किलसे जो उठे और आपकी सेवा करे ॥ ९२ ॥
 प्रसन्न भगवान्ने शंकरजीने कहा—शस्त्राः यात है, भय कामदेवसे कह दो कि वह जो भस्कर हमपर
 अपने पाप खलावे । ठीक ही है, जो शरुर सेवक यह जानवे है कि स्वामीसे धौनस्ती यात कथ कहनी
 आदिप वे स्वामीसे जो प्रार्थना करते हैं वह अवरय हो पूरी होती है ॥ ९३ ॥ तब शंकरजीने इन्द्र
 आदि सब देवताओंकी विदा किया और पार्वतीजीका हाथ अपने हाथमें लेकर इस शयन घरमें पहुँचे
 जहाँ सेज विष्णु हुई धो, कृत्तोंकी माहात् सजी हुई धी श्रीर तोंनेका कजरा भरा घरा था ॥ ९४ ॥
 नया विवाह होनेसे खजौली, महादेवजीके हाथोंसे धौवल पाँचे जानेपर अपना मुँह दिपानेवाली श्रीर
 सखियोंकी सुकृतिपाँका जवों त्यों जूजर देनेवाली पार्वतीजीके आगे आबर जब प्रमथ आदि गय
 धनेक प्रकारके मुँह बनाने लगे तों पार्वतीजी भी मन ही मन हँस हीं ॥ ९५ ॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें पार्वतीजीके

विवाहके वर्णन नामका सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

अष्टमः सर्गः

पाणिपीडनविधेरनन्तरं शैलराजदुहितुर्हरं प्रति ।
 भावसाध्वसपरिग्रहादभूत्कामदोहदमनोहरं वपुः ॥ १ ॥
 व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
 सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥ २ ॥
 कैतवेन शयिते कुतूहलात्पार्वती प्रतिमुखं निपातितम् ।
 चक्षुरुन्मिपति सस्मितं प्रिये वियुताहतमिच न्यमीलयत् ॥ ३ ॥
 नामिदेशनिहितः सरुम्पया शंकरस्य रुह्ये तया करः ।
 तद्दुकूलमथ चामवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविचन्धनम् ॥ ४ ॥
 एवमालि निगृहीतसाध्वसं शंक्रो रहसि सेव्यतामिति ।
 सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥ ५ ॥
 अप्यवस्तुनि कथाश्रवत्तये प्रधत्तस्परमनङ्गशासनम् ।
 वीक्षितेन परिवीक्ष्य पार्वती मूर्धकम्पमयमुत्तरं ददौ ॥ ६ ॥
 शूलिनः करतलद्वयेन सा संनिरुष्य नयने हृतांशुका ।
 तस्य पर्यति ललाटलोचने मोषयन्नविधुरा रहस्यभूत् ॥ ७ ॥

आठवाँ सर्ग

विवाह हो जानेपर पार्वतीजी यह सो चाइती ही थीं कि शिवजीसे दूर न रहूँ पर साथ ही कुछ निकरकती भी थीं । इनके इस प्रेम और निकरसे भरे सुन्दर शरीरको ही देर देलकर महादेवजी इन पर खडू हुए जा रहे थे ॥ १ ॥ ये इतनी लजाती थीं कि शिवजी कुछ पूछते भी थे तो ये बोलती न थीं, यदि वे इनका शींचत्र धाम लेते तो ये उठकर मागने लगती थीं और साथ सोवे समय भी ये दूसरी ओर मुँह फेरकर ही सोती थीं । पर शिवजीको इन बातोंमें भी कम आनन्द नहीं मिलता था ॥ २ ॥ जब कभी शिवजी सोनेका बहाना करके शींच मुँहकर खेत जाते थे तब पार्वतीजी उनकी ओर घूमकर बन्दे टकटकी बाँधकर देखा करतीं । इतनेमें ही शिवजी मुसकराकर शींचे खोज देते और ये जब इस कुर्तिसि अपनी शींचे भींच लेतीं मानो पित्रकोकी चकार्चोपरो शींचे मिच गई हो ॥ ३ ॥ जय-शंकरजी अपने हाथ उनकी नाभिकी ओर बढ़ाते तो पार्वतीजी कौपसे हुए उनकी हाथ धाम लेतीं, पर न जाने कैसे इनकी साइको गौड दीखो पढ़कर अपने आप सुल जाती ॥ ४ ॥ पार्वतीजीकी सखियाँ इन्हे सिलाय्य करतीं कि देखो सखी, तुम दरना मत और जैसे जैसे हम सिलावाँ हैं वैसे ही वैसे शकैलेमें शंकरजीके पास रहना, पर शिवजीके सामने पहुँचते ही ये इतनी घबरा जातीं कि सखियोंकी सब सीख इनके ध्यानसे उतर जाती ॥ ५ ॥ जब कभी बात-बातमें शिवजी ऊट-परींग बातें छेद कर इनसे उतर माँगते तो ये अपने मुँहसे सो कुछ न बहतीं, धस अपनी शरीरें ऊपर उठाकर और शिर घुमाकर यद जता देतीं कि मैं आपकी सब बातें जानती हूँ ॥ ६ ॥ जब कभी शकैलेमें शिवजी इनके कपड़े खींचकर हन्डे उखाड़ देते तो ये अपनी दोनों हथेलियोंसे

सुम्यनेष्वधरदानवर्जितं खिन्नहस्तसदयोपगूहनम् ।
 क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं बधूरतम् ॥ ८ ॥
 यन्मुखग्रहणमक्षताधरं दानमव्यणपदं नखस्य यत् ।
 यद्रतं च सदयं प्रियस्य तत्पार्वती विपहते स्म नेतरत् ॥ ९ ॥
 रात्रिवृत्तमनुयोक्तुमुद्यतं सा प्रभातसमये सखीजनम् ।
 नाकरोदपक्वतूहलं हिया शंसितुं तु हृदयेन तत्त्वरे ॥ १० ॥
 दर्पणे च परिभोगदर्शिनीं पृष्ठतः प्रणयिनो निपेदुपः ।
 प्रेक्ष्य विम्बमुपविम्बमात्मनाः कानि कानि न चकार लज्जया ॥ ११ ॥
 नीलकण्ठपरिभुक्तयौवनां तां विलोक्य जननी समाश्वसत् ।
 भर्तृवन्लमतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं बधूजनः ॥ १२ ॥
 वासराणि कतिचित्कथंचन स्थाशुना रतमकारि चानया ।
 ज्ञातमन्मथरसा शनैः शनैः सा सुमोच रतिदुःखशीलताम् ॥ १३ ॥
 सस्वजे प्रियपुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमनेन नादरत् ।
 मेखलाप्रणयलोल्तां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोष सा ॥ १४ ॥

शिवजीके दोनों ने बन्द कर लीं जिससे ये देख न पाये। पर शिवजी भी ऐसे शुरू थे कि मूठ धपना तोसरा नेत्र खोल लेते और ये द्वार मानकर घैठ जातीं ॥ ७ ॥ महादेवजी जब इन्हें घूमना चाहते तो ये धपना छोड़ ही न बढ़तीं और जब वे इन्हें कसकर धाती लगाना चाहें तो ये धपने हाथ तक न उठातीं। इस प्रकार बन्धुओंके साथ और धपूरे इसके साथ भी शिवजीने बधूके साथ जो संभोग किया उसमें उन्हें आनन्द ही मिला ॥ ८ ॥ धीरे धीरे पार्वतीजीकी भिन्नक भित्ने जगी और इसलिये जब कभी महादेवजी इन्हें घूमते समय काटते नहीं थे, घूमते हुए धाव नहीं करते थे। और बहुत धीरे-धीरे संभोग करते थे तो ये धान/कानी नहीं करतीं थीं। पर जहाँ वे इससे घागे बदे कि ये धपना बढ़तीं ॥ ९ ॥ पार्वतीजी इतनी जगली थीं कि जब इनकी सबिधों इनसे रातकी बातें पूछने लगतीं तो ये चाहते हुए भी लज्जाके मारे उनसे बात नहीं पाती थीं ॥ १० ॥ जब ये हाथमें दर्पण लेकर उसमें धपने शरीरपर बने हुए संभोगके विह्व वैरी देवतीं और उस समय कहीं पोंछेसे धुपचाप शिवजी पहुँच जाते तो बनती परदाहीं दर्पणमें पढ़ते ही ये ऐसी लजा जातीं कि झपके मारे क्या क्या नहीं करते जगती थीं ॥ ११ ॥ नेनाकी यह देखकर यदा सन्तोष हुआ कि महादेवजी हमारी कन्याके यौवनका उपभोग कर रहे हैं, क्योंकि जब माता यह देख लेती है कि मेरी कन्याका पति कन्याके प्यार करता है तो उसका जी इच्छा हो जाता है ॥ १२ ॥ कुछ दिनों तक तो महादेवजी क्यों-क्यों करके पार्वतीजी संभोग करते रहे पर धीरे धीरे जब पार्वतीजीकी भी संभोगका रस मिलने लगा तब इनकी भी भिन्नक धीरे-धीरे जाती रही ॥ १३ ॥ और इसलिये जब महादेवजी इन्हें कसकर धातोसे लगाने लगे तो ये उन्हें दोनों हाथोंसे कस लेतीं, जब वे घूमनेकी मुँह बढ़ाते तो ये धपना मुँह बढ़ाती नहीं थीं और जब संभोगी इनकी

भावसूचितमदृष्टविप्रियं दार्ढ्यमाक्चयवियोगकातरम् ।
 कैश्चिदेव दिवसैस्तथा तयोः प्रेमगूढमितरेतराश्रयम् ॥ १५ ॥
 तं यथात्मसदृशं वरं बधूरन्वरज्यत वरस्तथैव ताम् ।
 सागरादनपगा हि जाह्नवी सौऽपि तन्मुखरसैरुत्तिमाक् ॥ १६ ॥
 शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहमि प्रपन्नया ।
 शिचितं युवतिर्नैपुण्यं तथा यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम् ॥ १७ ॥
 दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुतहस्तपल्लवा ।
 शीतलनेन निरवापयत्क्षर्यं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः ॥ १८ ॥
 चुम्बनादलकचूर्णदूषितं शंरुऽपि नयनं ललाटजम् ।
 उच्छ्वसत्कमलगन्धये ददौ पार्वतीवदतगन्धवाहिने ॥ १९ ॥
 एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः ।
 शैलराजमवने सहोमया मासमाश्रमवसद्दृग्ध्वजः ॥ २० ॥
 सोऽनुमान्य हिमवन्तमात्ममूरात्मजाविरहदुःखैर्दितम् ।
 तत्र तत्र विजहार संपतन्नप्रमेयगतिना ककुप्रतां ॥ २१ ॥

तगदी एकद्वार खींचते तो वे आगे मनसे ही उनका हाथ रोक्तीं ॥ १४ ॥ मोरे ही दिनेमें दोनोंकी चाल-ढालसे यह पता चलने लगा कि अब ये बहुत छुल-मिल गये हैं क्यों कि दोनों एक दूसरेकी ध्वाई करते थपाते न थे। और जो कहीं चण भरके लिये सो एक दूसरेसे थलग हुए कि चल सकने लगते ॥ १५ ॥ जैसे गंगाजी, समुद्रके पास जाकर और मिलकर वहाँसे झोढ़नेका नाम तक नहीं लेतीं और समुद्र भी उन्हींके मुखका जल ले-लेकर बराबर उनसे प्रेम किया करता है वैसे ही पार्वतीजी भी जैसे जैसे अपने मिथसम्बन्ध मन बढ़जातीं वैसे वैसे महादेवजी भी उनके मनको ही यत्न किया करते थे ॥ १६ ॥ पार्वतीजीने शंकर जीसे अकेलेमें जो काम कलको शिष्या खींथी उस कलाके अनुसर इन्होंने महादेवजीके साथ कई नवोदयोकी चटक मारके मरः जो समोय किया वही मानी कला सीरनेकी गुरुदक्षिणा थी ॥ १७ ॥ जब कभी पार्वतीजीका थोठ महादेवजीका थोड़े तो वे थोड़ासे अपने हाथ म्ठ-कने लगतीं और फिर तत्काल महादेवजीके सिरपर पसे हुए चन्द्रगावर ज्यों ही झोढ़ रगतीं त्यों ही उन्हीं ऐसी टंडक मिलती कि उनको तब थोड़ा जाती रहती ॥ १८ ॥ इसी प्रकार चुम्बन लेते समय जब पार्वतीजीके थोड़ाका थूण म्ठकर सिरजीके सिरसे नेत्रमें पड़ता तो यह नेत्र दुगने लगता। तब थिड़े हुए कमबड़ी गंधाले पार्वतीजीके मुँहकी थूक पानेके लिये वे अपना नेत्र उठाकर उनके मुँहसक पहुँचा देते ॥ १९ ॥ इस प्रकार जसानीका रस लेकर महादेव-जीने कामदेवपर वही कृपा की और हिमालयके परपर उमाके साथ रहते हुए उन्हींने एक महीना दिता दिया ॥ २० ॥ तब उन्हींने हिमजयसे लनेकी प्राशा मीगी। कृपाके अनेके अलग करनेमें हिमालयको दुःख हो बहुत हुआ पर उसने विश्वास दे री। वहाँसे अपने थोठ

मेरुमेत्य मरुदाशुगोचकः पार्वतीस्तनपुरस्कृतान्कृती ।
 हेमपल्लवविभङ्गसंस्तरानन्वभूत्सुरतमर्दनचमान् ॥ २२ ॥
 पद्मनामचरयाङ्कितारमसु प्रासवत्स्वमृतविप्रयो नवाः ।
 मन्दरस्य कटकेषु चावतत्पार्वतीवदनपद्मपट्टपदः ॥ २३ ॥
 रावणध्वनितभीतया तया कण्ठसक्तदृढबाहुबन्धनः ।
 एकपिङ्गलगरौ जगद्गुरुनिर्विवेश विशदाः शशिप्रभाः ॥ २४ ॥
 तस्य जातु मलयस्थलीरते धृतचन्दनलतः प्रियास्त्वमम् ।
 आचचाम सत्वङ्गकेसरश्वाडुकार इव दक्षिणानिलः ॥ २५ ॥
 हेमतामरसताडितप्रिया तत्कराम्बुधिनिमीलितेक्षणा ।
 सा न्यगाहव तरङ्गिणीमुमा मीनपङ्क्तिपुनरुक्तमेखला ॥ २६ ॥
 तां पुलोमतनपालकोवितैः पारिजातकुसुमैः प्रसाधयन् ।
 नन्दने चिरमयुग्मलोचनः सरपृहं सुरवधूमिरीक्षितः ॥ २७ ॥
 इत्यभौममनुभूय शंकरः पार्थिवं च दयितासखः सुखम् ।
 लोहितायति कदाचिदातपे गन्धमादनवनं न्यगाहव ॥ २८ ॥

लोक चलनेवाले मन्दीपर चढ़कर वे जहाँ-तहाँ घूम-घूमकर विहार करने लगे ॥ २१ ॥ पवनके
 समान वेगसे चलनेवाले उस पैलपर चढ़कर और आगे पार्वतीजीकी धैर्यकर उनके स्तन पकड़े
 हुए वे मेढ़ पर्वतपर जा पहुँचे और वहाँ सुनहरे पत्तोंसे ढिङ्गी हुई शय्यापर उन्दोंने एक
 रात संभोग किया ॥ २२ ॥ पार्वतीजीके सुत-कमलका रस लेनेवाले महादेवजी वहाँसे चलकर
 मन्दरापल्लकी उस हाजिर पहुँचे जहाँकी चट्टानोंपर विष्णुके चरणोंकी छाया और समुद्र-
 मंथन के समय उड़े हुए अमृतकी बूँदोंके नये-नये छींटे पड़े हुए थे ॥ २३ ॥ वहाँसे चलकर
 वे कुबेरकी राजधानी कैलासपर पहुँचे जहाँ रावणकी ललकार सुनकर पार्वतीजी ऐसी डर गई
 कि वे अपनी कोमल मुखाएँ शिप्रीकी गलेमें डालकर उनसे लिपट गई वहाँ रहकर शंकरजीने
 उलझी चोदनीका भरपूर आनन्द लूटा ॥ २४ ॥ वहाँसे घूमते-घामते वे मलय पर्वतपर पहुँच गए
 जहाँ चन्दनकी फीमल शाखाओंको हिलानेवाला और लौंगके फूलोंकी फैसर उड़ाने वाला दक्षिणका
 वायु, संभोगसे थकी हुई पार्वतीजीको पकड़वट उसी प्रकार दूर कर रहा था जैसे कोई मोठी-मोठी
 पातें करके किसी बड़े हुएका मन चढ़ला रहा दो ॥ २५ ॥ कभी पार्वतीजी हस आकाश गंगामें
 जल बिहार करने लगतीं जहाँ उनकी कमरके चारों ओर खेलनेवाली मञ्जुश्रीयाँ ऐसी लगती
 थीं मानो, उन्हींसे दूसरी कर्पनी पहन ली हो। वहाँसे सीनेके कमल तोड़ तोड़कर उनसे
 महादेवजीकी मारतीं और महादेवजी भाँ ऐसा पानी उड़ावते कि इनकी आँखें बन्द हो
 जातीं ॥ २६ ॥ वहाँसे नन्दनवनमें पहुँचकर महादेवजी पारिजातके उन फूलोंसे बहुत दिनों तक
 पार्वतीजीका श्रद्धार करते रहे जिनसे इन्द्राणीके केश सजाए जाते थे। वहाँकी सप्तराएँ महा-
 देवजीके हस कलाको चढ़े चायसे निहारा करतीं ॥ २७ ॥ इत प्रकार अपनी प्राणप्यारीके साथ
 सांसारिक और स्वर्गीय दोनों सुख भोगते हुए वे एक दिन गन्ध-मादन पर्वतपर जा पहुँचे ।

तत्र काञ्चनशिलातलाश्रयो नेत्रगम्यमवलोक्य भास्करम् ।
 दत्रिस्येतरभुजव्यपाश्रयां व्याजहार सहवर्मचारिणीम् ॥ २९ ॥
 पञ्चकान्तिमरुणत्रिभागयोः संक्रमय्य तव नेत्रयोरिव ।
 संक्षये जगदिव प्रजेश्वरः संहरत्यहरसावहर्षतिः ॥ ३० ॥
 सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति ।
 इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्भरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी ॥ ३१ ॥
 दृष्टामारसकेसरस्रजोः क्रन्दतोर्विपरिवृत्तकण्ठयोः ।
 निशयोः सरसि चक्रवाक्योरल्पमन्तरनल्पतां गतम् ॥ ३२ ॥
 स्थानमाह्निकमपास्य दन्तिनः सज्जकोविटपमङ्गधासितम् ।
 श्याविमातचरणाय गृह्यते वारि वारिरुह्यद्रूपट्पदम् ॥ ३३ ॥
 पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता ।
 लब्धया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ॥ ३४ ॥
 उत्तरन्ति विनिकीर्य पञ्चवर्लं गाढपङ्कमतिवाहितातपाः ।
 दंष्ट्रिणो वनवराहपृथपा दष्टमङ्कुरधिसाङ्कुरा इव ॥ ३५ ॥

उस समय भौंम हो खली थी थीर सूर्य खाल खाल दिखाई पड़ रहे थे ॥ २९ ॥ वहाँ पहुँचकर
 ये सोनेकी एक घटानपर बैठ गए । उस समय सूर्यका तेज इतना कम हो गया था कि उसकी
 धोर मन्त्री भौंति देला जा सकता था । उसे देखकर अपनी यहाँ सुत्रके सहारे धैरी हुई अपनी
 धर्म-पत्नीसे महादेवजी बोले— ॥ ३० ॥ देखो प्यारी ! इस समय सूर्य ऐसा दिखाई पड़ रहा है
 मानो यह दुग्दहरीं तिराई खाल धौंखोंके समान सुन्दर कमलोंकी शोभाकी लजाकर उसी प्रकार
 दिनकी समेट रहा है जैसे प्रलयके समय मन्नाजी सारे संसारकी समेटे लेते हैं ॥ ३० ॥ देखी !
 ज्यों-ज्यों दिन ढलता जाता है, ज्यों-ज्यों सूर्यकी किरणें हिमालयके भरलोधी फुहारोंसे हटती
 जाती हैं और उनके हटते ही उन फुहारोंमें बने हुए इन्द्र धनुष भी दिग्वे जा रहे हैं ॥ ३१ ॥
 पूछे हुए कमलोंकी फेसर धौंखोंमें उठाकर ये चकरी-चकरी एक दूसरेके बँठने बज्रण होकर
 पिण्डाने लगे हैं और साक्षात्त सौंतामा पाट भी इनके जिये बहुत बड़ा हो गया है ॥ ३२ ॥
 सज्जके दृष्टिके दूरनेसे वहाँ गन्ध कैत्र गई है और जहाँ हाथी दिग्गों रहा करते थे उन
 स्थानोंकी अगले दिन लकड़े जिये दोड़ दोड़कर ये हाथी उस साखकी धोर बने लगे जा रहे हैं
 वहाँ कमलोंमें भौंरे बन्द पड़े हैं ॥ ३३ ॥ हे मिठबोली ! देखो पश्चिममें लटके हुए सूर्यने
 अपनी परापूर्वसे साखके जखमें एक सुन्दर पुत्र-सा बना छोड़ा है ॥ ३४ ॥ देखो ! साखकी
 मपकर उनके गाँदे कीपकमें लोट-खोटकर दिनभर की गर्मी पितानेखले से जो पड़े-बड़े दौल-
 वाले बंधे-पौड़े लंगडो खूबर निकले लगे जा रहे हैं, इनके दौल ऐसे दिखाई देते हैं मानो
 इनके जखोंमें खार हुए कमलोंकी बँठने अरकी हुई हों ॥ ३५ ॥ सामने वेदकी साधारण छे

एष वृक्षशिखरे कृवास्पदो जातरूपरसगौरमण्डलम् ।
 हीयमानमहरत्ययातपं पीवरोरु पिवतीव वार्हियः ॥ ३६ ॥
 पूर्वभागतिमिरप्रवृत्तिमिर्घ्यक्तपङ्कमिव जातमेरुतः ।
 रं हृतातपजलं विदस्वता भाति किंचिदिव शेषरत्सरः ॥ ३७ ॥
 आविशद्भिरुदजाङ्गलं मृगैर्मूलसेकसरसैश्च वृक्षकैः ।
 आश्रमाः प्रविशद्ग्रधेनवो विभ्रति श्रियमुदीरिताग्रयः ॥ ३८ ॥
 वद्धकोशमपि तिष्ठति क्षणं साश्लेषविवरं कुशेशयम् ।
 पट्पदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम् ॥ ३९ ॥
 दूरमग्रपरिमेयरश्मिना वारुणी दिगरूपेण भानुना ।
 भाति कैसरयतेव मण्डिता यन्धुजीवतिलकेन कन्यका ॥ ४० ॥
 सामभिः सहचराः सहस्रशः स्थन्दनाश्वहृदयंगमस्वनैः ।
 भानुमग्निपरिकीर्णतेजसं संस्तुवन्ति किरणोष्मपायिनः ॥ ४१ ॥
 सोऽयमानतशिरोधरैर्हयैः कर्णचामरविषडितेक्ष्णैः ।
 अस्तमेति युगभुग्नकेसरैः संनिधाय दिवसं महोदधौ ॥ ४२ ॥

हुए मोरकी पूँछमें यनी हुई गोल गोल और सोनेके पानीके समान सुन्दरी चन्द्रिकाशोकी देखनेसे ऐसा लगता है मानो यह बैठा हुआ सौँझकी सब भूप भी रहा हो और उसीसे दिन लजता जा रहा हो ॥ ३६ ॥ देखो ! सूर्यने आकाशसे धूपका पानी खींच लिया है इसलिये आकाश उस ताजापके समान दिखाई दे रहा है जिसमें पूर्वकी ओर छँपेरा बने जानेसे यह जान पड़ता है कि उधर कीबड़ बचा रह गया है और पश्चिममें कुछ कुछ उजाका रहनेसे ऐसा लग रहा है कि उधर अभी थोड़ा थोड़ा पानी बचा रह गया है ॥ ३७ ॥ पर्व कुटियोंके धाँगनमें धावे हुए किरणोंके, खींचे हुए जलवाले हर भरे पीछोंसे, लौटकर आती हुई सुन्दर हुआरु गौँधोंसे और हवनकी बलती हुई अग्निसे ये आश्रम कैसे सुहावने लग रहे हैं ॥ ३८ ॥ देखो ! ये कमल इस समय सुँद चले, फिर भी पल भरके लिये अपना सुँद थोड़ा सा इसलिये लुजा रखे हुए हैं कि जो भौरे बाहर रह गए हों उन्हें हम प्रेमसे भीतर मसा लें ॥ ३९ ॥ हे सुन्दरी ! बहुत दूरपर सूर्यकी हलकी-सी झलक दिखाई पड़नेसे पश्चिम दिशा उस कन्याके समान लग रही है जिसने अपने माथेपर केसरसे भरे यन्धुजीवके फूलका तिलक लगा रक्खा हो ॥ ४० ॥ किरणोंकी गर्मी भी जानेवाले और सहस्रोंके सुन्दरने रहनेवाले मालखिल्य आदि जगि इस समय सूर्यके रखके घोड़ोंकी भजा लगनेवाला सामवेद गा गकर उस सूर्यकी स्तुति कर रहे हैं जिन्होंने इस समय अपना तेज धाँधो खींच दिया है ॥ ४१ ॥ दिनकी समुद्रमें दुबोकर और अपने उन घोड़ोंके लिए हुए सूर्य अस्ताचलकी ओर चले जा रहे हैं जिनके तिर भीकेकी ओर उतरनेके कारण छुके हुए हैं, जिनके फानोंकी धीरियाँ रह रहकर आँवें मूळ जाती हैं और जिनके केसर कंधेपर बने हुए जूँसे लग-लगकर झिरा गए हैं ॥ ४२ ॥ सूर्यके खिपते ही साथ आकाश सोया

एतं प्रसुप्तमिव संस्थिते स्वौ तेजसो महत् ईदृशी गतिः ।
 तत्प्रकाशयति यावद्द्वर्ततं मीलनाय खलु तावतश्च्युतम् ॥ ४३ ॥
 संध्ययाप्यनुगतं स्वेषुपूर्वन्यमस्तशिखरे समपितम् ।
 येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नानुयास्यति कथं तमापदि ॥ ४४ ॥
 रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः ।
 द्रक्ष्यसि त्वमिति संधयानया वतिकामिरिव साधुमण्डिताः ॥ ४५ ॥
 सिद्धकेसरसटामु भूमृतां पल्लवप्रसविषु द्रुमेषु च ।
 पश्य धातुशिखरेषु भानुना संविभक्तमिव सांच्यमानपम् ॥ ४६ ॥
 अद्रिराजतनये तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः ।
 ब्रह्म गूढमभिमंध्यमादताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥ ४७ ॥
 तन्मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि ।
 स्वां विनोदनिपुणः सखीजनो बल्गुवादिनि विनोदयिष्यति ॥ ४८ ॥
 निर्विभुज्य दशनच्छदं ततो वाचि मर्तुरवधीरस्थापरा ।
 शैलराजतनया समीपमायाललाप विजयामहेतुक्रम् ॥ ४९ ॥
 ईश्वरोऽपि दिवसात्ययोचितं मन्त्रपूर्वमनुतस्थिरान्विधिम् ।
 पार्वतीमवचनामस्रयया प्रत्युपेत्य पुनराह सस्मितम् ॥ ५० ॥

हुआ सा जान पड़ रहा है । देखो ! तैजस्वियोंकी ऐसी ही यात होती है कि वे जहाँ निकलते हैं वहाँ
 बजाला हो जाता है और जहाँ वे दिखते हैं वहाँ धँपेरा छा जाता है ॥ ४३ ॥ देखो ! पूजनीय सूर्य
 अस्तावतको चले तो सन्ध्या भी उनके पीछे पीछे चल दी, क्योंकि तबके उदयके समय जो सूर्यके
 भागे-भाग रहे वह सूर्यकी विपत्तिके समय उनका साथ मिला देने छोड़ दे ॥ ४४ ॥ हे सुँधराजे
 बालीबालो ! ये सामने छाल-पीले और धूरे घावतके टुकड़े पीले हुए ऐसे लग रहे हैं मानो सन्ध्याने
 उन्हें यह समझकर तूकियासे रग दिया हो कि तुम उन्हें देखोगी ॥ ४५ ॥ हिमाजयके सिद्धोंके
 छान छाल बैसकोंको, नये नये पत्तोंसे लदे हुए सूर्यको और रंगीन धानुवाखी हिमालयकी कोटियोंकी
 देवनेसे ऐसा शान पड़ रहा है कि अस्त होते हुए सूर्यने अपनी लाज भूष दन सबकी बॉट
 दी है ॥ ४६ ॥ हे पार्वती ! सब क्रिया जाननेवाले ये तपस्वी, पवित्र जलसे सूर्यको सन्ध्या समय
 अपने देवर धरो धन्नाके साथ अपनी प्राण मुदिके त्रिये रहस्य भरे गावत्री मंत्रका अप कर रहे हैं
 ॥ ४७ ॥ हे मित्रगोत्रो ! अब सॉझ हों बकी दे, इसक्रिये तुम भी मुझे छोड़ी देरकी सुझो हो तो मैं
 सन्ध्या कर दालूँ । उतनी देर तक मनपदलायके कायमें अतुर गुहारी सगिर्यो तुम्हारा मन पदछाता
 रहोगी ॥ ४८ ॥ यह मुनकर पार्वतीजाने महादेवजो,पी वात अन्नगुना भी धरके अपनी छोट विषया
 त्रिया और पास बैठी हुई विजयती उन्होंने इधर-उधरकी पैमिर पैरकी बातें ऐन दीं ॥ ४९ ॥
 मन्त्रों के साथ अपनी सन्ध्या पूरा करके महादेवका उभ बावतीजोके पास पहुँचे जो पुण्य सावधर
 स्त्री हुई बैठी थीं । महादेवजी उनसे गुस्तराये हुए बहने लगे ॥ ५० ॥ बिना पातके ब्रौप करने-

मुञ्च कोपमनिमित्तकोपने संध्यया प्रणमितोऽस्मि नान्यथा ।
 किं न वेत्ति सहधर्मचारिण्यं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः ॥ ५१ ॥
 निर्मितेषु पितृषु स्वयंभुवा या तनुः सुतनु पूर्वमुज्झिता ।
 सेयमस्तमुदयं च सेवते तेन मानिनि ममात्र गौरवम् ॥ ५२ ॥
 तामिमां तिमिरवृद्धिपीडितां शैलराजतनयेऽधुना स्थिताम् ।
 एकतस्तटतमालमालिनीं पश्य घातुरसनिम्नगामिव ॥ ५३ ॥
 सांध्यमस्तमितशेषमातपं रक्तलेखमपरा विभक्तिं दिक् ।
 सांपरायवसुधासशोणितं मण्डलाग्रमिव तिर्यगुज्झितम् ॥ ५४ ॥
 यामिनीदिवससंधिसंभवे तेजसि व्यवहिते सुमेरुषा ।
 एतदन्धतमसं निरङ्कुशं दिक्षु दीर्घनयने विजृम्भते ॥ ५५ ॥
 नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न चाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः ।
 लोक एष तिमिरौषधेष्टितो गर्भवाप्त इव वर्तते निशि ॥ ५६ ॥
 शुद्धमायिलमवस्थितं चलं चक्रमार्जवगुणान्वितं च यत् ।
 सर्वमेव तमसा समीकृतं धिक्प्रहचमसतां हतान्तरम् ॥ ५७ ॥
 नृनमुलमति यज्यनां पतिः शार्वरस्य तमसो निपिद्वये ।
 पुण्डरीकमुखि पूर्वदिश्वसं कैतकैरिव रजोमिराहतम् ॥ ५८ ॥

वाली भामिनी ! देवो, कोच न करो । मैं सन्ध्या करने ही तो गया था । सदा तुम्हारे ही साथ धर्मका काम करनेवाले मुझको क्या तुम चक्रके जैसा सचचा प्रेमी नहीं समझती हो ॥ ५१ ॥ देवो सुन्दरी मन्वाने जब पितरोंको रक्षा था उस समय उन्होंने अपनी एक छोटीसी मूर्ति बना छोपी थी । वही मूर्ति सूर्योदय और सूर्यास्तके समय सन्ध्याके रूपमें पूजा जाती है इसीलिये हे रुठनेवाली ! मैं भी सन्ध्याका हतता आदर करता हूँ ॥ ५२ ॥ हे पार्वती ! एक घोरसे बढ़ते हुए अन्धकारसे धिरी हुई सन्ध्या, इस समय ऐसी जान पड़ रही है मानो यहलें हुए गेरुकी धाराके एक किनारे समानके पेड़ छाप हुए हों ॥ ५३ ॥ और दूसरी ओर घटत होनेसे बचे हुए सन्ध्याके प्रकाशकी लाल रेखा पश्चिममें ऐसी दिखाई पड़ रही है मानो युद्ध भूमिमें टेंगी चलाई हुई लहमरो करवाळ हो ॥ ५४ ॥ हे बड़ी-बढ़ी आँखोंवाली ! सूर्यास्त हो जानेसे रात और दिनका मेल करनेवाली सौन्दर्य सब प्रकाश सुमेरु पर्यन्तके बीचमें था जानेसे लम्बा रहा और अब यह घोर अँधेरा मनमाने ढंगसे चारों ओर फैलता जा रहा है ॥ ५५ ॥ अँधेरा फैल जानेसे न तो इस समय ऊपर कुछ दिखाई दे रहा है न नीचे, न आस-पास, न आगे पीछे । इस रातके समय सारा संसार इस प्रकार अँधेरेमें धिर गया है जैसे गर्भकी मिलातीमें लिपटा हुआ पालक पदा हो ॥ ५६ ॥ इस समय अँधेरेमें, उजले और मैले, खड़े और चलते सीधे और देहे सब एकसे हो गए हैं । मादमें जाय ऐसे दुष्टोंका राज, जहाँ भले-बुरे एक बात बतारे जाते हों ॥ ५७ ॥ हे कमलके समान मुखवाली ! पूर्व दिशाका अगला भाग कुछ कुछ ऐसी ब्रजला दिखाई पड़ रहा है मानो कैतकीके फूलका पराग उधर फैला हुआ हो । इससे यह निरपथ

मन्दरान्तरितमूर्तिना निशा लक्ष्यते शशभृता सतारका ।
 त्वं मया प्रियसखीसमागता श्रोष्यतेव वचनानि पृष्ठतः ॥ ५९ ॥
 रुद्धनिर्गमनमादिनद्ययात्पूर्वदृष्टतनु चन्द्रिकास्मितम् ।
 एतदुद्गिरति चन्द्रमण्डलं दिग्ग्रहस्यमिव रात्रिनोदितम् ॥ ६० ॥
 पश्य पक्षफलिनीफलत्विपा विम्बलाञ्छितविपत्सरोम्भसा ।
 विप्रकृष्टचिबरं हिमांशुना चक्रवाकमिधुनं विडम्ब्यते ॥ ६१ ॥
 शक्यमोपधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव ।
 अप्रगल्भपथस्रचिकोमलाश्लेचुमग्रनखसंपुटैः कराः ॥ ६२ ॥
 अद्भुलीमिरिव केशसंचर्य संनिगृह्य तिमिरं सरोचिमिः ।
 कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ ६३ ॥
 पश्य पार्वति नवेन्दुरश्मिभिर्मिञ्जसान्द्रतिमिरं नभस्तलम् ।
 लक्ष्यते द्विरदभोगदूषितं सप्रसादमिव मानसं सरः ॥ ६४ ॥
 रक्तभाषमपहाय चन्द्रमा जात एष परिशुद्धमण्डलः ।
 विक्रिया न खलु कालदोषजा निर्मलप्रकृतिपु स्थिरोदया ॥ ६५ ॥

जान पक्ष रहा है कि रातका सँघेरो दूर करनेके लिये चन्द्रमा निकले चले आ रहे हों ॥ ५८ ॥ यद्यपि
 धर्मो चन्द्रोदय हुआ नहीं है पर आकारमें तारे निकल आए हैं । इसलिये इस समय मन्दराचलके
 पति लिये हुए चन्द्रमा इस तारोंवाली रातमें कीक ऐसे लगते हैं जैसे मैं तुम्हारे पीछे आकर तुम
 खोर्गोकी बात उस समय सुनता हूँ जब तुम अपने सत्सियोंके साथ बैठकर बातें करती होती हो ॥ ५९ ॥
 जो चन्द्रमा दिनभर दिखाई नहीं देता था, वह इस समय निकला हुआ ऐसा लगता है मानों रातके
 कदनेसे वह शौदनोके रूपमें सुस्तराता हुआ एवं दिखाके सब भेद खोल रहा हो ॥ ६० ॥ हे
 पार्वती ! यह उदय होता हुआ चन्द्रमा इस समय पके हुए त्रिषंगके फलके समान जाल दिखाई पड़
 रहा है । इस समय आकाशका चन्द्रमा और तालके पानीमें पड़ी हुई चन्द्रमाकी परफाई दोनों ऐसे
 लगते हैं मानों रात होनेसे चक्री चक्रेका जोड़ा दूर-दूर जा पड़ा हो ॥ ६१ ॥ चन्द्रमाकी निखरती
 हुई नई किरणें मये और कोमल जोके चँडुपोंके समान कोमल हैं । तुम चाहो तो अपने कमपूज्य
 बनानेके लिये अपने पारोंकी मोक्षमें उन्हें लोड़ लो ॥ ६२ ॥ इस समय कमपूज्य मुँह गए हैं और
 शौदनो फैल जानेसे सँघेरा मिट गया है । इसलिये इस समय चन्द्रमा ऐसा जग रहा है मानों वह
 अपने किरण रूपी उँगलियोंसे रात रूपी नादिकाके मुँहपर पीले हुए सँघेरे रूपी पातोंको
 हटाकर उसका मुँह खुल रहा हो और रात भी उस कुम्बलका रस खेनेके लिये अपने
 कमल रूपी नेत्र मुँहें पीछी हो ॥ ६३ ॥ हे पार्वती ! उठे हुए चन्द्रमाकी चिरणोंसे
 घना सँघेरा मिट जानेपर आकाश ऐसा जग पड़ रहा है मानों हाथियोंकी जल-थीकासे
 गँदवा भाससरोवर निर्मल हो गया हो ॥ ६४ ॥ अब चन्द्रमाका मण्डल खसार्ने छोड़कर चोरे-
 चोरे उजाला होने लगा है । ठीक मी है, क्योंकि जो निर्मल स्वभाव वाले होते हैं उनमें यदि

उन्नतेषु शशिनः प्रभा स्थिता निम्नसंश्रयपरं निशातमः ।

। नूनमात्मसदृशी प्रकल्पिता वेधसा हि गुणदोषयोर्गतिः ॥ ६६ ॥

चन्द्रपादजनितप्रवृत्तिभिश्चन्द्रकान्तजलविन्दुभिर्गिरिः ।

मेखलातरुषु निद्रितानमन्बोधयत्यसमये शिखण्डिनः ॥ ६७ ॥

कल्पवृक्षशिखरेषु संप्रति प्रस्फुरद्भिरिव पश्य सुन्दरि ।

हारयष्टिरचनामिवांशुभिः कर्तुमागतकुतूहलः जशी ॥ ६८ ॥

उन्नतावनतभाववक्षया चन्द्रिका सतिभिरा गिरेरियम् ।

भक्तिभिर्बहुविधाभिरर्पिता भाति भूतिरिव मत्तहस्तिनः ॥ ६९ ॥

एतदुच्छ्वसितपीतमैन्दवं बोद्धुमक्षममिव प्रभारसम् ।

मुक्तपट्पद्मविरावमञ्जसा भिद्यते कुमुदमा निबन्धनात् ॥ ७० ॥

पश्य कल्पतरुलम्बि शुद्धया ज्योत्स्नया जनितरूपसंशयम् ।

भारते चलति चण्डिके बलादुन्मज्जते विपरिवृत्तमशुकम् ॥ ७१ ॥

शक्यमङ्गुलिभिरुत्थितैरधः शाखिनां पतितपुष्पपेशलैः ।

पत्रजर्जरशशिप्रमालवैरेभिरुत्कचयितुं तथालकान् ॥ ७२ ॥

समयके फेरसे कभी कोई दोष था भी जाता है तो यह बहुत दिनों तक नहीं टिक पाता ॥ ६५ ॥
 पार्वतीकी छोटियोंपर तो चाँदनी फैल गई है पर चाटियों और सट्टोंमें अभी छँधेरा बना हुआ है । सचमुच महाने गुण और दोषकी कुछ खाज हो ऐसी यनाई है कि गुण तो ऊँचे पर रहता है और दोष नीचेकी ओर जाता है ॥ ६६ ॥ चन्द्रमाकी किरण पड़नेके कारण इस पर्वतके चन्द्रकान्त मणिकी चट्टानोंसे जलकी बूँदें टपक रही हैं । इसलिये पर्वतकी ढालपर घुँघोंकी छापानों सोए हुए मोर, इन बूँदोंकी धाराकी बूँदें समझकर बिना धर्यां थाप ही जाना सके हुए हैं ॥ ६७ ॥
 हे सुन्दरी ! इस समय कल्पवृक्षकी पुनर्गियोंपर चमकती हुई किरणोंको देखकर ऐसा जान पड़ रहा है मानो चन्द्रमा अपनी किरणोंसे कल्पवृक्षोंमें चद्रहार बनाने का पहुँचा हो ॥ ६८ ॥
 पद्मके ऊँचे नाँपे होनेसे कहीं तो चाँदनी पड़ रही है और कहीं छँधेरा है । इसलिये यह ऐसा दिखाई पड़ रहा है मानो किसी मतवाले हायीपर अनेक प्रकारकी चित्रकारी कर दी गई हो ॥ ६९ ॥
 यह जो भीरोंकी गूँथे मरा हुआ कुमुद तिल रहा है, यह ऐसा लगता है मानो सँतले खे-खेकर हलने से भरपेट चाँदनी की ली थी उसे पचा न सकनेके कारण इसका पेट पर गया हो और यह कराह रहा हो ॥ ७० ॥ हे चण्डिके ! कल्पवृक्षमें लटके हुए कपड़ों और चन्द्रमाकी निर्मल किरणोंके एक से होनेके कारण उनमें धोखा हो जाता है, पर वायुके चलनेपर जब कपड़े हिलने लगते हैं तब अपने आप पता चल जाता है कि यह कपड़ा ही है ॥ ७१ ॥ पर्वतके पारोसे घनकर धरतीपर पड़नेवाली चाँदनी गुणी सुन्दर और मुद्दकनी दिशाई दे रही है जैसे पेशोंमें पड़े हुए पृथ हो, इसलिये गुण चाहो तो पृथोंके समान दिग्गई पड़नेवाले इन चाँदनीके पृथोंसे ही तुम्हारे श्रेय गुँप दिए जायें ॥ ७२ ॥ जैसे नई नई घट पदकी बार संगोगके चरते कपड़ों हुई अपने पठिके

एष चारुमुखि योग्यतारया ध्रुज्यते तरलधिम्वया शशी ।
 साध्वसाद्रुपगतप्रकल्पया कल्पयेव नवदीक्षया चरः ॥ ७३ ॥
 पाकभिन्नगरकाण्डगौरयोः क्लृप्तसत्प्रकृतिजप्रसादयोः ।
 १ रोहतीव तव गण्डलेखयोश्चन्द्रधिम्वनिहिताक्षि चन्द्रिका ॥ ७४ ॥
 लोहितार्कमणिमाज्जनापितं कल्पवृक्षमधु विभ्रति स्वयम् ।
 २ त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥ ७५ ॥
 आद्रकेसरसुगन्धि ते मुखं मत्तरक्तनयनं स्वभावतः ।
 अत्र लम्बवसतिर्गुणान्तरं किं विलासिनि मदः करिष्यति ॥ ७६ ॥
 मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनङ्गदीपनम् ।
 ३ इत्युदारमभिधाय शंकरस्तामपाययत पातमग््निकाम् ॥ ७७ ॥
 पार्वती तद्रुपयोगसंभवां धिक्प्रियामपि सर्वां मनोहराम् ।
 ४ अश्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाश्रयेव सहकारतां ययौ ॥ ७८ ॥
 तत्त्वयं विपरिवर्तितद्वियोर्नेप्यतोः शयनमिद्वारागयोः ।
 सा बभूव वशवर्तिनी द्वयोः शूलिनः सुचदना मदस्य च ॥ ७९ ॥
 धूर्णमाननयनं रसलत्कार्यं स्वेदविन्दु मदकारणस्मितम् ।
 थाननेन न तु तावदीश्वरश्रुपा चिरमुमासुरं पयौ ॥ ८० ॥

पाप जाती है धर्म ही है सुन्दरी ! ये तिमटिमाती हुई तर्रों को कौपती हुई चन्द्रमाके पास जा रही है ॥ ७३ ॥ हे सुन्दरी ! तुम को चन्द्रमाकी ओर टकटकी लगार देग रही थी सो पके हुए सरसंडेके समान गोरे-गोरे और अपनी स्वामाधिक प्रसन्नतासे खिले हुए सुन्दारे पास देने लग रहे हैं मानो उनपर आदित्यो चढ़ती आ रही हो ॥ ७४ ॥ जो, सुन्दे यहाँ पेदा हुई खंखर खाक सूर्यकान्तमखिके प्यालेमें कर-हृदकी मदिरा छिद्र हुए गन्धमादनयी यनदेवी अपने पाप सुन्दारी धावभगत करने आ पहुँची है ॥ ७५ ॥ सुन्दारी मतबाले औरों भी स्वभावमे ही खाक है इत्यखिले मदिरा पीनेसे जो तुमपर कोई वितोर प्रभाव तो परेगा नहीं ॥ ७६ ॥ और फिर सखियोंका आग्रह टाकना जो नहीं चाहिये, इत्यखिले जो, यह कामको उद्यमानेवाली मदिरा पी ही टाखे । यह तुमापनी बात कहकर शंकरजाने बरी उदारतासे यह मदिरा पार्वतीजीकी जिवा दी ॥ ७७ ॥ जैसे वनन्तमें मन्नाकी कृपासे धामटा पेड़ अधिक सुगन्धित होकर महकार बन जाता है वैसे ही मदिरा पीनेसे पार्वतीजीका रूप सुम ऐया हो गया कि उनको स्वामाधिक सुन्दरता और भी बढ़ गई ॥ ७८ ॥ मदिरा पीनेसे सुन्दर सुगन्धकी पार्वतीजी ऐसी मर्दमें गू होकर उदरजोकी मोर्दमें गिरी कि उनका खाक जाती रही, उनका काम यह था और उसी दुर्गामे वे लपनागारमें पहुँचाई गई ॥ ७९ ॥ पार्वतीजीके औरों उदरतामे जाक रही थीं, यरके करण सुंदरे में ही बोझी नहीं निश्चय रही थी, सुंदर पार्वतीके सुंदे चक्र रहती थीं और विधा यरके ही वे हंग-हंग चरती थीं । पार्वतीजीके

तां विलम्बितपनीयमेखलामुद्रहञ्जघनभारदुर्वहाम् ।
 ध्यानसंभृतविभूतिरीश्वरः प्राविशन्मयिशिलागृहं रहा ॥ ८१ ॥
 तत्र हंसधवलीचरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम् ।
 अक्षयशैत शयनं प्रियासखः शारदाभ्रमिव रोहिणीपतिः ॥ ८२ ॥
 क्लिष्टकेशमबलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम् ।
 तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये ॥ ८३ ॥
 केवलं प्रियतमादपालुना ज्योतिषामवनतासु पङ्क्तिषु ।
 तेन तत्प्रतिगृहीतवचसा नेत्रमीलनकृतहृलं कृतम् ॥ ८४ ॥
 स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः श्रावकुम्भकमलाकरैः समम् ।
 मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुपसि गीतमङ्गलः ॥ ८५ ॥
 तौ क्षुण्णं शिथिलितोपगृह्णौ दंपती चलितमानसोर्मयः ।
 पद्मभेदपिशुनाः सिपेविरे गन्धमादनवनान्तमारुताः ॥ ८६ ॥
 ऊरुमूलनखमार्गराजिमिस्तत्क्षुण्णं हृतविलोचनो हरः ।
 वाससः प्रशियिलस्य संपमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत् ॥ ८७ ॥

उस सुनकी भगवान् शंकरने अपने मुँहसे पूमा नहीं बरन् बहुत देर तक अपनी आँखोंसे ही उनकी सुन्दरताकी पीते रहे ॥ ८० ॥ सोनेकी करपन छटाकार अपने भारी नितम्बोंके गोमते धरे धरे चकनेवाली पार्वतीको लिए हुए भगवान् शिव, मयिशिलाके यने हुए उस सुनसान घरमें पहुँचे जहाँ सुनकी सभी सामग्रियाँ उनके सोपने भरसे तय्य हो गई थीं ॥ ८१ ॥ जैसे रोहिणीके पति अक्षयना उजले बादलोंमें विधाम करते-ते जान पड़ते हैं वैसे ही उस शयनागारमें हंसके समान उजली पादरपाखे भीर गंगातीरके समान मनोहर दिखाई देनेवाले पङ्कगपर भगवान् शंकर अपनी प्रियतमाके साथ बैठ गए ॥ ८२ ॥ दोनों एक दूसरेको हरानेके लिए तुझे हुए थे, हसलिये बना और शंकरजीने ऐसा संभोग किया कि दोनोंके केश दितरा गए, चन्दन सुँध गया, नख-बिह्न भी हृषिके उधर हो गए और पार्वतीजीकी करपना भी टूट गई फिर भी पार्वतीजीके साथ संभोग करके शंकरजीका जी नहीं मरा ॥ ८३ ॥ पर रातके पिड़ले पहरमें जब सारे दिपने जा रहे थे तब केवल अपनी प्रियतमापर दया करके शंकरजीने उमाके हाथोंमें बंधे बंधे ही सोनेके जिये अपनी आँखें मुँद थीं ॥ ८४ ॥ और जब सुनहले कमल खिलने लगे और घोषा-पारी गन्धर्व बजाय मरते हुए शंकरजीका मंगल-गान करने लगे, उस ठपा-काळमें देवताओंके पूज्य शिवजी प्राग उठे ॥ ८५ ॥ उस समय गन्धमादन बनका जो पपन मानसरोवरमें खड़ाथा उठता हुआ मन्द-मन्द यह रहा- था और जिसे छू जानेसे ही मानो कमल खिलते जा रहे थे, उस बापुका उन दोनोंने योही देर तक अलग होकर आनन्द किया ॥ ८६ ॥ वायुके भँबने करदा हट जानेसे पार्वतीजी मंगी आँवोंपर जो नखोंके चिट्ठोंके पीत दिखाई दे रही थीं उठे शिवजी पृथ्वी होकर देस रहे थे और जब अपने उधरे हुए करपेकी पार्वतीजीकी छेक करने लगी तो शिवजीने इनका

स प्रजागरकपायलोचनं गाढदन्तपरिताडिताधरम् ।
 आकुलालकमरंस्त रागवान्प्रेक्ष्य भिन्नतिलकं प्रियामुखम् ॥ ८८ ॥
 तेन भिन्नविपमोत्तरच्छदं मध्यपिण्डतविद्यत्रमेखलम् ।
 निर्मलेऽपि शयनं निशात्यये नोज्झितं चरणरागलाञ्छितम् ॥ ८९ ॥
 स प्रियामुखरस् द्विधानिशां हर्षद्विजलनं सिपेविपुः ।
 दर्शनप्रणयिनामदृश्यतामाजगाम विजयानिवेदनात् ॥ ९० ॥
 समदिवसनिशोथं सङ्घिनस्तत्र शंभोः शतमगमद्वतूनां साप्रमेका निशेव ।
 न तु सुगतसुखेभ्यश्छिन्ननृष्यो यभूव ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तञ्जलौघैः ॥९१॥
 इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभव्ये महाकाव्ये
 उमासुरतवर्णनं नामाष्टमः सर्गः ॥

नवमः सर्गः

तथाविधेऽनङ्गरसप्रसङ्गं मुखारविन्दे मधुपः प्रियायाः ।
 संभोगवेश्म प्रविशन्तमन्तर्ददर्श पारावतमेकमीशः ॥ १ ॥
 सुकान्तकान्तामखितानुकारं कूजन्तमाघृषितरक्तनेत्रम् ।
 प्रस्फारितोन्नप्रविनम्ररूपेठं मुहुर्मुहुर्न्यञ्चितचारुपुच्छम् ॥ २ ॥

हाय धाम शिवा ॥ ८० ॥ रातन्तर जागनेसे पार्वतीजीकी शीर्से खाल हो रही थी, घोड़ोंपर शिवजीके
 दाँतोंके घाव भरे पड़े थे, सँवारे हुए केश इधर-उधर झिनरा गड़ थे और उनका तिलक भी मुँह
 गया था । अपनी प्रियतमाके ऐसे मुखको देखकर मेमों भगवान् शकर समान हो उठे ॥ ८८ ॥
 जिस पलंगपर ये सोए थे उसरी चारमे सजबटों पद गई थीं, बिना कोरीबाली दूटी करधनी
 उसपर झूठी हुई पकी गो श्रीर उसपर कहीं-कहीं पाँके महावरकी छाँव भी जहाँ-तहाँ जगो हुई
 थी । वह पलंग महादेवजीकी ऐसा प्यारा हो गया था कि दिन निकल जानेपर भी उन्होंने पलंग
 छोड़नेका नाम न लिया ॥ ८९ ॥ प्रियतमाके मुख पढ़ानेवाले शोर्कोंका रस .दिन रात पीनेकी हृष्ट्या
 करनेवाले शिवजीकी वह दशा हो गई कि यदि कोई उनके दर्शनकी धाता तो पित्रवासे सूचना पाने-
 पर भी ये दर्शन देनेतकको धाहर न निकलते ॥९०॥ भगवान् शकरने परावर दिनरात पार्वतीजीके साथ
 संभोग करते हुए सैकड़ों वर्ष ऐसे पिला दिए मानो एक रात हो । पर भगवान् शकरजीका जो इतने
 संभोगसे भी ठसी प्रकार नहीं मारा जैसे समुद्रके जलमें रहनेपर भी बटवा नलकी प्यास नहीं बुझ पाती ॥९१॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमार संभव महाकाव्यमें शंकर-पार्वतीकी

काम मोहा नामका आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

नवाँ सर्ग

जिन दिनों पार्वतीजीके सुप्त-व्रतपर भीरके समान लट्ट होकर शिवजी संभोग कर रहे थे
 उन्होंने दिनों एक बार शिवजी देपते क्या हैं कि जिस घरमें वे संभोग कर रहे थे उसीमें एक कपूतर
 गुप्त आया है ॥ १ ॥ वह कपूतर देसा ही भोटा बोल रहा था जैसे संभोगके समय सुन्दरियों बोलती

विशृङ्खलं पक्षतिद्युग्मभीषद्धानमानन्दगतिं मदेन ।
 शुभ्रांशुवर्णं जटिलाग्रपादमितस्तगो मण्डलकैश्चरन्तम् ॥ ३ ॥
 रतिद्वितीयेन मनोभवेन हृदात्सुधायाः प्रविगाह्यमानात् ।
 तं वीक्ष्य फेनस्य चयं नवोत्थमिवाभ्यनन्दत्क्षणमिन्दुमौलिः ॥ ४ ॥
 तस्याकृतिं कामपि वीक्ष्य दिव्यामन्तर्भवरत्नविहंगमग्निम् ।
 विचिन्तयन्संविदिदे स देवो भ्रूमङ्गभीमश्च रूपा बभूव ॥ ५ ॥
 स्वरूपमास्थाय ततो हुताशस्त्रसन्वल्त्कम्पकृताञ्जलिः सन् ।
 प्रवेपमानो नितरां स्मरारिमिदं वचो व्यक्तमथाध्रुवाच ॥ ६ ॥
 अस्मिन्त्वमेको जगतामधीशः स्वर्गौकसां त्वं विपदो निर्हंसि ।
 ततः सुरेन्द्रप्रमुखाः प्रभो त्वामुपासते दैत्यवरैर्विधूताः ॥ ७ ॥
 त्वया त्रियाग्रेभवशंभवेन शतं व्यतीये सुरतादृनुनाम् ।
 रहःस्थितेन त्वदवीक्षणार्तां दैन्यं परं प्राप सुरैः सुरेन्द्रः ॥ ८ ॥
 त्वदीयसेवावसरप्रतीक्षैरभ्यर्चितः शक्रमुखैः सुरैस्त्वाम् ।
 उपागतोऽन्वेष्टुमहं विहंगरूपेण विद्वन्समयोचितेन ॥ ९ ॥

है, उसकी लाल लाल आँखें ऊपर-ऊपर नाच रही थीं, वह कभी अपना कंठ ऊँचा कर लेता था, कभी झुका लेता था और बार-बार अपनी सूँघ सिन्धोदत्ता जाता था ॥ ३ ॥ उनके चन्द्रमाके समान डबले रंगवाला कपूतर अपने पजे समेटे हुए दोनों पंख छोले मस्तकी धानन्द लेता हुआ ऊपर-ऊपर उड़ता हुआ चक्कर लगा रहा था ॥ ३ ॥ उस कपूतरको देखकर शिवजी यद्ये प्रसन्न हुए क्योंकि वह उन्हें ऐसा दिखाई दे रहा था मानो वह उस अमृत कुण्डकी गई फेनका पिंड हो जिसमें कामदेवने रतिके साथ झुबकी लगा लगाकर गहाया हो ॥ ४ ॥ पर जब भगवान् संकरने उसका रंग-रंग कुछ देखाओं-का-सा देखा तो उनका माया उनका और ध्यान लगाते ही वे समझ गए कि भक्ति ही यह कपट धरा बनाकर थाया है । यह देखते ही क्रोधसे उनकी देरी भई दानवों बनकर तन गई ॥ ५ ॥ शिवजीका यह रूप देखकर अग्निने अपना सत्त्वा रूप बनाकर, दोनों कर्पते हुए हाथ जोड़कर, डरते झरझर धरधरते हुए, सब बातें सबकी सबकी कह सुनाई—॥ ६ ॥ भगवन् ! संसारके भाप ही तो एक स्वामी है । भाप ही स्वर्गमें रहनेवाले देवताओंकी विपत्तियोंको मिटानेवाले है । हे प्रभो ! हमेंकिष्ट इन्द्र आदि देवता जब-जब देवतासे डरते हैं तब तब वे भापकी ही शरणमें आते हैं ॥ ७ ॥ आपने अपनी मियाके मेममें सी वर्ष तो संभोग में ही बिता दिए और भाप यहाँ ऐसे बनेलेमें रहने खने कि आपका दर्शन न पानेसे इन्द्र और दूसरे देवता लोग सब यद्ये घबराते खने थे ॥ ८ ॥ हे भगवन् ! वे सब इन्द्र आदि देवता अब आपके दर्शनके लिये धीरे धीरे घाट तोड़ रहे हैं और उर्दीके कहनेसे मैं आपकी इँदने निकला था । मैंने यही जानकर पत्नीका रूप बना जिना कि साथ ही समय संभोग कर रहे होंगे ॥ ९ ॥ इसलिये हे प्रभो ! भाप मेरा अदायक पगः कांजि । भाप ही सोच देखिये कि

इति प्रभो चेतसि संप्रधार्य तन्नोऽपराधं भगवन्धमस्व ।
 परामिभूता वद किं क्षमन्ते कालातिपातं शरणाधिनीऽमी ॥ १० ॥
 प्रभो प्रसीदाशु सृजात्मपुत्रं यं प्राप्य सेनान्यमसौ सुरेन्द्रः ।
 स्वर्लोकलक्ष्मीप्रभुतामवाप्य जगत्त्रयं पाति तव प्रसादात् ॥ ११ ॥
 स शंकरस्तामिति जातवेदोविज्ञापनामर्थवर्ती निश्चम्य ।
 अभूत्सन्नः परितोपयन्ति गीर्भिर्गिरीशा रुचिरामिरीशम् ॥ १२ ॥
 प्रसन्नचेता मदनान्तकारः स तारकारेर्जयिनो भवाय ।
 शकस्य सेनाधिपतेर्जयाय व्यचिन्तयच्चेतसि भाषि किंचित् ॥ १३ ॥
 युगान्तकालाग्निमिवाविषणं परिच्युतं मन्मथरङ्गमङ्गात् ।
 रतान्तरैतः स द्विरण्यरैतस्यथोर्ध्वरेतास्तदमोघमाधात् ॥ १४ ॥
 अथोप्यशप्यानिलदूषितान्तं विशुद्धमादर्शमिवात्मदेहम् ।
 वभार भूम्ना सहसा पुरारिरेतः परिवेषकुवर्णनभिः ॥ १५ ॥
 त्वं सर्वमद्यो भव मीमकर्मा कुष्ठाभिभूतोऽनल धूमगर्भः ।
 इत्यं शशापाद्रिसुता हुताशं हृष्टा रवानन्दसुखस्य मङ्गात् ॥ १६ ॥
 दक्षस्य शापेन शशी क्षयीव प्लुष्टो हिमेनेव सरोजकौशः ।
 वहन्विरूपं वपुरुषरैतथयेन वह्निः किल निर्जगाम ॥ १७ ॥

शशुर्घोसे होकर और अपमानित होकर आपकी शरणमें आये हुए देवता लोग मन्त्रा कितने दिनोंतक
 मन मारे पीडे रह सकते थे ॥ १० ॥ इसलिये हे प्रभो ! धाव प्रसन्न होकर शीघ्र ही अपने धर्मसे एक
 ऐसा पुत्र उत्पन्न करीजिए जिसे सेनापति बनाकर इन्द्र नगावाप फिरसे स्वर्गलोकके स्वामी बनकर
 आपकी कृपासे शीघ्र शोभोका पालन करे ॥ ११ ॥ अग्निकी टोक टोक वाता सुनकर शंकरजीका शोध
 जाता रहा । क्योंकि जिन्हें वात करनेका इह आता है वे अपने यत्नोंसे अपने स्थानियोंको प्रसन्न
 कर ही लेते हैं ॥ १२ ॥ तब कामदेवकी जलानेवाले हंसमुख शंकरजीने ऐसा पुत्र उत्पन्न करनेका
 विचार किया जो तारक राएसको जीत सके और सेनापति बनकर इन्द्रको मित्त सके ॥ १३ ॥ अपने
 धर्मकी ऊपर धीरे सकनेवाले शंकरजीका जो प्रलयही आगने समान दिखीसे सदा न वा सकनेवाला
 प्रचूक धर्म संयोगके धन्वमें निश्चल पदा उसे शंकरजीने अग्निकी दे दिया ॥ १४ ॥ हते लेते ही
 अग्निका उबला शरीर एकदम ऐसा बुँधला पद गया जैसे गूँहकी भाषसे दर्पण बुँधला पद जाता है
 ॥ १५ ॥ तब संयोगके मुखमें इस प्रकार वाया पद जानेसे पार्श्वीजी भी आग-भयका ही बर्दी और
 दन्दिने अग्निकी शाप विद्या-जाओ, तुम आजमे पवित्र-अपवित्र सब परपुँरे स्वाधो और सैराकी धनु-
 र्घोकी जलानेका भवानक काम करो, कोई हो जाओ और सदा पुँसे मरे रहें ॥ १६ ॥ महादेवजीका
 धर्म लेनेसे अग्निका रूप ऐसा विनाश शवा पीसे दध के शापमे उस रोगवाले पदमाका रूप, वा पाजेसे
 मारे हुए कामके शीशका रूप । वही रूप देखकर अग्नि वह्निसे बाहर निकले ॥ १७ ॥ अग्निने अचानक

स पावकालोकरुपा विलम्बां स्मस्त्रपास्मेरविनम्रवक्राम् ।
 विनोदयामास गिरीन्द्रपुत्रीं शृङ्गारगर्भैर्मधुरैर्वचोभिः ॥ १८ ॥
 हरो विकीर्णं घनघर्मतीर्थैर्नैत्राञ्चनाङ्कं हृदयप्रियायाः ।
 द्वितीयकौपीनचलाञ्जलेनाहरन्मुखेन्दोरकलङ्किनोऽस्याः ॥ १९ ॥
 मन्देन खिन्नाञ्जलिना करेण कम्पेन तस्या वदनारविन्दात् ।
 परामृशन्वर्मजलं जहार हरः सहेलं व्यजनानिलेन ॥ २० ॥
 रतिशुभ्रं तदरुचरीरुलापमंसावसक्तं विगलत्प्रभ्रनम् ।
 स पारिजातोद्भवपुष्पमय्या स्रजा वचन्धामृतमूर्तिमौलिः ॥ २१ ॥
 कपोलपान्थ्यां मृगनाभिचित्रपत्रावलीमिन्दुमुखः सुमुख्याः ।
 स्मरस्य सिद्धस्य जगद्धिमोहमन्त्राक्षरश्रेणिमिवोन्मिल्लेख ॥ २२ ॥
 रथस्य फणावमि तन्मुखस्य ताटङ्कचक्रद्वितयं न्यधास्तः ।
 जगज्जिगीषुर्विपमेपुरेण ध्रुवं यमारोहति पुष्पचाप ॥ २३ ॥
 तस्याः स कथंते पिहितस्तनाग्रां न्यधत्त मुक्ताफलहारवन्लीम् ।
 या प्राप मेरुद्वितयस्य मूर्ध्नि स्थितस्य गान्धौघयुगस्य लक्ष्मीम् ॥ २४ ॥

संभोगके समय ही उन्हें देख लिया था इलीजिये पार्वतीजी क्रोधके मारे धापेसे बाहर हो गईं । काम और लालके मारे अपनी मेघ मुद्राकादृश्यमें दिपाती हुई और भीचा मुँह किए बिगड़ी पैरों हुई पार्वतीजीको प्रेम भरे भाँडे यधनोंसे शंकर भगवान बहलाने लगे ॥ १८ ॥ धने पडीनेकी सूँडों के कारण पार्वतीजीकी धौलिका धौलिन उनके मुँहपर धर धर फैल गया था । शंकरजीकी प्राण-प्रियाके मुख-चन्द्रपर ये धौलिनके विद्ध पेसे लग रहे थे मानो वे चन्द्रभाके कलंक हों । महादेवजीने फैला हुआ धौलिन अपने कंधे पर धरे हुए कौपीनसे पोंछ डाला ॥ १९ ॥ अपनी गाली शैगुणियों वाले हाथोंको पंखेके समान झलकर शिपजीने धंरे-धंरे एवँतीके मुख कमलफन सय पसीना सुगया दिया ॥ २० ॥ संभोगके समय ब्रह्मा गुल जानेसे पार्वतीजीके बाज कंधोंपर फैल गए थे और जूरेमें लगे हुए सय कूच भी निकल गये थे । उस जूरेकी महादेवजीने कित्से पारिजातके फूलोंकी मालासे बाँध दिया ॥ २१ ॥ चन्द्रके समान मुख वाले शंकरजीने सुन्दर मुखवाली पार्वतीजीके गाल फलूरीके धेपसे पीत दिए । उसे देखकर यह जान पड़ा मानो वह चित्रकारी, सिद्ध कामदेवके हाथोंसे लिखे हुए ये मंत्र हों जिनसे यह संसारको यधमें धर लिया करता है ॥ २२ ॥ शंकरजीने पार्वतीजीके दोनों कानोंमें दो मोल कमल पटना दिए । उनसे इनका मुख ऐसा सुन्दर दिखाने पड़ेने लगा मानो यह कामदेवका देसा रथ हो जिनपर शैशवा यह तीनों छोड़के जीतने निकला हो और ये दोनों कमल पटना इस रथके दोनों पहिए हों ॥ २३ ॥ शंकरजीने पार्वतीके गलेमें जो मोटियोंका हार पटनाया यह उनके स्तनोंकी मुटियोंकी एकर छाती पर खटका हुआ ऐसा जान पड़ा था मानो दो सुमेरु पर्वतोंकी दो चोटियोंके गगनजीकी दो धाराएँ गिर रही हों ॥ २४ ॥ शंकरजीने पार्वतीजीके धन नितावोंपर कल्पकी पटना दो जिनपर उनके हाथोंसे बने हुए गरकोंके

नखत्रयश्रेणिवरे वबन्ध नितम्बविम्बे रशनाफलापम् ।
 चलस्वचेतोमृगबन्धनाय मनोमृगः पाशमिव स्मरारिः ॥ २५ ॥
 भालेक्षणासौ स्वयमञ्जनं स भङ्क्त्वा दृशोः साधु निवेशय तस्याः ।
 नवोत्पलाद्याः पुलकोपगूढे कण्ठे विनीलेऽद्भुलिमुञ्जवर्ष ॥ २६ ॥
 थलक्तकं पादसरोरुहाग्रे सरोरुहाक्ष्याः किल संनिवेशय ।
 स्वमौलिगङ्गासलिलेन हस्तास्त्यत्वमक्षालयदिन्दुचूडः ॥ २७ ॥
 भस्मानुलिप्ते वपुषि स्वकीये सहेलमादशतलं विमृज्य ।
 नेपथ्यलक्ष्म्याः परिभावनार्थमदर्शयञ्जीवितवन्तभां सः ॥ २८ ॥
 प्रियेण दत्ते मण्दिदपथे सा संभोगचिह्नं स्ववपुर्विभाज्य ।
 त्रपात्रती तत्र घनातुरागं रोमाञ्चदम्भेन बहिर्वमार ॥ २९ ॥
 नेपथ्यलक्ष्मीं दयितोपक्वृत्तां सस्मेरमादशतले विलोक्य ।
 अर्धस्त सौभाग्यवतीषु धुर्यामात्मानमुद्धृतविलचभावा ॥ ३० ॥
 श्रन्तः प्रविश्यावसरेऽथ तत्र स्निग्धे वयस्ये विजयाजयाच ।
 सुसंपदोपाचरतां कलानामङ्गे स्थितां तां शशिसण्डमौलेः ॥ ३१ ॥
 ष्यधुर्वहिर्मङ्गलगानमुच्चैर्वैतालिकाधिन्नचरित्रचाह ।
 जगुथ गन्धर्वगणाः सशङ्खस्वनं प्रमोदाय पिनाकपाशैः ॥ ३२ ॥

चिह्न धमक रहे थे । वह कथनो ऐसी लगती थी मानो कामदेवने अपने चञ्चल चित्त रॉयनेके लिये
 कौंस रॉय दी हो ॥ २५ ॥ उन्होंने अपने लकाटमें लज्जनेवाले नेत्रसे स्वयं अर्जन पारकर
 नये कमल जैसी शौलोवाली पार्वतीजीके नयनोंमें कामल लगा दिया और फिर उंगली
 में लगा हुआ शौल रॉयनेके लिए वह उंगली अपने नीचे कंठमें रगड़ ली ॥ २६ ॥ तब
 तब कमलनयनी पार्वतीजीके चरणकमलके पंजोंमें शंकरजीने महावर लगाकर अपने
 विरपर बहती हुई राताही धारामें अपने हाथके रग धो ढाला ॥ २७ ॥ यह सब करके बड़े
 मगन होकर उन्होंने अपने मत्त जगो हुए शरीर पर दर्पण रगड़कर पोंछा और फिर अपनी प्राण-प्यारीकी
 सिंगारकी समाप्य दिखानेके लिये वह दर्पण उनके आगे कर दिया ॥ २८ ॥ शंकरजीके हाथसे
 दिखाए हुए उस दर्पणमें अपने शरीर पर बने हुए संभोगके चिह्न देखनेसे उन्हें जानके मारे जो रोमांच
 हो धाया उसीसे उन्होंने जतना दिया कि हम शंकरजीसे कितना प्रेम करती हैं ॥ २९ ॥ अपने प्यारे
 पतिके हाथसे किए हुए सिंगारकी शोभा जब उन्होंने दर्पणमें देखी तो वे मुस्करा दीं और सब कोष
 धौड़कर पेयी प्रसन्न हो गईं कि वे अपनेको ससारकी सय सौभाग्यवती छियाँमें सबसे बड़कर
 समझने लगीं ॥ ३० ॥ तब जब और विजया नामकी सलियोंने देखा कि अथ डीक भ्रमर है । वे
 अट भीतर गई और शंकरजीकी गोदमें बैठी हुई पार्वतीजीका शृङ्गार करने लगीं ॥ ३१ ॥ उसी समय
 शंकरजीकी प्रसन्न करनेके लिए चारपाँने उनके सुन्दर चरित्रके मनोहर मंगल गीत गाने प्रारंभ कर

ततः स्वसेवावसरे सुराणां गण्यैस्तदालोकनतत्परायाम् ।
 द्वारि प्रविश्य प्रथतोऽथ नन्दी निवेदयामास कृताञ्जलिः सन् ॥ ३३ ॥
 महेश्वरो मानसराजहंसीं करे दधानस्तनयां हिमाद्रेः ।
 संभोगलीलालयतः सहेलं हरो बहिस्तानभि निर्जगाम ॥ ३४ ॥
 क्रमान्महेन्द्रप्रमुखाः प्रणेषुः शिरोनिबद्धाञ्जलयो महेशम् ।
 प्रालेपशैलाधिपतेस्तनूजां देवीं च लोकत्रयमातरं ते ॥ ३५ ॥
 यथागतं तान्विवुधान्विसृज्य प्रसाद्य मानक्रियया प्रतस्थे ।
 स नन्दिना दत्तभुजोऽधिरुह्य वृषं वृषाङ्गः सह शैलपुत्र्या ॥ ३६ ॥
 मनोतिवैभेन ककुभता स प्रतिष्ठमानो गगनाध्वनोऽन्तः ।
 वैमानिकैः साञ्जलिभिर्वचन्दे विहारहेलागतिभिर्गिरीशः ॥ ३७ ॥
 स्वर्वाहिनीवारिविहारचारी रतान्तनारीश्रमशान्तिकारी ।
 तौ परिजातप्रसवप्रसङ्गो मरुत्सपेवे गिरिजागिरीशौ ॥ ३८ ॥
 पिनाकिनावि स्फीटिकाचलेन्द्रः कैलासनामा कलिताम्बरांशः ।
 धृतार्धसोमोऽद्भुतभोगिभोगो विभूतिधारी स्व इव प्रपेदे ॥ ३९ ॥

दिए श्रीर गन्धर्व लोग भी शंख यथा-यथाकर गाने लगे ॥ ३२ ॥ महादेवजीकी सेवा करनेका लोक
 व्यवहार जानकर गन्दी भी भीतर जा पहुँचे श्रीर उन्होंने शंकरजीसे प्रार्थना की कि देवता लोग आपके
 दरानके लिये बाहर आए खड़े हँ ॥ ३३ ॥ यह सुनकर भवनी प्राण-प्यारके हाथमें हाथ बाँके
 भगवान् शंकर देवताओंसे मिलनेके लिये उस संभोग-परसे बाहर निकल आए ॥ ३४ ॥ आते ही
 इन्द्र आदि देवताओंने धारे-धारे पारी-पारीसे शिवजीको तथा तीनों लोकोंकी माता पार्वतीजीको हाथ
 जोड़कर श्रीर तिर मवाकर प्रणाम किया ॥ ३५ ॥ शंकरजीने सब देवताओंका सम्मान करते उन्हें
 प्रसन्न किया श्रीर विदा किया । तब शंकरके हाथके सहारेसे पार्वतीजीके साथ धीरपर चढ़कर ये स्वयं
 पहूँति चढ़ पड़े ॥ ३६ ॥ मनने भी अधिक वेगसे चढ़नेवाले उस धीरपर चढ़कर जब वे आकाश-
 मार्गमें जा रहे थे उस समय जो देवता लोग भवने-भवने विमानोंपर चढ़कर आकाशमें पूरु रहे थे,
 उन सबने शिवजीको हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ ३७ ॥ उस समय आकाश-रंगीके जत्रकी पुद्गलसे
 शीतल, पारिजातके फूलोंमें बसे हुए श्रीर संभोग करने धकी हुई मारोकां धडाबट मित्रानेवाले पवनने
 आकर शंकरजी श्रीर पार्वतीजीकी यही सेवा की ॥ ३८ ॥ यों चढ़ने-चढ़ते भगवान् शंकर रक्तिकके
 बने हुए पर्वतोंमें धेड़ कैलाशपर जा पहुँचे । यह पहाड़ शंकरजीके गगन ही छाता था क्योंकि
 अपने चढ़पनको संभोजों तारे आकाशमें स्थल है श्रीर कैलाशके भी आते श्रीर आकाश है । हमलिये
 हीना ही आकाशमें गजे हैं । सोम बहुजानेवाले भगवान् शंकरजी हम पर्वतपर रहने हैं श्रीर सोम
 चंद्रजनेवाका चंद्रमा महादेवजीके साथेवर रहता है । हमलिये हीनों ही सोमको धारण करनेवाले हैं ।
 हम पर्वतपर भोगी या कर्मा प्रन्य संभोग करने हैं श्रीर महादेवजीका भोगी कर्मा हीन चनूटे संयोग

विलोक्य यत्र स्फटिकस्य भित्तौ सिद्धाङ्गनाः स्वं प्रतिबिम्बमारात् ।
 भ्रान्त्या परस्या विमुखीभवन्ति प्रियेषु मानप्रहिला नमत्सु ॥ ४० ॥
 सुबिम्बितस्य स्फटिकांशुगुप्तेष्वन्द्रस्य चिह्नप्रकरः करोति ।
 गौर्यापितस्येव रसने यदत्र कस्तूरिकायाः शकलस्य लीलाम् ॥ ४१ ॥
 यदीयमिर्त्तौ प्रतिबिम्बिताङ्गमात्मानमालोक्य रुपा फरीन्द्राः ।
 मत्तान्यकुम्भिमभ्रमतोऽतिभीमदन्तामिघातव्यसनं वहन्ति ॥ ४२ ॥
 निशासु यत्र प्रतिबिम्बितानि तारा कुल्लानि स्फटिकालयेषु ।
 दृष्ट्वा रतान्तच्युततारहारमुक्ताभ्रमं विभ्रति सिद्धवध्नः ॥ ४३ ॥
 नमश्चरीमण्डनदर्पणश्रीः सुधानिधिर्मूर्धनि यस्य तिष्ठन् ।
 धनध्व्यंचूडामणितापुपैति शैलाधिनाथस्य शिवाल्यस्य ॥ ४४ ॥
 समीपिवांसो रहसि स्मरार्ता रिरंसवो यत्र सुराः प्रियाभिः ।
 एकाकिनोऽपि प्रतिबिम्बमाजो विमान्ति भूपोभिरिवान्विताः स्वैः ॥ ४५ ॥
 देवोऽपि गौर्या सह चन्द्रमौलिर्यदृच्छया स्फाटिकशैलमृष्टे ।
 शृङ्गारचेष्टामिरनारताभिर्मनोहरामिर्च्यहरचिराय ॥ ४६ ॥

खिपटे रहते हैं । इसलिये दोनों ही शनूडे भोगोवाले हैं । इस पर्वतपर बहुत विभूति अर्थात् रत्नमणि
 आदि पाए जाते हैं और महादेवजीके शरीरपर विभूति अर्थात् भस्म है । इसलिये दोनों ही विभूति-
 वाले भी हैं ॥ ३९ ॥ जब सिद्धोंकी छियाँ अपने पतिवोंके साथ कैलाश पर्वतकी स्फटिककी दीवारोंके
 पास पहुँचकर अपनी परछाईं देखता है तो उन्हें यह धोखा हो जाता है कि हमारे पति किसी
 दूसरी स्त्रीको तो साथ नहीं लिए हुए हैं । फल यह होता है कि अपने पतिवोंके मनते रहनेपर मो
 वे रुढ़ी ही रहते हैं ॥ ४० ॥ जब उस स्फटिकके बने हुए कैलाशपर चन्द्रमाकी सुन्दर परछाईं
 पड़ती है तब चन्द्रमाके कलकली छाया तो दिखाई पड़ती है पर चन्द्रकी छाया उसीमें मिल जाती
 है । यह कलकली छाया ऐसी लगती है मानो पार्वतीजीने कस्तूरी पीसकर थीर उसकी बिंदी बनाकर
 वहाँ घोष दी हो ॥ ४१ ॥ इसा पर्वतकी भीतोंपर अपने अश्रुओंकी छाया देखकर मतवाले दायीं उसे
 वृत्त मत्वाला दायीं समझ बैठते हैं । इसलिये कोपमें भाकर अपने दाँवसे ऊपर कराधीयकर
 लेने लगते हैं ॥ ४२ ॥ यहाँके स्फटिकके बने हुए भवनोंपर जब तारोंकी परछाईं पड़ती है तो सिद्धोंकी
 छियाँकी यह धोखा हो जाता है कि वे कहीं समीपके समय छूटकर गिरे हुए मोतियोंके दाने हो
 नहीं हैं ॥ ४३ ॥ अस्तरावोंके दपणके समान सुन्दर लगनेवाला चन्द्रमा जब इस कैलाशकी चोटीपर
 था पहुँचता है तब यह उस हिमाचलका अन्तमौल चूडामणि सा लगने लगता है जिसपर शिवजी
 निवास करते हैं ॥ ४४ ॥ कामले पीडित देखता लोग अपनी-अपनी छियाँको साथ लेकर जब यहाँ
 पृथगतमें विदार करने आते हैं तब स्वयं अकेले होनेपर भी अनेक परछाईंवाँ पड़नेके कारण उन्हें
 देता जान पड़ता है मानो हमारे बहुतले रूप हो गए हों ॥ ४५ ॥ उसी सुन्दर कैलाशकी स्फटिककी

देवस्य तस्य स्मरद्वन्दनस्य हस्तं समालिङ्ग्य सुविभ्रमश्रीः ।
 सा नन्दिना चेत्रभृतोपदिष्टमार्गा पुरोगेण कलं चचाल ॥ ४७ ॥
 चलच्छिखाश्री विकटाङ्गभङ्गः सुदन्तुरः शुक्लसुतीक्ष्णतुण्डः ।
 भ्रुवोपदिष्टः स तु शंकरेण तस्या विनोदाय ननर्त भृङ्गी ॥ ४८ ॥
 कण्ठस्थलीलोलकपालमाला दंप्राकरालाननमभ्यनृत्यत् ।
 ग्रीतेन तेन प्रभुणा निधुक्ता काली कलत्रस्य मुदे प्रियस्य ॥ ४९ ॥
 भयङ्करौ तौ विकटं नदन्तौ विलोक्य धाला भयविह्वलाङ्गी ।
 सराममुत्सङ्गमनङ्गशत्रोर्गाढं प्रसह्य स्वयमालिलिङ्ग ॥ ५० ॥
 उत्तुङ्गपीनस्तनपिण्डपीडं ससंभ्रमं तत्परिरम्भमोशः ।
 प्रपद्य सद्यः पुलकोपगूढः स्मरेण रुढप्रमदो ममाद् ॥ ५१ ॥
 इति गिरितनुजाविलासलीलाविविधविभङ्गिभिरेप तोषितः सन् ।
 अमृतकरशिरोमणिगिरीन्द्रे कृतवसतिर्वाशिभिर्गणैर्ननन्द ॥ ५२ ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे मद्राकाव्ये

कैलासगमने नाम नवमः सर्गः ॥

चोटीपर शंकरजीने भी पार्वतीजीके साथ बहुत दिनोंतक लगातार जो भस्कर अनेक प्रकारकी काम-
 क्षीदाएँ कीं ॥ ४९ ॥ अपनी रसीली चटक-भटकेसे जी लुभानेवाली पार्वतीजी भी शंकरजीके हाथमें
 हाथ दिए हुए उन पर्यापर घूसा करती थीं जहाँ हाथमें बैठका बण्डा जिए हुए नन्दी धारो
 धारो मार्ग बढाता चलता था ॥ ५० ॥ शंकरजीकी भौंहोंका संकेत पाकर बड़े-बड़े दौंतीवाले,
 छहराती हुई चोटीवाले, टेढ़े-मेढ़े धंगोवाले और उजली घेदगे मुँहवाले भृङ्गीने पार्वतीजीका
 मन यहलानेके लिए पहा नाच दिखलाया ॥ ५१ ॥ हँसमुख दिराई पकनेवाले शंकरजीकी धाञ्जा
 पाकर हिलती हुई सोपबियोंकी माछा कंठमें पहननेवाली कालिकाने भी अपने ठरावने दौंतीवाला
 मुँह बना-बनाकर अपने स्वामीकी प्यारीका मन यहलानेके लिये नाच दिखलाया ॥ ५२ ॥ इस प्रकार
 विष्ट रूपसे भयंकर शब्द करते हुए भृङ्गी और काजीको देखते ही पार्वतीजी बरके मारे ऐसे पया
 बरीं कि बड़े प्रेमसे शंकरजीको छलासे कमके लिए गईं ॥ ५० ॥ पार्वतीजीकी इस धपसाहटमें उनके
 उठे हुए और मोटे-मोटे स्तनोंके अपने धूलोपर लगे ही शंकरजी भगन हो उठे और उनके मनमें
 इतना काम उत्पन्न हो गया कि वे प्रेममें मतबाले हो उठे ॥ ५१ ॥ इस प्रकार धांपार्वतीजीकी अनेक
 हाव-भाव बरी लीलाओं और अनेक प्रकारके संभोगसे समुत्पन्न होकर भगवान शंकरजी अपने साथ
 कैलासरर रहनेवाले गणोंके साथ बड़े प्रसन्न हुए ॥ ५२ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभय मद्राकाव्यमें कैलास-

गमन नामका नवौं सर्ग समाप्त हुआ ।

दशमः सर्गः

आससाद सुनासोरं सदसि त्रिदशैः सह । एष त्रैयम्बकं तीव्रं बहन्वह्निर्महन्महः ॥१॥
 सहस्रेण दशामीशः कुत्सिताङ्गं च सादरम् । दुर्दर्शनं ददर्शाग्निं धूम्रधूमितमण्डलम् ॥२॥
 दृष्ट्वा तथाविधं बह्निमिन्द्रः क्षुब्धेन चेतसा । व्यचिन्तयच्चिरं किञ्चित्कन्दर्पद्वेषिरोपजम् ॥३॥
 स विलक्ष्यमुखैर्दवैर्वीक्ष्यमाणः क्षयं क्षयम् । उपाविशस्तुरेन्द्रणादिष्टं सादरमासनम् ॥४॥
 हृष्यवाह त्वयासादि दुर्दर्शैव दशा कुतः । इति पृष्टः सुरेन्द्रेण स निःश्वस्य बचोऽब्रुवत् ॥५॥
 धनतिक्रमणीयात्ते शासनात्तुरनापक । पारावतं वपुः प्राप्य चेपमानोऽतिसाव्यसात् ॥६॥
 अभिगौरि रवासक्तं जगामाहं महेश्वरम् । कालस्येव स्मरारातेः स्वं रूपमहमासदम् ॥७॥
 दृष्ट्वा छत्रविहङ्गं मां सुज्ञो विज्ञाय जन्मभित् । ज्वलद्भालानले होतुं कोपनो माममन्यत ॥८॥
 बचोर्मिर्मधुरैः सार्धैर्विनम्रेण मया स्तुतः । प्रीतिमानभवद्देवः स्तोत्रं कस्य न तुष्टये ॥९॥
 शरण्यः सकलत्राता मामत्रायत शंकरः । क्रोधान्नेर्ज्वलतो प्रासात्प्रासतो दुर्निवारतः ॥१०॥
 परिहृत्य परीम्भारभसं दुहितुर्गिरैः । कामकेलिरसोत्सेकाद्ब्रीडया विरराम सः ॥११॥
 रत्नमङ्गच्युतं रेतसादामोघं सुदुर्वहम् । त्रिजगदाहकं सद्यो मद्विग्रहमधि न्यधात् ॥१२॥

दसवाँ सर्ग

शंकरजीके बस जलते हुए बर्बको लेकर अग्नि बस सभामें पहुँचे, जहाँ इन्द्र भगवान् देवताओं के साथ बैठे हुए थे ॥ १ ॥ इन्द्रने बचे धाररके साथ अपनी सदसों अर्थात्गै उन अग्निकी ओर देखा त्रिनके संग वेदों मदे और धुँसे फाले पत्र गण थे ॥ २ ॥ अग्निका यह रूप देखकर इन्द्र बड़े दुःखी हुए और बोली देर सोचते ही वे समक गए कि शंकरजीके मोवसे हो अग्निकी यह दशा हुई है ॥३॥ जिन अग्निकी ओर सय देवता बड़े दुःखी होकर चारपर देल रहे थे उन्हें इन्द्रने संकेतसे एक प्रासनपर बैठा दिया ॥४॥ और उन्होंने अग्निदेवसे पूछा—कहिए ! आपकी यह दुर्दशा कैसे हो गई ? तब लंबी सँत लेकर अग्निदेव कहने लगे—॥५॥ हे वेदेंद्र ! आपकी घटल प्राशसे मैं क्यूँतर वनकर बड़ा बरता-हरता महादेवजीके पास पहुँचा । उस समय वे पार्वतीजीके साथ संभोग कर रहे थे । मुझे पहचानते ही जप वे श्लोपके मारे महाकालके समान भयंकर हो गए सब गिरने क्यूँतरका रूप धोकर बरके मारे आपला सन्धा रूप बना लिया ॥ ६-७ ॥ हे इन्द्र ! मुझे पत्नीके कपट वेगमें देखकर सब कुछ जाननेवाले शंकरजीको ऐसा क्रोध आया कि वे मुझे अपने पञ्जादकी जलती हुई आगमें भोंक ही देते ॥ ८ ॥ पर मैंने बहुत गिड़गिड़ाकर बड़े बर्ष भरे माँडे शब्दोंमें उनकी बड़ी स्तुति की तो वे पिबज गए, क्योंकि अपनी प्रशंसा मजा किसको नहीं अच्छी लगती ॥ ९ ॥ यह तो थाप जानते ही हैं कि शंकरजीकी शरणमें जो पहुँच जाता है उसकी श्रीर सारे जगतकी वे रक्षा करते ही हैं । इसलिये उनके श्लोपकी जलती हुई त्रिज आगसे कोई बच नहीं सकता उरकी धाहुति बलते-रते मैं बच गया ॥१०॥ उन्होंने मठ पार्वतीजीके कसकर बंधे हुए दाधोंसे अपनेको धुरा लिया और लज्जाके कारण, सम्भोगके सुखकी इच्छा धोकर वे दृष्ट गए ॥ ११ ॥ संभोगके बीचमें ही रंगमें भंग होनेसे उनका जो चीनी

दुर्विपक्षेण तेनाहं तेजसा दहनात्मना । निर्दग्धमात्मनो देहं दुर्वहं वोढुमक्षमः ॥१३॥
 रौद्रेण दक्षमानस्य महसातिमहीयसा । मम प्राणपरित्राणप्रगुणो भव वासव ॥१४॥
 इति श्रुत्वा वचो बह्वेः परितापोपशान्तये । हेतुं विचिन्तयामास मनसा विबुधेश्वरः ॥१५॥
 तेजोदग्धानि गात्राणि पाणिनास्य परामृशन् । किञ्चित्कृपीटयोनिं तं दिवस्पतिरभिव १६
 प्रीतः स्वाहास्वधाहन्तकारैः प्रीणयसे स्वयम् । देवान्पितृन्मनुष्यांस्त्वमेकस्तेषां मुखं यतः १७
 त्वयि जुहति होतारो हवींषि ध्वस्तकल्मषाः । भुञ्जन्ति स्वर्गमेकस्त्वं स्वर्गप्राप्तौ हि कारणम्
 हवींषि मन्त्रपूतानि हुताश त्वयि जुह्वतः । तपस्विनस्तपः सिद्धिं यान्ति त्वं तपसां प्रभुः १९
 निधत्से हुतमर्काय स पर्जन्योऽभिवपेति । ततोऽञ्जानि प्रजास्तेभ्यस्तेनासि जगतः पिता २०
 अन्तश्चरोऽसि भूतानां तानि त्वचो भवन्ति च । ततो जीविनभूतस्त्वं जगतः प्राणदोऽसि च
 जगतः सकलस्यास्य त्वमेकोऽस्थुपकारकृत् । कायोपपादने तत्र त्वचोऽन्यः कः प्रगल्भते २२
 अमीषां सुरसंधानां त्वमेकोऽर्थसमर्थने । विपश्चिरपि संश्लाघ्योपकारवृत्तिनोऽनल ॥२३॥
 देवी भागीरथी पूर्वं भक्त्यास्माभिः प्रतोपिता । निमज्जतस्तबोदीर्घतापं निर्वापयिष्यति २४

लोकोंको जलानेवाला और किसीसे भी सहा न जा सकेवाला अन्तक भीम निकला, वह उन्हीं मेरे शरीरमें डाल दिया ॥ १२ ॥ अब मैं उस असह्य जलसे हुए तेजसे इतना जला जा रहा हूँ कि मुझे अपना शरीर भी भारी हो रहा है ॥ १३ ॥ हे इन्द्र ! महादेवजीके इस अत्यन्त भयानक तेजसे मेरा सारा शरीर जला जा रहा है इसलिये अब धार कित्ती भी प्रकार मेरे प्राण बचानेका यश होजिए ॥ १४ ॥ धनिकी ये बातें सुनकर देवराज इन्द्र अपने मनमें कोई ऐसा उपाय सोचने लगे जिससे अग्निकी जलन मिट जाय ॥ १५ ॥ महादेवजीके तेजसे जलते हुए अग्निके अंगोंपर हाथ फेरते हुए इन्द्र बोले— ॥ १६ ॥ हे अग्नि ! देखो, जब हवन करनेवाले होता लोग स्वाहा, स्वधा और षण्द् कहकर हवन करते हैं उस समय तुम मरतन होकर देवों, पितरों और मनुष्योंको प्रसन्न करते हो, क्यों कि तुम्हारे ही मुखासे तो सबने अपना अपना भाग मिलता है ॥ १७ ॥ होता लोग तुममें इयम करके पापसे छूटकर स्वर्गलोकमें जाकर सुख भोगते हैं । वे एक तुम्हारे ही सहारे तो स्वर्गतक पहुँच पाते हैं ॥ १८ ॥ हे अग्नि ! यश करनेवाले तपस्वी मन्त्र पढ़कर जो तुम्हें आहुति देते हैं, उससे वे अपनी तपस्याका पूरा फल पा जाते हैं क्यों कि तपके देवता भी तो तुम्हीं हो ॥ १९ ॥ सूर्यके लिये जो आहुति दी जाती है उसे तुम धरोहरकी भाँति लेकर उन्हें दे देते हो । सूर्य उसे पाइल बनाकर धरसा देते हैं, जिससे अन्न पैदा होता है और फिर उसी अन्नसे संसार के प्राणियोंका पेट पलता है । इस प्रकार सारे संसारके पिता भी तुम्हीं हो ॥ २० ॥ हे अग्नि ! सब प्राणियोंके भीतर तुम्हीं तो रहते हो और ये सब तुम्हींसे उरपन्न होते हैं । इसलिये तुम्हीं संसारके जोवन और प्राण देनेवाले हो ॥ २१ ॥ इस समूचे संसारका भला करनेवाले एक तुम्हीं तो हो, इसलिये ऐसी साँततका काम तुम्हें छोड़कर और कर ही कौन सकता है ॥ २२ ॥ हे अग्नि ! तुम्हीं तो एक ऐसे हो जो देवताओंका काम साध सकते हो । देखो ! जो दूसरोंकी भलाई करनेका वास उठाते हैं वे जो कष्ट सहते हैं वह भी बड़े गौरव और पकारकी बात होती है ॥ २३ ॥ देखो !

गङ्गां तद्गच्छ मा कार्पीविलम्बं हृष्यवाहन । कार्येष्ववश्यकार्येषु सिद्धये विप्रकारिता ॥२५॥
 शंभोरम्भोमयी मूर्तिः सैव देवी सुरापना । त्यक्तः स्मरद्विपो वीजं दुर्धरं धारयिष्यति ॥२६॥
 इत्युदीर्य सुनासीरो विरराम स चानलः । तद्विसृष्टस्तमापृच्छच्च प्रतस्थे स्वर्धुनीमभि ॥२७॥
 हिरण्यरेतसा तेन देवी स्वर्गतरङ्गिणी । तीर्थाध्वना प्रपेदे सा निःशेषक्लेशनाशिनी ॥२८॥
 स्वर्गारोहणनिःश्रेयिमोक्षमार्गाधिदेवता । उदारदुरितोद्धारहारिणी दुर्गतारिणी ॥२९॥
 महेश्वरजटाजूटवासिनी पापनाशिनी । सरागान्धयनिर्वाणकारिणी धर्मधारिणी ॥३०॥
 विष्णुपादोदकोद्भूता ब्रह्मलोकादुपागता । त्रिभिः स्रोतोभिरध्वान्तं पुनाना भुवनत्रयम् ॥३१॥
 जातवेदसमायान्तमूर्मिहस्तैः समुत्थितैः । आजुहावार्थसिद्धयै तं सुप्रसादधरेव सा ॥३२॥
 संमिलद्भिर्मरालैः सा कलं कृजद्भिर्रुन्मदैः । ददे श्रेयांसि दुःखानि निहन्मीति तमभ्यघात ॥
 कल्लोलैरुद्गतैरर्वाचीनं तटमभिद्रुतैः । प्रीतेव तमभीयाय स्वर्धुनी जातवेदसम् ॥३४॥
 अथाभ्युपेतस्तापातो निममज्जानलः किल । विपदा परिभूताः किं व्यवस्यन्ति तिलम्बितुम्
 गङ्गावारिणि कल्याणकारिणि भ्रमहारिणि । स मग्नो निर्धृतिं प्राप पुण्यभारिणि तारिणि
 तत्र माहेश्वरं धाम संचक्राम हविर्भुजः । गङ्गायामुत्तरंगायामन्तस्तापविपद्भृति ॥३७॥

हम लोगों ने पहलेसे ही बहुत हाथ पैर जोड़कर गंगाजीको प्रसन्न कर लिया है । वस, क्यों ही तुम उनकी धारामें स्नान करनेसे स्वर्ग ही वे इस घोर जलनको शान्त कर देंगी ॥ २५ ॥ इसलिये हे अग्नि ! तुम मत्पट गंगाजीके पास जाओ, देर न करो, क्योंकि जिस कामको पूरा करनेकी बात थीमैं जान ले उसे पूरा करनेमें देर नहीं करनी चाहिए ॥ २५ ॥ देखो ! श्रीगंगाजी शंकरजीकी ही जलवाली मूर्ति हैं । वे उनके सेगस्त्री धीरेकी तुमभलेकर अपनेमें रस लेंगी ॥ २६ ॥ इतना कहकर इन्द्र रूप हो गये और अग्नि भी उनसे विदा होकर गंगाजीकी ओर चल पड़े ॥ २७ ॥ और चलाकर उन गंगाजीके तीरपर जा पहुँचे जो सब दुःखोंको मिटा देती हैं, सोढ़ी बनाकर भक्तोंको स्वर्ग पहुँचा देती हैं, मोक्ष दे डालती हैं, बड़े-बड़े पाप हर लेती हैं, कठिनाइयों दूर कर देती हैं, शंकरजीके जय-जयमें रहती हैं, सगरके पुत्रोंको भी तारनेवाली हैं, धर्मकी रक्षा करनेवाली हैं, विष्णुके चरणसे जलके रूपमें निकलकर ब्रह्मलोकसे आई हैं और अपनी तीन धाराओंसे तीनों लोकोंकी सदा शक्ति करता रहती हैं ॥ २५-२९ ॥ जहाँ गंगाजीकी जो जहरे उज रही और वे देती जागती थीं मानो दूरसे आते हुए, अग्निको देखकर वे प्रसन्न मनसे अपनी बहनोंके हाथोंसे उगम्य काम साधनेके लिये उन्हें दूसरे ही मुजा रही हों ॥ ३२ ॥ वहाँ बहुतसे रामहंस एक साथ मिलकर मतवाले बने हुए जो कलकल शब्द कर रहे थे वह ऐसा लग रहा था मानो गंगाजी अग्निसे यह कह रही हों कि मैं सबका मला किया करती हूँ और दुःख हर लिया करती हूँ ॥ ३३ ॥ गंगाजीकी ऊँची उठती हुई और दर दर करके आगे बढ़ती हुई तरंग जो डलते तटपर पड़ते आ रही थीं वे ऐसी लगती थीं मानो गंगाजी कुछ आगे बढ़कर अग्निका स्वागत करने चली आ रही हों ॥ ३४ ॥ आपसे जलते हुए अग्निने वहाँ पहुँचकर मत् गंगाजीमें डुबकी खगाई । सब है विपदाके भरे लोगोंको कहीं कुछ वैर रखकर सोचनेकी सुध थोड़े ही रहती है ॥ ३५ ॥ सबका बन्धाव करनेवाली, यकावट दूर करनेवाली, परम पवित्र तथा सबको तारनेवाली गंगाजीके जलमें डुबकी लगकर अग्निको घटा मुख मिला ॥ ३६ ॥ अपनी ज्वालासे दहकता हुआ शंकरजीका धीरे अग्निने किलपर ऊँचो

कृशानुरेतसो रेतस्याद्वे सरिता तथा । निश्चक्राम ततः सौख्यं हृद्यवाहो वहन्वहु ॥३८॥
 सुधासारैरिवाम्भोभिरभिपिक्तो हुताशनः । यथागतं जगामाय परां निर्घृतिमादधत् ॥३९॥
 सा सुदुर्विपह गङ्गा धाम कामजितो महत् । आदधाना परीतापमशप व्योमवाहिनी ॥४०॥
 बहिरार्ता युगान्ताप्तेस्तप्तानीव शिरसाशतैः । हित्वोष्णानि जलान्यस्या निर्जगुर्जलव्रतवः
 तेजसा तेन रौद्रेण तप्तानि रालिलान्यपि । समुदञ्चन्ति चण्डानि दुर्धराणि बभार सा ४२
 जगच्चक्षुषि चण्डांशौ किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे जग्मुः पट कृतिना माघे मासि त्वातुं सुरापगाम्
 शुभ्रैरभ्रकपैरुमिशतैः स्वर्गनिवासिनाम् । कथयन्तीमिवालोकावगाहाचमनादिकम् ४४॥
 सुक्लावानां मृनीन्द्राणां बलिकर्मांचितैरलम् । बहिः पुष्पोत्करैः कीर्णतीरां दूर्वाचतान्वितैः
 ब्रह्मध्यानपरैर्योगपरैर्ब्रह्मासनस्थितैः । योगनिद्रामतैर्योगशुद्धबन्धैरुपाशिताम् ॥ ४६ ॥
 पादाहुष्ठाग्रभूमिस्थैः सूर्यसंवल्लटपिभिः । ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म शृणुद्विरूपसेविताम् ४७
 अथ दिव्यां नदीं देवीगभ्यनन्दन्विलोक्य ताः । कं नाभिनन्दयत्येया दृष्टा पीयूषवाहिनी ४८
 चन्द्रचूडामणिरदेवो यामुद्रहति मूर्धनि । यस्या विलोकनं पुण्यं श्रद्धयुक्ता मुदा हृदि ॥४९॥
 दिव्यां विष्णुपदीं देवीं निर्वाणपददेशिनीम् । निर्धूतकल्मषां मूर्ध्नासुप्रह्लास्ता ववन्दिरे

तरंगोपाजो गंगाजोमें पहुँच गया ॥ ३७ ॥ अब गंगाजीने बड़े आदरसे शंकरजीका धीरे ले लिया
 तब धूमि बहुत प्रसन्न होकर जलसे बाहर निकल आए ॥ ३८ ॥ और उस अमृतकी धाराके समान
 गंगा-जलसे अत्यन्त दंडे होकर और अत्यन्त सुख पाकर वे जहाँसे आए थे वहाँ चले गए ॥ ३९ ॥
 शंकरजीके अत्यंत बर्षाकी पाकर आकाशमें यहनेवाली गंगाजी भी एकदम डबल उठी ॥ ४० ॥
 जैसे प्रलयकी आगकी सैकड़ों जपटोंसे रापे हुए गरम जलकी छोड़कर जलके जीव पानीसे बाहर
 निकल आते हैं वैसे ही गंगाजीके तपते हुए जलको छोड़कर सब जीव भी धवराकर बाहर निकल
 आए ॥ ४१ ॥ हृदके उस भयानक तेजसे जब वह जल अत्यन्त तप चला तब वह भयंकर जल
 डबलकर ऐसा गरम हो गया कि छुछा तक नहीं जा सकता था, फिर भी गंगाजी उसे लिए
 ही रहीं ॥ ४२ ॥ एक दिन माघके महीनेमें जब संसारके नेत्र और प्रचंड चिरणोंवाले भगवान्
 सूर्य धोड़े-धोड़े निकल रहे थे उस समय सुधों कृतिकाएँ बहानेके लिये गंगाजीके तीरपर आईं ॥ ४३ ॥
 उस समय गंगाजीकी डबली और आकाश चूमनेवाली सैकड़ों तरंगें उड़ल-उड़लकर मानो यह
 बात रही थी कि स्वर्गमें रहनेवाले देवता लोग यहाँ आकर दर्शन, स्नान और आचमन किया
 करते हैं ॥ ४४ ॥ वहाँ तीरपर फूल, दूध, अक्षत आदि वे सब पूजाकी सामग्री बिखरी पड़ी थी
 जो मुनियोंने भली प्रकार स्नान पूजा करके वहाँ चढ़ा रखी थी ॥ ४५ ॥ उसी तीरपर कुशके
 आसनोपर पद्मासन बँधकर ब्रह्मका ध्यान करते हुए और समाधि लगाए हुए ऋषि लोग कमरसे
 मुझे तक कपड़े ओढ़े सदा बैठे रहते हैं ॥ ४६ ॥ और वहाँपर पाँके भैंगुँरोंपर खड़े होकर सूर्यकी
 ओर धाँख लगाए हुए ब्रह्मर्षि परमब्रह्मका ध्यान किया करते हैं ॥ ४७ ॥ ऐसी दिव्य नदीकी बन
 सुधों कृतिकाओने प्रशाम किया । मन्त्रा ऐसी अमृतकी धारावाली गंगाजीकी देखकर कौन नहीं
 मुग्ध हो जायगा ॥ ४८ ॥ स्वयं भगवान् शंकर, जिन गंगाजीको मस्तकपर रखते हैं, जिनके दर्शन
 करनेसे ही पुण्य होता है उन गंगाजीकी देखकर सुधों कृतिकाएँ मनमें बड़ी प्रसन्न हुईं और
 उनके मनमें गंगाजीके लिये पड़ी श्रद्धा जाग उठी ॥ ४९ ॥ उन कृतिकाओने, मुक्ति देनेवाली,

सौभाग्यैः खलु सुपापां मोक्षप्रतिभुवं सतीम् । भक्त्यात्र तुष्टुयुक्तां ताः श्रद्धाणा दिव्योद्युनीम्
 मुक्तिस्त्रीसङ्घदृष्यैस्तत्र ता निमलैर्जलैः । प्रचालितमल्लाः सक्त्रः सुहृतातास्तपसान्विताः ५२
 खात्वा तत्र सुलभ्यायां भाग्यैः परिपचेलिमैः । चरितार्थं स्वमात्मानं बहु ता मेनिरे मुदा ५३
 कुशाक्षुरेतसो रेतस्तासामभिकलेरम् । अमोघं संचचाराथ सद्यो गङ्गागगहनात् ५४
 रौद्रं सुदुर्धरं धाम दधाना दहनात्मरुम् । परितापमत्रापुस्ता मन्ना इव निषाम्बुधौ ॥५५॥
 अक्षमा दुर्वहं बोढुमम्बुनो पहिरातुराः । अग्निज्वलन्तमन्तस्ता दधाना इव निर्ययुः ॥५६॥
 अमोघं शांभवं बीजं सद्यो नद्योज्ज्वलं महत् । तासामभ्युदरं दीप्तं स्थितं गर्भत्वमागतम् ॥५७॥
 सुज्ञा विज्ञाय ता गर्भभूतं तद्वोढुमक्षमाः । विषादमदबुः सद्यो गार्हं मर्तृभिया द्रिया ॥५८॥
 ततः शरवणो सार्धं भयेन व्रीडया च ताः । तद्र्मजातमुत्सृज्य स्वान्गृहानभिनिर्ययुः ॥५९॥
 तामिस्तत्रामृतकरकलाकोमलं मासमानं तद्विचित्रं क्षयमभिनमोगर्ममभ्युज्जिहानेः ॥६०॥
 स्वैस्तेजोभिर्दिनपतिशतस्पर्धमानैरमानैर्वक्रैः पद्भिः स्मरहरगुरुस्पर्धयेराजनीव ॥६१॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसमये महाकाव्ये

कुमारोत्पत्तिर्नाम दशम सर्गः ॥

निष्कृष्टे पार्ष्णीसे निकम्बेवाली श्रीर पापोंका नाश करनेवाली गंगाजीकी वदी भक्तिमे चन्दनाकी ॥५०॥
 जिनका बड़े सौभाग्यसे दर्शन होता है श्रीर जो साक्षात् मोक्ष हा है उन गंगाजीका स्तुति वृत्तिकार्योंने
 वदी भक्तिके साथ की ॥ ५१ ॥ श्रीर तब उन तपस्विनी वृत्तिकार्योंने ला भर मलमलकर गंगाजीके
 उस निर्मल जलमें स्नान किया जो ऐसा जगता था भाग्यो मुक्तिके पास ही पहुँचा रहा हो ॥ ५२ ॥
 जिन गंगाजीमें पिछले कर्मके पुण्यवान् लोग हा स्नान कर पाते हैं उन गंगाजीमें पहले आनन्दके
 साथ स्नान करके उन वृत्तिकार्योंने अपने भाग्यकी वधा कराहा ॥ ५३ ॥ जब वे गंगाजीमें स्नान कर
 रही थीं तब समय शकाजीका अचूक योग्य गंगाजासे निकलकर उन वृत्तिकार्यों के शरीरमें पैठ गया
 ॥ ५४ ॥ तब शिवजीके उस मथकर असदा अग्निके समान दीर्घके था जानेसे वे बहुत तब उठीं श्रीर
 उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो हम विपके समुद्रमें ही डूब गई हैं ॥ ५५ ॥ विद्वान उस असाध्य रोगकी
 बहुत देर तक न सह सकनेके कारण वे भीतर हा भीतर जलती हुई उस रोगको जिए जलसे यादर
 निकलीं ॥ ५६ ॥ शकरजाका वह भमकता हुआ अचूक योग्य गंगाजीसे छूट जानेपर उन वृत्तिकार्योंके
 पेटमें पहुँचकर गर्भ बन गया ॥ ५७ ॥ जब उन वृत्तिकार्योंने देखा कि वह रोग तो गर्भ बन गया है
 श्रीर हमसे सँभाले नहीं सँभलेगा तब वे बुद्धिमती वृत्तिकार्यों अपने अपने पतियोंके सरते श्रीर छात्रके
 बारे वधा दुःखी हो गईं ॥ ५८ ॥ श्रीर तब उस जगता श्रीर भयके कारण वे एक सरपतके जगलमें
 अपने अपने गर्भ छोड़कर अपने अपने घर छोड़ गईं ॥ ५९ ॥ वृत्तिकार्योंने उस सरपतके जगलमें
 जो चन्द्रमाकी किरणोंके समान कोमल श्रीर रोजस्वी गर्भ छोड़े वे वे ऐसे रोजस्वी बन गए कि उनका
 रोग उदय होते हुए सँकड़ों घुसोंसे भी होव करता था श्रीर अपने ल मुलोंसे वे पार गुरावाले
 प्रयाथो भी मानो पुनीती दे रहे थे ॥ ६० ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमार-समये महाकाव्यमें

कुमारका जन्म नामका दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

एकादशः सर्गः

अभ्यर्च्यमाना विवुधैः समग्रैः प्रह्वैः सुरेन्द्रप्रमुखैरुपेत्य ।
 तं पापयामास सुधातिपूर्णे सुरापगा स्वं स्तनमाशु मूर्ता ॥ १ ॥
 पिवन्स तस्याः स्तनयोः सुधौघं क्षयं क्षयं साधु समेधमानः ।
 प्रापाकृतिं कामपि पङ्क्तिरेत्य निपेव्यमाणः खलु कृत्तिकाभिः ॥ २ ॥
 भागीरथीपावककृत्तिकानामानन्दवाष्पाकुललोचनानाम् ।
 तं नन्दनं दिव्यमुपात्तुमासीत्परस्परं प्रौढतरो विवादः ॥ ३ ॥
 अत्रान्तरे पर्वतराजपुत्र्या समं शिवः स्वैरविहारहेतोः ।
 नभो विमानेन विगाहमानो मनोतिवेगेन जगाम तत्र ॥ ४ ॥
 निसर्गवात्सल्यवशाद्विशुद्धचेतःप्रमोदी गलदश्रुनेत्रौ ।
 अपश्यतां तं गिरिजागिरीशौ पडाननं पङ्क्तिज्जातमात्रम् ॥ ५ ॥
 अथाह देवी शशिसखण्डमौलि कोऽयं विशुद्धिव्यवपुःपुरस्तात् ।
 कस्याथवा धन्यतमस्य पुंसो मातास्य का भाग्यवतीषु धुर्या ॥ ६ ॥
 स्वर्गापगासावनलोऽयमेताः पटुकृत्तिकाः किं कलहायमानाः ।
 पुत्रो ममायं न तवायमित्थं मिथ्येति वैलक्ष्यमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

इन्द्र आदि सब देवताओंने जय गङ्गाजीके पास आकर बड़ी नम्रतासे पार्श्वरा की तब चे छीका
 रूप धारण करके अपना अमृतसे मरा हुआ स्तन उस बालकको पिलाने लगीं ॥ १ ॥ यह छः मुखों-
 वाला बालक अमृतकी धारा पी-पीकर पल-पलमें बेगते बढ़ने लगा । और जब छुट्टी कृत्तिकाएँ भी
 आकर उसकी देखमात्र करने लगीं तब तो उसका रूप रग हृद्य बनोसे ही बंगते सुन्दर हो
 उठा ॥ २ ॥ उस दिव्य रूपवाले बालकको देखकर, गवात्री, धमि और छुट्टी कृत्तिकाएँ सब
 आँसुओंमें प्रेमके आँसु भरकर उस बालकको अपना अपना पुत्र बनानेके लिये आपसमें यदा-भगदा
 करने लगीं ॥ ३ ॥ इसी बीच शिवजी भी पार्वतीजीके साथ यों ही धूमते-धूमते मनके समान बेगते
 चलनेवाले विमानपर चढ़े हुए आकाशमें उड़ते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ४ ॥ छ' दिनोंके उस छः
 मुखवाले बालकको देखते ही शिवजी और पार्वतीजीकी आँसुँ स्वाभाविक पुत्र-प्रेमकी प्रसन्नताके मारे
 पुलकित हो उठे ॥ ५ ॥ संकरजीसे पार्वतीजी पूछने लगीं कि यह सामने दिव्य शरीरवाला बालक
 कौन है ? किस यदभागिका पुत्र है और कौन ऐसी सत्यसे यदभागि खी है जो इसकी माता है ?
 ॥ ६ ॥ ये कति, गङ्गा, और छुट्टी कृत्तिकाएँ सब आपसमें यह यह कहकर क्यों भगदा कर रहे हैं
 कि यह मेरा पुत्र है, तुम्हारा नहीं । ये इस प्रकारकी धेयुको और नृत्य-नृत्यी पाते क्यों दृष्ट रही
 हैं ॥ ७ ॥ वे देखे । यह तीनों जोकोंमें तिलकके समान सदा सिरमीर सुन्दर पाशक इन तीनोंमेंसे

एतेषु कस्येदमपत्यमीशाखिलत्रिलोकीतिलरूपमानम् ।
 अन्यस्य कस्याप्यथ देवदैत्यगन्धर्वसिद्धोरगराक्षसेषु ॥ ८ ॥
 श्रुत्वेति वाक्यं हृदयप्रियायाः कौतूहलिन्या विमलस्मितधीः ।
 सान्द्रप्रमोदोदयसौख्यहेतुभूतं वचोऽवोचत चन्द्रचूडः ॥ ९ ॥
 जगत्त्रयीनन्दन एव वीरः प्रवीरमातुस्तव नन्दनोऽस्ति ।
 कल्याणि कल्याणकरः सुराणां त्वचोऽपरस्थाः कथमेव सर्गः ॥ १० ॥
 देवि त्वमेवास्य निदानमासे सर्गे जगन्मङ्गलगानहेतोः ।
 सत्यं त्वमेवेति विचारयस्व रत्नाकरे युज्यत एव रत्नम् ॥ ११ ॥
 अतः शृणुष्व्वावहितेन वृत्तं बीजं यदग्री निहितं मया तत् ।
 संक्रान्तमन्तस्त्रिदशापगायां ततोऽवगाहे सति कृचिक्रासु ॥ १२ ॥
 गर्भत्वमाप्तं तदमोघमेतच्चाभिः शरस्तम्बमधि न्यधायि ।
 बभूव तत्रायमभूतपूर्वो महोत्सवोऽशेषचराचरस्य ॥ १३ ॥
 अशेषविश्वप्रियदर्शनेन धुर्वा त्रमेतेन सुपुत्रिणीनाम् ।
 अलं विलम्बधाचलराजपुत्रि स्प्रपुत्रमुत्सङ्गतले निधेहि ॥ १४ ॥
 अथेति वादिन्यमृतांशुमौलीं शैलेन्द्रपुत्री रमसेन सद्यः ।
 सान्द्रप्रमोदेन सुपीनगात्री धात्री समस्तस्य चराचरस्य ॥ १५ ॥

संपुत्र किसका पुत्र है ! या यह इनको छोड़कर किसी और ही देव, दैत्य, गन्धर्व, सिद्ध, नाग या राक्षसका पुत्र है ॥ ८ ॥ अपनी प्राणप्यारी पार्वतीकी यह चात्रमरी बात सुनकर निर्मल कान्ति फैलानेवाली मुरुकराइटके साथ शंकरजीने यही प्यारी बात कही—॥९॥ तीनों लोकोंको आनन्द देनेवाला यह बालक तुम वीरमाताका ही बेटा पुत्र है । हे कल्याणी ! तुम्हें छोड़कर देवताओंका क्याकाय करनेवाला ऐसा पुत्र पीन उपनम कर सकता है ॥ १० ॥ हे देवी ! सत्कार भरके मृगशके कानोंमें जिस बालककी कीर्ति गाई जायगी वह तुम्हारा यही पुत्र है । तुम्हें ठीक ठीक विचारकर देख लो कि रत्न तो रत्नाकरसे ही निकल सकता है ॥ ११ ॥ हे पार्वती ! सायधान होकर इस बालकके उपनम होनेकी क्या सुनो । देवी मैंने अपना जो अचूक वीर्य अग्निमें रख दिया था, उसे अग्निने गंगाजीमें छोड़ दिया और वह फिर स्नान करती हुई धर्मों कृचिकार्योंके पेटमें पहुँचकर गर्भ बन गया और तब उस अचूक वीर्यकी कृचिकार्योंने सरपतके जगलमें डाल दिया । उसी गर्भसे घर और अवर प्राणियोंकी हार देनेवाला यह अनोखा बालक जन्मा है ॥ १२-१३ ॥ हे पार्वती ! तारे सत्कारके प्यार इस बालक की माता होनेसे तुम अपनेको सप पुत्रवती प्रियेमें श्रेष्ठ समझो । धर देर न करो और अपने पुत्रको बड़ाकर गोदमें ले लो ॥ १४ ॥ शंकरजीकी यह बात सुनकर तारे सत्कारकी माता पार्वतीकी हारसे फूलों व समार्य और मत्त विमानसे उतरकर उस पुत्र-रत्नको गोदमें खेनेके विषे अधीर हो उठीं । उस समय धाकरमें हृदय धारि देवता लोग अपने मुहूर्त्तपर हाथ जोड़कर और चित

किरोटवद्वाञ्जलिभिर्नभःस्थैर्नमस्कृता सत्वरनाकिलोकैः ।
 विमानतोऽघातरदात्मजं तं ग्रहीतुमुत्कण्ठितमानसाभूत् ॥ १६ ॥
 स्वर्गापगापावककृत्तिकादीन्कृताञ्जलीनानमतोऽपि भूयः ।
 हित्वोत्सुका तं सुतमाससाद पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात् ॥ १७ ॥
 प्रमोदवाप्पाकुललोचना सा नतं ददर्श क्षणमग्रतोऽपि ।
 परिस्पृशन्ती कारकुड्मलेन सुखान्तरं प्राप किमप्यपूर्वम् ॥ १८ ॥
 सुविस्मयानन्दविकस्वरायाः शिशुर्गलद्राप्यतरंगितायाः ।
 विवृद्धवात्सल्यरसोत्तराया देव्या दशगोंधरतां जगाम ॥ १९ ॥
 तमीक्षमाया क्षणमीक्षणानां सहस्रमाप्तुं विनिमेषमैच्छत् ।
 सा नन्दनालोकनमङ्गलेषु क्षणं क्षणं तृप्यति कस्य चेतः ॥ २० ॥
 विनम्रदेव्यासुरपृष्ठगाभ्यामादाय तं पाणिसरोरुहाभ्याम् ।
 नवोदयं पार्वत्यचन्द्रचारुं गौरी स्वमुत्सङ्गवलं निनाय ॥ २१ ॥
 स्वमङ्गमारोप्य सुधानिधानमिवात्मनो नन्दनमिन्दुवदत्रा ।
 तमेकमेवा जगदेकवीरं बभूव पूज्या धुरि पुत्रिणीनाम् ॥ २२ ॥
 निसर्गावात्सल्यरसौघसिक्ता सान्द्रप्रमोदासृतपूरपूर्णा ।
 तमेकपुत्रं जगदेकमाताभ्युत्सङ्गिनं प्रसूविषी बभूव ॥ २३ ॥

हुकार उन्हे प्रथम करने लगे ॥ १५-१६ ॥ यंग, अग्नि और कृत्तिकाएँ समीं बार-बार हुक-
 हुकर उन्हे प्रथम कर रही थीं पर पार्वतीजीका प्यान उधर गया ही नहीं और उन्हेनि बड़े
 चाबसे उस पुत्रकी अपनी गोदमें उठा लिया । भला कौन देखी मता होगी जो अपने पुत्रके प्रेममें
 सुध-सुध न लो बैठती हो ॥ १७ ॥ आँसूमें आनन्दके आँसू छलक जानेसे ये धोषी बेतक लो
 अपने पुत्रको देख ही न पाई और अपने कर्जके समान कोमल हाथसे ही पुत्रकी सहजाने भरसे
 ये अनोखी सुप्त लेती रहीं ॥ १८ ॥ उन्हे यह मनोहर वाक्य तन दिलाई दिया । तब उनको आँसू
 अचरम और आनन्दसे लिकी जा रही थीं, जो उमड़ा पद रहा था, आँसू बहे जा रहे थे और
 पालक्यभाव रोम-रोमसे छलक पड़ रहा था ॥ १९ ॥ उस बरपेकी और एकटक देसती हुई पार्वती
 की सोचने क्षणी कि यदि इस समय मुझे एक सहर आँसू मित्र जाती तो कितना बखड़ा होता ।
 मजा पुत्र दर्शनके समय कितना ली भरता है ॥ २० ॥ प्रथम करनेके समय हुके हुए देवताओं
 और दैत्योंकी पोटपर अपने जो हाथ रखकर ये धारणियाँ दिया करती थीं उन्हीं हाथोंसे पार्वतीजीने
 एलोके चंद्रमाके समान सुन्दर पुत्रको अपनी गोदमें बिठा लिया ॥ २१ ॥ चन्द्रमाके समान गुणकारी
 पार्वतीजीने संतारमें लक्ष्मी अपने उस अनोखे पौरपुत्रकी गोदमें इस प्रकार छे लिया मानो
 चन्द्रमा कदम गोदमें रख लिया हो । उस समय ये पुत्रवतिथी में सवने छेप पूतनीय हो
 उठी ॥ २२ ॥ संतारकी माता धर्मतीर्तने जब उस अनोखे पुत्रकी गोदमें उठा लिया तो
 पात्सरप रखी स्वाभारिठ धारा उनके रोग-बीमसे उमड़ पड़ी, हर्षके चन्द्रकी भाइ भा गई

श्रेणेलोकप्रयमातुरस्याः पाण्मातुरः स्वन्यसुधामधासीत् ।
 सुरस्त्रन्त्याः क्लिप्तकृत्तिकामिर्भृद्भृद्भृद्भृद्ः सस्पृहमीक्ष्यमाणः ॥ २४ ॥
 सुखाभ्रुपूर्येण मृगाङ्कमौलेः कलत्रमेकेन सुसाम्भुजेन ।
 तस्यैरुनालोद्गतपञ्चपद्मलक्ष्मीं क्रमात्पद्भवदनीं चुचुम्ब ॥ २५ ॥
 हेमी फलं हेमगिरेर्लतेन मिकस्वरं नाकनदीन पद्मम् ।
 पूर्वेव दिद्भ्रुन्ननमिन्दुमाभातं पार्वती नन्दनमादधाना ॥ २६ ॥
 प्रीतात्मना सा प्रयतेन दत्तहस्ताञ्जलम्मा शशिशेखरेण ।
 कुमारस्तसङ्गतले दधाना विमानमंत्रलिहमारुहोह ॥ २७ ॥
 महेश्वरोऽपि प्रमदप्ररुढरोमोद्गमो भूधरनन्दनायाः ।
 थद्कादुपादत्त तदद्भुतः सा तस्यास्तु सोऽप्यात्मजनत्सलत्वात् ॥ २८ ॥
 दधानया नेत्रसुधैरुसत्रं पुत्रं पवित्रं सुतया तयाद्रेः ।
 संश्लिष्यमाणः शशिसुण्डधारी विमानवेगेन गृहाञ्जगाम ॥ २९ ॥
 अधिष्ठितः स्फाटिकशैलभृङ्गे तुङ्गे निजं धाम निकामरम्यम् ।
 महोत्सवाय प्रमथप्रमुखपान्पृथूनायाञ्चांशुरथादिदेश ॥ ३० ॥
 पृथुप्रमोद प्रगुणो गणानां गण समग्रो घृषवाहनस्य ।
 गिरीन्द्रपृथ्यास्तनयस्य जन्मन्यथोत्सवं संवृते निघातम् ॥ ३१ ॥

श्रीर उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बह जाता ॥ २३ ॥ जब कर्त्तिकेपत्नी सन कोकोकी माता पार्वती-
 जाके स्तनोंका भस्मत्व पीने खने तय गगानी श्रीर कृत्तिकार्ण बड़े दाइसे उनकी चोर बार बार
 देखने लगीं ॥ २४ ॥ शंकरजीकी प्याली पार्वतीजीने हर्षके आँसु बहावे हुए अपने कमलके समान
 एक मुखसे उस पुनके उन दर्पों मुखोंको पूमा जो ऐसे खगवे थे -मानो कमलकी एक डटडमें पाँच
 मुद्दर कमल निकल आए हों श्रीर उन पाँचों के बीचमें उन कमलोंका ही शोभा छटा कमल बनघ्न
 निकल आई हो ॥ २५ ॥ गोदमें सुन्दर पुत्र लिए हुए पार्वतीजी ऐसी सुन्दर लग रही थीं मानो
 सोनेके मुमेश पर्वतपर उत्पन्न होनेवाली सुनदली लतामें फल निकल आया हो या आकाशयगामों
 कमल मिल उठा हो या पूर्व दिशामें चन्द्रमा निकल आया हो ॥ २६ ॥ पुत्रको गोदमें लिए हुए
 सुली मनते पार्वतीजी शहरजीके हाथका सहारा लेकर आकाश चूमनेवाले ऊँचे विमानपर चढ़
 गईं ॥ २७ ॥ वे दोनों पुत्र प्रेमसे इतने मगन हा गए थे कि कभी तो पार्वतीजीकी गोदसे शंकरजी
 उस पुत्रको छे लेंवे थे श्रीर काली उनके गोदसे उसे पार्वतीजी छे लेती थीं । हय प्रकार पुत्र-
 प्रेममें भरे हुए दोनों उसे खिला रहे थे ॥ २८ ॥ आँसुओंको शस्त्रके समान मुख देवेवाले इत परम
 पवित्र पुत्रको गोदमें लिए श्रीर अपने हाथोंसे लिपने हुई पार्वतीजीकी साथ लेकर भगवान् शहर
 वेगसे चलनेवाले विमानपर चढ़कर कैलास जाई आए ॥ २९ ॥ स्फटिकके बने हुए उस कैलासमें
 ऊँचे शिखरपर अपने सुन्दर भवनमें बैठकर शंकरजीने अपने मुख्य मुख प्रमथ आदि गणोंको आज्ञा
 दी कि पुत्र बरपन्न होनेका उत्सव मनाओ ॥ ३० ॥ बड़े आनन्द श्रीर पावते सभी शुषवाह गण

स्फुरन्मरीचिच्छुरिताम्बराणि संतानशास्त्रिप्रसवाञ्जितानि ।
 उच्चित्पिपुः काञ्चनतोरणानि गण्या वराणि स्फटिकालयेषु ॥ ३२ ॥
 दिक्षु प्रसर्पस्तदधीश्वराणामथामराणामिव मध्यलोके ।
 महोत्सवं शंसितुमाहृतोऽन्यैर्दध्वान धीरः पटहः पटीयान् ॥ ३३ ॥
 महोत्सवे तत्र समागतानां गन्धर्वविद्याधरमुन्दरीणाम् ।
 संभावितानां गिरिराजपुत्र्या गृहेऽभवन्मङ्गलगीतकानि ॥ ३४ ॥
 सुमङ्गलोपावनपात्रहस्तास्तं मातरो मातृवदम्बुषेवाः ।
 विधाय दूर्वाक्षतकानि मूर्ध्नि निन्युः स्वमङ्गं गिरिजातनूजम् ॥ ३५ ॥
 धनस्तु तृयेषु सुमन्द्रमङ्ग्यालिङ्गयोर्ध्वकैवत्सरसो रसेन ।
 सुसंधिवन्धं ननृतुः सवृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धम् ॥ ३६ ॥
 वाता वयुः सौख्यकराः प्रसेदुराशा विधूमो हुतभृद्दिदीपे ।
 जलान्यभून्विमलानि तत्रोत्सवेऽन्तरिक्षं प्रससाद सद्यः ॥ ३७ ॥
 गम्भीरशङ्खध्वनिमिश्रमुच्चैर्गृहोद्भवा दुन्दुमपः प्रयोदुः ।
 दिवौकसां ध्वोमि विमानसंघा विशुच्य पुष्पप्रचयान्प्रसस्तुः ॥ ३८ ॥
 इत्थं महेशाद्रिसुतासुतस्य जन्मोत्सवे संमदयांचकार ।
 चराचरं विश्वमशेषमेतत्परं चक्रम्ये किल तारकश्रीः ॥ ३९ ॥

भोग पार्वतीजी और शररजीके पुत्रजन्मके उपलक्ष्यमें महोत्सव मनानेमें लुट गए ॥ ३१ ॥ कुछ
 गण्य तो स्फटिकमें समकृती हुई किरणोंके पङ्क्तसे रंग गिरने दिगार्द देनेवाले कपर्दीसे और
 कवचपृष्ठीके तूलों और पत्तोंसे बनाए हुए सुनहरे सुन्दर चन्द्रमयाओंसे अपने स्फटिकके भवन राजाने
 लगे ॥ ३२ ॥ और कुछ सणोंने जो नगाड़े बजाए उनको गम्भीर ध्वनि जब दूरों दिशाओंमें फैली तो
 धरतीसे उठी हुई बसकी पमक मानो वह बतल रही थी कि दिग्वालों और देवताओंके लोकके समान
 ही वहाँ भी पुनोत्सव मनाया जा रहा है ॥ ३३ ॥ इस महोत्सवके उपलक्ष्यमें गन्धर्वों और
 विद्याधरोंकी सन्तियोंने घर आकर वर्षया गार्द और पार्वतीजीने उन सबकी बड़ी घणमणय
 की ॥ ३४ ॥ माता आदि माताएँ भी कपादेकी माममी लेकर बाहरके पास आई और उनके
 सिरपर दूध, अक्षत विष्ककर रखने उसे अपने-अपनी गोश्रीमें ले लिया ॥ ३५ ॥ वहाँ शंख,
 घालिद्रव और ऊर्ध्वक नामकी अनेक प्रकारकी तराहियों मोंकी मंत्रों बज रही थीं और भाव तथा रस भरे
 अपने-अपने दन्तोंमें बँधे हुए गाने गाती हुई अम्बराएँ, बड़े हाव-भावसे गाव रही थीं ॥ ३६ ॥
 सुर देनेवाला वयन बहने लगा, दिगार्द गिर उठी, सुर्वा मित जानेने छाग लगा उठी और जल
 निर्मल हो गया । वहाँ तक कि उन उपलक्ष्यमें आकाश भी ताकाल गुप्त गया ॥ ३७ ॥ शरकी गम्भीर
 ध्वनिके साथ-साथ घर-घरके छोंटे छोंटे नगाड़े भी बजने लगे । देवता भोग भी आकाशमें आकर
 विमानोंमें घूम बराने और बजने लगे ॥ ३८ ॥ इस प्रकार संकरजों और पार्वतीजीके पुत्रके
 जन्मोत्सवके संगठनके समीप और और आकर प्राचीन संघर्षके वृत्त बडे पर तारक शरकी राज-अपनी

ततः कुमारः स मुदां निदानैः स बाललीलाचरितैर्विचित्रैः ।
 गिरीशगौर्योर्द्विदयं जहार मुदे न हृद्या किमु बालकैलिः ॥ ४० ॥
 महेश्वरः शैलसुता च हर्षतिस्तर्पमेकेन मुखेन गाढम् ।
 अजातदन्तानि मुखानि स्रनोर्मनोहराणि क्रमतरचुचुम्य ॥ ४१ ॥
 क्वचित्स्खलद्भिः क्वचिदस्खलद्भिः क्वचित्प्रकम्पैः क्वचिदप्रकम्पैः ।
 बालः स लीलाचलनप्रयोगैस्तयोर्मुदं वर्धयति स्म पित्रोः ॥ ४२ ॥
 श्रद्दहेतुहासच्छ्रिताननेन्दुर्गृहाङ्गणक्रीटनधूलिधूम्रः ।
 मुहुर्षदन्किचिदलक्षितार्थं मुदं तयोरङ्कगतस्ततान ॥ ४३ ॥
 गृह्णन्विपाणौ हरबाहनस्य स्पृशन्नुमाकेसरिण्यं सलीलम् ।
 स भृङ्गिण्यः सूच्यतारं शिखाग्रं कर्षन्बभूव प्रमदाय पित्रोः ॥ ४४ ॥
 एको नव द्वौ दश पञ्च सप्तैत्यजीगयन्नात्ममुखं प्रसार्य ।
 महेशकण्ठोरगदन्तपङ्क्तिं तदङ्कगः शैशवमौग्ध्यमैशितः ॥ ४५ ॥
 कपर्दिकण्ठान्तकपालदाग्नोऽद्भुलिं प्रवेशाननकोटरेषु ।
 दन्तानुपात्तुं रमसी बभूव मुक्ताफलभ्रान्तिकरः कुमारः ॥ ४६ ॥
 शंभोः शिरोऽन्तः सरितस्तरंगान्विगाह्य गाढं शिशिरात्रसेन ।
 स जातजाड्यं निजपाणिपथमतापयद्भालविलोचनाश्रौ ॥ ४७ ॥

कौं व डठी ॥ ३९ ॥ घीरे-धारे वह बालक अपने मनोहर और मनोपी बाल-लीलाओंसे शंकरजी और पार्वतीजीके आनन्द देने लगा ॥ ४० ॥ ये हर्षसे मतवाले होकर अपने पुत्रके पोखरे और मनोहर सुलोकोंके धार-धार यदे भावसे पूजा करते थे ॥ ४१ ॥ कहीं लड़कप्राता हुआ और कहीं सोचे चलता हुआ, कहीं कर्षिता-सा और कहीं रता हुआ-सा वह बालक अपनी लिलबाइ-भरी बालोंसे बचका जी सुमाने लगा ॥ ४२ ॥ अपने माता-पिताकी गोदमें बैठे हुआ वह बालक, अनेक प्रकारसे बचका जी सुमाया करता था । कभी तो उसका मुखचन्द्र बिना किसी पातके ही हँसने परक उठता था, कभी धरके आँगनमें रोखनेसे उसका शरीर धूलसे भर जाता था कभी वह धार-धार सोतजों कीली बोजरकर अपने माता-पिताको सिखाया करता ॥ ४३ ॥ कभी तो वह शंकरजीके पैरकी सींग परकता, कभी पार्वतीजीके सिंहके फेसर सहसाता और कभी भृङ्गीकी चोटीके सहान बाज रीकने लगाता । यह सब देखकर उसके माता-पिता हर्षसे पूजे न समाते ॥ ४४ ॥ कभी-कभी वह शंकरजीके कण्ठों परी हुई सुंदरमाकाके मुग्धोंमें बैंगली बाइकर उनके दुर्तिकों कीती समझकर उन्हे निचालने लग जाता था ॥ ४५ ॥ कभी वह शंकरजीके सिरपर रदनेशत्री गंगाजोंकी छहरोंमें अपना हाथ बाल देता पर जब बहुत ठंड लगनेसे उसके हाथ गुन्य हो जाते तब वह अपना कमल-या कोमल हाथ शिवजीके माथेपर रखते हुए तीसरे नेत्रके आगे छे बाकर सँक लेता ॥ ४६ ॥ जब वह देखता कि शिवजीका बच्चा तनिक भीषा हो रहा है और उनके जटा-वट मुक रहे हैं तब वह जटाके साथ भीचे छटकनेवाले उनके

किंचित्कलं भङ्गुरकंधरस्य नमज्जटाजूटधरस्य शंभोः ।

प्रलम्बमानं किल कौतुकेन चिरं चुचुम्बे मुकुटेन्दुखण्डम् ॥ ४८ ॥

इत्थं शिशोः शैशवकेलिबृत्तैर्मनोभिरामैर्गिरिजागिरीशौ ।

मनोविनोदैकरसप्रसक्तौ दिवानिशं नाविदतां कदाचित् ॥ ४९ ॥

इति बहुविधं बालक्रीडाविचित्रविचेष्टितं ललितललितं सान्द्रानन्दं मनोहरमाचरन् ।

अलभत परां बुद्धिं पष्टे दिने नवयौवनं ग किल सकलं शास्त्रं शस्त्रं विवेद विभुर्यया ॥ ५० ॥

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये

कुमारबाललीलावर्णनं नामैकादशः सर्गः ॥

सिरपरके चन्द्रभाषो ही बड़ी देर तक चूमता रहता ॥ ४७ ॥ इस प्रकार पुत्रकी मनोहर और खिलवावसे भरी बाल-लीलाओंमें आनन्द लेते हुए शकाजी और पार्वतीजी इतने मगन हो गए कि उन्हें यही सुध नहीं रह गई कि कब दिन चढ़ा और कब रात आई ॥ ४८ ॥ यों अनेक प्रकारकी मन-लुभावनी और बड़ी सुहावनी बाल-लीलाएँ करते हुए वह बालक छठे दिन बड़ा बुद्धिमान और जवान हो गया और छ ही दिनोंमें उसे सब शास्त्र और शस्त्र-विद्याएँ मली प्रकार आ गई ॥ ४९ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें

कुमारका जन्म नामकी म्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



द्वादशः सर्गः

अथ प्रपेदे त्रिदशैरशेषैः क्रूरासुरोपप्लवदुःसितात्मा ।
 पुलोमपुत्रीदयितोऽन्धकारिं पत्नीव तृष्यातुरितः पयोदम् ॥ १ ॥
 दत्तारिसंत्रासखिलीकृत्वात्स कथंचिदम्बोदविहारमार्गात् ।
 अघातताराभिगिरं गिरीशगौरीपदन्यासविशुद्धमिन्द्रः ॥ २ ॥
 संक्रन्दनः स्यन्दनतोऽवतीर्य मेघात्मनो मातलिदचहस्तः ।
 पिनाकिनोऽधालयमुच्चाल शुचौ पिपासोक्कलितो यथाम्भः ॥ ३ ॥
 हस्तस्ततोऽथ प्रतिभिम्वभार्जं विलोकमानः स्फटिकाद्रिभूर्मा ।
 आत्मानमप्येकमनेकधा स व्रजन्विभोरास्पदमाससाद ॥ ४ ॥
 विचित्रचञ्चन्मणिभङ्गिसङ्गं सौवर्णदण्डं दधत्वातिचण्डम् ।
 स नन्दिनाधिष्ठितमध्यतिष्ठत्सौधाङ्गणद्वारमनङ्गशत्रोः ॥ ५ ॥
 ततः स कञ्चाहितहेमदण्डो नन्दी सुरेन्द्रं प्रतिपद्य सद्यः ।
 प्रतोषयामास सुगौरवेण गत्वा शशंस स्वयमीश्वरस्य ॥ ६ ॥
 भ्रूसंज्ञयानेन कृताभ्यनुज्ञः सुरेश्वरं तं जगदीश्वरेण ।
 प्रवेशयामास सुरैः पुरोगः समं स नन्दी सदनं सदस्य ॥ ७ ॥
 स चण्डिभृङ्गिप्रमुलैर्गिरिष्ठैर्गणैरनेकैर्विधिधस्वरूपैः ।
 अधिष्ठितं संसदि रत्नमय्यां सहस्रनेत्रः शिख्यालुलोकैः ॥ ८ ॥

चारहर्षो सर्ग

जैसे पास लगनेपर पर्वत वादलकी मरणां जाता है, वैसे ही आवापारी साहसके उपनर्वाते हुश्री इन्द्र भी, सत्य देवताओंको साथ लेकर शंकरजीके पास जा पहुँचे ॥ १ ॥ जब धगधडी शब्द साहसके भयसे, देवता लोग किसी भी जागते था जा नहीं सकते थे। इसलिये इन्द्र भी साहसके बीचसे क्षिप्र-क्षिप्रते किसी प्रकार लम फैलासरर जा उतरे जो साह्य और पारतीजीके चरण पदनेमे पवित्र हो गया था ॥ २ ॥ वहाँ आतलिके हाथका सदास लेकर इन्द्र, वादलके स्वमे उतरे और शंकरजीके भयनकी ओर उसी प्रकार क्वाटकर गये जैसे गर्मीमें कोई प्यासा, पानीकी ओर दौड़े ॥ ३ ॥ स्फटिकके दाने हुए फैलासमें चारों ओर अपनी पट्टपसी परदारणों देवते हुए वे शंकरजीके भयनपर पहुँचे ॥ ४ ॥ शंकरजीके भयनकी देवधीपर पहुँचकर इन्द्र एक गय। वहाँ रंग विरते मणियोंको परचीकारी की हुई थी और एक यक्ष सा सोनेका दण्ड हाथमें लिए हुए नन्दी वहाँ किये थे ॥ ५ ॥ अपने सोनेके दण्डके एक कोनेमें स्वयं नन्दाने चारों ओर वक्षर भावमगत हाके हुएका स्वागत किया और स्वयं भीतर जाकर महादेवजीको उनके चानेकी गृणता दी ॥ ६ ॥ शंकरजीके भीतिसे ही उन्हें भीतर जानेका सकेत किया और उनको आज्ञा पाकर नन्दाने चाने चाने मार्ग दिग्गते हुए हनु और देवताओंको शंकरजीके पास पहुँचावा ॥ ७ ॥ इन्द्रने देगा कि वहाँ रत्न जडे

कपर्दमुद्गद्वमहीनमूधरलांशुभिर्भासुरमुच्छसङ्घिः ।
 दधानमुच्चैस्तरमिद्वधातोः सुमेरुशृङ्गस्य समत्वमाप्तम् ॥ ९ ॥
 त्रिभ्राशमुच्चुङ्गतरङ्गमालां गङ्गां जटाजूटतटं भजन्तीम् ।
 गौरीं तदुत्सङ्गजुषं हसन्तीमिव स्वफेनैः शरदभ्रशुभ्रैः ॥ १० ॥
 गङ्गातरङ्गप्रतिविम्बितैः स्वैर्वहूभवन्तं शिरसा सुधांशुम् ।
 चलन्मरीचिप्रचयैस्तुपारगौरैर्हिमद्योतितमुद्गहन्तम् ॥ ११ ॥
 मालस्थले लोचनमेघमानधामाधरीभूतरवीन्दुनेत्रम् ।
 युगान्तकालोचितहव्यवाहं मीनध्वजप्लोपणमादधानम् ॥ १२ ॥
 महार्हरत्नाश्रितयोरुदारं स्फुरत्प्रभामण्डलयोः समन्तात् ।
 कर्णस्थिताभ्यां शशिभास्कराभ्यामुपासितं कुण्डलयोरुल्लेन ॥ १३ ॥
 स्वधद्वया कण्ठकयेव नीलमाणिक्यमय्या कुतुकेन गौर्याः ।
 नीलस्य कण्ठस्य परिस्फुरन्त्या कान्त्या महत्या सुविराजमानम् ॥ १४ ॥
 कालादितानां त्रिदशामुराणां चितारजोभिः परिपाण्डुराङ्गम् ।
 महन्महेमाजिनमुद्गताभ्रप्रालेपशैलश्रियमुद्गदन्तम् ॥ १५ ॥
 पाण्डिस्थितन्नक्षकपालपात्रं वैकुण्ठभाजापि निषेव्यमाणम् ।
 नरास्थिखण्डाभरणं रयान्तमूलं त्रिशूलं फलयन्तमुच्चैः ॥ १६ ॥

चण्डी, भूमी आदि अनेक रूप-रंगवाले बहुतसे बड़े-बड़े गणोंसे घिरे हुए शिवजी बैठे हुए हैं ॥ ८ ॥
 सौंपोंसे विष्टा हुआ शिवजीके सिरका जटा-जूट चासुकि आदि बड़े-बड़े सौंपोंके फलोंके मणियोंकी
 फिरनोंसे चमकता हुआ सुमेरु पर्वतकी चौदीके समान दिखाई पड़ रहा था ॥ ९ ॥ शिवजीके जटा-
 जूटके धगले मागमें बसी हुई ऊँचो ऊँचो सरहोंवाली गंगाजी, शरदके बादलोंके समान उनजी फेन
 उधाल-उधालकर मानो शंकरजीकी गोदमें बैठी पार्वतीकी हँसी उवा रही थी कि देजो हम सो
 शिवजीके सिरपर चढ़ी हुई हैं ॥ १० ॥ शिवजीके सिरके चन्द्रमाकी दिग जैसी उजली फिरणोंकी जो
 परछाई गंगाजीकी तरंगोंमें बहुत रूपोंमें गाब रही थी वह देखी जान पड़ती थी मानो उस एक
 चन्द्रमाके बहुतसे चन्द्रमा बन गए हैं ॥ ११ ॥ उनके माथेपर कामदेवकी जलनेवाला, प्रलयकी आगिके
 समान वह चीसरा मेघ चमक रहा था जिसके पदते हुए तेजके आगे प्रलयके रूप घीर चन्द्ररूपी
 मेघ भाँ भँप जाते हैं ॥ १२ ॥ उनके कानोंमें फिरणोंके घेरते घिरे हुए चममोल रत्नोंसे जड़े दो
 कुण्डल ऐसे लटक रहे थे मानो इनके पहाने सूर्य घीर चन्द्र हो शंकरजीके दोनों कानोंपर उनकी सेवा
 का रहे हैं ॥ १३ ॥ उनका नीला कठ ठोक धैरा ही चमकता था जैसा कभी कभी पिछवापमें
 नीलमका हार पहन खेनेपर पार्वतीजीका गला चमक उठता है ॥ १४ ॥ मरे हुए देव-दानवोंकी
 पिछाओंकी मग्न पुते हुए अपने उनसे चंगपर उजले हाथोंकी टाल छोड़े हुए वे वेमे रिताई देते थे
 मानो बादलोंसे पिरा हुआ विशाल हिमालय हो ॥ १५ ॥ उनके एक हाथमें मन्त्र-कपालका पात था,
 गधेमें मरे हुएोंकी हडिहवोंके टुकड़ोंके गहने थे बाँट दूसरे हाथमें पुद्ग समाप्त बरमेवाजा अपना

पुरातनीं ब्रह्मरूपालमालां कण्ठे वहन्तं पुनराश्वसन्तीम् ।
उद्गीतवेदां मुकुटेन्दुवर्षत्सुधाभरौघाप्तवलयसंज्ञाम् ॥ १७ ॥
सलीलमङ्गलस्थितया गिरीन्द्रपुत्र्या नवाष्टापदवन्लिभासा ।
विराजमानं शरदभ्रखण्डं परिस्फुरन्त्याचिररोचिषम् ॥ १८ ॥
दप्तान्धकप्राणहरं पिनाकं महासुरस्त्रीविधिवत्त्वहेतुम् ।
करेण गृह्णन्तमगृह्यमन्यैः पुरा स्मरप्लोपणकैलिकारम् ॥ १९ ॥
मद्रासनं काञ्चनपादपीठं महार्हमाणिक्यविमङ्गिचित्रम् ।
अधिष्ठितं चन्द्रमरीचिगौरैरुद्गीज्यमानं चमरैर्यणाभ्याम् ॥ २० ॥
शङ्खाद्यविद्याभ्यसनैकसक्ते सन्धिस्मर्यैरेत्य गण्यैः सुदृष्टे ।
नीराज्यमाने स्फटिकाचलेन सानन्दनिर्दिष्टदृशां कुमारैः ॥ २१ ॥
तथाविधं शैलसुताधिनाथं पुलोमपुत्रीदयितो निरीक्ष्य ।
आसीत्क्षयं घोमपरो नु कस्य मनो न हि क्षुभ्यति धामधाम्नि ॥ २२ ॥
विकस्वराभ्योजवन्त्रिया तं दृशां सहस्रेण निरीक्षमाणाः ।
रोमालिमिः स्वर्गपतिर्वभासे पुण्योत्कराकीर्ण इवात्रशाखी ॥ २३ ॥
दृष्ट्वा सहस्रेण दृशां महेश्वमभूत्कृतार्थोऽतितरां सहन्द्रः ।
सर्वाङ्गजातं तदयो विरूपमिव त्रियाकोपकरं विषेद ॥ २४ ॥

त्रियल ऊपर उठाए हुए थे । इस ऊटपटांग वेद्यार्थों होनेपर भी तिरुगुणवाणी त्रियल उनकी सेवा कर रहे थे ॥ १६ ॥ उनके गलेमें ब्रह्म रूपालोकी एक पुरानी माला पड़ी थी जो तिरवर बसे हुए चन्द्रमाले परसी हुई अमृत धूपे पी-पीटर जीवित सी होकर वेद या रत्नी थी ॥ १७ ॥ सोनेकी नई खताके समान सुन्दर पार्यतांगीको अपनी गोदमें बैठाए हुए वे देते दिग्दर्श पदमे थे मानो चमकती हुई विजलीवाला कोई शरदका बादल हो ॥ १८ ॥ उनके हाथमें वह पिनाक धनुष था जिसने अन्धक नामके मतवाले देवके प्राण ले लिए थे, वहे-वहे दानवोंको मारकर उनकी स्त्रियोंको विधवा बना दिया था, कामदेवकी जलाकर राख कर दिया था और त्रिते दूसरा कोई उठा भी नहीं सकता था ॥ १९ ॥ अन्नमोल मोती और मखियाँही सजावटमें रय-विरंगे दिग्दर्श देवेवाले इस सिंहासनपर थे बैठे हुए थे जिसके नीचे सोनेका पैर-पीड़ा रखी हुआ था और दोनों पोरसे दो गण उनपर चन्द्रकी स्त्रियोंके समान उजले पर्वत हुआ रहे थे ॥ २० ॥ ये बैठे हुए वषे चाकमे उन कुमार कान्तिदेवकी शङ्ख-त्रिया और शङ्खत्रियाका अभ्यास देव रहे थे, जिन्हें शङ्खकी गण भी वहे धामपसे देव रहे थे और वह स्फटिका पर्यंत भी जिनको धारता उतार रहा था ॥ २१ ॥ ऐसे शंकरकी देगर परी देरके लिये इन्द्रका मन भी खलब उठा क्यों कि अथानक इतनी सुख सम्पत्ति इच्छुं देरहर भला किसका मन नहीं खलब उठेगा ॥ २२ ॥ लिये हुए चमरोंके समान अपने सुन्दर सटनों नेत्रोंसे शंकराजीकी देवते हुए इन्द्र, उस धामके पैरके समान सुन्दर लगने लगे जो नीचेमे ऊपरतक मात्रिपोंसे उदा हुआ ही ॥ २३ ॥ अपनी गद्यों कान्तिसे अन्ध-

ततः कुमारं कनकाद्रिसारं पुरंदरः प्रेचय घृताखशखम् ।
 महेश्वरोपान्तिकवर्तमानं शत्रोर्जयाशां मनसा बबन्ध ॥ २५ ॥
 श्रीनीलकण्ठ द्युपतिः पुरोऽस्ति त्वयि प्रणामावसरं प्रतीच्छन् ।
 सहस्रनेत्रेऽथ भव त्रिनेत्र दृष्ट्या प्रसादप्रणुणो महेश ॥ २६ ॥
 इति प्रबद्धाञ्जलिरेत्य नन्दी निधाय कक्षामभि हेमवेत्रम् ।
 प्रसादपात्रं पुरतो भविष्युरथ स्मरारातिमुवाच घाचम् ॥ २७ ॥
 पुरा सुरेन्द्रं सुरसङ्घसेव्यं त्रिलोकसेव्यस्त्रिपुरासुरारिः ।
 श्रित्या सुधासारनिधारिणो वतोऽनुजग्राह विलोकनेन ॥ २८ ॥
 किरीटकोटिच्युतपारिजातपुष्पोत्करेणानमितेन मूर्ध्ना ।
 स्वर्गैकबन्धो जगदेकबन्धं तं देवदेवं प्रणाम देवः ॥ २९ ॥
 अनेकलोकैकनमस्क्रियाहं महेश्वरं तं त्रिदशेश्वरः सः ।
 भक्त्या नमस्कृत्य कृतार्थतायाः पात्रं पवित्रं परमं बभूव ॥ ३० ॥
 सुभक्तिभाजामधि पादपीठं प्रान्तक्षितिं नम्रतरैः शिरोभिः ।
 ततः प्रणमः पुरतो गणानां गणाः सुराणां क्रमतः पुरारिम् ॥ ३१ ॥
 गणोपनीते प्रसृणोपदिष्टः शुभासने हेममये पुरस्तात् ।
 प्रापोपविश्य प्रमुदं सुरेन्द्रः प्रसुप्रसादो हि मुदे न कस्य ॥ ३२ ॥

जीकी देवदर इन्द्रने भयना यद्वा माय सराहा पर हमसे उनके शरीर भरमें जो रोमाञ्च हो आया उसे देखकर उन्हें यह डर हुआ कि कहीं इन्द्रायी यह न समझ बैठें कि किसी दूसरी सुन्दरीको देखनेसे रोमांच हो आया इसपर यह सीधिया दह करके रूठ न बैठे ॥ २५ ॥ इसके पश्चात् जब उन्होंने शंकरजीके पास बैठे हुए, सुनेरके समान पलवाले और धध-राख-धारी कुमारको देखा तो उनके मनमें यह आशा होने लगी कि अब हम शत्रुको ध्वंस्य जात होंगे ॥ २५ ॥ इतनेमें अपने सोने का दहा एक कोनेमें रखकर, आगे यदकर और हाथ जोड़कर, शंकरजीकी कृपा पानेकी इच्छासे नन्दीने शंकरजीसे जाकर कहा कि हे गोलकंड ! देवताओंके रक्षामी इन्द्रदेव आपको प्रणाम करनेकी बात जोहते हुए यहाँ रुके हुए हैं, इसलिये कृपा करके इनकी ओर भी अपनी कृपादिष्टि पुत्रां ज्ञिपुता ॥ २५-२७ ॥ यह सुनकर त्रिपुर राक्षसका नाश करनेवाले, संसारके पूत्रनीय शंकर भगवानने देवताओंके पूबनीय इन्द्रको अपनी भद्रतकी धारा पारसाती हुई सी दृष्टिसे देखकर अनु-गृहीत किया ॥ २८ ॥ स्वर्गमें त्रिनकी सय पूजा करते हैं, ये देवराज इन्द्र, जब सारे संसारके एक साथ पूत्रनीय और देवताओंके देवता महादेवजीकी प्रणाम करनेके लिये हुंके तो उनके मस्तकके त्रिनेत्रकी नीचने पारिजातके मूलसे फूट गिरकर बिखर गए ॥ २९ ॥ सब लोकोंके एक साथ पूत्रनीय भगवान् शंकरकी भक्तिसे साथ प्रणाम करके स्वर्गके रक्षामी इन्द्रने अपनेको परम पवित्र और धन्य समझा ॥ ३० ॥ और दूसरे देवताओंने भी प्रणय आदि गणोंके देवता-देवता यहाँ भक्तिसे शंकरजीके पिर रत्नके पीठके पास धरतीपर माथा टेककर दाहि-याहीने उन्हें प्रणाम किया ॥ ३१ ॥ यह सब हो चुकनेपर शंकरजीको आशा पाकर एक गण जाकर एक आसन उठा लाया बितपर

क्रमेण चान्येऽपि विलोकनेन संभाविताः सस्मितमोरवरेण ।
 उपाविशँस्तोपविशेषमाप्ता दृग्गोचरे तस्य सुराः समग्राः ॥ ३३ ॥
 अथाह देवो बलवैरिमुख्यान्गीर्वाणवर्गांकरुणार्द्रचेताः ।
 कृताञ्जलीकानसुरामिभूतान्ध्वस्तश्रियः श्रान्तमुखानवेक्ष्य ॥ ३४ ॥
 अहो चतानन्तपराक्रमाणां दिवोकसो वीरवरायुधानाम् ।
 द्विमोदधिन्दुग्लपितस्य किं यः पद्मस्य दैन्यं दधते मुखानि ॥ ३५ ॥
 स्वर्गोकसः स्वर्गपरिप्लुताः किं स्वपुण्यराशौसुमहत्तमेऽपि ।
 चिह्नं चिरोढं न तु यूयमेते निजाधिपत्यस्य परित्यजन्वम् ॥ ३६ ॥
 दिवोकसो देवगृहं विहाय मनुष्यसाधारणतामवाप्ताः ।
 यूयं कृतः कारणतथरघ्वं महीतले मानभृतो महान्तः ॥ ३७ ॥
 अनन्यसाधारणसिद्धसुखैस्तदैवतं धाम निकामरम्यम् ।
 कस्मादकस्मानिरगाद्भयद्भ्यश्चिरार्जितं पुण्यमिवापचारात् ॥ ३८ ॥
 दिवोकसो वो हृदयस्थ कस्मात्तथाविधं धैर्यमहार्यमार्याः ।
 अगादगाधस्य जलाशयस्य ग्रीष्मातितापादिवशादिवाम्भः ॥ ३९ ॥
 सुराः सुराधीशपुरःसरत्वां समीयुषां वः सममातुराणाम् ।
 तद्भ्रूत लोन्वपजित्वरात्रिकं महासुराचारकतो विरुद्धम् ॥ ४० ॥

बैठकर हृन्को यदा शानन्द हुआ । भला शंकरजीका प्रसाद पाकर कौन अपनेको धन्य नहीं मानेगा
 ॥ ३९ ॥ सब देवताओंकी ओर भारी-भारोसे मुस्कराते हुए बैठकर शंकरजीने उन सबको भी सम्मान
 किया । इससे वे सब भी बड़े प्रसन्न होकर उनकी शालीके सामने ही बैठ गए ॥ ३३ ॥ इन्द्रादि
 जो देवता हाथ जोड़े आगे बैठे हुए थे और देवोंसे हार जानेके कारण जिनके मुँह उदास और
 दुस्त दिखाई पड़ रहे थे उनकी ओर देखकर करुणासे पिचले हुए हृदयवाले शिवजी बोले—
 ॥ ३४ ॥ हे देवताओ ! इतने बड़े बड़े वीर होकर, एकते एक बढ़कर सब शर्तों से सजधजक और
 स्वर्गमें रहकर भी आप लोगों के मुख पाका मारे हुए कमलोंके समान उदास क्यों दिखाई दे रहे
 हैं ॥ ३५ ॥ हे देवताओ ! इतने बड़े पुण्य करनेपर भी आप लोग स्वर्गसे निकल कैसे आए ।
 आप लोग इतने दिनों से जो पुर धर और आदि राज-चिह्न रखते आ रहे थे । उन्हें आप लोग
 छोड़िए मत ॥ ३६ ॥ आप लोग इतने मनस्यो, महिमाशाली और स्वर्ग-निवासी होकर भी स्वर्ग
 छोड़कर साधारण मनुष्योंके समान पृथ्वीतलपर इधर-उधर क्यों मारे-मारे फिर रहे हैं ॥ ३७ ॥
 जैसे पाप करनेसे बहुत दिनोंसे इच्छा किया हुआ पुण्य हाथसे निकल जाता है, वैसे ही यदी-पदी
 सिद्धियों से बरा हुआ यदा सुन्दर स्वर्ग भी आप लोगोंके हाथसे अचानक कैसे निकल गया ॥ ३८ ॥
 हे देवताओ ! जैसे बहुत गर्मी पड़नेसे गढ़वा साजाम भी सूत जाता है, वैसे ही आप लोगोंके
 हृदयमें इन्दीवाला यह यदा भारी भ्रूल भोजन बर्हो चला गया ॥ ३९ ॥ आज क्याकुछ होकर
 एक साथ आप हुए इन्द्र भादि देवताओ ! आप पर वो पलाइए कि आप लोगोंने सोनें छोड़ें

पराभवं तस्य महासुरस्य निषेदुमेकोऽहमलं भविष्युः ।

दावानलप्लोपविपत्तिमन्यो महाम्बुदार्तिक हरते वनानाम् ॥ ४१ ॥

इतीरिते मन्मथमर्दनेन सुराः सुरेन्द्रप्रमुखा मुखेषु ।

सान्द्रप्रमोदाश्रुतरङ्गितेषु दधुः श्रियं सत्वरमाश्वसन्तः ॥ ४२ ॥

ततो गिरीशस्य गिरां विरामे जगाद लब्धेऽवसरे सुरेन्द्रः ।

भवन्ति वाचोऽवसरे प्रयुक्ता ध्रुवं फलाविष्टमहोदयाय ॥ ४३ ॥

ज्ञानप्रदीपेन तमोपहेनाविनश्वरेणास्खलितप्रमेण ।

भूतं भवद्भावि च यच्च किञ्चित्सर्वज्ञ सर्वं तव गोचरं तद् ॥ ४४ ॥

दुर्वारदौरुध्यमदुःसहेन यत्तारकेणामरघस्मरेण ।

तदीशतामाप्तवता निरस्ता वयं दिवोऽमी वद किं न वेत्सि ॥ ४५ ॥

विधेरमोचं स वरप्रसादमासाद्य सद्यस्त्रिजगज्जिगीषुः ।

सुरानशेषानहकप्रमुख्यान्दोर्दण्डचण्डो मनुते तृणाय ॥ ४६ ॥

स्तुत्या पुरास्माभिरपासितेन पितामहेनेति निरूपितं नः ।

सेनापतिः संयति दैत्यमेतं पुरः स्मरारातिसुतो निहन्ति ॥ ४७ ॥

अहो ततोऽनन्तरमद्ययावत्सुदुःसहां तस्य पराभवातिम् ।

निषेहिरे हन्त हृदन्तशून्यमाज्ञानिवेशं त्रिदिवौकसोऽमी ॥ ४८ ॥

को ज्योतिषवाले दैत्यराज चारकसे मन्नादा तो मोल नहीं ले लिया है ॥ ४० ॥ देखिए, उस महा-
 दैत्यने आप लोगोंकी भी अपमान किया है उसका बदला लेवल मैं ही ले सकता हूँ क्यों कि जगज्जो-
 में जगो हुई आंग चादलोंकी यही पटाकी छोड़कर और कीज युक्त सकता है ॥ ४१ ॥ शकरी-
 के देसा कहनेपर इन्द्र आदि सभी देवताओंकी शक्तियों कायन्त आगन्धके शक्ति छलाड़ल आप
 और जब उन्हें यह दादस दे दिया गया कि आप आप लोगोंकी प्राय-रक्षा हो जायगी तो वे सब
 पिल टडे ॥ ४२ ॥ भगवान् शकके कह सुननेपर ठीक अबसर जानकर इन्द्रने कइना आरम्भ
 किया, क्योंकि अबसरपर कहा टुई बातका अवश्य ही ठीक फल मिलता है—॥ ४३ ॥ हे प्रभु !
 आप घट-घटको जाननेवाले हैं, आप अज्ञानको मिगनेवाले हैं, आपका कभी नाश नहीं होता,
 और अपने कभी न बुझनेवाले ज्ञानके प्रकाशसे आप सत्तारके भूल, भविष्य और वर्तमान इन
 तीनों बाजोंकी सय यतें जान जाते हैं ॥ ४४ ॥ इसलिये हे नाथ ! यह तो आप जानते ही होंगे
 कि अपने कटोर वादुपलके पराश्रमसे मतवाला होकर, देवताओंकी पीडा देनेवाला धारक असुर,
 स्वर्गका मालिक बन बैठा है और उसने हम सबको स्वर्गसे निकाल भगाया है ॥ ४५ ॥ यह तारक
 असुर मझारे अपक घदान पाकर अपने भुजाओंके दलले सुरत तोंन लोगोंकी जीव लेना
 चाहता है और मुझे तथा दूसरे सब सब देवताओंको भी तिनके परापर सुख समझता है ॥ ४६ ॥
 हे भगवान् ! हम लोगोंने पहले जय मगान भी श्रुति की थी तप उन्होंने प्रसन्न होकर हमें
 मझाया था कि जब शकरीका पुत्र देवताओंका सेनापति बनकर उससे लड़ेगा तभी यह दैत्य मारा
 जायगा ॥ ४७ ॥ सबसे आखतक सब देवता आंग चारक असुरने आपसे दारनेकी कसक और

निदाघधामङ्गपविकलवानां नवीनमम्भोदमिवौषधीनाम् ।
सुनन्दनं नन्दनमात्मनो नः सेनान्यमेतं स्वयमादिश त्वम् ॥ ४९ ॥
त्रैलोक्यलक्ष्मीहृदयैकशून्यं समल्लघुत्वाय महासुरं तम् ।
अस्माकमेपां पुरतो भवन्सन्दुःखापहारं सुधि यो विधत्ते ॥ ५० ॥
महाहवे नाथ तवास्प सूनोः शस्त्रैः शितैः कृत्तशिरोधरायाम् ।
महासुराणां रमणीविलापैर्दिशो दशैता मुखरीभवन्तु ॥ ५१ ॥
महारणचोष्णिपशूपहारीकृतेऽसुरे तत्र तवात्मजेन ।
वन्दिस्थितानां सुदृशां करोतु धेयीप्रमोहं सुरलोक एषः ॥ ५२ ॥
इत्थं सुरेन्द्रे वदति रमरारिः सुरारिदुश्चेष्टितजातरोषः ।
कृतानुकम्पस्त्रिदशेषु तेषु भूयोऽपि भूताधिपतिर्धर्मापे ॥ ५३ ॥
अहो अहो देवमन्याः सुरेन्द्रमूर्ख्याः शृणुष्वं वचनं ममैते ।
विचेष्टते शंकर एष देवः कार्पाय सज्जो भवतां सुताद्यैः ॥ ५४ ॥
पुरा मयाकारि गिरीन्द्रपुत्र्याः प्रतिग्रहोऽयं नियतात्मनापि ।
तत्रैष हेतुः खलु तद्भवेन वीरेण यद्वध्यत एव शत्रुः ॥ ५५ ॥
अत्रोपपन्नं तदमी निघृज्य कुमारमेनं पृतनापवित्त्वे ।
निघ्नन्तु शत्रुं सुरलोकमेव भुनक्तु भूयोऽपि सुरैः सहेन्द्रः ॥ ५६ ॥

इदमर्थे सुमे हुए गाँसके समान बसनेवाली उसकी आज्ञाका अपमान सहते चले आ रहे हैं ॥ ४८ ॥ इसलिये हे भगवन् ! जैसे गर्मीके सूर्यकी तपनसे जले हुए लता वृक्षोंको नये वादल हरा कर देते हैं वैसे ही अपने इस आनन्द-दायक पुत्रको हमारे सेनापति बननेकी आज्ञा देकर आप भी हमें जिला खीजिए ॥ ४९ ॥ ताँतो लोकोके हृदयमें खींटेके समान सुमनेवाले इस महा-दैत्यको जब आपने ये पुत्र मुदयमें छातो बंधकर मार डालेंगे तभी हमारा दुःख मिट पावेगा ॥ ५० ॥ हे नाथ ! ऐसा कीजिए कि जब इस महासंग्राममें आपके पुत्रके लुञ्जने बाणोंसे महादैत्योंके स्त्रि-कट-कटकर गिरें तब उन दैत्योंकी स्त्रियोंके विलापसे दसों दिशाएँ गूँज उठें ॥ ५१ ॥ और जब आपके पुत्र उस महासगर-भूमिमें उन दैत्योंको स्त्रियार छादि जन्मुओंकी गोट बंदारे तब स्वर्गमें पक्षी यनी हुई अपनी सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंकी उलझों हुई एकलक्षी चोस्त्रियोंको ये देवता लोग जाकर सोलें ॥ ५२ ॥ इस प्रकार इन्द्रके मुँहसे तारबका आवाचार सुनकर भूतापति शंकरकी ओपसे डाल हो उठे और उन देवताओंपर कृपा करके हुए ये फिर बोले ॥ ५३ ॥ हे इन्द्र चादि देवताओं ! आप लोग मेरी बातें सुनिए । अब मैं शंकर, अपने पुत्रको लेकर तुम्हारा काम करनेके लिये सैवार हो गया हूँ ॥ ५४ ॥ हे देवो ! समाधिमें लगे होनेपर भी मैंने पापोंके साथ इत्सलिये पिताह किया था कि इनका पुत्र तारकको मार डाले ॥ ५५ ॥ इसलिये आपका काम करनेवाले इस कुमारको सेनापति बनाकर आप कटुका नाथ खीजिए और इन्द्रके साथ फिर स्वर्गका आनन्द खीजिए ॥ ५६ ॥ इतना बंधकर शंकरोंने उस घोर संग्रामको एक महोत्सव

इत्युदीर्य भगवोस्तमात्मर्जं घोरसंगरमहोत्सवोत्सुकम् ।

नन्दनं हि जहि देवविद्विषं संपतीति निजगाद शंकरः ॥ ५७ ॥

शासनं पशुपतेः स कुमारः स्वीचकार शिरसावनतेन ।

सर्वथैव पितृभक्तिरतानामेष एव परमः खलु धर्मः ॥ ५८ ॥

असुरयुद्धविधौ त्रिभुवेश्वरे पशुपतौ वदतीति तमात्मजम् ।

गिरिजया मुमुदे सुतविक्रमे सति न नन्दति का खलु वीरध्वः ॥ ५९ ॥

सुरपरिवृढः प्रौढं वीरं कुमारमुमापतेर्बलवदमरारातिस्त्रीणां दृगञ्जनभञ्जनम् ।

जगदभयपदं सद्यः प्राप्य प्रमोदपरोऽभवद्भुवमभिमते पूर्ये को वा मुदा न हि माद्यति ॥ ६० ॥

इति महाकविधीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये

कुमारसेनापत्यवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ॥

धपने पुत्रसे कहा—हे पुत्र! तुम जाकर देवताओंके शत्रु तारक असुरको युद्धभूमिमें मार आओ ॥ ५७ ॥

कुमार कार्तिकेयने सिर सुकाकर शंकरजीको आज्ञा स्वीकार कर ली । क्योंकि पिताके मङ्ग पुत्रको यही

सच्चा धर्म है कि पिताको आज्ञा मान लें ॥ ५८ ॥ सब देवताओंके स्वामी शिवजी जब अपने पुत्रको

देख्येसे युद्ध करनेकी बात समझाने लगे तो पार्यतोजाकी दाता दूनी हो गई, क्योंकि मला कीन ऐसी

वीर माता होगी जो अपने पुत्रकी वीरताकी बातसे प्रसन्न न हो ॥ ५९ ॥ बलवान् देवोंकी शत्रुओंको

हलाकर उनके शत्रुसे उनकी शत्रुओंको श्रौंजन मिटानेवाले तथा संसारको अमय दान देनेवाले परम

पराक्रमी कुमार कार्तिकेयको पाकर हृद्द भगवान् आनन्दसे तिल ढटे, क्योंकि संसारमें ऐसा कीन है

जो अपनी हृद्दा पूरी हो जानेपर आनन्दसे पागल न हो उठता हो ॥ ६० ॥

महाकवि धीकालिदासके रचे हुए कुमार-संभवे महाकाव्यमें कुमारके सेनापति

होनेका वर्णन नामका अरहर्वाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥



त्रयोदशः सर्गः

प्रस्थानकालोचितचारुवेषः स स्वर्गिवर्गैरनुगम्यमानः ।
 ततः कुमारः शिरसा नतेन त्रैलोक्यभर्तुः प्रणनाम पादौ ॥ १ ॥
 जह्नीन्द्रशत्रुं समरेऽमरेशपदं स्थिरत्वं नप वीर वत्स ।
 इत्याशिषा तं प्रणमन्तमीशो मूर्धन्युपाघ्राय भृदाभ्यनन्दत ॥ २ ॥
 प्रह्वीभवन्नव्रतरेण मूर्धा नमश्चकाराङ्घ्रियुगं स्वमातुः ।
 तस्याः प्रमोदाश्रुपयःप्रवृष्टिस्तस्याभवद्दीरवराभिपेकः ॥ ३ ॥
 तमङ्कमारोप्य सुता हिमाद्रेराश्लिष्य गाढं सुतवत्सला सा ।
 शिरस्युपाघ्राय जगाद शत्रुं जित्वा कृतार्थीकुरु वीरध्वं माम् ॥ ४ ॥
 उद्दामदैत्येशविपत्तिहेतुः श्रद्धालुचेताः समरोत्सवस्य ।
 श्रापुच्छ्वय भवत्या गिरिजागिरीशौ ततः प्रतस्वेऽभि दिवं कुमारः ॥ ५ ॥
 देवं महेशं गिरजां च देवीं ततः प्रणम्य त्रिदिवौकसोऽपि ।
 प्रदक्षिणीकृत्य च नाकनाथपूर्वाः समस्तास्तमथानुजग्मुः ॥ ६ ॥
 श्यथ ब्रजद्विस्त्रिदशैरशेषैः स्फुरत्प्रभाभामुरमण्डलैस्तेः ।
 नभो चभासे परितो विकीर्णं दिवापि नक्षत्रगणैरिवोग्रैः ॥ ७ ॥

तेरहवाँ सर्ग

लकाईका याना पदनकर और सब देवताओंके आगे होकर कुमारने पहले समय तीनों लोकोंके स्वामी शिवजीके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ १ ॥ प्रणाम करते हुए पुत्रको उठकर और उसका सिर सूँघकर शिवजीने यह आशीर्वाद देवे हुए कुमारको उल्लासित किया कि हे वीर पुत्र ! माको सुदमें इन्द्रके शत्रुको मारो और इन्द्रको उनके पदपर किरसे मल्लीगति दीज दो ॥ २ ॥ जिय समय कुमार अपने पिताजीके दोनों चरणोंमें हुककर माथा टेके हुए प्रणाम कर रहे थे उस समय शिवजीकी आँखोंसे प्रेमके आँसू धरते वन आँसुघोंके जलसे ही मानो सेनापति पदके लिये कुमारका अभिपेक हो गया ॥ ३ ॥ अपने पुत्रका छाड़-प्यार करनेवाली पार्वतीजीने कुमारको गोदमें लेकर कमर अपने हृदयके क्षण लिया और उसका माथा सूँघकर आशीर्वाद दिया—हे पुत्र खकारने शत्रुको जीतकर यह बात सबकी का दो कि मैं वीरकी माता हूँ ॥ ४ ॥ तब उस बलवान् देवताको मारने और संभ्रामन्तपो उल्लस्य मनानेके लिये उठावले वने हुए कुमार, वही भक्तिये अपने माता पितासे आशा लेकर स्वर्गको और चल पड़े ॥ ५ ॥ इन्द्र आदि सब देवता भी भगवान् शंकर और भगवती पार्वतीजीको प्रणाम करते और उनकी प्रदक्षिणा करके कुमारके पीछे पीछे चल पड़े ॥ ६ ॥ तब आठों और दैत्यों हुर्द फलितपाछे वन सब देवताओंके एक साथ चलनेसे आकार देना लगने लगा मानो दिगमें अमरदेवाले पड़े-पड़े तारे पाये और निकल आए दो ॥ ७ ॥ पापायों पहले हुए देवताओंके

रराज तेषां ब्रजतां सुराणां मध्ये कुमारोऽधिककान्तिकान्तः ।
 नचत्रताराग्रहमण्डलानामिव त्रियामारमणो नभोन्ते ॥ ८ ॥
 गिरीशगौरीतनयेन सार्धं पुलोमपुत्रीदयितादयस्ते ।
 उचीर्यं नचत्रपथं मृहृतात्प्रपेदिरे लोकमथात्मनीनम् ॥ ९ ॥
 ते स्वर्गलोकं चिरकालदृष्टं महासुरत्रासवशंवदत्वात् ।
 सद्यः प्रवेष्टुं न विपेहिरे तत्त्वर्णं व्यलम्बन्त सुराः समग्राः ॥ १० ॥
 पुरो भव त्वं न पुरो भवामि नाहं पुरोगोऽस्मि पुरःसरस्त्वम् ।
 इत्थं सुरास्तत्त्वर्णमेव भीताः स्वर्गं प्रवेष्टुं कलहं वितेनुः ॥ ११ ॥
 सुरालयालोकनकौतुकेन मुदा शुचिस्मेरविलोचनास्ते ।
 दधुः कुमारस्य मुखारविन्दे दृष्टिं द्विपत्साध्वमकातरान्ताम् ॥ १२ ॥
 सहेलहासच्छुरिताननेन्दुस्ततः कुमारः पुरतो भविष्युः ।
 स तारकापातमपेक्षमाणो रणप्रवीरो हि सुरानवोचत् ॥ १३ ॥
 मोत्पालमद्य त्रिदिवौकसोऽग्नी स्वर्गं भवन्तः प्रविशन्तु सद्यः ।
 अत्रैव मे दक्षपथमेतु शत्रुर्महासुरो वः सलु दृष्टपूर्वः ॥ १४ ॥
 स्वर्लोकलक्ष्मीकचर्षणाय दोर्मण्डलं वग्नाति यस्य चण्डम् ।
 इहैव तच्छोणितपानकेलिमहाय कुर्वन्तु शरा ममैते ॥ १५ ॥

पीचमें अपनी धरतन्त धमकसे सुन्दर दिग्राई पपनेवाले कुमार काविज्ञेय ऐसे जगते थे मानो नरुण
 और तारोंके थोचमें चन्द्रमा चले जा रहे हों ॥ ८ ॥ कुमारके पीछे-पीछे इन्द्र आदि देवता घोड़ी ही
 देसों आकाश पार करके स्वर्गलोक जा पहुँचे ॥ ९ ॥ दैत्यराज तारकके डरसे देवता स्वर्गमें जा नहीं
 पा रहे थे इसलिये वे मिथ्याकके फारण पृच्छम भोतर न जा सके, घोड़ी देर छिपके रहे ॥ १० ॥ उस
 समय ये सब दरे हुए देवता आपसमें एक दूसरेको धकेलते हुए यह भगवा करने खगे—भुम चढो
 धामे । मैं आगे नहीं चलूँगा । मैं क्यों धामे चढूँ । तुम्हेंकी आगे धामे चञ्जना चाहिये ॥ ११ ॥
 उस समय स्वर्गको सामने देरदर भगन हो उठनेवाले उन देवताओंकी शक्ति धानन्दसे शिख गई
 पर शत्रुके डरसे उनकी शक्ति कातर होकर कुमारके गुल-कमलपर जा पड़ी ॥ १२ ॥ उस समय
 कुमारका गुण चन्द्र सिखवाप भरो हँसीसे शिख उठा और तारकके धानेकी याद जोहते हुए रणपार
 कुमार कातिकेपने धामे होकर देवताओंसे कहा—॥ १३ ॥ हे देवो ! अब दगेकी कोई बात
 नहीं है । आप लोग निरर होकर स्वर्गमें गुस चलिप । मैं चाहता हूँ कि अपने जिस घोर शत्रु
 तारकको आप लोग देव जुके हैं वह वहीं मेरे धामे धा जाय ॥ १४ ॥ मैं तो चाहता हूँ कि जिस
 तारक असुरकी मुजापूँ, बलपूर्वक लक्ष्मीके बाल परदकर उन्हें दुर्दरा करेते हुए खिचनेके लिये मचली
 रहती हूँ, बसका छह पीनेका आनन्द मेरे धामेकी मरसे यहींपर शिख जाय ॥ १५ ॥ और यह
 धामनेवाली, धाम त तेगरिनी, प्रतापशक्तिनी और स्वर्गकोकधी राजलक्ष्मी का कष्ट पुर करनेवाली

शक्तिर्ममासावहतप्रचारा प्रभावसारा सुमहःप्रसारा ।
 स्वर्लोकलक्ष्म्या विपदावहारेः शिरो हरन्ती दिशतान्मुदं वः ॥ १६ ॥
 इत्यन्धकारातिसुतस्य दैत्यवधाय युद्धोत्सुकमानसस्य ।
 सर्वं शुचिस्मेरमुखारविन्दं गीर्वाणवृन्दं वचसा ननन्द ॥ १७ ॥
 सान्द्रप्रमोदात्पुलकोपगूढः सर्वाङ्गसंकुल्लसहस्रनेत्रः ।
 तस्योचरीयेण निजाम्बरेण निरुञ्चनं चारु चकार शक्रः । १८ ॥
 धनप्रमोदाश्रुतरंगिताक्षैर्मुसैश्चतुर्भिः प्रचुरप्रसदैः ।
 अथो अत्रुम्बद्विधिरादिवृद्धः पटाननं पट्सु शिरःसु चित्रम् ॥ १९ ॥
 तं साधु साध्वित्यमितः प्रशस्य मुदा कुमारं त्रिपुरासुरारेः ।
 आनन्दयन्वीर जवेति वाचा गन्धर्वविद्याधरसिद्धसंघाः ॥ २० ॥
 दिव्यर्षयः शत्रुविजेप्यमाणं तमम्पनन्दनिकल नारदाद्याः ।
 निरुञ्चनं चक्रुरथोचरीयेशामीकरीपैर्निजवन्कलैश्च ॥ २१ ॥
 ततः सुराः शक्तिधरस्य तस्यावष्टम्भतः साध्वसमुत्सृजन्तः ।
 उत्सेहिरे स्वर्गमनन्तशक्तेर्गन्तुं वनं यूथपतेरिवेमाः ॥ २२ ॥
 अथाभिपृष्टं गिरिजासुतस्य पुरंदरारातिवधं चिकीर्षीः ।
 सुरा निरीघृष्टिपुरं दिधक्षोरिव स्मरारेः प्रमथाः समन्तात् ॥ २३ ॥

जो मेरी शक्ति है वह यहीपर शयुका सिर काटकर साप लोगोंको धानन्द दे ॥ १६ ॥ देवोंका नाष्ट करनेकी ह्वाते जो लड़ाई करनेपर उतारू हो रहे थे उन कुमारकी ये बातें सुनकर देवताओंके सुन्दर मुख-कमल खिल उठे, और ये प्रसन्न हो गए ॥ १७ ॥ अचान्त आनन्दके फलण हृद भी पुलकित हो उठे और उनके शरीरकी सप आँसु खिल उठीं। तब हृद भी कुमारके धारसमें एक दूसरेसे बड़ा बदलकर अपनी मित्रता परकी कर ली ॥ १८ ॥ देवताओंमें सयते बड़े ब्रह्मादी आँसु भी आत्यधिक आनन्दसे पहले हुए भाँसुओंकी लहरोंसे दृढ़ लता आई और उनके आँसु मुख प्रसन्नतासे खिल उठे और उन्होंने अपने पाँरों मुखोंसे कुमारके लक्षों मुखोंका विचित्र रंगसे पुग्गन किया ॥ १९ ॥ उस समय गन्धर्व, विद्याधर और विद्वाने कुमारको 'साधु साधु' कह कर बड़े आनन्दके साथ उनको बधाई करते हुए यह कहकर उन्हें आनन्दित्र किया कि हे और ! तुम्हारी जय हो ॥ २० ॥ देवर्षि नारद आदिने भी शयुको जीतनेवाले कुमारकी प्रशंसा की और उनके सुनदले उत्साह आदि पछोंसे अपने पाकर बदलकर उनसे मार्द्देनका नाता जोड़ लिया ॥ २१ ॥ दाभमें शक्ति विष्ट हुए कुमारका इस प्रकार सहारा पाकर, देवता लोग विदर हो गए और ये उरती उग्राहने रशगमें पड़ गए जैसे तिमि शक्तिशाली बड़े हाथोंका सहारा पाकर छोटे हाथों भी खगलमें सुग पकते हैं ॥ २२ ॥ जैसे त्रिपुरासुरको जलानेके लिये जाले समय शम्भुकी पंजे उनके प्रमथ आदि गण पहले से धीने ही ताककी, मारनेकी ह्वा करनेवाले कुमारके पंजे-पंजे देवता लोग भी स्वर्गमें सुग पड़े ॥ २३ ॥

सुराङ्गणानां जलकेलिभाजां प्रचालितैः संततमङ्गरागैः ।
 प्रपेदिरे पिङ्गरवारिपूरां स्वर्गौहसः स्वर्गधुनीं पुरस्तात् ॥ २४ ॥
 दिग्दन्तिनां वारिविहारभाजां कराहतैर्भीमतरैस्तरंगैः ।
 श्राप्लावयन्तीं मुहुरालवालश्रेणिं तरूण्यां निजतीरजानाम् ॥ २५ ॥
 लीलारसामिः सुरकन्यकाभिर्हिरण्ययीभिः सिकताभिरुच्चैः ।
 माश्लिष्यगर्भाभिरुपाहिताभिः प्रकीर्णतीरां वरवेदिकाभिः ॥ २६ ॥
 सौरम्यलुब्धभ्रमरोपगीतैर्हिरण्यहंसावलिकेलिलोलैः ।
 चामीकरीयैः कमलैर्विनिद्रैश्च्युतैः परागैः परिपिङ्गतोयाम् ॥ २७ ॥
 कृतहृत्लाद्द्रष्टुमुपागतामिस्तीरस्थिताभिः सुरसुन्दरीभिः ।
 अभ्यूर्मिराजिप्रतिविम्बिताभिर्मुदं दिशन्तीं व्रजतां जनानाम् ॥ २८ ॥
 ननन्द सद्यश्चिरकालदृष्टां विलोक्य शकः सुरदीर्घिकां ताम् ।
 अदर्शयत्सादरमद्रिपुत्रीमहेशपुत्राय ततः पुरोगः ॥ २९ ॥
 स कार्तिकेयः पुरतः परीतः सुरैः समस्तैः सुरनिम्नगां ताम् ।
 अपूर्वदृष्टामवलोकमानः सविस्मयः स्मेरविलोचनोऽभूत् ॥ ३० ॥
 उपेत्य तां तत्र किरीटकोटिन्यस्ताञ्जलिर्मक्तिपरः कुमारः ।
 गीर्वाणबुद्धैः प्रणुतां प्रणुत्य नम्रेण मूर्धा मुदितो वयन्दे ॥ ३१ ॥

पहले पहल उन्हें वह आभारगाना दिखाई दी जिसका जन, जल-विहार करनेवाली अप्सराओं
 धुले हुए अङ्गोंसे छुटे हुए अङ्गणसे रँग जाया करता है, जिसके जलमें विहार करते सम
 दिग्पालोंके हाथों, जहरोंपर अपनी सूँढ़ पटका करते हैं और जिसकी जहरोंके अङ्गसे तीरपर
 हुए पेड़ोंके पंखले सदा सिंचे रहते हैं, जहाँ जल खेचनेके लिये आई हुई देवकन्याओंके हाथों
 यनी हुई सुनहरे बालकी वे ऊँचो-ऊँची वेदिकाएँ दूर दूर तक यनी हुई थीं जो उन्होंने बीच बीच
 मधि डाल-डालकर अपने खेलके लिये बना रखी थीं, जहाँ सुगन्धके लोभी और सदा सुनसुना
 रहते हैं, सुनहले इस किलोले करते हैं, जहाँ ऐसे सोनेके फसल खिले रहते हैं, जिनके गिरे हुए
 परागसे यहोंजल भी पीजा हो उठता है, जहाँ देवताओंकी सुन्दरियों मन बहलावके सि
 द्या-भाकर तटपर बैठी रहती हैं और तारोंमें पदनी हुई जिनकी परमाईं उपरसे आने-जानेवा
 पथिकोंका जी भी लुभाती है ॥ २४-२८ ॥ इतने दिगोंपर उस देव-नर्तको देखकर हृदय प्रसन्न
 प्रसन्न हो उठे और आने बन्दर आदरके साथ उन्होंने कुमारकी भी यह नदी दिखालाई ॥ २९
 सब देवताओंसे धिरे हुए कार्तिकेयकी इस नदीको सामने देखकर बड़ा अचरज हुआ प्रसन्नता
 उनकी औरों सिल गई ॥ ३० ॥ जिन नदीकी सब देवता स्तुति करते हैं, उस मंदाकिनीके तटपर
 जाकर कुमार कार्तिकेयने सिर मुकाकर आने किरीटके सिरेपर हाथ जोड़कर बड़ी मन्त्रिये प्रसन्न
 होकर उन्हें मणाय किया और उनकी वन्दना की ॥ ३१ ॥ उस समय, जिले हुए कमलोंके

प्रणतितस्मेरसरोजराजिः पुरः परीरम्भमिलन्महोर्मिः ।
 कपोलपालिश्रमवारिहारि भेजे गुहं तं सरितः समीरः ॥ ३२ ॥
 ततो व्रजन्नन्दननामधेयं लीलावनं जम्भजितः पुरस्तात् ।
 विभिन्नभयोद्धृतशालसंधं प्रेक्षांचकार स्मरशत्रुवचुः ॥ ३३ ॥
 सुरद्विपोपप्लुतमेवमेतद्वनं बलस्पः द्विपतो गतश्रि ।
 इत्थं विचिन्त्यारूपलोचनोऽभूद्भ्रूमङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखः स कोपात् ॥ ३४ ॥
 निर्लूनलीलोपवनामपरपद्मःसंचरीभूतविमानमार्गाम् ।
 विध्वस्तसौधप्रचयां कुमारो विश्वैरुसारासमरावर्तौ सः ॥ ३५ ॥
 गतश्रियं धैरिवराभिभूतां दशां सुदीनामगितो दधानाम् ।
 नारीमवीरामिव तामवेक्ष्य स बाढमन्तः करुणापरोऽभूत् ॥ ३६ ॥
 दुद्योष्टिते देवरिपौ सरोपस्तस्याविपण्णः समराय चोक्तः ।
 तथाविधां तां स विवेश परपन्सुरैः सुराधीश्वरराजधानीम् ॥ ३७ ॥
 देतेपदन्त्यावलिदन्तघातैः क्षुण्णान्तराः स्फाटिकहर्म्यपङ्क्तीः ।
 महाहिनिर्मोकपिनद्गजालाः स शीघ्र्य तस्यां विपसाद सद्यः ॥ ३९ ॥
 उत्कीर्णचामीकरपङ्कजानां दिग्दन्तिदानद्रूपितानाम् ।
 हिरण्यहंसवज्रवर्जितानां विदीर्णधैर्यमहाशिलानाम् ॥ ३९ ॥

गणानेवाके, सरंगोंसे गले मिलकर पल्लवनेवाने और गाछोंके पत्तियोंके गुलानेवाले बन मंदाकिनीके मन्द पवनने यहाँ आए हुए कुमारकी सेवा की ॥ ३२ ॥ यहाँसे पञ्चकर क्रांतिकेपने इन्द्रके विद्यासके मन्दन उपवनको देखा । यहाँके सब साजके पेड़ या तो तोड़ डाले गए थे या जड़ते ही उखाड़ डाले गए थे ॥ ३३ ॥ क्रांतिकेपने समस्त क्रिया कि तारकानुरके श्रवणधारसे ही इन्द्रके इस सुन्दर पनकी शोभा विगड़ गई है । यह सोचते ही मारे कोपके डनका मुँह लमतमा उठा, भौंहे सन गई और धौलें लाल हो उठीं ॥ ३४ ॥ यहाँसे और आगे बढ़कर कुमारने विश्वकी सर्वश्रेष्ठ नगरी धनरापतीको देखा जिसके लीला-उपवन सहस्र नदिस कर ढाँचे गए थे, ऊँचे ऊँचे भवन गिः।। दिष्ट गए थे और सब ऐसा उजाड़ हो गया था कि उपर रिमानपर चढ़कर जानेकी भी जी नहीं करता था ॥ ३५ ॥ तारकके हाथों उजाड़ो हुईं उत नष्ट-भ्रष्ट और सुनसान नगरीकी देववर क्रांतिकेपकी उरती प्रहार यही दया आई जैसे किसी नपुंसककी खाँकी देरकर दया आती है ॥ ३६ ॥ धनरापतीको यह दुर्दशा देखते ही कुमार उस दुराचारी देववर बड़े क्रुद्ध हो उठे और बुद्धके क्रिये बड़े उतारछेते होकर ये देवताओंकी राजधानीमें घुसे ॥ ३७ ॥ यहाँके स्फाटिकके बने हुए चढ़े चढ़े भवन देवोंके हाथियोंके दौलोंकी टरखोंसे लदक गए थे और जहाँतहाँ चढ़े-चढ़े सर्गियोंके कुचुलियों सुटी पती थीं । यह सब देरकर कुमारको बड़ा दुःख हुआ ॥ ३८ ॥ उन्होंने देखा कि देवताओंके विद्यास-पराँवों पनी हुईं बाघक्रियोंसे सोनेके कमल उखाड़ डाले गए थे, दिग्गजोंके मारते डनका जघ गेंदुहा हो गया था, सुनहरे हंस यहाँसे उड़ गए थे, पत्तोंकी बनो बनी पट्टिें भी टूट-टूट गई थीं और धारों और

आविर्भवद्बालवृणाश्रितानां तदीयलीलागृहदीर्घिकायाम् ।
 स दुर्दशां वीक्ष्य विरोधिजातां विपादवैलक्ष्यभरं वभार ॥ ४० ॥
 तदन्तिदन्तक्षतहेममिसि सुतन्तुजालाकुलरत्नजालाम् ।
 नित्ये सुरेन्द्रेण पुरोगतेन स वैजयन्तामिधमात्मसौधम् ॥ ४१ ॥
 निर्दिष्टवर्मा विबुधेश्वरेण सुरैः समग्रैरनुगम्यमानः ।
 स प्राविशत्तं विविधारमरिमच्छिन्नेन सोपानपथेन सौधम् ॥ ४२ ॥
 निसर्गकल्पद्रुमतोरुखं तं स पारिजातप्रसवस्रगाढाम् ।
 दिव्यैः कृतस्वस्त्ययनं मुनीन्द्रैरन्तःप्रविष्टप्रमदं प्रपेदे ॥ ४३ ॥
 पादौ महर्षेः किल कश्यपस्य कुलादिवृद्धस्य सुरासुराणाम् ।
 प्रदक्षिणीकृत्य कृताञ्जलिः सन्पङ्क्तिभिः शिरोभिः स नतैर्वचन्दे ॥ ४४ ॥
 स देवमातुर्जगदेकत्वन्धौ पादौ तथैव प्रणयान कामम् ।
 मुनेः कलत्रस्य च तस्य भक्त्या प्रह्वीभवश्शैलसुतातनूजः ॥ ४५ ॥
 स कश्यपः सा जननी सुराणां तमेघयामासतुराशिषा द्वौ ।
 तथा यथा नैकजगद्विजगीपुं जेता मृधे तारकमुग्रवीर्यम् ॥ ४६ ॥
 स्वदर्शनार्थं समुपेधुपीणां सुदेवतानामदितिश्रितानाम् ।
 पादौ वचन्दे पतिदेवतास्तमाशीर्वचोभिः पुनरम्यनन्दन् ॥ ४७ ॥

छोटी छोटी घास डग धाई थी। शत्रुओंके हाथों यहाँकी यह दुर्दशा देखकर उनका मन दुःखसे भारी हो
 उठा ॥३९,४०॥ तब इन्द्र भगवान्, कुमारको अपने उस वैजयन्त नामके मन्त्रमें ले कर यहाँकी सुनहली
 दीवालके दीपोंके हाथियोंके दाँतोंकी टखरोंसे फट गई थी और जहाँ मकड़ियोंने जाड़े तान दिए थे ॥ ४१ ॥
 धाने धाने हुन् चले रहे थे और पांटे पांटे सब देवता चले जा रहे थे। इस प्रकार यहाँकी चमकते
 सुहावनी लगनेवाली सोड़ियों पर चढ़कर कुमार उस मन्त्रमें जा पहुँचे ॥ ४२ ॥ सब लोग उस सुन्दर
 भजनमें पहुँचे जहाँ कल्पवृक्ष की स्वयं बन्दनवार बना हुआ था, जहाँ डेरके डेर पारिजातके फूल बिल्ले
 पड़े थे, जहाँ देवपियोंने स्थिति-पाठ किया था और जहाँ एकने एक चढ़कर अस्तराएँ रहती थीं ॥४३॥
 यहाँपर देव दानव वशके सपसे सड़े सड़े महर्षि कश्यपके चरणोंकी प्रदक्षिणा करके कुमारने अपने धर्मों
 सिरोंसे उन्हें प्रणाम किया ॥ ४४ ॥ कुमारने यहाँ भक्तिसे कश्यपकी स्त्री और देवोंकी आदि माता
 अदितिके डन चरणोंकी भी मज्जी मँसि प्रणाम किया जिन्हें तारा संसार प्लवः है ॥ ४५ ॥ सब
 कश्यप और देव-माता अदितिने कुमारको यह आशीर्वाद देकर उनका साहस बढ़ाया कि तीनों लोकोंके
 जीतनेवाले इस शक्तिशाली तारक धर्मुरकी तुम मुझमें सबरत हराओगे। ४६ ॥ यहाँ अदितिके यहाँ
 और जो देवाङ्गनाएँ रहती थीं वे भी कुमारको देनेके लिये आ पहुँचीं। कुमारने उन सबको प्रणाम
 किया और उन सब पतिमता स्त्रियोंने कुमारकी आशीर्वाद देकर उनका बड़ा भाग बढ़ाया ॥ ४७ ॥
 तब कुमारने इन्द्रकी पत्नी शर्षाकी प्रणाम किया और उन्होंने भी आशीर्वाद देकर इनका भाग बढ़ाया

पुलोमपुत्रीं विबुधाधिभर्तृस्ततः शचीं नाम कलत्रमेव ।

नमश्चकार स्मरशत्रुसुनुस्तमाशिषा सा समुपाचरत् ॥ ४८ ॥

अथादितीन्द्रप्रमदाः समेतास्ता मातरः सप्त घनप्रमोदाः ।

उपेत्य भक्त्या नमते महेशपुत्राय तस्मै ददुराशिषः प्राक् ॥ ४९ ॥

समेत्य सर्वेऽपि मुदं दधाना महेन्द्रमुख्यास्त्रिदिवीकसोऽथ ।

आनन्दकञ्जोलितमानसं तं समस्यपिञ्चन्वृतनाधिपत्ये ॥ ५० ॥

संकलविबुधलोकः सस्तनिःशेषशोकः कृतरिपुविजयाशः प्राप्तयुद्धानकाशः ।

अजनि हरसुतेनानन्तवीर्येण तेनाखिलविबुधचमूनां प्राप्य लक्ष्मीमनुत्ताम् ॥ ५१ ॥

इति महाकवि श्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाण्डे कुमार-
सेनापत्याभिषेको नाम त्रयोदशः सर्गः ।

॥ ४८ ॥ तब कुमारने करवपनीकी उन सातों पत्नीयोंके पाव जाकर बड़े भक्तिसे प्रणाम किया जो बड़े आनन्दसे भरी बहों डकड़ी बैठी हुई थीं। उन्होंने प्रणाम करनेसे पहले ही कुमारको विनय पानेका आशीर्वाद दे दिया था ॥ ४९ ॥ उस समय इन्द्र आदि सभी देवताओंने आनन्दके साथ इच्छे होकर हंसगुर कुमार कार्तिकेयको धपना सेनापति बना दिया ॥ ५० ॥ इस प्रकार जब रामन्व शक्ति-राजी कुमार कार्तिकेय, देवताओंकी सम्पूर्ण सेनाके सेनापति हो गए तो देवताओंकी विश्वास हो गया कि अब हम लोग युद्धमें शत्रुओंकी हारवप जीत लेंगे थीर यह समझकर उनका सब शोक भी जाता रहा ॥ ५१ ॥

महाकवि श्रीकालिदासने रचे हुए कुमारसंभव महाकाण्डमें सेनापतिका
अभिषेक नामका तीरहर्षा सर्ग सम्पन्न हुआ ।



चतुर्दशः सर्गः

रणोत्सुकैरान्धकश्शुभ्रनुना समं प्रयुक्तैस्त्रिदशैर्जिगीषुणा ।
 महासुरं तारकसंज्ञकं द्विपं प्रसह्य हन्तुं समनह्यत हृतम् ॥ १ ॥
 स दुर्निवारं मनसोऽतिवेगिनं जयश्रियः संनयनं सुदुःसहम् ।
 विजित्वरं नाम तदा महोरथं धनुर्धरः शक्तिधरोऽध्वरोहयत् ॥ २ ॥
 सुरालयश्रीविपदां निवारणं सुरारिसंपत्परितापकारणम् ।
 केनापि दध्रेऽस्य विरोधिदारणं सुचारुचामीकरधर्मवारणम् ॥ ३ ॥
 शरच्चरच्चन्द्रमरीचिपाण्डुरैः सु धीज्यमानो वरचोरुचामरैः ।
 पुरःसरैः किंनरसिद्धचारुणै रयेच्छुरस्तूयत वाम्भिरुज्वणैः ॥ ४ ॥
 प्रयागकालोचितचारुवेपथुद्वजं वहन्पर्वतपक्षदारणम् ।
 ऐरावतं स्फाटिकशैलसोदरं ततोऽधिरुह्य ध्रुपतिस्तमन्वगात् ॥ ५ ॥
 तमन्वगच्छद्गुगिरिशृङ्गसोदरं मदोद्धतं मेपमधिष्ठितः शिखी ।
 विरोधिविद्वेषेरुषाधिकं ज्वलन्महोमहीपस्तरमायुधं दधत् ॥ ६ ॥
 अथेन्द्रनीलाचलचण्डविग्रहं विपाणविश्वस्तमहापयोधरम् ।
 अधिष्ठितः कास्तरमुद्धरं मुदा वैवस्वतो दण्डधरस्तमन्वगात् ॥ ७ ॥

चौदहवां सर्ग

विजयकी हृच्छासे लक्ष्मणेके जिधे उतारु कुमार कान्तिवेदके कहनेसे सच देवता मिलकर पल्लव-
 धंक तारकको भार डालनेके लिये धार धार धोपने लगे ॥ १ ॥ तब धनुषधारी शक्तिशाली कुमार
 धपने 'विजित्वर' मारके उस बड़े मारो रघवर चढ़ गए जो कलसे भी अधिक बेगले चढवा था, जो
 किसीके रोके रचना नहीं था और जिसपर चढ़कर खदनेते सदा विजय मिलती ही है ॥ २ ॥ वही
 समय किसीने उनपर एक सोनेका शशु नाशक धनु लाकर लगा दिया जो स्वर्गकी लक्ष्मीकी मुखा देने-
 वाला था और दैत्योकी संपत्ति उजाड़ देनेवाला था ॥ ३ ॥ कुमारके दोनो और शरदके चन्द्रमारी
 किरणोके समान उजले सुंदर और दुल रहे थे और उनके भागे बड़े बड़े मरतादि ३ किरन, सिद्ध और
 धारण उन सुद-मेगी कुमारको पदाई के गीत गाते चल रहे थे ॥४॥ युद्धका ठार सताकर और पर्वतो-
 के पंत फालनेवाला यज्ञ लेकर इन्द्र भी एकदिकके पर्वतके समान उजले और जैसे ऐरावत हार्थपर
 चढ़कर उनके पीछे पीछे हो लिए ॥ ५ ॥ शशुपर मोषके मारे और भी अधिक जलते हुए अग्निदेव भी,
 पर्वतकी चोटीके समान जैसे और पिगपैत मैवेपर चढ़कर और पदा धरकर दहकता हुआ धार हाथमें
 लेकर कुमारके पीछे-पीछे चल दिए ॥ ६ ॥ हाथमें दह लेकर धराराज भी धपने मोक्षमके पदाज जैसे जैसे
 और बल्ले उस मैसेपर चढ़कर कुमारके पीछे चल दिए जो धपनी सीतोसे पादलोको पावता चलता
 ॥ ७ ॥ वैवस्वत दिशाका रक्षानी वैजय हापत भी तारकसे बिड़कर बड़ा भयानक हो गया और शशुसे

मदोद्धतं प्रेतमथाधिरूढवाँस्तमन्वकद्धेपितनृजमन्वगात् ।
 महासुरद्वेषविशेषमीपणः सुरोपणश्चण्डरथाय नैर्ऋतः ॥ ८ ॥
 नवोद्यदन्मोघरघोरदर्शने युद्धाय रूढो मकरे महचरे ।
 दुर्वारपाशो वरुणो रणोन्वयस्तमन्वियाय त्रिपुरान्तकात्मजम् ॥ ९ ॥
 दिग्भ्यराधिकमयोन्वयं क्षणान्मृगं महीपांसमरुद्धधिकमम् ।
 श्रधिष्ठितः संगरकेलिलालसो मरुन्महेशात्मजमन्वगाद्द्रुतम् ॥ १० ॥
 विरोधिनां शोषितपाशैर्षिर्था गदाभनृतां नरवाहनो वहन् ।
 महाहवाम्मोधिविगाहनोद्धतं यियासुमन्वाममदीशानन्दनम् ॥ ११ ॥
 महाहिनिर्वद्धजटाकलापिनो ज्वलन्तिशूलप्रवलाशुधा युधे ।
 रुद्रास्तुपाराद्रिसस्रं महाशृपं ततोऽधिरूढास्तमयुः पिनाकिनः ॥ १२ ॥
 अन्वेषि संनह्य महारणोत्सवश्रद्धालयः स्वर्गिगणास्तमन्वयुः ।
 स्वबाहनानि प्रचलान्यधिष्ठिताः प्रमोदविस्मेरमुखाम्बुजधियः ॥ १३ ॥
 उदण्डहेमध्वजदण्डसंकुलाश्वश्च द्विचित्रातपवारणोज्ज्वलाः ।
 चलद्भनस्पन्दनघोषमीपणाः करीन्द्रघण्टारवचण्डवीत्कृताः ॥ १४ ॥
 स्फुरद्विचित्रायुधकान्तिमण्डलैरुद्योतिताशावलयाम्बरान्तराः ।
 दिवौकसां सोऽनुवहन्महाचमूः पिनाकपाशेस्वनयस्ततो ययौ ॥ १५ ॥

लक्ष्मणेके क्रिये मत्तवाले प्रेतपर चक्रर कुमारके पीठे चल दिया ॥ ८ ॥ इत्यनेन अपनी शस्त्र फॉस लिए हुए
 बड़े बलवान् बरुणदेव अपने उस बड़े भारी घड़ियालपर बैठकर बुद्धके क्रिये कुमारके पीठे चले जो नई उड़ी
 हुई घटाके समान एकदम काटा था ॥ ९ ॥ पवनदेव लड़ाईके इच्छासे सब भरणे उस परामर्शी
 हरिणपर देखकर कुमारके पीठे चल दिव जो घूमने और भाकाशमें सब कहीं बिना हके चौकणों
 भरता उड़ता चलता था ॥ १० ॥ जो गदाः शङ्खशोका बहु श्रेष्ठ ही सुदृषका मत तोरती थी, वह
 भारी गदा लेकर कुपेर उस पाकशीपर चक्रर कुमारके पीठे चले तिले मनुष्य वी रहे थे ॥ ११ ॥
 अपने अपने हाथोंमें विनाह घनुष और कलते हुए त्रिशूल लेकर और अपने जटा-जूटोंको बड़े बड़े
 सर्पोंसे बसकर दिमाकपरके समान उजले वैजोपर चक्रर भारहोंके कुमारके पीठे-पीठे हो लिए ॥ १२ ॥
 महासुरद्वेषके इस बरसमें रचि ररनेवाले दूसरे सब देवता भी अपने-अपने तपके बादलोंपर चक्रर
 घानन्दसे हँस हँसकर अपना मुख-कमल खिलाके हुए कांतिदेवके साथ चल पड़े ॥ १३ ॥ इस
 प्रकार सब ठाढ़ोंसे सारी हुई, अन्वगिरात सोनेके टंटे ऊपर दटाकर चलती हुई, धमधमाते हुए
 रंग-विरंगे वन धमकाती हुई, हुएके मुण्ड चलनेवाले श्योंकी धनधनाहटमें सर्वहर जगती हुई
 मत्तवाले हाथियोंके धंठोंकी टन-टन और उलकी चिरपाशोंसे बान फाँसी हुई, अनेक प्रकारके
 भिन्नभिन्नते हुए अष्ट श्योंकी बमरमें चारों दिशाओं में ही छाटाटकी धनधनाती हुई उभ देवताओंकी
 महासैन्यको लिए हुए वीर कुमार चले ॥ १२-१५ ॥ उपलते-सुरदेव चलनेवाले देवताओंके इच्छेसे
 और इस बड़ा भारी सेनाकी उँपों-उँधों और बरी-बरी चलनाथोंसे हमने विनाहके

कीलाहलेनोच्चलतां दिवोकसां महाचमुनां गुरुभिर्ध्वजप्रजैः ।
 घनैर्निरुच्छ्वासमभूदनन्तरं दिव्याण्डलं व्योमतलं महीतलम् ॥ १६ ॥
 सुरारिलचमोपरिकम्पहेतवो दिक्चक्रवालप्रतिनादमेदुराः ।
 नभोन्तकुक्षिभरयो घनाः स्वना निहन्यमानैः पटहैर्वितेनिरे ॥ १७ ॥
 प्रमथ्यमानाम्बुधिगर्जितर्जनैः सुरारिनारीगणगर्भपातनैः ।
 नभश्चमधूलिकुलैरिवाकुलं ररास गाढं पटहप्रतिस्वनैः ॥ १८ ॥
 क्षुण्णं स्थैर्वाजिमिराहतं सुरैः करीन्द्रकण्ठैः परितः प्रसारितम् ।
 धूतं ध्वजैः काञ्चनशैलजं रजो वातैर्हतं व्योम समारुहत्क्रमात् ॥ १९ ॥
 खातं सुरै रथ्यतुरंगपुंगवैरुपत्यकाहाटकमेदिनीरजः ।
 गतं दिगन्तान्मुखरैः समोरणैः सुविभ्रमं भूरि बभार भूयसा ॥ २० ॥
 अघस्तथोर्ध्वं पुरतोऽथ पृष्ठतोऽमितोऽपि चामीकरसेरुस्वकैः ।
 चमूपु सर्पन्मरुदाहतोऽहरन्नवीनसूर्यस्य च कान्तिवैभवम् ॥ २१ ॥
 बलोद्धृतं काञ्चनभूमिजं रजो वभौ दिगन्तेषु नमःस्थले स्थितम् ।
 अकालसंध्याघनरागपिङ्गलं घनं घनानामिव वृन्दमुद्यतम् ॥ २२ ॥
 हेमावनीषु प्रतिविम्बमात्मनो मुहुर्विलोक्याभिमुखं महागजाः ।
 रसातलोत्तीर्णगजभ्रमात्क्रुधा दन्तप्रकाण्डप्रहृतानि तेनिरे ॥ २३ ॥

पूर्वी समय एक-से दिखाई पड़ने लगे ॥ १९ ॥ उनके नगादोंकी घोर ध्वनिकी गूँज चारों घोर सुनकर
 दैत्योंकी राज-लक्ष्मी भी काँप उठी ॥ १० ॥ सेनाके चक्रनेसे उड़ी हुई धूलसे भर हुआ आकाश
 ऐसा समता भी मानो मथनेके समय समुद्रकी गर्जनसे भी अधिक दरारवाले ध्वनिवाले और दैत्योंकी
 छियोंके गर्भ गिरानेवाले नगादोंकी धमक सुनकर आकाश रो उठा हो ॥ १८ ॥ यहाँ सुमेरु पर्वतकी
 धूल इस बंगसे आकाशमें पहुँची कि पहले तो रथोंने बहाँकी मट्टी उखाड़ी, फिर घोड़ोंने रौं रौंकर
 बसे महीन ध्व दिया, सब हाथियोंने अपने कान दिखा-हिलाकर उठे चारों घोर पैला दिया, तब
 काहरती हुई ऋद्धियोंने उस धूलकी धीर भी हथर उधर बिछेर दिया और फिर वायु उठे आकाशमें
 उड़ा छे गया ॥ १९ ॥ इतना ही नहीं, परन् सुमेरुकी तलहटीसे उठी हुई यह सुनहरी धूल, रथ
 रथोंनेवाले बढ़िया घोड़ोंके सुरोंसे किसकर, दरदराते हुए पवनके सहारे सभी दिशाओंमें फैलकर
 चमक उठी ॥ २० ॥ पवनके सहारेसे सेनाके ऊपर-भाँचे, आगे पीछे और चारों घोर पैली हुई यह
 सुनहरी धूल घेती सुन्दर लगती थी कि निकलते हुए सूर्यकी सुनहरी धूप भी उसके चगे पानी
 भरती थी ॥ २१ ॥ सेनाके चक्रनेसे उड़ी हुई यह सुनहरी धूल सभी दिशाओं और आकाशमें भरकर
 घेती सुन्दर दिखाई पड़ने लगी मानो सम्पदा हुए पिना ही सुनहले चारोंके मुँहके मुँह उमड़कर
 आकाशमें वा गप हो ॥ २२ ॥ सेनाके साथ चलते हुए हाथियोंने बहाँकी सुनहरी धराओंमें घबरी
 "गर्द" देनी सो वे समझे कि वे पातालसे निकले हुए बड़े-बड़े हाथी हैं और इसीलिये बहुत

सुजातसिन्दूरपरागपिञ्जरैः कलं चलद्भिः सुरसैन्यसिन्धुरैः ।
 शुद्धासु चामीकरशैलभूमिषु नादृश्यत स्वं प्रतिविम्बमग्रतः ॥ २४ ॥
 इति क्रमेषामरराजवाहिनी महाह्वाम्गोधिविलासलालसा ।
 अवातरत्काञ्चनशैलतो द्रुतं कोलाहलाक्रान्तविभूतकन्दरा ॥ २५ ॥
 महाचमसूपन्दनषण्डचीत्कृतैर्विलोलघण्टेमपतेश्च वृंहितैः ।
 सुरेन्द्रशैलेन्द्रमहागुहाशयाः सिंहा महत्स्वमसुखं न तत्पजुः ॥ २६ ॥
 गम्भीरमेरिध्वनितैर्भयंकरैर्महागुहान्तप्रतिनादमेदुरैः ।
 महारथानां गुरुनेमिनिःस्वनैरनाकुलैस्त्वैर्मृगराजताजनि ॥ २७ ॥
 समुत्थितेन त्रिदिवाकसां महाचमूर्वेणाद्रितटान्तदारिणा ।
 प्रपेदिरे केसरिणोऽधिकं मदं स्ववीर्यलक्ष्मीमृगराजतावद्यात् ॥ २८ ॥
 भिया सुरानीकविमर्दजन्मना विदुद्वुर्दूरतरं द्रुतं मृगाः ।
 गुहागृहान्ताद्विरेत्य हेलया तस्थुर्विशङ्कं नितरां मृगाधिपाः ॥ २९ ॥
 विलोकिताः कौतुकिनामरावतीजनेन लुष्टप्रमदेन दूरतः ।
 सुराचलप्रान्तभुवः प्रपेदिरे सुविस्तृतायाः प्रसरं सुसैनिकाः ॥ ३० ॥

विगदकर वे उन परदाह्योपर हो अपने बड़े-बड़े दौलतसे टकर मारने लगे ॥ २३ ॥ यदिया
 सिन्दूरकी गुरुनीसे रंगे हुए और धीरे-धीरे चलनेवाले वे उन देवताओंके सेनाके हाथियोंको सुमेरु
 गिरिकी चमकदार सोनेकी धरतीपर भी अपने परदाह्यं डीक-डीक नहीं दियाई पवती थी, क्योंकि
 दौलतका रंग एक-सा था ॥ २४ ॥ इस प्रकार युद्धके समुद्रमें तिरनेको उतारकर देवराजकी सेना
 अपने हथेलीसे गुफाओंको गुंजाती हुई सुमेरु पर्वतसे बड़े वेगसे नीचे उतरी ॥ २५ ॥ देवताओंकी
 इस बड़ी भारी सेनाके रथोंकी घोर धरधराहट और यज्ञते हुए घंटों और बड़े-बड़े हाथियोंकी चिंगाड़ोंकी
 दहनो ध्वनि होते हुए भी सुमेरु पर्वतकी लंबी लंबी गुफाओंमें सोनेवाले सिंहोंने अपनी नींदके सपनोंका
 सुख नहीं छोड़ा, वे सोए ही पड़े रहे ॥ २६ ॥ गुफाओंमें गुंजते हुए नगाधोंकी गंभीर और भयंकर
 ध्वनि और बड़े-बड़े रथोंके पहियोंकी धड़धड़ाहट गुफाओंसे टकराकर दूनी होकर गूँज रही
 थी, फिर भी वहाँके सिंह उठके नहीं बैठे रहे और इस प्रकार उठने पर तिरुप कर दिया
 कि हम सचमुच मृगोंके राजा हैं ॥ २७ ॥ सुमेरुकी चोटियोंको फोड़नेवाली उस देवोंकी
 महासेनाके पकनेसे जो हल्ला हो रहा था, उसे सुन-सुनकर ये सब सिंह और भी भयवाले हो उठे
 जो अपनी शक्तिके चलपर सब पशुओंके राजा बने हुए थे ॥ २८ ॥ वहाँ जितने हरिण थे वे
 सब तो इस तरहसे चौकड़ी मरकर दूर भाग गए कि कहीं देवताओंकी सेना हमें मार न सके,
 पर जितने सिंह थे, वे अपनी गुफाओंके बाहर निकल निकलकर लड़े हो गए ॥ २९ ॥ जब वे
 सैनिक उस छिंसे सुमेरु पर्वतकी ललहटोंमें उतरे, उस समय अमरावतीमें रहनेवाले श्री-गुरुर सब
 उठे बड़े कायसे देख रहे थे ॥ ३० ॥ सुमेरु पर्वतकी फोड़ी, नीचों, घास और उमड़ी चट्टानोंसे उड़ी
 हुई धूलसे भरा हुआ आकाश देखा लगने लगा मानो दिना परिधमके ही पद अनेक रत्नोंसे भरी

पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
 अयत्नगन्धर्वपुरोदयभ्रमं बभार भृशोत्पतितैरितस्ततः ॥ ३१ ॥
 महास्वनः सैन्यत्रिमर्दसंभवः कर्णान्तकूलंकपतामुपेयिवान् ।
 पयोनिघेः क्षुब्धतरस्य वर्धनो बभूव भूम्ना भुवनोदरंभरिः ॥ ३२ ॥
 महागजानां गुरुद्वंहितैस्ततैः सुहेपितैर्घोरतरैश्च बाजिनाम् ।
 धनै रथानां गुरुचण्डचीत्कृतैस्तिरोहितोऽभूत्पटहस्य निःस्वनः ॥ ३३ ॥
 महासुराणामवरोधयोपितां कचाक्षिपक्ष्मस्तनमण्डलेषु च ।
 ध्वजेषु नागेषु रथेषु बाजिषु क्षयेन तस्थौ सुरसैन्यजं रजः ॥ ३४ ॥
 धनैर्विलोक्य स्थगितार्कमण्डलैश्चमूरजोभिर्निचितं नभःस्थलम् ।
 अयापि हंसैरभिमानसं धनभ्रमेण सानन्दमनतिं कैकिभिः ॥ ३५ ॥
 सान्द्रैः सुरानीकरजोभिरम्बरे नवाम्बुदानीकनिभैरभिध्रिते ।
 चक्राशिरै स्वर्णमया महाध्वजाः परिस्फुरन्तस्तडितां गणा इव ॥ ३६ ॥
 विलोक्य धूलीपटलैर्मृशं भृतं द्यावापृथिव्योरलमन्तरं महत् ।
 किमूर्ध्वतोऽधः किमधस्त ऊर्ध्वतो रजोऽभ्युपैतीति जनैरतर्क्यत ॥ ३७ ॥
 नोर्ध्वं न चाधो न पुरो न पृष्ठतो न पार्श्वतोऽभूत्खलु चक्षुषोर्गतिः ।
 सूच्यग्रमेधैः पृतनारजश्चयैराच्छादिता प्राणिगणस्य सर्वतः ॥ ३८ ॥

गन्धर्वपुरी बत गया हो ॥ ३१ ॥ कानोंके परदोंको फादनेवाला देवसेनाका यह उमका हुआ घोर शब्द
 हलहलवाते हुए समुद्रकी कोलाहलसे भी अधिक बढ़कर सारे ब्रह्माण्डमें गूँजने लगा ॥ ३२ ॥ यहाँ तक
 कि मतवाले हाथियोंकी भारी धिग्याद, चारों घोर घोड़ोंकी दिनहिनाहट और चलते हुए रथोंकी घोर
 परचाराहटमें गमतीर और कान फादनेवाली नगादोंकी ध्वनि एकदम दब गई ॥ ३३ ॥ घोर चण-भरने
 ही देवसेनाके चलनेसे उठी हुई यह धूल धीरे-धीरे देव्योंकी स्त्रियोंके धारों, उनको शीशों, सज्जों
 स्तनोंपर बैठती हुई फिर उबकी पताकाओं, हाथियों, रथों और घोड़ोंपर जाकर जमने लगी ॥ ३४ ॥
 जब सेनाकी धनी भूल स्वर्गकी बककर आकाशमें छा गई तो हंस समके कि ये बादल हैं और परसात
 भाई जानकार ने मानसरोपरकी घोर उड़ चले घोर मोर मस्तोसे नाचने लगे ॥ ३५ ॥ सेनाके चलनेसे
 उठी हुई धनी भूल तो आकाशमें नये बादलोंकी पॉठों जैसी दिग्गई देने लगी और सुनहरी
 पताकाएँ, शमकती हुई विजलीकी लहरों-सी चमकने लगी ॥ ३६ ॥ आकाश और पृथ्वीके ठीक बीचों
 बीच छाई हुई, उस धूलकी देलकर लोग यही सोचते रह गए कि यह धूल, ऊपरसे नीचे उतर रही
 है या नीचेसे ऊपरकी चढ़ रही है ॥ ३७ ॥ सेनाके चलनेसे उठी हुई धूल पेशी छा गई थी कि सूईकी
 नोकके बराबर स्थान भी सुझा न रह गया था इसलिये सबकी आँतोंके आगे ऐसा संकेत छा गया
 कि किसीकी भी नीचे ऊपर, आगे-पीछे, इपर-उपर कहीं कुछ भी नहीं दिखाई देता था ॥ ३८ ॥
 सेनामें ऐसे बहुतसे दाने निरंतर दज रहे थे जिनकी घोर ध्वनि सुनकर मतवाले हाथियोंका भय भी

दिगन्तदन्त्यावलिदानहारिभिर्विमानरन्ध्रप्रतिनादमेदुरैः ।
 अनेकवाद्यध्वनितैरनारतैर्जगर्ज गाढं गुरुभिर्नभस्तलम् ॥ ३९ ॥
 भुवं विगाह्य प्रययौ महाचमूः क्वचिन्न मान्ती महतीं दिवं खलु ।
 सुसंकुलायामपि तत्र निर्भरात्किं कांदिशीकत्वमवाप नाकुला ॥ ४० ॥
 उदामदानद्विपवृन्दवृंहितैर्नितान्तमुचुन्नतुरंगहेपितैः ।
 चलद्वनस्यन्दननेमिनिश्वनैरभृन्निरुच्छ्वासमिवाकुलं जगत् ॥ ४१ ॥
 महागजानां गुरुभिस्तु गजितैर्विलोलघण्टारणितै रथोन्ययैः ।
 धीरप्रखादैः प्रमदप्रमेदुरैर्वाचालतामादधिरैतरां दिशः ॥ ४२ ॥
 दन्तीन्द्रदानद्रववारिवीचिभिः सद्योऽपि नद्यो बहुधा पुपूरिरे ।
 धारा रजोभिस्तुरगैः क्षतैर्भृतायाः पङ्कतामेत्य रथैः स्थलीकृताः ॥ ४३ ॥
 निम्नाः प्रदेशा स्थलतामुपागमन्निम्नत्वमुच्चैरपि सरतथ ते ।
 तुरंगमाणां व्रजतां सुरैः क्षता रथैर्गजिन्द्रैः परितः समीकृताः ॥ ४४ ॥
 नभोदिगन्तप्रतिघोषमीपणैर्महामहीमृत्तटदारणोन्ययैः ।
 पयोधिनिर्धूननकेलिभिर्जगद्भूव मेरीच्वनितैः समाकुलम् ॥ ४५ ॥
 इतस्ततो वातविधूतचञ्चलैर्नीरन्ध्रिताशागमनैर्ध्वजांशुकैः ।
 लक्षैः क्षणत्काञ्चनकिङ्किणीकुलैरमज्जि धूलीजलधौ नभोगते ॥ ४६ ॥

एत जानता था धीर जिनकी ध्वनि विमानोंका घुतरियोंमें टकराकर धीर दूनी गूँज उठती थी । उन्हें
 सुन-सुनकर ऐसा लगता था मानो आकाश ही घनघोर गरज रहा हो ॥ ३९ ॥ देवताओंको यह
 मदासेना पहले तो घरतोंमें भर गई, पर वहाँ न सना सक्नेके कारण आकाशमें जा पहुँची और जय
 यहाँ भी यह न सना सके तो मानो यह यह समझकर घबरा उठी कि अब यहाँसे कहीं
 चला जाय ॥ ४० ॥ ऊँचे ऊँचे मतवाले हाथियोंकी चिंगारियोंसे, ध्वपन्त ऊँचे घोड़ोंकी दिन दिनादोंसे
 धीर पङ्कनेवाले रथोंकी घड़घड़ाहटसे सब ऐसे घबड़ा उठे मानो सँत सुने जा रही हो ॥ ४१ ॥
 यधे-यधे हाथियोंकी घोर चिंगाहट, उनके हिलते हुए मुँदके घट्टोंकी टन-टन धीर मतवाले घोड़ोंकी
 खलकार चारों ओर फैली हुई ऐसी लगती थी मानो दसों दिशाओं कोजाइल मचा रही हो ॥ ४२ ॥
 यधे-यधे हाथियोंका हतना मद् यहा कि सूखी हुई नदियोंमें शरन्त वाद या गई धीर फिर घोड़ोंके
 शुरोंकी रूँसे उठी हुई पूँज भर जानेसे उन नदियोंमें लीपक ही काँपव हो गया धीर फिर रथोंके
 पहियोंसे दबकर वहाँ फिर ज्योंकी त्यों घरना निकल पार ॥ ४३ ॥ चलते हुए घोड़ोंके शुरोंमें सँदी
 जानेपर धीर रथों धीर हाथियोंके चलनेसे दब जानेपर सँचे स्थान उँचे हो गए धीर ऊँचे स्थान-
 नीचे हो गए ॥ ४४ ॥ यधे-यधे यहाघोषों फोंड देनेवाली धीर रागुदमें हलपत मचा देनेवाली यह
 नगाधेकी ध्वनि निकडकर आकाश धीर दिशाओंमें गूँजी तो दसरी धीर भी भयानक ध्वनि सुनकर
 सारा संसार घबरा उठा ॥ ४५ ॥ उस सेनाकी टनटनाते हुए पुँ पदघोषोंकी खागों मन्दिर्वाँ से सारे
 आकाशमें भरकर सब मार्ग रोके हुए वायुके मोर्चेमें बरबरा रही थी वे भी उस सेनाके पङ्कनेसे उड़ो

घण्टारवै रौद्रतरैर्निरन्तरं विसृत्वरैर्गर्जरवैः सुभैरवैः ।
 मत्तद्विपानां प्रथयांश्चभूविरे न वाहिनीनां पटहस्य निःस्वनाः ॥ ४७ ॥
 करालवाचालमुखाथमस्वनैर्ध्वस्ताम्बरा वीक्ष्य दिशो रजस्वलाः ।
 तिरोवभूवे गहनैर्दिनेश्वरो रजोन्धकारैः परितः कुतोऽप्यसौ ॥ ४८ ॥
 आक्रान्तपूर्वा रभसेन सैनिकैर्दिगङ्गना व्योम रजोभिद्रूपिता ।
 भेरीरवाणां प्रतिशब्दितैर्धनैर्जगर्ज गाढं घनमत्सरादिव ॥ ४९ ॥
 गुरुसमीरसमीरितभूधरा इव गजा गगनं विजगाहिरे ।
 गुरुतरा इव वारिधरां रथा भुवमितीह विवर्त इवाभवत् ॥ ५० ॥
 पलमदसुरलोकानल्पकल्पान्तकाले निरवधय इवाम्भोराशयो घोरघोषा ।
 गुरुतरपरिमलद्भृतो देवसेना वधुधुरपि सुपूर्णा व्योमभूम्यन्तराले ॥ ५१ ॥
 इति महाकविध्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
 देवसेनाप्रयाण नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

हुई धूलके समुद्रमें हब गई ॥ ४६ ॥ मतवाले हाथियोंकी गूँजती हुई चिंघाड़ और पल-पलमें भयकर
 होकर बढ़ती हुई घण्टेकी ध्वनिके आगे सेनाके नगाड़ोंका शब्द सुनाई ही नहीं पक रहा था ॥ ४७ ॥
 जैसे किसी हड़का मघानेवालों नंगी रजस्वलाको देखकर सज्जन लोग घाड़ कर लेते हैं वैसे ही सेनाके
 शब्दसे घोर कोलाहल परती हुई और आकाश रूपी चपटको काड़कर रजसे भरी हुई दिशा रूपी
 नायिकाकी देखकर ही सूर्यने इस चारों ओर फैले हुए धूलके घने धँधरेकी छोट करके अपनेको छिपा
 लिया है ॥ ४८ ॥ वहाँ जो नगाड़े पक रहे थे उनका शब्द ऐसा लग रहा था मानो आकाश रूपी
 नायक धूलसे भरी हुई अपनी दिशा रूपी रजस्वला नायिकापर सैनिकोंका इतना बढ़ा धावा देखकर
 घोर ईर्ष्यासे भरज उठा हो ॥ ४९ ॥ बढ़े बढ़े हाथों आकाशमें इस प्रकार इधर उधर घूम रहे थे
 जैसे किसी बड़ी भारी बाँधीसे पहलुकी चट्टानें ऊपर उड़ाने लगे हैं और भूमिपर यह इस प्रकार चल
 रहे थे मानो बड़े-बड़े यादूज चल रहे हों । इस युद्धमें ऐसा जान पड़ता था मानो पृथ्वीके पहाड़
 तो आकाशमें उड़ने लगे हों और आकाशमें चलनेवाले यादूज पृथ्वीपर चढ़ने लगे हों ॥ ५० ॥
 घोर कोलाहल मघातां हुई बड़े-बड़े राजाओं से भरी वह देवसेना बड़ी प्रकार चारों ओर भरी
 होनेपर भी और अधिक बढ़ने लगी । इसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो बलवान् समुद्रोंके
 इस महाप्रलयके समय घोर रूपसे गरजता हुआ महासागर उमड़ना चला आ रहा हो ॥ ५१ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें देवसेनाका
 प्रस्थान नामका चौदवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

पञ्चदशः सर्गः

सेनापतिं नन्दनमन्धकद्विपो युधे पुरस्कृत्य बलस्य शात्रवः ।
 सैन्यैरुपैतीति सुरद्विषां पुरोऽभृत्किञ्चदन्ती हृदयप्रकम्पिनी ॥ १ ॥
 चमूप्रस्रं मन्मथमर्दनात्मजं विजित्वरीभिर्विजयश्रियाथितम् ।
 श्रुत्वा सुरायां पृतनाभिरागतं चिचे चिरं बुधुमिरे महासुराः ॥ २ ॥
 समेत्य दैत्याधिपतेः पुरे स्थिताः किरीटवद्भाञ्जलयः प्रणम्य ते ।
 न्यवेदयन्मन्मथशशुस्वन्ना युयुत्सुना जम्भजितं सहागतम् ॥ ३ ॥
 दासीकृताशेषजगत्प्रथं मां जिगाय युद्धे कतिशः शचीपतिः ।
 गिरीशपुत्रस्य बलेन सांप्रतं ध्रुवं विजेतेति स काकृतोऽहसत् ॥ ४ ॥
 ततः क्रुधा विस्फुरिताधराधरः स तारको दर्पितदोर्वल्लोद्धवान् ।
 युधे त्रिलोकीजयकेलिलालसः सेनापतीन्संहनार्यमादिशत् ॥ ५ ॥
 महाचमूनामधिपाः समन्ततः संनह्य सद्यः सुतराशुदायुधाः ।
 तस्थुर्धिनम्रचितिपालसंकुले तदङ्गनद्धारवरप्रकोष्ठके ॥ ६ ॥
 स द्वारपालेन पुरः प्रदर्शितान्कृतानतीन्वाहुवरानधिष्ठितान् ।
 महाहवाम्मोधिधिधूननोद्धवान्दर्श राजा पृतनाधिपाबन्धन् ॥ ७ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

उपर जब दैत्योंके नगरमें यह हुआ मन्थ कि राजाजीके पुत्र कान्तिकेयको सेनापति बनाकर श्रीर देवताओंकी सेना साथ लेकर दैत्योंके शत्रु हन्त, युद्ध करनेके लिये चले आ रहे हैं तो दैत्योंमें पक्षी खलबली मच गई ॥ १ ॥ श्रीर जब उन्होंने यह जान लिया कि जयलक्ष्मीके साथ देवताओंकी सेना लेकर विजयी करणिकेय सचमुच सेनापति बनकर आए हैं, तब तो दैत्योंके नगरके रहनेवाले बहुत हीर शक ऐसे घबराए बैठे रहे मानो उन्हें काठ मार गया हो ॥ २ ॥ दैत्योंके राजा तारकजी नगरीमें रहनेवाले सद्य दैत्य मिलकर तारकके पास पहुँचे और उसके आगे तिर हुकाकर प्रणाम करके कहने लगे कि युद्ध करनेको उत्तारु तुमारको साथ लेकर हन्त आ पहुँचे हैं ॥ ३ ॥ यह सुनकर तारकने सचे सानेके साथ हाँसते हुए कहा— विपुले बर्ह सुखामें तो मुझ प्रेताप-विजयीको हन्त चीज नहीं सच्य सच्य तुमाके भरोसे मुझमे लड़ने चला है तो भले जीतेगा, ॥ ४ ॥ यह कहते ही तीनों खोजीको खोज ही नेलमें जोतनेकी शक्ति रखनेवाले तारकके श्रोत्र कर्णने छोटे श्रीर उताने धरने वन बरगदिये सेनापतियोंको युद्धके लिये सजनेकी आज्ञा दी, त्रिदं धरने काहुकाउपर सदा धमक पा ॥ ५ ॥ सब धर्य शत्रु धर्य कर सचे सचे दैत्य सेनापति सुत तारकके उम मादी कण्ठकपाले कौमर्में आ लक्षे हुए जहाँ बहुतसे आजाकारी राजा पहलेसे ही दैत्य हन्त रहने थे ॥ ६ ॥ द्वारपर पहुँचकर जो जो प्रणाम करते जाले थे उन बर्षा-बर्षा मुत्ताओं-वाले बरोंको खोजा खोजकर द्वारपाल भी तारकामुखके सामने सदा बरगा जाता था । दैत्याजने दैत्या कि वे धननिवत

वली वलारातिवलातिशातनं दिग्दन्तिनादद्रवनाशनस्वनम् ।
 महीधराम्भोधिनवारितक्रमं ययौ रथं घोरमथाधिरुह्य सः ॥ ८ ॥
 युगक्षयक्षुब्धपयोधिनिःस्वनाथलत्पताकाकुलवारितातपाः ।
 धरारजोग्रस्तदिगन्तमास्कराः पतिं प्रयान्तं पृतनास्तमन्वयुः ॥ ९ ॥
 चमूरजः प्राप दिगन्तदन्तिनां महासुरस्याभिसुरं प्रसर्पिणः ।
 दन्तप्रकाण्डेषुसितेषुश्रुतां कुम्भेषु दानाम्युघनेषु पङ्कताम् ॥ १० ॥
 महीभृतां कन्दरदारणोल्वणैस्तद्वाहिनीनां पटहस्वनैर्धनैः ।
 उद्वेलितारक्षुभिरे महार्णवा नभःस्रवन्ती सहसाम्भवर्धत ॥ ११ ॥
 सुरारिनाथस्य महाचमूस्वनैर्विगाह्यमाना तुमुलैः सुरापगा ।
 अम्युच्छ्रितैरूमिशतैश्च वारिजैश्चालपद्माकनिकेतनावलीम् ॥ १२ ॥
 अथ प्रयाणाभिमुखस्य नाकिनां द्विपः पुरस्तादशुभोपदेशिनी ।
 अगाधदुःखाम्बुधिमध्यमज्जनं बभूव चोत्पातपरम्परा तव ॥ १३ ॥
 आगामिदैत्याशनकेलिकाङ्क्षिणी कुपक्षिणां घोरतरा परम्परा ।
 दधौ पदं व्योम्निमुरारिवाहिनीरुध्र्युपर्येत्यनिवारितातपा ॥ १४ ॥

सेनापति, महायुद्धके समुद्रमें डूबकर मरनेमें एकसे एक बढ़कर हैं ॥ ७ ॥ सब वह चलवान
 देव भी स्वयं उस भयंकर रथपर चढ़कर चल पड़ा जो यकेला ही इन्द्रकी सेनाके सहस्र-सहस्र कर
 सकता, जिसको धरधराहट सुनकर दिग्गजोंका विधावन और मद पहाना बन्द हो जाता था
 और जो पर्वत और समुद्रमें कहीं भी घेरोक टोक चला जा सकता था ॥ ८ ॥ पृथ्वीसे उड़ी हुई
 धूलसे सब दिशाओं और आकाशको ढकती हुई देवोंको वह सेना भी अपने सेनापति तारकासुरके
 पीछे पीछे चल पड़ी, जो प्रलयकालके हृदहृदाले हुए समुद्रके समान घोर इल्ला मका रही थी और
 जिसमें दृढभी पताकाएँ हिल रही थीं कि उनसे पूरा तक एक गईं थीं ॥ ९ ॥ जब देवताओंसे
 लड़नेके लिये महादेव्य तारकी सेना चली तो उसके चलनेसे उड़ी हुई धूल दिग्गजोंके उजले
 दौलोंपर पड़कर उजली हो उठती थी और जब उनके मद बढ़ते हुए गाँवों पर पड़ती थी तब कीचड़
 बन जाती थी ॥ १० ॥ उसकी सेनाके नगाधोंके जो गम्भीर ध्वनि पड़ावोंकी कन्दराओंकी भी जोड़
 सकती थी उसे सुनकर समुद्र भी हिलोरेँ लेकर अपने तटसे आया और आकाशगङ्गामें भी धजानक
 बाढ़ भा गई ॥ ११ ॥ देवराजकी चढ़ी भारी सेनाका भयंकर हलवा जो आकाशगंगामें गूँला तो
 उसमेंसे उड़ली हुई सुन्दर कमलोंसे भरी सैकड़ों लहरोंने पहँके मयन घो गाले ॥ १२ ॥ जब वह
 देवराज लड़नेके लिये चला तो उसके आगे सेमे बुरे बुरे असतुन होने लगे जिनसे यह जान पड़ता
 था कि यह देव किसी बड़ी भारी विपत्तिके समुद्रमें डूबनेवाला है ॥ १३ ॥ उसी समय देवोंका मांस
 पानेकी कोहमें बहुतसे गिद्ध, कौपर आदि भयंकर जीव जन्तु पतों बॉप-बॉपकर देवोंकी सेनाके ऊपर
 टोक इस प्रकार मँदरने लगे कि उनको छाया भी नीचे नहीं पड़ती थी ॥ १४ ॥ आकाशमें धर-धर
 ऐसी धॉपिधॉ उठने लगी कि जड़-चागर, पताकाएँ सब टूट-पूट गईं, धूल उड़-उड़ कर सबकी

मुहुर्विमघातपवारणध्वजश्वलद्धराधूलिकलाकुलेचयः ।
 धृताश्रमातङ्गमहारथाकरानवेत्तयोऽभृत्प्रसमं प्रमञ्जनः ॥ १५ ॥
 सद्यो विमिन्नाञ्जनपुञ्जतेजसो मुखैर्विपात्रिं विकिरन्त उच्चकैः ।
 पुरः पथोऽतीत्य महाभुजंगमा भयंकराकारभृतो भृशं ययुः ॥ १६ ॥
 मिलन्महामीमभुजंगभीषणं प्रमुर्दिनानां परिवेषमादधौ ।
 महासुरस्य द्विपतोऽतिमत्सरादिवान्तमास्रचयितुं भयंकरः ॥ १७ ॥
 त्विपामधीशस्य पुरोऽधिमण्डलं शिवाः समेताः परुषं ववाशिरैः ।
 सुरारिराजस्य रथान्तशोणितं प्रसह्य पातुं द्रुतमुत्सुका इव ॥ १८ ॥
 दिवापि तारस्तरलास्तरस्विनीः परापतन्तीः परितोऽथ वाहिनीः ।
 विलोक्य लोको मनसा व्यचिन्तयत्प्राणव्ययान्तं व्यसनं सुरद्विषः ॥ १९ ॥
 ज्वलद्भिरुच्चैरमितः प्रमाभरैरुद्धासिताशेषदिग्न्तराम्बरम् ।
 रवेण रौद्रेण हृदन्तदारुणं पपात वज्रं नमसो निरम्बुदात् ॥ २० ॥
 ज्वलद्भिरङ्गारचयैर्नमस्तलं ववर्ष गाढं सह शोणित्वास्थिभिः ।
 धूमं ज्वलन्तो व्यसृजन्मुरै रजो दधुर्दिशो रासभङ्गठघूसरम् ॥ २१ ॥
 निर्घातघोपो गिरिशृङ्गशावनो घनोऽम्बराशाकुहरोदरंभरिः ।
 यमूव भूम्ना श्रुतिभित्तिभेदनः प्रकोपिकालाजितमर्जितर्जनः ॥ २२ ॥

आँवोंमें भर गई थीर घोड़े, हाथी, रथ सबको जन शीपियोंने गहककोर टाला ॥ १५ ॥ सुरस्य पारे
 हुए काजलसे दूटकर गिरे हुए टुकड़ेके समान काले और विष भरी भागरी ऊँची-ऊँची छपटें उगलने-
 वाले यथे भयंकर दौल-दौलवाले सौंप, सेनाका मार्ग काट-काट कर सामनेसे निकलने लगे ॥ १६ ॥
 और पैरके काण्ठ ही मानो सूर्यने भयंकर सागोंकी लुगड़तीके समान बदा-सा मंडल धारों धोर टाल
 लिया था जो वह गता रहा था कि देवताओंके शत्रु तारक घमसुरके दिन पूरे हो चले हैं ॥ १७ ॥
 युद्धमें तारक घमसुरका लहू पीनेके लिये उतावर्धमें निवारिनिर्वा सूर्य-मण्डलके चारों ओर था आकर
 बदे बराबने स्वरमें रोने लगी ॥ १८ ॥ दिनमें निकटे हुए तारे उम सेनाके चारों ओर यथे वेगसे
 दूट-दूटकर गिरने लगे और लोगोंको विरवाय हो गया कि ये सब उपद्रव तारकके नाशके लिये ही हो
 रहे हैं ॥ १९ ॥ घमनों धोर और भयंकर उदरसे हृदय काट देनेवाली धीर धरणी जकड़ी हुई यमकरी
 सारी दिशाओं धीर आकाशको चमका देनेवाली विजली भी रिला बाधुके ही आकाशमे दूट दूटकर
 गिर रही थी ॥ २० ॥ आकाशमें धपकते हुए दगगाँकों, अटकी धीर दृष्टियोंकी घगघोर यर्नी हो रही
 थी और इसी दिशाएँ गधेके गलेके रङ्ग देना भूरा-भूरा घुमई हगल रही थी ॥ २१ ॥ चारों ओर
 आकाशमें धीर दसों दिशाओंमें लेना भयंकर टकना हो रहा था जो होंठमें भरे हुए काण्ठकी गरजके
 समान कायोंके वरें धावे टाल रहा था और त्रिपकी सूँठसे पहाकरी कोटियाँ भी पटी पड़ रही
 थी ॥ २२ ॥ इतनेमें ही देता भूजोत्र धारण कि समुद्र दिनोंरे खेने लगे, पदनोंमें दारों पड़ गई,

स्खलन्महेर्भं प्रपतत्तुङ्गमं परस्परास्त्रिष्टजनं समन्ततः ।

प्रक्षुभ्यदम्भोधिबिभिन्नभूधराद्वलं द्विपोऽभूद्वनिप्रकम्पात् ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वाकृतास्या रविदत्तदृष्टयः समेत्य सर्वे सुरविद्विपः पुरः ।

ध्वानः स्वरेण श्रवणान्तशातिना मिथो रुदन्तः करुणेन निर्ययुः ॥ २४ ॥

अपीति पश्यन्परिणामदारुणां महत्तमां गाढमरिष्टसंततिम् ।

दुर्देवदष्टो न खलु न्यवर्तत क्रुधा प्रयाणव्यवसायतोऽसुरः ॥ २५ ॥

अरिष्टमाशङ्क्य विपाकदारुणं निवार्यमाणोऽपि युधैर्महासुरः ।

पुरः प्रतस्थे महतां वृथा भवेदसद्ग्रहान्धस्य द्वितोपदेशनम् ॥ २६ ॥

चित्तौ निरस्तं प्रतिकूलवायुना तदीयचामीकरधर्मवारणम् ।

रराज मृत्योरिव पारणाविधौ प्रकल्पितं हाटकभाजनं महत् ॥ २७ ॥

विजानता भाविशिरोनिकृन्तनं प्रज्ञेन शोकादिव तस्य मौलिना ।

मुहुर्गालद्विस्तरलैरलंतरामरोदि मुक्ताफलवाष्पविन्दुमिः ॥ २८ ॥

निवार्यमाद्यैरभितोऽनुयायिभिर्ग्रहीतुकामैरिव तं मुहुर्मुहुः ।

अपाति गृध्रैरमि मौनिमाकुलैर्मविष्यदेतन्मरणोपदेशिभिः ॥ २९ ॥

सद्यो निकृत्ताञ्जनसोदरद्युतिं फलामणिप्रज्वलदंशुमण्डलम् ।

निर्यद्विपोलकानलग्नमफूत्कृतं ध्वजे जनस्तस्य महाहिमैक्षत ॥ ३० ॥

चारकने सैनिक एक दूसरेको पकड़कर लिपट गए, बड़े-बड़े हाथी जड़खदाने लगे और घोड़े जहाँ तहाँ पटपट गिरने लगे ॥ २३ ॥ सूर्यकी ओर देखते हुए ऊपर मुँह उठाकर एक साथ बहुतेरे कुत्ते रोते हुए और सुरे हंगसे भूँकते हुए चारकके सामने निकल आए ॥ २४ ॥ इस प्रकारके सुरे सुरे डरावने असगुन देखकर जो तुर्नाभयके सारे उस देखने प्रोबसे लक्ष्मी जानेसे मुँह नहीं मोटा ॥ २५ ॥ ऐसे बड़े डरावने और सुरे असगुन देखकर विद्वानोंने उस महादेवकी बहुत रोकना पाहा पर वह भागे बदा ही गया । जो लोग दृष्टसे अन्धे हो जाते हैं उन्हें बड़े दुर्लोक उददेश भी अच्छा नहीं लगता ॥ २६ ॥ इतनेमें ही उल्टे बहते हुए वायुका ऐसा भौंका आया कि सुगहरा रानद्वज भी भूमिमें धौंवा जा गिरा और ऐसा लगने लगा मानो उसकी मृत्युने अपना मत तोड़नेके समय मौज्ज करनेके लिये यह सोनेका घाल ला रखा हो ॥ २७ ॥ चारकके किरीठके टूट-टूटकर गिरते हुए भोती ऐसे लग रहे थे मानो चारकके सिर कटनेकी दास पहलसे जाननेवाला यह समझदार मुकुट अपने मोतीके धौंवा बारबार परसाकर रो रहा हो ॥ २८ ॥ उसके सिरपर मैंडराते हुए गिद्धोंको उसके सेबक बारबार भगा रहे थे फिर भी वे गिद्ध न्याकुलसे सिरपर हो गिरकर मानो यह यत्ना रहे थे कि अब तुम्हारे दिन पूरे हो चले हैं ॥ २९ ॥ इतनेमें लोगोंने देखा कि उसके ऊँचेपर सुरम्व पारे हुए काजलके समान धावा, अपने फणकी मथिरी किरीठोंके प्रकाशसे धमकते हुए फर्नावाला और मयानक विष मरी धागकी कुँआर छोड़नेवाला एक बड़ा भारी साँप था लिपटा है ॥ ३० ॥ इतनेमें अचानक उसके रथके

रथाश्वकेशायलिङ्गार्चामरं ददाह वाणासनवाणवाणधीन् ।
 अकाण्डतक्षण्डतरो हुताशनस्तस्यातनुस्पन्दनधुर्यगोवरः ॥ ३१ ॥
 इत्याद्यरिष्टैरशुभोपदेशिभिर्विहन्यमानोऽप्यसुरः पुनः पुनः ।
 यदा मदान्धो न गतान्न्यवर्तताम्बरात्तदाभून्मरुतां सरस्वती ॥ ३२ ॥
 मदान्ध मांगा भुजदण्डचण्डिमावलेपतो मन्मथदन्तवृक्षनुना ।
 सुरैः सनाथेन पुरंदरादिभिः समं समन्तात्समरं विजित्वरैः ॥ ३३ ॥
 गुहोऽसुरैः षड्दिनजातमात्रको निदायधामेव निशातमोभरैः ।
 विपद्यते नामिशुखो हि संगरे कृतस्त्वया तस्य समं विरोधिता ॥ ३४ ॥
 अभ्रंलिहैः शृङ्गशतैः समन्ततो दिक्चक्रवालीः स्थगितस्य भूभृतः ।
 क्रौञ्चस्य रन्ध्रं विशिखेन निर्ममे येनाहवस्तस्य सह त्वया कृतः ॥ ३५ ॥
 लब्ध्वा धनुर्वेदमनङ्गविद्विपस्त्रिःसप्तकृत्वः समरे महीभुजाम् ।
 कृत्वामिपेकं रुधिराम्बुभिर्धनैः स्वकोधवद्वि शमयांभभूय यः ॥ ३६ ॥
 न जामदग्न्यः क्षयकालरात्रिकृत्स क्षत्रियाणां समराय वन्गति ।
 येन त्रिलोकीमुभटेन तेन कुतोऽवकाशः सह विग्रहग्रहे ॥ ३७ ॥
 त्वजाशु गर्भं मदमूढ मा स्म गाः स्मरारिसुतोर्वर्याकिगोचरम् ।
 तमेव नूनं शरणां ब्रजाधुना जगत्सुवीरं स चिराय जीव तत् ॥ ३८ ॥

पुरेसे धागकी ऐसो भारी लयट उठी कि त्पके धोत्रोंके बाज, धान और पीरियाँ कुत्तय गईं और तारकके पनुप बाज और भूषीर भी जल उठे ॥ ३१ ॥ बार-बार ऐसे सुरे-सुरे भसतुन होनेपर भी जब यह धर्ममें पूर दीव्य न लौटा, तब भाऊगणसे यह देववाणी सुनाई दी ॥ ३२ ॥—हे धर्मदामें पूर दीव्य । तू अपने भुजदण्डों पर धर्मद करके उन कार्तियेयजीसे युद्ध करने न आ, जिनके साथ इन्द्र और दूसरे विजयी देवता चले आ रहे हैं ॥ ३३ ॥ हे मतवाले देव । तूः दिनके बालक कुमारके आगे युद्धमें दीर्घोंकी यही दुंदरा होनी जो तुम्हेंके आगे रातके चँपेकी होती है । मला तुम क्या उनसे लड़ पाओगे ॥ ३४ ॥ हे तारक ! जिस लौट्य पर्यंतयों तीर्थों चोटियाँ आकाश चूमतीं हैं और जो दसों दिशाओंमें फैला हुआ है उसे भी जिसने पापोंसे वेप टाटा है, उनके साथ तुम क्या लड़ पाओगे ! ॥ ३५ ॥ जिन परनुरामजीके शंकरतासे पनुर्विया सौण-कर इषीस बार युद्धमें राजाओंके गाढ़े रणमें स्नाय करके घपवा मोंध टण्डा चिया है ऐसे पशियोंके मारकी काकरानि बुजानेवाले परनुराम भी जिनसे लड़नेमें घपराते हैं, उन विपुवन प्रसिद्ध महावीराने लड़नेका तुममें दम कहा है ॥ ३६-३७ ॥ चरे धर्मदसे चँपे दीव्य ! तू जाना धर्मद तोड़कर बुद्ध येया उपाय कर कि जिससे तू कुमारकी रुदिके आगे न आ सके । तुम समय बन्दीकी शरदमें जानेसे दो तैरे प्राय चपे रहोगे ॥ ३८ ॥ अपने मोपने लोनों धोत्रोंकी कैपानेवाला यह धर्मदो दीव भी ऐसी आकाशवाणी सुनकर एक बार ररयें और दटा पर कि

श्रुत्वेति वाचं वियतो गरीयसीं क्रोधादहंकारपसो महासुरः ।
 प्रकम्पिताशेषजगत्त्रयोऽपि सन्नकम्पतौच्चैर्दिवमभ्यधाञ्च सः ॥ ३९ ॥
 किं ब्रूथ रे व्योमचरा महासुराः स्मरारिष्वनुप्रतिपन्नवर्तिनः ।
 मदीयवाख्यत्रयवेदना हि साऽधुना कथं विस्मृतिगोचरीकृता ॥ ४० ॥
 कदुस्वरैः प्रालपथाम्बरस्थिताः शिशोर्वलात्पङ्क्तिमजातकस्य किम् ।
 श्वान्नः प्रमत्ता इव कार्तिके निशि स्वैरं वनान्ते मृगधूर्तका इव ॥ ४१ ॥
 सङ्घेन वी गर्भतपस्विनः शिशुर्वराक एपोऽन्तमवाप्स्यति ध्रुवम् ।
 अतस्करस्तस्करसङ्घतो यथा तद्वो निहन्मि प्रथमं ततोऽप्यमुम् ॥ ४२ ॥
 इतीर्यत्युग्रतरं महासुरे महाकृपाशं कलयत्यलं क्रुधा ।
 परस्परोत्पीडितजानवो भयान्नभश्चरा दूस्तरं विदुद्रुघुः ॥ ४३ ॥
 ततोऽवलोपादिकटं विहस्य स व्यधत्त कोशादसिमुत्तमं वहिः ।
 रथं द्रुतं प्रापय वासवान्तिकं नन्वित्यवोचन्निसारथिं रथी ॥ ४४ ॥
 मनोतिवेगेन रथेन सारथिप्रणोदितेन प्रचलन्महासुरः ।
 ततः प्रपेदे सुरसैन्यसागरं भयंकराकारमपारमग्रतः ॥ ४५ ॥
 पुरः सुराणां पृतनां प्रथीयसीं विलोक्य वीरः पुलकं प्रमोदजम् ।
 वभार भूमनाथ स बाहुदण्डयोः प्रचण्डयोः संगरकेलिजौतुकी ॥ ४६ ॥

संभल कर आकाशको ओर मुँह करके गरजकर बोला—॥ ३९ ॥ मेरे कार्तिकेयकी पढ़ाई करने-
 वाले आकाशमें घूमनेवाले देवताओ। क्या थाज तुम्हें मेरे आशोंके धायोंको पीडा मूल गई
 है जो इस प्रकार बक-बक कर रहे हो ॥ ४० ॥ अरे देवताओ ! कार्तिके महानेमें जैसे पागल
 कुत्ते भूँका करते हैं और रातको वनमें सियार, लोमड़ी आदि भूत पशु पोका करते हैं वैसे
 हो तुम लोग भी आकाशमें चढ़ कर उस दुः दिनके बन्धे कुमारके बलकी वजा रिरिया रिरिया-
 कर भूँकी शान बघार रहे हो ॥ ४१ ॥ अरे देवताओ ! तुम लोगोंके साथ पढ़नेसे यह पेचारा तपस्वी
 वालक कार्तिकेय भी तुम लोगोंके साथ बैठे ही मेरे हाथसे माता जायगा जैसे खोरका साथ करने-
 वाला भी दंड भोगता है ॥ ४२ ॥ यह कहकर उस महासुरने जो अपना भारी और बड़ा
 भयापना कृपाण उठाया तो आकाशमें खड़े हुए सब देवताओंमें अगदग मच गई ॥ ४३ ॥
 वह बड़े धर्महसे विकट हँसो हँसकर उलगे नवानसे अपनी करवाल बाहर निकाली और अपने
 सारथीसे कहा कि रथको बढ़ाकर मष्टपट हन्त्रके आगे पहुँचाओ ॥ ४४ ॥ मनसे भी अधिक वेग से
 चलनेवाले जिस रथको सारथी पढ़ाए लिये चला जा रहा था उसपर धैरा हुआ वह महादैत्य
 देवताओंकी उस सेनाके आगे जा पहुँचा जो अथाह समुद्रके समान भयंकर दिखाई दे रही
 थी ॥ ४५ ॥ देवताओंकी वसी भारी सेना सामने देखकर उस युद्धके लिये उतावले धीरके भारी
 मुजर्दोंके शेरुँ पड़े हो गए और उसके हृदयमें युद्धका उत्साह उमड़ उठा ॥ ४६ ॥ तब
 हृदके बड़े-बड़े रणधुरी और युद्धके लिये जलबाण हुए सैनिक मन्त्रसे भी अधिक वेगसे दैत्यकी

षोडशः सर्गः

अथान्योन्यं विमुक्तास्त्रशस्त्रजालैर्भयंकरैः । युद्धमासीत्सुनासीरसुरारिवलयोर्महतम् ॥१॥
 पत्तिः पत्तिमभीषाय रणाय रथिनं रथो । तुरंगस्थं तुरंगस्थो दन्तिस्थं दन्तिनि स्थितः
 युद्धाय धावतां धीरं वीराणामितरेतरम् । वैतालिकाः कुलाधीशा नामान्वलमुदाहरन् ॥२॥
 पठतां वन्दिवृन्दानां प्रवीरा विक्रमावलीम् । क्षणं विलम्ब्य चित्तानि ददुर्युद्धोत्सुकाःपुरः
 संग्रामोन्न्दवधिष्णौ विग्रहे पुलकाञ्चिते । आसीत्क्वचविच्छेदो वीराणां मिलतां मिथः
 निर्दयं खड्गमिजेभ्यः क्वचेभ्यः समुत्थितैः । आसन्व्योमदिशस्तूलैः पलितैरिव पाण्डुराः
 खड्गा रुधिरसंलिप्ताश्चण्डांशुकरमासुराः । इतस्ततोऽपि वीराणां विद्युतां वैभवं दधुः ॥३॥
 विसृजन्तो मुखैर्ज्वाला भीमा इव युजंगमाः । विसृष्टाः सुभटैरुष्टैर्व्योम व्यानशिरै शराः
 चाटं चपूंषि निर्भिद्य धन्विनां निघ्नतां मिथः । अशोषितमुखा भूमिं प्राविशन्दूरमाश्रुताः
 निर्भिद्य दन्तिनः पूर्वं पातयामासुराश्रुताः । पेतुः प्रवरयोधानां प्रीतानामाहवोत्सवे ॥४॥
 ज्वलदग्निमुखैर्वायुर्नीरन्ध्रैरितरेतरम् । उच्चैर्मानिका व्योम्नि कीर्णै दूरमपासरन् ॥५॥

सोलहवाँ सर्ग

एव इन्द्र और शारङ्गकी सेनाएँ एक दूसरेपर भयङ्कर अस्त्र-शस्त्र बरता-धरसाकर घोर युद्ध करने लगीं ॥ १ ॥ पैदलसे पैदल जा मित्रे, रथवालों से रथवाले जा उलझे, घुड़सवारोंसे घुड़सवार जा जूझे और हाथीसवार हाथीसवारोंसे मित्र गण ॥ २ ॥ जो सैनिक निडर होकर बैरियोंपर चोट कर रहे थे उन्हें लटनेकी उभादुबनेके लिये दोनों शीरके चारण लोग उन वीरोंको, कुलके उभापर बरता-धरताकर उनकी बड़ाई करते जा रहे थे ॥ ३ ॥ पर वे वीर युद्धमें ऐसे जी-जानसे लड़ते थे कि उन्हें इतना धक्काया हो कहीं था कि चारणोंके मुँह अपने पराक्रमके गोल सुन तकें झललिये जब वे बीच बीचमें कभी छुणनर रुक जाते थे तो चारणोंके गीत भी सुन लेते थे ॥ ४ ॥ उन्हें लपटाईका ऐसा आनन्द था रहा था कि उनके रोएँ-रोएँ दरसाहसे फरफरा उठे और जब उनकी आवासेमें गिदन्त हो जाती थी तो उनके कवचोंके टँकितम् झुल जाते थे ॥ ५ ॥ वहाँ सैनिक लोग इतना कस-कसकर बरवाव चला रहे थे कि कवचोंके टूटनेसे उनके बीचें बीचें हुईं कूड़े आकार और दिशाओंमें उड़ उड़कर ऐसी फील गई कि सब दिशाएँ बड़ेके बालों जैसी घीली हो गईं ॥ ६ ॥ जहाँ-तहाँ सूर्यकी किरणें पड़नेसे वीरोंकी लहसे रँगो करवाले विमलीके समान चमक उठती थीं ॥ ७ ॥ क्रोधमें भर-भरकर वीरोंने जो आग उगलते हुए भयंकर साँपोंके समान बिपैले बाण छोड़े उनसे सारा आकाश क्षा गया ॥ ८ ॥ वे एक दूसरेपर दूरसे जो पाव चला रहे थे वे दूसरी शीरके धनुषधारियोंके शरीरकी पैसी कुर्तसे बंधते हुए पार निकलकर पृथ्वीमें जा पँचते थे कि उनमें लहलह नहीं लग पाता था ॥ ९ ॥ उस युद्धके उत्सवमें जो बड़े-बड़े योद्धा जी खोलकर लड़ रहे थे वे हाथियोंपर ऐसे कराते पाव चला रहे थे कि हाथियोंका तिर तो पड़ले कटकर गिर जाता था, पाव पीठे गिरता था ॥ १० ॥ जब आकाशमें जलती हुई लपटोंवाले साँपोंको घनो पतें भर गईं तो विमानोंपर चढ़े हुए देवता वहाँसे दूर दूर गये कि कहीं हम न हनकी लपेटमें आ जायें ॥ ११ ॥ धनुषधारी सैनिकोंने इतने पाव छोड़े कि आकाशकी छतरी चलती हो गई

विभिन्नं धन्विनां वायुैर्व्यथार्तमिव विह्वलम् । ररास विरसं व्योम श्येनप्रतिरवच्छलात्
चापैराकर्णमाकृष्टैर्विमृक्ता दूरमाशुगाः । अधान्द्रधिरास्वादलुब्धा इव रस्यैपिणाम् ॥ १३ ॥
गृहीताः पाण्यिभिर्वीरैर्विकोशाः सङ्गराजयः । कान्तिजालच्छलादाजौ व्यहसन्संमदादिव
खङ्गाः शोणितमंदिग्धा नृत्पन्तो वीरपाण्डिपु । रजोधने रणोऽनन्ते विद्युतां वैमवं दधुः १४
कुन्ताशकाशिरे चण्डमृच्छमन्तो रणार्थिनाम् । जिह्वाभोगा पमस्येव लौलिहाना रणाङ्गणे
प्रज्वलत्कान्तचक्राणि चक्राणि वरचक्रिणाम् । चण्डांशुमण्डलश्रीणि रणव्योमनिबभ्रमुः
केचिद्दीरैः प्रणादैश्च वीराणामभ्युपेयुषाम् । निपेतुः क्षीमतो वाहादपरं सुसुहृर्मदात् १८
कश्चिदभ्यागते वीरे जिघांसौ मुदमादवी । परावृत्त्य गते क्षुब्धे विपमादाहवप्रियः १९
बहुभिः सह युद्धे वा परिभ्रम्य रणोन्वयाः । उद्दिश्य तासुपेयुः केऽपि ये पूर्ववृता रणे
अभितोऽभ्यागतान्योद्धुं वीरान्रणमदोद्धतान् । प्रत्यनन्दन्सुजादण्डरोमोद्गममृते भटाः
शस्त्रमिन्नेभकुम्भेभ्यो मौक्तिकानि च्युतान्पथः । अध्याहवक्षेत्रमुत्तकीर्तिवीजाङ्गराश्रियम्
वीराणां विपमैर्घोषैर्विद्रुता वारणा रणे । शास्यमाना अपि त्रासाद्भेजुर्भूताङ्गुशा दिशः २३

धीर ह्सीलिये बह भी पीदासे न्याकुल होकर यात्र पक्षाके दरबाने शय्योमें रोने लग्ग ॥ १२ ॥ लदाक
पोदाघोने अपने कानों तक खींच-छींचकर जो बाण छोड़े वे मानो हथिर पीनेके लोमसे ही उतनी
दूरतक दौड़े चले जा रहे हों ॥ १३ ॥ संग्राममें वीरोंके शयोंकी बंधी करवाले मस्तवाली हो होकर
मानो अपने धारकी चमकमें ही हँस रही हों ॥ १४ ॥ वीरोंके हाथोंमें ताकनेवाली लहसे लयपय
करवाले, धूलसे पटे हुए उस दूरतक फौले हुए सुद वैत्रमें विजलीके समान चमक उठती थीं ॥ १५ ॥
सुदमें लड़नेवालोंके चमकते हुए भयकर भाजे समताकही लड़नेवाली जीभ जैसे दिलाई दे रहे थे ॥ १६ ॥
चक्राश्रय करनेवाली चमकसे विरे हुए और प्रचंड सूर्य-मण्डलके समान चमकवाले चक्रधारो वीरोंके
थक, उस लुब्ध रूपी आकाशमें चारों ओर चकरा लगा रहे थे ॥ १७ ॥ जब कोई वीर सामने
आकर गरजकर ललकार उठता था तो बहुतसे योद्धा तो उस ललकारकी सुनकर ही घोड़ोंसे
नीचे गिर पड़ते थे और बहुतसे हृदयके मारे ही गूँथित होकर गिर पड़ते थे ॥ १८ ॥ कोई
कोई वीर ऐसे थे कि जब कोई उन्हें मारनेके लिये सामने आता तो वे प्रसन्न हो उठते थे कि
चलो इसीसे दो-दो हाथ हो जायें, पर जब वह धरारकर लौट जाता था तब उन्हें इस बातका
बड़ा दुःख होता कि हाथ, लड़ न सके ॥ १९ ॥ और कृप्य ऐसे भी रणशूरोंके थे जो यहुतोंके
साथ लड़-भिड़कर और इधर-उधर घूम घूमकर उन वीरोंके पास पहुँच जाते थे, जिनसे
लड़नेके लिये उन्हें पदले ही सोच रक्खा था ॥ २० ॥ जब सपने योद्धाओंने देखा कि युद्धके
लिये मस्तवाले और लड़नेके लिये फरफराती पाहोंवाले वीर चारों ओर था गए हैं तो वे बड़े
प्रसन्न हुए कि शय जो मरकर जड़ा तो जायगा ॥ २१ ॥ शयोंसे बड़े हुए हाथियोंके मस्तकोंसे
मड़े हुए मोतां बड़ा विचारे हुए देते शोभा दे रहे थे जैसे रणके खेतमें घोए हुए पशुके शंकर फूट
निकले हों ॥ २२ ॥ रणमें वीरोंकी भवानक ललकारोंसे मानो हुए हाथी, हाथीगर्भके अजस्र घा-
दारकर विधर-तिधर भाग निकलते थे ॥ २३ ॥ जिन हाथियोंके हाथीवान सुदमें शत्रुओंके बाणोंसे मार

रथे वाणगखैर्मिन्ना भ्रमन्तो भिन्नयोधिनः । निमज्जुमिलद्रक्तनिम्नगासु महागजाः २४
 अपारेऽसुकसरित्पूरे रथेषुचैस्तरेष्वपि । रथिनोऽभिरिपुं क्रुद्धा हुंकृतैर्व्यसृजञ्शरान् २५
 खड्गनिर्घ्नन्मूर्धानो व्यापतन्तोऽपि वाजिनः । प्रथमं पातयामासुरसिना दारिवानरीन् २६
 वीराणां शस्त्रभिन्नानि शिरांसि निपतन्त्यपि । अथाचन्दन्तदष्टोष्ठमीमान्गभिरिपुं क्रुधा २७
 शिरांसि वरयोधानामर्धचन्द्रहृतान्यलम् । आददाना भृशं पादैः श्वेना व्यानशिरे नभः २८
 क्रोधादभ्यापतदन्विदन्तारुढाः पदातयः । अश्वारोहा गजारोहप्राणान्प्राप्तैरपाहरन् २९
 शस्त्रच्छिन्नगजारोहा विभ्रमन्त इतस्ततः । युगान्तवातचलिताः शैला इव गजा धनुः ३०
 मिलितेषु मिथो योद्धुं दन्तिषु प्रसभं भटाः । अगृह्णन्सुध्यमानाश्च शस्त्रैः प्राणान्परस्परम्
 रूपा मिथो मिलदन्तिदन्तसंघर्षजोऽनलः । योधाश्शस्त्रहृतप्राणानदहत्सहसारिभिः ॥३२॥
 आक्षिप्त्वा अपिदन्तीन्द्रैः कोपनैः पत्तयः परम् । तदध्वनहरन्सङ्गघातैः स्वस्य पुरः प्रभोः ३३
 उत्तिप्य करिभिर्दूरान्मुक्तानां योधिनां दिवि । प्रापि जीवात्मभिर्दिव्या गतिर्वा विग्रहैर्मही
 खड्गैर्धवलधारालैर्निहत्य करिणां करान् । तैर्भुवापि समं विद्वान्संतोषं न भटा ययुः ३४
 आक्षिप्याभिदिवं नीताः पत्तयः करिभिः करैः । दिव्याङ्गनाभिरादातुं रक्ताभिर्दुर्तमीपिरे

हाले गए थे, वे हाथी मनमाना घूमते हुए लहड़ी नदीमें डाल हो उठे ॥ २४ ॥ बड़े ऊँचे रथोंपर चढ़े हुए सैनिक, लहड़ीकी नदीकी अपार धारामें डूबते रहनेपर भी क्रुद्ध होकर ललकारते हुए शत्रुके ऊपर वायु छोड़ रहे थे ॥ २५ ॥ बहुतसे ऐसे वीर भी थे कि शत्रुके करवालसे सिर काट जानेपर जब वे अपने घोड़ोंसे नीचे गिरते थे तो गिरते-गिरते भी अपने करवालसे शत्रुका सिर काट लिया करते थे ॥ २६ ॥ शस्त्रोंसे कटकर गिरे हुए वीरोंके सिर, कोपसे दौँत पीसते हुए शत्रुकी ओर दौड़ रहे थे ॥ २७ ॥ अथचन्दे बाणोंमें जो सिर काट दिए थे और जिन्हें बाण ऊपर अपने पंजोंमें उदा ले गए उन चढ़े-चढ़े वीरोंके सिरोंसे सारा आकाश भर उठा ॥ २८ ॥ पीढ़ल और घुड़सवार सैनिकोंने कोपसे पागल होकर सामने पड़नेवाले हाथियोंके दातोंपर चढ़चढ़कर हाथी सवार सैनिकोंको भालोंसे छेड़ डाला ॥ २९ ॥ हाथी सवारोंके मार डाले जानेपर उनके मनमाने घूमनेवाले हाथी ऐसे लगा रहे थे जैसे प्रलयकी भ्रोंधीसे पहाड़ धुंहर-उधर उड़ रहे हों ॥ ३० ॥ जब दो हाथी लड़नेके लिये मिश्रते थे तो उनपर बैठे हुए घोड़ा आपसमें लड़कर चलपूर्वक एक दूसरेकी मार डालते थे ॥ ३१ ॥ कोपसे परस्पर टक्कर लेनेवाले हाथियोंके दातोंकी घोटसे ऐसी आग बरती थी कि शत्रुके शस्त्रोंसे मारे हुए सैनिक अचानक जल उठते थे ॥ ३२ ॥ पीढ़ल सैनिक ऐसे लड़ रहे थे कि यदि उन्हें अत्यन्त क्रुद्ध हाथी अपनी सूँडमें उठाकर उड़ाल भी देते थे तो वे अपने स्वामीके देखते-देखते उसकी सूँड अपनी करवालसे काट डालते थे ॥ ३३ ॥ जिन वीरोंको हाथियोंने उठाकर ऊपर उड़ाल दिया था, उनके प्राण तो स्वर्गमें चले गए और उन्हें दिव्य गति मिल गई, केवल उनके शरीर पृथ्वीपर आ गिरे ॥ ३४ ॥ यद्यपि योद्धा लोग अपने उजले धारवाले करवालसे हाथियोंकी सूँड ऐसे मटकेसे काट रहे थे कि उनके करवाल पृथ्वीमें आ पहुँचते थे, फिर भी उनका जो नहीं भर रहा था ॥ ३५ ॥ जिन वीरोंने हाथियोंकी सूँडसे उड़ाले जानेपर वीर गति पाई थी, उन स्वर्गमें पहुँचे हुए सैनिकोंको मटपट भेजते अपना मेनी मगानेके लिये देवाङ्गनाएँ उतावली हो उठती थीं ॥ ३६ ॥ जब कोई घुड़सवार

घन्विनस्तुरगारूढा गजारोहाञ्छरैः चतान् । प्रत्यैच्छन्मूर्च्छितान्भूयो योद्धुमाश्वसतश्चिरम्
 क्रुद्धस्य दन्तिनः पत्तिर्जिघृक्षोरसिना करम् । निर्भिद्य दन्तमुसलावारोह जिघृक्षया ३८
 खड्गेन मूलतो हत्वा दन्तिनो रदनद्वयम् । प्रातिपद्ये प्रविष्टोऽपि पदातिर्निर्गमाद्द्रुतम्
 करेण करिणा वीरः सुगृहीतोऽपि कोपिना । अस्मिनाद्भ्रजहारशु तस्यैव स्वयमक्षतः ४०
 तुरंगी तुरगारूढं प्रासेनाहत्य वचसि । पततस्तस्य नाज्ञासीत्प्रासघातं स्वके हृदि ४१
 द्विधा प्रासहतप्राणो वाजिपृष्ठद्वडासनः । हस्तोद्भृतमहाप्रासो भुवि जीवन्निवाग्रमत् ४२
 तुरंगसादिनं शस्त्रहतप्राणं मतं भुवि । अघट्टोऽपि महावाजी न साश्रुनयनोऽत्यजत् ४३
 भज्जलेन शितधारेण भिन्नोऽपि रिपुणाश्वगः । नामूर्च्छस्कोपतो हन्तुमियेष प्रपतन्नपि ४४
 मिथः प्रासाहतौ वाजिच्युतौ भूमिगतौ ह्यः । शस्य्या युयुधतुः कौचित्केशाकेशि भुजाभुजि
 रथिनो रथिभिर्वाणैर्द्वैतप्राणा दृढासनाः । चतकार्मुकसंधानाः सप्राणा इव मेनिरे ४६
 न रथी रथिनं भूयः प्राहरच्छस्त्रमूर्च्छितम् । प्रत्याश्वसन्तमन्विच्छन्नातिष्ठुधि लोमतः

धनुषधारी सैनिक अपने बाणोंसे किसी हाथी-सवारको घायल मारकर मूर्छित कर देता था तब वह बहुत देर तक इस बातमें खड़ा रह जाता था कि वह फिर उठे तो उससे युद्ध करें, क्यों कि जो मूर्छित हो जाता था उसे वे नहीं मारते थे ॥ ३७ ॥ एक विगड़ैल हाथी एक पैदल सैनिकको अपने सूँवमें लपेटना चाहता था, इतनेमें उसने क्या किया कि पहले करवालका एक हाथ जमाकर उसकी सूँव काट डाला और फिर उसके दाँत उखाड़नेके लिये उसके जामे-जामे दाँतोंपर धड़कर बैठ गया ॥ ३८ ॥ एक दूसरा पैदल सैनिक, शत्रुकी सेनामें घुसा और अपने करवालसे एक हाथीके दोनों दाँत जड़तक काटकर मरु अपनी सेनामें लौट आया ॥ ३९ ॥ श्रोधमें भरे हुए हाथीकी सूँवमें कलकर लिपट जानेपर भी एक बार अपनी तलवारसे हाथीको मारकर जीता जागता निकल आया ॥ ४० ॥ एक धुइसवार दूसरेकी छातीमें भाजा मारकर ऐसा प्रसन्न हुआ कि जब उस घोड़ेसे गिरते हुए सैनिकने उलटकर उसपर जो भाजा चलाया तो उसे वह भी पता न चला कि मुझे चोट लगी है ॥ ४१ ॥ मारनेके लिये हाथमें भारी भाजा उठाकर घोड़ेकी पीठपर जमकर बैठा हुआ एक सैनिक शत्रुके भाड़ेसे मारे जानेपर भी ऐसा लग रहा था मानो वह अभी जीता जागता ही हो ॥ ४२ ॥ शत्रुकी चोटसे जो धुइसवार पृथ्वीपर मरा पड़ा था, उसका यश सा घोड़ा जबइसर्द हुई आँखोंसे अपने स्वामीको देखता हुआ वहीं खड़ा रहा, हटा नहीं ॥ ४३ ॥ शत्रुके तीले भाड़ेका घाव खाकर एक धुइसवार छड़खड़ाता हुआ मो श्रोधके मारे मूर्छित नहीं होता था और चाहता था कि शत्रु मिले तो उसे धमी मार दालूँ ॥ ४४ ॥ दो धुइसवार आसतमें एक दूसरेके भाड़ेकी चोट खाकर भूमिमें गिरे हुए भी मोधके मारे एक दूसरेके बाज पकड़कर गुण्यमगुल्या होकर धुरीसे जड़ रहे थे ॥ ४५ ॥ एक रथवाले घोड़ाको दूसरे रथवालेने मार डाला था, फिर भी वह अपना हटा हुआ धनुष भी रींचि हुए मरा हुआ रथपर ऐसा जमकर बैठा हुआ था मानो अभी जीता जागता हो ॥ ४६ ॥ एक रथसवार सैनिक दूसरे रथीको शस्त्रसे मूर्छित करके उसपर वार न करके वह बाट मोहने लगा कि वह सधेत हो तो इससे लड़ा जाय ॥ ४७ ॥ दो रथसवार और छेठ शत्रुधारी घोड़ा एक दूसरेकी मारकर एक दूसरेके लगे

अन्योन्यं रथिनौ कौचिद्गतप्राणौ दिवं गतौ । एकामप्सरसं प्राप्य युयुधाते वरायुधौ ४८
मियोर्ध्वचन्द्रनिर्लूनमूर्धानौ रथिनौ रुचा । खेचरो भुवि नृत्पन्तौ स्वकबन्धावपरयताम्
रयाङ्गणे शोणितपङ्कपिच्छिले कथं कथंचिन्ननृतुर्धृतायुधाः ।

नदत्सु तूर्येषु परेतयोपितां गणेषु गायत्सु कबन्धराजयः ॥ ५० ॥

इति सुररिपुर्वृत्ते युद्धे सुरासुरसैन्ययो रुधिरसरितां मज्जदन्तिव्रजेपुतटेपलम् ।

अरुणनपनः क्रोधाङ्गीमग्नमद्भ्रुकुटीमुखः सपदि ककुभामीशानभ्यामगत्स युयुत्सया

इति श्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये सुरासुरसैन्य-
संग्रामवर्णनं नाम षोडशः सर्गः ।

सब वे दोनों वहाँ एक अप्सरा के लिये आपसमें लड़ाई करने लगे ॥ ४८ ॥ अर्द्धचन्द्र पाणोंसे एक
दूसरेका सिर काटकर दो रथी स्वर्गमें जा पहुँचे और वहाँसे वे अपने उन धर्कोंका खेल देखते रहे जो
अहुत देरतक हाथमें तलवार लिये युद्धभूमिमें नाच रहे थे ॥ ४९ ॥ उस युद्धक्षेत्रमें जहाँ-तहाँ
नगाड़े बज रहे थे और भूत प्रेतोंकी खियाँ भीत ना रही थीं । वहाँ युद्धभूमिमें लहूके कोषसे इतनी
फिसलान हो गई थी कि वायु लिए हुए वीरोंके धड़ बनी कठिनाईसे नाच पा रहे थे ॥ ५० ॥ इस
प्रकार जय देव दानवोंका युद्ध आरंभ हो गया और लहूको नदीके तीरपर ही वे डूबने लगे सब वह
देवताओंका शत्रु सारक, क्रोधके भारे भीहँ नचाकर और लाल-लाल खौलें करके युद्ध करनेके लिये
सुरत इन्द्र आदि दिगपालोंके आगे आ डटा ॥५१॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें देवताओं और दैत्योंकी
सेनाओंके युद्धका वर्णन नामका सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



सप्तदशः सर्गः ।

दृष्ट्वाभ्युपेतमथ दैत्यपतिं पुरस्तात्संग्रामकेलिकुतुकेन घनप्रमोदम् ।
योद्धुं मदेन मिमित्तुः ककुभामधीशा चाणान्धकारितदिगम्बरगर्भमेत्य ॥ १ ॥
देवद्विपां परिवृढो विकटं विहस्य चाणावलीभिरमरान्निकटान्ववर्ष ।
शैलानिव प्रवरवारिधरो गरिष्ठानद्भिः परामिस्थ गाढमनारताभिः ॥ २ ॥
जन्मद्विपत्प्रभृतिदिक्पतिचापमुक्ता चाणाः शिता दनुजनायकवाणसङ्घान् ।
अह्वाय तार्क्ष्यनिवहा इव नागपूगान्सद्यो विचिच्छिदुरलं कणशो रणान्ते ॥ ३ ॥
तान्प्रञ्जलत्फलमुखैर्विपमैः सुरारिनामाङ्कितैः पिहितदिग्मभनान्तरालैः ।
आच्छादितस्तृणचयानिव हन्यवाहश्चिच्छेद सोऽपि सुरसैन्यशराञ्जशरैः ॥ ४ ॥
दैत्येश्वरो ज्वलितरोपविशेषभीमः सद्यो मुमोच युधि यान्विशिखान्सहैलः ।
ते प्रापुरुद्भटभुजंगमभीमभावं गाढं घन-धुरापि तौस्त्रिदशेन्द्रमुख्यान् ॥ ५ ॥
ते नागपाशाविशिरसुरेण पद्माः श्वासानिलाकुलमुखा विमुखा रणस्य ।
विङ्नायका चलरिपुप्रमुखाः स्मरारिन्नतोः समीपमगमन्निपदन्तहेतोः ॥ ६ ॥
दृष्टिप्रपातवशतोऽपि पुरारिन्नोस्ते नागपाशघनबन्धविपत्तिदुःखात् ।
इन्द्रादयो मुमुचिरे स्वयमस्य देवाः सेवां व्यधुर्निकटमेत्य महाजिगीषोः ॥ ७ ॥

सत्रहवाँ सर्ग

जिस दैत्यराजके रोम-रोम लड़ाईके चारते फरफार रहे थे और जिसने घुर्याँधार बाण परसाकर धरती शाफना सबमें छँपेरा कर दिया था, उसे आगे हुए बैलकर सब दिग्पाल, रणमें मक्वाले होकर एक साथ उससे लोहा लेनेके जिये था जुटे ॥ १ ॥ जैसे सावन-माझोंकी घनी घड़ाएँ लगाहार जल परसाकर थड़े-थड़े पहाड़ोंकी नीचेसे ऊपरतक भिगो देती हैं वैसे ही वह देवताओंका शत्रु सारक भी बड़ी बरारना हँसी हँसता हुआ देवताओंपर भयकर रूपसे घुर्याँधार बाण परसाने लगा ॥ २ ॥ उस रण क्षेत्रमें इन्द्र आदि दिग्पाल जो तीरे सीरे बाण छोड़ते थे उन्हें चुन-चुनकर दैत्यराजके बाण वैसी ही फुर्तीसे काटते चले जा रहे थे जैसे बहुतसे गधु मिलाकर सोंपोंके मुण्ड काटते चले जा रहे हैं ॥ ३ ॥ देवताओंने उसपर जो बाणोंकी वर्षा लगाई उसे उसने अपने नाम सुरे हुए, आगके समान जलतेहुए तीरे फड़बाले और सब दिशाओं और आकाशकी पाट देनेवाले बाणोंसे उसी प्रकार सदर-नहस कर टाळा जैसे अपने ऊपर छाए हुए धात-रूपकी वषकटों हुई भाग जला टाळती है ॥ ४ ॥ क्रोधसे लाज उस भयंकर दैत्यराजने उस युद्धके शत्रु न समझते हुए जो बाण छोड़े थे दूरत सोंपोंकी भाँति भयकर बनकर इन्द्र आदि देवताओंके गलेमें कमकर लिपट गए ॥ ५ ॥ उस दैत्यके बाणोंकी फौसी गलेमें पक जानेपर सब देवताओंकी सौँते छुटने लगी और ये सबनाभिमदना छोड़-छोड़कर इस विपदासे छुटकारा पानेके जिये कातिकेवके पास दौड़े ॥ ६ ॥ कातिकेपने उनको भोर भ्राँच भर देख ही दिया कि इन्द्र आदि देवताओंके गलेमें बसे हुए वे नाग-पत्तोंके कन्दे अपने आप सत्र

उदीप्तकोपदहनोऽथ सुरेन्द्रशत्रुरहाय सारथिमवोचत चण्डबाहुः ।
 यदा मया सुरपतिप्रमुखाः प्रसन्न बालस्य धूर्जटिसुतस्य निरीक्षणेन ॥ ८ ॥
 मुक्ता बभूवुरधुना तदिमान्विहाय कर्तास्म्यगुं समरभूमिपशूपहारम् ।
 तत्स्यन्दनं सपदि वाहय शंभुसुतुं द्रष्टास्मि दर्पितभुजावलमाहवाय ॥ ९ ॥
 तत्स्यन्दनः सपदि सारथिमंप्रणुनः प्रक्षुब्धवारिधरधीरगभीरघोषः ।
 चण्डश्चाल दलिताखिलशत्रुसैन्यमांसास्थिशोणितविपङ्क विलुप्तचक्रः ॥ १० ॥
 हृष्टा रथं प्रलयवातचलद्विरीन्द्रकल्पं दलद्बलविरावविशेषरौद्रम् ।
 श्रम्यागतं सुररियोः सुरराजसैन्यं क्षीभं जगाम परमं भयवेपमानम् ॥ ११ ॥
 प्रक्षुभ्यमाणमवलोक्य दिगीशसैन्यं शंभोः सुतं कलहकेलिकुतूहलोत्कम् ।
 उद्दामदोः कलितकार्मुकदण्डचण्डः प्रोनाच वाचमुपगम्य स कार्तिकेयम् ॥ १२ ॥
 रे शंभुतापसशिशो वृत मुञ्च मुञ्च दोर्दर्पमत्र विरम त्रिदिवेन्द्रकार्यात् ।
 शस्त्रैः किमत्र भवतोऽनुचितैरतीव बालत्वकीमलभुजातुलमारभूतैः ॥ १३ ॥

गण् धीर तब ये सब देवता उन कार्तिकेयके पास जा जाकर उनका बड़ाई करने लगे जो
 दैत्योको जीतनेके लिये कपूर हो कसे हुए थे ॥ ७ ॥ जब उस पदी-पदी भुजाओंवाले तारकने
 यह सब देखा तब यह क्रोधिते जल मरा और उसने तुरन्त अपने सारथीको आजा धी कि मैंने
 जिन इन्द्र आदि बड़े बड़े देवताओंको फट्टे में बाँध लिया था, ये सब कार्तिकेयके देखने भरते
 छुटकारा पा गए हैं इसलिये इन सब देवताओंको छोड़कर मैं पहले इसीको गिद्ध सिंघार आदिकी
 भेंट करता हूँ । तो तुम ऋष्टय रथ बढ़ाकर उस शकरजोके पुत्रके पास मुझे पहुँचाओ
 जिससे मैं जो तो देखूँ कि मुझसे लड़नेके लिये वह अपनी किन भुजाओंके बलपर इतना पैँड
 रहा है ॥ ८, ९ ॥ तत्काल सारथीने इस बेगसे रथ चलाया कि वह रथ प्रलयके उमड़े हुए मादलों
 के समान धड़पड़ाता हुआ भयंकर बेगसे चला । यहाँ इतने शत्रु सैनिक कटकर गिरे हुए थे
 कि उनके मौस, हड्डी और लहूके कीपड़में उस रथके पहिए तक छिप गए ॥ १० ॥ यह रथ
 चलता हुआ ऐसा लगता था मानो प्रलयकी आँधीमें दिमालय उड़ा चला जा रहा हो । उसके
 भीचे देवताओंकी सेनाके जो सैनिक पिसे जा रहे थे उनके हाहाकारसे यह धीर भी भयकर
 हो गया था और जब यह रथ देवताओंके एकदम पास आ गया तब तो उसे देखकर देवताओंकी
 सेनाके माथ ही झूठ गए ॥ ११ ॥ उस देवताओंकी घबड़ाई हुई सेनाको देखते हुए धीर
 अपनी बड़ी भारी भारी भुजाओंमें धनुषकी लकड़ी पकड़े हुए तारक, उन कार्तिकेयके पास
 पहुँचा जो ऐसे जगते थे मानो लड़नेके लिये आधीर हो रहे हों । बड़ा पहुँचकर तारकने कार्ति-
 केयजोसे कहा—॥ १२ ॥ हे तपस्वी शकरके पुत्र! तुम अपनी नुताओंके बलपर मत पैँडे
 धीर छोड़ो इन देवताओंका साथ । बताओ कहाँ तो तुम्हारी ये छोटी छोटी बचकानी कीमल
 भुजाएँ धीर कहाँ से भारी भारी शर । ये तुम्हारे हाथमें नहीं जैचते ॥ १३ ॥ तुम पायँतो धीर
 शकरके दृक्छति मुख होकर मेरे तीसरे पायँसे बिपकर क्यों काकड़े गालमें जाना चाहते हो ।

एवं त्रमेव तनयोऽसि गिरीशगौपीः किं यामि कालविषयं विषमैः शरैर्मे ।
 संग्रामतोऽपसर जीव पितुर्जनन्यास्तूर्यं प्रविश्य वरमङ्कतलं निधेहि ॥१४॥
 सम्पक्कस्यं किल विमृश्य गिरीशपुत्र जन्मद्विषोऽस्य जहिहि प्रतिपद्यमाशु ।
 एष स्वयं पयसि मज्जति दुर्निगाह्ये पापाखनौरिव निमज्जपते पुरा त्वाम् ॥१५॥
 इत्थं निशम्य वचनं युधि तारुस्य क्रम्राधरो विरुचकोऽनदाख्याः ।
 घोमात्रिलोचनसुतो धनुरीक्षमाणः प्रोवाच वाचस्तु चित्तां परिमृश्य शक्तिम् ॥१६॥
 दैत्याधिराज भगता यदयादि गर्वात्तत्सर्वमप्युचितमेव तथैव किं तु ।
 द्रष्टास्मि ते प्रवरबाहुभलं चरिष्ठं शस्त्रं गृह्णाण कुरु कार्मुकमाततज्यम् ॥१७॥
 इत्युक्तवन्तमपदन्निपुरारिपुत्रं दैत्यः क्रुधौष्ठमधरं किल निर्विमिश्र ।
 पुद्गार्थमृद्धटमृजावत्तदपितोऽसि वायान्सहस्र मम सादितशयुष्मिन् ॥१८॥
 दुःप्रोद्योयमरिभिर्धनुराततज्यं सद्यो विधाय विषमान्निशितान्पद्यत ।
 स क्रोधभीमभ्रमेन्द्रनिभं स्वचापं चण्डं प्रपश्यति जैवशरैः कुमारे ॥१९॥
 कर्णान्तमेत्य दिविजेन विकृष्यमाणं कीदृशमेतदभितः सुपुत्रे शगौघान् ।
 व्योमाङ्गणे लिपिकरान्किरणप्ररोहैः सान्द्रैरशेषं कुमां पलितं करिष्यन् ॥२०॥

जाको, २६१से भगवत अरुने पाण्य दयाको और कटसे जाकर अरुने माता-पिताकी शोर्गे
 जिय जायो ॥ १४ ॥ हे कात्तिकेय ! तुम स्वयं अपना भजा-पुरा सोपकर इन्द्रका साथ छोड़कर
 आलग हो जाओ क्योंकि जब मैं इसपर बाण बरसाऊँगा, सब पथरको नाचके समान यह
 तो अपने आर गहरे जलमें डूबेगा ही, साथ ही तुम्हें भी खे डुबावेगा ॥ १५ ॥ तारुकी ऐसी
 पाते सुनकर यो ठकेपके शोड मोधसे कौपने जगे और रिजे हुए लाल कमलके समान उनही
 भयानक लाव ६० । कौपने मोधसे नाच उठी । बने मोधसे अरुने धनुषकी और देखते हुए अपने
 धनुषको समझकर उठोने तारुकीके यह सुँहलोड़ उतर दिया ॥ १६ ॥ हे दैत्यराज ! घमडमें
 खू होकर तुमने जो कुछ कहा है यह तुम्हें कहना ही चाहिये था, पर आज मुझे भी तुम्हारी
 इन बड़ी बड़ी मुजाओंके यक्षकी साह लेनेका मन कर आया है । इसलिये ठकायो अरुने साह
 और चढ़ाओ अरुने धनुषकी शोरी ॥ १७ ॥ यह सुनकर तारुके मुद्र होकर कात्तिकेयपर दालि
 पीसकर और दौतासे शोड चढाते हुए कहा—यदि तुम्हें युद्धके जिये अपनी इन प्रकण्ड
 मुजाओंका घमण्ड है तो जाओ और शयुषोंके पीडकी खलनी बना देनेवाले
 मेरे धनुषोंकी शोड चखो तो ॥ १८ ॥ जैसे सौप मोधसे पागल हो जाता है वैसे ही
 कुछ होकर तुमारे अरुने धनुषपर अपना जोतनेवाला भवङ्क बाण चढ़ा दी रहे थे इतनेमें तारुके
 यह बाण चढ़ाया जिसको और देखनेमें भी शयुष चढाते थे ॥ १९ ॥ अपनी घमडसे आकाशको
 जगमगा देनेवाले और सब दिशाओंको घमका देनेवाले बाण आने धनुष पर चढ़ा-चढ़ाकर और
 धनुषको कण्ठक सात-सातकर तारुके पाण्य छोड़ने लगा ॥ २० ॥ उसके धनुषसे चूटे हुए घमण-
 मानेवाले भगविवृत्त बाणोंको भवकर सतसनाहद दैत्यपर सब सैनिक कौप बडे, सब देवताओंके

बाणैः सुरारिधनुषः प्रसुतैरनन्तैर्निर्घोषमीपितमटो लसदंशुजालैः ।
 श्रन्धीकृताखिलसुरेश्वरसैन्य ईशमनुः कृतोऽपि विषयं न जगाम दृष्टे ॥२१॥
 देवेन मन्मथरिपोस्तनयेन गाढपाकर्णकृष्टमभितो धनुराततज्वम् ।
 पाणानस्रत निशितान्युधि यान्सुजैत्रास्तैः सायका विभिदिरे सहसा सुरारैः ॥२२॥
 रेजे सुरारिशरदुर्दिनके निरस्ते सद्यस्तरां निखिलखेचरखेदहेतौ ।
 देवः प्रमाप्रभ्रुरिव स्मरशशुस्रनुः प्रथोतनः सुघनदुर्धरधामधामा ॥२३॥
 तत्राथ दुःसहतरं समरे तरस्वी धामाधिकं दधति धीरतरं कुवारे ।
 मायामयं समरमाशु महोसुरेन्द्रो मायाप्रचारचतुरो रचयांचकार ॥२४॥
 श्रद्धाय कोपकलुषो विकटं विहस्य व्यर्था समर्थ्य वरशस्त्रयुधं कुवारे ।
 जिष्णुर्जगद्विजयदुर्ललितः सहेलं धापव्यमह्यमसुरो धनुषि न्यधत् ॥२५॥
 संधानमात्रमपि यस्य युगान्तकालभूतभ्रमं परुषमीपणघोरघोषः-।
 उद्धूतधूलिपटलैः पिहिताम्बराशः प्रच्छन्नचण्डकिरणो व्यसरत्समीरः ॥२६॥
 कुन्दोज्ज्वलानि सकलातपवारणानि धूतानि तेन मरुता सुरसैनिकानाम् ।
 उड्डीयामानकलहंसकुलोपमानि मेघामधूलिमलिते नमसि प्रसस्रुः ॥२७॥
 विधस्य तेन सुरसैन्यमहापताका नीता नमस्थलमलं नवमन्त्रिणामाः ।
 स्वर्गापगाजलमहौषहस्रलीलां वशातेनिरे दिवि सिताम्बरकैवलेन ॥२८॥

आगे शंभेरा द्वा गया श्रीर स्वयं कार्तिकेयकी भी थोड़ी देर तक कुछ न दिखाई दिया ॥ २१ ॥
 सब कार्तिकेयजीने भी पूरे लड़के साथ धनुषही छोड़ी कागत्तक शीत-सींचकर अपने तीखे और
 जीतनेवाले बाण बरस कर तारके बाणों के पुरें उड़ा दिए ॥ २२ ॥ सब देवताओंकी दुष्ट
 देनेवाली, तारके बाणोंकी घटा फट जानेपर शक्रजीके पुत्र कार्तिकेयजी अपने घने और अपार
 सेजके कारण सूर्यके समान चमकते हुए शोभा देने लगे ॥ २३ ॥ युद्धमें कार्तिकेयका देखा प्रथम
 प्रताप बढ़ता हुआ देखकर कुलविद्यासे युद्ध करनेमें चतुर और बलवान तारके गुरत भायाका
 युद्ध करना आरंभ कर दिया ॥ २४ ॥ जिस विजयी तारके सारे संसारकी सुट्टीमें कर लिया था
 उसने जब यह समझ लिया कि श्रीर लख लेकर कुमारके साथ लड़नेमें जांत न पाऊंगा अब
 उसने बड़े मोघके साथ किसीकी हल न समझते हुए अन्वह चलागेवाला दयव्य नामका बाण
 अपने धनुषपर चढ़ाया ॥ २५ ॥ उस शककी धनुषपर चढ़ाते ही ऐसे वेगसे भयंकर बजवाती
 हुई शीघ्र चलने लगी कि लोग यह समझते लगे कि इस प्रलय घा-गवा । उसकी धूलसे सब
 आकाश और दिखाएँ भर गईं श्रीर प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्य भी छिप गए ॥ २६ ॥ देवताओं
 के सैनिकोंके जो कुन्दके फूलके समान लगे थे उन्हें इस भयंकर अन्वहने ऐसा कड़मोर-
 कर उड़ा दिया कि वे धूलसे भरे हुए आकाशमें उड़ते हुए ऐसे दिखाई देने लगे मानो बादल
 छाये हुए आकाशमें रागहंस बने चले जा रहे हों ॥ २७ ॥ उस अन्वहने देवताओंकी सेनाकी सब
 स्वजाती और पताकाओंकी नये सिले हुए चमेलीके फूलके समान तोड़-कोटकर आकाशमें उड़ा

भूतानि तेन सुरसैन्यमहागजानां सद्यः शतानि विधुराणि दलत्कुधानि ।
 पेतुः चिगौ कुपितवासववज्रलून-पवस्य भूधरकुन्तस्य तुलां वहन्ति ॥२९॥
 तास्ताः खरेण मरुता खराजयोऽपि दोधूपमाननिपतिष्णुतुरंगमाश्च ।
 विम्रस्तसारथिकुलप्रवराः समन्ताद्ब्याट्ट्य पेतुरवनी सुरवाहिनीनाम् ॥३०॥
 हित्वायुधानि सुरसैन्यतुरंगवाहा चातेन तेन विधुराः सुरसैन्यमप्ये ।
 शस्त्राभिघातमनवाप्य निपेतुरुर्था स्वीयेषु वाहनवरेषु पत्सु सत्सु ॥३१॥
 तेनाहनास्त्रिदशसैन्यपदातयोऽपि सस्तायुधाः सुनिधुराः परुषं रसन्वः ।
 वात्याविवर्तदलवद्भ्रममेत्य दूरं निःपेतुरम्बरतलाद्सुघातलेऽस्मिन् ॥३२॥
 इत्थं विलोक्य सुरसैन्यमथो अशेषं दैत्येश्वेण विधुरीकृतमस्त्रयोगात् ।
 स्वलोकनाथरुमलाकुशलैकहेतुर्दिव्यं प्रभावमतनोदतनुः स देवः ॥३३॥
 तेनोज्ज्वलं सकलमेव सुरेन्द्रसैन्यं स्वास्थ्यं प्रपद्य पुनरेव युधि प्रवृत्तम् ।
 दृष्ट्वासृजद्दहनदैवतमस्त्रमिदमुदीप्तमोपदहनः सहसा सुरारिः ॥३४॥

दिया थीर थे आकाशमें उड़ती हुई उमले घरकी पताकाएँ ऐसी दिग्दृष्टीमानो उस अन्वदने
 आकाश गंगाकी उड़लती हुई सखीं जहरियाँ आकाशमें फैला दी हों ॥ २९ ॥ इस मथकर अन्वदके
 फौजमें पड़ी हुई देवसेनाके जो बहुतसे बड़े बड़े हाथी अपनी कुँठें ममलते हुए देखते देखते
 लड़ लड़ाकर गिरते जा रहे थे वे ऐसी दिग्दृष्टी पड़ते थे मानो इन्द्रके मजले पर कट जानेपर
 बहुतसे पहाड़ पृष्ठांवर लुढ़कते चले जा रहे हों ॥ ३१ ॥ उस प्रवृत्त अन्वदकी अपेक्षमें आकर
 देव सेनाके सौंके भनगिनन घोड़े लड़ लड़ाकर गिरने लगे, साथी भी हथर-उधर फँस गए
 और उनके रथ भी उस युद्ध-भूमिमें हथर-उधर उलट-उलटकर गिरने लगे ॥ ३० ॥ उस मथकर
 अन्वदकी मूर्छेरें खाकर देव सेनाके युद्धसारा इसने चबका उठे कि वे अपने अस्त्र शस्त्र वहीं
 देव सेनापर फँसने लगे और बिना किसी शस्त्रसे चोट खाएँ ही अपने उन घेंसोंकी पीछे गिरने
 लगे जो अन्वदकी मूर्छेरें लुढ़कते चले जा रहे थे ॥ ३३ ॥ उरा बाणव्य अस्त्रसे देवसेनाके
 पैदल सैनिक भी इसने धरता उठे कि सब अपने-अपने शस्त्र डाढ़कर व्याकुल होकर रौने चि-
 षडाने लगे और यन्त्रदरकी मूर्ति घुमनी त्वावे हुए दूरतक आकाशमें उड़ उड़कर धरतीपर गिरने लगे
 ॥ ३२ ॥ देविरान धारकने जो बाणव्य अस्त्र चलाया था उससे देवसेनाको ह्य प्रकार तद्स
 गहस होते देखकर रथगंकी राज लक्ष्मीकी नाव चतुरार्द्धसे खेनेवाले कार्तिकेयने अपना अयोग्य
 और बड़ा भारी करतम दिवाना आरम्भ कर दिया ॥ ३३ ॥ उन्होंने कुछ ऐसा जादू फोटा कि
 देवसेनापर छाया हुआ अन्वद दूर हो गया और सारी सेना हरी भरी और गर्द ती होकर फिर
 लड़ने लगी । यह देखकर वो धारकके शरीरमें आग सी जग गई और इस धार उसने अपना
 सारा हुधा आग बरसानेवाला अग्निदाह चलाया ॥ ३४ ॥ इसके चलाते ही बरसातके काले काले
 बादलोंके समान और नीले धमजोंके गुण्डके समान कालाकाला घना पुर्ण चारों ओर ऐसा

वर्षातिकालजलदधुतयो नभोन्ते गाढान्धकारितदिशो घनधूमसंघाः ।
 सद्यः प्रसन्नुरसितोत्पलदामभासो दृग्गोचरत्वमखिलं न हि सन्नयन्तः ॥३५॥
 दिक्वक्रमालागिलनैर्मलिनैस्त्वमोभिलिप्तं नम स्थलमलं घनवृन्दसान्द्रैः ।
 धूमैर्विलोक्य मुदिताः खलु राजहंसा गन्तुं सरः सपदि मानसमीपुरुचैः ॥३६॥
 जज्जाल वह्निरतुलः सुरसैनिकेषु कल्पान्तकालदहनप्रतिमः समन्तात् ।
 आशामुखाणि विमलान्यखिलानि वीलाजालैरलं कपिलयन्स क्लं नभोऽपि ॥३७॥
 उज्ज्वारस्य दहनस्य निर्गलस्य ज्वालानलोभिरतुलाभिरनारताभिः ।
 वीर्यं पयोदनिवहैरिव धूमसंघैर्व्योमाभ्यलक्ष्यत कुलैस्तडितामिवोचैः ॥३८॥
 गाढान्द्रुपाद्वियति विद्रुतखेचरेण दीप्तेन तेन दहनेन सुदुःसहेन ।
 दन्दह्यमानमखिलं सुरराजसैन्यमत्याकुलं शिवसुतस्य समीपमाप ॥३९॥
 इत्यग्निना घनतरेण ततोऽभिभूतं तद्देवसैन्यमखिलं विकलं विलोक्य ।
 सस्मेरवक्त्रकूमलोऽन्धश्शत्रुवृत्तुर्पाशासनेन समधत्त स धारुणालम् ॥४०॥
 घोराण्धकारनिकरप्रतिभो युगान्तकालानलप्रचलधूमनिभो नभोन्ते ।
 गर्जास्त्रैर्विधट्यन्नवनीधराणां शृङ्गाणि मेघनिग्रहो घनमुज्ज्वगाम ॥४१॥
 विद्युल्लता वियति वारिद्वृन्दमध्ये गम्भीरभीषणरवेः कपिशोकृताशा ।
 घोरा युगान्तचलितस्य भयंकराथ कालस्य लोलरसनेन चमचकार ॥४२॥

छा गया कि कहीं कुछ सुकाई नहीं पड़ता था ॥ ३५ ॥ अब उस घने धादलोंके समान काले-
 काले धुएँसे सारा आकाश भर गया तो राजहंसोंके यह भ्रम हुआ कि बरसत था गई और
 वे प्रसन्न होकर मानसरोवरकी ओर चलनेकी तैयारी करने लगे ॥ ३६ ॥ इतनेमें ही देवसेनाके
 भीतर प्रलय कालकी आगके समान ऐसी भयानक आग भभक उठी कि उसकी जपोंसे स्वप्न
 आकाश और दिशाएँ भी पीजी पड़ गईं ॥ ३७ ॥ बिना कहे हुए धक्क धक्ककर जलती हुई
 आगका बड़ी बड़ी आगदार उड़ती हुई जपटोंके ऊपर फैले हुए काले काले धुएँसे भा
 हुआ आकाश ऐसा दिखाई पड़ता था मानो वह ऊँचे ऊँचे धादलों और विज्रिचियोंसे भरा
 हुआ हो ॥ ३८ ॥ सब लोग आकाशमें फैली हुई इस धक्कती आगकी आगमें हलसकर
 ऊपर ऊपर भागने लगे और बार बार हुलसी हुई सारी देवसेना बहुत धराधर फिर कार्तिकेयके पास
 जा पहुँची ॥ ३९ ॥ उस भयंकर आगसे हुलसी हुई सारी देवसेनाको देखकर कार्तिकेयने हँसते हुए
 अपनी धनुषपर बड़ धारुणास्य अड़ाया पिचसे पानी परसता था ॥ ४० ॥ इसके पछाते ही भयकर
 श्रेष्ठा करती हुई प्रलयकी आगसे उठे हुए धुएँके समान काली काली घटाएँ आकाशमें उमड़ आईं
 जिनकी गरजसे पहाड़ोंकी चोटियों तकमें दरमों पड़ गईं ॥ ४१ ॥ इन धादलोंमें ते बड़ी भयानक
 गड़गड़ाहटके आग भयंकर विजली तड़पी और उसकी चमकसे सब दिशाएँ पीजी पड़ गईं । उस
 समय यह ऐसी लगती थी मानो प्रलयकालमें आगकी जपजपती हुई भयकर जीभ हो ॥ ४२ ॥
 अपनी पिचलीकी आगकेसे सब दिशाओंमें धवाचौध पर देनेवाली और भयकर गर्जनसे भी आचरत

कादम्बिनी विरुचे विपकण्टिकाभिरुचालकालरजनीजलदापलोभिः ।
 व्योम्न्युक्कैरचिररूपरिदोपितांशा दृष्टिच्छदा विपमघोषनिभीषणा च ॥४३॥
 व्योम्नस्तलं पिदघतां वकुमां मृगानि गर्जारवैररितैःसुदतां मनांसि ।
 शम्भोभृतामनितरामनणीयमीभिर्घाराप्लीभिरमितो वधृपे समूहैः ॥४४॥
 घोराब्धकारपटलै पिहिताम्बराणां गम्भीरगर्जनरवैर्घ्ययितासुराणाम् ।
 वृष्ट्या तथा जलमुचां वरुणाहजानां विश्वोदरंमरिरपि प्रशशाम बह्विः ॥४५॥
 दैत्योऽपि रोपःसुपो निशितैः क्षुरप्रैराकर्णकृष्टधनुस्त्वतितैः स भीमैः ।
 तद्भीतिविद्रनसमस्तसुरेन्द्रसैन्यो गाढं जघान मरुत्प्रजशत्रुभ्रुनुम् ॥४६॥
 देवोऽपि दैत्यप्रिशिखप्ररं सचापं वाख्यैधकृतं कण्ठशो रणकेलिकारी ।
 योगीन् योगप्रिधिशुष्कमना यमाद्यैः सांसारिकं विपयसंघनमोघरीर्यम् ४७॥
 भ्रूमङ्गमीषणमुत्रोऽसुरचक्रवर्ती संदीप्तरोपदहनोऽथ रथं विहाय ।
 क्रीडत्करालः फरवालःसुरोऽसुरेन्द्रस्तं प्रत्यघातमितस्त्रिपुरारिब्रुनुम् ॥४८॥
 अम्यापतन्तमसुराधिभमीशपुत्रो दुर्गरवाहुविभवं सुरसैनिकैस्तम् ।
 दृष्ट्वा युगान्तदहनप्रतिमां मृगोच शक्ति प्रमोदरिक्कमद्रदनारविन्दः ॥४९॥
 उद्द्योतिताम्बरदिगन्तरमंशुजालैः शक्तिः पपात हृदि तस्य महासुरस्य ।
 हर्षाश्रुभि सह समस्तदिगीश्वराणां शोकोष्णराण्यसलिलैः सह दानतानाम् ॥५०॥

भयंकर प्रलयके बादलोंके समान अ यन्त काली और जलसे भरी हुई पगपे ऊपर आकाशमें इस प्रकार शम्भोदा बरवे छा गई कि आँखोंसे कुछ भी दिखाई नहीं देता था ॥ ४३ ॥ आकाशमें छाई हुई क्षयातार गरज गरजकर लोगोंका जी कंपाती हुई वे पगपे पारों और मूसलाधार पानी बरसाने लगीं ॥ ४४ ॥ कार्तिकेयके खलाए हुए बाण खसे श्रेष्ठागुण करके आकाशकी दिग्वा देनेवाले और अपनी कड़कमे देवोंको कैंटा देनेवाले बादल दण्ड थे । इनकी पगसे संसारमें फैले हुई सब का ग युक्त गई ॥ ४५ ॥ तब तारकने भी श्रेष्ठसे लाल होकर कानतक खींच खींचकर पैंने और धमधमाते हुए छुरीवाले भयकर बाण बरसाकर देवसेनाकी डराकर तितर तितर कर दिया और कार्तिकेयपर भी बड़ा गहरा प्रहार किया ॥ ४६ ॥ कार्तिकेयजाने भी तारकके धनुष और बाण एक एक करके खींच खींचमें ही इन प्रकार काट कर गिरा दिए जैसे योगी लोग यम, नियम आदि साधकर अपने मनकी सब सासारिक हृष्टापूर् मित्र बनते हैं ॥ ४७ ॥ यह देखकर देवराज तारकका क्रोध और भी बढ़क उठा । अपनी तनी हुई भौहोंके कारण और भी भयकर दिखाई देनेवाला वह दीध रथ छोड़कर हाथमें खपलपाती हुई भयकर ठलवार जेकर कार्तिकेयपर दूट पड़ा ॥ ४८ ॥ अब कार्तिकेयने देखा कि ऐसे भयकर रूपवाला तारक मुझपर भागट रहा है और देवताओंके सैनिकोंके हराए नहीं हार रहा है तब उन्होंने हँसकर अपनी प्रलयकी क्षमिके समान भयकर माला उसपर फेंक कर मारा ॥ ४९ ॥ अपनी चमकते सब दिशाओंको चमकाती हुई वह शक्ति ठीक तारकके हृदयमें जाकर लगी और उसके लगते ही देवताओंकी आँखोंसे हर्षके आँसू और देवोंकी आँखोंसे सुरके आँसू साथ-

शक्त्या हतासुमसुरेश्वरमापतन्तं कल्पान्तवातहतभिजमिवाद्रिशृङ्गम् ।
 दृष्ट्वा प्ररुद्धपुलकाञ्चितचारुदेहा देवाः प्रमोदमगमन्त्विदशेन्द्रमुख्याः ॥५१॥
 यत्रापतत्स दनुजाधिपति परासुः संवर्तकालनिपतच्छिपरीन्द्रतुल्यः ।
 तत्रोदघातफणिविधरणीं फण्यामिस्तद्भूरिभारविधुरामिरघो ब्रजन्तोम् ॥५२॥
 स्वर्गापगासलिलसीकरिणी समन्तात्सौरभ्यलुब्धमधुवावलिसेवामाना ।
 कल्पद्रमप्रसववृष्टिरभून्नभस्तः शंभोः सुतस्य शिरसि त्रिदशारिशत्रोः ॥५३॥
 पुलकमरविमिन्नवारवाणा भुजनिभवं बहु तारकस्य शत्रोः ।
 सकलसुरगणा महेन्द्रमुख्याः प्रमदमुखच्छविसंपदोऽभ्यनन्दन् ॥५४॥
 इतिविषमशरारेः सत्तुना जिष्णुनाजौ त्रिभुवनवरशल्पे प्रोद्भूते दानवेन्द्रे ।
 प्लरिपुरथ नाकस्याधिपत्यं प्रपद्य व्यजपत सुरचूडारत्नघृष्टाग्रपादः ॥५५॥

इति महाकविभ्रीकालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
 तारकासुरवधो नाम सप्तदशः सर्गः ॥

॥ इति कुमारसंभवम् ॥

साय यह चले ॥ ५० ॥ उस माझेही चोटसे मरकर गिरा हुआ तारक ऐसा जान पड़ता था मानो
 प्रलयकी आँपोंसे टूटकर गिरा हुआ पहाड़की चोटी हो । ज्यों ही इन्द्र आदि देवताओंने उस तारक
 देवकी गिरा हुआ देखा कि वे सब दर्पने उलझ पड़े और उनके रोम रोम फरफरा उठे ॥ ५१ ॥
 अब यह देवराज तारक प्रलयकालकी आँपोंसे टूटकर गिरे हुए पहाड़के समान मरकर गिरा तो उसके
 भारी बोझसे चपकर जो पृथ्वी नीचेकी धँसो तो नागराज वासुकीने उसे अपने कर्जों पर किसी किसी
 प्रकार सँभाला ॥ ५२ ॥ उस समय कार्तिकेयके सिर पर आकार-गंगके जलकी फुहारों से भरे हुए
 और गन्धके लोनी मीरोंसे घिरे हुए पश्यतहके फूल धारागले घससने लगे ॥ ५३ ॥ आर्जुनके भारे
 देवताओंके मुँह खिल उठे और वे मुखसे ह्वने फूल उठे कि उनकी धातियोंपर कसे हुए कवच भी
 तडाक-तडाक टूटने लगे । इस प्रकार आनन्दमें मूमने हुए इन्द्र आदि सब देवता पास आकर तारकको
 मारनेवाले कुमारकी सुनाओंके बलकी बधाई करने लगे ॥ ५४ ॥ इस प्रकार रिजवी कार्तिकेयने जब
 लोनों ओकोंके हृदयमें कँठके समान राट्रनेवाले उस तारक रापसको मार डाला तब इन्द्र फिर
 स्वर्गके स्वामी बन गए और उन्हें अपनेमें सबसे छेष्ट समझकर सब देवता लोग अपने-अपने गुणदके
 मणियों सहित अपने सिर हनके धरलोंमें रखकर प्रणाम करने लगे ॥ ५५ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए कुमारसंभव महाकाव्यमें तारक रापसका
 वध नामका सप्तहवीं सर्ग पूरा हुआ ।

॥ कुमारसंभव समाप्त हुआ ।

॥ धी ॥

मेघदूतम्

पूर्वमेघः

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्राधिकारात्प्रमत्तः शापेनारत्नगमितमहिमा वर्षभोग्येषु भर्तुः ।
यक्षक्षत्रे जनकतनयास्नानपुष्पोदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु वमति रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥
तस्मिन्नद्रौ कतिचिदपलाविप्रयुक्तः स कामो नीत्या मासन्कनकरुपलायभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आपाठस्य प्रथमदिग्से मेघमाश्लिष्टसानुं चप्रकीडापरिणतमजप्रक्षयीयं ददर्श ॥२॥
तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोरन्तर्वाष्पधिरमनुचरो राजगजस्य दक्ष्यौ ।
मेघालोके भवति सुरिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः सएठारलेपप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ३

पूर्वमेघ

धनुष्पुरीमें हुयेरके यहाँ एक मघ कुछ काम किया करता था, पर उसका ध्यान दिन रात अपनी स्त्रीमें ही लगा रहता था। इसी शैलुधीमें एक बार उसने अपने काममें कुछ ऐसी भूल कर दी कि हुयेरने कलकार उसे यह कहकर देग निकाला दे दिया कि अब एक वर्षतक तु अपनी पत्नीसे नहीं मिलने पायगा। इस शापसे उसका सारा राग-रग जाता रहा और शापके दिन काटनेके लिये उसने रामगिरिके उन आश्रमोंमें जाकर ऐसा साज्जा जहाँके कुडों, तालाबों और सावदियोंका जल धी-धी-धी-धीके स्नानसे पवित्र हा गया था और जहाँ धनी दायाबाड़े बहुतसे हुए जहाँ तहाँ लड़लहा रहे थे ॥ १ ॥ अपनी पत्नीके दिना जो एक मघ नहीं रह पाता था, यह मघ अपनी पत्नीसे त्रिदुब्बनेपर सूत्रका काँच ही गया। उसके हाथके सोनेके कमल भी टोले होकर निकल गये और यों ही रोते फलपते उसने कुछ मढ़ाने तो उस पहाड़ीपर जैसे जैसे काट दिए। पर असादके पहले ही दिन यह देखता क्या है कि सामने पहाड़ीकी चोटीसे जिरा हुआ बादल ऐसा लग रहा है माने कोई हाथी अपने माथेकी टङ्गसे मट्टीके टोलेको दाढ़नेका खेल कर रहा हो ॥ २ ॥ मनमें प्रेम जगानेवाले उन बादलोंको देखकर महाराज हुयेरका मध खेवक आँसु रोके क्यों क्यों खरा हुआ बहुत देरतक सोचता ही रह गया, क्योंकि बादलोंको देखकर जब सुखी लोगोंका मन भी टोल जाता है तब उस विछोड़ीका तो कदना ही क्या, जो दूर देशमें वका हुआ अपनी प्यारीके गले लगानेके लिये दिन रात तपस रहा हो ॥ ३ ॥ बादलको देखते ही उसे ध्यान आया कि असाद बातने ही सावन भी भा जायगा और उस समय मेरी कोमल प्रिया अपनेकी सँभाल न पायेगी। इसलिये उसने सोचा कि अपनी प्यारी को दाढ़न यँयानेके लिये और उसके प्राण बचानेके लिये क्यों न इन बादलोंके हाथ ही अपना कुशल-समाचार भेज दूँ। यह ध्यान आते ही वह मगन हो उठा। उसने मन्त्र कुटजके पिले हुए फूल

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी जीमूतेन स्वकृशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम्
 स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कन्धितार्घ्याय तंस्मै प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ४
 धूमज्योतिःसलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः सन्देशार्थाः क्व पटुकरस्यैः प्राणिभिः प्रापणीयाः
 इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेननेषु ॥५॥
 जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
 तेनाथित्वं स्वयि विधिवशाद्दूरवन्धुर्गतोऽहं याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ६
 संवृत्तानां त्वमसि शरणं तल्पयोद प्रियायाः सन्देशं मे हर धनपतिकोधविरलेपितस्य ।
 गन्तव्या ते घसतिरलका नाम यक्षेश्वरणां राज्ञोद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥
 स्वामारूढं पवनपदवीसुदृग्हीतालकान्ताः प्रेक्षिष्यन्ते पथि क्वनिताः प्रत्ययादाश्वमन्त्यः ॥
 कः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत् जायां न स्यादन्धोऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ८
 र्ता चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीमव्यापनामविद्वत्प्रतिर्द्रक्ष्यमि भ्रातृजायाम् ।

उत्तरहर पदजे तो मेघकी पूजा की और फिर कुशल-मंगल पूछकर उसका स्वागत किया ॥ ४ ॥
 मला घतगदप, कहाँ तो धुएँ, अग्नि, पाल और वायुके गैलसे बना हुआ बादल और कहाँ
 संदेशकी चे धारें, जिन्हें बने चतुर लोग ही जा-पहुँचा सकते हैं । पर यक्षकी अपने तन-मनकी
 तो सुच भी ही नहीं, फिर मला उसका ध्यान, यहाँतक पहुँच कैसे पाता ! हस्तिलिये वह यष
 अपना सँदेशा भेजनेके लिये बादलके आगे निदगिदाने लगा । सब है, -मेघियाँको, यह जाननेकी
 सुच ही कहाँ रहती है कि कौन जड़ है और कौन चेतन ॥ ५ ॥ बादलकी यहाँई करते हुए यष
 कहने लगा—हे मेघ ! संसारमें पुष्कर और आवर्तक नामके जो बगैलोंके दो प्रसिद्ध और ऊँचे
 कुल हैं, कहींमें तुमने जन्म लिया है । मैं यह भी जानता हूँ कि तुम इन्द्रके दूत हो और
 पैसा चाहो पैसा अरुण रूप भी पना सकते हो, हस्तिलिये अपनी ध्यातीसे इतनी दूर आकर
 पदका हुआ में समाया तुम्हारे ही आगे हाथ पसार रहा हूँ, क्यों कि गुणोंके आगे हाथ फैला
 कर राते हाथ खीट खाना धरतु है, पर नीचते मनचाहा फल पा जाना भी प्रसन्न नहीं ॥ ६ ॥
 कहेके तुम्हीं तो संवापके तपे हुए प्राणियोंकी ठडक देनेवाले हो, हस्तिलिये ही मेन ! तुम्हारेकोपसे
 निकले हुए और अपनी ध्यातीसे दूर पड़ेके हुए सुम्न विद्योहीका संदेशा भी तुम्हीं मेरी ध्यातीके पास
 पहुँचा आओ । देखो ! यह सँदेशा लेकर तुम्हें पड़े टाड थापने रहनेवले यक्षकी अरुण नामकी
 उस यक्षीके जाना होगा, जहाँके मजनीमें, यक्षीके बाहर वाले उद्यानमें यनी, हुई
 शिवजीकी मूर्तिके तिरपर जकी हुई चन्द्रिहाले मदा उल्लाहा रदा करता है । ॥ ७ ॥
 अब तुम थापुपर फिर रत्नकर ऊपर चढ़ीसे तर परदेशियाँकी शिर्षा अपने बाह ऊपर उठाकर
 पड़े भरीसे दादल पाकर तुम्हारा और पट्टक देखेगां, क्योंकि 'सुम्न जैसे पराधानकी घोषकर
 और कौन पैसा निर्दोष होगा जो तुम्हें उमका हुआ देकर भी विद्योहमें लक्ष्मणकी अपनी
 पत्नीके मित्रनेकी उवाकका न हो उडे ॥ ८ ॥ हे मेघ ! पैसा कोई स्थान नहीं है, कहाँ तुम्हारी
 पहुँच न हो, हाथ जिये तुम अपनी उस पतिमता भार्याका आवरण ही पा जाधोगे जो पैरी मेरे खीरने
 दिन गिन रहा होगी । क्यों कि देतो, मेघियाँका पूछ पैसा कोमल करव, धन मित्रनेकी आशा के

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो हृद्गनानां सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि १
मन्दं मन्दं नुदति पवनश्वानुकूलो यथा स्वां वामश्वायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः ।
गर्भाधानक्षयपरिचयान्नुनमावद्धमालाः सेविष्यन्ते नयनसुमगं से भवन्तं वलाकाः ॥१०॥
कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुञ्चिलीन्ध्रामवन्ध्यां तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुमगं गर्जितं भानसोत्काः ।
आकैलासाद्विसफिलपच्छेदपाथेपवन्तः संपत्स्यन्ते नमसि भवतो राजहंसाः सहायाः ११
आपृच्छस्व प्रियसखमधुं तुङ्गमालिङ्गच शैलं वन्द्यैः पुसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य स्नेहव्यक्तिशिरविरहजं मुञ्चतो वाप्यमुष्यम्
मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रवाणानुरूपं संदेशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ।
खिन्नःखिन्नः शिखरिपु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र क्षीयःक्षीयःपरिलिघुपयःस्रोवसां चोपमुज्य
अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिर्दोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनामिः ।
स्थानादस्मात्सरसनिजुलादुरपतोदञ्जुतः सं दिङ्नागानां पथि परिहरन्धूलहस्तापलेपान्
रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ताद्वल्मीकाप्रप्रभवति धनुःखण्डमारण्डलस्य ।

पर हां शय्यकरा है । हमलिये खियोंके जो हृदय अपने प्रेमियोंसे विद्वेषनेपर एक पण नहीं
टिके रह सकते, वे इसी आशाके भरोसे उन खियोंको जिलावे रखते हैं ॥ ९ ॥ देखो ! सगुन भी सच
अच्छे हो रहे हैं । तुम्हारा साथी वायु धीरे धीरे तुम्हें आगे बढ़ा रहा है । इधर अपनी आनका पकड़
यह चातक भी धार्ड्य भोर अपनी मोठी चोखी खोल रहा है। अपनी धोखी हो देरमें तुम्हारा यह शैलोंको
सुहानेवाजा रूप देखकर भगुलियाँ भी समझ लेंगी कि हमारे गर्भ धारण करनेका समय था गया
है और वे पौत पौत बौधकर अपने पल्लोसे तुम्हें पंजा झलनेके लिये अक्षय ही आकाशमें उड़कर
आभी आती होंगी ॥ १० ॥ तुम्हारे जिस गर्भनसे कुङ्कुमुचे निकल आते हैं और धरती टपकाऊ
हो जाती है, वही कानोंको भला लगनेवाला तुम्हारा गरजता सुनकर, मानसरोवर जानेकी उतावले
राजहंस अपनी चोंचोंमें कमलकी भगुली टडक लिये हुए कैलास पर्यंततक तुम्हारे साथ-साथ
आकाशमें उड़ते हुए जायेंगे ॥ ११ ॥ हे गेय ! जिस पहाड़पर तुम लिपटे हुए हो, इसकी ढालों-
पर सगवान् रामचन्द्रजीके उन पिठोंकी स्तव जहाँ जहाँ पड़ी है, जिन्हें सारा संसार पूजता है,
और जब-जब तुम इससे मिलने आते हो, तब-तब यह भी बहुत दिनोंपर मिलनेके कारण
तुम्हारे साथ अपने गरम गरम धर्म बहाकर अपनी प्रेम प्रकट करता है । इनलिये अपने
इस प्यारे मित्र पहाड़की चोटीसे जी भर गले मिलकर इससे विदा ले लो ॥ १२ ॥ अफ़्फ़ा,
पहले मैं तुम्हें यह मार्ग समझा दूँ जिससे जानेमें तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा । मार्ग समझ
देनेपर मैं अपनी प्यार संदेश भी भता दूँगा । देखो ! मार्गमें चलने हुए जब कभी थकने
लगो, तो मार्गमें पवती हुई पर्वतकी चोखियोंपर रुकते जाना, और जब जब तुम पानोंकी बर्तीसे
दुपट्टे पहने लगो तब-तब आनोंका हल्का-ठरका जल पीते हुए जाना ॥ १३ ॥ लहलही चोंचोंसे
जदो हुई इस पहाड़ीसे जब तुम ऊपर उढ़ोमे तब तुम्हारा उड़ना देखकर सिद्धोंकी भोखी
भाली धियाँ आँसु फाड़-फाड़कर तुम्हारा शोर देखती हुई सोचेंगी कि कहीं पहाड़की चोटीकं
पवन लो नहीं उड़ाए लिये चला जा रहा है ? इस प्रकार अपने उड़ते हुए तुम दिगात्रोंकं

येन श्यामं वपुरवितरां कान्तिमापत्स्यते ते वर्धेखेव स्फुरितरुचिना गोपवेपस्य विष्णोः १५
 त्वय्यायत्तं कृपिकलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः प्रीतिलिग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
 सद्यः सीरोत्कण्णामुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं किञ्चित्पश्चाद् ब्रजलघुगतिर्भूय एयोत्तरेण १६
 त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु भूर्भा वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाप्रकूटः ।
 न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः १७
 छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाग्नैस्त्वद्यारुढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ।
 नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रक्षयोपामवस्थां मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः
 अध्वयलान्तं प्रतिमुखगतं सानुमानाप्रकूटस्तुङ्गेन त्वां जलद शिरसा वक्ष्यति श्लाघ्यमानः
 आसारेण त्वमपि शमयेत्तस्य नैदाधमग्निं सद्भावार्द्रैः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु १९
 स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधुभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं तोषोत्सर्गद्विततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्थः ।

मोठी सँझोंकी फटकारोंकी छनेकते हुप उत्तरकी थोर घूम जाना ॥ १५ ॥ देखो ! यहाँ सामने
 बाँधीके ऊपर उठा हुआ इन्द्रधनुषका एक टुकड़ा ऐसा सुन्दर दिखाई पड़ रहा है मानो बहुतसे
 रत्नोंकी चमक, एक साथ यहाँ जाकर इकट्ठी कर दी गई हो। इस इन्द्रधनुषसे सजा हुआ
 सुन्दारा साँवला शरीर ऐसा सुन्दर लगने लगा है जैसे मोरमुकुट पहने हुए राजाके वेश बनाए
 हुए धीकूणानी आकर खड़े हो गए हों ॥ १५ ॥ देखो ! खेतोंका होना न होना भी सब तुम्हारे ही
 भरोसे है, इसलिये किसानोंकी वे भोली भाली खिचों भी तुम्हें यदे प्रेम और आदरसे देखेंगी,
 जिन्हें भी चलाकर रिखाना नहीं थाता है। यहाँ तुम, माल देखके उन खेतोंपर परस जाना
 जहाँ अभी जोते जानेके कारण साँधो-साँधो सुगन्ध निकल रही होगी। यहाँसे थोड़ा पवित्रम-
 की ओर घूमकर फिर अटपट उत्तरकी ओर बढ़ जाना ॥ १६ ॥ जब तुम मूसलाधार पानी बरसाकर
 आप्रकूट पहाड़के जंगलोंकी आग बुझाओगे तो वह तुम्हारा उपकार मानकर और तुम्हें पकड़
 समझकर, बड़े प्रेमसे तुम्हें मित्र बनाकर अपनी चोटीपर आदरके साथ उहरावेगा, क्योंकि जब
 दरिद्र लोग भी आए हुए मित्रके उपकारका ध्यान करके उसका सत्कार करनेमें नहीं चूकते तब
 आप्रकूट जैसे ऊँचोंका तो कहना ही क्या ॥ १७ ॥ देखो ! पके हुए फलोंसे लड़े आमके वृक्षोंसे
 घिरा हुआ आप्रकूट पर्वत पीला छा हो गया होगा। उसकी चोटीपर जब तुम कीमल
 बाणोंके जूड़ेके समान साँवला रंग लेकर चढ़ोगे, तब वह पर्वत, देवताओं के वरपदियोंको दूरसे
 ऐसा दिखाई देगा मानो वह धृषीका उठा हुआ ऐसा रत्न हो, जिसके बीचमें काला हो और
 पारो और पीछा दो ॥ १८ ॥ हे मेघ ! जब तुम यककर आप्रकूट पर्वतपर पहुँचोगे, तब यह
 प्रयासनीय आप्रकूट पर्वत तुम्हें अपनी ऊँची चोटीपर उहरावेगा उस समय तुम भी जल बरसाकर
 उसके जंगलोंमें जगी हुई गर्मीकी आग बुझा देना क्योंकि यदि लवके मनसे यहाँपर उपकार
 किया जाय तो वे अपने ऊपर भलाई करनेवालेका आदर करनेमें देर नहीं लगावे ॥ १९ ॥
 उस आप्रकूटके जिन कुओं में जंगली खिचों घूसा करता है, वहाँ थोड़ी ही देर उहरना और फिर
 उग बहाकर चला देना, क्योंकि जल बरसा देनेसे तुम्हारी देहवा मारीपन भी दूर हो जायगा
 और तुम्हारी शाख भी थक जायगी। यहाँसे आगे चलनेपर तुम्हें विन्पाचलके ऊपद-खायक पठारपर
 पट्टर-सी पगारों में पैकी हुई देवा नदी मिलेगी, जो तुम्हें ऊपरसे देसी दिखाई देगी मानो

रेवां द्रव्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णा भक्तिच्छेदेरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य
तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टिर्जम्बुकुञ्जप्रतिहतरथं तोयमादाय गच्छेः ।

श्रन्ताःसारं घन तुल्यितुं नानिलाः शक्ष्यति त्वां रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय
नीपं दृष्ट्वा हरितरूपिणं केमरैरर्थरुद्धैराभिभूतप्रथममुकुलाः फन्दलीधानुरुच्छम् ।

जम्बवारण्येष्वधिस्तुरगिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याःमारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम्
अम्भोविन्दुग्रहयचतुरांश्चातकान्नीचमाणाः श्रेणीभूतः परिगणनया निर्दिशन्नो पलाकाः

स्वामासाद्य स्वनितममये मानयिष्यन्ति सिद्धाः मोदकम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि
उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं पियामोः कालक्षेपं वक्रमसुरभौ पर्वते पर्वते ते ।

शुक्लापाङ्गैःसजलनयनैःस्वामतीकृत्य केकाः प्रत्युघातः कथमपि भ्रान्तान्तुमाशु व्यपश्येत्
पाण्डुच्छापोपवनवृत्तय केतकैः सूचिभिन्नेर्नीडारम्भैर्गृह्यलिभुजामावृल्लग्नमचैत्याः ।

स्वययासन्ने परिष्वतफलश्यामजम्बूऽनान्ताः मंपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्यापिहंसा दशार्णाः
तेषां दिक्षुप्रथितनिदिशालक्षणां राजधानीं गत्या सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा

तीरोपान्तस्वनितमुभागं पास्यमि स्वाद्दु यस्मात्सभ्रमङ्गं मुखमिव पयो वैत्रतयाधलोर्मि

किसीने पहले हाथीका शरीर बहुतमे चीत दिया हो ॥ २० ॥ देवो । यहाँ जल बरसा चुको, तो जगली हाथियोंके सुगन्धित मदमें बसा हुआ और जामुनकी छत्रोंमें बहता हुआ देवाका पक्ष पीकर तत्र भागे चला । जल पीकर जब तुम भारी हो जाओगे तो वायु तुम्हें हवा उपर मुवा नहीं सकेगा । देवो । जिसके हाथ रूते होते हैं उर्गोंको सब दुरदुराते हैं, और जो भरा पूरा होता है, उसका सभो सादर करते हैं ॥ २१ ॥ देवो । जिस समय तुम जल बरसाने चले जा रहे होने उस समय आपके हरे पीले कदम्बके पृथ्वीपर मंदराते हुए और, दलदलोंमें नई पृथ्वी हुई कन्दलीकी परिषोंको चरते हुए हरिण और जंगली धरतीमें सीला मध सूँघते हुए हाथी, तुम्हें भागं बसाते चलेंगे ॥ २२ ॥ ऊपर ही ऊपर सूँघे पूँघे हुए पातकोंकी देतनेवाले, और पत धीधर उड़ती हुई पतलियोंकी एक एक काके गिननेवाले पिछोंकी प्यारी पिरीं जब तुम्हारा गर्जन सुनकर जलमे घबराकर उनके गले खग जायेंगे, सब वे सिद्ध लोग तुम्हारा बड़ा मजा मनायेंगे ॥२३॥ मित्र ! यह तो मैं जानता हूँ कि तुम मेरे कामके लिये बिना रुके मरपट जाला चाहोगे फिर भी मैं समझता हूँ कि तुम्हारे पृथ्वीते बने हुए उन सुगन्धित पदार्थोंपर तुम्हें टहरते ही जाना होगा, यहाँके मोर, नेत्रोंमें आगदके भाँसू भाकर आपनों पूरने तुम्हारा स्वागत कर रहे होंगे । पर तुम्हें धारा है कि तुम यहाँमे लिये भी होगा मरपट पक्ष रोंगे ॥ २४ ॥ हे मेव ! जब तुम दृगार्ण देखके पास पहुँचोगे सब यहाँके पृथ्वे हुए उपवनों के बाद, पृथ्वे हुए केरों के कारण उनके रिगाई देंगे, गाँवके मन्दिर, कीर्णों आदि पृथ्वीके घोंघोंमें भरे मित्रों, यहाँके जगज, पहाँ हुई काँडे जागुर्गते बने मित्रों भी इस भी यहाँ पर बुद्ध हिनोके लिये आ बसे होंगे ॥ २५ ॥ दृगार्ण देखकी विरिटा नामको प्रसिद्ध राजधानीमें पहुँचने का तुम्हें विज्ञापने सब सामग्री मित्र जायगी : अबैकि जब तुम यहाँकी सुरावनों, मनमावनों और नाचनी हुई उड़रोंवाली वैत्रती जकीडे

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतोस्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः ।
 यः पश्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणां गृहामानि प्रथयति शिलावेशमभिर्यौवनानि २७
 विश्रान्तः सन्नज्र वननदीतीरजातानि सिञ्चन्नुद्यानानां नवजलकण्ठैर्युथिकाजालकानि
 गण्डस्वेदापनवनरुजाक्रान्तकर्णोत्पलानां छायादानात्तत्रपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्
 वक्रःपन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योचराशां सौधोत्सङ्गप्रणयविमूढो मास्म भ्रूळ्जयिन्याः
 विद्यदामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि २९
 वीचिकोभस्तनितविहगश्रेणिकाश्रीगुणायाः संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दशितावर्तनामैः
 निर्विन्ध्यायाः पथि भव रत्नाम्पन्तरः सन्निपत्य स्त्रीयामाद्यं प्रणयवचनं विश्रमो हि प्रियेषु
 वेशीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः पाण्डुच्छाया तटरुहतकण्ठं शिभिर्जीर्णपथैः ।
 सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्यया व्यञ्जयन्ती काश्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः

तीरपर गजन करके उसका मीठा जल पीओगे तब तुम्हें ऐसा लगेगा मानो तुम किसी कटीली
 नौदोवाली कामिनीके ओठोंका रस पी रहे हो ॥ २६ ॥ वहाँ पहुँचकर तुम 'नीच' नामकी पहाड़ी-
 पर थकावट मिटानेके लिये उतर जाना । वहाँपर फूले हुए कदंबके वृक्षोंको देखकर ऐसा जान
 पड़ेगा मानो तुमसे मेट करनेके कारण उनके रोम-रोम कहता बडे हों । उसी पहाड़ीको गुफाओंमें से
 उन सुगंधित पदार्थोंकी गंध निकल रही होगी जो वहाँके चेतने वेदवाद्योंके साथ रति करनेके समय
 काममें लाते हैं । इससे तुम्हें यह भी पता चल जायगा कि वहाँके नागरिक कितनी सुखरम-सुखला
 अवानीका रस लेते हैं ॥ २७ ॥ वहाँ थकावट मिटाकर, तुम जंगली नदियोंके तीरोंपर उपवनोंमें गिली
 हुई जहाँकी वनियोंकी छपने जलकी फुहारोंसे रंचिते हुए शौर वहाँकी फूल उतारनेवाली वन मालि
 नीके सुँहपर छाया करके थोड़ीसी जान पड़वान बटाते हुए आगे बढ़ जाना, जिनके कानोंमें लटकें
 हुए कमलकी पलकियोंके कणकूल उनके गालोंपर बढते हुए पसीनेसे लग-लगकर मैले हो गए
 होंगे ॥ २८ ॥ उत्तरकी ओर जानेमें यद्यपि उज्जयिनीवाला मार्ग कुछ देवा पड़ेगा, किं भी तुम उस नगर
 के राजभवनोंको देखना न भूलना । तुम्हारी विजलाकी चमकसे डरकर वहाँकी स्त्रियाँ जो चंचल
 चितवन खलावेगी उनपर यदि तुम न रोके, तो समझ लो कि तुम्हारा जन्म भकारथ ही हुआ ॥ २९ ॥
 उज्जयिनीकी ओर जाते हुए तुम उसरकर उस निर्विन्ध्या नदीका भी रस ले लेना जिसकी उद्यतती
 हुई लहरोंपर पलियोंकी चढ़चढ़ाती हुई पल्लों ही कण्ठनी-नी दिलाई देती और जो इस सुन्दर ढंगसे रुक-
 रुककर बह रही होगी कि उसमें पड़ी हुई भँवर तुम्हें उसकी वामि जैसी दिखाई देंगी, क्योंकि स्त्रियाँ
 चटक-मटक दिखाकर ही अपने प्रेमियोंकी छपने प्रेमकी बात कह देती हैं ॥ ३० ॥ देखो ! निर्विन्ध्या
 नदीकी धारा तुम्हारे विद्योदयों थोड़ीके समान पतली हो गई होगी और तीरके घुँघोंके पीले पत्ते फड़-
 फड़कर गिरनेसे उसका रंग भी पीला पड़ गया होगा । इस प्रकार, हे वचनमागी मेघ ! अपनी यह
 विभोगकी दशा दिखाकर यह पदी बता रही होगी कि मैं तुम्हारे विभोगमें सूखी जा रही हूँ । देखो !
 तुम ऐसा उपाय करना कि उस बेचारीका दुखलापन दूर हो जाय शर्माँर जल बरसाकर उसे भर
 देना ॥ ३१ ॥ चरन्त देशमें पहुँचकर तुम धन-धान्यसे भरो हुई उस विरागडा नगरीको ओर चले
 जाना जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ और वहाँ गाँवके बड़े बड़े लोग, महामाया उदयनकी

प्राप्यावन्तीनुदयनकथारोविदग्रामवृद्धान्पूर्वोदिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालाम् विशालाम्
स्वल्पीभूतेसुचरितफलेस्वर्गिणां गांगतानां शेषैः पुण्यैर्ह तमिवदिवः कान्तिमत्स एवमेकम् ॥
दीर्घाङ्कुर्वन्पदु मदकलं कूजितं सारसानां प्रत्यूपेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकपायः ।

यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गलानुकूलः शिवावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाडुकारः ३३

* हारौस्तारौस्तरलगुट कान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः शण्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्
दृष्ट्वा यस्यांविषण्णचित्तान्विद्रुमाणांचमद्भान्दंलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ।

* प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्वे ह्रैमं तालद्रमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः ।

अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाद्य दर्पादित्थागन्तुन्मयति जनोयववन्धूनमिहः ।

आलोद्दीर्घैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपैर्घन्धुग्रीत्वा भवनश्लिखिमिर्दत्तनृत्योपहारः ।

हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा लक्ष्मीं पश्यन्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ३६

मर्तुः कण्ठच्छदिरिति गणैः सादरंवीक्ष्यमाणः पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धामचण्डीधरस्य
धूतोद्यानं कुबलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्यास्तोयक्रीडानिरतपुवतिस्नानतिक्रैर्मरुद्भिः ३७

कथा मली-प्रकार जानते बूकते हैं । यह नगरी ऐसी लगती है मानो स्वर्गमें अपने पुण्योंका फल भोगनेवाले पुण्यात्मा लोग, पुण्य समाप्त होनेसे पहले ही, अपने बचे हुए पुण्यके बदले, स्वर्गका एक चमकीला भाग लेकर उसे अपने साथ धरतीपर उतार लाए हों ॥ ३२ ॥ उस नगरीमें, मत्वाले सारसोंकी मीठी बोलीको दूर दूरतक फैलाना हुआ, तइके विले हुए कमलोंकी गन्धमें यसा हुआ और शरीरको सुहानेवाला लिपक वायु, त्रिषोंकी संमोगनीयकावटकी उसी प्रकार दूर कर रहा होगा जैसे चतुर प्रेमी, मीठी मीठी बातें बनाकर, कुबेल सुधाकर और पंखा फलनर संमोगसे यकी हुई अपनी प्यारीकी यकावट दूर कर देता है ॥ ३३ ॥ उन्मयिनोकी दादोंमें तुम्हें कहीं तो करोड़ों मोतिषोंकी ऐसी मालाएँ सभी हुईं दिखाने देंगी जिनके बीच-बीचमें बड़े बड़े लख गुणें हुए होंगे, कहीं करोड़ों शंख और त्रिषोंके रणलो हुईं मिलेंगी और कहींपर नई घासके समान नीले और चमकीले नौलम किते दिखाने देंगे । उन्हें देखकर यही जान पड़ेगा कि सब यहाँ निकालकर ला रखे गए हैं और समुद्रमें केवल पानी ही पानी बचा छोड़ दिया गया है ॥ ३४ ॥ यहाँके जानकार लोग, यह क्या सुना सुनाकर वाहरसे आए हुए अपने संरन्धियोंका मन बहला रहे होंगे कि यहाँपर सब देशके राजा उदयनने उन्मयिनोके महाराज प्रद्योतकी प्यारी कन्या वासवदत्ताको हरा था, यहीं उनका बनाया हुआ ताइके पेड़ोंका सुनहरा उपरग था और यहाँपर मदों भर हुआ नलगिरि नामका हाथी, रैत उपर कर हुए-उपर वागल होकर घूमता फिरता था ॥ ३५ ॥ यहाँकी त्रिषोंके बालोंकी सुगंधित करके, भगरकी भूपका जो धुंधली करोंसे निकलता होगा उससे तुम्हारा शरीर बड़ेगा और तुम्हें अपना सारा समन्वय, यहाँके पालनू मोर भी नाच-नाचकर तुम्हारा सत्कार करेंगे । तब तुम फूलोंके गन्धसे महकते हुए यहाँके उन भवनोंकी सजावट देखकर अपनी यकावट दूर कर लेना जिनमें सुन्दरियोंके घरखोंमें लगी हुईं महावरसे काज पियोंकी घाप बनी हुईं होंगी ॥ ३६ ॥ यहाँसे तुम तीनों लोकोंके स्वामी और चंडीके पति महाशक्तिके पतिग गन्दरकी धोर चले जाना । यहाँ त्रिषोंके गण, तुम्हें अपने स्वामी शिवोंके बंधके समान ही नीला देखकर, तुम्हें बड़े भादसे निहारेंगे । यहाँ नल विहार करनेवालो

अध्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले स्थातव्यं ते नयनविषयं यादवदत्स्येति मानुः।
 कुर्वन्संध्यावलिपटहतां शूलिनःरत्नाघनीयामामन्द्राणां फलमविकलंलक्ष्मसे भर्जितानाम्
 पादन्यासैःफणितरशनास्तत्र लीलावधत्तै रत्नच्छायासूचितवलिभिथामरैःकलान्तहस्ताः ।
 वैश्यास्त्वत्ती नखपदसुखान्माप्यवर्षाग्रिबिन्दूनामोचयन्तेत्वपि नधु रुरथ्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्
 पथादुच्चैर्मुञ्जतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।
 नृचारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां शान्तोद्देगस्तिमितनयनं दृष्टमक्तिर्भवान्या ४०
 गच्छन्तीनां रमणवसति योपितां तत्र नक्तं रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिमेघैस्तमोभिः ।
 सौदामन्याकनकनिकपक्षिगवयादर्शयोर्वीं तोयेत्सर्गस्तनितमृखरो मासमभूर्विकलावास्ताः
 तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्राः ।
 दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्रशेषं मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्यामा ॥४२॥
 तस्मिन्काले नयनसलिलं योपितां खंडितानां शान्तिं नेयं प्रखयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजशु
 प्रालेयास्रं कमलवदनास्तोऽपि हतुं नलिन्याः प्रत्यावृत्तस्त्वपि कररुधि स्यादन्त्याभ्यस्यः

युवतियोंके स्नान करनेसे महकता हुआ और कमलके गंधमें लगी हुई गणपती नदीही शोरसे अनेवाला
 पवन, इस मन्दिरके उपवनको धार धार कुना रहा होगा ॥ ३७ ॥ हे मेघ ! यदि तुम महाकाकके
 मंदिरमें सौम्य होनेसे पहले पहुँच जाओ तो यहाँ तबतक रह जाना जबतक सूर्य भली प्रकार घोलोंसे
 ओझस न हो जाय और जब महादेवजीकी सौम्यकी सुहावनी आरती होने लगे तब तुम भी अपने
 गर्जनका नगाड़ा बजाने लगना । तुम्हें अपने मंद गंभीर गजकका पूरा पूरा फल मिल जायगा ॥ ३८ ॥
 सन्ध्याको नाचमें पैरोंपर धिरकतां हुई जिन वैश्याओंकी करघनीके धुँ प्रस वड़े मोठेमोठे बज रहे होंगे
 और जिनके हाथ, कंगनके नगींकी चमकते दमकते हुए उड़ोवाले पंख जुलासे जुलावे थक गए होंगे,
 उन वैश्याओंके नख-पदोंपर जब तुम्हारी ठंडी-ठंडी बूँदें पड़ेंगी तब वे बड़े प्रेमसे अपने बड़ी-बड़ी,
 भौंरीकी पंखोंके समान पित्तवन तुमपर डालेंगी ॥ ३९ ॥ सौम्यी पूजा हो चुकनेपर जब महाकाल
 ताण्डव नृत्य करने लगे, उस समय तुम सौम्यी लखारू लेकर इन वृक्षोंपर छा प्यास जो उमके ऊँचे
 उठे हुए पौधके समान पड़े होंगे । ऐसा करनेसे शिवजीके मनमें जो हाथोंकी खाल थोड़नेकी इच्छा
 होगी वह भी पूरी हो जायगी । यह देखकर पहले तो पार्वतीजी दर जायेंगी कि यह हाथीकी खाज
 था कहाँसे आई, पर फिर तुम्हें पहचानकर उनका दर दूर हो जायगा और वे एकटक होकर शिवजीमें
 तुम्हारी इतनी भक्ति देखली रह जायेंगी ॥ ४० ॥ यहाँपर जो छिपों अपने प्यारोंसे मिलनेके लिये
 ऐसी घनी आँधरी रातमें निकली होंगी, उन्हें जब सड़कोंपर शौचरेके मारे कुबु भी न सूकता होगा,
 तब तुम कसौतीमें सोनेके समान दमकनेवाली अपनी विजली चमकाकर उन्हें डीक-डीक मार्ग दिना
 देना । पर देखो ! तुम गरजना थरसना मत ! नहीं तो वे घररा उठेंगी ॥ ४१ ॥ यहाँ दैरतक
 चमकते-चमकते घड़ी हुई अपनी प्यारी विजलीकी लेकर तुम किमी ऐसे मकानके छज्जेपर रात बिता
 देना जिसमें कतार लोप हुए हों, और फिर दिन निकलते ही वहाँसे चल देना, क्योंकि जो अपने
 मित्रोंका फल बरमेना सोझा उकता है, वह चलसेट नहीं दिया करता ॥ ४२ ॥ देखो ! उस समय
 पहुँचते प्रेमो लोग अपने उन प्यारियोंके शीम् पोंछ रहे होंगे जिन्हें रातको थकेली छोड़कर वे कहीं

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।
 तस्मादस्याः कुण्डविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यान्भीचीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रक्षितानि ४४
 तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं ह्रस्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बस्
 प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि ज्ञातास्वादो विष्टवजघनां को विहातुं समर्थः
 त्वन्निष्पन्दोच्छ्वासितवसुधागन्धसंपर्करम्यः स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः
 नीचैर्वास्थरपुपजिमिपोर्देवपूर्वं गिरिं ते शीतो वायु परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ४६
 तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मापुष्पासारैः स्नपयतु भवान्धोमगङ्गाजलाद्रिः ।
 रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनामत्यादित्यं हुनवहमुखे संभृतं तद्भि तेजः ४७
 ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बह्व भवानी पुत्रप्रमेया कुवलयदलप्रापिं फण्यं करोति
 धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेरतं मयूरं पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गान्तिर्नर्तयेथाः ॥४८॥

दूसरी शीतल रमे होंगे । हमलिये उस समय तुम सूर्यको भी मत टकना क्योंकि ये भी उस समय अपनी प्यारी कमलिनिके मुख-कमलपर पड़ी हुई श्रोतकी वृद्धे पौतनेके लिये आ गए होंगे । तुम इनके हाथ न रोक बैठना, नहीं तो ये घुरा मान जावेंगे ॥ ४३ ॥ हे मेघ । तुम्हारे सहज सजोने शरीरको परझाई गंभीरा नदीके उस जलमें शबद्वय दिखाई देगी, जो चिल जैसा निर्मल है । उसमें किलोके करती हुई हृमुदके समान उगली मङ्गलियोंको देखकर तुम यहाँ समझना कि यह नदी तुम्हारी शीतल अपनी प्रेम-भरी चंचल चित्तपन चला रही है । वहाँ तुम अपनी रलारिसे उसके प्रेयका निरादर न कर बैठना ॥ ४४ ॥ जय तुम गंभीरा नदीका जल भी लगे तो उसका जल कम हो जायगा और उसके दोनों तट भांचेतक दिखाई देने लगेंगे । उस समय जलमें तुको हुई बँतकी कलामोंको देखनेसे ऐसा जान पड़ेगा मानो गंभीरा नदी, अपने तटके नितम्बोंपरसे अपने जलके घट रिसक जानेपर, लज्जासे अपनी बँतकी लताओंके हाथोंसे अपने जलका घट धामे हुए है । यह सब देखकर भैया मेघ । उसपर खुके हुए तुम, वहाँसे जा न पाओगे, क्योंकि जवानीरा रस ले चुकनेवाला ऐसा कोन रंगीला होगा जो कामिनीकी खुली हुई जर्घोंको देखकर उसका रस जिये बिना ही वहाँसे चले दे ॥ ४५ ॥ वहाँसे चलकर जब तुम देवगिरि पहाड़की शीतल जाओगे तब वहाँ धीरे धीरे बढ़ता हुआ यह शक्तिल यवन तुम्हारी सेवा करेगा जिसमें तुम्हारे बरसाए हुए जलसे शानन्दका सँस लीता हुई धरतकी गंध मरा रहेगा, जिसे चिन्तावृत्ते हुए हाथी अपनी सूँघते भी रहे होंगे और जिसके चलनेसे यवनके गूजर पकने लग गए होंगे ॥ ४६ ॥ उसी देवगिरि पर्वतपर स्कन्द भगवान् भी सदा निवास करते हैं । इसलिये वहाँ पहुँचकर तुम कृत्र बरसानेवाले यादल यवनका उनपर धाक ल गंगाके जलसे भीगे हुए कृत्र बरसाकर उन्हें स्नान करा देना । देवी ! स्कन्द भगवान्को तुम देसा-बसा देवता न समझना । इन्द्रकी सेनाओंको यचानेके लिये शिवजीने सूर्यसे भी बढ़कर जलता हुआ अपना जो तेज शक्तिमें बलकर दृढ़ता किया था, उसी तेजसे स्कन्दका जन्म हुआ है ॥ ४७ ॥ वहाँ पहुँचनेपर तुम अपनी गरलसे पर्वतकी गुफाओंको गुँगा देना । उसे मुनकर स्वामी कार्तिकेयका यह मोर नाच उठेगा जिसके नेत्रोंके कोमे, शिवजीके तिरपर धरे हुए चन्द्रमाकी चमकमे दमरते रहते हैं । उस मोर के मूँचे हुए इन पंखोंसे चमकीली किरणें निकल रही होंगी, जिन्हें पावँतीजी, पुत्रपर प्रेम दिखलानेके लिये अपने

अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले स्यात्तद्व्यं ते नयनविषयं यादवदत्येति भानुः।
 कुर्वन्संध्यावलिपटहतां शूलिनःश्लाघनीयामामन्द्राणां फलमविकलंलप्स्यसे गर्जितानाम्
 पादन्यासैः कणितरशनास्तत्र लीलावधूतै रत्नच्छायास्वचित्तत्रलिभिश्चामरैःक्लान्तहस्ताः ।
 वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्यवर्षाग्रिन्दूनामोचयन्तेत्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्
 पंश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।
 नृचारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्मथान्या ४०
 गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं रुद्रालोके नरपतिपथे सूचिभेवैस्तमोभिः ।
 सौदामन्याकनकनिकपलिग्धयादर्शयोर्वी तोपोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्मभूर्विकलावास्ताः।
 तां कस्यांचिद्भवनवल्लभौ सुप्तपारावतायां नीत्वा रात्रिं चिरविलसनास्त्रिभुविद्युत्कलत्रः ।
 दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वश्रेपं मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्पथाः॥४२॥
 तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खंडितानां शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोरत्यजाशु
 प्रालेयासं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः प्रत्यावुचस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यस्ययः

युवतियोंके खान करनेसे मद्दकता हुआ और कमजोरके गंधमें बसो हुई गजवती नदीकी धोरसे जानेवाला
 पवन, इस मन्दिरके उपवनको बार बार झुंका रहा होगा ॥ ३७ ॥ हे मेघ । यदि तुम मद्दकानके
 मंदिरमें सौम्य होनेसे पहले पहुँच जाओ तो वहाँ तबतक रहकर जाना जबतक सूर्य भङ्गी प्रकार शौलसे
 झोककर न हो जाय और जब महादेवकी सौम्यी सुहावनी धारती होने लगे तब तुम भी अपने
 गर्जनका प्रगाढ़ा यज्ञाने लगना । तुम्हें अपने मंद गर्भीर गर्जकका पूरा पूरा फल मिल जायगा ॥ ३८ ॥
 सन्ध्याको नाचमें पैरोंपर धिरकती हुई जिन वेश्याओंकी करघनीके सुँघरु यह मंटेमंटे बन रहे होंगे
 और जिनके हाथ, कंगनके नगींकी चमकसे दमकते हुए उड़ोवाले पंख सुलाते सुलाते धरु गए होंगे,
 उन वेश्याओंके नय-चतोंपर जब तुम्हारी टंडी-टंडी बूँदें पड़ेंगी तब ये बड़े मेमसे अपनी यड़ी-यड़ी,
 भौंरीकी पोंतोंके समान चितवन गुमपर टालगीं ॥ ३९ ॥ सौम्यी पूजा हो चुकनेपर जब महाकाल
 सायदेव नृत्य करने लगे, उस समय तुम सौम्यी लजार्ह घेकर उन दृष्टोंपर छा जाना जो उनके रँबे
 उठे हुए सौंदके समान खड़े होंगे । वेना करनेसे शिवजीके मनमें जो हाथोंकी लाल मोदनेकी हड्डा
 होगी वह भी पूरी हो जायगी । यह देखकर पढ़ने तो पावँतीगो हर जायँगी कि यह हाथोंकी लाल
 या वहाँसे गई, पर फिर तुम्हें पहचानकर उनका दन कर हो जायगा और वे एकटक होकर शिवजीमें
 तुम्हारी इतनी भक्ति देखनी रह जायँगी ॥ ४० ॥ पहँवर जो छियाँ अपने प्यारोंसे मित्रनेके छिपे
 ऐसी अपनी छिपेसे रातमें निरली होंगी, उन्हें जब सफ़ाँपर छिपेके मारे कुसु भी न सुकता होगा,
 तब तुम कसीयोंमें सोनेके समान दमरनेवाली अपनी पिताजी चमकाकर उन्हें टोंक-टीक मार्ग दिया
 देना । पर देनी ! तुम गरजना बरगना मत ! नहीं तो वे घबरा उठेंगी ॥ ४१ ॥ यद्यपि देरतक
 चमकते-चमकते धरुँ हुई अपनी प्यारी विजलीयों लेकर गुम कियी ऐसे मरुतके गजियर रात बिठा
 देना जितमें कपूर छोड़ हुए हों, भीर फिर दिन निकलने हो वहाँसे चम देना, क्योंकि जो अपने
 मित्रोंका काम करनेका सोचा उठाता है, वह थलमेट नहीं शिया करता ॥ ४२ ॥ देनी ! उस समय
 वदूतसे मेमों लोग अपनी दन प्यारियोंके भौं गू पोंद रहे होंगे जिन्हें रातको चरेजी छुँपकर वे नहीं

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।
 तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यान्मोघीमर्तुं चटुलशक्तरोद्धर्तनप्रेक्षितानि ४४
 तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशासं हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधो नितम्बम्
 प्रस्थानं ते कथमपि सरसे लम्बमानस्य भावि ज्ञानास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः
 तन्निष्यन्दोच्छ्रयसितवसुधागन्धमपकर्म्म्यः स्रोतो रन्ध्रघनितसुभगं दन्तिमिः पीयमानः
 नीचैर्वास्पत्पुपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते शीतो वायुः परिष्कमयिता कान्तो दुम्बराणां ४५
 तत्र रुन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्बोधमगङ्गाजलार्द्रैः ।
 रचाहेतोर्नवशशिमृता वासवीनां चमूनामत्यादित्यं हुतमहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ४७
 ज्योतिर्लेखावलिषि गलितं यस्य बह्वं भवानी पुत्रप्रेम्णा कुमलपदलप्रापिं कर्णे करोति
 धौतापाङ्गं हरशशिरुधा पावकेरत्नं मयूरं पश्चाद्द्रिग्रहणगुरुभिर्गजितैर्नर्तयेथाः ॥४८॥

आराध्यैर्न शरवणमवं देवमुल्लङ्घिताश्वा सिद्धद्वन्द्वैर्जलकण्ठमपाद्रीणिभिर्मुक्तमार्गाः ।

व्यालम्वेधाःसुरभितनपालम्भजां मानयिष्यन् ।

स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥ ४९ ॥

त्वय्यादातुं जलमयन्ते शार्ङ्गिणो वर्षाचौरै तस्या. सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरमावात्प्रवाहम्

प्रोक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्यं दृष्टीरेकं मुक्तागुणगिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्

तामुत्तीर्य ब्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां पद्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रमाणाम् ।

कुन्दक्षेपात्तुगमद्युकरश्रीमुषामात्मचिम्बं पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥५१॥

ब्रह्मावर्तं जनपदमथ च्छापया गाहमानः क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेयाः ।

राजन्यानां सितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा धारापातैस्त्रयिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि

हित्वा हालामभिगमतरसां रेवतीलोचनाङ्गां वन्दुश्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिपेवै

कृत्वा तासामभिगममपां सौम्यसारस्वतीनामन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्षमात्रेणकृष्णः

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजायतीर्णां जह्मोः कन्धां समरतनवस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।

गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या निहस्येवफेनैःशंभोःकेशग्रहणमकरादिन्दुलघ्नोर्मिहस्ता ॥५४॥

उम कानोंपर सजा लेवी हैं, जिनपर ये कमलकी परतकी सजामा करती थीं ॥ ४८ ॥ स्कन्द भगवान्की

पूजा करके जब तुम धारो बन्दोगे तो हाथोंमें बीणा जिए हुए अपनी जिवोंके साथ वे सिद्ध लोग तुम्हें

मिलेंगे जो अपनी बीणा भीगकर निराद जानेके डरसे तुमसे दूर ही दूर रहेंगे । तब तुम कुव दूर

जाकर उस चर्मण्वती नदीका आदर करनेके लिये नीचे उतर जाना जो राजा रन्तिदेवके राजतम पत्र

करनेकी कीर्ति धनकर धरतीपर यह रही है ॥ ४९ ॥ हे मेघ ! जब तुम विष्णु भगवान्का सचिवा

रूप चुराकर चर्मण्वतीका जल पीनेके लिये लुकेगे, उस समय आकाशमें विषरनेवाले सिद्ध, गन्धर्व

आदिकी, दूरसे पतली दिखई देनेवालो उस नदीकी चौड़ी धाराके बीचमें तुम ऐसे दिखाई दोगे मानो

पृथ्वीके गलेमें पड़े हुए एकलक्षे हारके बीचमें एक बड़ी मोठी-सी इन्द्रनीलमणि पोट वा गई हो ॥५०॥

चर्मण्वती नदी पार करके तुम दशाशुषां और वद जाना और अपनी रूप दिखाकर वहाँकी उन

रमणियोंके रिहाना, जो बर्तियों काकी-काली माँहें ऐसी जान पड़ेगी मानो उन्होंने हुन्दके कुलोंपर

मैदानेवालो भीरोंकी चमक चुरा ली हो ॥ ५१ ॥ वहाँसे चलकर ब्रह्मावर्त देशपर लुप्य करते हुए

तुम उस सुरक्षेत्रपर चले जाना जो कौरवों और पाण्डवोंकी घरेलू लड़ाईके कारण आजतक बदनाम है

और जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुनने अपने शत्रु राजाओंके कुलोंपर उरों प्रकार अभगिनत साथ धरताद

ये जैसे कमलोंपर तुम अपनी जत्रधारा बरसाते हो ॥५२॥ देखो ! कौरव और पाण्डव दोनोंपर एक-सा

प्रेम करनेवाले जो पल्लामात्री, महाभारतके युद्धमें किलोकी औरसे भी नहीं लड़े, वे अपनी प्यारी

रेवती नेत्रोंकी छाया पकी हुई प्यारी मदिशको छोड़कर जिस सरस्वती नदीका जत्र पीते थे, यही जत्र

यदि तुम भी पी लोगे तो वांछरसे कष्टे होनेपर भी तुम्हारा मन उजला हो जायगा ॥५३॥ सुरक्षेत्रसे

चलकर तुम वनखल पहुँच जाओ । वहाँ तुम्हें दिवालयकी घाटियोंसे उतरी हुई वे गंगाजी मिलेंगी,

उन्होंने सीढ़ी बनकर सजाके पुत्रोंको स्वर्ग पहुँचा दिया और जिनकी उदरों फेन ऐसी जगती है

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पथार्द्धलम्बी त्वं चेदच्छस्फटिऋविशदंतर्कयेस्तिर्यग्मन्मः ।
 संसर्पन्त्यासपदिभवत् स्रोतसिच्छापयाऽसी स्यादस्थानोपगतवम्बुनासङ्गमेवाभिरामो ५५
 आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्नृगाणां तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुपारैः ।
 वक्ष्यस्पधमभ्रमभिनयनेतस्यशृङ्गे निपण्णः शोभां शुभ्रत्रिनयनवृपोत्खातपद्मोपमेयाम् ५६
 तं चेद्रायौ सरति सरलस्कन्धसंपट्टजन्मा वाधेतोऽकाचपितचमरीवालरमारो दवाग्निः ।
 श्रद्धस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रैरापन्नातिप्रशमनकलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ॥५७॥
 ये संरम्भोत्पन्नरमसाः स्वाङ्गभंगाय तस्मिन्मुक्ताधरानं सपदि शरमा लहयेधुर्भवंन्तम्
 तान्कुर्वीयास्तमुलकरकावृष्टिवातानकीर्णान् के वान स्युः परिभवपर्दं निष्कलारम्भयलाः
 तत्र व्यक्तं द्यपदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौले शश्वत्सिद्धैरुपचितवलि भक्तिप्रः परीयाः ।
 यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्भूतापाः कन्धिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्धधानाः ५९
 शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्णमाणाः संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किंनरीभिः
 निर्दादस्ते सुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात् संगीताथो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः

मानो वे हस केनको हँसीसे खिचती उड़ाती हुई उन पार्वतीजीका निरादर कर रहीं हों जो सौतिपा
 काहसे गंगाजीपर भी हँ सरेरती हों, और इतना ही नहीं बल्कि वे अपनी छदरोंके हाथ चन्द्रमापर
 देखकर शिवजीके केश पकड़कर पार्वतीजीको यह बात रही हों कि तुमसे चढ़कर शिवजी मेरी मुठुंगों
 हैं ॥ ५४ ॥ यदि वहाँ पहुँचकर तुम दिग्गजोंके समान अपना विद्वत्ता भाग ऊपर उठाकर और आगेका
 भाग हलकाकर, गंगाजीका स्फटिकके समान उजड़ा जल तिरहे होकर पीना चाहोगे, तब तुम्हारी पल्लवी
 हुई घाया, गंगाजीकी धारासे पकड़ कर ऐसी तुम्हदर सगेगी मानो प्रथम पहुँचनेके पहले ही गंगाजीसे
 पसुगाजी मिल गई हों ॥ ५५ ॥ यहाँसे चलकर जब तुम हिमाजलकी उस हिमसे दबी चोटोपर
 घेठकर बकावट मिटाओगे, जहाँसे गंगाजी निकली है और जिसको रिखाएँ कस्तुरीहड्डियोंके सदा
 बैठनेसे गहकती रहती है, उस समय उस चोटोपर घेडे हुए तुम घेरो ही दिखलाई दोगे जैसे महारथ
 जीके उजले सोंदके सोंगोपर महीके टीलोंपर उपर मारनेसे कीचड़ जम गया हो ॥ ५६ ॥ हे मेघ ।
 जबकि पल्लोपर देवदारके वृक्षोंके शापसमें रहनेसे जब जगजमें आग लग जाय और इसके उड़ते
 हुए आगरे, सुरगाजीके लवे-लवे रोएँ जलाने लगें, तब तुम धुआँधार पानी परसाकर उसे सुम्ना देना
 क्योंकि मझे ओगोंके पास जो सुग भी होता है वह हीन-बुद्धियोंका गुण मित्रनेके लिये हो तो होता
 है ॥ ५७ ॥ देखो ! हिमाजलपर जब शरम नामके हरिय तुम्हारे दूर होनेपर भी तुमपर बिगड़कर
 बजलनेके लिये मधुर और अपने हाथ पर तुम्हारेके लिये तुमपर सींग चकानेको छपटें, तब तुम
 उनके ऊपर धुआँधार छोड़े परसाकर उन्हें तितर-विगद कर देना । क्योंकि जो घेडामका काम करने
 लगते हैं, उन्हें घेडे ही उँक करना चाहिए ॥ ५८ ॥ यहाँ हिमाजल परतकी एक रिखापर तुम्हें
 शिवजीके पैरकी धाप बनी हुई मिलेगी जिसपर पिच्छ कोम परावर पूजा चढ़ते हैं । तुम भी भक्ति-
 भावसे मुड़कर बसती प्रदक्षिणा कर लेना क्योंकि बड़ा गरे लोंगोंका पाव उसके दरानसे ही भुज जाता
 है और वे शरीर त्याग करनेपर सदाके लिये शिवजीके गप हो जाते हैं ॥ ५९ ॥ हे मेघ । यहाँके
 पीछे बँसोंमें जब कागु भरने लगता है तब इनमेंसे मीठे-मीठे शर निकलने लगते हैं और किन्तारोंके

शालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तौस्तान्विशेषां हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्कौञ्चरन्ध्रम् ।
 तेनोदीर्घां दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभि श्यामः पादो वलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः
 गत्वा चोर्ध्वं दशमुखमुजोच्छ्वासितप्रस्यसंधेःकैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्यात्
 भृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितस्य स्थितः खं राशीभूतः प्रतिदिनमिव ज्यम्बकस्याट्टहासः
 उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धमित्रा नामे सद्यः कृचद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्यं ।
 शोमामद्रेः स्तिमितनयनप्रच्छणीपां गवित्रीर्मसन्प्राप्ते सति हलभूतो मेचके वाससीव ६३
 ह्रित्वा तस्मिन्भुजगवत्सपं शंभुना दत्तदस्ता क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादवारेण गौरी
 भङ्गी भक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाप्रयायी
 तत्रावस्यं वलयकुलिशोद्धृतनोद्रीर्यातोयं नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधाराशृङ्खलम् ।
 ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे घर्मलब्धस्य न स्यात् क्रीडालोलाः श्रवणरूपैर्गजितैर्भाषयेस्ताः
 हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः कुर्वन्कामं क्षयमुत्पटश्रीतिमैराजतस्य ।
 धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातैर्नानाचेटैर्जलद ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ६६

छिर्घो भी स्वर निजाकर त्रिपुर-विजयका गीत गाने लगती हैं । उस समय यदि तुम भी गरलकर
 पहाड़की लोडोंको गुंजाकर मृदंगके समान शब्द कर दोगे तो शिवजीके संगीतके सब संग पूरे हो
 जायेंगे ॥ ६० ॥ हिमालय पर्वतके घास-पास जितने मुहाबने स्थान हैं, उन सबको देखकर तुम उस
 श्रीद्धर्मसे होते हुए उत्तरकी ओर जाना जिसमेंसे होकर इस, मानसरोवरको छोड़ जाते हैं और जिसे
 परतुरामजी, अपने चाणसे छेदकर अपना नाम धारण कर गए हैं । उस खँचरे मार्गमें तुम जैसे ही लंघे
 और तिरछे होकर जाना जैसे बलिको छलनेके समय भगवान विष्णुका साँवला चरण लंबा और तिरछा
 हो गया था ॥ ६१ ॥ वहाँसे ऊपर चढ़कर तुम उस कैलास पर्वतपर पहुँच जाओगे जिसकी चोटियोंके
 जोड़-जोड़ रावणके बाहुओंने दिया डाले थे, जिसमें देवताओंकी छिर्घो अपना मुँह देखा करती हैं
 और जिसकी कुमुद जैसी उजली चोटियाँ आकाशमें इस प्रकार फैली हुई हैं मानो वह दिन-दिन
 इकट्ठा किया हुआ शिवजीका अट्टहास हो ॥ ६२ ॥ हे मेव ! तुम तो ही चक्रने घुटे हुए अजिनके
 समान काले, और कैलास है तुरंत कटे हुए हाथी दाँतके समान गौरा । इसलिये जब तुम कैलासके
 ऊपर पहुँचोगे उस समय तुम मेरी समझमें बलरामके कंधेपर पड़े हुए चटकीले काले वस्त्रके समान
 ऐसे मनोहर लगोगे कि शीर्षे एकटक मुँह ही देखती रह जायें ॥ ६३ ॥ उस कैलासपर जब पार्वती
 जा उन महादेवजीके हाथमें हाथ डाले बइल रही हैं, जिन्होंने पार्वतीजीके डरसे अपने साँवके कंधे
 हाथसे उतार दिए होंगे, और मणि-शिखोंपर चढ़ रही हैं, उस समय तुम धरतना मत, धरतु धागे
 बइकर लीड़ीके समान बन जाना जिससे उन्हें ऊपर पढ़नेमें सुविधा हो ॥ ६४ ॥ हे मित्र ! उस
 पर्वतपर बहुत सी अप्सराएँ अपने गण-जबे कमलोंकी नोक तुम्हारे शरीरमें चुभोकर तुम्हारे शरीरसे
 लज धाराएँ निकाल लेंगी और तुम्हें कुशारेका धर बना दालेंगी । उस समय यदि वे अपने गर्म
 शरीरोंकी टंडक मिलनेके कारण तुम्हें न छोड़ें तो तुम उन खिलाई देवंगनाओंवे चुटकारा पानेके
 लिये क न फादनेवाला अपना राजन मुनाकर उन्हें धर देना ॥ ६५ ॥ देखो ! यहाँ पहुँचकर पहले तो
 तुम उस मानसरोवरका जब पीना जिसमें सुन्दरे कमल खिजा करते हैं । फिर देरावतके मुँहपर

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव सस्तगंगादुकूलां न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना मुक्ताजालप्रथितमलकं कामिनीनाम्रदृन्दम्

इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ मेघदूते काव्ये पूर्वमेघः समाप्तः ॥

घोषी देर कपड़े सा छाकर उसका मन बदला देना, फिर जाकर करारदुमके फोगत पत्तोंको मड़ान
कपड़ेकी भीति हिला देना । ऐसे ऐसे बहुत से खेज करते हुए तुम कैलास पर्यंतपर जा भरतर
धूमना ॥ ६६ ॥ उती कैलास पर्वतकी शीर्षमें अलकापुरी वैसे ही बसी हुई है जैसे अपने प्यारेकी
शोर्षमें कोई कामिनी बैठी हो थीर वहींसे निकली हुई मगात्रोंकी धारा ऐसी लगती है मानो उस
कामिनीके शरीरपरसे सरकी हुई उसकी साधो हो । यह नहीं हो सकता कि ऐसी अलकाको देखकर
तुम पहचान न पाओ । ऊँचे ऊँचे भवनोंवाली अलकापर वर्षाके दिनोंमें बरसते हुए बादल ऐसे
छाए रहते हैं जैसे कमिनीके शिरपर मोती गुँथे हुए जूते ॥ ६७ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासके बनाए हुए मेघदूत काव्यमें पूर्वमेघ समाप्त हुआ ॥



उत्तरमेघः

विद्युत्स्वर्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
 संगीताय प्रहृतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
 श्रन्तस्तोर्यं मणिमयभ्रुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः
 प्रासादास्त्वां तुलपितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥१॥
 हस्ते लीलाकमलमलके धालकुन्दानुविद्धं
 नीतालोभ्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।
 चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं
 सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं चधूनाम् ॥२॥
 यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा
 हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्याः ।
 केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कृत्वापा
 नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृचिरम्याः प्रदोषाः ॥३॥
 भ्रानन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
 रान्यस्तापः कुसुमशरजादिदसंयोगसाध्यात् ।
 नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
 विंचेशानां न च खलु दयो यौवनादन्यदस्ति ॥४॥

उत्तरमेघ

हे मेघ ! अलकापुरोके ऊँचे-ऊँचे भवन सभ कर्णोंमें तुम्हारे जैसे ही हैं । यदि तुम्हारे साथ विजली है तो उन भवनोंमें भी चटकीली नारिधों हैं, यदि तुम्हारे पास इन्द्रधनुष है तो उन भवनोंमें भी रंग-विरंगे चित्र लटके हुए हैं। यदि तुम-भट्टगभीर गर्जन कर सके हो तो वहाँ भी संगीतके साथ मृदंगप्रजते हैं, यदि तुम्हारे भीतर नीला जल है तो उनकी धरती में नीलमसे जड़ी हुई है और यदि तुम ऊँचेपर हो तो उनकी अटारियाँ भी आकाश चूमती हैं ॥१॥ देवो ! वहाँकी कुलचतुर्ण हाथोंमें कमलके अंगुष्प पहनती हैं, अपनी ओठियोंमें नये खिले हुए कुन्दके फूल गुंथती हैं, अपने मुँहोंको लोभके फूलोंका परमा मज्जर भेरा करती हैं, अपने खुलेमें नये कुरपकके फूल खोसती हैं, अपने कानोंपर तिरसके फूल रखती हैं और अपनी फूल उठनेवाले कदमके फूलोंसे अपनी गोंय सँवारा करती हैं ॥ २ ॥ वहाँपर सदा-फूलनेवाले ऐसे बहुतसे धूल मिलेंगे, जिनपर मतवाले भौरे गुनगुनाते होंगे। वहाँ आरहमाधी कमल और कमलिनियोंको हँसोकी पाँतें घेर रहती हैं। वहाँ सदा चमकीले पंखोंवाले पाण्डू मोर ऊँचा सिर किए हुए रात दिन चोलते रहते हैं और वहाँकी रातें सदा चोदनी रहनेसे वहाँ और मनभावनी होती हैं ॥ ३ ॥ वहाँ रहनेवाले यहाँकी आँसुओं केवल ध्यानन्दके ही भाँड़

यस्या यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
 ज्योतिरख्यायाकुसुमरचितान्मुत्तमघ्नीसहायाः ।
 आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं,
 त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥५॥
 मन्दाफिन्याः सलिलशशिरैः सेव्यमाना महद्भि-
 र्मन्दाराणामनुवटरुहां द्यायया वारितोष्याः ।
 अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामृष्टिनिक्षेपगूढैः
 संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥६॥
 नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र विन्वाघराणां
 क्षौमं रागादनिभृकरेष्वाचिपत्सु प्रियेषु ।
 अर्चिस्तुङ्गानभिमुलमपि प्राप्य रत्नप्रदीपाः
 न्दीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥७॥
 नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमि-
 राले यानां नवजलकण्ठेर्दोषमुत्पाद्य सद्यः ।
 शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वाद्यश जालमार्ग-
 र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निपतन्ति ॥८॥

आते हैं। प्यारेके मिलनेसे बुर हो जानेवाली विरहकी जलनको छोड़कर और किसी प्रकारकी जलन
 यहाँ नहीं होती। मेगमें रुठनेको छोड़कर और कभी किसीके अस्तिसे विद्रोह नहीं होता और अयानी-
 की अवस्थाको छोड़कर बुरारी अवस्था यहाँ नहीं पाई जाती ॥५॥ यहाँके मधु अपनी अलक्ष्मी स्त्रियोंको
 खेडकर स्फटिक मणियोंसे बने हुए अपने उन भयभीतरी बैठते हैं जिनकी मधुपर पड़ी हुई तारोंकी छाया
 ऐसी जाल पकती है मानो फूल टँके हुए हों। यहाँ बैठकर वे लोग कामदेवकी उमारनेवाला वह मधु
 पो रहे होंगे जो उन मागोंके म-द-मन्द समनेपर फलश्रुतसे निकलता है और जो सुन्दारे गंभीर
 गर्जनके समान ही गुंजा करते हैं ॥ ५ ॥ यहाँकी पन्याएँ इतनी सुन्दर हैं कि देवता भी उन्हें पानेके
 लिये तरसते हैं। वे कर्णपारु, मंदाकिनीके जलकी सुन्दार से उड्यएँ हुए पत्रवर्मे, मटपर खड़े हुए कल्प-
 वृक्षोंकी छायामें अपनी शयन मिलाती हुई, अपनी मुष्टियोंमें शय लेकर उनको सुन्दारे बाजूमें बाँधकर
 लिपाने और इदनेवा रोज लेला करती हैं ॥६॥ यहाँके प्रेमी लोग संभोगके लिये अपने धंजल हाथोंसे
 अपनी प्यारियोंकी कमरकी गाँठें खोलकर जब उनकी पीली सादियोंको हटाने लगते हैं तब वे छात्रसे
 इतनी सहृदय आती हैं कि वे और सुभूषण पाकर मुहूर्तमें गुलाल भरकर ही जगमगाते हुए रत्न हों-
 पर फेंकने लगती हैं, पर उनका गुलाल फेंकना खप चकारव ही जाता है ॥ ७ ॥ हे मेघ ! सुन्दारे जीते
 बहुतसे बादल, वायुके झोंकेके साथ यहाँके रत्न लठे भवनों के ऊपरी छतोंमें गुमकर भीतरपर टंगे
 हुए चित्रोंको अपने जलधरोंसे भितोकर मिटा देते हैं और फिर, वे सुन्दरका रूप बनानेमें चतुर
 बादल, बरके मारे मटने मारोंकी जादियोंमेंसे दितरा दितराकर निकल भागते हैं ॥ ८ ॥ यहाँ

यत्र स्त्रीणां प्रियतममुजालिङ्गनोच्छ्वासिताना-

मङ्गलानि सुरतजनितां तन्तुजालारलम्भाः ।

त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे

व्यालुम्पन्ति स्फुटजललसस्पन्दिनश्चन्द्रकान्ता ॥९॥

अक्षय्यान्तर्भवननिषयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-

रुद्रायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम् ।

वैभ्राजाख्यं विबुधवनितामारमुख्यासहाया

बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्दिशन्ति ॥१०॥

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः

पत्रच्छेदैः कनकरुमलैः कर्णविभ्रंशिमिश्र ।

मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-

नैशो मार्गः सवितुरुदये स्रज्यते कामिनीनाम् ॥११॥

वासधित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं

पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान् ।

लाक्षारामं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-

मेकः स्रजे सकलमवलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥१२॥

छापी रातके समय, सुखी चाँदनीमें, झालरों में छटके हुए चन्द्रकान्त मणियोंसे टपकता हुआ जल उन छिपोंकी घकावट दूर करता है जिनके शरीर प्रियतमकी मुजाबर्जों कसे रहनेसे ढीले पड़ जाते हैं ॥ ९ ॥ यहाँ अथाह सपत्तिवाले कामी लोग, अम्भराश्यों के साथ कर्तव्य करते हुए और ऊँचे स्वरमें गीठे गलोंसे कुचेरका पत्र गानेवाले किन्नरोंके साथ बैठे हुए वैभ्राज नगमके बाहरी उपवनमें रात-दिन विहार किया करते हैं ॥ १० ॥ यहाँ शतकी, जब कामिनी खिर्वा, अपने प्रेमियोंके पास जवरा-ण्वदी पिर बदावर जाने लगती है, उम समय उनरी चाँदियोंमें गुँथे हुए कल्पवृक्षके फूल और पौ खिलककर निकर जाते हैं, कानों पर धरे हुए सोनेके कमल गिर जाते हैं और हारोंसे टूटे हुए मोती भी हपर-उधर बिलर जाते हैं । जब दिन निकलता है तो इन वस्तुओंकी मागमें बिलरा हुआ देखकर लोग समझ लेते हैं कि वे कामिनी खिर्वा कियर कियरसे होकर अपने प्रेमियोंके पास पहुँची थी ॥ ११ ॥ यहाँ रंग विरगे वज्र, नेत्रों में बँडावन बदानेवाली मङ्गिरा, कोमल पत्ते और पूज, रंग डगके आभूषण, पिरोंमें धरानेका मडावर चादि खियोंके सिंगारकी चितनी वस्तुएँ हैं सब धकेले कल्पवृक्षसे ही मिल जातो हैं ॥ १२ ॥ पत्तेके समान सर्वत्रे यहाँके छोड़े अपने रंग और अपनी चाक्षमें धूपके घोड़ोंकी भी वृष्ट नहीं समझते । पहाड़ जैसे ऊँचे ऊँचे ढीलढीलवाले यहाँके हामी जैसे ही मरू बरसाते हैं जैसे तुम पानी बरसाते हो और यहाँके लडाके देते हैं कि ठरूँने अपने सब आभूषण छोड़कर बस इन घाँवोंके चिहोंकी ही आभूषण समझ लिया है जो नरोंने रावणसे लड़े

पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः
 शैलोदग्रास्तमिन् करिणो वृष्टिमन्तः प्रमेदोत् ।
 योधाग्रपथः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिनांसः
 प्रत्यादिष्टामखरुचयश्चन्द्रहासत्रयाङ्कैः ॥१३॥
 मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षादसन्तं
 प्रापश्चापं न वहति मयान्मन्मथः पट्टपदज्यम् ।
 सभ्रभंगप्रहितनयनैः कामिलक्ष्मेष्वमोघै-
 स्तस्यास्मभश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥१४॥
 तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
 दूरान्लक्ष्यं गुरपतिधनुक्षारुणा तौरणेन ।
 यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
 हस्तप्राप्यस्त्यक्तमिती वालमन्दारवृक्षः ॥१५॥
 वापी चास्मिन्मरकतशिलापद्मसोपानमार्गा
 हेमैश्छन्ना विकचयमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।
 यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकुटं
 नावशास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥१६॥
 तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
 क्रीडाशैलः फनकदलीवेष्टनप्रोक्षणीयः ।
 मद्गोहिन्याः प्रिय इति सरो चेवसा कातरेण
 प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥१७॥

हुए उसकी चन्द्रहास नामकी करवाइसे खाये थे ॥ १३ ॥ वहींपर कुवेरके मित्र शिखरी भी रहा करते हैं हस्तलिये करके मरे कामदेव छपना मारोकी छोरोनाला धनुष वहाँ नहीं चढाता वहाँकी सुनोकी पशु शिर्षो जो बरने प्रेमियोंकी चोर योकी चितवन चलाती हैं वहाँसे कामदेव छपना काम निकाक लेता है ॥ १४ ॥ वहीं कुवेरके भरतसे उत्तरकी चोर इन्द्रपशुपते समान सुन्दर गोल फाटकवाला हमारा घर गुन्दे दूरसे हो दिताई पड़ेगा । वहाँके पास एक छोटा सा कररूप है जिसे मेरी छोने पुत्रके समान पात्र रक्शा है । वह फूलोंके गुच्छोंसे इतना सुखा हुआ होगा कि जोचे खड़े खड़े हो वे गुच्छे हाथसे तोड़े जा सकते हैं ॥ १५ ॥ भीतर घरमें जायेपर गुन्दे एक बावड़ी मिलेगी जिसकी सीढ़ियोंपर भोलाम जपा हुआ है धीरे जिसमें लिखने वैदूर्य मणिकी कण्डकवाले बहुतसे सुनहरे कमल लिखे हुए होंगे । उसके जलमें बसे हुए इन इतने सुग्गी हैं कि मानसरोवर के इतने पाव होते हुए भी गुन्दे देखकर वे वहाँ नहीं जाना चाहेंगे ॥ १६ ॥ उस बावड़ीके सीरपर एक पनावटी पहाड़ है, जिसके छोटीमालमणिकी बनी हुई है धीरे जो चारों ओरसे छोनेके केंद्रों

रक्ताशोकञ्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः

प्रत्यासन्नौ कुरवकघृतेर्भाघवीमण्डपस्य ।

एका सख्यास्तत्र सह मया वामपादाभिलाषी

काञ्चत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छन्ननास्थाः ॥१८॥

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी धामयष्टि-

भूले बद्धा मण्डिभिरनतिप्रौढव्यंशप्रकाशैः ।

तालैः शिञ्जावलयमुभगैर्नतितः कान्तया मे

यामघ्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्भः ॥१९॥

एभिः साधो ! हृदयनिहितैर्लक्ष्यैर्लक्ष्येथा

द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा ।

क्षामच्छायं भजनमधुना मद्वियोगेन नूनं

सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्पति स्नामभिरुषाम् ॥२०॥

गत्वा सद्यः कलमतनुतां शीघ्रसंपातहेतोः

क्रीडादीले प्रथमकथिते रम्यतानौ निपण्णः ।

श्रद्दस्यन्तर्भरनपतितां कर्तुमल्पान्पमासं

खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेपटष्टिम् ॥२१॥

से चित्त होनेके कारण देखते ही बनता है । देखो मित्र ! यह पर्वत मेरे घरवालीको यद्वा प्यारा है इसलिये जब मैं तुम्हें बिजलीके साथ देखता हूँ तब मेरा मन धकेला होनेसे उदास हो जाता है और वह पहाड़ मेरी आँखों के आगे नाचने लगता है ॥ १७ ॥ उस पनाबदी पर्वतपर कुरवकके घूर्णसे घिरे हुए माघवी मंडपके पास ही एक तो खजल पत्तोंवाला लाल धशोकका वृक्ष पड़ा है और दूसरा मौजसिरीका पेड़ है । जैसे मैं तुम्हारे सलीके पैरोंको ठोकर खानेके लिए तरस रहा हूँ वैसे ही वह धशोक भी फूलनेका यद्दाना लेकर मेरी पत्तोंके बाएँ पैरोंको ठोकर खानेके लिए तरस रहा होगा और दूसरा मौजसिरीका पेड़ भी उसके मुँहसे निकले हुए मदिराके छींटे पाना चाहता होगा ॥ १८ ॥ उन दोनों वृक्षोंमें नये पौंसके समान चमकीले मणियोंसे बनी हुई एक चीकी है, जिसके ऊपर स्फटिककी एक चीकोर पटिया रखी हुई है । उस पटियापर जड़ो हुई एक मोनेकी छद्मपर गुन्दरा मित्र मोर विलय सौंफको - आकर बैठा करता है और मेरी की उसे अपने घुँघरूदार कंधेवाले हाथोंसे ताकियाँ रजा-बजाकर नचाया करती है ॥ १९ ॥ हे साधु ! यदि तुम मेरे बताए हुए ये चिह्न भली भाँति समर्थ रखोगे और मेरे द्वारपर शङ्ख और पद्मके चिह्न बने देख लोगे तो तुम मेरा घर शयश्य पहचानोगे । मेरे बिना यह सब न यद्दा सूना सूना सा और उदास सा दिखाई देता होगा क्योंकि सूर्यके क्षिप शानेपर तो कमल उदास हो ही जाता है ॥ २० ॥ देखो ! यदि तुम्हें मेरे घरमें मत्से पँठना दो तो परसे दार्यके बच्चे जैसे छोटें बगकर घरमें खेलके लिए बनाई हुई पद्मकीकी सुहावनी पोटीपर जा

तन्नी श्यामा शिखरदशना पक्षिम्बाधरोष्ठी

मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रक्षणा निम्ननाभिः ।

श्रीश्रीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां

या तत्र स्याद्यवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥२२॥

तं जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं

दूरीभृते मयि सहचरे चक्रवाहीमिषैकाम् ।

गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां

जातां मन्ये शिशिरमथितां पविनीं बान्धरूपाम् ॥२३॥

नूनं तस्याः प्रचलरुदितोच्छ्वाननेत्रं प्रियाया

निःश्वासानाम्शिशिरतया मित्रवर्णाधरोष्ठम् ।

इस्तन्यस्तं मृगुमसकलव्यक्तिं लम्बालकत्वा-

दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुमरशक्लिष्टक्रान्तेर्विमतिं ॥२४॥

थालोके ते निपतति पुरा सा बलिब्याकुला वा

मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।

पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां

कचिद्भर्तुः स्मरामि रतिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥२५॥

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां

मत्प्रोशाङ्कं विरचिनपदं मेघमुद्रातुकामा ।

तन्त्रीमाद्रं नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-

द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥२६॥

शेषान्मासान्निवहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा

विन्यस्यन्ती भ्रुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पै ।

मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती

प्रायेयैते रमेशविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥२७॥

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोग-

शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते ।

मत्संदेशैः सुसयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे

तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥२८॥

स्निग्धाः सख्यः कथमपि दिवा तां न मोक्षयन्ति तन्वी-

मेकप्रख्या भवति हि जगत्पङ्कनानां प्रवृत्तिः ।

स त्वं रात्रौ जलद शयनासन्नवातायनस्थः ॥२९॥

कान्तां मुप्ते सति परिजने चीतनिद्रामुपेयाः ॥२९॥

उस समय वह अपने धर्मोंके धर्मियोंसे भागी हुई वीणाको तो जैसे जैसे पोंछ लेगी पर मेरा स्मरण था जानेते वह ऐसी घेसुप हो जायगी कि अपने सभे हुए स्वर्गके उतार चढ़ावको भी वह बारबार भूल रही होगी ॥ २६ ॥ वा मेरे बिरहके दिनसे ही यह देहलीपर जो पूल निरव रखती चढ़ती है उन्दी धरतीपर कैलाश गिन रही होगी कि भव बिरहके कितने गहने चय गए हैं । वा फिर यह मेरे साथ किए हुए समीपके शानन्दका मन ही मन रस लेती हुई बैठी होगी, क्योंकि अपने प्यारोंके विलोडनमें खिपीं मायः ऐसी ही बातोंमें अपने दिन काटती हैं ॥ २७ ॥ हे मित्र ! तुम्हारी सखीके इन कामोंमें खर्गें रहनेके कारण दिनमें तो उसे मेरा विदोह कुछ नहीं सताता होगा पर मुझे दर है कि रातके लिये कुछ काम न होनेसे उसकी रात चढ़े कष्टमें खीतती होगी । इसलिये मेरा संशय मुनाकर उसे सुख देनेके लिये गुम शायी रातको मेरे भजनके आरोपोंपर बैठकर उसे देखना, क्योंकि उस समय वह तुम्हें धरतीपर उनींदी सी पकी मिलेगी ॥ २८ ॥ देखो ! उसकी प्यारी सखियों, उस योग्य देहवालीको दिनमें कमा चढ़ेकी नहीं छोड़ेंगी, क्योंकि उसारमें सभी खियों अपने सखियोंके दुर्गमें कभी उनका साथ नहीं छोड़ती । इसलिये गुम उसके पलंगके पसखाली शिदकीपर बैठकर थोड़ी देर परचना और जब वे सखियों से जायें तब रातको मेरी जागती हुई प्यारीके पास पहुँच जाना ॥ २९ ॥ और वहाँ गुम मेरी प्यारीको झूँड़ लेना, जो नहीं कहीं धरतीपर एक करव पकी होगी । उसके पास पाम मोतियोंके हारके दृष्टे हुए डुहकोंके समान चोत् विचरे हुए होने की यह अपने चढ़े हुए नयोंपाखे हाथके अपने उस इच्छरी चोरीके उन रूपे कीर बनके हुए

अन्वेष्टव्यामवनिशयने संनिनीर्लैकपारवा
 तत्पर्यङ्कप्रगलितनवैरिद्धनहारैरिवास्तैः ।
 भूयो भूयः कठिनविषमां सादयन्तीं कपोला-
 दामोक्तव्यामयमितनखेनैकवेषीं करेण ॥३०॥
 आधिचामां विरहशयने संनिमणैकपारवा
 प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
 नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
 तामेवोप्यैर्विरहमहतीमध्रुभिर्यापयन्तीम् ॥३१॥
 पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा-
 न्यूर्वप्रीत्या गतमभिमुपुं संनिवृत्तं तथैव
 चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्षमिश्र्यादयन्तीं
 साभ्रेऽह्नीय स्थलकमलिनीं न प्रघुट्वां न सुताम् ॥३२॥
 निःश्वासेनाधरक्रिसलयक्लोशिना विक्षिपन्तीं
 शुद्धस्तानात्परुपमलकं नूनमागएहलम्बम् ।
 मत्संभोग. कथमुपनयेत्स्वमजोऽपीति निद्रा-
 मारुहन्तीं नयनसलिलोत्पीडरूढावकाशाम् ॥३३॥

बालोंको अपने गालोंपरसे बार-बार दृष्टा रही होगी जो अब शपके बीतनेपर हो सुलम्बाए जा सकेंगे ॥ ३० ॥ देखो ! जो प्यारी, मेरे साथ जी भरकर समोग करके पूरी रात क्षण भरके समान बिता देती थी वही आज विद्योदकी चिन्तासे सुली हुई धीरे रूने पलंगपर एक करघट जेठी हुई पर्यके धितितनपर पहुँचे हुए एक बच्चा भर जके हुए चन्द्रमाके समान दुबली होकर अपनी रातों गर्म शीत बहा-बहाकर बिता रही होगी ॥ ३१ ॥ जानिये! मेसे तुनकर जो चन्द्रमाकी विरहों था रही होंगी उन्हें यह समझती होगी कि पहले सुखके दिनोंमें ये पीसी अमृतके समान ठण्डी थीं पीसी हो अब भी होंगी, और वही समझकर यह उन किरणोंकी ओर मुँह करेगी, पर फिर विरहके कारण जब ये किरणों उसे जलाने लगेंगी तब यह अपनी शीत शरीरोंसे पलकोंसे डक लेगी । उस समय मेरी प्यारी प्रेमी दिखाने देगी जैसे बदलीके दिन धरतीपर तिलनेवाली कोई अघटिली कमलिनी हो ॥ ३२ ॥ मेरे विरहमें यह आगकल कोंरे जलसे ही नहाती होगी इसलिये उसके रूसे और बिना संधारे हुए बाल, उसके गालोंपर लटककर उसके पतले चोंटोंको उपानेवाली सोंतोंसे हिल रहे होंगे । यह बारबार यह सोचकर अपनी शीतोंमें नींद चुका रही होगी कि किसी प्रकार स्वप्नमें हो प्यारेसे समोग हो जाय पर शीतोंसे जगत्तार बहते हुए शीत, उसकी शीतों भी नहीं जगने देते होंगे ॥ ३३ ॥ विद्युद्बनेके दिनसे ही उसने अपने जूड़ेकी माता खोजकर जो यह एकदरी होगी बॉप ली थी जिसे छुनेमें भी उसे पीड़ा होती है और जिसे शपक बीतनेपर में ही सुपने खोजकर बाँटूंगा, उसी उबलती धीरे बिलरी हुई रूखी चोंटोंको यह अपने बने हुए बजोंवाले दागोंसे अपने भरे हुए गालों परसे बार बार

आद्ये वद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
 शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम् ।
 स्पर्शविलासामयमितनसोनासकृत्सारयन्तीं
 गण्डाभोगात्कठिनविपमामेकवेणीं करेण ॥३४॥
 सा संन्यस्ताभरथमबला पेशलं धारयन्ती
 शय्योत्सङ्गे निहितममकृदुःखदुःखेन गात्रम् ।
 त्वामप्यसं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
 प्रायः सर्वो भवति फरुष्यात्तुचिरार्द्रान्तरात्मा ॥३५॥
 जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
 दित्यंभृतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि ।
 वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति
 प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया यत् ॥३६॥
 रुद्रापाङ्गप्रसंरमलकैरज्जनस्नेहशून्यं
 प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
 त्वय्यासन्नो नयनमुपरिस्पन्दि शङ्को मृगःस्या
 -मीनद्वोभाचलं कुवलयश्रीतुलाशेष्यतीति ॥३७॥
 वामश्लास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदोयै-
 मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो देवगत्या ।

हटा रही होगी ॥ ३४ ॥ जब तुम देखोगे कि वह बेचारी धार-धार तुझमें पड़ती लड़-लड़कर पलंगसे पास पड़ी हुई, किसी किसी प्रकार अपने विना चापूषणोंवाले कोमल शरीरको सँभाले हुए है तब तुम भी उसकी दशापर अपने नये जलके आँसू बहाए बिना न रह सकोगे क्यों कि दूसरोंका दुःख देखकर कौन ऐसा कोमल हृदयवाला है जो पसीज न जाय ॥ ३५ ॥ मैं जानता हूँ कि तुम्हारी खली मुझे जो भरकर झार करती है इसीजिये मैं खोचता हूँ कि वह इस पहले पहलके बिलोहसे दुबली हो गई होगी ! यह न समझो कि ऐसी पतिव्रता स्त्रीका पति होनेके सीमान्यसे मैं इतना बड़-बड़कर बोल रहा हूँ वरज् मीया ! मैंने जो कुछ कहा है वह सब तुम्हारी आँखोंके समने ही था जायना ॥ ३६ ॥ जब तुम उसके पास पहुँचोगे तब उस गृहमनवनीकी वह बाई आँसू फड़क उठेगी जिसपर बाज फेजे हुए होंगे, जो आँजन न लगनेसे रुखी हो गई होगी और जो बहुत दिनोंसे मदिना न पीनेके कारण भीरे खडाना भी मूल गई होगी । उस समय फड़कती हुई वह बाई आँसू उस बिले कमज जैसी सुन्दर दिवाई देगी जो मल्लिकार्जुनके हृदय-उपर आँके-जानेसे काँप उठा करता है ॥ ३७ ॥ तुम्हारे पहुँचते ही, नये केलेके छमेके समान उसकी धड़ गोरी गोरी बाईं बाँध भी पत्तक लड़ेगी जिते मैं संभोग कर चुकनेपर अपने हाथसे हथपा भरता था । उस लविपर ग जो तुम्हें मेरे हाथके नख-

संभोगान्ते मम ममुचितो हस्तमंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरमरुदलीस्तम्भगौरश्वलत्वम् ॥३८॥
तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुरा स्या-
दन्वाभ्यनां स्तनितप्रिमुत्सो याममात्रं सहस्र ।
माभूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वमलव्ये कथंचि-
त्सद्यःवपठञ्च्युतञ्जलताप्रन्थि गाढोपगूढम् ॥३९॥
तामुत्थाप्य स्वजलरुणिःकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्रस्तां सममिनरैर्जालकैर्मालतीनाम् ।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्मनाथे गगान्ते
वक्तुं धीरः स्तनितरचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥४०॥
भर्तुर्मित्रं प्रियमविषये प्रिद्धि मामम्बुगण्डं
तत्संदर्शंर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरपति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्घर्षनिभिरबलाघेषिभोद्योत्सुकानि ॥४१॥
हत्यारुधाते पयनतनयं मैथिलीगेन्गुप्ती सा
तामुत्क्रण्टोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैरम् ।
श्रोष्यत्यस्मात्परमरहिता सौम्य सीमन्तिनीतां
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमार्त्किचिद्गुनः ॥४२॥

विद्य ही बने मिलेगी और दुर्भाग्यवश उसपर यह मोसियोंकी करपनी भी नहीं पकी मिलेगी जिसे यह बहुत दिनोंसे पढ़नाता चला आ रही थी ॥ ३८ ॥ हे मेघ ! तुम्हारे पहुँचनेपर यदि उसे कुछ नदि शाने लगे तो तुम उसके पीछे लुपपाप एक पहर उठे रचना बिलसे यदि मेरी प्यारी कहीं स्वप्नमें मुफने कसकर लिफ्ठी हुई हो तो मेरे बरतमें यही हुई उबकरी सुनाएँ अचानक नौद दृष्टसे घूट न पड़े ॥ ३९ ॥ एक पहर उठनेपर भो वद शौंले न खोजे हो तुम, गाजतीके गये पूजोंके शमान कोमल मेरी प्यारीको, अपने जलकी कुदारीसे ठण्डा किया हुआ वायु चलाकर, जगा देना ! अलि शोकनेपर जब यह आगेमे तुम्हारी और एकत्र होकर देखे तो तुम अपने गिनलाको धिया लेना और अपने घामे गर्जनके शब्दोंमें उस मानिकोंमे वात-चोत चला देना ॥ ४० ॥ उससे कहना— हे सीमाम्पवती ! मैं तुम्हें यह बता दूँ कि मैं तुम्हारे पतिका प्रिय मित्र मेघ, तुम्हारे पास बनका सत्रेण लेकर आया हूँ । मैं अपनी घीमी और माठी गरमसे उन थके हुए बटोदियोंके मनमें भी शर छोड़नेकी हृषबदी मचा देता हूँ जो अपनी खियोंकी उबकरी हुई इकहरी चोटियाँ सुकमानेके लिये बलापले रहते हैं ॥ ४१ ॥ यह सुनकर मेरी प्यारी तुम्हारा और सुंदर करके बड़े चावसे, बड़े लिये हुए जोसे और बड़े आदरसे कान लगाकर तुम्हारा सप सदैव उसी प्रकार सुनेगी जैसे सीतारानी

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकृतुं
 ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः ।
 अन्वयापन्नः कुशलमवल्ले पृच्छति त्वां वियुक्तः
 पूर्वभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥४३॥
 अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढवस्त्रेन तप्तं
 सास्त्रेणाश्रुद्रुतमविरतोऽरुण्टमुत्कण्ठितेन ।
 उष्णोष्णवासं समधिकृतरोच्छ्वासिना दूरवर्तीं
 संकल्पैस्तैर्विंशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥४४॥
 शब्दास्त्वेष्यं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता-
 त्कर्णे लीलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात् ।
 सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट-
 स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥४५॥
 रपामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रोक्षणे दृष्टिपातं
 वक्त्रच्छापां शशिनि शिखिनां धर्हभारेषु केशान् ।
 उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु अत्रिलासा-
 न्हतैकस्मिन्कचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥४६॥

हनुमानजीकी बातें सुनी थीं । हे मीरा ! मित्रके मुँहसे पत्रिका सदेश पाकर खिन्नोको अपने मित्रके मिलनसे कुछ कम सुख थोड़े ही मिलता है ? ॥ ४२ ॥ हे आयुष्मन् ! तुम मेरे कहनेसे और दूतके भी भलाई करनेका पुण्य लेनेके लिये उससे पाकर कहना—हे अपना ! तुम्हारा मित्रका दुआ साथी रामगिरिके आश्रममें कुशलसे है और तुम्हारी कुशल जानना चाहता है क्यों कि देखो ! जिन लोगोंपर अज्ञानक विपत्ति आ गई हो, उनसे पहले-पहल यही पूछना ठीक होता है ॥ ४३ ॥ उससे कहना— दूर बैठे हुए प्यारे साथीका मार्ग तो धीरी भला रोके बैठा है, इसलिये यह तुमसे मिल भले ही न सके, फिर भी वह अपने दुखलेवन, तपन, लापातार बहते हुए आँसू, मिलनेका चाव धीरे धीरे उसी-सीको देख-देखकर ही मनमें यह समझ लेता है कि तुम भी जैसे ही बिछोहमें दुखली हो गई होगी, विरहसे तप रही होगी, आँसूसे भर भर आँसू बहा रही होगी, मिलनेको उतावली होगी और दिन रात लंबी लंबी रातें उधरों से रही होगी ॥ ४४ ॥ हे अपना ! तुम्हारे प्यारेको ज्ञान तुमसे कोई ऐसा भी बात कहनी होती थी जो तुम्हारी सन्धिके जाने जैसे रबरसे कड़ी जा सकती भी तब भी वह तुम्हारा मुँह गुमनेके लोभसे तुम्हारे कानमें ही कहनेको तुला रहना था । अब तुम अपने उस प्यारेकी न तो बातचीत ही सुन सकती हो और न उसे आँसू भर देना सकती हो, इसलिये उसने अपने चावसे मेरे मुँहसे यह कहाला मेरा है ॥ ४५ ॥ कि—हे प्यारे ! मैं यहाँ बैठा, मित्रगुकी लतामें तुम्हारा शरीर, ठरी हुई हरिणीकी आँसूमें तुम्हारी चितवन, पन्द्रमागे तुम्हारा सुख, मोरोंके पंखोंमें तुम्हारे पाल, और नदीकी छोटी-छोटी लहरियोंमें तुम्हारी क्योली गँह देना करता हूँ । तो भी हे

त्वामालिख्य प्रणयकृपितां घातुरानैः शिलाया-

मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कतुम् ।

अन्नज्ञावन्मुहुरुपचितैः पिरालुप्यते मे

क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥४७॥

धारासिक्तस्थलसुरभिणस्त्वन्मुखस्वास्य चाले

द्रीभूतं प्रवनुमपि मां पञ्चवाणः क्षिणोति ।

घर्मान्तेऽस्मिन्निगणय कथं वासराणि व्रजेयु-

दिकंसंसक्तप्रविततघनव्यस्तस्यार्थावपानि ॥४८॥

मामाकाशप्रणिहितभृजं निर्दयाश्लेषहेतो-

र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु ।

पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां

मुक्तास्थूलास्तहकिसलयेष्वश्रुलेखाः पतन्ति ॥४९॥

भिन्ना सद्यः किसलयपुटान्देवदाहृद्गुणां

ये तत्बीरस्रुतिसुरमयी दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।

आलिङ्गयन्ते गुणवति मया ते तुपाराद्रिवाताः

पूर्वं स्पृष्टं यदि मिल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥५०॥

संचिप्येव क्षण इव कथं दीर्घशामा त्रियामा

सर्वावस्थास्त्रहरपि कथं मन्दमन्दातर्प स्यात् ।

बण्डी ! मुझे दुःख है कि हममें से कोई एक भी पूरे लगते तुम्हारी बराबरी नहीं कर पाता ॥ ४६ ॥ जब मैं परधरकी सिखरीपर गेरुसे तुम्हारी रुठी हुई मूर्तिका चित्र खींचकर यह बनाना चाहता हूँ कि तुम्हें मनानेके लिये मैं तुम्हारे पीठे पड़ा हूँ उस समय धौड़ ऐसे उमड़े पड़ते हैं कि मर जाल देवने भी नहीं देते । निर्दयी काजको हमारा चित्रमें मिलना भी नहीं मुझता ॥ ४७ ॥ हे बाबा ! एक तो मैं भी ही तुम्हारे उस मुण्डले दूर रहनेके कारण सूखा जा रहा हूँ जिसमेंसे ऐसी सौंधी गंध आती है जैसे पानी पड़नेपर धरतीमेंल आता है, उसपर यह पर्व बाणोंगला कामदेव मुझे और भी सताए जा रहा है । अब तुम्हें सोच को कि गर्भके रीतनेपर जब धरती और उमड़ी हुई घने बादलोंको घटा सूर्यपर छा जायगी उस समय मैं शिवके सहारे अपने दिन कष्ट पाऊँगा ॥ ४८ ॥ जब कभी मैं स्वप्नमें तुम्हें देखकर कसकर दातासे खगानेके लिये अपने हाथ ऊपर फैलाता हूँ, उस समय वनके देवता भी मेरी दशापर सारा न्याऊन अपने मोतीके समान पड़े-पड़े धौंम् पूषोंके शोमल पर्वोंपर बहुधा दुःखाया करते हैं ॥ ४९ ॥ हे गुणवती ! देवदारके कोमल पत्तोंके अपने झोंकोंसे लच्छात्र तोड़कर और उसके रसकी गंध खेकर हिमालयके जो पवन रचिपुकों धीरे खसे भा रहे हैं उन्हें मैं यही समझकर अपने हृदयसे लगा रहा हूँ कि ये उधरसे तुम्हारा तरीर छूट आ रहे होंगे ॥ ५० ॥ हे चंचल नैनोंवाली ! मैं मनसे यही मनाया करता हूँ कि हिमां प्रचार रातके लगे खसे हीन पहा

इत्थं चेतश्चटुल्लनयने दुर्लभप्रार्थनं मे

गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्विद्योगव्यथाभिः ॥५१॥

नन्यात्मानं बहु विगणपन्नात्मनैवावलम्बे

तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।

कस्यात्यन्तं मुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा

नीचैर्गच्छन्नुपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥५२॥

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाशौ

शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।

पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्मानिलापं

निर्वेक्ष्यावः परिणतशम्भन्द्रिकासु क्षपासु ॥५३॥

भूयथाह त्वमपि शयने कण्ठलला पुरा मे

निद्रां गत्या किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा ।

सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे

दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपितृवं मयेति ॥५४॥

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा

मा कौलीनाद्यकितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ।

एषां भरेके समान छोटे हो जायें और दिनकी तपन भी किसी प्रकार सदाके लिये जाती रहे । पर मेरी यह दुर्लभ प्रार्थना बेकार ही जाती है । उसपर दस तिल तिल ललानेवाली बिजोहकी लज्जसे तो मेरा जो घैस जा रहा है ॥५१॥ पर हे कल्याणी ! बहुत कुछ सोच विचारकर मैं अपने मनकी अपने-से ही दाइस घँपा लेता हूँ, इसलिये तुम भी बहुत खुशी मत होना । देखो ! कुछ या कुछ किसी एक सदा नहीं रहा करते । ये तो पड़ियेके चक्करके समान कभी नीचे कभी ऊपर यों ही झाय जाया करते हैं ॥ ५२ ॥ देखो ! श्वभजी देवठठनी एकदशकी जय विष्णु भगवान शेषनाथकी शैशसे उठगे उसी दिन मेरा शाप भी उठ जायगा । इसलिये इन चचे हुए चार महीनोंको भी किसी प्रकार शीघ्र मूर्खकर बिठा डालो । फिर तो हम दोनों, बिजोहके दिनोंमें सोची हुई अपने मनकी सब सपनें गारदशी सुहावनी चँदनी रातमें पूरी कर ही डालेंगे ॥ ५३ ॥ हे श्वभला ! तुम्हारे प्यारेनेपह भी कहलाया है कि एक बार जय तुम मेरे गलेसे खरो हुई मेरे पलंगपर सो रही थी, उस समय तुम श्ववानक चिह्नकाकर रोती हुई जाग पड़ी थी और जब मैंने पार-पार तुमसे रोनेका कारण पूछा तब तुमने मोघ मुपकानके साथ उत्तर दिया था कि हे दुःखी ! मैंने स्वप्नमें देखा कि तुम किसी दूसरी छोके साथ रमय कर रहे हो, इसलिये मैं रो पड़ी थी ॥ ५४ ॥ हे काशी भाग्यवाली ! इस पद-प्यानसे ही तुम समझ लेना कि मैं बुद्धसे हूँ । खोर्गेके कहनेसे तुम मेरे प्रेममें सदेह न कर बैठना । न जाने खोग यह क्यों कहा करते हैं कि विरहमें प्रेम कम हो जाता है । सच्ची बात तो यह है कि जब चाही हुई बलुएँ नहीं मिततीं तमा उन्हें पानेके लिये प्यास बढ़ जाती है और देर में

स्नेहानाद्गुः किमपि विरहे घ्नंसिनस्ते त्वभोगा-

दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशीभवन्ति ॥५५॥

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते

शीलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः ।

सोभिज्ञानप्रहितकृशलैस्त्वद्बचोभिर्मयापि

प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥५६॥

कश्चित्सौम्य व्यवसितमिदं वन्युकृत्यं त्वया मे

प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि ।

निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचिन्थातकेभ्यः

प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥५७॥

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनारतिनो मे

सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मत्प्रयत्नोऽशुशुद्धया ।

इष्टान्देशाज्जलद विचर प्रावृषा संभृतश्री-

र्मा भूदेवं चण्डमपि च ते विद्युता विनयोगः ॥५८॥

तस्माद्द्रेनिंगदितमथो शीघ्रमेत्पालकापां

यन्नागारं विगलितनिभं दृष्टिचिह्नैर्विदित्वा ।

मत्संदिष्टं प्रणयमधुरं गुह्यकेन प्रपत्तात्

तद्गद्दिन्याः सकलमवदत्कामरूपो पयोदः ॥५९॥

घाघर एकट्टा हो जाता है ॥ ५५ ॥ देखो मेघ ! पहली बारके विद्योदसे हुयी चग्नी भाभीकी हल प्रकार टाँस संघाकर, उससे बुराल समाचार घाघर और पहचान लेकर गुम मेरे पास जगदी ही उस कैशाल पर्वतमे खीट घागा जितकी खोटिपो मद्गादेवकीके सौंदर्ये उग्याद ही हैं । और फिर यहाँ घाघर मात फल गिते हुए सुन्दके कृत्रके समान नू परनेवाले मेरे मायोकी रपा करना ॥ ५६ ॥ यहाँ मेघ ! गुमके मेरा यह प्यारा काम करनेको जान छो दे पा नहीं । इस पूछनेमे यह न समझ बैठना कि मैं गुमके हुँकारी मरगनेवर हो सुद्धे इस कामके योग समझेगा । तुम्हें म जानता हूँ कि जब यहाँके गुमके जल मँगने हैं, तब गुम विना उतार दिए उद्धे जल दे देने हो । सम्बन्धी रीति ही यह है कि जब कोई उनमे कुछ मँगि तो ये गुँदसे कुछ न कटकर, काम पूरा करके हो लहर दे छाटते हैं ॥ ५७ ॥ दे मेघ ! मैंने जो गुमके काम बताया है वह तुमसे करना बड़ी दिगार्द होगी, पर चाहे निग्रताके जन्मे, चाहे गुम विद्योदी पर लहत ग्राघर, गुम पहले मेरा प्यारा काम कर देता और फिर घटना बरगती रूप लेकर जहाँ मन चाहे बहाँ पूमना । मैं यहाँ मनाता हूँ कि प्यारे विरहजामे पूरा चपके जिये भी तुम्हारा विना विदोग न हो, विना मैं भोग रहा हूँ ॥ ५८ ॥ घण्टी के घाँस गुमकर मनचाहर कर पारपा करनेवाला यह घाघर, रामगिरिसे चण्डक कलक पडूँव मया और बनाए हुए विद्योदी देखकर उगने चपका बड भवन पहचान जिय जितकी सब शोभा कँकी यह मरें ही । तहाँ जग्ने लपकी प्यारीमे यह प्यार-

तं संदेशं जलधरवरो दिग्भवाचाचक्षे

प्राणोस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यच्चधरः ।

प्राणोदन्तं प्रमुदितमना सापि तस्यै स्वमर्तुः

केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥६०॥

श्रुत्वा वार्ता जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः

शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः ।

सांयोज्यैतौ विगलितशुचौ दंपती हृष्टचित्तौ

भोगानिष्टानचिरतसुखं भोजयामास शशवत् ॥६१॥

इत्यारूपाते सुरपतिसखः शैलकुल्यापुरीयु

रिथत्वा स्थित्वा धनपतिपुरीं वासरैः कैश्चिदाप ।

मत्यागारं कनकरुचिरं लक्ष्मैः पूर्वमुक्तैः

तस्योत्संगे चितितलगतां तां च दीनां ददर्श ॥६२॥

इत्थंभूतं सुचरितपदं मेघदूताभिधानं

कामक्रीडाविरहितजने विप्रयुक्ते विनोदः ।

मेघस्यास्मिन्नतिनिपुणता युद्धिभावः कवीनां

नत्पार्यायाश्चरण कमलं कालिदासरचकार ॥६३॥

इति श्रीमहाकविकालिदासकृतौ मेघदूते उत्तरमेघः समाप्तः ।

मरा मधुर संदेश सुनाया, जियो यजने यके जगनसे भेजा था ॥ ५९ ॥ वहाँ पहुँचकर सचका भला करनेवाले उस भले मेघने देवी शरदोंमें यक्षकी स्त्रीके प्राण बचानेके लिये सच संदेश सुना हाजा । यक्षकी स्त्री भी, अपने प्यारेका कुशल समाचार पाकर कूबी न समार्ह । सच है, अपने खोर्गोंसे कोई काम करनेकी कहा जाय तो वह अशक पूरा होता हो है ॥ ६० ॥ जब कुबेरने यह बात सुनी कि यादलने यक्षकी स्त्रीके ऐसा संदेश दिया है तब उनके मनमें बड़ी दुःख आई, उनका क्रोध उत्तर गया और उन्होंने अपना शाप नौशकर उन दोनों पतिपत्नीको फिर मिला दिया । इस मित्रनेसे उनका सब दुःख जाता रहा और वे फिर यके प्रमन हो गए । कुबेरने उन दोनोंके लिये ऐसे सुख करनेका प्रबन्ध कर दिया कि उन्हें कि कभी दुःख मिला ही नहीं ॥ ६१ ॥ यह सुनकर यादल बहलिते बल दिया और कभी पदाक्षिर्षा पर, कभी नदियोंके पास और कभी नगरमें ठहरता हुआ थोड़े ही दिनोंमें कुबेरकी राजधानी, चलकामें पहुँच गया । वहाँ अपने मित्रने बतलाए हुए पिछोंसे उसने विधोगो यक्षका, सोनेके समान समकता हुआ भयन पदचान जिया और उसने वहाँ देखा कि यक्षकी स्त्री बेचारी उस भयनमें धरतीपर पड़ी हुई है ॥ ६२ ॥ कवि कालिदासने भावदेवी काशीके प्राण-कमलोंमें प्रथम कके सुन्दरतासे भजाए हुए शरदोंमें वह ऊपर कही हुई मेघदूत नामकी कविता रची है । वह कविता विधोगके समय उन खोर्गोंका भी मन पदकावेगी जिन्हें विज्ञास मिता ही नहीं, साथ ही हममें मेघकी प्रपन्त पगुर्गोंका और कविताकी कथनका परिषय भी मित्र जायगा ॥ ६३ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके रचे हुए मेघदूत काव्यमें उत्तरमेघ समाप्त हुआ ।

ऋतुसंहारम्

प्रथमः सर्गः

ग्रीष्मर्ष्यनम्

प्रचण्डसूर्यः स्पृहण्योचन्द्रमाः सदायमाह्वयतवारिमंचयः ।
 दिनान्तरम्पोऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽप्यमुपागतः प्रिये ॥१॥
 निदाघा शशाङ्कचतनीलराजयः क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्रमन्दिरम् ।
 मण्यप्रकाराः सरमं च चन्दनं शुभौ प्रिये यान्वि जनस्य सेव्यताम् ॥२॥
 सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्रामत्रिकम्पितं मधु ।
 सुतन्त्रिगीतं भदनस्य दीपनं शुभौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ॥३॥
 नितम्बविम्बेः सद्गुह्यलोखलै स्तनैः महाराभरणैः मचन्दनैः ।
 शिरोरुहैः स्नानकृपायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम् ॥४॥
 नितान्तलाचारमरागरञ्जितैर्नितम्बिनीनां चरणैः मनू पुरैः ।
 पदे पदे हंगरुतानुकारिभिर्जनस्य चिचं क्रियते समन्मथम् ॥५॥

पहला सर्ग

गर्मीका वर्णन

प्रिये ! गर्मीके दिन अगए हई । धूप बही कही हो गई है और चन्द्रमा बड़ा सुहावना लगता है । कोई चाहे तो आठकल दिन रात गहरे जलमें स्नान कर सकता है । इन दिनों सौंफ बड़ी सुभावना होती है और कामदेव तो पुरुषदम डंडा पक गया है ॥ १ ॥ देखो प्यारी ! आठकल तो खोस गइ आइते हई कि चारों ओर फिरे हुए चन्द्रमाकी चर्चितो छिपी हुई हो, रंग बिरंगे पत्थारोंके तले हंग लोग बैठे हुए हों, हथर उधर हंग डंडाके रंग बिरंगे पदे हों और सुगन्धित चन्दन चारों ओर बिड़का हुआ हो ॥२॥ और प्रेमियोंकी भी इन दिनों मन बहकानेके लिये वेकी-येकी कामकी उभारनेवाली बामुएँ आदिएँ जैसे सुन्दर सुगन्धित ब्रज पुनः हुआ भवभङ्गा तल, प्यारीके सुहृदों भावसे बकनातो हुई मदिरा और सुन्दर घोणाके साथ गाए हुए गीत ॥३॥ इन दिनों मय प्रेमियाएँ अपने गर्मिसे सताए हुए प्रेमियोंकी तपन मिटानेके लिये उन्हें अपने उन नितम्बोंपर लिटाती हैं जिनपर रेशमी बज्र और बरपनी बड़ा होनी हैं, अपने उन चन्दन पुने हुए ठंठे स्तनोंमें लिपटाती हैं जिनपर हंग और दूसरे गहने पड़े होते हैं और अपने उन ऊँठोंकी गन्ध सुंकाती हैं जो उन्होंने उन नके समय सुगन्धित कुलेखोंमें बसा लिए थे ॥४॥ आठकल छियोंके उन महावरने रंगे पैरोंके देखकर

सफेनलालावृतवक्त्रसंपुटं विनिःसृतालोहितजिह्वमुन्मुक्तम् ।
 तृपाकुलं निःसृतमद्रिगह्वरादवेक्षमाणं महिषीकुलं जलम् ॥२१॥
 पटुतरदवदाहोच्छ्वसस्यप्ररोहाः परुषपवनवेगोत्स्वित्संशुष्कपर्णाः ।
 दिनकरपरिरोपचीयतोयाः समन्ताद्विदधति भयमुच्चैर्दृश्यमाणा वनान्ताः ॥२२॥
 श्रसिति विहगवर्गः शीर्षपर्णाद्रुमस्थः कपिकुलमुपयाति क्लान्तमद्रेर्निकुञ्जम् ।
 भ्रमति भवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छश्शरभकुलमजिह्वं प्रोद्धरत्यम्बु कूपात् ॥२३॥
 विकचनवकुसुम्भस्वच्छमिन्दूरभासा प्रवलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्यम् ।
 तटविटपलताप्रालिङ्गनकंपाकुलेन दिशि दिशि परिदग्वा भूमयः पावकेन ॥२४॥
 ज्वलति पवनवृद्धः पर्वनागां दरीषु स्फुरति पटुतिनादः शुभ्रवशस्थलीषु ।
 प्रसरति नृणामध्ये लब्धघृद्धिः क्षणेन ग्लपयति मृगवर्गं प्रान्तलघो दवाग्निः ॥२५॥
 बहुतर इव जातः शाल्मलीनां वनेषु स्फुरति कतकगारः कोटरेषु द्रुमाणाम् ।
 परिणतदलशाखानुत्पतन् प्रांशुवृक्षान्भ्रमति पवनधूनः सर्वतोऽप्रिवर्नान्ते ॥२६॥
 गजगवयमृगेन्द्रा बद्धिमंततदेहा सुहृद इव समेता द्वन्द्वभावं विहाय ।
 हुनवहपरिखेदादाशु निर्गत्य क्वाद्विपुलपुलिनदेशां निम्नगां संविशन्ति ॥२७॥

श्रीर धपने विपकी भारतसे जलनेके कारण सेटकोकी नदींमार रहा है ॥ २० ॥ जगली करनेसे जिन
 मेंसोके मुँहसे भाग निकल रही है श्रीर कार बड़ रही है वे धपना मुँह खोजकर धपनी लाल साज
 कीमें बाहर निकले हुए प्यासके मारे ऊपर मुँह उठाए पहादकी गुफासे निकल निकलकर जलकी ओर
 धपकी चला जा रही हैं ॥ २१ ॥ श्राजकल वन तो श्रीर भी बराबने लगने लगे हैं क्योंकि यहाँ जंगल-
 की प्रायकी बनी-बकी जगजोसे सब वृषोंकी टहनियाँ छलस गई हैं, अंधधर्म पदकर मुँह हुए पगे
 ऊपर उठे जा रहे हैं श्रीर सूर्यकी गर्मीसे चारों ओरका जल सूख गया है ॥ २२ ॥ जिन वृषोंके पत्ते
 मर गए हैं उगपर थैले हुई सभी चिड़ियों हॉक रही हैं, उदास बंदरोंके मुँह पहादकी गुफाओंमें घुसे
 जा रहे हैं, पशुओंके मुँह चारों ओर पानोंकी खोजमें धूम रहे हैं और आठ पैरोवाले शरमाका मुँह
 एक कुँसे गटागत पानो पीता जा रहा है ॥२३॥ पूरे लिये हुए नये कुसुम्भी कुलके समान श्रीर दबक
 सिन्दूरके समान साज-साज चमकनेवाली, आँसोसे श्रीर भी धधक उठनेवाली श्रीर तरपर लड़े हुए
 वृषों और सताओकी कुनतियोंकी चूमती जानेवाली जंगलकी प्रायसे जहाँ तहाँ धरती जल गई
 है ॥ २४ ॥ वनके मापेये उदती हुई और वायुने श्रीर भी बड़की हुई चिड़ियों जवद, पहादकी चट्टियोंमें
 फैली हुई सभी पशुओंको जलाए बाल रही है, सूरे चोंचोंमें चटपटा रही है और सब धर्मों प्रागे
 पदकर पास पड़के रही है ॥ २५ ॥ पवननेसे भड़काई हुई श्रीर सेमरके वृषोंके कुँजोंमें फेरी हुई
 प्राग वृषके सोलखोंमें धपना सुनदका पीला प्रकाश चमकताहुँ श्रीर उन ऊँचे वृषोंपर उपजती
 हुई वनमें चारों ओर धूम रही है जिनकी टालियोंके पत्ते बहुत गर्मी पड़नेसे पक-रकन्द मरते जा रहे
 हैं ॥ २६ ॥ प्रायसे पथराए हुए श्रीर छुलसे हुए हाथ, पैर श्रीर सिंद, प्राय मिय वन भर साध-साध
 इकडे होकर पासके जंगलसे मरपट निकल आए हैं श्रीर नदीके तीरे श्रीर वलए तरपर प्राय विनाम

कमलवनचिताम्बुः पाटलामोदरम्यः सुखसलित्तनियेकः सेव्यचन्द्रांशुहारः ।
 ब्रजतु तत्र निदाघः कामिनीभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन २८
 इति महारुचिभ्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे श्रीमवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः

कर रहे हैं । २७ ॥ जिस गर्मीकी ऋतुमें कमलोंसे भरे हुए और खिले हुए पाटलकी गंधमें बसे हुए जलमें स्नान करना बहुत सुहावा है और जिन दिनों चन्द्रमाकी चाँदनी और मोतीके हार बहुत सुल देते हैं, वह ऋतु आपकी बेसी बीते कि रातको थाप थपने घरकी छतपर छेटे हों, सुन्दरियाँ आपकी घेरे बैठी हों और मनोहर संगीत दिशा हुआ हो ॥ २८ ॥

श्रीमहर्षि कालिदासके २८े हुए ऋतुसंहार नामके काव्यमें गर्मीका वर्णन नामका पहला सर्ग समाप्त हुआ ।



द्वितीयः सर्गः

प्रावृद्धवर्षानम्

ससीकराम्मोधरमत्तकुञ्जरस्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः ।
 समागतो राजशुद्धतद्युविर्धनागमः कामिजनप्रियः प्रिये ॥१॥
 नितान्तनीलोत्पलपत्रकान्तिभिः क्वचित्प्रभिन्नाञ्जनराशिसंनिभैः ।
 क्वचित्सगर्भप्रमदास्तनप्रभैः समाचितं व्योम घनैः समन्ततः ॥२॥
 तृपाकुलैश्चातकपक्षिणां कुलैः प्रयाचितास्तोयभरावलम्बिनः ।
 प्रयान्ति मन्दं बहुधारवर्षिणो बलाहकाः श्रोत्रमनोहरस्वनाः ॥३॥
 बलाहकाश्चाशनिशब्दमर्दलाः सुरेन्द्रचापं दधतस्तडिद्रुणम् ।
 सुतीक्ष्णधारापतनोप्रसायकैस्तुदन्ति चेतः प्रसभं प्रवासिनाम् ॥४॥
 प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः ।
 विभाति शुक्लेतरत्नभूषिता वराङ्गनेव चित्तिरिन्द्रगोपकैः ॥५॥
 सदा मनोज्ञं स्वनदुत्सवोत्सुकं विकीर्णविस्तीर्णकलापशोभितम् ।
 ससंभ्रमालिङ्गनचुम्बनाकुलं प्रवृत्तनृत्यं कुलमद्य वर्हिणाम् ॥६॥

दूसरा सर्ग

वर्षाका वर्षान

देखो प्यारी ! जल्दी कुहराँसे भरे हुए बादलोंके मतवाले हाथोंपर चढ़ा हुआ, धमकता हुई मित्रजियोँकी झंडियोंको फहराता हुआ और बादलोंकी गरजके जगाड़े बजाता हुआ वह कामियोँका प्यारा पावस राजाघोंका सग डंठ-पाट बनाकर था पहुँचा है ॥ १ ॥ कहीं तो अत्यन्त नीले कमलकी पंखड़ी जैसे नीले, कहीं गर्मियोंके रत्नोंके समान पीले और कहीं घुटे हुए धौजनकी खेरीके समान कल्लेकाते बादल आकाशमें इधर-उधर छाप हुए हैं ॥ २ ॥ देखो ! जिन बादलोंसे पर्वते पिड-पिड करने पानी मीग रहे हैं, वेसे पानीके भाससे नीचे लुके हुए छुर्छोधार पानी बरसानेवाले और कानोंकी मल्ली लगानेवाली गबगबाहट करते हुए बादल धीरे-धीरे चिरते चले जा रहे हैं ॥ ३ ॥ सुदंशके समान गद्गद्गद्गते हुए, विजलीकी टोरीवाला इन्द्रधनुष चहाप हुए वे बादल अपनी सीखी धारोंके वेने धार बरसकर परदेसमें पहुँचे हुए लोगोंका मन फसमसा रहे हैं ॥ ४ ॥ खितराई हुई वैदूर्यमणिके समान दिखलाई देनेवाली चासके कोमल खँडियोंसे मरी हुई, ऊपर निकले हुए कन्दलीके पत्तोंसे लदी हुई शर चोरबहुतियोंसे छाई हुई धरती उस नाविका जैसी दिखाई दे रही है जो धीले रत्नकी छोदकर और सभी रँगके रत्नोंवाले आभूषणोंसे सजी हुई हो ॥ ५ ॥ देखो ! सदा मीठी बोली बोलनेवाले, गरजते हुए बादलोंको शोभापर रोझर मगन हो उठनेवाले और छपने पंख सोलकर फेकानेसे सुहावने लगनेवाले वे मोरोंके छुण्ट, कटपट धरती प्यारी गौरनियोंको मले जगाते हुए और चूमने हुए धाज उठे हैं ॥ ६ ॥ जैसे कुहटा खिर्वाँ प्रेममें अन्धी होकर बिना सोचे-विचारे धरनेकी खो पैझती हैं,

निपातयन्त्यः परितस्तद्वृत्तमान्प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः ।
 स्त्रियः सुदुष्टा इव जातविभ्रमाः प्रयान्ति नयस्वरितं पयोनिधिम् ॥७॥
 वृषोत्करैरुद्गतकोमलाङ्कुरैश्चितानि नीलैर्हरिण्योमुखचतैः ।
 वनानि वैन्वयानि हरन्ति मानसं विभूषितान्युद्गतपल्लवैर्दुर्मैः ॥८॥
 विलोलनेत्रोत्पलशोभिन्नाननैर्मृगैः समन्तादुपजातसाध्वसैः ।
 समाचिता सैकृतिनी वनस्थली समुत्सुकत्वं प्रकरोति चेतसः ॥९॥
 अभीक्ष्णमुच्चैर्ध्वनता पयोमुचा घनान्धकारीकृतशर्षरीष्वपि ।
 तडित्प्रमादशितमार्गभूमयः प्रयान्ति रागादभिसारिकाः स्त्रियः ॥१०॥
 पयोधरैर्भीमगभीरनिस्वनैस्त्वडिङ्गिरुद्वेजितचेतसो भृशम् ।
 कृतापराधानपि योषितः प्रियान्परिष्वजन्ते शयने निरन्तरम् ॥११॥
 विलोचनेन्दीवरधारिविन्दुमिर्निपिक्ताधिम्बाधरचारुपल्लवाः ।
 निरस्तमान्याभरणालुलेपनाः स्थिता निराशाः प्रवासिनाम् ॥१२॥
 विपायद्वरं कीटरजस्तृष्णान्वितं भुजंपवद्वक्रगतिप्रसर्पितम् ।
 ससाध्वसैर्भेककुलैर्निरीक्षितं प्रयाति निज्जामिगुह्यं नवोदकम् ॥१३॥
 विपत्रपुष्पां नलिनीं समुत्सुका विहाय भृङ्गाः श्रुतिहारिनिस्वनाः ।
 पतन्ति मूढाः शिखिनां प्रनृत्यतां कलापचक्रेषु नवीत्पलाशया ॥१४॥

वैसे ही ये नदियाँ भी अपने मन्मते वानाँकी धारमे जहाँ-तहाँ अपने चिन रेके घुर्कोंकी दहाती हुई वेगसे दौरी हुई समुद्रकी ओर चली जा रही हैं ॥ ७ ॥ हरिणियोंके मुँहकी हुतरी हुई हरी-हरी भासों और नई कोपलोंवाले शृंगोंसे धार हुए विन्वयानकके जंगल किमका मन नहीं लुभा खेत ॥८॥ कमलके समान सुहावनी चंपक शीतोंके फरण सुन्दर सुलजले ठरे हुए हरियोंसे भरा हुआ रेतोंका जंगल हृदयको दरबन रीं वे लिए जा रहा है ॥ ९ ॥ देवो ! लुक छिपकर अपने प्यारेके पास प्रेमसे जानेवाली कामिजियों, गरजते हुए बाद जैसे विरी हुई इस घनी धँपेरी रातमें भी बिजलीकी धमकसे घागेका मार्ग देखती हुई चली जा रही हैं ॥ १० ॥ बादलोंकी चौर कवक सुनकर और बिजलीकी चदपमसे शींकी हुई छियाँ सीते समय अपने दोषी प्रेमियोंसे भी छिपती जाती हैं ॥ ११ ॥ परदेवमें गए हुए कोगोंकी छियाँ अपने शिवाकल जैसे छाल और नई कोपलों जैसे कामल होशपर अपनी कमल जैसे शींसे शीं चरसाती हुई, अपनी माला, धारुपाथ, तेल, कुल्लेक, लपटन आदि सब कुछ छोड़कर गालवर हाथ धरे बैठी हैं ॥ १२ ॥ छोटे-छोटे कीड़े, भूच और घातको दहाता हुआ मन्मथा चरसाती पानी, शींके समान देहा मेहा घूमता हुआ, टालसे दहा जा रहा है और बेपारे मँवक टते शीं रामकर देस ऐकर उरे जा रहे हैं ॥ १३ ॥ कानोंको सुदानेवाली गींरी तानें खेकर गूँजते हुए मीरे, वल कमलको धोंच छोड़कर चले जा रहे हैं जिसके पत्ते और फूल भङ गए हैं । ये मीरे हृदयकीमें मूलते, भाचते हुए मोरीके तुले परोंको नये कमल समकर चन्दीपर टूटे पद रहे हैं ॥ १४ ॥ नये-नये बादलोंके गरजनेसे जग बनीले हाथी मरत हो खते हैं और उनके

वनद्विपानां नवचारिदस्वनैर्मदान्वितानां ध्वनतां मुहुर्मुहुः ।
 कपोलदेशा विमलोत्पलप्रभाः समृद्धयुधैर्मदवारिमिश्रिताः ॥१५॥
 सितोत्पलाभाम्बुदचुम्बितोपलाः समाचिताः प्रसन्नवयैः समन्ततः ।
 प्रवृत्तनृत्यैः शिखिभिः समाकुलाः समुत्सुकत्वं जनयन्ति भूधराः ॥१६॥
 कदम्बसर्जार्जुनकेतकीवनं विकम्पयँस्तत्कुसुमाधिवासितः ।
 ससीकराम्भोधरसङ्गशीतलः समीरणः कं न करोति सोत्सुकम् ॥१७॥
 शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः कृतावतंसैः कुसुमैः युगन्धिभिः ।
 स्तनैः सहारैर्वदनैः ससीधुभिः द्विपो रतिं संजनयन्ति कामिनाम् ॥१८॥
 यहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति व्यापन्ति नृत्यन्ति समाश्रयन्ति ।
 नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गाः ॥१९॥
 तडिल्लताशक्रधनुर्विभूषिताः पयोधरास्तोयभरावलम्बिनः ।
 द्वियश्च काञ्चीमणिकुण्डलोज्ज्वला हरन्ति चेतो युगपत्प्रवासिनाम् ॥२०॥
 मालाः कदम्बनवकेमरकेतकीभिरायोजिताः शिरसि विभ्रति योपितोऽद्य ।
 कर्णान्तरेषु ककुभद्रममञ्जरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकौथ ॥२१॥
 कालागुत्प्रचुरचन्दनचर्चिताङ्गयः पुण्यावतंससुरभीकृतकेशपाशाः ।
 ध्रुवा ध्वनिं जलमुचां त्वरितं प्रदोषे शय्यागृहं गुरुगृहात्प्रविशन्ति नार्यः ॥२२॥

बहते हुए मदपर भीरे आकर लिपट जाते हैं, उस समय उन हाथियोंके माथे स्वच्छ नीले कमल जैसे
 दिखाई देने लगते हैं ॥ १५ ॥ धौले कमलके समान उजले बादल जिन पहाड़ों चट्टानोंको घूमते
 चलते हैं और गिनपर मोर नाच रहे हैं उन घटानोंपरसे बहनेवाले सैकड़ों झरनोंको देखकर मेनियोंके
 मनमें हलचल स्रथ जाती है ॥ १६ ॥ कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और केतकीसे भरे हुए जंगलको कँपाता
 हुआ और उन वृक्षोंके फूलोंकी सुगन्धमें मग्न हुआ और चन्द्रमाकी किरणोंसे तथा बादलोंसे उका
 होकर बहनेवाला वायु किसे मस्त नहीं कर देता ॥१७॥ आनकल शिखी, अपने भारी-भारी नितम्बोंपर
 केश लाटकाकर, अपने कानोंमें सुगन्धित फूलोंके फनफूल पदनकर, छातीपर माला साजकर और मदिरा
 पीकर अपने प्रेमियोंके मनमें प्रेम बकला रही हैं ॥ १८ ॥ बरसातमें नदियाँ बहती हैं, बादल बरसते
 हैं, मस्त हाथी थिग्यादते हैं, जंगल हरे-भरे हो जाते हैं, अपने प्यारोंसे विचुरी हुई शिखी रोती कल-
 पती हैं, मोर नाचते हैं और बदर चुप मारकर गुफाओंमें जा दिपते हैं ॥ १९ ॥ एक ओर तो इन्द्र-
 धनुष और बिजलीके चमकते हुए पतले धारोंसे सजी हुई और पानीके भारसे मुड़ी हुई काली-काली
 धाराएँ और दूसरी ओर फरधनी तथा रत्न जड़े जुण्डलोंसे सजी हुई शिखी, ये दोनों ही परदेसमें धीरे
 हुए लोर्गोंकर मन एक साथ हर लेती हैं ॥ २० ॥ इन दिनों नई केशर, फेतली और कद्रवके नये
 फूलोंकी मालाएँ गूँधकर शिखी अपने जूँसमें बोधती हैं, और बडुमके फूलोंके मनचाहे रंगसे बनाए
 हुए कर्णकुच अपने कानोंमें पदनती हैं ॥ २१ ॥ जिन शिखीके धर्मोंपर धार गिआ चन्दन खगा
 हुआ है, जिनके धाल फूलोंके गुच्छोंसे मँहक रहे हैं, ये बादलोंकी गदगडाहट सुनकर मत् अपने धरके

कुवलयदलनीलैरुन्नतेस्तोयनम्रमृदुपवनविधूतैर्मन्दमन्दं चलद्भिः ।
 अयद्वृतमिव चेतस्तोयदैः सेन्द्रचापैः पथिकजनवधूनां तद्विषोभाकुलानाम् ॥२३॥
 मृदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्तात्पवनचलितशालैः शास्त्रिभिर्नृत्यतीव ।
 हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां नवसलिलनिपेकच्छिन्नतापो वनान्तः २४
 शिरसि पङ्कलमालां मालतीभिः समेतां विकसितनचपुष्पैर्युथिराकुड्मलैश्च ।
 विकचनवकदम्बैः कर्णपूरं वधूनां रचयति जलदौघः कान्तवत्काल एषः ॥२५॥
 दधति चरकुचाग्ररुन्नतैर्हारियष्टिं प्रतनुसितदुकूलान्यायतैः श्रोणिविम्बैः ।
 नवजलकणसेकादुद्भवां रोमराजां ललितवलिबिम्बैर्मध्वदेशैश्च नार्यः ॥२६॥
 नवजलकणसङ्गाच्छ्रीततामादधानः कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम् ।
 जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः परिहरति नभस्वान्त्रोपिनानां मनांसि २७
 जलमरनमितानामाश्रयोऽस्माकमुद्यैरयमिति जलसेकैस्तोयदास्तोयनत्राः ।
 अतिशयपहृषामिर्ग्रीष्मवह्नेः शिखाभिः समुपजनिततापं ह्यादयन्तीव विन्ध्यम् २८

बड़े-पूतोंके पासमे डटका सही साँकको ही अपने शयनघरमें घुस जाता है ॥ २२ ॥ कमलके पत्तोंके समान साँबले, पानीके भारसे झुक जानेके कारण बहुत थोड़ी बँचाईपर ही छुट्टे हुए धीरे धीमे पौने पवनके सहारे धीरे धीरे चलनेवाले तिन यादलोंमें इन्द्रधनुष निकल आया है उन्होंने परदेशमें गए हुए लोगोंकी उन चियोंकी सब सुभ सुभ दर ली है जो अपने प्यारोंके विषोहमें ब्याकुल हुई बैठी हैं ॥ २३ ॥ वनमें चारों ओर खिले हुए कदम्बके फूल ऐसे लग रहे हैं मानो वर्षाके नये जलसे रासीं वृ हो जानेपर जंगल भगन हो उठा हो । पवनसे झूमती हुई शरणाश्रोंको देखकर ऐसा लगता है भागो पूराका पूरा जंगल अपने हाथ मटक-मटकाकर नाच रहा हो । और केतकीकी उजली कलियोंकी देखकर ऐसा लगता है भागो जंगल खिलखिलाकर दँस रहा हो ॥ २४ ॥ जैसे कोई प्रेमी अपनी प्यारीके लिये टंग टंगके फूलोंके आभूषण बनावे वैसे ही वर्षा काल भी ऐसा लगता है भागो वह अपनी प्रेमिकाके लिये जूहीकी नई-नई कलियों तथा मालती और मौजसिरीके फूलोंकी माला तैयार रहा हो और उनके कानोंके लिए टिलो हुए नये कदम्बके फूलोंके कर्णफूल बना रहा हो ॥ २५ ॥ इन दिनों खियों, अपने बड़े बड़े गोल गोल उठे हुए सुन्दर स्तनोंपर मोनोंकी मालाएँ पढ़नती हैं और अपने भारी-भारते गोल-गोल नितम्बोंपर नदीन उजली रेशमी साड़ी पहनती हैं । उनके पैदपर दिखाई पढ़नेवाली सुन्दर तिहरी सिङ्गुनोंपर जब वर्षाकी नई पुहार पढ़ता है तो वहाँके नन्दे नन्दे रोएँ खड़े हो जाते हैं ॥ २६ ॥ वर्षाके नये जलकी फुहारोंसे उठा बना हुआ पवन, फूलोंके बोक्से हुके हुए पेड़ोंकी नचा रहा है, केतकीके फूलोंका पराग खींचकर चारों ओर मनसाधनी सुगंध फैजा रहा है और परदेश गए हुए प्रेमियोंके मन खुरा रहा है ॥ २७ ॥ ये पानीके बोगले हुके हुए यादल, रासीकी आगकी लपटोंसे हुकासे हुए विन्ध्याचलकी तपन अपने ठंडे जलकी फुहारसे मानो यह समझकर बुका रहे हैं कि जब हम पानीके बोक्से लदकर आये हैं तो यही हमें सहारा देता है ॥ २८ ॥ अपने बहुतेसे सुन्दर गुणोंसे

तारागणप्रवरभूपणमुद्रदन्ती मेघावरोधपरिमुक्तशशाङ्कवक्त्रा ।
 ज्योत्स्नादुकूलममलं रजनी दधाना वृद्धिं प्रयात्पनुदिनं प्रमदेव घाला ॥७॥
 कारणद्वाननविधङ्गितवीचिमालाः कादम्बसारसकुलाकुलतीरदेशाः ।
 कुर्वन्ति हंसविरुतैः परितो जनस्य प्रीतिं सरोरुहरजोरुणितास्तटिन्यः ॥८॥
 नेत्रोत्सवो हृदयहारिमरीचिमालः प्रह्लादकः शिशिरसीकरवारिवर्षा ।
 पत्सुरियोगविपदिम्भशरत्नतानां चन्द्रो दहत्पतितरां तनुमङ्गनानाम् ॥९॥
 आकम्पयन्फलमरानवशालिजालान्यानर्तयैस्तरुवरान्कुसुमावनम्रान् ।
 उत्फुल्लपङ्कजवनां नलिनीं विधुन्वन्यूनां मनश्चलपति प्रसभं नमस्वान् ॥१०॥
 सोन्मादहंसमिथुनैरुपशोभितानि स्वच्छप्रफुल्लकमलोत्पलभूपितानि ।
 मन्दप्रभातपवनोद्गतवीचिमालान्युत्कृष्टयन्ति सहसा हृदयं तरांसि ॥११॥
 नष्टं धनुर्वलभिदो जलद्रोदरेषु सौदामिनी स्फुरति नाद्य वियत्पताका ।
 धुन्वन्ति पक्षपवनैर्न नभो घलाकाः पश्यन्ति नोन्नतमुखा गगनं मयूराः ॥१२॥
 नृत्यप्रयोगरहिताञ्छिखिनो विहाय हंसानुपैति मदनो मधुरप्रगीतान् ।
 मुक्त्वा कदम्बकुटजार्जुनसर्जनीपान्ससच्छदानुपगता कुसुमोद्गमश्रीः ॥१३॥

चूल रहे हैं, ऐसा कीविदारका वृष किसका हृदय टुकड़े-टुकड़े नहीं कर देता ॥ ६ ॥ यादल हटे हुए चन्द्रमाके मुँहासाली भ्रमजकनकी रात, तारोंके मुहाबने गहने पहने हुए और चोदनीकी उजली सादी पहने हुए अन्नवेदी छोकरके समान दिन दिन बढ़ती चली जा रही है ॥ ७ ॥ जिन नदियोंका जल कमलके परागसे लाल हो गया है, जिनपर हल झूठ रहे हैं, जिनकी लहरें जल पक्षियोंकी चोंचोंसे टकराती जा रही हैं और जिनके तीरपर कदम्ब और सारस पक्षियोंके झुण्ड घूम रहे हैं, वे नदियाँ खोगोंको यही मुहावनी लगती हैं ॥ ८ ॥ सयकी ओँखोंको मन्ना लगनेवाली जिस चन्द्रमाकी किरणें मनको घरबल अपनी ओर खींच लेती हैं, वही मुहावना और उन्नी फुहार बरसानेवाला चन्द्रमा, उन क्षियोंके अग बहुत भूने डाल रहा है जो अपने पतियोंके विद्रोहके विप दुके चारोंसे घायल हुई परीमें पक्षी-पक्षी कलप रहा है ॥ ९ ॥ अन्न भरी हुई कालियोंसे मुके धानके पौधोंको कोंपाता हुआ, फूलोंसे लदे हुए सुन्दर वृक्षोंको नष्टाता हुआ और खिले हुए कमलोंसे भरे तालोंको कमलिनियोंको हिलाता हुआ शीतल वायु, घुपकोंका मन झुककोरे डाल रहा है ॥ १० ॥ जिन तालोंके तीरपर मस्त हँसोंके जोड़े घूम रहे हैं, जिनमें स्पष्ट खिले हुए उजले और नीले कमल शोभा दे रहे हैं और जिनमें प्रातः कालके धीमे धीमे पवनसे लहरें उठ रही हैं, वे ताल, भ्रमचानक हृदयको मस्त बनाए डाल रहे हैं ॥ ११ ॥ आगकल न तो बादलोंमें झुण्डपनुप रह गए हैं, न बगले ही अपने पैत हिला-दिलाकर शाकाएके पंखा कर रहे हैं और न मोरोंके झुण्ड ही मुँह उठाकर आकाशकी ओर देख रहे हैं ॥ १२ ॥ जिन मोरोंने नाचना छोड़ दिया है उन्हें छोड़कर अय कामदेव उन हँसोंके पास पहुँच गया है जो बड़ी मीठी खोलाँमें रुनरुन रुनरुन कर रहे हैं और फूलोंको सुन्दरता भी कदम्ब, कुडम, अर्जुन, सतें और अगोके वृषोंको छोड़कर एलियनके वेदपर सा बसो है ॥ १३ ॥ जिन अपवनामें शेकासिकाके फूलोंकी

शेषालिहाकुसुमगन्धमनोहराणि स्वस्थस्थिताएडजकुलप्रतिनादितानि ।
पर्यन्तसंस्थितमृगीनयनोत्पलानि प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनांसि पुंसाम् ॥१४॥
फहारपद्मकुमुदानि मुहुर्विधुन्वँस्तत्संगमादधिकशीतलतामुपेतः ।
उत्कण्ठयत्यवितरां पवनः प्रभाते पत्रान्तलप्रतुद्दिनाम्बुविधूपमानः ॥१५॥
संपन्नशालिनिचयावृतभूतलानि स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि ।
हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम् ॥१६॥
हंसैर्जिता सुललिता गतिरङ्गनानामम्भोरुहैर्विकसितैर्मुखचन्द्रकान्तिः ।
नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोचनानि भ्रूविभ्रमाथ रुचिरास्तनुमिस्तरङ्गैः ॥१७॥
स्यामा लताः कुसुमभारनतप्रवालाः स्त्रीणां हरन्ति धृतभूपयशाहुकान्तिम् ।
दन्तावभासविशदस्मितचन्द्रकान्तिं कङ्कल्लिपुष्परुचिरा नवमालती च ॥१८॥
केशान्तिान्तघननीलविकुञ्चिताग्रानाभूरयन्ति पविता नद्यमालतीभिः ।
कार्णेषु च प्रवरकाञ्चनकुण्डलेषु नीलोत्पलानि विविधानि निवेशयन्ति ॥१९॥
हारैः सचन्द्रनरसैः स्तनमण्डलानि शोणीवटं सुविपुलं रसनाकलापैः ।
पादाम्बुजानि कलनूपुरशेखरैश्च नार्यैः प्रहृष्टमनसोऽद्य विभूषयन्ति । २०॥

मनभावनी सुगन्ध फैली हुई है, जिनमें त्रिभिन्त घेड़ी हुई चिड़ियोंकी चहचहाहट चारों ओर गूँल रही है, जिनमें कमल जैसी शौंतीवाली हरिणियों जहाँ तहाँ घेड़ी पगुरा रही हैं, उन्हें देखकर लोगोंके मन हाथसे निकल जाते हैं ॥ १४ ॥ प्रातःकाल पक्षोंपर पक्षी हुई शोभनी घूँदें गिरता हुआ और कोकिलके, कमल तथा कुमुदके लू-लूकर ठठक लेता हुआ जो पवन धामे-धामे बह रहा है वह किसे मस्त नहीं बना देता ॥ १५ ॥ जहाँके देवोंमें भरपूर धानके पौधे लहलहा रहे हैं, जहाँ वासके मैदानमें बहुतसी गीहें पेर रही हैं, जहाँ बहुतसे सारसों और हंसोंके जोड़े अपनी मोठी बोलों बोल रहे हैं, ऐसे स्थान लोगोंको बड़े आरजे लगते हैं ॥ १६ ॥ इन दिनों हंसोंने सुन्दरियोंकी मनभावनी धालकी, कमलिनिबोंने उनके चन्द्रमुखकी चमकयी, नीले कमलोंने उनकी मदभरी शौंतीको और घोडों काहरियोंने उनकी भौंहोंकी सुन्दर मटककी हरा दिया है ॥ १७ ॥ जिन हरी बेलोंकी टट-वियों फूलोंके बोझसे लुक गई हैं, उनकी सुन्दरताने स्त्रियोंकी गहनोंसे सजो हुई बाहोंकी सुन्दरता छीन ली है और कंकलि तथा नई मालतीके सुन्दर फूलोंने शौंतीकी चमकसे लिल उठने-वाली स्त्रियोंकी सुस्कराहटकी चमकको लज्जा दिया है ॥ १८ ॥ स्त्रियों अपने पनी घुँघराकी काजी छटोंमें नये मालतीके फूल गूँल रही हैं और अपने जिन कानोंमें वे सोनेके बढिया कुण्डल पहना करती थीं, उनमें उड़ोंने अनेक प्रकारके नीले कमल लटकालिए हैं ॥ १९ ॥ आभरल चिड़ियाँ बड़ा उमंगसे अपने स्तनोपर मोतियोंके हार पहनती और चन्द्रन पोतती हैं, अपने भारी भारी नितम्बोंपर करघनी बढियाँ हैं और अपने कमल जैसे कोमल सुन्दर पैरोंमें लुम लुम पगनेवाले बिदुए पहनती हैं ॥ २० ॥ पिले हुए चन्द्रमा और छिटके हुए सारोंसे भरा हुआ आजकलका सुजा आकाश उन बालोंके समान दिखाई पड़ रहा है जिनमें नीलमके समान चमकता हुआ जल भरा हुआ हो,

बहुगुणरमणीयः कामिनीचित्तहारी तरुविटपल्लवानां बान्धवो निर्विकारः ।
जलदसमय एव प्राणिनां प्राणभूतो दिशतु तत्र हितानि प्रायशो वाञ्छितानि
इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे प्रावृद्ध्यर्णव नाम द्वितीय सर्गः ॥

सुहावनी लगनेवाली, छियाँका जी खिलानेवाली, पेड़ोंकी टडकियों और धेलोंकी सजी सखी तथा सभी
जीवोंका प्राण बनी हुई यह वर्षा ऋतु आपके मनकी सप सार्थ पूरी करे ॥ २९ ॥

महाकवि कालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार नामके काव्यका दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ।



तृतीयः सर्गः

शरद्वर्णनम्

काशांशुका पिकचपधमनोज्ञाक्वत्रा सोन्मादहंमरयन्, पुरनादरम्या ।
 आपकशालिहचिरानतगात्रयष्टिः प्राप्ता शरन्नवधूरिण रूपरम्या ॥१॥
 काशैर्मही शिशिरदीधितिना रजन्यो हनेर्जलानि सरितां कुमुदैः सरांसि ।
 सप्तच्छदैः कुसुमभारनतैर्वनान्ताः शुभ्रलीकृतान्युपवनानि च मालवीमिः ॥२॥
 चञ्चन्मनोज्ञशफरीरसनाफलापाः पर्यन्तसंस्थितसिताएडजपट्टकिहाराः ।
 नद्यो विशालपुलिनान्वनितम्बिम्बा मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य ॥३॥
 ग्योम क्वचिद्रजवशहृमृणालगौरैस्त्यक्ताम्बुमिल्लघुवया शनशः प्रयातैः ।
 संलक्षयते पवनवेगचलैः पयोदै राजेन चामरशतैरुपवीज्यमानः ॥४॥
 मिन्नाञ्जनप्रचयकान्ति नमो मनोज्ञं वन्यूकपुष्परजसाऽरुषिता च भूमिः ।
 वप्राश्च पकरलमावृतभूमिमागा प्रोत्कण्ठयन्ति न मनो भ्रुवि कस्य युनः ॥५॥
 मन्दानिलाकुलितचारुतराग्रशासः पुष्पीद्रमप्रचयकोमलपल्लवाग्रः ।
 मत्तद्विरेफपरिपीतमधुप्रसेरुध्वित्तं विदारयति कस्य न कोविदार ॥६॥

तासरा सर्ग

शरदका वर्णन

फूलोंके हुए कौंसके फलदे पहने, मस्त हसोंको बालोंके सुहावने बिजुए पहने, पके हुए धानसे मनोहर शरीरवाली शीर जिके हुए कमलके समान सुन्दर सुलवाली शरद मस्त, नई ब्याही हुई रूपवती बहूके समान अर या पतुची है ॥ १ ॥ कौंसका भादियोंने धरतीको, चन्द्रमाने रातोंको, हंसोंने नदियोंके जलको, कमलोंने साखायोंको, फूलोंके बाकसे जुके हुए छतिवणके पृष्ठीने जगलको शीर माकरीके फूलोंने पुद्गवारियोंको उजला बना डाला है ॥ २ ॥ इस फलमें नदियों मो उसी प्रकार धीरे धीरे बही जा रही हैं, जैसे करधनी शीर माला पहने हुए बड़े बड़े नितम्बों वाली कामिगियों चली जा रही हैं वरोंके उल्लसती हुई सुन्दर मणुवियों ही उन नदियोंकी करधनी हैं, तीरपर पैठी हुई उजली चिकियोंकी बाँटे ही उनकी मालाएँ हैं शीर ऊँचे ऊँचे रताखे डाले ही उनके गोल नितम्ब हैं ॥ ३ ॥ शीरी, शरद शीर कमलके समान उजले जो सहस्रां बादल पानी भरसनेसे हलके होकर, पवनके सहारे ध्वज-उधर घूम रहे हैं, उनसे भर हुआ आकाश कर्द-कर्दी ऐसा भगने खगा है मानो किसी राजापर सेकड़ों चँवर झुलाए जा रहे हैं ॥ ४ ॥ घुटे हुए अँजनकी पिटी जैसा गीला सुन्दर आकार, दुपहरिपाके फूलोंसे लाल बनी हुई धरती शीर पके हुए धानसे बड़े हुए सुन्दर जेत, इस सलारमें किस सुवन्का मन डबाडोल नहीं कर देते ॥ ५ ॥ जिसकी शाखायोंकी सुन्दर पुनगियोंकी धीमा-धीमा पवन लुजा रहा है, जिसपर बहुतसे पूज लिखे हुए हैं, जिसकी पतियाँ बड़ी कोमल हैं शीर जिसमेंसे बहते हुए मधुकी धारकी मस्त गँरे धीरे धीरे

तारागणप्रवरभूषणमुद्रहन्ती मेधावरोधपरिमुक्तशशाङ्कवक्त्रा ।
 ज्योत्स्नादुकूलममलं रजनी दधाना वृद्धिं प्रधात्यनुदिनं प्रमदेव बाला ॥७॥
 कारणडवाननविघडितवीचिमालाः कादम्बसारसकुलाकुलनोरदेशाः ।
 कुर्वन्ति हंसविल्लैः परितो जनस्य शीर्तिं सरोरुहरजौरुखितास्तटिन्यः ॥८॥
 नेत्रोत्सवो हृदयहारिमरीचिमालः प्रह्लादकः शिशिरसीकरवारिवर्षी ।
 पत्युत्रियोगविपदिग्धशरत्तानां चन्द्रो दहत्यतितरां तनुमङ्गनानाम् ॥९॥
 आरुम्पयन्फलभरानतशालिजालान्यानर्तयैस्तरुवरान्कुसुमावनम्रान् ।
 उत्फुल्लपङ्कजवनां नलिनीं विधुन्वन्यूनां मनश्चलयति प्रसभं नमस्वान् ॥१०॥
 सोनमादहंसमिथुनैरुपशोभितानि स्वच्छप्रफुल्लरुमलोत्पलभूपितानि ।
 मन्दप्रभातपवनोद्गतवीचिमालान्युत्कण्ठयन्ति सहसा हृदयं सरांसि ॥११॥
 नष्टं धनुर्वलमिदो जलदोदरेषु सौदामिनी स्फुरति नाथ वियत्पताका ।
 धुन्वन्ति पत्रपवनैर्न नमो बलाकाः पश्यन्ति नोन्नतमुखा गगनं मयूराः ॥१२॥
 नृत्यप्रयोग्रहिताञ्छिखिनो विहाय हंसात्तुपैति मदनो मधुरप्रगीतान् ।
 मुक्त्वा कदम्बकुटजार्जुनसर्जनीपान्ससच्छदानुपगता कुसुमोद्गमश्रीः ॥१३॥

चूम रहे हैं, पेता खोविदारका वृक्ष किसका हृदय डुकड़े-डुकड़े नहीं कर देता ॥ १ ॥ बादल हटे हुए चन्द्रमाके सुँदवाजी धाजकलकी रात, तारोंके सुहावने गहने पहने हुए और चाँदनीकी उजली सादी पहने हुए अश्लेषकी छोरतीके समान दिन-दिन बढ़ती चली जा रही है ॥ ७ ॥ जिन नदियोंका जल कमलके पत्रगसे लाल हो गया है, जिनपर हंस कूज रहे हैं, जिनकी लहरें जल पत्तियोंकी खोंखोंसे उठती जा रही हैं और जिनके तीरपर कदम्ब और सारस पत्तियोंके छुण्ड घूम रहे हैं, वे नदियाँ खोंखोंकी यही सुहावनी लगती हैं ॥ ८ ॥ सपकी चाँलोंको भला लगनेवाले जिस चन्द्रमाकी किरणें मनको चरपस अर्पनी और खींच लेती हैं, यही सुहावना और रुग्नी फुहार परसनेवाला चन्द्रमा, उन किरणोंके आंग बहुत भूने डाल रहा है जो अपने पत्तियोंके विज्ञोदके विप बुके पाशोंसे घायल हुई घाँसों परी-परी कलर रही हैं ॥ ९ ॥ अग्न भरी हुई बालियोंसे मुके वानके पौधोंको कपाता हुआ, फूलोंसे लदे हुए सुन्दर घुँसोंकी नपाठा हुआ और खिले हुए कमलोंसे भरे तालोंकी कमलिनियोंको दिलाता हुआ शीतल पायु, युवकोंका मन रक्तभीरे डाल रहा है ॥ १० ॥ जिन तालोंके तीरपर मस्त हंसोंके जोड़े घूम रहे हैं, जिनमें स्वच्छ रिके हुए उजले और नीले कमल रोमा दे रहे हैं और जिनमें प्रातः कालके घीमे घीमे पवनसे लहरें उठ रही हैं, वे ताल, अचानक हृदयको मरत बनाए डाल रहे हैं ॥ ११ ॥ आत्रकल न तो बादलोंमें दूधधनुष रह गए हैं, न बगले ही अपने पैत दिला-दिलाकर आकाशको पंखा कर रहे हैं और न मोरोंके छुण्ड ही सुँद उठाकर आकाशकी छोर देव रहे हैं ॥ १२ ॥ जिन मोरोंने माधना ढोब दिया है उन्हें ढोबवर भय कामदेव उन हंसोंके पास पहुँच गया है जो यही भीठी योनीमें रनरुन रनरुन कर रहे हैं और फूलोंकी सुन्दरता भी कदम्ब, लुटन, अर्जुन, सर्ज और अगोके घुँसोंकी छोबकर दृतिघनके पेड़पर आ पता है ॥ १३ ॥ जिन उपवनोंमें शेषजिकके फूलोंकी

शेफालिकाकुसुमगन्धमनोहराणि स्वस्थस्थिताएडजकुलप्रतिनादितानि ।
 पर्यन्तसंस्थितमृगीनयनोत्पलानि प्रोत्कण्ठयन्त्युपवनानि मनांसि पुंसाम् ॥१४॥
 वहारपद्मकुमुदानि मुहुर्विधुन्वन्स्तत्संगमादधिकशीतलतामुपेतः ।
 उत्कण्ठयत्यतिरारां पवनः प्रमाते पत्रान्मलप्रमुहिनाम्बुविधूयमानः ॥१५॥
 संपन्नशालिनिचयावृतभूतलानि स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशीमितानि ।
 हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम् ॥१६॥
 हंसैर्जिता सुललिता गतिरङ्गनानामम्भोरुहैर्विकसितैर्मुलचन्द्रकान्तिः ।
 नीलोत्पलैर्मदकलानि विलीचनानि भ्रूविभ्रमाद्य रुचिरास्तनुभिस्तरङ्गैः ॥१७॥
 स्यामा लताः कुसुमभारनतप्रवालाः स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम् ।
 दन्तावमासविशदस्मिनचन्द्रकान्ति कङ्कल्लिपुष्परुचिरा नवमालती च ॥१८॥
 केशान्त्रितान्तघननीलविकुञ्चिताप्रानापूरयन्ति वनिता नद्यमालतीभिः ।
 कर्णेषु च प्रवरकाञ्चनकुण्डलेषु नीलोत्पलानि विविधानि निवेशयन्ति ॥१९॥
 हारैः सचन्दनरसैः स्तनमण्डलानि श्रोणीतटं सुविपुलं रसनाकलपैः ।
 पादाम्बुजानि कलनूपुरशेखरैश्च नार्यैः प्रहृष्टमनसोऽद्य विभूषयन्ति । २०॥

मनभावनी सुगन्ध फैजा हुई है, जिनमें निश्चिन्त घेठी हुई चिरियोंकी बहबहाइत चारों ओर गूँज रही है, जिनमें कमल जैसे शालीबाली हरियर्यों जहाँ तहाँ घेठी पगुरा रही हैं, उन्हें देखकर लोगोंके मन हाथसे निकल जाते हैं ॥ १४ ॥ प्रातःकाल पत्तोंपर पड़ी हुई धोसकी सूँद गिर ता हुआ और कोकाबेल, कमल तथा कुमुदसे लुभुकर उड़क लेता हुआ जो पवन भीमे-भीमे बह रहा है वह कितो मस्त नहीं बना देगा ॥ १५ ॥ जहाँकि ऐतौमें भरपूर पानके पीये लटलटा रहे हैं, जहाँ पासके मैदानमें बहुतसो गाँव पर रही हैं, जहाँ बहुतसे सारसाँ और हंसोंके जोड़े अपनी मीठी बोली बोल रहे हैं, ऐसे स्थान लोगोंको बड़े अच्छे लगते हैं ॥ १६ ॥ इन त्रिनो हंसोंने सुन्दरियोंकी मनभावनी घालकी, कमलिनियोंने उनके चन्द्रसुपकी चमककी, नीले कमलोंने उनको मन्दरी शालीको और छोटी लहरियोंने उनकी भीँहोंको सुन्दर मटकको ढरा दिया है ॥ १७ ॥ जिन हरी घेठोंकी तरह-निर्यो कुलोंके शोभने हुए गई हैं, उनकी सुन्दरताने रियोंकी गहनोसे सजे हुई पाहोंकी सुन्दरता खीन खी है और कंकलि तथा नई माळतीके सुन्दर फूलोंने शालीकी चमकमे लिल उठने-वाली शिरियोंकी सुस्त्राइटकी चमकको जला रिधा है ॥ १८ ॥ शिर्यों अपनी घनी सुँवराको काली लट्टीमें नये माळतीके फूल सूँव रही हैं और अपने जिन कानोंमें वे सोनेके बड़िया कुण्डल पहना करती थीं, उनमें उड़ाने अनेक प्रकारके नीले कमल लटका लिए हैं ॥ १९ ॥ माण्डल शिर्यों वहाँ उमंगसे अपने स्तनोंपर मोतियोंके ढार पहनती और चन्दन पोतती हैं, अपने भारी भारो नितम्बोंपर करघनी घोंघली हैं और अपने कमल जैसे कोमल सुन्दर पैरोंमें छम छम बजनेवाले विपुए पहनती हैं ॥ २० ॥ जिसे हुए चन्द्रमा और छिटके हुए सारोसे भरा हुआ आजकलका सुला आकाश उन शालीके समान दिखाई पड़ रहा है जिनमें नीलमके समान चमस्ता हुआ जल भरा हुआ हो,

स्फुटकुमुदचितानां राजहंसाश्रितानां मरकतमणिमासा वारिणा भूषितानाम् ।
 श्रियमतिशयरूपां व्योम तोयाशयानां वहति विगतमेवं चन्द्रताम्रकीर्णम् २१
 शरदि कुमुदसङ्गाद्वायवो नान्ति शीता विगतजलदङ्गुन्दा दिग्बिभागा मनोज्ञाः ।
 विगतकलुषमग्मः श्यानपङ्का धरित्री विमलकिरणचन्द्रं व्योम ताराविचित्रम् २२
 करकमलमनोज्ञाः कान्तसंसक्तहस्ता वदनविजितचन्द्राः काश्चिदन्यास्तरुणः ।
 रचितकुमुदमग्निं प्रायशो यान्ति वेषम प्रपल्लमदनहेतोस्त्यक्तसंगीतरागाः ॥२३॥
 सुरतरसविलासाः सत्सखीभिः समेता असमगरविनोदं सूचयन्ति प्रकामम् ।
 अनुपममुखरागा रात्रिमध्ये विनोदं शरदि तरुणकान्ताः सूचयन्ति प्रमोदान् २४
 दिवसकरमयूखैर्बोधुमानं प्रभाते वरयुवतिमुस्त्राभं पङ्कजं जृम्भतेऽद्य ।
 कुमुदमपि गतेऽस्तं लीयते चन्द्रबिम्बे हसितमिव वधूनां प्रोपिनेषु प्रियेषु ॥२५॥
 असितनयनलक्ष्मीं लक्षयित्वोत्पलेषु कथितकनककाञ्चीं मत्तहंसस्वनेषु ।
 अधररुचिरशोभां बन्धुजीवे प्रियाणां पयिरुजन इदानीं रोदिति आन्तचित्तः २६
 स्त्रीणां विहाय वदनेषु शशाङ्कलक्ष्मीं काम्यं च हंसचनं मथिन्पुत्रेषु ।
 बन्धूककान्तिमधरेषु मनोहरेषु कापि प्रधाति सुभगा शरदाग्रश्रीः ॥२७॥

जिनमें एक-एक रातइंस बैठा हुआ हो और जिनमें यहाँ वहाँ पहुँचसे कुमुद सिले हुए हों ॥२१॥
 राजकुल कमलोंकी सूता बुधा शीतल पत्रन वह रहा है, आदलोंके उड़ जानेसे चारों ओर सय सुहा-
 घना दिखाई दे रहा है, पानीका गैँदलापन दूर हो गया है, धरतीपाका सारा लीपड़ सूख गया है
 और आकाशमें (वन्द्य निरखोंवाला चन्द्रमा और तारे निकल आये हैं ॥ २२ ॥ चन्द्रमासे भी अधिक
 सुन्दर सुरराजाकी सुरतियों अपना सब नाता पत्रास छोड़कर, अरुणत कामातुर दोहर अपने सुन्दर
 कमल जैसे हाथ धरने प्रेमीके हाथोंमें टाङ्ककर उन चरोंमें खली जा रही हैं जिनमें सुगंधित कुलोंकी
 सेज बिली हुई है ॥ २३ ॥ शरदमें संभोजन रास खेनेवाली और अमृते प्रकारसे सुँद रंगनेवाली
 सुरतियों जब यानी राधियोंके साथ बैठती हैं तो आसगमें एक दूसरीके साथ पाते पता काजता है
 कि रातमें कैनेकैसे आनन्द लड़ा गया ॥ २४ ॥ प्रात काल जब सूर्य अपने चरोंसे कमलको जगाहा
 है तब वह कमल सुन्दरी सुरतीके सुरके समान तिल बरता है और जैसे प्रियके परदेस पले
 जानेपर रिशोंकी सुफ्फाहट खरी जाती है वैसे ही चन्द्रमाके दिर जानेपर कौहं तजुषा
 जाती है ॥ २५ ॥ जब वादेसमें गए हुए लीप नीजे कमलोंमें अपनी प्रियतमाकी काञ्ची
 काँचोको सुन्दरता देखते हैं, गान्त हसोंकी चरनिमें उनको सुबहकी करवरीकी रगतुन सनते हैं
 और बन्धुजीवके फूलोंमें उनके निचले जोड़ोंकी चमकती हुई सुन्दरताकी चमक पाते हैं, तब तो वे
 देखते-सब सुष-सुष भूलकर रोने लग जाते हैं ॥ २६ ॥ शरदकी सुन्दर सोमा, यहाँ से चन्द्रमाकी
 चमकको दोहर बियोंके सुँदमें पड़ने गई, यहाँ हसोंकी सीरीं खोली घोषकर उठते रतन जबे बियों-
 में खरी गई है और यहाँ बन्धूक फूलोंकी हाँकीकी दोहर उनके निचले जोड़ोंमें जा चरी है ॥२७॥

विकचकमलवक्त्रा फुल्लनीलोत्पलाची विकसितनवकाशधेतवासो वसाना ।
 कुमुदरुचिरकान्तिः कामिनीयोन्मदेयं प्रतिदिशतु शरद्वधेतसः प्रीतिमग्र्याम् २८
 इति महाकविधीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे शरद्वर्णन नाम तृतीयः सर्गः ॥

भगवान् करें, यह खिले हुए उजले कमलके मुखवाली, फूले हुए नीले कमलकी झिल्लीवाली, सुन्दर
 कोंडूके शरीरवाली और फूले हुए कौंसकी स्याही पहननेवाली जो कामिनोके समान मस्त शब्द मत
 भाई है वह आप लोगोंके मनमें नई-नई उमंगें भरे ॥ २८ ॥

महाकवि धीकालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार काव्यमें शब्दका वचन नामका टीसरा सर्ग समाप्त हुआ ।



चतुर्थः सर्गः

हेमन्तवर्णनम्

नवप्रवालौहमसंस्परम्यः प्रफुल्ललोत्रः परिपक्वशोभिः ।
 विलीनपद्मं प्रपतत्तुषारो हेमन्तकालः समुपागतोऽयम् ॥१॥
 मनोहरैश्चन्दनरागगौरैस्तुषारकुन्देन्दुनिमैश्च हरैः ।
 विलासिनीनां स्तनशालिनीनां नालंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥२॥
 न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति सङ्गं बलयाङ्गदानि ।
 नितम्बविम्बेषु नवं दुकूलं तन्वंशुकं पीनपयोधरेषु ॥३॥
 काञ्चीगुणैः काञ्चनरत्नचित्रैर्नो भूषयन्ति प्रमदा नितम्बान् ।
 न नूपुरैर्हंसकृतं भजद्भिः पादाम्बुजान्यम्बुजकान्भिभाञ्जि ॥४॥
 गात्राणि कालीयकचर्चितानि सपत्रलोखानि मुखाम्बुजानि ।
 शिरसिं कालागुरुधूपितानि कुर्वन्ति नार्यः सुरतोत्सवाय ॥५॥
 रतिभ्रमचामविपाद्यदुष्कृताः संप्राप्तहर्षाभ्युदयास्तरूपयः ।
 हसन्ति नोचैर्दशनाग्रभिन्नान्प्रपीड्यमानानधरानवेद्य ॥६॥

चौथा सर्ग

हेमन्तरा वर्णन

देतो । यह पाला गिरातो दुर्द हेमन्त ऋतु आ गई है, जिसमें गेहूँ, जी आदिके नये-नये भक्तोंके निकल जानेसे चारों ओर सुशायन दिखलाई देने लगा है, जोधके पेश कूलोंसे अद गये हैं, धान पक खला है और कमल दिखलाई नहीं देने ॥ १ ॥ इन दिनों चरखेकी शिर्षा अपने बड़े बड़े गोल गोल स्तनोंपर हिम, कों हैं और चन्द्रमाके समान उगले और सुकुमके रंगमें रंगे हुए मनोहर हार नहीं पहनती हैं ॥ २ ॥ आसकज न हो वे कमिनियों अपनी दोनों भुजाओंपर फगल और भुजबन्ध ही पहनती हैं, न अपने गोल गोल नितम्बोंपर नये रेशमी घद्य ही अपेती हैं और न अपने मोटे मोटे स्तनोंपर महान कपड़े ही धोपती हैं ॥ ३ ॥ और न वे अपने नितम्बोंपर सोने और रत्नोंसे लकी हुई करवनी पहनती हैं, न अपने कमल जैसे सुन्दर पैरोंमें हंसके समान रत्न करनेवाले विदुष ही डालती हैं ॥ ४ ॥ आसकज अपने पतिसे सभोगकी शिपारोमें सुखितियाँ, अपने रातोंपर चन्दन मलती हैं, अपने कमल जैसे सुंदर चनेके प्रकारके बेल-पूटे बनाती हैं और काञ्चागुदका पूर देकर अपने पेश सुगन्धित करती हैं ॥ ५ ॥ सभोगकी घटानसे पीछे और सुरमाए हुए सुखोंवाली सुखितियाँ, हंसकेभी यात्रपर भी यह समककर सुंदर लोखर नहीं देखती कि कहीं प्यारेके पने होंसे बडे हुए चोट हुएने न लगे ॥ ६ ॥ प्रातःकाल धामपर फिरी हुई शीतकी दूँदोंके देखकर ऐसा खगता है मानो सुखितियोंके मोटे-मोटे स्तनोंकी बजकी कृति-

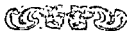
पीनस्तनोरःस्थलभागशोभामावाद्य तत्पीडनजातखेदः ।
 वृषाप्राग्लभैस्तुहिनैः पतद्भिराक्रन्दतीव्रोपसि शीतकालः ॥७॥
 प्रभृतशालिप्रसवैश्चितानि मृगाङ्गनायुधविभूषितानि ।
 मनोहरक्रीञ्चिनादितानि सीमान्तराण्युत्सुक्यन्ति चेतः ॥८॥
 प्रकुञ्चनीलोत्पलशोभितानि सोन्मादकादम्बविभूषितानि ।
 प्रसन्नतोयानि सुशीतलानि सरांसि चैतांसि हरन्ति पुंसाम् ॥९॥
 मार्गं समीक्ष्यतिनिरस्तनीरं प्रधासखिन्नं पतिमुदहन्यः ।
 अवेक्ष्यमाणा हरिखेच्छयाक्षयः प्रबोधयन्तीव मनोरथानि ॥१०॥
 पाकं व्रजन्ती हिमजातशीतैराधूयमाना सततं मरुद्भिः ।
 प्रिये प्रियङ्गुः प्रियविप्रयुक्ता विपाण्डुतां याति विलासिनीव ॥११॥
 पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निःश्वासवातैः सुरभोकृताङ्गः ।
 परस्परान्ध्रवृत्तिपङ्कशापी श्रेते जनः कामरसानुविद्धः ॥१२॥
 दन्तच्छदः सवणदन्तचिह्नैः स्तनैश्च पाण्यग्रकृताभिलेखैः ।
 संस्रव्यते निर्दयमङ्गनानां रवोपमोगो नवपौषनानाम् ॥१३॥
 काचिद्विभूषयति दर्पणसक्तहस्ता चालातपेषु चनिता वननारविन्दम् ।
 दन्तच्छदं प्रियतमेन निपीतसारं दन्ताग्रभिन्नमवकृष्य निरीक्षते च ॥१४॥

बाँवर देखकर सुखपानेवाला हेमन्त, उन स्तनोंको प्रेमियोंके हाथोंसे गले जाते देखकर दुखी होकर खींचू बहा रहा हो ॥ ७ ॥ गाँवके बाहर जिन खेतोंमें भरपूर धान जहलहा रहा है, हरिणियोंके मुँहके मुँह चीकड़ियोंभर रहे हैं और सारस बोल रहे हैं, उन खेतोंको देखकर मन हायसे निकल जाता है ॥ ८ ॥ जिन तालोंमें खिले हुए नीले कलम फैले हुए हैं, मधु कलहंस इधर-उधर तैर रहे हैं और ठंडा निर्मल जल भरा हुआ है, उन्हें देखकर लोगोंका जो शिल्प बढता है ॥ ९ ॥ जिनके पति परदेस गये हैं, वे मृगनयनी स्त्रियों जब सूखे हुए मार्गको देखती हैं तो परदेसमें पड़े हुए अपने दुखी पतियोंके आनेका याद जोहता हुई यह सोचती हैं कि जब हमारे पति आवेंगे, तब हम यों मिलेंगी, यों बातें करेंगी और यों रुटेंगी ॥ १० ॥ हे प्यारी ! पाखंडे मार्ग ठंडो वायुसे झिलती हुई यह पक्षी हुई प्रियङ्गुकी लता, देखी हो पीली पड़ गई है जैसे अपने पक्षिसे अलग होनेपर युवती पीली पड़ जाती है ॥ ११ ॥ फूलोंके गंधकी भीनी और मीठी सुगंधवाले मुँहसे मुँह खगल कर और सौखिंदे सुगन्धित अंगोंसे अंग मिलाकर सब स्त्री पुरुष एक दूसरेसे खिपटकर संभोग करते हुए सोते हैं ॥ १२ ॥ इस समय प्यारोंने नवयुवतियोंके ओठोंपर दाँतसे घाव कर दिये हैं और उनके स्तनोंपर अपने नपोंसे चिह्न बना दिए हैं इससे प्यार उभका जी-जानसे संभोग कर रहे हैं यह पता चल रहा है ॥ १३ ॥ देलो ! पक्षी, हाथमें दर्पण खिप हुए प्रातःकालकी धूपमें धैरी अपने फलल जैसे मुँहका सिंगार कर रही है और अपने जिन ओठोंका प्यारने रस पी लिया है और जिनपर प्यारके दाँतोंके घाव बने हुए हैं, उन ओठोंको खींच-खींचकर

अन्या प्रकामसुरतश्चमखिन्नदेहो रात्रिप्रजागरविपाटलनेत्रपद्मा ।
 स्रस्तांसदेशलुलितकुलकेशपाशा निद्रां प्रयाति मृदुसूर्यकरामिता ॥१५॥
 निर्मल्यदाम परिभुक्तमनोज्ञगन्धं मूर्ध्नाऽपनीय घननीलशिरोरुहान्ताः ।
 पीनोन्नतस्तनभरानतगात्रयष्टयः कुवन्ति केशरचनोमपरास्तरुषयः ॥१६॥
 अन्या प्रियेण परिभुक्तमवेक्ष्य गात्रं हर्षान्विता विरचिताधरचारुशोभा ।
 कूर्पासकं परिदधाति नखलताङ्गी व्यालम्बिनोलललितालककुञ्चिताक्षी ॥१७॥
 अन्याश्विरं सुरतकेलिपरिश्रमेण खेदं गताः प्रशिशिलीकृतगात्रयष्टयः ।
 संहृष्यमाणपुलकोरुपयोधरान्ता अभ्यञ्जनं विदधति प्रमदाः सुशोभाः ॥१८॥
 बहुगुणरमणीयो योषितां चित्तहारी परिखतबहुशालिव्याकुलप्रामसीमा ।
 विनिपतिततुषारः क्रौञ्चनादोपगीतः प्रदिशतु हिमयुक्तस्त्वेप कालः सुखं वः ॥१९॥
 इति महाकविश्रीकालिदासकृतौ ऋतुसंहारे हेमन्तवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥

देख रही है ॥ १७ ॥ अत्यन्त संभोगसे थक जानेके कारण एक दूसरी स्त्रीकी कमल जैसी आँखें रातभर जागनेसे लाल हो गई हैं, उसके कंधे कुन्न गए हैं, उसके बाल दृवर-दृवर बिलर गए हैं और यह प्रातःकालके सूर्यकी कोमल किरणोंमें धूप खाती हुई सो गई है ॥ १५ ॥ छान्ने, काले और घने केशोंवाली जिन स्त्रियोंके शरीर, मोटे और ऊँचे स्तनोंके कारण फुफू गये हैं, वे अपने सिरसे वह मुरझाई हुई मात्सा उतार रही हैं जिसकी मधुर सुगन्धका आनन्द वे रातमें ले चुकी हैं और फिरसे अपने बालोंकी सँवार रही हैं ॥ १६ ॥ नखोंके धारोंसे भरे हुए भंगोंवाली और खटकती हुई सुन्दर घलकोंसे ढकी हुई आँसोंवाली एक दूसरी स्त्री, अपने प्वातेसे उपमोना किए हुए शरीरको देख-देखकर थकी मग्न होती हुई अपने अर्पणोंके फिर पहलेकी नई सुन्दर बनाकर अपनी खोजी पहनने लगी है ॥ १७ ॥ इसी प्रकार बहुत देरतक संभोग करते-करते जो युवतियाँ थक गई हैं, जिनके कोमल और लचकलीले शरीर लीले पड़ गए हैं और जिनकी जर्धों और स्तनोंपर रोमाञ्च हो गया है, वे युवतियाँ धेरी अपने शरीरपर ठेक मलवा रही हैं ॥ १८ ॥ भगवान् भरे यह हेमन्त ऋतु आपकी सुख दे जो अपने अनेक गुणोंसे मनकी मुग्ध करनेवाली और स्त्रियों के वित्तको लुप्तानेवाली है, जिसमें सर्जोंके आस-पास पके हुए धानोंके सेत सहस्रहाते हैं, पाजा गिरता है और सास चोत्रवे हैं ॥ १९ ॥

महाकवि श्रीकालिदासके १९९ ऋतुसंहार काव्यमें हेमन्तवर्णन नामका चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।



पञ्चमः सर्गः

शिशिर-वर्णनम्

प्ररूढशालीक्षुचयावृतचिति क्वचित्स्थितकौञ्चनिनादराजितम् ।
 प्रकामकामं प्रमदाजनप्रियं बरोरु कालं शिशिराह्वयं शृणु ॥१॥
 निरुद्धवातायनमन्दिरोदरं हुताशनो भानुमतो गमस्तय ।
 गुरुणि चामांस्यचलाः सथौचनाः प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम् ॥२॥
 न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम् ।
 न वापनः सान्द्रतुपासशीतला जनस्य चिचं रमयन्ति सांप्रतम् ॥३॥
 तुपाससंघातनिपातशीतलाः शशाङ्कमामिः शिशिरीकृताः पुनः ।
 विपाण्डुतारामण्यचारुभूपण्या जनस्य सेव्या न भ्रमन्ति रात्रयः ॥४॥
 गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः ।
 प्रकामकालागुरुभूपनासितं निशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः ॥५॥
 कृतापराधान्वहुशोऽमितजितान्सवेपथून्साध्यसल्लुप्तचेतसः ।
 निरोक्ष्य भतु न्मुरतामिलापिथ स्त्रियोऽपराधान्समदा विसस्मरुः ॥६॥

पाँचवाँ सर्ग

शिशिरका वर्णन

हे सुन्दर ज्योंवाली ! सुनो, जिस प्रातुमें धान और ईसके खेत भर जाते हैं, जिसमें कभी-कभी सारसकी बोली भी गूँज जाती है और काम भी बहुत बढ़ जाता है, वह स्त्रियोंकी प्यारी शिशिर श्रुति या पटुणी है ॥ १ ॥ धानकल लोग अपने घरोंके भीतर सिक्कियाँ बंद करके, श्याग तापकर, घूप धारकर, मोटे मोटे कपड़े पहनकर और सुवती स्त्रियोंसे जिएठकर दिन बिताने हैं ॥ २ ॥ इन दिनों न किलीकी चन्द्रमाकी किरणोंसे ठटका हुआ चन्द्र ही अगम्य लगता है न शरदके चन्द्रमाके समान निर्मल छत्रें गुहाती हैं, न पानी ओससे ठहा बना हुआ वायु ही मनकी माता है ॥ ३ ॥ इन दिनों घने पाखेसे कड़कड़ाते जाइँवाली, चन्द्रमाकी किरणोंसे और भी ठही पनी हुई और पीले-पीले तारोंवाली रातोंमें कोई भी बाहर नहीं निकलता ॥ ४ ॥ कुलोंके भासव पीनेसे जिनका कमल-नीला मुँह सुगन्धित हो गया है वे स्त्रियोंपान खाकर, फुलेल लगाकर और साजाएँ पहनकर, काले अंगरके धूपसे महकनेवाले अपने शयन घरोंमें बड़े चावसे खली जा रही हैं ॥ ५ ॥ मदमाती स्त्रियोंने अपने जिन पतिपोंको अपराध करनेपर दौटा फटकारा था । वे जब कर्षते हुए और बरसे धराराए हुए उनके पास सम्भोग करनेके लिये आते हैं तो उनके देखते ही वे स्त्रियों उनका राय अपराध भूँकर उनसे सम्भोग करने लगती हैं ॥ ६ ॥ जिन नवयुव-तियोंने सुककोंके साथ धानकलकी खन्धी रातोंमें बहुत देरतक जी भरकर और क्लक सम्भोग

प्रकामकामैर्युवभिः सुनिर्दयं निशासु दीर्घास्वमिरामिताधिरम् ।

अमन्ति मन्दं श्रमखेदितोरवः क्षपावसाने नवयौवनाः स्त्रियः ॥७॥

मनोजरूपीसकपीडितस्तनाः सरागकौशेषकभूपितोरवः ।

निवेशितान्तःकुसुमैः शिरोरुहैर्विभूषयन्तीव हिमागमं स्त्रियः ॥८॥

पयोधरैः कुङ्कुमरागपिञ्जरैः सुस्रोपसेव्यैर्नवयौवनोष्मभिः ।

विलासिनीभिः परिपीडितोरसः स्वपन्ति शीतं परिभूय कामिनः ॥९॥

सुगन्धिनिःश्वासविकम्पितोत्पलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकम् ।

निशासु हृद्य सह कामिभिः स्त्रियः पिवन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम् ॥१०॥

अपगतमदरागा योषिदेका प्रभाते कृतनिविडकुचाग्रा पत्युरालिङ्गनेन ।

प्रियतमपरिभुक्तं वीक्षमाणा स्वदेहं व्रजति शयनवासाद्वासमन्यं हसन्ती ॥११॥

अगुरुसुरभिधूपामोदितं केशपाशं गलितकुसुममालं कुञ्चिताग्रं वहन्ती ।
 त्यजति गुरुनितम्बां निम्नानाभिः सुमध्या उपसि शयनमन्या कामिनो चारुशोभा ॥१२॥

कनककमलकान्तैश्चारुताग्राधरोष्ठैः श्रवणतटनिपक्तैः पाटस्रोपान्तनेत्रैः

उपसि चदनविम्बैरसंससक्तकेशैः श्रिय इव गृहमप्ये संस्थिता योपितोऽथ ॥१३॥

आमन्द खटा है, वे स्त्रियाँ, रातके परिध्रमसे तुल्यता हुई जॉयोंके कारण प्रातःकाल बड़े धीरे-धीरे चल रही हैं ॥ ७ ॥ सुन्दर बोलियोंसे अपने स्तन कसे हुए, जॉयोंपर रेशमों कपड़े पहने हुए और बाजोंमें फूल-गूँथे हुए दिव्यों ऐसी लग रही हैं मानो जाड़ेके रजागतका उत्सव मनानेके लिये सिंगार कर रही हों ॥ ८ ॥ इन दिनों प्रेमी लोग केसरसे रंगे हुए छात्र स्तनोंवाली और सुगन्धे लुट्टी जानेवाली जवानोंकी गर्मीति भरी हुई कामिनियोंकी कसरत स्तनोपे लिये लगे हुए जाड़ा भगाकर खोते हैं ॥ ९ ॥ इन दिनों दिव्यों बड़े हर्षसे अपने प्रेमियोंके साथ रातको, रुचिकर, यद्विवा, मद्य पहानेवाली और काम-वासना जगानेवाली वह मदिरा पीती हैं, जिसमें बड़े हुए कमल, उन कामिनियोंकी सुगन्धित सोंससे घराघर दिङ्गते रहते हैं ॥ १० ॥ देखो ! प्रातःकाल होनेपर एक ही अपने प्रियतमसे उपगोचर किए हुए अपने शरीरको देखती हुई अपने शयन घरसे दूसरे घरमें जाती आ रही है । इस समय इसके सुँतपर मदर्की छाया भी नहीं रह गई है और पतिकी छायासे छने रहनेके कारण उसके स्तनोंकी सुनिहरी भी कड़ी हो गई है ॥ ११ ॥ एक दूसरी भारी नितम्बोंवाली, गहरी नाभिवाली, लचकदार कमरवाली और मनमायनी सुन्दरतावाली स्त्री चगरके छुपेमें बसी हुई अपनी मिला माझावाली घनी छुँपराकी छटाके धामे प्रातःकाल पलंग छोड़कर उठ रही है ॥ १२ ॥ इन दिनों प्रातःकालके समय जियोंके सुन्दर खाल छात्र भोजोंवाले, छात्र कंठोंसे सारां हुई यषी-बड़ी चारोंवाले, कंठोपर फिरे हुए बाजोंवाले और सुगन्धे कमरके समान पतकनेवाले गोल-गोल मुण्डोंकी देण्डा देता जगता है मानो पर घरमें खचमां या बपी हों ॥ १३ ॥ अपने मोठे नितम्बोंके बोझने दुर्गा अपने स्तनोंके बोझने सुधी हुई कनापाकी और पचनेके कारण बहुत धीरे-धीरे चलनेवाली बहुतही जियों

पृथुजघनमरात्रीः किंचिदानम्रमध्याः स्तनमरपरिखेदान्मन्दमन्दं व्रजन्त्यः ।
सुरतसमयवेषं नैशमाशु प्रहास्य दधति दिवसयोग्यं वेपमन्यास्तरुण्यः ॥१४॥
मखपदचितभागान्वीचमाद्याः स्तनान्तानधरकिमलयात्रं दन्तमिन्नं स्पृशन्त्यः ।
श्रमिमतरतवेषं नन्दयन्त्यस्तरुण्यः सवितुरुदयकाले भूपयन्त्याननानि ॥१५॥
प्रचुरगुहविकारः स्वादुशालीभुरम्यः प्रवलसुरतकेलितजितकन्दर्पदर्पः ।
प्रियजनरहितानां चित्तसंतापहेतुः शिशिसमय एष श्रेयसे वोऽस्तु नित्यम् ॥१६॥
इति महाकविधीकालिदासविरचिते ऋतुसंहारकाव्ये शिशिरवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥

रातके संभोगवाद्ये वपु उच्चार उच्चारकर दिनमें गहनने वाले कंधे पड़न रही हैं ॥ १४ ॥ अपने प्यारेके नहोंके धार्यसे भरी अपनी छाती देखती हुई प्यारेके दर्तसे काटे हुए अपने कोंपलोकें समान कीमल अर्थोंको छूती हुई और हस प्रकार अपने मनवादे संभोगके वेशपर खिन्नखिजाती हुई फिरवाँ प्रातः काल अपने मुँह समा रही हैं ॥ १५ ॥ जिस शिशिर ऋतुमें मिठाहूयों बहुतायतसे मिलती हैं, स्वाद खानेवाले चावल और ईस चारों ओर मुहाने हैं, लोग बहुत संभोग करते हैं, कोंपलके भी पूरे वेगसे बढ़ जाता है और प्यारोंके चित्तों अनेके दिन कानेवाले लोगों मुँह मसोसकर रह जाते हैं यह शिशिर ऋतु थाप लोगोंका भला करे ॥ १६ ॥

महाकवि, श्रीकालिदासके रचे हुए ऋतुसंहार काव्यमें शिशिर ऋतुका वर्णन नामका पंचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



षष्ठः सर्गः।

वसन्त-वर्णनम्

प्रफुल्लचूताङ्कुरतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्भ्रुवुष्णः ।
 मनांसि भैतुं सुरतप्रसङ्गिनां वसन्तयोद्धा सप्तपागतः प्रिये ॥ १ ॥
 द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः ।
 सुप्ताः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वे प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥ २ ॥
 ईषत्तुपारैः कृतशीतहर्म्यः सुवासितं चारु शिरश्च चम्पकैः ।
 कुर्वन्ति नायोंऽपि वसन्तकाले स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः ॥ ३ ॥
 वापीजलानां मणिमेखलानां शशाङ्कभासां प्रमदाजनानाम् ।
 चूतद्रुमाणं कुसुमान्वितानां ददाति सौभाग्यमयं वसन्तः ॥ ४ ॥
 कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बविम्बानि विलासिनीनाम् ।
 तन्वंशुकैः । कुङ्कुमरागमौरैरलक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥ ५ ॥
 कर्णेषु योग्यं नवकरिंकारं चलेषु नीलेष्पलकेष्पशोक्म् ।
 पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम् ॥ ६ ॥
 स्तनेषु हाराः सितचन्दनार्द्रा भुजेषु सङ्गं बलपाद्मदानि ।
 प्रयान्त्यनङ्गातुरमानसानां नितम्बिनीनां जघनेषु काञ्चनः ॥ ७ ॥

छठा सर्ग

वसन्तऋतु वर्णन

ओ प्यारी ! फूलों हुए आमची मन्जरिय के पीने बाण लेकर और अपने धनुषपर मौलोंकी पौतोंकी डोरी बड़ाकर और वसन्त संभोग करनेवाले रसिकोंको देखने का पहुँचा है ॥ १ ॥ देखो प्यारी ! वसन्तके आने ही सब वृक्ष फूलोंसे लद गए हैं, जलमें कमल खिल गए हैं, स्त्रियाँ मत्तवासी हो गई हैं, हाथमें सुगन्ध आने लगी है, सबमें सुहावनी हो चली है और दिन सुहावने हो गए हैं । सपुष्प सुन्दर वसन्तमें सब कुछ सुहावना लगने ही लगता है ॥ २ ॥ वसन्तमें पौतोंकी सुप्तापर टंडो घीस सा गई है, अपनेके फूलोंसे सबके जूड़े महकने लगे हैं और स्त्रियाँ भी अपने स्तनपर मनोहर फूलोंकी मालाएँ पहनने लगी हैं ॥ ३ ॥ वसन्तके आनेसे बाणदियोंके जल, मणियोंसे जकी करपनियों, चाँदनी, स्त्रियाँ और गन्धरीसे सरी आमोंकी टालें सब और भी सुहावने लगने लगी हैं ॥ ४ ॥ कामिनियोंने अपने गोल गोल निगम्योंपर गुसुमके लाख फूलोंसे रंगी रसमी सारी पहन ली है और सभोंपर केसरमें रंगी हुई महान कपड़ोंकी चोली पहन ली है ॥ ५ ॥ स्त्रियोंके कानोंमें खरके हुए सत्रोके कनैठके वृक्ष वने सुहावने दिगाई पड़ रहे हैं और उनकी चंचल, काशी, सुँधराकी अरोंमें अशोकके वृक्ष और गव मल्लिकाकी गिरी हुई कश्चियाँ बरी सुहावनी लगने लगी हैं ॥ ६ ॥ अपने घेरीके संभोग करनेकी वतावली कामियोंने अपने रसमोंपर धीके चन्दनकी भींगी हुए मौतोंके

सपत्रलेखेषु विलासिनीनां वक्त्रेषु हेमाम्बुरुहोपमेषु ।

रत्नान्तरे मौक्तिकसङ्गरम्यः स्वेदागमो विस्तरतामुपैति ॥ ८ ॥

उच्छ्वासपन्त्यः श्लथवन्धनानि गात्राणि कंदर्पसमाकुलानि ।

समीपवर्तिष्वधुना प्रियेषु समुत्सुका एव भवन्ति नार्यः ॥ ९ ॥

तन्नि पाण्डूनि मदालसानि मुहुर्मुहुर्जृम्भणवत्पराणि ।

अङ्गान्यनङ्गः प्रमदाजनस्य करोति लावण्यससंभ्रमाणि ॥ १० ॥

ध्यायां जनः समभियाञ्छति पादपानां नक्तं तथेच्छति पुनः किरणं सुधांशोः ।

हर्म्यं प्रयाति शयितुं सुखशीतलं च कान्तां च गाढमुपगूहति शीतलत्वात् ॥ ११ ॥

नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु ।

मध्वेषु निम्नो जवनेषु पीनः स्त्रीषामनङ्गो बहुधा स्थितोऽद्य ॥ १२ ॥

अङ्गानि निद्रालसविभ्रमाणि वाक्यानि किञ्चिन्मदिरालसानि ।

असूषजिह्वानि च वीचितानि चकार कामः प्रमदाजनानाम् ॥ १३ ॥

बार पहन लिए हैं, हाथोंमें भुजबन्ध और कंगन डाल लिए हैं और अपने नितम्बोंपर करवनी बाँध ली है ॥ ७ ॥ सुनहरे कमलके समान सुदावने और बेजबूदे बाँवे हुए खियोंके गुलोंपर कैजो हुई पसीनेकी धूँई ऐसी दिखार्द पवती हैं मागो अनेक प्रकारके रत्नोंके बीच बहुतसे मोती जड़ दिए गए हैं ॥ ८ ॥ कामवासनासे पाँदित स्त्रियों अपने प्रेमियोंके सामने अपने शंग उघाड़ती हुई उन्हें लाजवा भी रही हैं और अपनी भवोरता भी दिख रही हैं ॥ ९ ॥ इन दिनों स्त्रियोंमें इतनी काम-वासना भर आती है कि उनके शंग हुयले और पीले पड़ जाते हैं, वे मरसे भ्रमसाई-सी हो जाती हैं बार-बार जँमाईयाँ लेती हैं और उनके सारे शरीरमें कुछ अनोखा ही रसीलापन था जाता है ॥ १० ॥ इन दिनों लोग दिनमें तो गृहोंकी अधिक छायामें रहना चाहते हैं और रातमें चन्द्रमाकी किरणोंका आनन्द लेना चाहते हैं । सोनेके ब्रिये सुहाबनो ठंडो कोठीमें पहुँच जाते हैं और थोड़ी-थोड़ी ठंड पढ़नेके कारण अपनी प्यारियोंको कलकर झटकीसे लिपटाए रहते हैं ॥ ११ ॥ इन दिनों कामदेव भी खियोंकी मदमाती आँसोंमें चञ्चलता बनकर, उनके गालोंमें पीलापन बनकर, स्तनोंमें कठोरता बनकर, कमरमें गहरापन बनकर, और नितम्बोंमें मोटापा बनकर था बैठा है ॥ १२ ॥ कामसे स्त्रियाँ भ्रमसा जाती हैं, मदसे उनके चलना-बोलना भी कठिन हो जाता है और देनी मोक्षसे उनकी चितवन वर्षा कठीनी लगती है ॥ १३ ॥ मदसे आलताई हुई रसीली स्त्रियाँ लिपट,

प्रियङ्गुशालीपककुङ्कुमाक्तं स्तनेषु गौरेषु विलासिनीमिः ।
 आलिप्यते चन्दनमङ्गनाभिर्मदालसाभिर्मृगनाभिसुक्तम् ॥१४॥
 गुरुणि वासांसि विहाय तूर्यं तनूनि लाङ्कारसरञ्जितानि ।
 सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्ते जनः काममदालसाङ्गः ॥१५॥
 पुँस्कोकिलश्रूतरसासवेन मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः ।
 कूजद्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु ॥१६॥
 ताम्रप्रवालस्तम्बकावनम्राश्रूतद्रुमाः पुष्पितचारुशाखाः ।
 कुर्वन्ति कामं पचनावधूताः पर्युत्सुकं मानसमङ्गनानाम् ॥१७॥
 आ मूलतो विद्रुमरागताम्रं सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः ।
 कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं निरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम् ॥१८॥

मत्तद्विरेफपरिचुम्बितचारुपुष्पा .

मन्दानिलाकृतितनम्रमृदुप्रवालाः ।

कुर्वन्ति काममनसां सहसोत्सुकत्वं वाला-

तिमुक्तलतिकाः समवेक्ष्यमाणाः ॥ १९ ॥

फालोपक और केसरके धोजमें कस्तूरी मिलाकर अपने गौरे-गौरे स्तनोंपर चन्दनका छेप कर रही हैं ॥१४॥ इन दिनों कामदेवके मदर्में अलसाई हुई प्रिया अपने मोटे चरित्र उतारकर महापारसे रंगे हुए और कालागुरुके धूपसे सुगन्धित किए हुए महीन कपड़े पहनती हैं ॥ १५ ॥ देखो ! यह नर कोपल भ्रामरी मञ्जरियोंके रत्नों में मत्त मत्त होकर अपनी प्यारीको बड़े प्रेमसे प्रसन्न होकर चूम रहा है । कमलपर बैठकर गुनगुनाता हुआ यह भौरा भी अपनी प्यारीको मरवाहा काम कर रहा है ॥ १६ ॥ लाल-लाल कोपलोंके गुच्छोंसे लुके हुए और सुन्दर मञ्जरियोंसे लड़ी हुई शालीप-वाले भ्रामके पैर जय पवनके झोंकेमें हिलने लगते हैं तो उन्हें देख-देखकर जियोंके मन बड़बने लगते हैं ॥ १७ ॥ अशोकके जिन वृक्षोंमें कोंपलें फूट निकली हैं और जिनमें मूने जैसे लाल-लाल फूल मोचेते ऊपरतक खिल गए हैं उन अशोकके वृक्षोंकी देखते ही नवयुवतियोंके हृदयमें शोक होने लगता है ॥ १८ ॥ जिन छोटी-छोटी अतिमुक्त लताओंके फूलोंको मलवाले गौरि चूम रही हैं और जिनके गये कोमल पत्ते मन्द-मन्द पवनमें झूझ रहे हैं, उन्हें देख-देखकर कामियोंका मन अचानक उँस-होख हो जाता है ॥ १९ ॥ हे प्यारी ! अपनी लिये हुए और जियोंके मुखके समान सुन्दर

कान्तामृगघृतिजुषामचिरोद्गतानां

शोभां परां कुरवकद्रुममञ्जरीणाम् ।

दृष्ट्वा प्रिये सहृदयस्य भवेन्न कस्य

कंदर्पचाणपतनव्यथितं हि चेतः ॥२०॥

आदीप्तवह्निसद्यश्चैर्मरुताऽवधूतैः

सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः ।

सद्यो यसन्तसमयेन समाचितेयं

रक्तांशुना नववधूरिव भाति भूमिः ॥२१॥

किं किंशुकैः शुकमुखच्छविभिर्न मित्रं

किं कर्षिकारकुलुभैर्न कृतं तु दग्धम् ।

यत्कोकिलः पुनरयं मधुरैर्वचोभि-

र्युनां मनः सुवदनानिहितं निहन्ति ॥२२॥

पुंस्कोकिलैः कलवचोभिरुपात्तद्वै

कूजद्विरुन्मदकलानि वचांसि भृङ्गैः ।

लज्जान्वितं सविनयं हृदयं क्षणेन

पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम् ॥२३॥

जगनेवाले कुरवकके फूलोंकी मनोली शोभा देखकर किम रसिकका मन कामदेवके पाणसे धायल नहीं हो जाता ॥ २० ॥ बचन्तके विनोम पवनके मोंकेसे हिलती हुई जिन परासके मुल्लोंकी फुली हुई शाय्याय अल्लती हुई आगकी जपटोंके समान दिखार्ई देती हैं, ऐसे परासके जगल्लोंसे लकी हुई पृथ्वी ऐसे लय रही है मानो क्षाल साकी पहने हुए कोई नई हुजहिन हो ॥ २१ ॥ अयनी प्यारियोंके मुल्लोंपर सीके हुए प्रेमियोंके हृदयकी सुगंधकी ठोरके समान लाल देखके फूलोंने ही कुज कम दूक दूक कर खला था या कनैरके फूलोंने कुज कम जला रखा था कि वह कोयल भी अपनी मीथे फूक सुवा सुनाकर उन्हें और मार टाकनेपर डतारु हो रहो है ॥ २२ ॥ मगत होकर मीथे स्वरमें फूकनेवाले नर कोयलोंने और मरतोसे गूंगते हुए मीरोंने सती लियोंके लाल और भयादा भरे हृदयोंकी भी थकी देरके लिये अधीर कर दिया है ॥ २३ ॥ वसन्तमें पाला तो पत्ता नहीं दे, इसलिये आबकल मञ्जरियोंसे लदी आमकी टालोंकी दिखानेवाला और कोयलने संदेशोंकी चारों ओर

आरुम्पयन्कुसुमिताः सहकारशाखा
 विस्तारयन्परभृतस्य वचांसि दिक्षु ।
 वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां
 नीहारपातविगमात्सुभगो वसन्ते ॥ २४ ॥
 कुन्दैः सविभ्रमवधूहसितावदातै-
 रुद्योतितान्पुपवनानि मनोहराणि ।
 चित्तं मुनेरपि हरन्ति निवृत्तरागं
 प्रागेव रागगलिनानि मनांसि यूनाम् ॥ २५ ॥
 आलम्बिहेमरसनाः स्तनसक्तहाराः
 कंदर्पदर्पशिथिलीकृतगात्रयष्टयः ।
 मासे मधौ मधुरकोकिलमृङ्गनादै-
 र्नायै हरन्ति हृदयं प्रसभं नराणाम् ॥ २६ ॥
 नानामनोज्ञकुसुमद्रुमभूषितान्ता-
 न्दृष्टान्पुष्टनिजदाबुलसानुदेशान् ।
 शैलेयजालपरिखट्टशिलातलान्ता-
 न्दृष्टोजनः चित्तिभृती मुदमेति सर्वः ॥ २७ ॥

कैजानेवाजा सुन्दर वसन्ती पवन लोमोंका मन हरता दुष्टा यद् रदा है ॥ २४ ॥ कामनियोंकी
 मस्तानी हँसोके समान उजले कुन्दके फूलोंसे चमकते हुए मनोहर उपवन जब मोह मावासे हर
 रहनेवाले मुनियों तकका मन हर लेते हैं फिर नवयुवकोंने प्रेमी हृदयकी तो बात ही क्या ?
 ॥ २५ ॥ चित्तमें जब कोयल वृद्धने जगती है, भँरे मृङ्गने जगते हैं, उस समय कमरमें
 सोनेकी करधनी बाँधे, स्तनोंपर मोताँके हार लगाए और कामकी उरोजनसे कीले
 शरीरवाली छियाँ बलपूर्वक लोमोंका भर चपनाँ और खींच लेती हैं ॥ २६ ॥ जिन पर्वतोंकी
 चोटियोंके और छोरपर सुन्दर वृद्धोंके वेद स्पष्ट हैं, जिनपर कोयलोंकी वृक और मीलोंकी गूँज सुनाई
 दे रही है और जिनपर अहागें पैली हुई हैं, उन पर्वतोंके पहाड़ोंको देख देखकर सयकी आत्मन्द मिथका
 ! ॥ २७ ॥ चपनाँ छियाँसे वृ रहनेके कारण जिनका भी पियेन हो रहा है वे चानी जब मन्त्रियोंसे

नेत्रे निमीलयति रोदिति याति शोकं

प्राणं करेण विरुषद्भिर्विरैति चोद्यैः ।

कान्तावियोगपरिखेदितचिचवृत्ति-

ईद्राऽध्वगः कुसुमितान्सहकारवृद्धान् ॥ २८ ॥

समदमधुकरायां कोकिलानां च नादैः

कुसुमितसहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः ।

इषुमिरिव सुतीक्ष्णैर्मानसं मानिनीनां

तुदति कुसुममासो मन्वयोदीपनाय ॥ २९ ॥

रुचिरकनककातीन्धुञ्चतः पुष्पराशी-

न्मृदुपवनविधूतान्पुष्पितांश्चूतवृद्धान् ।

श्रमिमुखममिबीक्ष्य क्षामदेहोऽपि मार्गे

मदनशरनिघातैर्मोहमेति प्रवासी ॥ ३० ॥

परभृतकलगतीतैर्हृदिभिः सद्गचांसि

स्मितदशनमपूखान्कुन्दपुष्पप्रभाभिः ।

करकिसलयकान्ति पल्लवैर्विन्दुमाभै-

रुपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम् ॥ ३१ ॥

‘लदे हुए क्षामके पेशोंको देखते हैं तो अपनी झोंल बन्द करके रोते हैं, पड़ताते हैं, अपनी नाक बन्द कर लेते हैं कि कहीं मज्जरियोंकी सोनी-भीनी महक नाकमें पहुँचकर खीकी याद न दिला दे और फूट-फूटकर रोने लगते हैं ॥ २८ ॥ कोयल और मदनमाते मीतोंके स्वराँसे गूँजते हुए यीरे हुए क्षामके पेशोंसे भरा हुआ और मनोहर कनैरके फूलोंवाले अपने पीने बाँधोंले यह वसन्त मानिनी क्षियोंके मन हसलिये धींधि रहा है कि उनमें प्रेम जग जाय ॥ २९ ॥ परदेसमें पढ़ा हुआ वध्वी एक तो यों ही विद्योहसे दुबला-पतला हुआ रहता है तिसपर जब यह मन्द-मन्द यहनेवाले पवनके झोंकेसे हिलते हुए और सुन्दर सुनहले और गिरानेवाले, यीरे हुए क्षामके वृषोंको अपने सामने मार्गमें देखता है तो यह क्षामदेवके बाँधोंकी थोट खाकर नूर्जित होकर गिर पड़ता है ॥ ३० ॥ इस समय जी हुलसानेवाले कोकिलके शोत सुना सुनाकर यह वसन्त, सुन्दरियोंकी रसभरी यातोंकी खिरली बर्षा रहा है । अपने कुन्दके फूलोंकी चमक दिखाकर यह वसन्त शिभ्रोंकी सुसकानपर चमक उठनेवाले होंतोंकी, दमककी



द्वितीयं खण्डम्

महाकविश्रीकालिदासस्य
नाटकानि

महाकवि श्रीकालिदासके
नाटक

कनककमलकान्तैराननैः पाण्डुगण्डै-

: रुपरिनिहितहारैश्चन्दनाद्रैः स्तनान्तैः ।

मदजनितविलासैर्दृष्टिपातैर्मुनीन्द्रा-

न्स्तनभरनतनार्यः कामपन्ति प्रशान्तान् ॥ ३२ ॥

मधुसुरमि मुखाब्जं लोचने लोघ्रताम्रे

नवकुलपकपूर्यः केशपाशो मनोज्ञः ।

गुरुतरकुचयुग्मं श्रोणिभिन्वं तथैव

, न भवति किमिदानीं योपितां मन्मथाय ॥ ३३ ॥

आकम्पितानि हृदयानि मनस्विनीनां

वातैः प्रफुल्लसहकारकृताधिवासैः ।

उत्कृजितैः परभृतस्य मदाकुलस्य

श्रोत्रप्रियैर्मधुकरस्य च गीतनादैः ॥ ३४ ॥

रम्यः प्रदोषसमयः स्फुटचन्द्रमासः

पुंस्कोकिलस्य विरुतं पवनः सुगन्धिः ।

मत्तालियूथविरुतं निशि सीधुधानं

सर्वं रसायनमिदं कुसुमाधुधस्य ॥ ३५ ॥

॥ ३ ॥ १ ॥ १ ॥

हंसो उड़ा रहा है और मूँगे जैसी जाल जाल कोमल पत्तोंकी जजार्ह दिखाकर उन कामिनियोंकी कोंपलों जैसी कोमल और जाल हथेलियोंकी जजा रहा है ॥ ३१ ॥ स्तनोंके बोझसे हृकी हुई जियाँ अपने स्वयं कमलके समान सुगहरे गालोंवाले मुँहसे, गीले चन्दनसे घुसे और भोतियोंके हार परे हुए स्तनसे और मतवाली चंचलता भरी चितवनसे, शान्त चित्तवाले तपस्वियोंका मन भी जिया देती हैं ॥ ३२ ॥ आसवसे महकता हुआ शिरोका कमलके समान मुख उनकी खोप जैसी जाल जाल थीं, नए कुरबकके फूलोंसे सजे हुए उनके सुन्दर जूड़े, उनके बड़े बड़े गोल-गोल स्तन जैसे हो पड़े-पड़े गोल-गोल नितम्ब पदा लोगोंके मनमें कामदेवके नहीं जगा रहे हैं ॥ ३३ ॥ और हुए आमके पेड़ोंमें बसे हुए पवनसे मदमस्त होनेवाले कोकिलकी वृक्ते और भीरोंकी मन-भाषणी गुजारोंसे मनस्विनी स्त्रियोंके मन भी दिग जाते हैं ॥ ३४ ॥ कुसावनी साँभे, जिरकी औरनी, कोयलकी वृक्, सुगन्धित पवन, सतवाले भीरोंकी गुंजार और रातमें आसव पीना, दे-सब

रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मचद्विरेफस्वनः

कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः प्रोत्फुल्लपद्माननः ।

चूतामोदसुगन्धिमन्दपवनः शृङ्गारदीनागुरुः

कल्पान्तं मदनप्रियो दिशतु वः पुष्पागमो मङ्गलम् ॥ ३६

मलयपवनविद्धः कोकिलालापरम्पः

सुरमिमधुनिपेकान्जलब्धगन्धप्रवन्धः ।

विविधमधुपयूथैर्वैष्टयमानः समन्ता-

द्भवतु तव वसन्तः श्रेष्ठकालः सुखाय ॥ ३७ ॥

आम्री मञ्जुलमञ्जरी वरशरः सत्किशुकं यद्भु-

ज्या यस्यालिकुलं कलङ्करहितं छत्रं सितांशुः सितम् ।

मत्तेभो मलयानिलः परभृता यद्दन्दिनो लोकजि-

त्सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः ॥३८॥

इति महाकविभ्रीकालिदासविरचिते ऋतुसंहारकाव्ये वसन्तपर्यायं नाम पष्ठः सर्गः ।

कामदेवको जगाए रखनेवाले रसावन ही हैं ॥ ३५ ॥ अमुए भरे अघरोंके समान जाल अशोकसे मत-
वाजे भौरोंकी गूँजसे, दाँतोंकी चमकती हुई पाँवों जैसे जगले कुन्दके दारोंसे, मन्तीमौति खिले हुए
कमलके समान मुखोंसे और आमके घोंसोंकी सुगन्धमें बसे हुए मन्द-मन्द पवनसे यह शृंगारकी सिद्धा
देनेवाला और कामका मित्र वसन्त थाए लोगोंको सदा प्रसन्न रखे ॥ ३६ ॥ मलयके वायुवाला,
कोकिलकी कूकसे जी लुभानेवाला, सदा सुगन्धित मधु बरसानेवाला और चारों ओर भौरोंसे विरा
हुआ वसन्त आपके सुखी और प्रसन्न रखे ॥ ३७ ॥ जिसके आमके घोंस ही वाण हैं, टेसू ही यनुप
हैं, भौरोंकी पाँत ही डोरी है, मलयचजसे थाया हुआ पवन ही मतवाला हाथी है, कौयल ही गायक
हैं और शरीर न रहते हुए भी जिसने संसारको जीत लिया है वह कामदेव वसन्तके साथ आपके
कल्याण करे ॥ ३८ ॥

॥ ऋतुसंहार समाप्त हुआ ॥



पात्र-परिचयः

पुरुषाः

- सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता ।
 दुष्यन्तः—हस्तिनापुरस्य सम्राट् ।
 मद्रतेनः—सेनापतिः ।
 माहव्यः—विदूषकः ।
 सर्षदमनः—दुष्यन्तस्य पुत्रः (भरतः)
 सोमरातः—राज्ञः धर्मगुरुः ।
 रैवतकः—दौषारिकः ।
 करभकः—राजसेवकः ।
 पार्वतायनः—कञ्चुको ।
 वैतालिकः—राजचारणौ ।
 वैखानस शार्ङ्गरवः } कर्म-शिष्याः ।
 शारङ्गतः, हारीतः, गीतमः }
 श्यालः—दुष्यन्तस्य श्यालः, प्रधान राज-
 पुरुषः ।
 धीवरः—मत्स्यमाही ।
 सूचकः, जानुकः—राजपुरुषौ ।
 गातलिः—इन्द्रस्य सारथिः ।
 मारीचः—(करयपः) प्रजापतिः ।
 दुर्वासा—ऋषिः ।

स्त्रियः

- नटी—सूत्रधारस्य पत्नी ।
 शकुन्तला—कण्वस्य पालिता कन्या ।
 अनसूया, प्रियंवदा—शकुन्तलायाः सख्यौ ।
 गीतमी—एका सपत्निनी ।
 चतुरिका }
 परमृत्तिका } राजसेविका ।
 मधुकारिका }
 प्रतिहारी, यमनी—परिचारिके ।
 सानुमती—एका अप्सरा ।
 अदिति—करयपस्य पत्नी ।

॥ श्री ॥

॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ॥

प्रथमोऽङ्कः

1

या सृष्टिः स्रष्टुगद्या बहति त्रिविद्रुतं या हविर्वा न होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विन्वम् ।

यामाहुः 'सर्गजीवप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राण्यन्त-

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिर्वतु वस्ताभिरष्टाभिर्गणः ॥ १ ॥

[नान्यन्ते]

सूत्रधार.—अलमतिविस्तरेण । (नेत्रधामिमुग्धमलाभय) आर्ये यदि नेत्रव्यतिवानमध-
सितम् इत्यस्तानदागम्यताम् ।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

प्रथम अङ्क

शिवजी उग जलके रूपमें हमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं जिसे मक्षाने सनसे पहले
बनाया, उस अग्निके रूपमें दिखाई देते हैं जो त्रिधिये माय दी हुई हयन-सामग्री प्रहण
करती है; उम होताके रूपमें दिखाई देते हैं जिसे यज्ञ करनेका काम मिला है, उन चन्द्र और
सूर्यके रूपमें दिखाई देते हैं जो दिन और रात का समय निश्चित करते हैं, उम आकाशके
रूपमें दिखाई देते हैं जिसका गुण शब्द है और जो संसार भरमें रमा हुआ है, उम
पृथ्वीके रूपमें दिखाई देते हैं जो सब चीजोंका उत्पन्न करनेवाली बतार्त जाती है, और
उम वायुके रूपमें दिखाई देते हैं जिसके कारण सब जीव जी रहे हैं। जल, अग्नि, होना,
सूर्य, चन्द्र आकाश, पृथ्वी और वायुके इन षाठ प्रत्यक्ष रूपोंमें जो भगवान शिव
मनकी दिखाई देते हैं व आप लागीका कल्पना करें ॥ १ ॥

[मंगलानरण हा चुकोर]

सूत्रधार—इतना ही बहुत है । [नेत्रधाम आर दलक] आर्ये ! यदि यद्धार हा चुका
हो तो यहाँ पत्नी आओ ।

[प्रविश्य]

नटी—अज्जउत्त इअं म्हि । आणवेदु अज्जो को णिअओओ अणुचिद्धिअदुत्ति ।

(आर्यपुत्र इयमस्मि । आशापयतु भार्यः को नियोगोऽनुधीयतामिति ।)

सूत्रधारः—आर्ये इयं हि रसभावविशेषद्वीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिपत् ।
अस्याञ्च कालिदासप्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटककेतोपस्थातव्यम-
स्माभिः । तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्रः ।

नटी—सुविहिद्वप्पओअदाए अज्जस्स ए किं वि परिहावइस्सदि ।

(सुविहितप्रयोगतयाऽऽर्यस्य न. किमपि परिहापयिष्यते ।)

सूत्रधारः—[सस्मितम्] आर्ये कथयामि ते भूतार्थम्—

आ परितोपाद्विदुपां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञाम् ।

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यग्रत्ययं चेतः ॥ २ ॥

नटी—[सविनयम्] अज्ज एवंप एदम् । अणुन्तरकरणिज्जं दाव अज्जो आणवेदु ।

(आर्यं पवमेत्तु । अनन्तरकर्णीयं तावदार्य आशापयतु ।)

सूत्रधारः—आर्ये किमन्यदस्याः परिपत् । श्रुतिप्रमोददेवोर्मीतात्करणीयमस्ति ।

नटी—अथ वत्तमं उणु उतुं अधिकरिअ गाइस्सम् ।

(अथ कतम पुनर्गृह्ण अधिकृत्य गास्यामि ।)

[आधर]

नटी—आ गई आर्यपुत्र ! कहिए क्या आशा है ।

सूत्रधार—आर्ये ! रस और भावका चमत्कार दिखानेवाले कलाकारोंके आश्रयदाता महाराज विक्रमादित्यकी इस सभाको आज विशेष रूपसे बड़े-बड़े विद्वानोंने सुशोभित किया है इसलिये इन्हें कालिदासका नया रचा हुआ नाटक अभिज्ञान-शाकुन्तल ही दिखाना चाहिए । इसलिये जाकर सब पात्रोंको ठीक तो करो ।

नटी—आपने तो पहले ही ऐसा अच्छा प्रबंध कर दिया है कि कोई उँगली नहीं उठा सकता ।

सूत्रधार—[मुसकराकर] आर्ये सही बात तो यह है कि—जबतक विद्वान् लोग न पढ़ें कि नाटक बढ़िया है तबतक मैं नाटकको सफल नहीं समझता क्योंकि पात्रोंको चाहे जितने भी अच्छे ढंगसे सिखाया जाय फिर भी उन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं होता ॥ २ ॥

नटी—[विनयके णम] यह बात तो ठीक है । आर्ये ! तो आप जो आशा दें वही किया जाय ।

सूत्रधार—आर्ये ! इस सभाके मंदिरोंके कानोंको आनन्द देनेवाली मीठी ताल छेड़नेकी पानमे बंदकर कौन-सी अच्छी बात मैं बताना हूँ ।

नटी—तो जिस श्रुतिपर गाना गाऊँ ?

सूत्रधारः—आर्ये नन्विममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं प्रीष्मसमयमधिष्ठित्य गीयताम् ।
सम्प्रति हि—

सुभगमल्लिलागहाः पाटलसंमार्गिसुरभिवनवाताः ।
प्रच्छाद्यसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥ ३ ॥

नटी—तह । (तथा) [इति गायति]

ईसीनिचुंरिआडँ भमरेहिँ सुउभारदरकेसरमिहाडँ ।
त्रोदंसंति द्रमभाणा पमदाओ मिरिसकुसुमाडँ ॥ ४ ॥

(इषदीपच्छुम्भितानि भ्रमरे, सुकुमारतरकेसरशिखानि ।
अवतंसवन्ति दयामानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥)

सूत्रधारः आर्ये माधु गीतम् । अहो रागनिधिष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्ग ।
तद्दिशानो कर्तम प्रयोगमाश्रित्यैनमारोधयाम ।

नटी—एँ अजमिस्सेहिँ पडमं एव आणत आहिएणएणसाउण्णलं एणम अपुणं एणटअ
पओए अधिसरीअटुत्ति ।

(नन्दार्यभिभैः प्रथमोवाक्यतमपिञ्जानशाकुन्तल नामापूर्वं नाटक प्रयोगेऽधिक्रियतामिति ।)

सूत्रधारः— आर्ये मन्थननुनोषितोऽस्मि । ननु अस्मिन्क्षणे चिरमृतं गन्तु मया । कुत —

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हतः ।

सूत्रधार—मीष्म श्चु अभी अभी आडे ही हे और सुहायनी भी लगती है । इन्-
लिये हम नमय शौच्य श्रुतुपर ही छोडे गग देहो । देगो—

हम दिनों नहानेमें जल बड़ा भाता है, पाटलमें घसा हुआ बनवा परन भी यडा
अच्छा लगता है चुनोरी बनो छायामें नोडे भी अच्छी आती है और आजकलकी सन्ध्या
तो इतनी सुहायनी होनी है कि घस पूछना ही क्या ॥ ३ ॥

नटी—अच्छा । [गाती है]

जिन शिरीष-सुमनोंके कोमल वनर दलकी मधुर शिराएँ ।
चूम-चूमकर उनको मेरे फिरे-फिरे घेठ-घेठ उड़ जाएँ ।
दया भावसे उनको चुनकर मन्ददयनासे लेकर सतर ।
पर्याकुल रचकर वनोंमें पहन रहोँ उनको प्रमदाएँ ॥ ४ ॥

सूत्रधार—आर्ये ! तुमने तो बड़ा ही अच्छा गाया । देगो ! तुम्हारे गगमें लोंग लेंगे
बेमुध हो गए रि सारी रगशाहा चित्र-लियो-नी जान पड़ती है । या अब फौन-ना नाटक
फिरार इतका मन बहलाया जाय ।

नटी—आपने अभी-अभी कहा था न ! कि अमितानशाकुन्तल नामका नया नाटक
जेला जाय ।

सूत्रधार—ठीक मरग दिलाया । आर्ये ! मैं तो भूल ही गया था । तुम्हारे गीतके मनो-
हर गगने मेरे मनको बलपूर्वक घेमे हो खोंच लिया—

[कर्ण दत्वा]

एष राजेव दुप्यन्तः सारंगैणातिरंहसा ॥ ५ ॥

[इति निष्कान्ती]

॥ प्रस्तावना ॥

[ततः प्रविशति मृगानुसारी कथरचापहस्तो राजा रणेन दृष्टश्च ।]

सूतः—[राजान् मृगं चाबलोक्य] आयुष्मन् ।

कृप्यसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके ।

मृगानुसारिणं साक्षात्परयाभीष पिनाकिनम् ॥ ६ ॥

राजा—सूत दूरगमुना सारङ्गेण वयमाकृष्टा अयं पुनरिदानीमपि—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुस्तुपतति स्यन्दने वद्धदृष्टिः

पश्वाधेन प्रविष्टः शरपतनमयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा

परयोदग्रप्लुतत्वाद्विपति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ ७ ॥

[कथितमप्यम्] तदेष कश्चमनुपतत एष मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तः ।

[कान् लजाकर सुनते हुए]

जैसे यह बेगसे दौड़ता हुआ हरिण राजा दुप्यन्तको यहाँ रौंच लाया है ॥ ५ ॥

[दोनोंका प्रस्तावना]

॥ प्रस्तावना ॥

[सारंगीके साथ रथपर बैठे हुए धनुष-बाण-धारी राजा] दुष्कृत मृगका पीछा करते हुए प्रवेश करते हैं ।]

सरथी—[राजा और मृगको देखकर । आयुष्मन् ।

इस काले मृगपर शीघ्र लगाए हुए और धनुषकी डोरी चढ़ाए हुए आप ऐसे दिग्गर्ह पड़ रहे हैं मानो मृगके पीछे दौड़ते हुए साक्षात् महाबेघजी हों ॥ ६ ॥

राजा—सूत ! यह हरिण तो हमें बहुत दूर ले आया है । और अब भी यह—

घाग-भारपीछे मुड़कर इस रथको एकटक देखते हुए सुन्दर लगने वाला हरिण बाण लगानेके दरमे अपने पिछले आधे शरीरको सिनोडरर आगेके भागसे भिलावा हुआ फेला दौड़ा चला जा रहा है । धनाघटके कारण इसके खुले हुए मुँहसे आधी चवाई हुई कुशा मार्गमें गिरती चली जा रही है और देखो ! यह इतना लम्बी छलमि भर रहा है कि इसके पाँव पृथ्वीपर पड़ ही नहीं रहे हैं । ऐसा लगता है मानो यह आकाशमें उड़ा जा रहा हो ॥ ७ ॥

[आरचयके साथ]

अरे ! हम ठीक इसके पाँचे-पीछे ही चले जा रहे हैं फिर भी हरिण आरजसे आंगन क्यों हो गया ।

मृत — आयुष्मन् उद्धृष्टातिनी भूमिरिति मया रश्मिसंयमनाद्रथस्य मन्त्रीकृतो वेगः । तेन मृग ण्य विप्रकृष्टान्तरं संवृताः । मंत्रति ममदेशवर्तिनन्ते न दुरासदो भविष्यति ।

राजा—तेन हि मुन्यन्ताममीपय ।

मृत.—यदाहापयत्यायुष्मान् ! [रथवेगं निरूप्य] आयुष्मन् पश्य पश्य ।

मुक्तेषु रश्मिषु निरायनपूर्वज्ञाया निष्कम्पचामगशय्या निभृतोर्ध्वरुणाः ।

आत्मोद्धृतैरपि रजोभिग्लह्वनीया ध्रान्त्यमी मृगज्जात्रमपेय रथ्याः ॥ ८ ॥

राजा—[स्तब्धम्] नूनमतीत्य हरितो हयैश्च वर्तन्ते वाजिनः । तथा हि—

यदालोके यक्ष्मं व्रजति महसा तद्विपुलतां

यदर्थे पिच्छिन्नं भवति कृतमंधानमिव तत् ।

प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-

नं मे दूरे किंचित्त्वणमपि न पार्ष्वे स्थजरात् ॥ ९ ॥

सुत पश्यैन व्यापानमानमः । [इति शरमंधाने नाटयति ।]

[नेत्र्ये]

भो भो राजन आधममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः ।

सारथी—आयुष्मान् ! ऊँची-नीची भूमि होनेके कारण मैंने रास रथीवर रथरा वेग वम कर दिया था, इमीलिये मृग बहुत दूर निजल गया है। पर आगे समतल है, अथ आप इसे हाथमें आया ही समझिए ।

राजा—सो राम डोलो करो ।

सारथी—जैसी आयुष्मान्सी आधा। [रथका वेग देखकर] वेगिए, देगिए आयुष्मान्— रास छोड़ते ही अपने आगेका शरीर फेंकार और माथेकी चोंगी मीधी गड़ी धरके ये घोड़े इतने वेगसे दौड़ रहे हैं कि इनकी टाँपोंमें कठी हुई धूल भी इन्ट नहीं छू पा रही है। ऐसा जान पड़ता है मानो हरिणकी कीड़में ये हाँड़ कर रहे हों ॥ ८ ॥

राजा—[प्रगल्भ होकर] मचमुच इन घोड़ाने तो मृत्यु और हन्त्ये घोड़ोंकी भी कीड़में पड़ाइ दिया है। क्योंकि जो वस्तु दूरसे पतली दिग्गई देती थी वह तुम्हें मोटी हो जाती है जो नीचमें कठी जान पड़ती थी वह मट मेंमो जान पड़ने लगती है मानो उसे निर्माने जोड़ दिया हो और जो स्वभावतः देदी वस्तुएँ हैं वे आँपकी मीठी-सी दिग्गई देती हैं। यह इतने वेगसे दौड़ रहा है कि कोई वस्तु न तो तुमसे दूर हो कर पानी है न समीप ही ॥ ९ ॥

सारथी ! देखो, हरिणको वम मारता ही है ।

[धाग पड़नेका अभिप्राय करता है ।]

[नेत्र्यमें]

हे ! हे ! राजन ! यह आधमका मृग है। उसे नहीं मारना चाहिए । नहीं मारना चाहिए ॥

सूतः—[आश्चर्यावलोक्य च] आयुष्मन् अस्य स्रजु ते वाण रातवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे
तपरिधित् उपस्थिताः ।

राजा—[लक्षभ्रमम्] तेन हि प्रगृह्यन्तां वाजिनः ।

सूतः— तथा । [इति रथ स्थापयति ।]

[ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयो वैखानसः ।]

वैखानसः—[द्रुममुच्यम्] राजन् आश्रमसृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः ।

न खलु न खलु वाणः मग्निपात्योऽयमस्मिन्

मृदुनि मृगशरीरे तुल्यराशाविधाप्रिः ।

क वत हरिणकानां जीवितश्चातिलोत्सं

क च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते ॥ १० ॥

तत्साधुकृतसंधानं प्रतिमंहर सायकम् ।

आर्तश्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥ ११ ॥

राजा—एष प्रतिसंहतः [इति यथोक्तं करोति ।]

वैखानसः—सद्यश्चमेतत्पुरवंशप्रदीपस्य भवतः ।

जन्म यस्य पुरोर्वशे युक्तरूपमिदं तव ।

पुत्रमेतंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥ १२ ॥

वारधी—[सुनकर और देलकर] आयुष्मन् ! जिस काले हरिणपर आप अभी वाण
चला रहे हैं उनके बीचमें तस्थी लोग आ खड़े हुए हैं ।

राजा—[परराजर] लो रोऊ लो घौड़ोंको ।

वारधी—अच्छा । [रथ खड़ा न्ग डेता है]

[दो शिष्योंके साथ वैखानस (तपस्वी) का प्रवेश ।]

वैखानस—[हाथ उठाकर] राजन् ! यह आश्रमका मृग है । इसे नहीं मारना चाहिए ।
नहीं मारना चाहिए ॥

इसपर कर्मी वाण न चलाइपगा । आपका वाण इसके कोमल शरीरके लिये वैसा ही
भयंकर है जैसे रुईके गट्टके लिये अग्नि । घताइए, वहाँ तो बेचारे हिरणोंके कोमल प्राण
और वहाँ बय्रके समान कठोर आपके नोकिले वाण ॥ १० ॥ इसलिये यह जो आपने
तानकर वाण बंधाया है इसे उतार लीजिए । क्योंकि आपके शस्त्र तो पीटितोंकी रक्षाके
लिये हैं निरपराधोंको मारनेके लिये नहीं ॥ ११ ॥

राजा—लीजिए उतार लिया । [हाथ उतारता है ।]

वैखानस—आप जैसे पुत्रवंशके दीपकको यही शोभा देता है ।

आपने पुरुवंशमें जन्म लिया है इसलिये यह डीक ही किया है । आपको ऐसे ही
गुणोंवाला चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो ॥ १२ ॥

इतरी—[हस्तपुत्रम्] सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुदि ।

राजा—[वपंगामम्] प्रतिगृहीतम् ।

वैशानसः—राजन् समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम् । एष खनु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनी-
तीरमाश्रमो हरयते । न चेदन्यकार्यातिपातः तत्रविरथ प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः ।
अपि च—

रम्यास्तापोधनानां प्रतिहतविधाः क्रियाः समवलोक्य ।

ज्ञास्पसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिखाङ्क इति ॥ १३ ॥

राजा—अपि संनिहितोऽत्र कुलपतिः ।

वैशानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिमत्काराय निपुत्र्य देवमन्याः प्रतिकूलं
शमयितुं सोमतीर्थं गतः ।

राजा—भवतु तामेव द्रव्यामि । सा खनु विदितमक्ति मां महर्षेः करिष्यति ।

वैशानसः—माधयामस्तावत् । [इति सशिष्ये निष्क्रान्तः ।]

राजा—सूनूखं चोदयाम्भान् । पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे ।

राजा—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । [इति भूयो रथवेगं निरूपयति ।]

दोनों शिष्य—[हाथ उठाकर] निश्चय हो चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त हो ।

राजा—[प्रणाम करके] आपका आशीर्वाद सिरमाथे ।

वैशानस—राजन् ! हम लोग समिदा लेते निकले हैं । यह मामले मालिनी नदीपर
कुलपति कण्वका आश्रम है । यदि कोई अड़चन न हो तो चलकर अतिथि-सत्कार
ग्रहण कीजिए ।

यहाँ जब आप देखेंगे कि शिष्य लोग निर्विघ्न होकर सब क्रियाएँ कर रहे हैं तब आप
यह भी जान जायेंगे कि धनुषकी डोरीकी फटकारसे बने पट्टोबाली आपकी भुजा कहीं-
कहीं तक पहुँचकर रक्षा कर रही है ॥ १३ ॥

राजा—क्या कुलपति यहाँ हैं ?

वैशानस—अभी थोड़ी देर हुई अपनी पुत्री शकुन्तलाको अतिथि-सत्कारका काम सोंप-
कर उसके रोते महोदारी शान्ति के लिये सोमतीर्थ चले गए हैं ।

राजा—अच्छी बात है । मैं उससे अवश्य मिलूँगा । यही महर्षिसे पता दूँगा कि मेरी
उनमें कितनी भक्ति है ।

वैशानस—तो हम लोग चलते हैं । [शिष्योंसे साथ प्रस्थान]

राजा—सारथी ! थोड़ोंको पढ़ाओ । चलकर पवित्र आश्रमके दर्शनसे अपना आत्मा
ही पवित्र करूँ ।

सारथी—जैमि आयुष्मान्की आज्ञा । [फिर रथके वेगसे दोहाता है ।]

राजा—[समन्तादवलोक्य] सूत अकथितोऽपि ज्ञायत एव यथाऽयमाश्रमाभोगस्तपोवन-
स्येति ।

सूतः—कथमिव ।

राजा—किं न पश्यति भवान् । इह हि—

नीवाराः शुक्रगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरुणामघः

प्रस्निग्धाः क्वचिदिगुदीफलफिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।

विश्वासोपगमाद्भिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-

स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥ १४ ॥

अपि च

कुल्याम्भोभिः प्रसृतिचपलैः शाखिनो धौतमूलाः

मिन्नोरागः किमलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन ।

एते चार्वाणुपवनभ्रुविच्छिन्नदर्भाङ्गरायां ।

नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति ॥ १५ ॥

सूतः—सर्वगुणपन्नम् ।

राजा—[स्तोकमन्तरं गत्वा] तपोवननिवासिनामुपरोधो माम्भूत् । एतावत्येव रथं स्थापय
यावद्वलरामि ।

सूतः—धृताः प्रप्रहाः श्रवतरत्वायुष्मान् ।

राजा—[कारों ओर देखकर] देखो सारथी ! बिना बताए हो जान पड़ता है कि हम
आश्रमके तपोवनमें पहुँच गए हैं ।

सारथी—कैसे ?

राजा—देख नहीं रहे हो ? यहाँ—

यहाँ तो घुँघोंके तले सुग्गोंके घोंसलोंसे गिरे हुए तिन्नीके दाने गिरने परे हैं, फर्दा
इधर उधर परे हुए चिकने पत्थर बता रहे हैं कि इनपर हिमोटके फल बूटे गए हैं, वहाँ
निडर खड़े हुए मृग इस विश्वाससे रथका शब्द सुन रहे हैं कि आश्रममें कोई हमें जेड़गा
नहीं और वहाँ नदी तालाबोंपर आने-जानेकी राहोंमें मुनियोंके बल्लोंसे टपके हुए जलरी
रेखाएँ धनी हुई हैं ॥ १४ ॥ और देखो ! घायुके वारण लहरें लेनेवाली पानीकी गुलोंसे
यहाँके घुँघोंकी जड़ें धुल गई हैं, घोंके धुएँसे नई चमकीली कोंपलोंका रंग घुँघला पट गया
है और जहाँ-जहाँ उपवनमें कुशा उपाब ली गई है वहाँ मृग-छाने निडर होकर धीरे-धीरे
चर रहे हैं ॥ १५ ॥

सारथी—हाँ, यह सब तो है ।

राजा—[कुछ आने बंदकर] यहाँ हम लोगोंके आजानेसे तपोवननिवासियोंका पथ न
है, इसलिये तुम रथका यहाँ रोक लो । मैं उतर जाता हूँ ।

सारथी—ज्ञात्रिणं मेने रास रथेव लो हे । आयुष्मान् उतर जायं ।

राजा—[अद्यतीर्थ] सूत विनीतवेपेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम । इदं तावद् गृह्यताम् ।
[इति सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयार्थं प्रति ।] सूत यावदाश्रमवासिनः प्रत्य वेत्त्याहमुपायते
तावदाद्रष्टुष्टाः क्रियन्तां वाजिनः ।

सूतः—तथा । [इति निष्क्रान्तः ।]

राजा—[परिक्रम्यावलोक्य च] इदमाश्रमद्वारम् यावद्यविशामि ।
[प्रविश्य निमित्तं सूचयन्]

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः वृतः फलमिहास्य ।

अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ १६ ॥

[नेपथ्ये] इदो इदो सहीओ । (इत इतः गच्छी)

राजा—[कर्णं दत्त्वा] अये वनिस्येन वृत्तपाटिकामालाप इव श्रयते । यावद्भ्रम गच्छामि ।
[परित्रम्यावलोक्य च] अये एतास्तपस्विगमन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपं संचनपटैर्बालपादपेभ्यः
पयो दातुमित्तं एवाभिवर्तन्ते । [निपुणं निरूप्य] अहो मधुरसातां दर्शनम्

शुद्धान्तर्दुर्लभमिदं तपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।

दूरीकृताः खलु गुणैस्त्वानलता वनलताभिः ॥ १७ ॥

राजा—[उतारकर] देखो सारथी ! आश्रममें सोचे सादे वेशसे हो जाना चाहिए । इस-
लिये तबतक ये सब यहीं रखो । [अपने आभूषण और धनुष उतारकर सारथीको देते हुए]
और देखो सारथी ! जबतक हम आश्रम-वासियोंसे मिलकर लींटे तबतक तुम घोड़ोंको
ठंडा कर रखो ।

सारथी—अच्छा । [प्रस्थान]

राजा—[घूमकर और देखकर] यही तो आश्रमका द्वार जान पड़ता है । इसीसे भीतर
चलूँ । [प्रवेश करके अष्टे शकुन होने की सूचना देते हुए]—इस शान्त तपोवनकी भूमिमें
मेरी दाहिनी सुजा क्यों फड़क रही है । यहाँ मला क्या हाथ लगनेवाला है । पर हाँ, जो
मिलना होवा है वह तो कहीं भी मिल सकता है ॥ १६ ॥

[नेपथ्यमें]

इधर आओ सरथियो, इधर आओ ।

राजा—[घुमकर] अरे ! पुलवारीकी दाहिनी और मिसौरीकी बातचीत जैसी सुनाई
पडती है । इधर ही चलता हूँ । [घूमकर और देखकर] आ हा ! ये तपस्वियोंकी कन्याएँ
अपने अपने मेलके घड़े ले-लेकर छोटे-छोटे पीघोंको साँचनेके लिये इधर ही चली आ रही
हैं । [आग्रे देखकर] ओ हो ! ये तो बड़ी सुन्दर हैं ।—रनियामरी रनियोंमें भी जो
सुन्दरता बढिनार्हने देखनेको मिलती है वह यदि इन आश्रमयामिनी कन्याओंको मिली है

यावदिमां छायाभाश्रित्य प्रतिपालयामि । [इति विलोकयतिस्थिताः ।]

[ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह वलीभ्यां शकुन्तलाः ।]

शकुन्तला—इदो इदो सहीओ । [इत इतः गच्छौ]

अनसूया—इला सवन्दले सुवसौ धि तादकण्णस्त अस्सभरक्खआ पिअदरेत्ति तक्केमि जेण शोमात्तिआकुसुमपेत्तवा तुमं धि एदाणं आलवालपूरणे शिवत्ता ।

(इहा शकुन्तले स्वसौऽपि तातकण्वरदाभ्रमपृष्ठकाः प्रियतरा इति तर्कयामि येन नवमालिका-कुसुमपेत्त्या स्वमप्येतेषामालवालपूरणे नियुक्ता ।)

शकुन्तला—ण केवलं तादणिओओ एव्व । अस्थि मे सोदरसणेहो वि पदेसु ।

(न केवलं तातनियोगं पर । अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु ।)

[इति वृक्षेचन रूपयति ।]

राजा—कथमिदं सा कण्वदुहिता । असाधुदर्शा खलु तत्रभवाम् कण्वः य इमामा-भ्रमधर्मे नियुक्ते ।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति ।

ध्रुवं सनीलोत्पलप्रधारया शमीलितां क्षेत्तुमृषिर्व्ययस्यति ॥ १८ ॥

भवतु । पादपान्तेर्हित एव विश्रव्यं तावदेतां परयामि । [इति तथा करोति ।]

तो यही समझना चाहिए कि जंगलकी लताओंने अपने गुणोंसे उद्यानकी लताओंको लजा दिया है ॥ १७ ॥ अच्छा, इनके आनेतक मैं यहीं छायामें रुका रहता हूँ । [देवता हुआ खड़ा रहता है ।]

[अपनी सखियोंके साथ पौधोंकी सी चर्चा हुई शकुन्तलाका प्रवेश ।]

शकुन्तला—इधर आओ सखियो, इधर आओ ।

अनसूया—अरी शकुन्तला ! मैं समझती हूँ कि पिता कण्व इन आश्रयके पौधोंको तुमसे अधिक प्यार करते हैं, नहीं तो भला तुम्हें चमेलीकी बली जैसे फोमल अंगवालीको वे क्योंतें (चाले) भरनेका काम क्यों सौंप जाते ।

शकुन्तला—मैं केवल पिताजीकी आशासे ही इन्हें नहीं सोचती हूँ, मैं स्वयं भी इनको सगे भाई जैसा प्यार करती हूँ ।

[पौधोंमें गनी देनेका नाट्य करती है ।]

राजा—क्या यही कण्व श्रुतिसे कन्या है ! पूज्य कण्वकी यह बात सचमुच ठीक नहीं है कि इसे भी उन्होंने आश्रयके काममें जोत दिया है । जो श्रुति इसके साहज सुन्दर शरीरको तपस्याके लिये साधना चाह रहे हैं वे सचमुच नीले कमलकी पंखीकी धारसे रामीका पेड़ काटनेपर उतारू हुए हैं ॥ १८ ॥ अच्छा, तबतक निश्चिन्त होकर पुराणोंकी ओटसे इसे ओरभर देर से हूँ ।

[देवा ही करता है ।]

शकुन्तला—सहि अणसूए अदिपिणद्वेए यक्केए पिअंयदाए गिअन्तिद्वि हि । सिद्धिलेहि दाव ए ।

(सखि अनसूये अतिपिनदूषेन यक्केलेन प्रियंवदया नियन्त्रिताऽस्मि । शिथिल्य तापदेतत् ।)

अणसूया—सह । (तथा) [इति शिथिल्यति ।]

प्रियंवदा—[वहाएम्] एत्थ पओहरपित्थारइत्तअं अत्तएो जोअयएणं उवाह । मं कि उवाल्लभेसि । (अथ पणोपरवित्तागवित्त् आत्मनो यौवनमुपालम्ब । मां किमुपालम्भे !)

राजा—काममनुरूपमस्या वपुषो बलकलं न पुनरलंकारश्रियं न पुण्यति वृतः ।

सरसिलमनुविद्धं शैबलेनापि स्म्यं भलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।

इयमधिकमनोज्ञा बलकलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥ १६ ॥

शकुन्तला—[अग्रतोऽग्रलोक्य] एतो वादैरिदपल्लवांगुलीहिं तुवरेदि विअमं केसर-
रुक्मश्रो । जाव एणं संभावेमि । (एष वातेरितपङ्कनागुलीमिस्तरपतीव मा केसरवृक्षकः । यावदेनं संभावयामि) [इति परिक्रामति ।]

प्रियंवदा—हला सउन्दले एत्थ एव दाव मुहुत्तअं चिट्ठ जाव तुए उवगदाए नदासणाहो पिअ अअं केसररुक्मजंओ पडिभादि ।

(इहा शकुन्तले अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ यावन्वयोपगतया छत्रासनाप इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति ।)

शकुन्तला—अदो क्खु पिअंवदा सि तुमं (अतः एव प्रियंवदाऽपि तम् ।)

राजा—प्रियमपि सध्यमाह शकुन्तलां प्रियंवदा । अस्याः रत्न—

शकुन्तला—सखी अनसूया ! इस प्रियंवदाने ऐसा क्यकर बल्लक बंध दिया है कि मैं हिलहल नहीं पा रही हूँ । आकर इसे हीला तो कर दे ।

अनसूया—अच्छा ! [सीला करती है ।]

प्रियंवदा—[हँसते हुए ।] मुझे क्या उलाहना देती हो । अपने उस यौवनको क्यों नहीं बंध देती जो तुम्हारे स्तनोंको इतना बढ़ाता चला जा रहा है ।

राजा—यद्यपि इसका कोमल शरीर बल्लकके योग्य नहीं है, फिर भी ये इसके शरीरको अलंकारोंके समान ही सुशोभित कर रहे हैं । क्योंकि—सेवारसे घिरा होनेपर भी कमल सुन्दर लगता है और चन्द्रमार्गमें पड़ा हुआ फलक भी उसकी शोभा ही बढ़ाता है जैसे ही यह सुन्दरी भी बल्लकके कपड़े पहने हुए बढ़ी भली दिखती पड़ रही है । सखी यात तो यह है कि सुन्दर शरीरपर सभी कुछ शोभा देने लगता है ॥१६॥

शकुन्तला—[मानने देवार ।] यह केसरका वृक्ष पवनके भोंभोंसे दिलवाँहुरे पत्तियोंकी उँगलियोंसे मुझे झुला रहा है । जाऊँ इसका भी मन गम लूँ । [उपर पृथ्वी है ।]

प्रियंवदा—अरी शकुन्तला, रागभर क्यों रखीं तो रह जा । जन्नतू पेड़से लगकर रखी होती है तब यह केसरका वृक्ष ऐसा लगता है जैसे उससे कोई लता लिपटी हुई हो ।

शकुन्तला—इन्हीं सब बातोंसे तो तेरा नाम प्रियंवदा पड़ा है ।

राजा—प्रियंवदाने शकुन्तलासे यही प्यारी और सच्ची ही बात तो यही है, सयमुच—

अधरः किसलयरागः क्रोमलत्रिटपानुकारिणौ वाह ।

कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥ २० ॥

अनसूया हला सउन्दले इअं सअंवरवहू बालसहआरस्त तुए किदगमहेआ वणजो-
सिण्णिचि सोमालिआ । णं विमुमरिदा सि ।

(हला शकुन्तले इअं स्वयंवरवधूः बालसहकारस्य तया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका ।
एना विस्मृतासि ।)

शकुन्तला—तदा अत्तार्णं वि विमुमरिस्सं । [लतामुपेत्यावलोक्य च] हला रमणीए वसु
काले इमस्स लदापाअवमिहुएस्स वइअरो संवुत्तो । एअकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी वद्धफ-
लदाए उअभोअक्खमो सहआरो ।

(तदा आत्मानमपि विस्मरिष्यामि । हला रमणीये एतत्काले एतस्य लतापादवमिद्युनस्य व्यति-
करः संवृत्तः । नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बलफलनयोपभोगक्षमः सहकारः ।) [इति पश्यन्ती
तिष्ठति ।]

प्रियवदा—[सरित्तम्] अणसूए जाणसि कि णिमिच्चं सउन्दला वणजोसिणी अदिमेत्तं
पेस्सदिस्सि ।

(अनसूये जानासि कि निमित्तं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं प्रेक्षत इति ।)

अनसूया—ए वसु विभानेमि कहेहि । (न एअ विभावयामि कथय ।)

प्रियवदा—अहं वणजोसिणी अणसूएण पाअवेण संगदा अवि एण एव्वं अहं वि
अत्तणो अणसूएणं चरं लहेअस्सि । (यथा वनज्योत्स्ना अनुसूयेण पादपेन सगता अपि नामैवमहम-
प्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेवेति ।)

इसके लाल-लाल ओठ लताकी फोंपलों जैसे लगते हैं, दोनों भुजाएँ कोमल शारदाओं जैसी
जान पड़ती हैं और इसके अंगोंमें खिला हुआ नया यौवन लुभायने फूलके समान दिराई
दे रहा है । २० ।

अनसूया—शकुन्तला, यह वही नहीं चमेली है न, जिसने आमके वृक्षसे स्वयंवर पर
लिया है और जिसना नाम तुने वनज्योत्स्ना या वनकी चाँदनी रख छोड़ा है । इसे तो नू
भूले ही चली जा रही थी ।

शकुन्तला—वाह इसे भूलूँगी तब तो मैं अपनेको भी भूल जाऊँगी [अत्तके पास जाकर
और देखकर] सखी, सचमुच इस लता और वृक्षका मेल बड़े अच्छे दिनों में हुआ है । इधर
यह वनज्योत्स्ना खिले हुए फूल लेकर नवयौवना हुई है, उधर फलसे लदी हुई शारदाओंवाला
आमका वृक्ष भी उभारपर आया हुआ है ।

[उसे देखती हुई खड़ी रह जाती है ।]

प्रियवदा—[मुस्कराकर] अनसूया जानती हो यह शकुन्तला इतनी मगन होकर वनज्यो-
त्स्नाको क्यों देख रही है ?

अनसूया—नहीं, मैं तो नहीं जानती सखी । नू ही पता ।

प्रियवदा—देख, यह सोच रही है कि जैसे इस वनज्योत्स्नाको अपने योग्य वृक्ष मिल
गया है वैसे ही तुम्हें भी मेरे योग्य वर मिल जाय ।

शकुन्तला—एसो सूर्यं तुह अत्तगदो मणोरदो । (एण नूनं तवात्तमगतो मनोरथा) [इति कलशमावर्षयति ।]

राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णल्लेखसंभवा स्यात् । अथवा कृतं संदेहेन ।

असंशयं चतुरपिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलापि मे मनः ।

सतां हि मंदैहपदैषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ २१ ॥

तथापि तत्त्वत एनामुपलपये ।

शकुन्तला—[वरुभ्रमम्] अम्मो सलिलसेअसंभ्रमुग्गदो णोमालिअं उच्चिअ वअरुं मे मदुअरो अहिचट्टइ । (अम्मो सलिलसेअसंभ्रमोद्गतो नयमालिकासुचित्त्वा वदनं मे गधुक्खोऽभि-
वर्तते ।) [इति भ्रमरबाधो स्तयति ।]

राजा—[उपवृहम्]—

चलापाङ्गं दृष्टः सृशसि बहुसो वेपथुमतीं

रहस्याख्यापीड स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।

करी व्याधुन्त्याः पिवसि रतिसर्वस्वमधरं

वर्यं तन्वानेपानमधुकरं हतास्त्रं खलु कृती ॥ २२ ॥

शकुन्तला—एण एमो दुट्ठो विअमदि । अएणदो गमित्तं [पदान्तरे स्थित्वा उद्विष्टेणम्]
कहं इदो वि अअच्छदि । इत्ता परित्ताअहं मं उमिअ दुच्चिणीदेण मदुअरेण अहिउ-
अमाणं ।

शकुन्तला—यह तो तू अपने मनकी बात कह रहा है ।

[पहेला जल पेहकी जड़में जोड़ती है ।]

राजा—यह अधिकी कन्या कहीं दूसरे वर्णकी स्त्रीसे तो नहीं उलझ रही है । पर सन्देह
किया ही क्यों जाय । क्योंकि—जब मेरा शुद्ध मन भी इसपर रीढ़ उठा है तब यह निश्चय
है कि इसका चरित्रसे विवाह हो सकता है । क्योंकि सज्जनोंके मनमें जिस बातपर शंका
हो वहाँ जो कुछ उनकी मन कहे वही ठीक मान लेना चाहिये ॥२१॥ फिर भी मैं इसका
ठीक-ठीक पता लगाता हूँ ।

शकुन्तला—[चरित्रम्] अरे रे, जल पढ़नेसे चरित्रपर उड़ा हुआ यह भारी नई चमे-
लीको छोड़कर बार-बार मेरे ही मुँहपर मँडराने लगा है । [भीरते पीड़ित होनेका नाख
करती है ।]

राजा—[एल्लता हुआ ।]—अरे भौरे, तुम सबकुच बड़े भाग्यवान हो । इधर हम
तो सच्ची बातका पता लगानेमें ही लुट गए, उधर तुम इस चञ्चल चित्तयनवाली बौंपती
हुई बालाको बार-बार छूते जा रहे हो, उसके कानोंके पास जाकर ठेमे भीरे-भीरे गुनगुना
रहे हो मानो कोई बड़े भेदकी बात उसे सुनाना चाहते हो और बार-बार उसके हाथोंसे
मनके जानिपर भी तुम उसके रस मरे अधरोंको पीते ही जा रहे हो । २२ ।

शकुन्तला—अरे यह दुष्ट मानना ही नहीं है । चरु कहीं पीर जाऊँ । [दूसरे स्थानपर

(न एष दुष्टो विरमति । सन्पतो गमिष्यामि । कथमितोऽप्यागच्छति । इत्य परिश्रयेण मामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेण सभिमयमानाम् ।)

उभे—[सस्मितम्] का वधं परिचार्तुं । दुस्सन्दं एव अफन्द । राश्वरक्खिद्ववाइँ तवो-
वणाइँ ग्राम ।

(के आवा परिचार्तुम् । दुष्यन्तमेवाक्रन्द । राश्वरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम ।)

राजा—अवसरोऽयमात्मानं प्रकाशयितुम् । न भेतव्यं न भेतव्यम्—(इत्यधोऽस्ते स्वगतम्)
राजभाषत्वभिज्ञातो भवेत् । भवतु एवं तावदभिधास्ये ।

शकुन्तला—[पदान्तरे स्थित्वा सदृशिक्षेपम्] कहं इदोवि मं असुसरदि ।

(कथमितोऽपि मामनुसरति)

राजा—[सत्वरगुपस्थम्] आः ।

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम् ।

अपमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यकासु ॥ २३ ॥

[सर्वां राजान दृष्ट्वा किञ्चिदिव संभ्रान्ताः ।]

अनसूया—अज्ञ सा कस्यु किञ्चि अवाहिर्दं । इअं यो पिअसही दुष्ट महुअरेणं अहिह-
अमाणा कादरीभूदा । (आये न ललुकिमपत्पाहितम् । दपं नो भियसती दुष्टमधुकरेणामिभूषमाना
कादरीभूता ।) [इति शकुन्तला दर्शयति ।]

राजा—[शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा] अपि तपो वद्वते ।

[शकुन्तला साधुसावनतमुखी तिष्ठति ।]

काकर और दृष्टि फेरकर ।] अरे, क्या यहाँ भी आ पहुँचा ? अब क्या कहें ? अरी सखियो !
वचाओ ! वचाओ इस दुष्ट मेंरेमे !! इसने तो मुझे बड़ा तंग कर डाला है ।

दोनों—[मुक्तराकर ।] हम कौन होती हैं घचानेवाली ! दुष्यन्तको क्यों नहीं पुकारती
हो ! अरी ! तपोवनकी रक्षा करना तो राजाका काम है न !

राजा—अपना परिचय देनेका यह अच्छा अवसर है । खरो मत ! खरो मत ! [गापी
बाट करकर फिर मन ही मन ।] किन्तु इससे तो ये समझ जायँगी कि मैं राजा हूँ । अच्छा,
तो मैं फिर यों कहता हूँ ।

शकुन्तला—[भौंभी दूर आकर खड़ी होकर फिर दृष्टि फेरती है ।] क्या करूँ ? यह तो यहाँ
भी मेरा पीछा नहीं छोड़ता ।

राजा—[हटने प्रकट होकर ।] ओह ! जयतक दुष्टोंको दंड देनेवाला पुरुवंशी दुष्यन्त
पृथ्वीपर राज्यकर रहा है तबतक कौन ऐसा है जो भोली-भाली अपि-कन्याओंको
छेद । ॥२३॥

[राजाको देखकर सब गुरुपवा जाती दे ।]

अनसूया—आर्य, ऐसी कोई बड़ी भारी विपत्ति नहीं है । हमरी इस प्यारी सखीको
भी देने तंग कर रक्या या, इसीसे यह दुष्ट दर री गई है । [शकुन्तलाकी ओर-दंभेण
करती है ।]

राजा—[शकुन्तलाके सामने आकर] आपका तप तो सफल हो गया है न ? [शकुन्तला
कोचा मुँद करके मुगधे चली है ।]

अनन्या—दाणि अदिहिविसेसलाहेण । हला मउन्दले गन्ध उद्यत्तं फलमिस्सं धर्मं उवहर इत्तं पावोद्दञ्जं भविरमदि ।

(हवानीमतिधिविशेषलाभेन । हला शकुन्तले गन्धोद्वयम् पञ्चमिधर्मप्रपहर । इद पाशेदकं भविष्यति ।)

राजा—भवतीना सुनृतयैव गिरा पृथमातिष्यम् ।

शियवदा—तेण हि इमस्सि दाय पन्दाअसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए सुहुत्तअ उविसिअ सिअ परिस्समपिणोदि करेदु अज्जो ।

(तेन ह्यास्या तान्त् प्रञ्जयशीतलाया वलपणवेदिवाया सुहूर्तमुपविष्य परिधमविनोदं क्वा त्वायं ।)

राजा—मूनं यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ता ।

अनन्या—हला सउन्दले उद्द णो पञ्जुगामण अदिहोए । ता एहि एत्थ उविसिअम् । (हला शकुन्तले उचित नः पशुपालनमतिधीनम् । तदेदि अत्रापान्नाम ।) [इति वरं उपविशति ।]

शकुन्तला—[आत्मगतम्] किं गु क्खु इमं जण पेक्खेअ तपोएणविरोहिणो विआरस्स गमणीअम्हि सवुत्ता । (किं तु क्वचिन्न जन प्रेष्य तर्षयनविरोधिना विचारस्य गमनीयाऽस्मि पशुता ।)

राजा—[वरं दिलोक्य] अहो समवधोरूपमणोय भवतीना सौहार्दम् ।

शियवदा—[क्वात्किम्] अणमूए को गु क्खु एतां चउएण्णाराकिणो महुर पिअ आलनन्दो पहायवन्दो विअ लक्खीअदि । (अनस्ये वा नुराणेय चतुरगमीराकृतिगंधुर प्रियमालनप्रभावधानिय लक्ष्यते ।)

अनन्या—हाँ, आप जैसे अनूठे अतिथिके आ जानेसे तप सकल ही मममिण । अन्दा शकुन्तला ! जा, कुटीसे कुछ फल-मूलके साथ अर्घ्य ली ले आ । चरण धोनेरा जठ यहाँ मिल जायगा ।

राजा—आपकी सीटी-सीटी बातोंसे ही मेरा अतिथि-सस्कार हो गया ।

शियवदा—तो अर्घ्य ! बल्लिए धनी छायाबाले छतिवनके तने जो शीतल चीतरा है, यहाँ चरणर घँटकर अपनी यकान मिटाए ।

राजा—आप सब भी तो काम करते-करते थक गई होंगी ।

शियवदा—शकुन्तला ! अतिथिकी बात तो रगनी ही होगी । आओ बैठ जायें ।

शकुन्तला—[मन ही मन] इन्हें देखकर मेरे मनमें न जाने क्यों ऐसी उधलपुधल हो रही है जो तपोवनके नियामियोंके मनमें नहीं हानी पाहिए ।

राजा—[स्वयं देखकर] आप लोग पर भी रूपवाली और एक भी अवाथावाली हैं । आप लोगोंका आपसका प्रेम मुझे यहाँ प्यार लगता है ।

शियवदा—[धीरे] अनन्या, ये चतुर और गम्भीर दिग्गई श्रेणवाने तथा प्रिय और मधुर बोलनेवाले कोई बड़े भारी व्यक्ति जान पड़ते हैं ।

सरयो—इमं जीविदसञ्चस्सेण वि अदिहिचिसेसं किदत्थं करिस्सदि । (इमं जीवितसर्व-
स्वेनाप्यतिथिधिशेषं कृतार्थं करिष्यति ।)

शकुन्तला—तुम्हे अबेध । किं वि द्विआण करिअ मन्तेय । एण वो वअणं सुणिअसं ।
(सुभामपेतम् । किमपि हृदये कृतरा मन्त्रयेषे । न पुत्रयोर्यत्नं शोषयामि ।)

राजा—ययमपि तावद्भवत्योः सतीगर्तं क्रिञ्चिन् प्रच्छामः ।

सरयो—अज अनुगतो विअ इअं अट्ठमत्थणा । आर्यं अनुमह इवेयमभ्यर्चना ।

राजा—भरावान्कख्यः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः । इयं च यः सग्री तदारमजैति
कथमेतत् ।

अनसूया—सुणादु अज्जे अरिथ को वि कोमिअोत्ति गोचणामहेओ महापहापो राएसी ।
(शृणोत्यार्यः । अस्ति कौटिलि वीशिक इति गात्रनामपेशो महाप्रभापो राजर्षिः ।)

राजा—अस्ति धूयते ।

अनसूया—तं सो पिअसहीए पहयं अवगच्छ । उम्किआए नरोरमं वड्डणादिहिं
तादकएणो से पिवा । (तमावयाः नियतरुयाः प्रथममगच्छ । उज्जितायाः शरीरसंभ्रंतादिभि-
स्तातम्भोऽप्राः पिवा ।)

राजा—उम्कितशब्देन जनितं मे कौतूहलम् । आ मूलान्द्रोतुमिच्छामि ।

अनसूया—सुणादु अज्जे । गोदमीतारे पुरा किल तस्म राणसिणो उगो तर्वासं वट्टामा-
खुसस किंवि जावसद्धेहि देवेहि मेणप्रा णाम अच्छरा पेमिदा णिअमविग्गकालिणो ।
(शृणोत्यार्यः । शीतमीतारे पुरा किल तस्य राजवंशे तपसि वर्तमानस्य किमपि जावसद्धेद्वैरेमंनदा
नाम शय्यराः प्रेषिता नियमविभक्तारिणी ।)

दोनो—इस अनूठे अतिथिको अपने जीवनका सर्वग्व देकर इन्दे निहाल कर देते ।

शकुन्तला—बलो हटो, तुम लोग मनमें न जाने क्या-क्या लेकर कहता रहती हो ।
अब मैं तुम्हारी बातें सुनूंगी ही नहीं ।

राजा—[अनसूया और प्रियराज] आपकी सग्रीके विषयमें हम कुछ पूछना
चाहते हैं ।

दोनो—पूछिए आर्य, यह तो आपकी कृपा ही है ।

राजा—हमने तो सुन रकया था कि महर्षि बरब जन्मसे ही मद्राचारी हैं, फिर आपकी
ये सग्री उनकी कन्या कैसे हो गई ।

अनसूया—मैं बताती हूँ आर्य । वीशिक गोत्रके एक बड़े प्रतापी राजर्षि हो गए हैं ।

राजा—हो ही । मैंने भी सुना है ।

अनसूया—तो घस यही समझिय कि हमारी सग्री उन्हींकी कन्या है । इसकी माता
इसे छोड़कर चल दौं तो बरब आपने ही इसे पाल-पोसकर बड़ा किया । इसीलिये ये इसके
पिता कहलाते हैं ।

अनसूया—सहि मम वि प्रस्थि कोदूहलं । पुच्छिदुसं दाव णं । [प्रकृतम्] अजस मधुरालाभजसिदो वीसम्भो मं मन्तावेदि कदमो प्लेण रायसिणो वंसो अलकरीयदि कदमो वा विग्रहपञ्जुसुअजसो त्रिदो वेसो) किंमिचित्तं वा सुउमारदरो धि तपोवणमण परिस्तमस्त अत्ता पदं उयसीदो ।

(सखि ममाप्यसित कौतूहलम् । पुच्छामि तावदेनम् । अत्यस्य मधुरालापवन्नितो विभ्रमो मा मन्त्रयते कतम आवेषं राजपदैर्गोऽलक्रियते कतमो वा विरहपञ्जुसुकजनः कृतो देवः किंमिचित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः ।)

शकुन्तला—[आत्मगतम्] हिअअ मा उत्तम् । एसा तुए चिन्तित्ताई अणसूया मन्तेदि । (हृदय मा उच्चाभ्य । एसा त्वया चिन्तितान्वनसूया मन्त्रयते ।)

राजा—[आत्मगतम्] कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि कथं वा आत्मापहारं करोमि । भवतु एषं तावदेनां वदये—[प्रकृतम्] भवति यः पौरवैण राज्ञा धर्माधिकारे निवृत्त मोऽहमाभ्रमिणामविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारख्यमिदमायातः ।

अनसूया—सणाहा दाणि धम्मआरिणो । (सनाथा इदानी धर्मचारिणः) [शकुन्तला शब्दारलजा आवति]

सखी—[उमयोगात्तरं विदित्वा जनान्निष्ठा] हला सउन्दले जइ प्पय अज तादो संणिहिदो भवे । (एव्य चाङ्गन्ते यत्तत् तासः मनिहितो भवेत् ।)

शकुन्तला—तदो किं भवे । (ततः किं भवेत् ।)

अनसूया—[प्रियदाते धीरेने ।] मसी, मुझे भी जानने की बड़ी जरूरत है । चलो इन्हीं से पूछें । [प्रकृतम्] आर्य ! मीठी बातोंसे जो आपका विश्वास डराओ गया है वह हमें आपसे यह पूछनेको डरना रहा है कि आर्यने किस राजवशज्ञां सुशोभित किया है, किस देशकी प्रजाको अपने विरहसे व्याकुल करके आर्य यहाँ पकारे हैं और ऐसा कौतसा काम था पडा है जिसने आपके इस सुकुमार शरीरको इस तपोवन तक लानेका फल दिया है ।

शकुन्तला—[मन ही मन] हृदय, उतापले मत बनो ! तुम्हारे ही मनकी बात अनसूया पूछ रही है ।

राजा—[मन ही मन ।] अब अपना क्या परिचय हूँ और कैसे अपनेको छिपाऊँ ? अच्छा, मैं इनमे यह कहता हूँ । [प्रकृतम्] भद्रे, पुरुवंशी राजाने मुझे अपने राज्यकी धार्मिक क्रियाओंकी देख-भालका काम सौंप रक्खा है । इसलिये मैं यह देखने आया हूँ कि आश्रममें रहनेवाले तपस्वियोंके कार्यमें कोई बिघ्न तो नहीं पड़ता ।

अनसूया—आर्य ! धर्म-क्रिया करनेवाले लोगोंपर आपने बड़ी शृपा की है ।

[शकुन्तला प्रेम और रुझावा नाट्य करती]

दोनों—[शकुन्तला और दुष्यन्तरे मनकी बात ताद्वर धीरेसे] शकुन्तला ! यदि आज पिताजी घर होते—

शकुन्तला—तो क्या होता ।

सरयो—इमं जीवितसम्पत्सेण वि अदिहिविसेसं किदत्वं करिसमिदि । (इम जीवितसर्व-
स्वेनाप्यतिथिनिरोप कृतार्थं परिष्वति ।)

शकुन्तला—तुम्हे अबोध । किं चिं दिक्ष्यप, मग्धि मन्तेव । ए वो वअणं सुणिमसं ।
(युवामपेनम् । किमपि हृदये कृतम मन्तयेये । न युवयोर्वचन श्रोष्यामि ।)

राजा—ययमपि साचन्द्रवत्याः सरसीगतं विखिन् प्रच्छाम ।

सरयो—अज अनुगहो विअ इअं अरुभस्थणा । वार्यं अतुमह इवेयमभ्यर्थता ।

राजा—भगवान्स्वयं शाश्वते जहासि विवत इति प्रकाशः । इयं च यः समी तदात्मजेति
कथमेतत् ।

अनसूया—सुखाद् अजो अस्थि कां वि कांमिओत्ति गोत्तणागहेओं महाप्यहाधो राएसी ।
(शृणोत्तायः । अस्ति वाऽपि कौशिक इति गाथनामधेवा महाप्रभावा राजर्षिः ।)

राजा—अग्नि अयते ।

अनसूया—नं एो विअसहीम पहरं अचगच्छ । उग्मिअए मरीरमंरडुदुणादिहिं
ताइकएयो से पिदा । (तनाययाः प्रियठक्याः प्रथमपगच्छ । उज्जितायाः मरीरवयनादिभि
स्नानक्योऽप्याः पिता ।)

राजा—उग्मितशब्देन जनित मे कौतूहलम् । आ मूलान्द्रोतुमिच्छामि ।

अनसूया—सुखाद् अजो । गोदमोतीरे पुरा िल तस्य राणमिणी उग्मे सरसि यदागा-
यस्य किंरि जादसद्वेति वेपेहि मेणया एणम अण्डरा पेसिटा एिअमरिग्वकामिणी ।
(यदात्कार्यः । गोदमोतीरे पुरा िल तस्य राजपक्षी तरसि यतमानस्य निर्मा । अतश्च 'देवेर्मनहा
नाम अण्डराः प्रेषिता नियमरिग्वरिणो ।)

दोनों—इस अनूठे अतिथिके अपने जीवनका सर्वग्य देकर इन्हें गिहाल कर दते ।

शकुन्तला—चलो हटीं, तुम लोग मनमें न जाने क्या-क्या लेकर कहता रहती हो ।
अब मैं तुम्हारी बातें सुनूँगी ही नहीं ।

राजा—[अनसूया की प्रत्यक्षता] आपकी समीचे विषयमें हम कुछ पूछना
चाहते हैं ।

दोनों—बूढ़िए आर्य, यह तो आपकी कृपा ही है ।

राजा—इसने तो गुन रफटा था कि महर्षि कथ्य जग्मसे ही प्रजापारी हैं, फिर आपकी
ये समी कनही कन्वा वैसे हो गई ।

अनसूया—मैं यताती हूँ आर्य । कौशिक गोत्रके एक बड़े प्रतापी राजर्षि हो गए हैं ।

राजा—हाँ हाँ । मैं ने भी सुना है ।

अनसूया—तो मत यहाँ समगिए कि हमारी मर्गी उद्दोरी कन्वा है । इसकी माता
इसे छोड़कर चल गई तो कथ्य उठिने ही इसे पाल-पोसकर बड़ा किया । इसीलिये ये इसके
पिता कहलाते हैं ।

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरत्वं देवानाम् ।

अनसूया—तदो वसन्तोदारसमप से उम्मादइत्तअरुत्वं पेक्खिअ—(ततो वसन्तोदारसमये तस्या उम्मादवितुरूप मेदव—) [इत्यर्थोक्तो लज्जया विरमति ।]

राजा—परस्ताब्धायत एव सर्वथा अप्सरः संभवैषा ।

अनसूया—अह इं । (अथयिम् ।)

राजा—उपपद्यते

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः ।

न प्रभतिरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ २४ ॥

(शकुन्तला अधोमुखो तिष्ठति ।)

राजा—[आत्मगतम्] हन्त लब्धावकाशो मे मनोरथः । किन्तु सख्या. परिहासोदाहृतो वरप्रार्थनां श्रुत्वा घृतद्वेषोभावकारणं मे मनः ।

प्रियंवदा—[उरिमत शकुन्तला विलास्य नायकाभिमुखी भूत्वा] युगो वि वक्तुकामो विअ अजो । (पुनरपि वक्तुकाम इवार्थः ।)

[शकुन्तला सखीमञ्जुल्या वर्जयति ।]

राजा—छोड़कर चल देनेकी बात सुनकर तो मेरी उत्कंठा और भी बढ़ गई है । मैं इसकी पूरी कथा सुनना चाहता हूँ ।

अनसूया—तो सुनिए आर्य । बहुत दिनोंकी बात है । गोदावरीके तटपर बैठे हुए वे राजर्षि घोर तपस्या कर रहे थे । ऐसा कहा जाता है कि उनके तपसे कुछकर देवताओंने उनका तप छिगानेके लिये मैनका नामकी अप्सरा भेजी ।

राज—हाँ, यह तो है ही । औरों की तपस्या देखकर देवता लोग जुड़ा ही करते हैं ।

अनसूया—तो वसन्तके आरम्भमें उसका मदभरा जीवन देखकर—[आधा कहकर ही लजा जाता है ।]

राजा—वस-वस आगे मैं समझ गया । तो ये अप्सराकी कन्या हैं ।

अनसूया—जी हाँ ।

राजा—ठीक है । नहीं तो मनुष्योंमें ऐसा रूप भला वहाँ मिल पाता है । पञ्चल चमकवाली बिजली पृथ्वीतलसे थोड़े ही निकला करती है ॥ २४ ॥

[शकुन्तला फिर छका लेता है ।]

राजा—[मन ही मन] चलो मेरे मनोरथको कुछ सहारा तो मिला । पर इसकी सखी प्रियंवदाने हँसी-हँसीमें कुछ इसके घर मिलानेकी भी बात कही थी । इसीसे मेरा मन अभी दुविधामें ही पड़ा हुआ है ।

प्रियंवदा—[मुस्कयती हुई पहले शकुन्तलाकी आर, फिर राजाकी ओर देखकर ।] क्या आर्य कुछ और भी पूछना चाहते हैं ?

[शकुन्तला सखीके अंगुलीसे तर्जनी दे ।]

राजा। सम्यगुपलक्षितं भवत्या । अग्नि नः सशरितश्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम् ।

प्रियवदा—अलं विचारिष्य । अग्निवन्तण्णाणुयोऽशौ तवस्मिन्नणो णाम । (अल विचार्य अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्यवनां नाम ।)

राजा—इति सर्षीं ते ज्ञातुमिच्छामि—

वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्व्यापारोऽपि मदनस्य निषेधितव्यम् ।

अत्यन्तमेव मदिरेक्षणाबल्लाभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ॥ २५ ॥

प्रियवदा—अज्ज धम्मचरणे वि परवसो अयं जखो । गुरुरो उण से अणुरूपवरण-
दाणे संकूपो (आर्य धर्मचरणऽपि परवशाऽय जनः । गुरोः पुनरस्था अनुस्मरणप्रदाने शक्यः ।)

राजा—[आत्मगतम्] न दुरवापेयं खलु प्रार्थना ।

भव हृदय साभिलाषं संप्रति संदेहनिर्णयो जातः ।

आशाङ्गसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं स्तनम् ॥ २६ ॥

शकुन्तला—[वरापमिव] अणुसूणं गमिस्सं अहं । (अनसूये गमिष्याम्यहम् ।)

अनसूया—किं खिमिचं । (किं निमित्तम् ।)

शकुन्तला—इमं असंबद्धपलादिखि पिथ्यवदं अज्जाए गोठमीए खिवेदहस्सं ।

(इमामतबद्धपलाधिनी प्रियवदागार्याये गीतम्यै निषेदयिष्यामि ।)

राजा—आपने हमारे मनरी बात ठीक ताड़ लो है। इनको सुन्दर कथा सुननेके लोभसे हम कुछ और पूछना चाहते हैं।

प्रियवदा—तो संकोच न कीजिए ! तपस्वियोंसे तो आप बिना भिक्षाकरके कुछ भी पूछ सकते हैं।

राजा—आपकी सरणीके सम्बन्धमें हम यह जानना चाहते हैं कि—इन्होंने कामदेवकी गतिकी रीतिनेवाला यह जो तपस्विययोंका-सा वाना बनाया है यह विवाह होनेतक ही रहेगा, अथवा ये अपना सारा जीवन, मदमरी आँखोंके कारण प्यारी लगनेवाली हरिणियोंके बीचमें रहकर यों ही बिता डालेंगी ॥ २५ ॥

प्रियवदा—आर्य ! धर्मके काम भी यह अपने मनसे नहीं कर सकती । फिर भी पिता-जीका सङ्कल्प है कि यदि इसके योग्य घर मिल जायगा तो विवाह कर देंगे ।

राजा—[मन ही मन] इस सङ्कल्पका पूरा होना तो कठिन नहीं है। हृदय, तू आशा न छोड़ । जो दुविधा थी वह तो जाती रही है, क्योंकि जिसे तू अग्नि समझकर ब्रूनेसे उरता था वह तो छूनेके योग्य रत्न निकल आया ॥ २६ ॥

शकुन्तला—[तीक्ष्ण] अनसूया, मैं तो जा रही हूँ ।

अनसूया—क्यों ! क्यों !

शकुन्तला—इस उलटी-सीधी बरुनेवाली प्रियवदाकी सन बातें जाकर आर्य गीतमीसे वह आती हैं ।

अनसूया—सहि ए जुत्तं अस्समवासिणो अक्किदसंकारं अदिहिदिसेसं विसज्झिअ सच्छन्ददो गमरां । सलि न युक्कनकृतसत्कारमतिथिविदोप निमुज्य ह्यच्छन्दते गमनम् ।)

[शकुन्तला न किंचिदुक्त्वा प्ररिपतैव ।]

राजा—[स्वगतम्] आः कथं गच्छति [ग्रीतुमिच्छन्निगृह्यमानम्]

अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः ।

स्थानादनुचलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥ २७ ॥

प्रियंवदा—[शकुन्तला निरुध्य] हलां ए दे जुत्तं गन्तुं । (हला न ते युक्तं गन्तुम् ।)

शकुन्तला—[वभ्रूमङ्गम्] क्किणमित्तं । (किं निमित्तम् ।)

प्रियंवदा—अस्ससतेअणं दुवे धारेसि मे । एहि जाव आत्ताणं मांचिअ तदो गमिस्ससि । (वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे । एहि तावत् आत्मानं मोचयिस्व ततो गमिष्यसि ।) [इति नलादेना निवर्तयति]

पशा—भद्रे वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामग्रभवती लक्ष्ये । अथा ह्यस्याः—

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततर्लां वाहू श्रटोत्क्षेपणा-

दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रभाणाधिकः ।

पृष्ठं कणशिरीषरोधि वदन्ने धर्माभ्रसां जालकं ।

बन्धे संसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः ॥ २८ ॥

तदहमेनामनृणा करोमि । [इत्यनुभय दातुमिच्छति ।]

[उभे नाममुद्राधाराव्यनुवाच्य परस्परमबलौक्यतः ।]

अनसूया—सखी, ऐसे बड़े अतिथिकी सत्कार किए बिना उन्हें छोड़कर बैठते चले जाना अच्छा नहीं है ।

[शकुन्तला बिना वचन दिए बन्धेका प्रस्तुत होती है ।]

राजा—[मन हा मन] अरे, जाती क्यों हो ? [उसे रोकने में उठते हैं फिर अपनेका राक लेते हैं ।] इस मुनि-कन्याके पीछे जाते-जाते लाजके कारण जो मैं सहसा रुक गया हूँ तो यद्यपि मैं अपने स्थानसे हिला तक नहीं फिर भी मुझे ऐसा लग रहा है मानों मैं कुछ दूर चलकर लौट आया होऊँ । २७ ॥

प्रियंवदा—[शकुन्तलाको रोकर ।] सखी, तुम्हारा इस प्रकार चला जाना ठीक नहीं है ।

शकुन्तला—[भोर चलाकर] क्यों ?

प्रियंवदा—क्योंकि तुम्हें अभी दो पीथे और मीचने हैं । अपना शृणु चुका लेना तब जाना ।

राजा—भद्रे, पीथोंका सौंचनेका आपकी सखी थकी हुई दिखाई पड़ रही है । क्योंकि—पड़े उठते-उठते इनके बन्धे ढीले पड़ गए हैं, हथेलियाँ लाल हो गई हैं, इनके थार-थार उठते हुए स्तन यह बता रहे हैं कि थानसे इनकी माँस फूल गई है, कानोंमें पढ़ने हुए सिरसके फूल भी नहीं हिल रहे हैं क्योंकि पर्मानकी घूंटोंसे उनको पंखड़ियाँ गालोंपर चिपक गई हैं और जूँके मुल जाननेसे ये अपनी थिपरी हुई लट्टे एक हाथसे फिमी प्रकार संभाले हुए हैं । २८ ॥ इतलिये इनका शृणु मैं चुका देता हूँ । [अपना सौंघटा देना चाहता है । शुभ्रतशा नाम सौंघटीपर पदकर दाती एक दूसरीमें देता है ।]

राजा—अलमम्मानन्यथा सभास्य । राघ्व परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ ।

प्रियंदा—तेण दि एगिहदि एं अगुलीअअ अगुलिनिशोम । अज्जस्म यअणेण अणिविथा दाग्णि एमा । [किंविद्विस्स] हला मउन्दले मोइदासि अगुअन्पिणा अज्जेण अहवा महानाण्ण । गच्छ दाणि । (तेन हि नाहंस्वैतद्गुलीयस्मगुलिप्रियोगम् । आर्मस्य यन्तेना नृण इदानीमिवा । इत्वा यकुन्तले मोचितास्वदुक्किना जार्येण अथना महाराजेन । गच्छेत्तानीम् ।)

शकुन्तरा—[आत्मगतम्] जट अक्षणी पश्विस्मं [प्रकाशम्] का तुम विमच्चिद्व्यस्त रन्धिद्वयम् वा यथात्मनः प्रभविष्थामि । का एव विरचितव्यस्य राडव्यस्य वा ।

राजा—[शकुन्तरां विलोक्य आत्मगतम्] किं नु एतु यथा वयमस्यमेवमियमन्यस्मान्प्रति स्यात् । अथना लघायकाशा मे प्रार्थना । कुत ।

वाचं न मिथयति पद्यपि मद्रचोभिः कर्णं ददात्यभिमुखं भयि भावमण्ये ।

कामं न तिष्ठति मदाननगंभ्रुखीनाभृगिष्ठमन्थविषया न तु इष्टिरस्याः ॥ २६ ॥

[नेपथ्ये]

भो भोस्तपविन मनिहितान्त्वपंवनसत्त्वगचार्यं भवत । प्रथामज्ञ मिल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्व ।

तुमरागुगहवस्तथा हि रेणुर्नितपत्रिपक्तज नार्द्रवल्नलेषु ।

पतति परिण्णतारुमायकाशः शलभनममह इवाश्रमद्रुमेषु ॥ ३० ॥

राजा—मुझे आप कोई और न समझ बैठिएगा । यह अँगूठा मुझे राजासे पुरस्कारमें मिली है । मुझे आप लाभ राज-पुरुष ही समझिए ।

प्रियंदा—तब तो इस अँगूठीकी आपसी उंगलीसे अलग करना ठीक नहीं है । आपके कहने ही भरसे इसका अर्थ चुम्बता हो गया । शकुन्तरा ! इनकी या सों कहो कि महाराजकी कृपासे तुम अर्थसे मुक्त हो गई हो । अथ जा सज्जी हो ।

शकुन्तरा—[मन हां मन ।] अपना मन हाथमें ही तब तो जाऊ । [प्रकट ।] मुझे जाने देनेवाली या रोसनेवाली तुम कौन होती हो ?

राजा—[शकुन्तराका देखकर आपसी आप] कहीं यह भी तो हमपर वैसे ही नहीं रीक गई है जैसे हम इसपर रीके हैं ? या फिर जान पड़ता है कि हमारे मनोरथोंके फलनेके दिन आ गए । क्योंकि—यद्यपि यह स्वयं मुझसे बातचीत नहीं करती फिर भी जब मैं बोलने लगता हूँ, तब कान लगाकर मेरी बात सुनने लगती है और यद्यपि मेरे सामने यह मुँह खरवे नहीं बैठती फिर भी उमरी आँखें मुझपर ही लगी रहती हैं ।

[नेपथ्यमें]

हे तपस्वियों ! आरर तपोवनके प्राणियोंकी वधाओं । आपेटका प्रेमी राजा दुष्यन्त पास ही आ पहुँचा है । उसके घोड़ोंकी टापोंमे उठी हुई और सोंभकी ललाईके समान लाल-लाल धूल टिड्डो दूधरे समान उड़कर आश्रमके उन पृथ्वीपर पड़ रही है जिनकी शाखाओंपर गीले वल्नके पत्र फैलाए हुए हैं ॥ ३० ॥

अपि च—

तीव्राघातप्रतिहततरुः स्कन्धलग्नैकदन्तः

पादाकृष्टव्रतविलपासङ्गतंजातपाशः ।

भूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्न सारङ्गयूथो

धर्ममरणं प्रविशति गजः स्पन्दनालोकभीतः ॥ ३१ ॥

[सर्वा, कर्म दत्त्वा किञ्चिदिव संभ्रान्ताः ।]

राजा—[आश्चर्यम्] अहो धिक् । सैनिका अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपवृन्धन्ति । भयतु । प्रतिगमिष्यामस्तावत् ।

सखी—अज इमिहा अरण्यस्युत्तन्तेण पञ्जाउल्ल म् । अणुजाणीदि णो उडअगम-
णाम् । (आर्यं अनेनारण्यस्युत्तन्तेन पर्याकुलः स्मः । अनुजानीदि न उडअगमनाय ।)

राजा—[ससभ्रमम्] गच्छन्तु भयत्य । वयमप्याभमपीडा यथा न भवति तथा प्रयति-
ष्यामहे ।

[सर्वे उत्थिष्ठन्ति ।]

सखी—अज अपमवाविदअदिहिसकारं भूयो वि पेकएणमिसं सज्जेमो अजं
विणवित्तुं ।

(आर्यं अहमवित्तातिभिस्तारु भूयोऽपि प्रेक्षणविधिव ललावे आर्यं विशापयितुम् ।)

राजा—मा नैजम् । दर्शनेनैव भवतीना पुररुचोऽस्मि ।

[शकुन्तला राजानमलोकयन्ती संध्यां विलम्ब सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता ।]

और देखो—राजाके रथसे डरा हुआ यह जगली हाथी हमारी तपस्याके लिये साक्षात्
विघ्न घना हुआ हरिणोंके झुण्डको वितर वितर करता हुआ तपोवनमें घुसा था ग्हा है ।
इमने अपनी कगारी टफरसे एक वृक्ष उखाड़ लिया है जिसमें उसका एक दाँव फँसा हुआ है
और टूटी हुई लताएँ फन्देके समान उसके पैरोंमें जलभी हुई हैं ॥३१॥

[सब कगारियों सुनकर कुछ घबरा जाती है ।]

राजा—[मन ही मन] अरे, धिकार है इन सैनिकोंको जान पड़ता है हमें हृदनेके
लिये ये तपोवनको रौंदे डाल रहे हैं । अब हमें डर चलना चाहिए ।

दोनों—आर्य ! इस जगली हाथीकी बात सुनकर हम लोग डर गई हैं । हमें कुटीमें
जानेकी आज्ञा दीजिए ।

राजा—[शीघ्रपते] आप लोग चले । मैं भी ऐसा ही प्रयत्न करता हूँ कि तपोवनमें
विघ्न न हो ।

दात्री—आर्य ! हम लोगोंने आपका कुछ भी मत्कार नहीं किया । इसलिये—[सब
उठती है ।] आर्यसे यह प्रार्थना करते हुए बला मंकोच हो रहा है कि हमें फिर दर्शन दें ।

राजा—नहीं, नहीं, ऐसा न बलिये । आप लोगोंके दर्शनसे ही हमारा सत्कार हो गया ।

[शकुन्तला राजासे देखती हुई कृपा सुभने और शरत्तम पाती पहनेका वराना करके यात्रा
रुकी है और फिर सखियोंके साथ चली जाती है ।]

राजा—मन्दौस्तुर्योऽस्मि नगरगमनं प्रति यावदनुयात्रिकान्समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम् । न खलु शक्नोमि शकुन्तलाख्यापारादात्मानं निवर्तयितुम् । मम हि—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः ।

चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥ ३२ ॥

[इति निष्प्रान्ताः सर्वे ।]

इति प्रथमोऽङ्कः ।

राजा—नगरमें जाने की सारी वस्तु-कता ठंडी पड़ गई है । इसलिये आश्रमके पास ही सैनिकोंके साथ डेरा डालता हूँ । जान पड़ता है कि शकुन्तलाके इस प्रेम-व्यवहारसे मैं छुटकारा न पा सकूँगा । क्योंकि—जैसे पवनके सामने झण्डा ले चलनेपर उसकी रेशमी मण्डी पीछेको फहराती चलती है वैसे ही ज्यों-ज्यों मेरा शरीर आगे बढ़ता है त्यों-त्यों मेरा चञ्चल मन पीछेको दौड़ता चलता है ।

[वचना प्रस्थान ।]

॥ पहला अङ्क समाप्त ॥

द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रदिशति विपणो विदूषकः ।]

विदूषकः—[निःश्वस्य] भो दिष्टं । पद्मस मयत्रासीलस रणो यश्चस्तभावेण शिब्वि-
रणो मिह । अर्धं मत्रो अर्धं वराहो अर्धं सवद्भूलो त्ति मन्मरणे वि गिम्हविरअपाअवन्दा-
थ्यासु वराहार्हसु अहिण्डोअदि अडयोदो अडधी । पत्तसंकरकसाआडं कहुआई गिरिणई-
जलाई पीअन्ति अणिअदवेलं सुल्लमंसभूइहो आहारो । अएहीअदि तुरगणुधावणुअदिडव-
संभियो रत्तिम्मि वि णिकामं सइद्वयं एत्थि । तदो महन्ते पत्र पत्रसे दासोणुत्तेहिं सउ-
ण्णुद्धहिं वरागाहणकोलाहलेण पडिनेधिदो मिह । एत्तणु दारिणं वि पीडा ण णिकमदि ।
तदो गण्डस उत्रि पिण्डआ संवत्तो । हिओ किं अन्हेसु आहीणेषु तत्तदोदो मआणुसारेण
अस्समपदं पविठठस तावपणुणआ सउन्दला मम अत्रएणदाए दंसिदा । संपदं एअरग-
णस मणं कइं वि ण करेदी । अत्र वि से तं एव्यं विन्नअन्नसं अरणीसु पमादं आसि ।
का गदो जाव णं हिदाचारपरिखपं पेन्हामि । [इति परिक्मपावलोक्प च] एसो वाणासण-
हथाहिं जयणीहिं वगपुष्कमालाधरिणोहिं पडिदो इदो एअ आअइअथि पिअत्रआसो ।
होदु । अन्नमन्नविअलो विअ भविअ विट्टिसं । जइ एअं वि णाम विस्समं जेअं ।

(मो दृष्टम् । एतत्त्व गुणवाशीलस्य राज्ञो वगस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि । अर्थं मृगोऽयं वराहोऽयं
शार्ङ्ग इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मनिरलपादत्रयासु वनरात्रीष्वहिण्डवतेऽटवीतोऽटवी पत्र संकरकथा-
याणि कहुन्ति गिरिनदीजलानि पीयन्ते । अनियतवेळं शूल्यमासभूषिषु आहारो भुज्यते । तुरगानुधावन-

द्वितीय अङ्क

[उदास मनसे विदूषकका प्रवेश ।]

विदूषक—[लम्बी साँस भरवा हुआ] घस देख चुके । इस अहेरी राजाकी मित्रतासे तो
जी घबरा उठा है । भरी दुपहरीमें भी एक वनसे दूसरे वनमें भटकते हुए उन जंगली
प्रदेशोंमें होकर चलना पड़ता है जहाँ गर्मीके कारण पेड़ोंमें छौहक नहीं रह गई है और
दिन-रात यही हल्ला कान फोड़े डालता है—यह मृग आया, वह सूअर निनला, यह रहा
सिंह । फिर, सबेरे हुए पत्तों से मिले हुए जल वाली नदियोंका फसेला और कहुआ पानी
पीना पड़ता है और अवेर-सवेर लोहेकी सीखोंपर भुना हुआ मांस खानेकी मिलता है ।
घोड़ेके पीछे दौड़ते-दौड़ते शरीरके जोड़-जोड़ ऐसे ढीले पड़ गए हैं कि रातमें आँख भी ठीक
नहीं लग पाती । तिसपर ये दासी-पुत्र चिडीमार, तडके ही—चलो वनको, चलो वनको—
चिह्ला-चिह्लाकर ऐसा हल्ला मचाते हैं कि नींद उचट जाती है । अभी यह विप्राच टली
नहीं कि लघर फोड़ेके ऊपर फुन्सीके समान दूसरी विपति आ घमकी है । सुनते हैं कि हम
लोगोंका साथ छूट जानेपर भृगका पीछा करते-करते राजा, तपस्वियोंके आश्रममें जा
पहुँचे । वहाँ मेरे दुर्भाग्यसे उन्हें मुनि-कन्या शकुन्तला दिखाई दे गई । अब किसी भी

कण्ठितसंधे रात्रावपि निकाम शयितव्यं नास्ति । तदा महत्येव प्रलूये दास्याःपुत्रैः शकुनिद्वन्द्वकैर्वन-
प्रद्वेषोलाहलेन प्रातःकोपिताऽस्मि । इत्येदानीमपि पीडा न निष्कामति । तदा गण्डस्योपरि पिण्डकः
सन्वृचः । ह्यः क्लिप्तास्त्रावर्हीनेषु तत्रभवतो मृगातुलारिणाभ्रमपद् प्रविष्टस्य तापसकन्यका शकुन्तला
समाधन्यतया दर्शिता । साप्रतं नगरधमनस्य मनः कथमपि न कराति । अद्यापि तस्य तामेव चिन्त-
यतोऽश्रुयोः प्रमातमासीत् । का गतिः यावत् कृताचारपरिहम पश्यामि । एष पाणासनहस्तामिर्यरनी-
भिर्ननुभ्रमालाधारिणोभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवशस्यः । भरतु । अद्भुतमपि कल इव भूत्वा
स्थास्यामि । यद्येवमपि नाम विभ्रमं लभेय ।)

[इति दण्डकाष्टमवलम्ब्य स्थितः ।]

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारो राजा ।]

राजा—कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्रयासि ।

श्रुतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥ १ ॥

[स्मित कृत्वा] एयमात्माभिप्रायसंभावितेष्टजनचित्तश्रुति प्रार्थयिता विदम्ब्यते ।
तथा हि—

स्निग्धं धीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तथा

यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव ।

मा मा इत्युपरुद्धया यदपि सा साम्यमुक्ता सर्वा

सर्वं तत्किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति ॥ २ ॥

प्रकार उनका मन नगर लौटेनेको करता ही नहीं। आज भी रातभर उसीकी चिन्तामें जागते हुए उनकी आँसूने सवेरा कर दिया। क्या करूँ। चलो, ये नित्य-कर्म कर चुके हों तो उनसे बातें करूँ। [धूमकर और देसकर ।] अरे, मेरे मित्र तो इधर ही चले आ रहे हैं जिनके साथ हाथमें धनुष लिए और गलेमें जंगली फूलों की माला पहने हुए बहुत सी यवनी सेविकाएँ भी चली आ रही हैं। अच्छी बात है, मैं भी लुंज-भुज-सा बनकर राड़ा हो जाता हूँ। कौन जाने इसी प्रकार थोड़ा विश्राम मिल जाय। [लट्टी टेककर खड़ा हो जाता है ।]

[असा ऊपर कहा गया है, उस प्रकारकी सेविनामाँ के साथ राजाका प्रवेश ।]

राजा—यद्यपि प्यारीका मिलना कठिन है पर उसकी चाल-ढालसे मनमें बड़ा भरौसा मिलता है। हम दोनोंका मिलन भले ही न हो पर इतना तो सन्तोष है कि मिलनेकी उतावली दोनों और एक सी है ॥१॥ [मुस्कराकर] जो प्रेमी अपनी प्रियतमाके मनमें अपने मनसे परजता है वह इसी प्रकार धोखा खाता है। और देखो—जब वह आँसू चुमाती थी तब मैं समझता था कि उसने मुझपर ही प्यार-भरी चितवन डाली है। नितम्बोंके भारी होनेके कारण जब वह धीरे-धीरे चलती थी तब मैं समझता था कि वह मुझे अपनी चटक-मटककी चाल दिखा रही है। जब उसकी सरिर्योंने उसे जानेसे रोक उस समय अपनी सरिर्योंपर जो वह लाल-पीली हुई तब मैं समझा कि वह सब मेरे ही प्रेमके लिये हो रहा है। आह, कामीकी सज्जनोंमें अपने ही स्वार्थकी बात दिखाई पड़ता है ॥२॥

विदूषकः—[तथासित एव] भो वयस्स ण मे हत्थपाआ पसरन्ति । ता वाआमेत्तएण जई करीयसि । जेदु जेदु भयं (भो वयस्य न मे हस्तपादाः प्रसरन्ति । तद् वाचामात्रेण अयीगियसे । जयतु जयतु भवान्)

राजा—कुतोऽयं गात्रोपघातः ।

विदूषकः—कुदो किल अथं अच्छी आवलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि । (कुतः किल स्वयमस्याकुलीकृत्याधुकारणं पृच्छसि ।)

राजा—न स्वत्ववगच्छामि ।

विदूषकः—भो वयस्स जं वेदसो कुञ्जलीलं विडम्बेदि तं कि अत्तणो । पहावेण उद णईवेअस्स । (भो वयस्य यद्वेतसः कुञ्जलीला विडम्बयति तत्किमात्मनः प्रभावेण उत नदीवेगस्य ।)

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम् ।

विदूषकः—मम वि भयं । (ममापि भवान्)

राजा—कथमिव ।

विदूषकः—एवं राक्षकज्जाणि उज्झिअ तारिसे आवलत्तपदेसे वयचरवुत्तिणा तुए होदव्वं । जं सणं पव्हं सावदसमुच्छारणोहिं संरोहिअसंघियन्धाणं मम गत्ताणं अणीसो म्हि संवुत्तो । ता पसादहस्सं विसज्जिदुं नं एक्काहं धि दाव विस्तमिदुं । (एवं राजकार्याण्युज्जिता तादृशे आकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना लया भयितव्यम् । यस्वत्य प्रत्यहं श्रापदसमुत्तारणेः संश्लोभितसंधिवन्धाना मम गात्राणामनीशोऽस्मि सवृत्तः । तदपसादयिष्यामि विसर्जितुं मामेकाहमपि तावद्विश्रमितुम् ।)

विदूषक—[उसी मुद्रामें खड़ा हुआ] मेरे हाथ-पैर तो खुल नहीं रहे हैं, इसलिये मैं केवल मुँहसे ही आपकी जय-जयकार मनाता हूँ । आपकी जय हो ।

राजा—यह अंग-भंग कैसे हो गया ?

विदूषक—कैसे क्या ? ओंरोंमें बंगली कोंचकर पूछ रहे हैं कि आँसू कहाँ से आय ?

राजा—मैं तो कुछ भी नहीं समझ पाया ।

विदूषक—अच्छा मित्र, यह तो बताइए कि नदीमें जो बेंतकी लता कुदड़ी बनी रहती रहती है वह अपने मनसे घँसी रहती है या नदीके वेगके कारण ?

राजा—नदीका वेग ही उसका कारण है ।

विदूषक—तो मेरे अंग-भंगके भी आप ही कारण ।

राजा—कैसे ?

विदूषक—आप तो सब राज्य-कार्य छोड़कर इस बौद्ध प्रदेशमें जंगलियोंके समान घूम रहे हैं, यहाँ जंगली जन्तुओंका पीछा करते-करते मेरे अंगोंके जोड़ ऐसे टूट गए हैं कि हिला भी नहीं जाता । अब आप कृपा करके मुझे तो कगसे कम एक दिन विधाम करनेकी आशा दे ही दीजिए ।

राजा—[स्मरतम्] अयं चैवमाह । ममापि कण्यसुतागनुस्मृत्य सुगयाविप्लव्यं चेत् ।
कृतः ।

न नभयितुमविज्यमस्मि शक्तो धनुर्दिग्माहितसायकं मृगेषु ।

सहस्रसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः ॥ ३ ॥

विदूषकः—[राजा मुखं विलोक्य] अन्तर्भव्यं किं विद्विष्ये करिष्ये मन्तेदि । अरण्ये मय
रुद्विष्यं आसि । (अत्रभ्याम्किमपि हृदये कृत्वा मग्नयते । अरण्ये मया रुदितमासीत् ।)

राजा—[स्मितम्] किमन्यत् अनतिक्रमणीयं मे सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि ।

विदूषकः—चिरं जीव । (चिरं जीव ।) [इति गन्तुमिच्छति ।]

राजा—वयस्य तिष्ठ । सावरोपं मे वचः ।

विदूषकः—आणवेदु भवं (आशापयतु मयात् ।)

राजा—विश्रान्तेन भवता मगाप्यनायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम् ।

विदूषकः - किं मोदश्चख्खिद्धिआए । तेण हि अत्रं सुगहीदो ररणो । (किं मोदकृतपिका-
याम् । तेन ह्ययं सुगहीतः क्षणः ।)

राजा—यत्र चद्यामि । कः कोऽत्र भोः ।

[प्रविश्य]

दीवारिकः—[प्रगल्भ] आणवेदु भट्टा । (आशापयतु भर्ता ।)

राजा—रैवतक सेनापतिस्तावदाहूयताम् ।

राजा—[मन ही मन] इधर यह भी कह रहा है, उधर कण्वकी कन्याका ध्यान करते-
करते मेरा मन भी आर्येदसे उब-सा चला है । क्योंकि—जिन हरिणोंने शकुन्तलाके साथ
रहकर उसे भोली चितवन सिरवाई है उन्हें मारनेके लिये यह बाण चढ़ाया हुआ धनुष
गुभसे रोज़ाँचे ही नहीं बनता ॥३॥

विदूषक—[राजाका मुँह देखकर] आप तो न जाने क्या मन ही मन षड़वड़ा रहे हैं ।
मैं इतना सच क्या जंगलमें ही रोता रहा ?

राजा—[मुस्कराकर] नहीं नहीं, मैं भी यही सोच रहा था कि मित्रकी बात टालनी
नहीं चाहिए । इसीलिये मैं चुप हो गया ।

विदूषक—जीते रहिए । [जाना चाहता है ।]

राजा—ठहरो मित्र, अभी मेरी बात पूरी नहीं हुई है ।

विदूषक—कह डालिए, महाराज ।

राजा—देखो, विश्राम कर चुको सो आकर मेरे भी एक काममें सहायता देना । और
वह काम ऐसा होगा जिसमें मुझे कहीं जाना जाना नहीं पड़ेगा ।

विदूषक—क्या लड्डू खाने हैं ? तब उसके लिये इससे षड़कर और कौन सा ठीक अच-
सर हो सयता है !

राजा—ठहरो, बतताता हूँ । अरे, यहाँ कोई है ?

दीवारिक—[आकर प्रमाण करके ।] आशा कीजिए स्वामी !

राजा—अरे रैवतक ! सेनापतिथो तो बुला लाओ ।

दीवारिकः—सह । [इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह पुनः प्रविश्य] एतो अयस्यावधयु-
क्लण्टो भट्टा इदो दिरण्णदिद्वी एव्व चिद्वदि । उव्वसण्णु अज्जो । (तथा । एष आशावचनो-
क्लण्टो भर्ता इतो दच्छदधिरैव तिष्ठति । उपसर्पस्वार्यः ।)

सेनापतिः—[राजानमवलोक्य स्वगतम्] दृष्टदोषाऽपि स्वामिति मृगया केवलं गुण एव
संवृत्ता । तथा हि देवः—

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिधम् ।

अपचितमापि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं विभर्ति ॥ ४ ॥

[उपेत्य] जयतु जयतु स्वामी गृहीतश्चापवनरण्यम् । किमद्याप्यवस्थीयते ।

राजा—मन्दोस्साहः कुतोऽसि मृगयापवादिना माढव्येन ।

सेनापतिः—[जनगितकम्] सरो स्थिरप्रतिग्रन्थो भय । अहं तावत्स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनु-
वर्तिष्ये । [प्रकाशम्] प्रलपत्वेप वैधेयः । ननु प्रभुरेव निदर्शनम् ।

मेदश्छेदकशोदरं लघु भवत्युत्थनयोग्यं वपुः

सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।

उत्कर्षः स च धन्विनां यदिशवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले

मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥ ५ ॥

दीवारिकः—अच्छा । [बाहर जाकर सेनापतिको साथ लिए लौट आता है ।] यह सामने
इधर दृष्टि किए हुए स्वामी बैठे हैं और कुछ आज्ञा देने ही वाले हैं । आगे बढ़ चलिए, आर्य ।
सेनापति—[राजाको देखकर, मन ही मन] लोग आर्येडको इतना बुरा बताते हैं, पर
स्वामीको तो इससे बड़ा लाभ हुआ है । क्योंकि—पहाड़ोंमें घूमने वाले हाथीके समान
इनके बलवान शरीरके आगेका भाग निरन्तर धनुषकी डोरी खींचनेसे ऐसा कड़ा हो गया
है कि उसपर न तो धूपका ही प्रभाव पड़ता है और न पसीना ही छूटता है । बहुत दीङ्-
धूपसे यद्यपि ये दुबले पड़ गए हैं पर पुष्टीके पक्के होनेके कारण इनका दुबलापन दिखाई
नहीं पड़ता ॥४॥ [पाठ जाकर] स्वामीकी जय हो । हमने आर्येडके पशुओंको वनमें घेर
लिया है । अब थिलम्ब किसलिये है ?

राज—इस आर्येडके निन्दक माढव्यने मेरा सारा खसाह ठण्डा कर दिया है ।

सेनापति—[बलम विदूषसे] अच्छा मित्र, करो तुम भी डटकर विरोध, और मैं भी,
देखो स्वामीके मनको कैसे पलट देता है । [प्रकट] इस मर्त्यको यकने दीजिए महाराज !
स्वामी ही स्वयं देख रहे हैं कि—आर्येडसे चर्बी घट जाती है, ताँदे छट जाती है, शरीर
हलका और फुर्तीला हो जाता है, पशुओंके मुँहपर जो भय और मोथ दिखाई देता है
उसका हान हो जाता है और चलते हुए लक्ष्योंपर बाण चलानेमें हाथ सध जाते हैं, जो
धनुषपारियोंके लिये बड़े गौरवकी बात है । लोग मूठ-मूठ ही आर्येडको बुरा बताते हैं,
नहीं तो इतना मन-महलाव और मिल नहीं सकता है ॥५॥

विदूषकः—अवेदि रे उत्साह हेतुय अत्तभवं परिदि आपण्यो । तुगं दाय छटवीयो अहयो आदिपहन्तो खरणासिआलोलुवस्म नियणरिच्छस्म कस्त वि मुहे पडिस्ससि ।
(अवेदि रे उत्साह हेतुय अत्तभवं परिदि आपण्यो । एवं तावदटवीतोऽटवीमादिष्टमानो नरनाधि-
कालेऽप्यय चीर्णधृत्य वर्यापि मुले पतिष्यति ।)

राजा—भद्र सेनापते आश्रमसंनिकृष्टे श्रिताः स्मः । अतस्ते वचो नाभिनन्दामि । अथ वायत्—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं

छायापद्मकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।

विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्तावृतिः पल्वले

विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्यावन्धमस्मद्रतुः ॥ ६ ॥

सेनापतिः—यत्प्रभविष्णवे रोचते ।

राजा—तेन ही निवर्त्य पूर्वगतान्नप्रादिष्य । यथा न मे सेनिकास्तपोवनमुत्सृज्यते
कथा निषेद्धव्याः । पर्य—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मरुमस्ति तेजः ।

स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्वतेजोऽभिमयाहमन्ति ॥ ७ ॥

सेनापतिः—यदाहाव्यति स्वामी ।

विदूषकः—धंसदु दे उन्नाहवुचन्तो । (ध्वंशतां ते उत्साहवृत्तान्तः ।)

विदूषकः—अरे बल-बल उत्साह दिखानेवाले ! अन् महाराज फिर मनुष्य बन गए हैं । तुम्हें तो एक दिन इसी प्रकार इस धनमें उस धनमें पूस-भूमकर आवेष्ट करते करते कभी मनुष्यकी नाकके लोभी किमी बूढ़े भावके मुँहमें पड़ना ही है ।

राजा—भद्र सेनापति ! देखो, हम लोग तपोवनके पास ठहरे हुए हैं । इसलिये तुम्हारी बात इस समय मुझे जँच नहीं रही है । आज तो--भैसाँको छोड़ दो कि वे अपनी माँगों से पानीकी हिलोरते हुए तालोंमें तैरें, हरिणोंके भुल्ले पेड़ोंकी घनी छायामें घेरा बनाकर बैठे जुगाली करें, बड़े-बड़े सूअर निटर होकर छिद्रले तालोंमें नागरगोथेकी जड़ खोदें और मेरे धनुषकी टीली डोरों भी कुछ देर विधाम कर ले ॥६॥

सेनापति—जैसी महाराजकी इन्द्रा ।

राजा—तो जिन हँकरीको आगे भेज दिया है उन्हें लाँटा सो और मैनिशोंको ममगा देना कि कोई ऐसा काम न कर बैठें जिससे तपोवनके काममें बाधा पड़े । देखा--सूर्य-कान्तमणि यों तो तुनेमें टण्डी लगती है पर जब सूर्य इसपर अपना प्रकाश टालता है तब वह भी आग उगलने लगती है । वसी प्रकार यद्यपि लोग यद्यपि पड़े खान्ना होले हैं पर धनमें इतना तेज भी होता है कि यदि कोई उन्हें पष्ट दे तो उसे जलाकर मग्न भी कर दे ॥७॥

सेनापति—जैसी स्वामीकी आज्ञा ।

विदूषकः—भाइमें जायें तुम्हारी उल्लाहकी बातें ।

[निष्क्रान्तः सेनापतिः ।]

राजा—[परिजनं विलोक्य] अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेपम् । रैवतक त्वमपि स्वं नियोग-
मशून्यं कुरु ।

परिजनः—जं देवो आणवेदि । (यद्देव आज्ञापयति) । [इति निष्क्रान्तः ।]

विदूषकः—किदं भवदा णिम्मच्छिअं संपदं एदस्सि पादवच्छाआए विरइवलदाणवंसणो
आसणे सितीवटु भवं जाव अहं वि सुहासोणो होमि । (इत्तं भवता निर्मच्छिक्कम् । तां प्रवसे-
तस्या पादपञ्जायाया विरचितल्लावितानदर्शनीयायामासने निपीदतु भवान् यावदहमपि सुखाणीनो
भवामि ।)

राजा—गच्छामतः ।

विदूषकः—एदु भवं । (एतु भवान् ।)

[इत्युभौ परिक्रमोपविष्टौ ।]

राजा—माधव्य अनवाप्तवक्षुःफलोऽसि येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम् ।

विदूषकः—णं भवं अगगदो मे वट्टिदि । (ननु भवानप्रया मे वर्तते ।)

राजा—सर्वः रत्न कान्तमात्मानं पश्यति । अहं तु तानाश्रमललाभभूतां शकुन्तलामधि-
कृत्य प्रवीमि ।

विदूषकः—[स्वागतम्] होदु से अवसरं ए दावसं । [मक्रामम्] भो वअरस ते तावस-
करणुआ अरुभत्थणोआ वीसदि । (भानु अस्थावसर न दास्ये । भो वदस्य ते तापवक्कपक्कऽ-
म्वर्पनीया इश्यते ।)

[सेनापति चला जाता है ।]

राजा—[अपने खेवकोंको देखकर] अयं तुम लोग भी अपने आर्येठके कपड़े उतार
ढालो । और रैवतक ! जाओ, तुम भी अपना काम करो ।

सेवक—जो देवकी आज्ञा । [सब जाते हैं ।]

विदूषक—चलो अच्छा बिरा । जो सब मफिटयो भगा दीं आपने । अयं चलिये, वृद्धोंकी
घनी छायावाले लता-मण्डपके नीचे सुन्दर आसनपर आप चलाकर बैठिए और मैं भी
सुस्ता लेता हूँ ।

राजा—अच्छा, चलो आगे-आगे ।

विदूषक—आप भी आइए ।

[दोनों गुमन बैठते हैं ।]

राजा—माधव्य ! यदि तुमने देवनेके योग्य परतुएँ नहीं देगें तो आँस होनेसे तुम्हें
लाभ ही क्या हुआ ?

विदूषक—आप तो भेरी आँसोंके आगे रहते हैं न !

राजा—अपनेको तो सभी सुन्दर समझते हैं, पर इस समय तो मैं शकुन्तलाकी बात कह
रहा हूँ जो इस आश्रम की शोभा है ।

विदूषक—[आप ही अप] अच्छा, मैं इस बातको यहाँ बाट देता हूँ [मरुट] क्यों
मित्र, जान पड़ता है कि उस सपत्नीकी कन्यापर आप लट्टू हो गए हैं ।

राजा—सखे न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते ।

॥ सुस्पृष्टसंभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्ज्विताधिगतम् ।

अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ॥ ८ ॥

विदूषकः—[विहस्य] जह कसस वि पियडखजरेहि उब्बेजिदसस तिन्तिणीय अहिलासो भवे एह इत्थिआरअणपरिभाविणो भभदो इअं अन्भत्थया । (यथा कस्यापि पिण्डजस्यैव हि-
कितस्य तिन्तिण्यामभिलषो भवेत् तथा स्मरत्नपरिभाविनो मयत इवमभ्यर्षया ।) ; ...

राजा—न तावदेनां पश्यसि येनैवमवादीः ।

विदूषकः—तं क्वत्तु रमणिवजं जं भवदो विग्धं उपादेदि । (कतल्लु रमणीयं यद्गतोऽपि
विस्मयमुत्पादयति ।)

राजा—वयस्य किं बहुना ।

चित्रे निवेशय परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोचयेन मनसा विधिना कृता नु ।

स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुविभ्रुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ ९ ॥

विदूषकः—जइ एज्जं पचादेसो दाणिं रुववदीणां ।

(यथेवम् प्रयादेश रदानो रूपवतीनाम् ।)

राजा—इदं च मे मनसि वर्तते—

अनाघातं पुष्पं किसलयमञ्जनं करुद्वै-

रनाविद्धं रत्नं मञ्जु नवमनास्वादितरसम् ।

राजा—मित्र ! पुनर्वशिर्षोका मन कुपयको और बढ़ता ही नहीं है—सुना है, उसकी
माँ कोई अप्सरा थी । यह जब इसे चर्ममें छोड़कर चली गई तब कण्व मुनि इसे उठा
लाए । यह ठीक ऐसा ही हुआ मानो नवमल्लिकाका फूल अपनी डालीसे चूकर मदारपर
आ गिरा हो ॥८॥

विदूषक—[हँसकर] जैसे कोई मोठा छुहारा राते-राते ऊबकर इमलीपर टूट पड़े वैसे
ही आप भी रनिवासकी परु-से-एक बढ़कर सुन्दरियोंको भुलाकर इसपर लट्टू हो उठे हैं ।

राजा—तुमने अभी उसे देखा नहीं है न, इसीलिये ऐसा कह रहे हो ।

विदूषक—तो ठीक है । जब आप भी उसे देखकर चकित हो रहे हैं तब तो वह सचमुच
रूपवती होगी ।

राजा—मित्र ! और तो क्या कहें । तुम बस यही समझ लो कि—प्रधाने जब उसे
घनावा होगा तब पहले उसका चित्र घनाकर या मनमें संसारकी सभी सुन्दरियोंके रूपोंको
इकट्ठा करके उसमें प्राण डाले होंगे । क्योंकि प्रधाकी कुशलता और शकुन्तलाकी सुन्दरता
दोनोंपर धार-धार विचार करनेसे यही जान पड़ता है कि यह कोई गिराले ही टंगको सुन्दरी
उन्होंने बनाई है ॥९॥

विदूषक—ऐसी बात है तब तो इसने सभी सुन्दरियोंको परास्त कर दिया ।

राजा—मेरी समझमें तो—उसका रूप वैसा ही पवित्र है जैसा किना संधा हुआ फूल,

अत्रखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं ।

न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥ १० ॥

विदूषकः—तेण हि लहु परित्ताअहु खे भवं । मा करसधि तवस्सिणो इहुदीतेल्लमिस्स-
चिकण्णसीस्सस्सु आरण्यअस्स हत्थे पडिस्सदि । (तेन हि लहु परिचापतामेना भवत् । मा
करापि तपस्विने इह्णदीतेल्लमिअचिकण्णशीपंस्य हत्थे पतिण्वति ।)

राजा—परवती खलु तत्रभवती । न च सनिहितोऽत्र मुन्जन ।

विदूषक—अत्तभवन्तं अन्तरेण कोदिसो से विट्ठिराओ । (अत्रभव-तमन्तरेण कीदशास्तास्या
इष्टिणमः ।)

राजा—वयस्य । निसर्गदेवाप्रगल्भस्तपस्विरन्याजन । तथापि तु—

अभिमुखे मयि संहतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।

विनयवारितृत्तितस्तया न विवृतो मदनां न च संवृतः ॥ ११ ॥

विदूषकः—[विहस्य] 'खेखु दिट्ठमेत्तस्स तुह' अहु समारोहदि । (न खलु इहमाश्रय
तवाङ्ग समारोहति ।)

राजा—मिथ. प्रस्थाने 'पुन' शालीनतयाऽपि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या ।
सथा हि—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकारण्डे

। ११ ॥ १० ॥ तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।

नयोंसे अछूते पत्ते, बिना बिंवा हुआ रत्न, बिना चखा हुआ नया सधु और बिना भोगा
हुआ पुष्पोंका फूल । पर यह पता नहीं चलता कि इस रूपको भोगनेके लिये ज्ञानने किसे
चुन रक्या है ॥१०॥

विदूषक—तत्र आप इसे चटपट अपना लीजिए नहीं तो दिगोठके तेलसे चिक्ने सिरे-
वाले किसी क्षरस्वीके हाथमें यह जा पड़ेगी ।

राजा—अरे ! इसमें उसके बरानी बात थोड़े ही है, और फिर उसके पिता भी यहाँ
नहीं हैं ।

विदूषक—अच्छा यह तो यताओ कि वह सुन्दारी और किस भावसे देर रही थी ।

राजा—मित्र ! श्रुतियोंकी बग्याएँ भ्रमावमे ही घड़ी भोली-भाली होती हैं । फिर-
भी—जब मैं उसकी ओर मुँह करता था तब वह ओरों घुरा लेती थी और किसी न किसी
यहाने इस भी देती थी । वह शीलसे इतनी दयी हुई थी कि न तो वह अपने प्रेमको छिपा-
ही पा रही थी और न झुल कर प्रकट ही कर पा रही थी । ॥११॥

विदूषक—[हँसकर] तो क्या वह आपको देखते ही आपकी गोदमें आपर पड़ जाती ।

राजा—अरे सुनो तो । जब वह जाने लगी उस समय दिहताभी रक्षा करते हुए भी-
उसने अपना प्रेम जता ही दिया । क्योंकि—दुद्ध दूर चलनेपर वह सुन्दरी सहसा यह कर
कर रुक गई—अरे, मेरे पावमें दामक काँटा चुभ गया है । और तबपि उमका पलटव

आसीद्विद्वत्तवदनाच्च निमोचयन्ती

शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥ १२ ॥

विदूषक—तेण हि गहीदपाहेभ्यो होहि । किं तुप उववरी 'तयोयसु' ति पेकरामि ।
(तेन हि यशोतययेवो भर । कुत तयोपमन तपावनमिति वदामि ।)

राजा—सरे तपरिभि कैश्रत्परिहातोऽस्मि । चिन्तय सावत्सेनापदेगेन सट्टप्याश्रमे
यमाम ।

विदूषक—को अवेरो अवदेशो तुह रण्णो । एीवारन्धट्टभाअ अहाण उवहरन्तु ति ।
(अउरोअदेद्यत्तन राअ । नीनारपट्टमागमरणाअशुपट्टरत्ति ।)

राजा—मूर्खे अन्यद्भागधेयमेतेषा रक्षणे निपेतात यद्वत्तराशीनपि विहायामिनन्द्यम् ।
पर्य—

यदुत्तिष्ठति, वर्येभ्यो नृपाणां चक्षि तत्फलम् ।-

॥ १३ ॥ तपःपृष्ठभागमचर्यं ददत्यासययम् । हि नः ॥ १३ ॥

[नेष्य]

हन्ता सिद्धार्थी ख ।

राजा—[अणं दत्त] अये धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्त्रिभिर्भवितव्यम् ।

[प्रविश्य]

यहाँ उलझा नहीं था फिर भी धीरे धीरे चरन्त सुलक्षानेका पहाना करके यह मेरी ओर
देखता हुई कुछ देर खड़ी रह गई ॥१२॥

विदूषक—तप आप अपना साज समाज सप यहाँ मया लानिप, क्योंकि में देख रहा हूँ
कि आपने इस तपोवनको एन्द्रग प्रमोदवन बना डाला है ।

राजा—मित्र । कुछ ऋषि मुझे पहचान गए हैं । अब सोच विचारकर कोई ऐसा वपाय
यताओ कि कमसे कम एक बार तो किसी बहाने आश्रममें हो आऊँ ।

विदूषक—आप राजाओंके लिये बोई बहाना बनानेकी क्या आवश्यकता है ? जाकर
यही कहिए कि आप लोग राज-करके रूपमें हों तिनकी छटा भाग दे दीजिए ।

राजा—तू तो एन्द्रम मूर्खे है । अरे, इन ऋषियोंकी रक्षाके बदले तो हमें ऐसा अनठा
पर मिलता है कि उसके आगे रत्नोंका ढेर भी तुच्छ है । देखो—चारों बगोंसे राजाओंकी
जो कर मिलता है उसका फल तो नष्ट हो जाता है पर ये धनदासी ऋषि लोग अपने तपका
जो छटा भाग हमें देते हैं वह कभी नष्ट नहीं होता ॥१३॥

[नेष्यम्]

अहा, हमलोगोंके सप काम बन गए ।

राजा—[कान लगाकर] अरे, यह गम्भीर और शान्त स्वर तो ऋषियोंका सा जान
पड़ता है ।

[प्रवेश करके]

दौवारिकः—जेदु जेदु भट्टा । एदे दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमि उवडिदा । (जयतु जयतु भर्ता । पत्नी द्वौ ऋषिकुमारौ प्रतिहारभूमिमुपस्थितौ ।)

राजा—तेन ह्यविलम्बितं प्रवेशय तौ ।

दौवारिकः—एसो सवेसेमि । [इति निष्क्रम्य, ऋषिकुमाराभ्या सह प्रविश्य] इदो इदो भवन्तौ । (एष प्रवेशयामि । इत इतो भवन्तौ ।)

[उभौ राजान विलोक्यतः ।]

प्रथमः—अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयताऽस्य वपुषः अधधोपपन्नमेतदृषिभ्यो नाति-
भिन्ने राजनि । कुतः ।

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये ।

रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति ।

अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चाण्डन्द्रगीतः

पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वं ॥ १४ ॥

द्वितीयः—गौतम अर्थ स बलभित्स्वो दुष्यन्तः ।

प्रथमः—अथ किम् ।

द्वितीयः—तेन हि—

नैतच्चित्रं यदयमुदधिस्यामसीमां धरित्री-

मेकः कृत्स्नां नगरपरिधिस्रांशुवाहुर्भुनक्ति ।

द्वारपाल—महाराजकी जय हो । वो ऋषिकुमार द्वारपर पचारे हैं ।

राजा—उन्हें तुरंत यहाँ ले आओ ।

द्वारपाल—अभी लाया । [प्रस्थान और ऋषिकुमारोंकी साथ लेकर फिर प्रवेश ।] इधरसे आइए भगवन्, इधर से ।

[दोनों राजाको देखते हैं ।]

पहल्य—अहा ! ये इतने तेजस्वी हैं कि इन्हें देखकर हमारे मनको बड़ा भरोसा मिल रहा है । क्यों न हो— ! ये राजा भी वो ऋषियोंके समान ही रहते हैं । जैसे ऋषि लोग आश्रममें रहते हैं वैसे ही ये भी अपना नगर छोड़कर सपको सुख देनेवाले इस आश्रममें आ टिके हैं । अपनी प्रजाकी रक्षा करके ये भी नित्य तपस्या ही करते हैं । और चारण-चारणियों जो इन जितेन्द्रिय राजर्षिके गीत गान्ती हैं वे गीत प्रायः स्वर्गतक मुनाई पढ़ते हैं ॥१४॥

दूसरा—गौतम, क्या इन्द्रके मित्र राजा दुष्यन्त ये ही हैं ?

पहला—हाँ ये ही हैं ।

दूसरा—इसीलिये हमें यह देखकर तनिक भी आश्चर्य नहीं है कि नीने समुद्रसे पिररी हुई सारी पृथ्वीपर ये नगरके काटकी अर्गलाके समान लम्बी, अपनी भुजाओंसे अर्कने

आशांसन्ते सुस्युवतयो वद्वयैरा हि दैत्यै-

रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पारुहते च वज्रे ॥ १५ ॥

उभौ—[उपगम्य] धिजयस्य राजन् ।

राजा—[आसनादुत्थाय] अभिवाद्ये भवन्ती ।

उभौ—स्वस्ति भवते । [इति पलाभ्युपरतः ।]

राजा—[सप्रणामं परिश्रद्ध] आज्ञापयितुमिच्छामि ।

उभौ—विदितो भवान्नाश्रमसदामिदृश्यः । तेन भवन्तं प्रार्थयन्ते ।

राजा—किमाज्ञापयन्ति ।

उभौ—तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसांनिभ्याद्रक्षांसि न इष्टिविभ्नमुत्पादयन्ति । तत्कति-
पयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति ।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि ।

विदूषकः—[अथर्व] एसा दासि अणुज्जला ते अश्रमत्यखा । (एषेदानीमनुकूला
तेऽभ्यर्चना ।)

राजा—[स्मितं कृत्वा] रैषतक मद्रचनादुच्यतां सारथिः । सवाणासनं रथमुपस्थापयेति ।

दौवारिकः—जं वेवो आणवेदि । (यदेव आकापयति) [इति निष्क्रान्तः ।]

उभौ—[वरपम्]—

अनुकारिणि पूर्वेपां युक्तरूपमिदं त्वयि ।

शासन करते हैं, और दैत्योंसे वैर बाँधनेवाली, देवताओंकी भिन्नो इन्हींके चङ्गे हुए धनुष
और इन्द्रके वज्रपर अपनी विजयकी आशा बाँधे रखती हैं ॥१५॥

दोनों—[पाठ बाहर] राजन्, आपको जय हो ।

राजा—[आसनसे उठकर] आप लोगोंको प्रणाम करता हूँ ।

दोनों—आपका कल्याण हो । [फल भेंट करते हैं ।]

राजा—[प्रणाम करके फल लेकर] आज्ञा कीजिये ।

दोनों—सब आश्रमवासी जान गए हैं कि आप यहाँ ठहरे हुए हैं । इसलिये उनकी
प्रार्थना है ।—

राजा—क्या आज्ञा है उनकी ।

दोनों—उन्होंने कहलाया है कि आदरणीय महर्षि कण्वके न रहनेसे राक्षस लोग हमारे
यज्ञमें बड़ा विघ्न डाल रहे हैं । इसलिये आप अपने सारथीके साथ यहाँ कुछ रातें बिताकर
इस आश्रमको सनाथ करें ।

राजा—बड़ी कृपा है उनकी ।

विदूषक—[अलग] यही तो आप चाहते भी थे ।

राजा—[मुस्कराकर] रैषतक । सारथीसे कहना कि रथ और धनुष-बाण लेता आवे ।

द्वारपाल—जो आज्ञा महाराजकी । [प्रस्थान]

दोनों—[प्रमत्न होकर] राजन् ! आप वही कर रहे हैं जो आपके पृथज करते आए

आपन्नाभयसेत्रेषु दीक्षिताः खलु पौत्र्याः ॥ १६ ॥

राजा—[सप्रणामम्] गच्छता पुरो भवन्तौ । अहमप्यनुपदमागत एव ।

उर्ध्वी—विजयस्य । [इति निष्क्रान्तौ]

राजा—माढव्य अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम् ।

विदूषक—पढम सपरीवाह आसि । दाणि रक्खसबुसन्तेणविन्दू रिणावसेसिदो (प्रथम सपरीवाहमासीत् । इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन विन्दुरपि नावशेषितः)

राजा—मा भैपी । ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे ।

विदूषक—एस रक्खसोदो रक्खिदो गिह (एष राक्षसावस्थितोऽस्मि ।)

[प्रविश्य]

दीवारिक—सज्जो रधो भट्टिणो विजअप्पत्थाण अचेकखदि । एस उण शखरादो देवीण आणुत्तिहरओ करभओ आअदो । (उज्जो रधो भट्टो विजयप्रस्थानमपेक्षते । एष-पुनर्नगरादेशी-नामाहसिहर करभक आगतः ।)

राजा—[सादरम्] किमन्वाभि प्रेषितः ।

दीवारिक—अह इ । (अथ किम् ।)

राजा—ननु प्रवेश्यताम् ।

दीवारिक—तह । [इति निश्चय करभकेण सह प्रविश्य] एषो महा । उवसप्प । (तथा एष भर्ता । उपसर्गः ।)

हैं । आश्रमकी रक्षा करना तो आपका धर्म ही है क्योंकि यह बात सभी जानते हैं कि शरणमें आए हुआको अभयदान देनेमें पुरुषंशी, कभी पीछे नहीं हटते ॥१६॥

राजा—आप लोग चलिए । मैं भी आ रहा हूँ ।

दात्री—आपकी विजय हो । [प्रस्थान]

राजा—माढव्य । क्या शकुन्तलाको देखनेकी कुछ इच्छा है ?

विदूषक—पहले तो इच्छा बाह्यपर थी, पर जबसे राजसौंका नाम सुना तबसे वृद्ध भर भी नहीं रह गई है ।

राजा—ठरो मत । तुम्हें ह्म अपने साथ रखेंगे ।

विदूषक—हाँ, तब तो राजसौंसे प्राण बच जायेंगे ।

द्वारपाल—[प्रणम करके] महाराज । रथ तैयार है और आपकी विजय यात्राके लिये चलनेकी प्रतीक्षा कर रहा है । और हाँ, राजमाताकी आज्ञा लेकर नगरसे करभक भी आया है ।

राजा—[आदरके साथ] क्या माताजीने भेजा है ?

द्वारपाल—जी हाँ ।

राजा—तो उसे यहाँ ले आओ ।

द्वारपाल—जो आज्ञा । [प्रस्थान । करभकका साथ लेकर फिर प्रवेशः ।] महाराज ये वीठे हैं । आगे बढ़ जाओ ।

करमक — जेदु भट्टा । देवी आणवेदि — आआमिणी चैरथदिअहे पउत्तपारणी मेँ तव-
 षासो भाँवससिदि । तहि दीहाडणा अयसस सभायिदन्धा सि । (जयतु भर्ता । देव्याज्ञापयति—
 आंगमिनि चतुर्णदिवसे प्रवृत्तास्वभा मेँ उपवासे भविष्यति । तत्र दीर्घाधुषाऽन्वस सभावित्त्येति ।)
 राजा—इतस्तपस्विवकार्यम् इतो गुरुजनाज्ञा । द्वयमप्यनतिक्रमशौचम् । निर्मत्र प्रतिवि-
 धेयम् ।

विदूषक — तिसइ विअ अन्तराले चिट्ठ । (निरङ्कुस्विअन्तराले तिष्ठ ।)

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि ।

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्दुर्धीभ्रमति मेँ मनः ।

पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोन्हो यथा ॥ १७ ॥

[विचिन्त्य] सत्ये त्वमत्रया पुत्र इति प्रतिगृहीत । अतो भ्रान्तित प्रतिनिदृत्य
 तपस्विकार्येयप्रमाणम् मामावेद्य तत्रभवतीना पुत्ररूपमनुष्ठानुमहति ।

विदूषक — ए कखु म रकपोभीरुअ गणोसि । (न राख मा रसोभीरु गणयति ।)

राजा—[सस्मितम्] कथमेतद्रवति सभाव्यते ।

विदूषक — जइ राआणुएण गन्तव्य तह गन्धामि । (यथा राजानुनेन गन्तव्यम् तथा
 गच्छामि ।)

राजा—ननु तपोवनोपरोध परिहरणीय इति सर्वाननुयायिकस्सुत्रैत्र सह प्रस्थापयामि ।

करमक—महाराजकी विजय हो । माताजीने कहलाया है भक्ति-आजसे चौथे दिन मेरे
 प्रतका पारण होगा । उस-अथसरपर चिरखीवाभी अथस्य उपस्थित रहे ।

राजा—इधर तो अपिप्योकी काम, उधर बर्कोकी आता । दोनों ही नहीं टाले जा सन्ते ।
 क्या कहें ?

विदूषक—त्रिराकुके समान घीचमें लटक लाओ ।

राजा—मैं तो सबमुच बड़ी उलमनमें पड़े गया हूँ । क्या उताऊ ? दोनों कार्य दो
 अलग अलग स्थानोंमें पड़ रहे हैं । इसलिये इस समय दुविधामें पड़े हुए मेरे मनकी वही
 दशा हो रही है जो पहाडसे रुकी हुई नदीकी धारानी होती है ॥१७॥ [ताचर] मित्र !
 देखो ! माताजी तुम्हें भी पुत्रके ही समान मानती हैं । इसलिये तुम आओ और माताजीसे
 कह देना कि मैं अपिप्योकी रक्षामें लगना दुष्का हूँ । और वही जो कुछ मेरे करनेका काम हो
 सब तुम्हीं पर ढालना ।

विदूषक—पर इससे यह न समझिए कि मैं राक्षसोंसे डरता हूँ ।

राजा—[मुस्कराकर] भला तुम्हारे विषयमें क्या कभी ऐसा सोचा भी जा सकता है ।

विदूषक—तो मैं जैसे ही ठाट घाटसे जाऊँगा जैसे राजाका छोटा भाई जाता है ।

राजा—ठीक है । जहाँतक हो तपोवनसे सय थपेड़ा दूर ही रचना चाहिए । इसलिये
 सेनाकी भी तुम्हारे ही साथ भेज देवा हूँ ।

विदूषकः—[उग्वर्षम्] तेण हि जुवराओ न्हि दाणिं संबुत्तो । [तेन हि युवराजोऽस्मीदानीं संबुत्तः ।]

राजा—[स्वगतम्] चपलाऽथं वदुः । कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तः पुरेभ्यः कथयेत् । भवतु । एनमेवं वक्ष्ये—[विदूषकं इत्थे गृहीत्वा प्रकाशम्] वयस्य ऋषिमौरवादाश्रमं गच्छामि । न ररतु सत्यमेव तापसकन्धकायां मनाभिलापः । परय—

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशर्विः सममेधितो जनः ।

परिहासविजल्पितं सत्त्वे परमार्थेन न गृह्यतां वचः ॥ १८ ॥

विदूषक—अह इ । (अथ किम् ।)

[इति निष्कान्ताः सर्वे ।]

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

विदूषक तब तो इस समय में युवराज ही बन गया है ।

राजा—[मन ही मन] यह ब्राह्मण बड़ा नटपट है । कहीं यह रनिवासमें जाकर मेरी सय बातें न कह डाले । अच्छा, इसे थोड़ा समझता हूँ—[विदूषकका हाथ पकड़कर । प्रकट] मित्र, मैं ऋषियोंका बड़ा आदर करता हूँ इसीलिये उनके आश्रममें जाया करता हूँ । और उस ऋषिसभ्याके लिये तो मेरे मनमें तनिक मो प्रेम नहीं है । क्योंकि—कहाँ तो हम, और कहीं प्रेमभी जाती।से एकदम अनजान, मृगशर्वीके साथ पत्नी हुई यह कन्या । मित्र, हमने हासोंमें जो इतनी बातें तुमसे कही हैं उन्हें तुम सत्य न समझ बैठना । १८ ।

विदूषक—अच्छा ।

[[सब चले जाते हैं ।]]

॥ दूसरा अङ्क समाप्त ॥

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति दुःशानादाय यत्रमानशिष्यः ।]

शिष्यः—अहो महानुभावः पार्थिवो दुःप्यन्तः प्रविष्टमात्रे एवाश्रमं तत्रभवति राजनि
निरुपद्रवाणि नः कर्माणि प्रवृत्तानि भवन्ति ।

का कथा याणमंधाने ज्याशुन्देनैव दूरतः ।

हुंकारेणैव धनुषः म हि विघ्नानपोहति ॥ १ ॥

याद्यदिमान्त्रेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृश्विगम्य उपनयामि [शरिक्मपावलोक्ष्य च आकाशे]
प्रियंवदे कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते । [आकर्ष्य] कि
मधीपि । आतपलङ्घनादलवदस्वस्था शकुन्तला तस्याः शरीरनिर्वापणायेति । तर्हि त्वरितं
गम्यताम् । सा खलु भगवतः कस्यस्य कुलपतेरुद्भूतसितम् । अहमपि तावद्वैतानिकं शान्त्युदक-
मस्य गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि । [शति निष्क्रान्तः ।]

विष्कम्भकः ।

तृतीय अङ्क

[हाथमें बुझा लिए हुए कण्ठके शिष्यका प्रवेश ।]

शिष्य—महारज दुःप्यन्तका प्रताप तो देखिए कि जयसे वे आश्रममें पधारे हैं सभीसे
हमारे सभ काम धैरोरु-टोरु होते चले जा रहे हैं—याण चदानेकी तो बात ही क्या, केवल
अपने धनुषकी टंकारसे ही वे विघ्नोको दूर भगा देते हैं । १॥ तो बलूँ, श्रुतिजोके लिये
वेदोपर विद्वानेकी कुशा ले जाकर पहुँचा आऊँ । [घूमकर आकाशकी वाद देखते हुए ।]
अरी प्रियंवदा, ये डंढलवाले कमलके पत्रे और स्वस मिला हुआ लेप क्रिमके लिये ले जा
रही हो । [मुननेका नाट्य करने हुए] क्या रहा कि शकुन्तला लू लग जानेसे यड़ी बेचैन हो
गई है, उसके शरीरको ठंडक पहुँचानेके लिये हो यह सभ ले जा रही हूँ ! तो सुन्त जाओ
क्योंकि यह भगवान् कुलपतिकस्यके प्राणके समान है । मैं भी तपतक उसके लिये गौतमीके
हाथ यज्ञका शान्ति-जल भेजता हूँ । [प्रस्थान]

विष्कम्भक ।

[ततः प्रविशति कामयमानावस्पो राजा ।]

राजा—[गच्छन्ति निःस्वस्य]

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम् ।

अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥ २ ॥

[मदनवाधा निरूप्य] भगवन्कुसुमायुध त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्यामर्ति-
संघीयते कामिजनसार्थः । कुतः—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मिभ्रमिन्दोर्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते महिषेषु ।

विमुञ्जति द्विमग्नैरग्निमिन्दुर्मयूखैस्त्वमपि कुसुवाणान्वज्रसारीकरोपि ॥ ३ ॥

अथवा ।

अनिशमपि मरुकेतुर्मनमो रुजमावहन्नभिमतो मे ।

यदि मदिरापतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति ॥ ४ ॥

[सखेद परिग्रह्य] क्व नु राजु संस्थिते कर्पणि सदस्यैरनुजात श्रमस्लान्तमारमानं
चिनोव्यामि । [निःस्वस्य] मि नु राजु मे प्रियादर्शनान्ते शरखमन्यत् । यावदेनामन्विष्यामि ।
[स्वयंमवलोक्य] इसामुमातपखेलः प्रायेणलनायलयवत्सु भाकिनीतीरेषु ससखोजना शकुन्तला
गमयति । तत्रैव तावद्गन्धामि । [परिग्रह्य ससर्षां कृषित्वा] अहो प्रवातसुभगोऽयमुदेशः ।

[तामसे पीडित अवस्थामें राजा दुष्पन्तका प्रवेश ।]

राजा—[उच्यते भरकर ।] मैं तपरिषोंकी शक्ति भलों भाँति पहचानता हूँ, इसलिये
मैं उसे हरकर भी नहीं ले जा सकता, और यह भी जानता हूँ कि विवाह करना या न
करना उस कुमारीके हाथमें नहीं है इसलिये यह स्वयं भी मेरे साथ नहीं जा सकती । फिर
भी न जाने क्या बात है कि मैं अपना मन उस परसे हटा ही नहीं पा रहा हूँ । [काम-
पीडाका नाट्य करते हुए ।]—हे पूछोंके धनुष-बाण धारण करनेवाले कामदेव ! तुमने और
चन्द्रमसे उन सब कामियोंको बड़ा धोखा दिया है जो तुमपर विश्वास किए बैठे थे ।
क्योंकि—तुम्हारा पूछोंके बाणवाला कहा जाना और चन्द्रमाया ठण्डी किरणोंवाला कहा
जाना, ये दोनों बात मुझ जैसे पिरदियोंकी मूठी ही जान पड़ती हैं । क्योंकि चन्द्रमा तो
अपनी ठण्डी किरणोंसे आग बरसा रहा है और तुमने भी अपने पूलके बाणोंमें बरसूरी
बटोरता भर ली है ॥३॥ पर यदि तुम मदमरो और बड़ी-बड़ी ध्रोंलोंवाली उस शकुन्तलाके
कारण मेरा जी चार-चार दुखा रहे हो तब तो तुम ठीक ही कर रहे हो ॥४॥ [दुखी होकर
पूमता हुआ] यह ही जानेपर जब ऋषि लोग मुझे विदा कर देंगे तब मैं अपने दुखी प्राण
लेकर यहाँ मत बहलाऊँगा । [उच्छ्वसित होकर] प्रियासा दर्शन छोडकर अन और दूसरा
क्या सहारा है । चल उसीकी हूँ । [दुखकी देखाकर] ऐसी भगी दुपहरीमें शकुन्तला
अपनी सत्त्वियेके साथ मालिनीके तटपर बने लतामण्डपोंमें ही जाकर प्रायः बैठा करती
है । तो यहाँ चलता हूँ । [पूमकर और वायुका सर्ष होनेका अभिनय करता हुआ] वाह, यहाँ

शक्यमरविन्दसुरभिः कण्वाही मालिनीतरङ्गाणाम् ।

अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितं पवनः ॥ ५ ॥

[परिक्रम्यावलोक्य च] अस्मिन्वेतसपरिचिते लतामण्डपे संनिहितया शकुन्तलया भवितव्यम् । तथा [अपां विलोक्य]—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जवनगौरवात्पथात् ।

द्वारेऽस्य पाण्डुरसिक्ते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥ ६ ॥

यावाद्द्विपात्ररेणायलोक्यामि । [परिक्रम्य तथा वृत्ता । सहर्षम्] अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम् । एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमविशयाता सखीभ्यामन्वास्यते । भवतु । शोष्याभ्यासां विलम्बकथितानि । [इति विलोक्यन् स्थितः ।]

[वतः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला ।]

सखी—[उपनीच्य सलोहम्] हला सट्टवले अवि मुहेदि दे णलिणीपत्तयादो । (हला शकुन्तले अपि सुपयति ते नस्मिनीपदयातः ।)

शकुन्तला—किं वीअअन्ति मं सहीओ । (किं वीअयता मा सखी ।)

[सखी विषादं नाटयित्वा परस्परमवलोक्यतः ।]

राजा—वलवदस्वश्वशरीरा शकुन्तला दृश्यते । [सवितर्कम्] तस्मिन्ममात्पदोप स्यात् उत यथा मे मनसि तर्तते [सांगित्य निवर्ण्य] अथवा वृत्तं संदेहेन ।

वैसा अचछा पवन बह रहा है ।—कमलमें वसा हुआ और मालिनीकी लहरोंकी कुहारोंसे लदा हुआ यह पवन, कामसे तपे हुए अगोंको बड़ा सुहायना लग रहा है ॥५॥ [घुमर और देखकर] यँतोंमे घिरे हुए इस लतामण्डपमें ही वहाँ शकुन्तला बैठी होगी । क्योंकि— [नीचे देकर] हम कुञ्जके द्वार पर पीली रेतोंमें भारी मित्तयाली सखियोंके पैरोंके नये पड़े हुए चिन्ह दिखाई दे रहे हैं जो एड़ोंकी ओर गहरे और आगेकी ओर उठे हुए हैं ॥६॥ अन्ध ! इन वृत्तोंकी ओटसे देखता हूँ । [घुमर और प्रवृत्त हाकर] याह ! मेरी आँखें टपटपी हो गई ! मेरी प्यारी यहाँ सुन्दर फूलोंके विछीनेवाली पत्थरकी पटियापर लेटी हुई है और दोनों सखियाँ इसकी सेवा कर रही हैं । अचछा ! अब सुनूँ तो कि ये आपसमें क्या बातें करती हैं । [लड़ा हाकर हुनता है ।]

[शेषा ऊपर कहा गया है उस दशामें शकुन्तलाके साथ सखियों दिखाई देती हैं ।]

सखियों—[उभे प्यारसे पढ़ा झलती हुई] क्यों सखी शकुन्तला ! कमलके पत्तोंके झलनेसे कुछ टपटक मिला रही है ?

शकुन्तला—सखियो क्या तुम मुझे पढ़ा माल रही थी ?

[सखियाँ दुखी होनेका अभिनय करती हुई एक दूसरीका देखती हैं ।]

राजा—शकुन्तला तो यही वैचैन दिखाई पड़ रही है । [मोचकर] क्या इसे लू लग गई है ? या वहाँ ऐसा न हो कि जो दशा मेरे मनकी है वही इसके मनकी भी हो । [लपलाई आँसुओंमें देवता हुआ] पर सन्देह सिया ही क्यों जाय । क्योंकि—

स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयं

प्रियायाः साधार्यं किमपि कमनीयं वपुरिदम् । -

समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-

र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु ॥ ७ ॥

प्रियवदा—[वनान्तरम्] अणसूप तस्मै राएसिणो पदमदंसणादो आरहिअ पञ्जुस्तुआ विअ सवन्दला । किं गु वस्तु से तण्णमित्तो अर्थं आवड्ढो भवे । (अनसये तस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य पशुंसुकेव शकुन्तला । किं न खलु तस्यास्तग्निभिचोऽपमातङ्को भवेत् ।)

अनुसूया—सहि मम वि ईदिसी आसङ्गा हिअअस्स । होदु । पुच्छिस्सं वाव णं । [प्रकाशम्] सहि पुच्छिदव्वासि किं पि । धलवं वस्तु वे संवादो । (सखि ममापीदृश्याशङ्का हृदयस्य । भवतु । प्रदशमि तावदेनाम् । सखि प्रवृथ्वाऽसि किमपि । वक्ष्यान्खलु ते कृतापः ।)

शकुन्तला—[पूर्वार्धेन शयनाद्गत्याय] हला कि वस्तुकामासि । (हला कि वस्तुकामासि ।)

अनुसूया— हला सवन्दले अण्णमन्तरा वस्तु अण्णे मदण्णगदस्स वुत्तन्तस्स । किट्टु जादिसी इदिहासखिअण्णेषु कामअमाणाण अक्खत्था सुणीअदि तादिसी दे पेइरामि । कहेहि किण्णिमित्तं संवादो । विआरं वस्तु परमत्थदो अजाण्णिअ अण्णारम्भो पडिआरत्त । (हला शकुन्तले अनभ्यगरे खलुवाया मदनगतस्य वृत्तान्तस्य । किट्टु यादृशी इतिहासनिष्पन्नेषु कामप्रमानानामवस्था क्षपते तादृशीं ते पर्यामि । नयय किनिमित्तं ते सतापः । विकारं खलु परमार्थतः अज्ञानाऽनारम्भः प्रतीकारस्य ।)

इसके स्तनोंपर खसका लेप लगा हुआ है और एक हाथमें कमलकी नालका ठीला कंगन बंधा हुआ है । पर इतनी बेचैन होनेपर भी इसका शरीर कुछ कम सुन्दर नहीं लग रहा है । यद्यपि लू लगने और प्रेममें पड़नेपर बेचैनी एक-सी ही होती है किन्तु लू लग जानेपर युवतियोंमें इतनी सुन्दरता नहीं रह जाती ॥ ७ ॥

प्रियवदा—[अलग] अनुसूया ! जबसे शकुन्तलाने उस राजर्षिको देखा है तभीसे यह सनपर लड्डू हो गई है । कौन जाने यह बेचैनी वहाँके कारण हो ।

अनुसूया—सखी ! मैं भी कुछ ऐसी ही बात सोचती हूँ । अच्छा ! इसीसे पूछ देखती हूँ । [प्रकट] सखी, मैं तुमसे कुछ पूछना चाहती हूँ । देखो, तुम्हारी बेचैनी बहुत बड़ चली है ।

शकुन्तला—[बिठानेपर आधी ठठकर] क्या पूछना चाहती हो सखी ?

अनुसूया—शकुन्तला ! हम लोग प्रेमकी बातें तो कुछ जानती नहीं हैं फिर भी कथा-बहानियोंमें हमने प्रेमियोंकी जो बातें सुनी हैं, ठीक ऐसी ही दृश तुम्हारी भी दिखाई पड़ रही है । तो यताश्रो तुम किसके लिये इतनी बेचैन हो । क्योंकि जबतक रोगका पता न पड़े तबतक उसका उपाय कैसे किया जा सकता है ?

राजा—अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तरकः । न हि स्वाभिप्रायेण मे दर्शनम् ।

शकुन्तला—[आत्मगतम्] चलवं बन्धु मे अहिणिवेसो । दासिं वि सहसा एदारुं ए सक्णामि शिवेदिदुं । (बलमान्तरु मेऽभिनिवेशः । इदानीमपि तद्वैतयोर्न शनोमि निवेदयितुम् ।)

प्रियदा—सहि सउन्दले सुदु एसा भणादि कि अत्तणो आतङ्क उवेकरसि । अणुदिअहं बन्धु परिहिअसि अङ्गेहिं । केवलं लावण्यमई छाआ तुमं ए सुअदि । (सति शकुन्तले सुष्ठु एषा मणति । क्रिमात्तन आतङ्कमुपेभसे । अनुदिवस एउल परिहायसेऽङ्गेः । केवल एवण्यमयी छाया त्वा न गुञ्चति ।)

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा । तथा हि—

कामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तरतनं

मध्यः क्लान्तरः प्रकामविनतावर्मो छत्रिः पाण्डुरा ।

शोच्या च प्रियदर्शना च मदनविलप्येयमालक्ष्यते

पत्राणानिव शोषणेन महता स्पृष्टा लता माधवी ॥ ८ ॥

शकुन्तला—सहि वरस वा अण्णस्स कद्दसं । आआइसत्तिआ दासिं धो मविस । (सति वरस याऽवस्य कथयिष्यामि । आयावयितीदानीं वा भविष्यामि ।)

उभे—अदो एउय बन्धु शिन्दवन्धो । सिण्णिद्धजणसविभत्तं हि दुक्ख सम्मवेदणं होदि । (अत एव एउल निर्बन्धः । सिण्णजनकविमक दि दुःख तद्वेदनं भवति ।)

राजा—मैं जो बात समझ रहा था वही अनसूया भी सोच रही है । तो मैंने जो कुछ सोचा था वह केवल मेरे मनकी ही बात नहीं थी ।

शकुन्तला—[मन ही मन] सचमुच मेरा प्रेम घहुत आगे बढ़ गया है और मुझसे एकाएक कुछ कहते नहीं बन रहा है ।

प्रियदा—सखी शकुन्तला ! अनसूया ठीक कह रही है । तुम क्यों अपना रोग बढ़ाती जा रही हो । दिन पर दिन तुम इतनी सूखती चली जा रही हो कि तुम्हारे शरीरपर घस यह सुन्दरतानी मलक भर वची रह गई है ।

राजा—प्रियंवदा सच कहती है । क्योंकि—इसके गाल मुरझा गए हैं, मुँह सूख गया है, स्तनोंकी पठोरता जाती रही है, कमर और भी पतली हो गई है, कन्धे मुक गए हैं और देह पीली पड़ गई है । वायुके परससे मुरझाई हुई पतियोंवाली माधवी लताके समान यह सुन्दर भी लगती है और इसपर दया भी आती है ॥ ८ ॥

शकुन्तला—तुमसे न कहूँगी तो निमसे कहूँगी ! सखी अब तुम दोनोंको मेरे लिये कुछ बट करना पड़ेगा ।

दोनों—इसीलिये तो हम तुमसे इतना आग्रह कर रही हैं । देखो, अपने गेहियोंसे दुःख बाँट लेनेपर यह कम हो जाता है ।

राजा—

पृष्टा जनेन समदुःखमुखेन बाला नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम् ।

दृष्टो विष्टृत्य बहुशोऽप्यनया सत्पुण्यमत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥ ६ ॥

शकुन्तला—सद्दि जदो पद्दुदि मम दंसणपहं आअदो सो तवोवणरक्खिउदा राअसी तदी आरहिअ समदेण अहिलासेण एतदवत्थन्निह संवुत्ता । (धरि यतः प्रभृति मम दर्शनपर्यमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः तत आरभ्य तद्वेनाभयपेगैतदवथाऽस्मि सृष्ट्वा ।)

राजा—[वृहस्पतेम्] श्रुतं श्रोतव्यम् ।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जलतः ।

दिवस इवार्धरथामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥ १० ॥

शकुन्तला—तं जह वो अणुमदं । ता तहवदृह । जह तस्स राएसिणो अणुकम्पणिज्जा होमि । अणुहा अथसं सिद्धथ मे तिलोदत्रं । (तद्यदि वामनुमतम् तदा तथा वर्तेषाम् यथा तस्य राजर्वेनुकम्पनीया भवामि । अन्यथा अन्यथ निश्चरं मे तिलोदनम् ।)

राजा—संशयच्छेदि वचनम् ।

प्रियंवदा—[वनान्तिम्] अणुसुर दूरगममन्महा अक्खमा इअं कालहरणसस । जस्सि वद्धमावा एसो सो ललामभूदो पोरवाणं । ता जुत्तं से अहिलासो अहिसान्दिदुं । (अनर्थं दूरगतमन्महा अणुमेयं कालहरणस्य । यस्मिन् वद्धमावैषा स ललामभूतः पौरवाणाम् । तदुक्तमस्या अभिलाषोऽगिनन्दितुम् ।)

राजा—दुःख-सुखमें साथ वेनेवाही अपनी इन सगियोंके पूछनेपर तो यह बाला अचर्य ही अपने मनकी बात बजा देगी । यद्यपि शकुन्तलाने उस समय बड़े प्यारसे चार-चार मेरी ओर ललचाई आँसोंसे देखा था, फिर भी मेरे जीमें यड़ी धुक्धुकी हो रही है कि देखें यह अपनी बेचैनीका क्या कारण बताती है ॥ ९ ॥

शकुन्तला—सखी, आश्रमकी रक्षा करनेवाले वे राजर्षि जयमे मेरी आँसोंमें समाए हैं तभीमे उन्हें के प्रेममें मेरी यह दशा हो गई है ।

राजा—[वृषभे] यह तो मैं सुनना चाहता था । जो कामदेव मुझे पीड़ा दे रहा था उसीने मुझे इस प्रकार जिला लिया जैसे गर्मीका दिन पहले तो जीवोंको व्याकुल कर देता है पर गर्मी शीत जानेपर वही सबका जी हरा कर देता है ॥ १० ॥

शकुन्तला तो यदि तुम दोनों ठीक समझो तो कोई ऐसा उपाय करो कि उन राजर्षिकी मुझपर कृपा हो जाय । नहीं तो मुझे तिलाञ्जलि देने के लिये तैयार हो जावो ।

राजा—[मन ही मन] वस, यह बात सुनकर सब सन्देह जाता रहा ।

प्रियंवदा—[अनवृषभे अलग] सखी, इसकी प्रेम-व्यथा इतनी बढ़ गई है कि कोई उपाय शीघ्र ही करना चाहिये । सचगुच इस बातकी तो सराहना करना ही पड़ेगी कि शाकुन्तलाने प्रेम किया तो पुरुवशो भूषण दुष्यन्तमे ही ।

अनगूया—तह जह भणमि । (तथा यथा मगसि ।)

प्रियंवदा—[प्रकाशम्] सदि विट्ठिआ अण्णुखो वे अदिण्णिवेसो । साअरं उज्जिम्य वदि वा महाणई ओदरइ को दाणि सहअरं अन्नेण अदिमुत्तलं पल्लविदं सहेदि । (सखि दिअन्नाऽनुरूपस्तेऽभिनिधेयाः । सागरमुत्थिता कुन वा महानयनतरति क इदानीं सहस्रारमन्तरेणातिमुत्थिता पल्लविता सहेते ।)

राज—किमत्र चित्रं यदि विशाले शशाङ्कलेपामनुवर्तेते ।

अनसया—को उण उवाओ भवे जेण श्रविलम्बियं णिट्ठुअं अ सदीय मनोहरं संपादेण्ढ । (कः पुनश्चाया भवेनेवाविलम्बितं निभृतं च महया मनोरथ सपादयावः ।)

प्रियंवदा—णिट्ठुअं सि चिन्तणिज्ज भवे । मियं ति सुअरं । (निभृतमिति चिन्तनीय भवेत् । शीघ्रमिति सुकरम् ।)

अनगूया—वहं विअ । (यथभिर ।)

प्रियंवदा—ए मो राणी डमरिंस मिण्डविट्ठोए सुड्ढाहिलामो दमाड दिअहाई पजाअरफिमो लहाओअदि । (ननु य राजार्पितस्था स्त्रियदृश्यः सूचिताभिरप्यपतान्दिवसन् प्रजागरुहा लक्षयेते ।)

राजा—सत्यमित्थंभूतं मयास्मि । तथा हि

इदमशिशिरैरन्तस्ताग्निवर्णमशीकृतं निशि निशि भुजन्वस्तावाङ्गरसारिभिरश्रुभिः ।
अनभिलुलितज्वापाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात्कनकवलयं सस्तंसस्तं मया प्रतिमाप्यते ॥११॥

अनसया—हाँ, यह तो सत्य है ।

प्रियंवदा—[प्रकट] मन्वी, तू बड़ी भाग्यवान है कि तेसे योग्य व्यक्तिसे तुने प्रेम किया । क्या तो, भला सागरको छोड़कर महानदी और वहाँ जायगा ? आसके टुकका छोड़कर नये पत्तोवाला माधवा भला और तिमके सहारे चड़ेगी ?

राजा—यदि विशालाने दोनों नक्षत्र चन्द्रकलाके पीछे पीछे चलें तो आश्चर्य ही क्या ?

अनसया—तो कोई ऐसा उपाय बताओ कि इसरी इन्द्रा भी सुरन्त पूरी हो जाय और कोई जान भी न पाये ।

प्रियंवदा—तुरन्त वाला उपाय तो ही सकता है, पर बात छिपी रहे, इसीके लिये थोडा सोचना पड़ेगा ।

अनसया—क्यों ?

प्रियंवदा—सभी बात तो यह है कि राजर्षि भी शकुन्तलासे प्रेम करते हैं । तभी तो दिन-रात जागते रहनेके कारण इधर वे कुछ दुबलेसे दिखते पड़ने लगे हैं ।

राजा—सचमुच मेरी मेसो ही दशा हो गई है । मैं इतना दुबला हो गया हूँ कि सिरके तले लगी हुई भुजापर बँधा हुआ, रात-रात भर मेरी आँखोंकी कोरोंसे छन-छनकर गिरे हुए गर्म आँसुओं से मूँले रहलौवाला, यह सोनेका भुजबन्ध इतना ढीला पड़ गया है कि बार-बार ऊपर सरकाते रहनेपर भी यह गट्टेपर टिसक आता है और धनुषकी डोरीकी फटनासे पड़े हुए घट्टोंपर भी नहीं ठहर पाता ॥ ११ ॥

प्रियवदा—[विचिन्त्य] हला मञ्जुल्लेहो से करोअडु । इमं देवपसादरसावदेसेण सुमणो-
गोविदं करिअ से हृद्यअं पावइस्सं* । (हला मदनलेखोऽस्य कियताम् । इमं देवप्रसादस्यापदेशेन
सुमनोगोपितं कृत्वा तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि ।)

अनसूया—रोअइ मे सुडमारो पओओ । कि षा सउन्दला भण्णादि । (रोचते मे सुकुमारः
प्रयोगः । किं वा शकुन्तला भवति ।)

शकुन्तला—को खिओओो विकप्पीअदि । (को नियोगो विकल्पते ।)

प्रियवदा—तेण हि अत्तणो उवण्णासपुण्यं चिन्तेहि दाव ललिअपदवन्धणं । (तेन ह्यात्मन
उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललितपदवन्धनम् ।)

शकुन्तला—हला चिन्तेमि अहं । अवहीरणभोरुअं पुणो वेवइ मे हिअअं । (हला चिन्त-
याम्यहम् । अवधीरणभीरुकं पुनर्वपते मे हृदयम् ।)

राजा—[सहर्षम्]—

अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम् ।

लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथंभीक्षितो भवेत् ॥२॥

सहर्षो—अत्तगुणावमाखिणि को दाणि सरीरखिज्यावत्तिअं सारदिअं जोसिणि ।
पडन्तेण वारेदि । (आतागुणावगानिनि क इदानी शरीरनिर्वापयिषीं शारदीं जयात्तना पडन्तेन
वारयति ।)

शकुन्तला—[सहितम्] णिओइअ दाणि मिह । (निषामितेदानीमस्मि ।) [इत्युपविष्टा
चिन्तयति ।]

प्रियवदा—[सोचकर] सखी ! इससे एक प्रेम-पत्र लिखवाया जाय और उसे फूलोंमें
छिपाकर देवताका प्रसाद कहकर उन्हें दे दिया जाय ।

अनसूया—यह उपाय तो मुझे भी बड़ा सुन्दर जँचा । पर शकुन्तला से भी तो पूछ लो ।

शकुन्तला—तुम्हारी बातमें भला मैं क्या मीन-मेख निकाल सकती हूँ ।

प्रियवदा—तब अपनी दशाका वर्णन करते हुए एक सुन्दर-सी कविता तो बनाओ ।

शकुन्तला—कविता तो मैं बना लूंगी । पर मेरा हृदय यह सोचकर कोंप उठता है कि
कहाँ वे मेरा निरादर न कर बैठें ।

राजा—[हर्षते] तुम जिससे निरादरकी आशंका कर रही हो वह तुमसे मिलनेको
उतावला हुआ खड़ा है । जो लक्ष्मीकी पाना चाहता हो उसे लक्ष्मी भले ही न मिले पर
जिसे स्वयं लक्ष्मी चाहे वह लक्ष्मीको न मिले, यह कैसे हो सकता है ॥ २२ ॥

दामोदर—तू अपनेको इतना छोटा क्यों समझती है ! भला यता तो ऐसा कीन मूर्ख होगा
जो शरीरको शान्ति देनेवाली शरदकी चाँदनीको रोक्नेके लिये सिरपर कपड़ा तान ले ।

शकुन्तला—[दुःखितकर] अच्छा, जो कहती हो वही कहती हूँ । [यह कहकर बेटी हुई
काबती है ।]

राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि । यतः —

उन्नमितकञ्जुलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।

कस्त्यद्वितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥ १३ ॥

शकुन्तला—हला चिन्तितं मया गोदवत्यु । ए कस्तु सपिणहिदाणि उण लेदणमाहणाणि ।
(हला चिन्तितं मया गीतवस्तु । न खलु संनिहितानि पुनरुत्पन्नसाधनानि ।)

प्रियंरदा—ईमस्मि सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णदेहिं सिक्खित्तवण्णं करेहि । (एतरिम-
न्दुओदरसुकुमारे तल्लिनीपत्ते नखेनिचितवर्गं कुरु ।)

शकुन्तला—[पयोक्तं क्लियता] हला सुणुह दाणिं संगत्त्वं ण वेति । (हला शृणुत-
मिदानीं संततार्थं न वेति ।)

उभे—अवहिदु म्हु । (अवहिते स्तः ।)

शकुन्तला—[चानयति]—

तुज्ज ण आणे हिययं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि ।

णिग्घिय तणइ वलीयं तुइ वुत्तमणोरुहाइं अङ्गाइं ॥ १४ ॥

तव न जाने हृदय मम पुनः कामो दिराऽपि रात्रिमपि ।

निर्घृण तवति बल्लेयल्लपि वृत्तमनोरथान्वहानि ॥)

राजा—[मन ही मन] प्यारीको आँलमर देगनेका यह अन्धा अवसर मिला है,
क्योंकि—इस गीत बनानेवालोंका, लताके समान चक्षु हुई एक मोदवाला और हृपसे
पुलकित गालोंवाला मुख यह बतला रहा है कि यह मुझे कितना प्यार करती है ॥ १३ ॥

शकुन्तला—सखी ! गीत तो मैंने सोच लिया है पर तिराफनेकी सामग्री तो यहाँ कुछ
भी नहीं है ।

प्रियंरदा—सुनेकी छातीके समान कोमल इस कमलिनोके पत्तेपर अपने नरोंसे ही
लिरा डालो ।

शकुन्तला—[ऐसा ही करती हुई] सखी ! अब सुनो, यह ठीक भी बन पाया है
या नहीं ।

दोनों—हाँ, हम सुन रही हैं ।

शकुन्तला—[बँचती है]—

हे निर्दय ! मैं नहीं जानती, तेरे मनकी माया ॥

पर तेरे ही प्रेम-पाशमें पड़कर यह फल पाया ।

कामदेव दिन-रात तपाता मेरो कोमल काया ॥ १४ ॥

राजा—[सहस्रोपसृत्य]

तपति तनुमात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।

ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वर्ती दिवसः ॥ १५ ॥

सत्सुगौ [सहस्रम्] साअर्धं अविलम्बिणा, मणोरहरस । (स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य ।)
[शकुन्तलाऽभ्युत्थाद्युमिच्छति ।]

राजा—अलमलमायासेन ।

संदष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तविसभङ्गसुरमीणि ।

गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ॥ १६ ॥

अनसूया—इदो मिलातलेकदेशं अलंकरेदु वअम्सो । (इतः शिलातलेकदेशमलंकरेदु वयस्यः ।)
[राजोपविशति । शकुन्तला सलभा तिष्ठति]

श्रियवदा—दुषेणं गु धो अण्णोएणाणुराओ पव म्लो । सहीसिणोहो मं पुणरुत्तयादिणिं
करेदि । (द्योनेनु सुभयोऽन्वोन्धानुरागः प्रत्यक्षः । सतीनेहो मा पुनश्चकादिनीं करोति ।)

राजा—भद्रे नैतररिहार्यम् । विव चेनं ह्यनुकमनु रापं जनयति । -

राजा—[शीघ्रतसे आगे बढ़कर ।] हे सुन्दरी ! तुम्हें तो कामदेव सताता भर है पर मुझे तो यह निरन्तर जलाप ही डाल रहा है । क्योंकि दिन निकलनेपर कुण्डिनी उतनी नहीं कुम्हलाती जितना चन्द्रमा कुम्हला जाता है ॥ १५ ॥

सखियों—[हर्षते] स्वागत हे आपका ! हम लोग अभी आपके दर्शनकी बात सोच रही थीं कि आप स्वयं ही आ गए ।

शकुन्तला उठना चाहती ।]

राजा—कष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं । विरहके अत्यन्त तापसे तुमने फूलके बिछौनेपर जो इपर-उपर करवटें ली थीं उसके कारण फूलोंकी पक्ष्मिणियों तुम्हारे शरीरमें पसीनेसे चिपट गई हैं । तुमने कमलकी नालके जो आभूषण पहन रखे हैं वे भी मुरझा गए हैं । इससे जान पड़ता है कि तुम्हारा शरीर अभी बहुत विकल है और तुम इस योग्य नहीं हो पाई हो कि उठकर आदर सत्कार कर सको ॥ १६ ॥

अनसूया—[राजाके] मित्र ! आप भी इसी पत्थरकी पाटीके एक कोनेको सुशोभित कीजिए ।

[राजा बैठ जाते हैं । शकुन्तला उठना चाहती है ।]

श्रियवदा—यद्यपि यह बात तो प्रत्यक्ष है कि आप दोनों एक दूसरेसे प्रेम करते हैं, फिर भी अपनी सतीके प्रेमके नाते मैं आपसे कुछ कहना चाहती हूँ ।

राजा—भद्रे ! अपने मनकी बात यह खोलिए । क्योंकि मनमें आई हुई बात यदि मनमें ही रह जावे दे तो पीछे पड़ा पड़ताया होता है ।

प्रियंवदा—आवण्यस्म विसञ्चि वासिणो जगस्म अत्तिहरेण ररणा ह्रीदव्यं ति एसो यो धम्मो । (आपन्नश्च विपक्विवाकिनो जनस्वार्तिहरेण राणा भविष्यमित्येव सुभार्कं धर्मः ।)

राजा—नामात्परम् ।

प्रियंवदा—तेह हि इयं यो पिअसही तुमं उदिसिअ दगं अत्तव्यन्तरं भअवता मयणेषु आरोविदा । ता अरहसि अत्तुववत्तीए जीविदं से अयलम्बिहुं । (तेन हीय नी प्रियवत्ती त्वासुदिस्येदमवस्थान्तरं भगवता मदनमारोपिता । तदहंस्यश्रुमस्या जीवितं तस्या अवलम्बितुम् ।)

राजा—भद्रे साधारणोऽयं ऽण्यः । सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि ।

शकुन्तला [प्रियंवदामलोक्य] हला किं अन्तेउरविरहपञ्जुअस्स राणसिणो उवरो-हेण । (हला किमन्तःपुरविरहपञ्जुअस्य राजपैरपरोपेन ।)

राजा—सुन्दरी ।

इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसंनिहिते हृदयं मम ।

यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे मदनवाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥ १७ ॥

अनसूया—वअस्स बहुवज्जहा राआणो सुणीअत्ति । जह यो पिअसही वन्धुअणसोअ-णिजा ए होए वह शिव्वरी हि । (वयस्य बह्वृत्लभा राजानः श्रूयन्ते । यया नो प्रियवत्ता श्रुणुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वर्तय ।)

राजा—भद्रे किं बहुना ।

परिग्रहवद्वत्त्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलम्य मे ।

ममुद्रवसना चोर्वां सर्वा च युवयोरियम् ॥ १८ ॥

प्रियंवदा—राजा होकर आपरा यह धर्म है कि अपने राज्यमें रहनेवाले लोगोंका पट दूर करें ।

राजा—क्या यस इतनी सी ही बात है ?

प्रियंवदा—हाँ । भगवान् कामदेवने आपके ही कारण हमारी सप्रीकी यह दशा कर दी है । अब आप ही कृपा करें तो हमके प्राण बचें ।

राजा—भद्रे ! यह तो आपकी बड़ी कृपा है क्योंकि यहाँ मेरी भी यही दशा है ।

शकुन्तला—[प्रियंवदासे देखकर] सप्री ! ये राजर्षि तो रनिवासको रनियोंके विरहमें व्याकुल हो रहे होंगे, इन्हें इस फेरमें क्यों डाल रही हो ।

राजा—सुन्दरी ! मेरा हृदय तुम्हें छोड़कर और किसीको प्यार नहीं करता । फिर भी हे मद्भरी चितवनवाली हृदयेश्वरी ! यदि तुम इसका विश्वास नहीं करती तो मैं यही समझूँगा कि कामदेवके वाणेंसे एकबार घायल हुएकोतुम दुबारा घायल कर रही हो ॥१७॥

अनसूया—वयस्य ! मुनते ह कि राजाओंको बहुतसी रनियों होते हैं । तो हमारी प्यारी सखीके लिये कुछ ऐसा प्रबन्ध कीजिएगा कि हम सगे-साथियोंकी फिर पड़ताना न पड़े ।

राजा—भद्रे ! मैं और तो क्या कहूँ । इतना ही वह देता है कि—रनिवासको इतनी रनियोंके होते हुए भी मेरे कुलमें से ही बड़ी समझी जायेंगी—एक तो सागरसे घिरी हुई पृथ्वी, और दूसरी तुम्हारी सप्री शकुन्तला ॥ १८ ॥

उभे—एण्वद् म्ह । (निवृत्ते स्मः ।)

प्रियंवदा—[सदृष्टिभोगम्] अण्वदू एह एसो इदो विण्णदिट्ठी वत्सुधो मिअपोदओ मादरं अण्णसदि एहि । संजोएम एं । (अनसये पणै इतो दत्तदृष्टिरुपुको मृगपोतको मातरम-
न्विष्यति एहि संयोजयान् यनम् ।) [इत्युभे प्रस्थिते ।]

शकुन्तला—इत्थाअसरणं म्हि । अण्णदरा वो आअच्छदु । (इत्था अघरणाऽस्मि । अन्व-
तरा युवयोराम्भुत्तु)

उभे—पुह्वीए जो सरणं सो तुह समीवे षट्ठइ । (पृथिव्या यः शरणं स तत्र समीपे वर्तते ।)
[इति निष्कान्ते ।]

शकुन्तला—कहं गदाओ एव्व । (कथं गते एव ।)

राजा—अलमायेगेन । नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते ।

किं शीतलैः क्लमघिनोदिभिरार्द्रवाता-

न्संचारयामि नलिनीदलतालघृन्तैः ।

अङ्गे निधाय करभोरु यथासुखं ते

संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ॥ १६ ॥

शकुन्तला—ए माण्णीएसु अत्ताणं अवरहइसं । (न मननीयेभ्याऽमानमंपराधियेभ्ये ।)
[इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति ।]

दोनों—तब हमें सन्तोष है ।

प्रियंवदा—[घाइर देउकर] अनमूया ! देख, वह मृगझौना इधर देखता हुआ अपनी
माँको ढूँढ रहा है । चल, इसे इसके माँके पास पहुँचा आवे ।

[चलनेमें उद्यत]

शकुन्तला—अरी सखियो ! मुझे किसके सहारे छोड़ जा रही हो ? दोनोंमें से एक तो
ठहरो ।

दोनों—सारी पृथ्वीको सहारा देनेवाला तो तेरे पास ही बैठा है ।

[प्रस्थान ।]

शकुन्तला—अरे क्या चली गई ?

राजा—घबराती क्यों हो ? तुम्हारी सेवा करनेवाला यह सेवक तो यहाँ बैठा ही है ।
सुन्दर जौपवाली ! इस समय जो तुम्हें सुहाता हो, मैं वही करनेको तत्पर हूँ । कही तो इन
थकावट दूर करनेवाले ठंडे कमलिनोके' पत्तोंसे पद्म मल्लें या कही तुम्हारे लाल पद्मलों
जैसे दोनों चरणोंको अपनी गोदमें रखकर धीरे धीरे दबाऊँ ॥ १९ ॥

शकुन्तला—पूज्य लोगोंसे सेवा कराकर मैं अपने सिर पाप नहीं लौंगी ।

[उठकर जाना चाहती है ।]

राजा—सुन्दरि अनिर्वाणो दिवसः इयं च ते शरीरावस्था ।

उत्सृज्य कुसुमशपनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् ।

कथमातपे गमिष्यसि परिधायापेलवैरङ्गैः ॥ २० ॥

[इति बलादेनां निवर्तवति]

शकुन्तला—पौरव रक्षर अविण्मं । मअणसंतत्तायि ए सु अत्तणो पहयामि । (पौरव रक्षाविनयम् । मदनसंतताऽपि न रक्ष्याऽमनः प्रभवामि ।)

राजा—भीरु अलं गुरुजनभयेन । दृष्ट्वा ते विदितभर्मा तत्रभवाम्नात्र दोषं प्रहोष्यति कुलपतिः । पर्य—

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजपिंकन्यकाः ।

श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृमित्राभिनन्दिताः ॥ २१ ॥

शकुन्तला—सुख दाव मं । भूओ वि सहिजण अणुमाणडरसं । (सुख तावन्नाम् । भूओऽपि सखीजनमनुमानविष्ये ।)

राजा—भवतु मोक्षयामि ।

शकुन्तला—कदा । (कदा)

राजा—सुन्दरी ! अभी दिन भी नहीं डला है और इधर तुम्हारे शरीरकी मी यह दशा है । इस दुपहरीमें फूलोंका विस्तर छोड़कर और कमलके पत्तोंसे स्तन ढककर, फिरहमें तपे हुए अपने दुर्बल अंगोंको छेकर तुम कहीं जाओगी ? ॥ २० ॥

[शकुन्तलाका हाथ पकड़कर उसे रोक रता है ।]

शकुन्तला—पौरव ! कुछ तो शीठका ध्यान रखरो । प्रेमसे व्याकुल होनेपर भी मैं अपने मनसे कुछ नहीं कर सकती ।

राजा—धरी डरपोक ! गुरुजनोंसे डरनेकी तो कोई बात ही नहीं है । पूज्य कुलपति धर्मकी भली भीति जानते हैं । यदि वे सब बातें जान भी लेंगे तब भी इसे दुग नहीं कहेंगे । देखो—बहुतके राजपियोंकी कन्याओंने गान्धर्व विवाह किया है और यह भी सुना जाता है कि उनके पिताओंने उनका समर्थन ही किया ॥ २१ ॥

शकुन्तला—अन्दा, अभी मैं छोड़ दोजिए । मैं कम से कम सखियोंसे तो पूछूँ ।

राजा—अन्दा, छोड़ ई ।

शकुन्तला—कदा ।

राजा—

अपरिचतकोमलस्य यावत्सुमुमस्येव नवस्य पटुपदेन ।

अधरस्य पिपासता मथाते सदर्यं सुन्दरिगृह्यते रसोऽस्य ॥ २२ ॥

[इति मुरमत्याः समुन्नमयिषुमिच्छति । शकुन्तला परिहरति नाठनेन ।]

[नेपथ्ये]

चक्रधारुनहुप आमन्ताहि सहअरं । उवट्टिआ रअणी । (चक्रधारुनहुके आमन्त्रयस्व सह-
चरम् । उपरिपता रजनी ।

शकुन्तला—[उधधमम्] पौरव असंसथं मम सरीरखुत्तन्तोचलम्भरस अज्ञा गोदमी
इदो एव्य आअच्छदि ता विहचन्तरिदो होहि । (पौरव असंसथ मम शरीरखुत्तन्तोचलम्भापार्या
गौतमीत एवागच्छति तद्विदग्धतरितो मर ।)

राजा—तथा । [इत्यात्मानमाहृत्य तिष्ठति]

[वतः प्रविशति पानदश्या गौतमी सलपी च ।]

सलपी—इदो इदो अज्ञा गोदमी । (एत एत आथां गौतमी ।)

गौतमी—[शकुन्तलामुपेत्य] जादे अचि लहुसंदागाईं टे अहाइ । (जाते अपि लघुसता-
पानि तेऽह्वानि ।)

शकुन्तला—अज्जे अरिथ मे विसेसो । (आर्ये अस्ति मे विशेषः ।)

गौतमी—इमिणा दम्भोदएण णिरायाधं एव वं सरीर भविस्सदि । [धिरति शकुन्तला-
मभ्युपेक्ष्य] वच्छे परिणवो दिअहो । एहि । उड्डजं एव गच्छम्मह । (अनेन दम्भोदवेन निरायाध
मेव ते शरीर भविष्यति । वरसे परिणतो दिवसः । एह । उड्डजमेव गच्छामः ।)

[इति प्रस्थिताः]

राजा—जैसे नये कोमल फूलका रस भीरा वड़े चावसे पीता है वैसे ही जब मुक
प्यासेको तुम्हारे कोमल अधरोंका रस पीनेको मिल जायगा तब छोड़ दूंगा ॥ २२ ॥

[ऐसा कहकर उधका मुँह ऊपर उठाना चाहता है । शकुन्तला राकनेका अभिनय करती है ।]

[नेपथ्यमे]

अरी चकवी ! अपने प्यारेसे विदा ले । रात आ पहुँची है ।

शकुन्तला—[सिन्धुगकर] पौरव ! जान पड़ता है मेरे शरीरकी दशा जाननेके लिये,
आर्या गौतमी यहीं आ रही हैं । इसलिये आप जाकर इस घुलकी ओटमें छिप जाइए ।

राजा—अच्छा । [छिप जाता है ।]

[हाथमे एक पात्र लिए हुए दानों सायेवेके साथ गौतमीका प्रवेश ।]

सलपी—इधर आइए आर्या गौतमी, इधर ।

गौतमी—[शकुन्तलाके पास जाकर ।] वरसे ! तुम्हारे शरीरका ताप कुछ कम हुआ ?

शकुन्तला—हाँ, थम तो कुछ ठीक है ।

गौतमी—लो, इस कुशाके जलसे तुम अच्छी हो जाओगी । [शकुन्तलाके विरपर बल
छिपकती है ।] वरसे ! दिन ढल गया है । आओ चलो, कुटोम चलें । [जाती है ।]

शकुन्तला—[आत्मगतम्] हि अत्र पदमं एव सुदोषणदे मणोरहे कातरभावं ए सुञ्चसि । माणुसप्रविहृष्टिअसस कइं दे संपदं संवाडो [पदान्तरे स्थिता प्रकाशम्] लदावलञ्च संदावहारअ आमन्तेमि तुमं भूयो वि परिमोअसस । (हृदय प्रथममेव सुशोभनत्वे मनोरथे कातरभावं न मुञ्चसि । सानुशयनिरहितस्य कथं ते साप्रत उतापः । लतापल्लव उतापहारक आमन्त्ये ता भयोऽपि परिमाणाव) [इति दुःखेन निष्फान्ता शकुन्तला संदेहरामिः ।]

राजा—[पर्वन्धानगुपेय सति, श्लाघम्] अहो विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः । मया हि—

सुहृद्भुलिसंभृताघरोष्टं प्रतिषेधान्नरविफलबाभिरामम् ।

सुखममविवर्ति पक्षमज्ञाः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥२३॥

कर न रजु संप्रति गन्धामि । अथवा इदं प्रियापरिमुक्तमुक्ते लतापल्लवे सुद्वर्त्थास्यामि । [सर्वतोऽप्यलोक्य]

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं

कलान्तो मन्मथलेख एव नलिनीपत्रे नखैरपितः ।

हस्ताद्भ्रष्टमिदं विनाभरणमि वासज्यमानेवणो

निर्गतुंसहमा न वेतमगृह्णाच्छकनोमि शून्यादपि ॥ २४ ॥

[आगते]

शकुन्तला—[मन ही मन] हृदय जय तुम्हारा प्यारा अपने आप आ पहुँचा था तब तो तुम डरपोक बने रहे । अब पड़ताते हुए विदुड जानेर क्यो इतना रो नलप रहे हो । [कुछ पग चलनी है, फिर खडा हाकर, प्रकट] हे सन्नाप हरनेवाले लतापुंज । बिहारके लिये मैं तुम्हें फिर निमन्त्रण दे जाती हूँ । [दुःखके साथ शकुन्तला प्रस्थान ।]

राजा—[पहलेके स्थानपर पहुँच कर आह भरकर] आह ! मनकी साथे पूरी होनेमें किननी बाधाएँ आ कूदती हैं । क्योंकि—सुन्दर पलकोंवाली शकुन्तलाके उस मुखको उठानर मैं चूम भी नहीं पाया जिसके थोठरी वह बार-बार अपनी उंगलियोंसे दन्ती रहती थी, जो बार-बार नहीं-नहीं कहते हुए बडा सुन्दर लग रहा था और जिसे वह बार-बार अपने कन्धेकी ओर मोड़ती जाती थी ॥ २३ ॥ अब नहीं जाऊँ ? अन्धा इसी लता-पुंजमें थोड़ी देर ठहर जाता हूँ जहाँ प्यारो इतनी देर रहकर चली गई है । [चारों ओर देखकर] इस पडियापर उसके शरीरसे मसला हुआ यह फूलोंका विद्यावन पड़ा है । कमलिनोके पत्तेपर नखोंसे लिखा हुआ और सुरभाया हुआ यह प्रेम-पत्र भी रक्ता हुआ है । उसके हाथोंसे सूतकर गिरे हुए ये कमलनाडके आभूषण भी बिपारे हुए हैं । इसलिये अपने नेत्रोंको बल-मानेवालो इतनी बस्तुओंके होते हुए घेतोंसे घिरे हुए श्म सुने लता-भण्डपको इतनी शीघ्र छोड़कर मैं कहीं भी नहीं जा पा रहा हूँ ॥ २४ ॥

[आगते]

राजन्

सार्यतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते वेदीं हुताशनवर्तीं परितः प्रयस्ताः ।

आयाथगन्ति बहुधा भयमादधानाः संध्यापथोदकपिशाः पिशिताशनानाम् ॥२५॥

राजा—अयमयमागच्छामि । [इति निष्क्रान्तः ।]

इति तृतीयोऽङ्कः ।

राजन्—सायंकालके यज्ञकर्मके आरम्भ होते ही जलती हुई अग्निवाली वेदियोंके चारों ओर सोंकके बादलोंके समान काले-काले और लाल-लाल डरावने राक्षस इधर-उधर घूमने लगे हैं ॥ २५ ॥

राजा—मैं आता हूँ । [प्रस्थान ।]

तासरा अङ्क समाप्त ।

चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशतः कुसुमावचय नायक्यौ उच्यते ।]

अनसूया—पिअंवदे जहू बि गन्धर्वेण बिहिणा णिअनुचक्रलाणा सउन्दला अणुखुवभ-
सुगाभिणी संवुत्तेति णिअनुदं मे हिअअंतहू बि एत्तिअं भिन्तणिअंजं । (यियअं ययपि गान्ध-
र्वेण त्रिधिना निहंउचक्रलाणा शकुन्तलाऽनुकरभृंगामिनी संवुत्तेति मे हृदयं तयाण्येताविन्धि-
न्तनीयम् ।)

प्रियंवदा—रहं यिय । (कथमिव ।)

अनसूया—अज्ज सो रागमी इट्ठि परिसमाविअ इमीहि मविज्जियो अत्तणो गुअरं पवि-
निअ अन्तेउरसमागतो उदेगवं वुत्तन्तं सुमरदि वा ण वेत्ति । (जय य राअपरिधिं परि-
माअ अविभिर्त्तिअंजितं आरमनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तन्तं स्मरति वा न वेत्ति ।)

प्रियंवदा—चोसद्धा होहि । ए तादिसा आकिदिविसेमा गुणविरोधिणो होन्ति । तादो
दाणि इमं वुत्तन्तं सुणिअ ए जाणे किं पडिबज्जिसदि ति । (निमब्बा भ । न तादसा
आकृतिविरोधा गुणविरोधिणो भवन्ति । तात इदानीमिमं वृत्तन्तं अुरा न जाने किं प्रतिपत्तवत इति ।]

अनसूया—जहू अहं वेकलामि तहू तरस अणुअदं मवे । (ययाऽहं पश्यामि तया
तस्यानुमतं भवेत् ।)

प्रियंवदा—कहं विअ । (कथमिव ।)

चतुर्थ अङ्क

[पूरु सुननेका अभिन्तय करती हुई दोनों सरितयोंका प्रवेश]

अनसूया—प्रियंवदा ! इस बातसे तो जीको बड़ा संतोष हुआ कि शकुन्तलाका गान्धर्व
विवाह हो गया और उसे योग्य पति भी मिल गया, पर इस बातकी वड़ी चिन्ता है ।—

प्रियंवदा—किस बातकी ?

अनसूया—यही कि आज यह हो चुकनेपर जब ये राजा शपियोंसे बिना लेकर अपने
नगरके रनिवासमें पहुँच जायेंगे तब यहाँकी सुष उन्हें रह भी पावेगी या नहीं !

प्रियंवदा—इसकी चिन्ता न कर । क्योंकि ऐसी चाल-ढालके लोग कपटी नहीं हुआ
करते । पर ये सब बातें सुनकर न जाने पिताजी क्या करेंगे ?

अनसूया—मैं जहाँतक समझती हूँ, वे इसका सयर्थन ही करेंगे ।

प्रियंवदा—क्यों ।

अनसूया—गुण्यदे करण्णा पढिवादिणिजेसि अत्रं वाव पदमो संपणो । तंजइ देव्वं एव्व संपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरुअणो । (गुण्यते क्यका प्रतिपादनीयेत्यय तावअ-यमः संकल्पः । तं यदि दैवमेव संपादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः ।)

प्रियंवदा—[पुष्पमाजनें विलोक्य] सहि अचइदाईं वलिकम्मपज्जत्ताईं पुसुमाईं । (सति अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि ।)

अनसूया—एणं सहोए सउन्दलाए सोहमग्गेवत्था अशणीआ । (ननु सत्पथः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया ।)

प्रियंवदा—जुज्जदि । (पुन्यते ।) [इति तदेव समांभते ।]
[नेपथ्ये]

अयमहं भोः ।

अनसूया—[कर्मं दत्त्वा] सहि अदिधोएणं त्रिअ एणवेत्तिदं । (सति अतिथीनानिय नियेक्षितम् ।)

प्रियंवदा—एणं उहजसंण्हिदा मउन्दला । [आत्मगतम्] अज्ज उएहिअग्गए अत्तंणि-हिदा । (ननुऽजसनिहिता शकुन्तला । अथ पुनर्द्वन्द्वेनासनिहिता ।)

अनसूया—होदु । अल एत्तिपाईं कुसुमेहिं । (भवतु । अलमेतारब्धिः कुसुमेः ।)
इति प्रस्थिते]
[नेपथ्ये]

अनसूया—क्योंकि उनका तो संकल्प ही था कि कोई योग्य घर मिल जायगा तो इसका विवाह कर देंगे और जब वह काम देवने ही पूरा कर दिया है तब वो बिना परिश्रमके ही उनका काम बन गया ।

प्रियंवदा—[फूलोंकी पिटारी देखकर] सत्थी, बलि-कर्मके लिये इतने फूल तो बहुत होंगे न !

अनसूया—क्यों ? अभी शकुन्तलाके सौभाग्य-देवताकी भी तो पूजा करनी है ।

प्रियंवदा—हाँ हाँ, ठीक कहती हो । [फूल चुनने लग जाती है]
[नेपथ्यमें]

अरे ! मैं आया हुआ हूँ ।

अनसूया—[कान लगाकर] वह तो किसी अतिथिकी बौली जान पड़ती है ।

प्रियंवदा—शकुन्तला तो कुटीमें है ही । [मन ही मन] पर आज वह कुछ अनमनो-सी हो रही है ।

अनसूया—बलो, इतने फूलोंसे काम हो जायगा । [प्रस्थान]
[नेपथ्यमें]

आः अतिथिपरिभाषिनि ।

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न माणुपस्थिम् ।

स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥१॥

प्रियंवदा—हृद्धो हृद्धो । अपिअं एव संबुत्तं । कस्सि पि पूअरहे अवरद्धा सुण्णहिअया सउन्दला । [पुरोवड्लोक्य] ए हु जस्सि कस्सि पि । एसो दुव्यासो सुलहकोवो महेसी तह सविअ वेअयलुफुल्लाए दुव्वाराए गईए पडिण्णित्तो । को अएयो हुदवहादो दहिदुं पववदि । (हा धिक् हा धिक् । अप्रियगेर सवृत्तम् । कस्मिन्नपि पूजाहोऽपराद्धा अन्वहृदया अनुन्तला । न खलु यस्मिन्नस्मिन्नपि । एष दुर्गावाः सुकमक्षेपो महर्षिज्ञाया शय्या वेगयलोत्कल्या दुर्गारया गत्या प्रतिनिवृत्तः । कोऽन्यो द्रुतयहादग्यु प्रभवति ।)

अनसूया—गच्छ पादेषु परामिथ शिवत्तेहि एं जाव अहं अग्नोद्वं उपकप्येमि । (गच्छ पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनम् । यावदहमर्षोदकमुपकल्पयामि ।)

प्रियंवदा—सह । (तथा) [इति निष्क्रान्ता ।]

अनसूया—[पदान्तरे स्फुरति निरुप्य] अरवो आवेअक्किरत्तिदाम गईए पत्तमं मे अग्गहत्थादो पुण्णभाअणं । (अहो आवेगस्फुरितया गत्या प्रभ्रष्ट ममग्रहस्तापुणभाजनम् ।, [इति पुणोच्चय रूपयति ।]

[प्रविश्य]

प्रियंवदा—सहि पकिद्विको सो कम्म अणुणअ पडिगेएहदि । कि वि एण साणुकोसो किदो । (सति प्रकृतित्तः स कथयानुनय प्रतिगृह्णाति । किमपि पुनः शानुकोशः कृतः ।]

अरी ओ, अतिथिका अपमान करनेवाली । जिसके ध्यानमें इतनी मग्न होकर तू मुझ जैसे तपस्वीके आनेकी भी सुध नहीं ले रही है वह बहुत स्मरण दिलानेपर भी तुझे उसी प्रकार भूल जायगा जैसे पागल मनुष्य अपनी पिछली बातें भूल जाता है ॥ १ ॥

प्रियंवदा—हाय हाय ! यह तो बड़ा बुरा हुआ । जान पड़ता है कि अपने वेसुधपनमें शकुन्तलाने किसी पूजनोय महात्माका अपमान कर दिया है । [आगने देखकर] और वह भी किसी ऐसे-वैसेका नहीं । ये तो तनिकसी बातपर विगड़ खड़े होनेवाले महर्षि दुर्गासा ही हैं जो शाप देकर क्रोधसे कोंपले हुए पैरोंसे बेगसे लौटि चले जा रहे हैं । भला आगके छोड़कर जलानेका काम और बौन करेगा ?

अनसूया—जा, उनके पैरों पडकर उन्हें लौटा ला । तबतक मैं अर्घ्यका जल ले आती हूँ ।

प्रियंवदा—अच्छी बात है । [प्रस्थान]

अनसूया—[दो एक पग चलकर ठोकर खा जाती है ।] हाय हाय ! झपटकर चलनेसे ऐसी ठोकर लग गई कि हाथ से फूलकी पिटारी ही छूट पड़ी । [फूल चुननेका अभिनय करती है ।]

प्रियंवदा—[प्रवेश करके] सखी, वे तो बड़े टेढ़े व्यक्ति हैं । वे क्या किसीकी सुन्ते हैं ? फिर भी मैं ने उन्हें किमो प्रकार भोदा बहुत गना लिया है ।

[प्रविश्यापटीक्षेपेण]

अनसूया—जइ वि एणाम विसअपरग्गुहसस वि जणस्स एदं ए विदिअं तह वि तेणु राएणा सउन्दलाए अणुज्जं आअरिदं । (यद्यपि नाम विषयपरत्वाद्गुप्तस्थापिजनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनायमाचरितम् ।)

शिष्यः—यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि । [इति भिक्षान्तः]

अनसूया—पडिबुद्धा वि कि करिस्सं । ए मे उइवेसु वि गिअकरणिज्जेसु हत्यपाआ पसरन्ति । कामो दाणिं सरुआमो होदु जेण असच्चसंधे जणे अणुणुहिअआ सही पदं कारिदा । अहवा दुव्याससो कोवो एसो विआरेदि । अएणहा कहं सो राएसी वारिसाणि मन्तिअ अत्तिअस्स कालस लेहमेत्तं पि ए विसज्जेदि ता इदो अहिएणाणं अंगुलीअअं से विसज्जेम । दुक्कसोले तथस्सिजणे को अउभत्योअदु । गं सहीगामो दोसो त्ति व्यवसिदा वि ए पारेमि पवासपडिणि उतास्स दादकएणस्स दुस्सन्तपरिणीदं आयाएणसत्तं सउन्दलं शिवेदिदं । इत्थंगए अन्होहि किं करणिज्जं । (प्रतिबुद्धाऽपि किं करिष्ये । न मे वचितेष्वपि निजकार्येषु इत्तापाद प्रवर्ति ! काम इदानीं सकामो भवतु येनासत्यवधे जने अनन्यहृदया सखी पद कारिता । अथना दुर्वाससः कोप एव विकारयति । अन्यथा कथ स राजार्यतादृशानि मन्वित्वेतावत्कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति । सदित्तोऽभिज्ञानमद्गुलीयकं तस्य विसृजावः । दुःसखीले तपस्विजने कोऽभ्यर्ष्यताम् । ननु सखीगामी दोष इति स्ववक्षिताऽपि न पारयामि प्रयासप्रतिनिवृत्तस्य तावत्सख्यस्य दुस्सन्तपरिणीता मापन्नसत्ता शकुन्तलं निवेदयितुम् । इत्थंगतेऽस्माभिः किं करणीयम् ।)

[प्रविश्य]

[परदेको झटकेसे उठाकर अनसूया जाती है ।]

अनसूया—[आप ही आप] यद्यपि मैं प्रेमकी बातें कुछ भी नहीं जानती फिर भी इतना तो अवश्य कह सकती हूँ कि उस राजाने शकुन्तलाके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया है ।

शिष्य—चलूँ गुरुजीसे चलकर बता दूँ कि हवनका समय हो गया है । [प्रस्थान]

अनसूया—जाग तो गई हूँ, पर क्या बताऊँ, यहाँ अपने निश्चयके कामके लिये भी हाथ-पैर नहीं उठ रहे हैं । अब कामदेवका जी तो भर गया होगा कि मेरी सच्ची सखी उस मूठेका इतना विश्वास कर बैठी । या कौन जाने यह दुर्वासके शापका ही फल हो, नहीं तो वैसी मीठी-मीठी बातें करनेवाला वह राजर्षि इतने दिन बीत जानेपर भी क्या एक पत्र तक न लिख भेजता । अब उसे सुध दिलानेके लिये उसके पास अगूँठी भेजनी ही पड़ेगी । पर कठोर जीवन बितानेवाले इन तपस्वियोंमेंसे किससे अगूँठी पहुँचानेकी कहा जाय । बाहरसे लौटे हुए पिता कण्वसे मैं सखीके अपराधकी बात तो कह सकती हूँ पर उनसे यह नहीं कह पाऊँगी कि शकुन्तलाका राजा दुःश्यन्तसे विवाह हो गया है और उसे गर्भ भी है । अब

[आकर]

प्रियंवदा—[दृष्टवन्] सहि तुबर तुबर सउन्दलाए पत्याखकीदुअं खिन्वत्तिदुं । (सखि तरस्य शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकं निवर्तयितुम् ।)

अनसूया—सहि कहं एहं । (सखि कथमेतत् ।)

प्रियंवदा—सुणाहि । दाणिं सुहसइदपुच्छिआ सउन्दलासआसं गवग्निह । (शृणु । इदानीं मुरदायनपृच्छिका शकुन्तलासकाशं गताऽस्मि ।)

अनसूया—तदो वदो । (ततस्ततः ।)

प्रियंवदा—तदो जाव एण लजावणदमुहिं परिम्सजिअ ताटकएणेण एव्यं अहिणन्दिदं—दिट्ठिआ धूमावलिददिट्ठिणो वि जअमाणस्स पाअए एव्य आहुदी पडिदा । वन्दे सुहिस्स-परिदिएणा विजा विअ अमोअणिजा संवुत्ता । अज एव्य एसिरकिरअं तुमं भत्तणो सआसं विसज्जेमि ति । (ततो यावदेना लजायनवमुखी परिभ्रम्य ततश्चण्डेनेवमभिनन्दिताम्-दिष्ट्वा धूमा-कुशिनदष्टेरपि यत्रमानस्य पादक एवाहुतिः पतिता ' तत्ते मुशिष्परिदत्ता विद्येवाशाचनीया संवृत्ता । अथैव ऋपरिदत्ता एता भद्रुः सकाश विवर्जयामीति ।)

अनसूया—अह कोख सूहदा तादरूणस्म वुत्तन्तो । (अथ केन सूचितस्त्रातक्यवस्य वृत्तान्तः ।)

प्रियंवदा—अग्निमरण पविट्ठस्स सरोरं विणा इन्दोमटेए वाखिआए । (अग्निमरण प्रविष्टस्य सरोरं विना इन्दोमद्या वाण्या ।)

अनसूया—[सविस्मयम्] कहं विअ । (कथमिदम् ।)

प्रियंवदा—[दृष्टे] मखी ! चलो मपटकर । शकुन्तलाकी विदाईका प्रबन्ध करना होगा ।

अनसूया—सखी ! यह सब कैसे हो गया !

प्रियंवदा—सुन ! मैं अभी शकुन्तलाके पास पूछने गई थी कि तू रातको सुखसे सोई है या नहीं !

अनसूया—तब-सब ?

प्रियंवदा—तबतक पिता कण्व आ पहुँचे और लाजमें गड़ी हुई शकुन्तलाको गलेसे लगाकर यह आनन्दकी बात बोले—बत्से ! आज आँसोंमें मुझाँ भर जानेपर भी सीमाव्यसे यज्ञमानकी आहुति ठीक अग्निके बीचमें ही पड़ी । इसलिये जैसे योग्य शिष्यको विद्या देनेसे मन्में दुःख नहीं होता वैसे ही तुम्हें भी योग्य पतिके हाथमें देते हुए तुम्हें भी दुःख नहीं है । मैं आज ही तुम्हें ऋषियोंके साथ तेरे पतिके पास भेज दूँगा ।

अनसूया—और पिता कण्वको इसका पता कैसे चला ।

प्रियंवदा—जैसे ही पिता कण्व यज्ञशालामें पहुँचे वैसे ही छन्दमें बँधी यह आकाश-वाणी सुनाई दी—

अनसूया—[आश्चर्येण ।] क्या ।

प्रियवदा—[सस्कृतमाभित्य]

दुप्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।

अवेहि तनयां ब्रह्मन्नप्रिगर्भां शमीमिव ॥ ४ ॥

अनसूया—[प्रियवदामादित्थं] सहि पिश्रं मे । विन्दु अज्य एव्य सवन्दला एीअदि चि उक्कण्ठासाहाणं परितोसं अगुहोमि । (सरि प्रिय मे । किं तथैव शकुन्तला नीयत इत्युक्कण्ठासाधारण परितोपमनुमयामि ।)

प्रियवदा—सहि वश्रं दाव उक्कण्ठं विणोदइस्सामां । सातवस्सिणीं णिव्वुदा होदु । (सरि आवा तावदुक्कण्ठा विनोदयिष्यावः । सा तपरिणी निर्हुता भवतु ।)

अनसूया—तेण हि एदस्सिं चूदसाहावलम्बित्ते एारिएरससुग्गए एतणिएमित्तं एव्व कालन्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ । ता इमं हत्वसंण्हिद करेहि जाव अहं पि से मअलोअण वित्थमिरिअ दुब्बाफिसलआणि चि मङ्गलसमाअम्भणाणि विरएमि । (तेन ह्येतस्मिंश्चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसगुद्रकं एतन्निगिचमेव कालान्तरक्षमा निदिष्टा मया केसरमालिञ्च । तदिमा हस्तमनिहिता क्रुप यावदहमपि तस्यै मृगरोचना तीर्थमृचिनां दूर्वाकितल्यानीति भगलसमालम्भनानि विरचयामि ।)

प्रियवदा—तह करीअदु । (तथा क्रियतम् ।)

[अनसूया निष्कान्ता । प्रियवदा न श्वेन सुमनसो पडति ।]

[नेपथ्ये]

प्रियवदा—[सस्कृतमें बोलती है ।]

जैसे शमी वृक्षके भीतर होता है पावकका वास ।

वैसे ब्रह्मन्, इस फण्यामें जग-हित पीरवन्तेज-निवास ॥४॥

अनसूया—[प्रियवदाके गले लगर ।] सखी ! मैं तो फुली नहीं समाती । पर इस हर्षमें दुःखकी बात इतनी ही दै कि शकुन्तला आज ही चली जावगी ।

प्रियवदा—हमलोग तो अपने मनको ज्यों त्यों समझा छेंगी, पर वह बेचारी तो किसी प्रकार सुखी रहे ।

अनसूया—वह जो आमकी ढालीपर नारियल लटक रहा है उनमें मैंने बहुत दिनोंतक सुगन्धित रहनेवाली बकुलकी माला आजके ही लिये ररप छोड़ी है । उसे उतार तो ले आ । तबतक मैं गोरौचन, तीर्थकी मट्टी, कोमल दूबके अंकुवे आदि भगल-सामग्रियाँ जुटाए लाती हूँ ।

प्रियवदा—अच्छा, चही करो ! [अनसूया जाती है । प्रियवदा माला उतारनेका नाट्य करती है ।]

[नेपथ्यमें]

गौतमी आदिश्यन्तां शाङ्गं रवमिश्राः शकुन्तलानयनाय ।

प्रियंवदा—[कण्ठे दत्त्वा] अणसूए तुवर तुवर ! एदे बखु हस्तिणाउरगामियो इसीओ सदावीअन्ति । (अनसूए त्वरस्व त्वरस्व । एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषयः शब्दावन्ते ।)

[प्रविश्य समालम्बनहस्ता]

अनसूया—सहि एहि गच्छम्ह । (सखि एहि गच्छावः ।)

[इति परिरामतः ।]

प्रियंवदा—[विलोक्य] एसा सुञ्जोउए एव्व सिहामज्जिदा पडिन्दिदणीवारहस्याहिं मोत्थियाअणकाहिं तावसीहिं अहिण्णदीअमाणा सउन्दला चिट्ठइ । उवसप्पम्ह णं । [एषा सुञ्जोदय एव शिलामञ्जिता प्रतिष्ठितनीवारहस्ताभिः स्थित्वाचनिकाभिस्तावसीमिरभिनयमाना शकुन्तला तिष्ठति । उपसर्पाव एनाम् ।)

[रत्नसुसर्पावतः ।]

[ततः प्रविशति यमोद्दिष्टव्यापाराऽऽवनस्था शकुन्तला ।]

तापसीनामन्यतमा—[शकुन्तला प्रति] जादे भत्तुणो बहुमणसुअअं महादेईसदं लदेहि । (जाते भर्तुर्वहुमानसूचक महादेवीशब्द लभन्व ।)

द्वितीया—बन्धे वीरएवविलो होहि । (वन्धे वीरप्रपत्निनी भव ।)

तृतीया—बन्धे भत्तुणो बहुमदा होहि । (वन्धे भर्तुर्वहुगता भव ।)

[इत्यादिषो दत्त्वा गौतमीउज्जं निष्कान्ता ।]

सख्यो—[उपसृत्य] सहि सुद्धमज्जणं दे होटु । (सखि सुखमज्जनं ते भवतु ।)

शकुन्तला—साअदं मे सहोणं । इदो णिसोदह । (सागतं मे उख्योः । इतो निपीदतम् ।)

गौतमी ! शाङ्गं रव आदिसे कइं कि शकुन्तलाको पहुँचा आनेके लिये तैयार हो जाय ।
प्रियंवदा—[जान लगाकर] अनसूया ! चलो चलो, हस्तिनापुर जानेवाले षट्पियोंकी जुलाहट हो रही है ।

[हाथमें सामग्री लिए हुए अनसूयाका प्रवेश ।]

अनसूया—आओ सखी, चलो । [दोनों घमती हैं]

प्रियंवदा—[देखकर] यह लो । शकुन्तला तो दिन निकले ही नहाधोकर बैठी है और ये सब तपस्विनियों हाथमें तिनिके दाने लेकर उसे आशीर्वाद दे रही हैं ! चलो हम भी वहाँ चलो । [जाने पड़ती हैं ।]

[जैरा ऊपर कहा गया है उस रूपमें शकुन्तला दिलाई देती है ।]

पहली तपस्विनी—[शकुन्तला] बरसे ! तुम पतिसे आदर पानेवाली पटरानी बनो ।

दूसरी तपस्विनी—बरसे ! तुम्हारे वीर उत्पन्न हो ।

तीसरी तपस्विनी—बरसे ! तू पतिकी प्यारी हो ।

[यह आशीर्वाद देकर गौतमीको छोड़कर वीर सब चली जाती हैं ।]

दोनों सखियों—[शकुन्तला के पास जाकर] सखी ! तुम्हारा नहानाधोना फले-फूले ।

शकुन्तला—आओ सखियों ! स्वागत करती हूँ । आओ यहाँ बैठो ।

उभे—[मङ्गलपात्राण्यादाय उपविश्य] हला सज्जा होहि जाव दे मङ्गलसमालम्भणं विरएसम् । (हला सज्जा मर यावत्ते मङ्गलसमालम्भनं विरवयावः ।)

शकुन्तला—इदं पि बहु मन्तकवं दुल्लहं दाणिं मे सद्दोमण्डलं भविस्तद्वि ति । (इदमपि बहु मन्तकं दुर्लभमिदानीं मे गरीमण्डनं भविष्यतीति ।) [इति वाथं निवृत्तति ।]

उभे—साहि चइअं ए दे मङ्गलकाले रोइवं । (तसि उचित न ते मङ्गलकाले रोदितुम्) [तस्यभूणि प्रसृज्य नाट्येन प्रणययतः ।]

प्रियवदा—आहरणोइदं खवं अस्ममसुलहेहिं पसाहणोहिं विप्पआरीअदि । (आभरणोचित रूपमाधमसुलभैः प्रणयनेरिप्रकायते ।)

[प्रविश्योपायनहस्तादिङ्गारगौ ।]

उभौ—इदमलं करणम् । अलंक्रियतामत्रभवति ।

[सर्वा विलोक्य विस्मिताः ।]

गौतमी—वञ्ज एारअ कुट्टो पदं । (उल नारद कुट्ट एतत् ।)

प्रथमः—सातकखप्रभावात् ।

गौतमी—किं माणसी सिद्धो । (किं मानसी सिद्धिः ।)

द्वितीयः—न रत्तु । अयुक्ताम् । तत्रभवता वयमानाताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्यविभ्यः कुसुमान्याहरतेति । तत इदानीं—

दोनों—[मंगल-पात्र लिए हुए बैठी देँ ।] अच्छा सखी ! तैयार हो जाओ । अब हम तुम्हारा मंगल-शृंगार करेंगी ।

शकुन्तला—यह तो बड़े सौभाग्यकी बात है, क्योंकि सखियोंके हाथका सिंगार अब मुझे भला कहीं मिल पावेगा । [तिरकने लगती दे ।]

दोनों - सखी ! ऐसे शुभ अवसरपर रोया नहीं जाता ।

[भौंखें पोंठकर उसे सजानेका नाट्य करती हैं ।]

प्रियवदा—सखी ! तुम्हारे रूपके लिये तो और अच्छे-अच्छे आभूषण होने चाहियें थे । आश्रमसे जुटाई हुई इन सिंगारकी सामर्थ्यसे तो तुम अच्छी नहीं लगती हो ।

[हाथोंमें उपहार लिए हुए दो ऋषि-कुमारोंका प्रवेश ।]

दोनों ऋषिकुमार—यह लीजिए आभूषण, देवकी इनसे सजाइए ।

[देसन्नर सब पकित होती देँ ।]

गौतमी—पर्यो वरस नारद ! यह सब तुम कहींसे पा गए ?

पहला—पिता कण्वके प्रभावसे ।

गौतमी—क्या इनके तपके पलसे ?

दूसरा—नहीं जी ! सुनिए । पूज्य कण्वने हमें आज्ञा दी थी कि शकुन्तलाके लिये लता-वृक्षोंसे फूल-पत्ते ले आओ । इसपर—

चौमं केनचिदिन्दुपाणदृतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्कृतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किंसलयोद्भेदप्रतिद्विभिः ॥ ५ ॥

प्रियंवदा—[शकुन्तला विलोक्य] हला इनाए अब्भुववचीए सूइया दे भत्तणो गेहे अणु-
होदव्या राअलच्छित्ति । (हला अनयाऽन्नुपपरपाद्विन्ता वे महम्मं हेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीरिति ।)
[शकुन्तला मीढा रूपयति ।]

प्रथम—गौतम एहेहि अनिपेकोत्तीर्णाथ कएवाय वनरपतिसेवा निवेदयाव ।
द्वितीय.—तथा ।

[इति निष्फान्ती]

सखी—अए अणुवज्जुत्तभूसणा अअं जणो । चित्तकम्मपरिअएण अण्णेषु दे आहरया-
विणिअोअ करेह । (अथे अतुपपुत्तभूपणोऽयं जनः । चित्तकम्मपरिचयेनास्त्रेषु ते आभरणरिनियोग
कृतः ।)

शकुन्तला—जाणो षो णोउण । (जाने वां नैणुणम् ।)

[उभे नाटयेनालक्षितः ।]

[ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः वप्यः ।]

किसी वृक्षने शुभ भागलिक यज्ञ दे दिया, किमीने परम लगानेकी महाघर दे दी
और वन-देवियोंने तो कोंपलोंसे होड़ करके पृथ्वीमेंसे कलाईतक अपने हाथ निकालकर
बहुतसे आभूषण दे डाले हैं ॥ ५ ॥

प्रियंवदा—[शकुन्तलाको देखकर] सखी ! ये लक्ष्ण बता रहे हैं कि पतिके घरमें तुम
राज-लक्ष्मी बनकर सुख भोगोगी ।

[शकुन्तला खजानेका नाम्य करती है ।]

पहला—चलो, गौतम ! स्नान करके गुरुजी आ गए होंगे । इन पेड़-पौधोंने जो वस्तुएँ
दी हैं इसका सगाचार उन्हें भी सुना आवे ।

दूसरा—चलो । [दोनोंका प्रस्थान]

दोनों वृक्षों—सखी ! हमने तो कभी आभूषण पहने नहीं हैं, पर चित्रोंमें जैसा देखा
और सीखा है उसी डगसे तुम्हारे शरीरपर भी आभूषण पहना देती हैं ।

शकुन्तला—मैं तुम दोनोंकी चतुरता भली भौंति जानती हूँ ।

[दोनों आभूषण पहननेका नाट्य करती हैं ।]

[स्नान करके लौटे हुए वप्यका प्रवेश ।]

कण्वः—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
 कण्ठः स्तम्भितवाप्यपृत्तिकलुपश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
 वैकल्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरस्यीकसः
 पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविरलेपदुःखैर्नवैः ॥ ६ ॥

[इति परिक्रान्ति]

सरयीं—हला सउन्दले श्रवसिदमण्डणासि । परिधेहि संपदं रोमजुञ्जलं । (हला शकुन्तले श्रवसितमण्डनासि । परिधत्स्व साप्रतं धौमपुगलम् ।)

[शकुन्तलोत्थायरिभत्ते]

गौतमी—जादे एसो दे आणन्दपरिवादिणा चक्षुष्णा परिस्सजन्तो विश्र गुरु उवट्ठिदो ।
 आआरं दाव पडिउज्जस्स । (जाते एप ते आनन्दपरिवादिणा चक्षुपा परिश्वज्जाय इव गुरुणस्थित ।
 आचारं तावत्प्रतिपद्यत ।)

शकुन्तला—[स्त्रीरुम्] ताद् वन्दामि । (ताव गन्दे ।)

कण्वः वत्से ।

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव ।

सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥ ७ ॥

गौतमी—भअवं वरो कण्ठु एसो एण आसिसा । (भगवन् वरः खल्वेवः । नाशीः ।)

कण्व—आज शकुन्तला चली जायगो, यह सोचते ही जी बैठ जा रहा है । श्रीसुश्रीको
 रोकनेसे गला इतना रुंध गया है कि मुँहसे शब्द नहीं निकल रहे हैं और इसी चिन्तामें
 मेरी श्रीलें भी धुँधली पड़ गई हैं । जब मुझ जैसे बनवासियोंको इतनी व्यथा हो रही है
 तब उन बेचारे गृहस्थोंको कितना कष्ट होता होगा जो पहले-पहल अपनी कन्याको विदा
 करते होंगे ॥ ६ ॥ [पूगते दे ।]

सखियाँ—शकुन्तला ! तुम्हारा सिंगार तो पूरा हो गया । लो, अब यह रेशमी वस्त्रोंका
 जोड़ा भी पहन लो ।

[शकुन्तला उठकर पहनती है ।]

गौतमी—वत्से ! पिता कण्व इधर ही आ रहे हैं । भानन्दके श्रीसुश्रीसे छलकती हुई
 उनकी श्रीलेंको देखकर जान पड़ता है मानो वे अपनी श्रीलेंसे ही तुम्हें गले लगा रहे
 हों । उन्हें प्रणाम तो करो ।

शकुन्तला—[लजाती हुई] प्रणाम करती हूँ पिताजी !

कण्व—वत्से ! जैसे ययाति अपने पत्नी शर्मिष्ठाका आदर करते थे वैसे ही तेरे पति
 भी तेरा आदर करें और शर्मिष्ठाके पुत्र पुरुके समान ही तुम्हें चक्रवर्ती पुत्र भी प्राप्त हो ॥७॥

गौतमी—भगवन् ! यह तो आपने वरदान दिया है, आशीर्वाद नहीं ।

कण्वः—घस्ते इतः सद्यो हुताग्नीन्द्रदक्षिणो कुरुष्व ।

[सर्वे परिकामन्ति ।]

कण्वः—[शृङ्खलन्दत्ताऽऽशास्ते ।

अग्नी वेदिं परितः कृतृमधिप्याः समिद्धन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्माः ।

अपघ्नन्तो दुरितं ह्यत्तगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥ ८ ॥

प्रतिघ्नस्वेदानीम् । [नदृष्टिष्वेवम्] क्व ते शार्ङ्गैरवमिभ्राः ।

[प्रविश्य]

शिष्यः—भगवान् इमे स्मः ।

कण्वः—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय ।

शार्ङ्गैरवः—इत इतो भवती ।

[सर्वे परिकामन्ति ।]

कण्वः—भो भोः संनिहितदेवतास्तपोवनतरवः ।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्पीतेषु या

नादत्ते प्रियनएडनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।

आधे वः कुरुमप्रसृतिसमये यस्या भवत्युत्सवः

सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ ९ ॥

कण्व—घस्ते ! चलो, अग्निमें अबभो आहुति पड़ी है, चलकर उसकी प्रदक्षिणा कर लो ।

[सब प्रवधिगा करते हैं ।]

कण्व—[शृङ्खलन्दके छन्दमें आशीर्वाद देते हैं ।]

चिरी हुशासे यथास्थान वेदोपर समिधासे जलती ।

हृद्य गन्धकी गन्धभरी करदें पवित्र ये अग्नि तुम्हे ॥८॥

अब चलो । [इधर-उधर देखकर] अरे ! वे सब शार्ङ्गैरव आदि कहां हैं ?

शिष्य—[प्रवेश करके] भगवन् ! ये हैं हम लोग ।

कण्व—जाओ ! अपनी वहनको पहुँचा आओ ।

शार्ङ्गैरव—इधरसे आओ देवी, इधरसे ।

[सब घूमते हैं ।]

कण्व—वन देवताओंसे भरे हुए तपोवनके वृक्षो !—जो पहले तुम्हें पिलाए बिना स्वयं जल नहीं पीती थी, जो आभूषण पहननेका प्रेम होने पर भी, तुम्हारे स्नेहके कारण तुम्हारे कोमल पत्तोंको हाथ नहीं लगाती थी, जो तुम्हारी नई कलियोंको देख-देखकर फूली नहीं समाती थी, वही शकुन्तला आज अपने पतिके घर जा रही है । तुम सब इमे प्रेम से बिदा हो दो ॥९॥

[कोकिलरव स्वयित्वा]

अनुमतगमना शकुन्तला तरभिरियं वनवासप्रन्धुभिः ।
परमृतविरुतं कलं यथा प्रतिपचनीकृतमेभिरिदृशम् ॥ १० ॥

[आकाशे]

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि-
श्रद्धायद्रुमैर्निपमितार्कमयृखतापः ।
भृचात्कुशेशरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुहूलपवनश्च गिरश्च पन्थाः ॥ ११ ॥

[सर्वे सविस्मयमावणयन्ति ।]

गौतमी—जादे एणादिजणसिण्णिद्धाहिं अणुएणादगमणसि तबोवणदेवदाहिं । पणम
भअवदीण । (ज ते शातिजनस्तिग्धाभिरनुहातगमनाऽपि तपावनदेवताभि । प्रणत भगवती ।)

शकुन्तला—[उपनाम परिग्रम्य वनान्निवम्] हला पिच्यवदे ए अजउत्तवसणुसुध्याए वि
असमपद् परिश्रमन्तीए हुक्कोणे मे चक्षणा पुरदो पवटन्ति । (हला प्रियवदे न वायपुत्रदर्श-
नोऽहुक्काया अन्वाभनपद् परित्पव त्या हु खेन मे चरणी पुरत, प्रवर्तेते ।)

प्रियवदा—ए केवल तबोवणविरहकाहरा सही एव तुए उचट्टिद्विओअस तजोवणस
वि दाव समवत्था दीसइ । पैक्य-

[कोयल कुकरी है । उसकी ओर संकेत करके] शकुन्तलाके वनके साथी वृक्षोंने
कोयलके शब्दोंमें उसे जानेकी आज्ञा दे ली है ॥१०॥ [आकाशमें] कल्याणमय हो इस
शकुन्तलाको यात्रा । इसके मार्गमें बीच-बीचमें नीली कमलियोंसे भरे हुए ताल हों,
नियमसे छोड़ी छोड़ी दूरीपर लगे हुए, धूपसे बचानेवाली घनी छाहवाले हुए हों, भूलमें
कमलके परागकी कोमलता ही और मार्ग भर सुख देनेवाला पवन बहता चले ॥११॥

[सब आश्रयते सुनते हैं ।]

गौतमी—वरसे ! जो वन-देवियों तुम्हे सगे-सम्प्रन्धियोंके समान प्यारी हैं वे तुम्हे आशी
र्षा दे रही हैं । इन्हें प्रणाम तो कर ले ।

शकुन्तला—[प्रणाम करती दूर घूमकर, अल्प प्रियवदाते] सरसी प्रियवदा ! यद्यपि इस
समय तुम्हे आर्यपुत्रके दर्शनरी वडी उतावली हो रही है, फिर भी आश्रमको छोड़ते हुए
मेरे पैर आगे नहीं बढ़ रहे हैं !

प्रियवदा—वेनल तुम्हां तपोवनके तिरह से दुरी नहों हो । ज्याज्यां तुम्हारी निदाईकी
घड़ी पास आसो जा रही है त्यों त्यों तपोवन भी उदास दिखाई पड़ता जा रहा है । देखो—

उग्गनिअदम्भकनला मिआ परिच्चत्तखण्णसा सोरा ।

ओत्तरियपरइपचा मुयन्ति अस्स विअ लदाओ ॥ १२ ॥

(न केवल तपोवनविरह द्वारा छल्येक तपोपश्चितविभागस्य तपोवनस्यपि तत्प्रत्यमनस्या दृश्यते ।) पद्य—

उद्भ्रमितदर्भकनला मृग्यः परिस्पन्नतर्तना मयूराः ।

असत्तपापद्मना मुग्धस्यदक्षणाव लताः ॥)

शकुन्तला—[स्मृत] ताद लतावहिरिञ्चं यणजोसिणि दाव आमन्वइस्सं (तात लता-
भगिनीं वनज्यासना तावदात्मन्येष्ये ।)

कल्पः—अवैमि ते तस्यां सोदर्यंस्नेहम् । इयं तावदक्षिणेन ।

शकुन्तला—[उपेत्य लतामालिङ्ग्य] यणजोसिणि । चूदसंगता वि मं पचालिङ्ग इदोगदाहिं
साहावाहाहिं । अजप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी देवखु भविसं । (वनज्यासने । चूदसंगताऽपि मां
प्रत्यालिङ्ग इतागताभिः दाखावाहुभिः । अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी ते राज भविष्यामि ।)

कल्पः—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवाथं

भर्तारमात्मसदृशं सुकृतेर्गता त्वम् ।

चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-

मस्यामहं त्वयि च संप्रति वीतचिन्तः ॥ १३ ॥

इतः पश्चान्नं प्रतिपद्यथ ।

शकुन्तला—[सखीं प्रति] इला एसा दुचेणं वो हत्थे णिमत्तेवो । (इला एसा द्वयोर्भुवनो-
र्हस्ते निक्षेपः ।)

हरिणियों चवाई हुई इराके कौर उगल रही हैं, मोरोंने नाचना छोड़ दिया है और लताओं
से पीले-पीले पत्ते इस प्रकार झड़ रहे हैं मानो उनसे आँसू गिर रहे हों ॥ १२ ॥

शकुन्तला—[स्मरण करके ।] ताव ! मैं अपनी वहन वन-ज्यासना लतासे भी मिल लेना
चाहती हूँ ।

कल्प—मैं जानता हूँ कि तू उसे सगी वहन जैसा प्यार करती। यह है वह, दाहिनी ओर ।

शकुन्तला—[लताके पास जाकर और उससे लिपटकर ।] प्यारी वन-ज्यासना ! तू आमके
बृक्षसे लिपटी होनेपर भी अपनी इधर फैली हुई शाखाकी चहाँसे मुझसे मँट तो ले,
क्योंकि आज से तो मैं तुझसे बहुत दूर जा पड़ूंगी ।

कल्प—मैंने तेरे लिये जैसे पतिका संरक्ष्य किया था, तूने अपने पुण्य-वभावसे वैसे
पति पा लिया है और इस वन-ज्यासनाकी भी आमका ठीक सहारा मिल गया है । अब मैं
तुम दोनोंकी चिन्तासे छूट गया हूँ । १३ ॥ इधरसे चली आओ ।

शकुन्तला—[सखियोंसे] सखियों ! इस वन-ज्यासनाकी मैं तुम दोनोंके हाथ सँपे
जाती हूँ ।

सख्यो—अर्घ्यं जणो कसस हृद्ये समप्पिदो । (अर्घ्यं जनः कस्य हस्ते समर्पितः ।) [इति वाणं विसृजतः ।]

करवः—अनसूये ध्यलं रुदित्वा । ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकर्तव्या शकुन्तला ।
[एवं परिक्रामन्ति ।]

शकुन्तला—साद् एसा उड्डजपज्जन्तचारिणी गम्भमन्थरा मश्रवहु जदा अण्णपसया होइ तदा मे कंपि पिअण्णिवेदइत्तथं विसज्जइत्तह । (तात एवोटजपर्यन्तचारिणी गम्भमन्थरा मृगवधूर्धदाऽनघप्रसवा भवति तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ ।)

करवः—नेदं विस्मरिष्यामः ।

शकुन्तला—[गतिमग्नं रूपयित्वा] को गु क्सु एसो शिवसणे मे सज्जइ । (को नु खल्वेव निवसने मे सज्जते ।) [इति परावर्तते ।]

करवः—वत्से ।

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यपिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥१४॥

दोनों—और हम लोगोंको किसके हाथ सौंपे जा रहो हो ?

[रोने लगती हैं ।]

कव्य—रोओ मत अनसूया ! उल्टा तुम्हें तो चाहिए कि शकुन्तलाको और धीरज बंधाओ।

[सब घूमते हैं ।]

शकुन्तला—तात ! आश्रममें चारो ओर गर्भके भारसे अलसाती हुई चलनेवाली इस हरिणीकी जब सुखसे बच्चा हो जाय तब किसीके हाथ यह प्यारा समाचार मेरे पास भिजवा दीजिएगा ।

कव्य—यह नहीं भूलेंगे ।

शकुन्तला—[चलनेमें रुकावटका अनुभव करती हुई—सी ।] धरे यह कौन मेरा अंचल पकड़कर खींच रहा है ?

[पीछे घूमकर देखती है ।]

कव्य—वत्से ! कुशाके कोंटेसे छिदे हुए जिसके मुंहको अच्छा करनेके लिये तू उसपर हिगोटका तेल लगाया करती थी वही तेरे हाथ के दिए हुए मुट्टी भर सौंपके दानोंसे पला हुआ तेरा पुत्रके समान प्यारा हरिण मार्गु रोके खड़ा है ॥ १४ ॥

शकुन्तला—बच्छ किं सहवासपरिशादणि मं अणुमरसि । अचिरप्सूदाए जणणीए
विणा वदिद्धो एव्व । दाणि पि मए विरहिदं तुपं दापो चिन्वइस्सदि । शिवचेहि दाव ।
(वत्स किं सहवासपरिशादितो मामनुसरसि । अचिरप्रसूत्या जयन्त्या त्रिना दर्शित एव । इदानीमपि
मया निरहितं त्वां तावच्चिन्तयिष्यति । निवर्तस्व तावत् ।) [इति वदती प्रतिष्ठा ।]

कण्वः—

उत्पद्मणोर्नयनयोरुपरुद्धपृच्छिं

वाप्यं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम् ।

अस्मिन्नलज्जितनतोन्नतभूमिभागे

सार्गे पदानि खलु ते विपसीभवन्ति ॥१५॥

शार्ङ्गरेवः—भगवन् ओदकान्तं स्तिग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते । तदिदं सरस्तीरम् ।
अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि ।

कण्वः—तेन हीमां क्षीरयुक्तच्छायामाश्रयामः ।

[सर्वे परिक्रम्य विपताः ।]

कण्वः—[आश्रयगतम्] किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपमरमाभिः संद्रेष्टव्यम् ।
[इति चिन्तयति ।]

शकुन्तला—[जगन्तिकम्] हला पेरुए । एलिणोपत्तन्तरिदं वि सहसरं अदेकपन्ती
आदुरा चक्कवाई आरुद्धि दुक्करं अहं करेमिच्छि तन्नेमि । (हला पश्य । नलिनीपनान्तरितमपि
सहसरमपश्यन्वातुरा चक्रवाक्यारडति दुष्करमर्द करोमीति तर्कयामि ।)

शकुन्तला—वत्स ! मुझ साथ छोड़कर जानेवाली के पीछे-पीछे तू फहाँ जा रहा है ?
तेरी माँ जब मुझे जन्म देकर मर गई थी उस समय मैंने तुझे पाल-पोसकर बड़ा किया
था । अब मेरे पीछे पिताजी तेरी देख-भाल करेंगे । जा, लौट जा । [रोती-हुई आगे
बढ़ती है ।]

कण्वः—वत्स ! धीरज धरकर अपने आँसू पोंछ डाल । इन आँसुओंके कारण तेरी उठी
हुई बरीनियोंवाली आँखें ठीकसे देख नहीं पा रही हैं । इसलिये यहाँको ऊबड़-खाबड़ घन्ती
पर तेरे पैर लटके-सीधे पड़ते जा रहे हैं ॥ १५ ॥

शार्ङ्गरेवः—भगवन् ! मुझा है कि प्रियजनोंको विदा देते समय जल्लाशयतक पहुँचाकर लौट
जाना चाहिए । अब सरोवरका तट आ गया है इसलिये जो कुछ सन्देश कहलाना हो वह
यहाँ बतवाकर आप लोग आश्रयको लौट जाइए ।

कण्वः—तो चलो, इस पीपलकी छायामें थोड़ा बैठ लिया जाय ।

[वन घूमकर बैठ जाते हैं ।]

कण्वः—[अपने ही आप] माननीय राजा दुष्यन्तके पास कौन-सा सन्देश भेजना ठीक
होगा [सोचते हैं ।]

शकुन्तला—[उल्टीसे अलग ।] सखी ! देख तो । कमलिनीके पक्षेकी ओटमें छिपे हुए
अपने चकवेको न देख सकनेसे यह चकवी वैसी घबराकर चितला रही है । इसलिये मैं
जिस कामसे जा रही हूँ वह पूरा होता नहीं दिखाई देता ।

अनसूया—सहि मा एवमं मन्तेहि ।

ऐसा वि पिण्ड विद्या गमेइ रअणिं विताअदीहअरं ।

गरुअं पि विरहदुक्खं आसावन्धो सहावेदि ॥१६॥

(सखि मैवं मन्त्रयस्व ।

एपाऽपि प्रियेण विना-गमयति रजनीं विपाददीर्घतराम् ।

गुरुंपि विरहदुःखामाशाबन्धः साहयति ॥)

कण्वः—शङ्करव इति स्वया मद्रचनात्स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः ।

शार्ङ्गरवः—आज्ञापयतु भवान् ।

कण्वः—

अस्मान्ताधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-

स्त्वग्यस्याः कथमप्यवान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।

नामान्यप्रतिपिचपूर्वकर्मिं दारेषु दृश्या त्वया

भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वध्वन्धुभिः ॥ १७ ॥

शार्ङ्गरवः—गृहीतः संदेशः ।

कण्वः—घत्से त्वमिदानीमनुशासनीयाऽसि । यनौक्तोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम् ।

शार्ङ्गरवः—न खनु धीमता कश्चिदधिपयो नाम ।

कण्वः—सा त्वमितः पनिकुलं प्राप्य —

बानस्प्या—सखी ! ऐसा नहीं सोचना चाहिए । जानती हो यह चकवी विरहको लंबी रातोंमें पतिके बिना अकेली काट देती है, क्योंकि विरहके समय भी इसे यह आशा धनी रहती है कि प्रातःकाल तो मिलन हो ही जायगा ॥ १६ ॥

कण्व—शार्ङ्गरव ! शकुन्तलाको दुष्पन्तके हाथमें सोंपते हुए मेरी ओरसे कहना—

शार्ङ्गरव—हाँ, आज्ञा कीजिए ।

कण्व—कहना कि—राजन् ! कहीं तो हमलोग सीधे-सीधे संयमी तपस्वी और वहाँ आप ऊँचे घरानेके राजा । फिर भी आपने अपने आप इस कन्यासे विवाह कर लिया है । इन सब बातोंका ध्यान करके आप कमसे कम दूसरी रातियोंके समान तो शकुन्तलाका आदर अवश्य कीजिएगा । इससे बढ़कर इसे जो सौभाग्य मिले वह इसके भाग्यकी बात है । उसके लिये हम कन्याके बान्धव लोग भला क्या कह सकते हैं ॥१७॥

शार्ङ्गरव—सन्देश तो मैं समझ गया ।

कण्व—घत्से ! आओ ! तुम्हें कुछ सीख देनी है । देखो, वनमें रहते हुए सांसारिकभी व्यवहार हम लोग भली भँति जानते हैं ।

शार्ङ्गरव—ऐसी कौन-सी बात है जिसे विद्वान् लोग न जानते हों ।

कण्व—देखो ! यहाँसे पतिके घर पहुँचकर परके सब बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करना । अपनी

शुभ्रुपस्व गुरुन्करु प्रियसखीपृच्छि सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोपणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भृषिष्टं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृह्णीषिपदं गुवतयो वामाः कुलस्याघयः ॥१८॥

कथं वा गौतमी मन्यते ।

गौतमी—एतिश्रो बहुजणस्स उयदेसो जादे एदं क्खु सव्वं ओधारेहि । (एतावान्बधूज-
नस्योपदेशः । जाते एतरेतल्ल सर्वमवधारय ।)

कण्वः—वत्से परिष्वजरव मां सखीजनञ्च ।

शकुन्तला—ताद इदो एव्व किं पिध्वं वदाअणसूआओ सहीओ णिवत्तिस्सन्ति । (तात
इत एव किं प्रियवदानस्यै सखी निवर्तिभ्येते ।)

कण्वः—वत्से इमे अपि प्रदेये । न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम् । त्वया सह गौतमी यास्यति ।

शकुन्तला—[पितरमारिह्य] कहूँ दाणिं तादस्स अक्कादो परिज्जमट्ठा मल्लअतरुम्मूलिआ
चन्दणलदा विअ देसन्तरे जीविअं धारइस्सं । (कथमिदानीं तातस्याङ्गत्वरिप्रश्ना मलयतरुमूलिता
चन्दनरुतेव देशान्तरे जीवित धारयिष्यामि ।)

कण्वः—वत्से क्रिमेवं कातरासि ।

अभिजनवतो मर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृह्णीषिपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैरतस्य प्रतिक्षणमाकुला ।

सौतेल्ले सखियों जैसा प्रेम रखना । पति निरादर भी करें तो क्रोध करके उनसे मगड़ा मत
कर बैठना । अपने दासदासियोंको बड़े प्यारसे रखना और अपने सौभाग्यपर बहुत ऐठना
मत । जो स्त्रियों घरमें इस प्रकार चलती हैं वे ही सच्ची गृह्णीणी होती हैं और जो इसका
उल्टा करती हैं वे स्रोटी स्त्रियों तो अपने कुलकी नागिन होती हैं ॥१८॥ क्यों गौतमी !
ठीक है न !

गौतमी—कुलबधुओंके लिये इससे बढ़कर और क्या उपदेश होगा । वत्से ! ये सब
पातें गॉठ बाँध लो ।

कण्व—वत्से ! आओ, मुझसे और अपनी सखियोंसे गले तो मिल लो ।

शकुन्तला—तात ! क्या प्रियवदा आदि सखियों यहाँसे लौट जायेंगी ?

कण्व—वत्से । इनका भी तो विवाह करना है । इसलिये इनका वहाँ जाना ठीक नहीं
है । मेरे साथ गौतमी तो जा रही हैं ।

शकुन्तला—[पिताके गले लगकर] पिताजीकी गोदसे अलग होकर मलय पर्यंतसे
उखाड़े हुए चन्दनके पौधेके समान मैं परदेशमें पहुँचकर कैसे जी पाऊँगी ?

कण्व—वत्से ! इतनी क्या अधीर हो रही हो । जय तुम ऊँचे कुल वाले पतिकी पटरानों
होकर उनके घरके कामोंमें दिन-रात फँसी रहोगी और, जैसे पूर्व दिशा सूर्यको उपनन

तनयमन्त्रिरात्प्राचीवाकं प्रसूय च पावनं

मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥१६॥

[शकुन्तला रिक्तः पादयोः पतति ।]

कथं—यदिच्छामि ते तदस्तु ।

शकुन्तला—[सल्लवाबुधेत्य] हला दुधे वि मं समं एव परित्सजह । (हला द्वे अपि मा सममेव परिचजेयाम् ।)

सख्यौ—[तथा कृत्वा] सहि जइ णाम सो राथा पथहियशाखुमन्यरो भवे तदो से इमं अत्तणामहेअअङ्घ्रिअं अगुलिअथं वंसेहि । (सखि यदि नाम त राज्ञा प्रत्यभिज्ञानमन्यरो भवेत्तत्सत्स्येदमात्मनामत्तेयाङ्घ्रितमसुलीयकं दर्शय ।)

शकुन्तला—इमिणा संदेहेण वो आकम्पिदन्दि । (अनेन सदेहेन वामाकम्पितास्मि ।)

सख्यौ—सा भाव्याहि तिरौहो पावसङ्घो । (मा मैत्रीः स्नेहः पावसङ्घो ।)

शार्ङ्गवः—शुगान्तरमारूढः सविता । त्वरतामत्रभवती ।

शकुन्तला—[आभ्रमामिदुखी स्थित्वा] ताद कदा गु भूओ तथोचण पेक्खिससं । (तात कदा तु भूयस्तपोवन प्रेक्षिष्ये ।)

कथं—श्रुताम्—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी

दीप्यन्तिमप्रतिरथं तनय निनेरय ।

भर्त्रा तदर्पितकुदुम्बभरेण साधं

शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽरिमान् ॥२०॥

करती है वैसे ही पवित्र पुत्र ज्वलन्त करोगी, उस समय तुम सुक्षते मिष्टुदनेका सत्र दुर भूल जाओगी ॥१९॥

[शकुन्तला पिताके पैरों पड़ती है ।]

कथं—तुम्हारे लिये मैं जो-जो चाहता हूँ वह तुम्हें मिले ।

शकुन्तला—[तलियोंके पास जाकर] सखियो ! आओ तुम दोनों एक साथ मेरे गले लग जाओ ।

सख्यौ—[गले छगकर] सखी, देखो ! यदि ये राजा तुम्हें पदचाननेमें भूल करें तो यह उनके नामवाली अंगूठी तुम उन्हें दिखाकर देना ।

शकुन्तला—तुम्हारी इस सन्देश-भरी बातने तो मेरे जोमें खटका डाल दिया है ।

सख्यौ—नहीं मर्दों, छोरो मत । प्रेमानें तो खटका हुआ ही करता है ।

शार्ङ्गवः—देवी ! दिन बहुत चढ़ आया है । अब शीघ्रता करने चाहिये ।

शकुन्तला—[आभ्रमकी आर प्रैट करके] तात ! अब आभ्रमके फिर क्या दर्शन हो सकेंगे ?

कथं—सुनो ! पट्टत दिनोत्तिक इस पृथ्वीकी सीत बनकर और अपने अद्वितीय पीर पुत्रको राज्य और कुटुम्बका भार सौंपकर जब तुम अपने पतिके साथ आओगी तब इस शान्त आभ्रममें सुखसे रहना ॥२०॥

गौतमी—जादे परिहीअदि गमणवेला । एण्वत्तेहि विदरं । अहयां चिरेण वि पुणो पुणो एसा एअं लन्तइस्सदि एण्वत्तदु भवं । (जाते परिहीवते गमणवेला । निजतय वितरम् । धयवा चिरेणापि पुनः पुनरेवेवं मन्त्रयिष्यते निजतता मगम् ।)

कण्वः—वत्से उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम् ।

शकुन्तला—[भूयः पितरमादिष्य] तवधरणपीडितं तादसरीरं ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कण्ठिठुम् । (तपधरणपीडितं तादसरीरम् तन्माप्रतिमात्रं मम कृतं उत्कण्ठितुम् ।)

कण्वः—[सनिःश्रावम्]—

शममेप्स्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् ।

उटजद्वारविरूढं नीवास्वलिं विलोकयतः ॥ २१ ॥

गच्छ शिवास्ते पन्थानं सन्तु ।

[निष्पन्ता शकुन्तला सहयायिनश्च ।]

सखी — [शकुन्तला विलोकय] हृद्वी हृद्वी अन्तलिहिदा सउन्दला वणराईए । (हा विक् हा विक् अन्तहिदा शकुन्तला वनराज्या ।)

कण्वः—[सनिःश्रावम्) अनमूये गतवती यां सहधर्मचारिणी । निगृह्य शोकमनुगच्छतं मां प्रस्थितम् ।

उभे—ताद सउन्दलाविरहिदं सुएणं विअ तवोवणं कहं पविसावो । (तात शकुन्तलाविरहितं शन्यमिव तपोवनं कथं प्रविशानः ।)

गौतमी—वत्से । विदाकी घड़ी बीतती जा रही है । जाने दो पिताजी को । [कण्वते] अब प अब लौट जायें नहीं तो यह बहुत देरतरु यों ही कुड़न-कुड़न कहती ही रहेगी ।

कण्व—वत्से ! अब जाओ । हमारे तपके कामोंमें देर हो रही है ।

शकुन्तला—[पितासे फिर मँट करके] आप तो यों ही तपके कारण बहुत दुबले हो गए हैं, इसलिये आप मेरी बहुत अधिक चिन्ता न कीजिएगा ।

कण्व—[लम्बी साँस लेकर] वत्से ! तुमने बलिके लिये जो तिनोके धान छोड़े थे उनके अंडुर जबतक कुटीके द्वारपर दिराई देते रहेंगे तबतक मेरा शोक कसे कम होगा ॥२१॥ जाओ ! तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो ।

[साथियोंके साथ शकुन्तला जाती है ।]

दोनों बहियों—[शकुन्तलाको देखकर] हाय, हाय । शकुन्तला तो वृद्धोंकी ओटमें ओहल हो गई ।

कण्व—[लम्बी साँस लेकर] अनमूया ! तुम्हारी सखी तो चली गई । अब यह रोना-धोना छोड़ो और मेरे साथ लौट चलो ।

दोनों—हाय ! शकुन्तलाके पिता मूने आश्रममें हम कैसे चलेगी ।

कण्वः—लेहप्रवृत्तिरेवदर्शनी । [सयिमर्शं परिक्रम्य] हन्त भो! शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य
लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम् । कुतः ।

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममार्य विशदः प्रकाशं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥ २२ ॥

[इति निष्क्रान्ताः एवम् ।]

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

। ।

कण्व—प्रेममें ऐसा ही होता है । [कुछ विचारते हुए धूमकर] ओह ! शकुन्तलाको
पतिके घर भेजकर अब मेरे मनको छुट्टी मिली । क्योंकि—कन्या सचमुच पराया धन ही
होती है । आज उसे पतिके घर भेजकर भरा मन जैसे ही निश्चिन्त हो गया है जैसे
किसीकी धरोहर लौटा दी हो ॥२२॥

[सब जाते हैं ।]

॥ चौथा अङ्क समाप्त ॥

पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च]

विदूषकः—[कर्णं दत्त्वा] भो चञ्चल संगीतसालन्तरे अचघारणं देहि । कलविमुद्गाप गीदीए सरसंजोश्रो मुण्णोयत्रि । जाणो तत्तहोदी हंसवद्विआ वरणपरिअअं करेदित्ति । (भो वयस्य संगीतशास्त्रान्तरेऽनघान देहि । कलविमुद्गाया गीतेः स्वरसंयोगः ध्रुवते । जाने तनमेरवी हसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति ।)

राजा—तूणो भव यावदाकर्णयामि ।

[धाकाशे गीयते ।] -

अहिणवमहुलोलुवो भवं तह परिचुम्बिअ चूयमज्जरिं ।

कमलवसहमेचणिव्युदोमहुअर विहारिओ सि शं कहं ॥ १ ॥

(अभिनवमधुलाहरो मरौलया परिचुम्ब चूयमज्जरीम् ।

कमलवसतिमात्रनिर्हृतो मधुकर विस्मृताऽस्येना कथम् ॥)

राजा—अहो रागपरिवाहिनी गीतिः ।

विदूषकः—किं दाव गीदीए अवगओ अकररत्थो (किं तावद्गीत्या अवगतोऽऽरार्थः ।)

पञ्चम अङ्क

[राजा आसनपर बैठे है और पास ही विदूषक भी बैठा हुआ है ।]

विदूषक—[कान लगाकर] सुनो वयस्य ! संगीत-शालानी ओर कान लगाकर वा सुनो । कोई बड़े लय-तालसे अत्यन्त मोठे स्वरोंमें गीत गा रहा है । जान पड़ता है महारानी हंस-पदिका स्वर साध रही हैं ।

राजा—अच्छा चुप हो जाओ तो सुनूँ ।

[नेपथ्यमें गीत]

नये नये मधुके लोमी ओ मधुकर !

एक बार ही इस रसालकी मधुर मंजरी चूम गए तुम ।

क्यों निवास पर कमल-शोभमें मुझे भूलकर घूम गए तुम ॥

नये नये मधुके लोमी ओ मधुकर ॥ १ ॥

राजा—वाह, गीत में कैसी प्रेमकी घरा यह रही है ?

विदूषक—पर इस गीतमें जो खोट की गई है, वह भी समझ पाए हो ?

राजा—[स्मितं कृत्वा] सकृत्कृतप्रणयौऽयं जनः । तदस्या देवीवसुमतीमन्तरेण मदुपा-
सम्भमवगतोऽस्मि । सखे माढव्य मद्बचनानुच्यतां हंसपदिका—निपुणमुपालब्धोऽस्मीति ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि । [उत्थाय] भो वयस्य गद्दीदस्त ताए परकीएहिं हत्येहिं
सिंहएडप ताडीअमाणस अचर्राए वीदराअस्त विअ एस्थि दाणिं मे मोक्खो । (यन्त्रवा-
नाशापयति । भो वयस्य गद्दीताय तथा परकीयेहस्तैः शिलण्डके ताड्यमानस्याम्बररा बीतरागस्येव
नास्तीदानीं मे मोक्षः ।)

राजा—गच्छ । नागरिकदृष्ट्या संज्ञापयैनाम् ।

विदूषकः—का गई । (का गतिः ।) [इति निष्क्रान्तः ।]

राजा—[आत्मगतम्] किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्यैष्टजनविरहाद्वेदोऽपि बलबदुरकण्ठितोऽ-
स्मि । अथवा—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।

तच्चेतसा स्मरति नूनमवोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ २ ॥

[इति पर्याकुलस्तिष्ठति ।]

[ततः प्रविशति कञ्चुकी ।]

कञ्चुकी—अहो नु एल्वीदशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि ।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता या क्षेत्रपटिवरोधगृहेषु राज्ञः ।

काले गते बहुतिथे मम सैव जाता प्रस्थानविकलवगतेरवलम्बनार्था ॥ ३ ॥

राजा—[मुस्करते हुए] हाँ, हाँ मैं समझ गया । मैंने इस रानीसे केवल एक ही बार
प्रेम किया है, इसलिये आजकल जो देवी वसुमतीसे मैं प्रेम करने लगा हूँ उसीपर ये छोट्टे
कसे गये हैं । मित्र माढव्य ! मेरे औरसे हंसपदिकासे जाकर कहना कि तुमने बड़ी सीठी
चुटकी ली है ।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा । [पड़ा होकर] पर वयस्य ! जैसे अम्बरार्यों के हाथोंमें
पड़ कर बड़े-बड़े विरागो श्रृपि नहीं छूट पाते हैं वैसे ही जब अपनी दासियोंसे मेरी
चोटी परकड़वाकर वे मुझे पीटने लगेंगी उस समय उनसे छुटकारा पाना मेरे लिये भी कठिन
हो जायगा ।

राजा—जाओ, चतुरार्रिंके साथ उन्हें यह सन्देश देना ।

विदूषक—आप कह रहे हैं तो जाना ही पड़ेगा । [चला जाता है ।]

राजा—[मन ही मन] मेरे सभी सने-व्यारे मेरे पास ही हैं फिर भी इस गीवको सुन-
कर मैं न जाने क्यों इतना अनमना सा हो उठा हूँ । या—मुन्दर वस्तुएँ देरकर और नीठे
शब्द सुनकर जब सुखी लोग भी उदास हो जायँ तब यही समझना चाहिए कि उनके मनमें
पिछले जन्म के प्रेमियोंके जो संस्कार बैठे हुए हैं वे ही अपने आप जाग उठे हैं ॥ २ ॥
[यह सोचकर ध्यातुल हो उठता है ।]

कञ्चुकी—आह, मेरी भी क्या दशा हो चली है ।—जिस दंतकी, छद्मीकी व भी मैं
एनिवासके द्वारपालका नियम समझकर हाथमें लिए रहा करता था वही अब इस बुझापेमें

मो काम धर्मकार्यमनतिपात्या देवस्य । तथापीदानीमेव धर्मान्नादुस्मिताय पुनरुपरो-
धकारि कल्पशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम् । अथवाऽविश्रमोऽय लोफतन्त्राधिकार ।
कुत ।

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिदिग्ं गन्धर्हः प्रयाति

शेषः सदैवाहितभूमिभारः पष्ठांगवृत्तेरपि धर्म एषः ॥ ४ ॥

यावन्नियोगमनुविष्टामि । [परिक्रम्यावस्योक्त्य च] एष देव

प्रजाः प्रजाः स्वा इन् तन्त्रयित्वा निपैरते गान्तमना विविक्तम् ।

युयानि संचार्य रमिप्रतप्तः गीतं दिवा स्यान्मिव द्विपेन्द्रः ॥ ५ ॥

[उपगम्य] जयतु जयतु देव । एते क्षत्रु हिमगिरेत्परशकारण्यवासिनः स्वप्नसदेश-
मादाय सखीकास्तपरिग्रन सप्राप्ता । अत्रा देव प्रसाधम् ।

राजा—[आदरम्] किं कल्पमदेशहारिणः ।

कञ्चुकी—अथ किम् ।

राजा—तेन हि मद्रचनाद्विज्ञायताम्पाध्याय मोभगत । अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन
विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति । अद्भगप्येतोस्तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थित
प्रतिपालयामि ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव । [इति निष्पान्तः]

मुक्त लडखडाते पैरवालेका सहारा घन गर्ह है ॥ ३ ॥ यह तो ठीक है कि महाराजको धर्म-
कार्य करना चाहिए । फिर भी अभी अभी न्यायासनसे उठकर गए हैं । अब उन्हें फिरसे
कष्ट देनेके लिये जो ये कल्पके शिष्य आ धमके हैं, इनको सूचना पहुँचानेको मेरा तो जो
नहीं करता । पर प्रजाके शासनके काममें विश्राम कहाँ । क्योंकि—सूर्य एक ही धार अपने
घोड़े जोतकर अबतक चला जा रहा है, पवन भी रात दिन बहता ही रहता है और शेष-
नाग भी इस घुस्कीके भारको अपने ऊपर सदा धारण ही किए रहते हैं । ठीक यही दशा
उपजका छठा अंश लेनेवाले राजाकी भी है ॥ ४ ॥ इसलिये चलों में भी अपना कर्तव्य
पालन करें । [इपर-उधर देखकर] ये महाराज अपनी सन्तान-जैसी प्रजाका काम करके,
थक जानेपर यहाँ एकान्तमें उसी प्रकार विश्राम कर रहे हैं जैसे दिनकी धूपसे तपा हुआ
गजराज हाथियोंके मूण्डको चरनेके लिये छोड़कर स्वयं ठंडे स्थानमें विश्राम लेता है ॥ ५ ॥
[पाव जाकर] महाराजकी जय हो । हिमालयकी तराईमें रहनेवाले कुछ तपस्वी लोग
कल्पका सन्देश लेकर खियोंके साथ आये हुए हैं । अब जैसा देव ठीक समझें वैसा करें ।

राजा—[आदरसे] क्या महर्षि कल्पका सन्देश लेकर आए हैं ?

कञ्चुकी—जी हाँ ।

राजा—तो तुल पुरोहित सोमरातजीको कहला दो कि ये इन आश्रमवासियोंका वैदिक
रीतिसे सत्कार करके इन्हें अपने ही साथ लिवा लायें । मैं भी तबतक एधर चलकर बैठता
हूँ जहाँ श्रपियोंसे भेंट की जाती है ।

कञ्चुकी—वैसी महाराजकी आज्ञा । [प्रस्थानः]

राजा—[उल्पाय] वेत्रवति अग्निशरणमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो । (इत इदो देवः ।)

राजा—[परिक्रामति । अधिकारसेवदं निरूप्य] सर्वैः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी संपन्नो जन्तुः । राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव ।

श्रौत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा

क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।

नातिश्रमापनयनाप न च श्रमाय

राज्यं स्वहस्तश्रुतदण्डमिवातपन्नम् ॥ ६ ॥

[नेपथ्ये]

वैतालिकी—विजयतां देवः ।

प्रथमः—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः

प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवविधैव ।

अनुभवति हि मूर्धा पादपस्तीव्रमुष्णं

शमयति परितापं ह्यायया संप्रितानाम् ॥ ७ ॥

द्वितीयः—

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः

प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षसाय ।

राजा—[उठकर] वेत्रवती ! चलो हमें यज्ञशाला तक पहुँचा दो ।

११. प्रतीहारी—इधरसे आइए महाराज, इधरसे ।

राजा—[घूमता है । राजकाजका दुःख बताते हुए] अपने मनकी साथ पूरी हो जानेपर और एक जेनेको जो सुख मिलता है पर हम जेनेको राज्या करनेकी इच्छा जब पूरी हो जाती है तब कष्ट ही कष्ट हाय लगता है । राजा बनकर बड़ी प्रतिष्ठा पा लेनेसे मनकी उमंग तो पूरी हो जाती है पर जब राज्यका पालन करना पड़ता है तब छठीका दूध स्मरण हो आता है । इसलिये राज्य उस छठीके समान है जिसकी मूठ अपने हाथमें ले लेनेसे थकावट ही अधिक होती है, विश्राम कम मिलता है ॥ ६ ॥

[नेपथ्यमें]

दो वैतालिक—महाराजकी जय हो ।

पहल्य—अपने सुखकी इच्छा छोड़कर आप प्रजाकी भलाईमें लगे रहते हैं । या यों कहना चाहिए कि इस प्रकार आप अपना धर्म ही पाल रहे हैं, क्योंकि छूट, अपने तिरपर तो कदी धूप सहता है, पर अपने तले बैठे हुए जीवोंको ह्याया ही देता रहता है ॥७॥

दूसरी—दुष्टोंको आप अपने राजदण्डने डेरु रतते हैं और सरके आपसी झगड़े

अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम

त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥ ८ ॥

राजा—एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः । [इति परिक्रामति ।]

प्रतीहारी—एसो अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णहिदहोमघेण्ण अग्गिसरणात्तिन्दो । आरोहद्दु देवो । (एष अग्निवसंमार्जनसभीकः संनिहितहोमधेनुरग्निशरणात्तिन्दः । आरोहद्दु देवः ।)

राजा—[आरह्य परिजनासावकम्नी विप्रति ।] वेत्रवति किमुद्दिश्य भगवता कएवेन मत्सका-
शमृपयः प्रेषिताः स्युः ।

किं तावद्भतिनामुपोद्धतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं

धर्माण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिव्यसञ्चेष्टितम् ।

आहोसिवात्प्रसयो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-

मित्यारुद्धवद्दुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः ॥ ९ ॥

प्रतीहारी—सुचरिदण्णदिणो इसोओ देव सभाजइद्दु आअदेत्ति तक्केमि । (सुचरितानन्दिन
श्रपयो देवं सभाजयिनुगागता इति तर्कयामि ।)

[ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तला पुरस्कृत्य मुनयः । पुरश्चैषां कञ्चुकी पुरोहितश्च ।]

कञ्चुकी—इत इतो भवन्तः ।

मिटाकर आप प्रजानी रक्षा करते हैं । प्रजामें जो धनी लोग हैं उनके तो बहुतसे सगे-
सम्बन्धी हो सन्ते हैं पर साधारण प्रजाके तो मों-जाप भाई सब कुछ आप ही हैं ॥ ८ ॥

राजा— मेरा उदास मन इनकी बातें सुनकर फिर हरा हो गया ।

[चारो ओर घूमते हैं ।]

प्रतीहारी—यह रही म्हाइ-बुहारकर सुन्दर की हुई यज्ञशालाकी बैठक जहाँ पास ही
ध्वनके लिये घी दूध देनेवाली गौ भी बँधी है । इसीमें चढ़ जाँय महाराज ।

राजा—[चढकर परिचारकोंके कन्धोंके सहारे उठा होता है ।] वेत्रवती ! भगवान् कएवेन
श्रपियोंकी मला मेरे पास किस लिये भेजा होगा ? कहीं उपद्रवी राजसेोंने बहुत प्रकारकी
तपस्या करनेवाले इन श्रपियोंके तपमें तो थाधा नहीं डाल दी है ! या कहीं कोई तपोवनके
प्राणियोंको तो नहीं सता बैठा है ! या कहीं मेरे पापोंके कारण तपोवनकी लताओं और
घुड़ोंका फलना-भूलना तो नहीं रुक गया है ! मेरे मनमें अनेक प्रकारकी ऐसी बुरी-बुरी आशां-
काएँ उठ रही हैं कि कुछ ठीक-ठीक समझ न पानेसे मेरे जी मैं बड़ी खलपली मच
गई है ॥ ९ ॥

प्रतीहारी—देव ! मैं तो समझती हूँ कि ये श्रपि लोग महाराजके अच्छे कर्मोंसे प्रसन्न
होकर बधाई देने आए होंगे ।

[शकुन्तलाकी आगे निप हुए गौतमीके साथ श्रपियोंका प्रवेश । आगे-आगे कञ्चुकी और पुरोहित ।]

कञ्चुकी—इधर से आइए आप लोग, इधरसे ।

शार्ङ्गरवः—शारद्वत ।

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ

न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।

तथापीदं शश्वत्परिचितविक्रानेन मनसा

जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ॥ १० ॥

शारद्वतः—स्थाने भवान्युरप्रवेशादित्यभूत सञ्ज्ञत । अहमपि—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।

बद्धमिव स्वैरशतिर्जनमिह सुखसङ्घिनवैमि ॥ ११ ॥

शकुन्तला—[निमित्त सूचयित्वा] अम्भहे कि मे वामेदरं एण्णयं विष्णुरदि । (भद्रो कि मे वामेदर नयन विष्कुरति ।)

गौतमी—जादे पब्बिहद अमन्नल । सुहाई दे भत्तुकुलदेवदाओ वितरन्दु । [बाते प्रतिहत-ममद्वलम् । सुत्तानि ते भद्रं कुलदेवता वितरन्दु ।]

[इति परिक्रामति ।]

पुरोहित—[राजान निर्दिश्य] भो भोस्तपस्विन असावन्नभवान्वर्णाश्रमाणा रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो च प्रतिपालयति । पश्यतैनम् ।

शार्ङ्गरव—भो महाप्राहाण काममेतद्भिनन्दनीय तथापि वयमत्र मध्यस्था । कुत ।

शार्ङ्गरव—शारद्वत—यह मैं मानता हूँ कि ये राजा इतने धर्मात्मा हैं कि कभी बर्थादाका चल्लपन नहीं करते और इनके राज्यमें जो नीच-से-नीच वर्णके लोग हैं, वे भी कभी कोई अधर्मका काम नहीं करते, पर इतने लोगोंसे भरे हुए आँगनको देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ आगकी लपटें उठी हुई हों। मेरा अपनेलेंमें रमनेवाला मन तो ऐसा करता है कि यहाँ से भाग राजा होऊँ ॥१०॥

शारद्वत—नगरमें आनेपर ऐसा ही लगता हागा। मैं भी साधारिक भाँगोंमें पड़े हुए यहाँके लोगोंको बैसा ही हीन समझता हूँ जैसे नहाया हुआ तेल लगाए हुएको, पवित्र अपवित्रको, जागता हुआ सोते हुएको तथा स्वतंत्र व्यक्ति बँधे हुए को समझता है ॥११॥

शकुन्तला—[सुग सुकुन वत्ताअर] हूँ ! यह मेरी दाहिती और क्यों फड़कने लगी ?

गौतमी—वेरे असगुन दूर हों, पुत्री ! वेरे पवि-कुलके देवता सब भला ही करें।

[पमती है ।]

पुरोहित—[राजको दिखलार] तपस्वियो ! देखिए, वर्णाश्रमका मालन करनेवाले महाराज पहलेसे ही आसन छोड़कर पड़े हुए आप लोगोंके आनेकी याद देख रहे हैं। इन्हें देखिए तो ।

श शरव—हे राजपुरोहित ! माना कि ये प्रशासके योग्य हैं पर हम इसे कोई नई बात

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैर्नमाम्बुभिर्दूरतिलम्बिनो घनाः ।

अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाय एवैव परोपकारिणाम् ॥ १२ ॥

प्रतीहारी—देव पसण्णमुहवण्णा दोसन्ति । जायामि विसद्वक्कजा इत्तीओ । (देव प्रसन्नमुहवर्णा हस्यन्ते । जनानि विश्रम्भकार्यां श्रुत्वा ।)

राजा—[शकुन्तला हस्य] अयात्रभवती—

का स्थिदवगुएठनती नातिपरिस्फुटशरिस्लावय्या ।

मल्ले तपोधनानां त्रिसलयसिन्धु पाण्डुपत्राणाम् ॥ १३ ॥

प्रतीहारी—देव कुतुहलमभोपहिदो ए मे तको पसरदि । ए दंसणीआ एण से आ किदी लक्खीअदि । (देवकुतुहलमभोपहितो न मे तर्कं प्रसरति । मनु दर्शनीया पुनरस्या आकृति लक्ष्यते ।)

राजा—भवतु । अनिर्यर्णनीय परफलत्रम् ।

शकुन्तला—[शस्तमूर्च्छि धरया धामगतम्] हिअअ कि एव्य वेरसि । अज्जउत्तस्स भाय ओहरिअ धीर दाव होदि । (हृदय किमेव वेपथे । आनपुत्रस्य भावमवधार्य धीर तावन्नव ।)

पुरोहित—[पुरो गत्वा] एते विविधदर्शितास्तपस्विन । बद्धिवेषामुपाध्यायसदेश । त देव श्रोतुमर्हति ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

नहीं समझते । क्योंकि—फल लगाने पर पेठ मुपत्ते ही हैं, नये जलसे भरे हुए चादल नीचे फुक ही जाती हैं और सबजन लोग घन पान्तर नम्र होते ही हैं । यह तो परोपकारियोंका स्वभाव ही होता है, इसमें नई बात क्या है ॥१२॥

प्रतीहारा—महाराज ! खुपि लोग प्रसन्न दिखाई पड रहे हैं । इसलिये मैं समझती हूँ कि ये लोग किसी अच्छे कामसे ही आए होंगे ।

राजा—[शकुन्तलाका देवकर] ये कौन वेची हैं ।—इन तपस्वियोंके बीचमें पीले पत्तोंमें नई कोंपलके समान दिपाई देनवाली यह कौन हो सकती है जिसकी सुन्दरता, घूँघटके कारण ठीक-ठीक सुल नहीं पा रही है ॥ १३ ॥

प्रतीहारी—महाराज ! मैं भी यही जाननेको उतावली हो रही हूँ पर ठीक ठीक समझ नहीं पा रही हूँ । पर, जान पडता है कि यह है वही सुन्दर ।

राजा—हुआ करे । पराई सोपर थोरल नहीं डालनी चाहिये ।

शकुन्तला—[हृदयपर हाथ रखकर मन ही मन] इस प्रकार कोंप क्यों रहे हो, मेरे हृदय । आर्य पुत्रके प्रेमया ध्यान करके धीरज तो घरो ।

पुरोहित—[आगे बढ़कर] महाराज ! इन तपस्वियोंका ठीक प्रियसे आदर-सत्कार हो चका है । ये अपने गुरुजीका कोई सन्देश लाए हैं, उसे देव सुन लें ।

राजा—हाँ, हाँ, पढ़ आप लोग, मैं सुन रहा हूँ ।

ऋषयः—[हरतामुच्यम्] विजयत्व राजन् ।

राजा—सर्वानभिवादये ।

ऋषयः—इष्टेन युज्यस्व ।

राजा—अपि निर्विघ्नवपसो मुनय ।

ऋषयः—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि ।

तमस्तपति धर्मांशौ कथमाविर्मविष्यति ॥ १४ ॥

राजा—अर्थवानसलु मे राजशब्दः । अथ भगवत्सिद्धोऽनुग्रहाय कुशलो कथः ।

ऋषयः—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः । स भवन्तमनामवग्रन-पूर्वकमिदमाह ।

राजा—किमाज्ञापयति भगवान् ।

शाङ्गरेव—यन्मिथः समयादिमां मदोया दुहितरं भवानुपायंस्त तन्मया श्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम् । कुतः ।

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया ।

समानयंस्तुल्यगुणां वधूर् चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥ १५ ॥

तदिदानीमापन्नसत्त्वेयं प्रतिगृह्यता सहधर्मचरणायेति ।

ऋषि लोग—[हाथ उठाकर] महाराजको जय हो ।

राज—मैं आप लोगोंको प्रणाम करता हूँ ।

ऋषि लोग—आपका मनोरथ पूरा हो ।

राजा—फहिये, ऋषियोंकी तपस्यामें कोई विघ्न तो नहीं डाल रहा है ?

ऋषि लोग—जहाँ आप जैसे राजा पृथ्वीकी रक्षा कर रहे हैं वहाँ सज्जनोंके धर्म-वापोंमें भला विघ्न कौन डाल सकता है ? सूर्यके चमकते रहनेपर भला कहीं अँधेरा भी रह पा सकता है ॥ १४ ॥

राजा—आज मेरा राजा कहलाना सच्चा हुआ । अच्छा यदि तो यथाष्ट कि संसारका कल्याण करनेवाले भगवान् कथ तो कुशलसे हैं न ।

ऋषि लोग—कुशलता तो ऐसे सिद्ध पुरुषोंके हाथमें रहती है । उन्होंने आपका कुशल पूछते हुए यदि कहलाया है—

राजा—हाँ, भगवान् कथबने क्या आशा दो है ?

शाङ्गरेव—उन्होंने कहलाया है कि आपने जो मेरी कन्यासे गुणवुप विवाह कर लिया है उसे मैं प्रसन्न होकर स्वीकार करता हूँ । क्योंकि—आदरणीय व्यक्तियोंमें आप सभसे प्रथम हैं और शकुन्तला पुण्यक्रियाकी साक्षात् मूर्ति है । आज बहुत दिनोंपर प्रथमने एक जैसे गुणराले घर-बधू की जोड़ी रखकर अपनेकी दांपी कहलानेसे क्या लिया है ॥ १५ ॥ अब आप इस गर्भवतीको अपनी धर्मपत्नी बनाकर प्रहणकर लीजिए ।

गीतमी—अज्ञ किंवि वस्तुनामस्मि ख मे वचनानसरो अस्थि । कहति ।
 खापेन्निखयो गुरुग्रयो इमाए तुए पुच्छिदो ख वन्दुग्रयो ।
 एककमेव चरिए भणामि किं एककमेवकस्त ॥ १६ ॥

(आर्षं किमपि वस्तुनामस्मि । न मे वचनाचकराऽस्ति । कथमिति ।

नापेक्षितो गुरुवनोऽनया तथा पृष्टो न वन्दुवनः ।

एकैकमेव चरिते भणामि किमेकमेकम् ॥)

शकुन्तला—[आत्मगतम्] किं गु म्बु अउवउतो भणति । (कि तु लक्षणैषु न भवति)

राजा—किमिदमुपन्यस्तम् ।

शकुन्तला—[आत्मगतम्] पापत्रो म्बु वप्रणोऽवणासो । (पावनं गच्छ वचना-
 पन्थात् ।)

शाश्वरव —कथमिदं नाम भवन्त एव सुवरा लोचनवृत्तान्तनिष्णाता ।

मतीमपि धातिहृल्लैकनश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशद्वते ।

अतः ममीपे परिशोतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वमन्धुभिः ॥ १७ ॥

राजा—किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा ।

शकुन्तला—[मतिपादम् । आत्मगतम्] हिमश्र मपद दे आसद्वा । (हृदयं चाप्रत वे
 आसद्वा ।)

गीतमी—आर्ष ! मैं भी कुछ कहना चाहती हूँ । यद्यपि मुझे आप लोगोंके बीचमें कुछ
 भी बोलना नहीं चाहिए क्योंकि—न तो इसने अपने घरसे कुछ कहा-सुना, न आपने ही
 इसके सगे सम्बन्धियोंसे कोई पूछ-ताछ की । इसलिए जब आप लोगोंने आपसमें ही सय
 कुछ कर डाला है तब मैं आप दोनोंको भला कूँ क्या ॥ १६ ॥

शकुन्तला—[मनही मन] देखें, इस बातपर आर्यपुत्र क्या कहते हैं ?

राजा—आप लोग यह कह क्या रहे हैं ?

शकुन्तला—[मन ही मन] इन्होंने बातका आरम्भ क्या किया है कि आगे उगल
 दो है ।

शाश्वरव—आप तो लोकाचारकी समी बातें जानते हैं फिर ऐसा क्यों कह रहे हैं । जो
 सुदानिन स्त्री अपने पिताके घर रहती है वह चाहे जितनी भी पतिव्रता हो फिर भी उसके
 सम्बन्धमें लोग बड़ी उल्टी-सीधी बातें उठा दिया करते हैं । इसलिए वह सुवती चाहे सजरी
 दुलारी ही क्यों न हो, पर उसके भाई-बन्धु लोग तो यही चाहते हैं कि वह अपने पतिसे
 ही पास रहे ॥ १७ ॥

राजा—यद्य इस दोषसे कभी पहले मेरा विवाह हो चुका है ?

शकुन्तला—[दुःखी शंकर मन हा मन] हृदय ! मुझे जो लटका हो रहा था वह आगे
 आ रहा है ।

शाङ्गरवः—

किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति त्रिमुलता कृतायज्ञा ।

राजा—कृतोऽयमसररूपनाप्रश्नः ।

शाङ्गरवः—

मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ॥ १८ ॥

राजा—विशेषेणाधिचिन्तोऽस्मि ।

गौतमी—जादे मुहुत्तत्रं मा लज्ज । अबणइस्सं दाव दे ओइण्ठणं । तदो तुमं मट्टा अहिजाणिससदि । (जाते मुहुत्तं मा लज्ज । अपनेध्यामि तावत्तेऽपगुण्ठनम् । ततस्त्वा मर्ताऽभि-
शास्यति ।) [इति यथोक्तं कराति ।]

राजा—[शकुन्तला निर्वर्ण्य आत्मगतम्]

इदमुपनतमेवं रूपमकिलप्रकान्ति प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन् ।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुपारं न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ॥ १९ ॥
(इति विचारयन्निपतः ।)

प्रतीहारी—[स्वगतम्] अहो धन्मावेक्खिअ भाट्टिणो । ईदिसं गाम सुहोषणदं ख्वं
देक्खिअ को अण्णो विशारेदि । (अहो धर्मावेक्षिता भट्टः । ईदृश नाम सुरोपनत रूप दृष्ट्व
श्रेऽन्धो विचारयति ।)

शाङ्गरव—ज्या अब आपको अपने किए हुए कामपर पछतावा हो रहा है, या आप अपने पतंगयसे भाग रहे हैं या जान-भूझकर अपने किए हुएको भुला देना चाहते हैं ?

राजा—आपने यह कहाँकी बेसिर-पंरकी बातें छोड़ दी हैं ?

शाङ्गरव—[काधते] जो ऐश्वर्यमें भतवाले हो जाते हैं वे ऐसे ही रतोटे काम किया करते हैं ॥ १८ ॥

राजा—आप तो मुझे अच्छा डोंट-फटकार रहे हैं !

गौतमी—घरसे ! छोड़ी देरके लिये लाज-संकोच छोड़ दो । आशो मैं तुम्हारा घूषट
घटा हूँ, जिससे तुम्हारे पति तुम्हें पहचान तो लें ।

[घषट हटा देती है ।]

राजा—[शकुन्तलाका ध्यानसे देलकर मन ही मन] मैं ठीक-ठीक निश्चय ही नहीं कर
कर पा रहा हूँ कि यह जो अत्यन्त शोभावाली सुन्दरी यहाँ अपने आप आ पहुँची है, इसके
साथ मैंने पहले कभी विवाह किया भी है या नहीं । और इसीलिये, जैसे प्रात कालकी
ओस पड़े हुए कुन्दके फूलपर भीरा न तो बैठता ही है न उसे छोड़कर ही जाता है, वैसे ही
मैं भी, न तो इसे प्रदण ही कर पा रहा हूँ न छोड़ ही पा रहा हूँ ॥ १९ ॥

[राजा सोचता रह जाता है ।]

प्रतीहारी—[मन ही मन हमारे महाराज धर्मका कितना ध्यान रखते हैं । नहीं सो,
अपने आप आप हुए ऐसे रूखो पाकर भला कौन इतना आगा-गोड़ा सोचेगा !

शाङ्करव.—भो राजन् किमिति जोपमास्यते ।

राजा—भोस्तपोधनाः चिन्तयन्नपि न रालु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि । तत्कथमिमा मभिव्यक्तसत्त्वलक्षणं प्रत्यात्मानं चोत्रिणामाशङ्कमानं प्रतिपत्स्ये ।

शकुन्तला—[अपवार्थ] अञ्जस परिणय एव संदेहो । कुदो दाणि मे दूराधिरोहिणी आसा । (आर्यस्य परिणय एव संदेहः । कुत इदानी मे दूराधिरोहिण्याशा ।)

शाङ्करवः—मा तावत्—

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः ।

मुष्टं प्रतिश्राद्दयता स्मर्यं पात्रीकृतो दशशुश्रुवामि येन ॥ २० ॥

शारदत—शाङ्करव विरम त्वभिवानीम् । शकुन्तले यक्तव्यमुक्तमस्माभि । सोऽयमत्र भवानेवमाह । वीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिबचनम् ।

शकुन्तला—[अपवार्थ] इमं अद्यत्थन्तर गते तारिसे अणुराय कि वा सुमराधिदेण । अत्ता दाणि मे सोअणीओ चि धवसिद एदं । [प्रकाशम्] अञ्जञ्च [इत्यथोक्ते] संसह्दे दाणि ए एसो समुदाआरो । पोरव ए जुत्तं अम दे तह पुरा अस्समपदे सहावत्ताणहिअअं इमं जणं समअपुण पतारिअ ईदिसेहिं अस्सरेहिं पचाचन्दिदुं । (इदमवस्थान्तर गते तादृशोऽनुरागे कि वा स्मारितेन । अस्मदानो मे शोचनीय इति व्यवहितगेत् । आर्यपुत्र ।

शाङ्करव—क्यों महाराज ! आप चुप क्यों हो गए ?

राजा—तपस्विनयो । धर-धर स्मरण करनेपर भो इस देवीके साथ विवाह करनेकी बात मुझे स्मरण ही नहीं आ रही है, तब धनाङ्ग कि इस गर्भवतीके स्पष्ट लक्षणोंवाली देवीको स्वीकार करके दूसरेसे गर्भ धारण करानेवालो स्वीका पति कहलानेका अपजस मैं क्यों लूँ ।

शकुन्तला—[अन्वय] आर्यपुत्रको जब विवाहमें ही सन्देह हो रहा है तब मैंने और जो बड़ी-बड़ी आशाएँ वॉन रझायी थीं उनका तो फिर टिकाना ही कहीं है ।

शाङ्करव—हाँ-हाँ, मत करो स्वीकार । तुमको ऋषिका अपमान करना ही चाहिए क्योंकि उन्हेंने तुम्हारे साथ यह भलमनसाहत की है न, कि उनकी जिस कन्याको तुमने छलसे दूषित कर दिया है उसे वे तुम्हें योग्य पात्र समझकर उसी प्रकार सँप रहे हैं जैसे कोई अपनी चोरी गई हुई वस्तु मिलनेपर फिर चोरको ही लौटा दे ॥ २० ॥

शारदत—अच्छा शाङ्करव ! अब तुम चुप हो जाओ । [शकुन्तलामे] देरो शकुन्तला ! हमें जो कुछ कहना था, कह चुके । शहर राजा भी ऐसी बातें कह रहे हैं । अब तुम्हीं इन्हें विरवास दिलाओ ।

शकुन्तला—[मन ही मन] जब बात यहाँतक बढ़ चुकी है तब मैं उस प्रेमकी सुध दिहापर ही क्या करूँगी । अब तो मुझे अपने भा यकी कोसना ही भर रह गया है । [प्रवृत्त] आर्यपुत्र ! [भाषा कहकर रुक जाती है ।] पर जब इन्हें विवाहमें ही सन्देह हो रहा है तब इस प्रकार सम्बोधन ही करना ठीक नहीं है । हे पौरव ! मुक्त भोलो-भावोंको आश्रममें अपनी मोठी-

संशयित इदानीं नैव समुदाचारः । पीरव न युक्तं नाम ते तथा पुराऽऽभमग्दे स्वभावोत्थानहृदयमिमं
जनं समयपूर्वं प्रतापैर्दशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम् ।)

राजा—[कर्णो विधाय] शान्तं पापम् ।

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम् ।

कूलंकपेव सिन्धुः प्रसन्नमग्मस्तटतलं च ॥ २१ ॥

शकुन्तला—होदु जइ परमत्थतो परपरिक्काहसक्किष्णा तुण एव्वं वत्तं पवत्तं ता अहिष्णा-
खेण इमिष्णा तुह आसक्कं अचणइस्सं । (मन्तु यदि परमार्यताः परपरिग्रहसङ्किता त्वयैव वक्तुं
प्रवृत्तं तदभिज्ञानेनानेन तवाशुं कामपनेष्वापि ।)

राजा—उदारः कल्पः ।

शकुन्तला—[युद्रास्थानं परामृश्य ।] हृदो हृदो अङ्गुलीअअमुष्णा में अंगुली । (हा
थिक् हा थिक् अंगुलीयकइया मेऽङ्गुलिः ।) [इति त्रिविधार्थं गीतमीमवेक्षते ।]

गीतमी—नूणं दे सक्कावदारव्वमन्तरे सचीतीर्यसलिलं वन्दमानाए पव्वमट्टं अंगुलीअअं
(नूनं ते शक्कावतारव्वमन्तरे सचीतीर्यसलिलं वन्दमानायाः प्रप्रव्वमंगुलीयकम् ।)

राजा—[तस्मितम्] इदं सत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते ।

शकुन्तला—एत्थ दाव विदिष्णा दंसिइं पडुत्तणं । अवरं दे कहिस्सं । (अथ तावद्विधिना
रचितं प्रभुत्वम् । अवरं हि कथाविष्वापि ।)

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम् ।

मीठी बातोंके जालमें फँसाकर अब इस प्रकार मेरा निरादर करना आपको शोभा
नहीं देता ।

राजा—[कान भँदकर] शिव ! शिव ! क्या कह रही हो । अपने स्वच्छ जलको गँदला
करनेके लिये तीरपर खड़े वृक्षको ढाहनेवाली और सटको बहा ले जानेवाली नदीके समान
आप अपना भी कुल क्यों फलंकीत करना चाहती हो और मुझे भी क्यों विनाशकी ओर
ले जाना चाहती हो ॥ २१ ॥

शकुन्तला—अच्छा, यदि आप सचमुच मुझे पराई की समझे बैठे हैं तो मैं आपका
सन्देह दूर करनेके लिये यह पहचान दिखाती हूँ ।

राजा—हाँ, दिखाइए ।

शकुन्तला—[उँगलें टटोलकर] हाय हाय, मेरी उँगलीसे अँगूठी वहाँ निकल गई ?

(सबाई-यी होकर गीतमीकी ओर देखती है ।)

गीतमी—जान पड़ता है कि शक्कावतारमें सचीतीर्यके जलको प्रणाम करते समय तुम्हारी
अँगूठी निकल गई होगी ।

राजा—[मुत्कुराकर] इसी को कहते हैं स्त्रियोंकी तुरत-शुद्धि ।

शकुन्तला—यहाँ भी मेरे दुर्भाग्यने मेरा पीछा न छोड़ा । अच्छा मैं दूसरी बात भी
बताती हूँ ।

राजा—अच्छा अब सुनानेपर आ गई हो ?

शकुन्तला—एवं एकस्मिन् दिवस्ये खोमालिश्यामएवमेव एलिशीपत्तभाअणगत्रं उध्वयं तुह हत्ये संणिहिदं आसि । (नन्वेकस्मिन्दिवसे नवमाश्रिणामण्डये नखिनीपत्रमाजनगतमुदकं तव हस्ते संनिहितमासीत् ।)

राजा—शृणुमस्तावत् ।

शकुन्तला—तस्मिन् सो मेपुत्तकिदश्चो दोहापङ्क्तौ एतान् मिश्रपोदश्चो उवद्विश्चो । तुए अथ्यं दाव पदमं पिअउ त्ति अगुअम्पिणा उवच्छन्दिदो उअण्ण । ए उए दे अपरिचआदो इत्यन्भासं उवगदो । पच्छा तस्मि एअव मए गहिदे सलिले एण्ण किदो पणओ । तदा तुमं इत्थं पइसिदो सि । सञ्चो सगन्धेसु विरससिदि । दुवेचि एत्थ आरण्णआत्ति । (कश्चर्णं स मे पुनहनको दीर्घापाङ्क्तो नाम मृगपोतक उपरिधतः । तया अयं तावद्वयमं पिररित्यनुकम्पिनो-पच्छन्दित उदकेन । न पुनस्ते अपिरिचयाद्दस्ताभ्याउयुरगतः । पश्चाच्चरिमन्नेयमया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः । तदा तमिथ्य प्रहसितोऽसि । सर्वः सगन्धेषु विश्रितिति । द्वावप्यारण्यराविति ।)

राजा—एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाहूमधुभिरारुप्यन्ते विपयिणः ।

शकुन्तला—महामाश्रण अरुहसि एअयं मन्तिदु । तवोवणसंबद्धिदो अण्णभियणो अथ्यं अणो कइदवस्स । (महाभाग नार्हस्येवं मन्त्रयितुम् । तपोवनसंबद्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैउवस्य ।)

राजा—तापसवृद्धे ।

स्त्रीणामशिक्षितपदुत्यममानुषीषु संदश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।

प्रागन्तरिक्वगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोपयन्ति ॥ २२ ॥

शकुन्तला—आपने स्मरण होगा कि एक दिन आप नयमालिकाके कुक्षमें अपने हाथमें पानीसे भरा कमलके पत्रका दोना लिए हुए थे ।

राजा—कहती बलिए ! मैं सब सुन रहा हूँ ।

शकुन्तला—इतनेमें ही वहाँ मेरा पुत्रके समान पाला हुआ दीर्घापांग नामका मृग-श्रीना भी आ पहुँचा । आपने उसपर दया करके कहा—पहले इसे जल पी लेने दो । यह कहकर आप उसे जल पिलाने लगे । पर परिचित न होनेके कारण वह आपके पास गया ही नहीं । तब मैंने आपके हाथसे दोना ले लिया और वह मेरे हाथसे जल पीने लगा । उस समय आपने हँसकर कहा था कि अपने सगे-सम्बन्धियोंको सभी पहचानते हैं । तुम दोनों ही यनवासी हो न !

राजा—अपना काम साधनेवाली स्त्रियोंकी ऐसी मूठी और मीठी-मीठी बातोंमें कामी लोग ही फँसते हैं । समझी !

शकुन्तला—महाभाग ! आपको ऐसी बातें नहीं कहनी चाहियें । तपोवनमें पत्नी हुई कन्या भला छल-बलको बातें क्या जाने !

राजा—थूड़ी तपस्विनीजी ! जो मानवी स्त्रियाँ नहीं हैं वे भी बिना सिखाए-पढ़ाए बड़ी बतुर हो जाती हैं, फिर इन समझवाली स्त्रियोंका वाँ पूछना ही क्या । जानती हो ! जय-तक फोयलके बंधे उड़ना नहीं सीख जाते तबतक वह दूसरे पक्षियोंसे ही उनका पालन कराती है ॥ २२ ॥

संशयित इदानीं नैव समुदाचारः । पौरव न युक्तं नाम ते तथा पुराऽऽश्रमवदे स्वभावोच्चारणद्वयमिमं जनं समपपूर्वं प्रतापैर्दशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम् ।)

राजा—[कर्णो विधाय] शान्तं पापम् ।

व्यपदेशमाविलयितुं किमोहते जनमिमं च पातयितुम् ।

कुलंकपेव सिन्धुः प्रसन्नमम्मस्तटतरुं च ॥ २१ ॥

शकुन्तला—होदु जइ परमत्यतो परपरिजाहसङ्किणा तुए एज्वं वत्तुं पवत्तं ता अहिण्णा-
णेन इमिथा तुह आसङ्गं अषणइस्सं । (भवतु यदि परमार्थतः परपरिग्रहाङ्किना त्वयैव वस्तुं
प्रवृत्तं तदभिज्ञानेनानेन सवाञ्छं कामपनेभ्यामि ।)

राजा—उदारः कल्पः ।

शकुन्तला—[मुद्रास्थानं पतामूर्य ।] इहो हृदो अङ्गुलीअअमुण्णा मे अंगुली । (हा
यिक् हा थिक् अंगुलीयकगुण्या मेऽङ्गुलिः ।) [इति सविषादं गौतमीवेषते ।]

गौतमी—नूणं दे सक्कावदारम्भन्तरे सचीतीर्थसलिलं वन्दमानाए पञ्चमट्टं अंगुलीअअं
(नूनं ते शकावताराम्भन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रप्रष्टमंगुलीयकम् ।)

राधा—[कश्चित्तम्] इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति ख्येनमिति यदुच्यते ।

शकुन्तला—एएय दाव विहिणा दंसिइं पट्टतणं । अवरं दे कहिस्सं । (अत्र तावद्विधिना
दर्शितं प्रभुत्वम् । अवरं त्वे कथाविष्यामि ।)

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृतम् ।

मोठी बातोंके जालमें फँसाकर अब इस प्रकार मेरा निरादर करना आपको शोभा
नहीं देता ।

राजा—[कान मूँदकर] शिव ! शिव ! क्या कह रही हो । अपने स्वच्छ जलको गँदला
करनेके लिये तीरपर खाड़े घृक्षको ढाहनेवाली और तटको बहा ले जानेवाली नदीके समान
आप अपना भी कुल क्यों कलंकित करना चाहती हो और मुझे भी क्यों बिनाशनी ओर
ले जाना चाहती हो ॥ २१ ॥

शकुन्तला—अच्छा, यदि आप सचमुच मुझे पराई स्त्री समझे बैठे हैं तो मैं आपका
सन्देह दूर करनेके लिये यह पहचान दिखाती हूँ ।

राजा—हाँ, दिखाएँ ।

शकुन्तला—[उँगलें टटोलकर] हाय हाय, मेरी उँगलीसे अंगूठी वहाँ निकल गई ?

(वहाँ-सी होकर गौतमीकी ओर देखती है ।)

गौतमी—जान पड़ता है कि शकावतारमें शचीतीर्थके जलको प्रणाम करते समय तुम्हारी
अंगूठी निकल गई होगी ।

राजा—[मुस्कराकर] इसी को कहते हैं खियोंकी तुरत-बुद्धि ।

शकुन्तला—यहाँ भी मेरे दुर्भाग्यने मेरा पीछा न छोड़ा । अच्छा मैं दूसरी बात भी
पताची हूँ ।

राजा—अच्छा आप मुझसेपर आ गई हो ?

शकुन्तला—एवं एकसिं दिश्रदे शोमालिआमएदवे एलिखीपत्तभाअणमअं उअअं तुह हत्ये संखिदिदं आसि । (नन्वेकस्मिन्दिवसे नरमाशिकामण्डये नलिनीपत्रभाजनगतमुदर्कं तव हस्ते संनिहितमासीत् ।)

राजा—शृणुमस्तावत् ।

शकुन्तला—तवपरुं सो मेपुत्तकिदओ वीहापदो शाम मिअपोदओ उवट्टिओ । तुए अअं दाव पढमं पिअउ त्ति अणुअन्पिणा उवन्ल्लन्दिदो उअएण । ए उए दे अपरिचआदो हत्येअमासं उवगदो । पच्छा तसिं एव्व मए गहिदे सलिले रोए किदो पणओ । तदा तुमं इत्थं पइसिदो सि । सज्जो सगन्धेसु विस्ससिदि । दुवेवि एत्थ आरण्यआत्ति । (तत्क्षणं स मे पुत्रकृतवो दीर्घाशङ्को नाम मृगयोत्तरु उपरिपतः । त्वया अयं तावत्प्रथमं पित्रित्स्वनुकम्पितो-पञ्चन्दित उदकेन । न पुनस्ते भपिरिचयाद्दस्ताभ्याउमुपगतः । पश्चात्स्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः । तदा स्मरित्थं प्रहसितोऽसि । सर्वैः सगन्धेषु विशिष्यति । द्वावप्स्यन्धारण्यमिति ।)

राजा—एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाहमधुभिराकृष्यन्ते विपयिण ।

गौतमी—महाभाअ ण अरुहसि एत्थं मन्तिदु । तपोवणसंवट्टिदो अणुभिण्णो अअं जणो कइदवस्स । (महाभाग नार्हस्येव मन्थयितुम् । तपोवनसंघर्षितोऽनभिजोऽयं जनः कैवलस्य ।)

राजा—तावत्सृष्टे ।

स्त्रीणाप्रशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतियोधयस्यः ।

प्रागन्तरिक्षमनारस्यमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥ २२ ॥

शकुन्तला—आपको स्मरण होगा कि एक दिन आप नवमालिकाके कुल्लेमें आपने हाथमें पानीसे भरा बमलके पत्तेका दोना लिए हुए थे ।

राजा—कहती बलिए ! मैं सब सुन रहा हूँ ।

शकुन्तला—इतनेमें ही वहाँ मेरा पुत्रके समान पाला हुआ दीर्घापांग नामका मृग-छौना भी आ पहुँचा । आपने उसपर दया करके कहा—पहले इसे जल पी लेने दो । यह कहकर आप उसे जल पिलाने लगे । पर परिचित न होनेके कारण वह आपके पास गया ही नहीं । तब मैंने आपके हाथसे दोना ले लिया और वह मेरे हाथसे जल पीने लगा । उस समय आपने हँसकर कहा था कि अपने सगे-सम्बन्धियोंको सभी पहचानते हैं । तुम दोनों ही बनवासो हो न !

राजा—अपना काम साधनेवाली स्त्रियोंकी ऐसी मूठी और मीठी-मीठी बातोंमें कामी लोग ही फँसते हैं । समझी !

गौतमी—महाभाग ! आपको ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिएं । तपोवनमें पत्नी हुई फन्या भला छल-बलकी बातें क्या जाने !

राजा—बूढ़ी तपस्विनीजी ! जो मानवी स्त्रियाँ नहीं हैं वे भी बिना सिखाए-पढ़ाए बड़ी चतुर हो जाती हैं, फिर इन समझवाली स्त्रियोंका तो पूछना ही क्या । जानती हो ! जितना फोयलके बच्चे उड़ना नहीं सीख जाते तबतक वह दूसरे पक्षियोंसे ही उन्नत पालन कराती है ॥ २२ ॥

शकुन्तला—[सरोपम्] अण्डज भक्तपो द्विभ्रआणुमाणेण पेक्षसि । को दासि
अश्लो घन्मकञ्चुअप्यवेसिणो तिणरुछणकूवोवमरस तव अणुकिदिं पडिवदिसदि ।
(अनार्य आत्मनो हृदयानुमानेन प्रेक्षते । क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुरुप्रवेशिनस्तुमञ्जवकूपोप-
मस्य तवानुकृतिं प्रतिरत्स्यते ।)

राजा—[आत्मगतम्] संविश्वबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते । तथा
एनया—

मध्येव विस्मरणदारुणचित्तघृत्तौ घृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने ।

भेदाद्भुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्षया भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥२३॥

[प्रकाशम्] भद्रे प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम् । तथापीदं न लक्ष्ये ।

शकुन्तला—सुष्ठु दाव अत्त सच्छन्दचारिणी किदम्हि जा प्रहं इमस्स पुख्वंसप्पचणए
सुहसहुणो द्विअट्ठिअविसरस हत्तव्भास उधगदा । (सुष्ठु तावदत्र चन्द्रचारिणी कृताऽपि
याऽइमस्य पुख्वशस्येन सुलग्धोद्दयस्थितविषय इस्ताभ्यासमुपगता । [इति पद्यन्तेन
सुखमावृत्त्य रोदिति ।

शास्त्ररथः—इत्थमात्मकृतं प्रतिहृतं थापल वहति ।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः ।

अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥ २४ ॥

शकुन्तला—[कोपते] अनार्य ! तुम सबके हृदयको अपने ही हृदयके समान रोटा
समझते हो ! तुम्हें छोड़कर और कौन ऐसा नीच होगा जो घास-कूससे ढंके हुए कुएँके
समान धर्मका ढोंग रचकर ऐसा खोटा काम कर सके ।

राजा—[मन ही मन] इसके क्रोधमें सचाई दिराई पड़ रही है, इसीलिये मेरा मन
और भी सन्देहमें पड़ता जा रहा है । ठीक स्मरण न आनेसे अकेलेमें किए हुए प्रेमको जो
मैंने इतनी गठोरतासे आधीकार कर दिया है, उसपर लाल-लाल धारों करके अत्यन्त
क्रोधसे शकुन्तलाने जो मीढ़ें चढ़ा ली हैं उन्हें इतने इस समय कामदेवके धनुषको भी दो टुक
कर डाला है । ॥ २३ ॥ [वन्द] भद्रे ! दुष्यन्तके कार्योंको सारा संसार जनता है । पर ऐसी
बात वो आज तक नहीं सुनी गई ।

शकुन्तला—तुमने ठीक ही किया जो मुझे कुचाली श्री बना डाला, क्योंकि ऊंचे कुलके
धोरेंमें धारर ऐसे नीचके हाथमें जा पड़ी जिसके मुँहमें गधु और हृदयमें विष भरा हुआ
है । [आँचभे मुँह टककर रोने लगती है ।]

शास्त्ररथ—चिन्ता सोच-समझे जो काम किया जाता है उसमें ऐसा ही दुखर मिला करता
है । इसलिये गुम प्रेम बहुत सोच-विचारपर करना चाहिये क्योंकि चिन्ता जाने-शुके रपमाव-
धातेके साथ जो मिश्रता की जाती है वह एक न एक दिन शत्रुता बनकर ही रहती
है ॥ २४ ॥

राजा—अथि भोः किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान्संवृतदोषाक्षरेण क्षिणुथ ।

शाङ्करवः—[गणयम्] श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम् ।

आजन्मनः शाश्वमशितितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।

परातिसंधानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु क्लिप्ताप्तवाचः ॥ २५ ॥

राजा—भोः सत्यवादिन् अभ्युपगतं तावदरमाभिरेवम् । किं पुनरिमावतिसंधाय लभ्यते ।

शाङ्करवः—विनिपातः ।

राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थयत इति न श्रद्धेयम् ।

शारद्वतः—शाङ्करव । किमुत्तरेण । अनुष्ठितो गुरोः संदेशः । प्रतिनिवर्तमाने वयम् ।

[राजानं प्रति]—

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा ।

उपपन्ना हि दोषे प्रभुता सर्वतोमुखी ॥ २६ ॥

गौतमि गच्छामतः ।

[इति परिषदाः ।]

शकुन्तला—कहूँ इमिणा किदवेण विणलद्वन्दि । तुम्हे वि मं परिषद्द । (कथमनेन कित्त्वेन विप्रलब्धाऽस्मि । यूयमपि मा परिषद्वप । [इत्यनुप्रतिष्ठते ।]

गौतमी—[विषया] वन्द्य सङ्गरय । अणुगच्छदि इत्थं कसु णो करणपरिदेविणी

राजा—सुनिए तो ! इस देवीकी बातका विश्वास करके आप उल्टी-सीधी बातें कह-
कहकर हमपर क्यों दोष लगा रहे हैं ?

शाङ्करव—[आपने आधिपति कोपसे] अपने सुनी इनकी उल्टी बातें ! जिसने जन्मसे
लेकर अथवक छलका नाम भी न सुना हो, उमकी बातें मूठ समझी जायें और जिन्होंने
दूसरोंको धोखा देनेकी चालें विद्याके समान सीखी हों, वे सत्यवादी समझे जायें ॥२५॥

राजा—अच्छा सत्यवादीजी ! मान लीजिए, हम ऐसे ही हैं । पर यह तो बताइए
कि इसे छलकर हमें मिल क्या जायगा ?

शाङ्करव—पतन ।

राजा—मैं इस बातको नहीं मानता कि पुनर्वशी पतनकी ओर जाना चाहेंगे ।

शारद्वत—शाङ्करव ! इस कहा-सुनीसे लाभ क्या है । शुकजीका सन्देश हम इन्हें दे ही
सुके । चलो, अब लौट चला जाय । [राजा से] राजन् ! यह आपकी पत्नी है । इसे चाहे
रखिए, चाहे निराकिए । क्योंकि पतिका अपनी त्रिर्योपर पूरा अधिकार होता है ॥२६॥
चलो गौतमी, आगे-आगे चलो । [चरते हैं ।]

शकुन्तला—इस भूत्तमे तो मुझे छला ही है, धाय क्या आप लोग भी मुझे छोड़कर चले
जा रहे हैं ? [उनके पीछे-पीछे जाती है ।]

गौतमी—[खड़ी होकर] पत्न शाङ्करव ! यह शकुन्तला रोकी हुई हम लोगों के पीछे-

सदन्दला । पच्चादेसपरसे भक्तणि किं वा मे पुक्तिआ करेदु । [वत्स शार्ङ्गरव अनुगच्छतीत्य
खलु नः वक्ष्यपरिदेविनी शकुन्तला । प्रत्यादेशपरमे भर्तरि किं वा मे पुक्तिआ करोतु ।]

शार्ङ्गरवः—[सरोर निवृत्त्य] किं पुरोभागे स्वातन्त्र्यमवलम्बसे ।

[शकुन्तला भीता वेपते ।]

शार्ङ्गरवः—शकुन्तले ।

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया ।

अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ॥ २७ ॥

तिष्ठ । साधयानो वयम् ।

राजा—भोस्तपस्विन् किमत्रभवती विप्रलभसे ।

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव ।

वशिनां हि परपरिग्रहसंरलेपपरांमुखी घृत्तिः ॥ २८ ॥

शार्ङ्गरवः—यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गद्विस्मृतो भवति तदा कथमधर्मभोरुः ।

राजा—भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि ।

मूढः स्यामहमेवा वा वदेन्मिथ्येति संशये ।

दारस्याग्री भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांशुलः ॥ २९ ॥

पुगेहितः—[विचार्य] यदि तावदेव क्रियताम् ।

पीछे चली आ रही है । बताओ, अब ऐसे निर्दयीसे तुकराई हुई मेरी बच्ची भला
कहाँ जाय ?

शार्ङ्गरवः—[कोपसे खीटकर] क्यों री दुष्टे ! क्या तू अपनी मनमानी करना चाहती
है । [शकुन्तला भयसे काँप उठती है ।] सुन शकुन्तला ! यदि राजाकी बात सत्य है तो तुम्ह
जैसी कुल कलंकिनीका पिताके घर कोई काम नहीं है और यदि तू अपनेको पवित्र समझती
है तो तुम्हें दासी बनकर भी अपने पतिके ही घरमें रहना चाहिए ॥ २७ ॥ बस यहाँ रह,
हम जाते हैं ।

राजा—तपस्वी ! आप इसे क्यों मूठ-मूठ धोलेमें डाल रहे हैं—क्योंकि जैसे चन्द्रमा
केवल कुमुदोंको ही खिलाता है और सूर्य केवल कमलोंको ही खिलाता है वैसे ही जितेन्द्रिय
लोग भी पराई स्त्रीको छूनेकी इच्छातक नहीं करते ॥ २८ ॥

शार्ङ्गरवः—जब तुम अपनी दूसरी रानियोंके पास आकर अपनी पिछली बात मूल
सफ़ते हो तब तुम्हें अधर्मसे क्या डर है ।

राजा—[पुराहित से] अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि ऐसी दुचिपामें मैं क्या करूँ जब
या तो मैं मूल गया हूँ या ये मूठ फह रह रही हैं । अब मैं अपनी पत्नीको छोड़नेका पाप
करूँ या पराई स्त्रीको छूनेका पाप सिरपर लूँ ॥ २९ ॥

पुगेहितः [सोचकर] जब ऐसी दुचिपा है तो आप ऐसा कीजिये ।

राजा—अनगास्तु मां भवान् ।

पुरोहितः—अत्रभवती तावदाप्रसवाद्दस्मद्गृहे तिष्ठतु । कुत इदमुच्यत इति चेत् । त्वं साधुभिरुद्दिष्टः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति । स चेन्मुनिदीद्विब्रह्मन्तज्जलोपपन्नो भविष्यति अभिनन्दा शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि । विपर्यये तु पितुरस्याः समीपतयनमवस्थितमेव ।

राजा—यथा गुरुभ्यो रोचते ।

पुरोहितः—वत्से अनुगच्छ माम् ।

शकुन्तला—भगवदि वसुदे देहि मे विवरं । (भगवति वसुदे देहि मे विवरम्) [इति वदती प्रसिधता । निष्क्रान्ता सह पुराषवा तरस्त्रिभिश्च ।]

[राजा शापव्यरहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति ।]

[नेरग्ये]

आश्चर्यम् । आश्चर्यम् ।

राजा—[आश्चर्यं] किं नु सत्तु स्यात् ।

[प्रविश्य]

पुरोहितः—[उपिस्मयम्] देव अद्भुतं सत्तु संवृत्तम् ।

राजा—किमिदम् ।

राजा—हाँ, हाँ, वतलाइए ।

पुरोहित—पुत्र उत्पन्न होनेके समयतक ये मेरे घरपर रहें । आप पूछें क्यों ? तो इसलिये कि आपको ऋषियोंने पहले ही आशीर्वाद दे दिया है कि आपके चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा । यदि ऋष्यमुनिके नातीमें चक्रवर्तीके लक्षण मिल जाय तब तो इन्हें आदरके साथ रनि-पासमें रर लीजिएगा और यदि लक्षण न मिलें तो इन्हें इनके पिताके पास भेज दिया जायगा ।

राजा—जैसा गुरुजी ठीक समझें ।

पुरोहित—वत्से ! आओ मेरे साथ चली आओ ।

शकुन्तला—भगवती वसुन्वरे ! तू फट जा और मुझे गोदमें ले ले ।

[रोती हुई शकुन्तला पुरोहित और ऋषियोंके पीछे-पीछे चली जाती है ।]

[शापके कारण भूला हुआ राजा शकुन्तलाके सम्बन्धमें विचार करता है ।]

[नेपथ्यमें]

आश्चर्य है ! आश्चर्य है !

राजा—[सुनते हुए] अरे, क्या हुआ !

पुरोहित—[आश्चर्य से] महाराज, वड़े आश्चर्यकी बात हो गई है ।

राजा—क्या हुआ ?

पुरोहितः—देव । परावृत्तेषु कष्टवशिष्येषु—

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि वाला वाहृत्त्वेर्पं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता ।

राजा—किं च ।

पुरोहितः—

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारारुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ॥ ३० ॥

[सर्वे विस्मय रूपयन्ति ।]

राजा—भगवन् प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव । किं वृथा तर्केणान्विष्यते ।
विश्राम्यतु भवान् ।

पुरोहितः—[विलोक्य] विजयस्व [इति निष्क्रान्तः ।]

राजा—चेन्नवति पर्याकुलोऽस्मि । शयनभूमिमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो । (इत् इतो देव ।) [इति प्रस्थिता ।]

राजा—कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।

बलवत्तु दूषमानं प्रत्याययतीव मे हृदयम् ॥ ३१ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

इति पञ्चमोऽङ्कः ।

पुरोहित—महाराज ! कष्टवके शिष्योंके चले जानेपर वह शपिठन्या, ज्योंही अपने भाग्यको फोसतो हुई घोंहें पसार कर रोने लगी—

राजा—सय क्या हुआ।

पुरोहित—त्योंही स्त्रियोंके जैसी एक ज्योति आई और उसे अपनी गोदमें बठाकर अप्सरा-तीर्थकी ओर चली गई । ३० ॥

[सब आश्चर्य प्रकट करते हैं ।]

राजा—हमने तो उसे पहले ही छोड़ दिया है इसलिये उसपर सोचना-विचारना व्यर्थ है । अब आप भी जाकर विश्राम करें ।

पुरोहित—[देखकर] महाराजकी जय हो । [जाता है ।]

राजा—चेन्नवती ! मैं कुछ अनजाना सा हूँ । मुझे शयनपर पहुँचा दो तो ।

प्रतीहारी—दूधरसे आइए महाराज, दूधरसे । [चलती है ।]

राजा—यद्यपि विवाहकी सुध न होनेसे मैंने उसका अत्यन्त तिरस्कार कर दिया है फिर भी मेरा अत्यन्त कसकता हुआ हृदय न जाने क्यों रह-रह कर उसकी भावोंमें विश्वास करनेको मचल रहा है ॥ ३१ ॥

[सब चले जाते हैं ।]

पाँचवाँ अङ्क समाप्त ।

षष्ठोऽङ्कः

[तदा प्रविशति नागरिकः दयालः पञ्चादशपुरुषमादाय रक्षिणी च ।]

रक्षिणी—[ताडयित्वा] अले कुम्भीलआ कहेहि कहिं तुए एरो मशिबन्धगुणिकण्णामहेए लाअकीए अंगुलीअए शमाशादिए । (अरे कुम्भीरक कयय कुव लयैतन्मगिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमगुलीयकं समासदितम् ।)

पुरुषः—[भीतिनाटितकेन] परीदन्तु भावमिश्ये । हगे ए ईदिशरुम्मकाली । (पसोदन्तु भावमिथाः अहं नेदशर्मकारी ।)

प्रथमः—किं शोहणे बन्धणोत्ति कलिअ रजा पडिग्गहे दिरण्णे । (किं शोभणे व्रक्षण इति कलित्वा राहा प्रतिग्रहो दत्तः ।)

पुरुषः—सुगुण द्वाणि । हगे शकाववालन्मन्तरालवाशी धीयले । (शृणुवेदानाम् । अहं शकावतारान्मन्तरालवाशी धीवरः ।)

द्वितीयः—पाडच्चला किं अम्हेहि जादी पुच्छिदा । (पाटञ्चर किमस्माभिर्जातिः पृष्टा ।)

दयालः—सूअअ कहेदु शब्बं अणुकमेण । मा णं अन्तरा पडिबन्धह । (सूचक कथयतु सर्वमनुक्रमेण । मैत्रमन्त्रा प्रतिबन्धय ।)

उर्मी—ज आसुत्ते आणवेदि । कहेहि । (यदासुत आशयति । कथय ।)

पुरुषः—अहके जालुग्गालादिहिं मच्छबन्धणोयाएहिं कुहुम्बभलणं कलेमि । (अहं जालोद्गालादिभिर्मत्प्रबन्धमोपायैः बुद्धिभरणं करामि ।)

षष्ठ अङ्क

[राजाका सख्य नगर-रक्षक अंतर उसके पीछे पीछे दो रखवाले एक पुरुषको बाँधे हुए प्रवेश करते हैं ।]

दोनों—[सखीको पीछे हुए] बोल रे चोर ! यह राजाके नामवाली रतन-जड़ी अँगूठी तुम्हे कहाँसे हाथ लगी ?

पुरुष—[डरनेका नाट्य करता हुआ] क्या करो महाराज । मैं ऐसा काम कभी नहीं करता ।

पहला—तो क्या तुम्हे कोई सुपात्र ब्राह्मण समझकर राजाने यह दानमें दे डाला है ?

पुरुष—सुनिए तो । मैं शकायतार गोंवके पास रहनेवाला एक मछुआ हूँ ।

दूसरा—अरे चोर ! हमने क्या तेरी जाति पूछी थी ?

दयाल—सूचक ! इसे सब यातें ठीकसे कहने दो, बीचमें टोको मत ।

दोनों—जैसी आपकी आज्ञा । हाँ, बता रे ।

पुरुष—मैं जाल, कँटिया और बंसी डालकर ममात्तो फँसाया करता हूँ और बसीसे अपने बाल-बच्चोंका पेट पालता हूँ ।

श्यालः—[विहस्य] विद्युद्धो दाणि आजोषो । (विद्युद्ध इदानीमाजीवः ।)

पुरुषः—भट्टा सा एवम् भण ।

शहजे किल जे विणिन्दिए थ हु दे कम्म विवञ्जणीअम् ।

पशुमालणकम्मदालुणो अणुकम्पामिदु एव्व शोत्तिए ॥ १ ॥

(मतः मैवम् भण ।)

सहजे किञ्च यद्विनिन्दितं न, पण्डितकर्म विवर्जनीयम् ।

पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामुदुरेव शीघ्रियः ॥

श्यालः—सदो तदो (तवस्ततः ।)

पुरुषः—एफकरिंश दिअरो खरवरो लोहिअमन्धे मए कण्णिदे । जाव तश्च उदलव्वमन्तले पई लदणभाणुलं अंगुलीअअ देक्खिअ पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअन्ते मदिदे भावमिरिंशोई । माल्लेह वा मुञ्चेह वा । अअं शे आअमवुत्तस्ते । (एकस्मिन्दिवने एवदशो रोहितमत्स्यो मया कश्चितो यावत् तस्योदरमपतर इद रत्नमासुरमङ्गुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादह तस्य विकथार्यं दर्शयन्पृहीतो भावमिधैः । मारयत वा मुञ्चत वा । धयमस्वागमवृत्तागतः ।)

श्यालः—जाणुअ विहसगन्थो गोहादी मण्डव्वन्थो एअ पिअरंसअ । अंगुलीअअधदंसए शे विमरिसिअव्वं । राअल्लं एअ गण्णामो । (जानुक विलगन्थो गोघादी मत्स्यवन्थ एव निःसशयम् । अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम् । राजकुलगेन गण्टामः ।)

रत्तिणो—तह । गण्ण अले गएदभेदअ (तया । गण्ठ अरे गण्ठमेह ।)

[एवं परिक्रामन्ति ।]

श्यालः—[हंसकरः] घटा अन्धका म ले रक्खा है ।

पुरुषः—ऐसा न कहिए, स्वामी ।—जिस जातिको भगवानने जो बुरा-भला काम दे दिया है, वह छोड़ा छोड़े ही जाता है । देखिए, पशुओं को मारना, है तो बड़ा बुरा काम, पर वहे-धड़े दयावान और वेद जाननेवाले ब्राह्मण भी यज्ञके लिये पशुओंको मारते ही हैं । १ ॥

श्यालः—अच्छा, अच्छा, आगे बता क्या हुआ १

पुरुषः—एक दिन ज्योंही मैं एक रोहू मछली काट रहा था व्योंही उसमें यह रतन-जड़ी चमकीली अगूठी दिखाई पड़ गई । उसे बेचनेके लिये लाकर मैं दिखला ही रहा था कि आपने मुझे बाँध लिया । यही तो इस अगूठीके मिलानेकी कथा है । अब चाहे आप मुझे मारिए, चाहे छोड़िए ।

श्यालः—जानुक ! इसमें तो सन्देह नहीं कि यह गोह खानेवाला मछूआ ही है क्योंकि इसके शरीरसे कच्चे मांसकी दुर्गन्ध आ रही है । यह जो अगूठी मिलानेकी बात बता रहा है उसकी चळकर ठीक-ठीक जाँच कर लेनी चाहिए । इसलिये चलो, इसे राजाके पास ले चला जाय ।

। दोनों—बहुत अच्छा । चल रे गँठकटे ! चल ।

[सब चमते हैं ।]

श्याल —सूअअ इम गोपुरदुआरे अप्पमत्ता पडिवाउह जाय इम अगुलीअअं जहाग-
मण भट्टिणो शिवेदिअ तदो सासण पडिच्छिअ शिक्कमामि । (सूचक इमं गापुरद्वारेऽप्रमत्तो
प्रतिशालयत यावदिदमङ्गुलीयक यथाऽऽगमन भट्टनिवेशे ततः वार्धनं प्रतीक्ष्य निष्पन्नामि ।)

उभो—पविशदु आवुत्ते शमिपशादरश । (पविशस्वावुत्तः शमिपशादाय ।)

[इति निष्क्रान्तः श्यालः ।]

प्रथम —जागुअ चिलाअदि कसु आवुत्ते । (जानुक चिरायते उल्हावुत्तः ।)

द्वितीय—ण अरशलोवशाप्पणीआ लाआणो । (नन्वसरोपसर्पणीया राजानः ।)

प्रथम —जागुअ फुल्लन्ति मे हत्था इमरश वहरस शुभणा पिण्णं । (जानुक प्रस्फुरता
मम हस्तावस्य वधस्य सुमनसः पिनदुम् । [इति पुरुषं निर्दिशति ।])

पुरुषः—ण अलुहदि भावे अकालणमालणं भविदुं । (नार्हति भवोऽकारणमारणो भवितुम् ।)

द्वितीय.—[विलाप्य] एणे अम्हाणं शमी पत्तहत्थे लाअशाशाणं पडिच्छिअ इदोमुहे
देस्सीअदि । गिद्धवली भविशशि, शुणो मुह वा देस्सिअरशशि । (एष नी स्वामी पत्रहस्तो
राजशासनं प्रतीक्षेत्तुपुरो दृश्यते । यत्रचलिर्भविषसि शुना सुरं वा द्रक्षसि ।

[प्रविश्य]

श्याल.—सूअअ मुक्केदु पेसो जालोअजीवी । उपरणो कसु अगुलीअअरम आअमो ।

(सूचक मुग्धतामेव जालोपजीवी उपरतः सहस्रङ्गुलीयस्यागमः ।)

सूचक —जह आवुत्ते भणादि । (यथाऽऽयुत्तो भगति ।)

श्याल—सूचक ! जवतक में महाराजाको अँगूठी मिर्चनेकी समाचार सुनाकर और
उनकी आज्ञा लेकर लौट न आऊँ तबतक तुम दोनों नगरके छातरूपर सेभालकर उसकी
चीकसी करना ।

दानो—हाँ, हाँ, जाइए जाइए, स्वामी की कृपा पाइए ।

[श्याल जाता है ।]

पहला—जानुक ! बड़ी देर लगा दी उन्होंने तो ।

दूसरा—अरे भाई ! राजाके पास अरसर देखकर ही तो पहुँचा जाता है ।

पहला—जानुक ! इसे मारनेके लिये लाल फूलोंकी माला पहनानेकी मेरे हाथ बड़े
सुजळा रहे हैं । [मधुएकी ओर संकेत करता है ।]

पुरुष—भाई, बिना बातके मुझे क्यों मारने पर उतारू हो रहे हो ?

दूसरा—[देखकर] बहू देखो ! हमारे स्वामी हाथमें राजाका आज्ञा पत्र लिए चले आ
रहे हैं । अब या तो तू गिद्धोंका भोजन घनेगा या कुत्तोंसे नोचा जायगा ।

[श्यालका प्रवेष्ट]

श्याल—सूचक ! छोड़ दो इस मधुएको । अँगूठी मिलनेका ठीक पता चल गया ।

पुरुष—जैसी स्वामीकी आज्ञा !

किं तु सख्या आदरोमया मानयितव्यः भवतु अनयोरेवोन्यायरात्रिकयोस्तिरस्करणी प्रतिउल्लासना
पार्श्ववर्तिनी भूषोपलस्ये ।) [इति नाट्येनावतीर्यस्थिता ।]

[ततः प्रविशति चूताकुरमवलोकयती चेती । अपरा च पृष्ठउक्तव्याः ।]

प्रथमा—

आतम्भहरिअपण्णुर जीविदसच्चं वसन्तमासस्स ।

दिट्ठो मि चूदकोरअ उदुमङ्गल तुमं पसाएमि ॥ २ ॥

(आताम्रहरितपाण्डुर जीवितसर्वं वसन्तमासस्य ।

दृष्टोऽसि चूतकोरकं शतमङ्गलं त्वा प्रसादयामि ॥)

द्वितीया - परहुदिए किं एआइणी मन्तेसि । परभृतिके किमेकाकिनी मन्वपसे ।)

प्रथमा—महुअरिए चूदकलिअं देखिअअ सम्मत्तिआ परहुदिआ हो दे । (मधुकरिके चूत-
कलिका दृष्टोन्मत्ता परभृतिका भवति ।)

द्वितीया—[सहरै खरयोपगम्य कहं उवट्ठिदो महुमासो । (कथमुपरिपतो मधुमासः ।)

प्रथमा—महुअरिए सध दाणिं कालो एसो मदधिअममगीदाणं । (मधुकरिके तवेदानीं काल
एव मदभिन्नमगीतानम् ।)

द्वितीया - सदि अवलम्ब मं जाव अगपादट्ठिआ भविअ चूदकलिअं रोण्हिअ कामदे-
यच्चरणं करेमि । (सति अवलम्बस्य मा यावदप्रपादस्थिता भूया चूतकलिका गृहीत्वा कामदेवाचनं
करोमि ।)

एन्दम सत्राटा ! यद्यपि दिव्य दृष्टिसे मैं सब कुछ जान सकती हूँ, फिर भी अपनी सखीकी
यात तो रखनी ही होगी। अच्छा, तिरस्करिणी विधासे अपनेको छिपाकर इन मालिनीके
साथ-साथ चलकर यहाँका सब समाचार लेती हूँ।

[निमानसे उतरनेका नाट्य करके नीचे सड़ी हो जाती है ।]

[आमका वीर देखती हुई एक परिचारिका आती है । उसके पीछे दूसरी परिचारिका है ।]

पहली—हे वसन्त शत्रुके जीवन सर्वस्व ! हे वसन्तके मंगल स्वरूप ! हे लाल, हरे, पीछे
रंगवाले वीर ! आज पहले-पहल तुम्हारा दर्शन हो रहा है। तुम हमपर प्रसन्न हो जाओ
जिससे हम लोगोंका वसन्त सुखसे चोते ॥ २ ॥

दूसरी—शरीं परभृतिका (कोपल) ! तू अकेले-अकेले क्यों कूक रही है ?

पहली—मधुकरिका (भैरि) ! आमका वीर देखकर परभृतिका (कोपल) तो मतवाली
हो ही जाती है।

दूसरी—[उल्लाससे भरी हुई शीमलसे पास जाती है] क्या वसन्त आ गया ?

पहली—मधुकरिका (भैरि) ! तेरे भी तो मस्तीके गीत गानेके ये ही दिन हैं।

दूसरी—सखी ! मुझे सहारा दे तो पछोंके थल खड़ी होकर पूजाके लिये आमके वीर
उतार दे।

प्रथमा—जह मम वि कसु अर्द्धं अच्यपणफलस्य । (यदि ममापि सङ्घर्षमर्चनपश्येत् ।)

द्वितीया—अरुहिदे वि एदं संपञ्जह जदो एक एव्य णो जोविदं दुयोद्धिदं सरीरं ।
[सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताकुर गृह्णाति ।] अप अण्डिदुद्धो वि चूदप्यसवो एत्य बन्धणमङ्ग-
सुरभी होदि । [इति कपोदरस्तक इत्या]—

तुमं सि मए चृदंकुर दिण्णो कामस्य गहिदघणुअस्स ।

पहिअजणुजुपडलकसवो पअन्महिअो सरो होही ॥ ३ ॥

१ (अकेचित्तैऽप्येतत्संशयते यत् एकमेव नो अंकितम् दिवा रिपतं शरीरम् । अथे अप्रतिजुद्धोऽपि चूतपणवोऽप्य बन्धनमङ्गसुरभिर्भरति ।

शमसिंमया चूताकुर दत्तः कामाय यद्वीक्षणुपे ।

मयिञ्जनयुनक्तिरूपं मञ्जाम्भिः शरो मर ॥)

[इति चूताकुर क्षिपति ।]

[प्रविशकापटीक्षेपेण कुपितः ।]

कसुभी—मा तावत् । अनात्मज्ञे देवेन प्रतिपिद्धे वसन्तोत्सवे त्वभाम्नरुत्तिकामङ्गं किमारमसे ।

उभे—[भीते] पसीठहु अज्जो । अगहोदत्थाओ यथ । (प्रथ दरार्यं । अयद्वीताये आवाम् ।)

पहली—पूजनका आधा फल मुझे भी मिले तो सहारा दूँ ।

दूसरी—बहू तो बिना वहे ही मिल जाता क्योंकि हम-तुम तो दो शरीर थीर एक प्राण हैं । [सखीने सहारेके आत्मका-बन्ध उतारता है ।] याह ! यद्यपि अभी वीर दिल नहीं पाया है फिर भी डालसे चोड़ते ही कैसी सुगन्ध फटी पड रही है । [अन्धली धौंकार] अरौ आमकी मञ्जरी ! मैं तुम्हे धनुष-धारी कामदेवके लिये भेंट करती हूँ । परदेसमें गए हुए लोगोंकी युवती स्त्रियोंको काम-पीड़ा देनेके लिये तुम कामदेवके पाँचों बाएँोंमें सबसे अधिक पैनी बन जाओ ॥ ३ ॥

[आगही मजरी डाल देतो है ।]

[परदा झटकर कञ्चुकीका प्रवेश]

कञ्चुकी—[आधितः हाकर] हैं, हैं ! यह क्या कर रही हो नासमझ छोकरियो ! जब राजाने इस वर्ष वसन्तोत्सव रोक दिया है तब तुम लोग आमकी मञ्जरीको क्यों ढेड़ रही हो ?

दोनों—[डरी हुईं तो] जमा कीजिए आर्य ! हमें इसका पता नहीं था ।

द्वितीयः—एरो जनशदणं पविशिश्व पडिणियुत्ते । (एप यमसदन प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः ।)
[इति पुरुषं परितुक्तवन्धनं करोति ।]

पुरुषः—[श्यालं प्रणम्य] भट्टा अह कीलियो मे आजीवे । (भर्तः अथ वीदशो मे आजीवः ।)

श्यालः—एसो भट्टिणा अंगुलीअअमुल्लसम्मिदो पसादो वि दाधिदो । (एप भर्ताङ्गु-
लीयकमुल्लसंमितः प्रसादोऽपि दापितः ।) [इति पुरुषाय स्व प्रवृत्तिः ।]

पुरुषः—[सप्रणामं प्रतिश्ल] भट्टा अणुगगहीदग्ग्हि । (भर्तः अनुग्रहीतोऽस्मि ।)

सूचकः—एरो णाम अनुगगहे जे शलादो अवदालिअ हस्तिक्कन्धे पडिट्टाविदे । (एप
नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्यं हस्तिक्कन्धे प्रतिष्ठापितः ।)

जानुकः—आवुत्त पलिदोरां कहेहि तेण अंगुलीअएण भट्टिणो शम्मदेण होदव्वं ।
(आवुत्त परितोऽपि कथय तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः संमतेन भवितव्यम् ।)

श्यालः—ण तस्सि महारुहं रदणं भट्टिणो बहुमदं त्ति तक्केमि । तस्स दंसणेण भट्टिणो
अभिगदो जणो सुमराविदो । मुहुत्तअं पकिदिगम्भोरो वि पवज्जस्तुअणअणो आसि । (न
तस्मिन्महाहं रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि । तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतौ जनः स्मारितः । मुहुर्त्तं
प्रकृतिगम्भोरोऽपि पशुस्तुक्कनयन आसीत् ।)

सूचकः—शेधिदं णाम आवुत्तेण । (सेवितं नामावुत्तेन ।)

जानुकः—एणं भणाहि इमस्य कए मच्छिआभत्तुणोत्ति । (ननु भण अथ कृते मात्स्यकम
हंरिति ।) [इति पुरुषमस्यथा पश्यति ।]

दूतरा—अरे, यह तो यमराजके घर पहुचकर लौट आया ।

[डडका वन्धन खोलता है ।]

पुरुष—[श्यालका प्रणाम करके] कहिए स्वामी ! मेरा काम कैसा निकला ?

श्याल—ले । महाराजने इस अंगूठीके मोलके बराबर धन भी तुम्हें प्रसादमें दिया है ।

[मधुएको धन देता है]

पुरुष—[हाथ जाइकर धन लेजा है ।] बढ़ी दया है आपकी, स्वामी !

सूचक—सचमुच दया तो इसीका नाम है कि शूलीसे उतारकर हाथीकी पीठपर
धैठा दिया है ।

जानुक—स्वामी ! इसे प्रसाद नहीं, पारितोषिक कहिए । क्योंकि जान पड़ता है कि वह
अंगूठी स्वामीको बढ़ी अच्छी जैची है ।

श्याल—इस अंगूठीके रत्नके कारण महाराजने उसका आदर नहीं किया धरन् उसे
देखते ही उन्हें अपने किसी प्यारे का स्मरण हो आया । क्योंकि यद्यपि स्वामी स्वभावसे
ही बड़े गम्भीर हैं फिर भी अंगूठीको देखकर वे थोड़ी देरके लिये अनमने-से हो गए थे ।

सूचक—तब तो सचमुच आपने राजाका बड़ा काम किया है ।

जानुक—यों कहो कि इस मधुएने राजाका काम किया है । [मधुए को रत्नकी दृष्टिसे
देखता है ।]

पुत्र्यः—भट्टालक इदो अद्वं तुन्हाणं शुमखोमुल्लं होदु । (भट्टारक इतोऽप्ये युष्माक सुमनो-
मल्यं भवतु ।)

जातुकः—एतके जुज्जद । (एतावद्युज्यते ।)

श्यालः—धीवर महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं मे संवुत्तो । कादम्भरीसकिराअं
अन्हाणं पढमसोहिदं इच्छीअदि । ता सोण्हिअपाणं एव्व गच्छामो । (धीवर महत्तरस्त
प्रियरथसक इदानीं मे सवृत्तः । कादम्भरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसोहदमिष्यते । तन्धौण्डिआपगमे
गच्छामः ।)

[इति निश्रान्ताः सर्वे ।]

॥ प्रवेशकः ॥

[उतः प्रविशत्याकाशयानेन सानुमति नामाप्सराः ।]

सानुमती—णिअट्टिद मए पज्जाअणिअत्तण्णिअं अच्छरातित्थसण्णिअं जाव साहुअ-
णस्स अभिसेअकालो त्ति । संपदं इमस्स राणसिणो उदन्तं पञ्चसीरस्सि । मेणआसंअन्धेण
सरीरमूढा मे मउन्दत्ता । ताए अ दुहिदुण्णिमित्तं आदिट्ठपूअ्यग्ग्हि । [सगन्तादवलोक्य] किं
एु क्खु उदुअउवे वि णिरअद्वारम्म निअ राअउअं दीसइ । अत्थि मे विद्वो पण्णिपाणेण
सअं परिणहं । किं हु सहीए आदरो मए माएहदव्व होदु । इमाणं एव्व उज्जाणपालि-
आण तिरकखारिणीपडिअण्णः पस्सवत्तिणी भविअ उवलहिस्स । (निर्वर्तित मया पर्याय-
निर्वर्तनीयमप्सरस्तीर्थगानिष्य यावत्साधुवनस्वामियेककाल इति । सांप्रतमस्य राजर्षेइदन्तं प्रत्यक्षी-
करिष्यामि । मेनकावम्भनेन शरीरभूता मे शकुन्तला । तथा च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूजांऽस्मि । किं
नु खउ श्रुत्स्वेषि निदत्स्ववारम्ममिय राजकुलदस्यते । अस्ति मे विमयः प्रविचानेन सर्वे परिशतुम् ।

मनुष्या—रामी ! इममेंसे आधा आप अपने पान-फूलके लिये ले लीजिए ।

जातुक—यह तो इनका पद ही है ।

श्याल—मछुए ! आजसे तुम हमारे बड़े प्यारे मित्र हो गए । चलो, हम-तुम चले और
मदिराके आगे अपनी मित्रता पक्की कर लें । चलो, मदिरापरमें चला जाय ।

[तब जाते हैं ।]

॥ प्रवेशकः ॥

[आकाशमें विमानपर चढ़ी हुई सानुमती अप्सराम प्रवेश ।]

सानुमती—साधुजनोंके स्नानके समय अप्सरातीर्थकी देग-भाल करनेकी आज मेरी
पारी थी । वह काम तो कर चुकी । चले अब चलकर अपनी आँगोसे उस राजर्षिकी
दशा तो देखा लें क्योंकि मेनकारी कन्या होनेके नाते शकुन्तला भी मेरी कन्या ही हुई ।
उसी मेनकाने अपनी कन्याके लिये कुछ उपाय करनेको मुझे बहुत पहनेसे ही कह रक्खा
है । [नाचें आर देवार] चरे । यमनके पस्सवरा दिन आ पहुँचा और यहाँ राज भवनमें

कंचुकी—न किञ्च श्रुतं युवाभ्यां यद्वासन्निकैस्तदभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं
तदाश्रयिभिः पत्रिभिश्च । तथा हि—

चूतानां चिरनिर्गताऽपि कलिका बध्नाति न स्वं रजः

संनद्धं यदपि स्थितं कुस्वकं तत्कोरकावस्थया ।

कण्ठेषु स्वसितं गतेऽपि शिशिरे पुँस्कोकिलानां स्तं

शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूष्णार्धकृष्टं शरम् ॥ ४ ॥

सानुमती—एतिय संदेहो । महापहाओ रापसी । (नास्ति संदेहः । महाप्रभावो राजार्यः ।)

प्रथमा—अज कति दिवहाइ अन्हाणं मिचावमुणा रट्टिएण भट्टिणीपाअमूळं पेसिदाणं ।

एथ अ णो पमद्वणसस पालणकम्म समपिदं । ता आअन्नुअदाए अस्सुदपुण्वो अन्हेहिं
एसो वृत्तन्तो । (आर्यं कति दिवसान्पावयोर्पित्रावमुना रत्तद्वयेण भट्टिनीपादमूलं प्रेषितयोः । अथ
च नो प्रमदधनस्य पालनकर्म समर्पितम् । तदानन्तुकृतयाऽश्रुतपूर्वं आवाभ्यामेव वृत्तान्तः ।)

कंचुकी—भवतु । न पुनरेवं प्रयतिंतव्यम् ।

उभे—अज कोदुहलं गो । जइ इमिणा जणेण सोदअन कइदु अजो किंणिमित्तं भट्टिणा
वसन्नुससवो पडिसिद्धो । (आर्यं कीदृहलं नो । यद्यनेन जनेन धोतव्यं कथयत्वार्यः किं निमित्तं
भर्त्रा वसन्तोऽसवः प्रतिपिदः)

सानुमती—उत्सवप्पिअा कसु भणुसा । गुरुणा कारणेण होदव्वं । (उत्सवप्रियाः खडु
मनुष्याः । गुरुणा कारणेन भवितव्यम् ।)

कञ्चुकी—क्या तुम लोगोंने यह नहीं सुना कि वतनोंमें फूटने-फूटनेवाले वृक्षोंने और
वृक्षपर बसेरा लेनेवाले पक्षियोंने भी महाराजकी आज्ञा मान ली है । देरो—आमके और
बहुत पहले फूट आए थे, पर उनमें पराग अभी तक नहीं आ पाया है । सुरबकका फूल
खिलना ही चाहता था, पर अभी ज्यों-का-त्यों बैसा पड़ा रह गया है । जाड़ा धीत जाने पर
भी कोयलकी झूक उसके गलेतरु आकर ही रुक गई है । कामदेव भी अपने तूणारसे बाण
निरालता है पर डरकर फिर उसीमें रर लेता है, छोड़ नहीं पाता ।।।।।

सानुमती—इसमें क्या सन्देह है ! राजर्षिका बड़ा भारी प्रताप है ।

पहलो—आर्य ! नगर-रक्षक धिमावतुने हम लोगोंको अभी थोड़े दिन पहले ही महा-
राजकी सेवामें प्रमद-धनको रखवाली करनेके लिये भेजा है । इसलिये नई होनेके कारण
हम लोगोंको इस बातका पता ही नहीं था ।

कञ्चुकी—अच्छा, फिर कभी ऐसा काम न करना ।

दोनों—आर्य ! हम भी यह बात सुनना चाहती हैं । यदि सुनानेमें अड़चन न हो तो
एपाकर यही बात हीजिये कि महाराजने वसन्तोत्सव क्यों रोक दिया है ।

सानुमती—मनुष्योंको तो भेजे-उतारोंका पड़ा प्याव होता है, इसलिये उत्सव रोक
देनेका कोई बहुत ही बड़ा कारण होगा ।

कंचुकी—बहुलीभूतमेतत्किं न कथ्यते । किमत्रभवत्योः फर्षपर्यःनायातं शङ्कन्तलाप्रत्या-
देशकौलीनम् ।

उभे—मुदं रट्टिभ्रमुदादो जाय अंगुलीभ्रदसणं । (भुतं राष्ट्रियमुलायावदंगुलीयक-
दशनम् ।)

कंचुकी—तेन ह्यल्पं कथयितव्यम् । यदैव खलु शंगुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्य-
मूढपूर्वा मे तत्रभवतो रहसि शङ्कन्तला मोहात्प्रत्यादिष्टेति तदा प्रभृत्येष पञ्चात्तापगुपगतो
देवः । तथा हि—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते

शरयाप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव चषाः ।

दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा

गोत्रेषु स्वलितस्त्वदा भवति च व्रीडाविलक्ष्यिरम् ॥ ५ ॥

सानुमती—विभ्रं मे । (प्रियं मे ।)

कंचुकी—अस्मात्प्रभवतो वैमनः(मादुत्सयः प्रथारयातः ।

उभे—जुज्जइ । (युज्यते ।)

[नेपथ्ये]

एदु एदु भयं । (एदु एदु भवान् ।)

कंचुकी—अच्छा, यह बात जब चारों ओर फैल गई है तब मैं भी कदो डालता हूँ ।
क्या शङ्कन्तलाके छोड़े जानकी बात तुम लोगोंके कानमें नहीं पड़ी है ?

दामो—हाँ, राजाकी खँगूली मिलने तककां बात तो नगर-रत्नके मुँहसे हम सुन
चुकी हैं ।

कंचुकी—तब तो थोड़ा-सा ही सुनाना रह गया है । उस खँगूलीकी देखते-ही महा-
राजको स्मरण हो उठा कि मैंने शङ्कन्तलासे पत्रान्तमें विषाह किया था और भूलसे उसथा
निरादर कर दिया । तभीसे उन्हें यड़ा पड़ताया हो रहा है, और उनके मनको न तो थप
कोई सुन्दर वस्तु ही भाता है और न वे पहले के समान मंत्रियोंके ही साथ नित्य बैठते
हैं । पक्षेपर करबट बदलते हुए वे पूरी रातें जाग-जागकर बिता देते हैं । जब रनियासकी
रानियाँ उनसे हठ करके हम उदासीका कारण पूछती हैं तब भूलसे उनके मुँहमें शङ्कन्तलाका
नाम निष्कल जाता है और वे यड़ी देखक सजाप रह जाते हैं ॥५॥

सानुमती—यहो तो मैं सुनना चाहती थी ।

कंचुकी—घस, इसी दुःखके कारण पसन्तोत्सप, रोक दिया गया है ।

दामो—तब तो ठीक ही है ।

[नेपथ्ये]

भाइय महाराज, भाइय ।

कचुकी—[कर्ण दावा] अये । इत एवाभिघर्तते देव । स्वकर्मानुप्रीयताम् ।

उमे—तद् । (तथा ।) [इति निध्वान्ते]

[सत प्रविशति पश्चात्पसदशवेपो राजा विदुषकः प्रतीहारी च ।]

कचुकी—[राजानमवलोक्य] अहो सर्वास्ववस्थानु रमणीयत्वनाकृतिविशेषाणाम् ।
एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देव । तथा हि—

प्रत्यादिष्टविशेषमरणविधिवीमप्रकोष्ठार्पितं

निव्रतकाञ्चनमेकमेव घलयं श्वासोपरस्त्राधरः ।

चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः

संस्कारोन्मिलितोमहामखिरिध चीणोऽपि नालक्ष्यते ॥६॥

सानुमती—[राजान दृष्ट्वा] ठाण्णे कल्लु पन्धादेसविमाण्डा वि इमस्स किंदे सउन्दला
फिल्लम्मदि स्ति । (स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽऽवश्य कृते शकुन्तला क्लान्तपतीति ।)

राजा—[ध्यानमन्द परिक्रम्य]—

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम् ।

अनुशयदुःस्वायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम् ॥ ७ ॥

कचुकी—[कान लगाकर] अरे ! महाराज तो इधर ही चले आ रहे हैं । अब जाओ,
सुम लोग अपना-अपना काम देखो ।

दोनाँ—बहुत अच्छा । [दोनों जाती दे ।]

[विदुषक और प्रतीहारीके साथ पहताते हुए राजा आते दे ।]

कचुकी—[राजाको देखकर] अहा ! जो सुन्दर होते हैं उनकी शोभा तो सभी दशाओंमें
अच्छी लगती है । देखो, उदास होते हुए भी महाराज कैसे अच्छे लग रहे हैं । क्योंकि—
केवल बाएँ हाथ परके सोनेके एक भुजबन्धको छोड़कर उन्होंने शोभा बढ़ानेवाले सभी गहने
उतार डाले हैं, उनकी उसीसे नीचेका थोड़ा भी लाल हो गया है और चिन्ता के कारण
राजभर जागनेसे उनकी आँखें भी अलसा गई हैं । पर इस प्रकार दुखी होनेपर भी वे उसी
प्रकार दुबले नहीं लगते जैसे सरादकर फाटा हुआ वह महामखि, जो छोटा हो जानेपर भी
अपनी चमकके कारण छोटा नहीं लगता । ६ ।

सानुमती—[राजाको देखकर] यद्यपि शकुन्तलाको छोड़कर इन्होंने उसका बड़ा भारी
अपमान किया है तिसपर भी ये इस योग्य हैं कि इनके लिये शकुन्तलाका धरपना ठीक ही
बैपवा है ।

राजा—[चिन्तामें घूमता हुआ] उस समय जब यह रुगके समान आँसुवाली मेरी
प्यारी शकुन्तला बार-बार मुझे समझा रही थी तब तो मेरी आँसु सुली नहीं, अब केवल
पञ्चावेका दुःख सहनेके लिये मेरा यह अभाग्य हृदय जगा है ॥७॥

शानुमती—ए ईदिसाणि तवस्सिणीए भाअहेआणि । (नन्वीइशानि तपस्विन्यां भाग-
धेयानि ।) ।

विदूषक—[धपवाचं] लघिदो एसो भूओ वि सउन्दलावाहिणा । ए आणे कए
चिकिच्छदवो भविससदि ति । (लद्धि एए भूयोऽपि शकुन्तलाव्यपिना । न जाने कथं चिकि-
स्सितव्या भविष्पतीति ।)

कचुकी—[उपगम्य] जंयतु जयतु देव । महाराज प्रत्यवेत्तिता प्रमदयनंभूमये । यथा-
काममध्यास्ता विनोदस्थानानि महाराज ।

राजा—चेत्रवति मद्दचनादमात्यमार्यपिशुन ब्रुहि । चिरप्रयोधनान्न संभावितमस्माभिरसौ
धर्मासनमध्यासितुम् । यत्प्रत्यवेत्तित पौरकार्यमार्येण तत्प्रमारोप्य दीयतामिति ।

प्रतीहारी—ज देवो आणवेदि । (यईव भाञ्जापयति ।) [इति निष्क्रान्ता ।]

राजा—जातायन त्वमपि एव नियोगमशून्य कुरु ।

कचुकी—यदाहापयति देवः । [इति निष्क्रान्त ।]

विदूषक—किं भयदा णिम्यच्छिअ । सपदं सिंसिरातवन्नेअरमणीए इमस्सि पमद-
यणुएसे अत्ताए रमदस्ससि । (कृत भरता निर्मथिकम् । साएन सिंसिरातरन्नेअरमणीएऽस्सिमं प्र-
मदयतोदेशे अत्तानं रमधिष्पति ।)

शानुमति—क्या करें, बेचारी शकुन्तलाके भाग्य ही ऐसे हैं ?

विदूषक—[अलग] ओह ! शकुन्तलाके रोगने इन्हें फिर आ घेरा है । न जाने यह
रोग जायगा कैसे ?

कचुकी—[पाठ जाकर] महाराजकी जय हो । प्रमद वनकी भूमि झाड़-सुहारकर ठीक
कर दी गई है । अब आप चलकर जयतक चाहे तयतक उम मनपह्लावकी भूमिमें
विधाम करें ।

राजा—प्रतीहारी ! जाकर मेरी ओरसे अमात्य आर्य पिशुनमे कहना कि आज मैं देरसे
उठा हूँ इसलिये न्याय करनेके लिये मैं सभा-भवनमें नहीं पहुँच पाऊँगा, इसलिये प्रजापा
जो कुछ भी काम हो यह आप लिलवर मेरे पास भिजवा दीजिएगा । समझी ।

प्रतीहारी—जैसी महाराजकी आज्ञा । [जाता है ।]

राजा—जाओ पातायन ! तुम भी अपना काम देखो ।

कचुकी—जैसी देवकी आज्ञा [जाता है ।]

विदूषक—अच्छा किया अपने जो सब भक्तिर्या भगा दौं । अब आप चलकर उस
प्रमदयनमें मन पह्लाएण जहाँ न यो चाहेभी ठढक हो है न गार्गीकी तपन ही ।

कञ्चुकी—[कर्ण दत्त्वा] अये । इत एवाभिवर्तते देव । स्वकर्मानुश्रीयताम् ।

उभे—तद् । (तथा ।) [इति निष्क्रान्ते]

[तत प्रविशति पञ्चाक्षपसदृशवेधो राजा विदूषक प्रतीहारी च ।]

कञ्चुकी—[राजानमवलोक्य] अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम् ।

एवमुत्सुकोऽपि प्रियदशनो देव । तथा हि—

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिवीमप्रकोष्ठार्पितं

विभ्रत्काञ्चनमेकमेव चलयं श्वासोपरस्ताधर ।

चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः

संस्कारोल्लिखितोमहामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥६॥

सानुमती—[राजान दृष्ट्वा] ठाण्णे कल्लु पन्चादेसविमारिदा वि इमस्स किदे सत्तन्दला किलम्मदि त्ति । (स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽप्यस्य कृते शकुन्तला स्वाम्यतीति ।)

राजा—[ध्यानमन्द परिक्रम्य]—

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिगोध्यमानमपि सुप्तम् ।

अनुशयदुःखापेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम् ॥ ७ ॥

कञ्चुकी—[कान लगाकर] अये । महाराज तो इधर ही चढ़े आ रहे हैं । अब जाओ, तुम लोग अपनी-अपना काम देखो ।

दोमाँ—बहुत अच्छा । [दोनों जाती हैं ।]

[विदूषक और प्रतीहारीके साथ पठताते हुए राजा भाते हैं ।]

कञ्चुकी—[राजाको देखकर] अहा ! जो सुन्दर होते हैं उनकी शोभा तो सभी दशाओंमें अच्छी लगती है । देखो, उदास होते हुए भी महाराज कैसे अच्छे लग रहे हैं । क्योंकि—केवल चाप हाथ परके सोनेके एक भुजवन्धको छोड़कर उन्होंने शोभा बढ़ानेवाले सभी गहने उतार डाले हैं, उनको उसाँसोसे नीचेका ओठ भी लाल हो गया है और चिन्ता के कारण रातभर जागनेसे उनकी आँखें भी अलसा गई हैं । पर इस प्रकार दुखी होनेपर भी वे उसी प्रकार दुबले नहीं लगते जैसे एरादकर काठा हुआ वह महामणि, जो छोटा हो जानेपर भी अपनी चमकके कारण छोटा नहीं लगता । ६ ।

सानुमती—[राजाको देखकर] यद्यपि शकुन्तलाके छोड़कर इन्होंने बहुत बड़ा भारी अपमान किया है तिसपर भी ये इस योग्य हैं कि इनके लिये शकुन्तलाका तडपना ठीक ही जंचता है ।

राजा—[चिन्तामें पतता हुआ] उस समय जब वह मुझे समान आँखोंवाली मेरी प्यारी शकुन्तला धार-धार मुझे समझा रही थी तब तो मेरी आँखें खुली नहीं, अब केवल पञ्चादेका हुए सहनेके लिये मेरा यह अभाग्य हृदय जगा है ॥७॥

विदूषक—भो किं एव । अग्राववर्णं क्वतु ईदिसं तुह । कदा वि संपुरिसा सोअवत्तवा ए होन्ति । ए पवादे वि णिक्कम्पा गिरीओ । (भो कितेतह । अनुपपन्न सखीदश त्वयि । कदाऽपि सत्पुरुषः शोक्यत्तवा न भवति । ननु प्रवातेऽपि निवहम्पा गिरयः ।)

राजा—वयस्य । निराकरणविकलवाया, प्रियाया समवस्थाननुस्मृत्य बलवद्दशरणोऽस्मि ।
सा हि—

इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता

स्थिता तिष्ठेत्युचैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे ।

पुनर्दष्टिं चाप्यप्रसरकलुषामर्पितवती

मयि क्रूरे यत्तत्सर्विषमिव शक्यं दहति माम् ॥ ६ ॥

सानुमती—अम्महे । ईदिसी स्वरुजपरदा । इमस्स सदावेण अहं रमामि । (अरे । ईदिसी स्वरुकार्यपरता । अथ सतापेनाहं स्मि ।)

विदूषक—भो अत्ये मे तको केण वि तत्तहोदी आआसचारिणा एादे ति । (भोः अस्ति मे तर्कः केनापि तत्रमपती आकाशचारिणा नीतेति ।)

राजा—रु पतिदेवतामस्य परामण्डं सुरसहेत । मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवानस्मि । तत्सहचारिणीभि सखी ते हतेति मे हृदयमाराद्धते ।

सानुमती—समोहो क्वतु विन्हअण्णिव्वा ए पडिबोहो । (समोह खड्ग विस्मयनीयो न प्रतिबोध ।)

विदूषक—अरे आप यह क्या कर रहे हैं ? यह आपकी शोभा नहीं देता । सज्जन लोग कभी ऐसे दुखी नहीं होते । देखिए, आँधी धानेपर भी पहाड़ नहीं हिला करते ।

राजा—मित्र ! जिस समय मैंने प्यारीको यहाँसे लौटाया उस समय उसकी जो दशा थी उसे स्मरण करके मैं आपमें नहीं रह पाता । क्योंकि, उस समय यह—जब यहाँसे लौटा दी गई और अपने साथियोंके पीछे चलने लगी तब गुरुके समान पूज्य गुरु-शीष्योंके उसे डाँटकर कहा कि तুম यहाँ रहो । यह राहो ही गई । उस समय आँसुओं आँसू भरकर मुझ निन्दुरकी धोर उसने जो देखा था वह मुझे ऐसी पीडा दे रहा है जैसे तिसीने विषसे मुझे हुए शकसे मेरे शरीरमें धाव वर दिया हो ॥९॥

सानुमती—अरे ! अपने निणपर इतना पछतावा ! इनके दुःखको देखकर मेरे जीको यथा सन्तोष मिल रहा है ।

विदूषक—महाराज ! मैं सोचता हूँ कि देवो शत्रु-तडाको कोई स्वर्गीय दूत उठा ले गया होगा ।

राजा—अरे, उस पतिव्रताको दूसरा छू फेंक सकेगा । पर सुना है कि उसकी माँ मेनका है । मुझे डर है कि यहाँ उसकी सखियों ही उसे न उठा ले गई हों ।

सानुमती—इस समय राजाको जो इतनी पीत स्मरण हो रही हैं उन्हें सुनकर मुझे इतना अपरज नहीं होता जितना इस बातपर कि इस समय वे भूल जैसे गए थे ।

विदूषक — जइ एउ अस्थि कनु समाश्रमो कालेण तत्तहोदीण । (यदेवम् अस्ति खडु समागम कालेन तत्रपवत्या ।)

राजा — वयमिष ।

विदूषक — ए खनु मादापितरा मत्तुविद्योअदक्खिअ दुहिदर चिर वेस्सिअदु पारेन्ति । (न खडु मातापितरौ भवुविद्योगडु खिता दुहितर चिर इण्डु कएपत्त ।)

राजा — वयस्य ।

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु निष्ठ नु तात्फलमेव पुरायम् ।

असनिष्ट्वै तदतीतमेते मनोरथानामतटप्रपाता ॥ १० ॥

विदूषक — मा एवम् । अंगुलीअध एव सिद्धसण अवस्मभाषो अचिन्ताजिज्ञो समाश्रमो होठि ति । (मैवम् । नन्वङ्गीयस्मैव निदर्शनमवस्थायाचिन्तनीय समागमो मयतीति ।)

राजा — [अंगुलीयक विलोक्य] अये इद तावदमुलमस्थानभ्रशि शोचनीयम् ।

तत्र सुचरितमङ्गुलीय नूनं प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन ।

अस्थानतमनोहरासु तस्याश्रुतमसि लब्धपदं पदङ्गुलीपु ॥ ११ ॥

सागुमती — जइ अएणहृत्पगव भवे सच्च एव सोअण्णिअ भवे । (यय-वदस्यगव भवेत् कल्पमेव शोचनीय भवेत् ।)

विदूषक — यदि उसकी सत्रियों ही उसे उठा ले गई होंगी तब तो उसे थोड़े दिनोंमें मिला हो सम्भिए ।

राजा — क्यों ?

विदूषक — पतिसे बिलुड़ा हुई अपनी कन्याका दु ख माता पिता अधिक दिनों तक नहीं देख सकते ।

राजा — मित्र ! मैं ठाढ़ ठाक समास ही नहीं पा रहा हूँ कि शकुन्तलाना जइ मिलाप सपना था, या जादू था, या भ्रम था, या किसी ऐसे पुण्यका फल था जिसका भोग पूरा हो चला था । सचमुच इन बातोंने मेरी सभी आशाओंको खदे पहाड़से गिरानर चूर-चूर कर डाला है ॥१०॥

विदूषक — ऐसा न कहिए । यह अँगूठी ही बतला रही है कि उससे भेंट अवश्य होगी ।

राजा — [अँगूठा देखकर] हाय ! इसपर भी मुझे क्या तरस आता है कि इतने सुन्दर स्थानपर पहुँचकर भी यह निकलकर कैसे गिर पड़ी । अरी अँगूठी ! तेरी इस बशासे ही पता चल जाता है कि मेरे ही समान तेरे पुण्यों का भी भोग पूरा हो चला था । नहीं तो, शकुन्तलाके लाल नखोंवाली अँगुलियोंसे भला तू क्यों निकलकर गिरसी ॥११॥

सागुमती — हाँ, यदि यह किसी दूसरेके हाथ लग गई होती तब तो सचमुच इसपर क्या आती ।

विदूषकः—भो इअं एाममुहा केण उग्यादेण तत्तहोदिण हत्याब्भामं पाविदा । (भो इय नाममुहा केनोद्धातेन तत्रभवस्य हस्ताभ्याश्च प्रापिता ।)

सानुमती—मम वि कोदूहलेण अत्थारिदो एसो । (ममापि कौतूहलेनाकारित एवः ।)

राजा—अयताम् स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सवाप्पमाह—कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्ति दास्यतीति ।

विदूषकः—तदो तदो । (यतस्ततः ।)

राजा—पञ्चादिमां मुद्रां तदङ्गलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहित्वा—

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं

नामान्तरं गणय गच्छति यावदन्तम् ।

तावत्प्रिये मदपरोधगृहप्रवेशं

नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति ॥ १२ ॥

तच्च दारुणात्मना मया मोहाभानुष्ठितम् ।

सानुमती—रमणीओ खु अचही विदिणा विसंवादिदो । (रमणीयः खल्ववधिर्विधिना विसंवादितः ।)

विदूषकः—अथ कहं धीवलकप्पिअस्स लोहिअमच्छस उदलभन्तले थ्यासि । (अथ कथं धीवरकल्पितस्य रोहितमत्पत्न्योदराभन्तर आसीत् ।)

राजा—राचीतीर्थं अन्वमानायाः सख्यास्ते हस्ताद्गङ्गात्सोवसि परिभ्रष्टम् ।

विदूषकः—अच्छा, यह तो बताइए कि आपको यह अँगूठी देवी शकुन्तलाके पास पहुँच कैसे गई ?

सानुमती—इसके मनमें भी इस बातको जाननेका वैसा ही चाव है जैसा मेरे मनमें है ।

राजा—अच्छा सुनो । जब मैं वनसे अपनी राजधानीको लौट रहा था उस समय प्यारीने अँखोंमें आँसू भर कर पूछा था—अब कितनों दनोंमें सुख लीजिएगा ।

विदूषकः—तव-तव ।

राजा—तब उसकी अँगुलीमें यह अँगूठी पहनाते हुए मैंने कहा था—प्यारी ! इस अँगूठीपर लिखे हुए मेरे नामके अक्षरोंको प्रतिदिन गिनती रहना ! जब सभी अक्षर गिन चुकीगी तब रानवासका कोई सेवक तुम्हें बुलानेके लिये यहाँ आ पहुँचेगा ॥१२॥ पर सुमन्कडोर-हृदयसे ऐसा करते न बन पड़ा ।

सानुमती—बात तो यही अच्छी थी पर देवने सब चौपट कर दिया ।

विदूषकः—अच्छा तो उस मछुएने जिस रोहू मछलीकी काटा था उसके पेटमें यह अँगूठी वहाँ से पहुँच गई ?

राजा—जब शकुन्तला राचीतीर्थकी हाथ जोड़कर प्रणाम कर रही थी उसी समय वह अँगूठी अँगुलीसे निकलकर गंगाजोकी धारामें जा गिये ।

विदूषकः—जुजइ । (मुग्धते ।)

यानुमती—अदो एव तवस्मिणीए सन्दलाए अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो परिणए संदेहो आसि । अद्वा ईदिसो अणुराथो अदिष्णाणं अचेकरदि कइं विअ पदं । (अत एव तवस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राबधेः परिणये सन्देह आसीत् । अयथेदशोऽनुरागोऽभिज्ञान-मपेक्षते । कथमिवैतत् ।)

राजा—उपालप्ये तावदिदमइ गुलीयकम् ।

विदूषकः—[आत्मगतम्] गद्दीदो णेण पन्या उम्मत्तआणम् । (गद्दीतोऽनेन पन्या उन्मत्तानाम् ।)

राजा—

कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं करं विहायासि निमग्नममसि ।

अथवा—

अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥ १३ ॥

विदूषकः—[आत्मगतम्] अइं क्खु वसुक्खाए ररादिदव्वत्ति । (अइं लल्ल उमुग्घया खादि-तव्य इति ।)

राजा—अकारणपरित्यागानुशयवत्तद्द्वयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन ।

[प्रविरपायदीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता]

चटुरिका—इअं चित्तगदा भट्टिणी । (इयं चित्रगण भट्टिणी ।)

[इति चित्रफलकं दर्शयति ।]

विदूषक—अन्दा, यह घात है ।

यानुमती—जान पड़ता है कि इसीलिये इन राजर्षिने अधर्मके डरसे येचारी शकुन्तलाके साथ विवाह होनेकी बातमें संदेह किया था । नहीं तो भला ऐसे प्रेममें क्या किसी पहचानरी आधारपकवा पड़ती है ।

राजा—मैं अभी इस अँगूठीको डॉटता हूँ न ।

विदूषक—[आप ही आप] अरे, ये तो अब पाला हो चले हैं ।

राजा—अरी अगूठी ! उन सुन्दर लँगलियोंकी छोड़कर तू क्यों जलमें गूदने गई ! पर अँगूठीमें तो जीभ नहीं या इसलिये उसने मुखड़ी परत न की हो वो ठीक है, पर मैंने मनुष्य होकर उमका कैसे निरादर पर डाला । १३॥

विदूषक—[आप ही आप] यदि थोड़ी देर और इनकी यही इजा रही तब तो मेरी भूरा मुके रा ही डालेगी ।

राजा—हे प्यारी ! तुम्हें बिना कारण छोड़ देनेकी जलनसे मैं जबा जा रहा हूँ । मुझे अपना दर्शन देकर क्या करके जिला सो लो ।

[परदा उठाकर चित्रफलक लिए हुए प्रवेश करके]

चटुरिका—यह रहा देवीका चित्र । [चित्रफलक दिखती है ।]

विदूषकः—साधु घञस्त । महुरावत्याणदंसिञ्चो भावाणुप्पवेसो । खलदि विश्व मे दिष्टी शिराणुण्णअप्पवेसेसु । (साधु वयस्य । मधुरावत्याणदर्शनीयो भावानुप्रवेसः । खलदीव मे दृष्टिनिम्नोक्तप्रदेशेषु ।)

सानुमती—अम्मो एसा राएसिणो णिउण्णत्ता ; जाणे सदी अन्नादो मे घट्टदि त्ति । (अहो एसा राजपौत्रपुत्रता । जाने घट्टप्रता मे वतंत इ त ।)

राजा—

यद्यत्साधु न चित्रं स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।

तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम् ॥ १४ ॥

सानुमती—सरिसं एदं पच्छादावगुरुणो सिणेइस्त अणवलेयरस अ । (महशनेतरवधाच-पगुरोः स्नेहस्थानवलेपरस्य च ।)

विदूषकः—भो दाणिं तिरिण्णो तत्तहोदीओ दीसन्ति । सञ्चाओ अ इंसणीआओ । फदमा पथ तत्तहोदी सउन्वला (भोः इदानीं तिस्रस्तत्रभवस्यो दृश्यन्ते । सर्वाश्च दर्शनीयाः । यतमाऽत्र तत्रभवती शकुन्तला ।)

सानुमती—अणभिरणो क्खु इंदिसरस रूपरस मोइदिष्टी अन्नं जणो । (भनभिः सखी-दृशस्य रूपस्य मोषट् इत्यं जनः ।)

राजा—त्वं सावत्कतमां तर्कयसि ।

विदूषक—वाह, वयस्य ! बाह । इसके अंग-अंग आपने ऐसे सुन्दर बना दिए हैं कि इसके मनके भावक ठीक-ठीक उतर आए हैं । मेरी आँखें तो इस चित्रमें बने हुए ऊँचे-नीचे स्थलोंमें जैसे ठोकरें खाती रह जाती हैं ।

सानुमती—अरे ! राजर्षि तो बड़े बहुर चित्रकार हैं । चित्र ऐसा जान पड़ता है मानो सखी शकुन्तला सामने ही खड़ी हो ।

राजा—यद्यपि मैंने इस चित्रके सब दोष ठीक कर दिए हैं फिर भी इन रेखाओंमें देवीकी सुन्दरता बहुत थोड़ीसी ही खिच पाई है ॥१४॥

सानुमती—इस पद्धतावे और नञ्जतासे भरे प्रेमीको ऐसा ही कहना शोभा देता है ।

विदूषक—धर्यो ! इस चित्रमें तो तीन-तीन देवियाँ दिखाई पड़ रही हैं और तीनों एकसे एक बढ़कर चटकोली हैं । यत्नाओ तो, इनमें देवी शकुन्तला कौन-सी हैं ?

सानुमती—इस असूझेको सुन्दरताको तनिक भी परख नहीं है ।

राजा—अच्छा, तुम इनमें से किसको शकुन्तला समझ रहे हो ?

विदूषकः—सकोमि जा एसा सिदिलकेसदन्धसुव्यन्तकुसुमेण केसन्तेण उग्गिरणस्से-
अविन्दुणा वञ्जणेण विसेसदो ओसरिआहिं वाहाहिं अयसेअसिणिद्धतरुणपल्लयस्स चूअपा-
अवस्स पासे इसिपरिस्सन्ता विअ आलिहिदा सा सटन्दला । इदराओ सहीओ सि । (तर्क-
यामि गैपा सिधिल्लेअषन्धेनोद्धान्तकुसुमेण केआन्तेनोद्दिग्गरेवेदविन्दुणा वदनेन विरोपतोऽसुत्तायां
पःकुम्भ्यामयथैकस्मिन्तयणपल्लवरथ चूतपादपश्य पास्यं ईपल रअन्तेगालिखिता सा शकुन्तला । इतरे
नकवाविति ।)

राजा—निपुणो भवान् । अस्यत्र मे भावचिह्नम् ।

स्त्रिन्नाङ्गुलिनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः ।

अत्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्तिकोच्छ्रामात् ॥ १५ ॥

चतुरिके अर्धलिपितमेतद्विनोदस्थानम् । गच्छ । वर्तिकं तावदानय ।

चतुरिका—अज माडव्व अवलम्भ चित्तपल्लअं जाव आअच्छामि । (आर्यं म दृश्य अन-
लम्बस्य चित्रपलकम् यावदागच्छामि ।)

राजा—अहमेवैतदवलम्बे । [इति यथोक्त करोति ।]

[निष्क्रान्ता चेटी ।]

राजा—[निःदश्य] अहं हि—

साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं चित्रापितां पुनरिमां बहुमन्यमानः ।

स्नातोवहां पथि निकामजलामतीत्य जातः सरये प्रणयवान्मृगवृष्णिक्रायाम् ॥१६॥

विदूषक— मैं तो समझता हूँ कि पानीके छिड़कावसे जो यह आमका पेड़ चमक रहा है उसीसे सटफर कुछ धकी हुई सी जो खड़ी दिखाई देती है वही शकुन्तला है, जिसके डीले जड़ोंसे मूल गिर रहे हैं, मुँह पर पसोनेकी घन्टें झलक रही हैं और दोनों कन्धे मुके हुए हैं । इसके साथ घाठी ये दोनों इतकी सरिरियाँ होगी ।

राजा—तम सचमुच चतुर हो । यहाँ मेरे प्रेमके चिह्न भी बने हुए हैं । चित्रकी कोरोंपर मेरी पसीजी हुई लगुलियोंके काले धब्बे पड़ गए हैं और मेरी आँसूसे आँसू टपका, उससे शकुन्तलाके गाल परका रंग उभर आया है । १५ ॥ अरी चतुरिका ! अभी इस विनोद स्थानका चित्र पूरा नहीं बन पाया है । जा, चित्र बनानेकी सजाइयाँ तो लेनी आ ।

चतुरिका—आर्य माडव्व ! इस चित्रपटको थोड़ा छिप तो रहिये, मैं अभी आती हूँ ।

राजा—मैं ही इसे छिप रहता हूँ ।

[चित्रपलक ले लेता है ।]

[चेटी जाती है ।]

राज —[ठहोस भरर] मित्र ! मेरी दशा तो देखो कि जय यह स्वयं मेरे पास आई थी तब तो मैंने उसे निरादर करके डीटा दिया और अब उसके चित्रपर इतना प्रेम दिखाने लगा हूँ । यह तो मेसा ही है जैसे कोई भरी हुई नदीकी छोकड़ मृगपृष्णाकी ओर छपके ॥ १६ ॥

विदूषक—[आत्मगतम्] एतो अत्तभव णदि अदिक्कमिथ मिअतिण्हिआ संकन्तो ।
[प्रकाशम्] भो अवर कि एत्थ लिहिदव्व । (एमीऽत्तमगान्नीदीमत्तिमम् मृगतृणिका संक्रान्त ।
भोः अपर किम्पत्त लिखितव्यम् ।)

सानुमती—जो जो पदेशो सहीए मे अहिरूमो तं त आलिहिदुक्कामो भवे । (जो य
प्रदेश सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालिखितुकामो भवेत् ।)

राजा—श्रयताम्—

कार्या सैकत्रलीनहंसमिधुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निपण्णहरिणा गोरीगुरोः पावनाः ।

शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मलामिच्छाम्पधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥ १७ ॥

विदूषक—[आत्मगतम्] जह अह देक्खामि पूरिदव्व खेण चित्तफलअ लम्बकुष्णाण
तावसाण कदम्भेहिं । (यथाऽह पश्यामि पुरितव्यमानेन चित्रफलकलम्बकृष्णाणा तापहानां कदम्भैः ।)

राजा—वयस्य अन्यथ । शकुन्तलाया प्रसाधनमभिप्रेतमत्रविस्तृतमस्माभि ।

विदूषक—कि विश्र ।, किमिच ।)

सानुमती—घण्णवाणस्स सोऽमारस्स अ ज सरिस्स भविस्सदि । (वनवासस्य सौकुमार्यस्य
च यत्सदृश भविष्यति ।)

विदूषक—[आप ही आप] यहाँ महाराज तो नदीका छोरकर मृगतृष्णाके पीछे दौड़
पड़े हैं । [प्रकट] कहो मित्र ! अब इस चित्रमें और क्या बनाना रह गया है ?

सानुमती—मैं सोचती हूँ कि राजा अब चित्रमें वे स्थान बनावेंगे जो मेरी सखीको
बहुत प्यारे थे ।

राजा—सुनो ! अभी मालिनी नदी बनानी है जिसकी रेतीमें इसके जोड़े बैठे हों ।
उसके दोनों ओर हिमालयकी वह तलहटी दिखानी है जहाँ हरिण बैठे हुए हों । मैं एक
देसा पेठ भी खींचना चाहता हूँ जिसपर वल्कलके बस टेंगे हुए हों और जिसके नीचे
एक हरिणी अपनी घाई और काले हरिणको सींगसे रगड़कर खुजला रही हो ॥ १७ ॥

विदूषक—[आप ही आप] मेरी बात मानिए, तो आप इस चित्रको लम्बी लम्बी
दाढ़ी वाले तपस्वियोंसे भर डालिए ।

राजा—वयस्य ! और अभी तो मैं शकुन्तलाको जो आभयण पहनाना चाहता हूँ वही
बनाना भल गया हूँ ।

विदूषक—य कौन-कौनसे ?

सानुमती—वे ही जो उसके जैसे कुकुमारी वनवासिनी कुमारियों पहना करती होंगी ।

राजा—

कृतं न कर्षांपितवन्धनं सरवे शिरीषमागण्डविलम्बिकेनरम् ।

न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसुप्रं रचितं स्तनान्तरे ॥ १८ ॥

विदूषकः—भो किं गु तत्तद्दोषी रक्तकुवलयप्रपल्लवसोद्दिष्टा अमाहृत्येण मुहं ओवारिणि चङ्दचङ्ददा विभ्र ट्टिआ । [सावधानं निरूप्य दृष्ट्वा] आ एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपादधरो तत्तद्दोषीय यथयां अद्विल्लेदि महुअरो । (भोः किं नु तत्रमवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रह-स्तेन मुखमपवार्यं चकितचकितेन रिपता । आः एव दास्याधुश्रः कुसुमरसपादञ्चरस्तनभवत्या यदन-मभिलक्षति मधुकरः ।)

राजा—ननु वार्यतामेव धृष्टः ।

विदूषकः—अहं एव अविणीदायं सासिदा इमस्त वारणे पहविरसदि । (मवानेवा-विनीतानां शक्तिऽस्य वारणे प्रमविभ्यति ।)

राजा—युज्यते । अवि भोः कुसुमलताप्रियासिधे । किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि ।

एषा कुसुमनिपण्या तृपिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता ।

प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना स्वया पिवति ॥१९॥

सानुमती—अज वि अभिजादं पसु एसो वारिदो । (अद्याप्यभिजातं दक्षेव पारितः ।)

विदूषकः—पडिसिद्धा वि यामा एसा जादी । (प्रतिपिद्धाऽपि वामेवा जातिः ।)

राजा—धरस्य ; अमी तो मैं वह सिरसका फूल भी नहीं बना पाया जिसकी डंठल उसने कानोंपर घर रखती थी और पराग उसके गालोंपर फैलेहुए थे । और अभी तो उसके स्तनोंके बीचमें चन्द्रमाकी फिरणके समान पतले फललके वस्तुओंकी माला भी नहीं बनाई ॥ १८ ॥

विदूषक—क्यों मित्र ! देवी अपनी कमलकी पंखड़ीके समान कोमल और साध हृदयसे अपना मुँह ढके पद्म ढरी हुई-सी सड़ी क्यों दिखाने दे रही हैं । [ध्यानसे देखाकर] अरे ! देखिए, यह पल्लोंके रसका चोर नीच भौंसा देवीके मुँहपर आवर मँडरा रहा है ।

राजा—भगवतो तो इस छीठो ।

विदूषक—दुष्टोंको दंड देना तो आपका काम है इसलिये अब आप हो इसे भगाइए ।

राजा—अच्छी बात है ! श्री रे ! फूल और लताओंके प्यारे अतिथि ! तू क्यों इसके मुँहपर मँडरानेका फण्ड कर रहा है । - तेरे प्रेमकी व्यासी भौंसी तेरी ओर आँख लगाए फूलपर बैठी हुई है और तेरे बिना मकरन्द नहीं पी रही है ।

सानुमती—इस अवसरपर मैं भी ये कितनी कोमलवारी मैंनेको चले जानेके लिये कह रहे हैं ।

विदूषक—ऐसे छोटे लोग बहनेसे थोड़े ही मानते हैं ।

राजा—एवं भो न मे शासने तिष्ठसि । श्रूयतां तर्हि संप्रति —

अकिलएवालतरुपल्लवलोभनीयं पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु ।

विम्वाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियायास्त्वां कारयामि कमलोदखन्धनस्थम् ॥ २० ॥

विदूषकः—एवं तिम्रणदण्डरस किं ए भाद्रस्मदि । [प्रहस्य आत्मगतम्] एसो दाव उन्मत्तो । अहं पि एदरस संगेण ईदिमवणो विश्र संयुचो । [प्रहासम्] भो चित्तं कस्तु एदं (एय सीक्षदण्डरस किं न भेषति । एय तावदुन्मद्य । अहमप्येतस्य उन्नेनेदशवर्णं इव संवृच. । भोः चित्र खल्येतत् ।)

राजा—रुधं चित्रम् ।

सानुमती—अहं पि दाणिं अवागदत्या । किं उण जहातिहिदाणुभावी एसो । (अहमपीदानीप्रवगतार्था । किं पुनर्यगालिखितानुभाव्येवः ।)

राजा—दयस्य किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।

स्मृतिकारिष्या त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥ २१ ॥

[इति वार्थ विहरति ।]

सानुमती—पुन्वावरविरोहो अपुत्र्यो एसो विरहमगो । (पूर्वापरविरोधपूर्वं एय विरहमार्गः ।)

राजा—क्यों रे ! तू मेरा कहना नहीं मानता । तो अब सुन—मेरी प्यारीका जो ओठ अछूते नन्हें पीचैको कोमल कोंपलोंके समान लाठ है और जिसे मैंने रतिके समय भी बहुत बचा-बचाकर पिया था उसे यदि तूने छुआ तो तुझे कमलके फीश में डालकर बन्दी करा दूंगा ॥२०॥

विदूषकः—क्या तू ऐसे कठोर दण्ड देनेवालेसे भी नहीं डरता ? [हँसकर अ प ही भाव] अरे, ये तो पागल हो ही गए हैं । अब इनके साथ रहनेसे मैं भी कुल्ल-कुल्ल वैसा ही हो चला हूँ । [प्रकट] अरे महाराज ! यह तो चित्र है ।

राजा—अरे क्या चित्र है ?

सानुमती—स्वयं मैं ही अब समझ पा रही हूँ कि यह चित्र है, फिर भला उसका तो पूछना ही क्या जिसने शाकुन्तलामें तल्लीन होकर उगका चित्र बनाया है ।

राजा—यह तुमने क्या दुष्कर्म कर डाला मित्र ? मैं तो बड़ा मगन होकर सामने खड़ी हुई शाकुन्तलाके दर्शनका आनन्द ले रहा था । पर तुमने स्मरण दिलाकर मेरी प्यारीको चित्र ही बना डाला ॥ २१ ॥

[ऐसा कहकर गौड़ बहाने लगता है ।]

सानुमती—यह वो विरहका निराला हो दंग देख रही हूँ कि जिसमें पहले कुछ था, अब कुल्ल और ही है ।

राजा—ययस्य । कथमेवमविश्रान्तद्वेषमनुभवामि ।

प्रजागरातिवलीभङ्गस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।

वाप्पस्तु न ददा येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥ २२ ॥

सानुमती—सबवह पमजिदं तुए ० गादेसदुक्खं सवन्दलाए । (सबथा प्रमाजतं क्खया प्रावादेशदुक्खं शकुन्तलायाः ।)

[प्रविश्य]

चतुरिका—जेदु जेदु भट्टा । वट्टिअ 'धरएडध्रं गेविदअ इदोमुदं पत्थिद गिह । (अणुत्त अणुत्त भत्ता । वट्टिकाकरण्डके गृहीत्वेनोमुखे प्रस्थिताऽस्मि ।)

राजा—किं च ।

चतुरिका—सो मे हत्थादो अन्तरा तरलियादुदोआए देवीए वसुमदीए अहं एव अज्ज-उत्तस उयणुहरं त्ति सचलणारं गहीदो । (स मे एस्तादन्तरा तरलियाद्वितीयया देव्या वसुम-व्याऽहमेगार्थपुत्रस्योपनेष्यामीति समलक्षणं गृहीतः ।)

विदूषकः—दिट्ठिआ तुमं मुक्का । (दिट्ठ्या त्वं मुक्का ।)

चतुरिका—जाव देवीए विडवण्णं उत्तरीअं तरलिया मोचेदि ताव मए गिन्वाहिदो अत्ता । (यावद्देश्या विश्वरूपमुत्तरीयं तरलिया मोचयति तावन्मया निरंशित आत्मा ।)

राजा—ययस्य उपस्थिता देवी बहुमानगर्विवा च । मरानिमां प्रतिष्ठति रक्षतु ।

राजा—ययस्य ! जानते हो, इस समय मेरे हृदयपर क्या बीत रही है ? नाँद न लगानेके कारण मैं उससे स्वप्नमें भी नहीं मिल पाता और सदा बहते रहनेवाले ये आँसू उसे चित्रमें भी नहीं देखने देते ॥ २२ ॥

सानुमती—तुमने शकुन्तलाकी छोड़कर हम लोगोंके मनमें जो कमरु भर दी थी यह आज तुमने सब धो डालो ।

[प्रवेश करके]

चतुरिका—जय हो, महाराजकी जय हो । चित्र-सामग्रीका डब्बा लिए हुए मैं शहर ही चली आ रही थी कि—

राजा—वो क्या हुआ ?

चतुरिका—बीचमें ही तरलिकाके साथ आती हुई महारानी वसुमतीने यह कहकर मुझसे बलपूर्वक यह डब्बा छीन लिया कि मैं स्वयं इसे आर्यपुत्रके पास पहुँचा आती हूँ ।

विदूषक—अपना बड़ा भाग समझ कि तू उनके हाथसे बिना पिये घबकर निकल आई ।

चतुरिका—उपर तरलिका पृथकी डालीमें उलमी हुई महारानीकी ओढ़नी हुड़ानेमें लगी, शहर में चुपचाप दिसक आई ।

राज.—जान पड़ता है कि महारानी क्या मुँह पुलाए शहर ही चली आ रही हैं, इसलिये अब इस चित्रको ले जाकर कहीं छिपा रख्यो ।

विदूषकः—असाधुं त्ति भयाहि । [चित्रपलकमादायोत्थाय च] जइ भवं अन्तेइरकाल-
फूडादो गुञ्जीअदि तदो म मेहपडिच्छन्ने पासादे सदावेहि । (आत्मानमिति भण । यदि
भगानन्तःपुरकारकूटान्मोदयते तदा मा मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय) । [इति द्रुतपदनिष्क्रान्तः ।]

सानुमती—अणसंक्रन्तद्विअधोधि पठमसंभावणं अवेक्कदि । अदिसिदिलसोहदो
दाणि एमो । (अन्यसंक्रान्तहृदयाऽपि प्रथमसंभावनामपेक्षते । अतिशयिलवीहार्द इदानीनेपः ।)

[प्रविश्य पत्रहस्ता]

प्रतीहारी—जेदु जेदु देवो । जयदु जयदु देवः ।)

राजा—वेधवति न खल्वन्तरा इष्टा त्वया देवी ।

प्रतीहारी—अह इं । पत्तहत्थं मं देखिअ पडिणिउत्ता । (अय किम् । पत्रहस्ता मां प्रेक्ष्य
प्रतिनिवृत्ता ।)

राजा—कार्यशा कार्योपरोधं मे परिहरति ।

प्रतीहारी—देव अगधो विण्णवेदी अत्थजादस्स गण्णयावहुलदुग्ग एक्कं एव्व पोरकज्जं
अवक्किअदं तं देवो पत्तारूढं पधक्कोकरेदु त्ति । (देव अमात्सी विज्ञापयति—अयं ज्ञातस्य
गणनाचहुलतयैरुमेव पौरकार्यमवेधितं तद्देवः पुनारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति ।)

राजा—इत्. पत्रिकां दर्शय । [प्रतीहार्युपन्यति ।]

विदूषकः—यह क्यों नहीं कहते कि हमें ही छिपा लो ? [चित्राट लेकर उठकर] अच्छा,
इस चार यदि आपको रतिवासके चगुलसे छुटकारा मिल जाय तो मेघप्रतिच्छन्द भवनमें
मुझे पुकार लीजिएगा ।

[सारठकर निकल जाता है ।]

सानुमती—इन्होंने दूसरेको हृदय दे डाला है सही, पर ये अपने पहली रानीके प्रेमको
भी ठेस नहीं लगाने देना चाहते । पर सच्ची बात तो यह है कि राजाके मनमें रानीके लिये
कुछ भी प्रेम बच नहीं रह पाया है ।

[हाथमें पत्र लिए हुए प्रतीहारीका प्रवेश ।]

प्रतीहारी—जय हो, महाराजकी जय हो ।

राजा—वेधवती ! तुम्हें बीचमें महारानी तो नहीं मिली थी ?

प्रतीहारी—हाँ, मिली थी । पर मेरे हाथमें यह पत्र देखकर अभी उल्टे पाँवों लौट
गई हूँ ।

राजा—ये समय-असमय पहचानती हैं इसलिये मेरे काममें बाधा नहीं बनना
चाहती होंगी ।

प्रतीहारी—महाराज ! अमात्यने कहलाया है कि आजका सारा दिन कई विभागोंके
रुपये-पैसेका जोड़ लगानेमें ही शोत गया । इसलिये मजाका केवल एक ही काम में देख
पाया हूँ । उसे देव पत्रमें पढ़कर ही समझ लें ।

पदा—साधु, पत्र इधर हो ।

[प्रतीहारी पत्र छे जाकर देती है ।]

राजा—[अनुवाच्य] कथम् । समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम । नौज्यसने विपन्नः । अन्नपत्यश्च किल तपस्वी । राजगाम्नी तस्यार्थसंचय इत्येतद्मात्येन लिखितम् । कष्टं यत्ननपत्यता । वेत्रवति बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम् । विचीयतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात् ।

प्रतीहारी—देव दारिणं एव्य साकेदयस्स सेट्टियो दुद्धिया णिज्जुत्तपुंसयणा जाआ से सुणीअदि । (देव इदानीमेव साकेतस्य भेदिना दुहिता निहृत्तपुंसयना जायाऽस्य भवते ।)

राजा—ननु गर्भः पितृयं रिक्तमर्हति । गच्छ । एवमभास्यं ब्रूहि ।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदी (यद्देव आशपपति ।) [इति प्रस्थिता ।]

राजा—एहि तावत् ।

प्रतीहारी—इअम्हि । (इयमस्मि ।)

राजा—किन्नेन संवतिरस्ति नास्तीति ।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन वन्धुना ।

स स पापाद्वे तासां दुप्यन्त इति ध्रुप्यताम् ॥ २३ ॥

प्रतीहारी—एव्यं णाम पोसइद्व्यं । [निष्पन्न पुनः प्रविश्य] काले पयुट्टं विअ अदिण-
न्दिदं देवस्स सासणम् । (एव्यं नाम घोषवितन्यम् । आळे प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम् ।)

राजा—[बौनकर] अरे ! क्या समुद्रके व्यापारी धनमित्रकी नाव सूबनेसे मृत्यु हो गई । देवारेके कोई सन्तान भी नहीं थी । और प्रधान मन्त्रीजी लिखते हैं कि उसका सब धन राज-कोषमें आ जाना चाहिए । नि सन्तान होना भी फितना कष्टदायक होता है । अच्छा वेत्रवती ! सेठजीके पास कोई कमी तो थी नहीं इसलिये उनके बहुतसी सेठानियाँ होंगी । पता तो लगाओ उनमें से कोई गर्भवती भी है ?

प्रतीहारी—हाँ देव ! सुना जाता है कि अयोध्यावाले सेठजी जो कन्या उनसे व्याही थी उसने अभी थोड़े दिन हुए पुंसयन संस्कार कराया है ।

राजा—तब जाकर अन्तरवसे पहना कि यह गर्भका बालक ही सेठके सप धनका स्वामी होगा ।

प्रतीहारी—जैसी महाराजकी आज्ञा ।

[यह कहकर चली जाती है ।]

राजा—अच्छा इधर तो सुनो !

प्रतीहारी—जी, आ गई ।

राजा—किसीकी सन्तान होने या न होनेसे क्या ? जाकर ढोंढी पिटवा हो कि पापियोंसे छोड़कर हमारा प्रजाके और जितने लोग हैं उनके जो जो कुटुम्बी न रहें उनका यह कुटुम्बी ध्रुप्यन्त समझा जाय ॥ २३ ॥

प्रतीहारी—यही ढोंढी पिटवा दी जायगी । [शोरकर] महाराजकी इस आज्ञासे सुनकर प्रजा जैसे ही भगत हो उठी है जैसे समय पर पानी बरसनेसे गेनी छल्ला उठती है ।

राजा—[दीर्घपुष्पां च निःश्वस्य] एवं भोः संवत्तिच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरु-
पावसाने संपदः परमुपतिष्ठन्ति । ममाप्यन्ते पुत्रवंशश्रिय एव एव वृत्तान्तः ।

प्रतीहारी—पडिहृदं अमंगलम् । (पडिहृतमंगलम् ।)

राजा—विद्धमासुपस्थितश्रेयोऽवमानिनम् ।

सानुमती—असंभ्रं सद्भि एव्य दिभ्रए करिण णिन्दिदो जेण अप्पा । (अशंशयं सस्तमेव
हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेन स्मा ।)

राजा—संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा ।

कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोत्सर्वाजा ॥ २४ ॥

सानुमती—अपरिच्छिद्यणा दाणि दे संददी भविस्सदि । (अपरिच्छिन्नेदानां वे सन्तविर्भ-
विष्यति ।)

चतुरिका—[अनातिक्रम] अए इमिणा सत्थवाहवृत्तन्तेण दिवसुव्वेवो भट्टा । यं अस्ता-
सिदुं मेहपडिच्छन्दादो अज्ज माडव्व गेण्हिय आअच्छेहि । (अपि अनेन धर्मवाहवृत्तन्तेन
द्विगुणोद्देशो मर्तः । एतन्माभासकित्तं मेऽप्रतिच्छन्दादार्यं माडव्य एहीत्यागच्छ ।)

प्रतीहारी—सुद्धु भणासि । (सुद्धु भणसि ।) [रति निष्कान्ता ।]

राजा—अहो दुप्यन्तस्य संशयमारुह्याः पिरडभाजः । कुतः ।

अस्मात्परं वत यथाश्रुति संभृतानि कौ नः कुले निवपनानि करिष्यतीति ।

राजा—[एवी खौव लेजर] इसी प्रकार निपूतोंका कुछ धन उनके न रहने पर दूसरोंके
हाथ चला जाया करता है । मेरे पीछे पुत्रवंशको राज्य-लक्ष्मीको भी यही वशा होनेको है ।

प्रतीहारी—भगवान् ऐसे दुरे दिन न दिगावें ।

राजा—पर धाई लक्ष्मीका निरावर करनेवाले मुझ अभागोको धिक्कार है ।

सानुमती—इसमें सन्देह नहीं कि राजाने शकुन्तलावाली चातपर ही अपने को
धिक्कारा है ।

राजा—जैसे समयपर कोई हुई प्रथी फल देनेवाली होती है वैसे ही मुझसे गर्भ धारण
करके जो मेरे कुलको चलानेवाली धर्म-पत्नी थी उसे ही मैंने निरादरके साथ छोड़
दिया ॥२४॥

सानुमती—तुम्हारी सन्तान तुम्हारा वंश चलानेवाली होगी ।

चतुरिका—[अलाग] अरी प्रतीहारी ! इस सेठवाली बात सुनकर तो राजाका दुःख
दूना बढ़ गया है । इसलिये इनके मन बहलानेके लिये आर्य माधव्यको भेषप्रतिच्छन्द-
भवनसे बुला लो ला ।

प्रतीहारी—यह तो ठीक कहती हो ।

[जाती है ।]

राजा—दुप्यन्तके विवर भी बेचारे बड़े सन्देहमें पड़ गए होंगे, क्योंकि—वे विकल
दोकर सोच रहे होंगे कि दुप्यन्तके पीछे कौन हमारा वैदिक विधिते तर्पण करेगा । और

नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं घौताशुशेषमुदकं पितरः पिवन्ति ॥ २५ ॥

[इति मोहमुगताः]

चतुरिका—[सर्वभ्रममवलोक्य] समस्ससदु समस्ससदु भट्टा । (समात्तरसिद्धु समात्तरसिद्धु मत्ता ।)

सानुमती—हृद्धी हृद्धी । सदि वसु दीवे वववाणदोसेण एसो अन्यआरदोसं अणुहोदि । अहं दाणि एव्व शिण्णुदं करेमि । अहवा मुदं मए सउन्दलं समस्सासअन्तीए महेन्द्रजणणीए सुहादो—जरणभावोस्सुआ देवा एव्व तह अणुचिट्ठिरसन्ति जइ अदरेण धम्मपदिणि भट्टा अहिणन्दिस्सदि सि । ता ए जुत्तं एदं कालं पटिपालिदुं । जाव इमिणा वुत्तनेण पिअसहिं समस्सासेमि । (हा धिक् । हा धिक् । सति तल्लु दीदि व्यवधानदोषेणोऽन्यकारदोषमनुमरति । अहमिदानीमेव निर्वृतं परीमि । अथवा धृतं मया शकुन्तलासमात्तरासधन्दा महेन्द्रजनन्या मुजात्— यथमागोसुअ देवा एव तथानुष्ठासन्ति यथाऽचिरेण धर्मपत्नी मर्ताऽमिनग्दिष्यतीति । तस्म युक्तं कालं प्रतिपालयितुम् । दायदनेन वृत्तान्तेन प्रियसती समात्तासवामि ।) [इत्युद्भ्रान्तकेन निष्पान्ता ।]

[नेपथ्ये]

अन्वचन्हृषणम् । (अन्नहृषणम् ।)

राजा—[प्रत्यागतः कर्ण दत्ता] अये माघव्यस्तेपार्तस्वरः । कः कोऽत्र भोः ।

[प्रविश्य]

प्रतीहारी—[सर्वभ्रमम्] परिताअदु देवो संसअग्दं वअस्सम् । (परित्रायता देवः संशय-गतं वयस्वम् ।)

इसी सोचमें वे मेरे हाथसे तर्पण किए हुए जलके कुछ भागसे वो अपने आँसू घोते होंगे और जो बच जाता होगा धस उतना ही पी पाते होंगे । ॥२५॥

[ऐसा कहकर मूर्छित हो जाते हैं ।]

चतुरीश—[धरराहटके साथ-देकर] धीरज धरिए महाराज ! धीरज धरिए ।

सानुमती—हाय हाय ! जैसे दीपकके रहते हुए भी धीपमें भोट पड़ जानेसे अँधेरा हो जाता है वैसे ही इस राजाको भी मोह हो गया है । मैं इसकी चिन्ता थभी मिटा देती पर अदिविने शकुन्तलाको समझाते हुए कहा था कि यहाँमें भाग पानेके लिये उत्सुक देवता लोग ही तुम्हारा और दुष्प्रान्तका मिलन करावेंगे । तो अब देर नहीं करने चाहिए । चलो शकुन्तलाको ये सब बातें सुना आऊँ तो उसे धीरज हो जाय ।

[सटकेसे ऊपर उड़ जाती है ।]

[नेपथ्यमें]

अरे मार डाला माझणको, मार डाला ।

राजा—[सर्वग होकर फाट व्यापक] अरे ! यह तो माघव्यका सा रोना सुनाई पड़ रहा है । अरे ! कोहूँ है ?

प्रतीहारी—[प्रवेग करके धरराहटके स्वरमें] महाराज ! आपके मिय बड़े संकटमें पड़ गए हैं । यचाइए बलकर उन्हीं ।

राजा—केनात्तगन्धो माणवकः ।

प्रतीहारी—अदिष्टरूपेण येन वि सत्तेण अदिष्टमिच्च मेहृत्पडिच्छन्दस्स पासादस्स अग्ग-भूमिं आरोचिदो । (अदृष्टरूपेण केनापि सावेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्याग्रभूमिमारोपितः ।)

राजा—[उवाच] मा तावत् ! ममापि सत्त्वरिभिमूयन्ते गृहाः ।

अथवा—

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्जातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।

प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ॥ २६ ॥

[नेपथ्ये]

भो वत्रस्स अविहा अविहा । (भो वयस्य अविहा अविहा ।)

राजा—[गतिभेदेन परिक्रामन्] सग्गे न भेतत्थं न भेतव्यम् ।

[पुनस्तदेव पठित्वा] कहं रा भाइस्सं । एत्तं मं को वि पण्णदसिरोहरं इवसुं विअ तिण्णभंगं करेदि । (कथं न भेष्यामि । एष मा कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिच्छुमिव त्रिमङ्ग करोति)

राजा—[उदृष्टिक्षेपम्] धनुस्तावत् ।

[प्रविश्य शाङ्गहस्ता]

यवनी—भट्टा एदं इत्यावावसहिदं सरासणं । (भर्ताः एतदस्तावाप सहितं शरासनम् ।)

[राजा सधरं धनुरादत्ते ।]

राजा—माघज्यको किसने सता रक्खा है ?

प्रतीहारी—किसी भूत-प्रेतने उन्हें पकड़कर मेघ-प्रतिच्छन्द-भवनके मुँडरे पर ले जाकर टाँग दिया है ।

राजा—[उठकर] यह कैसे हो सकता है ? क्या मेरे घरमें भी भूत-प्रेत उड़ा जमाने लगे हैं ? पर यह हो भी सकता है—क्योंकि जब मनुष्य यही जानता कि वह स्वयं भूलसे नित्य कितने पाप कर बैठता है तो यह कैसे पता चल सकता है कि प्रजामें कौन किस समय क्या कर रहा है ॥२६॥

[नेपथ्यमे]

दुहाई है मित्र, दुहाई !

राजा—[वेगते धूमता हुआ] डरो मत मित्र, डरो मत ।

[नेपथ्यमें]

हाय, हाय ! डरूँ क्यों नहीं ! यहाँ कोई मेरे गलेको ईखके समान मरोड़कर तीन टुकड़े किए डाल रहा है ।

राजा—[चारों ओर देखता हुआ] धरे, धनुष तो लाओ ।

[हाथमें धनुष लिए हुए प्रवेश करके]

यवनी—महाराज ! यह लीजिए धनुष और हथरखा ।

[राजा धनुष-बाण लेते हैं ।]

[नेत्रिये]

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।

आर्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा दुष्यन्तस्तत्र शरणां भवत्विदानीम् ॥ २७ ॥

राजा—[सरोपम्] कथं मामेवोदिशति । तिष्ठ कुणपाशन । त्वमिदानीं न भविष्यसि ।

[शार्दूलमारोप्य] चेतवति । सोपानमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो । (इत इतो देव. ।)

[सर्वे स्रवरमुपसर्पन्ति ।]

राजा—[समन्तादिलोक्य] शून्यं सखिवद्म् ।

[नेत्रिये]

अविहा अविहा । अहं अत्त भवन्तं पेक्खामि । तुमं मं ए पेक्खसि । विडालगगद्दीदो मूसस्यो विअ गिरासो म्हि जीविदे संयुत्तो । (अविहा अविहा । अरमज्जपवन्तं परयामि । त्वं मा न परयसि । निडालगगद्दीतो मूपक इव निरासोऽस्मि जीविते सइत्तः ।)

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्जित । मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति । एष तमिषुं संदधे ।

यो हनिष्यति बर्धं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम् ।

हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा यर्जयत्यपः ॥ २८ ॥

[इत्यस्त्रं संघत्ते]

[नेत्रिये]

देरे कंठके गरम रुधिरका प्यासा में तेरा उसी प्रकार बध करता हूँ जैसे तड़पते हुए पशुको सिंह मार डालता है । अब आर्यों न पीड़ितों के रक्षक धनुषधारी दुष्यन्त तुम्हें बचाने ॥२७॥

राजा—क्या तू तुम्हें भी धुनोंवी दे रहा है ? तो ठहर सड़ा मांस खानेवाले पिशाच ! मैं अभी तुम्हें मारे डालता हूँ । [धनुष चढ़ाकर] चेतवती ! चल तो आगे आग सीढ़ी पर ।

प्रतीहारी—इधरसे आइए देव, इधर से ।

[सवका वेगते प्रस्थान]

राजा—[चारों ओर देखकर] यहाँ तो यहाँ कोई भी नहीं दिखलाई दे रहा है ।

[नेत्रिये]

हाय ! हाय ! मैं आपको देख रहा हूँ, पर आप मुझे नहीं देख रहे हैं । मैं तो बिल्लीके पैजामें पड़े हुए चूहेके समान अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठा हूँ ।

राजा—अच्छा रे छल-विद्याके घमंडी ! अब मेरा पाण ही तुम्हें देर लेगा । देर ! मैं यह पाण चढ़ाता हूँ और जैसे हंस, पनियल दूधमें से दूध-दूध पी जाता है और पानी-पानी छोड़ देता है वैसे ही यह भी तुम्हें मारे खानेवालेको मार डालेगा और इस बचाए जानेवाले प्राणरक्षको बचा लेगा ॥२८॥

[पाण चढ़ाता है]

राजा—केनात्तगन्धो माणवकः ।

प्रतीहारी—अदिद्वरूचेण फेण वि सत्तेण अदिक्कमिअ मेहप्पडिच्छन्दस्स पारादस्स अग्ग-
भूमिं आरोचिदो । (अद्वरूचेण केनापि सावेनातिक्कम्प मेघप्रतिच्छन्दस्याग्गभूमिमारोपितः ।)

राजा—[उत्थाय] मा तावत् । ममापि सत्त्थैरभिभूयन्ते गृहाः ।

अथवा—

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्जातुं प्रमादस्त्वसितं न शक्यम् ।

प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ॥ २६ ॥

[नेपथ्ये]

भो वशस्स अविहा अविहा । (भो वयस्य अविहा अविहा ।)

राजा—[गतिभेदेन परिक्रामन्] सत्ते न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

[पुनस्तदेव पठित्वा] कहं ए भाइस्सं । एस मं को वि पच्चवणदत्तिरोहरं ह्वसुं विअ
तिण्णभेगं करोदि । (कथं न मेणामि । एष मा कोऽपि प्रत्यघ्नतश्चिरोधरमिच्छुमिव त्रिगर्भं
करोति)

राजा—[सद्यश्चक्षेपम्] धनुस्तावत् ।

[प्रविश्य शाङ्गहस्ता]

यवनी—महा एदं हत्थावावसहिदं सरासखं । (भवं एतदस्तावाप सहितं शरासनम् ।)

[राजा सगरं धनुरादत्ते ।]

राजा—माधव्यको किसने सता रक्खा है ?

प्रतीहारी—किसी भूत-प्रेतने उन्हें पकड़कर मेघ-प्रतिच्छन्द-भवनके छुँडरे पर ले जाकर
टोंग दिया है ।

राजा—[उठकर] यह कैसे हो सकता है ? क्या मेरे घरमें भी भूत-प्रेत झट्टा जमाने
लगे हैं ? पर यह हो भी सकता है—क्योंकि जब मनुष्य यही जानता कि वह स्वयं भूलसे
नित्य किसने पाप कर बैठता है तो यह कैसे पता चल सकता है कि प्रजामें कौन किस समय
क्या कर रहा है ॥२६॥

[नेपथ्ये]

दुहाई है मित्र, दुहाई !

राजा—[वेगसे घूमता हुआ] डरो मत मित्र, डरो मत ।

[नेपथ्यमें]

हाय, हाय ! डरूँ क्यों नहीं ! यहाँ कोई मेरे गलेको ईश्वके समान मरोड़कर तीन टुकड़े
किए डाल रहा है ।

राजा—[चारों ओर देखता हुआ] धरे, धनुष तो लाओ ।

[हाथमें धनुष लिए हुए प्रवेश करके]

यवनी—महाराज ! यह लीजिए धनुष और हथरखा !

[राजा धनुष-बाण लेते हैं ।]

[नेत्रले]

एष त्वाममिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम् ।

आर्तानां भयमपनेतुमात्तघन्ना दुप्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥ २७ ॥

राजा—[सरोवर] कथं मामेयोरिशति । तिष्ठ कुणवाशन । त्वमिदानीं न भविष्यसि ।

[शार्ङ्गमारोप्य] वैत्रवति । सोपानमार्गमादेशाय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो । (इत इतो देव. ।)

[सर्वे सत्वरमुपलपन्ति ।]

राजा—[समन्तादिलोक्य] शून्यं खल्विदम् ।

[नेत्रध्ये]

अविहा अविहा । अहं अत्त भयन्तं पेक्षामि । तुमं मं ख पेक्षसि । विहालगहीदो मूसञ्चो विअ गिरासो ग्धि जीविदे संयुत्तो । (अविहा अविहा । अहमत्रमन्तं पश्यामि । त्वं मा न पश्यसि । विहालगहीतो मूषक इत्य निराशोऽस्मि जीविते उवृत्तः ।)

राजा—भोस्तिरकरिणीगर्भित । मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति । एष तमिषुं संदधे ।

यो हनिष्यति वर्ध्मं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम् ।

इंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥ २८ ॥

[इत्यस्त्रं संयत्ते]

[नेत्र्यमे]

तेरे कंठके गरम रुधिरका प्यासा में तेरा उसी प्रकार धध करवा हूँ जैसे तड़पते हुए पशुको सिंह मार डालता है । अब आँवें न पीड़ितों के रक्त धनुषधारी दुप्यन्त तुमके घबाने ॥२७॥

राजा—क्या तू तुमके भी चुनीतो दे रहा है ? तो ठहर सड़ा माँस खानेवाले पिशाच ! मैं अभी तुमके मारे डालता हूँ । [धनुष चढ़ाकर] वैत्रवती ! चळ तो आगे आग सौदी पर । प्रतीहारी—इधरसे आइए देव, इधर से ।

[सबका घेगते प्रधान]

राजा—[चारों ओर देखकर] यहाँ तो कहीं कोई भी नहीं दिखाई दे रहा है ।

[नेत्र्यमे]

हाय ! हाय ! मैं आपको देख रहा हूँ, पर आप तुमके नहीं देख रहे हैं । मैं तो विलीके पैजामें पड़े हुए चूहेके समान अपने प्राणोंके हाथ धो बैठा हूँ ।

राजा—अच्छा रे छल-विद्याके घमंडी ! अब मेरा बाण ही तुमके देर लेगा । देर ! मैं यह बाण चढ़ाता हूँ और जैसे हँस, पनियल दूधमें से दूध-दूध पी जाता है और पानी-पानी छोड़ देता है वैसे ही यह भी तुम मारे जानेवालेको मार डालेगा और इस घबाए जानेवाले प्राणोंको बचा लेगा ॥२८॥

[बाण चढ़ाता है]

[ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलिः ।]

मातलिः—

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम् ।

प्रसादसौम्यानि सतां सुहृजने पतन्ति चक्षुषि न दारुणाः शराः ॥ २६ ॥

राजा—[सबभ्रममखमुपवहन्] अचे मातलिः । स्वागतं महेन्द्रसारथे ।

[प्रविश्य]

विदूषकः—अहं जेष इद्विपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि ।
(अहं येनेविपसुमार मारितः सोऽनेन स्वागतेनाभिनन्दते ।)

मातलिः—[सस्मितम्] आयुष्मन् श्रूयतां यदर्थमस्मि हरिणा भवत्सकाशं प्रोपतां ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

मातलिः—अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः ।

राजा—अस्ति । श्रुतपूर्वं मया नारदात् ।

मातलिः—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजग्यस्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।

उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ॥ ३० ॥

स भवानात्तरात्रं एव इदानां तमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम् ।

[विदूषकको छोड़कर मातलिका प्रवेश]

मातलि—इन्द्रने राक्षसोंके मारनेका काम आपको ही सौंपा है । अब आप उन्हें राज-
सौंपर चलकर अपने बाण चलाइए क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रोंपर बाण नहीं बरसाते,
अपनी कृपा बरसाते हैं ॥२९॥

राजा—[बाण उतारता हुआ] कौन ? मातलि ? आओ, स्वागत है इन्द्रके सारथी !

विदूषक—[प्रवेश करके] अरे ! जो मुझे बलिपशुके समान मारे डाल रहा था उसका
यहाँ स्वागत किया जा रहा है ।

मातलि—[मुश्कुराकर] आयुष्मन् ! इन्द्रने मुझे जिस कामसे आपके पास भेजा है वह
पहले सुन लीजिए ।

राजा—हाँ कहिए, मैं सुन रहा हूँ ।

मातलि—कालनेमिके वंशवाले दानवोंका एक ऐसा दल बन गया है जो हरएक नहीं
हार रहा है ।

राजा—हाँ, नारद मुनिने सुझसे बहुत दिन हुए बताया था ।

मातलि—आपके मित्र इन्द्र उन्हें जीत नहीं पा रहे हैं । अब यही समझा गया है कि
आप ही उन्हें रणक्षेत्रमें पछाड़ सकते हैं, क्योंकि रातके जिस अँधेरेको सूर्य नहीं दूर कर
सकता है, उसे चन्द्रमा ही हरता है ॥ ३० ॥ अब आप यह धनुष-बाण लिए-दिए इसी
इन्द्रके रथ पर चढ़कर विजयके लिये चल दीजिए ।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया भवत समावतया । अथ माधव्य प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम् ।

मातलि—तदपि कथ्यते । किञ्चिन्नमित्तादपि मन मतापादायुष्मान्मया चिकल्वो दृष्टः । पश्चात्कोपयितुमायुष्मन्त तथा कृतवानस्मि । कुत ।

ज्वलति चलितेन्वनोऽग्निर्निप्रकृतः पन्नमः फणां कुरुते ।

प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जनः ॥ ३१ ॥

राजा—[जनान्तिरम्] वयस्य अनतिरमणीया दिवस्त्वेराज्ञा । तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्बचनादमात्य पिशुन ब्रूहि—

त्वन्मतिः केनला तानत्परिपालयतु प्रजाः ।

अभिज्यमिदमन्पस्मिन्कर्मणिन्वापृतं धनुः ॥ ३२ ॥

इति

विदूषकः—ज भव आणवेदि । (यद्भवानाशापयति ।) [इति निष्पान्तः ।]

मातलि—आयुष्मान् रथमारीइतु ।

[राजा रथाविरोधं नाटयति ।]

[इति निष्पान्तः रथे ।]

॥ इति पद्योऽङ्कः ॥

राजा—भगवान् इन्द्रने यह सम्मान देकर मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया है । पर यह तो बताइए कि आपने माधव्यके साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया था ।

मातलि—यह भी बताता हूँ । मैंने आर्य देखा कि आपका मन न जाने क्यों बड़ा दुखी हो रहा है । इसलिये आपका क्रोध जगानेके लिये मैंने यही ठीक समझा । क्योंकि आग तभी जगती है जब ईंधनको हिला डुला दिया जाय, और सोंप भी अपना फल उठाकर तभी फुफकारता है जब उसे कोई छेड़ दे । इसी प्रकार मनुष्यको भी जबतक कोई उसकाकर भड़का न दे तबतक वह अपना तेज नहीं दिखाता पाता ॥ ३१ ॥

राजा—[विदूषके] वयस्य ! इन्द्र भगवान्को आज्ञा टाडी तो जा नहीं सकती । इसलिये आमात्य पिशुनको यह सब समाचार सुना देना और मेरी ओरसे उनसे यह कह देना कि—जबतक मेरा धनुष छपर दूसरे काममें फँसा हुआ है तबतक अपनी बुद्धिसे ही प्रजाका पालन कर । ३२ ।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा । [जाता है ।]

मातलि—चल आयुष्मान् रथपर चढ़ जायँ ।

[राजा रथपर चढ़नेका नाट्य करते हैं ।]

[रथमा प्रस्थान]

॥ छटा अक समाप्त ॥

सप्तमोऽङ्कः

[ततः प्रविशत्याकाशयानेन रथाधिरुडो राजा मातलिश्च ।]

राजा—मातले । अनुष्ठितनिदेशोऽपि मयवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये ।

मातलिः—[उरिमवत्] आयुष्मान् । उभयमप्यपरितोषं समर्थये ।

प्रथमोपकृतं मरुत्वतः प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान् ।

गणयत्यवदानविरिमितो भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ॥ १ ॥

राजा—मातले मा मैवम् । स यत्तु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः । मन दिदिवीकसां समक्षमर्थासनोपवेशितस्य—

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्गीक्ष्य कृतस्मितेन ।

आमृष्टवदोहरिचन्दनाङ्गा मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥ २ ॥

मातलिः—किमिव नामायुष्मानगरेश्वरान्नाहति । परम्—

सप्तम अङ्क

[आकाशमें रथपर चढ़े हुए राजा दुःष्यन्त और मातलि दिखाई देते हैं ।]

राजा—मातलि ! यद्यपि मैंने भगवान् इन्द्रकी आज्ञाका पालन मात्र किया था, पर ज़सी धूम-धामसे उन्होंने मेरा स्वागत-सत्कार किया उसके तो मेरी सेवा कुछ भी नहीं थी ।

मातलि—[मुस्कराकर] आयुष्मान् ! मैं तो समझता हूँ कि आप दोनोंका ही मन एक दूसरेका आदर करके भरा नहीं । राजन् ! इन्द्रका इतना बड़ा काम करके भी आप जो अपनी सेवाको कुछ सक्रम रहे हैं, उसका कारण यही है कि आप भगवान् इन्द्रको धड़प्पन देना चाहते हैं । और वे भी आपकी बीरतासे इतने अचरजमें भर गए हैं कि आपका इतना सम्मान करके भी वे समझ रहे हैं कि आपका ठीक-ठीक आदर हो नहीं पाया ॥ १ ॥

राजा—नहीं मातलि ! यह बात नहीं है ! वहीं से चलते समय मेरा जो सत्कार हुआ है उवने सम्मानको तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता । उन्होंने देवताओंके सामने ही मुझे अपने आपे सिंहासनपर विठा लिया और अपनी छातीपर शोभा देती हुई हरिचन्दन लगी हुई बह मन्दारकी माला अपने गलेसे उतारकर मुस्कराते हुए मेरे गलेमें डाल दी जिसे पानेके लिये जयन्त ललचाई आँखोंसे देख रहा था ॥२॥

मातलि—मुझे बताइए ऐसा कौनसा सम्मान है जो देवराज इन्द्रके हाथ आप नहीं पा

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धतदानवकरणकम् ।

तव शरैरघुना नतपर्याभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥ ३ ॥

राजा—अत्र रत्न शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्यः ।

सिध्यन्ति कर्मसु महत्त्वपि यन्निजोऽपिः

संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।

किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता

तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥ ४ ॥

मातलिः—सहस्रमेवैतत् । [श्लोकमन्तरमर्तात्] इतः पश्य नाकशुभप्रतिष्ठितस्य सौभाग्य-
मात्मयशसः ।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णरमी कल्पलतांऽशुकेषु ।

विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिव्यैकसस्त्वचरितं लिखन्ति ॥ ५ ॥

राजा—मातले असुरसंप्रहारोत्सुकेन पूर्वेषु दिव्यमधिरोहता गया न लक्षितः स्वर्गमार्गः ।
कृतमस्मिन्मरुतां पथि वर्तामहे ।

मातलिः—

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तस्मिः ।

सकृते । देविए—सदा सुखका जीवन बितानेवाले इन्द्रके लिये दो ही तो ऐसे हुए हैं जिन्होंने
राक्षस-रूपी फोंटे स्वर्गसे उखाड़ फेंके हैं—एक तो नृसिंह भगवान् ये जिन्होंने अपने नरोंसे
देवताओंके शत्रुका पेट फाड़ डाला था और दूसरे आप हैं जिन्होंने इस बार अपने पिक्ने-
चिकने जोड़वाले दारुणसे शत्रुओंको मार भगाया है । ३ ॥

राजा—यह सय तो भगवान् इन्द्रकी ही महिमाका फल है । यदि कोई सेवक
बहुत बड़ा काम करके आवे तो यही समझना चाहिए कि स्वामीने वह काम सौंपकर उसे
जो बड़ा भाग सम्मान दे दिया था उसीसा यह फल है । यदि सूर्य, आगे-आगे अरुणको
न ले चले तो भला अरुणमें इतनी शक्ति कहाँ कि वह अँधेरेको दूर भगा सके ॥४॥

मातलिः—देवी घाते रहना आपका बड़प्पन है । [पाड़ो दूर चलकर] आयुष्मन् ! इधर
स्वर्गमें फैली हुई अपनी कीर्त्तनी धारु तो देविए ।—देवता लोग आपके पराक्रमके गोत
यना-यनाकर कल्पवृक्षके कपड़ोंपर उन रँगोंसे लिख रहे हैं जो अप्सराओंके सिंगारसे बचे
रह गए हैं ॥५॥

राजा—मातलि ! मैं जय आया था तब राक्षसोंसे युद्ध करनेके ध्यानमें इतना मग्न था
कि उस बार स्वर्गका मार्ग भली भाँति देख ही नहीं पाया था । ऊन्हा यह वो यवाओ कि
हम लोग इस समय पवनके निम तलमें चल रहे हैं ?

मातलिः—यह यही तल है जिसे लोग कहते हैं कि वामन् भगवानने अपने दूसरे पगसे,
मापकर पवित्र कर दिया है । यहाँ परिवह नामका यह पवन चलता है जिसमें आकाश-

तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं वायोरिमं परिवहस्य घटन्ति मार्गम् ॥ ६ ॥

राजा—मातले अतः खलु सबाहान्त-करणो ममान्तरात्मा प्रसीदति । [रपाङ्गमवलोक्य]
भेषपदवीमवतीर्णो स्वः ।

मातलिः—कथमवगन्वते ।

राजा—

अयमरविबरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिर्हरिभिरचिरमासां तेजसा चानुलितैः ।

गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां पिशुनयति स्थस्ते शीकरविलन्ननेमिः ॥ ७ ॥

मातलिः—क्षणाद्युष्मान्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते ।

राजा—[अधोऽवलोक्य] मातले वेगावतरणादाश्चर्वदर्शनः संलूङ्गयते मनुष्यलोकः ।
तथा हि—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी

पर्यस्वान्तरलीनतां विजहतिस्कन्धोदयात्पादपाः ।

संतानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः

केनाप्सुत्विपतेव पर्य भुवनं मत्पार्वमानीयते ॥ ८ ॥

मातलिः—साधु दृष्टम् । [सवहुमानमवलोक्य] अहो उदाररमणीया पृथिवी ।

गंगा बहा करतो हूँ और जो अपनी वायु-धाराओंसे नक्षत्रोंको ठीक-ठीक चलाया करता है ॥६॥

राजा—मातलि ! यही कारण है कि मेरी भीतरी और बाहरी सब इन्द्रियोंके साथ-साथ मेरा अन्तरात्मा भी प्रसन्न हो उठा है । [रथके पहियोंको देखते हुए] अब हम आकाशके उस भागपर उतर आए हैं जिसमें बादल चला करते हैं ।

मातलि—यह आपने कैसे जाना ?

राजा—यह तो जल-कणोंसे भौंगा हुआ आपके रथका घुरा ही बतला रहा है कि हम जल-भरे मेघोंके ऊपरसे चले जा रहे हैं । मिजलोंकी चमकसे घोड़े भी चमक उठते हैं और रथके पहियोंके अंरोंके बीचसे निकल-निकलकर पातक इधर-उधर उड़ते फिर रहे हैं ॥७॥

मातलि—आयुष्मान् क्षण भरमें ही अपने राज्यकी भूमिपर उतर जायेंगे ।

राजा—[नीचे देखकर] मातलि ! वेगसे उतरनेके कारण नीचेका मनुष्यलोक कितना विचित्र दिखाई पड़ रहा है । क्योंकि—देखो ! जान पड़ता है मानो धरती पहाड़ोंकी ऊंची चोटियोंसे नीचे उतर रही हो, पत्तोंमें छिपी हुई घूँटोंकी शाखाएँ अब दिखाई पड़ती जा रही हैं, दूरसे पतली दिखाई देने वाली नदियाँ चौड़ी होती जा रही हैं और यह पृथ्वी इस प्रकार हमारी और बठी चली आ रही है मानो कोई इसे ऊपरको उचाल रहा हो ॥८॥

मातलि—ठीक देखा आपने । [आदरसे देखकर] वाह ! धरती कैसी सुहावनी दिखाई पड़ रही है !

राजा—मातले कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरसनिप्यन्दी सांध्य इव मेघपरिपः
सानुमानालोक्यते ।

मातलि—आयुष्मन् एष सलु हेमकूटो नाम किपुरुपपर्वतस्तपः संसिद्धितेत्रम् । परय—
स्वायंभुवान्मरीचैर्यः प्रवभूव प्रजापतिः ।

सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ॥ ६ ॥

राजा—तेत हानतिक्रमणीयानि श्रेयांसि । प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि ।

मातलि—प्रथमः कल्पः ।

[नाट्येनावतीर्णो]

राजा—[खण्डिगमम्]—

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः ।

अभूत्तलस्पर्शतयानिरुन्धतस्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥ १० ॥

मातलि—एतावानेव शतक्रतोरायुष्मत्तत्र विशेषः ।

राजा—मातले कतस्मिन्प्रदेशे मारोचाश्रमः ।

मातलि—[हस्तेन दर्शयन्]—

घन्मीकार्घनिमग्नमूर्तिरस्ता संदष्टसर्पत्वचा

कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः ।

राजा—मातलि ! वताओ तो, यह पूर्व और पश्चिमके समुद्रोंतक फैला हुआ, सुनहरी
धारा बहनेवाला और सन्ध्याके मेघोंकी भीतके समान लम्बा-चौड़ा कौन सा पहाड़ दिखाई
दे रहा है ?

मातलि—आयुष्मन् ! यह तो हेमकूट नामक पहाड़ है जिसमें किन्नर खोग रहते हैं और
जहाँ तपस्या करनेवालोंकी शीघ्र ही सिद्धि मिल जाया करती है । देखिए, यहाँ देवताओं
और दानवोंके पिता स्वयम्भू मरीचिके पुत्र प्रजापति करयप अपनी पत्नीके साथ यठे तपस्या
कर रहे हैं ॥१॥

राजा—तब तो हाथमें आया हुआ ऐसा सौभाग्य छोड़ना नहीं चाहिए । मैं चाहता हूँ
कि भगवान् करयपकी प्रदक्षिणा कर लूँ तब जाऊँ ।

मातलि—यह तो आपने ठीक सोचा है ।

[दोनों उतरनेका नाट्य करते हैं ।]

राजा—[आश्चर्यसे] अरे ! तुम्हारा रथ कब नीचे उतर आया यह तो पता ही नहीं
चला क्योंकि पृथ्वीसे न छूनेके कारण न तो इसके पहियोंकी परंपराहट ही सुनाई दी, न
धूल ही उड़ी और न तुमने रास ही रींची ॥१०॥

मातलि—आयुष्मान्के और इन्द्रके रथमें घस यही तो अन्तर है ।

राजा—मातलि ! मरीचिके पुत्र करयपका आश्रम कियर है ?

मातलि—[हाथसे दित्ताते हुए] यह रहा करयप अर्पित आश्रम, जहाँ वे ऐसी तपस्या

अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं विभ्रज्जटामण्डलं

यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कविम्बं स्थितः ॥ ११ ॥

राजा—नमोऽस्मै कष्टतपसे ।

मातलिः—[तपप्रवृत्त रथं कृत्वा] महाराज एतावदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्षं प्रजाप-
तेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः ।

राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम् । अमृतहृदमिवावराटोऽस्मि ।

मातलिः—[रथ स्थापयित्वा] अवतरत्थायुष्मान् ।

राजा—[अवतीर्य] मातले । भवान्कथमिदानोम् ।

मातलिः—संयन्त्रितो मया रथः वचमप्यवतरामः । [तथा कृत्वा] इत् आयुष्मान्
[परिक्रम्य] दृश्यन्तामत्रभवताभृषीणां तपोवनभूमयः ।

राजा— ननु विस्मयादवलोकयामि ।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने

तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशो धर्माभिपेकक्रिया ।

कर रहे हैं कि उनके आगे शरीर पर तो हीमकौने धोबी चठा ली है, छातीपर साँपकी केचुलियाँ छुटी पड़ी हैं, गलेमें सूखी हुई बेलें उलझी हुई हैं, बन्धोतिक लटककी हुई जटाओंमें थिड़ियोंने घोंसले बना लिए हैं और सूखे पेड़के टूँठके समान अचल होकर वे सूर्यपर आँखें जमाए बैठे हैं ॥११॥

राजा—ऐसी कठोर तपस्या करनेवाले महात्माको मैं प्रणाम करता हूँ ।

मातलि—[राठ खँचकर और रथ रोककर] महाराज ! हम लोग प्रजापति कश्यपके आश्रममें पहुँच गए हैं । यह देरिए, यह सुन्दर मन्दारके वृक्षाँकी पाँत अदितिने अपने हाथसे लगाई है ।

राजा—यहाँ तो स्वर्गसे भी धड़कर शान्ति फैली हुई । ऐसा जान पड़ता है मानो मैं अमृत-कुरडमें कूद पड़ा होऊँ ।

मातलि—[रथ रोककर] इतरें आयुष्मान् !

राजा—[उतरकर] मातलि ! अब आप क्या करेंगे ?

मातलि—मैंने भली भँति रथ रोक लिया है । मैं भी आपके साथ ही उतर रहा हूँ ।
[उतरकर] इधरसे आइए आयुष्मान् ! [घूमते हुए] आइए, यहाँ ऋषियोंकी वपोभूमि देरिए ।

राजा—सचमुच मुझे तो यह देखकर बड़ा अचरज हो रहा है कि यहाँ ये तपस्वी लोग उन वस्तुओंके धीचमें बैठकर तपस्या कर रहे हैं जिन्हें पानेके लिये दूसरे ऋषि लोग तपस्या किया करते हैं । यहाँ पर ये लोग कल्पवृक्षाँके बनका वायु पी-पीकर जीते हैं, सुनहरे कमलके

ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो

यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥ १२ ॥

मातलिः—इत्सर्पिणी रज्जु महतां प्रार्थना [परिक्रम्य आकारो] अये वृद्धशाकल्य ! किमनुतिष्ठति भगवान्मारीचः । किं ब्रवीषि । दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्ठतस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति ।

राजा—[कर्ण दत्त्वा] अये प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः ।

मातलिः—[राजानमवलोक्य] अस्मिन्शोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् यावत्त्वामिन्द्र-गुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि ।

राजा—यथा भवान्मान्यते । [इति रिपतः ।]

मातलिः—आयुष्मन् साधयाम्यहम् । [इति विष्कम्भः ।]

राजा—[निमित्तं वृत्तित्वा]—

मनोरथाय नार्शसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा ।

पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्धते ॥ १३ ॥

[नेपथ्ये]

परागसे सुवासित जलमें स्नान करके पूजा-पाठ करते हैं, रत्न शिलाओं पर बैठकर समाधि लगाते हैं और अप्सराओंके बीचमें बैठकर तपस्या साधते हैं ॥१२॥

मातलि—ऐसे महापुरुषोंकी इच्छाएँ भी तो वैसी ही बढ़ी होती हैं । [धूम्रर आकारमें] कहिए वृद्ध शाकल्यजी ! इस समय महात्मा कश्यप क्या कर रहे हैं ? क्या कहा कि दाक्षायणीने पतिव्रत धर्मके सम्बन्धमें जो प्रश्न किया था उसका उत्तर ये उन्हें और श्रुति-पत्नियोंको बैठे सुना रहे हैं ?

राजा—[कान छगाकर] अरे, यह तो ऐसा क्या-प्रसंग छिड़ गया है कि अब इसके समाप्त होनेतक रुकना ही होगा ।

मातलि—[राजाको देखकर] जयतरु में इन्द्रके पिता महर्षि कश्यपको आपके ध्यानेकी सूचना देनेका कोई अवसर हूँ निकालूँ तबतक आप इस अशोकके वृक्षके नीचे ही पलकर बैठिए ।

राजा—जैसा आप ठीक समझें । [बैठता है ।]

मातलि—अच्छा तो मैं जा रहा हूँ आयुष्मन् ! [चला जाता है ।]

राजा—[अण्डा शत्रुन देलकर] अपने मनोरथ पूरे होनेकी तो मुझे कोई आशा ही नहीं है फिर तुम व्यर्थ ही क्यों फड़क रहो हो मेरी भुजा ! सच है, जो आर्य दुर्द सधयीको दुष्टता देता है उसे पाँचे ऐसे ही रोना छोड़ना पड़ता है ॥१३॥

[नेपथ्यमें]

मा क्खु चावलं करेहि । कहं गदो जेव अत्तणो पकिदिं । (मा क्खु चावलं कुह । कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम् ।)

राजा—[कर्ण दत्ता] अभूमिरियमचिन्तयस्य । को नु सख्येप निपिध्यते । [शब्दानुसारेण बालोस्य वयिस्मयम्] अये को नु सख्ययमनुपध्यमानस्तपस्विनीभ्यामवालसदशो बालः ।

अर्धपीतस्तनं मातरामर्दकिलाटकैसरम् ।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्पति ॥ १४ ॥

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्या सह बालः ।]

बालः—जिम्भ सिद्ध दन्ताहं दे गणइसं । (ब्रह्मतर सिंह दन्तास्ते गणपिथ्ये ।)

प्रथमा—अविलोद किं पो अपघणिव्विसेसाणि सत्ताणि विप्पअरेसि । हन्त चड्डइ दे संरम्भो । ठाणे क्खु इत्तिजणेण सव्वदमणो त्ति किदशामहेओ सि । (अचिनीत किं नोऽपल-निर्विशेषाणि मन्वानि विप्रकरोपि । हन्त । वर्धते तत्र-हरम्भः । स्थाने खलु श्रुपिचनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि ।)

राजा—किं न खलु बालोऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्तिष्ठति मे मनः । नूनमनपत्यता मां वत्सल-यति ।

द्वितीया—एसा क्खु केसरिणी सुमं लड्धेदि जइ से पुत्तधं ए गुब्बेसि । (एसा खलु केसरिणी वा लुपिष्यति यदि तस्याः पुत्रकं न मुञ्चयि ।)

बस नटखटपन न कर क्योँ ? तू फिर अपने स्वभाव पर उतर आया ?

राजा—[कान धगाकर] अरे, यहाँ तो नटखटपन होना ही नहीं चाहिए फिर यहाँ कौन किसे डौट रहा है ? [निपरसे बोली मुनाई देतो है उधर देलकर आश्चर्यसे] अरे, यह कौन पराक्रमी बालक है जिसके पोछे-पीछे दो तपस्विनियों बल्लो आ रहीं हैं और जो—अपने खेलनेके लिये सिंहनीके स्तनोंसे आधा दूध पिए हुए सिंहनीके उस बर्सेने खेलनेके लिये बलपूर्वक घसीटे लिए चला आ रहा है जिसके केसर इस रॉंचानानीमें छितरा गए हैं ॥ ४ ॥

[ऊपर कदो हुई दशामें तपस्विनियोंके साथ बालकका प्रवेश]

बालक—खोल ले (रे) छिप (सिंह) अपना मुँह । मैं वेडे (तेरे) दाँत गिऊँगा ।

पहली—अरे नटखट ! जिन पशुओंको हम लोगोंने अपनी सन्तानके समान पाल रक्खा है उन्हें तू क्योँ इतना सताया करता है ? क्या कहें, तेरा नटखटपन दिन-दिन बढ़ता ही जा रहा है । ऋषियोंने तेरा नाम ठीक ही सर्वदमन रख छोड़ा है ।

राजा—इस बालकपर मेरे मनमें वैसा ही प्रेम हो रहा है मानो यह मेरा अपना ही पुत्र हो पर जान पड़ता है कि पुत्र न होनेके कारण ही मेरे मनमें यह वास्तव्य प्रम उमड़ आया है ।

दूसरी—इसके बच्चेको तू नहीं छोड़ेगा तो यह सिंहनी तेरे ऊपर झपट पड़ेगी ।

बालः—[वरिमतम्] अम्हदे बलिअं क्खु भीदो म्हि । (बहो धनीयाः खलु भीतोऽस्मि ।)
[इत्यपर दर्शयति ।]

राजा—महत्तस्तेजसो धीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे ।

स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेषापेच इव स्थितः ॥१५॥

प्रथमा—वच्छ एदं बालमिन्द्रध्रं मुञ्च । अवरं दे कीलणध्रं दाइस्सं । (बल एतं बालम्-
नेन्द्रं मुञ्च । अवरं ते कीलनकं दास्यामि ।)

बालः—फहि देहि सं । (कुत्र । देखेत् ।) [इति इत्त प्रसारयति ।]

राजा—अयम् । चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते । तथा ह्यस्य—

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालप्रथिताङ्गुलिः करः ।

अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्वारागया नचोपसा भिन्नमिवैकपङ्कजम् ॥ १६ ॥

द्वितीया—सुव्वदे । ए सको एसो वाआमेत्तेण विरमयिट्ठुं । गच्छ तुमं । ममकेरए उट्टए
मक्खलेअरए इस्सिकुमारअरए वण्णचित्तिदो निचित्तिआमोरओ चिट्ठदि । तं से खवहर । (सुव्वदे
न शक्य एष वाचामात्रेण विरमयितुम् । गच्छ तम् । मदीये उट्टये मार्कण्डेयस्वार्थिकुमारस्य वर्णः
चित्रितो मृत्तिसमयूरस्त्रिधृतिः । तमस्योपहर ।)

प्रथमा—तह । (त य) [इति निष्पन्ता ।]

बालः—इमिया एव दाव फीलस्सं । (अनेनैव तावज्जीविष्यामि ।) [इति तापधी
विशेष्य इति ।]

बालः—[मुरुराते हुए] अले (अरे) में तो बला (बड़ा) दल (डर) गया हूँ । [ओठ
निकालकर मुँह बनाता है ।]

राजा—यह बालक तो मुझे बड़े सेजरवीरों का पुत्र जान पड़ता है और उस चिनगारोके
रूपमें रहने वाली अग्निके समान दिग्गई पड़ रहा है जो भड़क उठनेके लिये वस ईंधनकी
चाट देर रही हो ॥१५॥

पत्नी—वस्तु ! इस सिंहके बच्चेको छोड़ दे । में तुम्हें और तिलीना डार देवी हूँ ।

[हाथ फैलाता है]

बालः—यहाँ है ? लाओ दो ।

राजा—अरे, इसके हाथमें तो चक्रवर्तियोंके भी लक्षण दिग्गई दे रहे हैं । क्योंकि—
तिलीनके डोभसे फैलाया हुआ यह जालके समान मिला हुआ डँगलियाँ बाला इसका हाथ
उस अकेले कमलके जैसा दिग्गई देरहा है जो प्रातःकालकी लालीसे चमक रहा हो और
जिसरी पंखादियाँ अभी पूरी सुल भी न पाई हों ॥१६॥

दुखी—सुप्रता ! यह बातोंमें नहीं पुमलाया जा सकता । तू जा, मेरी कुटीमें जो अफि-
कुमार मार्कण्डेयका रोग हुआ मिट्टीका मो रक्ता है, उसे उठावा ला ।

पत्नी—अच्छा । [जाती है]

बालः—ओठ (और) सबतक में इलीधे (इमीसे) गेलता हूँ । [पर अदर
उपरिनीचे देखकर हँस देता है ।]

राजा—स्पृह्यामि खलु दुर्लक्षितायास्मै ।

आलंक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।

अङ्गाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभयन्ति ॥ १७॥

तापसी—होदु । ए मं अअं गयोदि । [पास्वमख्लोक्यति] को एत्य इसिकुमाराखं ।

[राजनमख्लोक्य] भद्रमुह । एहि दाथ । मोएहि इमिणा दुम्मोअइत्यग्गहेण डिम्मलीलाए दाहीअमाखं थालमिइन्द्रअं । (भवतु । न मामथं गणयति । सोऽर ऋषिकुमाराणाम् । भद्रमुत्त एहि तावत् । मोचयानेन दुमोअइस्तप्रहेण डिम्मलीलायां बाध्यमानं बालगुणेन्द्रम् ।)

राजा—[उपगम्य । सस्मितम्] अयि भो महर्षिपुत्र ।

एवमाश्रमचिरुद्रवृत्तिना संयमः किमिति जन्मतस्त्वया ।

सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः ॥ १८ ॥

तापसी—भद्रमुह ण कसु अअं इसिकुमारओ । (भद्रमुत्त न लस्सयमृषिकुमार ।)

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति । स्थानप्रत्ययास्तु वचमेवंतर्किणः । [यथाऽप्यर्थिनमनुविष्ठन्बालरसार्वाङ्गुपलम्ब्य, आत्मगतम्]

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम् ।

कां निर्धृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्यस्यायमद्वात्कृतिनः प्ररूढः ॥ १९ ॥

राजा—मुझे तो यह नटखट बालक न जाने क्यों बड़ा प्यारा लगता है । वह भाग्यवान् धन्य है जिसकी गोदमें बैठकर यह स्वाभावसे हँस मुख, कलकौ समान कुछ-कुछ मल्लकते हुए दातोंवाला और सुतला-सुतला कर बातें करनेवाला बालक अपने अंगकी धूल उसके श्रृंगमें लगाता होगा ॥१७॥

वपस्विनी—अरे ! यह ती मेरी बात सुनता ही नहीं । [हयर-उधर देखकर] अरे कोई ऋषिकुमार यहाँ है ? [राजाको देतकर] हे भद्र ! तनिक आप ही आकर इस बालकके हाथसे इस सिद्धके बच्चेको छुड़ा दीजिए । इसने इसे ऐसा कसकर पकड़ रक्खा है कि मेरे हाथसे तो छुड़ाए नहीं छूटता ।

राजा—[वात आकर मुस्कराइयके साथ] अरे, ए महर्षिकुमार ! तुम यहाँ आश्रमके नियमोंसे उल्टा काम क्यों कर रहे हो ? ये बेचारे जीव जो जन्मसे ही सीधे सादे रहकर सुखी जीवन बिता रहे हैं उन्हें तुम उस प्रकार क्यों सता रहे हो जैसे काले सर्पका बच्चा चन्दनके पेड़को सताता है ॥१८॥

तापसिनी—भद्र ! यह ऋषिकुमार नहीं है ।

राजा—इसके रूप और कामोंसे ही पता चल रहा है कि यह ऋषिकुमार नहीं है । पर यहाँ तपोवनमें देखकर मैंने इसे ऋषिकुमार ही समझ लिया था । [श्री भरकर बालकके शरीरपर हाथ फेरकर आप-ही-आप] पता नहीं यह बालक किस वंशका है । इसे एक बार ही छू लेनेसे जब मेरे शरीरको इतना सुख मिल रहा है तब उस भाग्यवानको कितना आनन्द मिलवा होगा जिसका यह सगा पुत्र है ॥१९॥

तापसी—[उभौ निर्यर्ष्ये] अच्छरिञ्चं । अच्छरिञ्चं ।
(आश्चर्यम् । आश्चर्यम् ।)

राजा—आर्ये किमिव ।

तापसी—इमस्स बालअस्स दे वि संवादिणी आदिदी ति विग्हादिदन्दि । अपरिद्ध स वि दे अप्पच्छिलोमो संवुत्तो ति । (अथ बालकस्य हेऽपि वनादिष्याकृतिरिति विस्मापिताऽस्मि । अश्रितितस्यापि हेऽपिलामः संवृत्त इति ।)

राजा—[बालकमुपलक्ष्यन्] न चेन्नुनिकुमारोऽयमथ कोऽस्य व्यपदेशः ।

तापसी—पुरुवंशो । (पुरुवंशः ।)

राजा—[आरपगतम्] कथमेकान्ययो मम । अतः खलु मदनुकारिणमेतमत्रभवती मन्यते । अस्त्येतद्वीरवाणामन्त्र्यं कुलप्रतम् ।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवास्तम् ।

नियतैरूपतिव्रतानि पश्चात्तस्मूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ॥ २० ॥

[प्रकाशम्] न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेव विषयः ।

तापसी—जह भद्रमुहो भगादि । अचउरासंवन्येण इमस्स जणणी एथ देवगुरुणो पसूदा । (यथा मद्रमुक्तो भणति । अप्परः संकथेनास्य जनश्चत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता ।)

राजा—[अपसार्य] हन्त द्वितीयमिदमाशाजननम् । [प्रकाशम्] अथ सा तत्रभवती किमारयस्य राजप. पत्नी ।

तपस्विनी—[दोनौ सो देवदर] आश्चर्यं हे, आश्चर्यं हे ।

राजा—आश्चर्यकी क्या बात है, आर्ये !

तपस्विनी—गुम्हारा और इस बालकका एक-दम मिलता-जुलता रूप देखकर मैं तो अचरजमें भर गई हूँ और फिर देखिए कि अनजान होते हुए भी इसने आपका पहना नहीं टाला ।

राजा—[बच्चेको दुपारते हुए तपस्विनीसे] अच्छा यह तो बताइए कि यह अपिकुमार कहाँ है तो फिर किस वंशका है ?

तपस्विनी—पुरुवंशका ।

राजा—[मन ही मन] अरे ! क्या यह मेरे ही वंशका है ? तभी ये तपस्विनीजी मुझे इससे मिलता-जुलता बता रही हैं ।

पर पुरुवंशियोंकी तो यह सैपी हुई रीति है कि वे—युवापत्न्यामें पृथ्वीकी रक्षाके लिये विशासकी सामर्थियोंसे भरे भवनोंमें रहना चाहते हैं और युद्धाभेमें अपनी पवित्रता स्त्रीको साथ लेकर पुरुषके नीचे कुदिया धनारर रहने लगते हैं ॥ २० ॥ [प्रकट] पर यहाँ अपनी राक्षसे तो बोई मनुष्य पहुँच नहीं पा सक्ता ।

तपस्विनी—आप ठीक कह रहे हैं । इमकी माँ अप्पराकी बन्धा है । इमोसिये उसने यहाँ मरीचिके आभ्रमें ही इमो जन्म दिया है ।

राजा—[भरते धार] अरे ! यह तो मेरी आराकी दूसरी सौदी मिल गई । [प्रकट]

तापसी—को वरस धम्मदारपरिचाशणो णाम संकीर्तिदुं चिन्तिस्सदि । (कस्तास्य धर्मदार-परिचाशिनो नाम संकीर्तयितुं चिन्तयिष्यति ।)

राजा—[स्वागतम्] इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति । यदि तावदस्य शिशोर्मातृवं नामतः पृच्छामि । अथवाऽनार्यैः परदारव्यवहारिः ।

[प्रविश्य मृगमयूरहस्ता]

तापसी—सव्वदमण सव्वन्दल्लाअण्णं पेक्ख । (सर्वदमन शकुन्तलाखण्यं प्रेक्षस्य ।)

वालः—[उदष्टिष्ठेपम्] कहिं वा मे अज्जू । (बुध वा मम माता ।)

उभे—णामसारिस्सेण वञ्छितो माउवच्छलो । (नाम सादस्येन वञ्चितो मातृवत्सलः ।)

द्वितीया—वच्छ इमस्स भित्तिआमोरअस्स रम्मत्तणं देक्खत्ति भणितो सि । (वत्त अत्थ मृत्तिकास्युरस्य रम्यत्व पश्येति भणितोऽपि ।)

राजा—[शात्मगतम्] किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या । सन्ति पुनर्तामघेयसादृश्यानि । अपि नाम मृगवृष्यिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विपादाय कल्पते ।

वालः—अज्जुए । रोअदि मे एसो भद्दमोरओ । (माता रोचते ग एष मद्भगवूरः ।)
[इति क्रोडनकमादत्ते ।]

प्रयत्ना—[विलोक्य शोभेगम्] अन्हदे रक्खाकरएल्लं से मणिवन्धे ण दीसदि । (भद्रो रक्षाकरवृद्धकमस्य मणिवन्धे न दृश्यते ।)

अच्छा यह तो बताइए कि वे देवो किन राजर्षिको पत्नी हैं ?

तपस्विनी—जितने अपनी धर्म-पत्नीको छोड़ दिया हो, भला ऐसे पापीका भी कोई अपने मुँहसे नाम निकालता है ।

राजा—[आप ही भार] यह कहा तो पूरी-पूरी सुझर ही लागू हो रही है ! अच्छा, माता-पिताका ही नाम पूछ देखें । किन्तु पराई स्त्रीके विषयमें कुछ पूछना भलमनसाहत नहीं है ।

[हाथमे मिट्टीका मोर लिए हुए तपस्विनी आती है ।]

तपस्विनी—सर्वदमन ! शकुन्तलावस्थ (इस पत्नीकी सुन्दरता) को देख !

वालक—[चारों ओर देखता हुआ ।] कहाँ है मेरी माँ ?

तपस्विनी—अपनी माँका इसे ऐसा मोह है कि उसके नामके अक्षर सुनने भरसे ही इसे धोखा हो गया ।

बूढ़ी—वरस ! मैं कह रही थी कि तुम इस मिट्टीके मोरकी सुन्दरता देखो !

राजा—[आप ही आप] धो क्या इसकी माँका नाम शकुन्तला है । पर संसारमें एक जैसे बहुतसे नाम होते हैं । वहाँ यह नाम भी मेरे दुःखको और बढ़ानेके लिये मृग-वृष्याके समान ही न आ गया हो ।

वालक—माँ ! यह मौल (मोर) तो बला (बड़ा) अच्छा है । [विलोना उठता है ।]

पहली—[देखकर पश्चादके वाग्य] अरे, इसके पहुँचनेपर वेंधी हुई रक्षाकी जड़ी नहीं दिखाई दे रही है ।

राजा—अलमलमावेगेन । नन्विदमस्य सिंहशायविमर्दात्परिभ्रष्टम् । [इत्यादीन्निन्दति ।]

उभे—मा कस्तु एदं श्रवतस्मिन्न । कर्हं गहीदं श्लेष । (मा रत्नियदमजलम् । कथम् पहीतमनेन ।) [इति विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमचले कृतः ।]

राजा—स्मिन्प्रतिपिद्धा स्मः ।

प्रथमा—सुणाद्दु महाराजो । एसा अथराजिदा एवम ओसही इमस्स जातकम्मासमए भअवदा मारीएण दिण्णा । एदं सिद्ध माहापिदरो अण्णाणं च वणिअ अचरो भूमिपट्टिदं ए गेएहादि । (शृणोद्दु महाराजः । एषाऽराजिता नामीपधिरस्य जातकर्मवगणे गमनता माराचेन दत्ता । एतां किञ्च मातापितरावात्मान च वर्जयित्वाऽपरा भूमिपतिता न शक्यति ।)

राजा—अथ गृह्णाति ।

प्रथमा—तदो सं सण्णो भविअ दंसइ । (ततस्त उषो भूत्वा दशति ।)

राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया ।

उभे—अणोअसो । (अनेकशः ।)

राजा—[वदन्] आत्मगतम् । कथमिय संपूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि । [इति बालं परिभ्रजते ।]

द्वितीया—सुज्वदे एहि । इमं वत्तन्तं णिअमज्जावट्ठाए सउन्दलाए णियेदेन्द । (सुप्रवे एहि । इम वृत्तान्तं नियमव्याप्त्यायै शुकुन्तल ये निवेदयावः ।)

[इति निष्क्रान्ते]

राजा—घनराइए मत ! सिंहके धच्चेसे खोपा-तानी करते समय यह यहाँ गिर गई थी ।

[उठाना चाहता है ।]

दोनों—हैं हैं ! उसे छूहएगा मत ! अरे, इन्होंने तो उसे उठा लिया !

[आश्चर्यसे छातीपर हाथ रतकर एक दूसरीको देखनी दे ।]

राजा—आप लोगोंने उठानेसे मुझे रोना क्यों ?

पदवी—सुनिए महाराज । जब इगसा जात-कर्म मैंसार हो रहा था उस समय भगवान फश्यपने अपराजिता नामकी यह जङ्गी इसके हाथमें धरिअर कहा था कि यदि यह पृथ्वीपर गिर पड़े तो इसे और इसके माता पिता को छोड़कर दूसरा कोई इसे न उठावे !

राजा—और यदि दूसरा कोई उठा ले तो ?

पदवी—तो यह सौं घनरर तराल उस लेगी ।

राजा—आप लोगोंने इसे कभी रूप बदलते देखा है ।

दोनों—बहुत बार देखा है ।

राजा—[आर ही आर] तब मैं अपने मनोरथ पूरे होनेपर क्यों न फूला समाऊँ ।

[पत्नीको कार्तिये रगता है ।]

पदवी—अरे सुप्रते ! आओ, यह समाचार उस तपस्विनी शुकुन्तलाको तो सुना आवे ।

बालः—मुझ भं । जाव अज्जुए सञ्चासं गमिस्सं । (मुञ्च माम् यावन्मातुः सकाशं गमिष्यामि ।)

राजा—पुत्रक मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि ।

बालः—मम वस्तु तादो दुस्सन्दो । ए तुमं । (मम खलु तातो दुष्पन्तः, न त्वम् ।)

राजा—[सरिप्तम्] एष विवाद एव प्रत्याययति ।

[ततः प्रविशत्यैकवेगीधरा शकुन्तला]

शकुन्तला—विश्वरकाले वि पक्रिदित्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ए मे आसा आसि अत्तणो भाअहेएसु । अहया जह साणुमदीए अप्पक्खिदं तह संभावीअदि एदं । (विश्वरकालेऽपि प्रकृतिस्था सर्वदमनस्वीपधि क्षुत्वा न म आशाऽऽसीदात्मनो म.गधेयेषु । अपया यथा सानुमत्याऽऽख्यातं तथा संभाष्यत एतत् ।)

राजा—[शकुन्तला विलोक्य] अये सेयमन्नभवती शकुन्तला । यैषा—

वसनेपरिधूसरे वसाना नियमचाममुखी धृतैकवेणिः ।

अतिनिष्करस्यास्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति ॥ २१ ॥

शकुन्तला—[पाश्चात्तापविवर्णं राजानं दृष्ट्वा] ए वस्तु अज्जउत्तो विअ । तदो को एसो वाणि किवरक्खामङ्गलं दारअं मे गत्तंसंसग्गेण वूसेदि । (न एवमार्यपुत्र एव । ततः क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गान्धर्वसंगेण वृषयति ।)

बालक—धोलो (छोड़ो) । हम अपनी माँके पास दायेंगे (जायेंगे) ।

राजा—वत्स ! मेरे साथ ही चलकर अपनी माताको आनन्द देना ।

बालक—मेले मेरे पिता तुम नहीं, दुष्पन्त (दुष्पन्त) हैं ।

राजा—[मुस्कराकर] यह विरोध ही मेरे विश्वासको ही पका कर रहा है ।

[अपने बालोंको एक छत्रों बंधे हुए शकुन्तला आती है ।]

शकुन्तला—यह सुनकर भी मुझे अपने भाग्यपर भरोसा नहीं हुआ कि सर्वदमनके हाथसे गिरी हुई रक्षाकी जड़ो उनके छत्रेपर साँप नहीं बनी । या फिर सानुमतीने जो कहा है, वह कौन जाने ठीक ही हो ।

राजा—[शकुन्तलाको देखकर] अरे ! ये ही तो वे देवी शकुन्तला हैं, जिनके शरीरपर मैंले कपड़ोंका जोड़ा पड़ा हुआ है, तप करते-करते जिनका मुँह सूख गया है, जिनके बाल एक छटमें खलमे पड़े हैं और जो शुद्ध मनसे मुझ जैसे निर्दोषीके धियोगमें इतने दिनोंसे राप करती चली आ रही हैं ॥ २१ ॥

शकुन्तला—[पश्चात्तापमे पीले पड़े हुए राजाको देखकर] ये तो आर्यपुत्र जैसे नहीं जान पड़ते । तब ये कौन हैं जो रक्षा बंधे हुए मेरे पुत्रको अपने शरीरसे लगा-लगाकर मैला कर रहे हैं ।

बाला—[मातरमुपेन्य] अञ्जुए एसो कोवि पुरिसो मं पुत्त त्ति आत्तिद्धदि । (मातः एष कोऽपि पुरुषो मा पुन इत्यालिप्सति ।)

राजा—प्रिये क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संघृत्तं यद्वहमिदानीं त्वयाऽप्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि ।

शकुन्तला—[आत्मगतम्] हिअथ समस्सत्त समस्सत्त । परिशत्तमच्छरेण अरुअपिअग्निअग्निह देव्वेण । अञ्जठत्तो व्त्तु एसो । (हृदय समाश्रयिदि । समाश्रयिदि । परित्यक्तमरारेणानुक्मिवाऽरिम देवेन । आर्यपुनः सत्त्वेपः ।)

राजा—प्रिये ।

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिप्ल्या प्रमुखे स्थिताऽसि मे सुमुखि ।

उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ॥ २२ ॥

शकुन्तला—जेदु जेदु अञ्जत्तो.. । (जयत्त जयःआर्यपुनः...) [इत्यर्पिते भाग्यवती विरमति ।]

राजा—सुन्दरि ।

वाप्येण प्रतिपिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया ।

यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम् ॥ २३ ॥

बालः—अञ्जुए को एसो । (मातः क एषः ।)

शकुन्तला—वच्छ दे भाअहेआई पुच्छेदि । (वत्त वे भाग्येयानि पृग्ठ ।)

बालक—[माताके पास धाकर] देतो माँ, ये कोई पुलुछ । (पुरुष) मुदे (मुझे) वेता (वेटा) बह्वल (पहकर , गले लगा लहे (रहे) हैं ।

राजा—प्रिये ! मैंने जो तुम्हारे साथ निठुराई की थी उसका गद्दी ठीक बंद है कि तुम अभीतक मुझे पहचान नहीं रही हो ।

शकुन्तला—[शाय हो आप] धरीज धरो मेरे हृदय ! आज देवने पिछला सन घेर छोड़कर मेरी सुन ली है । सचगुच ये ही तो हैं आर्यपुन ।

राजा—प्रिये ! आज मेरा यज्ञ सौभाग्य है कि मेरी स्मृतिपर पढ़ा हुआ मोहका परदा हट गया और तुम सुन्दरी आज मुझे वैसे ही मिल गई जैसे चन्द्र मरण वीत चुकनेपर रोहिणी चन्द्रमासे आकर मिल जाती है ॥२१॥

शकुन्तला—जय हो आर्यपुन, जय '... [इतना आपा ही करनेपर गण मर आनेके दक जाती है ।]

राजा—सुन्दरी ! तुमने अपने रंधे हुए गलेसे जो जय शब्द कहा है उसीसे मेरी जीत हो गई है, क्योंकि आज मेरी आसने तुम्हारे उस मुँहको फिरसे देल पाया है जिसके थोठ रंगे न जानेके कारण पीले पड़ गए हैं ॥२१॥

बालक—क्यों माँ ! ये फीन हैं ?

शकुन्तला—अपने भाग्यसे पूर वेटा !

राजा—[शकुन्तलायाः पादयोः प्रशिक्षण]—

सुतनु हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत् ।
प्रचलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि घृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ॥ २४ ॥

शकुन्तला—उठेदु अज्जउत्तो । एएणं मे सुअरिअण्णट्टिअन्धअं पुराविदं तेषु दिअहेसु परिणाममुहं आसि जेण सासुण्होसो चि अज्जउत्तो मइ विरसो संवत्तो । (उच्छिष्टार्यपुत्रः । मृत मे मुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृत तेषु दिवटेषु परिणाममुत्तमासीयेन पानुहोशोऽप्यार्यपुत्रा मधि विरवा घृत्तः ।)
[राजोच्छिष्ठति ।]

शकुन्तला—अहं यहं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुकरभाई अअं जणो । (अय कर्ममार्यपुत्रेण मृतो दुःखमाग्नय जनः ।)

राजा—उद्धृतविपादशाल्यः कथयिष्यामि ।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते यो वाष्पविन्दुरधरं परिबाधमानः ।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य वाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ॥२५॥
[इति यथाक्रममुक्तिच्छति ।]

शकुन्तला—[नाममुद्रा दृष्ट्वा] अज्जउत्त एएं ते अंगुलीअअं । (आर्यपुत्र इह तेऽङ्गुलीय-कम् ।)

राजा—[शकुन्तलाके पैरोंपर गिरकर] सुन्दरी ! मैंने तुम्हारा जो निरादर किया था उसकी कसक तुम अपने मनसे निकाल डालो, क्योंकि उस समय न जाने कहाँसे मेरे मनमें अज्ञानका अंधेरा आकर छा गया था । सचमुच जो तमोगुप्ती होते हैं वे अच्छे कामोंमें भी ऐसी भूल कर बैठते हैं, क्योंकि अन्धके गलेमें कोई माला भी पहनाये तो वह उसे साँप समझकर इतकेसे उतार फेंकता है ॥२४॥

शकुन्तला—उठिए आर्यपुत्र ! उन दिनों कोई विड़ले जन्मका पाप फल रहा होगा कि इतने दयालु आर्यपुत्र भी मुझपर इतने कठोर हो गए ।

[राजा उठते हैं ।]

शकु तला—पर यह तो बताइए कि आर्यपुत्रको इस दुस्त्रियाका स्मरण कैसे हो आया ।

राजा—पहले मैं अपने जीकी गॉस निकाल डालूँ तब कहूँ । सुन्दरी ! तुम्हारी आँसूके आसुओंकी जो बूँदें उस दिन गालोंपरसे ढलकर अधरोंको चोट पहुँचा रही थीं और जिनका मैंने उस दिन अनजाने निरादर कर दिया था वे आज भी तुम्हारी देदी बरौ-नियोंमें उलझी हुई दिखाई दे रही हैं । उन्हें जबतक मैं अपने हाथसे पोंछ न लूँगा जबतक मनको शान्ति नहीं मिलेगी ॥२५॥

[अपने हाथसे शकुन्तलाके नाँसू पोंछते हैं ।]

शकुन्तला—[तुम्हारे हाथमें उनके नामवाली अँगूठी देखकर] आर्यपुत्र ! यही तो आपकी वह अँगूठी है ।

राजा—अस्माद्गुलोयोपलम्भारयत्तु स्मृतिरुपलब्धा ।

शकुन्तला—विसर्ग किद् गेण जं तत्रा अज्जउत्तस पचत्रकाले दुल्लहं आसि । (विपम कृतमनेन वत्तदाऽऽर्यपुत्रस्य प्रत्ययज्ञे दुर्लभमासीत् ।)

राजा—तेन हि श्चतुस्रमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां तता कुसुमम् ।

शकुन्तला—ए से विस्तसामि । अज्जउत्तो एव्व एं धारेदु । (नास्य विश्वसिम् । आर्यपुत्र एवेतद्धारयद् ।)

[ततः प्रविशति मातलिः] .

मातलिः—दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेह चायुष्मान्वर्धते ।

राजा—अभूत्संपादितस्यादुफलो मे मनोरथः । मानने न खलु विदितोऽयमाखण्डत्वेन युत्तान्तः स्यात् ।

मातलिः—[हरिमत्तम्] किमोश्वराणां परोक्षम् । एत्रायुष्मान् भगवान्मारोचस्ते दर्शनं वितरति ।

राजा—शकुन्तले अवलम्ब्यतां पुत्रः । स्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि ।

शकुन्तला—हिरिञ्चामि अज्जउत्तेण सह गुरसमीवं गन्तुं । (विह्वेग्य रंपुत्रेण सह गुह्यसमीपं गन्तुम् ।)

राजा—अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु । एहोहि । [तत्रैः परित्रामन्ति ।]

राजा—इसी अँगूठीके मिल जानेपर ही तो मुझे सारी बातें स्मरण हो आईं ।

शकुन्तला—इसने सचमुच घड़ा खोटा काम किया था किजन् में आर्यपुत्रको इसे दिया-पर विश्वास दिखाने चली ठीक उसी समय यह न जाने कहाँ चली गई ।

राजा—[अँगूठी उतारकर शकुन्तलाकी देवे हुए ।] अच्छा, तो जैसे हातामें कुछ लगनेसे यह पता चल जाता है कि लताका वसन्तसे मिलन हो गया, वैसे ही तुम भी मुझसे मिलनेकी पहचानके लिये यह अँगूठी पहन लो ।

शकुन्तला—[हाथ उठाती हुई] नहीं, अब मैं इसका विश्वास नहीं करती । आर्यपुत्र ही इसे पहने रहें ।

[मातलि आता दे ।]

मातलि—धर्मपत्नीमे मिलने और पुत्रका मुँह देखनेकी आयुष्मान्को बधाई है ।

राजा—मेरे मनोरथका तो सचमुच घड़ा मोटा कुछ हुआ है मातलि ! पर इन्द्र भगवानको तो इस बातका पता होगा नहीं ।

मातलि—[हँसर] भला देवताओंसे भी कोई बात छिपी रहती है । आइए आयुष्मान् ! भगवान् मारोच आपकी दर्शन देना चाहते हैं ।

राजा—शकुन्तला ! बालकको उँगली धामौलो । मैं तुम्हें साथ लेकर ही भगवानके दर्शनके लिये चलना चाहता हूँ ।

शकुन्तला—घड़ोंके पास आर्यपुत्रके साथ जानेमें मुझे लाज लग रही है ।

राजा—हृदयके अघसरपर तो साथ ही चला जाता है । आओ, आओ !! [वष पूसते है]

मातलिः—एषं विधातारः प्रसीदन्ति ।

राजा—भगवन् इमामाहाकरां चो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित्कालस्य घन्धुभिरान्तीतां स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य । पश्चादङ्गुलीयकदर्शनाद्दृढपूर्वां तद्दुहितरमधगतोऽहम् । तद्यित्रमिव मे प्रतिभाति ।

यथा गतो नेति समक्षरूपे तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात् ।

पदानि दृष्ट्वा तु भवेत्पूर्तीतिस्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥ ३१ ॥

मारीचः—वत्स अलमात्मापराधशङ्कया । संमोहोऽपि त्वय्युपपन्नः । श्रूयताम् ।

राजा—अब्रह्मिणोऽस्मि ।

मारीचः—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यङ्गधैःश्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सद्दुर्भचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति । स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः ।

राजा—[सोच्छ्रावम्] एष घचनीयान्मुक्तोऽस्मि ।

मातलि—जो स्वयं भाग्य बनानेवाले हैं उनकी ऐसी ही कृपा होती है ।

राजा—भगवन् ! आपकी इस आज्ञाकारिणी कन्यासे मैंने गान्धर्व विधिसे विवाह कर लिया था । फिर कुछ दिनों पीछे जब इनके सगोत्रमन्वी लोग इन्हें मेरे पास लाए तब मेरी स्मृतिको न जाने क्या हो गया कि मैं एकदम भूल गया और मैंने इनको लौटा दिया । ऐसा करके मैंने आपके गोत्रवाले कण्वजीका बड़ा भारी अपराध कर डाला । फिर जब मैंने यह अँगूठी देरी तब मुझे स्मरण हुआ कि मैंने तो कण्वजीकी कन्यासे विवाह किया था । ये सब बातें मुझे दड़ी विचित्र-सी जान पड़ रही हैं । मुझे अपनी यह भूल ठीक वैसी ही लग रही है जैसे आँसूके सामनेसे चले जाते हुए हाथीको देखकर मनमें यह सन्देह हो कि यह हाथी है या नहीं और फिर उसके निरुक्त जानेपर उसके पैरोंकी ज्ञाप देखकर यह विश्वास किया जाय कि हाँ, यह सचमुच हाथी ही था ॥ ३१ ॥

मारीच—वत्स ! तुम अपने अपराधकी घात अपने मनसे एकदम निकाल डालो क्योंकि इस प्रकारकी भूल तुमसे हो ही नहीं सकती । मुनो, मैं बतता हूँ जो हुआ है ।

राजा—जी, सुन रहा हूँ ।

मारीच—जब मेनका बिलखती हुई शकुन्तलाको लेकर, अप्सरातीर्थसे उतरकर यहाँ दाक्षायणीके पास आई तभी मैंने ध्यानसे जान लिया था कि दुर्वासके शापसे ही तुमने अपनी इस तपस्विनी धर्मपत्नीको छोड़ दिया है और वह शाप तबतकके लिये है जबतक तुम अँगूठी न देख लो ।

राजा—[कन्वोपकी ठाँव लेकर] चलो, दोपसे हटकारा तो मिला ।

शकुन्तला—[हागतम्] दिष्टिआ अकारणवशादेसी ए अजाउत्तो । ए हु सचं अत्ताएँ सुमरेमि अह्या पत्तो मए स हि सायो विरहसुण्णदिअयाए ण विदिदो । अदो सहीहिं संदि-
ष्टन्दि भत्तुखो अंगुलीअथ दंसहदुर्वं त्ति । (दिश्याऽनारणप्रत्यादेशी नार्यपुनः । न खलु शतमा-
स्मान स्मरामि । अथवा प्राप्तो मया स हि शयो विरहशून्यहृदयथा न विदितः । अतः मत्तीम्नां
संदिष्टाऽस्मि मर्तुरङ्गुलीयकं दर्शयितव्यमिति ।)

मारीचः—यत्से विदितार्याऽस्ति । वदिदान्तीं सहधर्मचारिण प्रति न त्वया मन्युः कार्यः ।
परय ।

शापादसि पृतिहता स्मृतिरोधरूचे
भर्तृर्यपेततमसि पूभृता तवैव ।
ध्याया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावाकाशा ॥ ३२ ॥

राजा—यथाऽऽह भगवान् ।

मारीचः—यत्स कच्चिदभिनन्दितत्वया विधिवदरमाभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष
शाकुन्तलेयः ।

राजा—भगवान् अत्र एतलु मे वंशप्रतिष्ठा । [इति बाल हस्तेन पठानि । ।]

शकुन्तला—[मन ही मन] यह पड़े भाग्यकी बात है कि धार्यपुत्रने मुझे बिना कारण
नहीं छोड़ा था । पर यह तो स्मरण ही नहीं आ रहा है कि मुझे शाप मिला कब । या यह
भी हो सकता है कि मुझे शाप मिला हो और अपने विरहकी धुनमें पड़े रहनेके कारण
मुझे उसका पता ही न चला हो । अब मेरी समझमें आ रहा है कि चलते समय मेरी
सर्तिरोंने यह क्यों कहा था कि पतिको अंगुठी दिखला देना ।

मारीच—यत्से ! तुम ठीक समझी हो । अत्र तुम अपने पतिपर क्रोध न करना । देखो !
जैसे, वर्षणपर धूल पड़ी रहनेसे उसमें ठीक धाया नहीं दिखलाई देती और वही जन पौंड्र
दिया जाता है तब धाया बड़ी सरलतासे दिखलाई पड़ने लगती है वैसे ही शापके कारण
स्मृति भुंभली पड़ जानेसे उन्होंने तुम्हें छोड़ दिया था पर अब शाप छूट जानेसे उन्होंने
तुम्हें मली भाँति पहचान लिया है ॥ ३२ ॥

राजा—भगवान् ठीक कहते हैं ।

मारीच—यत्स ! शाकुन्तलाके जिस पुत्रके संस्कार हमने ठीक विधिसे कर दिए हैं उसे
तुमने अपनाया या नहीं ।

राजा—यही बालक तो हमारा वंश चलानेवाला है ।

[यद् करकर बालकका गोदमें उठा लेते रे ।]

[ततः प्रविशत्यदिशा सार्धमासनस्थो मारीचः ।]

मारीचः—[राजानमवलोक्य] दाक्षायणि ।

पुत्रस्य ते रक्षशिरस्ययमग्रयायी दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता ।

चापेन यस्य विनिवर्तितकर्म जातं तत्कोटिमत्कुलिशमामरणं भयोः ॥२६॥

अदितिः—संभावणीद्यागुभावा से आकिदी । (एमाग्नीशतुमशाऽन्याकृतिः ।)

मातलिः—आयुष्मन् एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुपा दिवीन्सां पितराषायुष्मन्त्वमवलोक-
यन्त । तावुपसर्प ।

राजा—मातले एतौ—

प्रादुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजमः कारणं

भर्तारं भुवनत्रयस्य सुपुत्रे यद्यज्ञभागेश्वरम् ।

यस्मिन्नात्मभुवः परोऽपि पुरुपरचक्रे भवायास्पदं

द्वन्द्वं दक्षमरीचिसंभवमिदं तत्सप्तदुरेकान्तरम् ॥ २७ ॥

मातलिः—अथकिम् ।

राजा—[उपगम्य] उभाभ्यामपि चासवनियोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति ।

मारीचः—वत्स चिरं जीव । पृथिवीं पालय ।

[अदितिके साथ आसनपर बैठे हुए मारीच दिवार्ह देते है ।]

मारीच—[राजाकी देखकर] दाक्षायणी ! यहो संसारका पालन करनेवाले राजा दुष्यन्त हैं जो तुम्हारे पुत्र इन्द्रको लड़ाईमें सधसे आगे रहते हैं और जिनके धनुषने ही इतना काम कर डीठा है कि इन्द्रका तीसरी धारचाला ब्रह्म उनका आनूपण भर बना बैठा रहता है ॥ २६ ॥

अदिति—इनके डील-डौलसे ही इनके पराक्रमका पता चल रहा है ।

मातलि—आयुष्मन् ! देखो ! ये ही हैं देवताओंके माता-पिता, जो आपको ओर ऐसे प्यारसे देख रहे हैं, जैसे माता-पिता अपने बच्चोंको देखते हैं । जाओ उनके पास चले जाओ ।

राजा—मातलि ! क्या, वे ही ये स्त्री-पुरुष हैं जो ब्रह्मसे एक पीढ़ी पीछे दक्ष और मरीचसे उत्पन्न हुए हैं, जिन्हें ऋषि लोग वारहों आदित्योंके माता-पिता मानते हैं, यज्ञमें भाग लेनेवाले इन्द्रने जिनसे जन्म लिया है और अपनेमें से अपने आप उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा भी संसारका कल्याण करनेके लिये जिनकी गोदमें जन्म लिया करते हैं ॥ २७ ॥

मातलि—हाँ, हाँ, ये ये ही हैं ।

राजा—[पाठ पहुँचकर] सदा इन्द्रकी आज्ञा माननेवाला यह दुष्यन्त आप दोनोंकी प्रणाम करता है ।

मारीच—बहुत दिनोंतक जीयो, वत्स ! और पृथ्वीका पालन करो ।

अदिति—बच्छ अप्पडिरहो होहि । (बल अपतिरयो मय ।)

शकुन्तला—दारअसहिदा वो पादबन्दनं करोमि । (दारअसहिता वा पादबन्दनं करोमि ।)

मारीच—वत्से ।

आखण्डलसमो भतां जयन्तप्रतिमः सुतः ।

आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव ॥ २८ ॥

अदिति—जादे भक्तुणो अभिमदा होहि । अपस्सं दीहाऊ वच्छओ एहअकुलणन्दणो होदु । सबविस । (जाते भद्रमिमता भव । अवश्यं दीर्घांशुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु । उपविशत ।)

[एवं प्रजापतिममित उपविशन्ति ।]

मारीच—[एकैकं निर्दिशन्]—

दिप्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान् ।

श्रद्धा विचं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम् ॥ २९ ॥

राजा—भगवन् । प्रागमिप्रेतसिद्धिः । पश्चाद्दर्शनम् । अतोऽपूर्वः सलु षोऽनुमहः । कुतः ।

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं धनोदयः प्राक्तनन्तरं पयः ।

निमित्तनैमित्तिकपोरयं क्रमस्तव पूसादस्य पुरस्तु संपदः ॥ ३० ॥

अदिति—वत्स ! तुम इतने बलवान होओ कि कोई शत्रु तुम्हारे आगे न टिक सके ।

शकुन्तला—मैं अपने पुत्रके साथ आपके चरणोंमें प्रणाम करती हूँ ।

मारीच—वत्से ! तुम्हारा पति इन्द्रके समान है और तुम्हारा पुत्र जयन्तके समान है । इसलिये यह तो समझमें ही नहीं आता कि तुम्हें आशीर्वाद क्या दूँ । फिर भी यही आशीर्वाद देता हूँ कि तुम इन्द्राणीके समान तेजस्वी बनो ॥ २८ ॥

अदिति—बेटी ! अपने पतिका आदर पाओ और तुम्हारा घेटा चिरंजीवी होकर दोनों कुलोंको सुख दे । आओ, बैठ जाओ ।

[एवं प्रजापतिके चरणों ओर बैठ जाते हैं ।]

मारीच—[अलग-अलग सबको सजेन करतै हुए ।] आज सौभाग्यसे यह पतिव्रता शकुन्तला, यह श्रेष्ठ बालक और तुम ये तीनों ऐसे इकट्ठे मिल गए हो जैसे श्रद्धा, धन और क्रिया तीनों एक साथ मिल जायँ ॥ २९ ॥

राजा—भगवन् ! आपकी कृपा तो सचमुच अनोखी है जिसमें दर्शनसे पहले ही मन-थाहा फल मिल गया क्योंकि—कार्य और कारणका तो यही क्रम है कि पहले मूल लगता है तब फल आता है, पहले बादल उठते हैं तब वर्षा होती है, पर आपके यहाँ तो सारे सुख आपकी कृपाके आगे-आगे चलते जा रहे हैं ॥ ३० ॥

मारीचः—तथा भादिनमेनं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान् । पश्य,

रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः

पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः ।

इहायं सन्धानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः

पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥ ३३ ॥

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन्वयमाशास्महे ।

अदितिः—भगवन् इमाए दुहितुमणोरहसंपत्नीए कएणो विदाघ सुदवित्कारो करीअरु । दुहितुवच्छला भेराआ इह एव उपचरन्ती चिट्ठदि । (भगवन् बनया दुहितुमणोरहसंपत्त्या कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम् । दुहितुवत्त्वल मेनकेइवोपचरन्ती तिष्ठति ।)

शकुन्तला—[आरमगतम्] मणारहो बलु मे भण्णियो भअवदीए । (मनोरथः खलु मे भणितो मगधत्वा ।)

मारीचः—तपःप्रभावात्प्रत्यक्तं सर्वमेव तत्रभवतः ।

राजा—अतः खलु मम नातिकुद्वो मुनिः ।

मारीचः—तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः प्रष्टव्यः । कः कोऽत्र भोः ।

[प्रविश्य]

मारीच—यह सुन्दारा वंश तो चलावेगा ही, साथ ही चक्रवर्ती राजा भी होगा । देखो ! यह बालक अपने हृद् और सीधे चलनेवाले रथपर चढ़कर समुद्र पार करके सातों द्वीपों-वाली पृथ्वीको इस प्रकार अकेला जीत लेगा कि संसारका कोई वीर इसके सामने टिक न सकेगा । यहाँ इसने सब जीवोंको तंग कर रक्खा था, इसीलिये इसका नाम सर्वदमन पड़ गया था । पर आगे चलकर यह सारे संसारका भरण पोषण करेगा इसलिये इसका नाम भरत होगा ॥ ३३ ॥

राजा—जिसके संस्कार आपने किए हैं उससे तो हमें इन सब बातोंकी आशा है ही ।

अदिति—भगवन् ! इस कन्याके मनोरथ पूरे होने की सारी बात कएवजोको भी कहला भेजनी चाहिए क्योंकि इसे प्यार करनेवाली इसकी माँ मेनकाने यहाँ रहकर हम लोगोंकी बड़ी सेवा की है ।

शकुन्तला—[मनमें] देवीने तो मेरे ही मनकी बात कह दी है ।

मारीच—तपके प्रभावसे कएव श्रुति सब कुछ जानते हैं ।

राजा—इसलिये उन्होंने मुझपर क्रोध नहीं किया ।

मारीच—फिर भी यह प्यारी बात उनके पास कहला ही भेजनी चाहिए । अरे कोई है ? [एक शिष्य आता है ।]

शिष्यः—भगवन् अथसतिम ।

मारीचः—गालव इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कल्याय, प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति !

शिष्यः—यदाज्ञापयति भगवान् । [इति निष्पन्तः ।]

मारीचः—वत्स त्वमपि स्वापत्यदारसहितः सत्युराराण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानीं प्रतिप्रव्य ।

राजा—यदाज्ञापयति भगवान् ।

मारीचः—अपि च ।

भवतु तव विडीजाः प्रान्यशृष्टिः प्रजासु

त्वमपि विततयज्ञो वज्रियं भावयेथाः ।

गणशतपरिवर्ते रेवमन्योन्यकृत्यै-

नियतमुभयलोकानुग्रहरत्नाधनीयैः ॥ ३४ ॥

राजा—भगवन् यथाशक्ति श्रेयसे यतिष्ये ।

मारीचः—वत्स किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति । यदिह भगवान्प्रियं कर्तुमिच्छति वर्हद्मस्तु । [मरु-
याश्चम्] ।

शिष्यः—मैं हूँ भगवन् !

मारीच—गालव ! अभी आकाश-मार्गसे जाकर मेरी ओरसे कल्याणीको यह प्यारा समाचार देना कि शाप हटनेपर दुष्यन्तने सब शरण करके शकुन्तला और उसके पुत्रको प्रहण कर लिया है ।

शिष्य—जैसी भगवानकी आज्ञा । [चला जाता है ।]

मारीच—वत्स ! तुम भी ध्य अपने पुत्र और स्त्रीको साथ लेकर अपने मित्र इन्द्रके रथपर चढ़कर अपनी राजधानीको छोट जाओ ।

राजा—जैसी भगवानकी आज्ञा ।

मारीच—और सुनो ! तुम्हारी प्रजाके लिये इन्द्र सदा भरपूर यथा किया करे और तुम भी सैकड़ों गण-तन्त्रोंपर राज्य करते हुए बहुत यत्न करके इन्द्रको प्रसन्न करते रहो । इस प्रकार एक दूसरेके लिये ऐसे अच्छे-अच्छे काम करते रहो कि दोनों लोकमुक्तो रहें ॥ ३४ ॥

राजा—भगवन् ! मैं भरसक अच्छे काम करनेका जतन करूँगा ।

मारीच—वत्स ! और कुछ तुम्हारी इच्छा हो तो कह जाओ ।

राजा—इससे बढ़कर भी क्या और कोई बात हो सकती है ? फिर भी यदि आप मुझपर कुछ और कृपा करना चाहते हैं तो ऐसा क्षीत्रिय कि—[मरुतकस्य] राजा सदा

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीताम् ।

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥ ३५ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

॥ इति सप्तमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तनिवृत्तमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम् ॥

अपनी प्रजाकी मलाईमें लगे रहें, बड़े-बड़े विद्वान् कवियोंकी याखीआ सब कहीं आदर हो और अपनेसे उत्पन्न होनेवाले तथा चारों ओर अपनी शक्ति फैलानेवाले महादेवजी ऐसी छुपा करें कि मुझे अब फिर जन्म न लेना पड़े ॥ ३५ ॥

[सब चले जाते हैं ।]

॥ सातवों अङ्क समाप्त ॥

॥ महाकवि भीकालीदासका रचा हुआ अभिज्ञान शाकुन्तल नामका नाटक समाप्त हुआ ॥

विक्रमोर्वशीयम्

पात्र-परिचयः

पुरुषाः

- सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता ।
 परिपाश्वरः—सूत्रधारस्य सहचरः ।
 पुरुरवस्—प्रतिष्ठानदेशस्य राजा, नाटकस्य
 नायकः ।
 गार्ग्यवक्त्रः—विद्वेषकः ।
 आयुस्—पुरुरवसः पुत्र ।
 नारदः—देवर्षिः ।
 चित्ररथः—गन्धर्वेश्वरः ।
 कंबुर्का—राजपरिचारकः ।
 पल्लवः } भरतमुनेः शिष्यौ ।
 गालवश्च }

स्त्रियः

- उर्वशी—एक अप्सरा । नाटकस्य नायिका ।
 चित्रलेखा—द्वितीया अप्सरा । उर्वश्याः सखी ।
 सहस्रन्या, }
 रुमा, } अप्सरसः ।
 मेनका, }
 देवी—राज्ञी । काशिराजस्य कन्या ।
 निपुष्पिका—राज्ञ्याः परिचारिका ।
 तापसी—तपस्विनी ।
 परिजन—राज्ञ्याः परिचारिका ।
 यवनी—राज्ञः परिचारिका ।

प्रथमोऽङ्कः

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
 यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।
 अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
 स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥१॥

[नान्द्यन्ते]

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण । [नेरव्याभिमुपगच्छलोक्य ।] मारिष, इतस्तावर ।
 [प्रविश्य]

परिपार्श्वकः—भाच । अयमस्मि ।

सूत्रधारः—मारिष । परिपदेया पूर्वेपां कवीनां दृष्टरसमवन्धा । अहमस्यां कालिदासमथि-
 तयस्तुता नयेन श्रोटकैनोपरधारये । तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु पाठेष्वर्घदितैर्भवितव्यमिति ।

परिपार्श्वकः—यथाहापयति भावः । [इति निष्क्रान्तः ।]

प्रथम अङ्क

वेदान्तो लोग जिन्हें ऐसा अकेला पुरुष बताते हैं जो पृथ्वी और आकाशमें रमा हुआ होनेपर भी सबसे अलग बना रहता है, जिनका ईश्वर नाम ऐसा सटीक और सधा है कि और किसीकी भी इस नामसे नहीं पुकारा जा सकता और मोक्ष पानेकी इच्छा करनेवाले लोग जिन्हें प्राणायाम साधकर अपने हृदयके भीतर खोजते हैं, वे सही भक्तिसे मिलनेवाले शिवजी आप सब लोगोंका कल्याण करें । ॥ १ ॥

[नान्दी हो चुम्बनेर]

सूत्रधार—अच्छा अब देर नहीं करनी चाहिए । [नेरव्याभी धोर देखकर] अरे माई मारिष ! इधर तो आओ ।

[परिपार्श्वक, आवा रे ।]

परिपार्श्वक—लौजिए, आ गया, आर्ये !

सूत्रधार—देखो मारिष ! इस सभाने पुराने कवियोंके तो बहुतसे नाटक देखे हैं । आज मैं इन्हें धीकालोदासका यन्ताया हुआ विक्रमोपरशीय नामका एक नया श्रोटक दिखाना चाहता हूँ । इसलिये सब अभिनेताओंको जाकर समझा दो कि अपना-अपना अभिनय बढ़ी सापधानीसे करें ।

परिपार्श्वक—जैसी आपकी आज्ञा । [चला जाता रे ।]

सूत्रधारः—यावदिदानीमार्यविदग्धमिश्रान्विज्ञापयामि । [प्रणिपत्य]

प्रणयिषु वा दक्षिणयादथवा सद्रस्तुपुरुषबहुमानात् ॥

शृणुत जना अवधानात्क्रियामिमां कालिदासस्य ॥ २ ॥

[नेपथ्ये]

अज्ञा परिताग्रथ परिताग्रथ । जो सुरपकलषादी जरस वा अम्बरअले गई अतिथि ।
(आर्याः परित्रायप्य परित्रायध्वम् । यः सुररक्षतातो यस्य वाग्भरतले गतिरस्ति ।)

सूत्रधारः—[कथं दस्ता] अये किं नु राजु मद्रिज्ञापनानन्तरमार्तानां कुररीणामिवाकारो
शब्दः श्रूयते ।

मचानां कुसुमसनेन पट्पदानां शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः ।

आकाशे सुरगणसेविते समन्तार्त्तिक नार्यः कलमधुराचरं प्रशीताः ॥ ३ ॥

[विचिन्त्य] भवतु । ज्ञातम् ।

ऊरुद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री कैलासनाथमनुसृत्य निर्वर्तमाना ।

वन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम् ॥ ४ ॥

[इति निष्क्रान्तः]

॥ प्रस्तावना ॥

सूत्रधार—तवतक मैं अपने विद्वान् दर्शकोंसे कुछ निवेदन कर लूँ । [गिर झुकाकर]
सज्जनो ! आप लोगोंसे प्रार्थना है कि हम गद्य सेवकोंपर कृपा करके या इस नाटकके
नायकका आदर करके आप लोग कालिदासके लिये हुए इस नाटकको सावधान होकर
सुनें ॥ २ ॥

[नेपथ्यमें]

आर्यो ! वचाओ ! वचाओ !! जो भी कोई देवताओंका हित चाहनेवाला हो और जो
आकाशमें भी आ-जा सकता हो, यह आकर हमें वचावे ।

सूत्रधार—[चुनकर] अरे ! यह क्या ? मेरी प्रार्थना समाप्त होते ही आकाशमें यह
कैसा कुररीके रोने जैसा शब्द सुनाई देने लगा—[सोचकर] क्या यह फूलोंका रस पीपर
मवधाले बने हुए भोरोंकी गुंजार है ? या कहीं कोयलकी मस्तानी फूक तो नहीं है ? या कहीं
आकाशमें देवताओंके साथ आई हुई अप्सराएँ मीठी वान तो नहीं छेड़े हुए हैं ? ॥ ३ ॥
[ध्यान कर] ठीक है । समझ गया ।

नरके मित्र नारायणकी जाँचसे उर्ध्वशी नामकी जो अप्सरा उत्पन्न हुई थी यह जब
कुचेरकी सेवा करके लौट रही थी तब राक्षस उसे पीचते ही परकू ले गए हैं उसीपर ये
अप्सराएँ इतनी रो-चिल्ला रही हैं ॥ ४ ॥ [चला जाता है ।]

॥ प्रस्तावना ॥

[ततः प्रविशन्त्यम्बरसः ।]

अम्बरसः—अबज परिचाअध परिचाअध । जो सुरपक्षपादो जसस वा अम्बरअले गई अस्थि । (आर्याः परित्रायन्व परित्रायभ्यम् । यः सुरपक्षपाती यस्य कामरतले गतिरस्ति ।)

[ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण राजा पुरूरवा रथेन सूत्रम् ।]

राजा—अलमाकन्दिनेन । सूर्योपस्थाननिवृत्तं पुरूरवसं मामेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परिव्रातज्या इति ।

रम्भा—असुरावलेपादो । (असुरावलेपात् ।)

राजा—किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराधम् ।

रम्भा—सुणातु महाराजो । जा तवोविसेससङ्घिदसस सुउमारं पहरणं महेन्द्रस पचादेसो रुवगन्धिदाए सिरिगोरिए अलंकारो सगरसस, सा यो पिअसही उव्वसी कुबेरभयणादो पिबत्तमाया केणाधि दाणनेण चित्तलेहादुवीआ अद्धपथं ज्जेव वन्दिग्गाई गिहीदा । (शृणोतु महाराजः । याः तवोविशेषशक्तितस्य सुउमारं पहरणं महेन्द्रस्य प्रत्यादेशो रूग्णनितायाः श्रीगीर्वाः अलंकारः सर्वस्य सा नः प्रियतच्छतुरंशी कुबेरभयनाग्निपतमाना केनापि दाननेन चित्रलेला द्वितीया अर्धपथ एव वन्दिगाई गृहीता ।)

राजा—अपि क्षायते कतमेन दिग्विभागेन गतः स जातमः ।

अम्बरसः—ईसाणीए विसाए । (पेशान्या दिशा ।)

[अम्बरसं प्रवेश करती हैं ।]

अम्बरसं—आर्यो ! यचाओ, यचाओ ! जो भो फोई देवतायोंका हिव चाहने वाला हो और जो आकाशमें भी आजा सकता हो, वह आकर हमें बचाये ।'

[अम्बरस चढ़े हुए राजा पुरूरवा और सारथीका प्रवेश]

राजा—यस यस, रोओ मत ! मैं पुरूरवा हूँ और अभी भगवान सूर्यकी उपासना करके आ रहा हूँ । आप लोग यहाँ मेरे पास आकर बताइए कि आप लोगोंको किमसे बचाना होगा ।

रम्भा—राक्षसोंके अत्याचारसे ।

राजा—राक्षसाने आप लोगोंपर क्या अत्याचार किया है ?

रम्भा—सुनिष महाराज ! किमीकी यही तपस्यासे डरकर उसका तप डिगानेके लिये जिसे अपना सुकुमार राज बनाकर इन्द्र भेजते हैं, जिसके सुन्दर रूपके आगे अत्यन्त रूप-वाली लक्ष्मी भी पानी भरती हैं और जो स्वर्गकी शोभा है, यही हमारी प्यारी सारी स्वर्गी लक्ष्मी कुबेरके भयनसे लौट रही थी तो बीचमें ही फोई राक्षस उसे और चित्रलेपानो पकड़ ले गया ।

राजा—क्या आप लोग घना समती हैं कि वह दुष्ट दैत्य किम ओर गया है ?

रम्भा—पूर्य-उत्तरके कोनेकी ओर ।

राजा—तेन हि मुच्यतां विपादः । यतिष्ये वः सखीप्रत्यानयनाय ।

अप्सरसः—सरिसं एदं सोमवंससंभवस्त । (सदृशगेतस्तोमवशसंभवस्य ।)

राजा—कव! पुनर्मां भवत्यः प्रतिपालयिष्यन्ति ।

अप्सरसः—एदस्सि हेमकूडसिद्धरे । (एतस्मिन्देमकूडशिखरे ।)

राजा—सूत ऐशानीं दिशं प्रति चोदयारवानाशुगमनाय ।

सूतः—यदाहापयत्याशुमान् । (इति यथोक्तं करोति ।)

राजा—[रथवेगं रूपधित्वा ।] साधु साधु । अनेन रथवेगेन पूर्वप्रस्थितं वैन्तेयमप्यासावयेयम् । किं पुनस्तमपकारिणां भयोः । मन—

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्सींभवन्तो घना-

श्चक्रभ्रान्तिरान्तरेषु वितनोत्यन्वायिवारावलीम् ।

चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवचामरं

यन्मध्ये मनवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात् ॥ ५ ॥

[निष्क्रान्तो रथेन राजा खलद्य]

सहजग्या—हला गदो राप्सी । ता अम्हे वि जघासंदिष्टं पदेसं गच्छन्ह । (हला गदो राजर्षिः । तद्वयमपि यथासंदिष्टं प्रदेशं गच्छामः)

राजा—तो आप लोग चिन्ता न कीजिए । मैं आपकी प्यारी सखी को लौटा लानेका अभी जतन करता हूँ ।

रम्भा—आप चन्द्रवंशी हैं, आप सब कुछ कर सकते हैं ।

राजा—आप लोग कहीं मेरी वाट देखेंगी ?

अम्बरार्य—दासी हेमकूटकी पोटीपर ।

राजा—सारथी ! उत्तर-पूर्व दिशाकी ओर रास मोड़कर घोड़ोंको हाँको तो वेगसे ।

सारथी—जैसी आपको आज्ञा [वेग ही करता है ।]

राजा—[रथकी चाल देखकर] बाह ! बाह ! जब चलते हो रथ इतने वेगसे दौड़ रहा है तब तो मैं गरुड़को भी पछाड़ सकता हूँ, फिर इन्द्रके शत्रु राक्षस तो हैं किस गिनतीमें ! मेरा रथ इतने तीव्र वेगसे दौड़ रहा है कि उसको रगड़से घने बादल पिस पिसकर धूल जैसे बन गए हैं । इसके पहिए भी इतने वेगसे घूम रहे हैं कि ऐसा लगता है मानो पहियोंके अंदरके बीचमें और बहुतसे अरे बनते चले जा रहे हों । घोड़ोंके सिरपर चीरियाँ ऐसी खड़ी हो गई हैं कि जान पड़ता है मानो ये चित्रमें रित्ची हुई हों और वेगसे चलनेके कारण जो पवन उठता है उसको भौंकेसे मंडीका कपड़ा ध्यजाके टंडेके और अपने बाहरी छोरके बीचमें सीधा फैल गया है, तनिक भी हिलता-डुलता नहीं ॥ ५ ॥

[राजा तथा सारथी निकल जाते हैं]

सहजग्या—सरियो ! रजर्षि तो चले गए । चलो हम लोग भी ऊपर पत्नी पछें जहाँ उनसे मिलनेके लिये धमी पद चुकी हैं ।

मेनका—सहि एव्वं करेम्ह (सखि एव कुर्मः ।)

[इति हेमकूटशिखरे नाट्येनाविरोहन्ति ।]

रम्भा—अवि याम सो राएसो उद्धरदि णो हिअअसल्लाम् । (अवि नाम उ राजर्षिकद्वरति नो हृदयशास्त्रम् ।)

मेनका—सहि मा दे संसओ भोदु । (सखि मा ते, उच्यते भगवतु ।)

रम्भा—एणं दुज्जआ दाणुवा । (ननु दुर्जया दानवा ।)

मेनका—उवट्टिदसंपराओ भद्धिन्दो वि मज्जमलोआदो सयहुमाणं आणाहिअ तं एव्व विबुधविजआअ सेणामुहे णिओजेदि । (उपस्थितपरायो महेश्वरोऽपि मध्यमलोकास्वबहुमानमानाय समेव विबुधविजयाय सेनामुखे नियुङ्क्ते ।)

रम्भा—सअवहा विअई भोदु । (सर्वथा विजयी भवतु ।)

मेनका—(अणुमात्रं स्थिरा ।) इत्ता समससय समससय । एस उल्लसिद्धरिणकेदयो सस राएसियो सोमदत्तो रहो दोसदि । ए एसो अस्सिदथो पडिणिउत्तिससदि त्ति त्थोमि । (सख्यः समाश्रयित यमाश्रयित । एष सख्यसितहरिणकेतनस्तस्य राजर्षेः यामदत्ता रथो दृश्यते । नैषाऽवृत्तार्थः प्रतिनिवर्तयति इति तर्कशक्तिः ।)

[निमित्त घूनयित्वावलोकनयः स्थिताः ।]

[उतः प्रविशति रथारूढो राजा द्युतश्च । मयनिमीलितास्त्री चित्रलेखा दक्षिणहस्तावलम्बिता उर्वशी च ।]

चित्रलेखा—सहि रामसस समसस । (सखि उमाश्रयिहि उमाश्रयिहि ।)

मेनका—हैं सखी, खलो ।

[एव हेमकूट पर्वतपर चढनेका नाट्य करती है ।]

रम्भा—इया वे राजर्षि सचमुच हम लोगोंके मनकी फसक दूर कर सकेंगे ?

मेनका—इसमें सन्देह न करो सखी !

रम्भा—पर उन दैत्योंकी कोई भीत थोड़े ही सकता है ।

मेनका—जानती हो, जब देयताओंकी धिजयके लिये युद्ध करना होता है उस समय इन्द्र इन्हींको मध्यलोकसे बड़े सम्मानके साथ बुलाकर अपना सेनापति बनाते हैं । समझी ?

रम्भा—अच्छा मैं तो मानती हूँ कि सब प्रकार उन्हींकी जीत हो ।

मेनका—[घोड़ी दैर उदर भर] सखियो ! चुप हो जाओ, धीरज रखो ! वह पैरो, राजर्षिके सोमदत्त रथकी यह झंडी हिलती दिखाई दे रही है जिसपर हरिण बना हुआ है । मैं समझती हूँ कि काम पूरा किए बिना ये नहीं छींटे होंगे ।

[उच उस्थिरी उतावनी दोवर उधर देलनी है ।]

[रथपर बैठे हुए राजा और रथधीस प्रवेश ।]

[उगी रथपर चित्रलेखाके दाहिने हाथपर बरते आँसू बन्द करके पड़ी हुई उर्वशी दिखाई देती है ।]

चित्रलेखा—सखी ! धीरज धरो, धीरज !

राजा—सुन्दरि समाश्रयसिद्धि ।

गतं भयं भीरु सुरारिसंभवं त्रिलोकरनी महिमा हि वञ्चिणः ।

तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं निशावसाने नलिनीव पङ्कजम् ॥ ६ ॥

चित्रलेखा—अम्नहे कहं उससिदमेत्तसंभाविदजोविदा अज्ज वि एसा सएण ण पडिव-
ज्जदि । (थहो कथमुच्छ्वसितमात्रसभावितनीचिता अजाप्येषा सजा न प्रतिपद्यते ।)

राजा—बलवदत्र भवती परिव्रता । तथाहि ।

मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरस्याः सूच्यते हृदयकम्पः ।

मुद्गुरुच्छ्वसता मध्ये परिखाहवतोः पयोधरयोः ॥ ७ ॥

चित्रलेखा—[सरुदगम्] हला उन्नसि पञ्जवस्थावेहि अत्तासाम् । अणच्छरा धिअ पडि-
भासि । [सलि उर्वशी पर्ववस्थापथात्मानम् । अनन्तरेव ।तिमासि ।)

राजा—

मुञ्चति न तावदस्या भयकम्पः कुसुमकोमलं हृदयम् ।

सिचयान्तेन कथंचित्स्तनमध्योच्छ्वासिना कथितः ॥ ८ ॥

(उर्वशी प्रत्यागच्छति ।)

राजा—[सहरंम् ।] चित्रनेत्रे दिष्ट्या वर्धसे । प्रकृतिमापन्ना ते प्रियसखी । परय ।

आविर्भूते शशिनि तमसां मुच्यमानेन रात्रिनैशस्यार्चिर्हुतमुजइव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा ।
मोहेनान्तर्वस्तुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा गङ्गारोधःपतनकलुषा गच्छतीव प्रसादम् ॥६॥

राजा—सुन्दरी ! धीरज धरो । अब राजसौंका कोई डर नहीं रहा, क्योंकि इन्द्रका बल तो वीनों लोकोंकी रक्षा कर सकता है, इसलिये तुम अपनी बड़ी-बड़ी आँसों उती प्रकार खोल दो जैसे प्रातःकाल होनेपर कमलिनी अपना फूल खोल देती है ॥ ६ ॥

चित्रलेखा—यह वड़े अचरज की बात है कि जिसके चलते हुए सौंसको देखकर ही विश्वास होता है कि यह जो रही है वह अभीतर अपनी आँसों नहीं खोल रही है ।

राजा—भद्रे ! तुम्हारी सखी बहुत ही डर गई है । क्योंकि इसके बड़े-बड़े स्तनोंके बीचमें जो मन्दारकी माला पड़ी हुई है उसके बराबर हिलनेसे ही यह पता चल रहा है कि इसका हृदय डरके मारे अभी तरु बड़ा काँप रहा है ॥ ७ ॥

चित्रलेखा—[दुली होकर] सखी उर्वशी ! धीरज धरो । ऐसा करती हुई, तुम अक्सरा नहीं जान पड़ती ।

राजा—इनके स्तनोंके रूपर हिलनेवाले यत्नसे ही यह पता चल रहा है कि डरसे जो काँप-काँपी छुटो थी वह अभीतर इनके फूल जैसे कोमल हृदयको छोड़ नहीं रही है ॥ ८ ॥

[उर्वशी आँसों ग्वाती है ।]

राजा—[प्रसन्न होकर] क्याहै हे चित्रलेखाजी ! आपकी सखीने आँसों खोल दी हैं । देखो—गूँगा दूर होनेपर आपकी सखी ऐसी लगती हैं जैसे चन्द्रमाके निरुद्ध अग्नेपर अधेरेसे छूटी हुई रात हो, या रातके समय बिना घुँघवाली अग्निभी लपट हो, या गंगाजीकी यह धारा हो जो कगारके गिरनेसे मँदली होकर फिर स्वच्छ हो गई हो ॥ ९ ॥

चित्रलेखा—सहि उच्यसि वीसद्ध भव । आवरणानुकम्पिणा महाराएण पडिइदा वस्तु दे
विदसपरिपन्थियो हतासा दाखवा । (सति उर्वशी विसृज्या भव । आपन्नानुकम्पिना महाराजेन
प्रतिहताः राज्ञे त्रिदशपरिपन्थिना हतासदानवाः ।)

उर्वशी—[चक्षुषी उन्गीत्य ।] किं पहावदंसिषा महिन्देण अन्धुचपह्मि । (किं प्रभाव-
रक्षिना महेन्द्रेणान्धुरप-नास्मि ।)

चित्रलेखा—ए महिन्देण । महिन्दसरिसाणुभावेण राएसिणा पुत्तरवसेण । (न महे-
न्द्रेण । महेन्द्रएहत्तानुम वेन राक्षिणा पुत्तरवसा ।)

उर्वशी—[राजानमरलेक्य । आत्मगतम् ।] उच्यिदं वस्तु दाणवेन्दसंरम्भेण । (उच्यते
उल्ल दानवेन्द्रसंरम्भेण ।)

राजा—[उर्वशी विलोक्य । आत्मगतम् ।] स्थाने राज्ञे नारायणमूर्तिं विलोभयन्त्यस्तदूर-
संभयामिमां विलोभय प्रीडिताः सर्वा अप्सरस इति । अथवा नेयं तपस्विनः सृष्टिरित्ययमि ।
कुतः ।

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः

शृङ्गरेकरसः स्वयं नु मदनो मातो नु पुण्याकरः ।

वेदान्यासजडः कथं नु विपपन्पाशुत्तकीतुहलो

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ १० ॥

उर्वशी—इता चित्तलेदे सहोश्रयो कहि वस्तु भवे । (सति चित्रलेखे सतीजनः कुन खल्ल
भवेत् ।)

चित्रलेखा—सती उर्वशी ! विरवास करो, देवताओंके शत्रु हुए राजसोंको मार
भगाया है ।

उर्वशी—[ओंते खोल्सर] क्या बलशाली इन्द्रने मुझे बचाया है ?

चित्रलेखा—नहीं, इन्द्रके ही समान घोर राजपिने ।

उर्वशी—[राजको देखकर मनमें] यह तो राजसोंने मुझपर उपकार ही किया है ।

राजा—[उर्वशीको देकार मन ही मन] नारायण अपिसो लुभानेके लिये जो अप्सराएँ
गई थीं, उन्होंने जब अपिसी जंघासे उत्पन्न होनेवाली इस उर्वशीके रूपको देखा तो वे
सज कोप गईं । यह ठीक ही था, क्योंकि ऐसा सुन्दर रूप कोई तपस्वी तो उत्पन्न कर नहीं
सकता । इसे बनानेके लिये या तो चाँदनी देनेवाले चन्द्रमा ही स्वयं ब्रह्मा बने होंगे या
शृङ्गार रसके देवता स्वयं कामदेवने इसे बनाया होगा, या फिर घसमने ही इसे रचा
होगा । नहीं तो थताइए, भला वेद पढ़-पढ़ कर पयराए हुए और भोग-यिलाससे दूर रहने-
वाले वे वृद्धे अपि ऐसा सुन्दर रूप कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १० ॥

उर्वशी—सती चित्रलेखा ! हमारी सय सखियाँ यहाँ होंगी ?

चित्रलेखा—सहि अभयम्पदाई महाराजो जाणादि । (सति अभयपदायी महाराजो जानाति ।)

राजा—[उर्वशी विलोक्य ।] महति विपादे वर्तते सखीजनः । परयतु भवती ।

यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः पथि स्थिता सुंदरि यस्य नेत्रयोः ।

त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्सखीजनस्ते किमुदारसौहृदः ॥ ११

उर्वशी—[आत्मगतम् ।] अमिधं क्खु दे वअणम् । अहवा चन्दादो अमिधं ति किं अच्चरिअम् । [प्रकाशम् ।] अदो एव मे पेक्खिअहुं तुवरदिं हिअअम् । (अगत एव मे वचनम् । अथवा चन्द्रादमृतमिति किमाश्चर्यम् । अत एव मे प्रेक्षितुं त्वरते हृदयम् ।)

राजा—[हस्तेन दर्शयन् ।]

एताः सुतनु सुखं ते सख्यः पश्यन्ति हेमकूटगताः ।

उत्सुकनयना लोकाश्चन्द्रमिवोपप्लवान्मुक्तम् ॥ १२ ॥

[उर्वशी उभिलाषं पश्यति ।]

चित्रलेखा—हला किं पेक्खसि । (सति किं प्रेक्षते ।)

उर्वशी—एवं समदुःखगदो पिथीअदि लोअणेहिं । (ननु समदुःखगतः पीयते लोचनान्भ्याम्)

चित्रलेखा—[सतिमतम्] अइ को । (अयि कः ।)

उर्वशी—एवं पणइअणो । (ननु प्रणयिजनः ।)

चित्रलेखा—हमें बचानेवाले महाराज ही जानते होंगे ।

[उर्वशीको देखकर]

राजा—आपकी सखियाँ बड़ी ही दुःखी दिखाई दे रही हैं । देखिए, यदि आपको कोई एक धार भी दैवयोगसे देख ले तो वह भी आपके वियोगमें विकल हो उठे, फिर, आपके प्रेममें पगी हुई सखियोंकी ही बात ही क्या ? ॥ ११ ॥

उर्वशी—[मन ही मन] आपके बचन तो अमृत हैं । पर चन्द्रमासे यदि अमृत बरसे तो आश्चर्य ही क्या । [मङ्ग] इसीलिये तो मैं तो हृदय उन्हें देखनेके लिये इतनी कटावटी कर रहा हूँ ।

राजा—[हाथसे दिखाता हुआ] वह देखिए, आपकी सखियाँ हेमकूट पर बैठी हुई आपकी ओर घैली ही उत्सुकतासे देख रही हैं जैसी वस्तुकतासे लोग प्रहणसे छूटे हुए पन्द्रमाको देखा करते हैं ॥ १२ ॥

[उर्वशी राजाको चाहके साप देलती है ।]

चित्रलेखा—इतने ध्यानसे क्या देख रही हो सखी ?

उर्वशी—जो अपने दुःखमें काम आये उन्हें आपसे भी रही हूँ ।

चित्रलेखा—[रौंकर] अरी किन्हें ?

उर्वशी—अपने प्यारे लोगोंको ।

रम्भा—[सस्पमकलोक्य] हला चित्तलेटादुदोशं पिश्रसहीं उवसों गेपिहस्य विसाहा-
सहिषो विष्य भश्चवं सोमो समुवद्विदो राएसी । (सखि चित्रलेटा'द्वतीयां प्रियसलीमुखशीं
यदीशा विशारकासहित इव भगवान्घोमः समुपरिषतो राजर्षिः ।)

मेनका—[निर्गण्य] हला दुवे वि खो एत्य पिश्रा उवएदा । इश्रं पचचाणीदा पिश्र-
सही । अश्रं'च अपरिक्लदसरीरो राएसी दीसदि । (सखि द्वे वधि नोऽत्र प्रिये उपनते ।
इथं प्रथानोता प्रियसली । अय चापरिद्धतशरीरो राजर्षिः ।)

सहजम्बा—सहि जुत्तं मयासि दुज्जओ दाणओ ति । (सखि युक्त भगति दुर्बधे दानन
इति ।)

राजा—सूत इदं तच्छैलशिपरम् । अवतारय रथम् ।

रत्नः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । [इति तथा कथति ।]

[उर्वशी रथावतारकोभं नाटयन्ती सत्राथं राजानमत्रकम्पते ।]

राजा—[स्वगतम् ।] हन्त सफलो मे विषयावतारः ।

यदिदं रथसंज्ञोभादङ्गेनाङ्गं ममापतेक्षया ।

सृष्टं सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥ १३ ॥

उर्वशी—हला किं वि पदो ओसर । (सखि विमपि पत्तोऽपसर ।)

चित्रलेखा—णाहं सककेमि । (नाह शक्रोमि ।)

रम्भा—[एवंते देसपर] चित्रलेखा और प्यारी सखी उर्वशीको साथ लेकर यह राजर्षि
उसी प्रकार इधर चले आ रहे हैं जैसे विशारकके दो वारोंके साथ चन्द्रमा चले आ रहे हैं ।

मेनका—[विचारकर] सखी, ये दोनों वारों अच्छी ही हुईं कि हमारी सखी भी
लौटकर आ गई और राजाको भी किसी प्रकार चोट नहीं आई ।

सहजम्बा—तुम ठोक यह रही हो सखी ! नहीं तो भला इन राजसोंको क्या कोई कभी
जीत पाता है ?

राजा—सारथी ! यही है यह पर्वतकी चोटी ! रथ यहाँ उतार लो ।

सारथी—जैसी आयुष्मान्की आज्ञा ।

[रथ उतारता है ।]

[रथके उतरनेके क्षणके नाट्य करती हुई उर्वशी राजाके शरीरसे एग जाती है ।]

राजा—[मन ही मन] इस ऊबड़-खाबड़ भूमिपर रथका उतरना मेरे लिये अच्छा ही
हुआ, क्योंकि रथके हिलने-डोलनेसे इस चड़ी-चढ़ी औरोंवाली मुन्दरीके शरीरसे मेरे
शरीरके पार-पार छूनेपर शरीरमें जो रोमांच हो आया है वह ऐसा जान पड़ता है मानो
प्रेमके अङ्कुर फूट आये हों ॥ १३ ॥

उर्वशी—सखी ! योड़ा इधरको दृष्ट जाओ ।

चित्रलेखा—मुझसे तो नहीं दृष्ट जाता ।

रम्भा—एतत् पित्र्यधारिणं संभावेन्ह राणसिम् । (अत्र प्रियकारिणं सभावयामो राजर्षिम् ।)
[सर्वा उतरवन्ति ।]

राजा—सूत उपरलेपय रथम् ।

यावत्पुनरियं सुभ्रूस्तसुकामिः समुत्सुका ।

सखीभिर्याति संपर्कं लताभिः श्रीरिवार्तवी ॥ १४ ॥

[सूतो रथ स्थापयति ।]

अपरसः—दिद्विआ महाराओ विजएण वड्ढदि । (दिध्या महाराजो विजयेन वर्धते ।)

राजा—भवत्यश्च सखीसमागमेन ।

उर्वशी—[चित्रलेखादृच्छस्नावल्गुश रथादवतीर्य] हता अधिभ्रं परिस्सजह । ए वसु मे आसो आसासो जहा पुणो वि सहीअणं पेक्खिस्सं ति । (सख्यः अधिक परिष्वज्य । न पल्ल मे आसीदास्वात्सो यथा पुनरपि सखीजन प्रेक्षिष्य इति ।)

[सख्यः परिष्वजन्ते]

मेनका—[आशङ्क्य] सख्यवहा कम्पसदं महाराओ पुहविं पालअन्तो होडु । (सर्वथा कल्याणं महाराजः शुचिर्वा पालयन्भवतु ।)

सूतः—आयुष्मन् पूर्वस्यां दिशि महता रथवेगेनोपदर्शितः शब्दः ।

अयं च गगनात्कोऽपि तप्तचामीकराद्गदः ।

अधिरोहति शैलाग्रं तडित्वानिव तोयदः ॥ १५ ॥

रम्भा—चलो, अपना भला करनेवाले इस राजर्षिका हम लोग आगे बढ़कर स्वागत तो करें ।

[सब आगे बढ़ती हैं ।]

राजा—सारथी ! रथको इनके पास तक तो बढ़ा ले चलो, जिससे यह बड़ी अधीर सुन्दरी अपनी धवराई हुई सखियोंसे उसी प्रकार मिल ले जैसे बसन्तकी शोभा लताओंसे जा मिलती है ॥ १४ ॥

[सारथी रथ खड़ा कर लेता है ।]

अपरारौं—इस विजयपर महाराजको बधाई है ।

राजा—आप सबको भी अपनी प्यारी सखीसे मिलनेकी बधाई है ।

उर्वशी—[चित्रलेखाके हाथके सहारे उतरकर] सखियों ! मुझसे कसकर गले मिल लो ! मैं तो तुम सबसे मिलनेकी आशा ही छोड़ बैठी थी ।

[सखियों गले मिलती हैं ।]

मेनका—[प्रशंसा करते हुए] महाराज सैबकों कल्पौतिक पृथ्वीका पालन करते रहें ।

सारथी—महाराज ! पूर्व दिशाकी ओरसे किसी वेगसे आते हुए रथकी घड़घड़ सुनाई दे रही है । देखिए, तपे हुए सोनेका भुजबन्ध पहने हुए कोई इसी पर्वतके शिखरपर आकाशसे उसी प्रकार उतर रहा है जैसे कोई विजलीबाधा बादल हो ॥ १५ ॥

अम्बरसः—[परवन्धः ।] अस्मो चित्तरहो । (अतो चित्ररथः ।)

[ततःप्रविशति चित्ररथः ।]

चित्ररथः—[राजान दृष्ट्वा स्तब्धमानम् ।] दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तौ विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।

राजा—अये गन्धर्वराजः ॥ [रथादवतीर्थः ।] स्वागतं प्रियसुहृदे ।

(परस्परं हस्तौ स्पर्शतः ।)

चित्ररथः—यस्य केशिना वृतामुर्वशीं नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्याः शतशतानां गन्धर्वसेना समादिष्टा । ततो वयमन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिदस्थमुपागताः । स भवानिमां पुरस्कृत्य सदास्माभिर्मवधन्तं व्रष्टुमर्हति । महत्प्रभु तत्रभवतो मपोनः प्रियमनुष्ठितं भवता । पश्य ।

पुरा नारायणेनेयमतिमृष्टा मरुत्वते ।

दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा संप्रति त्वया ॥ १६ ॥

राजा—सजे मैवम् ।

ननु वज्रिण एव धीर्यमेतद्विजयन्ते द्विषतो यदस्य पश्याः ।

वसुधाधरकंदराविसर्पीं प्रतिशब्दो हि हरैर्हिनस्ति नागान् ॥ १७ ॥

चित्ररथः—युक्तमेतत् । अनुत्सेकः तलु विक्रमालंकारः ।

अम्बरसः—[देवती हुई] अरे ! ये तो चित्ररथ हैं ।

[चित्ररथका प्रवेश]

चित्ररथः—[राजाको देवतर आदखे] इन्द्रका उपकार करनेकी शक्ति रखनेवाले महाराज ! आपको बधाई है ।

राजा—अरे आप ! गन्धर्वराज ! [रथसे उतरकर] स्वागत करता हूँ मित्र ! [दोनों आपसमें हाथ मिलते हैं ।]

चित्ररथः—यस्य ! नारदजीने इन्द्रसे अभी-अभी बताया है कि उर्वशीको बेशो हर ले गया है । यह सुनकर इन्द्रने गन्धर्वोंकी सेनाको आज्ञा दी कि उसे जाकर छुड़ा लायो । इसी धीचर्म हमने मार्गमें देखा कि चारण लोग आपकी विजयके गीत गाते चले आ रहे हैं । वस उसे सुनकर हम लोग इधर चले आए । अब आप उर्वशीको लेकर रखें हमारे साथ भगवान् इन्द्रसे चलकर मिलिए, आपने सचमुच इन्द्रका बड़ा भारी उपकार किया है ।
देवियः—जैसे पहले, तपस्वी नारायणने इसे उत्पन्न करके इन्द्रको सौंप दिया था वैसे ही अब देवियोंके हाथसे छुड़ाकर आप मित्रके नाते इसे इन्द्रको भेंट कर दीजिए ॥ १६ ॥

राजा—नहीं नहीं ऐसा न कहो मित्र ! यह सब इन्द्र भगवानके ही पराक्रमका तो फल है कि उनके मित्र अपने शत्रुओंको उसी प्रकार मार भगाते हैं जैसे पर्यतशी गुफासे टकराकर गूँजती हुई सिद्धरी दहाइ हाथियोंको डराकर भगा देती है ॥ १७ ॥

चित्ररथः—ठीक ही है । जो पराक्रमी होते हैं उन्हें विनय ही शोभा देता है ।

राजा—सारे नायमवसरो मम शतक्रतुं द्रष्टुम् । अतस्तवमेवात्रभवती प्रभोरन्तिकं प्रापय ।

चित्ररथः—यथा भवान्मन्यते । इत इतो भवत्यः ।

[सर्वाः प्रस्थिताः ।]

उर्वशी—[जनाग्निकम्] हला चित्तलेहे, उवआरिखं रायसि ए सकखोम आमन्तेदुम् । ता तुमं एव मे मुहं होहि । (सखि चित्रलेखे । उपकारिण राजर्षि न शक्नोम्यामभ्यवितुम् । तत्त्वमेव मे मुखं भव ।)

चित्रलेखा—[राजानमुपेत्य ।] महाराज उलयसी विष्णवेदि—महाराएण अन्मणुएणादा इच्छामि पिअसहिं विअ महाराअस्स किंतिं सुरलोअं एदुं । (महाराज उर्वशी विशापयति— महाराजेनाभ्यनुज्ञातेऽगमि प्रियसखीमिय महारावस्य कीर्तिं सुरलोक नेतुम् ।)

राजा—गम्यतां पुनर्दर्शनाय ।

[सर्वाः समन्धर्वा जाकाशोऽस्तन रूपयन्ति ।]

उर्वशी—[उऽस्तनमङ्ग रूपयित्वा ।] अम्मो लदाविडवे एसा एआवली वैअअन्तिआ मे लग्गा । [उव्याअमुपदरय राजानं परयन्ती ।] सहिं चित्तलेहे मोआवेहि दाव एं । (अरो एता- विटप एवैकावली वैजयन्तिअ मे लग्गा । सखि चित्रलेखे माचय तावदेनाम् ।)

चित्रलेखा—[विछान्य विहृत्य च] आं दिडं कखु लग्गा सा । अस्सका मोआविदुं । (आगू दड लखु एमा सा । अशक्य मोचयितुम् ।)

उर्वशी—अलं पडिहासेन । मोआवेहि दाव एं । (अल परिहासेन । मोचय तावदेनाम् ।)

राजा—मित्र ! इस समय तो मैं भगवान् इन्द्रका दर्शन कर नहीं सकूँगा, इसलिये आप ही इस समय इन्हें स्वामीके पास पहुँचा आइए ।

चित्ररथ—जैसी आपकी इच्छा । इधरसे आइए देखियो ! इधरसे ।

[सब चली जाती है ।]

उर्वशी—[अलग] सखी चित्रलेखा ! अपने ऊपर इतना उपकार करनेवाले राजर्षिसे थलते हुए बिदा लेनेमें मुझे तो लाज लग रही है, इसलिये तुम्होंमेरी ओरसे बिदा माँग लो ।

चित्रलेखा—[राजाके पास पहुँच कर] महाराज ! उर्वशी कह रही है कि मैं चाहती हूँ कि महाराजकी आज्ञासे यों महाराजकी कीर्तिको अपना सखी बनाकर इन्द्रलोकमें ले जाऊँ ।

राजा—जाइए, पर फिर दर्शन अवश्य दीजिएगा ।

[सब अप्पराएँ गन्धर्वके साथ जाकाशमें उदनेका नाट्य करती हैं ।]

उर्वशी—[उदनेमें बाधा पदनेका नाट्य करती हुई ।] अरे खो ! इस लताकी शारामें मेरी इच्छाकी योजयन्तीकी मात्रा ही फँस गई ! [घूमकर राजाको देखती है ।] सखी चित्र लेखा ! इसे छुड़ाओ तो आकर ।

चित्रलेखा—[देखकर हँसते हुए] हाँ, यह तो बड़ी बुरी फँस गई है । यह क्या छुड़ाए दूँगी है ?

उर्वशी—अच्छा ठिठोली रहने दो, पहले छुड़ाओ तो इसे ।

चित्रलेखा—आ दुम्नोआ विअ मे पढिहादि । तदा वि मोआकस्तं दाव । (धाम् दुम्नो-
चेव मे प्रतिभाति । तथापि मोचयिष्ये तावत् ।)

उर्वशी—[शिमत कृत्वा] विअसदि सुमरेहि क्यु एदं अत्तणो वअणम् । (पियत्थि
स्मरस्व एत्थेतद मनो वचनम् ।)

राजा—[स्वगतम् ।]

प्रियमाचरितं लते त्वया मे गमनेऽस्याः क्षणनिघ्नमाचरन्त्या ।

यदियं पुनरप्यपाद्गनेत्रा परिघृत्तार्धमुत्सी मया हि दृष्टा ॥ १८ ॥

[चित्रलेखा मोचयति । उर्वशी राजानमालोकयन्ती सनि.स्वाकं सतीजनमुत्पतन्त पश्यति ।]

सूत —आयुष्मन् ।

अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराधान्प्रक्षिप्य दैत्याँल्लयणाम्नुगशौ ।

वायव्यमस्रं शरधिं पुनस्ते महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम् ॥ १९ ॥

राजा—तेन ह्युपरलेपय रथम् । यावदारोहामि । [एतत्तथा करोति । राजा नाट्येन रथमा-
रोहति ।]

उर्वशी—[वरह राजानमवलोकयन्ती ।] अवि नाम पुणो वि उअआरिखं एदं पेन्निस्सतं ।
(अवि नाम पुनरप्युपकारिणमेत प्रेक्षिष्ये ।)

[इति शापव्यां सह सतीभिर्निष्पान्ता ।]

चित्रलेखा—अरे यह छूटती तो नहीं दिखाई देती, फिर भी देखती हूँ छुड़ाकर ।

उर्वशी—[हँकती हुई] प्यारी सती ! देख, अपने ये शब्द स्मरण रखना, भूलना मत ।

राजा—[मन ही मन] हे लता । तुमने इसे रोककर मुझपर यह बड़ी ही कृपा की है कि इधरको आधा मुँह फेरकर देखती हुई इस घड़े बड़े नेत्रवालीको मैंने इसी पहाने आँख भर देर सो लिया ॥ १८ ॥

[चित्रलेखा माग छुड़ा देती है । उर्वशी राजाको देखकर लम्बी साँसें लेकर ऊपर उड़ती हुई कलियोंको देखती है ।]

सूत—आयुष्मान् शन राजसोंको समुद्रमें मोंककर आपका वायव्य वाण आपके तूणोरमें उसी प्रकार आकर पैठ गया जैसे कोई साँप अपने दिलमें आकर पैठ जाय ॥ १९ ॥

राजा—रथको थोड़ा पास तो बढ़ा लाओ जिससे मैं चढ़ सकूँ ।

[सारथी रथको पास ले आता है और राजा रथपर चढ़नेका नाट्य करता है ।]

उर्वशी—[बड़ी चाहके साथ राजाको देखती हुई] क्या मैं अपने ऊपर उपकार करनेवाले इन राजर्षियोंके फिर कभी देख पाऊँगी ?

[गणपति और कलियोंके साथ उर्वशी चली जाती है ।]

राजा—[उर्वशीवत्सोन्मुलः ।] अहो दुर्लभाभिलाषी मदनः ।

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यमद्युत्पतन्ती ।

सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्स्रं मृणालादिव राजहंसी ॥ २० ॥

[इति निष्काशो ।]

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥

राजा—[गिर उर्वशी गई उधरको देखते हुए] ओह ! कामदेव भी उसीकी ओर खींच ले जाता है । जिसका मिलना बड़ा कठिन होता है—यह अप्सरा आकारमें उड़कर जाती हुई मेरे मनको शरीरसे उसी प्रकार बलपूर्वक खींचे लिए जा रही है, जैसे कोई राज-हंसी दूटे हुए कमलकी डंठलसे उसका तंतु खींचे लिए चली जा रही हो ॥ २० ॥

[चले जाते हैं ।]

॥ पहला अंक समाप्त ॥

द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति विदूषकः ।]

विदूषकः—ही ही भोः शिमन्त्रणिको परमरणेण विञ्च राञ्चरहस्तेण फट्टमाणो ण सक्खोमि जणाइण्यो अइण्योण अत्तणो जीहं धारिट्ठुम् । ता जाव सो राञ्चो धम्मासणगदो इदो आअच्छइ दाव इमस्सिं विरलजणसंवादे देवच्छन्दअप्पासादे आरुहिअ चिट्ठिस्सम् । [परिक्रम्योपविश्य पाणिभ्यां मुखं पिपाय स्थितः ।] ही ही भोः निमन्त्रणिकः परमान्नेनेव राञ्चरहस्तेन स्फुरन् शक्तमि जनाकीर्णेऽहोर्तनेनात्मनो बिद्धा धारयित्तुम् । तद्यावत्स राजा धर्मासनगत इव व्यापति तावदेतस्मिन्विरलजनधपाते देवच्छन्दकप्पासाद, आरुह्य त्पाये ।)

[ततः प्रविशति चेटो]

चेटी—आखत्तन्दि देवीए कसिराअदुहिदाए जघा—इज्जे शिवणिए जदो पट्टदि भञ्जदो सुज्जस्स उअत्थाणं कटुअ पडिणित्तो महाराओ तदो पट्टदि सुण्णाहिअओ विअ लक्खीअदि । ता तुसं वि दाव अज्जमाणवआदो जारणादि से उक्खटाकालणं त्ति । ता कइं सो बन्धुअन्धु अदिसंघादण्वो । अहया तण्णालगं विअ अवस्साअसतिलं ण तस्सिं राञ्चरहसं चिरं चिट्ठदि त्ति तक्केमि । ता जा खं अरणेसामि । [परिक्रम्यावलोक्य च ।] अस्मो आत्तेइअवाणरो विअ किंपि मन्तअन्तो शिट्ठदो अज्जमाणअवो चिट्ठदि । ता जाव खं उवस-

द्वितीय अङ्क

[विदूषक प्रवेश]

विदूषक—हँ.हँ.हँ.हँ! न्योता जीमनेवाले पेट्ट माणाएका पेट जैसे फटा पड़ता है, वैसे ही राजाके प्रेमकी बात कहने को मेरा भी जी ऐसा फटा पड़ रहा है कि मैं अपनी जांभको इतने लोगोंके बीचमें धोखेनेसे रोक नहीं पा रहा हूँ । जो जयतक मेरे भाननीय मित्र महाराज, राजसभासे लौटें तबतक मैं इस देवच्छन्दक नामके भयनमें ही चलकर बैठूँ जहाँ लोगोंकी पहुँच भी बहुत कम होती है । (हाथसे मुख बन्द कर बैठता है)

[इतनेमें चेटो आती है ।]

चेटी—काशी-नरेशकी कन्याने मुझे आज्ञा दी है किन्हे निपुष्टिका ! भगवान् सूर्यकी उपासना करके जबसे महाराज लौटे हैं सभीसे वे कुछ अन्नमनेसे दिखाई देते हैं । इसलिये तू जाकर उनके प्यारे मित्र माणवक्से उनकी उदासीका कारण पूछ आ । अब मैं उस मूर्खको कैसे कोढ़ूँ ? पर मैं समझती हूँ कि जैसे घासपर पड़ी हुई ओसकी बूँद बहुत देर तक नहीं ठहर पाती वैसे ही उसके पेटमें राजाकी गुप्त बातें बहुत देरतक नहीं पच सकेंगी ।

प्पामि । [उपखस्य ।] अञ्ज वन्दामि । (आशुतादिम देव्या काशिराजदुहित्रा यथा—हृदये निपुणिके दतः प्रभृति भगवतः सूर्यस्योपरस्थान कृतानां प्रतिनिवृत्तो महाराजस्ततः प्रभृति शून्य हृदय इव लक्ष्यते । तद्वन्नपि तावदायंमाणवकाञ्जवानीहास्योत्पत्ताकारणमिति । तत्स्थं यं ब्रह्मबन्धुरतिसंघातः । अथवा तृणाप्रलम्भमिवावस्थावल्लिल न तस्मिन्नावरहस्य चिरं तिष्ठतीति तर्कयामि । तथायदेन-मन्वेदयामि । अहो आलेख्यवानर इव किमपि मन्वयन्निभृत आयंमाणवकस्तिष्ठति । तथायदेनमुप-सर्पामि । आयं वन्दे ।)

विदूषकः—सत्यि भोदीए । [आत्मगतम्] एदं दुष्टचेद्विभ्रं पेक्खिअ तं राअरहसं द्विअअं भिन्दिअ णिक्कमदि विअ, [किञ्चिन्मुत्तं संवृत्य । प्रमाद्यम् ।] भोदि णिउणिएसंगीद-पायारं उज्झिअ कहिं पत्थिदासि । (स्वस्ति भवत्यै । एता दुष्टचेदिका प्रेष्य तद्राजराजस्य हृदय भित्त्वा निष्कामतीव । भवति निपुणिके संगीतव्यापारमुज्झिता कुत्र प्रस्थिताहि ।)

चेटी—देवीए वअण्णेण अज्जं एव्व पेक्खिअदुम् । (देव्या वचनेनार्यमेव प्रेषितम् ।)

विदूषकः—किं तत्तमोदी आणवेदि । (किं तत्रभवत्प्राणायमि ।)

चेटी—देवी भणादि जथा—अज्जस्स मम उअरि अक्खिअणाम् । ए मं अण्णइहवेअज्जं दुक्खिअदं अवलोअदि त्ति । (देवी भगति यथा—अर्पयस्व मगोपरि अवाक्षिण्यम् । न गाममुचित-वेदना दुःखितामवलोकयतीति ।)

विदूषकः—णिउणिए किं वा पिअवअस्सेण तत्तमोदीए पडिअलं किंवि सभाअरिदम् । (निपुणिके किं वा प्रियवयस्येन तत्रभवत्याः प्रतिकूलं किमपि समाचरितम् ।)

चेटी—जं णिमिअं उण्ण भट्ठा उक्कण्ठिदो ताए इत्थिअए एअमेण भट्ठिया देवी अल-विदा । (यन्निमित्तं पुनर्मूर्ता उरुक्कण्ठितः तस्याः स्त्रिया नाम्ना भर्ता देवी आलपिता ।)

इसीलिए चले, उसको खोज देलें । [धूमकर और देख कर] अरे, आर्य माणवक तो यहाँ चित्रमें बने हुए बन्दरके समान कुछ सोचते हुए चुपचाप-से बैठे हुए हैं । तो चले इतके पास [पास जाकर] आर्य ! प्रणाम करती हूँ ।

विदूषक—कल्याण हो आपका । [मन ही मन] इस दुष्ट दासीको देखकर तो राजाके प्रेमकी गुप्त बातें हृदय फोड़कर बाहर निकलना चाहती हैं । [प्रकट] कहो निपुणिकाजी ! अपना गाना-बजाना छोड़कर किधर चली हो ?

चेटी—देवीकी आज्ञासे आपके ही दर्शनके लिये तो आ रही थी ।

विदूषक—कहो कहो, महारानीजीने क्या कहलाया है ?

चेटी—देवीने कहलाया है कि आजकल आप हमपर कृपा नहीं कर रहे हैं और अकारण इतनी बड़ी चिन्तामें जलती हुईको देखने भी नहीं आते ।

विदूषक—निपुणिका ! क्या इधर महाराजने कोई देवीके मनके विरुद्ध काम फर शाला है ?

चेटी—हाँ ! आजकल महाराज जिसे प्यार करते हैं, उसीका नाम लेकर इन्हीं देवीको पुकार दिया ।

विदूषक—[स्तगतम् ।] कहूँ सअ एअ तत्तमोदा वअस्सेण रहस्सभेदो कियो । किं दाणिं अहं वन्हणो जीह रञ्जित्तुं समत्थोमिह । [प्रकाशम् ।] किं तत्तमोदा उअसीणामवे-
एण आमन्तिवा । (कथ स्वयमेव तत्रमयता वयस्येन रहस्यभेदः इत्यतः । किमिदानीमहं ब्राह्मणो
विहा रक्षितुं समर्थोऽसिम् । किं तत्र भरता उर्वशीनामवेयेनामन्त्रिता ।)

चेटी—अज्ज का सा उअसी । (आर्य का सा उर्वशी ।)

विदूषकः—अत्ति उअसिं ति अउअरा । ताए दंसएण उअमादित्थो ण केअलं तं आआसेदि
मं वि यन्हणं असिदव्वविमुह दिअ पोडेदि । (अस्त्वयंशोऽल्पव्याः । तस्या दर्शनेनोन्मादितो न
केवलं तामायसयति मामपि ब्राह्मणमशितन्यविमुख इदं पीडयति ।)

चेटी—[स्तगतम् ।] उवादिदो मए भेअो भट्ठिणो रहस्सदुग्गस्स । सा गदुअ देवीए
एदं णिवेदेमि । (उवादिदो गथा भेदो गतुं रहस्यदुर्गस्य । तद्गत्वा देव्यै एतन्निवेदयामि ।)
[इति प्रविशता ।]

विदूषकः—णिउणिए विण्णावेहि मम वअण्णेण काशिराअदुद्धिरम्—परिस्सन्तमिह इमाए
गिअतिएहआए वसस्सं गिअत्तावेदुम् । जहं भोदीए मुहकमल पेक्खिस्सदि तदो गिअत्ति-
स्सदि ति । (निपुणिके विद्यापथ मम वचनेन काशिराबदुद्धिरम्—परिभ्रान्तोऽप्येतस्या मृगवृष्टि-
काया वयस्य निवर्तयितुम् । यदि भरता मुलकमल प्रेक्षिष्यते ततो निवर्तिष्यत इति ।)

चेटी—जं अउओ आणवेदि । (यदार्यं आशयति) [इति निष्क्रान्ता ।]

[नेपथ्ये वैतालिकः ।]

जयतु जयतु देव ।

विदूषक—[मनमे] अरे ! तो क्या स्वयं महाराजने ही सब भेडा फोड दिया ! तय मैं
ब्राह्मण होकर अपनी जीभ कैसे बाँधकर रख सकता हूँ । [प्रकट] क्या महाराजने उर्वशी
फहकर पुकारा था ?

निपुणिका—क्यों आर्य ! यह उर्वशी कौन है ?

विदूषक—अरे यह उर्वशी एक अप्सरा है । उसे देखकर महाराज ऐसी सुख-सुध तो
वैठे हैं कि उन्होंने केवल देवीका ही जी नहीं दुखा रक्खा है वरन् भोजन-पानी छोड़े हुए
इस ब्राह्मणको भी साँस दे रक्खी है ।

निपुणिका—[मनमे] स्वामीके भेदका दुर्ग तो मैंने फोड़ लिया । तो मैं जानर देवीको
यही सज यता देती हूँ ? [चलनेको उच्यत]

विदूषक—सुनो सुनो निपुणिका ! देखो, मेरी ओरसे काशिराजकी पुत्रीसे कहना कि मैं
तो अपने मित्रको इस मृगवृष्णासे बचनेकी बात समझाते-समझाते थक गया । हाँ, यदि वे
आपका मुख-कमल देख लें तो उनका मन उर्वशीसे अथस्य फिर जायगा । समझी ?

निपुणिका—जैसी आर्यकी आज्ञा । [चली जाती है ।]

[नेपथ्यमें वैतालिक]

महाराजकी जय हो ! जय हो !

आ लोकांन्तात्प्रतिहततमोऽृत्तिरासां प्रजानां
तुल्योद्योगस्तत्र च सन्निवृत्तश्चाधिकारो मतो नः ।

तिष्ठत्येकः क्षणमधिपतिर्न्योतिषां व्योममध्ये

पृष्ठे काले त्वमपि लभसे देव निश्रान्तिमहः ॥ १ ॥

विदूषक—[कण्ठे दत्ता] एसा उण पिअवअस्सो धम्मसाणसमुत्थिदो इदो एक आअ-
च्छदि । ता जाव पासपटिवत्ती होमि । [इति निष्कान्तः ।] (एष पुन. प्रियन्त्यस्यो धर्मावन-
समुत्थित इत एतावच्छति । तत्रावत्तावत्परित्यर्ता भराभि ।)

॥ प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशत्युत्कण्ठितो राजा विदूषकम् ।]

राजा—

आ दर्शनात्प्रनिष्टा सा मे सुरलोकसुन्दरी हृदयम् ।

वागेन मङ्गरकेतोः कृतमार्गमग्रन्वयपातेन ॥ २ ॥

विदूषक—सनीडा वस्तु जादा तत्तभोदी कासिराअदुद्धिदा । (गरीडा खड्ग जाता तत्रभवती
काशिराअदुद्धिदा ।)

राजा—[निरीक्ष्य] अपि रक्ष्यते भवता रहस्यनिज्ञेप ।

विदूषक—[आत्मगतम्] वञ्चिदोमिह दुष्ट दासीप णिवणिआए । अएएधा कथं एव
पुच्छदि अवस्सो । (हा थिक् हा थिक् वञ्चितोऽस्मि दुष्ट दास्या निपुणिअया । अन्यथा कथमेव
पृच्छति वयस्य ।)

हम समझते हैं कि आप और सूर्य दोनों अपना नित्यका काम ठीक एक जैसा ही करते हैं, क्योंकि सूर्य भी ससारका अंधेरा मिटाते हैं और आप भी अपनी प्रजाका कष्ट दूर करते हैं। नदोंके अकेले राजा सूर्यमें जिस प्रकार अपने कामसे छुट्टी पाकर ही आकाशमें विश्राम लेते हैं वैसे ही आप भी अपने राज-काजसे छुट्टी पाकर तीसरे पहर विश्राम करते हैं ॥ १ ॥

विदूषक—[मुनते हुए] लो, मेरे प्रिय न्यायासनसे उठे हुए इधर ही चले आ रहे हैं। तो चलो, मैं भी उनकी सेवाके लिये पहुँचूँ ।

॥ प्रवेशकः ॥

[जनमनेसे राजा आते दे, साथमें विदूषक भी है ।]

राजा—मेरे जिस हृदयमें कामदेवने अपने वाण मारकर उस स्वर्गलोककी सुन्दरीके आनेके लिये द्वार बना दिया था, उसमें वह केवल देखने भरसे ही समा गई है ॥ २ ॥

विदूषक—[मन ही मन] सचमुच काशी नरेशकी पुत्रीके तो भाग फूट गए ।

राजा—[देवकर] कहो, तुमने मेरी बात किसीको बताई वो नहीं ।

विदूषक—[मन ही मन] हाय हाय ! उस दुष्ट दासी निपुणिकाने वो मुझे बड़ा धोखा

। [दिया, नहीं तो भित्र मुझसे इस प्रकार पूछते ही क्यों ?]

राजा—किं भवोःस्तूप्णीमारते ।

विदूषकः—भो एवं मयं जीहा संजन्तिदा जेण भवदो विणत्वि पदिबअणम् । (भोः एवं मया विहा संजन्तिदा ये भवतोऽपि नास्ति प्रतिवचनम् ।)

राजा—युक्तम् । अथ केनेदानीमात्मानं विनोदयामि ।

विदूषकः—भो महाणसं गच्छन्ह । (भा महानसं गच्छाव ।)

राजा—किं तत्र ।

विदूषकः—तद्दि पजविहस्स अम्भयद्दारस्स उयण्णदसभारस्स जोअणा पेक्कमाणेहिं सक्क उक्कएठा विणोदेहुम् । (तत्र पञ्चविधस्याभ्यवहारस्वोक्ततर्तमारस्य योजना प्रेक्षणाभ्यां शक्यगु-
ल्लुष्ठा विनोदयितुम् ।)

राजा—सन्नेत्तिसत्तसनिधानाद्भवान् रंस्यते । मया खलु दुर्लभप्रार्थना कथमात्मा विनोद-
यितव्य ।

विदूषकः—खं भव वि तत्तभोदीए उव्वसीए दंसणपहं गदो । (ननु भवानपि तत्रभवत्या उर्वश्या दर्शनपथ गतः ।)

राजा—ततः किम् ।

विदूषकः—ए खलु दे दुल्लहं त्ति तक्केमि । (न खलुते दुर्लभेति तर्कयामि ।)

राजा—पक्षपातोऽपि तस्या सदृशस्यालौकिक एव ।

विदूषकः—एव्वं मन्तअन्तेण मे वड्ढिदं कोदुहलम् । किं तत्तभोदी उव्वसी अदुदुदीआ रुव्वेण अहं वीअ विरुवदाए । (एष मन्त्रवता मम वर्धित कोदुहलम् । किं तत्रभवत्युर्वश्याद्वितीया रूपेण अहमित्थं विरूपतया ।)

राजा—क्यों चुप क्यों हो गए ?

विदूषकः—देखिए, मैंने अपनी जीभको ऐसा बाँध लिया है कि आपकी बातका भी एकाएक उत्तर नहीं निकल पाया ।

राजा—ठोफ है । पर यह तो बताओ कि अपना मन मैं कैसे बहलाऊँ ?

विदूषकः—चलिए रसोईमें चला जाय ।

राजा—वहाँ क्या घरा है ?

विदूषकः—यहाँ पाँच डङ्गके पकवानोंकी सामग्री देखने भरसे ही हम लोगोंकी उदासी जाती रहेगी ।

राजा—[हँसकर] वहाँ लुहें तो अपने मन बहलानेकी सामग्री मिल जायगी, पर वड़ी कठिनाईसे हाथ लगनेवाली वस्तुके लिये तड़पनेवाले मुझको वहाँ मन बहलावके लिये क्या हाथ लगेगा ?

विदूषकः—पर आपको भी तो उर्वशीजीने देखा होगा न ?

राजा—उससे क्या ?

विदूषकः—तब ही मैं समझता हूँ कि उसका मिलना कठिन नहीं होगा ।

राजा—अरे यह इतनी अधिक सुन्दरी है कि उसे बड़ी सुन्दरी कहना भी एक अनोखी-
सी बात लगती है !

विदूषकः—आपकी इन बातोंसे तो मेरा झूठहल और भी अधिक बढ़ रहा है । क्या उर्वशीजी सुन्दरतामें उतनी ही बड़ी-बड़ी हैं जितना मैं कुरूपतामें हूँ ?

राजा—माणवक प्रत्ययवयवमशक्यवर्णनां तामवेहि । तेन हि समासतः श्रूयताम् ।

विदूषकः—भो अबहियोमि । (भोः अबहितोऽरिम् ।)

राजा— .

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।

उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥ ३ ॥

विदूषकः—अबो दाव तुए दिब्बरसाहिलासिखा चादध्वव्वं गहिदम् । ता दाव तुमं
कहि पत्थियो । (अतस्तावच्चया दिब्बरसाहिलासिखा चातनप्रतं गहीतम् । तत्राधस्व कुन प्रथितो ।)

राजा—विविक्ताहते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति । तद्भवान्प्रमदवनमार्गमादेशयतु ।

विदूषकः—[आत्मगतम्] का गदी । [प्रकाशम्] इदो इदो भवं । (का गतिः । इत इतो
मनाम् ।)

(इति परिक्रामताः ।)

विदूषकः—एसो पमदवणपरिसरो । आणमिअ पच्चवगदो भवं आअन्तुओ दक्खिण्णागा-
रुदेण । (एष प्रमदवनपरिसरः । आनम्य प्रस्तुपगतो भगवानागन्तुको दक्षिणगारुतेन ।)

राजा—[विलोभ्य] उपपन्नं विशेषजमस्य वायोः । अयं हि ।

निपिञ्चन्माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन् ।

स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात्मकामीव प्रतिभाति मे ॥ ४ ॥

राजा—मित्र माणवक ! धस यह समझ लो कि उसके अंग-अंगका वर्णन तो कोई कर
ही नहीं सकता, इसलिये थोड़ेमें ही जो बताता हूँ उसे सुनो ।

विदूषक—हाँ ! मैं सुन रहा हूँ ध्यानसे ।

राजा—उसका शरीर आभूषणोंका भी आभूषण है, गृहकारकी सामग्रियोंका भी गृहकार
है और उपमाकी वस्तुओंकी भी उससे उपमा दी जा सकती है ॥ ३ ॥

विदूषक—हूँ ! इसीलिये आप उस स्वर्गीय जलके लिये प्याले धातक बने बैठे हैं ?
अच्छा आप अभी जा विचर रहे हैं ?

राजा—प्रेमी लोग एकान्त छोड़कर और जा ही नहीं सकते हैं ? चलो, मुझे प्रमद-
वनको और ले चलो ।

विदूषक—[मन ही मन] जहाँ कहिए ले चलें । [प्रकट] इधरसे आइए महाराज
इधरसे । [शोर्नो घूमते हैं] ।

विदूषक—लोजिए पहुँच गए हम प्रमदवनके पास । आपके आते ही उद्यानको ओरसे
महता आता हुआ दक्षिणनी पवन धड़ी नम्रतासे आपको आधभगत कर रहा है ।

राजा—[देखकर] इस पायुवा दक्षिण पहलाना ठीक ही है क्योंकि माधवी-सुताको
पोंपिता हुआ और सुन्दलताको नपाता हुआ, यह पवन मुझे ऐसा जान पड़ता है, मानी
सपसे प्रेम करनेवाला और सबको एक साथ प्रसन्न रखनेवाला यह कोई कामो ही ॥ ४ ॥

विदूषक—सरिसो एव्व से अहिणिवेसो । [इति परिक्रामन् ।] एदं पमदवणम् । पवि-
सदु भवम् । (संदृश एवारशमिनिवेशः । एतत्प्रमदवनम् । प्रविशतु भवान् ।)

राजा—वयस्य प्रविशाप्रत ।

[उभौ प्रवेश नाटयतः ।]

राजा—[व्रास रूपयित्वा ।] वयस्य साधु मनसा समर्थित आपत्प्रतीकार. विल ममोदा-
नप्रवेश. । तत्त्वान्वयैवोपपन्नम् ।

विविचोर्षदिदं नूनमुद्यानं तापशान्तये । ।

स्रोतसेवोद्धमानस्य प्रतीपतरण्यं महत् ॥ ५ ॥

विदूषकः—कहं विअ । (कथमिदं ।)

राजा—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुनिवारं प्रथममपि मनो मे पञ्चवाणः क्षिणोति ।

किमुत मलययातोन्मूलिता पाण्डुपत्रैः उपवनसहकारैर्दशितेष्वङ्कुरेषु ॥ ६ ॥

विदूषक—अलं परिदेविदेण । अदरेण दे इहसंपादणेण अरण्यो एवव दे सहाओ भवि-
स्सदि । (अल परिदेवितेन । अचिरेण तवेष्टसम्पादनेनानङ्ग एव वे एहायो भविष्यति ।)

राजा—प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचनम् ।

[इति परिक्रामतः]

विदूषकः—वेक्खदु भयं वसतावदार सूअअं अहिरामत्तण पमद वयास । (प्रेशतां
भगवतन्तावतार सूचकमभिरामत्व प्रमदवनस्य ।)

विदूषक—यह भी आपके ही समान प्रेम करता है । [घूमता हुआ] लीजिए यह आ
गया प्रमदवन ! चलिए भीरत चले चलिए ।

राजा—चलो वयस्य ! आगे-आगे तुम्हीं चलो [दोनों प्रवेश करनेका नाट्य करते हैं ।]

राजा—[करनेका नाट्य करते हुए] वयस्य ! मैं तो यहाँ उद्यानमें यह भलाई सोचकर
आया था कि यहाँ जो हलका हो जायगा, पर उसका तो यहाँ उलटा फल हो रहा है ।
अपने मनकी पीड़ा मिटानेके लिये इस उद्यानमें मेरा घाना बैसा ही हुआ, जैसे यहावके
साथ तैरनेवालेको अचानक चढ़ावकी ओर तैरना पड़ जाय ॥ ५ ॥

विदूषक—यह कैसे ?

राजा—उड़ी कठिनाईसे हाथ आनेवाली वस्तुके लिये जो मेरा मन मचल पड़ा है,
इसे एक तो कामदेवने पढ़ले ही चलनो घना दिया था, उसपर यहाँ देख रहे हैं कि उद्यानके
उन घामके पेड़ोंमें फोंपलें भी फूट आई हैं जिनके पीलेपत्ते मलय-पवनने झाड़कर गिरा
दिष्ट हैं । फिर यथाओ हमारे मनको शान्ति कहांसे मिलेगी ? ॥ ६ ॥

विदूषक—चिन्ता न कीजिए । आपकी प्रियतमासे शीघ्र ही आपको मिलाकर यही
कामदेव आपका सहायक बन जायगा ।

राजा—ब्राह्मणका आशीर्वाद सिरमाथे । [दोनों घूमते हैं]

विदूषक—इस प्रमदवनकी शोभासे देखिए । जो यता रही है कि वसन्त आ गया ।

राजा—ननु प्रदिपादपमेवावलोकयामि । अत्र हि ।

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरवकं रयामं द्वयोर्भागयोः

स्ताशोकमुपोदरागतुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति ।

ईषद्वद्वरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी

मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीस्थिता ॥ ७ ॥

विदूषकः—भो एसो कस्तु सणिसिलापट्टअसणाहो अदिमुत्तलदामंडवो भमरसंघट्टपडिदेहिं कुमुमेहिं सखं विश्व किदोवअरो भवंतं पडिच्छदि । ता अणुगेहिअद्रु दाव एसो । (भोः एव खलु मणिसिलापट्टकठनाघोऽतिमुक्कलतामण्डये भ्रमरसंघट्टपटित्तैः कुमुमैः स्वयमिच कृतोपचारो भवन्तं प्रतीच्छति । तदनुग्रहता अवदेवः ।)

राजा—यथा भवते रोचते ।

[परिक्रम्योपविशतः ।]

विदूषकः—दाणि इह सुहासिणी भवं ललितललाविलोहीश्रमाण्यअण्यो उव्वसीगदं उकंठं विणोदेदु । (इदानीमिह सुलासीना भर्तृललितललाविलोम्वमाननयन उव्वसोयतामुक्कलता विनोदयतु ।)

राजा—[निःस्वस्य]

मम कुमुमितास्वपि सखे नोपवनलतासुनन्नविटपासु ।

चक्षुर्वध्नाति धृतिं तद्रूपालोकदुर्ललितम् ॥ ८ ॥

तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनो भवेद्यम् ।

राजा—मैं एक-एक पैड़को देख रहा हूँ । यह है कुरवकका फूल, जिसका सिरा छोके नखके समान लाल है और जिसके दोनों छोर सॉवले रंगके हैं । अपनी ललाईसे सुन्दर लगनेवाला यह लाल अशोकका फूल, ऐसा लगता है कि उस अथ लिलने ही वाला है । आममें कुछ-कुछ दिराई देनेवाले परागके कारण पीला-सा लगनेवाला नया धीर फूट रहा है । मित्र ! इस प्रकार यह वसन्तकी शोभा ऐसी लगती है मानो वह अपने वचपन और जवानकी चोचमें खड़ी हुई हो ॥ ७ ॥

विदूषक—देखिए यहाँ अतिमुक्त लताके मंडपके नीचे रतनजड़ी पत्थरकी चौकीपर मीरोंके उड़नेसे जो फूल गिर-गिरकर बिखरे पड़े हैं, वे ऐसे लगते हैं मानो वह मंडप, सभ सजावट करके घड़े आइरसे आपका स्वागत कर रहा हो । तो चलिए इसका भी मन रस लीजिए ।

राजा—जैसा तुम्हें अच्छा लगे । [दोनों घूमर बैठते हैं ।]

विदूषक—अब आप यहाँ सुपसे बैठकर सुन्दर लताओंमें अपने मनन चलन्नाकर वर्षशीकी चिन्ता ही मिटा डालिए ।

राजा—[शौं भरर] उसकी सुन्दरताने मेरी आँखोंपर कुछ ऐसा जादू फेर दिया है कि उन्हें इस उपवनकी फूली हुई लताएँ और कोमल पीये भाते ही नहीं हैं ॥ ८ ॥ इसलिये कोई ऐसा उपाय सोचो कि मेरे मनकी साध पूरी हो सके ।

विदूषक—[विहस्य] भो अहल्लाकामुअस महिंदस वेज्जो सचिवो, उव्वसीपज्जुच्छ-
अस अ भवदो अहं दुवेवि एस्य उम्मत्तमा । (भो: अहल्याकामुकस्य महेंद्रस्य पैवः सचिवः
उर्वशीपुरुषोक्तस्य च भरतोऽहं द्वावप्यनोन्मत्तौ ।)

राजा—मा भवाम् । अतिस्नेहः खनु कार्यदर्शी । तदुपायश्चिन्त्यताम् ।

विदूषकः—एसो चित्तेमि । मा उण परिदेविदेण मम समापि भिधि । (एष चिन्तयामि ।
मा पुनः परिदेवितेन गमभसमार्पिभिन्धि ।) [इति चिन्ता नाट्यति ।]

राजा—[निमित्तं सूचयित्वा । स्वगतम् ।]

न सुलभासकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्गनिचेष्टितम् ।

अभिमुखीष्विवकाङ्क्षितसिद्धिषु व्रजति निवृत्तिमेकपदे मनः ॥ ६ ॥

[इति जाताशक्तिवृत्तिः]

[ततः प्रविशत्याकाशयानेनार्यशी चित्रलेपा च ।]

चित्रलेपा—हंता कहीं दाणिं अग्निदिहकालणं गच्छीअदि । (हल्य कोदानोमनिर्दिष्ट
कारण गम्यते ।)

उर्वशी—[मदनवेदनामभितीय सलजम्] सहि तदा हेमऊडसिदरे लदाचिठवेण खणवि-
ण्पिइआआसगमणं मं ओहसिअ कि दाणिं पुच्छसि कहीं गच्छीअदि त्ति । (एरि तदा
हेमवृंशियरे लताविधेन धणविभिताकाशगमना मामुअहस्य किमिदानीं वृणुति व न गम्यते इति ।)

विदूषक—[हँसकर] देखिए, जैसे अहल्याको पानेकी इच्छा करनेवाले इन्द्रकी सहायता
करते समय चन्द्रमाकी बुद्धि मारी गई थी, वैसे ही प्रेममें पड़े हुए आपका सहायक होकर
मैं भी अपनी सब बुद्धि खो बैठा हूँ ।

राजा—ऐसा न कहो । जो अधिक स्नेह करता है वहाँ तो ठीक उपाय सुझा सकता है ।
इसलिये कोई उपाय सोच ही डालो ।

विदूषक—अच्छा मैं सोचने तो बैठा हूँ पर आप बीचमें ही रोना-कलपना मचाकर
मेरा ध्यान न उचाट दीजिएगा ।

[सोचनेका नाट्य करता है ।]

राजा—[अच्छे शब्दकी सूचना देता हुआ मन ही मन] पूर्ण चन्द्रमाके समान मुख-
वाली उस सुन्दरीके मिलनेकी कोई आशा तो नहीं है पर न जाने क्यों कामदेव मुझे यड़े
अच्छे सगुन दिला रहा है । मेरा मन अचानक ऐसा खिल उठा है, मानो मेरा काम घस
काने ही बाछा हो ॥ ९ ॥

[बड़ी आशा लगाकर बैठता है ।]

[विमानपर चढ़ी हुई उर्वशी और चित्रलेपा दिखाई देती हैं ।]

चित्रलेपा—क्यों सखी ! बिना सोचे-समझे रिपर चलो जा रही हो ?

उर्वशी—[काम पीड़ाका नाट्य करती हुई लज्जक साथ] सखी ! जब हेमवृट पर्यतकी
घोटीपर, लताकी शाखामें मेरी माला लटक गई थी और मेरा उड़ना थोड़ी देरके लिये
रुक गया था, उस समय मुझसे ठिठोछो करके भी अब तुम पूछ रही हो कि मैं कहाँ जा
रही हूँ ?

चित्रलेखा—किं गु कस्य तस्स रायसिणो पुरुरवस्स सथासं पत्विदासि । (किं नु खलु सध रावयैः पुरुरवसः सकारां प्ररिथतासि ।)

उर्वशी—अहं इ । अयं मे अवहत्थिदलज्जो ववसाओ । (अयं किम् । अयं मेऽवहत्थि-तल्लज्जो व्यवसायः ।)

चित्रलेखा—को ङण सदीए तर्हि पुढमं पेसिदो । (कः पुनः सख्या नात्र पुरतः प्रेषितः ।)

उर्वशी—एत्तं दिअञ्जं । (ननु, हृदयम् ।)

चित्रलेखा—तथा वि सत्थं एव साहु संपधारिअहु दाय । (तथापि रायमेव साधु सम्प्रधार्यता वाच्यत् ।)

उर्वशी—सहि मअणो कस्य म शिओएदि । कि एत्थ संपधारी अदि । (सखि मदन, सखु नियोजयति । किमत्र सम्प्रधार्यते ।)

चित्रलेखा—अदोवरं एत्थि मे वअणम् । (अतः पर नास्ति मे वचनम् ।)

उर्वशी—तेण हि आदिसीअहु मग्गो जेण तर्हि गच्छन्तीणं अंतराओ ए भवे । (तेन ह्यादिश्यता मागो येन तत्र गच्छन्त्योरन्तरागो न भवेत् ।)

चित्रलेखा—सहि चिसद्धा होदि । मं भअवदा देवगुरुणा अवराद्धं एाम सिद्धावंधण-विज्जे अवदिसंतेण तिससपडिवकरस्स अलंघणिज्जा कदम्ह । (साख विरक्तभा भव । ननु भगवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिष्यावन्वनविद्यामुपदिशता त्रिदशप्रतिपक्षपालदूपर्नाये कृते स्म ।)

उर्वशी—[उल्लसन्] अहो विमुमरिद्धं मे हिअञ्जं । (अहो विसृष्टं मे हृदयम् ।)

[उभे भ्रमणं रूपयतः ।]

चित्रलेखा—तो क्या तुम उस राजर्षि पुरुरवाके पास जा रही हो ?

उर्वशी—और क्या ? आज मैंने सब ढाज छोड़कर यही जीमें ठान लिया है ।

चित्रलेखा—तो वहाँ तुम्हारे जानेका सन्देश कौन ले गया है ?

उर्वशी—क्यों ? मेरा हृदय ।

चित्रलेखा—फिर भी इसका भला-भुरा भलो प्रकार सोच-विचार लो ।

उर्वशी—सखी ! मुझे तो कामदेवने ही इस कार्यमें शोक दिया है, फिर इसमें सोच-विचार ही कैसा ?

चित्रलेखा—तुमने तो ऐसी बात कह दी कि मेरा मुँह ही बन्द हो गया ।

उर्वशी—तो अब मुझे कोई ऐसा उपाय बताओ कि मैं वहाँ बेरोकटोक पहुँच जाऊँ ।

चित्रलेखा—चिन्ता न करो सखी ! देवगुरु वृहस्पतिने अपराजिता नामकी, पोटी पाँधनेकी विद्या सिखाते समय हमें ऐसी शक्ति दे दी है कि देवोंके शत्रु भी हम लोगोंका बाल पाँध नहीं फर सकते ।

उर्वशी—[कबाली हुई] अरी ! यह बात तो मेरे ध्यानसे ही उत्तर गई थी । [दोनों प्यसती हैं ।]

चित्रलेखा—सहि पेकर पेकर । एवं भगवदोए जमुणासंगमविसेसपावणेसु सलिलेसु
अत्ताण्णश्च ओलोअंतस विअ पड्डाण्णसत्तिहाभरणभूदं तसत्त राएसिणा भयणं उवट्टिदम्ह ।
(सखि प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । एतद्भगवत्याः भागीरथ्याः यमुनासङ्गमविशेषपावनेषु सलिलेष्वत्मानमव-
लोक्यत इव प्रतिष्ठानस्य शिलाभरणभूतं तस्य राजपैर्भजनमुपस्थिते स्मः ।)

उर्वशी—[सस्पृहमवलोक्य] एवं वक्तव्यं ठाण्णंतरगदो संगो त्ति । [विस्मय] सहि फहिं
णु कसु सो आवण्णणुणुकेपी भवे । (ननु वक्तव्यं स्थानान्तरगतः स्वर्ग इति । सखि क्व नु खड्ड
स थापन्नानुक्रमी भवेत् ।)

चित्रलेखा—हला पदस्सि सुंदरावणेकदेशे विअ पमदवणे अवदरिअ जाणित्तामो ।
(हला एतदिमन्नन्दनवनैकदेश इव प्रमदवने अवतीर्यं शास्यावः ।)

[उभे अवतरतः ।]

चित्रलेखा—[राजानं दृष्ट्वा चर्षम्] सहि एसो कसु पढमोदिदो विअ चंदो कसुदि विअ
तुमं पडिच्छदि । (सखि एष पण्डु प्रथमोदित इव चन्द्रः कौमुदीमिव तत्र प्रतीच्छति ।)

उर्वशी—[विलोक्य] हला दाणि पढमदंसणादो सविसेसं विअदंसणो महाराओ पडि-
हादि । (हला इदानीं प्रथमदर्शनात्प्रविशेष श्रियदर्शने महाराजः प्रतिभाति ।)

चित्रलेखा—जुज्जदि । ता एहि उवसप्पम्ह । (युज्यते । तदेहि उपसर्गः)

उर्वशी—ए दाव उवसप्पिरसं । तिरवरिणीपटिच्छण्णा पासगदा से भविअ सुखिसं
दाव पासवत्तिणा अथस्सेण सह विअणे किं मंत अंतो विट्ठति त्ति । (न तावदुपसर्गिणे ।
तिरस्करिणीपतिच्छन्ना पार्श्वगतास्य भूत्वा आश्रयि तावत् पाश्र्वतिना वयस्येन सह विबने किं
मन्त्रव्यापणस्तिष्ठतीति ।)

चित्रलेखा—अरो, देर देर सरी । हम लोग राजर्षिके उस भवन पर पहुँच गई हैं
जिसकी जोड़का दूसरा कोई भवन प्रतिष्ठानपुरीमें नहीं है और जो ऐसा दिखाई पड़ रहा
है मानो यमुनाजीके संगमके कारण और भी अधिक पवित्र बने हुए गंगाजीके जलमें
अपना मुँह देर रहा हो ।

उर्वशी—[चापसे देखती हुई] यह क्यों नहीं पहचती कि स्वर्ग ही यहाँ उठकर पला
आया है । [विचारकर] अच्छा सरी ! दुस्वियॉपर दया करनेवाले ये राजा इन समय
यहाँ होंगे भला ?

चित्रलेखा—बलो सरी ! नन्दनवनके समान मुहावने इस प्रमदवनमें उतरकर उनका
पता लगायें । [दोनों उतरती हैं ।]

चित्रलेखा—[राजानो देखकर प्रवृत्तताते] सरी ! जैसे नया नया निराला हुआ चन्द्रमा
चाँदनीके आनेकी बात देखा है, वैसे ही ये भी यहाँ बैठे हुए तेरे आनेकी बात देर रहे हैं ।

उर्वशी—[देखकर] सगी ! आज तो महाराज उस दिनसे भी अधिक सुन्दर जैप रहे हैं ।

चित्रलेखा—ठीक पहचती हो ! तो आओ चलें उनके पास ।

उर्वशी—नहीं नहीं, मैं तो उनके पास नहीं जाऊँगी । मैं तो मायाकी ओढ़नीमें लिपी
हुई इनके पास लगी होकर यह सुनती हूँ कि ये अपने पास बैठे हुए मित्रमे अकेलेमें क्या
बातें कर रहे हैं ।

चित्रलेखा—जं दे रोअहि । (यत्ने रोचते ।)

[उभे पयोत्तमनुतिष्ठतः]

विदूषकः—भो चितिदो मय दुल्लहत्पणइणीसमाअमोवाओ । (भाः चिन्तितो मया दुर्लभ-
प्रणयिनोसमागमोपायः ।)

[राजा तृणीमास्ते ।]

उर्वशी—[सेध्यम्] का गुंयेल्लु घण्णा इधिया जा इमिया पत्थिअमया अत्ताणथं
किदित्थेइ । (का तु एल्ल वन्वा स्त्री वा धनेन प्रार्थ्यमाहासमान कृतार्थयति ।)

चित्रलेखा—फि एण माए सअं विडंधीअदि । (कि पुनर्मानुष्य विदग्ध्यते ।)

उर्वशी—सहि भोआमि सहसापभावादो घियणाहुं । (एहि विभेमि सहसा प्रभावादि-
शब्दम् ।)

विदूषकः—भो हां भणामि चितिदो नय उवाओ ति । (भोः ननु भणामि चिन्तितो मया
उपाय इति ।)

राजा—तेन हि कथ्यताम् ।

विदूषकः—सिचिणअसमाअमआरिणि णिटं सेविदु भवं । अहवा तत्तभोदीए उवसीए
पडिकिदि चित्तपलए आलिहिअ थ्योलोअतो चिट्टु । (स्वप्नसमागमकारिणी निद्रा सेवता
भ्रान् । अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृति चित्रकल्क भालिएवावलानयैस्तिष्ठतु ।)

उर्वशी—[सार्थमागतम्] हीणसत्त हिअअ समस्सस समरसस । (हीनसत्त हृदय
समाश्रयिहि समाश्रयिहि ।)

चित्रलेखा—अच्छा यही सही ।

[दोनों वैया ही करती हैं ।]

विदूषक—सुनिए ! अपनी जिस प्यारीका मिलन आप कठिन समझ बैठे हैं, उससे
मिलनेका उपाय मैंने सोच निकाला है ।

[राजा पुनरह जाति है ।]

उर्वशी—[डारसे] ऐसी और कौन-सी बड़भागी सुन्दरी निकाल आई है, जो इनकी
चहेती बनकर अपना भाग सराहती है ।

चित्रलेखा—तुम फिर क्या मानिनी कियों जैसी पातें करने लगती हो ?

उर्वशी—सखी ! मैं अपनी देवी शक्तिसे सब पातें एक साथ जान लेनेमें थोड़ा
दरती हूँ ।

विदूषक—अरे सुनिए ! मैं कह रहा हूँ कि मैंने उपाय सोच निकाला है ।

राजा—तो फिर यत्नाओ न !

विदूषक—या तो आप ऐसी गहरी नींदमें जाकर सो रहिए कि सपनेमें उससे भेंट हो
जाय या फिर चित्र-फलकपर उर्वशीजीका चित्र बनाकर उसे एकटक निहारा कीजिए ।

उर्वशी—[हर्षसे मन ही मन] अरे पापी हृदय ! धीरज धर, धीरज धर ।

राजा—उभयमप्यनुपपन्नम् । परय ।

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम् ।
न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां
मम नयनयोरुद्वापत्वं सखे न भविष्यति ॥ १० ॥

चित्रलेखा—सुदं तुए अवर्णं । (अत एव वा वचनम् ।)

उर्वशी—सहि सुद । ए उए पञ्चतं द्विअश्रस । (सति भुतं । न पुनः पर्याप्त हृदयस्य ।)

विदूषकः—एत्तिओ एव मे महिचिहओ । (पतायनेव मे मतिभिम्वा ।)

राजा—[निःस्वश्य]

नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीं
प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वापि माम् ।
अलब्धफलनीरसं मम विधाय तरिमञ्जने
समागममनोरथं भवतु पञ्चवाणः कृती ॥ ११ ॥

चित्रलेखा—सहि सुदं तुए । (सति अतं एव ।)

उर्वशी—हद्वी हद्वी । मं एव्यं अवगच्छदि । [उत्तमवशेष्य] सहि असमत्वमिदं
अमादो भविष्य से पठिवअणस । ता पदावणिमिदेण मुज्जयत्तेण संपादिदत्तरा होहुं
इच्छामि । (हा थिक् हा थिक् । मामेववगच्छति । सति असमयाभ्यगतो भूत्वास्य प्रत्यवचनस्य ।
तदप्रभावनिमित्तेन भूषणश्रेण संपादितोत्तरा मरितुमिच्छामि ।)

राजा—दोनों ही बातें नहीं हो सकतीं । देवो ! कामदेव, मेरे हृदयको दिन-रात अपने
बाणोंसे वेधता रहता है । इसलिये मुझे ऐसी नींद भला कहीं आ पायेगी कि प्यारीसे भेंट
हो जाय, और फिर चित्र भी नहीं बन सकना ; क्योंकि बीचमें आँसू डगडग आनेसे वह
अधूरा ही रह जायगा ॥ १० ॥

चित्रलेखा—अब तो तुमने सब सुन लिया न !

उर्वशी—हाँ सखी, सुन तो लिया, पर अमोतक मेरे जोको पूरा-पूरा भरोसा नहीं हो
पाया है ।

विदूषक—मेरी बुद्धिकी पहुँच तो यहाँतक थी ।

राजा—[लम्बे सँत लेकर] मैं समझता हूँ कि या तो यह मेरे मनकी इस चकलोको
जानती ही न होगी या फिर उसे खरने अपना होनेका ऐसा धर्म है कि वह जान-दूस-
फर मेरे प्रेमको उरु रा रही है । जान पड़ता है कि मेरे मनमें उस सुन्दरीसे मिलनेका जो
चाह है, उसे चूरचूर करके और मेरे जावनका ये काम बना लेनेपर ही कामदेवका जी
भरेगा ॥ ११ ॥

चित्रलेखा—तुमने मुना सखी !

उर्वशी—हाय, हाय ! ये मुझे ऐसा नीच समझ रहे हैं । [वचन देकर] सखा !

इनके आगे पहुँचकर ता मुझे उत्तर देते यत्नेगा नहीं, इसलिये मैं अपनी देवी शक्तिसे
एक भोजन करके उसीपर उत्तर लिख देना चाहती हूँ ।

चित्रलेखा—हला अरगुमदं मे । (हृद्य वानुमत मे ।)

[उर्वशी नाट्येन सहभ्रममभिलिख्यान्तरा क्षिति ।]

विदूषकः—[दृष्ट्वा सर्वभ्रमम्] अविहा अविहा । भो किं गु वस्तु एव भुञ्जंगणिन्मोक्षं किं मं प्सादिदुं णिवडिदम् । (अविधा अविधा । गोः किं नु लल एतद् । भुञ्जन्निर्मोकः किं मा खादितुं निवर्तितः ।)

राजा—[विमान्य विहस्य च ।] वयस्य नायं भुञ्जन्निर्मोकः । भूर्जपत्रगतोऽयमक्षर-
चिन्त्वासा ।

विदूषकः—एषं अदिद्वाप उव्वसीए भयदो परिदेविदं सुणिअ समाणानुराअसूअआइँ
अभक्षराइँ विसज्जिअआइँहोन्ति । (ननु अदृष्ट्यावंध्या भवतः परिदेवितं ध्रुत्वा समानानुरागसू-
कान्यक्षराणि विस्तृष्टानि स्युः ।)

राजा—नास्त्यगतिर्मनोरथानाम् । [गृहीत्वागुवाच्य च सर्वम्] सररे प्रसन्नस्ते तर्कः ।

विदूषकः—हो हो भो । किं बन्धणवअणाणि अणुणा होगि । दाणिं पसीवदु भवं । जं
एत्थ लिहिदं तं सुणिदुं इच्छामि । (ही ही भोः । किं ब्राह्मणवचनान्यन्यथा भवन्ति । तदिदानीं
प्रणीदतु भवान् । यदत्र लिखितं तच्छ्रोतुमिच्छामि ।)

उर्वशी—साहु । अज्ज णाअरिओसि । (साधु । आपं नागरिकोऽसिग ।)

राजा—धयस्य श्रयताम् ।

विदूषकः—अवहिदो म्हि । (अवहितोऽसिग ।)

चित्रलेखा—हाँ साखी ! हैं भी यही ठीक समझती हूँ ।

[उर्वशी बड़े हाय-भावसे भोजपत्रर लिखनेका नाट्य करती है और उठे फिर राजाके भागे
फँक देती है ।]

विदूषक—[देतकर बनराता हुआ] हाय ! हाय ! मुझे निगलनेके लिये यह साँपकी
फँचुली कहाँसे आ टपकी ?

राजा—[देतकर और हँसकर] मित्र ! यह साँपको फँचुली नहीं है, यह तो लिखा हुआ
भोजपत्र है ।

विदूषक—मैं समझता हूँ कि उर्वशीने ही छिपे-छिपे तुम्हारा रोना-धोना सुनकर अपना
प्रेम जतानेके लिये यह पत्र लिखकर यहाँ डाल दिया होगा ।

राजा—भनकी शीड़ भी कितनी दूरतक पहुँचती है । [पत्रको उठाकर और पढ़कर]
मित्र ! तुम्हारी ही बात ठीक निकली ।

विदूषक—ह. ह. ! ब्राह्मणको बात भी क्या कभी मूठ होती है ? अब आप खिल
उठिए । अच्छा, मैं भी तो सुनूँ, इसमें क्या लिखा है ।

उर्वशी—धन्य है, तुम सचमुच अच्छे नागरिक हो ।

राजा—सुनो मित्र !

विदूषक—हाँ, सुन रहा हूँ ।

राजा—श्रूयताम् [वाचयति]

सामिञ्च संभावित्रा जह अहं तुए अणुमिञ्चा

तह अणुरत्तस्य जइ याम तुह उवरि ।

किं मे ललित्रपारिजाअसण्णिजयम्मि होन्ति

रांदणवणवादा वि अञ्जुरइया सरीए ॥ १२ ॥

(स्वामिन्संभावित्रा यथाह तस्याऽऽज्ञाता तथापुरक्तस्य यदि नाम तत्रोपरि ।

किं मे ललित्रपारिजातशयनीये भवन्ति नन्दनवन्वाता अणुत्पण्णा शरीरके ।)

उवंशी—किं गु कसु संपदं भणित्तदि । (किं तु कसु सम्पदं भणित्तपति ।)

चित्रलेला—एणं भणित्तं एव्व मिलाएकमलणाला अमाणेहिं अगेहिं । (ननुमन्तमेर
अणुत्पण्णनाला यमानैरट्ठं ।)

विदूषकः—दिठ्ठिआ मए बुभुञ्जित्तेण सोत्थिवाअणुं विअ उवलद्धं भवदा एकंठिदेए
समासासणं । (दिठ्ठ्या मया बुभुञ्जितेन सत्थिवापनमियाएकए भवतोऽकठितेन समासासणम् ।)

राजा—समाश्वासनमिति किमुच्यते ।

तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थवन्धं पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रिययाः ।

उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेच्छणायाः तस्याः समागतमिधाननमाननेन ॥ १३ ॥

उवंशी—एख्य खो समधिभाआ पीदी । (अत्रारयोः समधिभागः प्रीतिः ।)

राजा—धयस्य अंगुलिस्वेदेन दूष्येरन्तस्तराणि । धार्यतामयं मम प्रियायाः स्वहस्तः ।

राजा—सुनो ! [बौचता रे ।]

“गद्दाराज ! आप मेरे मनकी बात क्या जानें । यदि आप मुझसे इतना प्रेम करनेपर
भी मुझे वैसी ही समझते हैं जैसी आप अभी बता रहे थे, तब यह तो बताइए कि जब मैं
फोमल पारिजातके फूलोंकी सेजपर जाऊर छेड़ती हूँ, उस समय नन्दनवन्ता शीतल पवन
मेरे शरीरको जलाने क्यों लगता है ॥ १२ ॥

उवंशी—देखें, इसपर ये क्या कहते हैं !

चित्रलेला—उसके भुरशाए हुए कमल-नालके समान अंगोंने ही सब कुछ यह डाला है ।
विदूषक—यह बड़े भागरी बात है कि आपकी बेकली मिटानेका पैसा ही सद्दारा
मिल गया जैसे भूद लगनेपर मुझे कहींसे भोग लगाया हुआ भोजन मिल जाता है ।

राजा—इसे केवल अद्दार बताते हो ? मैं तो जब उस मद-भरे नेनोंवालीके ‘मनकी
बातें, इन सुन्दर अर्थोंसे भरे हुए और उसके मनमें भी मेरे मनके ही जैसा प्रेम जतलाने-
वाले प्रेम-पत्रको पढ़ता हूँ तब मुझे ऐसा लगता है मानों हम दोनों आमने-पामने राइ
होकर एक दूसरेसे बातें कर रहे हों ॥ १३ ॥

उवंशी—हम दोनोंका प्रेम अब जाकर बराबर-बराबर पैठा है ।

राजा—मित्र ! मेरी प्रियाकी यह प्रेम-पत्ती तुम लिए सो रहो, कहीं मेरी उँगलियोंके
पसीनेसे इसके अक्षर मिट न जायें ।

विदूषकः—[यदीत्या] किं दाणि तत्तभोदी उव्वदी भवदी मणोरहाणं कुसुमं दंसिअ फले विसंबददि । (किमिदानीं तनमन्तुर्वशी भवतो मनोरथाना कुसुमं दर्शयित्वा फले विसंबदति ।)

उर्वशी—सहि जाव उवगमणकादरं द्विअअं पज्जवत्यावेमि दाव तुमं से अत्ताणं दंसिअ जं मे स्वमं तं भणाहि । (सखि यावदुपगमनकारत इदय पर्यवस्थापयामि तावत्परमपात्मानं दर्शयित्वा यन्मम क्षम तद्गण ।)

चित्रलेखा—सह । (तथा) [तिरस्करिणीमानीय राजानमुपेत्य] जेदु जेदु महाराओ । (जयतु जयतु महाराजः ।)

राजा—[दृष्ट्वा सदर्प] स्वागतं भवत्यै [पार्यन्तलोक्य] भद्रे ।

न तथा नन्दयसि मां सख्या विरहिता तथा ।

सङ्गमे दृष्टपूर्वेव यमुना गङ्गया त्रिना ॥ १४ ॥

चित्रलेखा—एतं पडमं मेहराई दीसदि पच्छा विज्जुळ्ळा । (ननु प्रथम मेवरात्रिर्दृश्यते पश्चाद्विज्जुळ्ळता ।)

विदूषकः—[अनायासं] कई ण एसा उव्वसी । ताए तत्तहोदीए अहिमदा सहअरी । (कथं नैपोर्वशी । तदवास्तवमन्त्या अभिगता सहचरी ।)

राजा—एतदास्तनमास्यवाम् ।

चित्रलेखा—उव्वसी महाराअं सिरसा पणमिअ विण्णवेदि । (उर्वशी महाराज शिरसा प्रणम्य विज्ञापयति ।)

विदूषक—[पत्र लेकर] जिन उर्वशीजीने यह पत्र भेजकर आपके मनोरथोंमें फूल लगा दिए हैं, वे क्या आपको समझमें फल देनेमें टालमटोल करेंगी ?

उर्वशी—सखी ! अभी मेरा हृदय, उनके पास जानेमें क्षिप्त रह रहा है । इसलिये जब तक मैं अपना जो सँमालूँ तब तक तुम इनके पास जाकर मेरी ओरसे जो कुछ कहना ठीक समझो, कह डालो ।

चित्रलेखा—अच्छा । [मायाको ओठनी टटकर और राजाके पास पहुँचकर] महाराजकी जय हो ।

राजा—[देखकर प्रवचनगते] आइए ! स्वागत है आपका । [शरत्-उपर देखकर] क्यों भद्रे ! जैसे प्रयागका संगम देखनेवालेकी, गंगाके त्रिना अकेली यमुना नहीं भाती वैसे ही अपनी सखीके विना तुम भी मुझे नहीं भाती हो ॥ १४ ॥

चित्रलेखा—पर महाराज ! पहले तो बदली दिखाई देती है न, पीछे बिजली चमकती है ।

विदूषक—[अलम] अरे ! तो क्या ये उनकी प्यारी सखी हैं, उर्वशी नहीं हैं ।

राजा—आइए इस आसनपर बैठ जाइए ।

चित्रलेखा—उर्वशीने महाराजको सिर नवाकर प्रणाम करते हुए कहलाया है—

राजा—किमाज्ञापयति ।

चित्रलेखा—तस्मिन् सुरारिसंभवे दुर्जादे महाराजो एव सरणं श्रासि । सा अहं संपदं तुह दंभणसमुत्थेण मभरणेण बलिञ्चं थाहोअमाणा भूओषि महाराएण अणुअंखीअत्ति । (तस्मिन्सुरारिसंभवे दुर्जाते महाराज एव मम शरणमासीत् । साहं सम्पत्तं तव दर्शनसमुत्थेन मदनेन बलशक्त्याभ्यमाना भूयोऽपि महाराजश्वानुक्रमणीया मरामि इति ।)

राजा—अयि भद्रमुत्ति ।

पर्यत्सुका कथयसि प्रियदर्शनां तां
अतं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे ।

साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य
तस्मै तप्तमयसा घटनाय थोभ्यम् ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—[उर्वशीमुपेत्य] एहि एहि । तुवत्तोवि णिएअवरं मभरणं पेवअअ पिअअ-मस्स दे दूदिग्घि संयुत्ता । (सखि एहि । त्वचोऽपि निर्दयतरं मदनं प्रेक्ष्य प्रियतमस्य ते दूत्वस्मि संवृत्ता ।)

उर्वशी—[तिरकरिणीमवनीय] अमहे लक्ष्मं तुए अणवेधिरववं उदिमदिग्घि । (अहो एषु ररवानवेधितमुज्जितवासिम् ।)

चित्रलेखा—[स्मितम्] सहि इदो मुहुत्तादो जाखिरसं का कं उदिग्घिसदि । आआरं दाय पहिबज्ज । (सखि इतो मुहूर्तादेव शार्यामिका कासुविहभ्यतीति । आचारं तावत्प्रतिपदत्तम् ।)

राजा—हाँ, क्या आधा दी है ?

चित्रलेखा—यही कि उस धार जब दैत्य मुझे पकड़ ले गए थे उस समय महाराजने ही मेरी रक्षा की थी । अब आपको देस लेनेपर मेरे मनमें प्रेमकी बड़ी पीड़ा ठठ खड़ी हुई है, इसलिये चाहती हूँ कि इस धार भी मुझपर आपकी कृपा हो जाय ।

राजा—अरी सुन्दरो ! अपनी सखीको तो तुम इतना प्रेममें व्याकुल बना रही हो, पर यह नहीं देस रही हो कि यह पुरूरवा भी उसके प्रेममें पागल हुआ बैठे है । हम दोनोंका प्रेम, दोनोंओर एक जैसा ही बड़ा हुआ है, इसलिये एक तपे हुए लोहेको दूसरे तपे हुए लोहेसे जोड़ देना ही अब ठीक होगा ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—[उर्वशीके पास जाकर] आओ आओ, सखी ! कामदेवने तुमसे भी अधिक इनको सता रक्खा है । इसलिये अब मैं तुम्हारे प्रियतमकी ही दूती बनकर तुम्हारे पास आई हूँ ।

उर्वशी—[मायाकी ओढ़नी दसकर] वाह ! क्या मत्से नू मुझे छोड़कर कधर चली गई ?

चित्रलेखा—[मुक्तराकर] सखी, अभी पौड़ी ही देरमें देगती हूँ न, कि वीन क्रिमे छोड़कर जाती है । अच्छा, पदले महाराजको प्रणाम तो कर लो ।

उर्वशी—[सासाधन राजानमुपेत्य प्रणम्य च स्नीडम्] जेदु जेदु महाराजो । (जयतु जयतु महाराजः ।)

राजा—[सहर्षम्] सुन्दरि ।

मया नाम जितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते ।

जयशब्दः सहस्राद्यादगतः पुरुषान्तरम् ॥ १६ ॥

[हस्ते गृहीत्वैनानुपवेशयति ।]

विदूषकः—भोदि रण्यो पित्रवध्रस्सो ब्रम्हणो किं ए वन्दीअदि । (भवति राज्ञः प्रियव-
यस्यो ब्राह्मणः किं न वन्दते ।)

[उर्वशी सस्मितं प्रणमति ।]

विदूषकः—सत्थि भोदोए । (स्मित भोत्वै ।)

[नेषथ्ये देवदूतः]

चित्रलेखे । त्वरय त्वरयोर्वशीम् ।

मुनिना यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः ।

ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मस्तां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥ १७ ॥

[सर्वे कर्णं ददति । उर्वशी विषाद रूपयति]

चित्रलेखा—मुहं पित्रसहीए देवदूदस्स वध्रणं । ता अगुनाणीअदु महाराजो (भुतं
प्रियसख्या देवदूतस्य वचनम् । तदनुमान्यता महाराजः ।)

उर्वशी—णत्थि मे घाआ । (नाति मे वाचा ।)

उर्वशी—[हृदयहीमें राजाकेपाठ पहुँचकर लज्जाती हुई प्रणाम करके।] महाराजकी जय हो!

राजा—[प्रसन्न हारर] सुन्दरी ! जो 'जय' शब्द तुमने सहस्र आँखवाले इन्द्रको छोड़-
कर आजतक किसी दूसरे पुरुषके लिये नहीं कहा था, वह आज तुमने मेरे लिये कह दिया,
इसलिये आज सचमुच तुम्हें जय मिल गई ॥ १६ ॥

[हाथ परककर बैठते हैं ।]

विदूषकः—देवीजी ! क्या महाराजके प्रिय मित्र ब्राह्मणको प्रणाम आप नहीं कीजिएगा ?

[उर्वशी मुस्कराती हुई प्रणाम करती है ।]

विदूषकः—आपका फल्याण हो ।

[नेषथ्यमें देवदूत कहता है ।]

“चित्रलेखा ! उर्वशीको भटपट ले आओ । भरतमुनिने तुम लोगोंको, जो आठों रसोंसे
भरा हुआ नाटक सिखा रक्खा है उसीका सुन्दर अभिनय, भगवान् इन्द्र और लोकपाल
देखना चाहते हैं ॥ १७ ॥

[सब मुनते हैं और उर्वशी दुर्लभ होनेका नाट्य करती है ।]

चित्रलेखा—प्यारी सररी ! तुमने देवदूतके वचन सुने ? तो अब महाराजसे विदा लो ।

उर्वशी—मुझसे तो मोला नहीं जा रहा है ।

विजलेसा—महाराज उज्वसी विण्णवेदि—परवसो अत्रं जगो । ता महाराएण अत्त-
गुण्णादा इच्छामि देवेषु अत्तपरद्धं अत्ताणअं काटुं—त्ति । (महाराज उर्वशी विज्ञापयति—
परवशोऽयं जनः । तन्महाराजेनाभ्यनुज्ञाता इच्छामि देवेषु परपरद्धमात्मानं कर्तुं—इति ।)

राजा—[कथं कथमपि वाचं व्यनस्थाप्य ।] नास्मि भवत्योरीश्वरनियोगवस्त्यर्था । स्मर्तव्य-
स्वयं जनः । (उर्वशी विण्णवेदुर्द्धं क्वचित्त्वा राजानं पश्यन्ती उह सज्या निष्पाता)

राजा—[निःश्वस्य] सखे धैर्यर्यामिव मे चक्षुषोः संप्रति ।

विःपकः—[परं दर्शयित्वा कामः] गुं एदं [इति अर्थोक्ते उचिपादमात्मगतम् ।].....
हृदो हृदो उज्वसीर्दसखविन्दिहणेण मए तं भुजावत्तभ्रं पञ्चमट्टं वि हत्यादो पमादेण ए
विण्णवेदं । (ननु एतत्.....हा विक् हा विक् उर्वशीदर्शनविस्मिपतेन मया तद्दर्शनं प्रपद्यन्ती
हस्ताप्रमादेन न विज्ञातम् ।)

राजा—भद्र किमसि यस्तु काम इव ।

विदूषकः—एवं वक्तकामोहि—मा भवं अंगाई गुंचहु दिहं कलु तुइ धद्धमाया उज्वसी
ए सा इदोगदं अगुराअं सिद्धिलेदि त्ति । (एवं उक्तुमाऽस्मि मा भवानज्ञानि मुञ्चतु इदं
तल्ल सखि बद्धभावा उवशी न सा इतागतमनुरागं शिथिलप्रति—इति ।)

राजा—ममाप्येतद्दर्शसि मनः । तथा सल्ल प्रस्थाने ।

अनीशया शरीरस्य स्ववशं हृदयं मयि ।

स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्तं निःश्वसितैरिव ॥ १८ ॥

विजलेसा—महाराज ! उर्वशी प्रार्थना करती है कि मैं तो पराधीन हूँ, इसलिये महा-
राजकी आज्ञा हो तो चली जाऊँ और देवताओंका अपराध करनेसे बच जाऊँ ।

राजा—[बड़ी कठिनार्थसे बोलते हुए ।] मैं आपके स्वामीकी आज्ञाका भला कैसे
विरोध कर सकता हूँ । पर मुझे भूलिपणा मत !

[उर्वशी विज्ञापका भाव प्रकट करता हुई और राजाकी ओर देखती हुई सलीके साथ चली
जाती है ।]

राजा—[लगे सँभ लेकर] मित्र ! अब तो मेरी आँखोंका होना न होना बराबर है ।

विदूषक—[पत्र दिखानेकी इच्छासे] पर यह.....[इतना ही कहकर रुक जाता है ।
दुःखके साथ मन ही मन] हाय हाय ! उस उर्वशीको देखनेमें मैं ऐसा धेसुब हो गया कि
मुझे यह भी पता न चला कि मेरे हाथसे भोजपत्र कथ निरलकर गिर पड़ा ।

राजा—क्या कह रहे थे मित्र ?

विदूषक—मैं यही कह रहा था कि आप निराश न हों, क्योंकि उर्वशी आपसे इतना
गहरा प्रेम करती है कि अब उसके प्रेममें डिलाई आ नहीं सकती ।

राजा—मेरा मन भी यही कहता है । अपने शरीरपर तो उसका वश था ही नहीं,
इसलिये अपने जिस हृदयपर उसका अधिपार था उसे तो चलते समय वह अपनी हन
वर्ताओंके साथ मुझे सँभ गई जो उसके स्तनोंके कोंपनेसे भली प्रकार प्रकट हो रही
थी ॥ १८ ॥

विदूषकः—[स्वागतम्] वेवदि मे हिद्यर्थं इमं वेलं अत्तभवदा तस भुज्जवत्तस पाम गेयिहद्वंत्ति । (वेरते मे हृदयमिमा वेलाभयभवता तस्य भूर्जपत्रस्य नाम ग्रहीतव्यमिति ।)

राजा—अस्य केनेदानीं दृष्टिं विलोभयामि । [स्मृत्वा] आः उपनयतु भवान्भूर्ज-
पत्रम् ।

विदूषकः—[सर्वतो दृष्ट्वा विपादं नाटयति] हंत रा दिस्सदि । भो दिव्यं वस्तु तं भुज्जवत्तं
गदं खवसीए मग्गेण । (इत्त न दृश्यते । भोः दिव्यं खलु तद्भूर्जपत्रं गनगुयस्था मार्गेण ।)

राजा—[साक्षयम्] अहो सर्वत्र प्रमादी वैधेयः । ननु विचिनोतु भवान् ।

विदूषकः—[उदायम्] रां इदो भवे । इह वा भवे । इह वा भवे । (ननु इतो भवेत् ।
इह वा भवेत् । इह वा भवेत् ।) [इति विचेतव्यं नाटयति]

[ततः प्रविशति सपरिवारा काशिराजपुत्री देवी चैत्र्यं च]

देवी—हंजे गिडणिए सच्चं तुए भण्दिदं इमं लदागेहं पविसंतो अज्जमाणवअसहाओ
अज्जदत्तो दिट्ठोत्ति । (हंजे निपुणिके सत्थं तया भणित्तिदिदं लतागेहं प्रविशन्त्यार्यमाणवअसहाय
आर्यपुत्रो दृष्ट इति ।)

निपुणिका—किं अणणाहा भट्टिणी भए कदावि विण्णविदुण्वा । (किमन्यथा भट्टिनी मया
कदापि विशापितपूर्वा ।)

देवी—तेण हि तदाविडयंतरिदा गुणिसं दावसे विसद्धामंतिदाणि जं तुए कहिदं तं
सच्चं रा वत्ति । (तेन हि उदाविडयान्तरिता भोष्यामि तावदस्य विशब्धा मन्त्रितानि यत्तया कथितं
तत्तत्त्वं न वेत्ति ।)

विदूषकः—[मन हीमनः] मुझे यही डर हो रहा है कि महाराज कहीं भोजपत्र न
माँगे बैठें ।

राजा—मित्र ! क्याओ अचमैँ कैसे अपनी ओखें ठंडी करूँ । [धमरण करके] अरे हाँ !
यह भोजपत्र तो लाओ ।

विदूषकः—[चारों ओर दौड़ता हुआ, दुखी होनेका नाट्य करता है] हाय, हाय ! वह तो
कहीं मिलता ही नहीं । मित्र ! वह भोजपत्र तो स्वर्गका या न, इसलिये वह भी उर्वशीके
साथ हो चढ़ गया होगा ।

राजा—[क्रोधित] मूर्ख ! तुम सदा ऐसे ही वेसुध रहते हो । जाओ, हँदो उसे ।

विदूषकः—[उडकर] बस बस यहाँ होगा, या यहाँ होगा, या यहाँ होगा । [इस प्रकार
खोजनेका नाट्य करता है ।]

[इसी बीच, कदाचिन्नेरुकी पुत्री महारानी, अपनी दासियोंके साथ आती है ।]

देवी—सखी निपुणिका ! तूने सच कहा था कि आर्य माणवअके साथ आर्यपुत्र लता-
मंडपमें गए हैं ।

निपुणिका—मैंने क्या आजतक फन्नी आपसे गूठ बोला है ?

देवी—अच्छा तो मैं इन लता-पुष्पोंकी ओटमें खड़ी होकर इनकी गुप-धुप साँते सुनकर
देखती हूँ कि तूने जो कुछ कहा है वह सच है या नहीं ।

निपुणिका—जं भट्टिणीए रुघदि । (यद्धट्टिन्यै रोचते ।)

देवी—[परिक्रम्य पुरस्तादवगोक्य च] हंजे शिउणिए किं सु वसु एदं जिणएचीअरं विअ इदोमुहं दक्खिण मारुदेण आणीअदि । (इन्जे निपुणिके किं तु खल्वेतज्जीर्णचीवरमिवेतो-मुसं दक्षिणमावतेनानीयते ।)

निपुणिका—[विभाव्य] भट्टिणी पडिबत्तएयिभाविदक्खरं भुज्जवत्तं वसु एदं । इंत भट्टिणीए एव्व एउरकोडीए लमं [यदीत्या] एं वाईअदु एदम् । (भट्टिनि परियत्तंनविभा-विताअरं भूजंरत्तं खल्वेतत् । इंत भट्टिन्या एर नूपुरकोव्या खनम् । ननु याच्यतामेतत् ।)

देवी—अणुवाएहि दाय एदं । जदि अघिरुद्धं तदो सुणित्त । (अनुवाचय तावरेतत् । यदघिरुद्धं ततः शोभ्यामि ।)

निपुणिका—[तथा दृश्या] भट्टिणा तं एव्व कोलीखं विअ पडिहादि भट्टारअं उदिसिअ उव्वसीए वव्वबंधो न्ति तक्केमि । अज्जमाएवअपमादेण अ अन्हाणं इत्थं आगदो त्ति । (भट्टिनी तदेव कौलीनमिव प्रतिभाति । भट्टारकमुद्दिश्योर्गदया काव्यबन्ध इति तर्क्यामि । आर्यमा-श्वरु प्रमादेन चावयोर्हस्तमागत इति ।)

देवी—तेण हि से गहीदत्था होमि । (तेन हस्त्य यदुतथां मरामि ।)

[निपुणिका वाचयति]

देवी—[भ्रुवा] एव्व इमिणा एव्व उवाअणेण दं अचछाराकामुअं पेक्खामि । (भ्रवाने-नैवोपायनेन तगभ्रवा कायुक प्रेक्षे ।)

निपुणिका—तह । (तथा ।)

[इति परिवर्तनोद्दिष्टे एतादृश परिष्कारतः]

निपुणिका—जैसा भट्टिनी ठीक समझें ।

देवी—[घूमकर सामने देखकर] सखी निपुणिका ! देखो तो यह दक्खिणी पवनके साथ, फटे कपड़े जैसा क्या इधरको उड़ा चला आ रहा है ।

निपुणिका—[देखकर] भट्टिनी ! यह तो भोजपत्र ही और हलटा-पलटा उड़ा आवा हुआ ऐसा लगता है कि इसपर कुछ लिखा हुआ हो लोजिए, यह तो भट्टिनीके विद्युपमें ही आकर अटक गया । [उठाकर] लोजिए बच्चिए तो ।

देवी—तुम्हें बाँच लो । यदि कोई मेरे मनकी बात हो तो सुना देना ।

निपुणिका—[बौनकर] यह तो यही प्रेमवाली बात जान पड़ती है, जिसका, चारों ओर इतना हल्ला हो रहा है । मैं समझती हूँ कि त्वरतीने स्वामीको यह कथिका लिपकर भेजी होगी और आर्यमाण्यरुनी असावधानीसे यह हम लोगोंके हाथ लग गई है ।

देव.—अच्छा तो पढ़ो इसमें क्या लिखा है ?

[निपुणिका बौचती है ।]

देवी—[मुनकर] तो चलो यही भेंट लेकर हम सब अप्पराके प्रेमीसे चलकर मिलें ।

निपुणिका—चलिए ।

[दाहिनोंके साथ एता मगलसे ओर घूम जाती हैं ।]

विदूषकः—[विन्नेनय] भो वसस्त किं एदं पवणवसगामि पमदवणसमीघगदकीला-
पम्बदपज्जते द्वीसदि । (भों धपरय किमेतत्तवनवसगामि प्रमदवनधमीपगतकीहापमंतपर्यन्ते
दश्यते ।)

राजा—[उल्थाय] भगवन्वसन्त प्रिय दक्षिणबायो ।

वासार्थं हर संभृतं सुरभिणा यौष्यं रजो वीरुधां

किं कार्यं भवतो हृतेन दयितारनेहृद्यहस्तेन मे ।

जानीते हि मनोविनादनशतैरैश्वर्यैर्धोरितं

कामार्तं जनमज्जनां प्रति भवानालक्षितप्रार्थना ॥ १६ ॥

विदूषिक—भट्टिणि पेक्ख पेक्ख । एदस्स एव्व आण्णोसणा वट्टदि । (भट्टिनी प्रेक्षस्व
प्रेक्षस्व । एतत्पैवान्प्रेषणा वर्तते ।)

देवी—शां पेक्खामि दाव । तुण्हि चिट्ठ । (ननु पश्चमि तावत् । तूणीं तिष्ठ ।)

विदूषकः—[खनिपादम्] हत्ती हत्ती भो मिलाअमाणकेसरच्छविणा मोरपिच्छेण विष्ण-
लत्ती निह् । [हा धिच् हा धिक् भोः म्हायनानकेसरवठविना मयूरपिच्छेण विप्रलब्धाऽस्मिं ।]

राजा—सर्वथा हृतोऽस्मि ।

देवी—[ससोपहत्य] अज्जत्त अलं आवेएण । एदं तं भुज्जवत्तं । (आर्यपुत्र अछमा-
वेणेन । एतच्छर्भूर्जपत्रम्)

राजा—[ससंभ्रमम्] अये देवी । स्वागतं देव्यै ।

विदूषकः—[अपवार्यं] इरागदं दाणि संवृत्तं । [इरागतमिदानीं संवृत्तम्]

विदूषक—[देखकर] क्यों मित्र ! यह प्रमदवनके पासवाले क्रीड़ा पर्वतपर पवनके
भौकेमें हिलता-स्ता क्या दिखाई दे रहा है ।

राजा—[उठकर] हे वसन्तके प्यारे मित्र दक्षिण पथन ! तुम्हें अपना शरीर सुगन्धित
करना हो तो तुम लवाओंपर खिले हुए और वसन्तके हाथोंसे इकट्ठी किए हुए फूलोंका पराग
छाकार—क्यों नहीं ले जाते । मेरी प्यारीके हाथका लिखा हुआ पत्र भला तुम्हारे किस
काम आवेगा । तुम तो स्वयं अछनासे प्रेम कर चुके हो इसलिये जानते ही होगे कि ऐसी
ही मन बहलानेवाली वस्तुओंको देखकर ही तो प्रमी लोग जिया करते हैं । १९ ॥

निमुषिञ्च—देखिए देखिए, भट्टिनी ! ये लोग इसी पत्रको खोज रहे हैं ।

देवी—चुप चुप ! देखें तो सही, ये क्या-क्या करते हैं ।

विदूषक—[दुःखके पाप] हाय, हाय ! इस मोर-पंखको देखकर मुझे सुरक्षाए हुए फेश-
रके फूलका धोखा हो गया, क्योंकि दोनों एक जैसे ही लगते थे ।

राजा—मैं तो सब प्रकार लुट गया ।

देवी—[एकाग्रक आगे बढ़कर] घबराइए मत आर्यपुत्र ! यह रहा वह भोजपत्र ।

राजा—[घबराकर] धरे आप हैं देवी ? आइये, आइए ! भली आ गई आप ।

विदूषक—[दालग] भली क्या, यही सुरी आई इस समय ।

राजा—[जनाङ्कितम्] वयस्य किमत्र प्रतिविधेयम् ।

विदूषकः—(अश्वार्थ) लोथ्येण गहोदस्स कुम्भीलयरस अत्थि या पडियअणं । (लोत्रेण । गहोदस्य कुम्भीरस्वपरित वा प्रतिवचनम् ।)

राजा—[जनाङ्कितम्] मूढ नायं परिहासकालः । [प्रकाशम्] देवि नेदं मया मृग्यते । अयं खलु परान्वेषणार्थमारम्भः ।

देवी—जुञ्जदि अत्तणो सोदरगं पच्छदेदुं । (स्वयते भावगतः सीमाम्यं प्रच्छादयितुम् ।)

विदूषकः—भोदि तुवेरेदि से भोअणं जं पित्तोचसमणसमरथं होदि । (भवति वारणास्य भोजनं यत्त्रिचोपशमनसमर्थं भवति)

देवी—णिउणिए सोदरं क्खु धन्हेण आसासिदो वधअस्सो । (निपुणिके शोभन खलु ब्राह्मणेनाश्रयता वक्ष्यः)

विदूषकः—भोदि णं पेस्स आसासिदो पिसाचोवि भोअणेण । (भवति ननु पश्य आश्रयितः पिशाचोऽपि भोजनेन ।)

राजा—मूर्खं यत्नादपराधिनं मां प्रतिपादयसि ।

देवी—णत्थि क्खु भवदो अवरारो । अहं एव एत्थ अवरद्वारा पडिउल्लईसणा भविअ अगदो दे चिट्ठामि । इदो अहं गमिस्सं । णिउणिए, एहि गच्छन्ह । (नास्ति खलु मृतोऽपराधः । अहमेवानपराधा या प्रतिहृष्यदशंना भूत्वाप्रतक्ष्णे तिष्ठामि । इताऽहं गमिष्यामि । निपुणिके एहि गच्छामः ।)

[इति कोर्षं नाटयित्वा प्रस्थिता ।]

राजा—[अ स्तब्धः ।]

अपराधी नामाहं प्रसीद रंभोरु विरम संरम्भात् ।

सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः ॥ २० ॥

[इति पादयोः पतति ।]

राजा—[अलग] क्योंमित्र ! अब क्या होगा ।

विदूषक—[अलग] चोरीके मालके साथ पकड़ा हुआ चोर अब कदही क्या सकता है ।

राजा—[अलग] अरे मूर्ख । यह हँसीका समय नहीं है । [प्रकट] मैं इसे नहीं रोज रहा या देवी ! मैं तो कुछ और ही खोजनेमें लगा हुआ था ।

देवी—हाँ हाँ, आपको तो अपने मुरकी बात छिपानी ही चाहिए ।

विदूषक—देवी ! जाकर महाराजके भोजनका प्रबन्ध कीजिए जिससे इनका पित्त तो शांत हो ।

देवी—निपुणिका ! इस ब्राह्मणने अपने मित्रको अच्छा वचा लिया ।

विदूषक—देखिए, देवी ! भोजन देकर तो भूत-पिशाचतक शान्त कर दिए जाते हैं ।

राजा—क्यों रे मूर्ख ! तू मुझे यिना बातके ही अपराधी बनानेपर क्यों तुला हुआ है ?

देवी—यह आपका नहीं मेरा ही अपराध है कि मैं ऐमे बेडंग समयमें आपके काममें याधा डालने आ पहुँची । खीलिए, मैं चली जाती हूँ । खलौं निपुणका, खलौं ।

[कोषका नाट्य करके चली जाती है ।]

राजा—[पीछे-पीछे जाता हुआ] सुनिए तो देवी, मैं ही अपराधी हूँ । अरे मान जाओ मुन्दरी ! इतना बिगड़ो मत । जय स्वामिनीने कोष किया है तो इस सेवकने कुछ न कुछ अपराध अवरय ही किया होगा ॥ २० ॥ [पेशेवर निरते है ।]

देवी—[स्वगतम्] मा क्व्नु लहृद्विभ्रथा अहं अगुणांश्च बहु मणो । किं दु अक्वित्तण-
क्विदस्स पच्छादावस्स भापमि । (मा तलु लघुद्वयवाहमनुनये बहु मण्ये । कित्तदाक्षिण्यकृतात्तथा-
चापादिभेमि ।)

[इति राजानमपश्य सगरिवारः निष्क्रान्ता]

विदूषकः—पाठसगदी विथ्य अप्पसण्णा गदा देवी । ता बहेहि बहेहि । (प्राकृण्णदीवा-
प्रसन्ना मत्ता देवी । तदुत्तिष्ठ उत्तिष्ठ ।)

राजा—[उरथाय] वयस्य, नेदमनुपपन्नम् । परम् ।

प्रियवचनकृतोऽपि, योपितां दयितजनानुनयो रसादते ।

प्रविशति हृदयं न तद्विदां मण्डिरिव कृत्रिमरागयोजितः ॥ २१ ॥

विदूषकः—अगुळ्ळं एव्व प्पद्यभवदो एदं । ण क्व्नु अक्वित्तदुक्वित्तदो अदिमुवे दीवसिदं
सहेदि । (अनुकूलभेनाप्रमत्त एतत् । न रत्नशिशुःखितोऽभिमुखे दीपशिक्षा सहते ।)

राजा—मा मैषम् । उर्वशीगतमनसोऽपि मे स एव देव्यां बहुमानः । किन्तु प्रणिपातलङ्घ-
नादहमस्यां धैर्यमवलम्बिष्ये ।

विदूषकः—भो चिट्टदु दाव भवदो धीरदा । बुमुक्खितदस्स बन्धयस्स जीविदं अवल्लब्धु
मयं । सभओ क्व्नु रहाणमोअणं सेचिट्ठुं (भाः तिष्ठतु तावन्नवतो धीरता । बुमुक्खितस्य ब्राह्मणस्य
जीवितमवलम्बतां भवान् समग्रः खलु स्नानभाजनं चेयितुं ।)

देवी—[मन ही मन] मुझे ऐसी भोली न समझ बैठिएगा कि मैं आपकी इन चिकनी-
चुपड़ी बातोंमें आ जाऊँगी । पर मैं तो यही डरती हूँ कि यदि मैं आपसे कुछ कड़ा बर्ताव
भी करूँ तो पीछे मुझे ही पछतावा होगा ।

[राजाको छोड़कर अपनी दासियोंके साथ चली जाती है]

विदूषक—वर्षाकी नदीके समान मैंले मनवाली देवी चली गई । अब छठिए, छठिए ।

राजा—[उठकर] मित्र ! इसमें उनका कोई दोष नहीं है । देखो,—यदि कोई पति
ऊपरी मनसे केवल चिकनी-चुपड़ी बातें करके ही अपनी प्यारीको मनाने लगता है तो
उसकी बातें स्त्रियोंके हृदयमें वही प्रकार नहीं बैठतीं जैसे धनावटी रंगसे रंगा हुआ मणि,
सच्चे पारखीको नहीं जँचता ॥ २१ ॥

विदूषक—पर आप तो यह चाहते ही थे । जिसकी आँखें आ गईं हों उसे सामने
रखले हुए दीयेकी ली धोड़े ही भाती है ।

राजा—नहीं नहीं, ऐसा न कहो । उर्वशीसे प्रेम करनेपर भी मैं इन देवीको पहले ही
जैसा प्यार करता हूँ, पर मेरे इतने हाथ-पैर जोड़नेपर भी वे मुझे डुकराकर चल दीं इस-
लिये श्वभ मैं भी उनसे जँठ जाता हूँ ।

विदूषक—बैठिएगा पीछे । पहले इस भूखे प्रह्लाणके प्राण तो बचाइए । पच्छि, स्नान-
भोजनका समय हो गया है ।

राजा—[ऊर्ध्वमण्डलम्] गतमर्घं दिवसस्य । अतः खलु ।

उष्णालुः शिशिरे निपीदति तरोर्मूलालवाले शिखी

निर्भिद्योपरि करिणिकारमुकुलान्यालीयते पटपदः ।

तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते

क्रीडावेशमनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते ॥ २२ ॥

[हवि निष्कान्तौ]

इति द्वितीयोऽङ्कः ।

राजा—[ऊपर देखकर] अरे, यह तो आधा दिन चढ़ आया ! इसीलिये—यह मोर गर्मीसे पक्षराक्षर पेड़की जड़के ठंढे थाँवलेमें आ बैठा है, यह भीरा कनेरकी कलीरा मुँह खोडकर उसमें छिपानेकी व्यर्थता पर रहा है, यह जल कुककुट, तालका गरम पानी घोड़पर तटपर रिखली हुई कमलिनोकी छायामें जा बैठा है और मनपहलाववाले भवनके पिजड़ेमें पड़ा हुआ यह प्यासा सुग्गा भी पानी माँग रहा है ॥ २२ ॥

[दोनों चले जाते हैं]

॥ दूसरा अङ्क समाप्त ॥

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रथमतो भरतशिष्यौ]

गालवः—सरे पेवल । महेंद्रभवनं गच्छता भगवतोपाध्यायेन स्वमासनं प्रतिप्राहितः ।
अग्निहरणसंरक्षणाय स्थापितोऽहम् । अतः खलु वृच्छामि—अपि गुरोः प्रयोगेण दिव्या
परिपदाश्रयिता ।

पेलवः—गालव । ए जाणे आराहिदा ए वसि । तस्सि चण सरसईकिदकव्ययं
लच्छीसअंचरे तेषु तेषु रसंतरेसु तम्मई आसि । किंतु— (गालव । न जाने आश्रयिता न
वा इव । तस्मिन्पुनः सरस्वतीकृतमभयवन्दे लक्ष्मीस्वयंवरं तेषु तेषु रसान्तरेषु तन्मयी आसीत् ।
किंतु...)

गालवः—सदोपावकाश इव से वाक्यशेषः ।

पेलवः—आम् तस्सि उव्वसीए यअरणं पमादकरत्तिदं आसि । (आम् तस्मिन्पुनरेवा
यचनं प्रमादस्त्रलितमासीत् ।)

गालवः—कथमिदम् ।

पेलवः—लच्छीभूमिआए वट्टमाणा उव्वसी चारुणीभूमिआए वट्टमाणाए मेणआए
पुच्छिदा—सहि समागदा एदे तेलोकमुपुरिसा सपेशवा अ लोअधाला । वदमस्सि दे भावा-
हिणिवेसोत्ति । (लक्ष्मीभूमिकाया वर्तमानार्वाशी चारुणीभूमिकाया वर्तमानया मेनकया पृथा—सखि
समागता एते त्रैलोक्यमुपस्थाः वनेशनाथ लक्ष्मालाः । कतमस्मिंस्ते भावाभिनिवेश इति ।)

तीसरा अङ्क

[भरत मुनिके दो शिष्य प्रवेश करते हैं]

गालव—मित्र पेलव ! इन्द्र भवनको जाते समय गुरुजीने अपना आसन साथ ले
चलनेके लिये हुन्हीं सो अपने साथ ले लिया था और मुझे यहाँ अग्निहोत्रका काम सौंप
दिया था । इसीलिये मैं पूछता हूँ कि गुरुजीके नाटकसे देवताओंकी सभा प्रसन्न तो
हुई न ?

पेलव—गालव ! यह तो मैं नहीं जानता कि देवसभा प्रसन्न हुई या नहीं, पर यहाँ जो
लक्ष्मीस्वयंवर नामका नाटक हुआ था और जिसके गीत स्वयं सरस्वतीजीने बनाए थे,
उसमें जो-जो रस जब-जब दिखाए जाते थे तब-तब उन-उन रसोंमें वह पूरीकी पूरी सभा
मग्न हो उठती थी । पर... ..

गालव—जान पड़ता है तुम कुछ कहते-कहते रुक गए ।

पेलव—हाँ, यही कि उस नाटकमें उर्वशीने बोलनेमें कुछ भूल कर दी ।

गालव—क्या भूल कर दी ?

पेलव—उस नाटकमें चारुणी बनी हुई मेनकाने, लक्ष्मी बनी हुई उर्वशीसे पूछा—
सखी ! यहाँ दोनों ओकोंसे एम्से एक सुन्दर पुष्प, लोकपाल और स्वयं विष्णु भगवान्
आए हुए हैं, इनमें तुम्हीं कौन सबसे अधिक माता है ?

गालवः—वतखतः ।

पेलवः—तद्यो ताए पुरसत्तमे त्ति भणित्थवे पुरुरत्तसि त्ति ताए निग्गद वाणी ।
(ततस्तथा पुरुरोत्तमे इति भणित्थवे पुरुरत्तसीति तस्या निगंता वाणी ।)

गालवः—भवित्तव्यतानुविवाथोति इन्द्रिवाणि ! न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः ।

पेलवः—सा वन्तु सत्ता उवग्गहाएण । महिदेण उण अणुगहोदा । [सा खलु शतोपाध्यायेन । महेन्द्रेण पुनरनुग्रहीता ।]

गालवः—कथमिव ।

पेलवः—जेण मम उवदेसो तुए लंघिदो तेण ण दे दिव्यं ठाणं हविरसदि त्ति उवग्गहा-
असस साधो । महिदेण उण पेक्कखावसाणे उज्जावणदमुहो सा एवमं भणिदा—अत्तिं तुमं
घट्टभावा सि वरस मे रणसहाअसस राएसिणी पिअं पत्थ करणिज्जं । ता दाव तुमं जहा-
कामं पुरुरत्तसं उवघिद्ध जाव सो तुइ दिट्ठसंताणो भोदि त्ति । (येन ममोपदेशद्वयया लक्षित-
स्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यति इति उपाध्यायस्य शापः । महेन्द्रेण पुनः प्रेषणावसरे उज्जावणत-
मुखी सा एव भणिता—परिमत्सं बद्धमावाप्ति तस्य मे रणसहायस्य राजपैः प्रियमत्र करणीयम् ।
एतावत्प्रं यथाकामं पुरुरवत्तमुपतिष्ठन्न वावत्स त्वयि दृष्टवन्तानी भवेदिति)

गालवः—सदृशमेतत्पुरुषपान्तरयिदो महेन्द्रस्य ।

गालव—तय-तय !

पेलव—उस समय उसे कहना तो चाहिए था 'गुरुपोत्तम' पर भूलसे उसके मुँहसे निकल
गया 'पुरुरवा' ।

गालव—भाई ! जैसी होनी होती है वैसे ही मनुष्यके श्रंग भी काम करने लगते हैं ।
क्या गुरुजी इस बातपर विगड़े नहीं ?

पेलव—अरे, गुरुजीने तो उसे शाप ही दे दिया था, पर भगवान् इन्द्रने उसे जैसे-वैसे
पचा लिया ।

गालव—कैसे ?

पेलव—गुरुजीने तो यह शाप दे दिया था कि तूने जो मेरे सिरपाए पाठके अनुसार
काम नहीं किया इसपर तुझे यह दंड दिया जाता है कि तू स्वर्गमें नहीं रहने पावेगी । पर
ज्योंही नाटक समाप्त हुआ त्योंही लज्जासे सिर नीचा किए खड़ी हुई उर्वशीसे इन्द्रने आकर
बहा—देखो ! रण-क्षेत्रमें सदा मेरी सहायता करनेवाले जिस राजपिसे तुम प्रेम करती हो
उसके मनका भी कुछ कर देना चाहिए । इसलिये जबतक वे तुम्हारी संतानका मुँह न देते
तबतक तुम मनवादे ढंगसे पुरुरवाके साथ रह सकती हो ।

गालव—सबसे मनकी बात जाननेवाले इन्द्रको यही शोभा देता है ।

पेलवः—[ह्यमवलोकाय] कथा पसंरोण अम्हेहिँ अवरद्धा अहिसेधवेला क्लु उवग्मा-
अस्स । ता एहि । से पासवत्तिणो होम । (कथापसञ्जेनास्माभिरपराद्धाभिषेकत्वेन तल उपाय्या-
यस्य । तदेहि । अस्य पार्श्वर्तिनी भगवः ।)

गालवः—तथा ।

[इति निष्कान्तौ]

॥ मिश्रविष्कम्भकः ॥

[ततः प्रविशति कञ्चुकी]

कञ्चुकी—[विनिःश्वस्य]

सर्वः कल्पे वयसि यतते लब्धुमर्थान्कुटुम्बी
पश्चात्पुत्रैरपहतभरः कल्पते विश्वमाय
अस्माकं तु प्रतिदिनमियं साधयन्ती प्रतिष्ठां
सेवाकारा परिणतिरभूत्स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः ॥ १ ॥

[परिक्रम्य] आदिष्टोस्मि सनियमया काशिराजपुत्र्या—व्रतसम्पादनार्थं मया भानमु-
त्सृज्य निपुणिकामुखेन पूर्वं याचितो महाराजः । सदेव त्वं मद्भवनाद्विज्ञापय इति । यावद्दह-
मिदानीमवसितसंध्याजाप्यं महाराजं पश्यामि । [परिक्रम्यावलाक्य च] रमणीयः खलु
दिवसावसानवृत्तान्तो राजवेशभनः । इह हि ।

पेलव—[धूपकी और देखकर] धातें करते-करते गुरुजीके स्नानका समय भी निकल
गया । आओ चलो, उनके पास चले चलें ।

गालव—अच्छा चलो । [दोनों चले जाते हैं ।]

॥ मिश्र विष्कम्भकः ॥

[कञ्चुकी धाता है ।]

कञ्चुकी—[लवी लवी लौं ठेकर]—जो लोग बहुत बड़े कुटुम्बवाले होते हैं वे गुवा-
वस्थामें तो घन बटोरनेके फेरमें पड़े रहते हैं और फिर बुढापेमें अपना सब भार पुत्रोंपर
सौंपकर विश्राम करते हैं । पर, यहाँ जो ऐसी दशा हो गई है कि रात-दिन इस नौकरीके
चकरमें पड़े-पड़े बूढ़े हो चले हैं । सचमुच स्त्रियोंकी सेवाका काम बड़ा टेढ़ा होता है ॥ १ ॥
[घूमकर] आजकल काशिराजकी पुत्री महारानी, अत कर रही हैं । उन्होंने मुझे आज्ञा
दी है कि मैं सच मान छोड़कर निपुणिकासे महाराजको कहला चुकी हूँ कि वे आकर मेरा
व्रत सचल करें, इसलिये तुम मेरी ओरसे जाकर महाराजको बुला लाओ । इस समय
महाराज सार्यकालकी जप-संध्या करके बैठे होंगे, इसलिये चल् चलो उनके दरान कलें ।
[घूमकर और देखकर]—संध्याके समय राज-द्वार भी कैसा सुहावता लगता है । यहाँ

उत्कीर्णा इव चास्यष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो ।

धूपैर्जालविनिःसृतैर्बलभयः संदिग्धपारावताः ।

आचारप्रयतः सपुष्पवलिषु स्थानेषु चाचिन्मतीः ।

सन्ध्यामङ्गलदीपिका विभजते शुद्धान्तष्टुद्रो जनः ॥२॥

[नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] अये इत एव प्रस्थितो देवः ।

परिजनवनिताकरार्पिताभिः परिभृत एव विभाति दीपिकाभिः ।

गिरिरिव गतिमानपक्षलोपात् अनुतटपुष्पितकणिकारयाटिः ॥ ३ ॥

यावदेनमवलोकनमार्गे स्थितः प्रतिपालयामि । [परिक्षम्य स्थितः]

[ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा निद्रूपकश्च]

राजा — [स्वगतम्] आः ।

कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमनतिकृच्छ्रेण ।

अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्नभयितव्या ॥ ४ ॥

कंचुकी—[उपसृत्य] जयतु जयतु देवः । देव देवी विज्ञापयति—मणिहर्म्यष्टे सुदर्श-
नचन्द्रः । तत्र संनिहितैः देवैः प्रतिपालयितुमिच्छामि यावद्रोहिणीसंवोग इति ।

राजा—आर्यं ज्ञातव्यं विज्ञाप्यतां देवी यस्ते छंद इति ।

नीदमें अलसाए हुए और अपने अङ्गुलीपर बैठे हुए मोर, पत्थरमें खुदे हुए-से दिखार्हे पड़ रहे हैं । छतोंसे बाहर निरनी हुई टॉङ्गमें बैठे हुए कधूतरों और उन टॉङ्गोंके छेदोंसे निकलनेवाले धुएँ, दोनोंमें यही नहीं पता चलता कि कौन धुआँ है और कौन कधूतर । रनियासके बूड़े नीकर नहा-धोकर, फूलोंसे सजे हुए भवनोंमें, सन्ध्याके पूजनके लिये जल्ले हुए दीपक ला-लाकर यथास्थान सजा रहे हैं ॥ २ ॥ [नेपथ्यकी ओर देखकर ।] अरे ! महाराज तो इपर ही चले आ रहे हैं—महाराजके चारों ओर हाथोंमें दीपमाला लिए हुए जो बहुतसो दासियों चली आ रही हैं, उनसे महाराज उस पर्यंतके समान चमक रहे हैं जो पंख न फटनेसे चलता आ रहा हो और जिसके दोनों ढालोंपर कनेरके फूले हुए पैड़ खड़े हों ॥ ३ ॥ तबतक मैं आगे बढ़ा होकर उनके आनेकी याद जोहता हूँ । [घूमकर पछा हो जाता है ।]

[राजा और निद्रूपक आते हैं]

राजा—[मन ही मन]—ओह ! दिन भर काममें लगे रहनेसे दिन बीतता जान ही नहीं पड़ा, पर अब मन बहलावकी सामग्रीके बिना रातकी लम्बी-लम्बी पढ़ियाँ कैसे फटेंगी ॥ ४ ॥

कंचुकी—[आगे बढ़कर] जय हो महाराज ! आपकी विजय हो । देव ! देवी निवेदन करती हैं कि मणिहर्म्य-भयनसे चन्द्रमा भली भाँति दिखार्हे पड़ जायेंगे । इसलिये मेरी इच्छा है कि मैं यहाँपर महाराजके साथ ही चन्द्रमा और रोहिणीका मिलन देखूँ ।

राजा—आर्यं ज्ञातव्यं ! देवीसे कहना कि जो आप कहेंगी, मैं यही करूँगा ।

कंजुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इति निष्कास्तः] ।

राजा—वयस्य किं परमार्थत एव देव्या प्रतन्निमित्तोऽयमारम्भः स्यात् ।

विदूषकः—भो तन्मेमि संजादपच्छादाया तत्तभोदि वदावदेसेण भवदो पणिपादलक्षणं पमजिज्जुकाय मत्ति । (भोः तर्कयामि यन्नातपथाचापा तन्मन्ती प्रतापदेशेन भवतः प्रणिपातपद्धन प्रमाथुंममेति ।)

राजा—वपपन्नं भवानाह ।

अवधूतप्रणिपाताः पथात्संतप्यमानमनसो हि ।

दिविधैरनुतप्यन्ते दयितानुनपैर्मनस्विन्यः ॥ ५ ॥

तदादेश्य मणिहर्न्यं पृष्ठमार्गम् ।

विदूषकः—इदो इदो भवं । इमिणा गंगातरंगसत्सिरीएण फल्लिधमणिसोवाणेण आरोहद्दु भवं पदोसावसररमणिज्जं मणिहम्मिअ पिट्ठं । (इतो इतो भवान् । एतेन गङ्गातरङ्गसम्भोगेण स्पृष्टमणिलोपानेनारोहद्दु भवान्प्रदोषावसररमणीय मणिहर्न्यंपृष्ठम् ।)

राजा—आरोहाप्रतः ।

[सर्वे सोपानारोहणं नाटयन्ति ।]

विदूषकः—[निरूप्य] भो पच्छासण्णेण चंदोदण्णेण होद्व्वं जह् तिगिररेइअमार्यं पुव्वदिसामुहं आलोअसुहअं दोसदि । (भाः प्रत्यासन्नेन चन्द्रोदयेन भवितव्यम् यथा तिमिर-रिच्यगानं पूर्वदिशामुलमालोकसुमगं दश्यते ।)

राजा—सन्त्यग्भवान्मन्यते ।

उदयगूढशाशाङ्कभरीचिभिस्तमसि दूरतरं प्रतिसारिते ।

अलकसंयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम् ॥ ६ ॥

कञ्जुकी—जैसी देवकी आज्ञा । [बला जाता है ।]

राजा—वयस्य ! क्या देवोंने इतनी धूम-धाम सचमुच प्रतके लिये ही की है ?

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि उस दिन जब आप उनके पैरों पड़े थे और वे एँठकर चल दी थीं, उससे उन्हें पछतावा हुआ होगा । इसीलिये उन्हें इतना यह प्रत ठाना होगा ।

राजा—ठीक कहा आपने ! क्योंकि—स्त्रियों जब रुठी रहती हैं तब तो पैरों पड़नेपर भी अपने पतिकी बात नहीं मानतीं, पर पीछे इस बात पर वे बड़ी पछताती हैं ॥ ५ ॥ तो चलो मुझे मणिहर्न्य-भवनमें पहुँचाओ ।

विदूषक—इधरसे आइए आप, इधरसे । गंगाजीकी लहरोंके समान उजली रक्तिक मणिकी सीदियोंसे चढ़कर, सन्ध्याको सुहावने लगनेवाले इस मणिहर्न्य-भवनपर पहुँच जाइए ।

राजा—तुम चढ़ो आगे-आगे । [दोनों सीढ़ियोंपर चढ़नेका नाट्य करते हैं ।]

विदूषक—[देखकर] जान पड़ता है कि इस चन्द्रमा निकलने ही वाले हैं । देखो ! अंधेरा मिट जानेसे पूर्व दिशाका मुँह वैसे सुहावना लगने लगा है ?

राजा—ठीक कह रहे हो । उदयाचलके पीछे छिपे हुए चन्द्रमाकी निरखोंसे जो अंधकार मिटता जा रहा है वह सचमुच मेरे मनको ऐसा लुभा रहा है मानो जूहा मेंवा छुआ पूर्व दिशाका मुँह हो ॥ ६ ॥

विदूषकः—[विलोक्य ।] ही ही भो एमो कछु खंडमोदअसस्तिरोओ उद्विदो राआ दुआदीखं । (ही ही भोः एए गलु खण्डमोदअसश्रीक उद्विता राजा द्विजातीनाम् ।)

राजा—[तस्मितम्] सर्वत्रौदरिक्स्वाभ्यवहार्यमेव विषयः । [प्राञ्जलिः प्रणय ।] भगवन् क्षपानाथ ।

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान्पितृंश्च ।

तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितारमने नमस्ते ॥७॥

[इति उपतिष्ठते]

विदूषकः—भो यमहणसंका मिदकरेण दे पिदामहेण अअभगुण्णावो सि । ता आसण्-द्विदो होहि जाव अहं वि सहासीणो होमि । (भोः ब्राह्मणकामिताधरेण ते पितामहेनाग्न्यनुष्ठा-तोऽसि । तद सनस्वितो भय यावदहमपि सुरासीनां भवामि ।)

राजा—[विदूषकवचन परिगृह्योपविष्टः परिजनं विष्णुम् ।] अभिव्यक्तायां चन्द्रिकायां किं दीपिकापीनकवत्येन । तद्विभ्राम्यन्तु भयत्य ।

परिजनः—जं देवो आणवेदि । (यदेव आजापयति ।) [इति निष्क्रान्तः ।]

राजा—[चन्द्रमत्तमखेकर विदूषक प्रति] वयस्य पर सुहूर्तादागगनं देव्याः । तद्विचिक्तं कथयिष्यामि स्वामचस्थाम् ।

विदूषकः—शं दीसदि एऊ स । किणु तारिसं आगुराअं पेसिखअ सवकं कसु आसा-थंवेण अत्ताणं घारेदु । (ननु दस्य एव सा । किणु तादृशमनुराग प्रेक्ष्य शयं रात्वाद्यावन्धेना-त्मानं धारयितुम् ।)

विदूषक—हैं हैं हैं हैं ! यह ऊपर बठता हुआ द्विजोंना राजा चन्द्रमा ऐसा सुन्दर लग रहा है जैसे खीड़का लड्डू हो ।

राजा—[सुरकरकर] भोजन-भट्टको सभमें भोजनकी सामग्री ही दिसाई पड़ती है । [हाथ बौझकर]—हे भगवन् चन्द्रमा ! हे सजनोंकी धार्मिक क्रियाओंमें सूर्यके साथ-साथ स्मरण किए जानेवाले ! हे अमृत पिताकर देवता और पितरोंकी वृत्त करनेवाले ! हे रातके चारों ओर फैले हुए आँधरेको हटानेवाले ! हे शिवजीके अटा-जूटपर रहनेवाले ! आपको प्रणाम है ! ॥ ७ ॥ [पूजा करता है ।]

विदूषक—महाराज ! आपके दादा चन्द्रमा मुझ ब्राह्मणके मुँहसे आपको यह आहवा दे रहे हैं कि आप चलकर बैठिए जिससे मैं भी सुनसे बैठूँ ।

राजा—[विदूषकके कदनेसे बैठकर और अपनी सेरमाओंको देखकर ।] जब चारों ओर इतनी चाँदनी छिंटपी हुई है तब ये दीपक क्यों जला रखे हैं । जाइए आप सब विश्राम कीजिए ।

परिजन—जैसी देवकी आज्ञा । [सब ठेगभिएँ चली जाती हैं ।]

राजा—[चन्द्रमाकी देवसर विदूषकसे] वयस्य ! अभी देवोंके आनेमें तो बहुत देर है, इसलिये चलो अचलेमें बैठकर तुम्हें अपने मनकी व्यथा समझाऊ ।

विदूषक—समझाओगे क्या, यह तो दिसाई ही से रही है । पर उर्धरांने थापपर अपना जैसा प्रेम जताया है उसके भरोसे तो आपसे अपना मन सँभाले रहना चाहिए ।

राजा—एवमेतत् । वलवान्युनर्मे मनसोऽभितापः

नद्या इव प्रवाहो विपमशिलासङ्घटस्वलितवेगः ।

विघ्नितसमागममुखो मनसि शयः शतगुणी भवति ॥ ८ ॥

विदूषकः—भो जहा परिहोत्रमाणोर्हि अंगोर्हि अहिअं सोहसि तथा अदूरे पिध्वासमागम दे पेक्खामि । (भोः यथा परिहोत्रमाणैरहैधिकं शोभते तथाऽदूरे प्रियासमागम ते प्रेक्षे ।)

राजा—[निमित्तं सूचयत् ।] वयस्य ।

वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथकम् ।

अयं मां स्पन्दितैर्बाहुरास्वासयति दक्षिणः ॥ ९ ॥

विदूषकः—ण क्खु अण्णहा वन्हणस्त व्रअणं । (न खलन्त्यथा ब्राह्मणस्य वचनम् ।)

[राजा सप्रत्याशस्तिष्ठति ।]

[ततः प्रविशति आकाशयामेनाभिसारिकावेवा उर्वशी चित्रलेखा च ।]

उर्वशी—[आत्मानमवलोक्य] हला चित्रलेहे अवि रोअदि दे अअं मम अप्पाभरणभू-
सिदो णीलंसुअपरिग्गहो अहिसारिधावेसो । (हला चित्रलेहे अपि रोचते तेष्यं ममत्पामरण-
भूयितो नीलाशुक्रपरिग्रहोऽभिसारिकावेपः ।)

चित्रलेखा—सहि णत्थि मे चाआविहयो पसंसिदुं । इदुं तु चित्तेमि अवि एवम अहं
पुरूरवा भवेअं चि । (वरि नास्ति मे वाग्विभवः प्रथसितुम् । इदं तु चिन्तयामि अपि नामाहं
पुरूरवा भवेवमिति ।)

राजा—यह तो है, पर मेरे मनमें तो ऐसा ताप भरा हुआ है कि वह संभाले नहीं
संभलता ।—जैसे ऊबड़-खाबड़ चट्टानोंके बीचमें आ जानेसे नदी और अधिक वेगसे बहने
लागती है, वैसे ही जब अपने प्यारेसे मिलनेके सुखमें आधाएँ आ कूदती हैं तो प्रेमकी जलन
भी सौ गुनी बढ़ जाती है ॥ ८ ॥

विदूषक—यह जो आप दिन-दिन दुबले होकर निखरते जा रहे हैं, इससे जान पड़ता है
कि अब प्यारीके मिलनेमें देर नहीं है ।

राजा—[अन्ते समुन होनेसी सूचना देते हुए] वयस्य ! आशाभरी बातें कह-कहकर जैसे
तुम मुझ प्रेमके घायलको ढाढ़स बँधा रहे हो वैसे ही यह मेरी दाहिनी भुजा भी फड़ककर
मुझे आशा बँधा रही है ॥ ९ ॥

विदूषक—ब्राह्मणका वचन मूठा थोड़े ही जाता है ।

[राजा मड़ी आशासे बैठता है ।]

[इसी बीच विमानमें बैठी अभिसारिकाके वेशमें उर्वशी और चित्रलेखा आती हैं ।]

उर्वशी—[अपनी ओर देखकर] क्यों सखी चित्रलेखा ! यह धोड़ेसे आभूषण पहने हुए
और नीली रेशमी चादरसे शरीर ढके हुए जो मैं अभिसारिका बनकर आई हूँ, यह वेश
क्या मुझे अच्छा लगता है ?

चित्रलेखा—मेरे पास इतना पांडित्य कहीं कि इसकी प्रशंसा कर सकूँ । मैं तो यही
सोचती हूँ कि कहीं मैं भी पुरूरवा हो सकती ?

उर्वशी—सहि मद्दणो कलु तुमं आणवेदि । ता सिय ऐहि मं तरस सुसअस्स वसदि ।
(सखि मदनः खलु त्वामाश्वारयति । तन्वीर नय मा तस्य सुमगस्य वसन्तिम् ।)

चित्रलेखा—[विलोम्ब] रां एद्ं परिवत्तिदं विअ केलाससिहरं पिअदमस दे भवणं
उवगद म्हे । (नन्वेतस्परिवर्तितमिन् कैशसधिसरं प्रियतमस्य ते मदनमुपगते स्मः ।)

उर्वशी—तेण हि पहावदो जाणहि दाव कहिं सो मम हिअअचोरो किं वा अणुचिट्ठदि
त्ति । (तेन हि प्रभावाजानीहि तानरभ्य स गम हृदयचोरः किं वानुनिष्ठतीति ।)

चित्रलेखा—[ध्यात्वा विहस्यात्मगतम्] भोटु कीळिस्सं दाव पदाए । [प्रकथम्] हला
दिट्ठो मए एसो मणोरदद्वद्वपिआसमाअमहुद्दं आणुन्दवंतो उवदो अक्खमे ओआसे
चिट्ठदि त्ति । (भरतु । कीटिध्यामि तावदेतथा । हला दृशे मया एष मनोरथलब्ध प्रियासमागम-
सुखमनुभक्त्युपभोगक्षमेऽवकाशे तिष्ठतीति ।)

उर्वशी—[विषाद नाटयति । निःश्वस्य] धण्णो सो जणो जो एव्वं भवे । (धन्यः स जने
य एयं भवेत् ।)

चित्रलेखा—मुद्धे का उण चिता तुए विणा अएणपिआसमाअमसस । (मुद्धे का पुनश्चिन्ता
सया विनाशप्रतिशप्तमागमस्य ।)

उर्वशी—[सोच्युक्तम्] सहि अदक्खिण्णं संदेहदि मे हिअअर्थं । (सखि अदक्षिण सदिग्धे
मे हृदयम् ।)

चित्रलेखा—[विलोम्ब] एसो म णहम्मिअप्पासादपिटठगदो वअरसमेत्तसदाओ राएसी ।
वा एहि उवसत्ताम रां । (एष मणिहर्म्यप्रसादपृष्ठगता वयस्यमानवहाया राजर्षिः । तदेदि उप-
सर्पाय एतम् ।) [उभे अवतरतः]

उर्वशी—सखी ! मेरा प्रेम तुम्हें आज्ञा दे रहा है कि तुम मुझे शीघ्र ही उस भाग्यवान्के
भयनमें पहुँचाओ ।

चित्रलेखा—[देखकर] हम लोग तो तुम्हारे प्रियतमके उस भयनपर पहुँच ही गए जो
ऐसा सुन्दर लगता है मानो फेंकासकी चोटों ही उठकर यहाँ चली आई हो ।

उर्वशी—सब देवीराजिसे ही यह पता लगाओ कि यह मेरे हृदयका चोर कहाँ है और
क्या कर रहा है ।

चित्रलेखा—[ध्यान करके देखकर, आप ही ध्यान] इससे थोड़ी ठिठोली की जाय ।
[प्रकट] मैंने देख लिया । सखी ! वे अपनी मनचाही प्यारीसे गिलनेका मुस लूटते हुए
आनन्दके स्थानमें बैठे हुए हैं ।

उर्वशी—[दुली होनेका नाट्य करती है । लरी गौठ देखर] धन्य है यह खो जो ऐसी
भङ्गमागो है ।

चित्रलेखा—अरी पगली ! तुम्हे छोड़कर वे और कौन-सी दूसरी प्रेमिकासे मिलनेकी
थात सोचेंगे ।

उर्वशी—[लरी गौठ देखर] मेरा भोला भाला-हृदय तो यही सन्देह कर घेता था ।

चित्रलेखा—[देखकर] यह देखो ! वे राजर्षि यहाँ मणिहर्म्य नामके भयनकी छतपर
अनने मित्रके साथ बैठे हुए हैं । वी आशां, इनके पास चला जाय । [दोनों उतरता हैं]

राजा—वयस्य रजन्या सह विजृम्भते मदनवाचा ।

उर्वशी—अणिदिभणस्येण इमिणा वज्जणेण आरुं पिदं मे दिअअं । ता अंतरीदा एव सुणाम से सेरात्तावं जाव णो संसयच्छेदो होदि । (अनिभिन्नायेनानेन पचनेनाकमितं मे हृदयम् । तदन्तर्हिते शृणुवोऽस्य स्वरालापं यावदावयोः संशयच्छेदो भवति ।)

शिवलेखा—जं दे रोअदि । (सचे रोचते ।)

विदूषका—एणं इमे अमिअगइमा सेवीअंतु चंदवादा । (नन्वेतेऽपृथग्भाः सेवयन्तां चन्द्रपादाः ।)

राजा—वयस्य एवमादिभिरनुपमन्वोऽयमातङ्कः । पश्य ।

कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं न चन्द्रमरीचयो

न च मलयजं सर्वांगीणं न वा मणियष्टयः ।

मनसिजह्जं सा वा दिव्या ममालमपोहितुं.....

उर्वशी—[उरसि हस्तं दत्त्वा ।] का वा अवर । (का वा अपरा ।)

राजा—.....

रहसि लघयेदारुधा वा तदाश्रयिणी कथा ॥ १० ॥

उर्वशी—द्विअअ मं उज्जिअ इदो संकतेण तुए दाणि फलं उवलद्धं । (हृदय मासुक्कित्ता इतः संक्रान्तेन शयेदानीं फलमुत्पलब्धम् ।)

राजा—वयस्य ! ज्यों-ज्यों रात बढ़ती जा रही है, त्यों-त्यों मेरी काम-पीड़ा भी बढ़ती जा रही है ।

उर्वशी—इन गोलमोल वचनोंको सुनकर तो मेरा जी काँप उठा है । धलो, छिपकर इनकी गुपचुप बातें तो सुन, जिससे जीका सन्देह तो मिट जाय ।

शिवलेखा—जैसी तुम्हारी इच्छा ।

विदूषक—ओ, अमृतसे मरी हुई चन्द्रमाको किरणोंमें नहाओ ।

राजा—वयस्य ! इन सब उपायोंसे यह पीड़ा नहीं जायगी । देखो ! मेरे इस प्रेमके रोगको न तो पूलोंकी शैया ही दूर कर सकता है, न चन्द्रमाकी किरणें हटा सकती हैं, न तो सारे शरीरमें लेप बिन्धा हुआ चन्दन ही मिटा सकता है और न मोतियोंकी माला ही कम कर सकती है । यदि इस रोगको कोई दूर कर सकता है तो वस वही एक स्वर्ग-वाली ।

उर्वशी—[हृदयर हाथ रतकर] यह दूसरी कौन होगी ?

राजा—.....या फिर एकान्तमें कहीं रहूँ उसके प्रेमकी बातें ॥ १० ॥

उर्वशी—अरे हृदय ! तुम सचमुच पढ़भागी हो कि मुझे छोड़कर उनके पास चले गए हो ।

विदूषकः—आम् । हं वि पत्ययंतो जदा मिदूठहरिणीमंसभोज्यं एण लहे तदा एणं संकि-
त्तअंतो आसासेमि अत्ताएणं । (आम् । अहमपि प्रार्थयमानो यदा मिथ दृष्टिमात्रभोजन न लभे
तदैतत्सङ्गीतयन्नादरात्पाम्यात्मानम् ।)

राजा—सम्पद्यते पुनरिदं भवतः ।

विदूषकः—भवं वि तं अइरेण पायिससदि । (ममानपि तामचिरेण प्राप्स्यति ।)

राजा—सरो एवं मन्ये.....

चित्रलेला—सुणु अर्सतुठे सुणु (श्रणु अत्तनुठे श्रणु ।)

विदूषकः—यहं विअ । (कथामय)

राजा—.....

अयं तस्या रथतोभादंसेनांसो निपीडितः ।

एकः कृती शरीरेऽस्मिन् शेषमङ्गं भुवो भरः ॥ ११ ॥

चित्रलेला—सहि किं दाणिं बिलंबोअदि । (सखि किमिदानीं विन्मन्यते ।)

उर्वशी—[सहसोपसृत्य] हला अम्मदो वि मम ट्टिदाए उदासीणो विअ महाराओ ।

(हला अपतोऽपि मम स्थिताया उदासीन एव महाराजः ।)

चित्रलेला—[सहितम्] अइ अदितुनरिदे अएक्खित्तविरक्खरिणी आसि । (अयि
अदितरिते धनाधित्तिरस्करिणोकारि ।)

[नेपथ्ये]

विदूषकः—हाँ ! मुझे भी जय कभी मोंगनेपर हरिणीके भीठे मांसका भोजन नहीं मिलता
सब मैं उसका नाम लेकर ही अपना पेट भर लेता हूँ ।

राजा—पर तुम्हें यह सन मिल तो जाता है ।

विदूषकः—आप भी घस उसे मिली ही समझिए ।

राजा—बयस्य ! मैं सोचता हूँ कि ..

चित्रलेला—सुन रो पगली !

विदूषकः—हाँ, क्या सोचते हो ?

राजा—यही कि मेरे शरीरके सन अहोंमें यह कन्या ही धन्य है कि यह रथके हिलने-
डुलनेके समय मेरे साथ घठी हुई उर्वशीके कन्येको छूता चलता था । शरीरके दूसरे
अहोंको तो घस धरतीका घोल ही समझो ॥ ११ ॥

चित्रलेला—क्यों सरती ! अथ देर क्यों धरती हो !

उर्वशी—[सहसा आगे बढ़कर] सखी, मैं महाराजके सामने आकर रङ्गी भी हो गई
हूँ, फिर भी ये मुझसे घोल क्यों नहीं रदे हैं ?

चित्रलेला—[मुस्कराकर] अरी हड़बड़ानेवाली ! तेने अभी अपनी मायाको ओदनी
धो उतारी हो नहीं ।

[नेपथ्ये]

इदो इदो भट्टिणी ! (इतो इतो भट्टिनी !)

[सर्वे वर्षे ददति । । उर्वशी सह सख्या विषणा ।]

विदूषकः—[उविस्मयम्] अइ भो उवट्टिदा देवी । ता थाचंजगो होदि । (अपि भोः उपश्रिता देवी । तद्वाचंभो भन ।)

राजा—भवानपि संवृताकारमास्ताम् ।

उर्वशी—सहि किं एत्थ करणिज्जं । (सखि किमत्र करणीयम् ।)

चित्रलेखा—अलं आवेएण । अंतरिदा दाणिं वयं । विहिदुणिअमवेसा राणिसमहिस्सी दोसदि । ता ण एसा इह चिरं चिट्ठिससदि । (अलमावेगेन । अन्तर्हिते इदानीमावाम् । विहित-निश्चयेणा राजर्षिमहिषी इत्यते । तन्नेपेइ चिरं एवास्थति ।)

[तत्रः प्रविशति औपहारिकहरणपरिचना देवी चैः च]

देवी—[परिक्रम्य चन्द्रमसमवलोक्य च] हंजे एिउणिए एसो रोहिणीसंजोएण अहिधं सोहदि भअवं मिअलंछणो । (हञ्जे निपुणिके एए राणिणीसंजोएणाधिक्कं शोगते भगवान् मृगला-कञ्जनः ।)

चेटी—एणं भट्टिणीसहिदो भट्टा विसेसरमणिज्जो । (ननु भट्टिनीसहितो मत्तं विशेषरणीयः ।)

[इति परिक्रामतः ।]

विदूषकः—[दृष्ट्वा ।] भो ए जाणामि सोत्थिवाअणं मे देइ ति आदु वदव्ववदेसेए सुक्खोसा भवदो पण्णिपावलणं पमज्जिदुकाम ति । अज्ज मे अक्खीएणं सुहदंसणा देवी । (भोः न जानामि स्वस्तिवायनं मे ददातीति अथवा व्रतव्यवदेशेन मुक्तवशा भवतः प्राणयातरुह्यनं प्रमाधुरामेति । अय मेऽरयोः शुभदर्शना देवी ।)

इधरसे आइए स्वामिनी ! इधरसे ।

[वयं मुनते हैं । उर्वशी और उसनी सती उदाय हो जाती है ।]

विदूषक—[आश्चर्यसे] अरे वयस्य ! लो देवी आ पहुँची हैं । अब चुप हो जाओ ।

राजा—तुम भी सँभलकर बैठ जाओ ।

उर्वशी—अब क्याओ करो ! क्या किया जाय ।

चित्रलेखा—घमराओ मत । हम दोनों तो छिपे ही हुए हैं । महागनीके वेशसे जान पड़ता है कि ये कोई श्रव कर रही हैं, इसलिये वे यहाँ बहुत देर नहीं ठहरेंगी ।

[हाथमें पूजाकी सामग्री लिए हुए दाणियों और उनके साथ महारानी आती हैं ।]

देवी—[चन्द्रमानी-देखकर] सखी निपुणिका ! देख, रोहिणीके साथ चन्द्रमा कैसे अच्छे लग रहे हैं ।

चेटी—ठीक वैसे ही जैसे स्वामिनीके साथ महाराज यके सुन्दर दिखाई दे रहे हैं ।

विदूषक—[देखकर] वयस्य ! यह समझमें नहीं आ रहा है कि ये मुझे पूजाका मायना देने आ रही हैं या श्रवके यहाने मान धोइकर उस दिनका दोष घोने चली आ रही हैं जब ये आपके मनानेपर भी रुठकर चल दी थीं । कुछ भी हो आज तो देवी मेरी आँसोंकी बड़ी सुन्दर जैप रही हैं ।

राजा—[धरिमतम्] उभयमपि घटते । तथापि भवता यत्पश्चादभिहितं तन्मां प्रति-
भाति । यदत्रभवती ।

सितांशुका मङ्गलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाट्कुत्ताञ्जितालका ।

व्रतापदेशोज्ज्वलितगर्ववृत्तिना मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते ॥ १२ ॥

देवी—[उपसृत्य] जेदु जेदु अज्जउत्तो । (जयतु जयतु आर्यपुत्रः ।)

परिजनः—जेदु जेदु भट्टारथो । (जयतु जयतु भट्टारकः ।)

विदूषकः—सरिय भोदीए । (स्वस्ति भवत्यै ।)

राजा—स्वागतं देव्यै । [ता हस्तेन गृहीत्वोपवेशयति ।]

उर्वशी—हला ठाणो क्खु इत्थं देवीसहेण ववथरीअदि । ण किं वि परिहीअदि सचीए
ओजस्सिदाए । (हला स्थाने खलु इय देवीशन्देनोपचर्यते । न किमपि परिहीयते शय्या वोजस्वि-
तया ।)

चित्रलेला—आहु असुआपरम्महुं मंतिदं तुए । (सायु अक्षुपापराट्मुत्तं मन्त्रितं स्वया ।)

देवी—अज्जउत्तं पुरोकरिअ को वदविसेसो मय संपादणीओ । ता मुहुत्तं उवरोधो सही-
अदु । (आर्यपुत्रं पुरस्त्वय काऽपि मन वशेया मया वरादानायः । तन्मुहुत्तंभुशरोधः सहाताम् ।)

राजा—मा मैयम् । अनुग्रहः खलु अयं नोपरोधः ।

विदूषकः—ईरिसो सोत्थिवाअणवतो उवरोहो बहुसो होदु (इदंशः स्वस्तिवापनयानुपरोधो
बहुधो भवतु ।)

राजा—[हँसकर] दोनों ही वातें हो सकती हैं, पर तुमने अन्तमें जो वात कही, वही अधिक ठीक जान पड़ती है, क्योंकि उजला रेशमी वस्त्र पहने हुए, शरीरपर केवल सुहागके गहने पहनकर और पवित्र दूर्वके अङ्गुलीसे अपनी बाँहें सजाकर आती हुई देवीके रंग-दंगसे ही ऐसा जँचता है कि ये व्रतके वहाने मान छोड़कर मुझपर प्रसन्न हो गई हैं ॥ १२ ॥

देवी—[आगे घटकर] जय हो आर्यपुत्रकी, जय हो ।

दासी—जय हो भट्टारककी, जय हो ।

विदूषक—आपका बलवाण हो ।

राजा—देवीका स्वागत है । [देवीका हाथ पकड़कर उन्हें बैठाता है ।]

उर्वशी—सती । इस समय तो देवी शब्द इनके लिये सटोक बैठ गया है क्योंकि इनका तेज इन्द्राणीसे किसी भी प्रकार कम नहीं है ।

चित्रलेला—तुमने ढाह छोड़कर यह बात सच्यो कही है ।

देवी—मैं आर्यपुत्रको साथ लेकर एक विशेष व्रत करना चाहती हूँ, इसलिये प्रार्थना है कि मेरे लिये कुछ देर कष्ट सहन करनेकी कृपा करें ।

राजा—नहीं ऐसा न कहो । इसमें क्या किस बातका ? यह तो आपकी कृपा है ।

विदूषक—जिसमें पूजाका वायना मिळे, ऐसे कष्ट सदा मिळा करें ।

राजा—कि नामधेयमेतदेव्या व्रतम् ।

[देवा निपुणिकासुरमवेक्षते ।]

निपुणिका—भद्रा पित्राणुप्पसादणं ग्राम । (भर्तः त्रिधातुप्रवादनं नाम ।)

राजा—[देवी विलोक्य ।] यद्येवम् ।

अनेन कल्याणि मृशालकोमलं व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यः कारणम् ।

प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तवोत्सुकः स किं त्वयादासजनः प्रसाद्यते ॥ १३ ॥

उर्वशी—महंतो कस्यु से इमस्सि बहुमाणो । (महान्तस्तु अस्य एतस्या बहुमानः ।)

चित्रलेखा—अइ मुद्धे अण्णउंऊतपेमाणो णाअरिआ भारिआए अहिअं दक्षिणा होन्ति । (अथि नुग्घे अण्यसकतात्तपेमा णा नागरिका भार्यायामधिकं दक्षिणा भवन्ति ।)

देवी—[सहिमन्म्] एणं इमस्स चदपरिग्गहस्सं अअं पहावो जं एत्तिअं संताविदो अज्ज-
उत्तो । (नन्येतस्य व्रतपरिग्रहस्यायं प्रभावो यदेतावन्मग्निनत आर्यपुत्रः ।)

विदूषक—विरमदु भव । न जुत्तं सुहासिदं पच्चाचरिदुं । (विरमतु भव न । न सुक्तं सुभाषितं प्रत्याचरितुम् ।)

देवी—द्वारिआओ आणेव ओवहारिअं जाव मण्हिहम्मिअपिट्ठगदे चंदपादे अरुचेमि ।
(द्वारिकाः अग्निपतौपहारिकं यावन्मणिहर्म्यपुत्रगतौश्चन्द्रपादानर्चामि ।)

परिव्रजः—जं भट्टिणी आणवेदी । एसो गधकुसुमादिउवहारो । (यद्भट्टिनी आहापयति ।
एष गन्धकुसुमाद्युपदारः ।)

राज—आप कौन-सा व्रत कर रही हैं ?

[देवी निपुणिकासुर देवती हैं ।]

निपुणिका—महाराज ! इससे त्रियको प्रसन्न करनेवाला व्रत कहते हैं ।

राजा—[देवीको देखकर] हे कल्याणी ! यदि इतनी-सी ही बात हो तब तो अपने कमलके समान कोमल शरीरको व्यर्थ ही व्रत करके सुखा रही हो क्योंकि आपका जो दास, स्वयं आपको प्रसन्न देखनेके लिये अमीर हो रहा हो उसे भी क्या कहीं प्रसन्न करनेकी आवश्यकता हुआ करती है ॥ १३ ॥

उर्वशा—इन देवीको तो महाराज बहुत मानते हैं ।

चित्रलेखा—अरी पगली ! जो चतुर नागरिक किसी दूसरी स्त्रीसे प्रेम करने लगते हैं वे अपनी पहली पत्नीका और भी अधिक आदर किया करते हैं ।

देवी—[पुरोहारर] सवमुच यह व्रतका ही प्रभाव है कि आर्यपुत्रने इतना तो कहा ।

विदूषक—अच्छा रहने दीजिए अपनी बातें । व्रत पूजाको बातोंमें मीन-मेख निकालना ठीक नहीं होता ।

देवी—दासियो ! पूजाकी सामग्री तो ले आओ जिससे मैं मणिहर्म्य-भवन पर कैली दुई चन्द्रमाकी विरगुणकी पूजा तो कर लूं ।

दासियो—जैसी भट्टिनीकी आज्ञा । लीजिए, यह है चन्दन-मूल आदि पूजाकी सामग्री ।

देवी—उबगोष । [नाट्येन गणपुष्पादिभिरनन्दरादानम्भयम् ।] हंजे खिउणिण इयमेओ-
हारिअमोदए अन्नमाणअं लंमायेहि । (उपनयत । इन्जेनिपुणिः एतानां पहारिकमोदकानां-
माणवक लम्भय ।)

गिपुणिका—जं भट्टिणी अणनेदी । अन्नमाणअए एयं दाव दे । (यद्धट्टिणाशापयति ।
माणवक इद तावत्ते ।)

विदूषकः—[मोदकवगव एरीत्वा ।] सोत्थि भोदीए । यहुकओ दे एसो वदो भोटु ।
(अस्ति भ्रमथै । बहुफल तवैतद्वर्तं भवतु ।)

देवी—अन्नउत्त इदो दाव । (आर्यपुत्र इतस्तावत् ।)

राजा—अयमस्मि ।

देवी—[राजः पूतामभिनीय प्राञ्जलि प्रणम्य ।] एसा अहं देवदामिहृणं रोहिणीमिअलं-
छणं सस्त्रीकरिअ अन्नउत्तं अणुणसादेभि—अन्नउत्तहुदि ज इत्थिअं अन्नउत्तो पत्थेदि
जा अ अन्नउत्तसस समाअमत्पणायणो ताए सह मए पादिवंथेण चत्तिदत्तत्ति । (एसाहं
देवतामिधुन गेहणीगृहलाञ्जन साञ्जीकृत्यार्थंपुत्रमनुपसादयामि—अयमृते या खियमार्थपुत्रः प्रार्थ-
यते या चार्थपुत्रस्य समागमप्रणयिनो तथा सह मया प्रीतिरूपेण वर्तिरव्ययम् इति ।)

उर्वशी—अम्महे ए आणे किपर से वअणंत्ति । सम उण विरसासविसदं हिअअं
संबुत्तं । (अहो न जाने किपरमराया वचनमाित । ममपुनरिथासुविशद हृदयं सहृत्तम् ।)

चित्रलेखा—सहि महाणुहाणाए पदिअदाए अन्नभणुएणादो अणंतराओ दे पिअसमा-
अमो हविरसदि । (सति महानुभावया पतिव्रतान्पनुष्ठताः अनन्तरावर्तते प्रियसमागमा गदि-
भ्यति ।)

देवी—लाओ । [रामाओ लेकर गन्ध फूल आदिसे चन्द्रमाकी किरणोंको पूजा करनेका नाट्य
करती है ।] सत्री निपुणिका ! ये पूजाके लड्डू आर्य माणवकको दे डालो ।

निपुणिका—जैसी भट्टिनीकी आज्ञा लीजिए आर्य माणवक ! ये आपके लिये हैं ।

विदूषक—[लड्डूका पात्र लेने हुए] आपका कल्याण हो । आपका यह व्रत बहुत फले ।

देवी—आर्यपुत्र ! इधर तो आइए ।

राजा—लीजिए, आ गया ।

देवी—[राजाकी पूजाका नाट्य करके और हाथ जोड़कर] आज मैं रोहिणी और चन्द्रमाके
द्वी जोडेको साक्षी बनाकर आर्यपुत्रको प्रसन्न कर रही हूँ । आजसे जिस किसी स्त्रीको
मो आर्यपुत्र चाहेंगे और जो भी स्त्री आर्यपुत्रकी पत्नी बनना चाहेगी उसके साथ मैं बड़े
प्रेमसे रहा करूँगी ।

उर्वशी—अरी, न जाने ये किस दूसरी स्त्रीके लिये कह रही हैं । पर कमसे कम इससे
मेरे हृदयको भरोसा तो मिला ।

चित्रलेखा—सती ! इस उदार हृदयवाली पतिव्रताकी बातोंसे एक बात तो पक्की हो
गई कि अब तुम्हें अपने प्यारेसे मिलनेमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी ।

विदूषकः—[अपवार्य ।] भिक्षणहृत्वे मच्छे पलायिते णिविवरणो धीवरो भण्णादि—
गच्छ धम्मो मे हवित्सदि त्ति । [प्रकाशम्] भोदि किं तारिसो दे पिओ उत्तमभं । (भिन्नहस्ते
मस्त्ये पलायिते निर्बन्धो धीवरो भणति—गच्छ धर्मो मे भविष्यतीति । भवति किं तादृशस्ते प्रियस्तत्र-
भवान् ।)

देवी—मूढ अहं कसु अत्तणो सुहावसाणेण अज्जउत्तं णिव्वुदसरोरं काटुं इच्छामि ।
एत्तिण्ण चित्तेहि दाव पिओ ए वति । (मूढ अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्थपुत्रं निवृत्तसरोरं
कर्तुमिच्छामि । एतावता चित्त ए तावद्विशेषो न वेति ।)

राजा—

दातुं वा प्रभवसि मामन्यस्मै कर्तुमेव वा दासम् ।

नाहं पुनस्तथा त्वयि यथा हि मां शंक्से भीरु ॥ १४ ॥

देवी—होहि वा मा वा । जघाण्हिट्ठं संपाविदं मए पिआणुप्पसादण खान वदं । दारि-
आओ एध गच्छहा । (भव वा मा वा । यथानिर्दिष्टं संरादितं मया प्रियानुप्रयादनं नाम व्रतम् ।
दारिकाः एत गच्छामः ।

[इति प्रस्थिता]

राजा—प्रिये न खलु प्रसादितोऽस्मि यदि संप्रति विहाय गम्यते ।

देवी—अज्जउत्त अलंविदपुच्चो मए णिओमो । (आर्षपुत्र अलंघितपूर्वो मया नियमः ।

[इति सपरिवारा निष्कृता ।]

उर्वशी—सहि पिअकलत्तो रापसी । ण उण्ण हिअभं णिवत्तेटुं सकोमि । (एखि प्रियकल्यो
राजार्षः । न पुनहं दयं निवृत्तयिदं शक्तीमि ।)

विदूषकः—[अलग, राजासे] जब मड़ली मछुएके हाथसे निकलकर पानीमें भाग जाती
है तब वह भी निराश होकर यही कहता है—जा ! मुझे पुण्य ही होगा । [प्रकृत] देवी !
प्या महाराज आपको इतने प्यारे हैं ।

देवी—अरे मूर्ख ! मैं अपने सुखका बलिदान करके भी आर्यपुत्रको सुखी देखना
चाहती हूँ । इसीसे समझ ले कि वे मुझे प्यारे हैं या नहीं ।

राजा—देवी ! चाहो तो तुम मुझे किसी दूसरेको दे डालो या चाहो अपना ही दास
घनाकर रख छोड़ो, पर तुम मुझे अपने जैसा दूर समझ बैठी ही वैसी बात नहीं
है ॥ १४ ॥

देवी—दूर हों या न हों, पर मैंने तो प्रियको प्रसन्न करनेवाला जो व्रत ठाना था वह
पूरा ही कर लिया । आओ दासियो ! चलो चलें । [चलनेको प्रयत्न होती है ।]

राजा—यदि मुझे छोड़कर चली जाओगी तो समझ लो कि मैं प्रसन्न नहीं हुआ ।

देवी—आर्यपुत्र ! मैंने आज तक कभी अपने व्रतका नियम नहीं तोड़ा है ।

[दासियोंके साथ चली जाती है ।]

उपसंग—तस्यो ! राजा अपनी पत्नीको इतना प्यार करते हैं तिसपर भी मैं उन परसे
अपना मन दटा नहीं पा रही हूँ ।

चित्रलेखा—किं एष तु ए गिरासाए णियत्तीश्रदि । (किं पुनस्त्वया निराशया निवर्त्यते ।)

राजा—[आसनमुपेत्य] वयस्य न रज्जु दूरं गता देवो ।

विदूषकः—भण विस्महं लं सि वत्तुकामो । असम्भो ति वेजेण आहुरो विथ सेरं मुत्तो मवं तत्तहोदीए । (मण विभ्रजं यदसि वत्तुकामः । असाप्य इति देवेनातुर इव खेरं मुत्तो मवो-
स्तत्रमवत्या ।)

राजा—अपि नामोर्वशी ।

उर्वशी—अज्ज किदत्था भवे । (अत्र कृतार्था भवेत् ।)

राजा—

गूढा नृपुत्राब्दमात्रमपि मे कान्तं श्रुतीं पातयेत्

पश्चादेत्य शनैः कराम्बुजपुत्रे कुर्वीत वा लोचने ।

हर्म्येऽरिमन्नवतीर्य साध्यसवशान्मन्दायमाना यत्नात्

आनीयेत् पदात्पदं चतुरया सख्या मनोपान्त्विकम् ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—सदिं उव्वसि इमं दाव से मणोरहं संपादेदि । (सति उर्वशी इमं तावदस्य मनोरथ उग्रादय ।)

उर्वशी—[उग्रापणम्] भोट्टु । कोळिसं दाव । (मग्गु वीडिप्यामि तावत् ।) [इति तिर-
स्कारणीमपनीय वृष्टने गत्वा राज्ञं नयने संवृणाति ।]

[चित्रलेखा तिरस्कारिणीमपनीय विदूषक उग्रापयति ।]

चित्रलेखा—तो क्या तुम अब निराश होकर लौट जाना चाहती हो ?

राजा—[धरने आसनपर बैठकर] वयस्य ! अर्थां देवो दूर तो नहीं पहुँची होंगी ।

विदूषक—जो कहना ही ली रोलकर यह डालो । जैसे रोगीको असाध्य समझकर
चैदा उसे छोड़ देता है वैसे ही आपको भी देवोने यह समझकर छोड़ दिया कि अब आप
मुघर नहीं सवते ।

राजा—क्या अच्छा हो यदि उर्वशी..... ।

उर्वशी—आज कृतार्थ हो जाय ?

राजा—क्या अच्छा हो यदि उर्वशी इस समय छिपे छिपे आकर अपने अपने विदुषकी
भीठी छनन-छनन ही सुना जाय या पीछेसे आकर अपने कमलके समान कोमल ह्ये-
लियोंसे मेरी आँखें बन्द कर ले या इस भवनपर उतरकर यह डरती हुई पीरे-पीरे आगे
पड़े और उसकी चतुर दाखी उसे ग्योबर मेरे पाम पहुँचा दे ॥ १५ ॥

चित्रलेखा—आओ रागो उर्वशी ! मय इनके मनरी हुलास पूरी कर दो ।

उर्वशी—[धर्षारगणे] अच्छा ! पहले मैं इनसे कुछ ठिठोली करती हूँ ।

[मायावी थोड़नी उगारकर पीछेने पहुँचकर राजाकी धींसे टक लेती है ।]

[चित्रलेखा भी मायावी थोड़नी उगारकर विदूषकको संकेत करती है कि मताना मत ।]

विदूषकः—भो वधस्त का लए पसा । (भो वयस्य का पुनः एषा ।)

राजा—[शशं रूपकिंग] सखे नारायणोदसंभवा सेयं वरोहः ।

विदूषकः—कहं भवं अवगच्छदि । (कथं मगानवगच्छति ।)

राजा—किमत्र होयम् ।

अङ्गमनङ्गविलष्टं सुखयेदन्या न मे करस्पर्शात् ।

नोद्धुसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम् ॥ १६ ॥

उर्वशी—[हसन् अपनीय उच्यते । किञ्चिदपस्तस्य] जेदु जेदु महाराजो (जयतु जयतु महाराजः ।)

राजा—सुन्दरि स्वागतम् । [इत्येकासन उपवेशयति ।]

चित्रलेखा—अवि सुहं वधस्तस्त । (अपि सुहं वयस्यस्य ।)

राजा—नन्वेतदुपपन्नम् ।

उर्वशी—हला देवीए दिण्णो महाराजो । अदो से पएअवदी विअ सरीरसंपखं गदन्दि । मा क्लु मं पुरोभाइणिं समत्थेहि । (इल देव्या दचो महाराजः । अताऽस्य प्रणयवतीव शरीरवगर्कं गतास्मि । मा क्लु मां पुरोभाग्निनां गमर्थपर ।)

विदूषकः—कहं इह जेव तुम्हाणं अत्यमिदो सुम्हो । (कथं इहैव युवयोरस्तमितः सूर्यः ।)

राजा—[उर्वशीप्रणम्यो कथन्]

देव्या दत्त इति यदि व्यापारं व्रजति मे शरीरेऽस्मिन् ।

प्रथमं कस्यानुमते चोत्तिमपि मे त्वया हृदयम् ॥ १७ ॥

विदूषकः—क्यों वयस्य ! ये कौन हैं ।

राजा—[शशये पहचानना हुआ] मित्र ! यह वही सुन्दर जाँघोंवाली उर्वशी है जो नारायणकी जाँघसे उत्पन्न हुई है ।

विदूषकः—आपने पहचान कैसे लिया !

राजा—इसमें पहचाननेकी क्या बात है । दूसरो कोई ऐसी स्त्री नहीं है जो मेरे काम-पीड़ित शरीरको अपने हाथसे छूकर सुखी कर दे । चन्द्रमाकी किरणोंसे खिल उठनेवाला कुमुद सूर्यकी किरणोंसे नहीं खिला करता ॥ १६ ॥

उर्वशी—[हाथ दृष्टकर लड़ी हो जाती है । कुछ हठकर] जय हो महाराजकी जय हो ।

राजा—स्वागत करता हूँ सुन्दरी ! [अपने ही बासनपर बैठा लेता है ।]

चित्रलेखा—कहिण आप प्रसन्न तो हैं ।

राजा—प्रसन्नता तो अभी-अभी हाथ लगी है ।

उर्वशी—सखी ! देवीने महाराजको मेरे हाथ दान दे डाला है इसलिये मैं इनकी विवाहिवा स्त्रीके समान ही इनसे सटकर बैठी हूँ । तुम मुझे कुछटा न समझ बैठना ।

विदूषकः—आप लोग यहाँ सौमसे हो लड़ी हुई क्यों क्या ?

राजा—[उर्वशीकी ओर देतकर] आज तो तुम यह कहकर मुझसे संबंध जोड़ रही हो कि देवीने मुझे तुम्हारे हाथ सौंप दिया है, पर यह तो धताओ कि तुमने पहले जो मेरा हृदय चुराया था वह किससे पूछकर चुराया था ॥ १७ ॥

चित्रलेखा—वञ्चस्व गिरुतरा एसा । संपद् मह विण्णवणा सुणी अदु । (वयस्य निरुचया एसा । सान्प्रत मम विज्ञापना भूयानाम् ।)

राजा—अवहितोऽस्मि ।

चित्रलेखा—वसन्ताण्तरं उरुहसमए भञ्चवं सुञ्जो मर उववरिदव्जो ता जहा इञ्चं मे विञ्चसही सम्गसम ण उक्कंठेदि तहा वञ्चस्सेण कादव्वं । (वसन्तानन्तरमुष्णकर्म मगवान्पूर्वो मयोपनरितव्यः । तत्राप्येव मे प्रियमर्था रम्याय नोत्सृज्यते तथा वयस्येन कर्तव्यम् ।)

विदूषकः—किं वा सम्ये सुमरिदव्व । ए वा सत्तव अण्णहीअदि ए वा पीअदि । केवलं अण्णिमित्तेहि णअणेहि मीया विदंवीअन्ति । (किं वा रागं स्मृतं एवम् । न वा तदावपते न वा पीयते । केवलमणिमिपैर्नयनैर्नाना विरञ्ज्यन्ते ।)

राजा—भद्रे ।

अनिर्देश्यसुरतः स्वर्गः कस्तं रिस्मारयिष्यति ।

अनन्यनारीनामान्यो दामस्त्वस्याः पुरुरवाः ॥ १८ ॥

चित्रलेखा—अण्णुमाहीदग्धि । हला उव्वसि अकादरा भविअ विस्सजेहि मं । (अनुपरो-
वाश्चि । हला उपरो अज्ञातरा भूया वितर्जय माम् ।)

उर्वशी—[चित्रलेखा परेष्वप्य उक्त्वम्] सहि मा क्तु मं विस्सुमरेदि । (सति मा तत्तु मा रिस्मर ।)

चित्रलेखा—[शरितम्] वञ्चस्सेण संगदा तुमं मए जाचिदव्वा । (वयस्येन सद्गता समैरेवमया याचितव्या ।) [इति राजान प्रथम्य निष्क्रान्ता ।]

चित्रलेखा—वयस्य ! हम बातपर तो इनकी बोधती बन्द हो गई । अब आप मेरी बात सुनिए ।

राजा—फहिए, मैं सुन रहा हूँ ।

चित्रलेखा—ममन्त यौतनेपर गर्मीमें मुझे सूर्यकी सेवा करना है इसलिये आप इन्हें ऐसा पाँप रतिए कि ये मेरी प्यारी सती स्वर्ग जानेके लिये पयरा न उठें ।

विदूषक—स्वर्गमें पयरा ही क्या है, जिसे ये स्मरण करके पयरायेंगी । न यहाँ बुद्ध खानेको है न पीनेको । यहाँके लोग वो बस दिन-रात मद्धलीके समान मद्धा और पयरे पेटे रहते हैं ।

राजा—भद्रे ! स्वर्गमें ऐसे-ऐसे मुरा भरे पड़े हैं कि उनका धर्जन नहीं हो सकता । इसलिये उन्हें भुला पाँप सक्ता है, पर मैं इतना ही पय मरता हूँ कि मैं पुरुरवा सष खिचोसे मन हटाकर केवल आपकी सखीकी ही सेवा करता रहूँगा ॥ १८ ॥

चित्रलेखा—यह तो आपकी कृपा है । मर्मा वरशा ! मुझे जी खोलकर बिदा तो दो ।

उर्वशी—[चित्रलेखाके गले मिलकर वक्ष के ताप ।] सम्ये ! मुझे भूल न जाना ।

चित्रलेखा—[मुसकुराकर] अब तुम मित्रके पास पहुँच गई हो इसलिये यदि यह बात सुनसे मैं बहती तो अधिक ठीक होता ।

[राजाको प्रणाम करके पयरे वप्ये वप्ये ।]

विदूषकः—दिट्टिआमणोरुदसंपदोए वड्डदि भवं । (दिट्टया मनोरथसम्पत्ता वर्यते भवान् ।)

राजा—इयं तावद्धृद्धिर्मम । पश्य—

सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठं एकातपत्रभवनेन तथा प्रभुत्वम् ।

अस्याः सखे चरणयोरुदमथ कान्तं आज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः ॥ १६ ॥

उर्वशी—णत्थि मे चाआविद्वो अदो पिअदरं मंतिट्टुं । (नात्ति मे चाविमवोऽनः प्रियतर मन्त्रयित्तुम् ।)

राजा—[उर्वशीं हस्तेनावरुण्य] अहो विरुद्धसंवरधनं ईप्सितलाभो नाम । यतः ।

पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं दायास्त एव मदनस्य मनोनुकूलाः ।

संस्मरूचमिव सुन्दरि यद्यदासीत् त्वत्सङ्गमेन मम तत्तदिवानुनीतम् ॥ २० ॥

उर्वशी—अवरुद्धग्धि चिरकारिआ अव्वजउत्तसस । (अपरादास्मि चिरकारिकार्यपुत्रस्य ।)

राजा—सुन्दरि मा नैवम् ।

यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवचरम् ।

निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ॥ २१ ॥

विदूषकः—भो सेविदा पदोसरमणीआ वंदवादा । समओ व्त्सु दे वासपरपवेसस । (भोः सेविताः प्रदोपरमणीवारचन्द्रपादाः । समयः खलु ते वासग्रहप्रवेशस्य ।)

राजा—तेन हि सख्यास्ते मार्गमादेशय ।

विदूषक—मनोरथ पूरे होनेकी मैं आपको बघाई देता हूँ ।

राजा—यह तो मेरी सभसे बड़ी जीत है । देखो—इनकी आज्ञा पालन करनेमें मैं अपनेको जितना धन्य समझता हूँ उतना मैं सारी पृथ्वीका स्वामी होने तथा अपने पैरके पीढ़ेको समान्त्र राजाओंके मुकुटको मणियोंसे रंगानेको भी अच्छा नहीं समझता ॥ १९ ॥

उर्वशी—इससे बढ़कर प्यारी बात मुझे सूझ ही नहीं रही है ।

राजा—[उर्वशीको हाथसे पकड़कर] जब चाही हुई वस्तु मिल जाती है तब विरोधी वस्तुएँ भी अच्छी लगने लगती हैं । क्योंकि चन्द्रमाकी वे ही किरणें आज सुख दे रही हैं और कामदेवके वे ही बाण आज मनको भा रहे हैं । हे सुन्दरी ! जो-जो वस्तुएँ क्रोध-भरी या कठोर जान पड़ती थीं वे सब तुम्हारे मिलते ही कोमल हो गई हैं ॥ २० ॥

उर्वशी—मैंने अपनेमें इतनी देर करके आर्यपुत्रका थड़ा अपराध किया है ।

राजा—ऐसी बात न कहो सुन्दरी ! तुम्हारे पीछे जो सुख मिलता है वह थड़ा रसीला होता है । पेड़की छाया उसी मनुष्यको अच्छो लगती है जो धूपमें तपकर आया हो ॥ २१ ॥

विदूषक—बलिय ! सँभरके चन्द्रमाकी किरणोंका बहुत आनन्द ले चुके । अब आपके शयन-घर जानेका समय हो गया है ।

राजा—तो अपनी सखी उर्वशीको वहाँ ले चलो ।

विदूषकः—इदो इदो भयदी । (इत इतो भयती ।)
[इति एते परिणामन्ति ।]

राजा—सुन्दरि हयमिदानीं मेऽभ्यर्थना ।

उपहारी—कीरिस्ती सा (कीदशी सा)

राजा—

अनुपनतमनोरथस्य पूर्वं शतगुणितेन गता मम त्रियाम्ना ।

यदि तु त्वं समागमे तथैव प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम् ॥ २२ ॥

(इति निष्पन्ता एव)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥

विदूषक—इधरसे आइए देवी ! इधरसे ।

[सब घूमते हैं ।]

राजा—सुन्दरी मेरी एक इच्छा है ।

उपहारी—क्या ?

राजा—यहो कि मनोरथ पूरा होनेके पहले, रातें जैसी सौगुनी लम्बी जान पड़ती थीं यदि वे अथ तुम्हारे मिल जानेपर भी वैसी ही लम्बी हो जायें तो मैं अपनेको बड़ा भाग्यवान् समझूँ ॥ २२ ॥

[सब चले जाने हैं ।]

॥ सीमरा अद्भुत समाप्त ॥

चतुर्थोऽङ्कः

(नेपथ्ये)

पित्रसहिद्विधोऽयमिच्छा सहिं हंसी वाउला समुल्लवद् ।
सूरकरकंसविश्रसितामरसे सरवरुसंगे ॥ १ ॥

(मियरुजोवियोगविमनाः सखीं हंसी व्याकुला समुल्लपति
सूरकरकंसविकसितामरसे सरोवरोत्तङ्गे ॥)

[ततः प्रविशति विमनस्का चित्रलेखा सहजन्या च]

(नेपथ्ये)

सहअरि दुक्त्वालिद्धं सरवरअग्निं सिखिद्धं ।
वाहोवग्निअणअणअं तम्मइ हंसीजुअलअं ॥ २ ॥

(सहचरी दुःखालीढ सरोवरे विनग्धम् ।

वाग्नावयस्मितनयनं ताम्बति हंसीजुगल्म् ॥)

सहजन्या—[चित्रलेखां विलोक्य सखेदम्] सहि चित्तलेहे मिलाअमाणसदवत्तस विश्व
दे गुहसस छात्रा दिअअसस अस्तस्यदं सुएदि । ता कहेदि मे णिव्वेदकारणं । दे समदुक्खा
भविदुं इच्छामि । (सखि चित्रलेहे म्हायमान-शतपत्रस्येव ते मुखस्य छाया हृदयस्यास्वस्थता
सूचयति । तस्मिन् मे निवेदकारणम् । ते समदुःखा भवितुमिच्छामि ।)

चौथा अङ्क

(नेपथ्यमे)

[अपनी प्यारी सखीके लिये विछोहसे अनमनो और धरलाई हुई हंसी, उसी तालाबके बरमे
अपनी सखीके लिये बैठी रो रही है जिसमेंके कमल सूर्यकी किरणोंके झूनेने खिल उठे हैं ॥ १ ॥]

[सहजन्याके साथ, उदाय चित्रलेखाका प्रवेश]

(नेपथ्यमे)

[अपनी सखीके दुःखमें धरलाई हुई और एक दूसरीको प्यार करनेवाली दो हंसिनियाँ
आँखोंसे आँसू बहाते हुए तालाबके तीरपर बैठी खिख रही हैं ॥ २ ॥]

सहजन्या—[चित्रलेखाको देखकर दुःखके साथ] सखी चित्रलेखा ! यह सुनाए हुए
कमलके समान उदास तेरा मुँह क्या रहा है कि तेरा जो ठीक नहीं है । तू मुझे अपनी
व्यथाका कारण तो बता । मैं भी तेरा दुःख बाँट लेना चाहती हूँ ।

चित्रलेखा—[चमकम्] सहि अचलरावारपञ्जाएण इह भअयदो सुवजस्स पादमूलोव-
ट्ठेषु वट्टदि त्ति वलिअं कसु उव्वसीए षड्ढिदग्धि । (सखि अप्परोधारपथयिणेहमगवत, सूर्यस्य
पादमूलेपस्थाने वर्तते इति बलरत्नरत्न उर्वरयायुःकण्ठितामि ।)

सहजन्मा—सहि जाणो वो अणोएणसिणोहं । तदो तदो । (सखि जाने युवयोरग्नो-
ग्नेहम् । ततस्ततः ।)

चित्रलेखा—तदो इमाहँ दिवसाहँ को गु कसु बुत्तावो त्ति पणिधानट्ठिदाए नए अयाहिदं
एवलाहँ । (ततः एतेषु दिवसेषु को नु खलु वृत्तान्तः इति प्रणिधानस्यतया मवात्थाहितमुपलभ्यम् ।)

सहजन्मा—[सावेगम्] सहि कीरिसं तं । (सखी श्रीदत्त तत् ।)

चित्रलेखा—[सकृद्यम्] उव्वसी निल तं रदिसहाअं राणसि अमच्छेसु णिवेसिदरज्ज
धुरं गेण्हिअ गंधमादणवण विहरिदुं गदा । (उर्वशी किल त रतिवहाय राजपिमात्येषु निवे-
शितराज्यधुर गृहीत्वा गन्धमादनवन विहर्षे गता ।)

सहजन्मा—[सरलाभम्] सो णाम संभोओ जो तारिसेसु पदेसेसु । तदो तदो । (स नाम
सभोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु । ततस्ततः ।)

चित्रलेखा—तहि कसु मंदाइणीए पुलिणेषु गदा सिअदापव्वद केलीहिं कीलमाणा
विज्जाधरदारिआ उदयवती णाम वेण राएसिणा णिज्जाइद त्ति कुयिदा उव्वसी । (तत्र खलु
मन्दाकिन्याः पुलिनेषु गता सिक्तापर्यंतकेलीभिः क्रीडन्ती विद्याधरदारिकादयस्ती नाम तेन राजपिगा
निष्पतेति कुपिता उर्वशी ।)

चित्रलेखा—[दुःखी होकर] सखी ! यहाँ भगवान् सूर्यको सेवाके लिये सब अप्सरा-
ओंकी पारी बँधी हुई है । आज मैं भी अपनी पारीपर आई थी और इसीलिये आज
उर्वशीको स्मरण करके मेरा जी बड़ा व्याकुल हो पड़ा है ।

सहजन्मा—सखी, यह तो मैं जानती हूँ कि तुम दोनों एक दूसरीको बड़ा प्यार करती
हो । हाँ, तब !

चित्रलेखा—यह सोचकर जब मैंने उसका कुशल-समाचार जाननेको ध्यान लगाया तो
पता चला कि यह बड़े संकटमें पड़ गई है ।

सहजन्मा—[परतार] संकट कैसा सखी ?
चित्रलेखा—[बधाई-की माकर] विहार करनेके लिये उर्वशी गंधमादन पर्यंतपर गई
थी राजा पुरुरवा भो राज्यका काम मंत्रियोंकी सापेक्ष उसके साथ गए थे और उर्वशीको
साथ लेकर वे यह समझे हुए थे कि स्वयं रति ही हमारे साथ है ।

सहजन्मा—[प्रशंसा करती हुई] ऐसे सुन्दर प्रदेशमें संभोग करना ही तो सच्चा संभोग
पहलाता है । हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

चित्रलेखा—यहाँ जब यह मंदाकिनिके कटपर जाकर पालके ठीले यना-यनाकर रोल
रही थी, उस समय यह देखती क्या है कि नदयवती नामकी एक विद्याधरकी कन्याको
राजा बैठे धूर रहे हैं । उस इसी बातपर उर्वशी विगद रही हुई ।

सहज्या—होदन् । दुरारुढो क्स्तु पणश्रो असहणो । तदो तदो । (भविष्यम् । दुरारुढः सलु प्रणयोऽसहणः । तवततः ।)

चित्रलेखा—तदो सा भट्टियो अणुणश्रं अप्पडिवज्जगाणा गुदसाव संमूढहिअश्रा विमुमरिददेवदाणिअमा इत्थिआजणपरिहरणिजं कुमारवणं पविट्ठा । पवेसाणंतरं अ काण-शोवंतवत्तिलदाभावेण परि एद से रूवम् । (तया सा भट्टानुनयमप्रतिपणगाना गुदसावसंमूढ-हृदया विस्मृतदेवतानियमा छांजनपरिहरणीय कुमारजन प्रविष्टा । प्रवेशानन्तर च काननोपागतवति रुताभावेन परिणतमभ्या रूपम् ।)

सहज्या—[सशोक्रम्] सव्वधा पत्थि विहिणो अलंभसिज्ज पाम । जेष तारिसस्त अणुराअस्त अश्रं एव्व एकजदे अणारिसो पल्लिणामो संघुत्तो । अह किमवत्थो सो राएसो । (सयथा नास्ति विवेकलङ्घनीय नाम । येन तादृशस्थानुरागस्यायमेवैत्यदेऽन्नाहशः परिणामः सवृत्तः अथ किमवरपः स राजर्षिः ।)

चित्रलेखा—सो वि वस्सिं एव्व काएणे पिअदमं विचिएणतोअहो रत्ते अदिवाहेदि । [नभोवलयम्] इमिया उण णिण्वदाणं वि उळ्ळंठाकारिया मेहोदएण अणस्थाहीणो हवि-स्तदि । (नेपथ्ये)

सहयतिदुक्खालिद्धश्रं सरवरश्रंसिसिण्णिद्धश्रं ।

अदिरलवाहजलोल्लुअं तम्मइ हंसी जुअल्लश्रं ॥ ३ ॥

(सोऽपि तस्मिन्नेव कानने श्रियतमां विचिन्वन्नेहोरागतविवाहयति । एतेन पुनर्निवृत्तानामप्यु-त्कृष्ठाकारिणा मेधोदयेत्तानर्षोधीनो भविष्यति ।)

(सहचरीदुःखालीढ शरोवरे स्निग्धम् ।)

अदिरलवाणजल्लदं ताम्यति हंलंसुगलम् ॥)

सहज्या—हाँ, यह हो सकता है । क्योंकि जब प्रेम बहुत बढ़ जाता है तब ऐसी बातें सही नहीं जावें । हाँ, तब !

चित्रलेखा—भरत मुनिके शापसे उसकी बुद्धि ऐसी नारी गई कि राजाकी मनुहारकी उसने ठुकरा भी दिया और कार्तिकेयके नियमका ध्यान छोड़कर वह उस कुमारचनमें पैठ ही हो गई, जहाँ स्त्रियोंके जानेकी रोक थी । वस, ज्योंही वह घुसी त्योंही वह कुमार-चनके पादपर उठा वन गई ।

सहज्या—[शापके साथ] सचमुच भाग्य किमीको नहीं छोड़ता । वताइए, कहीं तो ऐसा प्रेम और कहीं उसका ऐसा उल्टा फल । अचक्षा, अब उन राजर्षिको क्या दशा है ?

चित्रलेखा—वे भी उसी चनमें प्यारीको दिन-रात खोजते हुए अपने दिन बिता रहे हैं । [आकाशकी आर देकर] खुबो लोगोंके मनमें भी चाह भरनेवाले इन बादलोंकी देकर तो उनका जी ही टूट गया होगा ।

(नेपथ्यमें)

[अपनी सखीके दुरागमें धरवाई हुई और एक दूतरीको प्यार करनेवाली दो हस्तिनीयों ओल्लोँठे और बहाते हुए सालाबके तारपर बैठी लिख रहा है ॥ ३ ॥

सहज्या—सहिण वस्तु तारिसा आकिदिस्तेसा चिरं दुक्ख माइयो होन्ति । ता अयरसं किंपि अणुगदण्णिमित्तं भूयोवि समाभम कारणं हविस्सदि । [प्राची दिश विजाइय] ता एहि । । उदअमुहस्स भअवदो मुञ्जरस उवट्ठाणं करेन्ह ।

(नेपथ्ये)

चिंतादुग्धिमग्रमाणसिया सहअरिदंसण लालसिया ।
विअसिअ कमलमणोहरए विहरइ हंसी सरवरए ॥ ४ ॥

(सखि न खड्ड तादृशा आकृतिविशेषाभिरं दुःखभागिनी भवन्ति । तदवस्थं विमप्यनुग्रहनिमित्तं भूयोऽपि समागमकारणं भविष्यति । तदेहि । उदयोन्मुगल्य भगवतः सूर्योत्पत्तयानं कुर्वः ।

चिन्तादूग्धमानविका उद्वेगरीदर्शनलालसिका ।
विरुक्षितमगलमनोहरे विहरति हृष्यां सरोवरे ।

[इति निश्चान्ते]

॥ प्रवेशकः ॥

(नेपथ्ये)

गहणं गइंदणाहो पियविरहुम्माअपअलियाविआरो ।
विसइ तरुकुसुमकिमलअभूसिअणियादेहपवमारो ॥ ५ ॥

(गहनं गजेन्द्रनाथः प्रियाविरहान्मादप्रकटितचिन्तारः ।
विशति तरुकुसुमकिमलभूषितनिबदेहपवमारः ।)
[ततः प्रविशति आनाथबद्धलक्ष्यः उन्मत्तचेरो राजा]

सहज्या—सरसी ! ऐसे भाव्यवान् पुरुष बहुत दिनोंतक दुःखी नहीं रहते । इसलिये कोई न कोई ऐसा कारण था ही जायगा कि वे दोनों फिर मिल जायेंगे [पूर्व दिशाकी ओर देखकर] तो सूर्य निकल आए हैं । आओ हम लोग सूर्यकी प्रार्थना करें ।

(नेपथ्ये)

[चिन्तासे अन्तमनी और वरनी खरीते मिलनेकी अचीर दृष्टी रितले हुए कमलोंसे सुभावने सगनेवाले तालाबमें विहार कर रही हैं ॥ ४ ॥

[दोनों जात हैं]

॥ प्रवेशक ॥

(नेपथ्ये)

[यह रक्षान्या दाभी अरनी प्यारके रिडोहमें बागल होनेके कारण अरने मन्त्री न्यथा प्रकट करता हुआ या वेदोंके फूलों और कोमल पत्तोंसे अरने बड़े शरीरकी सजाता हुआ वनमें बसा था रहा है ॥ ५ ॥

[आकाशनी ओर देखते हुए और बागल जैत वेग बनाए हुए राजा प्रवेश ।]

राजा—[लज्जोपमम्] आः दुरात्मन् रक्षः । तिष्ठ तिष्ठ । मे प्रियतमामावाय गच्छसि ।
[विलोक्य] हन्त शैलशिखराद्गगनमुत्पत्य बाणैर्गामभिवर्षति ।

(नेपथ्ये)

द्विअग्राहि अपिअ दुक्खओ सरवरए धुदपक्खओ ।

वाहोग्गअ खअणओ तम्मइ हंसजुआणओ ॥ ६ ॥

(हृदयार्हित प्रियाशुःश्रः शरोपरे ध्रुतपद्मः ।

वाष्पाववस्मितनयनराम्यति हंसपुत्रः ।)

[लोटं गृहीत्वा हन्तुं धावन् विभाव्य सकणम्]

कथम् ।

नयजलधरः संनद्धोऽयं न हस्तनिशाचरः सुरधनुर्दिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपि पदुर्धारासारो न बाणपरंपरा कनकनिकपस्निग्धा विधुत्प्रिया न ममोर्वशी ॥७॥

(नेपथ्ये)

मइँ जाणिअँ मिअलोअणी णिसअरु कोइ हरेइ ।

जाव शु खयतलिसामल धाराहरु वसिसेइ ॥८॥

(मया शर्तं मृगलोचनां निशाचरः कोऽपि हरति ।

यावन्तु नय तडिञ्चमलो धाराधरो वर्षति ॥)

[विचिन्त्य सकणम्] एष नु खलु सा रम्भोरुग्ता स्यात् ।

राजा—[क्षोभते] अरे, खड़ा रह दुष्ट राजस ! खड़ा रह ! तू मेरी प्रियतमाको लिए चला जा रहा है ? [देखकर] अरे ! यह पहाड़की चोटोसे आकाशमें उड़कर सुन्दर बाण बरसाने लगा ।

(नेपथ्यमें)

[यह जगान हंत अपनी प्यारीके बिछोहमें पंख फड़फड़ाता हुआ आँखोंमें आँसू भरे तालाबमें भैँटा,सिक्करहा है ॥ ६ ॥

[एक डेला लेकर मारने दौड़ता है, पर फिर ठीक समझकर कण्ठके रोष ।] अरे, यह तो अभी-अभी बरसनेवाला बादल है, राजस नहीं । इसमें यह लींचा हुआ इन्द्रधनुष है, राजसका धनुष नहीं । और ये जो टप-टप बरस रहे हैं ये बाण नहीं हैं, बूंदे हैं और यह जो कसौटी पर बनी हुई सोनेकी रेखाके समान चमक रही है, यह भी मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है, विजली है ॥ ७ ॥

(नेपथ्यमें)

[मैंने समझा था कि मृगके समान आँखवाली मेरी उर्वशीको कोई राजस हर कर लिए चला जा रहा है, पर यहाँ केवल बिजलीको चमकता हुआ काज बादल बानी बरसा रहा है ॥ ८ ॥

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति ।

स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।

तां हतुं विबुधद्विपोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनी

सा चारत्यन्तमदर्शनं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥६॥

[इति दिशोऽलोक्य सनिःसरासम् ।] अये परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि ।

कृतः—

अयमेकपदे तथा वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।

नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥ १० ॥

जलहर संहर एह कोपई आठतयो अविरलधारासारदिसामुहकंतयो ।

ए मई पुहविं भमंतो जह पिअं पैस्विमि तव्ये जं जु करीहिसि तं तु सहीहिमि ॥११॥

(जलहर संहरतं कोपमाश्रितः अविरलधारासारदिशामुगमन्तः ।

ए मई पृथ्वीं नम-यदि प्रिया प्रेक्षे तदा मयस्वरिध्वषि तत्तलदिष्ये)

[विदश्य] गुधैव खलु मया मनसः परितापवृद्धिरुपेक्षते । यथा मुनयोऽपि व्याहरन्ति—

राजा कालस्य कारणमिति । तदिक्रमहं जलदसमयं न प्रत्यादिशामि ।

गंधमाइय महुअरगीएहिं वज्जतेहिं परहुअ त्ताहिं पसरियपवणुव्वेलिअपल्लवणियरु ।

मुललिअविधिहपयारं खचइ कप्पयरु ॥ १२ ॥

(गन्धेन्द्रादितमधुस्र-गीतैः, वाद्यमानैः परभूतव्यैः

पवणपग्नाहैः तपल्लवणियरुः ।

[दुःखे वाचसर] वह केजेके समान जोपौवाली सुन्दरी कहाँ गई होगी ? कहीं वह

क्रोधनें आकर अपने देवी प्रभावसे छिप न गई हो पर आजतक उसने इतनी देर कभी

नहीं की या कहीं वह स्वर्ग ही न चली गई हो, पर वह ही नहीं सकता क्योंकि वह मुझे

तो जी-जानसे प्यार करती है । देवताओंके शत्रु राजस भी उसे मेरे सामने नहीं हारकर

ले जा सकते, फिर भी मुझे वह कहीं दिखाई नहीं दे रही है । यह कैसा दुर्भाग्य है ॥ ९ ॥

[नारों आर देकर लज साँठ लेर] अरे ! फूटे भागवालोंके लिये तो आपत्ति पर आपत्ति

आवा ही करती है । क्योंकि—कहाँ एक ओर ता प्रियाना ऐसा निर्याह जो सहा नहीं जा

रहा है और कहीं दूसरी ओर ऐसा सुहावना दिन जा बादलोंके उठनेसे और भूपके छिप

जानेसे और भी लुभावना हो गया है ॥ १० ॥

[लगातार बरसनेसे नारों आर कौल हुए दे बादल ! उस समय तुम मेरे करनेसे धरना मोक्ष

सेह लो । पृथ्वीपर धूमर बज मै धरती प्रियास या नार्कं तर तुम ज-जा रगेमे यह मँ तिर-

भाव लेकर रह्यो ॥ ११ ॥] [हँस] मैं अशरथ हो अपने मनको पीढ़ारी यों ही पदा

रहा हूँ । क्योंकि मुनि लोग भी कहते हैं कि राजा जैसा समय चाहे, वैसा समय ला सकता

है, तो मैं इस वर्षाके समयको ही क्यों न आशा दूँ ।

[मुगधते धूमनेशले भारीक गलके ताप-ताप आर रोवली थालमें पत्रनेवाली बंभियोंकी

मुचलितविविधप्रकारं नृत्यति कल्पतरुः ॥)

अथवा न प्रत्यादिशामि जलदसमयं यत्प्रावृषेयैरव लिङ्गैर्मम राजोपचारः सम्प्रति ।
कथमिव—

विद्युन्ल्लेखा कनकरुचिरं श्रीधितानं ममाग्रं

व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि ।

धर्मच्छेदात्पटुतरगिरो वन्दिनो नीलकण्ठाः

धाराहारोपनयनपरा नैगमाः सालुमन्तः ॥ १३ ॥

भवतु । किमेवं परिच्छदश्लाघया, चायदस्मिन्कानने तां प्रियामन्वेपयामि ।

(नेपथ्ये)

दङ्गारहित्रो अहित्रं दुहित्रो विरहाणुगत्रो परिमंथरत्रो ।

गिरिकाण्णण कुसुमुजलण गजजूहवई बहुभीण्णर्गई ॥ १४ ॥

(दयितारहितोऽधिकं दुःखिता विरहानुगतः परिमंथरः ।

गिरिकानने कुसुमोज्ज्वले गजमृगपतिर्बहुशीणर्गतिः ॥)

[परिक्रम्यावलोक्य च] हन्त हन्त ! व्यथसितरय मे संदीपनमिव संवृत्तम् । कुतः—

आरक्तराजिभिरियं कुसुमैर्नवकन्दलीसलिलगमैः ।

क्रोपादान्तर्वाप्ये स्मरयति मां लोचने तस्याः ॥ १५ ॥

इतो गतेति कथं नु तत्रभवती मया सूचयितव्या । यतः—

पनिचे नूँ बने हुए पवनसे जिस कहन-नृत्यके कोमल पजे हिल रहे हैं वह देखो कैसी सुन्दरतासे अनेक ।कारके हाव-भावके साथ नाच रहा है ॥ १३ ॥ पर इस वर्णने समयको कहना ही व्यर्थ है, क्योंकि वर्षाकालके जो बिन्हु दिखाई दे रहे हैं उन्हाँके कारण तो मैं आज भी राजाके समान शोभा दे रहा हूँ । क्योंकि देखो—बिजलीके सोनेसे बना हुआ यह बादल ही मेरा छत्र है । निचुलके पेड़ मेरे ऊपर अपनी मञ्जरियोंके चँवर जुला रहे हैं । गर्माँ समाप्त हो जानेके कारण मधुर गान करनेवाले ये मोर भादोंका कामकर रहे हैं और भ्रमनाँके मोती भेंट करती हुई ये पहाड़ियाँ ही मेरी प्रजा हैं ॥ १३ ॥ अच्छा जाने दो अपने ठाट-बाटको बड़ाई करनेसे लाभ ही क्या । चलूँ, इसी घनमें प्रियाको खोजूँ ।

(नेपथ्यमें)

[प्यारीके विरहसे अत्यन्त दुःखी होनेसे यह हाथी फूलोंसे उजले इस पहाड़ी जंगलमे घीरे-घीरे घूम रहा है ॥ १४ ॥]

[धूमकर और देखकर] हाय ! हाय ! उसे बूँदते-बूँदते मेरी पीड़ाको और बढ़ानेवाला यह और दूसरा मिला गया । क्योंकि इस नये कन्दलीके पेड़के जल-भरे लाल फूलोंकी देखकर मुझे उर्वशीके उन नेत्रोंका स्मरण हो आया जो क्रोधसे लाल हो गए थे और जिनमें आँसू छलक आये थे ॥ १५ ॥ फिर, यह मुझे कैसे पता चलेगा कि यह श्परसे

पद्म्यां स्पृशेद्भुमतीं यदि सा सुगात्री मेघामिष्टसिकतासु वनस्थलीषु ।
पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्याः दृश्येत चारुपदपङ्क्तिरलक्तकाङ्का ॥१६॥

[परिक्रम्यायत्येक्य च सप्तम्] उपलब्धमुपलक्षणं येन तस्याः कोपनाया मार्गोऽनुमीयते ।

हृतोष्ठरागैर्नयनोद्विन्दुभिः निमप्रनामेर्निपतद्धिरङ्कितम् ।
च्युतं रूपाभिन्नगतेरसंशयं शुकोदरस्याममिदं स्तनांशुकम् ॥ १७ ॥

भवतु ! आदास्ये तावत् । [परिक्रम्य विभाव्य च सप्तम्] कथं सेन्द्रगोपं नवसाद्वलमिदम् ।
कुनो नु खनु निर्जने वने प्रिया प्रवृत्तिरखगमयितव्या । [शिखिनं दृष्ट्वा] अये अयमासारोच्छ्र-
सितशैलेयस्थलीपापाणमारूढः—

आलोकयति पयोदान्प्रवलपुरोवातताडितशिखण्डः ।
केका गर्भेण शिखी दूरोन्नमितेन करणेन ॥ १८ ॥

[उपेत्य] भवतु । यावेदनं प्रच्छामि ।

(नेपथ्ये)

संपत्तविद्युरस्यथो तुरियं पस्वारण्यथो ।
पिन्नदस-दंसख-लालसथो गजवरुविन्ध्य-भाणसथो ॥ १९ ॥

गई है । यदि वह सुन्दरी यहाँसे भाँगी हुई बाल्याले इस वनकी धरतीपर चलती तो महाधरसे रंगे हुए उसके सुन्दर पैरोंकी ऐसी छापें धूरतक अवश्य दिखाई देंगी जो उसके नितम्बोंके भारी होनेके कारण एड़ीकी ओर गहरी होंगी ॥ १६ ॥ [रथर उपर घूमकर हर्षके साथ] मुझे कुछ-कुछ तो ऐसे पिन्हे मिल गए हैं, जिनसे मैं कुछ-कुछ अनुमान लग सकता है कि वह क्रोधित देवी किवरसे गई हैं—क्योंकि—सुगोंके पैर जैसे हरे रंगवाली उसकी पीली यही है जिसपर उसके आँसुओंमें धुलकर आँठोंसे गिरे हुए लाल रंगकी चुँडकियाँ दिखाई दे रही हैं और जो क्रोधमें हड़बड़ीसे चलनेके कारण तिसरकर नीचे गिर गई होगी ॥ १७ ॥ अच्छा, तो मैं इसे उठा लेता हूँ । [घूमकर उभे-देवधर रोका हुआ] अरे ! यह तो हरी घासपर बोरबूटियाँ पीली हुई हैं । अब इस मुनसान वनमें प्यारीका पता कहाँसे चलेगा । [मोरना देवधर] अरे ! यहाँसे भाप छोड़नेवाली घटानपर बैठा हुआ और सामनेके प्रचण्ड पवनमें छिनराती हुई बल्लंगीवाला यह मोर अपना पण्ड ऊँचे उठाकर कँ-कँ करता हुआ यादलोंकी देखा रहा है ॥ १८ ॥ [पाण बध्दर] अच्छा, चलूँ इसीसे पूरूँ ।

(नेपथ्यमें)

[दृग्गणे मत्त हुआ बन्नी प्रियाम्याधे देवनेके थिये गभीर और धाने चपुको पडाइ देनेवाला यह कहा-ना हाथी मनमें परराया हुआ सा बडे वेगले चला था रहा है ॥ १९ ॥]

(सम्प्राप्त विदूषणः स्वरित परिवारणः ।

प्रियतमादर्शन-शब्दो गजवरो विरिमतमानयः ॥)

[अश्वत्थि-वद्भ्या]

बंदिण पड़े इय अठमत्यियमि आयकसहि मं ता

एत्य वसु भम्मंते जइ पड़े दिट्ठी सा महु कंता ।

. खिसमाहि मिअंकरिसवअणा हंसगई

ए चिएहे जाणीहिसि आयकिसव तुज्ज मई ॥ २० ॥

(बंदिण त्वामित्यभयभये आचक्ष्वा मे तत्

अत्र वने भ्रमता यदि तस्याऽदृष्टा सा भ्रम कान्ता ।

निदागप मृगङ्गवदशवदना हसगतिः

अनेन चिह्नेन श्लास्यस्वारूपात् तत्र गया ॥)

नीलकण्ठ ममोत्फरठा वनेऽस्मिन्वनिता त्वया ।

दीर्घापाङ्गा सितापाङ्गा दृष्टा दृष्टिहमा भवेत् ॥ २१ ॥

[विलोक्य] कथमदत्तैव प्रतिवचन नर्तितुं श्रुतः । किं नु खलु हर्षकारणमस्य ।

[विचिन्त्य] आ शास्त्रम्—

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशात् धनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽस्य जातः ।

रतिविगलितधन्वे केयापाशे सुकेश्याः सति कुसुमसनाथे कं हरेदेप बर्ही ॥ २२ ॥

भवतु । परव्यसननिर्मुक्त न खलु एनं पृच्छामि । [परिक्रमभावव्यवयव च] अये इयमात्-
पान्त संघुच्छित्तमदा जम्बूविटपमध्यास्ते परभृता विद्वद्भ्यो परिहृता जातिरेषा । यावदेनाम-
भ्यर्थये ।

[हाथ जोड़ते हुए] [अरे मोरे । मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि यदि घूमते फिरते दुमने मेरी कोई हुई ध्यारी कहीं देखी हो तो मुझे बता दो । तुमने] उतका मुँह चन्द्रमाके समान है और उसकी चाल हम जैसी है । वस, मैं जो चिह्न तुम्हें बता रहा हूँ उतनेसे ही तुम उसे पहचान लोगे । २० ॥]

वजले कोनोंकी आँखोंवाले मोर । क्या तुमने मेरी उस प्रियतमाको इस वनमें देखा है जिसकी बनी बडी आँखें हैं जिसके लिये मैं व्याकुल हूँ और जो ऐसी सुन्दर है कि वस, उसे देखते ही वनता है ॥ १ ॥ [देखकर] क्या, बिना उत्तर दिये ही यह नाचने लग गया । यह इतना मगन क्यों हो रहा है । [तन्त्रकर] हाँ, समझ गया—मेरी प्रियाके रंग जानेसे इसके मन्द-मन्द पवनसे द्वितराए बाइलोंके समान सुन्दर पंखोंको लजानेवाला आज कोई नहीं रह गया है आज यदि वह सुन्दर बालोंवाली होती, जिसके सुले हुए बालोंमें फूल गुंथे हुए होते तो उसके आगे इस मोरकी शोभाको पूछता कौन । २२ ॥ अन्धा ! दूसरोंके दुःख-सुखपर ध्यान न देनेवाले इस मोरसे अथ मैं बात नहीं कहूँगा । [धूमकर और त्रेखकर] अरे ! यह गर्मी धीवनेसे मतवाली कोयल जामुनकी शाखापर

(नेपथ्ये)

विज्जम्भरकाण्णश्लीण्णओ दुक्खविणिग्गमवाहुप्पीडथो ।
दूरो सारिन्न हिअ आण्हदथो अंवरमाणे भमइ गइंदथो ॥ २३ ॥

(विद्याधरकाननलीनो दुःखविनिर्गतवाणोत्पीडः ।

दूरोत्मारितहृदयानन्दोऽम्बरमानेन भ्रमति गजेन्द्रः ॥)

[इति नर्तित्वा जानुभ्या च स्थित्वा] हेले हेले ।

परहुअ महुरपलाविणि फंती शंदशयण सच्छंद भमंती ।
जइ पई पिअअमसा महु दिट्ठीता आअक्खहि महु परपुट्ठी ॥ २४ ॥

(परभूनेमधुरप्रलापिनि कान्ते नन्दन वने स्वच्छन्दं भ्रमन्ती ।

यदि स्वया प्रियतमासा मम दृष्टा तद्वाचसा मे परपुष्टे ॥)

भवति ।

त्वां कामिनो मदनदूतिमुदाहरन्ति मानावमङ्गनिपुणं त्वमभोधमस्रम् ।
तामानय प्रियतमां मम वा समीपं मां वा नयाशु कलमापिणि यत्र कान्ता ॥२५॥
किमाह भवती । कथं त्वामेवमनुरक्तं विहायगता इति [अग्रतोऽनलेख्य] शृणोतु
भवती ।

कुपिता न तु कोपकारणं सकृदप्यात्मगतं स्मराम्यहम् ।
प्रभ्रुता रमणेषु योपितां नहि भावस्खलितान्यपेक्षते ॥ २६ ॥

[संभ्रममुरचिश्य अनन्तर जानुभ्या स्थित्वा कुपिता इति पुनः पटित्वा उरथाप विलोक्य च ।)

कथं कथाविच्छेदकारिणी स्वकार्यं एव व्यासक्त ।

बैठी हुई है । पक्षियोंमें कोयल ही सबसे चतुर समझी जाती है । चले इसीसे पूछता हूँ ।
(नेपथ्यमें)

[विद्याधरोंके वनमें छिपा हुआ, दुःखसे बंध बहाता हुआ, और हृदयका आनन्द सोकर
यह बड़ा-ता शर्था बादलने समान घूम रहा है ॥ २१ ॥]

[नाचता हुआ मुझे देखकर] [बरे रे रे । मीठी-मीठी कूकती हुई सुन्दर कोयल यदि इस
नन्दन-व में मनचाहे दँगले उड़ती-फुटती हुई मुझे क्यों मेरी प्रिया देखी हो ता बता दो । २५॥]
देवो ! कामी लोग तुम्हें मदनकी दूती बताते हैं और मानिनी त्रिर्योका रुठना दूर
करनेके लिये तुम अचूक हथियार समझी जाती हो । इसलिये या तो मेरो प्रियतमाको मेरे
पास ही ले आओ या फिर हे मिठवाली ! तू मुझे ही उसके पास भटपट ले जाकर पहुँचा
दे ॥२५॥ क्या कहा तुमने ? कि तुम्हारे इतना प्यार करनेपर भी यह तुम्हें छोड़कर क्यों
चली गई ? [आगे देखकर] सुनो ! मुझे एक भी बातपैसी रमण नहीं आती जिसपर रुठ-
कर यह चली गई है । देवो ! त्रिर्यो तो जैसे ही अपने पतियोंपर शान जमाए रखती हैं,
इसलिये यह आवरयक नहीं कि पति कोई अपराध ही करे सभी ये क्षोभ करें ॥२६॥ [मट ।
बैठकर फिर मुझे देखकर कारावस्थे बात फिरसे कही है फिर उठकर ऊपर देलता हुआ] यह

अथवा ।

महदपि परदुःखं शीतलं सम्यग्ग्राहुः प्रथयमगणयित्वा यन्भमापद्गतस्य ।

अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रधृत्ता फलमभिसुखपाकं राजजम्बूद्रुमस्य ॥ २७ ॥

एवंगतेऽपि प्रियैव मे मञ्जुवनेति न मे कोपोऽयाम् । सुखमास्तां भवती । इतो वयं साधयामस्तावत् [परिक्रम्य वर्षे दत्त्वा ।] अये दक्षिणेन वनधारां प्रियाचरणनिक्षेपशंसी नूपुरवः श्रूयते याचदेनमनुगच्छामि [परिक्रम्य]

(नेपथ्ये)

पित्र्यमत्रविरहकिलामित्रवयस्यो अविस्लवाहजलाउल्लस्यस्यो

दूतहदुक्खविसंतुलगमणयो पसरिअउरुतावदीविअञ्चंगओ ।

अहिअं दुम्मिअ माणसओ काणयं भमइ गइदओ ॥ २८ ॥

प्रियतमा विरहकल्पान्तदनुऽविरलवाषकलाकुलनयनः ।

दुःखहं दुःखविसण्डुलगमनः प्रस्तुतगुहतापदीसङ्कः ।

अधिक दूनमानसः कानने भ्रमति यजेन्द्रः ॥)

[धनन्तरे द्विपदिक्या दिशोऽालोक्य]

(नेपथ्ये)

पित्रकारिणी विच्छोइअओ गुरुसोअणाल दीविअओ ।

वाहजलाउल्लसोअणओ करिवरु भमइ समाउलओ ॥ २९ ॥

क्या ! मेरी बात पूरी होनेसे पहले ही यह अपने धन्धेमें लग गई । दूसरेका दुःख कितना भी अधिक हो, पर लोग उसे कम ही समझते हैं । इसलिये मुझ विपत्तिके मारेकी बात अनसुनी करके यह कोयल पकी हुई फरेंना जामुनोंका रस पीनेमें उसी प्रकार ओंख मूँदकर लगी हुई है, जैसे कोई मतवाला अपनी प्यारीके ओंठोंका रस पीने लग रहा हो ॥२७॥ पर सब कुछ होनेपर भी यह गती है मेरी प्यारीके समान ही, इसलिये मैं इसपर कोष नहीं करता । तुम बेटी, रसे, सुरसे, रस ही बर्तोंसे पत्ते काते हैं । [चूमकर चुनता हुआ] अरे ! इस वनके दक्खिन ओरसे प्यारीके विछुओंकीन्सी कन-कन सुनाई दे रही है । चलो धर धर ही चलकर देखूं । [चूमता है ।]

(नेपथ्यमें)

[प्यारीके विछोहने थका हुआ, नयनोंके ओंठुओंकी चारा बहाता हुआ, नये अपार दुःखके कारण बक बककर चलनेवाला और अत्यन्त शोकसे जलते हुए शरीरवाला यह दुखी हापी वनमें धर धर घूम रहा है ॥२८॥]

(नेपथ्यमें)

[दो पग चलकर चारा और देखता है ।]

[अपनी प्यारी इधनीके विछोहकी भयंकर आगमें जलता हुआ और रोता हुआ यह हापी ब्याकुल होकर घूम रहा है ॥२९॥]

(प्रियकरिणीविद्युक्ता गुह्यावानर्थातः ।

बाध क्षणकुल लोचनः करिवरो भ्रमति समाकुलः ॥)

[वरुणम्] हा थिक् कष्टम् ।

मेघरयामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसाम् ।

कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरशिञ्जितम् ॥ ३० ॥

भवतु । यावदेते मानसोत्सुकाः पत्रविणुः सरसोऽस्मान्मनोत्पतन्ति तावदेतेभ्यः प्रियाप्रवृत्ति-
रवगमयितव्या । [वारुण] भो भो जलविद्वद्भ्रमराज ।

पथात्सरः प्रतिगमिष्यसि मानसं तत् पाथेयमुत्सृज्य दिसं ग्रहणाय भूयः ।

मां तावदुद्धर शुचो दयिताप्रवृत्त्या स्वार्थात्सतां गुह्यतरा प्रणयिक्रियैव ॥ ३१ ॥

अये यथोन्मुक्तोऽविलोक्यति यथा मानसोत्सुकेन मया न लक्षितेत्येवं वचनमाह ।

रे रे हंसा किं गोड्जड गद्गल्लुसारं मडं लक्ष्मिजड ।

कडं पडं सिम्बिबड ए गड लालस सा पडं दिट्टी जह्यभरालस ॥ ३२ ॥

(रे रे हंस कि गोप्यते गत्यनुसारेण मया लक्ष्यते ।

येन तव-विश्रिता एषा गतिर्लभ्या सा त्वया दृष्टा वचनभरालसा ॥)

यदि हंस गता न ते नतम्भूः सरसो रोषसि दर्शनं प्रिया मे ।

मदखेलपदं कथं नु तस्याः सकलां चौर गतं त्वया गृहीतम् ॥ ३३ ॥

अतश्च [इति अन्वलि वदन्वा]

[दुःखके साथ] हाय, हाय । कैसे दुःखकी बात है कि जिसे मैं अपनी प्यारीके विद्युत्की मज्ज मज्ज समझ रहा था वह उन राजहंसोंकी कूरु है जो उठे हुए बादलोंकी श्रैणिवारी देखाकर मानसरोवर जानेकी उतावले हो रहे हैं ॥३०॥ अचन्द्रा, जयवक्त्रे मानसरोवर जाने की उतावले पक्षी उड़ते नहीं, उससे पहले ही मैं इनसे अपनी प्यारी का पता पूछकर देखा हूँ । [पाठ जाकर] हे जल-पक्षिराज ! तुम मानसरोवर पीछे जाना और यह जो संवत्सरे लिये तुमने कमलनालों तोड़ ली हैं, इन्हें अभी छोड़ दो, फिर ले लेना । पहले तुम मुझे मेरी प्यारीका समाचार देकर मेरा उद्धार करो, क्योंकि सज्जन लोग अपने मित्रोंकी सहायता देना अपने स्वार्थसे बढ़कर समझते हैं । ३१॥ अरे ! यह तो केवल अपनी शॉन ऊपर उठाए दुकुर-दुकुर देता रहा है । मानो वह फट रहा है कि मानसरोवर जानेकी उतावलीमें मैंने उसे देखा ही नहीं !

[अरे हय] तुम ठीक बया रहे हो । मुझको चालके हो मैं गब कुछ समझ गया । कान्ही यह सुन्दर चाल तुमने सीखी कहीं से ! तुमने उम प्यारीको अस्तर ही देखा है जो निम्नोके भारके चौर-चारे चली है ॥३२॥

यदि तुमने उस रॉकी चितवनवाली सुन्दरीको इस सरोवरके तीरपर नहीं देखा, तो यता रे चौर ! तुमने उमको यह मदसे इठलाती चलनेवाली सारी सुन्दर चाल कहींसे पा ली । ३३॥ इसलिये [हाय बादकर] हे हंस ! मेरी जिस प्यारीकी चाल तुमने गुरा ली है,

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हता ।

विभावितैकदेशेन देयं यदगिमुज्यते ॥ ३४ ॥

[विस्य] एष चोरानुशासी राजेति भयादुत्पतितः । चावदन्यमवकाशमवगाह्निष्ये ।
[परिक्रम्यावलोक्य च] अयमिदानीं प्रियासहायश्चक्रवाकः । तावदेनं पृच्छामि ।

(नेत्रे)

मंमरणिभ्रमणोहरण कुसुमिग्रतरुवरपल्लवण ।

दद्व्याविरहुंमाइअथो काणण भमइ गइंदयो ॥ ३५ ॥

(मंमरं गितमनोहरे कुसुमितरुवरपल्लवे ।

दयितापिरहोग्मादितः कानने भ्रमति गजेन्द्रः ॥)

गोरोअणा कुंभुमवणणा चक्रा भणइ मइं ।

महुवासरकीलंती धणिया य दिट्ठो पइं ॥ ३६ ॥

(गोरोचनाकुम्भमवर्णं चक्र भण माम् ।

मधुवासरे कीलंती धन्या न दृष्टा त्वया ॥)

रथाङ्गनामन् वियुतो तथाङ्गश्रोणिचिम्बया ।

अयं त्वां पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृतः ॥३७॥

कथं कः क इत्याह माम् । मा तावत् । न खलु विदितोऽहमस्य ।

उसे मुझे लौटा दो । क्योंकि यदि चोरके पास चोरीका थोड़ा भी माल मिले तो उसे पूरा माल देना ही पड़ता है । ३४ । [हंसकर] यह देखो, इसने समझ लिया न कि मैं चोरोंकी दण्ड देनेवाला राजा हूँ । यस इसी डरसे उड़ कर भागा । चलो, कहाँ और खोजूँ । [धूमकर और देखकर] यहाँ यह चरुवा अपनी प्यारीके साथ बैठा है, चलो इसीसे पूछूँ ।

(नेत्रे)

[पत्नी मधुर सङ्खटाहटके भरे और फूलोंके रुदे हुए वृक्षोंके पत्तोंवाले इस वनमें यह प्यारोंके बिछोहके रागल वड़ा-सा हाथी इधर उधर घूम रहा है ॥३५॥ गोरोचन और बेचरके रंगवाले हे चक्रे ! बताओ, क्यों तुमने वरान्तके दिनोंमें खेल्ती हुई भेरी सीमाभ्यवृत्ती खाँ देखी है ॥३६॥]

हे चक्रे ! पहिलेके समान बड़े-बड़े गितम्बोंवाली प्यारी से थिलुटा हुआ और मनमें सैकड़ों साल लिए हुए मैं महारथी तुमसे पूछता हूँ ॥ ३७ ॥ क्या यह मुझसे पूछ रहा है— कौन है ? कौन है ; यस रहने दो । क्या यह मुझे यह जानता नहीं है ? सूर्य और चन्द्रमा

सूर्याथन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।

स्वयं धृतः पतिर्द्राम्यामुर्वरया च भुवा च यः ॥३८॥

कयं तूष्णीं स्थितः । भवतु । उपाख्ये तावदेनम् ।

सरसि नलिनीपत्रेऽपि त्वमावृतविग्रहाम्

ननु सहचरीं दूरे मत्वा विरोपि समुत्सुकः ।

इति च भवतोऽज्ञाया स्नोहात्पृथक्स्थितिभीरुता

मपि च विधुरे भावः कान्ताप्रवृत्तिपराङ्मुखः ॥ ३९ ॥

सकथा मदीयानां भागवैयानां विपर्यायेण प्रभावप्रकाशः । यावदन्यमवकारामवगाहिये ।

[पदान्तरे स्थित्वा] भवतु न तावद्गच्छामि । [परिक्रम्यावलोच्य च]

इदं रुणद्धि मां पद्ममन्तःशुजितपद्मम् ।

मया दृष्टाधरं तस्याः ससीत्कारमिवाननम् ॥ ४० ॥

भवतु । इतो गतस्य मेऽनुशयो मा भूदित्यगिमन्नपि कमलसेविनि मधुरेरे प्रणयित्वं करिष्ये ।

(नेरप्ये)

एककमलशब्दियगुरुयस्मिन्मरसे ।

सरे हंसजुग्राणयो कीलङ्कामरसे ॥ ४१ ॥

(एककमलवर्धितगुहृतप्रमेरुतेन ।

सरसि हंसपुत्रा कीलङ्कामरसेन ॥)

जिसके नाना और दादा हैं और जिसे बर्बशी और घरतीने अपने आप अपना स्वामी बना लिया है । मैं यही पुठरवा हूँ ॥ ३८ ॥ क्यों ? चुप क्यों हो गए ? अच्छी बात है, मैं इसे डाँटता हूँ न । जम तालाबोमें तुम्हारी प्यारी बरुनी कमलके पत्रोंकी आँटमें भी हो जाती है, तब तुम उसे दूर गई हुई समझकर घबराकर चिल्लाने लगते हो । अपनी प्यारीसे तो तुम इतना प्रेम करते हो कि इतना विछोड़ भी तुमसे सहा नहीं जाता और फिर भी अपनी पंठ तो देखो कि गुप्त प्यारीसे विछुड़े हुएसे तुम बात करनेकी भी तैयार नहीं हो ॥ ३९ ॥

मेरा भाग्य ही ऐसा है कि सब पहाँ मुझे उल्टा ही फल मिल रहा है । चलो, कहीं और चलकर हूँ हूँ । [कुछ चलकर चलकर] अच्छा मैं अभी नहीं जाऊँगा [घूमकर और देखकर] यह मौरोंको गूँज भरा हुआ कमल मुझे बरपल रोकरहा है, क्योंकि यह बर्बशीके उस सुखके समान दिव्याई दे रहा है, जो ओठपर मेरे दाँत लगनेपर मी-सी कर रहा हो ॥ ४० ॥ अच्छा ! कमलपर मँडराते हुए इन मौरों से ही पूछ देताँ जिमसे यहाँसे चले जानेपर मुझमें यह तो पड़ताया न रह जाय कि उनसे नहीं पूछा ।

(नेरप्ये)

[एक देला हंस ताब बनें प्रेमके मरनें मरा लेन रहा है जिसके मनमें प्रेमना मार भवानरु बंद गया है ॥ ४१ ॥

मधुकर मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं

[विभाव्य]

वरतनुरथवासी नैव दृष्टा त्वया मे ।

यदि सुरभिमवाप्त्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं

तव रतिरभविष्यत्पुरण्डरीके किमस्मिन् ॥ ४२ ॥

सापयामस्तावत् । [इति परिक्रम्यावलोक्य च] अये एष नीपत्कंधनिपणहस्तः करिणी-
सहयो नागराजस्तिष्ठति । अस्मात्प्रियोदन्तमुपलप्ये । धावदेनमुपसर्पामि ।

(नपथ्ये)

करिणीविरहसंतापिभ्रमो ।

काणशो गंधुद्रुश्रमहुश्रु ॥ ४३ ॥

(करिणीविरहसंतापितः)

कानने गन्धोद्गतमधुकरः ।

[विलोक्य] अथवा न त्वरा कार्या । न तावदथमुपसर्पणकालः ।

अयमचिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियकरेणुहस्तेन ।

अभिलपतु तावदासवसुरभिरसंशान्तकीभङ्गम् ॥ ४४ ॥

[क्षणमात्रं स्थित्वा । अवलोक्य] हन्त कृताह्निकः संवृत्तः । भवतु । समीपमस्य गत्वा
पृच्छामि ।

हे भौरे ! मद भरे नैनौवाली मेरी प्यारीका समाचार तो सुनाओ । [सोचकर] या कौन
जाने तुमने उसे देखा ही न हो क्योंकि यदि तुम्हें मेरी प्रियतमाके मुखकी सुगन्धित स्वांस
मिल गई होती तो तुम इस कमलसे थोड़े ही प्यार करते होते ॥ ४२ ॥ चलो यहाँ से ।
[घूमकर और देखकर] अरे ! इस कदम्बकी डालपर अपनी सूँड़ रक्ते हुए हाथीके साथ
यह एक बड़ा-सा हाथी खड़ा है । चलो, उसीके पास चलो ।

(नेपथ्यमें)

[हाथीके थिठेहत्ते टपाया हुआ यह हाथी भँगलमें घूम रहा है जिसपर गन्धसे मतबलि
धैरे घूम रहे हैं ॥ ४३ ॥

[देखकर] हड़बड़ी नहीं करनी चाहिए । अभी उसके पास जाना ठीक नहीं है, क्योंकि
हाथीने अभी-अभी अपनी सूँड़से यह पत्तौवाली और सुराके समाप्त गन्ध भरी जो शल्ह-
कोके पेड़की शाखा तोड़ी है, उसे यह हाथी खा ले तब मैं पूँड़गा ॥ ४४ ॥

[थोड़ी देर रुककर देखकर] अच्छा, अब तो इसने भरपेट भोजन कर लिया । अच्छा,
तो अब चलो, पास जाकर पूँड़ें ।

हूँ पढ़ूँ पुच्छिमि आयकरहि भयवर ललियपहारैँ शासियतरुवर ।

दूरविनिज्जिय ससहरुकंती दिष्टी पिय पढ़ैँ सम्मुह जंती ॥ ४५ ॥

(यह रत्ना पृच्छामि आनन्द गजवर स्मितप्रहारेण नाशिततरुवर ।

दूरविनिजितशशपरवान्निर्दृष्टा प्रिया त्वया सम्मुह यन्ती ॥)

[पदद्वये पुरतः उपसृत्य]

मदकल पुवतिशशिकला गजयूथप यूथिकाशबलकेशी ।

स्थिरयौवना स्थिता ते दूरालोके सुखालोका ॥ ४६ ॥

[आकर्ष्यं सदपमं] अहद् अनेन भवतः स्निग्धमन्त्रेण गर्जितेन प्रियोपलम्भशंसिता समाश्वासितोऽस्मि । साधर्म्याच्च त्वयि मे भूयसी प्रीतिः ।

मामाहुः पृथिवीभृतामधिपतिं नागाधिराजो भवान्

अव्युच्छिन्नं पृथुप्रवृत्तिं भरतो दानं ममाप्ययिषु ।

स्त्रीरत्नेषु ममोर्षशी प्रियतमा यूथेतैर्यवशा

सर्वं मामनु ते प्रियाभिहृजां त्वं तु व्ययां मानुभूः ॥ ४७ ॥

मुपमास्तां भवान् । साधयामस्तावत् । [परिक्रम्य पार्श्वतो दृष्टिं दत्त्वा ।] अये । अयमसौ सुरभिन्दरोनाम विगेपरमणीयः सानुमानालोभ्यते । प्रियधायमप्सरसाम् । अपि नाम सा सुवनुरस्योपत्यकायामुपलभ्येत । [परिगम्यावलास्य च ।] वथमन्धकारः । भवतु विद्युत्प्रकारो-

[खेल खेल में ही बड़े-बड़े वृक्षोंमें सदबमें उरगड़ फेकनेवाले हे गजराज ! मे तुम्ही से पूछता हूँ । वनाको क्या तुमने मेरी उस प्रियाको इधर जाते हुए देखा है । बिलने अपनी चमकते चन्द्रमाका चौदनीको भी बला दिया है ॥ ४५ ॥ [दो पग थागे उदकर] हे मतवाले हाथी ! क्या तुमने अपना दूरतक देखनेवाली आँखोंसे सदा जवान दिखाई देनेवाली उस दर्चशीको कहीं देखा है, जो युवातियोंमें चन्द्रमारी नई किरणके समान चमकती है और जिसके बालोंमें जूहीके पूल गुंथे हुए हैं ॥ ४६ ॥

[सुनकर रषंभे] आहा ! इस तुम्हारे कोमल, मन्द और प्रियाका पता बतानेवाले गर्जनसे मेरे जीका थड़ा सहारा मिला है । तुम माँ मेरे ही समान बलवान हो, इसलिए तुमसे मेरा क्या स्नेह हो गया है । लोग तुम्हें राजाओंका स्वामी कहते हैं और तुम्हें गर्जोका स्वामी । तुम भी दिन-रात अपना दान अर्थात् मद बहाया करते हो तो मेरे यहाँ भी दिन-रात मैंगनोंमें दान देनेका काम चलता रहता है । इधर स्त्रियोंमें रखे समान सुन्दर रषशी मेरी प्रियतमा है तो यह हाथी भी तुम्हारी वैसी ही प्यारी है । इस प्रकार हम दोनों सब बातोंमें एक-से हो हैं, पर मैं यही मनाता हूँ कि प्रियाके विछोड़का दुःख तुम्हें फर्म न सतावे ॥ ४७ ॥ तुम सुखी रहो । हम जा रहे हैं । [पृथक् अरन एक बार देखकर] अरे ! यह सुरभिन्दर नामका थड़ा सुहावना पर्यत दिखाई दे रहा है । और अप्पराओंको यह पर्यत यदा प्यारा भी है । यहाँ यह सुन्दरी हम पर्यतकी तलहट्टीमें ही न मिल जाय ? [पृथक् और देखकर] अरे ! यहाँ कितना अपेरा है । अच्छा, विजली चमके तो मैं देखूँ—

नाचलोऽस्यामि । हन्त मदोयैर्दुरितपरिणामैर्मेघोऽपि शतह्रदाशून्यः संवृत्तः तथापि शिलोच्च-
मेनमपुष्टा न निवर्तिष्ये ।

परिसरिग्रसस्सुस्तासिअमेइणि वणगहणे अविचल्लु ।

परिसण्णइ पेच्छह लीणो सिअकज्जुज्जुअ कोलु ॥ ४८ ॥

(प्रसूनखरदारितगेदिनिर्वनगहनेऽविचलः ।

परिसर्वति पश्यत लीनो निजकार्योऽवृत्तः कोलः ॥)

अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा श्रयति पर्वत पर्वसु संनता ।

इदमनङ्गपरिग्रहमङ्गना पृथुनितम्ब नितम्बवती तव ॥ ४९ ॥

कथं तूष्णीमेवास्ते । शङ्के विषकर्षात्त शृणोतीति । भवतु । समापेऽस्यगत्वा पुनरेनं
पृच्छामि ।

फलिहसिलाहअणिम्मलणिज्जरु बहुविहकुसुमेँ विरडअसेहरु ।

किंणरमहरुग्गीअमणोहरु देवखावहि बहु पिअअम महिहरु ॥ ५० ॥

(स्फटिकशिलातलनिर्मलगिजरं बहुविषकुसुमेँविरचितशेखर ।

किंनरगधुरोद्गीतमनोहर दर्शय मम प्रियतमा महीधर ॥)

[इति परिअन्य अञ्जलि वद्ध्या ।]

सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।

रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन्मया विरहिता त्वया ॥ ५१ ॥

[नेपथ्ये तदेवाकण्यं सदर्पम्] कथं यथाक्रमं दृष्टा इत्याह । भवानपि अतः प्रियतरं
शृणोतु । क्व तर्हि मे प्रियतमा । [पुनरेव सर्वक्षितिभृता नाथ इति पठति । नेपथ्ये तदेव आकण्यं

हाय ! हाय ! मेरे दुर्भाग्यसे वादलोंमें विजली भी नहीं रह गई । फिर भी इस पर्वतसे
पूछे बिना मैं यहाँसे टलूँगा नहीं ।

[अपने बडे-बडे और तीखे छुरोंसे पृथ्वीको खँदता हुआ और अपनी टेकपर लड़ा हुआ,
एक जंगली सूअर अपनी धुनमें मस्त होकर इस घने जंगलमें घूम रहा है ॥ ४८ ॥]

हे वही-वही दाखोंवाले पहाड़ ! अपने इस कामदेवके वनमें क्या तुमने सुन्दर नित-
म्बोंवाली और पोर-पोरपर फुकी हुई सी उस सुन्दरीको देखा है जिसके दोनों स्तन उभर-
कर आपसमें सट गए हैं । ४९ ॥ अरे ! यह चुप क्यों हो गया ! या कौन जाने दूर होनेके
कारण ही वह न सुन सक रहा हो ! अच्छा, इसके पास जाकर पूछता हूँ । स्फटिककी
पट्टानोंपर बहते हुए उजले भरनोंवाले ! रंग-धिरंगे फूलोंसे अपनी चोटियों सजानेवाले !
किन्नरोंके जोड़ोंके मधुर गीतोंसे सुहायने लगनेवाले हे पर्वत ! मेरी प्यारीकी एक मलक
तो मुझे दिखा दो ॥ ५० ॥ [घूमकर और देताकर] हे पर्वतोंके स्वामी ! क्या तुमने वनके
इस सुन्दर छोरमें मुझसे बिछुड़ी हुई उस निराली सुन्दरी उर्वशीको कहीं देखा है ॥ ५१ ॥
[नेपथ्यसे वैसे ही शब्द सुनकर सदर्प] अरे ! क्या यह कह रहा है कि हाँ ठीक वैसे ही
देखा है जैसा मैंने कहा था । तब तुम इससे भी प्यारी बात सुनो और मुझे बताओ कि
मेरी प्रियतमा कहीं है । [फिरसे ५१ वाँ श्लोक पढ़ता है और नेपथ्यसे फिर उसे वही सुनाई

निभाष्य च ।] हा धिक् । ममैवायं कन्दरमुत्पविसर्पी प्रतिशब्दः । [इति मूर्च्छन्ति । उत्थाय
सविपादम् ।] अहह भ्रान्तोऽस्मि । अस्यास्तावद्विगरित्नास्तीरे स्थितस्तरङ्ग वातमासेविष्ये ।
[परिक्रम्यारलोक्ष्य च] इमां नवाम्बुकुतुपामपि स्तोत्रदां पर्यतो मे रमते मनः । कुतः—

तरङ्गभ्रूमङ्गा लुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्पन्ती केनं वमनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथाविद्धं याति स्वलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवममहना सा परिणता ॥ ५२ ॥

भवतु । प्रसादयामि तावदेनाम् । [अन्वलिं बद्ध्या ।]

पसीञ्च प्रियञ्चम सुन्दरिण खण सुहिञ्चान्कुरुष्विहंगमण खण ।
सुरसरितोरसमूसुञ्चण खण अल्लिउलर्ककारिञ्चण खण ॥ ५३ ॥
(प्रसीद प्रियतमे सुन्दरि नदि लुभिताकुरुष्विहङ्गमे नदि ।
सुरसरितोरसमूसुञ्चणे नदि अल्लिकुरुष्विहङ्गारिते नदि ॥)
(नेपथ्ये)

पुव्वदिसापवणह्रस्वकलोलुगगञ्जवाहयो
मेहययंगे खचइ सललिञ्च जलणिहिणहयो ।
हंसविहंगसकुंकुमसंखकयाभरणु
करिमञ्जराउलकसखकमलकआवरणु ।

देता है । सुन्दर और समझार] हाय रे भाग्य ! यह तो पहाड़को मुकासे टकराकर
निम्नलेवाले मेरे ही शब्दोंकी गूँज है । [गूँज तो जाता है । फिर उठकर दुःखके साथ]
अरे ! अय तो मैं थक गया हूँ । इसलिये इस मरनेके तौरपर तरंगोंकी ठंडी यथारमें चलकर
बैठता हूँ । [धूमर और देसकर] अभी वरसे हुए पानीसे गँदले मरनेको देखकर भी
मेरा मन प्रसन्न हो रहा है क्योंकि मार्गमें आनेवालो चट्टानोंसे बचनेके लिये यह देड़ा
होरुद वह रहा है, इसकी लहरें चढ़ी हुई भँहों जैसी हैं, व्याकुल पक्षियोंकी पाठें ही इसकी
सगड़ी है, इसका फेन ही मानो वह बछ है जो चलनेसे ढोला पड़ गया है और जिसे
वह खोंचने लिए चली जा रही है । इससे मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरी प्रोथी प्रिया
ही नदी बन गई है । ५२ ॥ अचड़ा, चलूँ मैं इसको चलकर मनाता हूँ ।

[हाय वादर]

[उड़ते हुए और कचे तरोमें चढ़चढ़ते हुए पक्षियोंवाला] गंगाबाटे मिलनका उजावली
और मोरोंकी पीतोंके गूँजनेवाली है सुन्दरी नदी । तुम सुन्दर प्रयत्न दा जाया ॥ ५३ ॥]

(नेपथ्यमें)

[यह देखते] सुन्दरोंके रगनीका देता अचड़ा चल हा रता है । लगे पड़ी दूर में मोरोंकी
परछाईं ही उनका शरीर है । पुरैया बनने उठी हुई लहरें ही माना उनके लिए उडाए हुए
उनके हाथ हैं । हाथ और हाँस आदि पक्षी उनके पैरोंके गुँपक और आभूषण हैं । शिथिल और

बेलासलिलुबेन्निलग्रहत्थदिएणतालु

ओत्थरइ दस दिस रुंधेविणु राचमेहआलु ॥ ५४ ॥

(पूर्वदिकामनाहतकल्लोलोद्गतधाहुः गोवाग्नेर्वृत्ति सञ्चलत जलनिविनाथः ।
 दसविदङ्गमदुङ्कुमशङ्खज्वामरणः हरिमकराकुलकुष्मकमलकृतावरणः ।
 वेला सलिलोद्बेलितदत्तस्ततालांऽवस्तुणाति दसदिसोद्दृशा नवमेघकालः ॥)

त्वयि निवद्वरतौ प्रियवादिनी प्रणयमङ्गपराद्गुस्वचेतसि ।

कमपराधलवं मयि पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥ ५५ ॥

कथं तूष्णीमेवास्ते [विचिन्त्य] अथवा परमार्थसरिदेवैषा । न राजवर्षी पुरुरवसमप-
 ह्वाय समुद्रामिसारिणी भविष्यति । भवतु । अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि । यावत्तमेव प्रदेशं
 गच्छामि यत्र मे नयनयोः सा मुनयना विरोहिता । [परिक्रम्य विभोक्थ च] इमं तावद्विद्या-
 प्रवृत्तये सारङ्गमासीनमभ्यर्थये ।

अभिनवकुसुमस्तवफिततरुवरस्य परिसरे

मदकलकोफिलकूजितरवभङ्गारमनोहरे ।

नन्दनविपिने निजकरिणीविरहानलेन संतप्तो

विचरति गजाधिपतिरैरावतनामा ॥ ५६ ॥

कृष्णसारच्छवियोंऽसौ दृश्यते काननश्रिया ।

नवशष्पावलोकाय फटात्त इव पातितः ॥ ५७ ॥

मगरोंके छुण्ड ही उनके नीले बख हैं, नीले कमल ही उनकी मालाएँ हैं और तीरसे टकराती
 हुई लहरें ही गाना बाल दे रही हैं और इसी बीच वर्षाकालने आकर सब दिशाओंको ढँक भी
 लिया है ॥ ५४ ॥]

हे नदी ! क्याओ तो तुमसे इतना प्रेम करनेवाले, सदा मीठी बातें करनेवाले और
 प्रेममें कभी आनेकी बात ही न सोचनेवाले इस प्रेमीमें तुमने कौन-सा ऐसा छोट-से-छोटा
 भी दोष पाया है कि तुम इस दासको इस प्रकार छोड़ रही हो ॥ ५५ ॥ अरे, यह चुप क्यों
 हैं ? [सोचकर] या फिर यह सचमुच नदी ही होगी । क्योंकि यदि यह स्वशा होती
 तो पुरुरवाको छोड़कर समुद्रकी ओर जानेके लिये इतनी उतावली न होती अच्छा, बिना
 दुःख उठाए सुख मिल भी तो नहीं सकता । चलो, अब मैं उसी स्थानपर जाऊँ जहाँ यह
 सुन्दर नयनोंवाली मेरी आँखोंसे ओझल हो गई थी । [घूमकर और देखकर] चलो, इस
 बैठे हुए हरिणसेही प्यारीका पता पूछूँ ।

[नन्दन वनके नये फूलोंके गुच्छोंसे लदे हुए और मदमाती कोयलों मीठी कूम्हे मुद्रावने
 लगनेवाले वृक्षके पास यह पेरारत हाथी अपनी प्यारी हृदिनीके विछोहकी आँचमें तप हुआ इधर-
 उधर घूम रहा है । ५६ ॥]

इस हरिणके शरीरपर बनी हुई काली-काली बुँदकियाँ ऐसी लगती हैं मानो वनको नई
 हरियाली निदारनेके लिये वनज्जन्मीने ही इसपर अपनी चितवन ढाली ही ॥ ५७ ॥

[विर्लोक्य] किन्तु खलु मामवधीरयन्निवान्धतो मुखः संवृत्तः । [दृष्ट्वा]

अस्यान्निकमायान्ती शिशुना स्तनपायिना मृगी रुद्धा ।

तामयमनन्यदृष्टिर्भुग्नग्रीवो विलोकयति ॥ ५८ ॥

सुरसुन्दरि जहणभरालस पीणुचुं गयणत्थणी

थिरजोच्चण तणुसरीरि हंसगई ।

गभ्रणुज्जलकाणणं मिअलोअणि भमंती ।

दिट्ठी पई तह विरह समुदंतरे उत्तारहि मई ॥ ५९ ॥

(सुरसुन्दरी, अवनमरालसा पीनोचुन्नपमस्तनी

थिरजोच्चणा तनुसरीरा हसगतिः ।

गमनोच्चकलकानने मृगलोचना भ्रमन्ती

दृष्ट्वा रजसा तर्हि विरहसमुद्रान्तरादुच्चारय माम् ॥)

[उपसृत्य अञ्जलिं वदन्वा] हंहो हरिणीपते ।

अपि दृष्टवानसि मम प्रियां वने कथयामि ते तदुपलक्षणं वीक्षते ।

पृथुलोचना सहचरी यथैव ते सुभगं तथैव खलु सापि वीक्षते ॥ ६० ॥

कथयनादृत्य मद्बचनं कलत्राभिसुरं स्थितः उपपद्यते परिभवारपदं दशादिपर्ययः । यावदितोऽक्षमन्यमयकाशमधगाहिष्ये । [परिक्रम्यावलोच्य च ।] हन्त दृष्टमुपलक्षणं तस्या मार्गस्य ।

[देलकर] इसने तो मेरी यात अनसुनी करके अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया है ।

[देलकर] इसके पास जो इसकी हरिणी चली आ रही थी और जिसे दूध पीनेवाले मृगछीनेने वीचमें ही रोक लिया है उसकी ओर आँस लगाए यह टफ-टफ देर रहा है ॥ ५८ ॥ [नितम्बोंके भारी हानेके कारण धीरे-धीरे चलनेवाली और ऊँचे उठे हुए मोटे-मोटे स्तनों वाली, सदा अज्ञान रहनेवाली, पतली कमरवाली, हंस जैसी चालवाली उठ मृगनेनी अप्पराओ यदि तुमने इस आकाशके समान उत्रले वनमें घूमते हुए देखा हो तो उसका पता बनाकर मुझे इस विरहके समुद्रमें उतार ला ॥ ५९ ॥] [पाठ जाकर हाथ जोड़कर] क्यों जो हरिणीके स्वामी ! क्या तुमने मेरी प्यारोको वहाँ वनमें देखा है ? मैं तुम्हें उसका रूप रंग बताए देता हूँ । सुनो ! ठीक जैसे तुम्हारी हरिणी अपनी बड़ी-बड़ी आँसोंसे सुन्दर चित्तवन डालती है वैसे ही वह भी डालती है ॥ ६० ॥ क्या यह मेरी यात अनसुनी करके अपनी हरिणीकी ओर मुँह करके बैठ गया ? ठीक ही है—जब दिन रोटे आते हैं तो सभी दुरदुराते हैं । तो फिर यहाँसे वहाँ और चलकर उसे ढूँँ । [पूंकर और देलकर] अरे हो ! मैंने

रक्तकदम्ब सोऽयं प्रियया घर्मान्तशंसि यस्यैकम् ।
कुसुममसमग्रकेसरविपममपि कृतं शिखाभरणम् ॥ ६१ ॥

[परिक्रम्याशोकमवलोक्य च]

रक्ताशोक कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं...

[पवनधूयमानगूर्धानगवलीक्य सक्त्रोधम्]

नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं चाताभिभूतं शिरः ।

उत्कण्ठाघटमानपटपदघटासङ्घट्टदष्टच्छदः

तत्पादाहतिभन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥ ६२ ॥

भवतु । सुखमास्वां भवान् । [परिक्रम्यावलोक्य च] किं नु खलु एतच्छिखाभेदान्तरगत
नितान्तरकमवलोक्यते ।

प्रभालोपी नायं हरिहतगजस्यामिपलवः

स्फुलिङ्गो वा नाग्नेर्गहनमभिघृष्टं यत इदम् ।

[विमोघ्य]

अये रक्ताशोकप्रसवसमरागो मखिरयं

यमुद्धर्तुं पूषा व्यवसित इवालम्बितकरः ॥ ६३ ॥

अहो अयं हरति मे मनः । भवतु । आदस्ये तावदेनम् ।

उसके मार्गका पत्ता पा लिया । यह वही लाल कदम्बर का पेड़ है जिसमें फूले हुए फूल बता रहे थे कि गर्मा शीत गई । उसीका एक ऐसा फूल लेकर ध्यारीने अपने जूड़ेका सिंगार किया था जिसमें केसर न फूट आनेके कारण वह उस समय तक कड़ा ही था ॥ ६१ ॥ [घमक अशोककी आर देखता हुआ] हे लाल अशोक ! इस प्रेमीको छोड़कर यह सुन्दरी कहीं चली गई ? [पवनसे दिल्ली हुई अशोककी चोटी देकर बोधसे] पवनसे श्रुमता हुआ अपना सिर हिलाकर यह क्यों कह रहे हो कि मैंने नहीं देखा । यदि तुमने उसे न देखा होता तो घताश्रो मधुके लालचर्मों इकट्ठे होनेवाले भीरोंसे कुतरी जानेवाली पखडियोंवाले तुम्हारे वृक्ष उसकी लात खाए बिना फूल कैसे उठते ॥ ६२ ॥ अच्छा, तुम सुखी रहो । [घनकर बीर देखकर] यह पत्थरकी दरारके भीतर बड़ा गहरा लाल मणि-सा क्या दिखाई दे रहा है ? यह इतना चमक रहा है कि सिंहासे मारे हुए हाथोके मांसका टुकड़ा भी नहीं हो सकता । यह आगकी चिनगारी भी नहीं हो सकती क्योंकि अभी-अभी घनघोर वर्षा भी हो चुकी है । [देखकर] अरे, यह तो लाल अशोकके फूलोंके समान लाल-लाल मणि है जिसे उठानेके लिये सूर्य भी मानते अपने किरण रूपी हाथ बढाते तब बढ़ाए हुए हैं ॥ ६३ ॥ अरे ! यह तो मेरे मनको घटा लुभ रहा है । अच्छा, चलो, इसे निकाल लूं ।

(नेत्र्ये)

परायिणिवद्भासाइअओ वाहाउलणिअणअणओ ।

गअवइ गहसो दूहिअओ भमइ वस्वामिअवअणओ ॥ ६४ ॥

(प्रणयिनीवद्भासाओ वापाकुलनिबनयनः ।

गअवसिगहने दुःखितः अमतिशामितउदनः ॥)

[ग्रहणं नम्यति । गनीत्वा] अथवा

मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्याः शिखायामयमर्पणीयः ।

सैव प्रिया सम्प्रति दुर्लभा मे किमेतमस्रोपहतं करोमि ॥ ६५ ॥

[इत्युल्लसति ।]

[नेत्र्ये.]

वत्स गृह्यतां गृह्यताम् ।

सङ्गमनीय इति मणिः शैलसुता चरणरागयोनिरयम् ।

आवहति धार्यमाणः सङ्गममचिरात्प्रियजनेन ॥ ६६ ॥

राजा—[कर्णं दृशत्] को न खलु मामेवमनुशास्ति । [अचलाक्ष्य] अथे अनुकम्पते मां
 कश्चिन्मृगचारी मुनिर्भगवान् । भगवन् अनुगृह्योतौऽस्मि अहमुपदेशाद्भवतः [मणिमादाय]
 हंहो सङ्गमनीय ।

तया विद्युक्तस्य विलम्बमध्यया भविष्यसि त्वं यदि सङ्गमाय मे ।

ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः शिखामणिं वालमिन्दुमीश्वरः ॥ ६७ ॥

(नेत्र्यमे)

[अपनी प्यारीको पानेकी आशा लगाए, आँखोंमें आँद भरे यह मुखे मुँदवाला हाथी इस
 वनमें दुरी हाता हुआ घूमरहा है ॥ ६४ ॥]

[मणि निकालनेका नाट्य करता है । उसे पकड़कर] पर मेरी जिस प्यारीकी मन्दारके
 फूलोंसे सुगन्धित चोटोंमें यह बँधनी चाहिए वही जय नहीं मिल रही है सब में इसे ही
 लेकर क्यों इसे अपने आँसुओंसे मँछा करूँ ॥ ६५ ॥ [यहाँ उसे छाड़ देता है ।]

[नेत्र्यमे]

वत्स ! इसको ले लो, ले लो । यह प्यारीसे मिलानेवाली संगमनीय मणि है जो
 पार्वतीजीके चरणोंकी ललाईसे बनी है । इसे जो अपने पास रखता है उसे यह
 शोच ही प्यारेसे मिलया देती है ॥ ६६ ॥

राजा—[मुनरा] अरे ! यह कौन मुझे इम प्रकार आशा दे रहा है । [देखकर]
 जान पड़ता है हरिणोंके समान वनमें रहनेवाले किमी मुनिने मुझपर कृपा की है । भग-
 वन् ! आपके इस उपदेशके लिये मैं आपका थाभारी हूँ । [मर्ण उठाकर] हे संगमनीय-
 मणि ! यदि मुझे उस पतली कमरवाली सुन्दरीसे मिला दोगी तो मैं सुन्दे उमी प्रकार
 अपने मुकुटमें लगा लूँगा जैसे शिवजीने चाल पन्द्रमाको अपने मिरको जटाओंमें रस

[परिक्रम्यात्प्राक् च] अये किं तु खलु कुसुमरहितामपि लतामिमां पश्यतो मे मनो रमते । अथवा स्थाने मनोरमा ममेयम् । इयं हि ।

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः

शून्येवामरणैः स्वकलविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।

चिन्तामोनमिवास्त्रियता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते

चण्डीमामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥ ६८ ॥

यावदस्यां प्रियानुकारियां परिष्वङ्गप्रणयो भवामि ।

लए पेकस विणु दिअएँ भमामि जइ विहिजोएँ पुण्णि तहिँ पाविमि ।

ता रएणँ विणु करमि णिभंतीँ पुण्ण खइ मेळ्हुईँ ताह कअन्ती ॥ ६९ ॥

(एते प्रेक्षश्च विना हृदयेन भ्रमागि यदि विधिनोनेन पुनस्ता प्राप्नोमि ।

तदारण्येन विना करोमि निर्भ्रोति पुनर्न प्रयेक्षयामि ता कृतान्ताम् ॥)

[इति उपसृश्य लता आलिङ्गति । ततः प्रविशति तत्स्थान एव उर्वशी ।]

राजा—[निमीलिताश्च एव रसं ह्लासित्वा ।] अये उर्वशीगात्रसंस्पर्शादिषु निर्वृतं मे शरीरम् । तथापि नास्ति विश्वासः । पुनः—

समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति क्षणेन तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा ।

लिया है ॥ ६७ ॥ [चमकर और देखकर] अरे ! इस विना फूलवाली लताको देखकर भी मेरा मन क्यों इतना उछला पड़ रहा है ? पर इसे देखकर तो मेरे मनको सुख मिलना ही चाहिए क्योंकि—यादलके जलसे धुले हुए कोमल पत्तोंसे यह उस सुन्दरीके समान दिखाई दे रही है जिसके थोठे आँसुओंसे धुल गए हों, फूलनेका समय न होनेसे न फूली हुई यह ऐसी लगती है मानो इसने आभूषण उतार दिए हों, और इसपर भौरों भी नहीं गूँज रहे हैं इसलिये यह ऐसी जान पड़ती है मानो इसने मौन व्रत ले रक्खा हो । इस प्रकार यह ऐसी जान पड़ती है मानो जब उसने क्रोध किया था और मैं उसे मनानेके उसके पैरों पड़ा था उस समय जो वह रूठकर चल दी थी उसीका पछतावा कर रही हो ॥ ६८ ॥ तो चलो, अपनी प्रियाके समान दिखाई देनेवाली इस लताको ही तबतक गलेसे लगा लो । [देखो ! देखो ! मैं यहाँ हृदय खोलकर घूम रहा हूँ । यदि दैव्यागते मैं उसे पा जाऊँ तो इस धनके उसे इतनी दूर ले जाऊँगा कि फिर उसे यहाँ फँसी जाने ही न दूँगा ॥ ६९ ॥]

[आगे बढ़कर लताके गले लगाता है । वहाँ उर्वशी भा जाती है ।]

राजा—[वहाँ वन्द होनेपर भा रसं करनेका नाट्य करता हुआ] अरे ! मेरे शरीरको ऐसा सुख मिल रहा है मानो उर्वशी ही मेरे शरीरसे छिपटी हुई हो । फिर भी विश्वास नहीं हो रहा है, क्योंकि—मैं जिस-जिस वस्तुको भी अपनी प्यारी समझ बैठता हूँ वही क्षण भरमें बदल जाती है । अब इस लताको छूनेसे मुझे अपनी प्यारीसे मिलनेका सुख

अतो विनिद्रे सहनाविलोचने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥ ७० ॥

[शनैश्चक्षुषुणीत्य] कथं सत्यमेव प्रियतमा । [इति मूर्च्छितः । पति ।]

उर्वशी—[मायं विच्छेद्य] समस्मत्तु समस्मत्तु महाराश्रो । (समस्मत्तु समाश्चित्तु महाराजः ।)

राजा—[यथा लब्धा] प्रिये अथ जीवितम् ।

त्वद्वियोगोद्भवे तन्न्यि मया तममि मज्जता ।

दिप्या प्रत्युपलब्धामि चेतनेत्र गतासुना ॥ ७१ ॥

उर्वशी—अभन्तरकरणेण मए पचस्त्रीमिद्वुत्तन्तो क्यु महाराश्रो । (अभन्तरकरणया मया प्रत्युपलब्धान्त्वः क्यु महाराजः ।)

राजा—अभ्यन्तरकरणेति न सनु ते वचनार्थमयैमि ।

उर्वशी—कहइसंगं । इदं दान पमीवदु महाराश्रो जं मए गोवतं गदाए एद अबत्यन्तरं पाविदो महाराश्रो । (कथयिष्यामि । एतत्कालप्रसंगेन महाराजो यन्मया कोरस्यं गन्था एतदन-स्थान्तर प्रापितः महाराजः ।)

राजा—कल्याणि न तावदहं प्रसादयितव्यः । तददर्शनादेव असन्तथाग्नान्त-करणोऽन्तरात्मा तत्त्वथय कथमियन्तं कालमवस्थिता मया विना भवती ।

भोगा परहुअ हंम रहंग अलि अग पव्वअ ससिय वुरंगम ।

तुज्जह कारा सखाभमन्ते को खुहु पुच्छिय मई रोअते ॥ ७१ ॥

(मयूरः परभृता हृषा रवाहः भलिगंतः पर्वतः सरिःपुरदामः ।

तर मरणे तारव्ये अमता को न ललुष्ट्ये मया वदता ॥)

मिल रहा है इसलिये मैं अपनी आँखें खोलूँगा ही नहीं ॥ ७० ॥ [धीमे धीमे साँपहर]
अरे ! यह तो सचमुच मेरी प्यारी ही है । [मूर्च्छित साँपहर फिर पढ़ता है ।]

उर्वशी—[धीमे धीमे हँस] घोरज धरिए महाराज ! घोरज धरिए ।

राजा—[मूर्च्छित जगन्] आज मैं जी गया प्यारी ! हे सुन्दरी ! तुम्हारे विद्वोदके लेंघेरेमें दृवते हुए मैंने भाग्यवरा तुम्हें इसी प्रकार पा लिया है जैसे मरे हुएको प्राण मिल जाय ॥ ७१ ॥

उर्वशी—मैंने अपनी मोतरी इन्द्रियोंमें महाराजकी सत्र बातें जान ली थीं ।

राजा—मैं तुम्हारे 'मोतरी इन्द्रिय' शब्दका अर्थ नहीं समझा ।

उर्वशी—मैं बताती हूँ उनका अर्थ । पर आपसे यह प्रार्थना है पहले मुझे समझकर ही मैंने ही कोश करके आपको इतना कष्ट पहुँचाया ।

राजा—कल्याणी ! तुम्हें सुनने नहीं पना मॉगनी पादिह । मुग्धारे दरानमे ही मेरा अन्तरात्मा और पादरी इन्द्रियों सत्र प्रसन्न ही गई हैं । पर यह तो बताओ कि इतने हिलो-तक तुम मेरे विना रहो कैसे ? बताओ । [मयूर, कपट, रंग, पक्ष, भोग, वाणी, वल्ल, नदी, दिक्कमें से कीव देका रह मयूर शिखे से मैंने वामे पर-भुमकर गने हुए मुग्धारे लिये नहीं पूछा ॥ ७२ ॥

उर्वशी—एवं अंतःकरणपचकखीकिद वुत्तंतो महाराजो । (एवमन्तःकरणप्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तो महाराजः ।)

राजा—प्रिये । अन्तःकरणमिति न स्वत्ववगच्छामि ।

उर्वशी—सुणाहु महाराजो । पुरा भञ्जवदा कुमारेण सासदे कुमारवदं गेहिहश्च अकलुसो पाभ गंधमादणकच्छो शब्दासिदो । किदो अ एस धिही । (शृणोतु महाराजः । पुरा भगवता कुमारेण शाश्वत कुमारवत गृहीतवाक्युषा नाम गंधमादनकम्बोऽप्याश्रितः । कृतस्त्वैप विधिः ।)

राजा—क इव ।

उर्वशी—जा किल इत्थिआ इमं पदेसं पविसदि सा लदाभावेण परिणमिस्सदि ति । किदो अ अअं सावान्तो गौरीचरणराशसंभवं मणिं विना तदो एण दुच्चिस्सदि ति । तदो अहं गुरुसावसंमुदहिअआ देवदासमअं विसुमारिअ अगहिहासुणआ इत्थिआजणपरिहरणीयं कुमारवणं पविट्ठा । पवेसानन्तरं एव्व अरुणणखोचंतवत्तिवासंतीलदाभाएण परिणदं मे रूपम् । (या किल स्त्री इमं प्रदेशं प्रविशति सा लताभावेन परिणस्यतीति । कृतध्यायं श्यापन्तः गौरीचरणराशसंभवं मणिं विना ततो न मोक्ष्यत इति । ततोऽहं गुरुसावसंमुदहदया देवतासमर्थं विसृत्वा गृहीतानुनया स्त्रीजनपरिहरणाय कुमारवणं प्रविष्टा । प्रवेसानन्तरमेव न वाननोपांतवार्तिना-सन्तलताभावेन परिणतं मे रूपम् ।)

राजा—प्रिये सर्वसुपपन्नम् ।

श्रमखेदमुत्तमपि मां शयने या मन्यसे प्रवासगतम् ।

सा त्वं प्रिये सहैथाः कथं मदीयं चिरवियोगम् ॥ ७३ ॥

उर्वशी—मैंने अपनी भीतरी इन्द्रियोंसे महाराजकी सब बातें जान ली थीं ।

राजा—प्यारी ! मैं सचमुच अभीतर तुम्हारे इस “भीतरी इन्द्रिय” शब्दका अर्थ नहीं समझ सका हूँ ।

उर्वशी—सुनिप महाराज ! बहुत दिन हुए भगवान् कार्तिकेयने सदाके लिये ब्रह्मचर्य लेकर इस पवित्र गंधमादन पर्यंतपर अपना डेरा जमाया और यह नियम बना दिया कि—

राजा—क्या ?

उर्वशी—यही कि जो भी स्त्री यहाँ आयेगी वह लताके रूपमें बदल जायगी । पर इस शापका उन्होंने यह उपाय भी बना दिया था कि पार्श्वतीजीके चरणोंकी लज्जाईसे उत्पन्न होनेवाली मणिके पाए बिना इस शापसे छुटकारा नहीं हो सकता । गुरुजीके शापसे मेरी बुद्धि ऐसी मारी गई कि मैं देवताओंके नियमको भूल गई और आपकी मनुहारकी तुकारकर कार्तिकेयके उस वनमें पैठ गई जहाँ स्त्रियोंको नहीं जाना चाहिए । पैठते ही वनके बाड़ेपर ही मैं वासन्ती लता बन गई ।

राजा—प्रिये ! अब मेरी समझमें सब बात आई । नहीं तो जब तुम मेरे धककर सो जानेपर भी मुझे दूर गया हुआ समझ लेती थी तब भला तुम मुझसे इतने दिनोंतक कैसे अलग रह सकती थी ॥ ७३ ॥ देरों, अभी तुम जिस मणिकी बात पढ़ रही थी, यह

इदं त्वयथाकथितं दत्तसङ्गमनिमित्तं मुनेरुपलभ्य मणिरप्रभावादासादिता त्वमस्मानिः ।
[इति मणि दर्शयति ।]

उर्वशी—अमो संगमणीयो अत्रं मणी । अदो वन्तु महाराण्य आलिगिदमेत्त ज्जेव्य
पकिदित्य म्हि संवत्ता । (अहो सङ्गमनीयाऽय मणिः । अतः सखु महाराजेनात्किञ्चित्तमात्रैर प्रकृति-
स्धारिम संवृत्ता । [मणिमादाय मूर्धनि वदति ।]

राजा—एवमेव सुन्दरि क्षणमात्रं स्वीयताम् ।

स्फुरता विन्दुरितिभिर्दं रागेण मणेरैलाटनिहितस्य ।

श्रियमुद्भवति सुखं ते चालातपरक्तकमलस्य ॥ ७४ ॥

उर्वशी—पियंचद महंतो व्खु कालो तुए पड्ढाएदो णिग्गदस्स । षदाइ अमूडस्संति मं
पकिदीओ । ता एहि खिवचण्ह । (पियंचद महान्पण्ड कालस्तत्र प्रतिष्ठानाग्निर्गतस्य । कदाचिद-
सृष्टिभन्ति मद्यं प्रकृतयः । तदेहि निवर्तानदे ।)

राजा—यदाह भवती ।

[इति उच्छिद्यतः ।]

उर्वशी—अथ कथं महाराओ गंतुं इच्छति । (अथ कथं महाराजो गन्तुमिच्छति ।)

राजा—

अचिरप्रभाविलसितैः पताकिना सुरकार्मुकाभिनत्रचित्रशोभिना ।

गमितेन खेलगमने विमानतां नय मां नयेन वसतिं पयोमुचा ॥७५॥

(नेपथ्ये)

तुमसे मिलानेवालो मणि यही है, जिसे मुनिसे पाकर मैंने तुम्हें पा लिया है । [मणि दिख-
लाते हैं ।]

उर्वशी—क्या यही संगमनीय मणि है ? इसीलिये महाराजके गले लगाते ही मैं फिर
जैसीही तैसी बन गई । [मणि लेकर फिर चलाती है ।]

राजा—सुन्दरी ! क्षण भर इसी प्रकार खड़ी तो रहो । सिरपर रफती हुई इस मणिसे
धमकता हुआ तुम्हारा मुँह प्रातःकालके मूर्यकी किरणोंसे धमकते हुए कमलके समान
सुहावना लग रहा है ॥ ७४ ॥

उर्वशी—हे मिठयोले ! आप बहुत दिनोंसे प्रतिष्ठान नगरीसे बाहर आए हुए हैं ?
क्या जाने आपकी प्रजा मुझे ही इसके लिये बोल रही हो । इसलिये आइए, पलिय छोड़
धलें ।

राजा—जैसा तुम चाहो । [दोनों उठते हैं ।]

उर्वशी—तो महाराज वैसे जाना चाहते हैं ?

राजा—मैं चाहता हूँ कि विजलीकी मँहियोंजाने और इन्द्रपनुषके नये पित्रोवाले
विमान घने हुए नये मेघपर षड्दपर ही मैं अपने नगरको जाऊँ ॥ ७५ ॥

(नेपथ्ये)

पाविग्रसहस्रसिंघमयो पुल्लग्रपसाहिस्रसंग्रयो ।

सेच्छापत्तविमाणयो विहग्द हंसघुवाणयो ॥ ७६ ॥

(प्रातस्तद्वचरीसङ्गमः पुल्लग्रपसाहित न्नः ।
स्नेच्छापत्तविमाना विहगति हंसघुवा ॥)

[इति निष्पन्नौ]

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

[अपनी प्यारीसे मिलकर पुल्लभित शरीरवाला यह जगान इस अपने मनवादे विमानपर चढ़कर उड़ा चला जा रहा है ॥ ७६ ॥

(दोनों चले जाते हैं ।)

॥ चौथा अंक समाप्त हुआ ॥

पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रतिघति हृष्टो विदूषकः ।]

विदूषक—ही ही भो दिष्टिआ चिरस कालस उब्वती सहाओ खंडणवणप्पमुहेसु देवदारणोसु विहरिअ पडिणिणवत्तो विअयअरसो । पयिसिअ खअरं दाणि ससकारोवआरेहिं पकिदीहिं अखुरज्जंतो रज्जं करेदि । संताणत्तखं वज्जिअ ण क्विंवि से हीणं । अज्ज तिहिं विसेसो त्ति भअवदीणं गंगाजटण्णं संगमे देवीहिं सह त्रिदाहिसेओ संपदं उवआरिअं पविट्ठो । ता जाव तत्तभवदो अलंकारीअमाणसस अणुलेवणमल्ले अगभागी होमि । (ही ही भोः दिष्ट्या चिरस्य कास्पर्यशीसहाया नन्दो वनप्रसुतेषु देवदारणेषु विहरत्य प्रतिनिवृत्तः प्रियवयस्यः । प्रियस्य नगरमिदानीं ससकारोपचारैः प्रकृतिभिरनुरज्यमानो राज्यं करोति । सन्तानत्वं वर्जयित्वा न किमप्यस्य हीनम् । अद्य तिभिरदोष इति भगवत्वोर्गङ्गायमुत्तयोः सङ्गमे देवीभिः सह वृत्ताभिरेव सांप्रतमुपकार्यं प्रविष्टः । तवावत्प्रभयताऽलं क्रियमाणस्यानुलेवणमाल्लेऽभागी भवामि ।)
[इति परिक्रामति]

[नेपथ्ये]

हृष्टी हृष्टो । दुकुलुत्तरच्छदे तालवेटाघारे णिकिराविअ खोअमाणो मए भट्टिणो अन्धमंतर-चित्तासिणीमोलिरअणुजोग्गो मर्खा आमिससंकिणा गिद्धेण अक्खित्तो । (हा पिक् हा पिक् दुकुलेत्तरच्छदे तालवेटाघारे निक्षिप्य नयमानो मया भट्टाभ्यन्तरवित्थसिनीमोलिरत्नयोग्यो मणिरामिपशुद्धिना श्रेणाशितः ।)

पाँचवाँ अङ्क

[प्रसन्न मनसे विदूषक आता है ।]

विदूषक—हैं हैं हैं हैं ! यह तो बड़े आनन्दकी बात हुई कि नन्दन वन आदि देवताओंके घनोंमें वर्षाशौके साथ विहार करके मेरे प्रिय मित्र लौट आए हैं और अब अपने नगरमें आकर लोगोंसे पाई हुई आदर-भेंटसे प्रसन्न होकर राज करने लगे हैं । अब सन्तानरों छोड़कर इन्हें किसी बातकी कमी नहीं रह गई । आज पचैसा दिन होनेसे वे देवियोंके साथ श्री गंगाजी और यमुनाजीके संगममें स्नान करके अभी रनिवाममें लौटे हैं । इसलिये जब तक महाराज अपना साज-सिंघार पूरा करें तब तक चल्ने में भी उनही पन्दन-माला आदिमें अपना भाग पहले ही निकाल लें । [वृथा दे]

[नेपथ्यमें]

हाय हाय ! ताड़की पिटारीमें रेशमका टरङ्गा निझार उसमें महारानीके माथेकी मणि लिएमें चला जा रहा था कि इतनेमें एक गिद्ध गधटा और उसे मांसका टुकड़ा समझकर सटार उड़ गया ।

विदूषकः—[कर्ण रक्षा] अचाहिदं अचाहिदं । परमबहुमदो वस्तु सो वधससस संगम-
पोथो णाम चूणामणो । अदो वस्तु असमत्तणेवच्छो एव्य तत्तभवं आसणादो लट्टिअ इदो
आअच्छदि । जाव णं ववसण्णामि । (अत्थाहितमत्थाहितम् । परमबहुमतः राज्ञ ए ववत्परय
यध्मनीयो नाम चडामणिः । अतः एत्वसमात्त नेपथ्य एव तत्र भवानासनादुत्थायेत् आगच्छति ।
यावदेनमुपसर्पामि ।) [इति निष्क्रान्तः ।]

॥ प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशति सावेगपरिजनो राज्ञा ।]

राज्ञा—वेधक वेधक

आत्मनो वधमाहतां क्वासौ विहगतस्करः ।

येन तत्प्रथमं स्तेयं गोप्तुरेव गृहे कृतम् ॥ १ ॥

किरातः—एसो एसो वस्तु मुहकोडिलग्गहेमसुत्तेण मणिणा आलिहत्तो विअ आआसं
पडिअमदि । (एए एए राज्ञ मुत्तकांठिलग्गहेमसुत्तेण मणिनालिहत्तित्थाकाश परिअमति)

राज्ञा—परयान्वेत्तम् ।

असौ मुखालंघितहेमसुत्रं विभ्रन्मणिं मंडलचारशीघ्र ।

अलातचक्रप्रतिमं विहंगस्तद्रागलोत्पावलयं तनोति ॥ २ ॥

किं नु खल्वन्न फर्तव्यम् ।

विदूषकः—[उपेत्य] भो अलं पत्थ धिण्णए । अवरानी सासणीओ । (भोः । अलमव
धुणया । अवरानी शासनीयः ।)

विदूषकः—[सुनते हुए] यह तो बड़ा घुरा हुआ, बड़ा घुरा हुआ । यह मणियोंमें
अतोखी संगमनीय मणि राज्ञराजको बड़ी प्यारी थी । इसीलिये महाराज अधूरा सिंगार
किए हुए ही आसन छोड़कर इधर चले आ रहे हैं । चले । [जाता है]

॥ प्रवेशकः ॥

[तेवर्कोकं ताव घवराए हुए राज्ञा जाते ईं]

राज्ञा—अरे वेधक ! वेधक ! अपनी मृत्यु अपने आप बुलानेवाला वह चोटा पत्नी कहीं
गया जिसने स्वयं रक्षा करनेवालेके ही घरमें यह पहली चोरी की है ॥ १ ॥

किरात—वह देखिए ! वह देखिए ! अपनी चौंचमें सोनेका डोरा पकड़े हुए यह पत्नी
ऐसा चक्कर लगा रहा है मानो मणिले आकाशमें लिप्टा रहा हो ।

राज्ञा—हाँ, दिखाई दे गया । मणिके सोनेके डारेको पकड़े हुए वेगसे चक्कर काटता
हुआ यह इस प्रकार मणिके रंगका कुंडल बना रहा है से जैसे फोड़े आगकी लूकने चक्कर
देकर घुमा रहा हो ॥ २ ॥ अब क्या करना चाहिए ?

विदूषकः—[पथ जाकर] देखिए ! अब अपनी दया रहने दीजिए । अपराधीको दंड
देना ही चाहिए ।

राजा—सम्यग्वाह भवान् । धनुर्धनुस्तावत्

यवनी—एसा आणोयसं । (एपाऽनेपामि ।) [इति निष्क्रान्ता ।]

राजा—वयस्य न दृश्यते स विहगाधमः । क्व तु खलु गतः ।

विदूषकः—भो । इदो वृक्षिण्णतेण अजगदो सो सासणीओ कुणवभोअणो । (भोः ।

हतो दक्षिणान्तेनापगतः स शासनीयः कुणपभाजनः ।)

राजा—[परिवृत्तस्यलोक्य च ।] दृष्ट इदानीम् ।

प्रभापण्णवितेनासौ करोति मणिना स्वगः ।

अशोकस्तवकेनेव दिङ्मुखस्यावतंसकम् ॥ ३ ॥

यवनी—[चापहस्ता प्रविश्य ।] मट्टा एदं हत्थावावसहिदं सरासर्ण । (भर्तः । एतद्वला-
वापसहित धरासनम् ।)

राजा—किमिदानीं शरासनेन । वाणपथमतीतः स क्रव्यभोजनः । तथा हि ।

आभाति मणिविशेषो दूरमिदानीं पत्रविण्णा नीतः ।

नक्तमिव लोहिताङ्ग परुषघनच्छेदसंयुक्तः ॥ ४ ॥

(कम्बुकिं विलोक्य ।) आर्यं स्नातव्य ।

कम्बुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा—महत्तचनादुच्यतां नागरिकः । सायं निवासवृत्ताश्रयो विचोयतां स विहगादस्यु-
रिति ।

राजा—ठीक कहा तुमने ! अरे धनुष तो ले आओ ।

यवनी—अभी लाई । [चले जाती है ।]

राजा—मित्र ! यह दुष्ट पक्षी तो कहाँ दिखलाई ही नहीं देता । न जाने कियर
चला गया ?

विदूषक—वह मार डालने योग्य मौसरोआ पक्षी दखिरानकी ओर गया है ।

राजा—[पूंकर देगता है ।] यह दिखलाई दे रहा है । चमकते हुए मणिको इधर उधर
बाँधमें लेकर उड़ता हुआ यह पक्षी ऐसा लग रहा है मानो दिशाके माथेपर चूड़ामणि बाँध
रहा हो ॥ ३ ॥

यवनी—[हाथमें धनुष लिए आकर] यह लीजिए हथररा और धनुष ।

राजा—अब क्या होगा धनुष ! यह गिद्ध तो मेरे पाणकी पहुँचसे यादर निकल गया
और उस मणिको इतनी दूर उड़ा ले जाकर यह ऐसा लगने लगा है मानो पने यादलको
टुकड़ीके साथ रातको भंगल चारा चमक रहा हो ॥ ४ ॥ [कम्बुकीको देखकर] आर्य
स्नातव्य !

कम्बुकी—आज्ञा महाराज !

राजा—मेरी आज्ञासे नगरमें हुगो पिटया दो कि जय यह पौर संध्याको अपने
पाँसलेमें पहुँचे तो इसे खोजा जाय ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इति निष्पान्तः ।]

विदूषकः—भो ! बवायिसदु भवं संपदं । कहींगदो सो रक्षणकुम्भरीलओ भवदो सास-
पादो मुच्चिससदि । (भाः । उपविशतु भवान् साम्प्रतम् । वर गतः स स्नहुम्भीरका भवतः
।। समान्माक्षते ।)

राजा—[विदूषकेण सहोपविश्य] वयस्य ।

स्त्नमिति न मे तस्मिन्मणौ प्रियत्वं विहङ्गमाक्षिमे ।

प्रियया तेनास्मि सखे सङ्गमनीयेन सङ्गमितः ॥ ५ ॥

विदूषकः—शुं परिगदत्यो गिह् विदो भवदा । (गनु परिगताथोऽस्मि कृतो भवता ।) [ततः
विशति सशर मणिमादाय कञ्चुकी ।]

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः ।

अनेन निर्भिन्नतनुः स वध्यो रोपेय ते मार्गयतां गतेन ।

प्राप्तापराधोचितमन्तरिचात्समौलिस्त्नः पतितः पतत्री ॥ ६ ॥

[एवं विस्मयं रूपयति ।]

कञ्चुकी—अङ्गिः प्रक्षालितोऽयं मणिः कस्मै प्रदीयताम् ।

राजा—वेधक गच्छ । अग्निशुद्धमेनं कृत्वा पेटके प्रवेशय ।

किरात.—जं भट्टा आणवेदि । (यद्भर्ताज्ञापयति ।) [इति मणिं यदीत्वा निष्पान्तः ।]

राजा—आर्यं ज्ञातव्यं । जानीते भवान् कस्यायं वाण इति ।

कञ्चुकी—जैसी महाराजकी आज्ञा [चला जाता है ।]

विदूषकः—अब आप बैठ जाइए महाराज ! यह रत्नका चोर आपके दंडसे बचकर
जायगा कहाँ ?

राजा—विदूषकके साथ बैठकर] मित्र ! उस पत्नीने जो रत्न चुराया है उसे मैं रत्न होनेके
नाते नहीं, बरन् इसलिये धावर करता हूँ कि उस सगमनीय मणिने सुभे मेरी प्यारीसे
मिला दिया था ॥ ५ ॥

[वाणके साथ मणि लिए हुए कञ्चुकीका प्रवेश]

कञ्चुकी—जय हो, महाराजकी जय हो ! इस मारने योग्य पत्नीको आपके क्रोधने
माख बनकर मार डाला और यह अपने अपराधका ठीक दण्ड पाकर आकाशसे इस रत्नके
साथ ही नीचे गिर पड़ा ॥ ६ ॥

[एवं आश्चर्य करते ।]

कञ्चुकी—मैंने इस मणिको पानीसे धो डाला है । कहिए किसे दे दूँ ?

राजा—वेधक ! जाओ, इसे आगमें शुद्ध करके पेटीमें रख दो ।

किरात—जैसी महाराजकी आज्ञा । [मणि लेकर जाता है ।]

राजा—क्यों आर्यं ज्ञातव्य ! कुछ यह भी पता पला कि यह वाण किसका है ?

कञ्चुकी—नामाङ्कितोऽयं दृश्यते । न तु मे वर्णविचारक्षमा दृष्टिः ।

राजा—तेन हि उपनय शरं यावदहं निरूपयामि । [कञ्चुकी तथा करोति । राजा नामाङ्कितं पश्यतुवाच्य विचारयति ।]

कञ्चुकी—यावदहं नियोगमशून्यं करोमि । [इति निष्क्रान्तः ।]

विदूषकः—किं भवं विचारयेत्ति । (किं भवान्विचारयति ।)

राजा—शृणु तावत्प्रहर्तुर्नामाङ्कराणि

विदूषकः—अघद्विदो म्भिः । (आद्विदोऽस्मि ।)

राजा—श्रूयताम् । [इति वाचयति ।]—

उर्वशीसंभवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः ।

तुमारस्यायुपो वाणः प्रहर्तुर्द्विपदायुषाम् ॥ ७ ॥

विदूषकः—[सरस्तिपम् ।] दिष्टिप्रा संतापेण बड्डदि भवं । (दिष्ट्या सन्तानेन वर्धते भवान् ।)

राजा—सत्ते कथमेतत् । अन्यत्र नेमिपेशसत्राद्विदुक्तोऽहमुर्वश्या । न च मया वदादि-
दपि गर्भव्यक्तिरालक्षित्वा कुत एव प्रसूति । त्रिभु—

श्राविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम् ।

कानि दिनानि यपुरभूत्क्रेलमलमेक्षणं तस्याः ॥ ८ ॥

कञ्चुकी—इसपर नाम तो जुदा हुआ दिखाई देता है पर मेरी आँसोंसे इसके अक्षर ठीक ठीक पढ़े नहीं जा रहे हैं ।

राजा—अच्छा, इधर लाओ वाण । मैं ही पढ़ता हूँ । [कञ्चुकी वाण देता है । राजा उस वाणपर लिखे हुए नामके अधोरेखा नीचेर सारते हैं ।]

कञ्चुकी—तबतक चलूँ मैं अपना काम करूँ । [जाता है ।]

विदूषक—आप सोच क्या रहे हैं ?

राजा—उस पत्नीको मारनेवाले बीरवा नाम, सुनोगे ?

विदूषक—हाँ, बताए ।

राजा—सुनो ! [बचता है ।] यह वाण पुष्पा और उर्वशीके धनुर्धारी पुत्र आयु-
नामके उस राजकुमारका है जो शत्रुओंके प्राण खींच लेता है ॥ ७ ॥

विदूषक—[कनापके साथ] आपको पुत्र पानेरी क्याई ।

राजा—पर मित्र ! यह हो कैसे सनना है ? नेमिपेश अगरो छोड़कर मैं कभी उर्वशी-
जैसे अलग नहीं रहा और इस थोपमें मैंने उनके शरीरमें कभी गर्भके लक्षण भी नहीं
देखे, फिर यह पुत्र उपन्न कैसे हो गया ? पर हाँ, एक बात है, अभी कुछ दिन
पहले मैं उनके शरीरको देखा था तो उनको आँसु अलमाई रहती थीं, उनका मुँह
लजलीके पत्नीके समान पीला पड़ गया था और उनके सनोंरी पुढियाँ सोंरली पड़
गई थीं ॥ ८ ॥

राजा—स्यादेवम् । अतः ररु ।

वाप्पायते निपतित्ता मम दृष्टिरिमिन् वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः ।
संजातवेपथुभिरुज्जित धैर्यवृत्तिः इच्छामि चैनमदयं परिरुचुमङ्गैः ॥ ९ ॥

कञ्चुकी—भगवति । एवं स्वीयताम् ।

[तापसीनुमारी स्थिती ।]

राजा—अन्य । अभिवाद्ये ।

तापसी—महाभाग । सोमयंसवित्थारइत्तओ होहि । [आत्मगतम्] अम्हो अणाचक्रि-
दोवि विवणादो एव्व इगस्स राएसिणो आउओ अओरसो संघो । [प्रकाशम्] जाद पणम
दे सुरुं । (महाभाग । सोमयंसवित्थारवित्त म । अहो अनाख्यताऽरे विजात एवास्य राजपैरा-
सुपथ्व थीरलः उभयः । जात प्रथम ते सुरुम् ।)

[कुमारश्चाप्यभंगमन्त्रलि उद्धवा प्रणमति ।]

राजा—वत्स । आयुष्मान् भव ।

कुमारः—[रागतम्]

यदि हार्दमिदं श्रुत्वा पिता ममयं मुतोऽहमस्येति ।

उत्सङ्गरधितानां गुरुषु भवेत्कीदृशः स्नेहः ॥ १० ॥

राजा—भगवति । किंभागमनप्रयोजनम् ।

राजा—हो सरुता है । क्योंकि इसे देखते ही औरों भर आई हैं हृदयमें वात्सल्य प्रेम
उमड़ा पड़ रहा है, जो पिल गया है, और मेरा शरीर धोरज खोरर कोपने लगा है और
मेरी ऐसी इच्छा हो रही है कि इसे उठाकर कमर अपने गलेप लगा लूँ । ९ ॥

कञ्चुकी—भगवती ! वस यहाँ खड़ी रहिए । [तपरिनी और कुमार खड़े रहते हैं ।]

राजा—मैं प्रणाम करता हूँ, माता जी !

तापसी—हे बड़भागी ! आपसे चन्द्रवंश बड़े । [मन् नी मन] अरे ! यिना यताप हो
पता चल जाता है कि इस राजा और कुमारका समा मन्मन्य है [प्रष्ट] वेदा ! अपने
पिताजीको प्रणाम करो ।

[हाथमें धनुः लिङ्ग हुए हां कुमार हाथ जबर प्रणम करता है ।]

राजा—वरम ! तुम्हारी बड़ी आयु हो ।

काव—[मन् ही मन] जय मुझे बैचल यहो सुनकर इतना प्रेम उमड़ रहा है कि ये
मेरे पिता हैं और मैं इनका पुत्र हूँ, तब उन वात्सल्यो अपने माता-पितासे विना प्रेम
होता होगा जा उन्हींसे गोदमें पलार बड़े होते होंगे ॥ १० ॥

राजा—कहिए भगवती ! कैसे आई ?

तापसी—सुणातु महाराजो । एसो दीहाऊ आठजादनेचो एव्व उवसोए । किंवि निमित्तं अवेपरिअ मम हस्ते शासीकिदो । जं सत्तिअकुमारअस्स जादरुम्भादि विहाणं तं से भव्वदा चवणेण असेसं अणुचिद्धिदं । गहीदविज्जो धणुव्वेदे अहिविणीदो । (शृणुतु महाराजः । एष दीर्घाङ्गुगयुजावमान एव उर्धवा किमपि निमित्तमवश्य मम हस्ते न्यासीकृतः । यत्क्षत्रियकुमारस्य जातकमादिविधानं तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम् । गहीतविद्या धनुर्वेदेऽभिविनीतः ।)

राजा—सनायः रजु संवृतः ।

तापसी—अज्जपुष्पमिधकुसण्णिमित्तं इत्तिकुमारएहं सहगदेण इमिणा अस्समविरुद्धं आअरिदं । (अथ पुष्पमिधकुशानमिध शृंगपुङ्गारखंः गृह्यतेनानेनाश्रमविषद्वमाचरितम् ।)

विदूषकः—[सावेगम्] किं विअ । (किमिदं)

तापसी—गहीदामिसो किल गिद्धो पादवसिहरे णिलोअमाणो अणेण लम्पीकिदो याएस्स । (गहीतामिधः किञ्च अथः पादवसिहरे निलीयमानाऽनेन लक्ष्पाकृतो बाणस्य ।)

[विदूषको राजानमवलोकयति ।]

राजा—ततस्ततः ।

तापसी—तदो उरलद्धउत्तेण भव्वदा चवणेण अहं समादिट्ठा—णिज्जादेहि एवं उवसोहत्थे णासं त्ति । ता इच्छामि देवि उव्वसि पेकिराटु । (ता उपलब्धशृङ्गान्तेन भगवता च्यवनेनाह समादिष्ट —निर्वाच्येनमुर्वशीहस्ते न्यासयति । त दन्तामि देवीमुर्वशीं प्रेषितुम् ।)

राजा—तेन आसनमनुगृह्णातु भगवती ।

[तापसी उपनीत आसन उपविशति ।]

तापसी—सुनिद महाराज ! जब यह चिरंजीव उत्पन्न हुआ तभी कुछ सोच-समझकर उर्वशी इसे मेरे पास छोड़ गई । क्षत्रिय कुमारके जितने जात-कर्म आदि संस्कार हैं वे सब भगवान् च्यवन ऋषिने करा दिए और पढ़-लिख चुकनेपर इसे धनुष चलाना भी सिखा दिया ।

राजा तब भी यह बड़ा भाग्यवान् है ।

तापसी—आज मूल, समिधा और कुशा लानेके लिये जब यह शृंगपुङ्गारोंके साथ जा रहा था तो इसने आश्रमके नियमसे उल्टा काम कर डाला ।

विदूषक—[खबरकर] क्या ? क्या ?

तापसी—एक गिद्ध मासका टुकड़ा लिए हुए पेड़पर बैठा था । बस उसीपर ताककर इसने बाण चला दिया ।

[विदूषक राजाकी ओर देखता है ।]

राजा—तब, तब ?

तापसी—जब भगवान् च्यवनने यह सुना तब उन्होंने आज्ञा दी कि उर्वशीको धरोहर ले जाकर उसे सौंप आओ । इसीलिये मैं देवी उर्वशीसे मिलने आई हूँ ।

राजा—तबतक आप आसन सुशोभित फीजिए ।

[छाप हुए आसनपर तापसी बैठ जाती है ।]

राजा—आर्य लातव्य ! आहूयतामुर्वशी ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । [रति निष्क्रान्तः ।]

राजा—[कुमारमग्लोक्चर ।] एहि एहि वत्स ।

सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य क्लिप्त तेनमाशुपगतेन ।

आह्लादयस्य तावच्चन्द्रकरश्चकान्तमिव ॥ ११ ॥

तापसी—जाद खंदेहि पिदरम् । (जात नन्दय वितरम् ।)

[कुमारी राजानमुपगम्य पादग्रहण करोति ।]

राजा—[कुमारमालिङ्ग्य पादपीठेचापनेस्य ।] वत्स इतस्तत्र पितुः प्रियसरं द्राक्ष्यणशङ्कितो वन्दस्व ।

विदूषकः—किति संकिस्सदि । खं अस्समवासपरिचिदो एव्य सद्दामिथो । (भिमिति शङ्किथ्यते । नग्नाभमवासपरिचित एव शास.मृगः ।)

कुमारः—[तस्मितम्] तात घंटे ।

विदूषकः—सत्थि भवदो । वल्लदु भयं । (स्वस्ति भगतो । उपता भान् ।)

[ततः प्रविशन्पुवशी कञ्चुकी च ।]

कञ्चुकी—इत इतो देवी ।

उर्वशी—[कुमारमग्लोक्चर] को सु कञ्चु एसो सञ्जाणासणो पादपीठे सश्रं महाराण्य संजमीअमाससिहसदधो चिट्ठदि । [तापसा इष्टा ।] अम्मो सञ्चयवहोसूदो अथ मे पुत्तधो

राजा—आर्य लातव्य ! जाओ उर्वशीको बुला तो छाओ ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आवा । [जाता है ।]

राजा—[कुमारका देखकर] इधर आओ वत्स ! इधर आओ । कहते हैं कि पुत्रको धूते ही सारा शरीर सुखो हो जाता है इसलिये तुम भी मेरे पास आकर मुझे वैसे ही आनन्द दो जैसे चन्द्रमा की किरणें चन्द्रकान्त मणिको आनन्द देती हैं ॥ ११ ॥

तापसा—जाओ घेटा ! अपने पिताजोका जो सुखो करो ।

[कुमार पास जाकर राजाके पैर धूता है ।]

राजा—[कुमारको गलेमे लगाकर उठे पैर-पीठेपर घेटाकर] वत्स ! अपने पिताके प्रिय मित्र इन द्राक्ष्यणको भी निबर होकर प्रणाम करो ।

विदूषक—डर काहे का ? आश्रममें रहनेवाले वानरोंसे तो इसकी पहलसे जान पटचान होगी ही ।

कुमार—[हँसकर] सात ! प्रणाम ।

विदूषक—तुम्हारा कन्वाण हो । तुम फलों-फूलो ।

[उर्वशी और कञ्चुकी का प्रवेश]

कञ्चुकी—इधरसे आइए देवी ! इधरसे ।

उर्वशी—[कुमारको देगल] यह हाथमें धनुष छिए छुर फौन है जिमे पैर-पीठेपर घेटाकर सब महाराज उसके पाल भूष रहे हैं । [तापसा देखकर] अरे, सत्यवतोको

आऊ। महंतो कस्यु संवत्तो । (को नु राक्षेप राणासनः पादपीठे स्वयं महाराजेन सवाम्यमान-
शिश्रण्डकस्तिप्रति । अहो सत्पुत्रीसूचितोऽयं मे पुत्रक भागुः । महान् पशु संवृत्तः ।)

[इति सर्वं परिक्रामति ।]

राजा—[उपशो दृष्ट्वा ।] वत्स—

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा ।

स्नेहप्रस्नवनिर्मिन्नमुद्गहन्ती स्तनांशुकम् ॥ १२ ॥

तापसी—जाद एहि । पचुमाच्छ मादरं । (जात एहि । रक्षुद्रञ्च मातरम् ।) [इति
कुमारेण सह उर्वशीमुपसर्पति ।]

उर्वशी—अंध पादबंधन करेमि । (अम्ब पादबन्धन करोमि ।)

तापसी—बच्छे भक्तुणो बहुमदा होहि । (वत्से भर्तुणुमता भव ।)

कुमारः—अम्ब अभिवाद्ये ।

उर्वशी—[कुमारमुन्नमितमुख परिश्वस्य ।] वच्छ पिदरं आराधइत्तथो होहि । [राजान-
मुपेत्य ।] जेदु जेदु महाराओ । (वत्स पितरमारुपयिता भव । जवतु जवतु महाराजः ।)

राजा—स्वागतं पुत्रवत्यै । इत आस्यताम् [इत्यर्घासन ददाति ।]

[उर्वशी उपविशति । सर्वे यथोचितमुपविशन्ति ।]

तापसी—बच्छे । पत्तो गहीदविज्जो आऊ संपदं पयश्चहरो संवत्तो । ता पवत्स दे
भक्तुणो समकर्तं शिञ्जदिनो हत्यशिकखेवो । ता विसज्जेदुं इच्छामि । उवरुक्कइ मह अससम-
धमो । (वत्से । एए एहतविद्य भागुः साम्रात फननहरः सवृत्तः । तदेतस्य ते भर्तुः समक्षं निर्यातितो
हस्त-निक्षेपः । तद्विस्तर्भावितुमिच्छामि । उपरुध्यते ममाभ्रमधर्मः ।)

देवकर ही मैं समझ गई कि यह मेरा पुत्र आगु है । अरे ! यह तो बहुत बड़ा ही गया
है । [बड़ी प्रसन्न होकर घूमती है ।]

राजा—[उर्वशीको देवकर गलसते] वत्स ! तौ ये तुम्हारी माँ आ गईं जो तुम्हारी
ओर टकटकी लगाए देल रही हैं और जिनकी चोली तुम्हारे प्रेममें टपके हुए बूधसे भीगी
गई है ॥ १२ ॥

तापसी—यहाँ आओ वेदा ! आगे बढ़कर माताका स्वागत करो । [कुमारको लेकर
उर्वशीसे मिलनेको आगे बढ़ती है ।]

उर्वशी—माताजी ! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करती हूँ ।

तापसी—अपने स्वामीकी प्यारी बनी रहो ।

कुमार—माँ ! मैं प्रणाम करता हूँ ।

उर्वशी—[कुमारका मुख ऊपर उठाकर उसे शरीरसे चिपटाती हुई] वत्स ! पिताकी सेवा
करनेवाले बनो । [राजाके पास जाकर] जय हो, महाराजकी जय हो ।

राजा—पुत्रवतीका स्वागत है । आओ, यहाँ बैठो । [अपने आगे आसनपर बैठा
लेते हैं ।] [उर्वशी बैठती है । सब यथास्थान बैठते हैं ।]

तापसी—वत्से ! ठीकसे पढ़-लिखकर अब यह कुमार कवच धारण करने योग्य हो गया
है । इसलिये तुम्हारे स्वामीके सामने ही तुम्हारी धरोहर तुम्हें सौंप देती हूँ । अब जाना
भी आदवी हूँ क्योंकि अभी आश्रमका बहुत-सा काम मेरे बिना रुका पड़ा होगा ।

उर्वशी—चिरस्त अज्जं देमिअअ अहिअदरं अविदिह्मिहि । एण सवणोमि विसज्जिदुं ।
अएणअथं एण उवरोहिदुं । ता गच्छदु अज्जा पुणो दंसणाअ । (चिरसवार्थं दृष्ट्वाऽपि अतरमविदु-
णास्मि । न शक्नोमि विलम्बुम् । अन्यास्यं पुनदपरादुम् । तद्वचनवार्था पुनदर्शनाय ।)

राजा—अन्य भगवते न्यवनाय मां प्रणिपातय ।

तापसी—एवं भोदु । एव भवदु ।)

कुमारः—आर्ये सत्यं यदि निवर्तसे मामप्याधमं नेतुमर्हसि ।

राजा—अयि वत्स उपितं त्वया पूर्वस्मिन्नाधमे । द्वितायमभ्यासितुं तव समयः ।

तापसी—जाद । गुरुअणो अजणं अणुचिट्ठा । (जात । गुरावचनमनुगतम्)

कुमारः—तेन हि ।

यः सुप्तवान्मदङ्गे शिलएढकरइयनोपलब्धमुखः ।

तं मे ज्ञातकल्पार्पं श्रेयस मणिकण्ठकं शित्तिनम् ॥ १३ ॥

तापसी—[विरम्य ।] एज्जं करेमि । (एवं करागि ।)

उर्वशी—भअवदि पादर्यदर्णं करेमि । (भगवति पादवन्दनं करागि ।)

राजा—भगवति प्रणमामि ।

तापसी—सोस्मि भोसु तुन्हाणम् । (स्मित भगवत् सुश्रवणम् ।)

[रति निष्कान्ता ।]

राजा—[उर्वशीं प्रति] कल्याणि ।

उर्वशी—इतने दिनोंपर तो आप गिली हैं । अभी आपसे मिलकर जी ही नहीं भरा
इसलिये आपको जाने देनेका जी ही नहीं चाहता । पर आपको रोक रचना भी बड़ा
अन्याय होगा, इसलिये आप जाती हैं तो जायें पर फिर दर्शन अथर्व्य दीजिएगा ।

राजा—माताजी ! भगवान् न्यवनसे मेरा प्रणाम कहिएगा ।

तापसी—अच्छी बात है ।

कुमार—आर्ये ! यदि आप सचमुच लौटी जा रही हो तो मुझे भी आधम लेवी
पलिए ।

राजा—अरे वत्स ! तुम ब्रह्मचर्ये आधममें रह चुके हो अब तुम्हें गृहस्थ आधममें
रहना चाहिए ।

तापसी—बेटा ! पिताजीका कहना मानो ।

कुमार—तो आप मेरे उम बड़े-बड़े पंगोंगले मणिकण्ठक नामके मोरको वहाँ भेज
दीजिएगा जो मेरी मोर्धमें सोया सोया अपना सिर मेरे हाथोंसे झुजलाय जानेका आनन्द
लिया करता था ॥ १३ ॥

तापसी—[रोकर] अच्छा भेज देंगी ।

उर्वशी—भगवती ! मैं चरणोंमें प्रणाम करती हूँ ।

तापसी—तुम दोनोंका कल्याण हो । [चली जाती है ।]

अथाहं पुत्रियामग्र्यः सत्पुत्रेणामुना तव ।

पौलोमीसंभवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः ॥ १४ ॥

[उर्वशी शृणा रोदिति ।]

विदूषकः—[विलोक्य सत्वेणम् ।] भो किं सु कष्टु सम्पदं अतहोदी एकवदे अस्तुमुही संवृत्ता । (भोः किं नु खलु साम्प्रतश्च भवती एक पदे अभ्युमुखी सवृत्ता ।)

राजा—[सत्वेणम् ।]

किं सुन्दरि प्ररुदितासि ममोपनीते वंशस्थितेरधिगमान्महति प्रमोदे ।

पीनस्तनोपरिनिपातिभिरानयन्ती मुक्तावलीविरचनां पुनरुक्तिमसैः ॥ १५ ॥

[इति अस्या बाष्पं प्रमार्ष्टि ।]

उर्वशी—सुणाहु महाराजो । पहलं जण पुत्तदंसणसमुत्थेण आण्णदेण विसुमरिदं म्हि । दाणिं महिदसांकित्तणेण सुमरिओ समओ महं हिअअं आआसेसि । (शृणोद्द महाराजः । प्रथमं पुनः पुत्रदर्शनसमूहेनात्रन्देन विस्मृतासि । इदानीं गहेन्द्रसक्रीतनेन स्मृतः समथो मम हृदमायावपति ।)

राजा—कथ्यतां समयः ।

उर्वशी—अहं पुरा महाराजगहिदहिअआ गुरुसावसंमूढा महिदेण आणत्ता । (अहं पुरा महाराजसदृशतद्दया गुरुशापवमूढा महेन्द्रेण आशापिता ।)

राजा—किमिति ।

राजा—[उर्वशीसे] हे कल्याणी ! तुम्हारे इस सुपुत्रको पाकर आज मैं सभी पुत्रवालोंसे उसी प्रकार यह गया हूँ जैसे इन्द्राणीसे उत्पन्न हुए जयन्तको पाकर इन्द्र ॥ १४ ॥

[उर्वशी कोई बात स्मरण करके राने लगती है ।]

विदूषक—[देखकर, चबराए हुए] अरे ! यह क्या ? यह अचानक आपकी आँसुओंमें आँसु क्यों आ गए ?

राजा—[चबराए] हे सुन्दरी ! ऐसे शुभ अवसरपर तुम क्यों रो रही हो जब मेरे वंशको बढ़ानेवाला पुत्र मुझे मिला हो । तुम अपने मोटे स्तनोंपर गिरनेवाले अशुभोंसे दूसरे हारकी लड़ी व्यर्थ क्यों बना रही हो ॥ १५ ॥ [उसके आँसुओंकी पोंछता है]

उर्वशी—सुनिए महाराज ! पहले तो मैं पुत्रका सुँह देखकर ऐसी मगन हो गई कि सब भूल ही गई थी पर जब आपने अभी इन्द्रका नाम लिया तो मुझे एक बात स्मरण हो आई है जो मेरे हृदयको कचोट रही है ।

राजा—कहो, क्या बात है ।

उर्वशी—बहुत दिन हुए, आपसे प्रेम करनेपर भरत मुनिने मुझे शाप दे दिया था । उस शापसे मैं बहुत घबरा गई थी । तब इन्द्र भगवानने मुझे आज्ञा दी थी.....

राजा—क्या ?

उपेंशी—जदा सो मे पिअसहो राएसो तुह समुप्पणएस वंसकरसस मुहं पेक्खिस्सदि वदा तुए भूओ वि मम समीवं आअंतव्वंति । तदो मए महाराअविओअमीरुदाए जादमेत्तो एव्व विज्जागमणिमित्तं भअवदो चषणएस अस्समे एसो पुत्तओ अज्जाप सच्चवदीए हस्से अप्पआसं णिस्सिस्सो । अज्ज पिटुणो आराहणसन्तये संबुत्तो त्ति कलअंतीएताए सिज्जादिदो एसो मे दीहाऊ । ता एत्तिओ मे महाराएण सह संवासो । (वदा स मे मियसरो राअरिस्सयि समुत्तपस्य यअन्तस्य मुखं धेक्खिस्सते तदा त्वया भूओऽपि मम समीपमागन्तव्वमिति । ततो मया महाराजवियोगभीरुतया जातमात्र एव विद्यागमनिमित्तं भगवत्तद्व्यपनस्याश्रमे एव पुत्रक आर्यायाः सत्पत्न्या हस्तेऽप्रकाशं निक्षिप्तः । अत्र पितुरागपनसमर्थः संबुत्त इति कल्पन्त्या तथा निर्यातित एव मे दीर्घायुतापुः । तदैतारान्मे महाराजेन सह संवाहः ।)

[सर्वे विभादं नाटयन्ति । राजा मोहमुग्धमन्तति ।]

विदूषकः—अव्वम्हणं अव्वम्हणं । (अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् ।)

कञ्चुकी—समाश्वसितु महाराजः ।

राजा—[समाश्वस्य सनिःसयाहम् ।] अहो सुतप्रत्यर्थिता दीषस्य ।

आश्वसितस्य मम नाम सुतोपलब्ध्या सद्यस्त्वया सह कृशोदरि विप्रयोगः ।

व्यावर्तिततपरुजः प्रथमाभ्रवृष्ट्या वृक्षस्य वैद्युत इवाग्निरुपस्थितोऽयम् ॥१६॥

विदूषकः—अअं सो अत्थो अणत्थाणुवंथो संबुत्तो । संपवं तवेमि अत्तभवदा यषत्त नेण्हिअ तथोषणं गंदव्वं त्ति । (अय संऽगोऽन्यानुकल्पः संवृत्तः । साम्प्रतं तर्कगम्यत्र भगता बह्वलं यद्दीत्यागन्तव्यमिति ।)

उपेंशी—यही कि तुम्हारे प्यारे मित्र राजर्षि जब तुमसे उत्पन्न हुए पुत्रका मुँह देर लें तब तुम फिर मेरे पास लौट आना । इसलिये जैसे ही यह बालक उत्पन्न हुआ जैसे ही मैंने इस घरसे इसे भगवान् च्यवनके आश्रममें पढ़ाने-लिखानेके चहाने आर्या सत्यवतीके पास धरोहर बनाकर छोड़ दिया था कि यदि कहीं आप हमे देग लेंगे तो मेरा आपका पिछोह हो जायगा । आज उन्होंने मेरे इस चिरंजीवी पुत्र आयुको पिताकी सेवा करने योग्य समझकर लौटा दिया है । इसलिये वस आजतक ही मैं महाराजके साथ रह सकती थी ।

[सब दुग्नी होते हैं और राजा मूर्छित हो जाते हैं ।]

विदूषक—यहा चुरा हुआ, यहा चुरा हुआ ।

कञ्चुकी—[दाढम बेचाता हुआ] धोरज धरिए महाराज ! धोरज धरिए ।

राजा—[मूर्छिते बागकर डंभी सँस लेते हुए] अरे, दैच मेरे सुतको पूटो आँगो नहो देरना चाहता । आज ही तो पुत्रको पाकर मेरा जो ठंदा हुआ था और आज ही तुम चल दो । यह तो ठीक पैसा ही हुआ जैसे पहली वर्षासे ठंदाए हुए वृक्षपर अचानक बिजली टूट पड़ी हो ॥ १६ ॥

विदूषक—जान पड़ता है कि बुद्ध और मैं विरतिर्या टूट पड़नेवालों हैं । तुम्हे तो अब यह मटक हो रहा है कि पत्थन पढ़नकर महाराज कहीं तपोवनको न चल दें ।

उर्वशी—मं वि मदभाइणि किदिविणअस्स पुत्तस्स लामाणंतरं समगरोहणेण अवसिद-
कजं विष्पथोअमुहं महाराओ समत्थइस्सदि । (मानपि मदभागिनी कृतवियस्य पुत्रस्य
लाभानन्तर स्वगाराहणेनावसितकार्या विप्रवागमुखी महाराजः समर्थयिष्यति ।)

राजा—सुन्दरी मा मैवम् ।

न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि प्रभवति पर्यत्ताशासने तिष्ठ भर्तुः ।

अहमपि तव सुनावद्य विन्यस्य राज्यं विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि ॥१७॥

कुमारः—नाहति तातः पुद्गवधारिताशं धुरि दन्वं नियोजयितुम् ।

राजा—अपि वत्स । मा मैवम् ।

शमयति गजानन्यान्गन्धद्विपः क्लमोऽपि सन्

भवति सुतरां वेगोदग्रं भुजङ्गशिरोर्धिषम् ।

भुवमधिपतिर्वलावस्थोऽप्यलं परिद्वितुं

न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः ॥ १८ ॥

आर्यं लातन्य ।

कन्धुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा—मद्वचनादमात्यपरिपदं ब्रह्मि सभ्रियतामायुषो राश्याभिपेक इति ।

कन्धुकी—यदाज्ञापयसि देवः । [इति दुःखितो निष्कान्तः ।]

उर्वशी—और मेरे जैसी अभागिनीके लिये भी महाराज यही सोचते होंगे कि पढ़ा-
लिखा पुत्र पानेसे इसका काम हो गया है इसलिये अब यह स्वर्गको चली जा रही है ।

राजा—ऐसा न कहो सुन्दरी ! तुम जिस पराधीनताके कारण मुझे छोड़कर जा रही
हो उससे मनचाही वस्तु तो मिल नहीं सकती इसलिये जाओ, तुम अपने स्वामीको आज्ञाका
पालन करो और मैं भी आज तुम्हारे पुत्रको राज्य सौंपकर इधर-उधर घूमनेवाले हरिणोंसे
भरे तपोवनमें जाकर रहने लगता हूँ ॥ १७ ॥

कुमार—पिताजी ! रथके जिस जुएको बधा देल खींचता हो उसे छोटेसे बड़ड़ेके
बन्धेपर डालना ठीक नहीं है ।

राजा—ऐसा न कहो वत्स ! जैसे ऊंची जातिके हाथोंका बधा भी दूसरे हाथियोंको
पढ़ाइ सकता है और संपोलेका विष बड़े सोंपके विष जैसा ही भयंकर होता है, वैसे ही
राजाका पुत्र, बालक होते हुए भी पृथ्वीका ठीकसे पालनकर सकता है क्योंकि अपने-अपने
कर्तव्य पालन करनेकी शक्ति अवस्थासे नहीं बरन् जाति या स्वभावसे ही उत्पन्न हो जाती
है । १८ ॥ आर्यं लातन्य !

कन्धुकी—आज्ञा दीजिए महाराज ।

राजा—मेरी ओरस अमात्य परिपदको सूचना दो कि आयुके राश्याभिपेकता प्रवन्ध
धिया जाय ।

कन्धुकी—जैसी महाराजकी आज्ञा । [दुःखी होकर चला जाता है]

सर्वे दृष्टिविपरीतं रूपयन्ति ।]

राजा—[आकाशमवलोक्य ।] किं नु सलु निरभ्रे विद्युत्संपातः ।

उर्वशी—[विलोक्य ।] अन्मो भयवर्षं गारदो । (वहाँ भगवान् नारदः ।)

राजा—[निपुणमवलोक्य ।] अये भगवान् नारदः । य एषः —

गोरोचनानिकपिङ्गजटाकलापः संलक्ष्यते शशिकलामलवीतमूत्रः ।

मुक्तागुणातिशयसंभृतमण्डनश्रीः हेमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः ॥ १६ ॥

अर्च्यं तावदस्मी ।

उर्वशी—[यथाकामादाय ।] इयं भयवदे अरिहणा । (इयं भगवतेऽर्चना ।)

[ततः प्रविशति नारदः । सर्वं उत्तिष्ठति ।]

नारदः—विजयतां विजयतां मध्यमलोत्सपालः ।

राजा—[उर्वशी हस्तादुर्ष्यमादायावर्षं च ।] भगवन्नभिवादये ।

उर्वशी—भयवर्षं पशुमामि । (भगवान् प्रणमामि ।)

नारदः—अचिरहिती दम्पती भूयास्ताम् ।

राजा—[आत्मगतम् ।] अपि नार्भयं स्यात् । [कुमारमाश्लिष्य प्रहास्यम् ।] वत्स भगवन्तमभिवादयस्व ।

कुमारः—भगवान् । शीर्षश्रेय आयुः प्रणमति ।

[सव हंगोरी आँसू चन्चोप हो जाती हैं ।]

राजा—[आकाशकी आर देखकर] मुझे आकाशमें यह विजली कैसी ?

उर्वशी—[देखकर] अरे ! ये तो भगवान् नारद हैं !

राजा—[ध्यानसे देखकर] हाँ, ये तो सचमुच भगवान् नारद ही हैं जो गोरोचनाके समान पीली जटावाले कन्येपर चन्द्रमाकी कलाके समान उजला जनेऊ पहने और मोलियोंकी माला गलेमें पहने हुए गेमे उतरे चले आ रहे हैं मानो सुन्दरी शारदाबाला कोई बल्लता फिरता कल्पवृक्ष उतरा चला आ रहा हो ॥ १९ ॥ लाथां, इनकी पूजा करनेके लिये सब सामग्री तो ले आओ ।

उर्वशी—[सब सामग्री लाकर] यह रही देवपिंकी पूजाके लिये सामग्री ।

[नारदजी प्रवेश करते हैं, सब उठ खड़े होते हैं ।]

नारद—मध्यम लोहरी रत्नायाने महाराजकी जय हो, जय हो ।

राजा—[उर्वशीके हाथसे पूजाका सामग्री लेकर और पूजा करके] भगवन् ! अभिवादन करता हूँ ।

उर्वशी—भगवान् ! मैं प्रणाम करती हूँ ।

नारद—तुम दोनोंका कर्मा विजोह न हो ।

राजा—[मन हा मन] यदि फर्की ऐसा हो जाता ! [कुमारसे गले लगाकर प्रहट] वत्स ! भगवान् नारदको प्रणाम करो ।

कुमार—भगवान् ! उर्वशीका पुत्र आयु आपको प्रणाम करता है

नारदः—आयुष्मानेधि ।

राजा—अयं विष्टरोऽनुगृह्यताम् ।

नारदः—तथा । [इत्युपविष्टः ।]

[सर्वे नारदमनूपविशन्ति ।]

राजा—[यकिनयम्] भगवन् किमागमन्प्रयोजनम् ।

नारदः—राजन् । श्रयतां महेन्द्रसन्देशः ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

नारदः—प्रभावदर्शी मयवा घनगमनाय कृतबुद्धिं भवन्तमनुशास्ति ।

राजा—किमाज्ञापयति ।

नारदः—त्रिकाण्डदर्शिभिर्मुनिभिराविष्टो महान्सुरासुरसंगरो भावी । भवोऽथ सांयुगीनः
सहायो नः । तेन न स्वया शत्रुं संन्यस्तव्यम् । इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी
भवत्विति ।

उर्वशी—[अपवार्यं ।] अन्महे सल्लं विञ्च मे हिञ्चआदो अवणीदं । (अहो शल्यमिव-
मे हृदयादपनीतम् ।)

राजा—परवानसि देवश्वरेण ।

नारद—सुम्हारी घड़ी आयु हो ।

राजा—देवर्षि ! आइए, यह आसन ग्रहण कीजिए ।

नारद—अच्छी बात है ।

[नारद मुनिके बैठनेपर सब बैठ जाते हैं ।]

राजा—[नम्रतावे] कहिए भगवान् ! कैसे आनेको कष्ट किया ?

नारद—इन्द्रने कुछ सन्देश भेजा है यह मुनिप—

राजा—मैं सुन रहा हूँ ।

नारद—अपनी देवी शक्तिसे सबके मनकी याँवें जाननेवाले इन्द्रने जब देखा कि आप
पन जानेकी तैयारी कर रहे हैं तो उन्होंने यह कहलाया है—

राजा—हाँ, उन्होंने क्या आज्ञा दी है ?

नारद—त्रिकालदर्शी मुनियोंने भविष्यवाणी की है कि देवताओं और राजसोंमें पड़ा
भारी संग्राम होनेवाला है और संग्राममें कुछल आप, हम लोगोंकी मद्दा सहायता करते हो
हैं इगलिये आप शत्रु न छोड़ें । यह उर्वशी जीवन भर आपकी संगिनी रहेगी ।

उर्वशी—[भयम्] मेरे जोका तो जैसे फाँटा निपल गया ।

राजा—मैं तो इन्द्रका मेथरु ही हूँ ।

नारदः—युक्तम् ।

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टमाचरेः ।

सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा ॥ २० ॥

[आकाशमब्लोक्च ।] रम्भे । उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेणसंभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्या भिषेकः ।

[प्रविष्टा यथोक्तहस्ताऽम्बरसः ।]

अम्बरसः—भयवं इमे अभिसेधसंभारा । (भगवन्नेतेऽभिषेकसंभाराः ।)

नारदः—उपवेश्यदामयमायुष्मान्मद्रपीठे ।

रम्भा—इदो वच्छ । (इतो बल्य ।) [इति कुमारं मद्रपीठ उपवेशयति ।]

नारदः—[कुमारस्य शिरसि कल्पनावर्यं ।] रम्भे । निवर्त्यतां शेषो विधिः ।

रम्भा—[यथोक्तं निर्वर्त्यं] वच्छ पणम भयवंतं विदरो थ । (बल्य प्रणम भगवन्तं पितरो च ।)

[कुमारो यथाक्रमं प्रणमति ।]

नारदः—स्थितिं भवते ।

राजा—कुलधुरंधरो भव ।

उदंशी—पितुणो आराद्धश्चो होहि । (विद्वरायश्च मर ।)

नारद—ठीक ही है—जैसे सूर्य अपने तेजसे अग्निको उकसाता है और अग्नि सूर्यको अपने तेजसे बढ़ाता है वैसे ही इन्द्र तुम्हारा काम करे और तुम इन्द्रका काम करो ॥२०॥ [आकाशकी ओर देखकर] रम्भा ! स्वयं इन्द्रने कुमार आयुके युवराज बननेके उत्सवके लिये जो सामगियाँ भेजी हैं वे सब ले तो आओ ।

[ऊपर कही हुई सामग्रियों लिए हुए अम्बरसे आती हैं ।]

अम्बरसे—महाराज, अभिषेककी सामग्री आ गई ।

नारद—आयुष्मान्को पीठे पर बैठाओ ।

रम्भा—इधर बस इधर, (कुमारको अच्छे पीठे पर बैठाती है ।)

नारद—(कुमारके शिरपर अभिषेक करके) रम्भाजी शेष विधि कीजिए ।

रम्भा—(विधि पूर्वक अभिषेक करती है) बल्य, महाराज नारद और माता पिताको प्रणाम करो ।

(कुमार क्रमसे प्रणाम करते हैं)

नारद—आपका फर्याद हो ।

राजा—कुलके प्रधान बनो ।

उदंशी—पिताके भक्त बनो ।

[नेपथ्ये वैतालिकद्वयम् ।]

वैतालिकौ—विजयतां युवराजः ।

प्रथमः—

अमरमुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽत्रेतिवेन्दुः

बुध इव शिशिरांशोर्बोधनस्येव देवः ।

भव पितुरचुरूपस्त्वं गुणैर्लोककान्तैः

अतिशयिनि समस्ता वंश एवाशिपस्ते ॥३१॥

द्वितीयः—

तव पितरि पुरस्तादुन्नतानां स्थितेऽस्मिन्

स्थितिमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्पधैर्ये

अधिकतरमिदानीं राजते राजलक्ष्मीः

हिमवति जलधौ च व्यस्ततोपेय गङ्गा ॥२२॥

अन्तरतः—[उर्वशीकथेय ।] दिट्टिआ पिअसही पुत्तरस जुवराअसिरीए भत्तणो अवि-
हेए अ बढढदि । (दिट्ठ्या प्रियवली पुत्रस्य युवराजभिषा गतुररिरेए न वर्धते ।)उर्वशी—यां साधारणो एसो अन्नुदधो । [कुमार दत्ते पक्षीःग ।] एहि वच्छ । जेट्ठमा-
दरं अभिबंदेहि । (ननु साधारण एवोऽनुदधः । एदि वस । जेट्ठमातरमभिन-दरा ।)

[कुमारः प्रतिष्ठते ।]

(नेपथ्ये दो वैतालिक)

दोनों—युवराजकी विजय हो ।

पहला वैतालिक—तुम अपने माता-पिताके वैसे ही योग्य पुत्र बनो जैसे ब्रह्माजीके सुपुत्र अमर मुनि अत्रिजी हुए, अत्रि मुनिके चन्द्रमा हुए, चन्द्रमाके बुध हुए और बुधके पुरुरवा हुए हैं । तुम्हारे इस जगसे निराले वंशमें और सब आशीर्षाद तो पहले ही फल चुके हैं ॥३१॥

दूसरा वैतालिक—ऊँचेसे ऊँचे लोगोंमें श्रेष्ठतुम्हारे पिता हैं और उनके तुम बड़े साहसी और मयीदा पालनेवाले पुत्र हो । तुम दोनोंमें एकसी भक्ति रखनेवाली यह राज्य-सदमी वसी प्रधार और भी क्षोभा देने लगी है जैसे हिमालय पर्वत और समुद्र दोनोंमें समान रूपसे भक्ति करने वाली गंगाजी क्षोभा देती हैं ॥ २२ ॥

अधरार्द—[उर्वशीके पास आकर] सखी उर्वशी पुत्रके यौवराज्याभिषेककी और सदा पतिके पास रहनेकी तुम्हें बधाई ।

उर्वशी—यह सीमाभ्य तो हम तुम दोनोंहाए-सा ही है । [कुमारका हाथ धामकर] चलो परत ! यही माँको प्रणाम कर आओ ।

[कुमार जानेका तैयार होता है ।]

राजा—तिष्ठ । सममेव तत्र भवत्याः समोपं यास्यामस्तावत् ।

नारदः—

आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते ।

अभिषिक्तं महासेनं सेनापत्ये मरुत्वता ॥ २३ ॥

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि मघवता ।

नारदः—भो राजन् । किं ते मूयः प्रियसुपकरोतु पाकशासना

पशा—यदि मे भयया प्रसन्नः किमतः परमिच्छामि । तथापि—इदमस्तु ।

[मरुतवाक्यम्]

परस्परविरोधिन्योरैकसंश्रयदुर्लभम् ।

सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ॥२४॥

अपि च ।

सर्वस्तरतुदुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्येत् ।

सर्वः कामानवामोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥२५॥

[इति निष्पन्नाः श्लोकाः ।]

इति पञ्चमोऽङ्कः ।

समाप्तमिदं श्रीकालिदासकृतं विक्रमोर्वशीयं नाम श्लोकम् ।

राजा—ठहरो, हम सब लोग साथ ही देवोके पास चलते हैं ।

नारद—तुम्हारे पुत्र आयुक्त यह यौराज्याभिषेक उस बरसवका स्मरण दिला रहा है जिसमें इन्द्रने फातिशेयको सेनापति बनाया था ॥ २३ ॥

राजा—यह सब भगवान् इन्द्रकी ही कृपा है ।

नारद—हे राजन् ! इन्द्र आपकी और कौन-सी इच्छा पूरी करें ।

राजा—इन्द्रकी प्रसन्नतासे बढ़कर और मुझे चाहिए ही क्या ? फिर भी मैं चाहता हूँ कि—

[मरुतवाक्य]

जो लक्ष्मी और सरस्वती सदा एक दूसरेसे पीठ फेरे रहते हैं और जिनका मिल कर रहना पड़ा फठिन है, वे दोनों, सज्जनोंके धर्याणके लिये एक साथ रहने लगे ॥ २४ ॥

और, सबकी आपत्तियों दूर हो जायँ, सब फलें फूलें, सबके मनोरथ पूरे हों और चारों ओर सुख ही सुख फैल जाय ॥ २५ ॥

[सब चले जाते हैं ।]

ॐ पाँचवाँ अंक समाप्त हुआ ॐ

॥ महाकवि श्री कालिदास रचा हुआ विक्रमोर्वशीय नामका श्लोक समाप्त हुआ ॥

मालविकाग्निमित्रम्

पात्र-परिचयः

पुरुषाः

- सूत्रधारः—नाटकस्य प्रबन्धकर्त्ता ।
 पारिषादकः—सूत्रधारस्य सहचरः ।
 राजा—अभिनित्रारयो विदिशाधीशः ।
 पाहतकः—प्राचीनमन्त्री ।
 विदूषकः—राज्ञो मित्रम् ।
 कञ्चुकी—अन्तःपुराध्यक्षो वृद्धमासम् ।
 गणदासः—हरदत्तस्य—नाट्याचार्यो ।
 सारसः—कुटजः । किङ्करविरोधः ।
 वैतालिकः—स्तुतिपाठकः ।

स्त्रियः

- मालविका—मालवाधीशमाधवसेनस्य भगिनी ।
 पारिणी—अग्निमित्रस्य प्रधाना महिषी ।
 श्रावती—अग्निमित्रस्य द्वितीया पत्नी ।
 परित्राजिहा—कौशिकी नाम्ना माधवसेनसचि-
 वस्य सुमतेर्विधवा भगिनी ।
 चक्रवर्तिनी—पारिषयाः परिचारिका ।
 भारती—भारतीविकायाः सती ।
 मधुकरी—वदानपांसिका ।
 कौमुदिका—दासी ।
 समाहितिका—पारिषाजिकायाः परिचारिका ।
 निपुणिका—श्रावत्याः परिचारिका ।
 जयसेना—प्रतीहारी ।
 चेट्टी—अपरा दासी ।
 मदनिका, } विदर्भदेशीय शिल्पकन्याद्वयम् ।
 ज्योत्सना च }

प्रथमोऽङ्कः

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रयातवहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः

कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयसनसां यः परस्ताद्यतीनाम्

अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुमिबिंश्रतो नामिमानः

सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामर्सां पृत्तिमीशाः ॥ १ ॥

[नान्यन्ते]

सूत्रधारः—अलमतिविस्तेरख [नेपथ्यभिमुखमखोत्थ ।] मारिप । इतस्तावत् ।

[प्रविश्य ।]

परिपाशकः—भाष । अयमस्मि ।

सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिपदा कालिदासप्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति । तदारभ्यतां संगीतम् ।

परिपाशकः—मा तावत् । प्रथितयशासं भाससौमिल्लकरविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानरुचेः कालिदासस्य क्रियायां कर्षं बहुमानः ।

पहला अङ्क

अपने भक्तोंको मनचाहा फल देनेका बेजोड़ भंडार अपने पास होते हुए भी जो केवल हाथीकी खाल ओढ़कर ही अपना काम चला लेते हैं, अपने आधे शरीरमें अपनी पत्नीको बैठाए रहनेपर भी जो संसारके भोगोंसे अपना मन दूर हटाए रहते हैं और अपने आठों रूपोंसे सारे संसारका पालन करते हुए भी जो अभिमानको पास नहीं फटकने देते, ऐसे संसारके स्वामी महादेवजी, पापकी ओर ले जानेवाली हमारी बुद्धिको ऐसा मिटा दें कि हमारा मन अच्छे काम करनेमें ही लगे ॥ १ ॥

[नान्दी हो चुकनेपर]

सूत्रधार—अप और देर नहीं करनी चाहिए [नेपथ्य की ओर देखकर] अरे भाई मारिप ! इधर तो आओ ।

परिपाशक—[आकर] लीजिए, आ गया हूँ, आर्य !

सूत्रधार—देखो ! विद्वानोंको समझाने कहलाया है कि इस वसन्तोत्सवपर कालिदासका लिखा हुआ मालविकाग्निमित्र नामका नाटक ही गेला जाय । इसलिये चलकर संगीत तो देखें ।

परिपाशक—आप यह नाटक क्यों गेले रहे हैं ? भास, सौमिल्लक और कविपुत्र जैसे बड़े-बड़े प्रसिद्ध कवियोंके नाटक छोड़कर आप आजकलके इस नौसितुप पत्रि कालिदासके नाटकको इतना क्यों सिर पदा रहे हैं ?

सूत्रधारः—अयि । विवेकविधान्तमभिहितम् । परय ।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नयमित्यवयम् ।

सन्तः परिक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥ २ ॥

धारिपार्श्वकः—आर्यमिश्राः प्रमाणम् ।

सूत्रधारः—तेन हि त्वरतां मघान् ।

शिरसा ! थमगृहीतामाज्ञामिच्छामि परिशदः कर्तुम् ।

देव्या इव धारिण्याः सैवादक्षः परिजनोऽयम् ॥ ३ ॥

[इति निष्पत्ती ।]

॥ इति प्रस्तावना ॥

[ततः प्रविशति बहुलावलिः ।]

बहुलावलिः—आणत्तम्हि देवीय धारणीय । अक्षरपत्रोत्तोरदेवं छलिअं याम एतृअं अन्दरेण कीरिसि मालविअत्ति एतृअरिअं अजगणदासं पुन्निद्धुं । ता दाव संगीदसालं गच्छम्हि । [अलापार्श्वक देव्या धारिण्या । अक्षरपत्रोत्तोरदेवं छलिअं नाम नाट्यमन्त्रेण कीदृशी मालविकेति नाट्याचार्यचार्यगणदासं प्रष्टुम् । तत्तावांसंगीतशालां गच्छामि । [इति परिक्रमति]

[ततः प्रविशत्याभरणदस्ता कुमुदिनी]

सूत्रधारः—अरे, यह यात तो तुमने अपनी बुद्धि तो विश्राम देकर फही है । देखो—पुराने होनेसे ही न तो सब अच्छे हो जाते हैं, न नये होनेसे सब बुरे हो जाते हैं । समझदार लोग तो दोनोंको परखकर उनमें से जो अच्छा होता है उसे अपना लेते हैं और जिन्हें अपनी समझ होती ही नहीं है, उन्हें तो जैसा दूसरे समझा देते हैं उसे ही वे ठीक मान बैठते हैं ॥ २ ॥

धारिपार्श्वकः—तो जैसा आप ठीक समझें ।

सूत्रधारः—हाँ, तो अब आप देर न करिए । सभाने मुझे पहलेसे ही जो आज्ञा दे रखी है, उसका मैं बैसे ही आदरके साथ पालन करता चाहता हूँ जैसे आदरसे यह स्वामी भक्त दासी अपनी स्वामिनी महारानी धारिणीकी आज्ञा पालन करने इधर चली आ रही है ॥ ३ ॥

[दोनों चले जाते हैं ।]

॥ प्रस्तावना ॥

[बहुलावलिः आती है ।]

बहुलावलिः—महारानी धारिणीने मुझे आज्ञा दी है कि जाकर नाट्याचार्य आर्य गणदाससे पूछो कि मालविकाने जो बहुत दिनोंसे छलिअ नामका नाट्य सीखना आरम्भ किया था उसे यह कदाँ तक सीख पाई है । तो चलो संगीतशालाको । [व्रतते है ।]

[हाथमें बैंगड़ी लिए हुए नीर उसकी ओर देखते हुए कुमुदिनी आती है ।]

बकुलावलि—[कुमुदिनीं दृष्ट्वा ।] हला कोमुनीए । कुदो दे दाखि इअं धीरदा । जं समीवेण वि अदिद्धमन्तो इदो टिटिठ ण देसि । (वलि कौमुदके । कुतस इदानीमिव धीरता । यत्सर्मापेनाप्रतिजामन्तीता दष्टि न ददासि ।)

कुमुदिनी—अहो वज्रतावलिआ । सहि देवीए इदं निष्पिअसासो आणीदं णाममुद्रा-सखाइं अङ्गलीअअं सिखिदं णिअन्ती तुह उवालम्भे पदिदम्हि । (अरो बकुलावलि । वलि देव्या इदं शिखिअसादानात् नाममुद्रासनाथमङ्गलायकं स्निग्धं निष्पायती, तत्रावालम्भे पतितारिम् ।)

बकुलावलि—[विनोक्त्य ।] ठाणे सज्जदि दिट्ठी । इमिणा अङ्गलीअएण उन्मीएण-किरणेसरेण कुमुमिणे विअ हे अगगहस्यो पडिभादि । (स्थाने उज्जति दष्टिः । अनेनाङ्गलीय-केनोद्धप्रकिरणेसरेण कुमुमित इव तेऽप्रस्तः प्रतिभाति ।)

कुमुदिनी—हला सहि पत्थिदासि । (वलि कुम प्ररिभतायि ।)

बकुलावलि—देवीए एहं वयणेण एहाआरिअं अज्जमणदासं पुच्छिदुं उवदेसमाइणे कोरिसी मालविण्णत्ति । (देव्या एव वचनेन नाट्याचार्यमार्गणदासं प्रष्टुप्रवेशमरणे । कीदृशी मालविकेत ।)

कुमुदिनी—सहि इरिसेण वाघारेण असणिहिदा वि सा एहं भट्टिणा दिट्ठा । (वली । इदंशेन ध्यापारेणासार्जितापि सा अर्थे मर्ता दष्ट्या ।)

बकुलावलि—आम् । सो लणो देवीए पाससदो चित्ते दिट्ठी । (आम् । उ वनी देव्याः पार्यगतवधने दष्टः ।)

कुमुदिनी—एहं विअ । (क्यमिव ।)

बकुलावलि—[कुमुदिनीं देवकर] कयो सरो कीमुदिवा ! ऐसी मी कया वातःई कि तुम मेरे इवने पाससे निकली अली जाती हुई भी श्वर देखती तक नहीं हो ?

कुमुदिनी—अरे ! तम हो बकुलावलि ! सरो ! अभी तुम्हारे यहाँसे महारानीकी यह नाममुद्रा जहाँ हुई अँगूठी लार्द हूँ । उसीसे ध्यानसे देख रही थी कि तुमने गट ताता फस दिया ।

बकुलावलि—[देवकर] मयमुच बड़ी योकी वस्तुवर तुम्हारी आँखें बलमी हैं । इस अँगूठीसे केसरके समान जो किरणें निकल रही हैं उनसे तुम्हारी अथेली मानो पूल उठी है ।

कुमुदिनी—क्यों सरो ! तुम जा श्वर रही थी ?

बकुलावलि—मैं भी महारानीके कहनेसे नाट्याचार्य गणदासजीसे यह पूछने जा रही थी कि मालविका कैसा मीन-बढ़ रही है ।

कुमुदिनी—क्यों सरो ! इतनी रोकटोक होते हुए भी महाराजने उसे देख-बैसे लिया ?

बकुलावलि—अरे ! यह चित्रों महारानीके पास बैठी हुई है न ! उसीसे महाराजने देख लिया ।

कुमुदिनी—बैसे ?

बकुलावलि—सुगु ! चित्तसालं गदा देवो जदा पद्ममदण्डरात्रं चित्तलेहं आश्रयि-
धस्त आलोचन्ती चिट्ठदि भट्टा अ उवट्ठिदो । (गृणु । चित्रशाला गता देवी यदा प्रवप्रव-
र्णरामा चित्रलेखामाचार्यस्याख्येकपन्ती तिष्ठति । मना चोपरिपतः ।)

कुमुदिनी—तदो तदो । (ततस्ततः ।)

बकुलावलि—उवआराणन्तरं एककासणोवविष्टेण भट्टिणा जित्तगदाए देवीए परिअण-
मज्जगदं आसणुदारिअं देविअश्च देवी पुच्छिदा । (उपचारानन्तरमैवापनापरिष्ठेन भर्ता
चित्रशालाया देव्याः परिजनमभ्यगतामासवदारिका दृष्ट्वा देवी पृथा ।)

कुमुदिनी—किं ति । (विमिति ।)

बकुलावलि—अपुत्रा इअं दारिअा देवीए आसणा आलिहिदा कियामहेएत्ति ।
(अपूर्वश दारिका देव्या भासता भालिता किं नामवेधेति ।)

कुमुदिनी—आकिद्विसेसेसु आशरो पदं करेत्ति । तदो तदो । (आकृतिविशेषभावरः
पदं कराति । ततस्ततः ।)

बकुलावलि—तदो अवहीरिअवअणो भट्टा संकिदो देवीं पुणोवि अणुवन्धोदुं । तदो
कुमारिए वसुअच्छीए आअक्किप्रदम् । अज्ज एसा मालविएत्ति । (ततोऽप्यधीरितवचनो भर्ता
शक्तितो देवीं पुनरप्यनुबन्धुम् । ततः कुमार्यां वसुलक्ष्म्याख्यातम् । भाव्यं एषा मालविकेति ।)

कुमुदिनी—[अस्मितम् ।] सरिसं वसु धालमाअरस । अदो अवर कहेहि । (उदया खलु
मालभावरम् । जतोऽप्यदं कथय ।)

बकुलावलि—किं अणं । संपदं मालविआ सविसेसं भट्टिणो दंसणपद्दादो रक्खी-
अदि । (निगन्वत् । साम्प्रत मालविका सविशेषं भृगुर्देवानवयाद्रक्षते ।)

बकुलावलि—सुन ! जब महाराजनीजी चित्रशालामें पहुँचकर चित्रकलाके आचार्यके
हाथके बनाव हुए गीले चित्रोंको देख रही थीं, उसी समय स्वामी भी वहाँ पहुँच गए ।

कुमुदिनी—तव, तव !

बकुलावलि—प्रणाम-आशीर्ष हो चुकनेपर महाराज भी महारानीके साथ एक ही
आसनपर बैठ गए । तब चित्रमें बनी हुई महारानीकी दासियोंमें पास ही खड़ी हुई
कन्याको देखकर महाराजने यह पूछा—

कुमुदिनी—क्या ?

बकुलावलि—कि चित्रमें देवीके पास बैठी हुई यह कौन सुन्दर लड़की है ?

कुमुदिनी—सुन्दरकी ओर सदाका मन खिंच ही जाता है । हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

बकुलावलि—देवीको चुप देखकर स्वामीका माथा ठनका और उन्होंने फिर वही बात
हुहराई । इसी बीच कुमारी वसुलक्ष्मी बोल उठी—आर्य ! यह मालविका है ।

कुमुदिनी—[मुस्कराती हुई] बच्ची ही तो ठहरी । हाँ, तो फिर क्या हुआ ?

बकुलावलि—और हीमा क्या ? अब मालविकापर ऐसा कड़ा पहरा पड़ गया है कि
उसे महाराजके आगे आने ही नहीं दिया जाता ।

कुमुदिनी—हला अगुचिटठ अत्तणो णिओअं । अहं वि एदं अङ्गलीअअं देवीए उवण-
इसं । (सति अनुतिष्ठात्मना नियोगम् । अहमप्येतदङ्गुलीयकं देव्यामुपनेष्यामि ।)

[इति निष्क्रान्ता ।]

बकुलारलिका—[पणिकस्यावलोक्य ।] एसो एट्टाअरिओ संगीदसालादो णिग्गच्छदि ।
जाय से अत्ताणं दंसेमि । (एष नाट्याचार्यः संगीतशालातो निर्गच्छति । आरदरा आत्मान
दर्शयामि ।) [इति परिक्रामति ।]

[प्रविश्य ।]

गणदासः—कामं यत्तु सर्वस्यापि कुलविद्या बहुगता । न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्या-
गौरवम् । तथाहि ।

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुपं
स्त्रेणोदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।
त्रैगुणयोद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम् ॥ ४ ॥

बकुलारलिका—[उपेय ।] अज्ज वन्दामि । (आय वन्दे ।)

गणदासः—भद्रे चिरञ्जीव ।

बकुलारलिका—अज्ज देवो पुण्डुदि अवि उपदेसगहखे एादिकीनिरसदि वो सिस्ता
मालविपत्ति । (आर्यं देवी पृच्छत्युपरदेशग्रहणे नातिक्लिष्टनाति वः शिष्या मालविकेति ।)

कुमुदिनी—अच्छा सती ! जाओ तुम भी करो अपना काम, श्रीर में भी जाकर यह
अँगूठी महारानीको दे आती हूँ [चली जाती है ।]

बकुलारलिका—[पूजक, देवस्य] नाट्याचार्येजी तो संगीतशालासे निम्ले इधर ही
चले आ रहे हैं । चलो इनसे मिल लूँ । [पूजता है ।]

गणदास—[आकर] यों तो सभी अपने-अपने घरनी विद्याको सजसे अच्छा समझने
हैं पर हम लोग जो अपने नाट्यविद्याका इतना अभिमान करते हैं वह मूढा नहीं है,
क्योंकि मुनि लोगोंका कहना है कि यह नाट्यतो देवताओंकी आँसोंमें सुहानेवाला यज्ञ है ।
स्वयं महादेवजीने ही उमासे विवाह करके अपने शरीरमें इसके दो भाग कर लिए हैं, एक
ताण्डव और दूसरा लास्य । हममें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण भी दिखलाई पड़ते हैं
और अनेक रसोंमें लोगोंके चरित्र भी दिखाई पड़ते हैं इसीलिये अलग-अलग रुचिवाले
लोगोंके लिये प्रायः नाटक ही एक ऐसा उत्सव है जिसमें सबको एक सा ध्यानन्द
मिलता है ॥ ४ ॥

बकुलारलिका—[धामे वदन्] आर्ये, प्रणाम ।

गणदास—बहुत दिन जीओ भद्रे !

बकुलारलिका—आर्य ! महारानीने पूजा है कि नाट्य सीखनेमें आपकी शिष्या माल-
विका आपका भाषा तो बहुत नहीं पाटती ।

गणदासः—भद्रे विद्याप्यतां देवी परमनिपुणा मेधाविनी चेति । किं बहुना ।

यद्यत्प्रयाग्निये भायिकमुपदिश्यते मया तस्यै ।

तत्तद्विशेषरूपात्प्रत्युपदिशतीय मे बाला ॥ ५ ॥

बकुलावलि—[अस्मगतम् ।] अदिष्यगती विश्व इरावदि पेक्षामि । [प्रकाशम्]

किदृथा दाणिं वो सिस्ता जाए गुरुधर्यो एवं तुस्तादि । (शतिक्रान्तीनिवेरावती पर्यामि ।
वृताधेदानी वः शिष्या यस्या ! वजन एवं त्थ्यति ।)

गणदासः—भद्रे तद्विधामसुलभत्वात्पृच्छामि । कुतो देव्या तत्प्राप्तमानोतम् ।

बकुलावलि—अस्ति देवीए वरुणावरौ भावा वीरसेणो नाम । सो भद्रिणा सुम्भदा-
तीरे अन्तबालदुग्गे ठाविदो । तेण सिप्पाहिधारे जोगा इत्थं धारिण्ति भणिअ भइणोए
देवीए उवाअणं पेसिदा । (अस्ति देव्या वर्णावरौ भाता वीरसेनो नाम । स भर्ता नर्मदातीरेऽन्त-
पालदुग्गे स्थापितः । तेन सिहराधिकारे बोधेय दारिणेति भणित्वा भनिष्या देव्या उपायनं प्रेषिता ।)

गणदास—[स्वगतम्] आकृतिविशेषप्रत्ययादेनामनूनधस्तुकां संभावयामि । [प्रकाशम्]

भद्रे मयापि यशस्विना भवितव्यम् । यतः ।

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं ब्रजति शिल्पभाधातुः ।

जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥ ६ ॥

बकुलावलि—अज्ज कदि दाणिं वो सिस्ता । (धार्यं कुत्रेदानी वः शिष्या ।)

गणदासः—इदानीमेव पञ्चाङ्गादिकमभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता
दीर्घिकावलोकनगयाज्ञगता प्रयातमासेवमाना तिष्ठति ।

गणदास—भद्रे ! महारानीसे कह देना कि यह षडो चतुर और समझदार है । और
क्या कहें, मैं जो जो भाव उसे सिखलाता हूँ उन्हें जब वह और भी सुन्दरताके साथ करके
दिखाने लगती है तब ऐसा-जान पड़ता है मानो वह उल्टे मुझे ही सिखा रही हो ॥ ५ ॥

बकुलावलि—[मन ही मन] जान पड़ता है कि यह इरावतीको तो पढ़ाई ही देगी ।
[प्रकाशम्] धन्य है आपकी वह शिष्या जिसके गुरु उससे इतने प्रसन्न हैं ।

गणदास—भद्रे । ऐसे शिष्य मिलते कहाँ हैं ! इसीलिये तो मैं तुमसे पूछता हूँ कि
देवीको यह मिल कहाँ से गई ?

बकुलावलि—देवीके एक वीरसेन नामके दूरके भाई हैं उन्हें महाराजने नर्मदा तीर-
पाले अन्तपाल दुर्गकी देख-रेखका काम सौंप रक्खा है । उन्होंने ही अपनी वहिन धारिणी
देवीके पास इस कन्याको यह कहलाकर भेज दिया है कि यह गाने बजानेका काम भली
भँसि सीख सकेगी ।

गणदास—[मन ही मन] पर रूप-रंगसे तो यह किसी ऊँचे घरानेकी जान पड़ती है,
क्योंकि सिखानेवालेकी कला अच्छे ही शिष्यके पास पहुँचकर उस प्रकार खिलती है जैसे
बादलका जल समुद्रको सोपीमें पहुँचकर मोती बन उठता है ॥ ६ ॥

बकुलावलि—क्यों ध्याये ! आपकी शिष्या इस समय है कहाँ ?

गणदास—अभी उसे पाँचों अंगोंका अभिनय सिखाकर मैंने उसे थोड़ा विश्राम करनेको
कहा है । इसलिये वह सरोवरकी ओरवाला खिड़कीपर बैठी बयार ले रही है ।

बकुलाबलि—तेण हि पुणो अणुजाणाहु मं अज्जो । जाय से अज्जसस परितोसणिवेद-
सोण उस्साहं वड्ढेमि । (तेण दि पुनरनुजानानु माणायः । यादस्या आर्यस्य परितापनिवेदनो-
त्साह वक्ष्यामि ।)

गणदासः—दृश्यतां सखी । अहमपि लब्धचरणः स्वगृहं गच्छामि ।

[इति निष्पत्ती ।]

॥ मिश्रविष्कम्भकः ॥

[ततः प्रविशत्येकान्तस्थितपरिजनो मन्त्रिणा लेखहस्तेनान्वाहरमानो राजा ।]

राजा—[अनुयाचितलेखममात्यं विलोक्य] बाह्यतः किं प्रतिपद्यते वैदर्भः ।

अमात्यः—देव आत्मविनाशम् ।

राजा—संदेशमिदानीं श्रोतुमिच्छामि ।

अमात्यः—इदमिदानीमनेन प्रतिलिखितम् । पूज्येनाहमादिष्टः । भवतः पितृव्यपुत्रः
कुमारो माधवसेनः प्रतिश्रुतसंचन्धो समोपान्तिकगुणसंपन्नन्तरा त्वदीयेनान्तणलेनापस्त्रन्ध
गृहोक्तः । स त्वया मदपेक्षया सकलत्र सोदर्यं मोक्षय्य इति । एतन्ननु धो विदितम् । यत्तु-
ल्याभिजनेप राज्ञां वृत्तिः । अतोऽन मध्यस्थः पूज्यो भवितुमर्हति । सोदरा पुनरस्य ब्रह्मण-
विप्लवे विनष्टा । तदन्वेषणाय प्रयतिष्ये । अथवा अथरयमेव माधवसेनो मया पूज्येन
मोक्षयित्तव्यः श्रूयतामभिसंधिः ।

बकुलाबलि—तो आप मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं उसे यह कहकर उतसाहित करूँ कि
आप उससे इतने प्रसन्न हैं ।

गणदास—हाँ हाँ, जाकर मिलो अपनी सखीसे । मैं भी छुट्टी पाकर अपने घर जा रहा
हूँ । [दोनों जाते हैं ।]

॥ मिश्र विष्कम्भक ॥

एकान्तमें अपने समस्तदोषों के साथ राजा बैठे हुए हैं और मंत्री अगते हाथमें एक पत्र लिख
हुए हैं ।]

राजा—[मंत्री जब पत्र बीच चुके तब] क्यों बाह्यतः । विदर्भके राजा चाहते क्या हैं ?

अमात्य—अपना सत्यानाश, देव !

राजा—अच्छा, पढ़कर तो मुनाओ उनका संदेश ।

अमात्य—उन्होंने यह लिखकर भेजा है आपने जो मुझे यह धर्या दी थी—कि
“आपके पंचेरे भाई कुमार माधवसेन पहलेसे पत्रके लिए संबंधके अनुसार मुझसे अपनी
यह्न व्याहनेके लिये जब पने आ रहे थे तो बीचमें ही आपके राज्यकी सीमाके ररा-
घालोंने उन्हें पकड़कर बांध लिया है । उन्हें आप मेरे पहलेसे ही और पहलेके साथ छोड़
दोजिए ।” इस संबंधमें मुझे यह पटना है कि आप पढ़े हैं और यह भी आप मंत्री मोंवि
जानते हैं कि समान वंशवाले राजाओंने हमड़े जैसे निपटाने चाहिये । इमलिये आप चाहें
तो हम लोगोंका बीच-बिबाच कर सकते हैं । हाँ, इस घर-पकड़ में माधवसेनकी यह्न कर्ष

मौर्यसचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम् ।

मोक्ता माधवसेनस्ततो मया यन्धनात्सद्यः ॥ ७ ॥

इति ।

राजा—[सरोपम् ।] कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः । बाह्यक प्रहृत्य-
मित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः । तथातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसंकल्पितसमुन्मूलनाय वीर-
सेनसुरं दृष्टव्यकमाज्ञापय ।

अमात्यः—यदाज्ञापयति देवः ।

राजा—अथवा किं भवान्गन्धते ।

अमात्यः—शास्त्रदृष्टमाह देव ।

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिव्यरूढमूलत्वात् ।

नवसरोपणशिथिलस्तरुविव 'सुकरः समुद्धर्तुम् ॥ ८ ॥

राजा—तेन ह्यवितथं तत्ररार वचनम् । इदमेव वचनं निमित्तमुपादाय समुद्योग्यतां
सेनाधिपतिः ।

अमात्यः—तथा । [इति निष्कान्तः]

[परिक्रमा यथाभार राजानमभितः स्थितः ।]

[प्रविश्य ।]

रो गई है । मैं उसे खोजनेका भी जतन करूँगा और आप भी यदि माधवसेनको छोड़ना
चाहते हों तो आप मेरी इतनी बात मान लीजिए कि आपने मेरे सामने मौर्य सचिवको जो
पकड़ रक्खा है उसे यदि आप छोड़ दें तो मैं भी माधवसेनको अभी छोड़ दूँगा ॥ ७ ॥

राजा [कोपय] क्या वह ढीठ मुक्ते इस प्रकार बदलेका व्यवहार करना चाहता है ।
देखो बाह्यक ! यह विदर्भका राजा स्वभावसे ही मेरा शत्रु है और जो कुछ मैं कहता हूँ,
उसका ठीक उल्टा ही किया करता है । इसलिये वीरसेनके नायकत्वमें जितनी सना है
उसे आज्ञा दो कि जाकर उसे जड़से उखाड़ फेंके, क्योंकि हम लोग पहले ही संकल्प कर
चुके हैं कि ऐसे लोटे शत्रुको उखाड़ फेंकना ही ठीक है ।

अमात्य—जैसी देवकी आज्ञा ।

राजा—पर इसमें आपकी क्या सम्मति है ?

अमात्य—देवने तो पहले ही शास्त्री बात कह दी है—जो शत्रु अभी गद्दीपर बैठा हो
घौर जो भली प्रकार अपनी प्रजामें जड़ न जमा सका हो वह नये रोपे हुए दुर्बल
पौधेके समान बड़ी सरलताके साथ उखाड़ा जा सकता है ॥ ८ ॥

राजा—तब तो शास्त्रकी बात यहाँ ठीक लागू हो रही है । इसलिये शास्त्रके इसी वचनके
आधारपर सेनापतिको तैयार करो ।

अमात्य—अच्छी बात है । [चला जाता है ।]

[एक वक्त्र राजाके चारों ओर खड़े हुए अपना-अपना काम कर रहे हैं ।]

विदूषकः—आणतोन्हि तत्तभयदा रणणा । गोदम चिन्तेहि दाव उवाचं । जह जादिच्छादिद्वप्पदिदिदी मालविआ पक्कत्तदसणा होहित्ति । मए अ तं तदा किदं दाव णिवेदेमि । (आशप्तोऽस्मि तत्त भयता राजा । गौतम चिन्तय ताजहुपायम् । यया मे दहच्छाह तित्तिर्मांल्लयिका प्रायशदर्शना भयतीति । मया च तत्तथा कृतं तावदस्मै निवेदयामि ।) [परिश्रामति ।]

राजा—[विदूषक दृष्ट्वा ।] अयमपरः कार्यान्तरसचिवोऽस्माकमुपस्थितः ।

विदूषकः—[उरगम्य ।] बहद्बहु भय । (बर्षता भयत ।)

राजा—[सशिरःकम्पम् ।] इत आस्थताम् ।

[विदूषकः उपविष्टः ।]

राजा—अपि कश्चिदुपेयोपायदर्शने व्यावृत्तं ते प्रज्ञाचक्षुः ।

विदूषकः—पशोअसिद्धिं पुच्छ । (प्रयोगविद्धिं पृच्छ ।)

राजा—एथमिव ।

विदूषकः—[कर्णं] एवमिव । (एवमिव ।)

राजा—साधु वयस्य निपुणमुपक्रान्तम् । इदानीं दुरधिगमसिद्धावप्यस्मिन्नारम्भे वयम शंसामहे । कुतः—

अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायमानेन ।

दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि ॥ ६ ॥

[नेत्रपथे ।]

विदूषक—[आरम्भ] मुझे महाराजने आज्ञा दी थी कि गौतम । कोई ऐसा उपाय सोच निकालो कि जिस मालविकाको मैंने अचानक चित्रमें देख लिया है उसे मैं अपनी आँखों से देख पाऊँ । मैंने उसके लिये जो ढंग निकाला है चलकर उसे अभी महाराजको बता रहा हूँ । [प्रमत्ता ।]

राजा—[विदूषकको देखकर] लो हमारे दूसरे कामोंके मंत्री भी आ पहुँचे ।

विदूषक—[पाठ पढ़कर] बधाई है ।

राजा—[तिर हिलकर] आज्ञा यहाँ बैठो [विदूषक घेन जाता है ।]

राजा—बहो, जिससे मिलनेके लिये हम तड़प रहे हैं उससे मिलनेका कोई उपाय तुम्हारे बुद्धिमें आया या नहीं ?

विदूषक—अजी, यह पूछिए कि हमने काम बनाया कैसे है ।

राजा—कैसे, कैसे ?

विदूषक—[कानों] ऐसे ।

राजा—याह मिय ! तुमने बड़ी चतुराईका काम किया है । यह काम है तो बड़ा टेढ़ा, पर तुमने जैसा आरंभ किया है उससे तो कुछ कुछ आशा हो चली है । क्योंकि झंझटवाले कामोंमें जब कोई साथी मिल जाय तो समझ लेना चाहिए कि अथ काम धन गया । क्योंकि आँखोंवाला मनुष्य भी अँधेरेमें बिना दीपके कुछ नहीं देख सकता ॥ ९ ॥

[नेत्रपथे]

अलं बहु विकल्प्य । राज्ञः समक्षमेवापयोरधरोत्तरयोर्बर्चस्किर्मविष्यति ।

राजा—[आकर्ष्य ।] सखे त्वत्सुनीतिपादपस्य पुष्पमुद्भिन्न्म् ।

विदूषकः—फलं वि अहरेण दक्षितस्ससि । (फलमभ्याचरणं द्रक्षति ।)

[ततः प्रविशति वन्दुनी ।]

कञ्चुकी—देव देव अमास्यो विज्ञापयति । अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा । एतो पुनहरदत्तगण-
दासौ ।

उभावमिनयाचार्यां परस्परजयैपिसौ ।

त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद्भावावित्र शरीरिसौ ॥ १० ॥

राजा—प्रवेशय तौ ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इति निष्क्रम्य ताम्बां सह प्रविश्य ।] हत इतो भयन्ती ।

गणदासः—[राजानं विलोक्य ।] अहो दुरासदो राजमहिमा ।

न च न परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैमि तथापि पारर्षमस्य ।

सलिलनिधिरिव प्रतिक्षर्यं मे भयति स एव नवो नवोऽयमक्षयोः ॥ ११ ॥

वस-वस, अपनी बरुवाद् रहने दो । अभी महाराजके सामने ठीक-ठीक पता चल जाता है न, कि हम दोनोंमें कौन छोटा है कौन बड़ा ।

राजा—[मुनहर] लो मित्र ! तुम्हारी नीतिके पेड़में फूल तो दिखाई देने लगे ।

विदूषक—थोड़ी ही देरमें फल भी देखिएगा ।

[कञ्चुकी आता है ।]

कञ्चुकी—देव ! मंत्रीजी कहते हैं कि आपकी आज्ञाका पालन हो गया । और अभिनयके दोनों आचार्य हरदत्त और गणदास आपसमें एक दूसरेको हरानेकी ठानकर आपसे मिलनेके लिये बाहर खड़े हुए ऐसे लग रहे हैं मानो स्वयं नाटकके भाष ही शरीर धारण करके चले आए हों ॥ १० ।

राजा—ले आओ दोनोंको भीतर ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा [बाहर जाकर दोनोंके ले आता है ।] इधरसे आइए आप लोग, इधरसे ।

गणदास—[राजाको देखकर] वाह, क्या कहने हैं राजाके सेवकके भी ! इनके तो पासतक पहुँचना दूभर लग रहा है क्योंकि—ऐसी बात नहीं है कि इनसे पहलेसे जान पहचान न हो या ये देखनेमें भयंकर लगते हों, फिर भी न जाने क्यों मुझे इनके पास जाते हुये बड़ी हिचक हो रही है । समुद्रके समान ज्योंके त्यों रहते हुए भी ये मेरी आँखोंकी पल-पलमें गये-नये से दिखाई पड़ रहे हैं ॥ ११ ॥

हरदत्तः—महत्त्वत्तु पुरुषाकारमिदं ज्योतिः तथाहि ।

द्वारे नियुक्तपुरुषाभिमतप्रवेशः सिंहासनान्तिकचक्षरेण सहोपसर्पन् ।

तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टिपातैर्व्याघ्रादृते पुनरिव प्रतिवास्तिोऽस्मि ॥ १२ ॥

कञ्चुकी—एष देवः । उपसर्पता भवन्ती ।

उभौ—[उपस्य] विजयता देवः ।

राजा—स्वागतं भवद्भ्याम् । [परिजन विलोक्य] । आसने तावदत्रभवतो ।

[उभौ परिचिन्नापनीतयारासनयाचमिष्ठौ ।]

राजा—किमिदं शिष्योपदेशकाले युगपदाचार्याभ्यामत्रोपस्थानम् ।

गणदासः—देव श्रयताम् । मया सुतीर्थादभिनयविद्या सुरारिक्ता । दत्तप्रयोगव्यासिम् ।

देवेन देव्या च परिगृहीतः ।

राजा—यादं जाने । ततः किम् ।

गणदासः—सोऽहमनुना हरदत्तेन प्रधानपुरुषसमक्षमयं मे न पादरजसापि तुल्य इत्यधिच्छिप्तः ।

हरदत्त —देव अयमेव प्रथमं परिवादकरः । अत्रभवत किल मम च समुद्रपल्लवयोरिषान्तरमिति सत्रभवानिमं मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु । देव एव नो विरोपक्ष प्राश्निकः ।

हरदत्त—पुरुषके रूपमें राजाका तेज सचमुच बड़ा प्रभावशाली है । क्योंकि यद्यपि द्वारपातने मुझे यहाँतक पहुँचा दिया है और मैं इनके सिंहासनके पास रहनेवाले कञ्चुकीके साथ ही भीतर भी आया हूँ फिर भी इनके तेजसे मेरी आँखें इतनी चौधियों गई हैं मानो बिना रोके ही मैं यद्दनेसे रोक दिया गया हूँ ॥ १२ ॥

कञ्चुकी—लीजिए ये हैं देव ! आप लोग आगे बढ़ जाइए ।

दोनों—[आगे बढ़कर] देवजी जय हो ।

राजा—आप दोनोंका स्वागत है ! [सेरफ़ा देखकर] आप लोगोंके लिये आसन तो लाओ ।

[सेवकोंके रूप हुए आसनोंपर दोनों बैठते हैं ।]

राजा—कहिए, यह तो शिष्योंको पढ़ानेका समय है । इस समय आप दोनों आचार्य एक साथ कैसे आ पहुँचे ?

गणदास—सुनिए देव ! मैंने बड़े योग्य गुरुसे विद्या सीखी है और इतने दिनोंसे सिरा भी रहा हूँ । देव और देवीने मेरी विद्यारा आदर भी किया है ।

राजा—हाँ, यह तो मैं जानता हूँ । तो दृष्टा क्या है ?

गणदास—आज इन हरदत्तजीने एक बड़े राजपुरुषके आगे यह हाँगी होंकी है कि गणदास तो मेरे पैरोंकी धूलके बरानर भी नहीं हूँ ।

हरदत्त—देव ! इन्होंने ही पहले मेरी निन्दा की है और यह कदा है कि हमारे और हरदत्तमें तो समुद्र और गड़हीका अन्तर है । इसलिए अब आप ही इनके और मेरे शास्त्र ज्ञानकी ओर दिखानेका धतुराईकी शय्य परीक्षा पर लें । क्योंकि आपही परीक्षक होकर यह बता सकेंगे कि हम दोनोंमें कौन बड़ा है ।

विदूषकः—समर्थं पश्यणादं । (समर्थं प्रतिज्ञातम् ।)

गणदासः—प्रथमः कल्पः । अवहिता देवः श्रोतुमर्हति ।

राजा—तिष्ठ यायत् । पक्षपातमत्र देवी मन्यते । तदस्याः परिडित-कौशिकीसहितायाः समक्षमेव न्याय्यो व्यवहारः ।

विदूषकः—सुदृ भयं भणादि । (सुष्टु भवाग्भगति ।)

आचार्यो—यद्देवाय रोचते ।

राजा—मौद्गल्य अमुं प्रस्तापं निवेश्य परिडितकौशिक्या सार्धमाहूयतां देवी ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इति निर्णय्य उपरिजात्रिक्या देव्या तद् प्रविष्टः ।] इत् इतो भयती ।

धारिणी—[परिजात्रिकां विलोक्य ।] भद्रघदि हरदत्तस्य गणदासस्य अ संरम्भं कर्हं पेक्षसि । (भगवति हरदत्तस्य गणदासस्य च संरम्भे कथं पश्यति ।)

परिजात्रिका—अलं स्वपक्षावसादशङ्कया । न परिहीयते प्रतिवादिनो गणदासः ।

धारिणी—जइ वि एव तद् वि राजपरिगद्दो पहायत्तणं उवहरदि । (यद्यप्येवं तथापि राजपरिग्रहः प्रधानत्वमुपहरति ।)

परिजात्रिका—अयि राज्ञीशब्दभाजनमात्मानमपि चिन्तयतु भयतो । पश्य ।

अतिमात्रमासुस्त्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः ।

अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिगृहीतः ॥ १३ ॥

विदूषक—बात तो ठीक कही ।

गणदास—यही सही । तो देव सावधान होकर सुन ।

राजा—अभी ठहरो । यदि हम निर्णय करेंगे तो देवी समझेंगी कि हमने पक्षपात किया है इसलिये उनके और पंडिता कौशिकीके सामने ही निर्णय किया जाना चाहिए ।

विदूषक—यह तो आप ठीक कह रहे हैं ।

दानों आचार्य—जैसा देव ठीक समझे ।

राजा—मौद्गल्य ! पंडिता कौशिकी और महारानीको सब बातें बताकर यहाँ बुला तो लाओ ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा । [जाता है और परिजात्रिका तथा महारानीको लेकर आता है ।] इधरसे आइए देवी इधरसे ।

धारिणी—[परिजात्रिका की ओर देखकर] क्यों भगवती ! हरदत्त और गणदासके झगड़ेमें आप किसकी जीत सोचती हैं ?

परिजात्रिका—आप अपने पक्षके हारकी तो बात ही न सोचिए । गणदास कभी अपने जोड़ बालेसे नहीं हार सकते ।

धारिणी—यह ही ठीक है । फिर भी राजा जितपर कृपा कर दें, वह तो जीत तो जायगा ।

परिजात्रिका—अजी ! आप यह स्मरण रखिए कि आप भी महारानी हैं । देखिए—जैसे सूर्यकी कृपासे धूम्रिमें बहुत चमक आ जाती है, वैसे ही रातकी कृपा पाकर चन्द्रमामें भी बहुत चमक आ जाती है ॥ १३ ॥

विदूषक—अइ उअट्ठदा देवी पीठमहिअं पण्डितअकोसिइं पुरोकरिअ तत्तमोदी धारिणी । (अयि उअसिता देवी पीठमदिआ पण्डितकौशिकीं पुरस्सत्य तन्मवती धारिणी ।)

राजा—परयाम्येनाम् । यैषा—

मङ्गलालंकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया ।

त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया ॥ १४ ॥

परिव्राजिका—[उषेय] विजयतां देवः ।

राजा—भगवति अभिवाद्ये ।

परिव्राजिका—

महासारप्रसवयोः सदृशचमयोर्द्वयोः ।

धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम् ॥ १५ ॥

धारिणी—जैदु जैदु अज्जउत्तो । (जयतु जयजयंपुत्रः ।)

राजा—स्वागतं देव्यै । [परिव्राजिका विलोक्य ।] भगवति क्रियतामासनपरिग्रहः ।

[सर्वं उपविशन्ति ।]

राजा—भगवत्यत्र भयतोर्द्धरदत्तगणदासयोः परस्परं वितानसङ्घर्षिणोर्भगवत्या प्राश्रिक-पदमध्यासितव्यम् ।

परिव्राजिका—[सस्मितम्] अलमुपालम्भेन । पत्तने सति प्रामे रजपरीक्षा ।

विदूषक—लो, महारानी धारिणीजी अपनी साथिन पंडिता कौशिकीको साथ लिए हुए इधर चली आ रही हैं ।

राजा—हाँ, देख तो रहा हूँ कि साधुनीके वेशवाली कौशिकीके साथ सुन्दर वस्त्राञ्छोर आभूषणोंसे सजी हुई महारानी ऐसी दिखाई पड़ रही हैं मानो अध्यात्म विद्याके साथ तीनों वेदोंकी देवी शरीर धारण किए हुए चली आ रही हो ॥ १४ ॥

परिव्राजिका—[पाठ जाकर] देवीकी जय हो ।

राजा—भगवती ! अभिवादन करता हूँ ।

परिव्राजिका—सैकड़ों शरदौतिक, महातेजस्वियोंको उत्पन्न करने वाली उन पृथ्वी और धारिणी देवीके आप स्वामी बने रहें जिनमें सहज करनेकी शक्ति एक जैसी ही है ॥ १५ ॥

धारिणी—जय हो, आर्यपुत्रकी जय हो ।

राजा—देवीका स्वागत है । [परिव्राजिकाकी ओर देखकर] आइए, बैठिए भगवती !

[सब बैठते हैं ।]

राजा—भगवती ! आचार्य हरदत्त और गणदास आज एक भगड़ा लेकर आए हैं कि हम दोनोंमें कौन अधिक योग्य है । अब आपही इनका झगड़ा निपटाइए ।

परिव्राजिका—[मुग्धराग] ठिठोली न कीजिए । भला नगरके होते हुए यहीं रत्नकी परस्त्र गाँवमें की जाती है ?

राजा—नैतदेवम् । पण्डितकौशिको सलु भगवती पञ्चपातिनावहं देवी च ।

आचार्यो—सम्यग्वाह देवः । मध्यस्था भगवती नै शुणदोपतः परिच्छेत्तुमर्हति ।

राजा—तेन हि प्रस्तूयतां विवादः ।

परित्राजिका—देव प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम् । किमत्र वाग्व्यवहारेण । कथं वा देवी मन्यते ।

देवी—जहं मं पुच्छसि तदा एदासुं विवादो एव न मे रोञ्जति । (यदि मा पृच्छसि तदैतयोर्विवाद एव न मे रोञ्चते ।)

गणदासः—देवि न मां समानविधया परिभवनीयमवगन्तुमर्हसि ।

विदूषकः—भोदि पेक्खामो उदरंभरिसंवादं किं मुहा वेञ्जणदाणेण एदेसुं । (भवति पश्याम उदरंभरिसंवादम् । किं मुयाः वेतनदानेनैतेपाम् ।)

देवी—णं कलहपिओसि । (ननु कलहप्रियोऽसि ।)

विदूषकः—मा एव्वं । चण्डि अरणोएणकलहपिआणं मत्तहत्थीणं एकदरसिं अण्णिज्जिदे कुदो उवसमो । (मैवम् । चण्डि अन्योन्यकलहप्रिययोर्मत्तहस्तिनोरेक्तरस्मिन्ननिर्गिते कुत उपशमः ।)

राजा—ननु स्वाङ्गसौष्ठवतिशयमुभयोर्दृष्टवती भगवती ।

परित्राजिका—अथ किम् ।

राजा—तदिदानीमतः परं किमाभ्यां प्रत्याययितव्यम् ।

राजा—नहीं, ऐसी बात नहीं है । आप ठहरो पंडित कौशिकी, और हम तथा देवी ठहरे आचार्योंके पञ्चपाती ।

दोनों आचार्य—यह तो देवने ठीक कहा । पञ्चपातसे दूर रहने वाली भगवती ही हमारे शुण-श्लोप ठीक-ठीक जांच सकेंगी ।

राजा—तो आप लोग शास्त्रार्थ बलाइए ।

परित्राजिका—देव ! नाट्यशास्त्रकी जांच तो करके दिखानेसे होती है । इसलिये कोरी बात-चीतसे लाभ क्या होगा ? क्यों देवी ! ठीक है न ?

देवी—मुझसे पूछा जाय तो मुझे इनका भगड़ा ही नहीं सुहाता है ।

गणदास—देवी ! आप यह न समझें कि मैं नाट्य-विद्यामें किसीसे पीछे रह जाऊंगा ।

विदूषक—तो देवी ! देख ही क्यों न लिया जाय इन दोनों पेटुओंका फरतब ? नहीं तो इन्हें वेतन दे-देकर पालनेसे लाभ ही क्या है ?

देवी—हाँ, हाँ मुझे तो लड़ाई-भगड़ा ही अच्छा लगता है ।

विदूषक—नहीं, ऐसा न कहिए बंदी ! इन दो लड़ाकू हाथियों में से जबतक एक की हार नहीं हो जायगी तब तक ये ठट्टे कैसे होंगे ?

राजा—भगवती ! आपने तो इन लोगोंके अभिनयकी चतुरता देखी ही होगी ?

परित्राजिका—हाँ, देखी है ।

राजा—उध इससे बढ़कर ये अपनी कुशलताका और क्या प्रमाण देंगे ।

परिभाषिका—उदेवचक्रुःकामास्मि ।

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥ १६ ॥

विदूषकः—सुदं अज्जेहिं मअषदीए वअणं । एसो पिण्डितत्थो उवदेसदंसणादो णिण्णओ
सि । (श्रुतमार्थंश्चा भगवत्या वचनम् । एष पिण्डितार्थ उपदेशदर्शनानिर्णय इति ।)

हरदत्तः—परममिमतं नः ।

गणदासः—देवि । एवं स्थितम् ।

देवी—जदा उण मन्दमेघा सिस्सा उवदेसं मल्लिण्णन्ति तदा आश्वरिअस्स ए दोसो ।

(यदा पुनर्मन्दमेघा शिष्या उपदेश मलिनयन्ति तदाऽऽचार्यस्य न दोषः ।)

राजा—देवि । एवमापठ्यते । विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिबोधं प्रकाशयतीति ।

देवी—[जगन्तिन्म् ।] कहं दाणि । [गणदासं विलोक्य प्रकाशम् ।] अळं अज्जउत्तस्स
असाहकारणं मणोरहं पूरिअ । विरम एरत्थआदो आरम्भादो । (पथमिदानीम् । अलमा-
र्यपुनस्तोसाहकारणं मनोरथं पूरयित्वा । विरम निरर्थकदारम्भात् ।)

विदूषकः—सुट्टु भोदी भणादि । भो गणदाम संगीदपदं लम्भिअ सरस्सईए उवाअणमो-
दआणं खादमाएस्स किं दे मुहणिग्घेण विवादेण । (मुट्टु भवती भगति । भो गणदास संगीत-
पदं लब्ध्वा सरस्वतुपायनमोदकान्त्वादतः किं ते मुननिग्रहेण विवादेन ।)

परिभाषिका—मैं बतातो हूँ न ! देविण ! कोई गुणी तो ऐसे होते हैं जो अपने गुणको अपने आप भली भाँति जानते हैं । और कुछ ऐसे होते हैं जो अपने गुण दूसरोंको सिखानेमें यद्दे चतुर होते हैं पर सच्चा गुणी वही है जिसमें ये दोनों बातें हों । और ऐसी ही गुणीको सबसे अच्छा समझना भी चाहिए ॥ १६ ॥

विदूषक—[दोनों आचर्यो मे] आप लोगों ने भगवतीकी बातें सुन लीं न ! इसका अर्थ यह निराला कि आप लोगोंने अपने शिष्योंकी जैसा सिखाया है वही देखकर आप लोगोंकी अच्छाईकी जाँच की जायगी ।

हरदत्त—यही तो हम भी चाहते हैं ।

गणदास—तो यही रहे देवी !

देवी—पर यदि कोई मोटी समझवाली शिष्या नाटकको दिखाइ दे तो इसमें आचार्यका क्या दोष है ?

राजा—देवी ! हमने कहाँ पढ़ा है कि यदि गुरु अपनी विद्या देनेके लिये निष्कन्ता शिष्य धुने तो समझ लेना चाहिए कि गुरुको भी कुछ ध्याता जाता नहीं ।

देवी—[अलम] अथ क्या हो ? [गणदासका देखकर भगट] आर्यपुत्रको असाह दिला-
नेशाला यह समझा छोड़ो । तुम क्यों यह बैयानना काम सिर ले रहे हो ?

विदूषक—आप ठीक कहती हैं । देखो गणदास ! जब तुम बैठे-बैठे संगीतके अध्यापक बने हुए, सरस्वतीजीको चढ़ाए हुए सड़-हूँरा हो रहे हो, तब तुम ऐसी ठाँप-ठाँप माल हो क्यों लेते हो जिसमें तुम्हारा मुँह बन्द हो जाय ।

गणदासः—सत्यजनयमेवार्थो देवीवाक्यस्य । श्रूयतामवसरप्राप्तमिदानाम् ।

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तित्तमाणस्य परेण निन्दाम् ।

यस्यागमः केवलजीविकार्यै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥ १७ ॥

देवी—अश्रोवणीदादे स्मिस्ता । अवारणित्ठिदस्त उवदेसस्त षण अण्णाण्यं पञ्चासणं ।

(अचिरोपनीता शिष्या ते अपरिमिद्धितस्योपदेशस्य पुनरन्यार्यं प्रकाशनम् ।)

गणदासः—अत एव मे निर्वन्धः ।

देवी—तेण हि दुबेवि भअवदीए उवदेसं वंसेध । (तेन हि श्रावणि भगवत्यायुपदेशं दर्शयतम् ।)

परिव्राजिका—देवि नैतान्याप्यम् । सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय ।

देवी—[जनान्तिक्म् ।] मूढे परिव्राजिणं मं जाभ्गतिपि मुत्तं विअ करेसि । (मूढे परिव्राजिके मा जात्रतीमपि मुत्तामिणं करोविणं) [इति साक्ष्यं परावर्तते ।]

[राजा देवीं परिमलिकार्यै दर्शयति ।]

परिव्राजिका—

अनिमित्तमिन्दुवदने किमत्र भवतः पराङ्मुखी भवसि ।

प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारुण्यकोपाः कुटुम्बिन्यः ॥ १८ ॥

गणदास—महारानीकी बातका तो सचमुच यही अर्थ निकलता है । जब बात आ ही पड़ी है तो मैं भी कहे देता हूँ । मुनि—जो अध्यापक नौकरी पा लेनेपर शास्त्रार्थसे भागता है, दूसरोंके उंगली उठाने पर भी चुप रह जाता है और केवल पेट पाउनेके लिये विद्या पढ़ाता है । ऐसे लोग पंडित नहीं, धरन् ज्ञान बेचनेवाले बनिष कहलाते हैं । १७ ॥

देवी—तुम्हारी शिष्या अभी थोड़े ही दिनोंसे तो सीखने लगी है । इसलिये बिना पक्की किए उसे यहाँ नाटक करानेके लिये लाना सचमुच बड़ा अन्याय होगा ।

गणदास—पर इन्हीं कारणोंसे तो मैं और भी उसे यहाँ लानेका हठ कर रहा हूँ ।

रानी—तो तुम दोनों अपने-अपने सिखानेकी चतुराई अकेले भगवतीकी ही दिखाओ ।

परिव्राजिका—यह ठीक नहीं होगा देवी । कोई कितना भी बड़ा पंडित क्यों न हो, पर यदि वह अकेले न्याय करने बैठता है तो उसके निर्णयमें भूल हो ही जाती है ।

देवी—[अलन] अरी मूर्ख परिव्राजिका तू मुझ जागती हुईको भी सोती हुई धना देना चाहती है । [दाससे मुँह फेर लेती है]

[राजा परिव्राजिकाको संकेतसे रानीका भाव दिखाता है ।]

परिव्राजिका—हे चंद्रमाके समान मुखवाली ! तुम बिना बात ही महाराजसे क्यों मुँह फेरे बैठी हो । जो अच्छे कुलवाली स्त्रियाँ होती हैं उन्हें यद्यपि अपने पतियोंपर सभी अधिकार होते हैं फिर भी जब उन्हें रूठना होता है तो वे कोई न कोई कारण निकालकर ही अपने पतिसे रूठती हैं ॥ १८ ॥

विदूषकः—एवं सकारणं घृण्व । अत्तणो पक्खो रभिरखुब्बो । [गणदासं विलोक्य ।]
दिट्ठिआ कोवव्वाजेण देवीए परितापो भवं । सुसिक्खिदो वि सत्तो उव्वेसदंसणेण
णियद्दादो होदि । (ननु सकारणमेव । आत्मनः पथो रक्षितव्यः । दिष्ट्या कोपव्याजेन देव्या परि-
भ्रातो भवान् । मुचिष्ठितोऽपि सर्वं उपदेशदर्शनेन निष्णातो भवति ।)

गणदासः—देवि श्रयताम् । एवं जनो गृह्णाति । तदिदानीम् ।

विवादे दर्शयिष्यामि क्रियासंक्रान्तिमात्मनः ।

यदि मां नानुजानासि परित्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ॥ १६ ॥

[इत्यासमाहुत्यातुमिच्छति ।]

देवी—[स्वगतम्] का गई । [प्रकाशम् ।] पहवदि आआरिओ सिस्सजणस्स । (का
गतिः । प्रभवत्याचार्यः शिष्यजनस्य ।)

गणदासः—चिरमपदेशशङ्कितोऽस्मि । [राजानमवलोक्य ।] अनुज्ञातं देव्या । तदाज्ञा-
पयतु देवः कस्मिन्नभिनयवस्तुनि प्रयोगं दर्शयिष्यामि ।

राजा—यदादिशति भगवती ।

परित्राजिष्य—किमपि देव्या मनसि वर्तते ततः शङ्कितारिम् ।

देवी—भण्ण षीसद्धं । पहवदि प्पहू अत्तणो परिअणस्स । (भग विसन्धम् । प्रभवति
प्रभुरारमनः परिषनस्य ।)

विदूषक—चे कारणसे ही तो रुठ रही हैं । उन्हें अपने पक्ष को तो रक्षा करने ही चाहिए ।
[गणदासको देखकर] जाइए, यड़ा भाव्य है आपका कि महारानीने रुठनेके पहाने आपको
बचा लिया । पर देखो, चाहे कोई कितना भी बड़ा पंडित हो पर उसकी चतुराई उसके
शिष्योंका फलतय देखकर ही जानी जाती है ।

गणदास—सुनिम देवो ! जब ऐसी-ऐसी बातें पढ़ी जा रही हैं तो श्रय में यही दिररत्ता
देना चाहता हूँ कि मैंने अपने शिष्योंको अपनी विद्या कैसे सिखाई है । और यदि आप
मुझे इस समय आज्ञा नहों देंगी तो मैं यही समझूंगा कि आपने मुझे अपने यहाँसे निकाल
दिया ॥ १९ ॥ [अपने आसनसे उठना चाहता है ।]

देवी—[मन ही मन] श्रय और चारा ही क्या है ! [प्रकट] शिष्य तो आचार्यके ही
हाथमें हैं ।

गणदास—मैं इतनी देरसे रुक रहा था कि महारानी कहीं रोक न दें [राजाको देखकर]
देवोने आज्ञा दे दी है, इसलिये श्रय देव भी आज्ञा दें कि मैं आपको कौनसा अभिनय
दिखलाऊँ ।

राजा—जो भगवती कहें ।

परित्राजिष्य—देवी कुछ बहना चाहती हैं इसीसे मैं हिपक रही हूँ ।

देवी—नहाँ आप निबर होकर कहिए । सेवकोंकी तो अपने स्वामीकी आज्ञा माननी ही
होती है ।

राजा—मम चेति ब्रूहि ।

देवी—भगवद्भि भण्येदाणीम् । (भगवति भण्येदानीम् ।)

परिव्राजिका—देव शर्मिष्ठायाः कृति चतुष्पादोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति । तत्रैकार्थसंश्रयमुभयोः प्रयोगं पर्यामः । तावता ज्ञायत एवात्रभवतोरुपदेशान्तरम् ।

आचार्यो—यदाज्ञापयति भगवती ।

विदूषकः—तेण हि दुवे वि घग्गा पेक्खाघरे संगीदरअणं फरिअ तत्तभवदो दूदं पैसअह अहवा मुदह्णसदो एव्व खो उत्यावइस्सदि । (तेन हि द्वापपि वगौ प्रेक्षापदे संगीतरचना कृत्वा तत्रभवतो दूर्तं प्रेषयतम् । अथवा मृदङ्गशब्द एव न उरपापयिष्यति ।)

हरदत्तः—तथा । [इत्युच्छिति ।]

[गणदासो धारिणीमवलोकयति ।]

देवी—[गणदास विलोक्य ।] विअइ भोदु अजो । णं विअअनमत्थिणी अहं थज्जस्स । (विजयी भवत्यर्थः । ननु विजयाम्परिग्यहमार्यस्य ।)

[आचार्यो प्रक्षिपती ।]

परिव्राजिका—इतस्त्वावत् ।

आचार्यो—[परिवृत्त्य ।] इमौ स्वः ।

राजा—और मुझे आपकी आज्ञा माननी है, यह भी जोड़ दीजिए ।

देवी—भगवती ! अथ आप कह ड़ाहिए ।

परिव्राजिका—महाराज ! शर्मिष्ठाका बनाया हुआ चौपदोंवाला छलिक नामक अभिनय बड़ा कठिन बताया जाता है । उसीके किसी एक भाषमें दोनोंका अभिनय देख लेंगे और उसीसे यह पता चल जायगा कि आप लोगोंने अपने-अपने शिष्योंको कैसा सिखलाया है ।

दोनों आचार्य—जैसी भगवतीकी आज्ञा

विदूषक—तो आप दोनों नाटक घरमें चलकर सब संगीतका साज जुटाइए और सब हो चुकनेपर किसी दूतसे यहाँ कहला दीजिएगा । या फिर मृदंगकी धमक सुनकर ही हम लोग उठकर चले आबेंगे ।

हरदत्त—अच्छी बात है । [उठता है ।]

[गणदास धारिणीकी ओर देखता है ।]

देवी—[गणदासको देखकर] आपकी विजयी हो । मैं सचमुच चाहती हूँ कि आपकी विजय हो ।

[दोनों आचार्य जानेको उद्यत ।]

परिव्राजिका—इधर तो सुनिए ।

दोनों आचार्य—[लौटकर] कहिए, आ गए हम लोग ।

परिव्राजिका—निर्णयाधिकारे ब्रवीमि । सर्वाङ्गसीष्टवामिव्यक्तये विगतनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु ।

आचार्यो—नेदमाद्ययोरुपदेशम् । [इति निष्कातो ।]

देवी—[राजानमवलोक्य ।] जह् राश्रकृज्जेषु ईरिसी उवाअणित्तण्णदा अज्जत्तस्स तदो सोहणं भवे । (यदि राजकार्येष्वीदृशुपायनिपुणतायंपुत्रस्य ततः घोभनं भवेत् ।)

राजा—

अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्विनि मया प्रयुक्तमिदम् ।

प्रायः समानविद्याः परस्परयशः पुरोभागाः ॥ २० ॥

[नेपथ्ये मृदङ्गध्वनिः । सर्वे कर्णं ददति ।]

परिव्राजिका—हन्त । प्रवृत्तं संगीतम् । तथा होषा—

जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।

निर्हादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥ २१ ॥

राजा—देवि तस्याः सामाजिका भवामः ।

देवी—[स्वगतम् ।] अहो अविणश्रो अज्जत्तस्स । (अहो अग्निाय आयंपुत्रस्य ।)

[सर्वे उच्छिद्यन्ति ।]

परिव्राजिका—देविण, मुझे निर्णयना अधिकार दिया गया है इसलिये मैं यह बात देना चाहती हूँ कि पत्रों के सब अँगों के हाव-भाव ठीक-ठीक दिखाई देने चाहिये इसलिये आप लोग अपने पत्रोंको बहुत सजा-धजाकर न लाइएगा ।

दोनों आचार्य—यह कहनेको आवश्यकता नहीं थी ।

देवी—[राजा को देखकर] यदि आर्यपुत्र अपने राज्यकी देवमाला करनेमें इतनी पला लगाते तो कितना अच्छा होता !

राजा—देवी ! तुम कुछ और न समझ बैठना । इसमें मेरा कोई हाथ नहीं है । देखो, जो लोग एक ही विद्यावाले होते हैं, वे कभी एक दूसरेकी मदती नहीं सह सकते हैं ।

[नेपथ्यमें मृदङ्गकी ध्वनि । सब मुनते हैं ।]

परिव्राजिका—अरे लो ! छोटाने सो संझोव छेड़ भी दिया । देखो ! मृदङ्गके शब्दकी मेपोंकी गरज समझकर ये मोर ऊपर मुँह करके देखने लगे और दूरतक गूँजनेवाली यह मध्यम स्वरसे उठी हुई मायूरी नाभिकी गमक मनको मतवाला बनाए डाल रही है ॥२१॥

राजा—कल्पिए देवी ! चलकर देखा जाय ।

देवी—[मनही मन] आह ! आर्यपुत्र भी कैसे ढोठ हैं !

[सब उठ खड़े होते हैं ।]

विदूषकः—[अपशर्य ।] भो धीरं गच्छ । तत्तमोदो धारिणी विसं वाद्इस्सदि । (भोः धीरं गच्छ । तत्रभवती धारिणी विसंवादयिष्यति ।)

राजा—

धैर्यावलम्बिनमपि त्वस्यति मां मुरजवाद्यरागोऽयम् ।
अथतरतः सिद्धिपथं शब्दः स्वमनोरथस्येव ॥ २२ ॥

[इति निष्कान्ताः सर्वे ।]

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥

विदूषकः—[अलग] अजी, धीरे-धीरे चलिये । कहाँ देवी धारिणी सय गड़वड़-घोटाला न फर दें ।

राजा—मैं बहुत धीरे ही चल रहा हूँ फिर भी मुरजसे निकला हुआ यह राग मुझे इस प्रकार जल्दी चला रहा है मानो मेरा मनोरथ ही मुझे पुकारकर बुला रहा हो कि आओ मुझ्दारा काम बन गया है ॥ २२ ॥

॥ पहला अंक समाप्त हुआ ॥

द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति संगीतरचनायां कृतत्वामासनस्थो राजा सगरस्थो धारिणीं परित्राजिम्
चिमस्तश्च परिवारः ।]

राजा—भगवत्प्रभवतोराचार्ययोः प्रथमं कतरस्थोपदेशं ब्रूयामः ।

परित्राजिका—ननु समानेऽपि ज्ञानवृद्धभावे ययोवृद्धत्वाद् गणदासः पुरस्कारमर्हति ।

राजा—तेन हि मीद्गल्य एवमत्रभवतोरावेद्य नियोगमशून्यं कुरु ।

कन्धुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इति निष्क्रान्तः ।]

[प्रविश्य]

गणदासः—देव शर्मिष्ठायाः कृतिर्लयमध्या चतुष्पदास्ति । तस्यास्तु छलिकप्रयोगमेक-
नाः श्रोतुमर्हति देवः ।

राजा—आचार्य ! बहुमानादवहितोऽस्मि ।

[निष्क्रान्तो गणदासः ।]

राजा—[ज्ञान्तिरुम् ।] वयस्य ।

नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्या ।

संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम् ॥ १ ॥

दूसरा अङ्क

[संगीतशास्त्रमें विद्वानके साथ राजा, परित्राजिका, राजा धारिणी
और राजा राज-परिवार बैठा दिताय देता है ।]

राजा—इन दोनों आचार्यों में से पहले किसका सिराया हुआ नाटक देखा जाय ।

परित्राजिका—यद्यपि दोनोंको नाट्यशास्त्रका एक सा ही ज्ञान है फिर भी आचार्य
गणदास अवस्थामें पड़े हैं इसलिये पहले उन्होंने प्रयत्न मिलना चाहिए ।

राजा—सो मीद्गल्य । जाओ, आचार्योंको यह बात बताकर तुम अपना काम देखो ।

कन्धुकी—जैसी देवकी आज्ञा । [गण जाता है]

[गणदास प्रवेश]

गणदास—देव ! शर्मिष्ठाने मध्य-लयमें एक चौपदा बनाई है । प्रार्थना है कि देव
वसमें के छलिकश्रुले अभिनयको मन लगाकर सुनें ।

राजा—आचार्य ! मैं बड़े आदरमें ऊपर ध्यान लगाए हुए हूँ ।

[गणदास गण जाता है ।]

राजा—[आग्य] मित्र ! परदेके पीछे जो मेरी प्यारी रखी है, उसे देखनेके लिये मेरी
आँखें ऐसी द्वापल्लो हो गयी हैं मानों वे इस अधीरतामें परदेको ही हटानेपर मुक्त
मर्द हों ॥ १ ॥

विदूषकः—[अपवार्यं ।] उवाचिदं णअणमहु संणिहिदमविस्सअं च । ता अप्पमत्तो दाणि पेक्ख । (उपस्थितं नयनमगु संनिहितगाञ्छिक च । तदप्रमत्त इदानीं पश्य ।)

[ततः प्रविशत्याचार्यवेदपमाणाङ्गवीडरा मालविका ।]

विदूषकः—[जनान्गिकम् ।] पेक्ख टुं ए क्खु से पडिच्छन्ददो परिहीअवि मधुरदा । (पश्यतु भवान् । न स्वस्त्याः प्रतिबन्धनात्परिशीयते मधुरता ।)

राजा—[अपवार्यं ।] वयस्य ।

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम् ।

संप्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥ २ ॥

गणदासः—वत्से मुक्तसाध्वसा सख्यस्था भव ।

राजा—[आत्मगतम् ।] अहो सर्वस्थानानवचता रूपविशेषस्य । तथाहि ।

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं याहू नतावंसयोः

संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्थे प्रमृष्टे इव ।

मध्यः पाणिमितो नितम्बिजघनं पादावरालाङ्गुली

छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः ॥ ३ ॥

मालविका—[उपगान कृता चतुष्पदवस्तु गायति ।]

दुल्लहो पिञ्चो मे तस्मिं भव द्विअअ गिरासं

अम्हो अपङ्गयो मे परिप्फुरहं किं वि वामअो ।

विदूषक—[अलग] लीजिए न ! आपकी आँखोंकी मधु तो आ गई, पर मधुमक्खी भी पास ही बैठी है, इसलिये थोड़ी सावधानीसे धर देखिएगा ।

[मालविका आती है । उसके अंगोंके हाव-भावका देवभाव आचार्य कर रहे हैं ।]

विदूषक—[अलग] देखिए, देखिए । यह जैसी चित्रमें सुन्दर लगती थी, उससे किसी प्रकार कम सुन्दर नहीं है ।

राजा—[अलग] वयस्य ! चित्रमें इसकी सुन्दरता देखकर मैं अपने मनमें यह समझ रहा था कि यह सचमुच इतनी सुन्दरी नहीं होगी । पर इसे देखकर तो मैं यही सोचने लगा हूँ कि चित्रकारने ही ठीक ध्यानसे इसका चित्र नहीं बनावा । २ ॥

गणदास—घबराओ मत वत्से ! सब्बी रहो ।

राजा—[मन ही मन] वाह ! यह तो सिरसे पैरतक परदम सुन्दर है । क्योंकि इसकी बड़ी-बड़ी आँखें, चमकता हुआ शरदके चन्द्रमा जैसा मुख, कन्धोंपर थोड़ी मुकी हुई मुजाएँ, उभरते हुए कड़े स्तनोंसे लज्जी हुई छाती, चिकनी-चिकनी बोरें, मुट्ठीभर की कमर, मोटी, मोटी जाँघें और थोड़ी-थोड़ी मुकी हुई दोनों पैरोंकी रंगलियों वस ऐसी जान पड़ती हैं मानो इसका शरीर इसके नाट्यगुरु गणदासजीके कहनेपर ही गढ़ा गया होगा ॥ ३ ॥

[पहले अल्प भ्रमर चार पदोंका गाना गाती है ।]

[गीत]

दुर्लभ प्रिय है, हृदय ! छोड़ दे तू मिलनेकी आशा ।

पर क्यों पायीं नैन पङ्कता, गुह्य गुह्य लेकर आशा ।

एतो सो चिरदिदो कहे उण उवणइदव्वो

णाह मं पराहीणं तुई परिगणअ सतिणहम् ॥ ४ ॥

(दुर्लभः प्रियो मे तस्मिन्मय हृदय निराश-

महो अपाङ्गो मे परिस्फुरति किमपि वागः ।

एष स चिरदृष्टः कथं पुनश्चपनेतव्वो

नाथ मा परापीना त्वयि परिगणय चतृष्णाम् ॥)

[ततो यथारसमभिनयति ।]

विदूषकः—[जगन्ति स्म ।] भो बयस्स ! चउणवत्थुअं दुवारीकरिअ तुई उवहायिदो
अप्पा तत्तदोदीए । (भो वयस्य । चतुष्पादनस्तु क द्वारीकृत्य तन्मुपस्थापित आत्मा तत्रभवत्या ।)

राजा—सरे एवमेव ममापि हृदयम् । अनया रल्लु ।

जनमिममनुरक्तं निद्रि नाथेति गेये वचनमभिनयन्त्याः स्वाङ्गनिर्देशपूर्वम् ।

प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिरुपादहभिव सुकुमारप्रार्थनाध्याजमुक्तः ॥ ५ ॥

[मालविका गीतान्ते निष्क्रमितुमारब्धा ।]

विदूषक. भोदि चिट्ठ । किंवि वो विसुमरिदो कन्भभेदो । त दाय पुच्छिस्सम् । (भरति
तिष्ठ । किमपि वा विसृजतः कर्मभेदः । तं तावत्प्रदायामि ।)

गणदास —वत्से । तुणनात्रं स्थितोपदेशविशुद्धा यास्यसि ।

[मालविका निवृत्त्य स्थिता ।]

बहुत दिनोंपर देख रही हूँ; पर कैसे अपनाऊँ ।

नाथ ! विश्र हूँ पर अपनी ही समझो, मैं बलि जाऊ ॥ ४ ॥

[गीतके भावके अनुसार नाट्य करती है ।]

विदूषक—[गलप] लो बयस्य । इन्होंने तो इस चार चरणचाले गीतके वहाने आपपर
अपनेको न्यौछावर कर डाला ।

राजा—मैं भी यही समझता हूँ कि इसने 'नाथ विश्र हूँ पर अपनी ही समझो' गीत
गाते हुए अपनी ओर सकेत करके जो अभिनय किया है वह इसीलिये कि महारानी धार-
णीको पास देखकर इसने समझ लिया कि प्रेम दिखानेका कोई दूसरा उपाय तो है नहीं,
इसलिये एक सुकुमार युवकसे प्रेमकी भोच भोगनेके भावजाला यह गीत गाकर इसने सच-
मुच मुझसे ही सब कुछ कहा है ॥ ५ ॥

[गा चुकनेपर मालविका चली जाना चाहती है ।]

विदूषक—ठहरिए देवी ! आप बीचमें कुछ गूल गर्द हूँ, वही मैं पूछना चाहता हूँ ।

गणदास—वत्से ! थोड़ी देर रुक जाओ और जब यहाँ सब लोग भलीभाँति समझ लें
कि तुमने ठीकसे नाट्य सीख लिया है । तभी जाना ।

[मालविका लौटकर राई हो जाती है ।]

राजा—[आलाप्यम्] अहो सर्वास्वपरयासु चारुता शोभान्तरं पुप्यति यथा हि—
वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे

कृत्वा श्यामाविटपतदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।

पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातितानं

नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्थम् ॥ ६ ॥

देवी—सुं गोदभवयणं वि ध्वजो हित्यए करेदि । (ननु गौतमवननमप्यायं हृदये करोति ।)

गणदासः—देवि मा मैवम् । देवप्रत्ययास्तंभान्यते सूहृमदर्शिता गौतमस्य । परय ।

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः ।

पङ्कच्छिदः फलस्यैव निक्रमेणाविलं पयः ॥ ७ ॥

[विदूषक विलोक्य ।] चच्छृणुमो यथं विचक्षितमार्यस्य ।

विदूषकः—[गणदास विलोक्य ।] कोसिई हाथ पुच्छ । पच्छा जो मय मम्मभेदो दिट्ठो सं भणिसं । (कौशिकी तावत्पुच्छ । पश्चात्ता मया मम्मभेदो दृष्टस्त भणिस्यामि ।)

गणदासः—भगवति यथादृष्टमभिधीयतां गुणो दोषो वेति ।

परित्राजिका—यथादृष्टं सर्वमनवद्यम् । कुतः—

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्पगर्धः

पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।

राजा—[मन ही मन] अहा ! इसे जिधरसे देरो, उधरसे ही यह मनोहर लगने लगती है । इतने अपना हाथ अपने नितम्बपर रख लिया है, इसलिये हाथका कड़ा पहुंचे-पर रुककर चुप हो गया है । दूसरा हाथ श्यामाकी डालीके समान ढीला लटक चुका है । नीची आंखें किए हुए यह अपने पैरके अंगूठेसे धरतीपर बिखरे हुए फूलोंको सरका रही है । इस प्रकार खड़ा होनेसे इनके ऊपरका शरीर लम्बा और सीधा हो गया है । नाचनेके समय भी यह ऐसी सुन्दर नहीं लगती थी जैसी अब लग रही है ॥ ६ ॥

देवी—क्या आर्य गणदास भी गौतमकी बात सब मान बैठे हैं ?

गणदास—देसा न कहिए देवी ! महाराजके साथ रहहे-रहते गौतम की आंखें भी भले-बुरेकी ठीक पहचान करने लागी हैं । सुनिए ! विद्वानोंकी सङ्गतिमें बैठकर मूर्ख भी उसी प्रकार विद्वान् बन जाता है जैसे निर्मलके बीचसे मटमैला पानी स्वच्छ हो जाता है ॥ ७ ॥

[विदूषकका देवकर] हम भी सुनें आप क्या पूछना चाहते थे ?

विदूषक—[गणदासका देवकर] आप पहले कौशिकीजोसे पूछ देलिये— मैं पीछे बतलाऊंगा कि भूल कहाँ हुई है ।

गणदास—भगवती ! आपने जहाँ जैसा गुण या दोष देखा हो सब कह डालिये ।

परित्राजिका—मैंने तो जो देखा उसमें कहाँ दोष दिखाई ही नहीं दिया । क्योंकि गीतकी सब बातोंका ठीक-ठीक अर्थ अंगोंके अभिनयसे भली-भाँति दिखा दिया गया । इनके पैर

शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुष्ठानौ

भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥ ८ ॥

गणदासः—देवः कथं वा मन्यते ।

राजा—यथं स्वपत्तिसिथिलाभिमानाः संवृत्ताः ।

गणदासः—अद्य नर्तयित्वास्मि । कृतः—

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः ।

श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु ॥ ९ ॥

देवी—दिट्टिया अपरिक्लपदाराहणोण अजो बड्डइ । (दिट्टियापरिक्लपदराधनेभावो वर्धते ।)

गणदासः—देवीपरिमद् एव मे वृद्धिहेतुः । [विदूषक विबोध्य] गीतम वदेदानीं यत्ते मनसि वर्तते ।

विदूषकः—पढमोवदेसदंसणो पढमं चम्हणस्स पूजा कादच्चा । सा णं वो विसुनरिदा । (प्रथमोपदेशदहने प्रथम ब्राह्मणस्य पूजा स्तंभ्या । सा ननु वा निसृया ।)

परिभाषिका—अहो प्रयोगभ्यन्तरः प्रश्नः ।

[सर्वे प्रहसिताः । मालाविश्रमिन्त करोति ।]

भी लयके साथ-साथ चल रहे थे । फिर गीतके रसमें भी ये तन्मय हो गई थीं । और इनके नृत्यने भी हमें प्रेममें मग्न कर दिया क्योंकि तालके साथ होनेवाले अभिनयमें जो अनेक प्रकारसे अङ्ग चलाकर जो भाव दिखाए जा रहे थे वे ऐसे आकर्षक थे कि मन जिन्नी ओर जाने ही नहीं पाता था ॥ ८ ॥

गणदास—देव ! आप इसे कैसा समझते हैं ?

राजा—इसे देखकर तो हमें अपने पक्षका अभिमान कम होने लगा है ।

गणदास—आज मैं सच्चा नृत्यशालका पण्डित हुआ हूँ, क्योंकि जैसे आगमें डालनेसे सोना काला नहीं पड़ता वैसे ही जिस शिष्यके सिखानेमें किसी प्रकारकी भूल न दिखलाई पड़े उसे ही सच्ची शिक्षा कहते हैं ॥ ९ ॥

देवी—अपने परीक्षकोंको सन्तुष्ट करनेके लिये आपकी बधाई है ।

गणदास—देवीकी कृपासे ही मुझे यह यश मिला है । [विदूषकां देवदर] गीतम ! अथ आप भी अपने मनसी बात कह डालिए ।

विदूषक—जय पहले-पहल अपनी सिखाई हुई विद्या लोगोंके आगे दिगाई जाती है सो सबसे पहले ब्राह्मणकी पूजा करनी चाहिए । यह तो आप लोग भूल ही गए ।

परिभाषिका—वाह, क्या नाट्यशलाके भाँवरकी बात पूछी है !

[सब हँसते हैं, मालाविश्रमिन्त मुद्राराग है ।]

राजा—[आश्चर्यम्] उपात्तसारश्चक्षुषा मे स्वविषयः । यदनेन—

स्वयमानमायताक्ष्याः किञ्चिदभिव्यक्तदर्शनशोभि मुखम् ।

असमग्रलक्ष्यकेसरमुच्छ्वसदिव पङ्कजं पृष्टम् ॥ १० ॥

गणदासः—महाब्राह्मण । न खलु प्रथमं नेपथ्यदर्शनमिदम् । अन्यथा कथं त्वां दक्षिणोयं नार्चयिष्यामः ।

विदूषक—मए णाम सुक्खसण्णमज्जिदे अन्तरिकरे जलपाणं इच्छिदा चादध्माइवम् । अहवा परिडतसंतोसपच्चआ णं मूढा जादी । जदि अत्तहोदीए सोहणं भण्णिदं तदो इमं से परितोसिअं पअच्छामि । (मया नाम सुक्खपनमजितेऽन्तरिक्षे जलपाननिष्ठता चातकाधितम् । अथवा परिडतसन्तापप्रत्यया ननु मूढशक्तिः ? यतःऽत्रमरत्या शोभन भणित तत इद ते पारितोषिक प्रयच्छामि ।)

[इति राज्ञा हस्त स्पर्शकर्मार्कषति ।]

देवी—चिट्ट दाव । गुणान्तरं अजाणन्ती किञ्चिमिच्छं तुमं आहरणं देसि । (तिष्ठ तावत् । गुणान्तरमज्ञाननिष्ठनिमित्त त्वमाभरण ददाति ।)

विदूषकः—परकेअंति करिअ । (परकीयमिति वृत्त्या ।)

देवी—[आचार्यं विलाप्य]) अज्ज गणदास णं दंसिदोवदेसा दे सिस्सा । (वार्यं गणदास ननु दर्शितोपदेशा ते शिष्या ।)

गणदासः—वत्से एहि गच्छावेदानोम् ।

[महाचार्यं निष्क्रान्ता मालविका ।]

राजा—[मनही मन] मेरी आँखोंको तो चाही हुई वस्तु देखनेको मिल गई । क्योंकि आज मेरी आँखोंको इस बड़े बड़े नेत्रोंवालोंके मुस्कुराते हुए चस मुखका दर्शन मिल गया है जिसमें कुछ कुछ दाँव दिखलाई पड़ रहे थे और जो उस खिलते हुए कमलसे समान जान पड़ता है जिसमेंके केसर पूरे-पूरे न दिखलाई दे रहे हों ॥ १० ॥

गणदास—अरे ब्राह्मण देवता ! हम लोग यह पहली बार तो नाटक दिखा नहीं रहे हैं । ऐसा होता तो तुम्हारे जैसे भेंट-पूजापर जीनेवाले ब्राह्मणकी हम अच्छी पूजा करते ।

विदूषक—तो क्या मैंकोरे गरजनेवाले बादलोंसे ध्वास मिटानेकी आज्ञा करनेवाला पपीहा ही बना रह गया ? पर भाई, हमारे जैसे मर्योंकी तो ऐसी बात है कि यदि परिडतोंको सन्तोष हुआ तो समझो हमें भी सन्तोष हो गया । जब भगवती कौशिकीने इसे सुन्दर वता दिया है तो लाओ मैं भी तुम्हें यह पारितोषिक दे डालता हूँ [राजाके हाथसे कैंगन निकालता है ।]

देवी—ठहरो तो ! दूसरेका अभिनय बिना देखे तुम अभीसे इसे आभूषण क्यों दिए डाल रहे हो ?

विदूषक—दूसरेका है न, यही समझकर दे डाल रहा हूँ ।

देवी—[आचार्यको देखकर] कहिए, आपकी शिष्या अपना अभिनय दिखा चुकी न ?

गणदास—आओ वत्से ! अब हम लोग चलें ।

[आचार्यके साथ मालविका चली जाती है ।]

विदूषकः—[जनाश्रितवम्] एतत्तथो मे मदिविहवो भवन्तं सेविदुं । (एतान्मे मतिवि-
मवो भयन्तं सेवितुम् ।)

राजा—अलमलं परिच्छेदेन । अहं हि—

भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर्हृदयस्य महोत्सवावसानमिव ।

द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करीणीम् ॥ ११ ॥

विदूषकः—[जनाश्रितवम्] दलिहो विश्व आदुरो वेज्जेण ओसदं दीक्षमाणं इच्छसि ।
(दरिद्र इवादुरो वैद्येनौषध दीयमानमिच्छसि ।)

[प्रविश्य]

हरदत्तः—देव मदीयमिदानीं प्रयोगमवलोकयितुं क्रियतां प्रसादः ।

राजा—[आश्रयगतम्] अवसितो दर्शनार्थः । [दाक्षिण्यमदलम्ब्य प्रणम्यम् ।] ननु
पर्युत्सुका एवैवम् ।

हरदत्तः—अमुगृहीतोऽस्मि ।

[नेपथ्ये]

वैतालिकः—जयतु जयतु देवः । उपारुढो मध्याह्नः । तथा हि—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापदिनीनां

सौधान्यस्यर्थतापाद्बलभिरिचयद्द्वेषिपारावतानि ।

विदूषकः—[अलग्] राजाके] जहाँतक मेरो बुद्धिकी पहुँच थी वहाँतक तो मैंने आपका
काम कर डाला ।

राजा—बहुत ढोंग न रचो । इसका परदेके पीछे छिपना मुझे ऐसा लग रहा है मानो
मेरी आँखोंका भाग फूट गया हो, जीका हुलास ठंडा पड़ गया हो और धीरजपर बाढ़
लग गया हो ॥ ११ ॥

विदूषकः—[अलग्] तो क्या दिना पैसेवाले रोगीके समान यह चाहते हो कि पैस ही
आपको अपने पाससे औषध भी दे ।

हरदत्तः—[आश्रय] देव ! अय मेरा सिराया हुआ अभिनय भी देखनेकी कृपा
कीजिएगा ।

राजा—[मन ही मन] जो देरना था वह तो देर ही चुके । [उदारता दिखानेके लिए प्रसन्न]
हाँ हाँ, हम लोग तो देखनेकी उतावले बैठे हैं ।

हरदत्तः—बड़ी कृपा है मुझपर ।

[नेपथ्यमें]

वैतालिकः—जय हो देवकी जय हो । रोपहर हो गया है, क्योंकि यावद्विपों में कमलही
पंखड़ियोंकी छायामें हंस और मूँदपर विश्राम कर रहे हैं । धूपसे भयन ऐसा तप गया है
कि छत्रोंपर पशुतर तक नहीं बैठ रहे हैं । चलते हुए रहते उड़लती हुई पानी की धूँदे

विन्दुक्षेपान्निपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं

सर्वैरुसैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्ततप्तिः ॥ १२ ॥

विदूषक—अविहा अविहा । अग्रहारां उग्र भो अग्रहारेणा उग्रद्विदा । अतःभवदो उग्रदवे-
लादिक्रमे चिद्दृष्ट्या दोसं उदाहरन्ति । [हरदत्तं विलोक्य] हरदत्त किं दापि भणसि
(अविष अविष । अस्माकं पुनर्भोग्यवेलोपरिधता । अत्रभवत् उचितवैलतिक्रमे चिन्तित्वा दोषमु-
दाहरन्ति । हरदत्तं त्रिभिदानां भणसि ।)

हरदत्तः—अस्ति वचनस्यान्यस्यावकोशोऽत्र ।

राजा—तैर्हि स्वदीयमुपदेशं श्रो वयं द्रक्ष्यामः । विरमतु भवान् ।

हरदत्तः—यदाज्ञापयति देवः । [इति निष्क्रान्तः ।]

देवी—शिष्टवद्रेट्टु अज्जलत्ती मज्जणविहिम् । (तिर्वर्तयत्वापुनो मज्जनविहिम् ।)

विदूषकः—भोदि विससेण पाणभोअणं तुवरावेहि । (भगति विशेषेण पानमाचनं
स्वरय ।)

परिप्राञ्जिका—[उत्थाप] स्वस्ति भवते । [इति सपरिजनया देव्या सह निष्क्रान्ता ।]

विदूषकः—भो वयस्य ए केवलं रूपे सिपे वि अदुदीया मालविद्या । (भो वयस्य न
केवलं रूपे शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका ।)

राजा—वयस्य ।

अभ्याजमुन्दरी तां विधानेन ललितेन योजयता ।

परिकल्पितो विधात्रा वाग्यः कामस्य विपदिग्धः ॥ १३ ॥

वीनेके लिये मोर उसके चारों ओर चक्कर फाट रहे हैं और सूर्य अपनी सब किरणों लेकर
वसी प्रकार चमक रहा है जैसे आप अपने सब राजसी गुणोंसे चमकते हैं ॥ १२ ॥

विदूषक—अरे रे ! अब तो हम लोगोंके भोजनका समय हो गया है । बैथारा कहना
है कि समयपर भोजन न करनेसे घड़ी हानि होती है । यही हरदत्त ! क्या करते हो ?

हरदत्त—अब कुछ पहनेकी बात हो यहाँ रह जाती है ।

राजा—तो अब आपका प्रदर्शन हम लोग कल देखेंगे । आप जाकर विभ्राम करें ।

हरदत्त—जैसी देखकी आज्ञा । [चला जाता है ।]

देवी—धो आर्यपुत्र ! चलकर अब नहा धो लीजिये ।

विदूषक—देवी ! अब मूठपट भोजन-पानीका कुछ बढ़िया प्रबन्ध कराइए ।

परिप्राञ्जिका—[उठकर] आपका कल्याण हो ! [धर्मिणाभाँ और रानीके साथ नखे
जातो है ।]

विदूषक—वयस्य ! सुन्दरतामें ही नहीं बलामें भी मालविका एक ही है ।

राजा—सच पूछो वयस्य ! तो विधाठाने इस सद्गुण सुन्दरी मालविकाको ललित बलाया
मान क्या दिया मानो उमने इसके हाथमें पागदेवका विष तुम्हा पाण दे दिया हो ॥ १३ ॥
और क्या करें मित्र ! अब तुम जाकर मेरी कुछ चिन्ता करो :

किं बहूना । सरो चिन्तयितव्योऽस्मि ।

विदूषकः—भवदा वि अहं । हिडं विपणिक्कन्दू विअ मे उअरच्चमन्तरं दक्कइ । (मरताप्प म् । दटं विपणिक्कन्दुरिक्क मे उदरच्चमन्तरं दहाने ।)

राजा—एवमेव भवान्सुहृदर्थेऽपि स्वरताम् ।

विदूषकः—गहीददस्सिणोम्हि । किं तु मेहायलीणिदद्धा लोएहा विअ पराहीणुदंसणा सहोदी माविआ । भवं वि सूणापरिसरचरो विअ विअगिद्धो आमिसलोलुओ भोरुओ । (यदीददस्सिणोऽस्मि । किं तु मेराएलीनिदद्धा एवोस्सेव परापनदसंना तत्रभती मालविका । यानपि एनापरिसरचर इव एवै आमिपलंगुणे भोरुक्कथ । अरयन्तानुर इव आर्यविदिं प्रार्थयमानो रोचसे ।)

राजा—कथमनातुरो भविष्यामि ।

सर्वान्तःपुरवनिवाच्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य ।

सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता ॥ १४ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥

विदूषक—आप भी मेरी चिन्ता कीजिए । मेरा पेट इस समय दलवाईकी कड़ाहोकी भाँति बड़ा जला जा रहा है ।

राजा—तुम भी अब अपने मित्रके लिये कोई उपाय शोभ हो सोच निकालो ।

विदूषक—उसके लिये तो मैं आपसे पहले ही दक्षिणा ले चुका हूँ पर गड़बड़ तो यह है कि बादलोंमें छिपी हुई चाँदनीके समान मालविकाजीका दर्शन भी तो दूसरोंके हाथमें है । इधर आप, मांस बेचनेवाले व्याधके घरपर मँडरानेवाले गिद्धके समान उसपर ललचाए हुए भी हैं और साथ ही डरते भी हैं । इतनी घबराहटके साथ मुझे काम करनेको कहते हुए आप लगते बड़े अच्छे हैं ।

राजा—धताओ, घबड़ाहट क्यों न हो ? वह तिरछी चितवनवाली मेरे हृदयमें ऐसी आ यसी है कि रनिवासकी सब राजियोंसे मेरा मन एक दम उलट गया है । ॥ १४ ॥

[सब चले जाते हैं ।]

॥ दूसरा अंक समाप्त ॥

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति परित्राजिकायाः परिचारिका समाहितिका ।]

समाहितिका—ध्याणत्तमिह भयवदिष्ट—देवस्य उवाचएतत्थं वीअउरअं गेण्हिअ अअअच्छत्ति । ता जाव पमनवणपात्तिअं महुअरिअं अएणेसामि । [परिक्रम्यावलोक्य] एसा तवणीआसोअं ओलोअन्त महरिआ चिद्धदि । ता जावण उपसप्पामि । (आकृतास्मि भगवत्या—समाहितिके देवस्योपवनस्थं वीजपूरकं शहीत्यागच्छेति । तद्यावत्प्रमदघनपालिका मधुकरिका-मन्विष्यामि । एषा तपनीयाशोकमवलोकयन्ती मधुकरिका तच्छिति । तद्यावदेनाऽपसर्पामि ।)

[ततः प्रविशत्युद्यानपालिका ।]

समाहितिका—[उपसत्य] महुअरिए । अवि सुहो दे उज्जाणठवांवारे । (मधुकरिके । अपि सुखस्त उद्यानव्यापारः ।)

मधुकरिका—अम्हो समाहिदिआ । सहि सागदं दे । (अहो समाहितिका । सति स्वागतं ते ।)

समाहितिका—हृत्वा भगवतो ध्याणवेदि । अरिउत्तपाणिणा अम्हारिअजणेण तत्तहोदी देवी देक्खदव्या । ता वीअपूरएण सुस्सूसिद्धं इच्छामित्ति- । (सति भगवत्वाशापवति । अरिउत्तपाणिनास्मादञ्जनेन तत्रभयती देवी ब्रह्मव्या । तद्वीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामीति ।)

तीसरा अङ्क

[परित्राजिकाकी दासी समाहितिका आती है ।]

समाहितिका—भगवती कौशिकीने मुझे आज्ञा दी है कि समाहितिका, जाओ, महाराजके उपवनसे एक बिलीरिया नोंबू लो आओ । तो चलो प्रगदघनकी मालिन मधुकरिकाका पता लगाऊँ ! [धूमकर देखती है ।] अरे, तुमहरे अशोककी थोर टकटकी लगाए यह क्या सही है । तो चलो उसके पास ।

[मालिन मधुकरिका आती है ।]

समाहितिका—[पास आकर] कहो मधुकरिका ! तुम्हारे उपवनका काम तो ठीक-ठीक चल रहा है न ?

मधुकरिका—अरे ! तुम हो समाहितिका ! आओ सरती आओ, तुम्हारा स्वागत है ।

समाहितिका—सरती ! भगवती कौशिकीने कहा है कि हमें बूँदों द्वाय महारानीसे मिलने नहीं जाना चाहिए इसलिये एक नोंबू लो भेंट करके उनसे मिला लेंगे ।

मधुकरिका—एवं संश्लिष्टिदं वीजपूरञ्च । कहेहि दाय अण्णोएणसंवरि सिदाएणं णट्टाअरि-
आएणं उवदेसं देस्सिअ कदरो मअवदीएपसंसिदो । (मनु सानि वं वीजपूरकम् । कथय ताव-
दन्वो-यसंभर्षितयानांत्वाचार्ययावदेशं हृद्वा कृतो भगवत्या प्रशसितः ।)

समाहितिका—दुवे वि किल आगमिणा पओअणिउणा अ । किंनु सिस्साए मालविआए
गुणविसेसेण गणदासस सवदेसो पसंसिदो । (इवपि किन्नागमिनी प्रयागनिपुणी च । किं
शिष्याया मालविकाया गुणविशेषेण गणदासस्वोपदेशः प्रशसितः ।)

मधुकरिका—अह मालविआगदं कीलोणं कीरिसं सुणोअदि । (अय मालविकागतं
कीलीनं कीदृशं श्रूयते ।)

समाहितिका—वाढं किल तरिसं साहिलासो भट्टा । किंनु केवलं देवीए धारिणीए चित्तं
रक्खन्तो अत्ताणो पट्टाएणं दंसेदि । मालविआ वि इमेसु दिअसेसु अण्णुहदमुत्ता विअ माल-
दीमाला मिलाणा लक्खीअदि । अदो अवरं ण जाणे । विसज्जदि मं । (वाढं किल तस्यां
सामिलायो भवति । किंनु केवलं देव्या धारिण्याभित्तं रक्षन्नात्मनः प्रमुक्तं दर्शयति । मालविकाप्येषु
दिग्दर्शयन्भूतभूतवैय मालतामाला भ्याना रक्षयते । अतः परं न जाने । विरज्य माम् ।)

मधुकरिका—एदं साहावलम्बिदं वीअपूरञ्च रोएह । (एतन्जालावलम्बितं वीजपूरकं
यहान् ।)

समाहितिका—तह । [इति नाट्येन वीजपूरकं गृहीत्वा] हला तुमं वि अदो पेसलदरं
साहुजणसुम्साए फलं पावेहि । (तथा । सखि रमन्वतः पेसलदरं साधुजनशुभपायाः फलं
प्राप्नुहि ।) [इति प्रस्थिता ।]

मधुकरिका—लो, नीचू तो पास ही है । हाँ, यह तो बताओ कि वह जो दोनों नाट्या-
चार्यिका भगड़ा चल रहा था उनमें से भगवतीने किसे अच्छा बताया ।

समाहितिका—यों तो दोनों ही शास्त्रके पण्डित और अभिनयकलामें चतुर हैं पर गण-
दासने अपनी शिष्या मालविकाको जैसा अच्छा सिराया है उसे देख लेनेपर गणदास ही
आज दोनों में अच्छे ठहराए गए हैं ।

मधुकरिका—और कहो, ये मालविकाके सम्बन्धमें कैसी-कैसी बातें सुननेमें आ
रही हैं ?

समाहितिका—हाँ, महाराज उसे चाहने तो बहुत लग गए हैं पर रानी धारिणीका मन
रखनेके लिये ये खुलकर प्रेम नहीं दिखाताते । इधर इन दिनों मालविका भी पहनकर उत्तारी
हुई मालतीकी मालाके समान कुम्हलाई जा रही है । घस इससे अधिक में कुछ नहीं
जानती हैं । अच्छा तो छुट्टी दो ।

मधुकरिका—हाँ, लो, यह डालपर मूलावा हुआ नीचू तोड़वी ले जाओ ।
समाहितिका—अच्छा, [नीचू तोड़नेका अभिनय करके] भगवान् करे सती ! साधुओंकी
सेवा करनेका तुम्हें इससे भी अच्छा फल मिले । [चलती है ।]

मधुकरिका—हल समं जेव्व गच्छम्ह । अहं वि इमस्स चिराच्चमाणकुमुमोगमस्स तव-
पोआसोअस्स दोहलणिमित्तं देवोए णिवेदेसि । (गरि एममेव गच्छावः । अहमप्यस्य चिरा-
यमाणकुमुमोद्गमस्य तरनीपाशाकस्य दाहदनिमित्तं देव्यै निवेदयामि ।)

समाहितान्—जुज्जइ । अहिश्चारो क्खु तुह । (युज्यते । अघ्निकारः खलु तव ।)

[इति निष्क्रान्ते ।]

॥ इति प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशति शम्भयमानावस्थो राजा विदूषकश्च ।]

राजा—[आत्मनं विलोक्य ।]

शरीरं चामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे

भवेत्सासं चतुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति ।

तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं

प्रसक्ते निर्वाण्ये हृदय परितार्पं ब्रजसि किम् ॥ १ ॥

विदूषक—अलं भवदो धीरं उद्दिशन्न परिदेविदेय । दिद्धा मए उच्छोदीए मालविआए
पिअसहो बवलाय लब्धा । गुणाविदा अ अस्थं जो भवदा संदिट्ठो । (अल भवतो धीरता-
युग्मिस्ता परिदेवितेन । दृष्टा गया तपभरता मालविकायाः प्रियवती कुलानलिता । आविता चार्यं
या ममता संदिष्टः ।)

राजा—ततः किमुक्तवती ।

मधुकरिका—चलो सखी ! दोनों साथ ही चले । मुझे भी चलकर महारानीजीसे निवे-
दन करना है कि यह सुनहरा अशोक अभी तक फूल ही नहीं रहा है, इसके फूलनेका कोई
उपाय किया जाना चाहिए ।

समाहितान्—ठीक ही है, तुम न कहोगी तो कौन कहेगा ?

[दोनों चले जाता है ।]

॥ प्रवेशक ॥

[विदूषकके साथ काम-वीदित अवस्थामें राजा बैठे दिखाई पड़ते हैं ।]

राजा—[अपनी ओर देखकर] प्यारीकी छाती न लगा पानेसे मेरे शरीरका सुखना भी
ठोक है और उसे पल भरके लिये भी देखन पानेके सोचमें आँखोंका उबडवाए रहना भी
ठोक है, पर मेरे हृदय ! यह तो यताओ कि उस हरिणकीसी आँखोंवाली और मेरा जी
ठण्डा करनेवाली प्यारीके सदा पास रहते हुए भी तुम क्यों इस प्रकार जले जा
रहे हो ॥ १ ॥

विदूषक—यह अधीर होकर रोना-कल्पना छोड़िए । मैं मालविकाकी प्यारी सखी बकु-
लावलिकासे गिला था और मैंने उसे आपका पूरा संदेश सुना भी दिया है ।

राजा—इसपर यह क्या बोलो ?

विदूषक—विष्णावेहि भट्टारअम् । अणुगहीदग्धि इमिणा सिञ्चोण्ण । किंहु सा तव-
सिसणी देवीए अहिअं रक्कन्तीए णाअरक्खित्तो विअ सिद्धी ए सुहं समासादइत्तवा
सहसि जइस्सं । (विशाष मट्टारवम् । अनुगहीत्तरुपनेन नियोगेन । किन्तु सा तपस्विनी वैष्णा-
विकं रक्षन्त्या नागरहित इव निधिर्न मुक्त समासादयितव्या । तथापि यत्तिये ।)

राजा—भगवन् संरूपयोने । प्रतिबन्धवत्तपि विषयेष्वभिनिवेश्य कि तथा प्रहरसि
यथा जनोऽयं न कालान्तरज्ञो भवति । [सविस्मयम् ।]

क रुजा हृदयप्रमाथिनी क च ते विश्वसनीयमायुधम् ।

मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि ॥ २ ॥

विदूषक—एं भणामि तस्सि साहसिज्जे कज्जे किदो मए उवाओवन्तोओ । वा पज्जव-
त्थावेदु भव अप्पाणं । (ननु भणामि तस्मिन्वाचनीये कार्ये कृता मयोपायोपशेः । तत्पर्यवसा-
यत्तु भयानात्मानम् ।)

राजा—अयेमं दिवसशेषमुचितव्यापारविमुग्धेन चेत सा क्व नु रालु यापयामि ।

विदूषकः—अज्ज एक्य पढमादारमुहआणि रत्तट्टारवआणि उवाअणं पेस्सिअ णववसन्ता-
वदारव्वदेसेण इराषट्ठीए सिअण्णिआमुहेण पत्थिदो भयं—इच्छामि अज्जउत्तेण सह दोला-
हिरोहणं अणुहविदुं त्ति । भवदा पि से पाठएणादं । ता पमदवणं एक्य गच्छग्घ । (अधीय
प्रथमावतारसुभगानि रत्तट्टारवण्युपायन प्रेष्य नचरसन्तावतारव्यभदेशेनराजशयानिपुणिकामुखेन
प्रार्थितो भगवन्—इन्द्राभ्यामंबुज्जणे सह दोलाधिराहभननुभवितुमिति । भगताप्सरस्ये प्रतिज्ञातम् ।
तत्प्रमदवनमेव गच्छतिः ।)

विदूषक—ससने यहा—स्वामीसे निवेदन कर देना कि मुझपर यह काम सौंपकर
स्वामीने मुझपर यही कृपा की है पर वह बचारी महारानीकी घेसी ही कड़ी देख-रेखमें है
जैसे सौंपकी देख-रेखमें कोई निधि हो । इसलिके वह सहजमें हाथ लगनेवाली नहीं है,
फिर भी मैं जतन करूंगी !

राजा—हे भगवान् कामदेव ! पग-पगपर बाधाओंसे भरे हुए कामोंमें मुझे फँसाकर
तुम मुझपर ऐसी चोटें क्यों किए जा रहे हो कि समय भी काटे । [अचरनके साथ] हे
कामदेव ! वहाँ तो एक और जीरो ढाड़स देनेवाला तुम्हारा कोमल फूलोंका घनुप और
वहाँ यह हृदयको भी मय डालनेवाला प्रेमका रोग । यह कहावत तुमपर तो पूरी पूरी घटती
दियाई दे रही है कि जो जितने कोमल दियाई पढ़ते हैं वे उतने ही कठोर होते हैं ॥ २ ॥

विदूषक—मैं कह तो रहा हूँ कि आपका मनोरथ पूरा करनेका मैं सब उपाय कर चुका
हूँ इसलिये आप चिन्ता न कीजिए ।

राजा—अपने किसी काममें तो मेरा जी ही नहीं लग रहा है, इसलिये यह तो यथाशो
कि आजका यह बचा हुआ दिन बिताया वहाँ जाय ?

विदूषक—नये खिले हुए गुहायने लाल कुरघरके फूलोंको आपके पास भेंटमें भेजकर
रानी इरावतीने आज ही निपुणिकाके मुँहसे नये वसन्तके आनेका यद्दान लेकर कहलाया
है कि मैं आज आर्यपुत्रके साथ मूला मूलना चाहती हूँ, और आपने भी उसी बात मान-
ली है ! इसलिये थलिये, उधर प्रमदवनकी ओर ही चला जाय ।

राजा—न क्षममिदम् ।

विदूषकः—कहाँ विद्य । (कथमिव ।)

राजा—वयस्य निसर्गनिपुणाः स्त्रियः । कथमन्यसंक्रान्तहृदयमुपलालयन्तमपि ते सखी न मां लक्ष्यिष्यति । अतः पर्यामि ।

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः ।

उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥ ३ ॥

विदूषकः—खारिहृदि भवं अन्तेऽरद्विठदं दक्षिणपक्षं एकपदे पिट्ठदो काहुम् । (नार्हति भवानन्तःपुरस्थित दाक्षिण्यमेकरदे श्रुतः पशुम् ।)

राजा—[विचिन्त्य ।] तेन हि प्रमदवनमार्गमादेशय ।

विदूषकः—इदो इदो भवं । (इत इतो भवान् ।)

[उभौ परिक्रामतः ।]

विदूषकः—शुं एवं पमदवशं पवणवलचलाहिं पल्लवद्गुलीहिं तुवरेदि विद्य भवन्तं पवे-सिद्धं । (नन्वेतत्प्रमदवन पवनबलचल भिः पल्लवाङ्गुलाभिरररररतीं भवन्तं प्रवेष्टुम् ।)

राजा—[शर्शं रूपविराग] अभिजातः खलु वसन्तः । सखे पर्य—

उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुकोशं मनसिजरुजः सद्यतां पृच्छतेव ।

अङ्गे चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे

सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधयेन ॥ ४ ॥

राजा—पर वहाँ चलना ठीक नहीं होगा ।

विदूषकः—क्यों ?

राजा—देखो मित्र ! स्त्रियों स्वभावसे ही बड़ी चंचल होती हैं । वहाँ चलकर यदि मैं उसीके मतका काम करने लगू तो क्या वह भाँप न लेगी कि मेरा मत कहीं श्रौर उलझा हुआ है ? इसलिये मैं समझता हूँ कि बहुत से इधर-उधरके बहाने बनाकर प्रेमकी उचित बात भी टाल जाना अच्छा है, पर चतुर स्त्रियों के आगे बनाबटो प्रेम दिखलाना अच्छा नहीं है ॥ ३ ॥

विदूषकः—पर इस प्रकार रनिवासकी रानिवयों के प्रेमका एकाएक अनादर करना भी तो ठीक नहीं होगा ।

राजा—[शोचकर] तो चलो । प्रमदवनकी ओर ही ले चलो ।

विदूषकः—इधरसे आइए देव ! उधरसे [दोनों दगते हैं]

विदूषकः—लौजिए, यह रहा प्रमदवन देखिए वायुसे हिलते हुए पत्तोंकी उँगलियों से यह प्रमदवन मानो आपको बुला रहा है कि ऋतपट भीतर चले आइए ।

राजा—[वायु लगानेके सुखका नाट्य करते हुए] सचमुच वसन्त आ पहुँचा है । देखो मित्र ! मतवाले कोकिलोंकी, कानको सुहानेवाली कूर्मों में मानो वसन्त श्रुतु सुम्पर बड़ी दया दिखलाते हुए यह पूछ रहा हो—क्यों प्रेमकी पीड़ा सही जा रही है ? इधर लिखी हुई आम की मञ्जरियोंकी गन्धमें बसा हुआ दक्षिण पवन मेरे शरीरसे लगता हुआ ऐसा पड़ता है मानों वसन्तसे अपना अत्यन्त सुख देनेवाला हाथ मेरे ऊपर रख दिया हो ॥ ४ ॥

विदूषकः—पबिस गिब्युदिलाहाअ । (प्रविशति ।)

[उभौ प्रविशतः ।]

राजा—अधेमं दिवसशेषमुचितव्यापारविमूखेन चेतसा क्व नु खलु यापयामि ।

विदूषकः—अवहाणेण दिट्ठिं देहि । एदं वल्लु भवन्तं विअ विलोहइदुकामाए पमदव-
णलच्छीए जुवदीविसलजावइत्तिअं वस-तकुमुमणैवत्थं गहीदं (अवधानेन दृष्टिं देहि । एत-
त्तल्लु भवन्तमिव विलोमयित्तुमानया प्रमदवनलदग्गा सुवतिनेपलज्जापयित्तुकं वसन्तकुमुमनेपत्थं
ख्हीतम् ।)

राजा—ननु विस्मयादवलोक्यामि ।

रक्ताशोकुरुचा विशेषितगुणो विम्व्राधरालक्तकः

प्रत्याख्यातविशेषकं कुर्यकं श्यामावदाताहरणम् ।

आक्रान्ता तिलकाक्रिया च तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः

मात्रज्ञेव मुखप्रसाधकविधौ श्रीर्माधयी योपिताम् ॥ ५ ॥

[उभौ नाट्येनोद्यानयोमा निर्वाणयतः ।]

[ततः प्रविशति पर्युत्तुमा मालविका ।]

मालविका—अधिष्णाद्द्विअअं भट्टारअ अहिलसन्दी अप्पणो वि दाव लज्जेमि । कुदी
विहयो सिण्णिद्वस्स सहीजणस्स इमं वुत्तन्त आचस्सिअट्ठं । ए जाणे अप्पडिअारगरुअं वेअयं
केत्तिअं कालं मअणो मं एदस्सदि च्चि । [इति स्मृतमभिनीय] आदिट्ठिं देवीए—माल-

विदूषक—चलिए, भीतर चलकर आनन्द लीजिए ।

[दोनों प्रवेश करते हैं ।]

विदूषक—तनिक ध्यानसे तो देखिए ! इस प्रमदवनको लक्ष्मीने आपको लुभानेके लिये
ही सुयत्तियों के साज-सिंघारको भी जलानेवाला यह वसंतके फूलोंका सिंघार कर लिया है ।

राजा—मैं भी [अचरबके साथ] आरें फाइकर देख रहा हूँ कि—इस लाल अशोक
की ललाईने छिरियोंके विन्धापरोंकी ललाईको छजा दिया है । काले, उजले और लाल रंगोंके
दुरवनके फूलोंने छिरियोंके मुखोंपर चीती हुई चित्रकारी फीकी कर दी है । काले भंरोसे
लिपटे हुए तिलकके फूलोंने छिरियोंके माथेपरके तिलककी नीचा दियत दिया है । ऐसा जान
पड़ता है मानो वसन्तकी शोभा आज छिरियोंके मुखके साज सिंघारका निरादर करनेपर
हुली हुई हो ॥ ५ ॥

[दोनों उम उपवनकी शोभा निहारनेका नाट्य करते हैं ।]

[यही चिन्तामें पड़ा हुई मालविका आती है ।]

मालविका—जिस प्रियतमके मनकी मैं धाड़ नहीं पा सकी हूँ उससे प्यार परके मुझे
अपने ऊपर धड़ी लाज लग रही है । अपनी प्यारी सखियोंसे भी यह बात मैं नहीं कह पा
रही हूँ । यह प्रेम पीड़ा न जाने कामदेव मुझे कवतक देता रहेगा जिसकी कोई औपधि नहीं
है । [दा चार पा चलकर ।] अरे ! मैं यहाँके लिये चली थी ? [स्मरण करनेका नाट्य

वैव गोदमचापलादो दोलापरिचमट्टाप सरुजौ मह चल्लणौ । तुमं दाव गदुअ तवणीआसो-
अस्स दोहलं णिवट्टेहि त्ति । जइ सो पञ्चरत्तमन्तरे कुसुमं दंसेदि तदो अहं अहिलासपूर-
त्तअं पसादं दावइसं त्ति । ता जाव णिमोअभूमिं पढमं गदा होमि दाव अणुपदं मह
चलणालंकारहत्थाप बउल्लावलिआप आअन्दव्यं ताव चीसद्धं मुहुत्तअं । (अविहातहृदयं
मातारमभिलक्षन्पारमनोऽपि तावहृदये । कुता विभवः स्निग्धस्य सतीजनस्यम वृत्तान्तमाख्यातुम् । न
जानेऽप्रतिभारगुह्यां वेदना कियन्तं काल मदनो मा नेष्यतीति । आ कुत्र खलु प्रस्थिताग्नि । आदि-
ष्टारिम् देव्या—मालविके गौतमचापलाहालपरिप्रथायाः मदने मम परणी । स्व तावद्गत्वा तपनी-
माशाकस्य दोहदं निर्यतथैति । यद्यही पञ्चरात्राभ्यन्तरे कुसुम दर्शयति तताऽहमभ्यावपूरणितुक्तं
प्रसाद दापयिष्यामीति । तत्राग्निशोभूमिं प्रथम गता भवामि तावदनुपद मम परणालङ्कारहस्तथा
बहुलावलिहय ऽणन्तव्यम् । तत्ररिदेवयिष्ये तावद्विह्वलं मुहूर्तकम् ।

[इति परिक्रामति ।]

विदूषकः—[हृष्टा] हो ही । वअस्स पदं वसु सोहुपाणुव्वेजिदस्स मच्छण्डिआ उण्णदा ।
(आअभ्यामभ्यर्पम् । वयस्य एतत्खलु सीधुगानोद्वेजितस्य मस्यण्डिकोपनता ।)

राजा—अये किमेतत् ।

विदूषकः—एसा शादिपरिक्खद्वेसा उलुअवअणा एआइणो मालविआ अदूरे वट्टदि ।
(एषा नातिपरिभ्रतषेपोस्तुक्वदनैकाकिनी मालविकाऽदूरे वतते ।

राजा—[सदर्पम्] कथं मालविका ।

विदूषकः—अह इं (अय किम् ।)

करती हुई ।] हों ठीक है । सुकसे देवी धारिणीने कहा है कि—मालविका ! गौतमके नटख-
टपनसे मैं गूलेसे गिर पड़ी हूँ और मेरे दोनों पैरों में चोट आ गई है इसलिये तुम्हीं जाकर
सुनहरे अशोकके फूलनेका उपाय कर आओ । यदि पाँच दिनोंके भीतर वह फूल उठेगा तो
तुम्हें सुहमांगा पुरस्कार दूँगी । मैं वहाँ पहलेसे ही पहुँच जातो हूँ क्योंकि बरुलावलिका भी
मेरे पीछे-पीछे विष्टुए लेकर आ ही रही होगी । तबक मैं अकेल जी भरकर रो
भी लूँगी ।

[घूमती है ।]

विदूषक—[उसे देखकर] अरे ! [घूमती है ।] कैसे अचरलकी बात है मित्र ! कि
मदिरा से मतवाले मनुष्यको और भी मतवाला बनानेवाली कभी खाँड़ भी था
पहुँची है ।

राजा—अरे कौन-सी वस्तु है ?

विदूषक—यह क्या पास ही अघमैले कपड़े पहने मालविका अकेली उदास बैठी
हुई है ।

राजा—[प्रसन्न होकर] क्या मालविका है ?

विदूषक—और क्या ?

राजा—शान्तिगिदानों जीवितमवलम्बयितुम् ।

त्वदुपलम्ब्य सर्मापगतं प्रियां हृदयमुच्छ्रुतितं मम विप्लवम् ।

तरुघृतां पथिकस्य जलार्थिनः सरित्तमारसितादिव सारमात् ॥ ६ ॥

अथ कथं तत्र भवती ।

विदूषकः—एसा तरुगडमज्जादो रिणकन्ता इदो ज्जेन्वा परिवट्टन्ती दीसह । (एसा तरु-
खिमप्यान्निष्फान्तेत एव परिवर्तमाना इत्यन्ते ।)

राजा—[विलोक्य सहर्षम्] वयस्य पर्याम्येनाम् ।

विपुलं नितम्बदेशे मध्ये चामं समुन्नतं कुचयोः ।

अत्यायतं नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति ॥ ७ ॥

सत्ते पूर्वस्माद्गतिमनोहरावस्थान्तरमुपाख्वा तत्रभवती । तथा हि—

शरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलेयमाभाति परिमिताभरणा ।

माध्वपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता ॥ ८ ॥

विदूषकः—एसा वि भवं विअ मअण्णत्वाहिणा परिमिट्टा भविस्सदि । (एसापि भगानि-
मदनव्याधिना परिघृष्टा मविष्मति ।)

राजा—सौहार्दमेवं पर्यति ।

मालविका—अच्छं सी ललितमुकुमालमोहलापेवरी अगिहीवक्षुसुमणेचत्यो एकचिठदाए
मह अणुकरेदि असोअरो । जाव एदस्स पच्छाअसीदले सिलापट्टए एिएसएण अप्पारुं विणो-
देमि ! (अर्थ स ललितमुकुमारदाहदापेडी अणुहीतकुसुमनेपथ्य उरगण्डिताया ममाऽनुकराल्यशोकः ।
यावदस्य प्रगल्भशीतले क्षिणापट्टके निशण्णात्मान विनादयामि ।)

राजा—तव समझो कि अब मेरे प्राण बच जायेंगे । जैसे सारसका शब्द सुनकर प्यासे
पथिकको यह भरोसा हो जाता है कि पेड़की मुर-मुट्टके पीछे कोई नदी होगी वैसे ही
तुम्हारे सुँहसे यह बात सुनकर मेरे व्याकुल मनकी बड़ा धीरज मिला है कि मालविका
पास ही है ॥ ६ ॥ अच्छा वे हैं कहाँ ?

विदूषकः—बह कया वृत्तों के बीचसे होती हुई इधर ही आती दिखाई दे रही है ।

राजा—[देखकर प्रसन्नतासे] देखा रहा हूँ मित्र ! यह घड़े-श्रेष्ठे नितम्बोंवाली, पतली
कमरवाली, ठठे हुए स्तनवाली और बड़ी-बड़ी आँखोंवाली नानो मेरी जान ही चली आ
रही हो ॥ ७ ॥ इन्हें जैसा मैंने पहले देखा था उससे कहीं बढ़कर सुन्दर तो ये अब लग
रही हैं । और देखो—इने-गिने आभूषण पहने हुए और सरकड़के समान पीले गालोंवाली
यह सुन्दरी वैसे ही दिखाई दे रही है जैसे वर्मतेन पके हुए पत्तोंवाली किसी कुन्दलतामें
इने-गिने फूल बचे रह गये हों ॥ ८ ॥

विदूषकः—तो इन्हें भी आपने जैसा ही प्रेमका रोग लग गया होगा ।

राजा—मित्रोंको ऐसा ही मूढ़ा करता है ।

मालविका—पूज्योंकी सजायदसे सूना यह अशोर घृत भी अपने मनकी सुहायनी और
प्यारी साथ पूरी करानेके लिये मेरे ही समान अपीर हो रहा है । तो चरों तबठर इमोकी
ठंठी धायाके चले पत्थरकी पटियापर बैठकर जो चट्टाऊँ ।

विदूषक—सुबं भवदाः लफण्डिदग्धि त्ति तत्तहोदी मन्तेदि । (भुतं भवता उत्कण्ठितास्मीति तत्रभवती मन्यते ।)

राजा—नैतावता भवन्तं प्रसन्नतरुं गये । कुत. —

योढा कुतवकरजसां किमलयपूठभेदशीकरानुगतः ।

अनिमित्तोत्कण्ठामपि जनयति मनसो मलयवातः ॥ ६ ॥

[मालविजोपविष्टा]

राजा—सखे इतस्तावदावां लतान्तरितौ भवावः ।

विदूषकः—इरावदिं विअ अदूरे पेकजामि । (इरावतीमिगादूरे प्रेक्षे ।)

राजा—नदि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गजः । [इति विलोकयन्त्यतः ।]

मालविका—हिअध्र शिरबलम्बणादो अधिभूमिलङ्घिणो ते मणोरहादो विरम । किं म आआसिअ । (हृदय निरलम्बनादतिभूमिलङ्घिनो मनोरमाद्विरम । किं भाषायास्य ।)

[विदूषको राजान् वीक्षते ।]

राजा—मिचे पश्य वामस्वं स्नेहरय ।

श्रीत्सुक्यहेतुं विष्टयोपि न त्वं तत्रावबोधैकफलो न तर्कः ।

तथापि रम्भोरुं करोमि लक्ष्यमात्मानमेवां परिदेवितानाम् ॥ १० ॥

विदूषकः—संपद भवदो एिस्संसअ भविस्सदि । एसा अप्पिदमअणसंसेसा विविचे एं

विदूषक—सुना आपने ? वे कह रही हैं कि मैं अधीर हो रही हूँ ।

राजा—केवल इसनी-सी बातसे मैं यह नहीं मान सकता कि तुम ठीक समझ पाए हो । क्योंकि कुतवकके परागमें बसा हुआ और खिली हुई फोंपलोंसे जलकी बूँदें बढ़ा ले जाने-वाला मलयका पवन बिना कारण ही मनमें चाह भर रहा है ॥ ९ ॥

[मालविका बैठ जाती है ।]

राजा—आओ मित्र ! खलो, हम लोग भी लताके पीछे छिप चलें ।

विदूषक—इरावतीजी भी अब आ ही रही होंगी ।

राजा—हाथी जय कमलिनीको देख लेता है तब उसे जलमें छिपे हुए घड़ियाल नहीं सुझते हैं । [देखता रहता है]

मालविका—अरे हृदय ! तू ऐसी चाह क्यों करता है जिसपर न तो अपना कोई वश ही है और न जहाँतक अपनी पहुँच ही है । मुझे सतानेमें तुझे मिल क्या रहा है ?

[विदूषक राजानी और देखता है ।]

राजा—देखो प्यारी ! पेम्की उल्टी चाल तो देखो । यद्यपि अभीतक तुमने अपनी व्याकुलताका कारण न जो खोलकर बताया और न अनुमानसे ही मुझे तुम्हारे मनकी ठीक ठीक चाह लग पा रही है फिर भी मैं तो यही समझ रहा हूँ कि तुम मेरे ही लिये इतना रो-बलप रही हो ॥ १० ॥

विदूषक—आपका संदेह अभी दूर हुआ जाता है । लोजिए, जिसके हाथ आपने संदेश

वज्रायलिङ्गा उच्यते । (साप्रतं भरतो निःसंशय मधिष्यति । एषारितमदनसंदेशा विविक्ते ननु वकुलावलिकोपरिचिता ।)

राजा—अपि स्मरेदसावरमदभ्यर्चनाम् ।

विदूषकः—किं दाणिं एसा दासीए दुहिता तुह गच्छं संदेमं विसुमरेदि । अहं दाव ण विसुमरेमि । (किमिदानीमेवा दास्या दुहिता तत्र गुह्यं सदेशं विस्मरति । अहं तावत्त विस्मरामि ।)

[प्रविश्य चरणालङ्कारहस्ता वकुलावलिका ।]

वकुलावलिका—अधि सुहं सहोए । (अपि सुत सत्ता ।)

मालिका—अन्हो वज्रायलिङ्गा उच्यते । सदि साअदं दे । उवचिस । (अहो वकुलावलिकोपरिचिता । सदि शागतं ते । उपविश ।)

वकुलावलिका—[उपविश्य] हता तुमं दाणिं जोगदाए शिउत्ता । ता एफं दे चलणं उवणेदि साव सालत्तये सणूउरं अ करेमि । (सदि त्रिमिदानीं योग्यत्वा निष्कृता । तस्मादेकं ते चरणमुपनय पावत्तालङ्कारं सन्पुरं च करोमि ।)

मालिका—[आत्मगतम्] हिअअ अलं सुहिदाए उच्यतेदो अयं विहयो । फहं दाणिं अत्ताणं मोचेअं । अहवा एदं पत्त मे गित्तुमएडणं भविससदि । (हृदय अल सुखितया उपस्थितोऽय विभ्रः । कथं वेदानीमात्मान मोचयेयम् । अथवा एतदेव मे मृत्युमण्डन भविष्यति ।)

वकुलावलिका—किं विआरेसि । ऊसुआ कसु इमसस तवणोआमोअस्त कुसुमोगामे देवी । (किं विचारयति । ऊसुआ एतस्य तस्मीयाशोक्तस्य कुसुमोद्गमे देवी ।)

राजा—कथमशोकदोहदनिमित्तोऽयमारम्भः ।

भेजा था यह वकुलावलिका भी यहाँ अकेलेमें उसके पास पहुँच गई है ।

राजा—पर उसे क्या हमारी बात स्मरण होगी ?

विदूषक—जब मैं तब नहीं भूल पाया हूँ, तब भला यह खोटी वहाँ ऐसी आवश्यक बात भूल सकती है ?

[पर राजनेकी तत्र समग्री हाथमें लिए हुए वकुलावलिका आती है ।]

वकुलावलिका—कहो सती, अच्छी तो हो ?

मालिका—अरे वकुलावलिका ! तुम आ गई स्वागत है सती, आओ बैठो ।

वकुलावलिका—[बैठकर] सती तुम्हें जो काम दिया गया है उसके लिये तुम्हें योग्य थीं । लाओ अपना एक पैर धर यदाओ तो मैं उसमें महावर लगाकर विद्युत् पहना दूँ ।

मालिका—[मन ही मन] मेरे हृदय ! यह सम्मान देकर बहुत फूलो मत । पर मैं इससे घब भी कैसे सकता हूँ । यद न कहूँ तो कहीं इसीसे मेरा अन्तिम सिंगार न हो जाय ।

वकुलावलिका—सोच क्या रही हो ? जानगी हो, इस सुनहरे अशोकके फूलनेकी देवीको यहाँ चिन्ता है ।

राजा—अच्छा तो क्या यह सजावट अशोकके फूलनेके लिये की जा रही है ।

विदूषकः—किं तु कलु जाणासि तुमं । मह कालणादो देवो मं अन्ते चरणेष्वच्छ्रेण योज-
इस्तदि चि । (किं तु रातु जानासि स्तम् । मम कारणःदेवीमामन्तःपुरनेपर्येन योजयिष्यतीति ।)

मालविका—हृत्ता मरिसेहि दाव यं । (गरि मर्षव तावदेनम् ।) [इति पादमुपहरति ।]

चकुलावलिका—अइ सरीरअं सि मे । (अयि शरीरमसि मे ।)

[इति नाट्येन चरणस्कारमारमते ।]

राजा—

चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रागलेखाम् ।

प्रथमामिव पल्लवप्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभवद्रुमस्य ॥ ११ ॥

विदूषकः—चलणानुरुवो तत्तहोदीए अदिआरो उवकिउसो । (चरणानुरूपस्त्रमभरत्या
अधिकार उपशितः ।)

राजा—सम्यगाह भवान् ।

नवकिसलयरागेण्यग्रपादेन चाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन ।

अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा प्रणमितशिरसं वा कान्तमार्द्रांपराधम् ॥ १२ ॥

विदूषक—पहरिस्तादि तत्तहोदी तुमं अवरद्धम् । (प्ररिधति तत्रभवती त्वामपराधम् ।)

राजा—मूर्ध्ना प्रतिगृहीय वचः सिद्धिदर्शिने ब्राह्मणस्य ।

[ततः प्रविशति युक्तमदा इरावती चेती न ।]

विदूषक—तो क्या आप समझ बैठे थे कि महारानीने मेरे लिये इसे रनिवासके सिंगारोसे
सजाया होगा ।

मालविका—लो सखी ! पर मुझे इसके लिये चुना करना । [पैर चागे करती है ।]

चकुलावलिका—बह री ! तू तोई दूसरी है । मैं तो तुझे अपनी देह जैसी ही प्यारी सम-
झती हूँ । [पैर रँगनेका नाट्य करती है]

राजा—मित्र ! प्यारीके पैरमें महाधरकी जो गीली छलीर बनी हैं वे ऐसी दिखाई पड़
रही हैं माना महादेवजीके क्रोधसे जले हुए कामदेवके पृथ्वीमें नई नई कोंपले फूट
आई हों ॥ ११ ॥

विदूषक—और जैसे इनके पैर हैं वैसा ही काम भी तो इन्हें साँपा गया है ।

राजा—यह तो ठीक कहा तुमने ! चमचमाते हुए नखोंवाले और नई कोंपलोंके पंजों-
वाले इस सुन्दरीके चरण या तो फूलनेकी इच्छा करनेवाले इस अनफूले अशोकपर पड़ने
योग्य हैं या प्रेममें अपराध करनेवाले सिर झुकाए हुए पतिके सिरपर पड़ने योग्य हैं ॥ १२ ॥

विदूषक—तो समझ लीजिए कि आप भी अपराध करने तो यही चरण आपपर भी
पड़ेंगे ।

राजा—मनवाहा भविष्य भवनेवाले ब्राह्मणका आशीर्वाद सिरमाथे ।

[शशीके साथ-मदिरा पिए हुए राजा इरावती, आती हैं ।]

इरावती—हृदये पित्रिणिए सुणामि बहुसो मदो किल इत्थिआजणसत विसेसमण्हणं
त्ति । अथि सचो एसो लोअवाओ । (चेदि निपुणिके ष्टणामि बहुसो मदः किल लीजनस्य विशेष-
मण्हनमिति । अपि तत्थ एण लोकवादः ।)

निपुणिका—पढमं लोअवाओ एव अज्ज सचो संबुत्तो । (प्रथमं लोकवाद एवाथ सत्यः
संबुत्तः ।)

इरावती—अलं मथि सिखेहेण । कहेहि कुरो दाणि ओगमिद्वयं दोलाघरं पढमं गदो
भट्टा रा वेत्ति । (अलं मथि स्तेजेन । कथय इत इदानीमपगतव्य दोलाघरं प्रथमं गतो मतो
न वेत्ति ।)

निपुणिका—भट्टिणीए अत्थिएददादो पणआदो । (भट्टि-या भट्टिणिततवगपात् ।)
इरावती—अलं सेवाए । मम्मत्तयदं परिगादिअ मणाहि । (अलं सेवया । मण्यास्पता
परिच्छा भव ।)

निपुणिका—वसन्तोस्सवुवाअणालोलुवेण अज्जगोदमेण कदिअं तुवरट्टु भट्टिणी त्ति ।
(वसन्तोस्सवोपायनलोलुवेणार्थगीतमेन कथित स्वरता भट्टिनोति ।)

इरावती—[अवस्थासदृश परिक्रम्य ।] हृदये मदेण किल्लअमाणं अत्ताणं अज्जउत्तस
दंसणे हिअअं तुवरेदि । चलणा उण ण मह पसरन्ति । (चेदि मदेन क्लाम्यमानमारमानमार्थ-
पुत्रस्य दर्शने हृदय स्वरयति । चरणौ पुनर्न मम प्रसरतः ।)

निपुणिका—खं संपत्त मह दोलाघरं । (ननु संपाते एते दोलाघरम् ।)
इरावती—णिणिए । अज्जउत्तो एत्थ ण दोसदि । (निपुणिके । आर्यपुत्रोऽत्र न दृश्यते ।)
निपुणिका—खं भट्टिणीए ओलोअट्टु । परिहासणिमित्तं कहिं वि अदिहेण भत्तुणा

इरावती—निपुणिका ! मैं बहुत सुना करती हूँ कि मदिरा पीनेसे स्त्रियाँ बहुत सुन्दर
लगने लगती हैं । यह कहावत सच है क्या ?

निपुणिका—पहले तो यह कहावत ही थी, पर आज तो यह बात सच दिखाई दे
रही है ।

इरावती—चल, चल । मुँह-देखी मत कह । अच्छा यह बता कि यह बता कैसे चले कि
स्वामी मूलेपरमें पहुँच गए हैं या नहीं ।

निपुणिका—आपका अरुंध प्रेम ही यह बता रहा है ।
इरावती—ठकुरसुहाती रहने दो । लखी-चप्पो छोड़कर सच-सच बता ।

निपुणिका—वसन्तोस्सवमी पूजाकी भेंट पानिके लोभी आर्य गीतमने यह कहलाया है
कि देवीको मटपट भेज दो ।

इरावती—[मदमें धूमर घूमती दूर] दासी ! मद इतना चढ़ गया है कि आर्यपुत्रको
देरनेकी अकुलाहट होनेपर भी मेरे पर आगे नहीं चढ़ रहे हैं ।

निपुणिका—लीजिए, मूजेपरमें तो आप पहुँच गईं ।
इरावती—अरी निपुणिका ! आर्यपुत्र तो यहाँ क्यों दिखाई ही नहीं पड़ रहे हैं ।

निपुणिका—ध्यानसे देखिए स्वामिनी ! आपसे ठिठोली फाके लिये रामो यहाँ कहीं

होदवन् । अग्ने वि पिअद्भुलदापरिक्खितं असोअसिलापट्टञ्चं पविसामो । (ननु भट्टिम्यवलो-
कयत्तु । परिहासनिमित्तं कुत्रोत्पद्यन्ते भर्त्सा भवित्कयम् । आवाभपि प्रियद्भुलतापरिश्रितमशोकशिला-
पट्टकं प्रविशावः ।)

इरावती—वह । (तथा ।)

निपुणिका—[विलोक्य] अलोअद्भु भट्टिणी चूदङ्करं विचिएण्णतीणं पिपीलिआहिं
दंसिदं । (अवलोकयत्तु भट्टिनी चूताङ्कर विचिन्वत्योः पिपीलिकाभिर्दण्डम् ।)

इरावती—अहं विअ एदं । (कथमियेदम् ।)

निपुणिका—एसा असोअपादवच्छाअण्ण मालविआए वल्लावलिआ चलणालंकारं
णिव्वट्टेदि । (एपासोकमदपच्छायाया मालविनाया वकुलावलिना चरणालङ्कारं निर्वर्तयति ।)

इरावती—[अज्ञा स्तुतिम्] अभूमी इअं मालविआए कहं एअथ तक्केसि । (अभूमिरियं
मालविकायाः । कथमत्र तर्कयति ।)

निपुणिका—तक्केमि दात्तापरिद्वभंसिदाए देवीए असोअदोहल्लाहिआरे मालविआ खिवे-
चेत्ति । अएणाहा । कहं देवी सअं धारिअ ण उज्जुउळं परिअण्णसस अअण्णु ज णिस्सदि ।
(तर्कयामि दोहापरिभ्रष्टया सदचरणया देव्याऽऽशोकदोहदाधिकारे मालविकां निपुक्तेति । अन्यथा
कथं देवी स्वयं धारितं नूपुरमुगुलं परिवनस्थान्भवतुञ्जास्यति ।)

इरावती—महद्वी कसु से संभावणा । (गहती पत्न्यस्याः रुमं यता ।)

निपुणिका—किं ण अएण्णोसीअदि भट्टा । (किं नाग्निपत्नी मतां ।)

छिपे बैठे होंगे । आइए, हम लोग भी प्रियंगुके लता-मंडपमें चलकर अशोकके लते पत्थरकी
पटियापर बैठें ।

इरावती—ठीक है ।

निपुणिका—[देखकर] देखिए तो रत्नामिनी ! हम चलीं थीं आम को कोपलं दूढ़ने और
फाट लिया थां टियोंने ।

इरावती—कैसे रे ?

निपुणिका—देखिए न । यहाँ वक्रुचावलिना, अशोककी छायामें बैठी हुई मालविकाके
पैर रेंग रही है ।

इरावती—[कुछ सन्देह करके] मालविका तो इधर आने नहीं पाती, आज क्या घात
हो गई है ?

निपुणिका—मैं समझती हूँ कि मूलेपरसे गिर जानेके कारण महारानीके पैरोंमें घोट
आ गई है इसलिये अशोकके मूलेके लिये उसपर लान मारनेका काम मालविकाको ही
सौंपा गया होगा । नहीं तो क्या महारानी कभी अपने पैरके बिदुए उतारकार अपनी
दासियों को पहननेके लिये भला दे सकती हैं ?

इरावती—हाँ, हो न हो यही घात है ।

निपुणिका—तो क्या महाराजको न बुद्धिपणा ?

इरावती—हला ए मे चलणा अण्णदो पवट्टन्ति । मदी मं विअरेदि । आसद्धिरस दाव अन्तंगमिरसं । [मालविका निवंपथं । निरुत्थात्मगतम् ।] ठाणे व्वु फादरं मे हिअअं । (वरि न मे चरणान्वयकः प्रतीते । मदी मा विअरयति । आसद्धितस्य तावदन्त गमिष्यामि । स्थाने एल फातर मे हृदयम् ।)

वकुलावलि—[मालविकायै चरण दर्शयन्ती ।] अवि रोअदि दे राअरेहाविण्णासो । (अवि राचते वै रागरेणविवाहः ।)

मालविका—हला अत्तो चलणं ति लजेमि गुं पसंसित्तुं । वेण पसाहणवलाए अदिणी-दासि । (वरि आत्मनश्चरं इति लजे एन प्रयत्नित्तुम् । वेन प्रशयनकलायागभिनीतासि ।)

वकुलावलि—एत्थ म्हु भत्तुणी सीसन्दि । (अत्र खलु मयुः शिष्यामि ।)

विदूषकः—तुवरे हे व्व गुं गुण्दक्खिण्णाए । (वरय तावदेना गुण्दक्षिणायै ।)

मालविका—दिट्ठिअए गच्चिदानि । (दिष्ट्या न गर्जितासि ।)

वकुलानलि—एवमाणुक्का चलणा लम्मिअ अज्ज दाव गच्चिदा भविस्सं । [राग विलास्यत्सगतम्] हन्त सद्धो मे दप्पो । [प्रसन्नम्] सहि एक्कास दे चटणत्स अयसिदो राअणिन्नेवो । केवल हिमादो लम्भददव्वो । अहवा पयादं एदं ठाणं । (उपदेशानुसूची चरणौ लब्ध्वाय तावद्वर्णा भविष्यामि । हन्त सिद्धा मे दर्पः । सर्वा एकस्य ते चरणस्यावहितो रागनिष्ठेयः । केवलं गुणान्वो लम्भयितव्यः । अथवा प्रगतमेतत्पानम् ।)

राजा—सखे परयं

अलीककमस्याधरयं मुसमास्तेन शोपयितुम् ।

इरावती - सती, मेरे पैर ही आगे नहीं बढ़ रहे हैं। इधर मद भी मुझे बेहाल किए डाल रहा है, पर मेरे मनमें जो खटपटा बँट गया है, वह तो मिटाना ही होगा। [मालविकाना देखकर और समझकर मन ही मन] इन्हों सय बातोंसे तो मेरा जी खल जाता है।

वकुलावलि—मालविकानो उठना रेंगा हुआ पैर दिखाती है।] वही महावरी रेंगाई तुम्हे अच्छी लगी ।

मालविका—सु ! अपने पैरकी प्रशंसा करते मुझे राज लगतो है पर वह तो बताओ कि इतनी बढ़िया गारकी क्या तुम्हें मिरसाई है किसने ?

वकुलावलि—अरी ! यह फला तो मैंने स्वयं महाराजसे सोगी है।

विदूषक—जा जाइए, भूपटपर हमसे गुण्दक्षिण तो माँग लीजिए।

मालविका—ए भागवान हो कि इननेपर भी तुम्हें अभिमान छूटन नहीं गया है।

वकुल वलि—अरे मैंने जो कुछ सीखा है उसी फला निम्नलानेके योग्य तुम्हारे चरण पापर आज तो इ अथर्व अभिमान हुआ है। [रेंगाईस देखकर मन ही मन] वाह आज ही तो मेरा अम्नि सधा हुआ है। [प्रसन्न] लो सगी ! तुम्हारा एर पैर तो रेंग गया है अब हमें तुम्हें पर सुखाना भर रह गया है, पर यहाँ तो प्यार भी चल रही है।

राज—देखो ! गीले महावरीसे रेंगे हुए इसके पैरों। मुँहकी कूँटसे सुखाकर इसकी

प्रतिपन्नः प्रथमतरः संग्रति सेवावकाशो मे ॥ १३ ॥

विदूषकः—कुदो दे अणसओ । एदं भवद। चिरक्रमेण अरुणमविदव्वं । (इतस्तेजुशयः । एतावन्नयता चिरक्रमेणानुभवितव्यम् ।)

बकुलावलिका—सहि अरुणसतपत्तं विअ सोहदि दे पल्लणं सव्वहा भत्तणो अक्कपरिवट्टिणी होहि । (सखि अरुणसतपत्तमिव शोभते ते चरणम् । सर्वथा भृङ्गपरिवर्तिनी भव ।)

[इरावती निपुणिकाभवेत्ते ।]

राजा—ममेयमाशीः ।

मालविका—हला मा अयअशीअं मन्तेहि । (सखि मा अव्वनीयं मन्वयस्व ।)

बकुलावलिका—मन्तइदव्वं एव्व मन्तव्वं मए । (मन्वयितव्वेव मन्त्रितं मया ।)

मालविका—पिआ वसु अहं तय । (प्रिया खव्वहं तव ।)

बकुलावलिका—ण केवलं मह । (न केवलं मम ।)

मालविका—कस्स या अणणस्स । (कस्य बान्यस्य ।)

बकुलावलिका—गुणोसु अहिणिवेसिणो भत्तणो वि । (गुणेष्वानिवेशिनो भृङ्गरि ।)

मालविका—अलिअं मन्तेसि । एदं एव्व मइ णत्थि । (अहं मन्वयसे । एतदेव मयि नास्ति ।)

बकुलावलिका—सयं तुइ णत्थि । भत्तणो कित्तोसु सुन्दरपाण्डर दीसइ ध्वंसेसु । (यत्नं त्वयि नास्ति । मर्तुः कृशेषु सुन्दरपाण्डुरेषु दृश्यतेऽङ्गेषु ।)

निपुणिका—पदमं गणिदं विअ हदासए उत्तरं । (प्रथमं गणिनेव हताद्याया उचरम् ।)

सेवा करनेका यह सबसे अच्छा अवसर मेरे हाथ लगा है ॥ १३

विदूषक—तो पढ़ताये क्यों हैं। आपने बहुत दिनों तक ऐसी वा करनेको मिलेगी।

बकुलावलिका—अरी सखी ! तेरी पैर तो लाल कमलके समानखिला पड़ रहा है। मैं तो मनाती हूँ कि तू सदा महाराजकी गोदमें ही लेटी रहे।

[इरावती निपुणिकारी आर देलती ।]

राजा—मैं भी यही आशीर्वाद देता हूँ।

मालविक—सखी ! ऐसी बे-सिरपैरकी बातें न कहा करो।

बकुलावलिका—जो कहना चाहिए वही तो मैं कह रही हूँ।

मालविका—मैं तुम्हारी प्यारी हूँ न ? इसीलिये।

बकुलावलिका—केवल मेरी ही नहीं।

मालविका—और दूसरे किसीकी।

बकुलावलिका—तेरे गुणों पर रीके हुए महाराजकी भी।

मालविका—तू मूठ बहती है। मुझपर उनका तनिक भी प्रेम नहै।

बकुलावलिका—हाँ सचमुच तुमपर तो नहीं, पर महाराजके दुर्ब पीले सुन्दर अंगोंपर वह प्रेम अचर्य दिखाई देता है।

निपुणिका—इस रोटीने ऐसा उत्तर दिया है मानो पहलेसे ही रु वैठी हो।

। वकुलावलिना—अगुराग्रो अगुरापण परिक्रितद्वयो त्ति मुअणवथयणं प्रमाणीकरेहि ।
(अगुराग्राऽगुराणेण परीक्षितव्य इति मुजनवचन प्रमाणीकुरु ।)

मालविका—किं अत्तणो हन्देण मन्तेसि (निमतमनदग्न्देन मन्वयमि ।)
वकुलावलिना—एहि णहि । अत्तणो वसु एदाई पणअमिटुलाई अकत्तराई वसन्तरि-
दाई । (नहि नहि । महुं; खत्वेतानि प्रणवमृदुलप्यस्यणि वचनन्तरितानि ।)

मालविका—हला देवीं चिन्तिअ ए मे हिअथं विस्ससदि । (धरि देवीं चिन्तयित्ता न मे
हृदयं विश्रमिति ।)

वकुलावलिना—मुढे भमरसंपादो भविस्सदि चि वसन्तावदारसव्वससं कि ए चूटप्पसंथो
ओइंसिदत्थो । मुग्गे भमरसंगतो भविष्यतीति वसन्तावतारसर्वसं किं न चूटप्रथाऽनतरि-
तव्यः ।)

मालविका—तुमं दाथ दुज्जादे गच्छतस्य सदायिणी होहि । (तं तावद्दुर्जाते गच्छतः
सदायिनी भर ।)

वकुलावलिना—विमहसुरही वज्जावलिआ वसु अइं । (विमहंसुरभिर्बकुलावलिना
सहरम् ।)

राजा—साधु वकुलावलिके साधु ।

भाषानानानन्तरं प्रस्तुतेन श्रत्याप्याने दत्तयुक्तोचरेण ।

वाक्येनेपं स्थापिता स्वे निदेशे स्थाने प्राणाः कामिनां दृत्पथीनाः ॥ १४ ॥

वकुलावलिना—अच्छा राजनोंकी एक बात तो तुम मान भी लो कि प्रेमकी परीक्षा
प्रेमसे ही होती है ।

मालविका—क्या यह सत्य अपने मनसे गढ़ती जा रही हो ?

वकुलावलिना—नहीं अपने मनसे नहीं । ये प्रेममदरे कोमल अक्षर रस्यं महाराजने अपने
मुँहसे बदे हैं ।

मालविका—पर सखी ! उधर महारानीका व्यवहार देखती हूँ तो सारी आशा ढंडी पड़
जाती है ।

वकुलावलिना—अरी पगली ! क्या भौरोंके डरसे लोग अपने कानोंमें वसन्तको रानी
पनी हुई आमकी गंजरीको पहने ही नहीं ?

मालविका—मुझपर कोई विषदा आवे तो तुम मुझे छोड़ न देना ।

वकुलावलिना—अरी मेरा तो नाम ही वकुलावलिना है । मैं तो जितनी ही अधिक
गसली जाऊँगी बतनी ही अधिक गन्थ दूँगी ।

राज—बाहूरी वकुलावलिना बाहू—इस समय हमके सनरी ठीक-ठीक बाहू ले लेनेपर
जो मेरे प्रेमका प्रस्ताव करके थीर इसके नहीं नहीं करनेपर भी हमें जाँझ-भाँझका उत्तर
देकर जो तुमने इसे पका कर लिया है इससे मुझे विश्राम हो गया कि सबगुन प्रेमियोंके
प्राण दूतियोंही ही मुझीमें रहते हैं ॥ १४ ॥

इरावती—हृदये । पेक्ष्य कारिदं एव चञ्जलावलिनाप एदस्सि पदं मालवित्राए । (सखि । पश्य कारितमेव यकुलावलिच्यैतस्मिन्पदं मालविकायाः ।

निपुणिका—भट्टिणि । अहिआरस्स उइदो उवदेसो । (भट्टिणि । अधिकारस्योचित उप-
वेसः ।)

इरावती—ठाए वसु संकिदं मे हिअअ । गहीदत्था अएण्तरं चिन्तइस्सं । (स्थाने खल्ल
दाङ्कित मे हृदयम् । गृहीतार्थानन्तर चिन्तयिष्यामि ।)

यकुलावलिना—एसो दुदीओ वि दे णिअनुत्तपरिकम्मा चलणो । जाव एं सण्ठरं
करेमि । [इति नाट्येन नृपूरयुगलमागुच्य ।] हला उट्टेहि । असोअविआसइत्तअं देवीए
णिआअं अणुचिट्ट । (एष द्वितीयोऽपि ते निर्बृक्षपरिकर्मा चरणः । यावदेन सनूपुर करोमि । हला
उचिष्ठ । अशोकविकासयितुक देव्या नियोगमनुतिष्ठ ।)

[उभे उचिष्ठनः ।]

इरावती—सुदो देवीए णिओओ । होटु दाणि । (श्रुतो देव्या नियोगः । भवतिदानीम् ।)
यकुलावलिना—एसो उवारुडराओ उअभोअअरत्तो पुरदो दे वट्ट । (एष उपारुडराग
उपयोगधमः पुरतस्ते वर्तते ।

मालविका—[सहर्षम्] किं भट्टा । (किं भर्ता ।)

यकुलावलिना—[अस्मितम् ।] ए दाव भट्टा ।—एसो असोअसाहावलम्बी पल्लवगु-
च्छओ । ओदसेहि एं । (न तान्द्रतां । एषोऽशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छः । भवतस्यैवम् ।)

[मालविका विषाद नाटयति ।]

विदूषकः—सुदं भवदा । (श्रुतं भवता ।)

इरावती—देव सखी ! मालविकाको इतना सम्मान इस यकुलावलिकाने ही दिलाया है ।
निपुणिका—रामिनी । इसे जैसा सिराया गया होगा वैसा ही तो कर रही है ।

इरावती—मुझे जो खटका था वह सब सच ही निम्नला । सब बातोंका ठोक ठोक पता
लगाकर मैं इसका उपाय सोचूंगी ।

यकुलावलिना—लो, तुम्हारा दूसरा पैर भी रँग गया । लाओ इसमें भी बिछुर पहना
दूँ । [दोनों बिछुर पहनानेका नाट्य करती है ।] अब उठो सखी ! महारानीने अशोकके फूल-
नेके लिये जो काम तुम्हें सौंपा है वह पूरा कर डालो [दोनों उठ पडा हाँसी हैं ।]

इरावती—तुमने महारानीका काम सुन लिया न ? अच्छा इसे हो जाने दो ।

यकुलावलिना—लो, यह राग-रँगसे भरत और ध्यानन्द लटने योग्य तुम्हारे आगे ही सो
रहा है ।

मालविका—[प्रसन्न हाँकर] कौन महाराज ?

यकुलावलिना—[धुंकाकर] अरे महाराज नहीं ! ये हैं अशोककी शाखामें लटकनेवाले
पत्तोंका गुच्छा ! लो इसे कानोंपर सजा लो ।

[मालविका दुःखी होती है ।]

विदूषक—सुना आपने ।

राजा—सखे । पर्याप्तमेतावता कामिनाम् ।

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रमिद्व्यथता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति ।

परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरताशोऽपि समानुरागयोः ॥ १५ ॥

[मालविना रचितपक्षपातता पादमद्योकाय प्रदिशाति ।]

राजा—वयस्य ।

आदाय कर्णकिमलयमस्मादियमत्र चरणमर्पयति ।

उभयोः सदृशनिनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये ॥ १६ ॥

बहुलावलिना—हला पत्थि दे दोसो । गिम्गुणो अत्र असोथो जइ हुसुमो भेदमन्यरो भवे जो दे चलनसकार लम्भिअ । (यखि नासि ते दाप । निगुणाऽयमशाको यदि खुसुमो-द्वेदमन्यरो भवेत् यत्नेचरणतरङ्गार एवम् ।)

राजा—

यनेन तनुमध्या मुखरनूपुरारणिणा
नरान्युरुहसोमलेन चरणेन संभावितः ।

अशोक यदि मद्ये एव मुहुर्नैर्न संपत्स्यसे

धृया वहमि दोहर्दं ललितकामिसाधारणम् ॥ १७ ॥

सखे वचनानुसरणपूर्वकं प्रवेदुभिच्छामि ।

राजा—मित्र । प्रेमियोंके लिये इतना भी बहुत है । देसो ! जहाँ, एक मिलनेके लिये व्याकुल हो और दूसरा मिलना ही न चाहता हो जहाँ उनका मिलना न मिलना बरानर है । पर जहाँ जोनों मिलनेके लिये अचोर हों और दोनों एक दूसरेके मिलनेसे हाथ धा बँडे हों वहाँ प्राण भी दे देना पड़े तो बुरा नहीं है ॥ १५ ॥

[मालविना पक्षोक्ष सु-ठा जानपर लटकार अशकार लात चमता है ।]

राजा—मित्र । देसो इसने अपने कानोंपर सजानेके लिये जो अशोकसे पत्ते लिए तो उसके बदलेमें इसने अपना पक्षो जैसा चरण भी उसे भेंडेमें दे दिया । इन दोनोंने एक जैसी वस्तुका अदला-बदला करके मुझे तो सचमुच वहाँना न छोडा क्योंकि अत्र मैं इससे इस प्रकार प्रेमकी वस्तुओंकी अदला-बदली कैसे कर पाऊँगा ॥ १६ ॥

बहुलावलिना—सखी । यदि तुम्हारे चरणोंकी पूजा पाकर भी यह अशोक न पूजे तो इसमें तुम्हें दोष नहीं लगेगा किन्तु अशोक ही निकम्मा समझा जायगा ।

राजा—इस पतली कमरवाली सुन्दरीना जो नये कमलने समान कोमल चरण विद्यु-ओंकी मँडारसे गूँज रहा है, उससे आदर पाकर भी यदि तुममें कलियों फूट आतीं तो मैं यही समझूँगा कि सुन्दरीकी छात्रसे फूल उठनेकी जो चाह मस्त प्रेमियोंके मनमें होती है वह तुम्हारे मनमें व्यव ही उत्पन्न हुई ॥ १७ ॥ मित्र । हम लोगोंकी कोई बात पळे तो हम भी आगे बढ़ चलें ।

विदूषक—एहि । रा परिहासहरसं । (एहि एना परिहासविशयि ।)

[उभौ प्रवेश कुर्वत ।]

निपुणिका—भट्टिणि भट्टिणि । भट्टा एतथ पविसवि । (भट्टिनि, भट्टिनि । भट्टं ज्ञ प्रविशति ।)

इरावती—एदं मम पढम चिन्तित् हिअएण (एतन्मम प्रथम चिन्तित हृदयेन ।)

विदूषक—[उक्तेन] भोदि । जुच एणाम अत्तहोदि पिअयअस्तो अअं अतोओ रां वामपादेण ताडिदुं । (भवति । युक्तं नाम अत्रभवति प्रियवयस्योऽयमंशोको ननु वामपादेन ताडयितुम् ।)

उभौ—[सतप्रथमम्] अहो भट्टा । (अहो भर्ता ।)

विदूषक—वकुलावलि । गहोदश्याए तुए अत्तहोदी ईरिसं अविअ फेरन्ती कीसं एण शिषारिदा । (वकुलावलि । वृतीतार्यथा स्वपत्रमगतिदशमवित्तये कुर्वन्ती कल्याणन निवारिता ।)

[मालविका मय रूपयति ।]

निपुणिका—भट्टिणि पेअए । कि पउत्तं अज्जगोदमेण । (भट्टिनि पदय । किं प्रवृत्तमार्यं गौतमेन ।)

इरानती—कह वल्लु ब्रह्मवन्धू अएण्हा जोविस्तदि । (मय ललु ब्रह्मव धुरन्वया बीवि ष्यति ।)

वकुलावलि—अज्जा । ऐसा देनीए शिओअ अणुचिद्धदि । एदसिं अदिकमे परवरो इअ । पसीददु भट्टा । (आर्य । एषा देना नियागमनुतिष्ठति । एतस्मिन्नतिक्रमे परधेतीयम् । पसीदतु भर्ता ।) [इत्यात्मना यदेना प्रणिशतयति ।]

विदूषक—आइए । में इसे छोड़ता हूँ न ।

[दोनों आगे पड़ते हैं ।]

निपुणिका—स्वामिनी । स्वामिनी । महाराज आ रहे हैं ।

इरावती—यह तो मैं पहले ही ताड़ गई थी ।

विदूषक—[पात न कर] कहिए देवी । क्या हमारे प्यारे मित्र अशोकपर अपनी बाईं लात जमाकर आपने कोई अच्छा काम किया है ?

दोनों—[चर कर] अरे । महाराज ।

विदूषक—क्यों वकुलावलि । सन-बुद्ध जान धूमकर भी तुमने इन्हें ऐसी दिठार्ई करनेसे रोका क्यों नहीं ?

[मालविका दरमेका नाट्य करती है ।]

निपुणिका—स्वामिनी । आपने आर्य गौतमकी चाल देरी ?

इरावती—ऐसा न करे तो इस दुष्ट वामिनका पेट कैसे पड़े ।

वकुलावलि—आर्य । यह महाराजकी आज्ञाका ही पालन हो रहा है । इसीलिये यह ऐसी दिठार्ई करनेमें परवश थी । महाराज क्षमा करें ।

[अथम राग मालविका भा उनके पैरोंमें छफती है ।]

राजा—यद्येवमनपराधासि । उचित्तु भद्रे । [हस्तेन स्त्रीपैनामुत्थापयति] —

विदूषक—जुजुइ देवी एस्यमाणहृदय्या । (युग्मते देव्यन मानयितव्या ।)

राजा—[विस्मय]

किमलयमृदोरिलामिनि कठिने निहतस्य पाठपस्कन्वे ।

चस्यास्य न ते नाथा सप्रति नामोरु वामस्य ॥ १८ ॥

[मालविका स्या नाग्यति ।]

इरावती—यहो गवणोदरूपहिअओ अजउतो । (अहा नउनीवउहृदय भाषणु ।)

मालविका—उउलाउलिण एहि । अणुउट्टिइ अउतो णिओअ देवीण णिवेण्ण्ह । (वकुलवलिणे । एहि । अनुष्ठिन गभमो नियाग देव्ये नियग्याव ।)

वकुलारलिण विणावेहि भट्टार विसज्जेहि ति । (विज्ञापय मतार विमुजयेति ।)

(१) राजा भद्रे यास्यसि । मम तावदुपपन्नवसरमर्थिव श्रूयताम् ।

वकुलारलिका—अवहिदा सुणाहि । आणवेहु भट्टो । (अवदिता शृणु । आज्ञापयतु मतां ।)

राजा—

धृतिपुण्यमयमपि जनो उध्नाति न ताट्यं चिरात्प्रभृति ।

स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यस्चे ॥ १९ ॥

राजा—अच्छा, यह बात है वो कोई दोष नहीं । ठठो भद्रे । [हाथसे पसंद कर मालविकाको उठाती है ।]

विदूषक—ठीक है, महारानीकी बात तो माननी ही चाहिए थी ।

राजा—[देखकर] क्यों विलासिनी ! तुम्हारा यह पत्तोंके समान कोमल धारोंपर अशोकपर लगनेसे कहीं दुखने तो नहीं लगा है ?

[मालविका लजानना नाट्य करती है ।]

इरावती—वाह इस समय आर्यपुत्रका हृदय मरुत्खनके समान कोमल बन गया है ।

मालविका—आओ वकुलारलिका ! महारानीकी सूचना दे आर्यो कि आपकी आज्ञा पूरी कर दी गई है ।

वकुलारलिका—पहले महाराजसे यह प्रार्थना करो कि ये तुम्हें छोड़ दें ।

राजा—तुम जा समता हो भद्रे । पर एक बात मेरी सुननी जाओ ।

वकुलारलिका—देखो ध्यान देकर सुनो । हों महाराज ! आज्ञा कीजिए ।

राजा—देखो सुन्दरी ! बहुत दिनोंसे इसी अशोकके समान ही मुझमें भी पीरजके फूल नहीं आ रहे हैं । इसलिये तुम्हें छोड़कर और किसीसे प्रेम न करनेवाले शुक्र सेवकके मनकी साथ भी अपने स्वर्शका अमृत पिलाकर आज तुम पूरी कर दो ॥ १९ ॥

इरावती—[सहसोपसृत्य] पूरेहि । असोद्यो कुसुमं स दंसेदि । अत्रं उण पुष्पदि एव ।
(पूर्य पूर्य । अद्योः कुसुमं न दर्शयति । अयं पुनः पुष्पत्वेन ।)

[सर्वे इरावती दृष्ट्वा सध्रान्ताः ।]

राजा—[अग्न्यायं ।] वयस्य । का प्रतिपत्तिरत्र ।

विदूषकः—किं अयस्यं । जह्वाचल एव । (किमन्यत् । जह्वाचलमेव ।)

इरावती—वउलाचलि । तुण साहु उरकन्तं । दाणि सकउमरथणं करेहि अज्जउत्तं ।
(वकुलाचलिके । तथा साधूनाम्नम् । इदानीं उपमाभरणं कुर्याद्ययम् ।)

उभे—पसीदहु भट्टिट्ठणी । काओ अम्हे भत्तणो पणअपरिगहस । (प्रसीदतु भट्टिनो ।
के आरा भतुः प्रणयपरिग्रहस्य ।) [इति निष्क्रान्ते ।]

इरावती—अविस्सणोआ पुरिसा । अत्तणो वज्जणअयणं पमाणीकरिअ आकिरवाए
वाहजणगीदगहोदच्चिआए विअ हरिणीएएवं स विरएणवं मए । (अविशसनीयाः पुर्याः ।
आत्मना वञ्चनावचन प्रमाणीकृत्या क्षमया व्याभजनगीतगृहीतानुचयैर हृषीकेशेन विहात मया ।)

विदूषकः—[जनान्तिक्कम्] भो पडिपउजेदि किं प उत्तरम् । कम्मग्गहीदेण वि कुम्भी-
लएण संधिच्छेदे सिम्मिलओम्मि ति वत्तव्वं होदि । (भा प्रतिपद्यत किमप्युत्तरम् । कर्मगृहीते-
नापि कुम्भीलकेन सन्धिच्छेदे सिमित्ताऽस्मात्ति वत्तव्य मयति ।)

राजा—सुन्दरि । न मे मालविकया कश्चिदर्धः । मया त्वं चिरयस्यसि यथाकथंचिदात्मा
यिनोदितः ।

इरावती—[गृष्ट्वा आगे बढकर] हॉ हॉ पूरी करो, पूरी करो । अशोकरमें अभी फूल
नहीं आए हैं पर ये तो अभीसे फूले जा रहे हैं ।

[इरावतीको देखकर घबरा जाते हैं]

राजा—[अलग] कदो मित्र ! अब क्या किया जाय ।

विदूषक—और क्या किया जावगा ! चलिए पैरोंका सहारा लिया जाय ।

इरावती—क्योंरी धकुलाचलिका ! यह तुने अच्छा काम लिया है ? जा, अब कर न
आयंपुत्रकी साध पूरी !

दोनों—क्रोध न कीजिए महारानी ! भला हम कौन होती हैं मह राजकी साध पूरी
करनेवाली ।

[दोनों चली जाती हैं ।]

इरावती—सचमुच पुरपोंका कोई विश्वास नहीं है । मैं क्या जानती थी कि जैसे
व्याधोंके गीत सुनकर हरिणी सब सुध-सुध खोकर जालमें फँस जाती है वैसे ही मैं भी
इनकी चिकनी-चुपड़ी बातोंपर विश्वास करके इनके फन्देमें फँस जाऊँगी ।

विदूषक—[अलग] अजी, कुछ तो बात बताइए । चोरी करते हुए पकड़ा हुआ चोर
भी यह कह देता है कि मैं चोरी करनेके लिये सँध नहीं लगा रहा था किन्तु यह देखना
प्राहता था कि मैंने मोत फोड़ने की विद्या ठीक ठीक सीख पाई है या नहीं ।

राजा—सुन्दरी ! मालविकासे हमें क्या लेना-देना है । तुम्हारे आनेमें देर हो रही थी
इसलिये थोड़ा बहुत जी बहला रहे थे ।

इरावती—विस्ससणीओसि ! ए गए विण्णादं ईरिमं विणोदधुत्तंतं अज्जउत्तेण उवलद्ध
न । अएण्णाहा दुक्कभाइणीए एत्थं ए करीअदि । (निश्चननीयोऽति । न मया विशात्मदीदध
नोदवृत्तान्तमार्यपुरेणोपलब्धः इति । अन्यथा दुःखमागिन्यैव न क्रियते ।)

विदूषकः—मा दाव अत्तभोदो वन्निअएणस्स उवरोहं करेहि । समावदिट्टेण देवीए
रिचारिइत्थिआज्जेण संकहाधि जइ चारोअदि एत्थ तुमं एत्थ पकाणं । (मा वाअद्वममतो
द्विष्णुपयोपरोप दुःख । समीपदृष्टेन देव्याः परिचारिस्त्रोजनेन सत्कृपापि यदि वार्यते अत्र तमेव
माणम् ।)

इरावती—एवं संकहा णाम होतु । किंति अत्ताणं आआसइस्सं । (ननु संकथा नाम मत्तु ।
मित्वात्मानमाथावधिष्णामि । [इति रूपा प्रस्थिता ।]

राजा—[अनुसरत् ।] प्रसीदतु भवती ।

[इरावती रक्षणासधारितचरणा ब्रजत्येव ।]

राधा—सुन्दरि । न शोभते प्रणयिनि जने निरपेक्षता ।

इरावती—सठ । अविस्ससणीअद्विअओसि । (शठ । अविस्ससणीअद्वयोऽति ।)

राजा— शठ इति मयि तावदस्तु ते परिचयवत्यवधीरणा प्रिये ।

चरणपतितया न चण्डि तां विसृजसि मेखलायापि याचिता ॥ २० ॥

इरावती—इत्थं पि हदासा तुमं एत्थ अणुसरदि । (इवमपि हताशा राजानुसरति ।)
इति रक्षणाभावाय राजानं तावधितुमिच्छति ।]

इरावती—जी हों ! वड़े सधे हँ आप ! मुझे नहीं पता था कि आर्यपुत्रको गन बहलानेके
लेये यही वस्तु मिली है, नहीं तो मैं अभागिन वीचमं पड़ती ही क्यों !

विदूषक—देखिए, आप महाराजको साधारण शिष्टाचार दिखानेसे मत रोकिए । यदि
आप यह चाहती हैं कि पास आई हुई महारानीकी दासियोंसे भी महाराज बात-चीत न
हैं तो ठीक है, वही सही ।

इरावती—अच्छा तो होने दोजिए बात-चीत, मैं क्यों अपना जी दुःखाऊँ ! [वीचमं
मरी चली जाती है ।]

राजा—[पीछे पीछे जाते हुए] अरे मान जाओ देवी !

[इरावती पैरों पँचो हुई तगड़ीको धमीउती हुई चली जाती है ।]

राधा—सुन्दरी ! अपने प्यारेसे रुठना तुम्हें शोभा नहीं देता ।

इरावती—अरे शठ ! तेरा मुझे वनिक भी विश्वास नहीं है ।

राजा—तुमने शठ रहकर जो मेरा निरादर किया है, यह तो कोई गई बात नहीं है ।
पर हे चंडी ! जब तुम्हारी तगड़ी भी तुम्हारे पैरोंपर पड़कर क्षमा माँग रही है तब भी
क्या तुम अपना क्रोध न छोड़ोगी ॥ २० ॥

इरावती—छो, यह नियोजी भी तुम्हारे ही पीछे जा रही है ।

[तगड़ी छेकर राजासा मारना चाहती है ।]

राजा—घयस्य । इयमिरावती ।

चाप्पासारा हेमकाञ्चीगुण्येन श्रोणीविम्वाद्भ्युपेक्षाच्युतेन ।

चण्डी चण्डं हन्तुमभ्युद्यता मां विद्युद्धान्ना मेघराजोव विन्ध्यम् ॥ २१ ॥

इरावती—किं मं एव भूञ्जो वि अषरद्ध करोसि । (किं मामेव भूयाऽप्यशरादा करोषि ।)

राजा—[सरसन हस्तमवलम्बयति ।]

अपराधिनि मयि दण्डं संहरमि किमुद्यतं कुटिलकेशि ।

वर्धयसि विलसितं त्वं दासजनायाद्य कुप्यसि च ॥ २२ ॥

नूनमिदमनुज्ञासम् । [इति पादयोः पतति ।]

इरावती—ण क्यु इमे मालविआचलणा जः वे हरिसदोहलं पूरविरसन्ति । (न खस्विनो मालविकाचरणौ यौ वे हर्षदोहद पूरयिष्यतः ।)

[इति निष्क्रान्ता सह चेष्टा ।]

विदूषकः—उट्टेहि अकिदप्पसादोऽसि । (उच्छिद्य । अकृतमसादोऽसि ।)

राजा—[उरुधायेरावतीमपश्यन् ।] तत्कथं गतैव प्रिया ।

विदूषकः—अयस्स । विट्ठिआ इमस्स अविशुअरस अप्पसएणा गढा एसा । ता अअ सिग्घं अयक्कमाम । जाय अङ्गारओ रासिं विअ अणुवङ्क ए करेदि । (वयस्य । विष्वानेनावि-
नयेनाप्रसन्ना गतैवा तदर्थं शीघ्रमपकमामः । यवदङ्गारका राक्षिमिवाणुरकः प्रतिगमन न करोति ।)

राजा—मित्र ! अँसँमें अँसु भरे, क्रोधसे ताल और अपने नितम्बोंपरसे अनादरके कारण लुट्टी हुई करधनीकी खोरीसे मुझको पीटती हुई यह इरावती, इस समय ऐसी लज रही है मानो घनी बदली विन्ध्याचलपर विजली गिराकर उसे फाड़ने पर उतारू हो गई हो ॥ २१ ॥

इरावती—अच्छा ! तो तुम मुझपर ही दोष लगाने चले हो ?

राजा—[तमही सहित हाथ पकड़ लेता है ।] हे धुँधराले चालोंवाली ! तुम मुझ अपराध करनेवालेको दंड देते-देते रुक क्यों गई ? इस समय मुझ दासपर जो तुम क्रोध कर रही हो इससे तुम्हारी शाभा और भी बढ़ गई है ॥ २२ ॥ तो आपने मेरी बात मान ली है । [पेशे पर गिरता है ।]

इरावती—ये मालविकाके पैर नहीं हैं जो तुम्हारे मनको साध पूरा कर देंगे । [दासीके साथ चली जाती है ।]

विदूषक—उठिए ! आप तो ठन ठन गोपाल ही रह गए !

राजा—[उठकर इरावतीको न देखकर] तो क्या प्यारी चली ही गई ?

विदूषक—मित्र ! अपना बड़ा भान्य ही समझो कि वे आपकी ठिठार्ई पर विगडकर चल दीं । चलो हम लोग भी यहाँ से नौ-दो-न्यारह हो जायें फहाँ वे मंगल मङ्के समान लुट्टी चाल-चलकर फिर इसी राशिपर न लौट आवें ।

राजा—अहो मदनस्य वैषम्याम् ।

मन्ये प्रियाहृतमनास्तस्याः प्रणिपातलङ्घनं सेवाम् ।
एवं हि प्रणयवती सा शक्यमुपेक्षितुं कुपिता ॥ २३ ॥

[इति निष्क्रान्तः शर वपस्येन]

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥

राजा—आह ! प्रेम भी कैसा कठोर होता है । ऐसे समय जब कि मालविका मेरा मन हर ले गई हो, उस समय मेरे हाथ पैर जोड़नेपर भी उसका रुठकर चला जाना अच्छा ही हुआ क्योंकि अब तो यह मुझसे रुठ ही बैठी है इसलिये थोड़े दिनों तक तो इस प्रेमिकासे अलग रहा ही जा सकता है ॥ २३ ॥

[अपने मित्र विदूषकके साथ चला जाता है ।]

॥ तीसरा अंक समाप्त ॥

चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशति पशुस्तुको राजा प्रतीहारी च ।]

राजा—[आत्मगतम्]

तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया वद्धमूलः
संप्राप्तायां नयनविषयं रुद्ररागप्रवालः ।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वा-
त्क्षुर्यात्कान्ठं मनसिजतरुमं रसज्ञं फलस्य ॥ १ ॥

[प्रकाशम्] सखे गौतम ।

प्रतीहारी—जेदु जेदु भट्टा । असंहिण्डो गोदमो । (बयतु बयतु मर्ता । वरंनिदिता गौतमः ।)

राजा—[आत्मगतम् ।] आः मालविकावृत्तान्तज्ञानाय मया प्रेषितः ।

विदूषकः—[प्रविश्य ।] बड्डडु भवं । वर्षता भयार ।)

राजा—जयसेने ! जानीहि वापस्वय देवी धारिणी सरुजचरणत्वाद्धिनोदात इति ।

प्रतीहारी—जं देवो आग्निवेदि । (यएव आज्ञापयति ।) [इति निष्क्रान्ता ।]

चौथा अङ्क

[अनमने-से राजा आते हैं और साथमें प्रतीहारी आती है ।]

राजा—[मन ही मन] अपनी प्यारीके सम्बन्धकी बातोंसे बड़ी हुई आशा ही जिसकी जड़ है, प्यारीको देखनेसे जगा हुआ प्रेम ही जिसके पत्ते हैं और प्यारीके हाथके स्पर्शसे शरीरमें उठे हुए रोंगटे ही जिम्मेके फूल हैं, वह प्रेमका पृष्ठ दी मुझे उसका मोठा फल भी चखावे ॥ १ ॥

[प्रकट] मित्र गौतम !

प्रतिहारी—जय हो, महाराजकी जय हो । गौतमजी यहाँ नहीं हैं ।

राजा—[मन ही मन] हाँ, ठीक है । मैंने ही तो उन्हें मालविकाकी टोह लेनेके लिये भेजा है ।

विदूषक—[आकर] बधाई है आपको ।

राजा—जयसेना ! जाओ देखो तो, देवी धारिणी अपना चोट लगा हुआ पैर लिए कहाँ जी बहला रही हैं ।

प्रतीहारी—जैसी देवकी आशा ॥ [खली जाती है ।]

राजा—गीतम । को वृत्तान्तरतयभवत्यास्ते सत्याः ।

विदूषकः—जो बिडालगद्दीदाए परहुदिआए । (या बिडालगद्दीदायाः परभृतिभावः ।)

राजा—[सविपादम्] क्यमिच ।

विदूषकः—सा कस्तु तवरिसणो तए पिङ्गलच्छीए सारभण्डभूषणए गुहाए विअ निरिस्ता । (सा खलु नगरिनी तथा पिङ्गलाद्या सारभण्डभूषणदे गुहायामिच निरिस्ता ।)

राजा—ननु मत्संपर्कमुपलभ्य ।

विदूषकः—अह ई ! (अयं किम् ।)

राजा—क एवं विमुरोऽस्माकम् । येन चण्डीकृता देवी ।

विदूषकः—सुणाडु भवं परिव्वाजिआए मे कहिदं । हिओ किल तत्तहोदी इरावदी रुद्रकन्तचलणं देवि सुहपुच्छिआ आगदा । (शृणोतु मान् । परिव्वाजिआ मे कथतिम् । ह्यः किल तत्रमतीरावती यज्ञकान्तचरणां देवीं सुहपुच्छिकागता ।)

राजा—ततस्ततः ।

विदूषकः—वदो सा देवीए पुच्छिदा । किं ए ओलोइदो वल्लहजणो त्ति । ताए उच्चं । मन्दो वो उवधारो जं परिजणे संजन्तं वल्लहत्तणं ण जायीअदि । (ततः सा देव्या पृथा । निन्वाळोन्तितो वल्लभजन इति । तथोचम् । मन्दो य उपचारः करारिजने संक्रान्तं वल्लभत्वं न शक्यते ।)

राजा—अहो निर्मेदाहृतेऽपि मालविकायामयमुपन्यासः शक्यति ।

राजा—कहो, गीतम ! तुम्हारी सखी मालविकाके क्या समाचार है ।

विदूषक—वहा जो दिल्लीके पंजेमें पड़ी हुई कोयलके होते हैं ।

राजा—[दुःखी शस्त्र] कैसे ?

विदूषक—बेचारी तपस्विनीको उस पीली आँसवालीने नीचेके भंडारवाली कालकोठरीमें बन्द कर रक्खा है ।

राजा—मेरे प्रेमकी बात जाननेके कारण ही उसे बन्द किया होगा ।

विदूषक—और क्या ?

राजा—ऐसा कीन हमारा बैरी है जिसने देवीको इतना भड़का दिया है ।

विदूषक—सुनिए ! मुझने परिव्राजिकाजी कह रही थीं कि कल पैरमें चोट साई हुई देवी धारियासे कुशल-भंगल पूछने इरावती वहाँ पहुँची थी ।

राजा—तब-तब ?

विदूषक—तब उनसे महारानीने पूछा—कहो, प्रियतमसे इधर भँट हुई थी ? इसपर वे बोलीं—अब उन्हें प्रियतम न कहिए ! क्या आप नहीं जानतीं कि वे अब दासियासे प्रेम करने लगे हैं ?

राजा—यद्यपि बात खोल कर नहीं कहों गई, फिर भी जान पड़ता है कि उन्होंने मालविकाको लक्ष्य करके ही यह बात कही है ।

विदूषकः—तदो ताए अरुणबन्धिज्जमाणा सा भवदो अविण्णं अन्तरेण परिगदत्था किदा देवी । (ततस्तयानुबन्धमाना सा भवतीऽविनयमन्तरेण परिगतार्था कृता देवी ।)

राजा—अहो दीर्घरोपता तत्रभवत्याः । अतः परं कथय ।

विदूषकः—किं अवरं । मालविष्ठा वज्रलावलिआ अ पादात्तावासं णिगलपदीओ अदिट्ठसु-
ज्जपादं शागरुणआओ विअ अरुणहोन्ति । (किमपरम् । मालविका बहुलावलिआ च पातालावतं
निगलपद्यावदृश्यैवापदं नागकन्यके इवानुभवतः ।)

राजा—कष्टं कष्टम् ।

मधुरस्वरा परभृता भ्रमरी च विबुद्धचूतसङ्गिन्यौ ।

कोटरमकालघृष्ट्या प्रबलपुरोवातया गमिते ॥ २ ॥

अप्यत्र फस्यच्चिदुपकमस्य गतिः स्यात् ।

विदूषकः—कहं भवरससि । जं सारभायदधरव्यापारिदा माहविष्ठा देवीए संदिद्धा ।
मह अंगुली अमुविअं अदेक्खिअएण मोत्तवा तुए इदासा मालविष्ठा वज्रलावलिआ अ
सि । (कथं भविष्यति । यत्सारभाण्डं दृष्ट्वापारिता माधविका देव्या संदिष्टा । ममांगुलीयकमुद्रिका-
मदध्वा न मोत्तथा स्वया इदाशा मालविका बहुलावलिआ चेति ।)

राजा—[निम्बस्व उःसामर्थम् ।] सखे । किमत्र कर्तव्यम् ।

विदूषकः—[विचिन्त्य] अस्थि प्पथा उवाओ । (अस्थयोपायः ।)

राजा—क इच ।

विदूषक—इसपर जब उन्हेंने बहुत हठ किया तो इरावतीने महारानीके आगे आपका
पूरा कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया !

राजा—जान पड़ता है इरावती बहुत कुपित हो गई हैं । अच्छा, फिर क्या हुआ ?

विदूषक—और क्या होना था ? मालविका और बहुलावलिआके पैरमें बेड़ी डालकर
उन्हें नागकन्याओंके समान ऐसे पातालामें जे जाकर रख दिया गया है जहाँ सूर्यकी किरणें
भी नहीं पहुँच सकतीं ।

राजा—यह तो बड़ा बुरा हुआ कि बीरे हुए आमके साथ रहनेवाली मिठबोली कोयल
और भौरी दोनोंको, प्रचंड पुरवाई और अस्मयकी वर्षाने पैदके खोललेमें बन्द कर दिया
॥ २ ॥ कहो, अब उन्हें छुड़ानेका कोई उपाय हो सकता है या नहीं ?

विदूषक—उपाय क्या होगा । उस निचले भंडारकी रखवाली माधविकाको देवोंने यह
कह दिया है कि इन अभागिन मालविका और बहुलावलिआको बिना मेरी अंगूठी देखे
कभी न छोड़ना ।

राजा—[लंसी सौंठ छेते हुए कुछ सोचकर] क्यों मित्र ! अब क्या किया जाय ।

विदूषक—[सोचकर] एक उपाय है ।

राजा—क्या ?

विदूषकः—[सहस्रिधेयम्] को वि अदिहो सुगिस्तदि । कण्ठे दे कहेमि । [इत्युपरिलिप्य कर्णे] एखं विअ । (कोषदृष्टः श्लेषति । कर्णे ते कथयामि । एरमिर ।) [इत्यावेदयति ।]

राजा—[उर्ध्वम्] सुष्ठु । प्रयुज्यतां सिद्धये ।

[प्रविश्य]

प्रतीहारी—देव पयादसग्रणे देवो णिमण्णा रत्तचन्दणधारिणा परिअण्हइत्यगदेण चलणेण भअयदोए कहाई विणोदिज्जमाणा चिट्ठदि । (देव । प्रगतयाने देवो निपण्णा रत्तचन्दनधारिणा परिजनइस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोत्रमाना तिष्ठति ।)

राजा—तस्माद्स्मालवेशयोग्योऽयमवसरः ।

विदूषकः—भो । गच्छतु भवं । अहं वि देवि पेक्खित्तुं अरिचपाणी भविस्सं । (भो गच्छतु भवान् । अहमपि देवी द्रष्टुमरिक्तपाणिर्मिच्छामि ।)

राजा—जयसेनायास्तापदस्मद्रहस्यं विदितं कुरु ।

विदूषकः—तह । [इति कर्णे] एखं विअ होदि । (तथा । एवमिव भवति ।) [इत्यावेद्य निष्क्रान्तः ।]

राजा—जयसेने । प्रघातशयनमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—इदो इदो देवो । (इत इतो देवः ।)

[ततः प्रविशति शयनस्था देवी परित्राजिका विभवतश्च परिवारः ।]

देवी—भअर्वादि । रमणिज्जं कहावत्थु । तदो तदो । (भगवति । रमणीय कथावस्तु ।)

ततस्ततः ।)

विदूषकः—[इधर-उधर देतकर] कोई छिपकर सुन न रहा हो ? आइए, कानमें कइँ । [कानके पास लगकर] यह हा सरता है । [कानमें यह देता है ।]

राजा—[प्रसन्न हाकर] बहुत बढ़िया । बस कर ही डालो ।

प्रतीहारी—[आकर] देव ! इस समय महारानी बगारवाले भवनमें पलंगपर बैठी हुई हैं, उनके पैरमें लाल चन्दन लगा हुआ है, दासियों पैरको संभाले हुए हैं और परित्राजि काजी कथा सुनाकर उनका जी पहला रही हैं ।

राजा—तो हमारे वहाँ जानेना अच्छा अवसर है ।

विदूषक—अच्छा आप चलिए । मैं भी हाथमें कुछ भेंट लेकर महारानीको देखने आ रहा हूँ ।

राजा—जयसेनाको भी अपनी सज वातें समझा दो ।

विदूषक—अच्छा ! [जयसेनाके कानसे लगकर] देखो ! ऐसे करना होगा । [सब बगार चला जाता है ।]

राजा—जयसेना ! बगारवाले भवनतरु ले तो चलो ।

प्रतीहारी—इधरसे आइए देव ! इधरसे ।

[पलंगपर बैठी हुई देवा दिग्भद्रदेता हैं । पासमें परित्राजिका और बहुतसी दासियों बैठी हैं ।]

पारिणी—यह तो बड़ी सुन्दर कथा कही आपने । हाँ भगवती, तो आगे क्या हुआ ।

परिव्राजिका—[सदृष्टिक्षेपम्] देवी । अतःपरं पुनः कथयिष्यामि । अत्र भगवान्विद्वि-
श्वरः संप्राप्तः ।

धारिणी—अम्हो भट्टा । (अक्ष भर्ता ।) [इत्युपातुमिच्छति ।]

राजा—अलमलमुपचारयन्त्रणया ।

अनुचितनृपुरविरहं नार्हसि तपनीयपीठिकालम्बि ।

चर्यां रुजापरीतं क्लभापिण्डि मां च पीडयितुम् ॥ ३ ॥

धारिणी—जेदु जेदु अज्जउत्तो । (जपतु जयत्वार्यपुत्रः ।)

परिव्राजिका—विजयतां देवः ।

राजा—[परिव्राजिका प्रणम्योरविदप ।] देवि । अपि सखा वेदना ।

धारिणी—अज्ज अत्थि मे विसेसो । (अद्यास्ति मे विशेषः ।)

[ततः प्रविशति यशोपवीतचक्रागुप्तः संभ्रान्तो विदूषकः ।]

विदूषकः—परित्ताअट्टु परित्ताअट्टु भवं । सप्पेणम्मि दट्टो । (परिव्रायता परिव्रायता भवान् ।
सर्पनास्ति दष्टः ।)

[सर्वे विपण्णाः ।]

राजा—कष्टं कष्टम् । क्व भवान्परिभ्रान्तः ।

विदूषकः—देधि देकिखस्सं त्ति आआरपुण्फगाहणकारणादो पमववण गवोग्धि । (देवीं
द्रक्ष्यामीत्याचारपुण्यग्रहणकारणात्प्रमद्वन गतोऽस्मि ।)

परिव्राजिका—[अर्धत घुमाकर] देवी ! अब इससे आगे फिर कभी कहूँगी । लीजिए,
विदिशाके महाराज आ रहे हैं ।

धारिणी—अरे ! स्वामी ! [उठना चाहती हैं ।]

राजा—बस, बस, शिष्टाचार दिखलानेका कष्ट न करो । सोनेकी चौकीपर रखे हुए
अपने उस चोटवाले पैरको कष्ट देकर मुझे कष्ट न पहुँचाओ जो बिना कारण हाँ विहुओंकी
विछोह सह रहा है ॥ ३ ॥

धारिणी—जय हो, आर्यपुत्रकी जय हो ।

परिव्राजिका—आपक विजय हो देव !

राजा—[परिव्राजिकाको प्रणाम करके बैठते हुए ।] कहो देवी ! कुछ पीड़ा कम हुई ।

धारिणी—हाँ, आज तो बहुत कम है ।

[अपने हाथके खँगूटेका जनेउसे बाँधे हुए पशराथा हुआ विदूषक आता है ।]

विदूषक—अरे पचाइए महाराज ! पचाइए ! मुझे साँपने काट लिया है ।

राजा—यह तो बड़ा घुरा हुआ । तुम कहीं घूम रहे थे ?

विदूषक—मैं देवीकी देगने आने लगा तो सोचा कि भँदके लिये दो-चार पृल ही लेता
चलूँ । उसके लिये मैं प्रमद्वन चला गया था ।

घारिणी—हूँ हूँ ! अहं एव बहूणास जीविदसंसञ्चरिमिच्चं जादग्धि । (हा धिक्
हा धिक् । अहमेव ब्राह्मणस्य जीवितवशपनिमित्तं जातास्मि ।)

विदूषक—तहिं अस्सअरथयथकाल्हाणो पसारिदो दविरुणहस्सो । तदो कोअरणिग्गदेण
सप्पसुवेण कालेण दट्ठोन्धि । एवं एदाणि दुये दंसणपदाणि । (तस्मिन्मनसोवस्तवकारणार, सा-
रितो दधिणदसतः । ततः कोऽरनिगतैर्न सर्परूपेण कालेन दशोऽस्मि । नन्वेते ह्ये दशनपदे ।) [इति
दंशं दर्शयति]

परिवाजिका—तेन हि दंशाच्छेदः पूर्वकमेति श्रूयते । स तावदस्य क्रियताम् ।

हेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षयाम् ।

एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः ॥ ४ ॥

राजा—संप्रति विपवेद्यानां कर्म । जयसेने । ध्रुवसिद्धिः क्षिप्रमानीयताम् ।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि । (यदेव आशपयति ।) [इति निष्क्रान्ता ।]

विदूषक—अहो पावेण मिच्छुणा गह्वीदोन्धि । (अहो पापेन मृत्युना गृहीतोऽस्मि ।)

राजा—मा कातरो भूः । आविपोऽपि कदाचिदंशो भवेत् ।

विदूषक—कहं ण भाइस्सं । सिमसिमाअन्ति मे अङ्गाहं । (कथं न मेभ्यामि । सिमसिमा-
अन्ति मेऽङ्गानि ।) [इति विषवेगं रूपयति ।]

घारिणी—हा दंसिदं अस्सुहं विआरेण । अबल्लमयय चारुहं । (हा दंसितम्भुमं विचारेण ।
अवलम्बयथं ब्राह्मणम्)

[परिवाजिका स्वप्नभ्रममवलम्बते ।]

घारिणी—हाय ! हाय !! मेरे ही कारण बेचारे ब्राह्मणके प्राण संकटमें पड़े हैं ।

विदूषक—यहाँ ज्यों ही मैंने अशोकके पृल्लोया रुच्छा तोड़नेके लिये दाहिना हाथ
फैलाया त्यों ही उसके खोरलेमेंसे निपलकर साँप बने हुए उस कालने आकर काट लिया ।
यह देखिए उसके दाँतोंके चिह्न । [चिह्न दिखाता है ।]

परिवाजिका—साँपके बसनेपर जो पहला पाम किया जाता है वह बर डालो, जहाँ
साँपने काटा हो, उस अंगमें काट दिया जाय या जला दिया जाय या पावमेंसे लहू
निकाल दिया जाय तो साँपसे उसे हुए मनुष्यके प्राण बच जा सकते हैं ॥ ४ ॥

राजा—अथ तो विष वतारनेवाले बैद्य आयेँ तभी काम चल सकता है जयसेना ! जाओ
दृष्टपट ध्रुवसिद्धिफो तो घुला लाओ ।

प्रतीहारी—जीसी देवकी आज्ञा !

विदूषक—हाय रे ! यह पापी मौत मुझे आनर पदक बैठो है !

राजा—घबराओ मत । कौन जाने साँप चिपैला न भी हो ।

विदूषक—क्यों न घबराऊँ, मेरे अँग-अँग जकड़े जा रहे हैं ।

[विष बढोका नाट्य करता है ।]

घारिणी—हाय ! हाय !! इसकी दृष्टा तो बिगड़ती जा रही है ! कीई सँभालो इस
ब्राह्मण को । [परिवाजिका घबराकर सँभालती है]

विदूषकः—[राजान विलोक्य] भो । भवदो वाल्वादो वि पिअवअस्सोहि । तं विआ-
रिअ अपुत्ताए मे जणणीए जोगस्सु मे वहेहि । (भोः । भवतो वात्स्यादि प्रियवत्स्योऽस्मि । तं
विचायापुत्राया मे अनन्या योगक्षेम वः ।)

राजा—मा भैषीगौतम । स्थिरो भव । अचिरात्त्वां वैद्यश्चिकित्सिष्यति ।

[प्रविश्य]

जयसेना—देव । आणाविदी धुवसिद्धि विण्णावेदि इह एव्व आणी—अदु सो गोवमो
त्ति । (देव । आहापितो ध्रुवसिद्धिरिच्छापयति—इद्वैवानीयतां च गौतम इति ।)

राजा—तेन हि प्रतिशृद्दोदमेनं तन्नभवतः सकारं प्रापय ।

जयसेना—तहा । (तथा ।)

विदूषकः—[देवीं विलोक्य ।] भोदि । जीवेअं वा ण वा । जं मए अत्तभवन्तं सेवना-
णेण ते अवरद्धं तं मरिसेहि । (भवति । जीवेय वा न वा । यन्मयात्तमन्तं सेवमानेन तेष्वराद्धं
तन्मृष्यतः ।)

धारिणी—दीहाऊ होहि । (वीर्याभुम्ब ।)

[निष्क्रान्तो विदूषकः प्रतीहारी च ।]

राजा—प्रकृतिभीरुस्तपस्वी ध्रुवसिद्धिमपि यथार्थनामानं सिद्धिमन्तं न मन्यते ।

[प्रविश्य]

जयसेना—जेदु जेदु भट्टा । धुवसिद्धि विण्णावेदि-उदहुम्भविहारणेण सप्पुद्धिअं किंपि
कप्पिवव्वं । तं अण्णेसीअदु त्ति । (जयसु जयसु भर्ता । ध्रुवसिद्धिरिच्छापयति—उदकुम्भविपानेन
सर्वभुद्धितं किमपि कल्पयितव्यम् । तदग्निव्यतागिति ।)

विदूषकः—[राजाकी ओर देकर] देखिए ! मैं वचनसे आपका प्रिय मित्र हूँ, इस नाते
मेरी निपूती माँकी देख माल कीजिएगा ।

राजा—डरो मत गौतम । धीरज धरो । अभी वैद्य तुम्हें अच्छा कर देंगे ।

जयसेना—[आकर] देव ! मैंने ध्रुवसिद्धिको आपकी आज्ञा सुना दी । उन्होंने कहा है
कि गौतमको यहाँ ले आया जाय ।

राजा—तो इन्हें संभालकर उनके पास ले चलो ।

जयसेना—अच्छा ।

विदूषकः—[महारानीको देखकर] देवी ! कौन जाने मैं जीऊँ या न जीऊँ । सेवा करते
हुए मुझे जो कुछ भूल-चूक हुई हो वह क्षमा कीजिएगा ।

धारिणी—भगवान करे तुम बहुत दिन जीओ ।

[विदूषक और प्रतीहारी चले जाते हैं]

राजा—यह बेचारा स्वभावसे ही इतना डरपोक है कि जैसा नाम वैसे गुणवाले ध्रुव-
सिद्धिपर भी इसे भरोसा नहीं होता ।

जयसेना—[आकर] जय हो, स्वामीकी जय हो । ध्रुवसिद्धिने कहा है कि पानीके घड़ेके
सहारे किसी ऐसी वस्तुसे विष उतारा जायगा जिसमें नागमुद्रा जड़ी हुई हो इसलिये कोई
ऐसी वस्तु हँदकर लाओ ।

धारिणी—इदं सप्पमुद्दिअं अंगुलीअअं । पच्छा मम हत्ये देहि रां । (इदं सर्पमुद्रितमङ्गुलीयम् । पश्चान्मम हस्ते देहोतत् ।) [इत्थंगुटीयकं ददाति ।

[प्रतीहारो गृहीत्वा स्थिता ।]

राजा—जयसेने । कर्मसिद्धावाशु प्रतिपत्तिमानत्य ।

प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि । (यद्देव आज्ञापयति ।)

परित्राजिका—यथा मे हृदयमाचष्टे तथा निर्विषो गौतमः ।

राजा—भूयादेवम् ।

[प्रविश्य]

जयसेना—जेतु देवो भट्टा । शिवत्तविसवेगो गोदमो मुहुत्तेण पक्किदिरथो संबुत्तो । (जयतु देवो मर्ता । निवृत्त विषयवेगो गौतमो मृहूर्तेन प्रकृतिस्थः संवृत्तः ।)

धारिणी—दिट्ठिआ चअरणीआदो मुत्तन्दिह । दिग्ध्या वचनीयान्मुत्तारिमि ।

प्रतीहारी—एसो उण वाहतथो अमघो विण्णवेदि—राअरुजं बहु मन्तिदव्वं दंसरणेण अणुगुगई इच्छामि त्ति । (एष पुनर्वाहतकोऽमात्यो विज्ञापयति—राजकार्यं बहु मन्त्रपितृभ्यं दर्शनेनानुप्रवृत्तमीति ।)

धारिणी—नाच्छदु अज्जउत्तो काजसिद्धीए ! (गच्छत्वार्यपुत्रः कार्यसिद्धये ।)

राजा—देधि । आतपाकान्तोऽयमुद्देराः । शीतक्रिया चास्या रुजः प्रशस्ता । तदन्यत्र नीयतां शयनम् ।

देवी—बालिगाओ । अज्जउत्तवअणं अणुचिट्ठह । (बालिगाः आर्यपुत्रवचनमनुविष्ठव ।)

धारिणी—लो लो । मेरी अँगूठीमें नागमुद्रा जड़ी हुई है । काम हो जानेपर मुझे छोटा देना ।

[अँगूठी निकालकर देती है । प्रतीहारी केर चल्ती है ।]

राजा—जयसेना ! काम हो जानेपर शीघ्र ही समाचार देना ।

प्रतीहारी—जैसी देवको आज्ञा । [चली जाती है ।]

परित्राजिका—मेरा मन तो कह रहा है कि गौतमका विष उतर गया ।

राजा—आपकी ही बात सचची हो ।

जयसेना—[आकर] देवीरी जय हो । गौतमका विष थोड़ी ही देरमें उतर गया और अब वे भले-खेमे हो गए हैं !

धारिणी—बड़ी बात हुई कि मैं कलंकसे बच गई ।

प्रतीहारी—मंत्रो वाहतकरने यह कहलाया है कि राज-राजकी बहुत-सी बातोंपर विचार करना है, इसलिये दर्शनकी कृपा चाहता हूँ ।

धारिणी—जाइए आर्यपुत्र ! राज-काज देखिए ।

राजा—देवी ! यहाँ तो धूप आ गई है । ऐसे रोगमें ठंड ही अच्छी होती है । इसलिये अपना पलंग दूसरी ओर उठवा लीजिए ।

धारिणी—लड़कियो ! आर्यपुत्र जो कह रहे हैं वैसा ही करो ।

परिजनः—तह । (तथा ।)

[निम्नान्ना देवी परिजाशिका परिजनश्च ।]

राजा—जयसेने । मां गूढेन पथा प्रमद्वयनं प्रापय ।

जयसेना—इदो इदो देवो । (इत इतो देवः ।)

राजा—जयसेने । ननु समाप्तकाम्यो गौतमः ।

जयसेना—अह इं । (अथ स्मिं ।)

राजा—

इष्टाधिगमनिमित्तं प्रयोगमेकान्तसाध्यमपि मत्वा ।

संदिग्धमेव सिद्धौ कातरमाशङ्कते हृदयम् ॥ ५ ॥

[प्रविश्य]

विदूषकः—बह्बहु भयं । सिद्धाणि वै मद्गलकम्भाणि । (नर्पतां भगान् । सिद्धानि ते मद्गल-
कम्भाणि ।)

राजा—जयसेने । त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु ।

जयसेना—जं देवो श्राणवेदि । (यदेव आश्रापयति ।) [इति निम्नान्ना ।]

राजा—गौतम ! सुद्रा माधविका । न तलु किञ्चिद्विचारितमनया ।

विदूषकः—देवीए अंगुलीअथमुदिचं देखिअ कहुं विचारेदि । (देव्या अङ्गुलीयकमुद्रा
दृष्ट्वा कथं विचारयति ।)

दासियाँ—अच्छा ।

[महापानी, परिजाशिका और दासियाँ, सब चली जाती हैं]

राजा—जयसेना ! मुझे चोर मार्गसे प्रमद्वयन तो ले चलो ।

जयसेना—इधरसे आइए देव, इधरसे ।

राजा—जयसेना ! गौतमने अपना काम तो पूरा कर लिया होगा न ?

जयसेना—जी हों ।

राजा—अपनी प्यारीको पानिके लिये हमने जो उपाय रचा है उसे पक्का समझते हुए भी मेरा हृदय ऐसा सन्देही और अधीर है कि उसे अभीतक काम पूरे होनेमें खटकना वना ही हुआ है ॥ ५ ॥

विदूषकः—[आकर] बधाई है आपको । आपके सब काम सध गए ।

राजा—जयसेना ! जाओ तुम भी अपना काम देखो ।

जयसेना—जैसी देवकी आज्ञा । [चली जाती है ।]

राजा—यहो गौतम ! माधविका तो बड़ी चंद है । उसने कुछ आगा-पीछा तो नहीं किया ?

विदूषकः—देवीकी अंगुली देख लेनेपर वह क्या आगा-पीछा करती ?

राजा—न रज्जु मुद्रामधिकृत्य ब्रवीमि । एतयोर्द्वयोः किंनिमित्तो मोक्षः । किं वा देव्याः परिजनमतिक्रम्य भवान्संदिष्ट इत्येवमनया प्रष्टव्यम् ।

विदूषकः—शं पुच्छिदोमिह । पुणो मन्दस्स मे तस्सि पशुप्पण्णा मदी । (ननु पृथोऽस्मि । पुनर्मन्दस्य मे तस्मिन्प्रसुत्पन्ना मतिः ।)

राजा—कथ्यताम् ।

विदूषकः—भणिदं मए । देवचिन्तएहिं विण्णाविदो राधा—सोवसग्गं यो णक्खत्तं । ता अबस्सं सन्नवन्धमोस्सो करोअट्टु त्ति । (भणित मया । दैवचिन्तयित्वा पितो राज—सोपसग्गं नो नद्धम् । तदवरयं मर्वन्धमाशः कियतामिति ।)

राजा—[सङ्घर्ष] ततस्त्रतः ।

विदूषकः—तं सुणिअ देवोए इरावदीए चित्तं रक्खन्तोए राधा किल मोएदि त्ति अहं संदिट्ठो त्ति । तदो जुज्जदि त्ति ताए एठ्ठं मंपादिदो अरयो । (तच्छ्रुत्वा देव्या इरावत्याधिष्ठ रक्षन्त्या राजा किञ्च मोचयतीत्यह उदिष्ट इति । तदा युज्यत इति तथैव सम्पादितोऽर्थः ।)

राजा—[विदूषक परिध्वज्य] सखे । प्रियोऽहं रज्जु तव ।

नहि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्यदर्शनम् ।

कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ॥ ६ ॥

राजा—मैं अंगूठीकी बात नहीं पूछ रहा हूँ । उन दोनोंको तुमने छुड़ाया क्या कहकर ? उसने यह तो पूछा ही होगा कि इतने सेवकोंके रहते हुए भी देवीने आपको ही क्यों भेजा ?

विदूषक—हाँ, यह तो पूछा था । पर उसी समय गुणग मूर्खकी बुद्धि चेत गई और मेरे मुँहसे अचानक एक अच्छी बात निकल पड़ी ।

राजा—क्या ?

विदूषक—मैंने कहा कि ज्योतिषियोंने महाराजसे कहा है कि आपके यह विगड़े हुए हैं इसलिए इस समय सब यन्त्रियोंको छुड़ावा दीजिए ।

राजा—[प्रसन्न होकर] तब तब ?

विदूषक—जय देवीने ज्योतिषियोंकी यह बात सुनी, सब उन्हेंने सोचा कि यदि हम अपने सेवकोंको छुड़ानेके लिये किसी औरको भेजेंगे तो इरावतीजी बुरा मान जायेंगी । इसलिए उनका मन रत्ननेके लिये उन्हेंने मुझे ही बुलाकर यह काम सौंप दिया, जिससे इरावती यह समझें कि राजा ही यन्त्रियोंको छुड़ा रहे हैं, मैं नहीं छुड़ा रही हूँ । मायविका इसे सब मान बैठी और उन्हें छोड़ दिया ।

राजा—[विदूषकके गले लगाकर] मित्र ! समझुच तुम मेरे बड़े प्यारे हो । क्योंकि केवल बुद्धिके बलसे ही कोई अपने मित्रोंका काम नहीं कर देता । अपने सिर कोई काम लेकर उसे अन्ततक निभा देना सचमुच ऐसा टेढ़ा होता है कि वह तभी पूरा हो पाता है जब काम करनेवाला अपने मित्रसे पक्का स्नेह भी करता हो ॥ ६ ॥

विदूषकः— तुषरहु भवं । समुद्रघरण सहीसहिदेँ मालवित्रं ठावित्र भवन्तं पशुगादोन्निह ।
(लरता भवान् । समुद्रघरे एखीउहिता मालविका स्थापयित्वा भवन्त प्रसुद्रतोऽस्मि ।)

राजा—अहमेनां संभाषयामि । गच्छाम्रतः ।

विदूषकः—एतु भवं । [परिक्रम्य] एदं समुद्रघरं । (एतु भवान् । इद समुद्रघरम् ।)

राजा—[आशङ्कम् ।] अयस्य । एषा कुमुमायचयव्यग्रहस्ता सख्यास्ते परिचारिका चन्द्रिका संनिहृष्टमागच्छति । इवस्तावदावा भित्तिगूढौ भवावः ।

विदूषकः— अहो । कुम्भीलएहिँ कामुएहिँ च परिहरणीअः क्खु चन्दिआ । (अहो कुम्भीरकैः कामुकैश्च परिहरणीया खलु चन्द्रिका ।)

[उभौ यथाक्त कुरुतः ।]

राजा—गौतम । कथं नु ते सखी मां प्रतिपालयति । एहि । एतां गवाक्षमाश्रित्य धिलोकयावः ।

विदूषकः—तह । (तथा ।)

[उभौ विलोपयन्तौ विष्टतः ।]

[ततः प्रविशति मालविका बहुलावलििका च ।]

बहुलावलििका—सहि । एणम भट्टारं । (अस्मि । प्रणम भर्तारम् ।)

मालविका—णमो दे । (नमस्ते ।)

राजा—शङ्के मे प्रतिकृतिं निर्दिशति ।

मालविका—[सहर्षं क्षारमण्डलक्य उपिपादम्] हला । मं विप्पलम्भेति । (अस्मि । मां विप्रलम्भयसि ।)

विदूषकः—अच्छा अब आप भटपट चलिए । क्यों कि मैं समुद्रघरमें बहुलावलििका और मालविकासो बैठकर तब आपके पास आया था ।

राजा—चलो मैं अभी उसे चलकर मना लेता हूँ । चलो आगे-आगे ।

विदूषकः—आइए आप [गमक] यह रहा समुद्रघर ।

राजा—[डरते हुए] देखो मित्र ! तुम्हारी सखी इरावतीकी दासी चन्द्रिका फूल चुनती हुई इधर ही चली आ रही है । चलो इस भीतके पीछे छिप रहा जाय ।

विदूषकः—हाँ, पोरों और जारोंको चन्द्रिकासे बचते ही रहना चाहिए ।

[दोनों भीतके पीछे छिप जाते हैं ।]

राजा—आओ गौतम ! इस खिड़कीमें से देखा जाय कि तुम्हारी सखी मालविका मेरे लिये कैसे घाट जोह रही है ।

विदूषकः—अच्छा । [दोनों खिड़कीमें से झाँकते हैं ।]

[मालविका और बहुलावलििका दिखाई पड़ती हैं ।]

बहुलावलििका—सखी ! स्वामीको प्रणाम करो ।

मालविका—आपको प्रणाम है ।

राजा—जान पड़ता है यह मेरा चित्र दिखा रही है ।

मालविका—[प्रवृत्तताके साथ दूर खाली है, फिर दुःखी होकर] अच्छा सखी ! तुम भी मुझे मना रही हो ?

राजा—हर्षविपादाभ्यामत्रभवत्याः प्रीतोऽस्मि ।

सूर्योदये भवति या सूर्यास्तमये च पुण्डरीकस्य ।

वदनेन सुवदनायास्ते ममवस्थे च्छादूहे ॥७॥

बहुलाचलिका—णं एतो चित्रगदो भट्टा (गयेप चित्रगतो भर्ता ।)

सुमे—(प्रणित्य ।) जेदु भट्टा । (जयतु भर्ता ।)

मालविका—हला । तथा मममदिष्टे भट्टिणो रूपे जहा ए त्रितिएहभिद तदा अज्जवि मए भाविदो अचितिएहदंसणो भट्टा । (सति । तदा सभ्रमट्टये गर्हं रूपे यय न त्रितुष्कारिम तया-
द्यापि मया भाविताऽवितृष्णादर्शनो भर्ता ।)

विदूषकः—सुदं भवदा । तात्तहोदो—चित्ते जहा दिष्टो ए तहा दिष्टो भवं च्चि मन्तेदि ।
मुहा दाणि मज्जुसा विअ रअणमण्टयं जोव्वणगव्वं वहेसि । (श्रुतं मरता । तन्मवर्ता—
चित्ते यथा दृष्टो न तथा दृष्टा भवानिति मन्यन्ति । सुधेदानो गण्डूयेर रत्नमण्ड यौवनगर्वे
वदसि ।)

राजा—सत्ये । कुतुहलानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः । पश्य--

कात्स्नर्येन निर्वर्णयितुं च रूपमिच्छन्ति तत्पूर्वसमागमानाम् ।

न च प्रियेष्वायतलोचनानां समप्रवृत्तीनि विलोचनानि ॥ ८ ॥

मालविका—हला । का एसा पासपरिउत्तमुहेण भट्टिणा सिणिद्विए दिष्टीए णिज्जाईअदि ।
(सति । कैया पार्श्वपरिवृत्तमुखेन भर्ता मे क्षिप्रया दृष्ट्या निर्यायते ।)

राजा—इस समय इनका प्रसन्न होना और दुखी होना दोनों मुझे वही प्यारे लगे हैं ।
सूर्यके निकलते और ड़िपते समय कमल जैसे-जैसे खिलता और मुरझाता है, ठीक वैसी-
वैसी ही झलक चुप भरमें इस सुन्दरीके मुँहपर दिखाई पड गई है ॥ ७ ॥

बहुलाचलिका—पर चित्रमें भी तो स्वामी ही हैं ।

चोनें—[प्रणाम करती हुए] स्वामीकी जय हो !

मालविका—सत्यो ! उस दिन हृदयङ्गोमे महाराजको मैं जितना नहीं देख पाई उतना
आज इस चित्रमें जी भरकर महाराजका रूप देखकर भी मैं अथा नहीं रही हूँ ।

विदूषक—आप कुछ समझे ? उनके रहनेका अर्थ यह है कि जैसे सुन्दर आप चित्रमें
दिखाई दे रहे हैं वैसे आप सचमुच नहीं दिखाई दिए थे । इसलिये जैसे खली छूँछी
पिटारी भी अपने-ही रत्नोंकी फहर मूठे ही पेंथती है वैसे ही आपमें भी कुछ है नहीं, आप
मूठे ही अपने यौवनकी रङ्गि होकरे हैं ।

राजा—मित्र ! अपने प्यारसे मिलनेके लिये उतावली होती हुई क्षिया स्वभावसे ही
बड़ी लजीबी होती हैं । देखो--स्त्रियों जिस पुरुषसे पहले पढ़ल मिलती हैं उसे वे जी भरकर
देख तो लेना चाहती हैं पर उन बड़ी-बड़ी आँसोंवाली सुन्दरियोंकी आँसुं अपने प्यारेकी
ओर ठीकसे पठ ही नहीं पातीं । ८ ॥

मालविका—क्यों सत्यो ! ये कौन देवी हैं जिनकी आँर महाराज मुँह घुमाकर बड़ी
प्रेमभरी चितवनसे देख रहे हैं ।

बकुलावलिका—यं इत्थं पासगदा इरावदी । (नन्विष्य पास्वंगतेरावती ।)

मालविका—सहि । अदक्खिण्यो विच्च भट्टा मे पडिभादि जो सव्वं देवीजणं उच्चिण्ण पकाए मुहे बद्धलक्खो । (सखि । अदक्षिण इव भागं मे प्रतिभाति यः सर्वं देवो बन्मुष्णित्वैकं मुखे बद्धलक्ष्यः ।)

बकुलावलिका—[आत्मगतम्] चित्तगदं महारथं परमत्यदो संकप्पिअ अमूअदि होदु । कीडिस्सं दाव पदाए । [प्रकाशम्] हत्ता भट्टिणो बल्लहा एसा । (चित्तगतं भागं परमार्थतः सन्त्वास्त्वयि । भरतु । कीडिष्वाभि तावदेतप । यस्मि भद्रवत्त्वमैषा ।)

मालविका—तदो किं दाणि अत्ताण आत्थासइस्सं । (ततः विभिदानीमारमानमावास्तिष्वाभि ।) [इति सास्य परावर्तते ।]

राजा—सखे । पश्य ।

ध्रुमङ्गमिन्नतिलकं स्फुरिताधरोष्ठं सास्यमाननमितः परिवर्तयन्त्या ।

कान्तापराधकुपितेष्वनया विनेतुः संदर्शितेव ललिताभिनयस्य शिक्षा ॥ ६ ॥

विदूषकः—अगुणअसज्जो दाणि होहि । (अनुनयसज्ज इदानीं भव ।)

मालविका—अज्जगोदमो पश्य एव संसेववि ण । (आर्यगौतमोऽनेव संसेवत एनाए । [पुनः स्थानान्तराभिमुखी भवितुमिच्छति ।]

बकुलावलिका—[मालविका वदन्वा ।] ण क्खु कुविदा दाणि तुमं । (न तच्छ कुपितेदानसम् ।)

बकुलावलिका—ये महाराजके पास इरावतीजी बैठी हुई हैं ।

मालविका—क्यों सखी ! महाराजका प्रेम सबपर एक सा नहीं दिखाई पड़ता, क्यों कि वे सब रानियोंको छोड़कर बस एकका ही मुँह देते जा रहे हैं ।

बकुलावलिका—[मन ही मन] यह भोली, चित्रमें बने हुए महाराजको सचमुच महाराज समझकर उनपर लुठी जा रही है । अच्छी बात है । मैं भी इसे बनाती हूँ । [प्रकट सखी ! यही तो महाराजकी प्यारी हैं ।

मालविका—तब मैं क्यों तिल-तिल अपनी देह जलाऊँ । [डारते मुँह फेर लेती है ।]

राजा—देखो मित्र ! इसने साहसे अपना मुख घुमा लिया है । भर्तोंके चढ़ानेसे हट गई इसके माथेकी बिन्दो और इसके फड़कते हुए निचले ओठको देखनेसे ऐसा जान पड़ता है मानो इसने स्वामीके अपराधपर रुठनेकी जो शिक्षा अपने गुरुसे ली है वही अभिनय करके दिखा रहा है ॥ ९ ॥

विदूषक—तो बलिष् । अब मनानेके लिये तैयार हो जाइए ।

मालविका—आर्य गौतम भी तो यहाँ बैठे इनकी सेवा कर रहे हैं ।

[यहाँवे फिर कहाँ धीरे हट जाना चाहती है ।]

बकुलावलिका—[मालविकाको रोक्कर] अरे तुम रुठकर तो नहीं जा रही हो ?

मालविका—जइ चिरं कुचिदं एव मं मख्येसि एसो पद्याणीअदि कोयो । (यदि चिरं कुचितामेव मा मन्त्रसे एष प्रत्यानायने मंत्रः ।)

राजा—[उषेत्]

कुप्यसि कुवलयनयने चित्रार्पितचेष्टया किमेतन्मे ।

ननु तव साक्षादयमहमनन्यसाधारणो दासः ॥ १० ॥

बकुलापलिका—जेहु जेहु मट्टा । (जयतु जयतु मर्ता ।)

मालविका—[आत्मगतम्] यहं चित्रगदो भट्टा मए असूइदो । (कथं चित्रगतो मर्ता गयास्थितः ।) [प्रकाशं यमीदृशदनमन्त्रं लिखति ।]

[राजा मदनकार्तयं रूपयति ।]

विदूषकः—किं भवं उदासीणो यिअ दीसइ । (किं भगवानुदासीन इव हरते ।)

राजा—अविद्वसनीयत्वात्सगत्यास्तथ ।

विदूषकः—असत्तोदीए अअं कहं तुह अविस्तासो । (अथ भगवत्यामय कथं तदाविश्वासः ।)

राजा—श्रूयताम् ।

पथि नयनयोः स्थित्वा स्थित्वा तिरोभवति क्षणा-

त्सरति सहमा घाहोर्मध्यं गतापि सखी तव ।

मनमिजरुजा विलस्यैवं समागममायया

कथमिव सखे विस्रब्धं स्यादिमां प्रति मे मनः ॥ ११ ॥

मालविका—यदि तुम समझती हो कि मैं बहुत रुठी हो कहती हूँ तो लो मैं रुठ हो जाती हूँ ।

राजा—[पास पहुँचकर] हे कमलनयनी ! चित्रमें बने हुए मेरे भावनों ही देखकर तुम मुझसे क्यों रुठी जा रही हो । तुम्हारा यह अनन्य दास तो तुम्हारे सामने ही खड़ा है ॥ १० ॥

बकुलापलिका—जय हो, प्रामीकी जय हो ।

मालविका—[मन ही मन] तो क्या मैं सचमुच चित्रमें बने हुए स्वामीसे रुठी हुई थी ।

[सजाती हुई टाप जोड़ती है । राजा प्रेममें अशकृषु शनैः न व्यहरते इति ।]

विदूषक—आप छुपचाप क्यों खड़े हो गए हैं ?

राजा—भाई ! तुम्हारी सखीपर मरसा नहीं हो रहा है ?

विदूषक—क्यों, इनपर भरोसा क्यों नहीं हो रहा है ?

राजा—मुनो ! ये मेरी आँसों में बँठी-बँठी देखते-देखते ओझल हो जाती हैं और मेरी बाँहोंमें आकर भी अचानक निरल जाती हैं । इस मिलनरी मायामें कैसे हुए मेरे प्रेमके रोगी मनको इनपर कैसे भरोसा हो ॥ ११ ॥

बकुलावलिका—सहि । बहुसो क्लु भट्टा विपलद्धो । ता तुए अत्ता विरससणिज्जो करी-
अद्दु । (सति । बहुसः िल गतो विप्रलब्धः । स्वभावत्वा विरससनीयः क्रियतम् ।)

मालविका—सहि । मह उण मन्दभग्गाए सिविणसमाअमो वि भट्टिणो दुल्लहो आसि ।
(सति मम पुनर्मन्दभाग्यायाः स्वप्नसमागमोऽपि भूतुर्दुर्लभ आसीत् ।)

बकुलावलिका—भट्टा । कहेदु से उत्तरं । (मया कथयतस्था उत्तरम् ।)

राजा—

उत्तरेण किमात्मैव पञ्चवाखाग्निमात्रिकम् ।

तव सख्यै मया दत्तो न सेव्यः सेविता रहः ॥ १२ ॥

बकुलावलिका—अणुगाहीदम्हि । (अनुग्रहीतासिम् ।)

विदूषकः—[परिश्रम्य सपथम्] बकुलावलिका एसो वालासोअरुत्तखस्स पल्लवाइं दह्वेवि
हरिणो । एहि शिवारेम खं । (बकुलावलिके । एव बालाशोऽशुभस्य पल्लवानि लक्षयति हरिणः ।
एहि नियारयाम एनम् ।)

बकुलावलिका—तह । (तथा ।) [इति प्रस्थिता ।]

राजा—वयस्य । एवमेवास्मिन्प्रक्षणेऽवहितेन स्वया भवितव्यम् ।

विदूषकः—एद्वं वि गोदमो सन्दिसेअदि (एवमपि गौतमः सन्दिष्यते ।)

बकुलावलिका—[परिक्रम्य] अज्ज गोदम । अहं अप्पयासे चिट्ठामि । तुमं दुवारर-
कखओ होदि । (आर्यं गौतम । अहमप्रकाशे शिष्ठामि । एवं द्वाररक्षको भव ।)

बकुलावलिका—सखी ! तुमने महाराजको बहुत छफाया है । अब कुछ ऐसा तो करो कि
ये तुमपर भरोसा करने लगे ।

मालविका—सखी ! मुझ अभागिनको तो स्वप्नमें भी महाराजसे भेंट नहीं हुई ।

बकुलावलिका—महाराज ! इसका तो आप ही उत्तर दे सन्ते हैं ।

राज—उत्तर क्या, मैं तुम्हारी सखीसे सेवा नहीं कराना चाहता । मैं तो प्रेमकी अग्निको
माझी बनाकर अकेलेमें ही उनकी सेवा करनेके लिये अपनेको ही इनके हाथ सौंप
देता हूँ ॥ १२ ॥

बकुलावलिका—बड़ी कृपा हुई मुझपर ।

विदूषक—[घूमकर चरवाहके पास] अरी बकुलावलिका ! देख, देख इन नन्हें-नन्हें
अशोकके पत्तोंको हरिण चरे जा रहा है । पल, इसे भगा तो दें ।

बकुलावलिका—चलिये । [जाना चाहती है ।]

राजा—देखो मित्र ! तुम इसी प्रकार सायधानीसे हमारी देरभाल करते रहना ।

विदूषक—क्या यह घात भी गौतमको समझानी होगी ।

बकुलावलिका—[घूमकर] आर्य गौतम ! मैं दूसरे द्विपत्र बैठती हूँ । तुम जाकर द्वार-
पर चौकसी फते ।

विदूषक.—जुबजइ । (युज्यते ।)

[निष्पन्ता बकुलावलिङ्ग ।]

विदूषक.—इमं दाव फलिहकरम्भंअरिसदो होमि । [इति तथा कृत्वा] अहो सुहृत्परि-
सदा सिलाविसेसरस । (इग तावत्स्फटिकस्तम्भमाभिन्नो भवामि । अशे सुखसर्शता सिलाविशे-
पस्य ।) [इति निद्रान्ते ।]

[मालविना उभाधस्ता तिष्ठति ।]

राजा—

विसृज सुन्दरि संगमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।

परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥ १३ ॥

मालविना—देवीए मएण अत्तणो वि पिअं षाहुं ए पारेमि । (देव्या भवेनात्मनोऽपि
प्रियं कर्तुं न पारयामि ।)

राजा—अयि न भेतव्यम् ।

मालविना—[सापालम्भम्] जो ए भाअदि सो मए भट्टिणीदंसणे दिहसामत्थो भट्टा ।
(यो न विभेति स मया भट्टिनीदघने दृष्टव्यस्यो मर्ता ।)

राजा—

दाक्षिण्यं नाम त्रिम्योषि नायकानां कुलव्रतम् ।

तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिवन्धनाः ॥ १४ ॥

विदूषक—अच्छी बात है ।

[बकुलावलिङ्ग चली जाती है ।]

विदूषक—सबतरु इस स्फटिकके रांगेके सहारे चलकर बैठवा हैं । [बैठता है ।]
याह ! कैसी ठंडी और चिन्नी शिला है ।

[ऊँपने लगता है ।]

[मालविना दरी-सी गड़ी रहती है ।]

राजा—हे सुन्दरी ! मेरे गले लगनेसे डरो मत । न जाने कितने दिनोंसे मैं तुमसे मिलनेको
अधीर हो रहा था । देखो ! जैसे माघवी लता आमसे लिपट जाती है वैसे ही आओ,
तुम भी मुझसे लिपट जाओ ॥ १३ ॥

मालविना—मुझे महारानीसे बड़ा डर लगता है इसलिये चाहते हुए भी ऐसा नहीं कर
सक रही हूँ ।

राजा—अजी ! डरनेकी क्या बात है ?

मालविना—[उलटना देते हुए] जी हों, आज जो नहीं डर रहे हैं, उन महाराजका साहस,
उस दिन देवी दरायतीजीके आनेपर मैं भली भँति देख चुकी हूँ ।

राजा—हे विनाके समान लाल लाल ओठोंवाली ! प्रेमी लोग यों दिखानेके लिये सभीसे
प्रेम करते हैं, पर हे बड़ी-बड़ी आँसोंवाली ! मेरे प्राण तो तुम्हें ही पानेकी आशापर लटक

तदनुगृह्यतां चिरानुरक्तोऽयं जनः । [इति संश्लेषप्रपञ्चनपति ।]

[मालविका न त्व्येन परिहरति ।]

राजा—[आत्मगतम्] रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः । तथा हि इयम्—

हस्तं कम्पयते रुग्णदिग्गशाव्यापारलोलाङ्गुलीः

स्वौ हस्तौ नयति स्तनावरणतामालिङ्गयमाना वलात् ।

पातुं पद्ममलनेत्रमुन्नमयतः साचीकरोत्याननं

ध्याजेनाप्यभिलाषपूरणमुखं निर्वर्तयत्येव मे ॥ १५ ॥

[वतः प्रविशतीरावती निपुणिका च ।]

इरावती—हृजे स्थित्वा । सर्वं तुमं परिगदरवा चन्द्रिध्यात् । समुद्रवरअलिन्यसइद्रे एथाई अरजगोदमो दिट्टो ति । (हञ्जे निपुणिके । सत्य त्वं परिगतार्था चन्द्रिकया । समुद्रवहा-
लिन्दशायत एकाकी आर्यगीतमो दृष्ट इति ।)

निपुणिका—अरण्यहा कहं भट्टिणीए विष्णावेमि । (अन्यथा कर्म भट्टि-मै विज्ञापयामि ।)

इरावती—तेण हि तदिं एव गच्छन्इ संसथादो मुत्तं पिअवअरसं पुच्छिहुं अ । (तेन हि तत्रैव गच्छामः वसामानुक्त प्रियवस्य प्रभु च ।)

निपुणिका—सावसेसं विअ भट्टिणीए वअरुं । (तावशेषमिव भट्टिण्या वचनम् ।)

इरावती—अरण्य अ चित्तगदं अरजउत्तं पसादेहुं । (अन्यच्च चित्रगतमार्गपुनंपसाद-
वितुम् ।)

हुए हैं ॥ १४ ॥ इसलिये तुम्हारे प्रेममें इतने दिनोंसे दूरे हुए इस दासपर अब तो क्रुपा करो । [गले लगनेसे बढते हैं, मालविका माटवसे आनेकी खुदाती है ।]

राजा—[मन ही मन] नई नबेलियोंको प्रेमभरी चटकमटक भी किलती सुन्दर होती है । क्यों कि इनके हाथ काँप रहे हैं, अपनी खुली हुई तगडीको ये अपनी चंचल अँगु-
लियोंसे धामे जा रही हैं । जब मैं बलपूर्वक गले लगने चलता हूँ तो दोनों हाथोंसे ये अपने स्तन टक लेती हैं और जब मैं इनके सुन्दर पलकोंकी आँखोंवाला मुँह चूमनेको बढता हूँ तो ये अपना मुँह फेर लेती हैं । इस हाथ-पाईं में मेरे हाथ कुछ भी नहीं लग रहा है, फिर भी मुझे वैसा ही सुख मिल रहा है मानो मेरी सब इच्छाएँ पूरी होती जा रही हों । १५॥
[इरावती और निपुणिका आता है ।]

इरावती—क्यों रे निपुणिका ! क्या चन्द्रिकाने सबकुछ तुम्हसे कहा था कि आर्य गौतम, समुद्र-वरके बाहर अकेले सोए हैं ।

निपुणिका—मैं स्वामिनीसे मूठ थोड़े ही जेलती !

इरावती—तो चलो वहाँ चलकर मित्र विदूषकसे पूछ लिया जाय कि अब वे ठोक हो गए हैं या नहीं और ...

निपुणिका—स्वामिनी ! आप कुछ और कहना चाहती थीं ।

इरावती—हाँ, यही कि यहाँ चलकर चित्रमें बने हुए आर्यपुत्रकी भो बना लिया जाय ।

निपुणिका—अह दाणि रहं खु भट्टा एव्यं अणुणीअदि । (अयेदानीं कथं नु भर्ते मनुनीयने ।)

इरावती—मुझे । जारिसो चित्तगदो खं तारिसो एउ अणसंकन्तहियओ अउजउत्तो । केवल उबआरादिकानं पमजिजदुं अअं आरम्भो । (मुग्धे । यादशधियगतो ननु तादश एरान्य-संनन्तददय थ यपुन । केरलमुपचारतिजभं प्रमाजितुगयमारम्भः ।)

निपुणिका—इदो इदो भट्टिणी (इत इतो भट्टिनी ।)

[उभे परिश्रमतः ।]

[प्रतिश्रय]

चेटी—जेदु जेदु भट्टिट्ठि । भट्टिणी । देवी भगादि — ण मे भच्छरस एमो कालो । तेण कसु यहुमाण यड्ढेदु वअस्माए सह णिअलमन्धणे निदा मालनिआ । जइ अणुमणसि अउज-उत्तरस पिअं काहुं तद्दा करेमि । ज तुह इच्छिअं त मे भयाहि त्ति । (अथतु जयतु भट्टिनी । भट्टिनि । देवा भगात् — न मे मत्तरस्यैव मालः । तेन एउ बट्टमान वर्षयितु वपस्या सह निगद-वन्धने क्ता मालनिआ । यत्रनुमन्यथे आर्यपुत्रस्य प्रियं क्तुं तथा त्रामि । वचयेत् तन्मे भवेति ।)

इरावती—णाअरिए । निणवेहि देवीं—का वअं भट्टिट्ठिं शिओजेदुं । परिअणणिग-हेण दसिदो मइ अणुगहो । वरस वा पसावेण अअं जणो यड्ढदि त्ति । (नागरिके । विशापय देवीम्—ना वयं भट्टिनीं नियाजयितुम् । परिजननिगहेण दयिता मय्यनुमहः । कस्य वा प्रषादेनार्य जनो वषंत इति ।)

चेटी वह । (तथा ।) [इति निष्कान्ता ।]

निपुणिका—वो आप चलकर महाराजको ही क्यों नहीं मना लेतीं ।

इरावती—अरी पगली ! दूसरोंसे प्रेम करनेवाले आर्यपुत्र हमारे लिये वैसे ही हैं जैसे उनका चित्र । उस दिन मैंने उनके मनानेपर भी जो उनकी बात न माननेकी डिठाई कर दी हे उसीको धोनेके लिये मैं यह सत्र कर रही हूँ ।

निपुणिका—शुधरसे आइए स्वामिनी, शुधरसे ।

[दोनों घूमती हैं ।]

चेटी—[आकर] जय हो, स्वामिनोकी जय हो । महारानीने कहलाया है कि अत्र हम लोगोंको महाराजसे रुठे नहीं रहना चाहिए । मैंने तुम्हारी बात रखनेके लिये ही मालविका और उसकी सतीको बाँध रक्खा है । यदि आर्यपुत्रको मनानेकी बात तुम्हें भी जँचवी हो तो मैं उसका उपाय करूँ । तुम्हारी जो इच्छा हो वह मुझे कहला देना ।

इरावती—देखो नागरिका ! महारानीसे जाकर कह देना कि उनसे काम करानेवाली हम कौन होती हैं । अपनी दासियोंको बाँधकर उन्होंने मुझपर कृपा दिखाई है । उनकी कृपा न हो तो हम लोगोंका इतना मान कैसे हो ।

चेटी—अच्छा । [चली जाती है ।]

निपुणिका—[परिक्रम्यारलोक्य च] भट्टिणि । एसो दुवारुहेसे समुद्रघरअस विपणिगदो विअ बलीवदो अज्जगोदमो आसीणो एव्व सिद्धाअदि । (भट्टिणि । एष द्वारोहेसो समुद्रघरस्य विपणिगत इय बलीवदं चार्चणीतम आसीन एव निद्रायते ।)

इरावती—अच्छाहिदं । ए कखु सावसेसो विसविआरो हवे । (अत्याहितम् । न सख सावशेषो विपविकारो भवेत् ।)

निपुणिका—पसएणसुहवण्यो दीसइ । अवि अ धुवसिद्धिणा चिइच्छिदो । ता से अस-
कृणिज्जं पावं । (प्रवत्रमुखवर्णो दश्यते । अरि च ध्रुवसिद्धिना चिकित्सितः । तदस्याशङ्कनीयं पापम् ।)

विदूषक—[उत्सव्नायते] भोदि मालविण । (भवति मालविके ।)

निपुणिका—सुदं भट्टिणीए । वस एसो अत्तणिओअसंपादणो विसससणिज्जो द्दासो । सव्वकालं इदो एव्व सोत्थिवाअणमोदएहिं कुर्विख पूरिअ संपदं मालविअं सिचिणावेदि । (अत्र भट्टिण्या । कथं च आत्मनिशो गवपादने विश्रवतीषो इत्यर्थः । सः कालमिन एव स्थितिवाचन-
मोदकैः कुर्वि पूरयिः च सम्प्रतं मालविना रत्ननायते ।)

विदूषक—इरावतीं अदिकमन्ती होहि । (इरावतीमतिक्रामन्ती मय ।)

निपुणिका—एवं अचाहिदं । इमं सुअज्जभीरुअं वल्लवन्धुं इमिया भुअंगकुडिलेण दण्ड-
कट्ठेण खम्मन्तरिदा भाअइसं । (एतदस्याहितम् । इम भुगमोष वल्लवन्धुवनेन भुज्जकुटिलेन दण्डकाष्ठेन स्तम्भान्तरिता भाषयिष्यामि ।)

इरावती—अरिहदि एव्व क्रिदग्घो उअइवस । (अर्हत्येव कृतम उपव्रवस्य ।)

[निपुणिका विदूषकस्योपरि दण्डकाष्ठं पातयति ।]

निपुणिका—[धूमकर और शेरकर] यह देखिए स्वामिनो ! जैसे हाटमें पड़ा हुआ सौंड़ नौद लेता है वैसे ही आर्य गौतम भी समुद्रघरके द्वारपर बैठे सो रहे हैं ।

इरावती—यह तो बड़ा बुरा हुआ । कहीं विपका विकार अभी यका न रह गया हो ।

निपुणिका—पर इनका मुँह तो बड़ा प्रसन्न दिखाई दे रहा है और फिर स्वयं ध्रुवसिद्धिने इनका विप उतारा है । इसलिये घबरानेको कोई बात नहीं है ।

विदूषक—[स्वप्नमें पड़मदाता हुआ] हे देवो मालविका !

निपुणिका—सुना स्वामिनो ? अपना काम करानेके लिये इस श्रमागेका फौन विश्वास करेगा । सदा तो यह आपके दिए द्रुप पूजाके लड्डुओंसे पेट भरा करता है और आज स्वप्नमें इसे मालविका सूत रही है ।

विदूषक—तुम इरावतीसे भी आगे बढ़ जाओ ।

निपुणिका—यह तो बड़ी बुरी बात है । सौंपसे हरनेवाले इस यौवनको अब इसी सौंप जैसी टेढ़ी लकड़ीमे रंभेकी ओटमें राड़ी होकर डराती हूँ ।

इरावती—ऐसे कृतज्ञके साथ ऐसी ही कुचाल करनी चाहिए ।

[निपुणिका विदूषकके ऊपर लड्डु गिरा देती है ।]

विदूषकः—[सहसा प्रसुष्य] अविहा अविहा । भो वअस्स । सण्णो मे उधरि पडिदो ।
(अविधा अविधा । भो वयस्य । सर्वो मे उपरि पडितः ।)

राजा—[सहस्रोपसृत्य] सरो न भेतव्यं न भेतव्यम् ।

मालविका—[अटसृत्य] भट्टा । मा दाव सहसा खिण्णम् । सण्णो त्ति भण्णीअदि ।
(मर्ता । मा तावसहसा निष्णाम । सर्प इति मण्यते ।)

इरावती—हट्टी हट्टी । भट्टा इदो एव्व धावदि । (हा थिक् हा थिक् । मर्ता इह एव
धावति ।)

विदूषकः—[सप्रहासम्] वहं दण्डदण्डं एदं । अहं वणु जाणे जं मए केदईकयटएईं डंसं
करिअ सण्णस्स उपरि अअसो किदंतं मे फल्लिदं त्ति । (कथं दण्डकाष्ठमेतत् । अह पुनर्जाने
यन्मया केतकीकण्ठकैर्दंशं कृत्वा सर्पैरधोपर्ययथाः कृत तन्मे फलितमिति ।)

[प्रविश्य पटाक्षेपेण ।]

चकुलावलिका—मा दाव भट्टा पविसदु । इह कुडिलगईं सण्णो विअ दीसदि । (मा
तावकृतो प्रविशतु । इह कुटिलगतिः सर्प इह दश्यते ।)

इरावती—[स्तम्भान्तरिता राजानं सहस्रापेत्य] अवि खिण्णिअवमणोरहो दिवांसकेदो मिहु-
णस्स । (अवि निर्दिग्धमनोरगो दिवांसकेतो मिथुनस्य ।)

[सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा संभ्रमन्ताः ।]

राजा—प्रिये अपूर्वोऽयमुपचारः ।

इरावती—चकुलावलिका । दिद्विअा दुआहिअारविसअा संपुण्णा दे पइएणा । (चकुल-
वलिके । दिद्विअा दुस्वामिअारविपया सपूर्णां ते प्रतिज्ञा ।)

विदूषक—[सहसा आगच्छ] हाय, हाय । अरे मित्र ! मुझपर सोंप आ गिरा है ।

राजा—[सहसा आगे बढ़कर] डरो मत मित्र ! डरो मत ।

मालविका—[पीछे-पीछे] स्वामी ! ऐसे न जाइए । वह कह रहा है कि सोंप है ।

इरावती—हाय, हाय ! स्वामी इधर ही दीड़े आ रहे हैं ।

विदूषक—[हँसकर] अरे ! यह तो लकड़ी है । मैं तो समझा था कि मैंने केतकीके
कौटेसे सोंपके दाँतोंका चिह्न बनाकर जो सोंपपर कलंक लगाया था उसीका मुझे फल मिल
रहा है ।

चकुलावलिका—[पर्दा हटते हुए आकर] स्वामी ! उपर न जाइए । वहाँ टेढ़ा चलता
हुआ छुड़ सोंप जसा दिखाई दे रहा है ।

इरावती—[खंभेके पीछेसे छिनो हुई राजाके पास आकर] कहिए ! दिनमें मिलनेका संकेत
करनेवाले जोड़ेके मनकी साथ पूरी हो गई न !

[सभ इरावतीको देखकर चररा जाते हैं ।]

राजा—प्यारी ! यह तुम कैसी अनोखी बात कर रही हो ।

इरावती—चकुलावलिका ! तुम्हें क्याई है कि इन दोनोंको मिलानेकी जो तूने प्रतिज्ञा
की थी वह आज पूरी हो गई ।

बकुलावलि—पसीदतु भद्रिणी । किं मय किं त्ति देवो पुच्छिददव्वो । ददुदुरा वाह-
रन्ति त्ति किं देवो पुहवीर्यं वरिसिदुं विरमदि । (प्रसीदतु भद्रिणी । किं मया कृतमिति देवः
प्रष्टव्यः । ददुरा व्याहरन्तीति किं देवः पृथिव्या वरिदुं विरमति ।)

विदूषकः—मा दाव । भोदीए दंसणमत्तेण अत्तभवं पणिवाद्दलङ्घणं विसुवरिदो । तुमं
उण अज्जवि पसादं ए गेएहसि । (मा दावत् । मवत्या दर्शनमात्रेणानमवाच्यणिपात्रलङ्घनं
विसृतः । त्वं पुनरद्यापि प्रसादं न गृह्णासि ।)

इरावती—कुविदा दाणि अहं किं करिस्सं । (कुपितेदानीमहं किं करिष्यामि ।)

राजा—एवमेतदस्थाने कोप इत्यनुपपन्नं त्वयि । तथा हि ।

कदा मुखं वरतनु कारणादते तवागतं क्षयमपि कोपपात्रताम् ।

अपर्वणि ग्रहकल्पेन्दुमण्डला विभावरी कथय कथं भविष्यति ॥ १६ ॥

इरावती—अट्टाणे त्ति सुद्धं वाहरिदं अज्जउत्तेण । अणसंकन्तेसु अम्हाणं भाअहेएसु
जइ उण कल्पेअं तदो रां अहं हस्सा भवेअं । (अस्थान इति सुद्धं व्याहृतमार्यपुत्रेण । अन्वसका-
न्तेश्चस्माकं भागधेयु यदि पुनः कुप्येयम् ततो न-न्यहं हास्या भवेयम् ।)

राजा—त्वमन्यथा कल्पयसि । अहं पुनः सत्यमेव कोपस्थानं न पश्यामि । कुतः—

नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो वन्धुम् ।

इति मोचिते मर्यते प्रश्लिपतितुं मासुपगते च ॥ १७ ॥

बकुलावलि—क्रोध न करो स्वामिनी ! मैंने क्या किया है ? देवसे ही पूछ लीजिए ।
कहाँ भला पृथ्वीपर पानी बरसानेके लिये देव, मेंढकोंकी टर-टरकी वाट थोड़े ही
जोड़ते हैं ।

विदूषक—भजी ! ऐसा न कहिए । उस दिन महाराज आपके पैरों पड़े, हाथ जोड़े, पर
आप टससे मत न हुईं, रूठकर चले गीं और इधर महाराजको भलमनसाहत देखिए कि
आपको देखते ही उन्होंने पिछली सब बातें उठाकर एक ओर रग दीं, फिर भी आप अभी-
तक तिची हुई हैं ।

इरावती—तिची होकर भी मैं इनका क्या कर लूंगी ?

राजा—पर बिना घातके रूठना भी तो तुम्हें शोभा नहीं देता । क्योंकि सुन्दरी !
बताओ तो इससे पहले क्या कभी तुम्हारा मुँह बिना कारणके राग भरके लिये भी लाल
हुआ है ? मला बताने बिना ग्रहणकी रात आँसू क्या कभी चन्द्र-ग्रहण लग सकता
है । १६ ॥

इरावती—यह तो आर्यपुत्रने ठीक कहा कि मैं बिना कारणके रूठ रही हूँ । हमारे स्वामी
कहाँ और मन लगावें और उसपर हम रूठने लगे, यह तो सचमुच जग हसाईकी बात है ।

राजा—तुम तो सब बातें उल्टी ही समझती हो । मुझे तो सचमुच इसमें रूठनेकी कोई
बात दिखाई ही नहीं देती है । क्योंकि मैंने तो इन दोनोंकी इसीलिये छोड़ दिया कि
अपने सेवकोंको अस्सवके दिन अपराध करनेपर भी धोषकर नहीं रखना चाहिए । यहाँ से
पूटनेपर ये दोनों मुझे प्रणाम करनेके लिये ही यहाँ चली आई थीं ॥१७॥

इरावती—रिणुणिए । गच्छ । देवीं विष्णोवेहि—दिष्टो भवदीए परस्ववातो ए अञ्ज
त्ति । (निपुणिके । गच्छ । देवीं विष्णोपय—दृष्टा भवत्याः पक्षपातो नन्वयेति ।)

निपुणिका—तह । (तथा ।) [इति निष्क्रान्ता ।]

विदूषकः—[आत्मगतम्] अहो अणत्थो संपडिदो । वन्धएत्तमट्टो गिहक्खोदो विहालि-
आए आत्तोए पडिदो । (अहो वनधर्मः संपतितः । वन्धनप्रथे सदृकपातो विहालिनस्य भालोके
पतितः ।)

निपुणिका—[प्रविश्यापयार्थं] भट्टिणि । जदिच्छादिट्ठाए माहविआए आचक्खिअर्दं—
एकरं क्खु एदं सिञ्जुत्तं त्ति । (भट्टिनि । यद-डादृष्टया माघविकाररूपतम्—एव खत्वेतद्विदु-
त्तमिति ।) [इति कर्णं कथयति ।]

इरावती—[आत्मगतम्] उववएण । सखं थय्यं एत्थ वल्लभन्धुणा निदो पओआ ।
[विदूषकं विलम्बं प्रयाचम्] इअ इमस्स कामतन्तसचियस्स खीदो । (उपपन्नम् । उत्पन्नमयत्र
ब्रह्मन्धुना कृतः प्रयोगः । इयमथ कामतन्त्रवचिबन्ध नीतिः ।)

विदूषक—भोदि । जदि खीदिगदं एव यि अक्खरं पदेत्थं एं मए अत्तमयं पेसिदो हवे ।
(भवति । यदि नीतिगतमेकमप्यक्षरं पठेयं अनुमथानभयान्नेपितो भवेत् ।)

राजा—[आत्मगतम्] वर्थं नु खल्लस्मात्सकूटादात्मानं मोचयिष्यामि ।

[प्रविश्य]

जयतेना—देव । कुमारी वसुलच्छी वन्दुअ थसुधानन्दो पिङ्गलराणरेण वलीथ
सासिदा अङ्गणिसण्णा देवीए पचावकिसल्लअ विअ देवमाणा ण किंवि पविदि पडिअञ्जइ ।
(देव । कुमारी वसुधर्याः वन्दुस्मनुधानन्ती पिङ्गलवानरेण वल्लभनासिताङ्गनिपण्णा देव्या । प्रवात-
विसलयमिव जयमाना न किञ्चित्कृतिं प्रतिपद्यते ।)

इरावती—निपुणिका ! जाओ तो, महाराजोसे कह आओ कि आप हमें जैसा मानती
हैं, वह आज हमने देर लिया ।

निपुणिका—अच्छा । [चर्चा जाती है ।]

विदूषक—[मन ही मन] अरे यह तो सत्र गडबड-घोटाला हो गया । पिंजड़ेसे छूटा
हुआ कचूतर बिल्लीके सामने आ पडा है ।

निपुणिका—[आकर अलग] स्वामिनी ! अभी माघविका मुझे मिली थी, उसने बत-
लाया कि यह सब ऐसे हुआ है । [मनमें पहली है ।]

इरावती—[मन ही मन] समझ गई, यह सत्र इसी चोभनकी वस्तुत है । [विदूषकको
देखकर प्रकट] यह सब इसी प्रेम-नीतिके मर्जीकी चाल है ।

विदूषक—देवि ! यदि मैं नीतिका एक अक्षर भी पढ़ा होता तो क्या महाराजको मैं
कभी ऐसे फँसने देता ।

राजा—[मन ही मन] अब इस संकटसे कैसे छूटकारा पाया जाय ।

जयतेना—[आकर] देव ! कुमारी वसुधर्या गौंदके पीछे दौड़ रही थीं कि इतनेमें ही
एक पीला घन्दर वहाँ आ पहुँचा । उसे देखकर कुमारी बहुत डर गई हैं और देवीकी गोदमें
पड़ी हुई, आँधीसे दिल्ते हुए पत्तेके समान धर-धर काँप रही हैं । अभीतक उन्हें चेत नहीं
हुआ है ।

राजा—कष्टं कष्टम् । कातरो बालभावः ।

इरावती—[सापेगम्] तुवरदु अज्जउत्तो एं समासासिटुं । मा से संवासजणितो विआरो वड्ढदु । (त्वरतामार्थपुत्र एना समारवात्तयिदुम् । मास्याः सत्रासन्नितो विकारो वर्धवाम् ।)

राजा—अयमेनामहं संज्ञापयामि । [इति उत्तरं परिश्रामति ।]

विदूषकः—साहु रे पिङ्गलवाणर साहु । परित्तादो तुए सपक्खो । (साधु रे पिङ्गलवानर साधु । परित्रातस्त्वया ररपक्षः ।)

[निष्क्रान्तो राजा विदूषकश्च इरावती निपुणिका प्रतीहारी च ।]

मालविका—हत्ता । देविं चिन्तिअ वेवदि मे द्विअअं । ण जाणे अदो वरं किं वा अणु-
हविद्वं हविसदि ति । (सखि । देवीं चिन्तयित्वा वेवते मे हृदयम् । न जानेऽनः परं किं
वानुमचितव्य भविष्यतीति ।)

[नेपथ्ये ।]

अचरिअं अचरिअं । अपुण्णे एव्व पंचरत्ते दोहलसस मुउत्तेहिं संगल्लो तथणीआसोओ ।
जाव देवीए णिुवेदेमि । (आश्चर्यमाश्चर्यम् । अपूर्ण एव पञ्चरात्रे दोहदस्य मुकुलैः संनद्धस्तानीया-
शोकः । यावदेव्यै निवेदयामि ।)

[उभे श्रुत्वा प्रष्टव्ये ।]

बहुलावलिका—आस्ससिटु सही । सचप्पइएणा देवी । (आस्वसितुं उती । सत्यप्रतिष्ठा
देवी ।)

राजा—बड़ा बुरा हुआ, बड़ा बुरा हुआ । वधोका तो डरनेका स्वभाव ही होता है ।

इरावती—[पंचरात्र] चलिष आयेपुत्र ! मत्पट चलत्तर उसे संभालिए । यहाँ इस
पचराहटमें उसे और कुछ न हो जाय ।

राजा—मैं चलकर अभी उसे चेतमें लाता हूँ । [मत्पट धूमते हैं ।]

विदूषक—बाह रे पोले बन्दर ! बाह, आज तो तुमने हमारे महाराजको सचमुच धया
लिया ।

[राजा, विदूषक, इरावती, निपुणिका, प्रतीहारी एव चले जाते हैं ।]

मालविका—सखी ! जब महारानीका ध्यान आता है तो मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं ।
अब न जाने क्या-क्या दंड भोगना पड़ा है ।

[नेपथ्यमें]

बड़ा आश्चर्य ! बड़ा आश्चर्य है । अभी इस मुनहरे अशोकके दोहद [बाह] पूरे हुए, पाँच
रातें भी नहीं बीत पाईं कि उसमें कलियाँ घूट आईं हैं । यहाँ महारानीको बता आऊँ ।

[दामो मुनहर प्रगल्भ राती हैं ।]

बहुलावलिका—सो मखी ! धीरज धरो । देवी जो एक बार बह देती हैं उससे पीछे
नहीं हटतीं ।

मालविशा—तेण हि प्रमदयणपाणिआए पिट्ठदो होमि । (तेण हि प्रमदयणपाणिआयाः भवामि ।)

बकुलावलिआ—तह । (तथा ।)

[इति निष्क्रान्ते] .

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

मालविशा—तो चलो, हम लोग भी प्रमदयणकी मालिनके पीछे-पीछे वहाँ चली चले ।
बकुलावलिआ—चलो ।

[दोनों चली जाती है ।]

॥ चौथा अङ्क समाप्त हुआ ॥

पञ्चमोऽङ्कः

[ततः प्रबन्धस्युत्पानपालिका ।]

उत्पानपालिका—उपकिल्लतो मय किदसका विहिणो उवणोआसोअरस वेदिआवन्धो । जाव अणुद्विदिगिओअं अत्ताएं देवीए णिवेदेमि । [परिक्रम्य] अहो देवस अणुकम्पणीया मालविआ । तस्सि तह चण्डिआ देवी इमिणा असोअकुसुमवत्तन्तेण पसादसुमुही हविस्सदि । कहिं णु क्खु देवी हवे । [गिलोम्य] अम्हो एसो देवीए परिधणम्भन्तरो किंवि जदुमशालंछिदं मञ्जूसं गेखिअ चदुस्सालादो बुज्जो सारसिओ गिक्खामदि । पुच्छिससं दावणं । [ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टस्तः कुञ्जः ।] सारसिअ । कहिं पत्थिदोसि । (उपकिल्लो मया कृतसत्कारविधिसत्पनीयाशोकस्य वेदिकाबन्धः । यावदनुष्ठाननिशोगमात्मानं देव्यै निवेदयामि । अहो देवस्थानुकम्पनीया मालविका । तस्या तथा चण्डी देव्यनेनाशोककुसुमवृक्षान्तेन प्रखरसुमुखी भविष्यति । कुन नु खल्ल देवी भवेत् । अहो एए देव्याः परिजनाम्बन्तरः किमपि अनुमुद्रालम्बितं गन्धर्व्या यदीत्या चतुःशालतः कुञ्जः सारसिको निष्कामति । प्रयामि तावदेनम् । सारसिक । कुभ प्रस्थितोऽसि ।)

—सारसिकः—मधुअरिय । विज्जाभरिआणं बद्धाणाणं णिअदक्खिणं मासिईं पुरोहितस्स हत्थं पावइस्सं । (मधुअरिक । विजाभरितानां ब्राह्मणानां निश्वदशिषां मायिकी पुरोहितस्य हत्तं प्रापयिष्यामि ।)

मधुकरिका—अह किणिमित्तं । (अय किनिमित्तम् ।)

पाँचवाँ अङ्क

[मालिन भाती है ।]

मालिन—मैंने सय घास-पात निकालकर इस मुनहरे अक्षोककी मूँड ठीक ढंगसे बांध दी है । अथ यहाँका काम सब ठीक हो गया है । चलो देवीको दत्ता आऊँ [घूमकर] । भगवानने घेघारी मालविकाको लाज रत ली । उसपर बिगड़ी बैठी हुई महारानीको, जब अशोकके फूलनेका समाचार मिलेगा तो वे रिल उठेंगी । पर इस समय महारानी होंगी कहीं ? [देखकर] अरे ! यह महारानीके रनिवासका कुचड़ा सेवक सारसिक लारकी छाप लगी हुई पिटारी लिए हुए, रनिवाससे निकला चला आ रहा है । चलो, इसीसे पूछ देखें । [हाथमें पिटारी लिए हुए कुचड़ा दिखाई देता है ।] कहो सारसिक ! कियर चले ?

सारसिक—मधुकरिका ! विद्वान् ब्राह्मणोंको सदा महीने-महीनेपर जो दक्षिणा दी जाती है वही सय घाँसनेके लिये पुरोहितजीको सौंपने जा रहा हूँ ।

मधुकरिका—यह दक्षिणा क्यों बाँटी जा रही है ?

सारसिकः—जदप्पहुदि सेणावदी जरणतुरंगरक्खणे णिउत्तो भट्टदारओ वसुमिच्चो तदप्पहुदि तस्स आउत्तणिमिच्चं णिक्खसदसुवणणपरिमाणं दक्खिण्णं देवो दक्खिण्णोपहिं परिग्गाहेदि । (यत्.प्रभृति सेनापतिर्षत्रतुरंगरक्षणे निमुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रस्ततः प्रभृति तस्यापुर्निमित्त निष्पद्यतमुवर्णपरिमाणं देवो दक्षिणायैः परिग्राहयति ।)

मधुकरिका—अहं कहिं देवो । किं वा अणुचिट्ठदि । (अथ कुत्र देवो । किं वानुतिष्ठति ।)

सारसिकः—मंगलधरे आसणत्या भयिअ विदम्भविसअद्दो भादुणा धीरसेण्णेण पेसिदं छेहं लेहकरेहिं वाइअमाणं सुणादि । (मन्त्ररूपद श्रावणस्था भूमा विदर्भविषयाद्भ्रात्रा वीरसेनेन प्रेषितं लेख लेखकरैर्वाञ्चनानं शृणोति ।)

मधुकरिका—को उण विदम्भराअयुत्ततो सुणीअदि । (क पुनर्विदर्भराजवृत्तः श्रूयते ।)

सारसिकः—वसीकिरो कसु वीरसेणप्पमुहेहिं भत्तओ विजअदंहेहिं विदम्भणाओ । मोइवो से दाआदो माहवसेणो दूदो अ तेण महासाराणि रअणाणि चाहणाणि सिप्पआरिआ-भूइहं परिअणं उवाअणीकरिअ भट्टिणो सअसं पेसिदो त्ति । (वशीकृतः किल वीरसेन-प्रमुखैर्भूतुर्विजयदण्डैर्विदर्भनाथः । मोक्षितोऽस्य दायादो माधवसेनः । दूतश्च तेन महासाराणि रत्नानि वादनानि शिखरकारिकाभूयिष्ठं परिजनमुनायनीकृत्य मन्त्रैः सकाशं प्रेषित इति ।)

मधुकरिका—गच्छ अणुचिट्ठ अत्तणो णिओअं । अहं वि देवि पेक्खिण्णसं । (गच्छानुतिष्ठत्सनो निबोधम् । अहमपि देवो प्रेषिष्ये ।)

[इति निष्क्रान्ती ।]

॥ प्रवेशकः ॥

सारसिक—जबसे अश्वमेध अज्ञके घोड़ेकी रक्षाके लिये राजकुमार वसुमित्र सेनापति बनाए गए हैं, तभीसे उनके चिरंजीवी होनेके लिये चार सौ स्वर्ण मुद्राओंके वरावर धन, योग्य ग्राहकोंको दक्षिणार्धे दिया जाता है ।

मधुकरिका—अच्छा यह तो बताओ कि महारानी हैं कहाँ और क्या कर रही हैं ?

सारसिक—महारानीजीके भाई वीरसेनने विदर्भसे जो चिट्ठी भेजी है, उसीको वे मपल-परसें यैसी हुई अपने लेखकसे बँववाकर सुल रही हैं ।

मधुकरिका—विदर्भके राजाका क्या समाचार मिला ?

सारसिक—महाराजकी विजयिनी सेना लेकर वीरसेनने विदर्भके राजाको जीत लिया है और उनके चचेरे भाई माधवसेनको छुड़ा लिया है । साथ ही उन्होंने एक दूतके साथ बहुत-से अनमोल रत्न, हाथी, घोड़े और बहुत अच्छे-अच्छे पलाकार सेवक, महाराजके पास भेंटमें भेजे हैं ।

मधुकरिका—अच्छा, जानो, तुम भी अपना काम कर आओ और मैं भी अभी महारानीके दर्शनको जाती हूँ । [वानीं जात ६ ।]

॥ प्रवेशकः ॥

[ततः प्रविशति प्रतीहारी ।]

प्रतीहारी—आणत्तन्हि असोअसकारवावुदाए देवीए—विण्णावेदि अज्जउत्तम् । इच्छामि अज्जउत्तेण सह असोअरुक्खस्स पमुण्णल्लच्छि पच्चस्वीकारुं त्ति । ता जाय धम्मासण्णगदं देवं पडिवात्तेमि । (आञ्जनात्प्रशोकस्य, नारद्व्याघृतया देव्या—विद्यापयार्थपुत्रम् । इच्छाम्य येषुषेण सदाशोकशुभस्य प्रसन्नरक्ष्मी प्रत्यञ्चीकर्तुमिति । तद्यावद्दमोवनमतं देव प्रतिपालयामि ।)

[इति परिक्रामति ।]

[नेपथ्ये वैतालिकी]

प्रथमः—विजयतां विजयतां देयः । दिष्ट्या दख्खैरेव रिफुशिर सु वरते देवः ।

परभृतकलव्याहारेषु त्वमात्तरतिर्मधुं नवसि विदिशातीरोद्यानेअनङ्ग इवाङ्गवान् ।
विजयकरिणामाल्लान्तरं गतैः प्रबलस्य ते वरद वरदारोधोवृक्षैः सहावनतो रिपुः ॥ १ ॥

द्वितीयः—

विरचितपदं वीरप्रीत्या सुरोपम हरिभि-
श्चरितमुभयोर्मध्ये कृत्य स्थितं क्रथकैशिकान् ।
तव हृत्तवतो दरडानीकैर्विदर्भपतेः श्रियं
परिषगुरुभिर्दोर्भिर्विप्लवोः असख्य च रुक्मिणीम् ॥ २ ॥

[प्रतीहारा आती है ।]

प्रतीहारी—अशोककी पूजाकी धूम धाममें लगी हुई महारानीने यह आज्ञा दी है कि जाओ महाराजसे कह दो कि मैं चाहती हूँ कि आर्यपुत्रके साथ ही चलकर फूले हुए अशोककी शोभा देखूँ । तो चलो न्यायासनपर बैठे हुए महाराजके पास पहुँचूँ । [प्रती है ।]

[नेपथ्यमें वा वैतालिक]

पहला—जय हो, देवकी जय हो । यहाँ है महाराजको कि आपने अपनी शक्तिसे अपने शत्रुओंको पैरों तले रौंद दिया ! हे मनवाहा वर देनेवाले राजा ! आप तो इधर साजान् कामदेवके समान, कोयलकी सुन्दर कूक सुनते हुए विदिशाके वीरपर फँडे हुए उपवानोंमें अपना वसन्त बिता रहे हैं । उधर आपका बलवान शत्रु वरदाके वीरपर रखे हुए उन पुँडोंके साथ साथ मुका दिया गया है जो अब आपकी सेनाके विजयी हाथियोंके घोंघनेके लूँटे घने कर रहे हैं ॥ १ ॥

दूसरा—दे देवताओंके समान राजा ! विदर्भमें वो ही तो बड़ी-बड़ी घटनाएँ हुई हैं । एक तो आपका अपनी सेना भेजकर विदर्भके राजाको हराना, दूसरी भगवान श्रीकृष्णजी-द्वारा उनकी अर्गलाके समान बड़ी-बड़ी भुजाओंसे रुक्मिणीजीका हरा जाना । वीरोंके घेम रखनेवालेकिये लोगधर व इन दोनों घटनाओंके गीत बना बनाकर गा रहे हैं ॥ २ ॥

प्रतीहारी—एगो जअसदसूइदण्ठयाणो भट्टा इवो एउअ थाअच्छदि । अहं वि दाव इमस्स पमुहादो तोआदो ओसरिअइ इअभन्तरिदा होमि । (एअ अयअअरुअचितप्रथाना भवेत्त एवागच्छति । अहमपि ताअदसअ प्रमुआअल्ल कअदपअअय इअअन्तरिता भवामि । [इत्थेकान्ठे स्थिता ।]

[प्रविश्य सनयस्थो राजा]

राजा—

कान्तां विचिन्त्य सुलभेतरसंप्रयोगां श्रुत्वा विदर्भपतिमानमितं बलैश्च ।

धाराभिरातप इयामिहतं सरोजं दुःखायते मम मनः सुखमरनुते च ॥ ३ ॥

विदूषकः—जह प्रहं पेकरामि तह एअन्तमुहिदो अर्थ हविस्सदि । (यथाहं पेक्ष्य तथा एकान्तगुलिता भयान्भविष्यति ।)

राजा—पथमित्र ।

विदूषक—अअज दिअ वेधीए एअं पंडितकोमिहं भणिदा—अअअदि । जं तुमं पसाहण-गअं अहसि तं दंसेदि मालविआए सरीरे विवाहएवेत्थं ति । ताए सविसेसालंकिदा माल-विआ । तत्तहोदी कदावि पूरए भवदोवि मनोरह । (अअ किल्ल देव्यं पण्डितनीअिनी भणिता—भगवदि । अअं प्रथापनअर्थं अहसि तदसंय मालविआयाः अरीरे विशाहनेअयमिति । तथा सविशेषालकृता मालविआ । तत्रभ्रती कदाचित्पूरुयेअततोअपि मनोरथन् ।)

राजा—सपे । सवपेक्षामनुप्राय अन्था धारिण्या पूर्वांनरितैः संभाव्यत एवेतन् ।

प्रतीहारी—इस जयजयकारसे यह जान पड़ता है कि महाराज वहाँसे उठकर इधर ही चले आ रहे हैं । मैं भी उनके आगे-आगे चलती हुई भीड़से बचकर लंबेके पीछे खड़ा हो जाता हूँ ।

[एक ओर सड़ा हा जाता है ।]

[विदूषकके साथ राजा आते हैं ।]

राजा—एक ओर जब मैं बस दुर्लभ प्यारोकी बात सोचता हूँ और दूसरी ओर जब मैं सुनता हूँ कि मेरी सेनाने विदर्भके राजाको हरा दिया है तो मेरा मन उस कमलके समान एक साथ दुखी और सुखी होता है जिसपर कड़ी धूप भी पड़ रही हो और साथ-साथ पानी भी बरस रहा हो ॥ ३ ॥

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि अब आपको पूरा सुख ही सुख मिलेगा ।

राजा—कैसे ?

विदूषक—आज पहिला बौशिकीसे महाराजोंने कहा था कि भगवती आपको सिंगार करनेकी विद्याका जो घमण्ड है वह आप मालविआको विवाहके सिंगारसे सजाकर दिखाएँ । इसपर उन्होंने मालविआको बड़े मुहाबने डगसे सजा दिया है । कौन जाने ये ही आपकी साथ पूरी कर दें ।

राजा—हो मित्र ! महाराजो धारिणोंने पहले भी मेरे मनको बहुत-सी बातें को हैं इस-लिये यह भी कर दें तो कोई अचरज नहीं है ।

प्रतीहारी—[उदगम्य] जेदु जेदु भट्टा । देवो विण्णावेदि—तवणीआसोअरस कुसुमसह-
दंसणेण मह आरम्भो सफलो करीअट्टु न्ति । (जयतु वयत्तु भर्ता । देवी विज्ञापयति—उपनीय-
शोकस्य कुसुमसहृदयनेन ममारम्भः सफलः क्रियतामिति ।)

राजा—ननु सत्रैव देवी तिष्ठति ।

प्रतीहारी—अह इं । जहरिदुसंमाणसुहिथं अन्तेउरं विसज्जिअ मालविआपुरोणेण अत्तणो
परिआणेण सह देवं पडिवालेदि । (भयकिम् । यथाहसम्मानसुखितमन्तापुरं विसृज्य मालविका-
पुरोणेण स्मनः परिजनेन सह देव प्रतिपालयति ।)

राजा—[सहर्षं विदूषक विलोक्य] जयसेने । गच्छाम्रतः ।

प्रतीहारी—एदु एदु देवो । (एत्थेव देवः ।) [इति परिक्रामति ।]

विदूषकः—[विलोक्य] भो अरस । किंवि परिष्पन्नजोष्मणो विअ वसन्तो पमदवणे
उक्खीअदि । (भो वयस्य । किंचित्परिवृत्तयौवन इव वयन्तः प्रमदवने लक्षते ।)

राजा—यथाह भवान् ।

अग्रे विकीर्णकुरवकफलाजालकभिद्यमानसहकारम् ।

परिणामाभिमुखनृतोरुत्सुकयति यौवनं चेतः ॥ ४ ॥

विदूषकः—[परिक्रम्य] अहो । अअं सो दिण्णेषेत्यो विअ कुसुमत्ववणहं तवणीआ-
सोओ । ओओअट्टु भवं । (अहा । अयं स दत्तनेष्य इव कुसुमसहृदयकैस्तरनीयाश्वाकः । अवलोकतां
गरान् ।)

प्रत हारी—[पाप जाकर] जय हो स्वामीजी जय हो ! देवीने फहलाया है कि मेरे साथ
बलकर उस फूले हुए सुनहरे अशाक को देवकर मेरा सप उतसन सफल कर दीजिए ।

राजा—क्या देवी वर्षापर हैं ?

प्रतीहारी—जी हों ? रनियासको सव रानियेँका यथायोग्य आदर करके ये मालविका
श्रीर दासियेँके साथ बैठी महाराजके लिये चाट जोह रही हैं ।

राजा—[प्रमत्त हाकर (उदगम्य) आर देलकर] जयसेना ! चलो तो आगे-आगे ।

प्रतीहारी—आइए देव ! चले आइए । [घूमती है ।]

विदूषक—देखो मित्र ! जान पड़ता है कि प्रमदवनमें वसन्तरी जबानी फिर लौट
आई है ।

राजा—ठीक फहते हो तुम । इस घोवते हुए वसन्तमें भो घितरे हुए कुरवकके फूल,
मगमें जयानीकी लहर उठाने लगे हैं ॥ ४ ॥

विदूषक—[घूमकर] कल्लेके गुच्छेमे लदा हुआ यह सुनहरा अशोक पेसा जान पड़ता
है मानो हमका भी किमीने मिगार कर दिया हो । देरिए तो ।

राजा—स्थाने एतु प्रसवमन्थरोऽयमभूत् । वदिदानीमनन्यसाधारणीं शोभामुद्ब्रूति ।
पर्य—

सर्वाशोकतरुणां प्रथमं सूचितवसन्तविभवानाम् ।

निर्वृत्तदोहदेऽरिमन्तक्रान्तानीव वसुमानि ॥ ५ ॥

विदूषकः—तह । भो बीसदो होहि । अम्हेसु मंणिह्रिदेसुधि धारिणी पासपरिवट्टिणी
मालविश्रं अगुमण्णेदि । (तथा । भोः विसन्धो भर । भरमासु संनिहितेष्वपि पारिणी पार्ष्वरि-
र्षिनीं मालविश्रमनुमन्यते ।)

राजा—[वदपम्] सरो । पर्य—

मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनृत्थिता प्रियया ।

विस्तृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या वसुमतीव ॥ ६ ॥

[ततः प्रविशति धारिणी मालविका परित्राजिका विभयतश्च परिवारः ।]

मालविका—[आत्मगतम्] ज्ञानामि खिमिचं फोटुआलंकारस्त । तह वि मे द्विअश्रं
विसिणोपत्तगदं विअ सलिलं वेवदि । अवि अ दकिण्णोदरं वि मे णअणं वहुसो फुरदि ।
(जानामि निमित्तं कौटुकालंकारस्य । तथापि मे हृदयं विविनीयवगतमिव, खलिलं वेपते । अपि च
दक्षिणोत्तरमपि मे नयनं बहुशः स्फुरति ।)

विदूषकः—भो वअरस । विवाहणेवत्येण सविसेसं कसु सोददि मालविआ । (भो वयस्य ।
विवाहनेरप्येन सविशेषं खल्ल शोभते मालविका ।)

राजा—इनका देरसे फटना अरुझा ही हुआ, क्योंकि अथ इसके आगे सब घृषोंकी
शोभा फीकी लगने लगी है । देवो ! ऐसा जान पड़ता है कि जिन आशोकके घृषोंने पहले
फूलकर वसन्तके आनेकी सूचना दी थी, उन सपने अपने-अपने फूल इस आशोकके घृषोंको
दे दिए हैं जिसके फूलनेका उपाय अभी थोड़े दिन हुए किया गया था ॥ ५ ॥

विदूषक—हाँ लीजिए, अब आपका काम बन गया क्योंकि हमलोगोंके आ पहुँचनेपर
भो महारानी धारिणी, मालविकाको अपने पास ही बैठनेके लिये कह रही हैं ।

राजा—[प्रसन्न होकर] देतो मित्र ! मेरा आदर करनेके लिये उठी हुई महारानीके
पीछे, अपने कमल जैसे दोनों हाथ खोले खड़ी हुई मेरी प्यारी मालविका, ऐसी लग रही है
मानो घृषोंके पीछे राजलक्ष्मी खड़ी हुई हो ॥ ६ ॥

[धारिणी, मालविका, परित्राजिका और उनकी दासियाँ दिलाई देती हैं ।]

मालविका—[मन ही मन] मैं श्रा वनाव-सिगारका अर्थ तो समझ रही हूँ, फिर भी न
जाने क्यों मेरा हृदय कमलिनीके पनेपर पड़ो हुई जलकी बूँदके समान अभी तक बँप रहा
है । पर मेरी यादें आज भी आज बहुत फड़क रही हैं ।

विदूषक—कहो मित्र ! विवाहके सिगारोंसे सजी हुई मालविका रितनी सुन्दर जँचने
लगी है ?

राजा—पर्याम्बेनाम् । यौषा—

अनतिलम्बिदुक्कलनिपासिनी बहुभिराभरणैः प्रतिभाति मे ।

उदुगायैरुदयोन्मुखचन्द्रिका हतहिर्मखि चैत्रविभादरी ॥ ७ ॥

धारिणी—[उभेत्] जेदु जेदु अज्जउत्तो । (नधवु वयत्वार्यपुत्रः ।)

विदूषक—वढढदु भोदी । (वर्यता भाषी ।)

परिव्राजिका—विजयता देव ।

राजा—भगवति अभिवाद्ये ।

परिव्राजिका—अभिप्रेतसिद्धिरस्तु ।

धारिणी—[अस्मितम्] अज्जउत्त । एस ते अम्हेहि तरुणोजणसहाअरस असोओ संकेद-
पत्तौ कल्पिदो । (आर्यपुर । एष तेस्माभिस्रवणीजनसहापस्यादाकः संकेदग्गद कल्पितः ।)

विदूषक—भो आराहिओसि । (भोः आराधिताइत्ति ।)

राजा—[अमीदमशोकमभित् परिकामन् ।]

नायं देव्या भाजनत्वं न नेयः सत्काराणामीदृशानामशोकः ।

यः सावज्ञो माधवश्रीनियोगे पुष्पैः शंसत्यादरं त्वत्प्रयत्ने ॥ ८ ॥

विदूषक—भो वीसदो भविअ तुमं जोव्वणवदि इमं पेक्ख । (भोः विसन्धे शूत्वा तं यौवनवतीमिमां पश्य ।)

राजा—हाँ, देख तो रहा हूँ कि सिरपर एक छोटी सी औदनी ओढ़े हुए और नोचेसे ऊपर तक अनेक प्रकारके सिंगारोंसे सजी हुई यह चैतकी उस रातके समान दिखाई पड़ती है विसमें कोहरा हट जानेसे वारे खिल आए हों और चाँदनी भी बस निकलने ही वाली हो ॥ ७ ॥

धारिणी—[पाठ पहुँचकर] जय हो आर्यपुत्रकी जय हो ।

विदूषक—आपको बधाई है ।

परिव्राजिका—देवकी जय हो ।

राजा—प्रणाम करता हूँ भगवती ।

परिव्राजिका—आपके मनकी साध पूरी हो ।

धारिणी—[मुक्कराकर] आर्यपुत्र ! लीजिए यह आपके लिये अशोक का ऐसा प्रेम-
मिलनका घर बना दिया गया है जहाँ आप युवतियोंसे अकेलेमें मिल सकते हैं ।

विदूषक—लीजिए महाराज ! देवीने तो आपकी मनचाही कर दी ।

राजा—[लज्जते हुए अशोकके चारों ओर घूमते रहे] देवीकी हाथों इस अशोकका ऐसा आदर होना ही चाहिए, क्योंकि यह भी वसन्तकी लक्ष्मीका फटना न मानकर और यस्त्वमें न फूलकर देवीके प्रयत्न करनेपर फूल उठा है ॥ ८ ॥

विदूषक—अब आप सम्भलकर इस यौवनवालीको देखिए ।

धारिणी—कं । (नाम् ।)

विदूषकः— भोदि तवणीआसोअरस दुसुमसोहम् । (भरति । तवनीयाशोकस्य कुमुमशो-
माम् ।]

[सर्वं उपविशति ।]

राजा—[मालविकां त्रिलोचन आत्मगतम्] कष्टः खलु संनिधिवियोगः ।

अहं स्याङ्गनामेव प्रिया महचरीन मे ।

अननुजातसंपर्का धारिणी खनीव नो ॥ ६ ॥

[प्रविश्य]

कञ्चुकी—विजयतां देवः । देव अनात्यो विज्ञापयति—विदर्भविषयोपायने द्वे शिल्पका-
रिके मार्गपरिष्ठादलक्षुशरीरे इति पूर्व न प्रवेशिते । संप्रति देवोपस्थानयोग्ये संवृत्ते ।
वदाहं देवो दातुमर्हतीति ।

राजा—प्रवेशय मे ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इति निष्क्रम्य ताभ्यां वद प्रविश्य ।] इत इतो भवत्यौ ।

प्रथमा—[जनान्तिरम्] हस्ता मदणिए । अपुर्व्वं शर्म राअउलं पविसन्तीप पसीददि मे
द्वैअअं (अति मदनिके । अपूर्वमिदं राजकुलं प्रविशन्त्याः प्रसीदति मे हृदयम् ।)

धारिणी—किते ?

विदूषकः—देवी ! इस सुनहरे अरोकके फूलोंकी शोभासी ।

[वर बैठ जाते हैं ।]

राजा—[मालविकाने देसअर मन ही मन] इतने पासमें रहते हुए भी अलग बैठना
महा कर्मकता है । चरया और चकरीयो भाँति इतने पास बैठे हुए भी हम दोनोंसे, ये
तात्रि वनो हुई धारिणी मिलने नहीं दे रही हैं ॥ ९ ॥

कञ्चुकी—[आर] देवसे जय दो । मन्त्रीजीने कहलाया है कि विदर्भसे जो कला
ताननेवाली दो स्त्रियाँ भँटके रूपमें आई थीं वे उस समय यहीं होनेके कारण महाराजके
पास नहीं लाई जा सकी थीं । अब ये महाराजके सामने लाई जा सकी हैं । उनके लिये
देवकी आशा चाहिए ।

राजा—ले आओ ।

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा । [बाहर नाकर उन दोनोंके साथ आजा है ।] इधरसे
आइए आप लोग, इधरसे ।

पहला—[अलग] मयो मदनिहा ! हम पहले कभी इग राज-कुलमें नहीं आई हैं,
फिर भी न जाने क्यों यहीं आते ही हमारा जी गिना जा रहा है ।

द्वितीया—जोसिणीए । अतिथि कस्तु लोअप्पधावो आआमि सुहं दुक्खं वा द्विअथसम-
वत्था कहेदि ति । (ज्योत्स्निके) अस्ति खलु लोकप्रवादः आगामि सुखं दुःखं वा हृदयसमवराणा
कथयतीति ।)

प्रथमा—सो सच्चो दाणिं होदु । (स सत्य इदानीं भवतु ।)

कञ्चुकी—एष देव्या सह देवस्तिप्रति । उपसर्पतां भवत्यौ ।

[उभे उपसर्पतः]

[मालविका परित्राजिका च चेत्यौ विलोक्य परस्परमवलोकयतः ।]

उभे—[प्रथमस्य] जेदु जेदु भट्टा । जेदु जेदु भट्टिणी । (जयतु जयतु भर्ता । जयतु जयतु
भट्टिनी ।)

[उभे राजान्तरा उपविष्टे ।]

राजा—कस्यां कलायामभिविनीते भवत्यौ ।

उभे—भट्टा । संगीदए अहमन्तरेन्ह । (भर्ता । संगीतकेअन्तरे स्वः ।)

राजा—देवि । गृह्यतामनयोरन्यतरा ।

पारिणी—मालविए । इदो पेक्ख । कदरा दे संगोदसहआरिणी रुच्चदि । (मालविके ।
इतः पश्य । कतरा दे संगीतसहआरिणी रीचते ।)

उभे—[मालविका दृष्ट्वा] अन्हो भट्टदारिआ । जेदु जेदु भट्टदारिआ । (अहां भट्ट-
दारिका । जयतु जयतु भट्टदारिका ।) [इति प्रथम्य तथा सह बाधं विद्युतवः ।]

[सर्वे सविस्मय विलोकयन्ति ।]

दुखी—ज्योत्स्निका ! कहा जाता है कि अपना मन, आगे आनेवाले सुख वा दुःख
समी घटा देता है ।

पहली—भगवान करें, वह कहावत आज सच हो जाय ।

कञ्चुकी—देविण, यह महारानीके साथ महाराज बँठे हुए हैं । आप दोनों आगे
बढ़ जाइए ।

[दोनों बढ़ जाती हैं ।]

[मालविका और परित्राजिका इन दोनों दातियोंका देखकर एक दूसरेकी ओर देतनी हैं ।]

दोनों—[प्रणाम करके] जय हो, स्वामीकी जय हो । जय हो, स्वामिनीकी जय हो ।

[राजाके कहनेसे दोनों बँठ जाती हैं ।]

राजा—आप लोगोंकी कौन-सी कला आती है ।

दोनों—स्वामी ! हम लोगोंने संगीत सीखा है ।

राजा—हो देवी, इनमेंसे जिसे चाहो उसे अपने लिये चुन लो ।

पारिणी—मालविका ! इधर देतो, संगीतमें तुम्हारा साथ देनेके लिये इनमें से तुम्हें
कौन-सी अच्छी लगती हैं ।

दोनों—[मालविकारा देखकर] अरे, राजकुमारी ! जय हो राजकुमारी, जय हो ।
[प्रणाम करके उभयें गले मिलकर रात हैं ।]

[सब अचरबुझे देखते हैं ।]

राजा—के मन्त्रयी ! का वेद्यम् ।

उभे—भट्टा । एसा अम्हण्यं भट्टारिया । (भर्तः । एतास्मान् मन्त्रदारिका ।)

राजा—कथमिदम् ।

उभे—सुणाहु भट्टा । जो सो भट्टिणा विजयदण्डेहिं विदग्धमणाहं वसीकरिअ वन्ध-
णादो मोइओ कुमारो माहवसेणो खास तस इत्थं कणीअमो भइयो मालविआ एाम ।
(शृणोतु भर्ता । यः स मन्त्रो विजयदण्डैर्निद्रमन्त्रार्थं यशीरुरप वन्धनाग्नेचितः कुमारो माधवसेनो
नाम तस्यैव कनीयसी भगिनी मालविद्या नाम ।)

धारिणी—यहं राजदारिया द्धं । चन्दणं क्खु मए पाहुओवओएण दूसिदं । (कथम्
राजदारिकेषुम् । चन्दनं खलु मया पाहुओपयोगेन दूषितम् ।)

राजा—अयाअभवतो कथमित्यंभूना ।

मालविका—[निश्चिन्त्यात्मगतम् ।] विहिण्णिओएण । (विधिमियोनेन ।)

द्वितीया—सुणाहु भट्टा । दाआदधसंगदे भट्टदारए माहवसेणे तस अमसेण अज्जसुमदिणा
अम्हारिसं परिअणं उज्जिय गूढं आखोदा एसा । (शृणोतु भर्ता । दायादवद्यगते मन्त्रदारिके
माधवसेने तस्याभाष्येनार्थं नुनतिनाम्माहयं परिजनसुजित्या गूढमानीतेषा ।)

राजा—अतपूर्वं मयैतत् । ततस्ततः ।

द्वितीया—भट्टा । अदे वरं ण आणामि । (भर्तः । अतः परं न जानामि ।)

परित्राजिका—रतः परं मन्दभागिनी कथयिष्यामि ।

उभे—भट्टिदारिए । अज्जकोसिदिए विअ सरसंजोओ । एं सा एव्व । (मन्त्रदारिके ।
आर्यकोशिका इव स्वरसंयोगः । ननु सैव ।)

राजा—आप लोग कौन हैं और ये कौन हैं ?

दोनों—श्यामी ! ये हमारी राजकुमारी हैं ।

राजा—वैसे ?

दोनों—सुनिए श्यामी ! आपकी विजयी सेनाने विदर्भके राजाकी जीतकर जिन कुमार
माधवसेनको बन्धनसे छुड़ाया है, वन्धकी ये छोटी बहिन मालविकाजी हैं ।

धारिणी—अरे ! तो क्या ये राजकुमारी हैं । मैंने सचमुच चन्दनसे खड़ाऊँका काम
लेकर बड़ा पाप किया है ।

राजा—तो ये इस रूपमें यहाँ कैसे आ गईं ।

मालविका—[लंबी लौट लेकर मन ही मन] भाग्यके फेर से ।

दूसरी—सुनिए महाराज ! जब राजकुमार माधवसेनको उनके पचेरे भाईने पकड़
लिया था, तब उनके मंत्री आर्य सुमतिजी इन्हें हम लोगोंसे छुटाकर यहाँ छिपा कर ले आए ।

राजा—यह तो मैं पहले सुन चुका हूँ । तब क्या हुआ ?

दूसरी—इसके पीछेकी बात मैं कुछ नहीं जानती हूँ श्यामी !

परित्राजिका—इसके पीछेकी कथा मैं अभागिन बताती हूँ ।

दोनों—राजकुमारी ! यह तो आर्या कोशिकी जैसी घीनी लग रही है । वे ही हैं क्या ? -

मालविका—अह इम् । (अथ किम् ।)

उभे—जद्विलेसधारिणी अञ्जकोसिई दुःखेण विभावीअदि । भञ्जवदि । एमो दे ।
(यतिवेषधारिव्यापकोशिई दुःखेन विभाव्यते । भगवति । नमस्ते ।)

परित्राजिका—स्वस्ति भवतीभ्याम् ।

राजा—कथम् । आप्तवर्गोऽयं भगवत्याः ।

परित्राजिका—एवमेतत् ।

विदूषकः—तेण हि कहेदु भञ्जवदी अत्तहोदोए वुत्तन्तं दाव असेसं । (तेन हि कथयद्
भगवत्यनभक्त्या वृत्तान्तं तवदर्शयम् ।)

परित्राजिका—[उक्तेः श्लेषम्] तावच्छ्रूयताम् । माधवसेनसचिवं ममाग्रजं सुमतिम-
घगच्छ ।

राजा—उपलक्षितः ततस्ततः ।

परित्राजिका—स इमां तथागतभ्रातृकां मया सार्धमपवाह्य भवत्सम्यग्वापेक्षया पथिकसार्धं
विदिशागामिनमनुप्रविष्टः ।

राजा—ततस्ततः ।

परित्राजिका—स षाट्शतान्तरे निविष्टो गताध्या वणिग्गणः ।

राजा—ततस्ततः ।

परित्राजिका—ततः क्रियान्यत् ।

मालविका—और क्या ?

दोनों—संन्यासिनोका वेश बना लेनेसे कौशिकोजी बड़ी कठिनाईसे पहचानमें आती
हैं । आपको प्रणाम है भगवती ।

परिमित्रिका—तुम दोनोंका क्याकाण हो ।

राजा—क्यों, क्या ये भी आपकी ही चेलियाँ हैं ?

परिमित्रिका—जी हाँ, हैं तो ।

विदूषक—तब आप ही इनकी पूरी क्या सुना डालिए ।

परिमित्रिका—[दुर्गा दाऊर] तो सुनिए ! माधवसेनके मंत्री सुमति मेरे बड़े भाई थे ।

राजा—अच्छा समझ गए । हाँ, तब ।

परिमित्रिका—माधवसेनके पकड़े जानेपर इनके भाई आपके साथ इनका पियाह
करनेके विचारसे इसे और मुझे साथ लेकर विदिशाकी ओर आते हुए एक व्यापारी दलके
साथ हो लिए ।

राजा—तब तब ?

परिमित्रिका—सोड़ी दूर तरु गुजो सरुकर पर चल चुकनेपर उन्हें जंगलमें छोड़कर जाना
पड़ा ।

राजा—तब क्या हुआ ?

परिमित्रिका—फिर क्या ? अचानक कन्वोर नृणोर कने हुए, पीडार लंद लंदे पंथ

तूशीरपट्टपरिणद्धुजान्तरालमापाणिलम्बिशिग्विबर्ह्यलापधारि ।

कोदण्डपाणि निनदत्प्रतिरोधकानामापातदुप्यसहमानिरभूदनीकम् ॥ १० ॥

[मालविका भयं कथयति ।]

विदूषकः—भोदि । मा भद्राहि । अदिबन्तं म्मु तत्ततोऽि पहेदि । (भाति । मा विभेदि । अतिक्रान्तं खलु तत्रमर्गो कथयति ।)

राजा—तवस्ततः ।

परिमार्जिका—ततो मुहूर्तं यद्वासुधास्तो पराहसुर्वाभूताः सार्धंवाहयोद्धारस्वरकरैः ।

राजा—हन्तं । इतः परं पष्टनरं श्लोकत्रयम् ।

परिमार्जिका—तः स मत्सोदर्यं—

इमां परीप्सुर्दुर्जति पराभिमवक्रातराम् ।

भर्तृप्रियः प्रियैर्भर्तुरानुस्यमसुभिर्गतः ॥ ११ ॥

प्रथमा—हा हृदो सुमदी । (अशो हतः सुमतिः ।)

द्वितीया—तत्रो कस्यु इअं भद्रिद्वारिआए समब्रथा संबुत्ता । (ततः पश्चिमं मर्तुरारिजायाः समब्रथा सञ्जा ।)

[परिमार्जिका मथ निवृत्तति ।]

राजा—भगवति । तनुव्यजागीदृशो लोकरात्रा । न शौच्यस्तत्रमवान्सकंतीरुनभर्तृ-
पिण्डः । तवस्ततः ।

घोंघे हुए और हाथमें धनुष-बाण लिए हुए कुछ डारू ऐसे ललकारते हुए हमपर दूट पड़े कि उत्तम लड़कर जीतना यद्वा पठिन हो गया ॥ १० ॥

[मालविका हरनेका माध्य करती है ।]

विदूषक—डरिए मत देवी ! यद् तो धीवी हुई चाँते आपनो सुना रही हैं ।

राजा—तव, मथ ?

परिमार्जिका—तथ थोड़ी ही देरमें, व्यापारियोंके साथ पहलनेवाले सब लड़ाकोंके टाकू-
आँने मार भगाया ।

राजा—हूँ हैं । क्या उससे भी बढ़कर दुग्दार्थी बात सुनानेवालों हैं ।

परिमार्जिका—तत्र मेरे भाईने उस विपत्तिमें शत्रुके आक्रमणमें घबराई हुई इस मालविकारो यवानेके लिये अपने प्राण देकर अपने स्वामीका भार पूरा दिया ॥ ११ ॥

पदवी—अरे ! तो क्या सुमतिनी मारे गए ?

दूबरी—इतोंसे हमारी राजकुमारो बेचारीको ऐसी दुर्दशा हुई ।

[परिमार्जिका जाने लगती है ।]

राजा—भगवती ! मभी नाशर न प्रतिशरेंको यद संनर रवी मरु र खोंइतः हो पडता है, और किा उन्हांने तो अरने रवागोकः अन्न मुकन कर दिया है, इनकेमे उनके लिये रोना नहीं चाहिए । हाँ, किद क्या हुआ ?

परिव्राजिका—ततोऽहं मोहमुपगता यावत्संज्ञां क्षभे तावदियं दुर्लभदर्शना संवृत्ता ।

राजा—महत्प्रभुं कृच्छ्रमनुभूतं भगवत्या ।

परिव्राजिका—ततो भ्रातुः शरीरमग्निसात्कृन्वा पुनर्तन्धीकृतवैषम्यदुःखया मया स्वदीयं देशमवतीर्य इमे कापाये गृहीते ।

राजा—युक्तः सज्जनत्रैव पन्थाः । तवस्तवः ।

परिव्राजिका—सेयमाटविकेभ्यो वीरसेनं वीरसेनाज देवीं गता । देवीगृहे लब्धप्रवेशया मया चानन्तरं दृष्टेस्तववधसानं कथायाः ।

मालविका—[आत्मगतम्] किं तु कस्य संपदं भट्टा भण्णादि । (किं तु लब्ध सापत्तं भवं भणति ।)

राजा—अहो परिभवोपहारिणो विनिपाता । कुतः—

प्रेष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती ।

स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णं वोपयुज्यते ॥ १२ ॥

धारिणी—भगवदि । तुए अभिजस्यवदि मालवियं प्रणाचकखन्तीए असंपदं किदम् । (भगवति । त्वयाभिचननतो मालविनामनाचक्षणयाऽप्राप्तं कृतम् ।)

परिव्राजिका—शान्त पापम् । केनचिदकारण्येन खलु मया नैर्घृण्यमवलम्बितम् ।

देवी—किं विप्र तं कारणम् । (किमिव तत्कारणम् ।)

परिव्राजिका—यह देवदर में तो मूर्छित हो गई और जब मुझे चेतना आई तो देवती क्या हूँ कि मालविका का कहीं पता नहीं है ।

राजा—बड़ा कष्ट आपको भोगना पड़ा ।

परिव्राजिका—तब अपने भाईके शरीरका अन्तिम संस्कार करके अपने विधवापनके दुःखको फिर दूर करके मैंने आपके देशमें आकर गोक्या रेंगा लिया ।

राजा—सज्जनको यही चाहिए भी । फिर क्या हुआ ?

परिव्राजिका—फिर वीरसेनने मालविकाको उन डाकुओंसे छोनकर यहाँ देवीके पास पहुँचा दिया । यहाँ देवीके पास आनेपर ही मैंने इन्हें देखा । इतनी-सी ही मेरी क्या है ।

मालविका—[मन ही मन] देखें, महाराज इसपर क्या कहते हैं ?

राजा—देखिए ! विपत्ति आनेपर कितना थनादर हो जाता है, क्योंकि जो सती कहलाने योग्य रानी थी, उससे दासीका काम लिया जा रहा था । यह बात ठीक पेसी ही हुई है जैसे कोई उनके कपड़ेसे वेह पोंछनेका काम ले ॥ १२ ॥

धारिणी—भगवतो ! यह बात छिपाकर आपने अच्छा नहीं किया कि मालविका इतने ऊँचे घरानेकी हैं !

परिव्राजिका—नहीं, ऐसा न कहिए । मैंने बहुत समझ-बूझकर ही ऐसी निजुराई की थी ।

देवी—यह क्या बात थी ?

परिवाजिका—दृश्यं पितरि जीवति केनापि देवयात्रानतेन सिद्धादेशेन माधुना मत्समर्त्तं समादिष्टा—शामं वत्सरमाश्रमिष्यं प्रेष्यभावमनुभूय ततः सत्तशभर्तुगामिनी भविष्यतीति । तदेवंभाषितमादेशमस्यास्त्वनदादशश्रूपया परिष्कणन्तमवेद्य कालप्रतीक्षया मया साधु वृत्तमिति पर्यामि ।

राजा—युक्ता प्रतीक्षा ।

कञ्चुकी—देव । अथान्तरेणान्तरितम् । अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भगतमनुश्रेयमनुष्ठितमभूत् । देवस्य तावदभिप्रायं श्रोतुमिच्छामि ।

राजा—मौद्गल्य ! तत्रभवतोयंज्ञलेनमाधवमेतयोर्द्वैराज्यमितानांभवस्थापयितुनामोऽस्मि ।

तौ पृथग्वरदाकृत्से शिष्टानुत्तरदक्षिणे ।

नक्तंदिवं विभज्योभौ शीतोप्लाविकेराविव ॥ १३ ॥

कञ्चुकी—देव । एतमभात्यपरिपदं तिप्रेदयामि ।

[राज हस्त्यनुमन्यते ।]

[तिष्ठान्तः कञ्चुकी ।]

प्रथमा—[वनान्तिष्म्] भट्टिदारिप । दिष्टिश्चा भट्टिणा भट्टिवारश्रो अद्वरज्जे पटिष्टं गमइसदि । (भट्टिदारिके । दिष्ट्या भर्ता भट्टिदारिकोऽर्वाज्ये प्रतष्ठा गमदिष्यते ।)

मालाविका—एदं दाव बहु मणिद्वयं जं जीविदसंसजादो मुत्तो । (एतच्छात्रद्वयं मन्तव्यं यन्मोनितवशावाग्न्युक्तः ।)

परिवाजिका—जिन दिनों इनके पिता जीवित थे उन दिनों देवयात्रामें एक ऐसा साधु आ गया जो आगेकी बात बतलाया करता था । उमने मेरे आगे ही कहा कि—इसे एक वर्षतक तो दासी होकर रहना पड़ेगा, पर इसके पीछे बड़े योग्य पतिसे इसका ब्याह हो जायगा । जब मैंने देखा कि वह भविष्यवाणी आपके चरणोंकी सेवा करते हुए पूरी हो रही है तो मैं चुपची लगा गई और इसीलिये मैं समझती हूँ कि मैंने अच्छा ही किया ।

राजा—यह चप रहना अच्छा ही हुआ ।

कञ्चुकी—देव ! इस कथाके दोषमें एक बात कहनी सुट गई । मन्त्रीजीने कहलाया है कि विदर्भके लिये जो प्रबन्ध करना था, वह सब कर दिया गया है, पर मैं महाराजकी इच्छा गी जान रोना चाहता हूँ ।

राजा—मौद्गल्य ! मैं चाहता हूँ कि यज्ञघेत और माघघसेन दोनों, वरदा नदीके उत्तर और दक्षिण दोनों तटोंपर अपने-अपने अलग-अलग राज बनाकर वैसे ही सुगसे राज करें जैसे सूर्य और चन्द्रमा रात और दिनकी आपसमें बाँटकर अलग-अलग चमकते हैं ॥१३॥

कञ्चुकी—मैं अमात्य-परिपदसे यही बात कह आता हूँ देव !

[राजा उँगलाव श्लोकति दे देते हैं, कञ्चुकी चला जाता है ।]

पहली—[अलग] राजकुमारी ! यह बड़ी अच्छी बात हुई कि राजकुमारकी महाराज आधे रातपर बैठा रहे हैं ।

मालविका—अरे इतना ही बहुत समझो कि इनके प्राण बच गए ।

[प्रविश्य]

कञ्चुकी - विजयतां देवः । देव अमात्यो विज्ञापयति—कल्याणी देवस्य बुद्धिः । मन्त्रि-
परिपत्रोऽचेतनेव दर्शनम् । धुनः—

द्विधा विभक्तां श्रियमुद्धहन्तो धुरं रथारवाविव संग्रहीतुः ।

तो स्थास्यतस्ते नृपतेनिदेशे परस्परोपग्रहनिर्विकारौ ॥ १४ ॥

राजा—तेन हि मन्त्रिपरिपदं ब्रूहि—सेनान्ये वीरसेनाय लेख्यतामेवं क्रियतामिति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इति निष्क्रम्य समाश्रुतकं लेख्य गृहीत्वा पुनः प्रविष्टः ।]
धनुष्ठिता प्रभोराज्ञा । अयं देवस्य सेनापतेः पुण्यमित्रस्य सकाशात्सोत्तरीयगाभृतको होरः
प्राप्तः । प्रत्यक्षीकरोत्वेनं देवः ।

[राजोत्थाय समाश्रुतकं लेख्य सोपचारं गृहीत्वा परिजनायार्पयति ।]

[परिजनो लेखं न ह्येकोद्घाटयति ।]

धारिणी [आत्मगतम्] आम्हो । तदोमुहं एष्व णो हिअथ । सुखिरसं दाव गुणअणस
कुसलाएण्तर वसुमित्तस वत्तन्तं । अदिघोरे कसु पुत्तथो सेनावदिणा शिज्जतो । (अहो ।
तवागुणमेव नो हृदयम् । अ प्पामि वाधदुग्घणरस्य कुशलणन्तरं वसुमित्तस वृत्तान्तम् । अतिघोरे
एल्ल पुत्रः सेनापतिना नियुक्तः ।)

राजा—[उपविश्य लेख्य सोपचारं गृहीत्वा वाचयति ।] ररात्त यक्षशरपात्सेनापतिः पुण्य-
मित्रो वैदिशार्थं पुत्रमायुष्मान्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्कज्येदमनुदर्शयति । निदित्तमस्तु । योऽसी

कञ्चुका—[बाहर] देवकी जय हो । देव ! अमात्यने कहलाया है कि महाराजने बहुत
ठीक सोचा है और आमात्य-परिपदकी भी यही सम्मति है, क्योंकि जैसे रथमें चलनेवाले
दो घोड़े सारथीके हाथमें ठोकसे चलते हैं, वैसे ही महाराजकी दूर-नेरमें ये दोनों भाई भी
आपसका दूर छोड़कर दो भागोंमें बँटें हुए, अपने राज्यके धुरेको बड़े सुरसे संभाल
सकेंगे ॥ १४ ॥

राजा—तो जाकर आमात्य-परिपदसे कह दो कि सेनापति वीरसेनको लिख भेजें कि वे
ऐसा ही प्रवच्य कर दें !

कञ्चुकी—जैसी देवकी आज्ञा । [बाहर जाता है और भेटके साथ पत्र लिए हुए फिर जाता
है ।] आपको आज्ञा कह सुनाई । महाराजके सेनापति पुण्यमित्रके पाससे उत्तरीय आदि
भेटकी सामग्रियोंके साथ-साथ पत्र भी आया है । इसे महाराज देखनेकी छुपा करें ।

[राजा उठकर बड़े आदरके साथ भेटकी सामग्री और पत्र लेकर अपने छेपका दे देते हैं ।
यह उस पत्रको खोलनेका नाटक करता है ।]

धारिणी—[मन ही मन] अरे ! मेरा जी भी इसे सुननेको छूटपटा रहा है ! यहाँका
कुशल समाचार सुनकर फिर वसुमित्रका समाचार सुनूँगी । सेनापतिने मेरे घबरेको बड़े
संकटका काम काम सौंप दिया है ।

राजा—[भेटकर बड़े आदरके साथ लेकर पढ़ते हैं ।] आपका कल्याण हो । विदिराभैं
आप हुए गिरंजीवी पुत्र अग्निमित्रको स्नेहने गले भेटकर अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा लिए हुए
सेनापति पुण्यमित्र लिये रहे हैं—दृग यह पतना चाहते हैं कि अश्वमेधकी दीक्षा गिरंजी

राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिं वसुमित्रं गोपारमादिष्य वरतरोपात्तनियमो निर्गम-
लस्तुरङ्गो विसृष्टः स सिन्धोर्दक्षिणरोधो चरन्नरवानीकेन यवनेन प्रार्थितः । तत उभयोः
सेनयोर्महानासीत्संमर्दः ।

[देवी त्रिपादं नाटयति ।]

राजा—कथमीदृशं संवृत्तम् । [शेषं पुनर्वाचयति ।]

ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना ।

प्रसह्य ह्यिधमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः ॥ १५ ॥

धारिणी—इमिणा आसन्निदं मे ह्यिध्रश्रं । (अनेनाशरहतं मे हृदयम् ।)

राजा—[शेषं पुनर्वाचयति ।] सोऽहमिदानीमंशुमता सगरपुत्रेण प्रत्याहृतारवो यद्व्ये ।

तदिदानीमकालहीनं विगतरोपचेतसा भवता वधूजनन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति ।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि ।

परिव्राजिका—रिष्टथा पुत्रविजयेन ह्मपती वर्धते ।

भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि ।

वीरस्वरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः ॥ १६ ॥

धारिणी—भयवदि । परितुष्टमिह जं पितरं अणुजादो मे बच्छत्रो । (भगवती । परि-
तुष्टासि परितरमनुजाता मे उच्यते ।)

एक वर्षकी अबधि बाँधकर जो खुला घोड़ा छोड़ा था और जिसकी रक्षाके लिये सैकड़ों
राजकुमारोंके साथ वसुमित्रको भेजा था, वह घोड़ा जब सिन्धु नदीके दक्षिण तटपर चर
रहा था तो घुड़सवार सेनाके एक यवनेने उसे पकड़ लिया । इसपर दोनों सेनाओंमें बड़ी
घनघोर लड़ाई हुई ।

[देवी दुखी होनेका नाट्य करती है]

राजा—श्रे ! क्या यहाँतक बात गढ़ गई ? [बधा हुआ फिर बॉचता है ।] तब धनुष-
धारी वसुमित्रने बड़ी वीरतासे शत्रुओंकी मार भगाया और द्विने हुए घोड़ेको फिर लौटा
लिया ॥ १५ ॥

धारिणी—अब, मेरे जीमें जी आया ।

राजा—[बधा हुआ फिर पढ़ता है ।] इसलिये जैसे अंशुमान, द्वारा घोड़ा छोड़ा जाने
पर सगरने यह किया था, वैसे ही मैं भी यह कर रहा हूँ । इसलिये अब तरकाल
शान्तचित्त होकर बहुओंकी साथ लेकर यज्ञ देखनेके लिये चले आओ । वस इतना ही ।

राजा—बड़ी कृपा हुई मुझपर ।

परिव्राजिका—पुत्रकी विजयके लिये आप दोनोंको बधाई है । अद्यतक आप संसारको
सब प्रशंसनीय वीर पत्नियोंकी तिरमौर थीं, पर आपके पुत्रने आपके नामके साथ वीर
माताकी पदवी भी जोड़ दी है ।

धारिणी—भगवतो ! मुझे तो यही सुख है कि मेरा बच्चा पिताके समान ही पराक्रमी
निकला ।

राजा—मौद्गल्य । ननु कलभेन यूथपतेरनुकृतम् ।

कञ्चुकी—देव । अयं कुमारः—

नैतावता वीरविजृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति ।

यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैरग्नेरपां दग्धुरिवोरजन्मा ॥ १७ ॥

राजा—मौद्गल्य । यत्नसेनस्य लमरोकृत्य मोच्यतां सर्वे बन्धनस्थाः ।

कञ्चुकी—यदाद्यापयति देवः । (इति निष्कन्तः ।)

धारिणी—जयसेने । गच्छ । इरावदोपमुहाणं अग्नेवराणं पुत्तस वत्तन्तं शिवेदेहि ।

(जयसेने । गच्छ । इरावतोप्रमुल्लेभोऽन्तःपुरेभ्यः पुनस्य वृत्तान्तं निवेदय ।)

[प्रतीहारी परिपता ।]

धारिणी—एहि दाव । (एदि तावत् ।)

प्रतीहारी—[प्रतिनिवृत्त्य ।] इह्य निह । (इयमसि ।)

धारिणी—[जनान्निष्कम्] जं मए असोअदोहलएणि ओए मालविकाए पइएणावं तं से अभिजणं च पिवेदिअ मह बअण्णेण इरावदिं अणुणेहि—तुए अहं सच्चदादो रा विअमंसि-
दुठ्ठे त्ति । (यन्मयासाकदोद्दविषागे मालविकायै प्रणिजातम् तदस्या नामिजनं च निवेद्य मम वचने-
नेरायनीमनुनय—सत्यान्व विधाययितव्येति ।)

प्रतीहारी—जं देवी आण्वेदि । [इति निष्कम्प्य पुनः प्रागस्य] भट्टिणि । पुत्तविजय-

राजा—मौद्गल्य ! सचमुच इस हाथीके बच्चेने तो हाथियोंके नायकका काम कर डाला ।

कञ्चुकी—देव ! कुमारकी इस वीरतासे मुझे कोई बड़ा अचरज नहीं हो रहा है, क्योंकि जैसे बरजन्मा (शीर्ष) ऋषिपि समुद्रको जला डालनेवाले बडवानलका जन्म हुआ है, वैसे ही इसका भी जन्म आपसे हुआ है जो आज तक किसीसे नहीं हारे हैं ॥ १७ ॥

राजा—मौद्गल्य ! जाओ, यज्ञसेनके सालेके साथ साथ और भी जितने बन्दो हों सबको छोड़ दो ।

कञ्चुकी—देवकी जैसी आज्ञा [चला जाता है]

धारिणी—जाओ, जयसेना । इरावती आदि रनिवासकी सब रानियोंसे हमारे पुत्रके विजयकी बात कह तो आओ । [प्रतीहारी जाना चाहती है ।]

धारिणी—और मुनो !

प्रतीहारी—[लौटकर] जी कहिए ।

धारिणी—[अलग] देखो ! अशोकके कलनेके लिये मैंने कालविका जो प्रतिज्ञाकी थी यह बात और इसके ऊपर परानेकी बात कहकर मेरी ओर इरावतीसे विनय करना कि देखो ! अथ आप कोई ऐसी बात न कर बैठें कि मुझे अपने बचनसे हटना पड़े ।

प्राशस्त्य—जैसी देवीकी आज्ञा । [गहरा आसक्ति भाव] स्वामिनी ! आपके

विमित्तोऽपि परितोसेऽपि अन्तेऽप्यपि आहरणात् मञ्जूमन्दि मञ्जुत्ता । (यदेव्याशापयति । भट्टिनि । पुनर्विजयनिमित्तोऽपि परितोषेऽन्तःपुराणामात्माना मञ्जूपारिम सञ्जुत्ता ।)

धारिणी—एतं किं अचरिष्यं । साक्षारणो कर्तुं तावत् मह अर्थं अचमुद्गमो । (एतन्नि-
माश्रयम् । साधारणः एतत् तावा मम चायममुद्गमः ।)

प्रतीहारी—[जनान्तरिमम्] भट्टिणि । इरावती एषा विष्णवेदि—सरिसं देवीषु पद्म-
यन्तीषु । तुह वयस्यं संकल्पितं एष जुज्वदि अणुहा काहुं त्ति । (भट्टिनि । इरावती पुनर्विजय-
पयति—एतद् देव्याः प्रमदस्याः । तत्र यच्चनं स कश्चित न मुच्यतेऽन्यथाऽर्तुभिति ।)

धारिणी—अथ यदि । तुष अणुभवा इच्छामि अज्जसुभदिणा पठमसंक्रुषिद् मालविस्यं
अज्जउत्तस पडिवादेहुं । , भगवता । इत्यनुमतेऽन्यार्थं दुपतिना प्रथमवहसिस्ता मालविकामार्थ-
पुत्राय प्रतिपादयितुम् ।)

परिभाषिका—इदानीमपि त्वमेवास्याः प्रभवसि ।

धारिणी—[मालविका हस्ते यक्षीत्वा ।] इदं अज्जउत्तोपिअणुवेदयाणुखुव परितोसिअं
पडिच्छदुत्ति । (इदमार्थपुत्रः प्रियानवेदनातुरुषं पारितोषिकं प्रतीच्छति ।)

[राजा श्रीडा नाटयति ।]

धारिणी—[सस्मितम्] किं अबधीरेदि अज्जउत्तो । (निमग्नरीत्यर्थपुत्रः ।)

विदूषक—भोदि । एतो लोअवयवहारो । सव्यो एववरो लज्जाहुरो होदि, त्ति । (भवति ।
एष लक्ष्म्यवहारः । सर्वा मनसरो लज्जाहुरो भवतीति ।)

[राजा विदूषकमवैशते ।]

पुत्रकी विजय सुतर सुम्पर पुरस्कारों की इतनी बौद्धार हुई कि मैं रनिनासके गहनोंकी
पिटारी ही बन गई हूँ ।

धारिणी—इसमें अचरलकी क्या बात है, इसमें तो उनका और मेरा दोनोंका समान
हो गौरव है न ।

प्रतीहारी—[अलग] स्वामिनी ! इरावतीने यह भी कहलाया है कि आपने अपने
गौरवके अनुकूल ही बात सोची है । जो कुछ आप कह चुकी हैं उसे पूरा कीजिए ।

धारिणी—भगवती ! आर्य सुमतिने आर्यपुत्रसे मालविकाका विवाह करानेका जो
पहले विचार कर रक्खा था उसे मैं आपकी सम्मतिसे पूरा कर देना चाहती हूँ ।

परिभाषिका—अब भी तो आप ही इनकी सब कुछ हैं ।

धारिणी—[मालविकाका हाथ पकड़कर] आर्यपुत्र ! कुमारकी विजयका प्यारा समाचार
सुनानेका यह प्यारा पारितोषिक तो लीजिए ।

[राजा लजा जाते हैं ।]

धारिणी—[मुसकराकर] क्या आर्यपुत्र मेरी भेंट नहीं स्वीकार करना चाहते ?

विदूषक—देवी ! यह तो लोअव्यवहार दिना रहे हैं । सभी नये दूल्हे ऐसे समय
लजाया ही करते हैं ।

[राजा विदूषककी आर देखते हैं ।]

विदूषकः—अहं देवीय एव किद्वयणअविसेतं द्विरण देवासहं मान विअं अत्तनवं पति-
मादीहुं इच्छदि । (अथ देव्यैव कृतप्रणवविसेता दत्तदेवोद्यन्दां मानविद्वमभवत्प्रातर्वादि-
भवति ।)

पारिणी—एदाए राअदारिआए अहिजणेषु एव द्विरणो देवासो कि पुणस्सेव ।
(एताया राअदारिकाया अभिजनेन उच्चो देवाद्यन्तः कि पुनस्सेव ।)

परिभाषिका—मा सैवम् ।

अप्याकरसमुत्पन्ना रत्नजातिपुरस्कृतः ।

जातरूपेण कन्यायि मयिः संयोगमर्हति ॥ १८ ॥

पारिणी—[एतदा] गरिमेदु भयवदो । अचमुदमकहाए उइदं ण लखिइदं । जअ-
भोगं । मण्ड पाय । कोरोअपत्ताएणजुअलं उवणेहि । (मणवतु भवति । अमुदयइयमेवित्त व
मक्षिताम् । अयमेवं । मण्ड तावत् । श्रीशयानोर्णसुमालभुरनय ।)

मत्ताहारी—जं देवी आणवेदि । [इति निष्कम्प पत्रोणं वरीता पुः प्रविश] देवि ।
एवम् । (यद्देव्याशापपति । देवि । एतात् ।)

पारिणी—[मालविकामयगुण्डनवती कृत्वा] अज्जइतो । दाणि इमं पठिच्छदु । (य-
पु । इदानीनिमां प्रतीच्छु ।)

राजा—एवच्छासनास्वपृत्ता-यय वयम् । [अयत्रयं] इन्त प्रतिगृहीता ।

विदूषकः—अहो देवीय आणुऊत्तदा । (अहो देव्या अतुकृता ।)

[देवी परिजनममणिक्रवति ।]

विदूषकः—जिन मालविकाको महाराजोने ही इतने प्रेमसे देवी वना दिया है, उन्हें
महाराज क्यों न स्वीकार कर लेंगे ।

पारिणी—इन राजकुमारीके ऊँचे घरानेने ही इन्हें रानी बना दिया है । उसे दुहरानेकी
बया पास है ।

परिभाषिका—नहीं ऐसी बात नहीं है । त्वाजसे निकले हुए साथसे अरुदे मगिरी भी
गोनेमें जाइनेकी आशययता सो पड़ती ही है ॥ १८ ॥

पारिणी—[कुछ समय करने] राजा श्रीजग भगवती ! कुमारकी इस विजयके दुसासमें
एक भई आशययक पास सो ई भूख हो गई । जयरोना ! आ, उनो रोशनी जाँदा सो
हो आ ।

मत्ताहारी—जैसी देवीकी आशा । [आती है और सब देख (हर जाती है) यह स्वीजिप
देवी !

पारिणी—[मालविकाने (निरत जयकर) जायेपुन ! एव इमे उचोकार कोजिप !

राजा—आर सो येदेगी, यह तो मानना ही पड़ेगा । [अन्त] अतो ई सो इमे परमे ही
स्वीकार कर चुका ।

विदूषकः—याह ! महाराजो मा येना भवदा हं ।

[राजा उचोकारके बाद राजा-देवी]

प्रतीहारी—[मालविकासुतेव ।] जेटु भट्टिट्टणी । (जयद्रु भट्टिनी ।)

[देवी परिव्राजिका निरीक्षते]

परिव्राजिका—नैतच्चित्रं स्वयि ।

प्रतिपक्षेणापि पतिं संवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्यः ।

अन्यतरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम् ॥ १६ ॥

[प्रविश्य]

निपुणिका—जेटु भट्टा । इरावती विष्णावेदि—जं उवञ्चारातिकमेण तदा भट्टिणो अवरद्धा तं सभ्रं एव्य भत्तुणो अणुऊळं खाम मए आञ्जरिदं । संपदं पुएणमणोरहेए भत्तणा पसादमत्तेण संभावइद्वेत्ति । (जयद्रु भर्ता । इरावती विष्णावपति—यद्वाचारातिकमेण तदा मत्रे अपराद्धा तत्परमेव भट्टरजुऊळं नाम मयाचरितम् । साप्रतं पूर्णमनोरथेन भर्ता प्रसादमानेण सभायथितव्येति ।)

धारिणी—शिवत्रिणद । अररक्षं से सेदिद अज्जउत्ता जाणिरसदि । (निपुणिके । अनस्य मत्थाः वेयितमार्यपुत्रो ज्ञास्यति ।)

निपुणिका—अरगुमाहीदम्हि । (अनुएहोतास्मि ।)

परिव्राजिका—देव । अमुना युक्तसंवन्धेन चरितार्थं माधवसेनं सभाजयितुं गच्छामः ।

धारिणी—भद्रवदीए ण जुत्तं अग्दे परिच्चइदुं । (भगवत्या न युक्तमस्मात्परित्यक्तुम् ।)

राजा—भगवति । मदीयेष्वेव क्षेत्रेषु तत्रभवतस्त्रामुद्दिश्य सभाजनाचराणि पातयिष्यामः ।

प्रतीहारी—[मालविकाके पाठ वाकर] स्वामिनोकी जय हो ।

[महारानी परिव्राजिकानी ओर देखती हैं]

परिव्राजिका—आपको यह उदारता देखकर मुझे तनिक भी अचरज नहीं हुआ । क्योंकि पतिको प्यार करनेवाली स्त्रियों अपने लिये सौत लाकर भी पतिका मन रन्ध्रा करती हैं । देखिए, समुद्रमें जानेवाली नदियों अपने साथ-साथ दूसरी नदियोंका पानी भी समुद्रमें पहुँचा देती हैं ॥ १६ ॥

निपुणिका—[नाकर] स्वामीकी जय हो । इरावतीजीने कहलाया है कि मैंने महाराजको यात न मानकर जो अपराध किया था, वह सब जान-बूझकर महाराजका काम बनानेके लिये ही रूपक रचा था । अब तो महाराजके मनको साब पूरी हो गई है । इसलिये आशा है आप मुझे अवरय क्षमा कर देंगे ।

धारिणी—अरी निपुणिका ! उन्हेंने आर्यपुत्रकी जो सेवा की है उसका ध्यान रखेंगे ।

निपुणिका—धरि कृपा है ।

परिव्राजिका—देव ! इस सुन्दर विवाह-सन्धको सुनकर माधवसेन तो फूलै न समायेंगे । इसीलिये मैं उन्हें बधाई देनेके लिये चली जाना चाहती हूँ ।

धारिणी—हमें छोड़कर आपका जाना ठीक नहीं है ।

राजा—भगवती ! हम अरने ही पत्रमें आपका थोरसे बधाई लिखनाकर भिजवा देंगे ।

परिग्रजिका—युवयोः स्नेहात्परवान्तर्यं जनः ।

धारिणी—अजबत्त । कि ते भूओ वि विअं उवहरामि । (आर्यपुत्र । कि ते भूयोऽपि प्रियमुपहरामि ।)

राजा—

त्वं मे प्रसादसुमुखी भव देवि नित्यमेतावदेव हृदये प्रतिपालनीयम् ।
तथापीदमस्तु (भरतवाक्यम्)

आशास्यभीतिविगमप्रभृतिप्रजानां संपत्स्यते न खलु गोत्ररि नाग्निमित्रे ॥२०॥
[इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।]

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

॥ समाप्तमिदं श्रीकालिदासकृतौ मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकम् ॥

परिग्रजिका—मैं तो आप दोनोंके स्नेहमें बँधी ही हुई हूँ ।

धारिणी—आर्यपुत्र ! क्या मैं आपकी कुछ और मनचाही बात कर सकती हूँ ।

राजा—देवि ! मैं तो बस इतना ही चाहता हूँ कि तुम सदा मुझपर प्रसन्न रहो । फिर भी इतना और हो जाय कि—

[भारतवाक्य]

जयतक अग्निमित्र राज्य करें तयतक उनकी प्रजामें किसी प्रकारके अपद्रव आदि न हों ॥ २० ॥

[सब चले गये हैं ।]

॥ पाँचवाँ अङ्क समाप्त हुआ ॥

॥ महाकवि श्रीकालिदासका रचा हुआ मालविकाग्निमित्र नामका नाटक पूरा हुआ ॥

॥ श्रीमन्महाकविकालिदास-नाटक-प्रशस्तिः ॥

‘काव्ये नाटकमस्ति गम्यस्त्रिं तत्रापि शाकुन्तलम्’
इत्युक्तं रमिकैर्वचोऽतिललितं भूयो विवेक्तुं न्विदम् ।
श्रीमन्मालविकाग्निविक्रमलसत्सन्नाटकग्रंथलत्
स्वर्वाशीरसनाऽमृतं सरसपत् सम्मोहयेत्संश्रुतिम् ॥

—श्रीशः ।

[‘काव्योमें नाटक ही सुन्दर होता है और नाटकोंमें अभिज्ञान शाकुन्तल ही सबसे सुन्दर है’ यह बात रसिकोंने बड़ी सचची कही है, पर ये इस बातको ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं कर पाए कि काव्यमें नाटक ही क्यों सुन्दर होता है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये अभिज्ञान शाकुन्तलके साथ-साथ मालविकाग्निविक्रम तथा विक्रमोर्ध्वशीय नाटक भी, प्रस्तुत किए जा रहे हैं कि जगमें चलकवा दुभ्रा मंस्कृतका मधुर अमृत सृष्टिके सब प्राणियोंकी इतना रसमान कर दे कि लोगोंकी मंसारके और दूसरे काव्योंकी पढ़नेकी सुष ही न रह जाय ।]

—श्री ईशदत्त पारद्वेय ‘भी’ ।

तीसरा खण्ड

महाकवि कालिदासकी रचनाओंके संबंधमें समष्टि रूपसे अथवा उनके किसी विशिष्ट ग्रन्थ अथवा किसी विशिष्ट पंक्तपर विभिन्न विद्वानोंने जो पांडित्यपूर्ण विचार किया है, उन्हींका संग्रह आगेके तैरह लेखोंमें किया गया है।

समीक्षा-निबन्ध

— निबन्ध-सूची —

१. विक्रमादित्य—डा० राजवली पांडेय, एम० ए०, डी० लिट् ।
२. विक्रम और उनके नवरत्न—स्व० श्री ईशदत्त पांडेय "श्रीश" साहित्याचार्य, साहित्यरत्न ।
३. कालिदासके ग्रन्थोंकी उपादेयता—पं० सीताराम जयराम जोशी, एम० ए०, साहित्याचार्य ।
४. कालिदासके शब्द-प्रयोग—पं० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय, व्याकरणाचार्य ।
५. कालिदासके कवित्वकी पूर्णता—स्व० श्री मन्मथसंप्रदायाचार्य श्रीदानोद्दरलाल जी गोरवामी ।
६. कालिदासकी सूक्तियों—डा० अमरनाथ झा, एम० ए०, डी०, लिट् ।
७. कालिदासका संदेश—पं० धलदेश उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य ।
८. कालिदास और प्रकृति—पं० कल्याणपति त्रिपाठी, एम० ए०, व्याकरणाचार्य, बी० टी० ।
९. निसर्गकन्या शकुन्तला—डा० बेहबेलकर, पूना ।
१०. योगवासिष्ठमें मेघदूत—डा० भी० ला० धारगेव०, एम० ए०, डी० लिट् । - -
११. उपमा कालिदासस्य—डा० गोदे, पूना ।
१२. कालिदासकी छन्दयोजना—पं० रामगोविन्द शुक्ल, न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य ।
१३. अभिधान-कोष—(कालिदासके काव्योंमें आए हुए शक्तियों, जीवों, वस्तुओं और स्थानोंके परिचय) ।
१४. कालिदास-संबंधी लेखों और समीक्षाओंकी तालिका—डा० रामकुमार चौधे, एम० ए० ।

विक्रमादित्य

[डा० राजवली पाण्डेय, एम० ए०, डी०, लिट्०]

जनश्रुति

मर्यादापुराणोत्तम राम और कृष्णके पश्चात् भारतीय जनताने जिस शासकको अपने हृदय-सिंहासनपर आरूढ़ किया है वे विक्रमादित्य हैं। उनके भाद्रशं न्याय और लोकाराधनकी वहानियों भारतीयदर्पमें सर्वत्र प्रचलित हैं और आमात्रवृद्ध सभी उनके नाम और यशसे परिचित हैं। उनके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध जन श्रुति है कि वे उद्गमिनीनाथ गन्धर्वसेनके पुत्र थे। उन्होंने शकोंको परास्त करके अपनी विजयके उपलक्ष्यमें सचत्का प्रवर्तन किया था। वे स्वयं काव्यनर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियोंके आश्रयदाता थे। भारतीय ज्योतिषगणनासे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि ईसासे २७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्यने विक्रम-संवत्का प्रचार किया था।

अनुश्रुति

भारतीय साहित्यमें अंकित धनुश्रुतिने भी उपयुक्त जनश्रुतिको किमी न किसी रूपमें स्वीकार किया है। इनमेंसे कुछका उल्लेख नीचे किया जाता है—

(१) अनुश्रुतिके अनुसार विक्रमादित्यका प्रथम उल्लेख गाथासप्तशतीमें इस प्रकार मिलता है—

सवाहण सुहरस तोसिएण दन्तेयातुहकरे लक्ष्मम् ।

चलयेण विक्रमाइत्तचरिश्च अणुसिक्खिअ तित्सा ॥ २।६४

इसकी टाका करते हुए गदाधर लिखते हैं—“पक्षे सवाहण्य सपाधनम् । लक्ष्म्वं लक्षम् । विक्रमादित्योऽपि भृत्यकर्तृकेन शत्रुसंवाधनेन तृष्ट सन् भृत्यस्य करे खचम् ददातीत्यर्थः ।” इससे यह प्रकट होता है कि गाथाके रचना-कालमें यह बात प्रसिद्ध थी कि विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक थे जिन्होंने शत्रुओंपर विजय पानेके उपलक्ष्यमें भूयोंको जालोंका उपहार दिया था। गाथासप्तशतीका रचयिता सातवाहन राजा हाल प्रथम शताब्दि ईस्वीमें हुआ था। अतः विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकता इसके पूर्व ही सिद्ध होती है। इस ऐतिहासिक तथ्यका प्रतिपादन महाभारतभाष्याय ४० हरप्रसाद शास्त्रीने मत्ती भौति किया था। (एपिग्राफिया इंडिका, निबन् १२, पृ० ३२०)। इसके विरुद्ध डा० देवदत्त रामकृष्ण भांडारकरने गाथा-सप्तशतीमें थापे हुए ज्योतिषके सकेतोंके आधारपर कुछ आपत्तियों उठाई थीं (भाष्यकार-स्मारक ग्रंथ, पृ० १८७-१८६, किन्तु इनका निराकरण म० मं० ५० गौरीशंकर हीराचंद ओजाने मत्ती भौति कर दिया है (प्राचीन लिपिसाक्षा, पृ० १६८)।

(२) जैन पण्डित मेरुगुणाचार्य-रचित पटावलीमें लिखा है कि नभोवाहनके पश्चात् गर्दभिल्लने उज्जयिनीमें तेरह वर्षतक राज्य किया। उसके श्रव्याचारके कारण कालकाचार्यने शकोंको तुलाकर उसका उन्मूलन किया। शकों ने उज्जयिनीमें चौदह वर्षतक राज्य किया। इसके पश्चात् गर्दभिल्लके पुत्र विक्रमादित्यने शकोंसे उज्जयिनीका राज्य लौटा लिया। यह घटना महावीर-निर्वाणके ४७०वें वर्षमें (२२७-४७०=२७ ई० पू०) हुई। विक्रमादित्यने साठ वर्षतक राज्य किया। उनके पुत्र विक्रमचरित उपनाम धर्मादित्यने ४० वर्षतक शासन किया। तत्पश्चात् भैरव, नैल्ल तथा भाद्रदने क्रमशः ११, १४ तथा १० वर्ष राज्य किया। इस समय महावीर-निर्वाणके ६०२ वर्ष पश्चात् (६०२-२२७=३७५ ई० पू०) शक संवत्का प्रवर्तन हुआ।

(३) प्रबन्धकोषके अनुसार महावीर-निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात् (२२७-४७०=२४३ ई० पू०) विक्रमादित्यने संवत्का प्रवर्तन किया।

(४) धनेश्वरसूरी-विरचित शत्रुञ्जय-महात्म्यमें इस यातका उल्लेख है कि वीर (महावीर) संवत्के ४६६ वर्ष धीत जाने पर विक्रमादित्यका प्रादुर्भाव होगा। उनके ४७७ वर्ष पश्चात् शिलादित्य अथवा भोज शासन करेगा। इस ग्रंथकी रचना ४७७ विक्रम संवत्में हुई जब कि यत्नभीके राजा शिलादित्यने सुराष्ट्रसे बौद्धोंको खदेड़ कर कई तीर्थोंको उनसे लौटा लिया था। (देखिए डा० भाठदा जी, जर्नल औक्लैमिन्स एशियाटिक सोसाइटी, जिल्द ६, पृ० २३-३०)।

(५) सोमदेव भट्ट-विरचित कथासरित्सागरमें (लम्बक १८, तरंग १) भी विक्रमादित्यकी कथा आती है। इसके अनुसार विक्रमादित्य उज्जयिनीके राजा थे। इनके पिताका नाम महेन्द्रादित्य तथा माता का नाम सौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्यने पुत्रकी कामनासे शिवकी आराधना की। इस समय पृथ्वी म्लेच्छाक्रान्त थी। अतः इसके प्राणके लिये देवताओंमें भी शिवसे आर्धना की। शिवजीने अपने गण माल्यवान्को † तुलाकर कहा कि पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये तुम मनुष्यका भवतार लेकर उज्जयिनी-नाथ महेन्द्रादित्यके यहाँ पुत्र रूपसे उत्पन्न हो। पुत्र उत्पन्न होनेपर शिवके आदेशानुसार महेन्द्रादित्यने उसका नाम विक्रमादित्य तथा उपनाम (शत्रु-संहारक होनेके कारण) विपमशील रक्खा। बालक विक्रमादित्य पढ़ लिखकर सब शास्त्रोंमें पारंगत हुए और प्राज्यविक्रम होनेपर उनका अभिषेक किया गया। वे बड़े ही प्रजावत्सल राजा हुए इनके विषयमें लिखा है—

स पिता पितृहीनानां वन्धूनाञ्च स वान्धवः ।

अनाथानां च नाथ स प्रजानां कः स भाभावत् ॥१८॥१६६

अर्थात् वे पितृहीनोंका पिता, वन्धुरहितोंके वन्धु और अनाथोंके भाग्य थे। प्रजाके तो वे सर्वस्व ही थे। इसके अनन्तर विक्रमादित्यकी विस्तृत विजयों और अद्भुत शूरवीर्यका अतिरंजित वर्णन है।

कथासरित्सागर अपेक्षाकृत अर्थात्सीन ग्रंथ होते हुए भी सेनेन्द्र-लिखित बुद्धकथामञ्जरी और अन्ततोमात्या मृदलकथा (गुणालय-रचित) पर अवलम्बित है। गुणालय सातवाहन हालका समकालीन था जो विक्रमादित्यके लगभग १०० वर्ष पीछे हुआ था। अतः सोमदेव-द्वारा कथित अनुसूचि

† कथाकी पौराणिक शैलीमें 'गण' से गण वज और 'माल्यवान्' य माल्य जाटिका आभाष मिलता है।

विक्रमादित्यके इतिहाससे सर्वथा धनभिन्न नहीं हो सकती। सोमदेवके सम्बन्धमें एक और बात ध्यान देनेकी है। वे उज्जयिनिके विक्रमादित्यके अतिरिक्त एक दूसरे विक्रमादित्यको भी जानते हैं जो पाटलिपुत्रका राजा था। विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलीपुत्रके (लगभग ७, तरंग ४)। इसलिये जो आधुनिक ऐतिहासिक मगधाधिप पाटलिपुत्र-नाथ गुप्त सम्राटोंको केवल उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्यसे अभिन्न समझने हैं वे अपनी परम्परा और धनश्रुतिके साथ बलाकार करते हैं।

(६) हाथिराजपुत्रलिका, राजावली धादि ग्रन्थों तथा राजपूतानेमें प्रचलित (टौडके राजस्थानमें संकलित) अनुश्रुतियोंमें उज्जयिनीनाथ शर्कार विक्रमादित्यकी अनेक कथाएँ मिलती हैं।

साधारण जनताकी जिज्ञासा इन्हीं अनुश्रुतियोंसे वृत्त हो जाती है और वह परम्परासे परिचित लोक-प्रसिद्ध विक्रमादित्यके सम्बन्धमें अधिक श्रेयपणा करनेकी चेष्टा नहीं करती। किन्तु आधुनिक ऐतिहासिकोंके लिये केवल अनुश्रुतिक प्रमाण पर्याप्त नहीं। वे देखना चाहते हैं कि धन्य साधनों द्वारा ज्ञात इतिहाससे परम्परा और अनुश्रुतिकी पुष्टि होती है या नहीं। विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकताके सम्बन्धमें वे निम्नलिखित प्रश्नोंका समाधान करना चाहते हैं—

ऐतिहासिक प्रश्न

(१) विक्रमादित्यने जिस संवत्का प्रवर्तन किया था उसका पारम्भ कबसे होता है।

(२) क्या प्रथम शताब्दि ई० पू० में कोई प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरषका मालवा प्रान्तमें हुआ था या नहीं।

(३) क्या उस समय कोई ऐसी महत्वपूर्ण घटना हुई थी जिसके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रवर्तन हो सकता था।

इन प्रश्नोंकी लेकर अथवा प्रायः जो ऐतिहासिक अनुसंधान होते रहे हैं उनका सारांश संक्षेपमें इस प्रकार दिया जाता है—

(१) यद्यपि ज्यौषिष शास्त्रानाके अनुसार विक्रम-संवत्का प्रारम्भ २७ ई० पू० में होता है किन्तु इसकी प्रथम कई शताब्दियोंतक साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखोंमें इस संवत्का कहीं प्रयोग नहीं पाया जाता। मालवा प्रान्तमें प्रथम स्थानीय संवत् मालवगण्य स्थिति-काल था जिसका पता मन्दसौर प्रस्तर-लेखसे लगता है—मालवाना गण्यस्थि याते शतचतुष्टये। (पत्थीः—गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० १८)। यह लेख पाँचवीं शताब्दि ई० का है।

(२) प्रथम शताब्दि ई० में किसी प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरषका मालवप्रान्तमें पता नहीं।

(३) इस कालमें कोई ऐसी क्रांतिकारी घटना मालवप्रान्तमें नहीं हुई जिसके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रवर्तन हो सकता था।

उपर्युक्त खोजोंसे यह परिणाम निकाला गया है कि प्रथम शताब्दि ई० पू० में विक्रमादित्य नामक कोई शासक नहीं हुआ। तत्कालीन विक्रमादित्य कल्पना-प्रसूत हैं। संभवतः मालवसंवत्का प्रारम्भ ई० पू० प्रथम शताब्दिमें हुआ था। फलसे विक्रमादित्य उपाधिधारी किसी राजाने अपना विरुद् इसके साथ जोड़ दिया। इस प्रकार संवत्के प्रवर्तक विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकता बहुतसे विद्वानोंके मक्तमें अस्ति हो जाती है। इस प्रक्रियाका फल यह हुआ कि, कविषय प्राच्यविद्या-

विशारदोंने प्रथम शताब्दि ई० पू० के लगभग इतिहासमें प्रसिद्ध राजाओंके विग्रह-संवत्का प्रवर्तक सिद्ध करनेकी चेष्टा प्रारम्भ की।

आनुमानिक मत—

(१) कर्गुसनने एक विचित्र मतका प्रतिपादन किया। उनका कथन है कि जिम्को २७ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाला विक्रम संवत् कहते हैं, यह वास्तवमें २४४ ई० में प्रचलित किया गया था। उज्जयिनिके राजा विक्रम दर्पने २४४ ई० में श्लेष्मोंको (शकोंको) कोसुरके युद्धमें हराकर विजयके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रचार किया। इस संवत्को प्रचीन और आद्रक्षीय बनानेके लिये इसका प्रारम्भकाल ६ × १०० (अथवा १० × ६० = ६०० वर्ष पीछे कैल दिया गया। इस प्रकार २६ ई० पू० में प्रचलित विक्रम संवत्से इसको अभिन्न मान लिया गया है। किन्तु क्यों ६०० वर्ष ही पहले इसका प्रारम्भ बनेल दिया गया, इसका समाधान कर्गुसनके पास नहीं है। इसके अतिरिक्त २४४ ई० के पूर्व मालव-संवत् ४२२ (मन्दासोर प्रतर-अभिलेख, प्लेट—गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० १८ तथा विक्रम-संवत् ४३० (काशी अभिलेख, इटि० पेंटि० वर्ष १८७६, पृ० १६२ के प्रयोग मिल जानेसे कर्गुसनके मतका भ्रम ही धराशायी हो जाता है। कर्गुसनके मतके लिये देखिए इंडियन ऐंटिक्वेरी, वर्ष १८७६, पृ० १८२)

(२) डी० फ्लोटका मत था कि २७ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाले विक्रम संवत्का प्रवर्तन कनिष्कके राजारोहण-कालसे प्रारंभ होता है (जननेल झौक दी रीपल मुजिवाटिक सोसाइटी, वर्ष १६०७, पृ० १६६) अपने मतके समर्थनमें उनका एक यह है कि कनिष्क भारतीय इतिहासका एक प्रसिद्ध विजयी राजा था। उसने अन्तराष्ट्रीय साम्राज्यकी स्थापना की। बौद्ध धर्मके इतिहासमें भी अशोकके पश्चात् उसका ध्यान है। ऐसे प्रतापी राजाका संवत् चलाना सर्वथा स्वाभाविक था। परन्तु यह मत डी० फ्लोटके अतिरिक्त प्रायः अन्य किसी विद्वान्को मान्य नहीं है। प्रथम जो अभी कनिष्कका समय ही अनिश्चित है। दूसरे एक विदेशी राजाके द्वारा देशके एक कोनेमें प्रवर्तित संवत् देशव्यापी नहीं हो सकता था। तीसरे यह बात प्रायः सिद्ध है कि कुपर्णोंने कश्मीर तथा पञ्जाबमें जिस संवत्का व्यवहार किया था, यह पूर्व-प्रचलित सप्तर्षि संवत् था जिसमें सदस्र तथा शतके अंक लगे हैं। यदि यह बात धमान्य भी समझी जाय तो भी कुपर्ण-संवत् धरागत था और कुपर्णोंके पश्चात् पश्चिमोत्तर भारतमें इसका प्रचार नहीं मिलता।

(३) श्री वेल्डै गोपाल देवने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतका विक्रम' (कोनोलीजी श्रीकृष्णट इन्डिया, पृष्ठ १७६) में इस मतका प्रतिपादन किया है कि विक्रम-संवत्का प्रवर्तक सुराष्ट्रका महात्तजप चाहल था। "विक्रम-संवत् वास्तवमें मालव-संवत् है। मन्दासोर प्रतर-लेखमें स्पष्ट बताया गया है कि मालव जातिके संघटन-कालसे इसका प्रचलन हुआ (मालवानी गणस्थिता याते शतचतुष्टये । प्लेट-गुप्त उत्कीर्ण लेख सं०—१८)। कुपर्णोंद्वारा इस संवत्का प्रवर्तन नहीं हो सकता था। एक तो कनिष्कका समय विक्रमकालीन नहीं। दूसरे यह बात सिद्ध नहीं कि उसके राज्य कभी मथुरा और बनारसके आगे भी फैला था। कुपर्णोंके अतिरिक्त किसी अन्य दीर्घजीवी राजवंशका पता नहीं जिसका मालव प्रायःपूर आधिपत्य हो और जिसको संवत्का प्रवर्तक माना जा सके। जैय हम इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए रक्षदामनके गिरनार लेखमें

पढ़ते हैं कि सब बखाने अपनी रक्षा के लिये उसको अपना अधिपति चुना था (सर्ववर्षीरभिगन्ध पतिभ्ये वृतेन—अधिपतिभ्यः इन्द्रिया जित् ८, पृ० ५७) सब यह बात हम स्वीकार करते हैं कि मालवा और गुजरातकी सब जातियोंने उनको उसी प्रकार अपना राजा चुना था जिस प्रकार इसके पूर्व उन्होंने रत्नदामनके पिता जयदामन् और उसके पितामह चाणनको चुना था । प्रचीन ग्रन्थ मेरुदेय ब्राह्मणमें लिखा है कि पश्चिमके सभी राजाओंका अधिपक स्वाराज्यके लिये होता है और उनकी उपाधि स्वराट् होती है । इन स्वराज्य जातियोंने एकतामें शक्तिका अनुभव करते हुए तथा आवश्यकताके भागे सिद्ध भुक्तिकर अपने ऊपर विजयी चाणनके आधिपत्यमें अपनेको एकत्र करके संघटित किया । यही महान् घटना—एक बड़े शासकके आधिपत्यमें मालव जातियोंका संघटन—२७ ई० पू० में संघट्टके प्रवर्तनसे उपलब्ध हुई । तबसे यह सब मालवमें प्रचलित है । चाणन और रत्नदामनने मालवके पड़ोसी गान्धीय भी शासन किया इसलिये सबतका प्रचार विषयवर्षतके उत्तरके प्रदेशोंमें भी हो गया ।

ऐस महेन्द्रयका यह कथन, स्पष्ट सिद्ध है कि विक्रम-संवत् चारतयमें मालव संघट्ट है । कनिष्कके विक्रम-संवत्के प्रवर्तक होनेके विरोधमें उनका तर्क भी युक्तिसङ्गत है । किन्तु कनिष्कसे नहीं स्वयंशक्तिप्राप्ती गान्धीय विदेशी कल्प, जिसके साथ राष्ट्रीय जीवनका कोई अंश संलग्न नहीं था, संघट्टके प्रवर्तनमें कैसे कारण हो सकता था, यह बात समझमें नहीं आती । रत्नदामनके अभिलेखमें सब वर्षोंद्वारा राजाके चुनावका उल्लेख केवल पशुगित मात्र है । प्रत्येक शासक अपने अधिकाधिक भजा-समस्त कर्तव्यकी नीतिका प्रयोग करता है । इसके अतिरिक्त यदि रत्नदामन लोकप्रिय हो भी गया हो तो उसके यह गुण दो पीढ़ी पहले चाणनमें, सभर्षकी नवीनता तथा तीव्रताके कारण, नहीं आसक्त था । श्री ऐसरकी यह युक्ति अत्यन्त उपहासार्थक जान पड़ती है कि मालवगणने चाणनके आधिपत्यमें अपना संघटन किया और इसके उपलक्ष्यमें संघट्टका प्रवर्तन किया । राजनीतिका यह एक साधारण नियम है कि कोई भी विदेशी शासक विजित जातियोंको तुरन्त संघटित होनेका अवसर नहीं देता है । फिर अपने पराजयकालसे मालवोंने संघट्टका प्रारम्भ किया हो, यह बात भी असाधारण जान पड़ती है ।

(४) २७० ई० काशीप्रसाद जायसवालने जैन अनुश्रुतिके आधारपर यह निष्कर्ष निकाला कि "जैन साधुओं और लोकप्रिय कथाओंका विक्रमादित्य गौतमीयुव शातकर्षि था । प्रथम शातकर्षि ई० पू० में मालवामें मालवगण वर्तमान था, जैसा कि उसके प्राप्त सिक्कोंसे सिद्ध होता है । शातकर्षि और मालवकी संयुक्त शक्तिने शकोंको पराजित किया । इसलिये शकोंके पराजयमें मुख्य भाग लेनेवाले शातकर्षि 'विक्रमादित्य'के विरुद्धसे विक्रम-संवत्का प्रवर्तन हुआ । मालवगणने भी उसने साथ सन्धि के विशेष उद्घाटनके (रिधति, आम्नाय) अनुसार अपना इस समय संघटन किया और इसी समयसे मालवगण-रिधति काल भी प्रारम्भ हुआ । (जर्नल और निहार ऐसड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जित् १६, वर्ष १९३०) ।

उपलुक्त कथनमें मालव सातवाहन संघट्टा बनाना तो स्वभाविक जान पड़ता है (यदि इस समय साम्राज्यवादी सातवाहनोंका अस्तित्व होना संभव हो) किन्तु शातकर्षि विक्रमादित्य (१) की विजयसे मालवगण गौरवान्वित हुआ उसके साथ संधि करके मालव संघट्टका प्रवर्तन किया, यह बात पूर्ण रूपसे काल्पनिक और अस्तगत है । इसके साथ ही यह भी ध्यान देनेकी बात है कि गौतमीयुव शातकर्षिने न केवल शकोंको हराया वरन् शक, उद्घाट, अंबन्ति, आकरादि अपने

प्रान्तोंपर अपना आधिपत्य स्थापित किया (नासिक उल्हास लेख, एपिग्राफिया इंडिका, जिब्ड म, पृ० ६०) । उसकी दिग्विजयकी घटना मालवगण-रिपतिके बहुत, पीढ़ीकी ज्ञान पदां हैं । साहित्य तथा उल्हीर्ष लेख किसीसे भी इस बातका प्रमाण नहीं मिलता कि किसी सातवाहन राजाने कभी विक्रमादित्यकी उपाधि धारण की थी । सातवाहन राजाओंका विधिक्रम अतीतक अनिश्चित है । अपने विभिन्न मतोंकी सिद्धिके लिये बिद्वानोंने उसको घपलेमें डाल रखा है । किन्तु बहुसंमत सिद्धान्त यह है कि कच्छोंके पश्चात् साध्याज्यवादी सातवाहनोंका प्रादुर्भाव प्रथम शताब्दी ई० पू० के शतराजमें हुआ । इसलिये आंध्र-वंशका तेईसवाँ राजा गौतमीपुत्र शातकर्णिक प्रथम शताब्दी ई० पू० में नहीं रखा जा सकता । सातवाहन राजाओंके लेखोंमें जो विधियाँ दी हुई हैं वे उनके राज्यचर्योंकी हैं ; उनमें विक्रम-संवत् या अन्य किसी क्रमवद् संवत्का उल्लेख नहीं है । श्रीजायसवालके इस मतके सम्वन्धमें सबसे अधिक निर्णायक गायसप्तशतीका प्रमाण है । आन्ध्र-वंशके सप्रहरे राजा हर्षके समयमें लिखित यह ग्रंथ विक्रमादित्यके अस्तित्व और यशसे परिचित है, धतः इस वंशका तेईसवाँ राजा गौतमी-पुत्र शातकर्णिक तो किसी अवस्थामें भी विक्रमादित्य नहीं हो सकता ।

सीधा ऐतिहासिक प्रयत्न—

इस प्रकार विक्रमादित्यके अनुसन्धानमें प्राज्य-विद्या-विशारदोंने अपनी उर्वर कल्पना-शक्तिका परिचय दिया है । किन्तु इस प्रकारके प्रयत्नसे विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकताकी समरथा हल नहीं होती । यदि परम्पराके समुचित आदरके साथ सीधी ऐतिहासिक खोज की जाय तो संबन्ध-प्रवर्तक विक्रमादित्यका पता सरलतासे लग सकता है । पारस्परिक विक्रमादित्यके लिये निम्नलिखित बातोंकी पूरा करना आवश्यक है :—

- (१) मालव प्रदेश और उज्जयिनी राजधानी ।
- (२) नाकारि होना ।
- (३) २० ई० पू० में संबत्का प्रवर्तक होना और
- (४) कालिदासका आश्रयदाता होना ।

अनुशीलन—

(१) यह बात अब ऐतिहासिक खोजोंसे सिद्ध हो गई है कि प्रारम्भमें मालवप्रदेशमें प्रचलित होनेवाला संबत् मालवगणका संबत् था । सिकंदरके भारतीय आक्रमणके समय मालव काति पंजाबमें रहती थी । मालव-क्षुद्रक-गणसंघने सिकंदरका विरोध किया था, किन्तु पारस्परिक फूटके कारण मालवगण अकेला लड़कर नूनानियोंसे हार गया । इसके पश्चात् मौर्योंके कठोर नियंत्रणसे मालवजाति निधम-सी हो गई । मौर्य-साम्राज्यके अंतिम काममें जब पश्चिमोत्तर भारतपर बाल्थियोंके आक्रमण प्रारम्भ हुए तब उत्तरापथकी मालवादि कई गणजातियाँ वहाँसे पूर्वी राज-पूताना होते हुए मध्यभारत पहुँचीं और वहाँपर उन्हें अपने नये उपनिवेश स्थापित किए । समुद्र-शुक्के मयाग-भट्टशिलेखसे सिद्ध है कि चौथी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्धमें उनके साम्राज्यकी दक्षिण-पश्चिम सीमापर कई गण-राष्ट्र बसमान थे । किन्तु इसके पहले प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई०

५० में मालवजाति आकर अवन्ति (मालव प्रान्त) में पहुँच गई थी, यह बात मुद्रा-शास्त्रमे प्रमाणित है। यहाँपर एक प्रकारके सिक्के मिले हैं जिनपर ब्राह्मी अक्षरोंमें 'मालवार्णाजयः' लिखा है (इंडियन म्यूजियम क्वार्टरन्स रिपोर्ट १, पृ० १६२ ; कनिंमहैम—आर्किऑलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द, ६, पृ० १२६-७४)।

(२) ई० ५० प्रथम शताब्दीके मध्यमें मगध-साम्राज्यका मगधवेशव कायस्थोंकी शोष शक्तिके रूपमें पूर्वा भारतमें बसा हुआ था। बाकिरपोंके पश्चात् पश्चिमोत्तर भारतपर शकोंके आक्रमण होने लगे। शक जातिने सिन्ध प्रान्तके मार्गसे भारतवर्षमें प्रवेश किया। यहाँसे उसकी एक शाखा सुराष्ट्र होते हुए अवन्ति-आकरकी ओर बढ़ने लगी। इस बढावमें मध्यभारतके गणराज्योंसे शकोंका संबंध होता सर्वथा समाप्तिके था। बाहरी आक्रमणके समय गणराजतियों संघ बनाकर लड़ती थीं। इस संबंधका नेत्रव मालवगणने किया और शकोंको पीढ़े डकेलकर सिन्ध-प्रान्तके क्षौर-वक पहुँचा दिया। फालकाचार्य-कथामें शकोंकी निमन्त्रण देना, अवन्तिके ऊपर उनका धरपायी आधिपत्य और अन्तमें विक्रमादित्यके द्वारा उनका निर्वासन—इस सभी घटनाओंका मेल इति-हासकी उपर्युक्त धारासे बैठ जाता है।

(३) शकोंकी पराजित करनेके कारण मालवगण-मुद्रयका शकारि एक विरह हो गया यद्यपि इस घटनासे शकोंका अतंक सदाके लिये दूर नहीं हुआ, तथापि यह एक क्रान्तिकारी घटना थी और इसके फलस्वरूप लगभग डेढ़ सौ वर्षोंतक भारतवर्ष शकोंके आधिपत्यसे मुक्तिपत रहा। इसलिये इस विषयके उपलक्ष्यमें संवत्का प्रवर्धन हुआ और मालवगणके रङ्ग, होनेसे इसका गण-नाम मालवगण स्थिति या मालवगण-काल पढ़।

(४) अब यह विचार करना है कि मालवगण मुख्य कालिदासके आश्रयदाता हो सकते हैं या नहीं? अभिज्ञान-शाकुन्तलकी कतिपय प्राचीन प्रतियोंमें नान्दीके अन्तमें लिखा मिलता है कि इस नाटकका अभिनय विक्रमादित्यकी परिपदमें हुआ था। "सूरधार—आयें दृश्यं हि रसभावावि-शेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यरथानिरूपमूयिष्ठा परिपत्। अस्यान्व कालिदासप्रथितवस्तुना नवेनामिज्ञान-शाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत् प्रतिपाद्यमाधीयतां यत्नः। नाघते।" (जीवा-मन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, १९१७ ई०)। प्रायः अभीतक विक्रमादित्य एकतांत्रिक राजा ही समझे जाते रहे हैं। किन्तु काशी-पिथरविद्यालयमें हिन्दी विभागके अध्यक्ष पं० केशवप्रसाद मिश्रके पास सुरचित अभिज्ञानशाकुन्तलकी एक हस्तलिखित प्रति (शक्तिसेसन काल—संग्रहण सुदी ६, संवत् १९१६ वि०) ने विक्रमादित्यका गणसे सम्बन्ध स्पष्ट कर दिया है। इसके निष्कर्ष-कित अवतरण प्यान देने योग्य है—

(अ) आयें रसभावविशेषदीक्षा गुरोः विक्रमादित्यस्य साहसादृस्या-भिरूपमूयिष्ठेयं परिपत्। अस्यान्व कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलेतवयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः (नान्यन्ते)।

(आ) भवतु तव विद्वैताः प्राग्यदृष्टिः प्रज्ञासु

त्वमपि विठवयज्ञो यज्ञिर्ष मावयेपाः।

गणराजपरिवर्ते रैवम-योन्पृष्टवै-

विपत्तुमभवतोयानुप्रदरलाधनीयैः ॥ (भारतवाक्य)

उपर्युक्त अवतरणोंमें रेखांकित पदोंसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि जिन विक्रमादित्यका यहाँ निर्देश है उनका स्थितिवाचक नाम विक्रमादित्य और उपाधि साहसाङ्ग है। भारतवाक्यका 'गण' शब्द

राजनीतिक अर्थमें 'गणराष्ट्र' का द्योतक है। 'शत' संख्या गोल और अतिरिजित है तथा 'गणराज्य' का अर्थ कई गणों का गण-संघ है। 'गण' शब्दके इस अर्थकी संगति अवतरण (अ) के ऐतिहासिक पदसे बैठती है। यद्यपि विक्रमादित्यके साथ कोई राजनीतिक उपाधि नहीं लगी हुई है। यदि यह अवतरण ध्वन्द्वबद्ध होता तो कहा जा सकता था कि ध्वन्द्वकी आवश्यकतावश उपाधियोंका प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु यद्यपि इनका अभाव कुछ विशेष अर्थ रखता है। निश्चय ही विक्रमादित्य मन्त्राट्ट या राजा नहीं थे अपितु गण-मुख्य थे। कौटिल्यके अर्थशास्त्रके अनुसार गण-राष्ट्र कई प्रकारके थे—कुछ वार्ताशास्त्रोपजीवी, कुछ आयुष्यजीवी और कुछ राजशास्त्रोपजीवी। ऐसा जान पड़ता है कि मालवगण धर्माशास्त्रोपजीवी था। इतिहासिक विक्रमादित्यके साथ राजा या अन्य किसी राजनीतिक उपाधिका व्यवहार नहीं हुआ है।

इन अवतरणोंके सहारे यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रमादित्य मालवगण-मुख्य थे। उन्होंने शकोंके उनके प्रथम वंशमें पराजित करके इस क्रांतिकारी घटनाके उपलक्ष्यमें मालवगणस्थिति नामक संबन्धका परिवर्तन किया जो आगे चलकर विक्रम-संबन्धके नामसे प्रसिद्ध हुआ। विक्रमादित्य स्वयं काव्यमर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियों और कलाकारोंके आश्रयदाता थे।

अब पक्ष यह हो सकता है कि मालवगणस्थिति अथवा मालवसंबन्धका विक्रम-संबन्ध नाम कैसे पड़ा। इसका समाधान यह है कि संबन्धका नाम प्रारम्भमें गणपरक होना स्वाभाविक था, क्योंकि लोकतंत्र राष्ट्रमें गणकी प्रधानता होती है, व्यक्तिकी नहीं। पाचवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्धमें चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्यने भारतवर्षमें अन्तिम बार गणराष्ट्रोंका संदार किया। तबसे गणराष्ट्र भारतीय प्रजाके मानसिक चित्तजसे अफल होने लगे और अन्तर्धी नहीं शताब्दी ई० तक, जब कि सारे देशमें निरंकुश एकतंत्रकी स्थापना हो चुकी थी, गणराष्ट्रकी कल्पना भी बिलीन हो गई। अतः मालवगणका स्थान उसके प्रमुख व्यक्तिविशेष विक्रमादित्यने ले लिया और संबन्धके साथ उनका नाम जुट गया। साथ ही साथ मालवगण-मुख्य विक्रमादित्य, राजा विक्रमादित्य हो गए। राजनीतिक कल्पनाकी दुर्बलताका यह एक टुकड़ा उदाहरण नहीं है। आधुनिक ऐतिहासिक खोजोंसे अन्तर्भूत भारतीय प्रजामें आज कौन जानता है कि भगवान् शुक्रेण्य और महात्मा बुद्धके पिता गणमुख्य थे। अर्वाचीन साहित्य तकमें वे राजा करके ही माने जाते हैं। यह भी हो सकता है कि राजशास्त्रोपजीवी गणमुख्योंकी 'राजा' उपाधि राजनीतिक अर्थके युगमें विक्रमादित्यको राजा बनानेमें सहायक हुई हो।

प्रथम शताब्दी ई०पू० में विक्रमादित्यकी ऐतिहासिकता प्रमाणित करनेके साथ यह भी आवश्यक जान पड़ता है कि उन स्थापनाओंका संक्षेपमें विवेचन किया जाय जिनके आधारपर कालिदासके साथ विक्रमादित्यको भी प्रायः गुप्त-कालमें घसीटा जाता है और 'विक्रमादित्य'-उपाधिपारी गुप्त-सम्राटोंमें किसी प्रकारसे संबद्ध सिद्ध करनेका प्रयत्न किया जाता है। वे स्थापनाएँ निम्नलिखित विवेचनोंपर अवलम्बित हैं :—

(१) कुछ ऐतिहासिकोंकी धारणा है कि तथाकथित बौद्धकालमें वैदिक (हिन्दू) धर्म और संस्कृत-साहित्य संकटापन्न हो गए थे। अतः ईसाके एक दो शताब्दी आगे-पीछे संस्कृत-साहित्यका विकास नहीं हो सकता था। गुप्तोंके आगमनके पीछे हिन्दू-धर्मके पुनरुत्थानके साथ संस्कृत-साहित्यका भी पुनरुत्थान हुआ। तभी संस्कृत-साहित्यमें कालिदास जैसे कुशल तथा परि-

जून काव्यकारका होना सम्भव था। 'पुनरुत्थान' मंत्रके मुख्य प्रवर्तक मैक्समूलर थे। पीछेकी ऐतिहासिक खोजोंसे यह मत अशुद्ध हो गया है (विस्तृत विवेचनके लिए देखिए डॉ० जी० व्यूलर, इंडियन ऐंजिकवेरी, वर्ष १११३)। 'बौद्धकाल'में न तो वैदिक धर्म लुप्त हुआ था और न संस्कृत साहित्य ही। गुप्तकालके पहले ईसाकी दूसरी शताब्दीमें सुराष्ट्रके इमाक्षत्रप रुद्रामन्वे गिरनार अभिलेखमें गद्य-काव्यका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण मिलता है - '... पञ्चन्येनैकार्यन-भूतायामिव पृथिव्या कृताया ... युगनिघनसदृशपरमधोरयेणेन वायुना इमाक्षित सलिलाविसृज-जरीकृताय'...। एपिग्राफिया इंडिका, जिबद ३, पृ० ४७ । राजकीय व्यवहारका यह गद्यकाव्य अथर्वय ही उस युगमें वर्तमान पद्य-काव्यके अनुकरणपर लिखा गया होगा। ई० पू० शुरु कालमें रचित पातञ्जल महाभाष्यमें उद्धृत उदाहरणोंमें काव्योंकी शैली और छन्द पाए जाते हैं। (मूल-हीनं महाभाष्यका संस्करण)। इसके अतिरिक्त रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्योंके अधिकांश भाग ई० पू० में लिखे गये थे। मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियों ईसाकी पार्श्ववर्ती शताब्दियोंमें लिखी गई थीं। काव्यकी-उपर्युक्त धाराके प्रकाशमें प्रथम शताब्दी ई० पू० में कालिदासके नाटकों और काव्योंकी रचना पूर्णतः असम्भव नहीं जान पड़ती।

(२) कालिदासके काव्यों और बौद्ध परिदल अश्वघोषके बुद्धचरित नामक काव्यमें अत्यधिक साम्य है। कथानककी शृष्टि और विद्यास, चर्यान-शैली, अलंकारोंका प्रयोग, छन्दोंका चुनाव, शब्दविन्यासादिमें दोनों कलाकारोंमेंसे एक दूसरेसे अत्यन्त प्रभावित हैं। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

रघुवंश

वतरत्तदाक्षोषन तापराशी
सौधेषु शामीकरजालयधुम् ।
यभुत्तुरिधं सुरसुन्दरीषी
स्यस्तान्यदापीधि विचेष्टितानि ७।३॥

बुद्धचरित

तत कुमार खलु गच्छतीति
ध्रुवा श्रिय देव्य जनाप्यवृत्तिम् ।
द्विदृश्या हर्म्यतलानि जग्मु
जनेन मान्येन कृतान्यनुज्ञा ॥३११॥

यह तो पाय सभी विद्वान् मानते हैं कि कालिदासकी रचना दोनोंमें श्रेष्ठ है। परन्तु उनमेंसे कतिपय यह भी मान लेते हैं कि संस्कृत काव्यके विकासमें अश्वघोष पहले हुए। कालिदासने उनका अनुकरणकर अपनी शैलीका विकास और परिमार्जन किया। अश्वघोष कुपण सम्राट् कनिष्कके समकालीन थे, जिनका समय प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी ई० है। इसलिये कालिदासका काल तीसरी शताब्दीके पश्चात् सम्भवतः गुप्तकालमें होना चाहिए (ई० बी० कीनेल—अश्वघोषका बुद्धचरित, भूमिका)। विचार करनेपर यह युक्ति-परम्परा सर्वथा असंगत जान पड़ती है। यह बात विदित है कि प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य पाली भाषाओंमें लिखा गया था। पीछे संस्कृत साहित्यके प्रभाव और उपयोगिताको स्वीकारकर बौद्ध लेखकों ने संस्कृतको अपने साहित्य और दर्शनका माध्यम बनाया। इसलिये संस्कृतकी काव्यशैलीके पचलित और परिष्कृत हो जानेपर उन्होंने उसका अनुसरण किया। यह स्पष्ट है कि अश्वघोषने कालिदासकी शैलीका अनुसरण किया। यदि उनकी कला अपेक्षाकृत हीन है तो यह अनुकरणका दोष है। प्रायः अनुकरण करनेवाले अपने आदर्शकी समता नहीं कर पाते।

(३) कालिदासको पाँचवीं या छठीं शताब्दी ई० में खोज जानेमें एक प्रमाण यह भी दिया जाता है कि उनके ग्रन्थोंमें यवन, शक, पल्लव, ह्यूणादि जातियोंके नाम आते हैं। ह्यूणों ने २०० ई० में भारतवर्षपर आक्रमण प्रारम्भ किया। अतः इसका उल्लेख करनेवाले कालिदासका समय इसके पश्चात् होना चाहिए (लिटरी रिमेन्स श्रौक डौ० भाऊदाजी, पृ० ४६)। परन्तु ध्यान देनेकी बात तो यह है कि रघुवंशमें ह्यूणों अथवा अन्य जातियोंका वर्णन विदेशी विजेताके रूपमें नहीं आता। खुने अपनी दिग्विजयमें उनको भारतकी सीमाके बहार पराजित किया था, अतः कालिदासके समयमें ह्यूणोंको भारतकी पश्चिमोत्तर सीमाके पास कहीं रहना चाहिए। चीन तथा मध्य एशियाके इतिहाससे प्रमाणित हो गया है कि ई० पू० पहली तथा दूसरी शताब्दीमें ह्यूण पामीरके पूर्वोत्तरमें आ चुके थे। गुप्तशिल्लैक—चीनका इतिहास, सिद्ध १, पृ० २२०)।

(४) ज्यौतिषके बहुतसे संकेत कालिदासके ग्रन्थोंमें आए हैं। कई एक विद्वानोंका यह मत है कि कुपय-कालके पश्चात् भारतीयों ने ज्यौतिषके बहुतसे सिद्धान्त यूनान और रोमसे सीले थे। इसलिये कालिदासका समय इसके बहुत पीछे होना चाहिए। परन्तु इस बातको माननेवाले इस सत्यको भूल जाते हैं कि स्वयं यूनानियों ने कई शताब्दी ई० पू० में बैबिलोनियाके लोगोंसे ज्यौतिषशास्त्र सीखा था। मैक्समूलर—इण्डिया, हाट डैन इट टीच-अस, पृ० ३६१)। यौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में पारसीक सम्पर्कमें भारतवर्ष मलीभौति आ गया था, अतः वह बैबिलोनिया और चाण्ड्याका ज्यौतिष सीधे सरलतासे सीख सकता था (प्रो० पुस० वी० दीक्षितः—भारतीय ज्यौतिषका प्राचीन इतिहास, पृ० १२०)। ईसासे बहुत पहले रचित रामायणमें ज्यौतिषके सिद्धान्तोंका अधिक प्रयोग किया गया है—

नक्षत्रेऽदिति दैवये स्वोचसंस्थेषु पंचसु ।

ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्यता विदुना सह ॥

(बा० का०, सर्ग १८, श्लो० ९)

पुण्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः ।

सापें जातौ तु सौमित्री सुलरिऽभ्युदिते रवौ ॥

(बा० का०, सर्ग १८, श्लो० १५)

उदिते विमले सूर्ये पुण्ये चाभ्यासतेऽङ्गि ।

लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥ आदि ।

(अयो०, सर्ग १५, श्लो० १)

(५) पराहमिहिरकी तथाकथित समकालीनतासे भी कालिदासका समय पाँचवीं शताब्दी ई०में निश्चित किया जाता है। ज्योतिर्विदाभरणमें निम्नलिखित उल्लेख है—

धन्वन्तरिः चपयवामरसिंहशंखुयेतालमद्रुपटखपरकालिदासाः ।

वशातो पराहमिहरो नृपतेः सभायां रक्षामि पै वरकृचिर्नव विक्रमस्य ॥

इस ध्यतारणके संबंधमें प्रथम तो यह कहना है कि जिस ग्रन्थमें इसका उल्लेख है वह कालिदासकी रचना नहीं है। दूसरे एक दो को छोड़कर यहाँ जितने रण विक्रम-भ्रमामें एकत्र किए

गए हैं वे समकालीन नहीं। सीसरे यह अनुभूति पीछेकी और केवल एक ही है ; अन्यत्र कहीं भी इसकी चर्चा नहीं। अतः यराहनिहिरकी कालिदाससे समकालीनता उसी प्रकार कल्पनाजन्य जान पड़ती है जिस प्रकार कालिदास और भवभूतिके एक सभामें एकत्र होनेकी किंवदन्ती।

इस प्रकार कालिदासको गुप्तकालीन और इस कारणसे विक्रमादित्यको गुप्त-सम्राट् सिद्ध करनेकी युक्तियाँ तर्कसिद्ध नहीं जान पड़ती हैं। विक्रमादित्यके गुप्त-सम्राट् होनेके विरुद्ध निम्नलिखित कठोर आपत्तियाँ हैं—

(१) गुप्त-सम्राटोंका अपना वंशगत संवात् है। उनके किसी भी उल्कीयं लेखमें मालव अथवा विक्रम-संवत्का उल्लेख नहीं है। जब उन्हेंने ही विक्रम-संवत्का प्रयोग नहीं किया तो पीछेसे उनके गौरवारतके पश्चात् जनमाने इनका सम्बन्ध विक्रम-संवत्से जोड़ दिया हो, यह बात समझमें नहीं आती।

(२) गुप्त-सम्राट् पाटलिपुत्र-नाथ थे, किन्तु अनुभूतियोंके विक्रमादित्य उज्जयिनी-नाथ थे। यद्यपि उज्जयिनी गुप्तोंकी प्रान्तीय राजधानी थी, किन्तु वे प्रधानतः पाटलिपुत्राधीश्वर और मगधा-पिय थे। मुगल सम्राट् दिल्लीके धतिरिक्त आगरा, लाहौर और श्रीनगरमें भी रहते थे। फिर भी वे दिल्लीश्वर ही कहलाते थे। इसके धतिरिक्त सोमदेवभट्टने अपने कथासहित्सागरमें स्पष्टतः दो विक्रमादित्योंका उल्लेख किया है—एक उज्जयिनीके विक्रम तथा दूसरे पाटलिपुत्रके। उनके मनमें इस सम्बन्धमें कोई भ्रम नहीं था।

(३) उज्जयिनीके विक्रमका नाम विक्रमादित्य था, उपाधि नहीं। कथासहित्सागरमें लिखा है कि उनके पिताने जन्म-दिनको ही उनका नाम शिवजीके आदेशानुसार विक्रमादित्य रखा ; धर्मि-पेकके समय यह नाम अथवा विरदके रूपमें पीछे नहीं रहता गया। इसके विरुद्ध किसी गुप्त-सम्राट्का नाम विक्रमादित्य नहीं था। द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा रकन्दगुप्तके विरुद्ध प्रमशः विक्रमादित्य और शमादित्य (कहीं-कहीं विक्रमादित्य भी)। समुद्रगुप्तने तो यह उपाधि कभी धारण ही नहीं की। कुमारगुप्तकी उपाधि महेंद्रादित्य थी, नाम नहीं। उपाधि प्रचलित होनेके लिये यह आवश्यक है कि उसके नामका कोई लोक-प्रसिद्ध स्थिति हुआ हो जिसके अनुसरणपर पीछेके महात्माकीपी लोग उस नामकी उपाधि धारण करें। रोममें सीज़र उपाधिधारी राजाओं के पहले सीज़र नामक सम्राट् हुआ था। इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी गुप्त नरेशों के पूर्व विक्रमादित्य नामधारी शासक अस्तित्व ही हुआ होगा और यह महापराक्रमी मालवगण-मुक्य विक्रमादित्य साहसात् हो था।

विक्रम और उनके नवरत्न

(१०० पं० ईशदत्त शास्त्री 'श्रीश' साहित्यदर्शनाचार्य, साहित्यरत्न)

सा रम्या नगरी, महान् स नृपतिः, सामन्तचक्रवत् तत्,
पार्श्वे हरय च सा विदग्धपरिपत्, ताश्चन्द्रचिम्बावना,
उन्मत्तः स च राजपुत्र-निवहः, ते-चन्द्रिन्ः, ताः कथा,
सर्वं यस्य वर्यादगात् स्मृतिपथं, कालाय हरमे नमः ॥

—मनुहरि

अर्थात्, वह जगमगाती राजधानी ! वह महान् सम्राट् ! वह सामन्तोंका तन्मूह ! वह बड़े-बड़े कला-कौशिकोंसे विभूषित राज-दरवार ! वे चन्द्रमुखी खजानायें ! वह वह मन्दोन्मत्त राजकुमारोंका स्फुरद ! वे प्रशस्ति-पाठक चारख ! वे बातें !—यह सब कुछ जिसको कृपासे विस्मृतिके गहरे गर्तमें दूब गया, उस-काल भगवान्की चार-चार नमस्कार है ।

जब-जब हम अपने २००० वर्षोंके सांस्कृतिक अतीतके अन्वेषणमें प्रवृत्त होते हैं तब-तब मनु-हरिकी इस सूक्तिकी शीर मन अस्तरमात् धाकूट हो जाता है । जिस महान् विक्रमादित्यका स्वर्णिम-श्रासन हमारी पर, सहस्रभावनाओंकी आधार शिला है, जिसके उदात्त दया-दासियव तथा अथाह शौर्य-वीर्यकी गाथायें हमें रोमाञ्चित करती रहती हैं,—आज हममेंसे बहुतोंको उनके अस्तित्वका अन्वेषण करना पड़ता है, यह काल भगवान्की महिमा नहीं, तो क्या है ?

प्रस्तावित विक्रम-संघत् प्रवर्तक, शक-समुद्र-शौचक, सम्राट् विक्रमादित्यकी कीर्ति-गीति-भविष्य-पुराण, कथासरित्सागर, बृहत्कथामंत्राली, नवसाहस्रांकचरित, पद्मचिन्तामणि, ज्योतिर्विदाभरणम्, कालकाचार्य-कथानक, विक्रमार्कचरितम्, आदि अनेक ग्रन्थोंमें अनेक आकृति पकृतिमें मिलती है । यह हमारी संग्रह-शक्तिपर निर्भर है कि हम सूक्ष्म उद्घोषण शक्ति द्वारा विवेचनपूर्वक सांख्यिक-घट-नाओं पर गहराण डालें । नवरत्नोंके सम्बन्धको कुछ बातें यहाँ छोड़ेंगी जाती हैं, पाठक स्वयं न्यायोचित निर्णय कर सकते हैं—

घन्यन्तरि—

नवरत्नोंमें सर्व-प्रथम इन्द्रिका उल्लेख किया गया है । किन्तु, सूक्ति सुभाषित संग्रहोंमें इनका एक भी पद्य नहीं मिलता । पवित्र-परंपरामें तो ये समुद्रसे निकले हुए भगवान् घन्यन्तरि ही सम्भवे जाते हैं । अनुसंधानसे इनके ३ ग्रन्थोंका पता लगता है, जो सभी आयुर्वेदिक चिकित्सा-शास्त्रसे सम्बद्ध हैं । इन ग्रन्थोंमेंसे “घन्यन्तरि निर्वह” जो ३ अध्यायोंमें बँटा हुआ है, वैद्योंका महान् उपकारक और अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ है । अमरकोशके प्रयेता अमरसिंहसे ये अति प्राचीन हैं

इसका बनाया कोई "रसमाला" कोश भी था—इसका पता चार स्वामीजी लिखी "धमर-त" की टीकासे लगता है।

पणरु—

इनके नामसे ही प्रतीत होता है कि ये बौद्ध सन्यासी थे, किन्तु कुछ लोग इस मतके विरुद्ध इनका लिखा कोई विशेष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। भिषाटन काश्यपे इनको एक रचना उद्धृत की जाती है।

नीतिभूमिमुखा, नतिरुखवर्ता, हीरङ्गनाना, रति
 क्षपत्यो, विशवोगृहस्य, कविता बुद्धे, प्रसाधे गिराम् ।
 लायस्य वपुष, श्रुति सुमानसा, शीतिहिंजरय, जमा
 शान्तस्य, प्रथियां, गृहाधमवर्ता, शील सता भवदनम् ॥

राजाश्रीं, गुणियों, क्रियों, पति-प्रथियों, मकरां, बुद्धि, वाणी, गरीर, प्रसन्नमनों, प्राङ्गणों, स्वयों, गृहाश्रमियों, और राजन पुरणोंके अलंकार क्रमशः नीति, विनय लज्जा, रति, याचक, तप, प्रसादगुण, सौन्दर्य, वेदज्ञान, शान्ति, जमा, धन, शक्ति (सत्यभाव) ये गुण हैं। एक आका कहना है कि "नानार्थकोश" भी इन्हींकी रचना है।

भरसिद्ध—

संस्कृतज्ञ समाज इन्हें जैन विद्वान्के रूपमें ही जानता है। इसका मुख्य कार्य 'कविकल्पलताके' ताका भी इसी नामना होना है। इस ग्रन्थका संपादन प्रसिद्ध धर्मोपर विद्वान् राहुन संस्कृतने ग्रन्थके प्रमाणों से किया है। षोडशशताके वर्तमान बुद्ध-मन्दिरमें प्राप्त एक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि इस मन्दिरके निर्माता यही थे। एक मात्र 'धमरकोश' ग्रन्थमें इस प्रकारका यह यश प्राप्त करना इनकी सुपथ-प्रयत्नताका चोतक है। भारतीय पण्डितोंमें यह उक्ति प्रख्यात—अष्टाध्यायी जगन्माताऽमरकोशो जगत्पिता। पाणिनिनी अष्टाध्यायी और धमरसिद्धका कोश ये दूके पाठित्यके लिखे माता-पिताके समान) उपकारक है।

'धमरकोश' तीन काव्योंमें लिखा गया सरहृत्तका सर्वथेष्ट उपयोगी कोश ग्रन्थ है। इतने बड़े नेपर शायद ही किसी दूसरे कोश ग्रन्थका प्रचार हो। इस लोकप्रिय कोशपर कुछ मिलाकर टीकायें हैं। लिपली और चीना भाषाओंमें भी इसका रूपान्तर हो चुका है।

यद्यपि इनका कोई काव्य ग्रन्थ नहीं प्राप्त होना है, तथापि 'धमरकोश' को सरस प्रयाद शैली ने निर्माताके अन्तरमें सुप्रासित कवि-नकी मधुरित्तधारको सिद्धा नहीं सकी है। "सदुक्तिवर्णा-
 "में इनके सम्बन्धमें लिखा है —

प्रयोगरूपतौ प्रतिपद्विशेषार्थकधने
 प्रवर्तौ शास्त्रीयं रमयति च काव्यार्थं रचने
 धगम्यायामन्यैदिगि परिगणानर्थं वचसो-
 मैत्रे नेरुगणं कथिरमरसिद्धोविजयते

प्रयोगोंकी शुद्धतामें, श्लेषक वचके वगैरे प्रसादानमें, प्रयादगुणमें, भाषाओंकी समीरतामें,

रसशास्त्रिणी कविताकी रचनामें, शब्द और अर्थके शून्यजनदुर्लभभाव—परिपाकमें (यदि मेरी बात मानी जाय तो)—अमरसिंह कवि ही सर्वोत्तम है।

शङ्क—

नवरत्नोंमें अमरसिंहके अतन्तर इनका नाम लिया जाता है। वास्तवमें इनका नाम 'शङ्कु' है। "काव्य-प्रकाश" नामक साहित्य शास्त्रके विश्रुतनामा ग्रन्थमें उसके रचयिता मंगलभट्टने रस-निरूपणके प्रकरणमें भट्ट लोल्लटके बाद इनके मतका उल्लेख किया है। काश्मीरवासी "कल्हण" कि "राजतरङ्गिणी"में यह पढ़नेमें आता है—

अथ मन्मोत्पलदोरुदमूद्वारुणो रणः ।

रक्षप्रवाहा यत्रासीद् वितस्ता सुभट्ट हतैः ॥

कविर्बुधमनः सिधुरागाहः शङ्कुकाभिधः ।

यमुद्दिश्याकरोत्कार्ण्यं सुयनाभ्युदयाभिधम् ॥

मन्म और उत्पल इन दोनों राजाओंमें ऐसी खटाई हुई कि उसमें भरे हुए बीर सैनिकोंकी खोथोंसे वितस्ताका (केलस) प्रवाह रक गया !—उस युद्धकी लेकर पश्चिमीके हृदयरूपी समुद्रके चन्द्रना शङ्कु कविने "सुयनाभ्युदयम्" नामक काव्य लिखा। इससे सिद्ध होता है कि "शङ्कु"का "सुयनाभ्युदयम्" किसी समय प्रतिद्विधी पराकाष्ठाकी प्राप्त था। किन्तु, काल-अमसे हासके पात्पाचक्रमें पड़कर वह अपने अस्तित्वकी भी खो बैठे और आज पुरातत्वका विषय बन गया। अब तो प्रयत्न करते पर सूक्ति-संग्रहोंमें इनकी कुछ रचनायें पायी जा सकती हैं। इनकी तरह फटनेका हंग संस्कृत-कवियोंमें फिरले ही मिलेगा—

दुर्बाराः स्मरतार्गवाः, प्रियवमो दूरे, मनोऽत्युत्सुकं

साहस्रैश्च, नर्चं ययोऽति कठिनाः प्राणकुर्त्तं निर्मलम् ।

खीर्त्तं, धैर्यविरोधि, मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽपमौ

नो सपरचतुः कथं नु धिरहः सोऽव्य पृथं मया ॥

'कामदेवके बाण अचूक निशाना भार रहे हैं, प्राणनाथ परदेशमें हैं उनके लिये मम उल्लंघित हो गया है, अतुराग गाढ़ा है, अवस्था नवीन है, (जख्मी निकल नहीं जाते), कुल पवित्र ठहरा, धीर खीका स्वभाव कभी भी धीरज नहीं धरता, आजन्तलका समय (अस्त अन्तु) 'पञ्चपाण'का पक्ष मित्र है, मृत्यु किसीको क्षमा करना जानती नहीं, सखियों ठहरी नहीं, (जो पक्षिसे मिलनेका प्रयत्न करतीं) ऐसी स्थितिमें यह विरह कैसे सहा जाय ? छोटे-से-छोटे पदमें सुन्दर-से-सुन्दर भावोंके गुरुनमें ये अद्वितीय, अद्भुत और आश्चर्यजनक फलाकार थे।

पेतालभट्ट—

विष्णु और पेतालके सम्बन्धमें श्रोता और वक्ताके रूपमें दोनोंकी कहानियाँ अपने देशमें व्यापविद्यत-पामर प्रसिद्ध हैं। पवित्र होय तो पात-भारतमें "पुनर्पेतालसत्रैव रमते" के मुहावरेका प्रयोग करते देखे जाते हैं। "पेताल पञ्चविंशति" (पेताल पचासी) का प्रचार इन्हीं कथाओंकी खेचर है। पन्नु निर्मातावे

घटसर्पर—

कहा जाता है कि इनकी प्रतिज्ञा थी कि अनुप्रास और यमकमें जो कवि मुझे पराजित करेगा मैं उसके बटों फूटे बड़ेसे पानी भर करूँगा ! यह एक घेरी बात हुई कि इनका वास्तविक नाम सुप्त हो गया—उसके स्थानपर प्रहृष नामकी ही गयाति हुई ; इनका बनाया हुआ “घटसर्पर काव्यम्” (खण्डकाव्य) प्राप्त है। इस काव्यमें कुल मिलाकर २२ श्लोक हैं। सभी यमक-भरे श्लोकोंके दाने हैं। अनुप्रास और यमकके प्रयोगके लिए कविमें परिष्कृत प्रतिभा और लोकोत्तर चमत्ता है।

भावानुरागनिती-सुरतैः शपेय
मालम्ब्याम्बुतृपितः करकोशपेयम् ।
जीयेम धेन कविना यमकैः परेष
तरुमै पद्मेयमुदकं घट-सर्परेण ॥

शब्द-अर्थ, भाव-भाषा, सुख रीति, रस-अलंकार, इन सभी काव्यके उपादेय गुणोंका इनके द्वारा—यथा-रधान उचित मात्रामें उपयोग किया गया है।

नीलशप्यमति भाठ कोमलं
धारि विद्वति च चातकोऽमलम् ।
अम्बुदैः शिल्पिगयो विनाघते
का रति, प्रिय ! मयाविनाऽघते ॥

इस अनुमें हरी-हरी गुरु-गुरु दूबोंका (चारों तरफ) विद्युतीना विद्युत हुआ है, चातक (पर्यटि) पानी (स्याती) की गूँदोंका घोंघसे पान कर रहा है—लेकिन मेरे प्राणनाथ ! तुम्हारे वियोगमें मुझे यह सब तनिक भी नहीं सुझाता है।

हंसा नदन्मेघमयाद् द्रवन्ति
निशामुत्तान्यघ न चन्द्रयन्ति,
न यान्मुनता शिखिभो नदन्ति
मेवागमे हुन्दसमानदन्ति ॥

हे कुन्द (फूल) के समान (उज्ज्वल) दलोंवाली ! इस समय, (वर्षा अनुमें) गरजते हुये मेघों के भयसे—हंस भागने लगते हैं, सायंकाल चन्द्रोदय देखनेमें ही नहीं आता, हरजने हुये बादलोंकी गुदापनी छटापर मुग्ध होकर मगूर चोकते हैं।

विश्वलभ-शृंगारका रसानुष्ठान परिष्कार जिम प्रकार कालिदासके मेघदूतमें मिलता है, उन्हीं प्रकार घटसर्परके प्रहृष खण्डकाव्यमें भी संयोगशृंगारका सुन्दर निरूपण मिलता है। इनके एक और ग्रन्थ “नीलिसार” का भी उल्लेख मिलता है।

फालिदास

जैसा कि हम पूर्वमें लिख चुके हैं। महाकवि कालिदास, मगध-विक्रमादिकके प्राचाप्रिय कवि-मित्र थे। अथर्व ही उन्होंने अपनी रचनाओंमें विक्रमके व्यक्ति-रूपका उज्जरत स्वरूप-निरूपण किया है। इनके निम्नलिखित एक ही उदाहरणमें इनकी विक्रम-आल नया रूप स्पष्ट होता है—

ततः परं दुष्प्रसहं द्विपद्भिर्नृपं नियुक्तः प्रतिहारभूमौ ।
 निदर्शयामास विशेषदर्यमिच्छुं नचोरधानमिवेन्दुमन्वये ॥
 शवन्तिनाथोऽयमुदप्रथाहुर्विशालवशास्तनुदुक्तमप्य ।
 शरौष्य चकूभ्रममुप्यतेजाःस्वप्रेये यतोऽस्तिरसितो विभाति ॥
 शरय भ्रयायेषु समग्रशक्रेःसैरैवाङ्गिभिरस्थितानि ।
 कुर्वन्ति सामन्तशिखामणोर्ना प्रभाप्ररीहास्तमथं रजांसि ॥
 असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमीले ।
 तन्निधपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्गोत्सनावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥
 अनेन यूना सह पार्थिवेन रजोर कश्चिन्मनसो हचिस्ते ।
 सिमातस्त्रानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥
 तस्मिन्नभियोतितवन्दुपत्रे प्रतापसंशोपितशत्रुपङ्के ।
 बधन्धसा नोत्तमसौकुमार्या कुमुदती भातुमतीव भवान् ॥

[रघु० ६ स० ३१-३६]

अर्थात् तब द्वारपालिका 'सुमन्दा' ने 'इन्दुमती' को नये उभे हुये इन्दुके समान दर्शनीय, शत्रुघोसे असह्य प्रताप वाले 'अचरितनाथ' को दिखाया और कहा देखो ! बड़ी-बड़ी बाहोंवाले गोल और पुष्ट कटिदेश-धारी, चौड़े-बलिष्ठ छातीवाले ये अचरितके राजा हैं। इनका शरीर सौष्ठव इतना तयन-रमणीय है कि शत्रुमान होता है कि 'विश्वकर्मा' ने अपने "चकूभ्रम" पर बदाकर इनके सौन्दर्यको बल-पूर्वक चमकाया है। जन ये अपनी समस्त 'समर-वादिनी' के साथ प्रयाण करते हैं तो सेनासे उठी धूलसे बड़े-बड़े सामन्तोंके मौलिक-मुष्ट मलिन हो जाते हैं। ये भगवान् 'चन्द्रमील-महाकाल' के निकट रहते हैं अतएव कृष्ण पत्रमें जो अपनी स्त्रियोंके साथ निल-पूषिमाका आनन्द लेते हैं। हे इन्दुमति ! इस युवा राजाके ऊपर तुम्हारी कुदृष्टि प्रीति है ? जो सिमाकी तरङ्गों से उठे हुये पवनसे कम्पित उपान-धेर्यामँ विहार करो।

किन्तु अपने प्रतापसे शत्रु-पङ्कको सोखने वाले और बन्दु-बमलको रिला देने वाले, 'अवन्ती-पति' पर उत्तम-सुकुमारी 'इन्दुमती' का भाव नहीं रहस सका।

घराहमिहिर—

भारतीय ज्योतिष-शास्त्र इनसे गौरवास्पद् हो गया है। इन्होंने "शृङ्गातक", "शृङ्गरति संहिता" और "पंचसिद्धांती" इन विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थोंका निर्माण किया है। किन्तु "गणक-तरंगिणी" में भारतीय ज्योतिषके अन्वयतम आधुनिक आचार्य महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदीने इनके अतिरिक्त- "लघु-शातक", "समाप्त-संहिता", "विवाह-पटल", "योग-यात्रा", नामक ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है। इनमें शृङ्गातक और लघुजातकका काशी और सिधिलामें प्रचुर प्रचार है। भट्ट उत्पल तामके पिताके लेखसे ज्ञात है कि सगधमें उत्पद्य होनेवाले शास्त्रदीपिय माहणवर्षके ये अलंकार थे। कामिपय गरी (वर्तमान 'कालपी') में आर्यापरदा श्रुती, वहीं अध्ययन किया और भग-

यान् मृत्युसे यरदान स्वरूप ज्योतिषशास्त्रका अग्रतिहुन्द्री पाण्डित्य प्राप्त किया। इनके पिताका नाम आदित्यदास था। इनके वृषुयश नामका एक विद्वान् पुत्र भी था। अपनी अगाध विद्वत्तासे इन्होंने प्रसुर यश और धन अर्जन किया। ये उन्मत्तियोंके सम्राट् विष्णुआदित्यके आश्रयमें रहते थे। यहाँ इन्होंने अपनी गवन्वैद्यशास्त्रातिनी प्रतिभाके सहारे अरबी-पारसीका भी प्रशंसनीय अध्ययन कर लिया। एक स्थानमें इन्होंने ज्योतिष शास्त्रकी महिमाके अर्थमें यह भी लिखा है—

म्लेच्छादि यवनास्तेषु सम्यक् ग्राह्यमिदं स्थितम् ।

ऋषिवत्तेऽपि पूजन्ते हि पुनर्देवविद्विज ॥

यद्यत् तो म्लेच्छ उदरे, परन्तु उनमें भी इस शास्त्रका प्रचार है और इस कारण ये ऋषियोंके सदृश पूजाके योग्य माने जाते हैं वय उस आश्चर्यका क्या कहना है जो ज्योतिष शास्त्रका परिदृष्ट है—यह तो सर्वथा पूजनीय है।

वररुचि—

ये सबे ही पुराण सौन कवि थे। अधिरुमे अधिरु २-१० श्लोक इनके मिलते हैं। जिन्हें सहस्रद्वय पाठक "सहस्रि बर्षांमृत" "सुभाषितारुचि" और "शार्ङ्गपर-महिता" में पा सकते हैं। इनके पर भी इनकी गणना संस्कृतके नामाङ्कित कवियों में होती है। इस नामके तीन व्यक्ति मिलते हैं।

१—पाणिनीय व्याकरणपर आतिरचार वररुचि काव्यायन ।

२—"वाक्य प्रकाश" के प्रणेता-वररुचि ।

३—सूक्ति ग्रन्थोंमें प्राप्त हमी नामके कवि। इनमें प्रथम और नृत्तीय के वररुचि एक ही मान लिये गये हैं। रमिन्द्र पुराणरत्न टी० माण्डवकरके मतसे इनका गोत्र "काव्यायन" ही और नाम "वररुचि" है। पण्डित-समाज इन्हें "दाक्षिणात्य" ही जानता है, किन्तु इधर इन्हें "मैथिल" एताही पहचाननेके लिये "अष्टौपथ" प्रमाण है वर किये गये हैं। अस्तु—पूरे विषयके जिज्ञासुओंको—"कथा सरित्सागर" और "लघुविमुनि-कथकत" देखना चाहिये।

ये व्याकरण-शास्त्रके अतिव्य विद्वान् और यथ उपाध्यायके उन्मत्तगम शिष्य थे। सम्भवत माण्डवकार पठशालिके सतीर्थ भी। पत्ररुचिने अपने महाभाग्यमें एक श्यामपर (वररुचि काव्यम्) कहकर इनके किमी काव्यका निर्देश भी किया है। शत्रोत्तरने अपनी "काव्य मर्ममयी" में लिखा है—

"ध्रुवते च वाटलिपुत्रे शत्रोत्तर-वरोत्ता—

अप्रोपकथं—कथं यह पालिनिरिह व्याधि,

वररुचि पत्ररुचि इद वरोत्तिला श्यामिमुवजगु ॥

हम सब वाक्यमें पूर्वोक्त सन्दर्भका पुष्टि होती है।

शत्रुतने मनीषियोंका ऐसा अनुमान है कि पत्ररुचिके द्वारा वररुचिके जिन काव्यका हगित किया गया है, उसका नाम सम्भवत "कल्लामास्य" हो सकता है। क्योंकि शत्रोत्तरने लिखा है—

यथापेया कथं तादि म भूद् वररुचिरि ।

कवयन कल्लामास्यं च महाशैल्यप्रिय ॥

किन्तु इस समय तो हम काव्यका दर्शन ही नहीं होता। इसके अर्थमें पुत्र भाषा, वररुचि—अर्थ, मीड शत्रोत्तरका पूर्वोक्त आशय लिखा है।

कलमः फलभारतिशुक्रमूर्धतया शनैः ।

विननामार्तिकोवृन्तं समाप्राप्तुमिच्छोत्पलम् ॥

अराहनका धन, फलोंसे लदकर धीरेसे एक तरफ झुक गया है, मानों उस ओर, पातमें खिले हुये कमलके फूलको सूँ घना चाहता है ।

यस्यामनोहराकारकवरीभारनिर्जिता ।

लज्जायेव घने घासं चक्रु रचमर्वाहिणः ॥

इस नायिकाके सुखोपमन केश-कलापकी छटासे पराजित होकर ही लज्जाके मारे मयूरोंने वन-वासकर लिया ।

वामत ! फलमत्सुखात्तहतो मरुतोपनीतमुपलभ्य ।

सुखं यत्त वृषसि टप्यसिचैतत्तु ह्यारयतरम् ॥

ऐ घौने ! (भलेमानस !) इस बहुत ऊँचे पेड़से (अचानक) हवाके मकीरेसे टपके हुये फलको पकड़ जो वृष होते हो (यहाँ तक तो) सो ठीक है, लेकिन (फल तोड़नेका) जो गर्व-कर रहे हो—

इससे बढ़कर हँसनेकी बात और क्या हो सकती है !!

कालिदासके ग्रन्थोंकी उपादेयता

(पं० सीताराम जयराम जोशी, एम्० ए०, साहित्यार्थ)

किसी ग्रन्थकी उपादेयता, उस ग्रन्थकी लोकप्रियतापर विशेष निर्भर होती है। जो ग्रन्थ अच्छे तथा अविद्वान् दोनोंको समान रूपसे प्रिय होते हैं वे ही ग्रन्थ प्रशंसनीय होते हैं और वही उपादेयता मान्य होती है। कालिदासके सभी ग्रन्थोंके इस प्रकारके होनेसे उनकी उपादेयता स्वतःसिद्ध है।

कालिदास और उनके ग्रन्थ संस्कृतके सभी विद्वानोंको पूर्ण परिचित हैं। उनके निर्मित रघुवंश कुमार-संभव नामके दो महाकाव्य, मेघदूत नामका खण्डकाव्य तथा मालविकाग्निमित्र, विष्णो-पथ और अभिज्ञानशाकुन्तल नामके तीन नाटक आद्याल वृद्धोंको प्राप्त हैं। संस्कृत साहित्यका यद्यत्त उनकी प्रशंसासे आरम्भ होता है और यह कहें तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि वे साहित्यके अध्ययनकी परिकल्पना भी उनकी प्रशंसाके ठीक ठीक समझनेमें ही हो सकती प्रसिद्ध विद्वान् टीकाकार मणिलनाथके प्रस्ताविक श्लोकमें यही सुन्दरताके साथ इसकी पुष्टि की गई है। मणिलनाथ संस्कृत भाषामें विश्वमान पद्ममहाकाव्योंपर सर्वोत्तम लिखनेवाले माने गये हैं। वे अपने शब्दोंके परिचित थे जैसा कि उन्होंने श्लोकसे बताया है :-

‘बार्वाकायमुज्जीमजीवराजद्वानासीत् पैयासिकीम् ।
अन्तस्तन्मरिचत पञ्चमघधीनुम्हेषु चाजामरीत् ॥
वाचासाकलवद्गहरथमखिलं यथापपादस्फुराम् ।
लोकेशभूयद्गुप्तमेव विदुर्षा सौजन्यजन्यं यशः ॥
मणिलनाथः कविः सोऽथ मन्दात्मनुरजिपृच्छया ।
इवाचष्टे कालिदासीथं काव्यत्रयमनाकुलम् ॥

‘काव्याद्गुणिकः पैयासिकः दर्शनं, अन्तस्तन्मरिचः अथासुजीवः चैदान्तः, पञ्चमघः मुनिः, व्याकरण-भाष्य, और अज्ञपादका न्याय आदि शास्त्रोंका उन्होंने अध्ययन किया था और वे सर्वमें प्रथम थे। इसके अतिरिक्त वे अच्छे कवि थे और साहित्य विद्याके अच्छे परिचित थे। ये ईश्वरी की १२वीं शताब्दीमें विद्यमान थे। कालिदासके तीनों काव्योंपर इनके पूर्ववर्ती अनेक टीका-कार हुए हैं और विशेषकर रघुवंशकी टीका लिखनेवाले १२ अच्छे परिचित नामतः प्राप्त हैं। उन तीनोंमें कुछ विद्वान् विशेष योग्यतावाले भी हैं। तथापि मणिलनाथने अपने प्रस्ताविक श्लोकमें यह है—

भारती कालिदासस्य दुर्धरास्या विपमूर्द्धिता ।
एषा संजीविनी टीका तामसोऽजीवयिष्यति ॥

कालिदासकी वाणी दोषपूर्ण टीकारूपी विपसे मूर्छित हो चुकी है। मेरी यह संजीवनी टीका उसमें जीवनका संवार करेगी। इस उक्तिसे यह अनुमान सुवरा सिद्ध है कि उनके पूर्ववर्ती टीकाकार कालिदासके ग्रन्थोंकी अरुढ़ी तरह नहीं समझ पाए थे। उक्त श्लोकके पूर्वमें जो मद्दिनाथ कहते हैं—

कालिदासगिरा सारं कालिदाससरस्वती।

चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मारुताः ॥

अर्थात् कालिदासकी वाणीके सारको फेबल आजतक तीन व्यक्तियोंने समझा है, एक तो विधाता ब्रह्मा, दूसरी वाग्देवी सरस्वती और तीसरे कालिदास स्वयम्। मेरे सद्यः अल्पज्ञ उनको ठीक समझनेमें सर्वथा असमर्थ है। जब मद्दिनाथकी कोटिके विद्वान् कालिदासकी रचनाओंकी ठीक ठीक नहीं समझ पाते हैं, तब कालिदासकी योग्यताके विषयमें पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। उनके ग्रन्थ इस प्रकार रहस्यमय होते हुए भी इतने सरल हैं कि उनको छोड़कर दूसरा कोई भी ग्रन्थ प्रारम्भिक छात्रोंके लिये पाठ्य विषय नहीं हो सकता। इसलिये इन ग्रन्थोंके विषयमें महाकवि भवभूतिकी उक्ति “वज्रादपि कठोराणि सृष्टुमि कुसुमादपि। खेकोत्तराणां चेतसि को नु विज्ञानुमर्हति” अतिार्थ हो सकती है।

संस्कृत साहित्य और कालिदास इन दोनोंका सम्बन्ध अटूट है। संस्कृत साहित्यका सौष्ठव और सौरभ बहुत कुछ इन्हींके ग्रन्थोंपर निर्भर है। जिस प्रकार रामायण और महाभारत ये दो धार्य काव्य सारे संस्कृतके कवियोंके उपजीव्य हैं उसी प्रकार कालिदासके काव्य, नाटक उनके पद्या-इतों सभी कवियोंके लिये अनुकरणीय बने हैं। यदि संस्कृत साहित्यसे कालिदासको हटा दिया जाय तो उसमें अन्य अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थोंके रहते हुए भी उस गीर्वाण-वाणीकी लोकप्रियतामें कमी ध्या जायगी। अमेरिकाके राष्ट्रर नामके विद्वान्ने कालिदासकी अष्टताकी अनेक प्रकारसे स्थापित करते हुए अन्तमें यही कहा है कि—

यौ मो हैट कालिदास वाज्ज ए प्रेट पोएट, विक्रैज दि वरहैं हैज गौट् यीन् एविल् टु लीय हिन् एलोन।

कालिदासके बिना संस्कृत साहित्यका अध्ययन ही नहीं हो सकता। हम कालिदासको छोड़ नहीं सकेंगे और छोड़कर संतोष नहीं पा सकते।

जर्मनीके जगद्विद्व विद्वान् और कवि गेटे, कालिदासके शकुन्तलके अनुवादको पढ़कर आनन्द-योगसे पतालसे हो गए और उन्होंने उस ग्रन्थकी विलक्षण प्रशंसा करते हुए यह वाद डाला—

उद्दट् दाउ दि पज़् इयसं प्लौसम्स ऐयड् प्रूट्स थौफ इट्स दिग्राहन,
ऐयड् चील भाइ दिव दि सोल इज चार्म्, एन्गैण्ड, फीरटेड ऐयड् फेड्।

उद्दट् दाउ दि अर्थ ऐयड् हिबिन इद्मेल्क इन यन सोल नेम कम्पाहन,
भाइ नेम दी, ओ शकुन्तला ! ऐयड् चील ऐट् यन्स इज सेड्।

(यदि तुम सुषाररपाके पूल और प्रौढाररपाके पूल और अन्य ऐसी सामर्थियों एव ही रथान-पर मोक्षता पाओ जिनसे आत्मा प्रभावित होता हो, नष्ट होता हो, और शान्ति पाता हो अर्थात् यदि

तुम स्वर्ग और मर्त्यलोकको एकही स्थान पर देवता चाहते हो तो मेरे मुखसे सहस्र एक ही नाम निकल पड़ता है—शकुन्तला ।

कविकी बाणी प्रायः उसके हृदयका प्रतिबिम्ब होती है । कालिदासके विषयमें मल्लिनाथका यह कहना सर्वथा सत्य है कि वे कालिदासके ग्रन्थोंमें ऐसी कौन बात है जिसपर सभी दार्शनिक, तान्त्रिक कवि, तथा अन्य विद्वान् मुग्ध हैं । यदि ऐसा कोई कि उनके ग्रन्थोंमें चारों पुरुराशौकिका प्रतिपादन कान्ताकी सी मधुर वाणीमें किया गया है तो रामायण महाभारतादि आदि काव्य उनसे कम नहीं हैं । उपनिषद्, भगवद्गीतादि धर्मशास्त्र तथा मोक्षशास्त्रके ग्रन्थ, महाभारतके अनेक पर्वोंमें एवं पुरुराशौकियों और खड्ग्य रुतते भी विद्यमान अधर्शास्त्र और कामशास्त्रके ग्रन्थ—ये सब कालिदासके ग्रन्थोंके उपजीव्य हैं । इतना ही नहीं, बल्कि उनके ग्रन्थोंमें संगीतादि अन्वय शास्त्रोंके विषय भी पाए जाते हैं । तथापि इतनेसे ही कालिदास हमें इस प्रकार प्रिय नहीं हो सकते जैसा हम इनको पाते हैं । यह भी मान लिया कि कालिदास जिससे समस्त थे, अतः उनके ग्रन्थोंमें निरर्ग अथवा प्रकृतिका वर्णन अनुभव हो उठा है । अलंकारोंमें भी विशेष उपमा अलंकारके वर्णनमें तो वे अद्वितीय हो हैं । मातृगुणके बतलाए हुए तीनों प्रकारके रस कालिदासके ग्रन्थोंमें पाए जाते हैं :—

रसानु त्रिविधाः वाचिकनेपथ्यरसभाषजाः ।

रसानुरूपैरालापैः रलोकैर्वाच्यैः पदैस्तथा ॥

कर्म-रूप-वयो-जाति-देश-कालानुषतिभिः ।

मातृवभूपणवस्त्राद्यैः नेपथ्यरस इष्यते ॥

रूपयौवन—लावयय—रसैर्य—धैर्यादिभिर्गुणैः ।

रसः स्यात्वाचिको ज्ञेयः स च नात्रे प्रशस्यते ॥

उनमें पहला है वस्तु मात्रमें रहनेवाला स्वाभाविक रामायीयक रस और दूसरा कृत्रिम रस है जिसे कवि, योग्य शब्द-सौष्टवके द्वारा तथा उचित नेपथ्य-वर्णनसे प्रस्तुत करता है । ये सब कालिदासके ग्रन्थोंमें प्रचुर मात्रामें मिलते हैं । इतना होते हुए भी उनकी एक विशेषता यह भी है कि वे अनुपमयी भूमिकामें स्थित होकर हमारी सभी प्रकारकी वासनाओंकी धाराओंको सुन्दर एवं सूक्ष्म रूपसे चित्रित करते हैं जिसको पढ़ते समय पाठक लज्ज होकर काव्यके उस परम प्रयोजन मर्याद परनिर्घृतिका अनुभव करने लगता है जिसे भगवद् भट्टने अपने 'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार विरह किया है कि काव्यरसका आनन्द कहने ही सब विषयोंकी भूलकर फेंकल आनन्दमय बन जाना है । इसी आनन्दको रथायी रूपसे प्राप्त करनेके लिये, रास संसार प्रयत्नार्थक है । आनन्द आत्माका स्वरूप है अतः जबतक अनुपमको सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं होता तबतक उसे शान्ति और समाधान प्राप्त नहीं हो सकते ।

कालिदासकी ग्रन्थ-निर्मितिमें प्रधान अभिप्राय जनार्दन-रूपी जनताकी आराधना ही पूर्णतः है । इस लक्ष्यको उन्होंने स्वयं विरह किया है । मातृविकाप्रिमित्र उनका पहला नाटक है । उसमें उन्होंने नाट्यके प्रयोजनको सुन्दर रूपसे पूर्य किया है—

देवतामिदमाननन्ति मुनयः शान्तं कर्तुं चाशुभम् ।

रदेदेदमुमाहृतम्पतिकरे स्वाङ्गे विमलं द्विषा ॥

शैवगणेशवमत्र लोकचरितं नानारसं, दरयते ।

नाट्यं भिन्नरूपैर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम् ॥

देवताओंकी यज्ञ पिय होता है । उनके नेत्रोंकी रस करनेवाला परम पिय यज्ञ इस नाट्य-कलाका अभिनय है, ऐसा मनुष्योंका मत है । रुद्रदेवने अपनी शर्द्धाङ्गिनी उमाधीके साथ इस नाट्य-यज्ञको अपने ही शरीरमें द्विधा विभाजितकर ताष्टव और लास्य नामकी नृत्यकलाओंको आचिभूत किया । सख, रज और तम इन तीन गुणोंसे निर्मित इस सृष्टिमें विद्यमान त्रिगुणात्मक लोक-चरित अनेक प्रकारके रसोंको पूकट करता हुआ अभिनय रूपमें उपलब्ध है । अतः भिन्न-भिन्न अभिरुचिको रखनेवाली जनताको पूसन्न करनेके लिये एक मात्र साधन नाट्यकला ही है ।

रघुवंश काव्यके आरम्भमें रघुकुलके राजाओंका महत्त्व एवं उनकी योग्यताका वर्णन करनेके सहाने कितने ही प्रकारके रमणीय उपदेश पाश्चिमात्रके लिये मशकविने दिए हैं । जिस कार्यकी कोई बकासे बड़ा सुधारक चारों ओर घूमकर, उपदेशोंकी झड़ी लगाकर कर सकता है उसे कवि, संसारके एक कोनेमें बैठा हुआ अपनी लेखनीके बलसे सदाके लिये कर दिजाता है । देखिय निम्नाङ्कित पंक्तियोंको—

सोहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।

आसमुद्रचितीशानामानाकरथयर्जनाम् ॥

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्थिताग्निनाम् ।

यथापराधदण्डानां यथाकाक्षपवोधिनाम् ॥

त्यागाद्य संभ्रुतार्थानां सव्याय मितभाषिणाम् ।

यथासे विजिगीषूणां पूजायै गृहमेधिनाम् ॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विपयैषिणाम् ।

वाधके मुनिवृत्तीनां योगोनान्ते तनुरयजाम् ॥

रघुवामन्वयं वचये.....

इस प्रकार रघुवंश काव्यमें कालिदासने रघुवंशी राजाओंकी निमित्त बनाकर उदारचरित पुरु-षोंका स्वभाव पाठकोंके सामने रखा है । उनका यह अभिप्राय नहीं है कि लोग उनके सदस होनेके लिये बाध्य हैं । क्योंकि ऐसा होना असम्भव है । किन्तु यदि हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि इस संसारमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो अपनेको उन्नत न बनाना चाहता होगा क्योंकि उन्नतिकी इच्छा करना आत्माका धर्म है । परन्तु प्रायः सांसारिक जीवोंकी इन्द्रियों विषयोंके अधीन होती हैं और इसलिये त्रिगुण स्वभावके अनुसार वे सदा शयरा रहते हैं । पर आत्माकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने स्वरूपकी सोज करनेकी ओर होती है इसलिये उसकी ऐसे उदारचरितोंका वर्णन ही पिय होता है और उसके पदनेमें अज्ञात रूपसे मन लम्ब होकर अनुपम आनन्दका अनुभव करता है । ऊपर दिए हुए श्लोकोंमें ही कैसी सुन्दर कल्पना भरी हुई है । सूर्यवंशकी सन्तान जन्मसे ही पवित्र और निष्कलंक होती थी । पवित्र कुलमें जन्म लेना कोई स्पृहणीय धर्म शयव है जिसमें कालिदासको अटल अहं थी । आत्माकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करनेवालोंमें ही हताश होनेका कोई कारण नहीं । रघुवंशी राजाओंके वृत्तने यह सिद्धा मिलती है कि वे कलकी प्रास्तिक कर्म करते जाते थे । शृम्भोपर राज्य करते थे तो साधारण राजाओंकी तरह नहीं वरन् अपने राजकी सीमाकी

समुद्रवक पहुँचाते थे। उनके स्थोंकी गति दस दिशाओंमें स्वयंभूक भी थी। इतने महान् होने पर भी वे अहंकार और बुरभिमानसे ग्रस्त नहीं होते थे, वरन् शास्त्र-विधिका पालन करते हुए देवता-भोंडा पूजन और हवन बराबर किया करते थे। याचक (अर्थाँ) होकर पहुँचते थे तो उनकी अभिलाषाओंको पूरी कर उनको सन्तुष्ट किया करते थे। राजाका कर्तव्य हुष्टोका दमन करना है, इसलिये धपराधक अनुरूप दण्ड देनेमें कमी चूकते न थे। यह सब रहनेपर भी उनमें विलास-द्वेषता न थी। वे जितेन्द्रिय होते थे। इस बातको एक ही शब्दमें उन्होंने मूलकाया है—यथाकालपूषोधि-नाम्, अर्थाँ सूकर उठनेका समय उनका कमी टलता न था। वे घन इफट्टा करते थे परन्तु योग्य पात्रको उतका दान कर देते थे। वे भिन्नभाषी होते थे जिससे सबका अणुलाप न हो। विजयी होनेकी इच्छासे ही द्विग्विजय किया करते थे और उसका मुख्य हेतु चारों दिशाओंमें अपने चरको फैलाना था। केवल संततिकी इच्छासे ही गृहस्थाश्रमको स्वीकार करते थे, विषय-वृत्तिके लिये नहीं। बाल्यावस्थामें ही अध्ययन समाप्त कर लेते थे। यौवनमें विषयोंका उपभोग होता था किन्तु वह नियम-रहित मनमाना नहीं होता था अत्युत शास्त्रविधिके अनुसार, जिससे 'भोगे रोगभय' भी न द्राघ और जवानी रीतनेके पहले ही मुनिव्यथा थावरण धर्राकार कर लेते थे और योग्यलको धाकर देह-यागके अनन्तर ब्रह्म निर्माणरूपी मोक्षको पा लेते थे। इन सब विषयोंका संकलन केवल रघु-वंशमें है जिसकी वस्तु स्वभाव सुन्दर होनेके कारण उसको इस श्रेष्ठ कविने अपनी अनुपम वाणीके सामर्थ्यसे और उचित वेश-भूषादि योजनाके द्वारा उस काव्यको विविध रसोंसे श्रोतपोत कर दिया कालिदासके अन्य ग्रन्थ भी इस प्रकारके तथा अन्व प्रकारके गुणोंसे पूर्ण होनेसे अत्यन्त मनोज्ञ और लोकप्रिय बन गए हैं।

आलंकारिकों ने उपदेशके तीन प्रकार बताए हैं। प्रमुसग्मित, मित्रसग्मित और कान्तासग्मित। सग्मित शब्दका अर्थ तुल्य है। प्रमुसग्मित उपदेश आशोकके रूपमें होता है। यह जिस पुरुषके लिये होता है उसको विवश होकर उपदेशका पालन करना आवश्यक हो जाता है। जैसे माता-पिताका उपदेश बालकोंके प्रति होता है। यह धौषधके समान प्रारम्भमें अप्रिय होने पर भी अन्तमें गुणकारी होता है। वेद, उपनिषद्, शास्त्र आदि धर्म-ग्रन्थोंका उपदेश इसी प्रकारका माना गया है। दूसरा उपदेश मित्रसग्मित है जो कि पुराणदि ग्रन्थोंसे नाग होनेवाला है, जैसे कोई मित्र दूसरे मित्रको बुझाईसे हटानेके लिये कुछ बह रहा हो उसी समय उसके मनमें यह विरपास भी रहता है कि मेरा मित्र मेरे उपदेशको मान ले तो उसका बरबाद होगा, यदि नहीं मानेगा तो हम उसे बाध्य नहीं कर सकते। किन्तु तीसरा उपदेश कान्ता-सग्मित है जो अल्पे काष्पोंका प्राणरूप होकर कभी विकल नहीं होता। इस उपदेशमें कान्ताके समान पुरुषको सघंदा प्रसन्न रखते हुए उसको अल्पे पथपर लानेके लिये ऐंसा अतर्कित उपाय है कि जब यह अपनेको सुपरा हुआ पाता है तब यह उस अमकारकी देरकर मनही मन चकित हो जाता है। कालिदासके ग्रन्थोंमें यह तीसरे प्रकारका उपदेश स्थान-स्थानपर मिलेगा। कालिदासके स्वभावकी विशेषता यह है कि किरीसे पूजा करना तो दूर रहा, उरते सभी प्रकारके ऊँच-नीच पात्रोंकी प्रकृतिको स्वीकार उनके अल्पे और बुरे परिणामोंका मधुर शब्दोंमें वर्णन करते हुए उनकी प्रहण कर लेते हैं। उचिन होगा या अनुचिन इसका निर्णय उन्होंने पात्रोंके लिये छोड़ रक्खा है जिसमें पात्रोंको कालिदास पर लुब्ध होनेका अवसर कभी नहीं था सयता। मारे संसारकी महज प्रकृति विषयगुण्यकी ओर रक्षी है। विषयगुण्यकी वासना किन्तु प्रवृत्त होती है और अपनेको राजर्षि जितेन्द्रिय बतलानेवाले भी हम यागनामे

कैसे विचारा हो जाते थे और साथ ही उससे अव्यक्त व्यथित होने पर अधर्मके मार्ग पर चलकर धर्म और कामको वे कितना हेय समझते थे, इसका सूक्ष्म और सुन्दर चित्रण हमें कालिदासके ग्रन्थोंमें मिलता है, जिसे पढ़कर पाठका समझ जायेगा कि साधारण जनता कष्ट और परेशानोंसे बचनेके लिये विषयके अधीन हो जाती है परन्तु असाधारण शारीरिक जन प्राणपनसे भी अधर्म और अन्यायके प्रलोभनको जीतनेकी चेष्टा किया करते हैं। इस विषयमें तीनों नाटकोंके उदाहरण हमारे सामने हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलके प्रथम अङ्कमें जब शकुन्तलाको राजा प्रथम बार देख लेते हैं तब उसके सौन्दर्यपर मुग्ध हो जानेपर भी मनमें विचारने लगते हैं कि यह ऋषि-कन्या स्पर्शभरत के शपथवाग्नि और सत्यताके विदित होनेके पहले ही श्रावण-विश्रवासर निर्भर होकर इस निर्णयपर पहुँच जाते हैं कि इस दुष्प्रवृत्तका मन आज तक कृपयकी और कदापि नहीं झुका है इसलिये शकुन्तलाके प्रति इच्छा अधर्म नहीं हो सकती। इससे एक बात निश्चित हो जाती है कि यदि किसी बातमें धर्मका विरोध न हो तो उसकी प्राप्तिके लिये किसी उपाय अथवा प्रयत्नका अवलम्बन करना प्रशंसनीय है। मनके विचारोंको यशमें करनेका सरल ढंग मालयिकाशिमित्र और विक्रमोर्वशीय समीप देखनेको मिलता है। कालिदासके प्रत्येक काव्य या नाटकमें नायक और नायिकाएँ भिन्न कोटिकी दशाईं गई हैं। जैसे कुमारसभयमें शल्युक कोटिके नायक शिवजी, पार्वतीके सौन्दर्यपर मुग्ध नहीं होते हैं तब पार्वतीजी 'अरूपदार्थ' मदनस्य निग्रहात्' (कामका निग्रह करने वाले शत्रु मला रूप-द्वारा कैसे रिकाम्प जा सकते हैं ?) को ध्यानमें रखकर कठिनसे कठिन तपस्चर्या करनेके लिये उद्यत हो जाती हैं और शत्रुको दास बनना पड़ता है।

अथऽभूत्वधनताङ्गि तवास्मि दास

क्रौत्स्वपोभिरिति यादिनि चन्द्रमौली ।

—कुमारसभय, सर्ग ६, श्लो० ८६।

इस प्रकार काम-पुरुषार्थका बहुत ऊँचा चित्र उन्हींमें अपने काव्यमें खींचा है। ऐसी ही अनेक सूक्ष्म भावोंको मधुर सान्द्र सूक्तियोंके द्वारा चर्चन करते हुए उनको प्रति मनोहर बना दिया है और भगवद्गीताकी 'धर्माविहृदो भूतेषु कालीअस्ति भरतर्षभ' का चारितार्थ्य सुचारु रूपसे सिद्ध किया है और स्वयं कामरूपी भगवान्के उपासक थे इसको भी झलकाया है। काम पुरुषार्थकी निरसंग-दुर्लभता और उसकी प्राप्ति करनेके अनेक सरल सुगम उपाय तथा उस पुरुषार्थका उपभोग करनेवाले विविध व्यक्तिबोधके स्वभाव वहाँ आदि सब विषय आवालवृद्ध समीको स्वभावसे ही प्रिय हैं तथा उनके ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं और यही उनका उपादेयताका कारण है।

कवि-जगत्में कालिदासका मौलिक स्थान है। त्रिवर्गके विषय धर्म, धर्म और काम, जिनका प्रतिपादन शास्त्रोंमें सुचारु तर्क और अनुभवसे किया गया है, उनको रोचक वर्णनोंके साथ आया-लवृद्धके हृदयमें प्रविष्ट करा देना और उनकी चित्तवृत्तिको तन्मयताकी सदरमें लीन करा देना श्रेष्ठ कविका ही कार्य है, और उसकी कृतिको विद्वानों ने काव्य नाम दिया है। रस्य और अर्थ्य दो प्रकारका काव्य होता है। कालिदासने दोनोंपर जेसुरनी चलाई है। ऐसी रचनाओंकी मौलिकता प्राञ्जल भाषा-द्वारा पूर्वोक्त उचित नेपथ्यके साथ वस्तु-प्रतिपादन पर निर्भर रहती है। कालिदासने नायककलाओं प्रख्याला प्राप्त करके विचित्र जनतके सामने अपनी प्रथम रचना रखी जिसे माल-विश्वामित्र कहते हैं। उस नाट्यके उपक्रमसे ज्ञात होता है कि उन्हें इस बातका विश्वास नहीं

था कि वह रंगरंच पर रस उतरेगा। क्योंकि उनके पूर्ववर्ती भास, शौमिल्ल, कविपुत्र आदि अनेक नाटककार प्रतिदि प्राप्त कर चुके थे तथापि कालिदासमें इतना आत्मविश्वास अवश्य था कि उन कवियोंके नाटकोंमें जो बातें नहीं पाई जाती हैं वे मालविकाग्निमित्रमें दर्शकोंको मिल सकती हैं। इसलिये वे कहते भी हैं—'पुराणमिन्देय न साधुसचं—

न चापि कार्यं नयमित्यवयम्।

मालविकाग्निमित्र १।७

(पुराण होनेसे ही कोई काव्य ब्राह्म नहीं हो सकता और नवीन होनेके कारण व्याज्य भी नहीं हो सकता।) अर्थात् समालोचक इस नाटककी समालोचना करते समय एक बातकी भूल जाते हैं कि कालिदासने इस नाटकके लिये ऐसा भावक युग जो कालिदासके समकालीन राजाओंमेंसे था। अग्निमित्र युग वंशके एक साधारण राजा थे। उनके कई पत्नियाँ थीं तथापि उनकी काम-व्यमना नूतन उपादेय सुन्दर वस्तुकी देखनेसे जागरित हो जाती थी और वह वस्तु यदि सुभ्राण्य रहती थी तो उसकी श्रांसिके लिये कोई भी यत्न यथा नहीं किया जाता था। हमारी दृष्टिमें यह उसी समयका चरित्र चित्रण है और इसको उन्होंने नाट्यका प्रधान विषय बनाया है। मोक्षपिबते भी कहा है कि 'नाटक' जगत्के व्यवहारोंका प्रतिबिम्ब है। (होर्हिडग मिर अपट्ट नेचर)। कालिदास इसे भलीभाँति जानते थे कि महाभारत और रामायणमें वर्णित राजपिके समान अग्निमित्र उदात्त-चरित नहीं थे तथापि वे नायकके सभी साधारण गुणोंसे सम्पन्न अवश्य थे।

वे धीरोदात्त थे, दक्षिण थे और मालविकासे प्रेम करते हुए भी विवाहिता स्त्रियों के साथ कभी उपचारातिक्रम नहीं करते थे। मालविकाके साथ एकान्त रोचनरूप जो मानुष सहज रखलन कालिदासने अग्निमित्रमें बतलाया है, उसके कारण आधुनिक कतिपय विद्वानोंने उन्हें बहुत ही हीन-चरित्र बताया है एवं उनकी निन्दा भी की है परन्तु कालिदासकी दृष्टिमें अग्निमित्रका मालविकाके साथ एकान्त समागम केवल मालविकाकी स्मर पीढाकी आरपन्तिक अत्ररथासे बचानेके लिये ही था ऐसा प्रतीत है। नाटकमें इस अभिनेयको कविने अपनी कुशलतासे ही चित्रित किया है। अन्तमें राजपुत्रके सम्बन्धकी जान कर देवी पारिखीके द्वारा ही मालविकाको देवी पत्र प्रदान कराया है। इसी प्रकार इस नाटकमें परित्राजिज्ञा, गांधनाचार्य, विदूषक तथा अन्य कुल स्त्रियोंका पर्यन्त विलक्षण चातुरीके साथ किया गया है और उपयुक्त वाचिक, नेपथ्य और स्वाभाविक रीतियोंकी परिपोष इतना मनोमत्त बना दिया गया है कि उसे पढ़कर तथा देख कर पाठक एवं दर्शक मुग्ध हो जाते हैं और सत्त, रज एवं यम इन तीनों गुणोंके अनरूप अनेक प्रकारके रसका आरवाद् करते हैं।

मालविकाग्निमित्र नाटकके पश्चात् अभिनय जगत्में अबतरीन कालिदासका दूसरा नाटक अथवा श्रोटक विप्रभोवर्षाण्य है जिसमें मनुष्य-भूमिकापर विधात बराबर राजर्षि और विध्यामनाका ऐसा वर्णन किया है कि कारण विप्रलम्भ शृंगारका चरित्रमयजनक रस, विलक्षण भाषा-शौन्दर्य और संगीत-शास्त्रके रहस्यमय पदोंके साथ अत्यन्त मनोहर बन गया है। कथा, केवल वेदमें वर्णित सारंग रूपमें ही है। इला और सुधके पुत्र तथा अन्तमाके पौत्र राजा पुरुवरुवा देवांगना उर्वशीके साथ प्रणय करते हैं, फिर विगोग हो जाता है और फिर मिलन भी हो जाता है जिससे एक पुत्र उत्पन्न होता है। यही सामान्य कथा कवि कौशलसे बहुत ही रमणीय बन गई है। इस नाटकमें विशिष्ट पार्श्वकी मनोमाधुर्य सूक्ष्मसे सूक्ष्म विशिष्ट संगीत विलासके साथ प्रकट करते कालिदासने

नाट्य कलामें दूसरा प्रयास मात्र पाया। ऐसी शुष्क कथामें कालिदासके अतिरिक्त अन्य कोई भी कवि इतना जीवन नहीं डाल सकता था।

तीसरा नाटक सबसे सर्वांगसुन्दर उपदेखासे भरी हुई, मानवस्वभावकी विचित्रताको दर्शाने-पान्नी सभी देशों और कालोंके धनुरूप कमनीय अभिनय-कलापूर्ण कृति, अभिज्ञान-शाकुन्तलके रूपमें प्रकट हुई और उसने नाटक-जगत्में सदाके लिये श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया। पारश्याँके भारतसे परिचित होनेके कुछ कालके अनन्तर संस्कृत भाषाके अग्रगण्य ग्रन्थोंके साथ इस नाटकका भी अनुवाद योरोपीय भाषाओंमें हुआ। हम पहले कह चुके हैं कि केवल इसके अनुवादको पढ़कर योरोपके विख्यात कवि गेटेन इसपर लड़ू होकर हर्षातिरेकके साथ इसका आदरपूर्वक अभिनन्दन किया। विद्वानोंमें यह श्लोक प्रसिद्ध ही है—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या गकुन्तला ।

तत्रापि च चतुर्षोऽङ्कुरतत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥

अर्थात् जितने काव्यके प्रकार हैं उनमें नाटक विशेष सुन्दर होता है, तथा प्रसिद्ध नाटकों में काव्य-सौन्दर्यकी दृष्टिसे अभिज्ञान-शाकुन्तला मूर्धन्य स्थान है। अभिज्ञान-शाकुन्तलमें भी चतुर्थ अङ्क और इस अङ्कमें भी चार श्लोक मनोहर हैं। वल्कल-धारिणी शाकुन्तलाकी देखकर दुष्यन्तका हृदय-द्वार इस रूपमें निकला—'इयमिदमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मयुराणां मयडनं नाकृति-नाम्' स्वभावसे ही रमणीय वस्तुओंकी शोभा बाह्य उपकरणोंपर निर्भय नहीं होती प्रत्युत असुन्दर वेप-भूषण भी उनकी सहज कमनीयतामें बाधा नहीं डालती। उनकी शोभा प्रतिपद्य नहीं ही रूप धारण करती है। यदि सर्वांग सुन्दर अभिज्ञान-शाकुन्तलके सापान्तरमें किण्वये अनुवादोंकी समीक्षा करते समय दुष्यन्तकी इसी उक्तिका उपयोग किया जाय तो कोई व्यक्तिकि न होगी। ठीक ही है, आभ्यन्तर-सौन्दर्य बाह्य उपादानके अनुपयुक्त होनेपर भी जगमगाता ही रहेगा। यह नाटक किरती सी रूपमें रहे, इसकी हृदयधारिता उद्यो की स्थो बनी रहेगी। हमने सुना है कि इस विश्ववापी धीर संग्रामके कुछ मास पूर्व इस बीसवीं शताब्दीमें आस्ट्रेलिया द्वीपखण्डमें इस नाटकके अतिशय भाषा-नुवादका अभिनय करके बहोकी जनता आनन्द लेती थी। इसमें चौथा अङ्क सब प्रकारसे सुन्दर तो है ही, उसके चार श्लोक किसी देशमें सदाके लिये सभीको उपादेय हैं। अधिक क्या कहा जाय शाकुन्तलकी एक पंक्ति भी दोषग्रस्त नहीं है। इतना ही नहीं, अनेक पंक्तिमें एक न एक विशेषता है इस नाटकके सभी पत्र पौरवसे लेकर दुष्यन्ततक अपने अपने ढंगसे रमणीय रूपमें अनेक रसोंको परिपोष करते हैं।

कालिदासके तीनों काव्य अपने अपने वैशिष्ट्यको रखनेवाले हैं। कालिदास अर्धनारी-नटेश्वर शब्द भगवानके उपासक थे। यह बात उन्होंने अपने ग्रन्थोंके मंगल श्लोकोंमें कलकाई है, यद्यपि महा, विष्णु, महेश इन तीनों के प्रति उनकी अभेद बुद्धि थी। विशिष्ट कार्यों के कारण एक ही परतत्वके तीन प्रकारके अभिधानके मूलप्रकृतिके गुणों के अनुसार तीन नाम हैं। सर्जन, पालन और संहरण, राजस, सान्त्विक और तामस प्रकृतिके कार्य होनेके कारण कार्यभेदसे एक ही परतत्वकी महा, विष्णु, और महेश ये तीन प्रतीक मूर्तियाँ हैं। सार्वकी प्रकृति और पुरणकी कालिदासने उसी परतत्वका आविर्भाव माना। उसी तत्वकी योगीजन अपने हृदयमें स्थित ज्योतिके रूपमें पाकर कृतार्थ होते हैं। इस प्रकार कालिदासने सारे विश्वकी आठ मूर्तियों में विभक्त करके उन सबको अपने उपास्य देवताका ही पृथक् पृथक् ध्येय माना है। इस दार्शनिक सिद्धान्तका प्रतिपादन स्थान

स्थानपर उन्होंने किया है। शङ्कर भगवान्के धर्मनारी-नेतेधरके रूपमें उनके उपास्य देव होनेके कारण प्रथम उन्हींकी शाराधनाके रूपमें कुमार-सम्भवका भवचन प्रतीत होता है। जगन्माता और जगत्पिताका काम-पुरपार्थ—संभोग तथा विप्रलम्भात्मक उभयरूप—शृंगारमयका मनोज वर्णन शान्त रसमें संपन्न होकर सुस्थित आत्मानन्दका देनेवाला होता है। यथादृष्ट, कालिदासके अतिरिक्त दूसरा कौन कवि है जो इसे इतनी सफलताके साथ वर्णन कर पाया हो? यद्येपर अचेतन सृष्टि संचेतन हो उठी है। हिमालय कालिदासकी सृष्टिमें जड़ पर्वत नहीं है। प्रत्युत यह देवतात्मा है जहाँ पर सब देवता सदाके लिये वास करते हैं। पार्यतीजीके तपोधनमें यदनेवाले पेड़ उनके पुत्रों से कम सत्य-भाजन नहीं थे। जंगम प्राणियों की कथा ही कथा—उस तपोधनमें प्याप्त और हिरण्य अपने शत्रु-भावको त्यागकर शान्त चित्तसे विचरण करते थे, यहाँ स्थावर वृक्ष-लताएँ भी प्राणधारी धनकर घड़ेके जलरूपी स्तन्यका पान किया करते थे। इन कथनोंसे कालिदासने दर्शनके उदात्त तत्त्व चैतन्यका सर्व—व्यापित्व बड़ी रसणीयतासे फलवाया है। शिवजी योगेश्वर थे इसीलिये वे पार्यतीजीके सौन्दर्यपर लुब्ध होनेवाले नहीं थे। इसलिये पार्यतीजीने अपने रूपको हेय माना और कठिन सपके द्वारा शिवजीको बशमें किया—

द्वेषेण सा वतुंमवन्धरूपवती

समाधिमारथाय तपोभिरात्मनः ।

अथाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं

तथाकिंच द्वेम पतिरथ तादृशः ॥

—कुमारसंभय, ५ । २.

यस, कालिदासका सारा प्रयत्न प्रेम और समाधि दोनोंको एक ही जगह दिखानेका था। इसका उद्देश्य और कोई नहीं, क्योंकि प्राणित्मारा पद्म पुरपार्थ अश्रुद्वय और नि श्रेयस इन दोनोंको पक्ष्य पानेमें ही है। यह शिला हमें कालिदासके ग्रन्थोंसे मिलती है। कुमारसम्भवका पञ्चम सर्ग पूराका पूरा इसी भावसे भरा हुआ है।

कविके वर्णनका रहस्य व्यञ्जना-उपायारसे उपदेश देनेका रहता है। आलङ्कारिक हमें घबलाते हैं कि सारे रामायणका प्रयोजन 'रामादिवहृत्तितर्थं न रावयादिवत्' (राम तथा कालरश पुरपार्थकी भाँति चले, रावण शूरादिकी भाँति नहीं) है। कुमारसम्भवमें दिव्य गायकका दिव्य चरित वर्णित है परन्तु लौकिक काम और शृंगार-रस ही सूक्ष्म भावनाओंका वर्णन करनेके लिये उन्होंने मेघदूत लिखा जिसमें यह वर्णन किया है कि प्रकृतिके समस्त होते हुए भी प्राणियों अनुप्य-मुलम विपत्ति और वियोगमें सूक्ष्म भावनाओंका अनुभव किस प्रकार होता है और कैसे होना चाहिए। मेघदूत काव्य कोरी कल्पनाका फल नहीं है जिसमें निमग्नके अनुपम वर्णन तथा शृंगार-सर्वरसको कालिदासने अपने अत्यन्त अनुपूल मन्दाकान्ता वृत्तमें पर दिया है। यद्यकी अन्तिम हार्दिक दृष्टा यही है कि हे मेघ—

साम्भूदेवं चक्ष्मपि च ते विसृता विप्रयोगः ॥

—उत्तरमेघ, ५८

इस प्रकार कालिदासके ग्रन्थोंका जब हम सूक्ष्म निरीक्षण करेंगे तब विदित होगा कि कालिदासके ग्रन्थों में अत्यन्त उदात्त परित्र शङ्कर भगवान् तथा भगवान्, रामचन्द्रमें लेकर साधारण राजा चरित्रमित्र धार्मि तथा उनके साथ-साथ सृष्टिके सभी अन्य नीच प्रकारके व्यक्तियों का विविध

(२) रघुवंशके चारहवें सर्गके अष्टाधनवें श्लोकमें 'धालि' के स्थानपर सुग्रीवके अभिषिक्त होनेका वर्णन करते हुए कहा गया है 'धातोः स्थान इयादेशं सुग्रीवं सन्धवेणमत्' जैसे 'धस्' के स्थानपर 'भू' आदेश होता है, और 'इय' के स्थानमें 'गा' होता है जैसे ही 'धालि' के स्थानपर 'सुग्रीव' अभिषिक्त किए गए । कितनी सटीक उपमा है । जैसे 'स्थानी'के अर्थका वाचक आदेश होता है वैसे ही पालिका सब कार्य सुग्रीव करेंगे ।

(३) रघुवंशके पन्द्रहवें सर्गके सातवें श्लोकमें रघुकुलकी सराहना करते हुए लिखा है ।

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः ।

अपवाद इवोत्सर्गं व्यापत्पितुमीश्वरः ॥

रघुकुलका कोई एक ही, शत्रु-समुदायको जैसे ही तूर कर सकता है, जैसे अपवाद अनेक उत्सर्गोंको व्यावृत्त करता है ।

कुमारसंभवके द्वितीय सर्गके सत्तार्दसवें श्लोकमें यही भाव और सुन्दर रूपमें ध्याया है—

लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः ।

अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः ॥

पहलेसे लब्धप्रतिष्ठा आप लोग क्या बलवत्तर शत्रुओंसे बाधित हो रहे हैं ? जैसे अन्यत्र परि-
तार्थ उत्सर्ग 'इको यणचि', मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' को बलवत्तर (निरवकाश) अपवाद 'धकः
सवर्णे दोषः', 'अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत्' इत्यादि व्यावृत्त करते हैं । 'अपवादो बलवान्' वा 'निरव-
काशो विधिर्बोधकः' व्याकरण-निषमका उपयुक्त व्यवहार हुआ है ।

(४) रघुवंशके पन्द्रहवें सर्गके नवम श्लोकमें लवणसुरको जीतनेके लिये सेना लेकर शत्रुपक्षके प्रस्थानका वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं—

राभादेशाद्भुनासासेना तरयार्थसिद्धये ।

पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवानयत् ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे अर्थ (जग) सिद्धिके लिये सेना पीछे चली, जिस प्रकार अर्थ सिद्धिके लिये अध्ययनार्थ 'इद् धातु के पीछे 'अधि' उपसर्ग लग जाता है । 'अधि' उपसर्गके बिना केवल 'इद्' धातु अर्थ-बोधन करनेमें समर्थ नहीं ।

(५) वारकासुरसे व्रत देवगण पितामहके पास गए और उनको अपनी कलह कहानी सुनाई । पितामहने उसका उत्तर चारों मुँहोंसे दिया । इसका वर्णन कुमारसंभवके दूसरे सर्गके १०वें श्लोकमें इस प्रकार है—

पुराणस्य कथेस्तरु चतुर्मुण्डसमीरिता ।

प्रवृत्तिरासीच्चन्दानां चरितार्थां चतुष्टयी ॥

पुराने कवि ब्रह्माके चारों मुँहोंसे उच्चरित वाणीने "चतुष्टयी शब्दानाम्प्रवृत्तिः" को चरितार्थ कर दिया । उद्धरे ब्रह्माके मुख चार और उनसे शब्द भी निकले चार ।

वैयाकरणोंके सिद्धान्तानुसार वाणी चार प्रकारकी होती है—(१) परा (२) परमन्ती (३) मध्यमा तथा (४) वैखरी ।

पर याद्मूलचक्रस्था पर्यन्ती नाभि-सरियता ।

हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैररी पश्चदेशगा ॥

जो चाणो हम लीन थोलेते और सुनते हैं, उसे 'वैररी' कहते हैं। जो हृदयवदेशस्थ है उसे 'मध्यमा', जो नाभिवेशस्थ है उसे 'पर्यन्ता' और जो मूलचक्रस्थ है उसे 'परा' कहते हैं। यदि 'चतुष्टयी' का अर्थ यह न मानें तो भगवान् पतञ्जलि कथित—'चतुष्टयी शब्दानाम् प्रवृत्ति, जाति-शब्दाः, गुणशब्दाः, क्रिया शब्दाः, यद्वद्वा शब्दाः ।' अर्थ लेना चाहिए। शब्दोंके अर्थोंघनमें चार प्रवृत्तियाँ निमित्त हैं—(१) जाति-प्रादुर्भावदि (२) गुण-शुद्धादि। (३) क्रिया-ध्वन्यप-नादि और (४) यद्वद्वा-दिव्य उचिथ आदि। व्याकरणके नियमोंका काव्यमें वैसा उपयोग किया गया है।

यही नहीं कालिदासने व्याकरणसिद्ध वैकल्पिक रूपोंका प्रयोग भी अल्पान्तरसे करके उसका बोध करनेका प्रयत्न किया है। जैसे—ईपदार्थक 'कु' शब्दके स्थानपर 'कप्' तथा 'का' आदेश विकल्पसे होते हैं। रघुवशके प्रथम सर्गके १७वें श्लोकमें पहले 'करोष्यम्', पीछे २४वेंमें 'कोष्यम्'का प्रयोग किया गया है।

व्याकरणके नियमोंका उपमान रूपमें प्रयोग करनेवाला व्याकरणके नियमोंका उल्लङ्घन करने वाले यह संभव नहीं प्रतीत होता। इसलिये कालिदासके उन प्रयोगोंका विचार कर लेना भी प्रसंगमत्त है जिनपर व्याकरणकी दृष्टिसे 'निरवृत्ता कवय' कह कर आक्षेपका समाधान किया जाता है। सबसे पहले रघुवशके मर्मज्ञ टोकाकार श्रीमशिलनाथने ही आक्षेपपर विचार कीजिए—

स सौम्यपरिभोगेय राजदानमुगन्धिना ।

कावेरी सरितापत्यु शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥ —रघुवश, ४४५

इस छन्दके 'राजदान मुगन्धिना' शब्दकी टोका करते हुए वे लिखते हैं—'गन्धस्येयादिना ह्कार समासान्त । यद्यपि गन्धस्येवे तत्रेकान्तप्रदृष्ट कर्त्तव्यमिति नैसगिकगन्धविवक्षापामेने कारादेश, तथापि निरवृत्ता कवय । तथा मावकाव्ये "वसुरदुग्धदुग्धमुगन्धय (सततगा) । नैपथेयदि—"अर्पा हि तृषाय न वारिधारा स्याद् मुगन्धि स्यते तुपारा । न कर्मधारयान्तवर्धाय इति निषेधादिनिप्रत्ययपञ्चोऽपि जवन्य एव ।" भाव यह कि 'मुगन्धिना' पदमें बहुव्रीहि समास कर 'गन्ध' शब्दके अन्य धकारको समासान्त इकारादेश होता है, परन्तु जहाँ गन्ध स्वाभाविक हो वहीं 'हृत्' होता है। जैसे, 'मुगन्धि' पुण्यम्'। जलमें गन्ध स्वाभाविक नहीं है, इससे यहाँ इकारादेश न होना चाहिए। यह कविकी निरवृत्ता है। माध कविने वायुकी गन्धमें तथा नैपथकारने जलकी गन्धमें इकारादेश कर निरवृत्ता दिखाई है। यदि 'मुगन्ध' का कर्मधारय समास कर, मत्वर्थीय प्रत्यय 'इनि' करें तो भी अनुचित है, क्योंकि कि ऐसा नहीं होता—'न कर्मधारयान्तवर्धाय'। वस्तुतः 'वातिक'का अर्थ वैसा है नहीं, जैसा समझा गया है। 'वातिक' का अर्थ है कि जहाँ गन्ध गन्धवान् पृथक् न दिखाई पड़े वहाँ इकारादेश होता है। इसलिये जहाँ 'गन्ध' का अर्थ 'गन्धक' है वहाँ, जैसे 'सुगन्ध आपत्तिक' में इकारादेश नहीं होता क्योंकि कि 'दूषण' में 'गन्ध' पृथक् दिखाई पड़ती है जल तथा वायुमें गन्ध पृथक् नहीं दिखाई पड़ता, इसलिये इकारादेश होगा। अतएव दीर्घितवनी जो उदाहरण दिए—'मुगन्धि पुत्रं सखिल च मुगन्धिप्रायु' वे ही काशिका-वृत्तिकारकी भी अभिमत थे। वे लिखते हैं—'एन्य एवेति विम् तीमगन्धायात्' यहाँ 'इकार' नहीं

प्रकारका वर्णन पाया जाता है जो भिन्न-भिन्न रसोंकी पुष्टि करता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारोंका वर्णन तो है ही, साथ ही चारों पुरवर्णोंको जो सदिच्छा अर्थात् कामरूपी भगवान् हैं, उन्हींकी श्रेष्ठता जहाँ-तहाँ पाई जाती है—

“स शान्तिमाप्नोति न कामकामी” (गीता)

मुमुक्षु भी मोक्षका कामी ही होता है। इस लोकमें जितने देहधारी होते हैं वे किसी न किसी कामके उपासक हैं। कोई धर्म-कामी है तो कोई अर्थ-कामी, बहुतसे काम-कामी हैं तो कोई मोक्ष-कामी भी है और ऐसे भी बहुतसे मिलेंगे जो धर्म, अर्थ और काम इस विषयोंको समान रूपसे चाहेंगे और दूसरे मोक्षके साथ अनुवर्णोंको, और कुछ केवल अर्थ-कामसे तन्तुष्ट रहेंगे। देखिए, कालिदासने हमें इन सभीके प्रतीक दिए हैं। केवल धर्म-काम मूर्ति देवी और रामचन्द्र, केवल अर्थ-काम दिलीप और राजा दसरथ, केवल काम-कामी अग्निवर्ण तथा रावण, केवल मोक्ष कामी-राजा रघु तथा अज, धर्म तथा काम दोनोंके उपासक राजा पुरुखा और दुष्यन्त, धर्म, अर्थ और काम तीनोंके उपासक राजा अग्निमित्र और इन सभी प्रकारके कामोंको पूर्ण नष्टकर शान्त रिपत होनेवाला शङ्कर भगवान् जो पुरुषोत्तमके सुन्दर प्रतीक हैं और उनको भी अपनी तपोभक्तिते प्राप्त बनानेवाली महाभक्त पार्वतीजी मूल प्रकृतिकी प्रतीक—इन सभीका सुन्दर वर्णन पाठक वहाँ पायेंगे। अतएव, सारे संसारके किन्तु अर्थों में इतनी विविध प्रकारकी चारोंका इतना अनुपम विवेचन पाया जा सकता है।

कालिदासकी ओर देखनेकी एक और दृष्टि है। वह है सद्यःपर-निवृत्ति—तात्कालिक परमानन्द, जो काव्यों के पढ़नेके साथ ही मिलता है। कालिदास इस विषयमें पार्वतीजीकी ओर संकेत कर रहे हैं। वाच्य यह है कि संव, रज और तम इन तीन गुणों से उत्पन्न चरित्र माना रसों में अर्थात् आठ अक्षया नौ प्रकारके रसों में जो परिपुष्ट हो रहा है वह लक्षिक होता है, कदापि शारदतिक नहीं होता है। लक्षिक रस अवश्य शारदतिक रसके ही अंतर्गत हैं। शारदतिक रस शान्त रस है जो आत्मानमें सर्वदा स्थित है, जिसकी प्राप्ति करनेके उपरान्त उससे श्रेष्ठ कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य रह नहीं जाती। यही आत्मानन्द है। अतः आत्मानन्दको हम शान्त रसका स्थायी भाव मानते हैं। दूसरे विद्वानोंने काम, रूपा-लवसुख आदिको शान्त रसका स्थायी भाव माना है परन्तु वे सभी इसी आत्मानन्दके भीतर आ जाते हैं यह आत्मानन्द ही सार्वत्रिक शास्त्रों में निर्दिष्ट पुरुषका धर्म है। किन्तु पुरुष जब प्रकृतिके अधीन हो जाता है तब प्रकृतिके तीनों गुणों से निकलने वाले उसी एक ही शान्त रसके आठ प्रकार शृंगार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, रौद्र, विरम्य और घदुःख हो जाते हैं, अतः शान्त रसको इन आठोंका अभय अथवा उद्दय-स्थान मानना चाहिए, उनके पृथक् नहीं। कालिदासका सर्वथा यही प्रयत्न है कि इन्हीं आठों रसों के द्वारा उन उन आत्मानन्दको प्रकट करते हुए अन्तमें उस शारदतिक आत्मानन्दको ही निरुपाधि बनाकर प्राप्त करा दें जो शान्तिके रूपमें आत्मानमें स्थित है। यह त्रिगुणातीत होकर पार्वतीजीके पदपर स्थित होकर पाना है। ‘तथाविधं प्रेम पतिश्च तदराः’। यहाँ भगवान्के विषयमें भक्तिरूप प्रेमसे परमरूप प्रभुकी प्राप्ति करना है। यह तदपूर्वक समाधिके बिना नहीं प्राप्त हो सकता है यही ध्वनि-काव्यका उत्तम गुण व्यञ्जना-व्यापार, कालिदासके सभी अर्थोंमें अनुपम है, अतएव वे सर्व-उपादेय बन गए हैं।

कालिदासके शब्द-प्रयोग

(५० अग्निराप्रसाद उपाध्याय व्याकरणशास्त्राय ।)

कविकुलसिंहल, कविता कामिनीके कमनीय कान्त कवि कालिदास अलौकिक चमत्कृति-सम्पादक काव्य-संसारके विधाता थे। उनकी प्रतिभा दृश्य तथा श्रम्य दोनों प्रकारकी काव्य-रचनामें अप्रतिहत थी। कविका स्थान जगत्में क्या है इसका आभास इसीसे मिल जाता है कि भगवान् भी अपनेको "कवि पुराण" कहकर 'कवि' शब्दसे ही सङ्केतित करते हैं। 'कवि' शब्द विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तिका बोधक है, उसीकी चमत्कार-जनक रचनाका नाम 'काव्य' है। काव्यके मुख्य आधार शब्द तथा अर्थ हैं। इसीसे वाक्यका लक्षण करते हुए सभी आचार्योंने शब्दाईकी प्रधानता स्वीकार की है। जैसे, (१) शब्दाद्यौ काव्यम् (काव्यालङ्कार), (२) तद्दोषौ शब्दाद्यौ (काव्यप्रकाश), (३) रसखोषार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम् (रस-गङ्गाधर), (४) वार्थं रसार्थं काव्यम् (साहित्यदर्पण), (५) इष्टार्थव्यञ्जिद्वया पदावलि काव्यम् (काव्यादर्श) और (६) निर्दोषालङ्कारवती सरीतिगुणभिताः साकाररसानेक वृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् (चन्द्रालोक)।

इन दोनोंमें भी अर्थपेक्षया 'शब्द' की ही प्रधानता प्रतीत होती है। इसलिये कविका शब्दोंपर अधिकार होना नितान्त आवश्यक है। उसके निमित्त शब्द-शास्त्रका पूर्ण परिचय अपेक्षित होना निव्याद है। इस दृष्टिमें कवि सत्राट् कालिदास शब्दशास्त्रमें पूर्णतया निष्णात थे, इसमें लेखमात्र संदेह नहीं है। उनके ग्रन्थोंका अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि शब्द-शास्त्र उन्हें रात-दिनके व्यावहारिक विषयकी भाँति अभ्यस्त था। यहाँतक कि उपमानविधानमें भी व्याकरणके विषय नियोजित हैं। उनकी प्रयोगशैली तथा प्रसिद्धांशके परिदृश्यका दिग्दर्शन ही पर्याप्त होगा। दो चार उदाहरण खीजिए।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वार्थप्रतिपत्तये ।

जगत पितरौ चन्दे पार्थ्वतीपरमेधरी ॥

रघुवंश, सर्ग १ । १ ॥

यहाँ शब्दार्थ सम्पन्न उपमान तथा पार्थ्वती-परमेधर उपमेय हैं। व्याकरणमें शब्द और अर्थका अभेद है, दोनों एक हैं। जैसे 'नीलो घट' में 'नील' और 'घट' का अभेद है। ऐसे ही 'अर्थ घट.' इत्यमान 'भक्ति' अर्थ और 'घट' शब्दका अभेद है। इसीलिये 'अर्थ घट'में दोनों शब्द समानाधिकरण प्रथमान्त हैं। यदि भेद होता तो 'राज पुर' की तरह पृथी विभक्ति होती, पर 'अर्थ घट.' या 'अर्थ घटस्य' प्रयोग नहीं होता। 'रामेति द्वन्द्वर' नाम मानभङ्ग विनाकिन., 'वृद्धिरादौ च इत्यादि स्थलोंमें भी समानाधिकरण प्रयोग ही हुआ है। 'वागर्थाविव', समाससे तथा पितरौ एकशेषसे 'एवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' वार्तिककी और 'पिता-मात्रा' सूत्रकी स्मृति हो जाती है।

कालिदासके कवित्वकी पूर्णता

अर्थात्

तदीय कतिपय पद्योंका मर्म-प्रकाश

[श्रीमन्मध्वसंप्रदायाचार्य-दार्शनिकसार्धभौमसाहित्यदर्शनायाचार्य-
तर्करत्न-यावरत्न श्रीदामोदर लाल जी गोस्वामी]

न सा विद्या न सा रीतिर्न तच्छास्त्रं न सा कला ।

जायते यत्र काव्याग्रमहो भारो महारुचे ॥

प्राचीनसुभक्तिकेसिद्धे रससिद्धे ई कि महाकविको एत जातीय सर्वज्ञ होना चाहिए । ऐसी स्थितिमें कविके ज्ञान विषयोभा परिचय करना अंशतः सिद्ध साधन है तथापि उक्त ज्ञानोंकी सूचना-व्याख्यापर सहृदयोंकी दृष्टि आकृष्ट करते हुए दिग्दर्शन करना ही इस लेखकका प्रधानोद्देश्य है ।

प्रस्तुत कविके निवन्धों में मेरुदूतकी सृष्टि अपूर्व है । यह लघुकाम होकर भी कर्ताकी विशेष-ज्ञताके ज्ञापनमें अति महान् है । इसका पूर्व भाग तो अभ्रान्त भूगोल-परिचयका साक्षी है । उत्तर भागमें—

तन्वी दयामा शिलरिदराना पक्वविम्बापरोक्षी

मप्ये दामा अकितहरिणीमिश्रया निम्नभाभिः ।

श्रीषी भारद्वाजसगमना स्तोत्रनग्रा स्तनाभ्यां

या तत्र स्वादुचतित्विपदे सृष्टिराद्येव धातुः ॥

उत्तर मेघ, २२ ।

इस पद्यसे अपनी पत्नीका परिचय देते हुए यद्यपि इन्तोंके, नेत्रोंके, शक्तिके जो विशेषण दिए हैं उनसे सागुद्रिक मार्मिकताकी, कामशास्त्राभिज्ञताकी प्रशंसासे उसके पश्चिर्गतत्वका ध्वनन, उससे विशिष्ट सौन्दर्यका प्रभावन, एतद्द्वारा स्वकीय निरतिशय प्रेमास्पन्दनका अनुसन्धान, तन्मूलक तद्विच्छेदजनितारन्तुदग्धिही हु सदृशा, घण्टानाद स्थायसे संलक्ष्यक्रमपरिचयोंका प्रवाह, व्यञ्जना-पथिकोंके अगोचर नहीं है । उक्त पद्यके शेषमें वाच्योत्प्रेक्षासलकारसे तदीय सौन्दर्य-मताद्वितीयत्व वस्तु-ध्वनि, उससे अतिरेकालङ्कारध्वनि, तदनुगावत्त्वसौभाग्यफलध्वनि, तत्पृष्ठभाषी विपादसंचारिभाव-ध्वनि, यह ध्वनिशृङ्खला भी कम चित्तार्कषण्य नहीं है ।

रघुवंशके प्रथम सर्गके १४ वें पद्यमें 'सर्वतजोऽभिभाषिना' पदसे मन्वादिस्मृतिज्ञान, २६वेंमें 'शाम्पद्विजिमयेनोभौ' हृत्से नीतिज्ञता, ३६वेंमें 'पद्मसम्वादिनी' शब्दसे राज्ञीतागम परिचय, ५६ वेंमें 'विधेः.....अन्ते' हृत् पदोंसे सदाचार-प्रोक्ष, ७१वेंमें 'अनिर्वाणस्य से पालका, परतन्त्रता पर ७३ वेंमें 'प्रवृत्तिशक्तिवाऽर्हायाम्' पदसे शिक्षाचार शिक्षा, ८२ वेंमें 'इति वादिनः' कथनसे शत्रुनविश्रवा इत्या-

दिकी प्रतीति होती है। इसी भाँति तृतीय सर्गके १३वें श्लोकमें रघुके जन्मक्षणमें--'प्रहैस्तवः पञ्च-
भिरुचलंधयैरसूर्यैर्गैः--इत्यादिसे कवीतिपके होरास्कन्धकी विचक्षणता, १२वें श्लोकमें रघुकी 'आलीव-
स्थिति'के द्वारा धनुर्वेदज्ञान, ८ वें सर्गके २१वें श्लोकमें अजके 'पण्यन्धादि' वर्णनसे नीतिप्रवीणता
सूचित होती है, एवं सभी सर्गोंके तत्परधर्मोंमें यज्ञ-पद्धतिउपनिषद्विद्वान्त--धर्मशास्त्र-पुरा-
खेतिहास-राजनीति-समाजनीति-नाहंरूप्यचर्या-अन्याधर्माचार प्रभृतियोंके निष्णातत्वका परिचय यथे-
मिलता है। कुमारसंभवमें भगवतीकी वपश्चर्या-वर्णनमें--

स्थिताः षण्णं पञ्चमसु ताडिताधराः

पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।

पलीपु तस्याः स्तलिताः प्रपेदिरे

चिरेण नाभिं प्रगमोद्विन्द्वः ॥ ५ ॥ २४ ॥

यह पद्य भी निर्माताकी बहुदर्शिताका प्रधान साक्षी है, इसमें योगशास्त्रने जो समाधिमें
नासाऽग्ररष्टि, मुखका खुला न रहना, मेरुदण्डको उन्नत रखना, निश्चल रहना उपदिष्ट किया है,
इनमेंसे वर्णनमें प्रथम रष्टि-विन्दुप्रोत्सी पलकोपर स्थिति द्वारा पलकोंका अर्द्धोन्मीलन ध्वनित किया,
इससे उनमें निबिडता ध्वनित हुई, जिससे सामुद्रिकोक्त सुलक्ष्य व्यक्त हुआ, अर्द्धोन्मीलनसे
भासिकाऽग्रदर्शन भी लक्ष्य हो गया, षण्ण शब्दसे पलकोंमें मरुण्णया सूचित हुई, ताडित पदसे
धरमें कोमलता कलाकी, अधरसे च्युत विन्दुओंके कुचोंपर ही गिरनेसे मुख-संचृति तथा विस्तर जाने
द्वारा उनकी कठिनता व्यक्तित हुई, साथ ही त्रिकोणाति भी ध्वनित हुई। वहाँसे गिरकर शिवलीसे
फिसलने-द्वारा उनकी चिकनाई, स्पष्टता, सुलक्ष्यता भी प्रत्यावित हुई, वहाँसे हटे विन्दुओंके
नाभिमें प्राश्लिवर्णनसे उसकी गभीरता-रूप सविह्वकी शक्ति हुई। इस भाँति संलक्ष्यक्रम-स्वतः
संभवी पदगत-वस्तुध्वनियोंसे भगवतीका अलौकिक सौन्दर्य वस्तुध्वनि उपरकृत हुआ, जो सबका
अङ्गी है। सुतराम्, उपस्कारकोंके साथ अद्भुतभाव-संकर हुआ, उक्त अद्भुतध्वनियोंमें परस्पर कोई
संस्पृष्ट है, कोई एकव्यञ्जकानुप्रविष्ट संकीर्ण है।

अनुसंदारमें भी जो कर्ताकी लौकिक वस्तु-व्यवहारोंकी अभिज्ञात है सो भी साहित्य-सेवियोंकी
अचिद्वित नहीं है।

अभिज्ञानशाकुन्तलसे एक उदाहरण देखिए। शाकुन्तलके उत्तमत्व-प्रयुक्त निर्यासादिमें
नैसर्गिक सौरभसे आए हुए मत्पाले अमरका व्यापार देखकर महाराज दुष्यन्तकी वेदनामयोक्तिका
चित्रण जो कविने इस पद्यमें किया है--

चलापाङ्गं दृष्टः सृशसि बहुशो वेषधुमतीं--

रहस्यालयायीव स्वनसि न्यु कर्णान्तिकचरः ।

करी व्याधुपत्या पिशसि रतिसर्पस्वगधरं--

ययं तत्वान्नेपान्मयुकर हतास्यं खलुकृती !

—शाकुन्तल, अङ्क १।२२

उसकी जितनी प्रशंसा की जाय सब कम ही है। यद्यपि इसके आरम्भमें 'चलापाङ्गं दृष्टिम्'
ऐसा पाठ मुद्रित पुस्तकोंमें और आधुनिक टीकाओंमें मिलता है, किन्तु यह पाठ नितान्त अतृप्त है।
इस पाठसे "एष अयाङ्गनाले कोपते नेत्रोंको हृता है" यह अर्थ होता है, और ऊपर लिखित

पाठसे “चञ्चल कटाक्षपूर्वक देखा गया कौपवी शकुन्तलाको लूटा है” यह अर्थ होता है। अब मत्पस्थ बनकर निष्पक्षतासे सहृदय निर्णय करें कि नायिकाके नेत्रोंको देखना और कटाक्षपूर्वक नायिकासे देखा जाना इन दोनोंमेंसे रस-शास्त्र सिद्धान्तमें अधिक सुकृतका फल कौनसा होना उचित है। दूसरी बात यह कि यहाँ अलङ्कारोंको भरमार कैसी है।

वत्पद्मभूत वैशिष्ट्यकी सहायता पाकर स्परहितसे आलिङ्गनेच्छाकी अनुमिति व्यङ्ग्य है। सुतराम्, अनुमानालङ्कार स्पष्टय होता है। “रहस्याएषामीव” यहाँ अतिशयोक्त्याच्य स्वरूपोपमेता है, और “शुद्धकर्णान्तिकचर” से जुग्यनेच्छाकी अनुमिति होनेसे भी अनुमानालङ्कार स्पष्टय है। अमर-पद्यमें “यन्तिक” पद स्वारस्यसे “नेत्र है कि नीलोत्पल है” यह सन्देहालङ्कार भी व्यक्त होता है, “रतिसर्वस्य” पदसे अनुमेयोक्तिमूलक निरङ्ग अनेद रूपक है। और “पिबसि” पदका यद्यदि “पी रहा है” यह अर्थ है तथापि “पीनेको व्यग्र है” यह अर्थ ही वर्तमान सामोप्य मानकर होना उचित है, क्योंकि सहसा पानमें “करी व्याधुवत्या” इन दो पदोंका भाव बाधक हो रहा है। इन दो पदोंसे शकुन्तलाका मुग्ध वल वस्तुव्यङ्ग्य है और पान-सम्बन्ध न होनेपर भी “पिबसि” द्वारा पान-कथनसे अस्मन्धर्म सम्बन्धमूलक अतिशयोक्ति अलङ्कार है, तथा अमरमें “स्पृशसि, स्वनसि, पिबसि,” इन तीन क्रियाओंके अन्वयमे कारक दीपक अलङ्कार है। यहा सन्देह द्वितीयानुमानका अङ्ग है। दोनों अनुमान, उपमेता, अतिशयोक्ति, रूपक, ये पाचो परस्पर निरपेक्ष होनेसे इनकी सृष्टि है, किन्तु कारक दीपकमें सब अङ्ग होनेसे संकीर्ण हुए। अमर—व्यापारमें हठ कामुक व्यवहारके आरोपसे हुई समासोक्तिमें साङ्ग दीपक अङ्ग है, चतुर्थ पादोक्तअमरके वृत्तिधर्मों पूर्व चरणत्रय वाक्यार्थकी हेतुतासे वाक्याधहेतुक काव्यलिङ्गारमें समासोक्ति अङ्ग हुई है। “हताश” शब्द द्वारा व्यञ्जित व्यतिरेकमें काव्यलिङ्ग अङ्ग हुआ है—ये सब गद्गला अङ्ग हुई हैं त्रिप्रलम्भ मेद पूर्वरागमें। व्यङ्ग्योंका यह सङ्घर्ष भरतागम मामिकोंसे तिरोहित नहीं है।

उक्त रीतिसे ही इस नाटकमें आगे एवम् “विक्रान्तोर्वशी” तथा “मालविकाऽग्निमित्र” में भी कविकी बहुदृशिता पदे पदे प्रतिपन्न होती है। समष्टि दृष्टिसे अन्य कवियोंकी अपेक्षा इनका उपमा-लङ्कार स्वभाव सुन्दर होता है। इससे भी अधिकतर यह कि इनका प्रसादगुण प्रायः सार्वत्रिक प्रशंसनीय है, जो कि प्रसादक प्राप्त है।

--फलत इनकी कविता द्वाद्यापाकशालिनी है यह निर्विवाद है।

कालिदासकी सूक्तियाँ

(डॉक्टर पंडित अनरनाथ झा, एम० ए०, डी० लिट०)

विक्रमके नवरत्नों के अमूल्य रत्न कविकुलगुरु कालिदासने अपने काव्य-चमत्कारसे समस्त संसारमें ख्याति प्राप्त की है। दूर-दूर देरोंमें, जना भाषा, भाषियोंने इनके अर्थोंको पढ़कर, उनका रसावादन कर, इनके गुणोंसे मुग्ध होकर, इनकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है। इनके पद-कालित्य, इनके चना-चातुर्य, इनकी कल्पनाशक्ति इनके प्रकृति-वर्णन, इनके चरित्र-चित्रण, इनके काव्यको सरसता तथादि गुणोंका गान सुनकर भारतवर्षका प्रत्येक निवासी प्रफुल्ल होता है परन्तु कालिदासमें विचार-गमभीर्य भी है, उनके पदोंसे उपदेश भी मिलता है, उनकी उक्तियाँ आज भी हमारा पथप्रदर्शन करती हैं। इन वाक्योंमें संसारका अनुभव है, जीवनके बहुमूल्य सिद्धान्त हैं। यहाँ कुछ ऐसी श्रेष्ठ संग्रह किया गया है जिनके पढ़नेसे और जिनके अनुसरणसे हम आज भी लाभ उठा सकते हैं। पचास उक्तियाँ पाठकोंकी सेवामें उपस्थित की जा रही हैं।

- (१) एकी हि दोषो गुणसत्तिपाते निमज्जतान्दोः किरणोत्पिवाङ्कः ।
(जैसे चन्द्रमाकी ज्योतिमें उसका कलंक छिप जाता है, वैसे ही गुणोंके समूहमें एक दोष भी छिप जाता है ।)
- (२) क्षुब्धेऽपि नूनं शरथं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसा सतीव ।
(शरणागत क्षुब्ध जनके प्रति भी महात्माका ममत्व-भाव बढी रहता है जो सज्जनके प्रति ।)
- (३) विकारहेतौ सति विक्रियन्ते मेधा न चेतारि त एव धीराः ।
(यथार्थमें धीर पुरुष तो वे ही हैं जिनका चित्त विकार उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियों में भी विपर नहीं होता है ।)
- (४) शाम्येव प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ।
(दुष्टको उपकारसे नहीं, अपकारसे ही दान्त करना चाहिए ।)
- (५) विषवृषोऽपि संबर्ष्यं स्वयं क्षेत्तु मसाम्प्रतम् ।
(अपने हाथसे सींचे हुए विष-वृषको भी अपने ही हाथसे काटना उचित नहीं है ।)
- (६) न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोद्यथे मूर्च्छति मारुतस्य ।
(पायु पैदको जड़से उखाड़ सकता है, पर पहाड़को नहीं हिला सकता है ।)
- (७) शब्देण स्वयं बदशम्परणं न तपशः शब्धमूर्ता पियोति ।
(जिसकी शब्दोंसे रक्षा हो ही नहीं सकती है, उसकी यदि शब्धधारी रक्षा न कर सके तो इससे नका अपयत्न नहीं होता है ।)
- (८) पथः क्षुत्तेशंयितार ईरयरा मलीमसामाद्दते न पदतिम् ।
(पवित्र मार्गके प्रदर्शक देवतामाय स्वयं पापमार्गका अनुसरण नहीं करते ।)
- (९) पदं हि सर्वत्र गुणोर्विप्रोवते ।
(गुण सब स्थानोंपर अपना आदर करा लेता है ।)

- (१०) प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ।
 (महात्माओंके क्रोधकी शान्ति उनको प्रणाम करनेमें होती है ।)
- (११) आदानं हि विमर्गाय सर्वा वारिमुचामिव ।)
 (बादलोंके समान स्वर्गन भी जिस पशुका प्रदण्य करते हैं उसका दान भी करते हैं ।)
- (१२) निर्गलिताम्बुगमं सरस्वनं नावन्ति चातकोडपि ।
 (चातक भी सरसूके सूने घाटलये आतनाद नहीं करता है ।)
- (१३) सूर्ये तपस्यावरयाय दृष्टेः कल्पित लोकस्य कथं तमिस्राः ।
 (जब सूर्य वीक्षमान हो तब लोगोंकी आँसूके सामने अँधेरा वैसा छा सकता है ।)
- (१४) उष्णवमन्यातपसंनियोगाच्छैश्वर्यं हि क्वासा प्रवृत्तिजंलस्य ।
 (धूपसे अथवा आगसे पानीमें उष्णता आ जाती है परन्तु शीतलता ही इसको बयार्थ प्रकृति है ।)
- (१५) भवितव्यवानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।
 (भावीको सर्वत्र द्वारा खुला मिलता है ।)
- (१६) किमिव हि मधुराणां मयदनं नाकृर्नानाम् ।
 (जो स्वयं सुन्दर है उसका सौन्दर्य किमी बरतसे नहीं बढ़ जाता ।)
- (१७) सती हि सन्देशपदेषु वस्तुषु प्रमाद्यमन्तःकरणं प्रवृत्तयः ।
 (सन्देशमें सञ्जनके अन्तःकरणकी प्रकृति ही स्वयंका निर्देश करती है ।)
- (१८) न प्रमादरत्नं ज्योतिरदिति वस्तुधातलात् ।
 (उत्तम वस्तुकी उत्पत्ति स्थान उच्च स्थानसे ही होती है—विद्युत्की ज्योति पृथ्वीतलसे नहीं उत्पन्न होती ।)
- (१९) अहृताधंसिपि मलसिन्धे रतिमुभयप्रार्थनां कुरते ।
 (प्रेम यद्यपि विफल भी हो सों भी एक दूसरेकी उर्ध्वरसे प्रयत्नता होती है ।)
- (२०) कामी स्वर्ता परवति ।
 (प्रेमी सब वस्तुओंको अपने अनुकूल ही समझता है ।)
- (२१) लभेन वा प्रार्थयिता न वा धियं कुरापः कथमपिप्रतो भवेत् ।
 (प्रार्थना करनेपर संभव है धी मिले वा न मिले, परन्तु जब धी स्वयं कोई कुर्या प्रकट करे तब उनके प्राप्त करनेमें क्या कठिनता हो सकती है ?)
- (२२) ग्लपयति यथा शराद्धं न तथा हि कुमुदतीं दिवसः ।
 (दिनको कुमुदिनीके फूलका इतना दास नहीं होता है जितना चन्द्रमाका ।)
- (२३) दृष्टप्रयामजनितामप्यलाजस्य दुःखानि नृत्तमतिमात्रमुदु महानि ।
 (प्रेमीके प्रयामसे अकलाको अयस्य कष्ट होता है ।)
- (२४) गान्धर्वि (गुन्धर्वि) विरहदुःखं दुग्धं आग्रायन्धो महापतिं (साहयति) ।
 (कठिन विरह भी मिलनकी आशासे मर हो जाता है ।)
- (२५) अनुभवति हि मूर्तां पदपरतोमनुप्यं
 शमयति परितार्थं ह्यावया संधिनानाम् ।

(वृक्ष अपने शिरपर गरमी सह लेता है, परन्तु अपनी छायासे धीरे-धीरे गरमीसे बचाता है ।)

(२६) भवति नम्रास्तरवः फलोद्भूतैर्नद्यामुभिर्भूरि विलम्बिनो घनाः ।

अनुदताः सख्यया समृद्धिभिः स्वभाय एवैव परोपकारिणाम् ॥

(फलके आनेसे वृक्ष मुड़ जाते हैं, नय वर्षाके समय बादल मुक जाते हैं; सम्पत्तिके समय सज्जन नम्र होता है—परोपकरियोंका स्वभाव ही ऐसा है ।)

(२७) वनस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ।

(सूर्यके प्रकाशयान् रहते अंधकार कैसे फैल सकता है ।)

(२८) हंसो हि श्रीरमादरो तन्निश्रा चर्जल्पः ।

(हंस दूध निकल लेता है और उसमें लिले हुए पानीकी छोंड देता है ।)

(२९) प्रसादसौम्यानि सती सुदृजने परंति चक्षुषि न दारुणाः शराः ।

(सज्जन अपने मित्रोंपर कृपाकी दृष्टि डालते हैं, शरीकी वर्षा नहीं करते ।)

(३०) उच्छेर्षु प्रभवति यत्र सप्तसप्तिस्रैशं तिमिरतपाकरोति चंद्रः ।

(रातका जो अंधकार दूर करनेमें सूर्य^१ शक्तमर्थ है, उसे चंद्रमा दूर करता है ।)

(३१) प्रायः स्वं महिमानं बोधात्प्रतिपद्यते हि जनः ।

(प्रायः उतेजित होनेपर मनुष्य अपनी महत्त्व प्रदर्शित करता है ।)

(३२) पूर्वावधारितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ।

(पूर्वमें तिरस्कृत सौभाग्य दुःखमें परिवर्तित हो जाता है ।)

(३३) सज्जनसि शिरस्थन्धः चित्ता धुनोत्पदिशङ्कया ।

(सौंपकी आवाजासे अंधा मनुष्य शिरपर डाली जानेवाली माता फेंक देता है ।

(३४) मेधाश्लोके भवति सुप्रिनोऽप्यन्यथावृष्टि चेतः

करुणारक्षेपभण्डनिनि जने किंपुनर्दूरस्थे ।

(जो सुखी है उनका भी चित्त बादलोंको देखकर शिर नहीं रहता है, फिर जो विरही है उनको तो धात ही क्या ?)

(३५) कामार्थं हि कृत्तिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।

(कामसे जो पुरुष आर्त है वह जीव और जवमें भेद नहीं कर सकता है ।)

(३६) याज्ञा मोघा वरमधिगुण्ये नाथमे लब्धकामा ।

(सज्जनसे निष्फल याचना भी अच्छी, नीचसे सफल याचना भी अच्छी नहीं ।)

(३७) पाशाबंधः कुसुमदृशं प्रायशो हृद्गनायां,

सज्जपाति प्रत्यहिवृषं विप्रयोने रक्षति ।

(विरहमें दन्तिकाके पुष्पसदृश हृदयको आशा ही कुहला जानेसे बचाती है ।)

(३८) न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय

ऽग्रे मित्रे भवति विमुक्तः किंपुनर्यैस्त्वथोद्यैः ।

(शूद्रजन भी जिनसे पहले उपकार किया हो उसके उपस्थित होनेपर उसका सत्कार करना है, फिर सज्जनका क्या कहना !)

- (३६) स्निग्धमाद्य प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ।
 (स्त्रियोंका हाय-भाव प्रेमीके साथ यातचीतका पहला स्वरूप है ।)
 (४०) मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थवृत्त्या ।
 (जिसने मित्रका कार्य सम्पन्न करनेका वचन दिया है वह उसके समाप्त होनेतक ढीला नहीं

पड़ता ।)

- (४१) थापत्रातिपगमनपत्ना सम्पदो ह्युत्तमानाम् ।
 (उत्तम पुरपोंकी सम्पत्तिका मुट्ठा प्रयोजन यही है कि औरोंकी विपत्तिका नाश हो ।)
 (४२) के वा न स्यु परिभयपद निष्पलारम्भयता ।
 (निष्पल बल करनेसे जगमें कौन नहीं हँसा जाता ।)
 (४३) प्राय सर्वे भवति करुणावृत्तिराद्रान्तरात्मा ।
 (सरल हृदय जन होते हैं, बहुधा मृदुल स्वभाव ।)
 (४४) सामन्तिनीनां कातोदन्त सुहृदुपगत सद्गमाकिंचिद्वृत ।
 (पतिके मितनेसे काको जो आनन्द प्राप्त होता है उससे कुछ ही कम आनन्द मित्रद्वारा

पसका सौदेसा पाकर होता है ।)

- (४६) भूतानां हि सृष्टिषु क्षरोप्राद्यसाध्यास्मोक्तम् ।
 (काल सब प्राणियोंके सिरपर है, इसलिये पहले सुराल पूचना चाहिए ।)
 (४६) परमावन्त सुखमुपगतं तु समेकान्ततो वा
 नीचैर्गच्छन्त्युपरि च दशा चकनेमित्रमेण ।

(किसीको केवल सुख अथवा एवमात्र दुख नहीं मिलता-दुख और सुख रथके पहिएकी भाँति कभी ऊपर और कभी नीचे रहा करने हैं ।)

- (४७) रमेक्षानाहु किमपि त्रिरहवशापदस्ते स्वभोगात् ।
 इष्टे वस्तुषुपचितरसा प्रेमराशौ भवन्ति ॥
 (यद्यपि कहा जाता है कि त्रिरहमें प्रेम कुम्हला जाता है, तथापि वस्तुतः वियोगमें प्रेमका प्रयोग न होनेसे यह सचित होकर राशीभूत हो जाता है ।)
 (४८) त्रिशब्दोऽपि प्रदिशति जल याचितश्चातकेभ्य
 प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीषितार्थकिर्यैव ।

(तुम बिना करने हुए भी पावनको चर्चानलसे तृप्त करने हो सम्पन्नका यही स्वभाव है कि बिना कुछ कहे याचरोंकी न ग पूरी करे ।)

- (४९) येषां न स्याद्भिन्नवफला प्रार्थना ह्युत्तमेतु ।
 (सम्पन्नसे की हुई प्रार्थना पत्र सफल नहीं होती ।)
 (५०) पुराणमित्येव न साधु सर्वम् ।
 (कोई वस्तु केवल इस कारण प्राण्य और उत्तम नहीं है कि यह पुरानी है ।)

कालिदासका सन्देश

(श्रीसुत ५० बलदेव उपाध्याय साहित्याचार्य)

अस्पृष्टदोषा नलिनीय रक्षा हारावलीव प्रथिता गुणैः ।

द्विधाङ्गपालीय विमर्दहृदा न कालिदासादपरस्य थाणी ॥

--श्रीकृष्ण कवि ।

महाकवि कालिदास हमारे राष्ट्रीय कवि थे । वे भारतीय सभ्यता तथा संस्कृतिके प्रतीक थे । इस विशाल तथा विराट् देशकी संस्कृति कालिदासकी वाणीमें धौलती है तथा उनके नाटकोंमें छपना मनोहर भव्य रूप दिखलाकर मानवमात्रका मनोरंजन करती है । अँगरेजोंके प्रथम सभाग-मके समय आज़से लगभग दो सौ वर्ष पहले यह भारतवर्ष संसारकी दृष्टिमें संस्कृतिविहीन अन्धकारपूर्ण देश समझा जाता था, परन्तु कालिदासके 'अभिज्ञानशाकुन्तल' ने ही भारतके प्रति विश्वका आदर जगानेका श्लाघनीय कार्य किया । आज़से ठीक १५५ वर्ष पहले सर विलियम जोन्सने शाहजहाँकी अनुवाद अँगरेज़ी भाषामें किया तथा इसी अनुवादका जर्मन भाषामें अनुवाद जोर्ज प्रोरेस्टने दो साल पीछे सन् १७६१ में किया । इसी अनुवादको पढ़कर जर्मनीके सर्वश्रेष्ठ महाकवि गेटेने छपना जो हृदयोद्धार प्रकट किया था वह साहित्यके प्रेमियोंसे छिपा हुआ नहीं है । केवल संस्कृतके ज्ञाता परिचयजन इस संस्कृतानुवादको पढ़कर उस विदेशी कविके अभिप्रायको भली भाँति समझ सकते हैं--

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्

पदान्यगमनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।

पूर्वाभूतममृतपूर्वमथवा स्वर्लोकमूलोकयो--

रैश्वर्यं यदि बाण्डुलि पियसके ! शाकुन्तलं सेष्यताम् ॥

इस अनुवादाने हमारा बड़ा उपकार किया । पाश्चात्य जगत्ने भली भाँति समझा कि भारतीयोंकी संस्कृति बड़ी उँची है तथा हृदयके कोमल भावोंको प्रकट करनेकी निपुणता उसके कवियोंमें विशेष है । इस प्रकार कालिदासका ज्ञान हमारे ऊपर पहुँच ही अधिक है ।

हमारी राष्ट्रीय भावनामें और विश्व-कल्याणकी भावनामें किसी प्रकारका विरोध नहीं है । भारतीय कवि राष्ट्रका महान् वाहता है और उसके साथ ही साथ वह संसारकी महान्-कामना भी किया करता है । कालिदासके काव्योंमें इस सामञ्जस्यका मनोरम रूप दृष्टिगत होता है । इस महाकविकी वाणीमें जिस प्रकार आदि कवि वास्तविकी रसमयी धारा प्रवाहित होती है उसी प्रकार गीता तथा उपनिषद्का अध्यात्म ज्ञान भी मन्त्रुल रूपमें अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है । भारतीय अधिपतियोंके द्वारा प्रचारित चिरन्तन तथ्योंको मनोभिराम शब्दोंमें भारतीय जनताके हृदयमें उतारनेवा कालिदासकी कविताने सुचारु रूपसे किया है । इस कविताका प्रत्येक मानव हृदयकी शोध

प्रवृत्तियों तथा भावोंका आसन्नन लेकर दिया गया है। यही कारण है कि इससे भीतर ऐसी उर्दीस उदात्त भावना विद्यमान है जो भारतीयोंकी ही नहीं, प्रत्युत मानव जातिको सदा प्रेरणा तथा स्फूर्ति देती रहती। इस भारतीय कविकी वाणीमें इतना रस भरा हुआ है, इतना श्रोज भरा हुआ है कि दो महत्त शब्दोंके श्रोज कालने में उनमें किसी प्रकारका फीरपन नहीं घाने दिया। उसकी मधुरिमा आज भी उर्दी पकार मनुकोंके हृदय रमभव करती है जिस प्रकार उसने अपनी उत्पत्तिके प्रथम क्षणमें किया था। वैदिक धर्म तथा संस्कृतिका जो भव्य रूप इन काव्योंमें दिखाई देता है वह नितान्त सजीव है। मानव परस्परके लिये इन काव्योंमें मधुर शब्दोंमें स्थान-स्थानपर उपदेश भी दिष्ट गण हैं। अलङ्कार मानव समाज परस्पर कलह तथा बैमनस्यमें छिन्न-भिन्न हो रहा है। प्रथम समरानलके भीतर संसारकी अनेक जातियाँ अपना चरचर शब्द कर रही हैं। विश्व नितान्त उद्विग्न है। मानवताके लिये यह महान् सङ्कटका समय है। विचार करनेकी बात है कि कालिदास क्या इस समयमें भी कोई सन्देश देते हैं।

मानव-जीवनमें कैरारयनाइके लिये स्थान नहीं है। जो लोग इसे मायिक दालाकर नि सार तथा चर्य मानने हैं उनका कथन किसी प्रकार प्रामाणिक नहीं है। जो जीवन हम बिता रहे हैं तथा जिससे हम अपना अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं उन्हे सारहीन क्यों मानें ? कालिदासका कहना है कि देहधारियोंके लिये मरण ही प्रवृत्ति है, जीवन तो विवृत्तिमात्र है। यदि जन्म धास लेता हुआ एक पाण्डके लिये भी जीवित है तो यह उसके लिये लाभ है—

मरणं प्रवृत्ति शरीरिणां निवृत्तिर्जीवितमुच्यते पुनः ।

पण्यमप्यतिष्ठते श्वयसम् यदि जन्तुर्भु लोभायानसी ॥

—रघु- म ७

इस जीवनको मत्तान् लाभ मानना चाहिए तथा इसे सफल बनानेके लिये श्रयं, धर्म तथा कामका सामञ्जस्य उपस्थित करना चाहिए। इस निरयमें धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। विषयसार प्रवि-भाति भासिनि—कुमार० ३।३८ परन्तु श्रयं और काम अपनी स्वतन्त्रता और सत्ता बनाए रखनेके लिये धर्म विरोध करने रहते हैं। धर्मको दबाकर श्रयं अपनी प्रथलता चाहता है और धर्मको धास्त-कर काम भी अपना प्रमान जमाना चाहता है। हम विश्वमें आज धर्म-विरोध श्रयं और कामका मज मृत्य हो रहा है। धर्म कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु मगधम् धाट्टयके शब्दोंमें 'धर्मसे अविरुद्ध काम' मगधान् ही विभूति है। कालिदासने अपने काव्यों तथा नाटकोंमें 'धर्माविरुद्ध कामोऽस्मि लोकेषु भरतर्षभ'—इस गीत प्रत्यय अनेक प्रकारसे प्रसारित की है।

मदन दहनका स्वरूप यही है। मदन चाहता है कि पार्थीकके सुन्दर स्वरुका आश्रय लेकर समाधिनिरत शङ्करके हृदयर पीट करे। गृहविमें वसन्तका आगमन होता है। जना हृदयर मूल मूलवर अपना क्रम जताने लगती है। एक ही कुमुदागमें धमती अपने सधरके माप मधुपान करती हुई मत्त हो जाती है तथापिडे समान मदन संसारकी प्रल करने लगता है। यह अपनी धाकीवा बनाता है और शङ्कर पर ध मत्त कर देता है। जलकुंके पहनाय, धात्विक मद्दलका नाम शङ्कर है। विश्व परस्पर मदनही उपायनामें नहीं है, मधुग उसके धर्म-विरोधी रूपके दधानेमें है। काम अपनी प्रकृता चाहता है। विश्व-कदवापर अपना मदन काय पोडता है। शङ्कर

अपना तृतीय नेत्र खोलते हैं। तृतीय नेत्र ज्ञाननेत्र है। यह प्रत्येक मनुष्यके भ्रूमध्यमें विद्यमान है। परन्तु सुप्त होनेसे हमें उसके अस्तित्वका पता नहीं चलता। शङ्करका यह नेत्र जाग्रत है। इसी ज्ञानकी ग्याजामें मदनका दहन होता है। धर्मसे विरोध करनेवाला काम भस्मकी राशि बन जाता है। शङ्करकी वशमें करनेके लिये पार्वतीकी तपस्या करती है। धर्म सिद्धिका प्रधान साधन है— तपस्या। बिना अचना शरीर तपाय तथा बिना हृदय-रिचत दुर्वासना जलाय धर्मकी भावना जागरित नहीं होती। कालिदासने कामका जलगा दिखाकर यही चिरन्तन तप्य प्रकट किया है। पार्वतीने घोर तपस्या करके अपना अभीष्ट प्राप्त किया। इस प्रकार कालिदासकी दृष्टिमें काम तथा धर्मके परस्पर संघर्षमें एमें कामको दबाकर उसे धर्मानुकूल बनाना ही पड़ेगा। लज्जा करवाया इसी भावनामें सिद्ध होता है।

व्यक्ति तथा समाजका गहरा सम्बन्ध है। व्यक्तिकी उन्नति वाञ्छनीय वस्तु है, परन्तु इसकी चारुतिक रिघति समाजकी उन्नति पर अवलम्बित है। व्यक्तियोंके समुदायका ही नाम समाज है। कालिदास वैयक्तिक उन्नतिवा श्रेयका सामाजिक उन्नतिके पक्षपाती है। उनका समाज श्रुति स्मृतिवा पद्धतिपर निर्मित समाज है। वह त्यागके लिये धन इकट्ठा करता है। सत्यके लिये परिमित भावण करता है। उसके लिये विजयकी अभिलाषा रखता है, पाणियों तथा रत्नोंको पदबलिष्ठ करनेके लिये नहीं। गृहस्थोंमें निरत होता है सन्तान उत्पन्न करनेके लिये, ज्ञानवाप्तिकाकी श्रुतिके लिये नहीं। कालिदास-द्वारा चित्रित नरपति भारतीय समाजका अनुकरणीय आदर्श उपरिष्ठ करते हैं। वे शैशवमें विद्याका अभ्यास करते हैं, यौवनमें विषयके अभिलाषी हैं, वृद्धावस्थामें मुनिश्रुति धारणकर सारे पपजसे मुँह मोड़कर निवृत्ति मार्गके अनुयायी बनते हैं तथा अन्तमें योगद्वारा अपना शरीर छोड़कर परमपदमें लीन हो जाते हैं। यह आदर्श भारतीय समाजकी अपनी विशेषता है—

स्तगाय सभृताधार्मी सत्याय मितभाषिणाम् ।

यशासे विजिगिषूर्णा प्रलापी गृहमेघिनाम् ॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।

वार्धके मुनिवृत्तानां योगेनाप्ते तनुत्यजाम् ॥

—रघुवंश, १७-८

उपनिषदोंमें धर्मके तीन स्कन्ध प्रतिपादित हैं—यज्ञ, अध्ययन, और दान। इनके अतिरिक्त 'तप' की महिमासे भारतीय धार्मिक साहित्य भरपूर है। कालिदासने इन स्कन्धोंका विवेचन शान्तिस्थानपर गयी ही मनोरम भाषामें किया है। यज्ञका महत्त्व वे स्वीकार करते हैं। पुरोहित यज्ञके रहस्योक्ता ज्ञाता होता है। राजा दिलीप यह बात भलीभाँति जानते हैं कि बलिष्ठोंके यथा-विधि सम्पादित होमद्वारा जलकी ऐसी वृष्टि होती है जो थकाहसे सूखसे शक्यको हराने-भरा कर देती है—

हविरावर्जितं होमस्यया विधियद्गन्धुः ।

वृष्टिर्भवति शरयानामवग्रहविशोषिणाम् ॥

—रघु० ११६२

नरराज तथा देवराज—दोनोंका काम परस्पर सदायोगसे मानवोंकी रक्षा करना है। नरराज (धर्मको दूहकर—उससे सुन्दर वस्तुएँ प्राप्तकर यज्ञ सम्पादन करता है और देवराज इसके बदलेमें शरय

उत्पन्न होनेके लिये आकाशको दूधपत्र पुच्छक पृष्टि करता है। इस प्रकार ये दोनों अपनी सम्पत्तिका विनिमयकर उन्मथ सौररा कल्याण करते हैं—

दुन्देह गां स यज्ञाय शस्याय भवया दिवम् ।

सपद् विनिमयेनीभी वधनुकुंभनद्वयम् ॥

—रघु० १।२६

यज्ञपूत जलके द्वारा अनेक अलौकिक पदार्थोंकी सिद्धि हमारे महाकवि यज्ञो ध्यात नहीं होते। समाज आदान प्रदानकी मिलिपर अत्यन्त प्रवृत्त है। धनी-मानी व्यक्तिका संचित धन केवल उन्हींकी आवश्यकता धरकर व्यसन पूरा करनेके लिये नहीं है, 'स्युत उसका सदुपयोग उन निर्धनोंको उद्धार-प्राप्ता शान्त करनेमें भी है जो समाजके विशेष अन्न हैं। घृष्टद्वारव्यक्त उपनिषद्में इनकी चोटी कहा गया है कि देवी वाग् मेघमार्जनके रूपमें सदा सुकारनी है—दान्यत (अपनी इच्छियोंको यशमें रखो) दत्त (दान दो) तथा दयधम् (दया करो)। यदि हम लोग इस देवी चार्पाकी पुकार सुनकर भी धनसुनी कर देते हैं तो यह अपराध हमारा है। दानके बिना समाज विध्वंसित होकर ध्वस्त हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं। कालिदासने रघुवंशके प्रथम सर्गमें दानका यज्ञ ही उद्गमल दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वरान्तुके शिष्य कौण्डिन्यके लिये तप रघुने पास आते हैं जब उन्होंने धर्मकी सारी संचित सम्पत्ति यज्ञमें दे डाल है। रघु अतारापुत्री पर चढ़ाई करके यज्ञराज कुशले धन पानेका उद्योग करते हैं। इतनेमें के पत्नी मंगेकी पृष्टि होती है। राजाका आग्रह है कि शिष्य संपूर्ण धन ले जाय और उधर निरपेक्षा आग्रह है कि वह अपने काममें अधिक एक लक्षों भी न लूटूँगा। दाता और ग्रहीताका यह आग्रह और उद्योगक पक्ष है। यह द्वेष इय भारत-भद्रोंके इतिहासमें भी दुर्लभ है, धर्म देनांकी तो कथा ही क्या।

तप भारतीय संस्कृतिका मूल मन्त्र है। इसकी आराधनामें मनुष्य अपनी सारी धाननाओंकी ही पूर्ति नहीं करता अपुन परोपकारके यथायत्न योग्यता भी ध्यान करता है। तपकी महिमामें हमारा साहित्य भरा पड़ा है। कालिदासने इसका महत्त्व यद्ये ही भव्य शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है। मदन-दूतनके अनन्तर मन्मथनोरथ पार्यंताने तपको ही अपना एकमात्र शयनस्थान बनाया। जगत्की समस्त आशाएँ द्योदधर के इगरी सिद्धिमें खस गईं। उनकी तपस्या इतनी फटोर था कि कठिन शरीरमें उपार्जित मुनिधोका तपस्या उसके समने विमान्त प्रगर्भित तथा प्रभापरिधित जान पड़ती थी। प्रकृतिके माना प्रकारके विषम कष्ट भेगकर ये अपनी धामना-सिद्धिमें मग्न हो गईं। कालिदासने पार्यंताने तपका रहस्य विशेष रूपमें प्रकट किया है—

द्वेषे स्या कुंभपच्यरपती समाधिमारथाय तपोभिरात्मनः ।
अथाप्यते वा कथनान्यथा इयं तथाविधे स्तन पतिभ्यः कारसा ॥

पार्वतीकी तपस्याका फल था—'तथाविधं प्रेम', अलौकिक उत्कट कोटिका प्रेम और 'तादृश-पतिः' उम गङ्गाका, सृष्टिको जीतनेवाला महादेवका, पति जगत्के समस्त पति सृष्टिके वश हैं, सृष्टिजय एक ही व्यक्ति है। महादेव ही सृष्टिको भी जीतकर अपनी स्वतन्त्र स्थिति धारण कर सदा विराजते हैं। आज तक कोई भी कन्या सृष्टिजयको पति रूपमें पाने में समर्थ न हुई। और वह प्रेम भी कैसा ? कालिदासने 'तथाविधं' शब्दके भीतर गम्भीर अर्थकी अभिव्यञ्जना की है। शङ्करने पार्वतीको अपने मस्तकपर स्थान दिया है। आदरकी भी एक सीमा होती है। पत्नीको इतना उच्च स्थान प्रदान करना सत्कारका महान् उत्कर्ष है, आदरकी पराकाष्ठा है। अन्य देवताओंमें से किसने अपनी पत्नीको इतना गौरव नहीं प्रदान किया। भारतीय कन्याओंके लिये गौरीकी यह साधना अनुकरणीय पस्तु है। यही कारण है कि हमारी कन्याओंके सामने एक ही महान् आदर्श है और वह है पार्वतीका। भारतीय समाजमें गौरीपूजाका रहस्य इसी महान् स्वाध्यायके भीतर छिपा हुआ है। तपस्याने गौरीको इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। तपस्या करनेवाले ऋषियोंके भीतर विचित्र तेज छिपा रहता है। वे स्वयं शान्तिमें रहते हैं, सूर्यकान्त मणिकी भाँति वे छुनेमें सफे कोमल हैं, परन्तु दूसरे तेजके द्वारा अभिभूत होते ही वे जलता हुआ तेज धमन करते हैं। वे किसीकी धर्षणा सह नहीं सकते। यही तपस्याका प्रभाव है—

शमयथानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।

परशानुकूला इव सूर्यकान्तास्वदन्वतेजोऽभिभवाद्ममन्ति ॥

—शाकुन्तल, २७

आजकलकी समस्त-ज्वालामें दग्ध होनेवाले संसारके लिये कालिदासका सन्देश विशेष रूपसे उपादेय है। विश्व-मानवोंको चाहिए कि यह सुन्दर सन्देश सुनकर अपने जीवनमें उसका वर्तान करें। इस सन्देशको हम तब तक तकरादि शब्दोंमें प्रकट कर सकते हैं—स्वायं, तपस्या तथा तपोवन। विश्वकी शान्ति भंग करनेवाली वस्तुका नाम स्वार्थपरायणता है। समस्त जातियों अपने पदपत्नका स्वयं देवता हुई अपने कुछ स्वार्थकी सिद्धिमें निरत दिखाई पड़ती हैं। भयानक संघर्षता यही निदान है। इसका निवारण स्वायं और तपस्याकी साधनाके बिना कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। पाश्चात्य जगत्ने नगरको विशेष महत्त्व दिया और उसका अनुकरण करके पूर्वी जगत् भी नागरिक सभ्यताको उन्नतनामें दृष्टिकर दो थला। परन्तु कालिदासकी सम्पत्तिमें तपोवनकी गोदमें पत्नी हुई सभ्यता मानवका सदा भंगल कर सकती है। जितने हमारे देशको भारतवर्ष जैसा मन्तुल नाम प्रदान किया उस ही-वन्ति भरतका जन्म मन्दीयके आश्रममें हुआ। गोपारणका फल रघुके जन्मके रूपमें प्रकट हुआ। त्रिलोकने अपनी राजधानीका परित्याग कर वसिष्ठके आश्रममें निवास किया तथा गुरुकी गायकी विधिगत् परिचर्या की। उसका फल हुआ इन्द्र जैसे पञ्चधारीके मानमर्दन पीरका उद्वेग। तपोवनमें अलौकिक शान्ति तथा शक्तिका साग्रज्य प्राप्त रहता है। प्रकृति निर्मल विषमता दूर कर समताके घनदासमें निरत रहती है। दिव्य पशु भी हमी नैसर्गिक शान्तिके कारण अपनी प्रकृति भूलकर परस्पर मैत्री-भावसे निवास करते हैं। कालिदासकी दृष्टिमें अर्थके पक्षमें पथने-मनेवाला जीव दयाका पात्र है। सुगमं भ्रामण जीवको तापम उमी दृष्टिये देवता है जिसने नैस-मर्दन कानेशले व्यक्तिकी रान किया हुआ व्यक्ति, अशुवि की शुधि, सुप्त स्थितिको प्रसुप्त, पञ्च पुत्रको स्वप्नद गतिवाला पुत्र—

कालिदास और प्रकृति

[व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री पंडित श्री कृष्णापति त्रिपाठी, एम्.ए. (हिन्दी-संस्कृत),
वी० टी०, प्रो० काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय]

विश्वके विशाल साहित्यमें रोमंसफिरको लोग अन्तर्जगत्का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार मानते चले आते हैं और कालिदासको यादव जगत् का। बाह्य जगत्के चित्रणमें, प्राकृतिक वर्णनमें कालिदासने जो मनोरम काव्य रचना की है, वह साहित्य-जगत्में अद्वितीय है। इनके प्रकृति-वर्णनमें इतनी सजीवता है, इतनी रमणीयता है तथा इतनी भव्यता और स्वाभाविकता है कि पाठकों और श्रोताओंके मन बरबस ही उनमें रम जाते हैं। उनके प्रकृति-प्रेमका अनुमान गेवदूतके इस एक ही श्लोकसे लगाया जा सकता है—

हस्ते लीलायमलमलके घालकुन्दानुबिर्ल

नीता लोचप्रसपरजसा पाण्डुतानानने श्रीः ।

चूटापाशे नयकुरवके चारु कण्ठे शिरीषं

सोमन्ते च स्वदुपगमनं यत्र नीपं पद्मनाम् ॥

—उत्तरमेघ, २ ।

इस श्लोकमें जो वर्णन है वह शकुन्तला जैसी किसी तपोवनवासिनी खीन्हा बचन नहीं है बरन् धनपति सुबेरकी उस घल्लकापुरीकी यक्षिणियोंका वर्णन है जहाँ महापद्म आदि नवों निधियों सदा गिरास करती हैं, जहाँकी भूमि मणिकी बनी है, जहाँ गगनचुम्बी प्रासाद खड़े हैं, जहाँ सित-मणिके हर्म्यस्थल हैं, कनकमय सिंघता है, अमर-गार्धित पक्षकन्याएँ जहाँ दिनरात मणिकोंसे खेल खेल करती हैं, रात्रिमें जहाँ रत्न-प्रदीप जला करते हैं, चन्द्रकान्ताशिलाओंका बाहुल्य है, जहाँके शालाओंकी सौन्दर्यो सरकत आदि माणिक्योंकी बनी हैं, हेम-रमलमें बंधुर्ध्व मणिके नाल हैं, हृन्द् नीलके श्रद्धा-शिरार हैं और अन्य सभी बहुमूल्य तथा देवदुर्लभ सम्पत्तियों बिररहे पड़ी हैं। और फिर कल्पवृक्षोंसे समस्त सम्पत्ति और समस्त चिन्तित भी सुप्राप्य है। इतना सब होनेपर भी यहाँकी आभार प्रार्थित अङ्गनाओंके श्रृंगारकी सामग्रियों प्रकृतियों विभूतियों है न कि जड़ भग्नि-शिलाओंके दुर्गहै। यह वर्णन सूचित करता है कि प्रकृतिके पुजारी भानुक कविको अन्तर्महल-रष्टिकी हन प्राकृतिक पदार्थोंमें जो सुपमा लक्षित होती है वह सुपमा रसकुला-पश्चिब कोचनके आगूषणोंमें नहीं दिराई पड़ती।

इस महाकविकी शकुन्तला भी मानो-साक्षात् प्रकृतिकी कन्या है। तपोवनके वायव्य वातावरणमें पाली हुई शकुन्तला जिस समय आधम-तरणोंकी सौचली हुई हनरे सम्भुरा आती है, उस समय आधम-पूषोंके प्रति शकुन्तलाका रनेह ऐसा जान पड़ता है मानो वे उनके सगे सुदुग्धों ही हों। आधम वृक्षोंकी इस भाँति मनोयोग-पूर्ण सेवा करमेकाली शकुन्तला, प्रायेण वृक्षको अनुसारा-

एवंक सीधेपहली शकुन्तला, तपोवनको किन जगताओंमें इन स्तम्भ प्रकट हुए, कब उनमें मञ्जरियों दिखाई पड़ीं, इन सब बातोंका प्दानपूर्वक निरीक्षण करनेवाली कल्प-कालिका शकुन्तलाका अद्भुत प्रकृति-प्रेम उस समय लक्षित होता है यह स्वयं महर्षि कल्प जाती हुई शकुन्तलाको निर्दिष्ट करने पृष्ठोंकी ओर देखते हुए कहते हैं—

पार्तुं न प्रथमं व्यपरयति जलं युष्मास्वपीतेषु या
गादत्ते प्रियमपदनाऽपि भयतां स्नेहेन या पदलयम् ॥
आद्ये वः कुमुदप्रसूतिसमये यस्याः भययुत्सवः
स्येयं याधि शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञापताम् ॥

—शकुन्तला, ४।६

शकुन्तलाके इस चरम प्रकृति-प्रेमका प्रभाव यह होता है कि तपोवनके समस्त जड़-पेठन उसके ऐसे अनन्य अनुसारी हो जाते हैं कि उसकी विदारुके समस्त वहाँके वन-देवताओं और तखलाओंने शर्लौविक पखाभूषणादि तक उसके लिये उपहारमें प्रदान कर डाले ।

ऐसा जान पड़ता है कि कबिकुल-गुरुकी समस्त वृत्तियों प्रकृतिके सर्वप्रतिनिरीक्षणमें, उनकी आरम्भिक शयस्थासे ही रम गई थीं । उनका पदसंहार जो उनका आरम्भिक काव्य माना जाता है—प्रकृतिकी मनोहर सुन्दरताओंके सूचक एवं सद्दय निरीक्षणका एक उबलगत साक्ष्य है । यद्यपि आनुषोंका आश्रय लेकर प्रकृतिकी सद्गति विशेषताओंका वर्णन शत्रुसंहारमें उद्दीपन विभावके रूपमें हुआ है तथापि उसका प्रथम श्लोक—

प्रथमपदसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाह्यतवारिसंचयः ।
दिनाम्बरम्योऽभ्युपशान्तमग्मयो निदायफालोऽभ्युपागतः प्रिये ॥

—शत्रुसंहार, १।१

इस मातृका वर्णन प्रमाय है कि सत्त्वतीके जाणवे पुत्र कालिदासके वर्णन, रूद्रियों और सलंकार-शास्त्रीय परम्पराओंके कोरे निर्वाह मात्र नहीं है, परन्तु आत्मानुभूति-जन्य है । फिर—

काशैर्नदी शिशिरदीधितित्ना रज्ज्वो हंसैर्जंघानि सरिता कुमुदैः सरसि ।
सप्तपद्मैः कुसुमभारनसैर्चान्ताः ह्यग्नीकृतान्युपवनानि च माफलीभिः ॥

—शत्रुसंहार, ३।२

यह शब्दका वर्णन कविकी व्यापक दृष्टि और उनके वारतविक तन्म-निरीक्षणका परिचायक है । यद्यन्त-यामुप । वर्णन करते हुए कवि कहता है—

धाक्यपयन् कुमुमिताः सहकारशालाः
विस्तारयन् परमृतरय यचसि दिष्टु ।
यामुर्जियाधि मुदयानि हरसतषां
गोहारपातविणमाद् मुमगो यसन्ने ॥

— शत्रुसंहार, ३।२४

इस वर्णनमें यद्यपि बहुत ही साधारण बात कही गई है तथापि इससे यह सूचित होता है कि और हुए धामके भागमें बैठकर मतवाली कोकिलकी हृक सुनकर अपनी मन-मन निपावर कर

देने वाले कविने ही यह लिखा होगा। इसी भाँति शत्रुसंहारके प्रत्येक सर्गमें छादि और अन्तके शत्रु-वर्णन-विषयक पद्य इतने सरस, सुन्दर और साध ही इतने भव्य हैं कि उन्हें पढ़ते ही या सुनते ही हृदयमें उन शत्रुओंका चित्रसा खिंच जाता है।

कुमार-सम्भव तो प्रकृति-मटीके ललित लास्यकी रमणीय रङ्गशाला है। प्रथम सर्गका हिमालय-वर्णन संस्कृत साहित्यमें क्या समस्त विश्व-साहित्यमें एक देदीप्यमान रत्न है। कुछ उदाहरण लीजिए :—

वशाप्सरो विद्यममण्डनानां सग्याद्विध्रीं शिखरैर्विभर्ति ।
 पसाहकच्छेद्विमक्तुरागामकालसन्ध्यामिव धातुमसाम् ॥ १ ॥
 कपोलकण्ठः करिभिर्विनेतुं विवद्वितानां सरसमुमाग्याम् ।
 यत्र कृतवीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरीति ॥ ६ ॥
 भागीरथीनिर्भरसीकराखां चोडा मुहुः कम्पितदेयदारुः ।
 यद्दयुरन्विष्टसुरैः किरातैरासेभ्यते भिन्नशिखरिद्वर्हः ॥ १२ ॥

ऐसा सुन्दर और स्वाभाविक पर साथ ही साथ सरस वर्णन तबतक सम्भव नहीं हो सकता जबतक कविका हृदय प्रकृतिकी मनोरम लोहाओंकी देखकर मुग्ध न हो गया हो।

आगे चलकर तृतीय सर्गमें पुनः वसन्तका और अष्टम सर्गमें सन्ध्या तथा शत्रुद्वयका वर्णन भी अत्यन्त मोहक है। महाकविकी अनेक विशेषताओंमें यह भी एक विशेषता है कि जहाँ वे एक और प्रकृतिके स्वाभाविक शब्दचित्र-निर्माणमें शतीव प्रवीण हैं, वहाँ वे दूसरी ओर अपनी नव-मतेन्मेपशालिनी कल्पनामयी प्रतिभाके सहारे शारीरिक और दिव्य विभूतियोंका वर्णन भी बड़ी निपुणताके साथ करते हैं। जहाँ एक ओर हिमालयका अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन करनेमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है, वहीं दूसरी ओर शीतप्रसन्न पुरीके, हिमालय-निवासी यक्षों, गन्धर्वों, किन्नरों और यक्षराओंके, बलकाके, सुमेरुके और गन्धमादनादिके काल्पनिक वर्णनमें भी उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्तिके उदाहरण सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। पर्वतके ऋतुओं पर दिनके समय जब सूर्यकी किरणें पड़ती हैं तब उनमें इन्द्रधनुष चमकने लगता है, पर सन्ध्याके समय सूर्यके लटक जानेपर उनमें इन्द्रधनुष नहीं दिखाई पड़ता। इसीका कवि वर्णन कर रहा है—

सोकरन्यतिकरं मतीष्विभिवर्दयवचने विवद्वति ।

इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्भरास्तव पितृमैत्रन्यमी ॥ ८३ ॥

किन्तु ऋतुओंमें इन्द्रधनुषके न दिखाई पड़नेपर भी गालाओंके जलमें लटकते हुए सूर्यकी समतल कान्ति पड़नेसे ऐसा जान पड़ता है मानो उनके ऊपर सोनेका पुल बना हो—

परय पथिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकणे विवस्वता ।

लब्धया प्रतिमया सरोम्भरां तापनीयमिव सेतुपन्धनम् ॥ ८३ ॥

रूदिके अनुसरण करनेवाले कविकी ये उक्तिएँ नहीं हो सकतीं, परन्तु ये उसकी उक्तिमें हैं जो कि मुग्ध दृष्टिसे प्रकृतिकी शोभा देखते हुए सब कुछ भूल जाता है।

इसी प्रकार एतुर्वशमें भी कपोलकण्ठ वर्णन, प्रभात-वर्णन, वसन्त-वर्णन समुद्र-वर्णन आदि भी अत्यन्त हैं—

सेकान्ते मुनिकन्यामिस्तत्प्रद्योम्भितवृक्षकम् ।
विश्रामाय विहंगानामालवालात्सुपायिनाम् ॥

—रघुवंश, ११२१

धृन्ताच्छूलयं हरति पुष्पमनोफहानां
संहर्यते सरसिजैरर्याशुभिर्धै ।

स्वाभाविकं परयुगेन विभातवायुः
सौरभ्यमोत्सुरिव ते मुखमारतस्य ॥

ताम्रोदरेषु पतितं तरुललायेषु
निर्घोतहारगुलिका विशदं हिमाम्भः ।

आभाति लब्धपरभागतवाधरोपे
लोलस्मितं सदशनाधिरेव ध्वर्ज्यम् ॥

—रघुवंश, ११६१-७०

धमदधन् मधुगन्धमनाधया किसलवाधरसंगतया मनः ।
कुसुमसंभृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तदुपारविलासिनी ।

—रघुवंश ११७२

ससत्त्वगात्राय नक्षोमुस्ताम्भः सम्मोक्षयन्तो विमृतानवरवात् ।
धमी शिरोभिस्त्रिमय सरन्ध्रैरूर्ध्वं विलम्बन्ति जलप्रवाहान् ।

—रघुवंश, १२१०

तवाधरपधु विद्मेषु पर्यस्तयेतत्सहसोर्भिवेगात् ।
उर्ध्वार्कुरभोतमुर्धं कथयित्वलेशात्पृष्णमति शंखयुधम् ।

—रघुवंश, १२१३

इसी सर्गमें आगे चलकर गंगा-यमुनाके संगमका कितना सन्निष्ट वर्णन है। सम्भवतः गंगा-यमुनाके संगमका जेसा भग्न चित्र संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध नहीं है। सोलहवें सर्गमें कुशवी जलक्रीड़ाके अवसरपर नदीका तथा मार्गके धन्यान्ध दर्योंका कितना मनोहर वर्णन है। इस प्रकार केवल रघुवंशमें ही प्रकृतिके न जाने कितने खलित एवं मनोरम दर्योंके अत्यन्त कलापूर्ण चित्रात्मक वर्णन भरे पड़े हैं।

मेघदूत तो मानो प्रकृति रमणोंके लाजिवापुर्ण मनोरम विलास-वेष्टाओंका भागार है। पूर्व-मेघमें आरम्भसे लेकर अन्ततक बीसा अनुपम प्रकृतिका वर्णन है। पर्याके आरम्भका एक वर्णन हीजिए :—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्रावुकृक्षो यथा र्थां
यामश्चायं नदति मधुरं चालकस्ते सगन्धः ।

यामाधानद्वयपरिधयान्नुनमापद्माला.

सोयिष्यन्ते नयनमुभयं ये भवन्तं यत्राका. ॥

—पूर्वमेघ, १०

श्रीधम प्रतुके बाद पहले-पहल वर्षाकी बूँदोंके पड़नेपर गरमी भर तपे हुए पत्थरवाले विन्ध्यादि पहाड़ोंसे जो भाप निकलती है उसका वर्णन लीजिए —

काञ्च काले भवति भवतो यस्य सयोगमेव
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहज मुञ्चतो वाप्यमुष्णम् ॥

—पूर्वमेव, १२

इसी भाँति बोंदियोंके ऊपर मकड़ीके जालों और नीचे घास पर पड़ी हुई झोसकी बूँदोंपर या वर्षाकी बूँदोंपर दिखाई पड़नेवाले इन्द्रधनुपके समान इन्द्रधनुषकी छाया पड़नेसे मेवकी कान्ति कैसी हो उठती है—इसे देखिए—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रथमेतसुरस्तात्
पहनीकाप्राथभवति धनु खण्डनाखण्डलस्य ।
येन श्याम वपुस्तितरौ कान्तिमापस्यते ते
सह्येष स्फुरितस्त्रिचना गोपवेपस्य विल्यो ॥

—पूर्वमेव, १२

वर्षाके शारन्भमें जब जलकी बूँदोंके गिरनेपर भूमिसे लौंधी लौंधी गन्ध उठती है उस समय सरस कृपक धालाएँ कितने स्नेहसे श्यामज घन्तुवाहोंकी देखती हैं —

खव्यायत्त कृपिकलमिति भ्रूविलासानभिज्ञै
श्रीतिस्त्रिगर्धेर्जनपद्मभूलोचनै पश्यमान ।
सद्य सीरोक्पणसुरभि क्षेत्रमारुह्य भाहं
किचिपश्चाद्भ्रज लघुगतिर्भूय प्योत्तरेण ॥

—पूर्वमेव, १३

रेवाका वर्णन लीजिए—

रेवां प्रथपरसुपलपिपमे विन्ध्यापादे विशीर्णा ।
भक्तिच्छेदैरिव विरचिता भूतिमङ्गे गजरस्य ॥

—पूर्वमेव, १०

ऊपड़-सायड़ विन्ध्यके निचले भागमें बहती हुई रेवा सजे हुए हाथीके अङ्ग-सी जान पड़ती है । एक और सुन्दर वर्णन लीजिए—

मोषं दृष्ट्वा हरितकपिलां केशरैरर्षस्तै-
राधिभूतप्रथममुपुलाः पद्मलीलासुकरधम् ।
जम्बवारयेत्पिञ्जसुरभि गन्धनाप्राय शोष्णा
सारदास्ते जललघमुच सूषयिष्वन्ति मार्गम् ॥

—पूर्वमेव, २२ ।

इस प्रकार समस्त पूर्वगद्य अत्यन्त भव्य और रमणीय प्राकृतिक दृश्य चित्रोंसे भरा पड़ा है । प्रकृतिक किसी एक अङ्गके नहीं परन्तु समस्त अङ्गोंके वर्णनमें वे पड़े सिद्ध दृश्य हैं । मेघदूतमें

हम देखते हैं कि उनका प्रकृति-वर्णन एक ओर तो प्राकृतिक सुन्दरताओंका शब्द-विभ्राङ्गन है और दूसरी ओर बाह्य जगत्का अन्तर्जगत्के साथ सम्बन्ध दिखानेवाला है। उन प्राकृतिक दृश्योंको देखकर केवल कविके, उसके या अनुमाणित मेवके हृदय भाव ही नहीं पशिये हैं, परन्तु आसवधुसो, पथिकों और निरहियोंके भावोंका भी अत्यन्त मनोरम चित्रण है। इतना ही नहीं, धरन् चातकों, मयूरों, शगुलों तथा हंसोंकी भी उन चेष्टाओंका वर्णन है जिनमें उनकी अन्तरानुभूतियोंकी ध्यायः झलकती है। जन्तु-जगत्की मनोहर चेष्टाओंके चित्रणमें तो कालिदास सिद्ध-दहत हैं। दुष्यन्त माण्य चन्द्राणु हरिष्यके पीछे रथ दौड़ा रहे है और वह गर्दन टेढ़ी कर करके पीछे निहारता और चौकड़ी मारता भाग रहा है, धरु जानेके कारण उसकी राक्ष फूल रही है और मुँह खुल गया है, इस कारण माधी, कूँची हुई शृंग उसके मुँहसे गिर रही है और चौकड़ीकी तेजीसे वह उड़ता सा जान पड़ रहा है--

मीवाभङ्गाभिरामं सुहुरनुपगति स्यन्दने यद्धृष्टिः

पद्मार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनगयाद्भ्रमः पूर्वकायन् ।

दर्भैरर्धावलीदैः श्रमविष्टमसुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्मा

परयोद्भ्रमप्लुततदाद्रियति चतुर्तरं स्तोत्रगुम्फां प्रयाति ॥

—शाकुन्तल, ११०

महाकवि जो कुछ लिखते थे वह उनकी वैयक्तिक अनुभूति और निरीक्षणका परिणाम होता था। शाकुन्तलके प्रथम अङ्कमें तपोवनकी जिन परिपूर्य विरोधताओंका कविने वर्णन किया है, वे मानो उनके अनेक धारके देखे हैं—

मीवाराः शुकगर्भकोटरमुत्तभ्रष्टास्तस्त्वामधः

प्रतिगन्धाः वपचिद्रिगुदांफलभिन्ः सूर्यन्त एषोपलाः ।

विधासोपगमाद्भिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-

स्तोयाधारपथाश्च वपकलशितानिर्पदरेखाङ्कितः ॥

—शाकुन्तल, १११

दृश्याभोभिः प्रसृतिचपलैः शारिनोर्धोवमूलाः

भिन्नो रागः क्लिप्तवपधामावधुमोद्भ्रमेन ।

एते चापसुपवनमुविचिद्रुद्रदर्माद्भ्रुसार्ध

नद्याशङ्कः हरिपविशयो मन्दनन्दं धरन्ति ॥

—शाकुन्तल, ११२

महाकविके वर्णनरी यह एक अनुपम विरोधता है कि यदि उसके वर्णन दिव्य पात्रों और अलौकिक स्थितियोंसे सम्पन्न नहीं है तो उसमें स्वाभाविकता और भौगोलिक सत्यता अवश्य रहनी है। भारतीयके समान हिमालयमें वे मोर्तीय वर्णन नहीं करते। जिस देश, जिस काल और जिस परिस्थितिमें उनकी प्रकृति चित्रित होनी है वह उसी देशकालके एतन्तः अनुसृत होती है। सधुके दिग्विजयका वर्णन करते हुए कवि, जिस मार्गमें और जिस समय जिस देशमें से चलता है, उस समय वहाँकी जो बातें उसके वर्णनमें आती हैं, वे भौगोलिक विचारमें एतन्तः प्रासंगिक हैं। पाँदे

वे प्राच्य समुद्रके तटस्थ दयामल तालीवनका वर्णन करता है, चाहे बङ्गालके कलमका निर्देश करता है, चाहे महेन्द्राद्रिके नागवल्ली-दलों और नारिकेलासवका चित्र खींचता है, चाहे भारोच-वनमें परिभ्रान्त हारीतवाले मलयदिक्की उपत्यकाकी कथा सुनाता है, चाहे पाण्ड्य देशकी तन्मपर्योकी यात बताता है, चाहे 'केरल'की मुरला नदीके पुलिनस्थ केतकीके पुथ-परागोंकी गाथा गाता है, चाहे भारतके पश्चिमी सीमा-प्रान्तके अंगूरसे व्याप्त प्रदेशका घृतान्त कहता है, चाहे कारमीरके कुंकुम-केसरोंकी कहानी कहता है, चाहे हिमालयके भोजपत्रोंका मर्मर, सुगोंकी कस्तूरी, सरस और देवदारुके तर्क और गंगाके शोकरसे मिश्रित शीतल अनिलके गीत गाता है शधवा लौहिव्य नदी पार करनेपर कामरूपके अयुक्त वृष्टोंकी सम्पत्तिका वर्णन करता है, सप्त कुब्ज भौगोलिक और प्राकृतिक वास्तविकता और याथातथ्यसे परिपूर्ण है। रघुदिग्विजयके अतिरिक्त इन्दुमती-स्वयंवर और मेन्द्रुतमें मेघके मार्ग-वर्णन आदिमें भी ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं, जहाँ देशिक विशेषताओंके प्राकृतिक वर्णनमें कवि पूर्ण रूपसे यथार्थ है।

भौगोलिक तथ्य—वर्णनके अतिरिक्त महारुवि फालिदासके प्रकृति-वर्णनकी दूसरी विशेषता यह है कि प्रस्तुतकी अमूर्त विशेषताओं और सुपना-सम्बन्धी विलक्षणताओंके साकार साक्षात्कारके लिये वह प्रकृतिके अग्रस्तुत प्रसङ्गोंकी निर्बाध सहायता लेता है। शकुन्तलाकी अकृत्रिम सुपनाकी ललित कल्पनाकी मूर्तरूपमें चित्रित करनेके लिये यह कहता है:—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमाशोलंचन सधर्मी तनोति ।
हृद्यमधिकमनोऽज्ञा वक्ष्यलेनापि तन्वी
किमिच्छ हि मधुरायां भयङ्गनं गार्कटीनाम् ॥

—शकुन्तला १११६

इसमें शकुन्तलाकी सहज रूपसम्पत्तिका मूर्त प्रदर्शनीकरण करानेके लिये सेजारते घिरे हुए क्षमल और सकलङ्ग कलाधरकी सहायता ली गई है। इसी भाँति शकुन्तलाके अमुक्तपूर्व यौवनकी अभिन्नपक्षिके लिये, उसके अष्टने यौवनकी मनोरमताके-प्रतिपादनके लिये, कवि अग्रस्तुतकी सहायता लेकर कद उठता है:—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नयमनास्वादितरसम् ।
मलपदं पुष्पाणां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिदं समुपस्थास्यति विधिः ॥

—शकुन्तला २११०

अनाघ्रातं पुष्पादिका वर्णन हमारे सम्मुख उसकी अमुक्त रूपसम्पत्तिका एक भव्य और प्रभाव-शाली चित्र उपस्थित कर देता है। इस चित्रको सहायतासे अमूर्त भावनाके मूर्त साक्षात्करणमें अत्यन्त तीव्रता आ जाती है, हृदयपर उसकी एक मजुर और प्रमिट्टि द्वाप पद लाती है।

रमणी-सौन्दर्यकी देवपर अनेक तराओंके मन धाष्ट होये रहते हैं, पर इतना यह देना कि अमुक्त सुन्दरीकी देवकर अमुक्त सुन्दरका मन मुग्ध हो गया, पर्याप्त नहीं होता। केवल इतनेमें म

ई साहित्यिक रमणीयता जान पड़ती है और न इसका कोई प्रभाव ही पड़ता है। अतः का स्वर्गीय सौन्दर्य देखकर पुरतवाका हृदय जम मुग्ध हो गया तब उसीका प्रभावशाली करते हुए कवि कहता है—

एषा मनो मे प्रसन्नं शरीरात् पितुः पदं मन्थममुपतन्वी ।
सुराहन्ता वरंति खण्डिताम्राप्यूर्त्तं मृशालादिव राजहंसी ॥

—विश्वामोर्वशापम् १।२०

इस मृशालके दो प्रवचन करके एक खण्डसे दूसरे टुकड़ेके दूर किए जानेपर भी उसमेंसे निकलनेवाला सूत्र दोनोंका सम्बन्ध बनाए रखता है, उसी भाँति उर्वर्युक्ति के चले जानेपर भी सदारा-धौल और समस्त अन्तर्वृत्तियाँ उसी ओर खिंची हैं। इसी प्रकार चिरहियाँ यद्यपि की मलिनता चित्रामकर साक्षात्करण करानेके हेतु कविने उसे शिशिरमथिता पद्मिनीके तुल्य बहा है। उसीका वर्णन करते हुए कविकुल-कमल-दियाकर कहते हैं—

मूनं तस्याः प्रबलरक्षितोपचूतनेत्रं त्रिपाया
निःश्लासानामशिनिरतया मिश्रवर्णांशरोष्ठम् ।
एतन्परतं मुखमसकलव्यङ्गि लम्बालकवा—
दिन्दुर्दृश्यं स्पन्दुसरणविलोकान्तोर्धिमति ॥

मेघदूत (उत्तरमेघ)—२४

यहाँ भी अग्रस्तुत चन्द्र चंद्र सूचित करता है कि सहज-मुन्दर-चरित्रोंका मुख विद्योगके लिये कान्तिहीन हो गया है। इस रीतिसे महाकविके काव्योंमें अग्रस्तुत रूपमें भी प्रकृतिका त प्रभावशील और चित्रामकर दूरवोत्पापक वर्णन पग-पगपर भरा पड़ा है।

यद्यपि कालिदासके प्रकृति-वर्णनमें अनेक विशेषताएँ हैं तथापि उन सबका वर्णन यहाँ सम्भव है, अतः यहाँ केवल एक और विशेषताके सम्बन्धमें कुछ निवेदन कर देना है।

इसकी दृष्टिमें मानवके चारों ओर फैली हुई विशाल प्रकृति, अनगिनती तारोंसे लगनगाता अनन्त अम्बर, अगाध समुद्र, विशाल वन, छाटा, मृष, पद्म, प्रसून, फलादि, नदी, वी तथा अन्य अनन्त प्रकृतिके पदार्थोंके लक्ष्य लक्ष्य वा बुद्धि और भावनासे हीन साधारण नहीं हैं, यान् उसकी भावुक करण-चतुर्धोंके सम्मुख ये सभी वस्तुएं जान पड़ते हैं, ये सभी तारीख हैं और मानव जगत्के प्रति उनके हृदयमें सदानुभूति है, मानवपंजासे ये ध्वंशित हैं और मानव-मुखसे सुग्री। इसके अन्त और विशाल उद्गारण एक नहीं, महाकविके काव्योंमें है। विश्वामोर्वशापके चतुर्थ अङ्गमें उर्वर्युक्ति के विद्योगमें विलाप करते पुरतवाको देख मानो प्रकृति सत्त्वानुभूतिसे आकुल हो उठती है, और पुरतवाके भी सारी प्रकृति सजीव और सुवर्णमय अक्षय दिग्गद् पड़ती है। सगूर्य प्रकृतिकी अनेक प्रति समानुभूतिपूर्वक और सद्य र ही पुरतवाके द्वारा कवि अपने हृदयका भाव उनके प्रति व्यक्त करता है।

इसी भाँति शकुन्तला भी मानो प्रकृति मुन्दरीकी, वैवांगिक रोमांसकी यन्त्रदेवीकी दुखारी पुत्री लोकोत्तरेके सुग्री तथा अन्य पशु-पक्षियोंके प्रति उसका हृदय वाग्मय-नन्देशमें व्याप्त है। कि अन्य मुषनासे उसके कलेवरके अणु-अणु विभिन्न और परिपालित हैं। कदवके कपना-

नुसार जो शकुन्तला चरलहादिको विना सींचे बल पीना भी पसन्द नहीं करती थी उस शकुन्तलाकी विदाईके समय समस्त उपोषन विरहाकुल हो उठता है, तो क्या आश्चर्य ।

उग्रासिद्धभक्तवला मिथ्या परिचल्लखचला मोरा ।

धोस्रिभपय्युपता मुधन्ति धस्सु विन्न सदासो ॥

शकुन्तला--४१२

धर्मपिता कथन और अल्प उपोषनवासिर्पौत्री विरह-व्याकुलता तो ठोक ही है, पर जड़ और मूक प्रकृतिकी शोककातरता तथा अध्या-व्याकुलता उसी कविके ध्वन्य-करणके साथ स्पन्दित हो सकती है जिसके हृदयकी बोणाके तार प्रकृतिके व्यापारोंसे वज उठा करते हैं ।

महाकविके द्वारा जड़ प्रकृतिका चेतनीकरण मेघदूतमें आदिसे अन्ततक प्रविधिमिव दिपाई पड़ा है । यह जड़ मेघको अपना दूत बनाकर अपनी प्रियतमाके पास भेजता है । मेघकी सेवा, मार्गमें धलाका (बरु-पंक्ति) करेगी, किसलयका पायेय क्षिप्र हृद्य राजहंस मार्गमें उसका साथ देंगे, जानेके समय 'रामगिरि' भी आंसू बहा गया, मार्गमें सुन्दर रेवा नदी मिलेगी, मयूर स्वागत करेंगे, विदिशामें पहुँचनेपर कामुकेश्या पूर्ण होगी और चेत्रवतीके चञ्चल-तल्लक्षुकुटियोंवाले मुखका वह सुन्दर करेगा तथा प्रकृति चेतन मानवके समान आचरण करेगी ।

जहाँ एक ओर कवि मनुष्यके चार शारीरिक सुन्दरताकी प्रभावशील और तीव्र अनुभूतिके लिये प्रकृतिके मनोरम और ललित उपादानोंकी सहायता लेता है, वहीं दूसरी ओर वह प्राकृतिक रमणीयताकी प्रभावशीलता तथा वीर्यता बढ़ानेके लिये प्रकृतिमें भी मानव सौन्दर्यका आरोप करके अमलुव रूपसे मानवीय सुन्दरता तथा भावाभिव्यक्तिकी सहायता लेता है:--

पौषिचोभरतनिवपिहगश्रेयिकास्त्रीसुयायाः

संसर्पन्त्याः स्खलितसुभां दक्षितावर्तनाभेः ।

निर्विन्त्यायाः पथि भवत्साम्पन्तरः सन्निपत्य

स्त्रीयामाद्यं प्रणयवचनं विन्नमो हि प्रियेषु ॥

मेघदूत (पूर्वमेघ)--३०

महाकविके सम्मुख सुरत-नलानिको दूर करनेवाला शिप्राविल भागों प्रार्थना-घाटुकार प्रियतम है । इसी प्रकार गम्भीरा नदीका 'चटुलव्यकरोद्घर्तन' ही उसके कटाव है । अतः यह मेघसे कहता है:--

तस्याः किंचित्करुद्वतमिव प्राप्तवाहीरराखं

हृत्वा नीजं सलिलपसनं मुच्छरोघोनिताम्बम् ।

प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि

ज्ञातारवाद्यो विवृतजघनां को विद्वान्तु समर्थः ॥

मेघदूत (पूर्वमेघ)--५५

इस श्लोकसे हमें यह पता चलता है कि जिस भोति एक विलास-मिय कामकला-निपुण नायकके हृदयमें 'विवृतजघना' रमणीकी देखकर उसके प्रति आकर्षण होता है, उसी भोति वर्षाकालीन गम्भीराकी उपर्युक्त सहज छटा देखकर कविका जी यही रम जाता है और वह सब कुछ भूलकर उसे निहारनेमें मस्त हो उठता है ।

कविकुल-गुरु कालिदासके सभी काव्योंमें और विशेषतः मेघ-दूतमें इस भाँतिके वर्णन भरे पद हैं। अतः चाहे प्रस्तुत रूपमें हो अथवा अप्रस्तुत रूपमें, कविका प्रकृति-निरीक्षण और उसका वर्णन अनुपम है। पर यहीँतक उसका प्रकृति-प्रेम समाप्त नहीं हो जाता। हमारे चारों ओर जो विशाल प्रकृति अपने अनन्त सौन्दर्यके वैभवमें अज्ञात रहस्यका आवरण डाले बिनाई पड़ती है, उसकी अपार महिमाके सम्मुख शब्दों और भक्तिमे भरवक मुकाता हुआ महाकवि अभिज्ञान-शाकुन्तलके आरम्भमें यह उठता है—

या सृष्टिः सृष्टुराद्या महति विधिहुतं या हविर्धा च होश्री,

ये द्वे कालं विषतः श्रुतिधिपयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।

यमाहुः सर्वदीनाप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणचन्तः

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवगु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥

शकुन्तला—१११

अर्थात् परमेश्वर भी कहीं अन्यत्र नहीं है। संसारमें, प्रकृतिमें बिनाई पड़नेवाली महिमामयी अष्टविभूतियाँ ही भगवान् अष्टमूर्तिकी आठ प्राणच सृष्टियाँ हैं।

इसीलिये कवि कुमारसम्भवमें भी कहता है—

द्रवः संवत्सरतिनः स्थूलः सूक्ष्मो जलसुरिः ।

व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राक्कार्ण्यं ते विभूतियु ॥

कुमारसम्भव—२११

यही परमेश्वर पृथिवी आदि प्रकृतिके रूपोंमें इस समस्त अराचर विश्वको धारण किए हुए है—

कलिषान्पोन्वसामर्यैः पृथिव्यार्दिभरात्मनिः ।

येनेद् ग्रियते विश्वं धुर्यैरानिमिषाच्यनि ॥

कुमारसम्भव—६१७

अस्तु, ईश्वरकी परम सुगमयी प्राकृतिक विभूतियोंके धनन्य उपासक महाकवि कालिदासकी कवितामें प्रकृतिका महत्व पूर्ण तथा परम रमणीय चित्रण शक्ति भी आश्चर्यकारक नहीं कहा जा सकता।

निसर्ग-कन्या शकुन्तला

[डी० एस्० कै० चेल्लेलेकर, ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना ।]

शौचरेण पवि श्री पद्मसमर्थने विन्मी हृत्सीका चरुंन करते हुए लिखा है—

“श्री हृत्सीं श्री इयू इन सन एंड श्रीवर,
 देम् नेचर सेम् “ए लवलिशर फ्लौवर
 श्रौन श्रुंन वाज्ज नेवर सोन,
 द्विस चाहृद धाड्डु माइसैरक विल डेरु,
 श्री शौरा श्री माहन, एंड आइ विल मेक,
 ए लेडी श्रीफ माइ श्रोन,
 माइसैरक विल डु माइ अलिङ्ग वी
 शोध ली एंड इम्प्रेस, एंड विदा सी
 दि गर्ल इन रीक एंड प्लेन,
 इन श्रुंन एंड हेविन, इन ग्लेड एंड बोवर
 शेल फ्रोल पुन् श्रौवर सीङ्ग पौवर
 डु किडिल शौर रैरडेन”

[रीन चर्च तक यह पूरा और चर्चा में पली। तब निसर्गने कहा—इससे अधिक सुन्दर फूल इस पृथ्वीपर कभी उगाया ही नहीं गया। इस कन्याको मैं स्वयं ले लूँगा। यह मेरी रहेगी और इसे मैं अपना ही प्रेयसी बनाऊँगा।

“मैं ही अपनी इस प्रेयसीका नियम और भाव दूँगा, और मेरे ही साथ यह कन्या यहाँवाँ और गीर्वाणोंमें, मर्त्य और स्वर्गमें, पनपहाँ और कुञ्जोंमें मनको उकसाने वाली या सपन करनेवाली दिव्य प्राणिना अनुभव करेगी।”]

‘टिप्पण पृथ्वीसे कुछ मिला ऊपर’ रची हुई अपनी दूसरी कवितामें वही कवि कहता है कि मैं बिस प्रकार—

“इन नेचर एंड दि लैंग्वेज श्रीफ सैन्स,
 दि पेड्डर श्रीफ माड प्योरेस्ट थौट्स, दि नर्स,
 दि गाहृद, दि गार्डियन श्रीफ माड हार्ट, एंड सोल
 श्रीफ थौल माइ सौरल विडग” —

[“निसर्ग और भावकी भाषामें, अपने सत्रसे पवित्र विचारोंको धाम रखनेवाली, अपनी प्राणी, अपनी पशु गर्दशिका, हृदयपर शासन करनेवाली, और अपने समस्त नैतिक अस्तित्वके आत्मा ..”] जो यह प्राणनेमें समर्थ हुआ। और अपनी ‘सैर’ (दि एक्सकर्सन) सर्पिक कवितामें उन्होंने नानय और प्रकृतिके बीच स्थापित हो सकनेवाले संबन्धके कई रूपों और अवस्थाओंका

वर्णन किया है। आसौचकर्मण इत्य वातपर सहमत हैं कि जो कुछ बर्द्धसवर्धने इनमें तथा धन्य रचनाओंमें वर्णन किया है वे उस भारसंक्रान्तिविभ्रमके उदाहरण मात्र नहीं हैं जिसके द्वारा मनुष्य अपनी निजी अनुभूतियों, उद्धारों और भावोंको अचेतन पदार्थोंमें आरोपित करता है। मनुष्यको प्रकृतिसे जो विचार और प्रेरणाएँ मिलती हैं उसे प्रदान करनेकी शक्ति सचमुच प्रकृतिमें है, क्योंकि मनुष्य और प्रकृतिके बीच वही आत्मा या चेतना ब्याप्त है जिससे दोनोंमें परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध उत्पन्न ही शीघ्रतासे और आचर्यक रूपसे संभव है जैसा कि परस्पर प्रेम करनेवाले दो मित्रोंमें होता है, और ऐसे सम्पर्कके लिये सदा व्यक्त भाषाकी आवश्यकता हुआ भी नहीं करती।

यह समझा जाता है कि उपर्युक्त प्रकृतिवाद यर्द्धसवर्धका ही चलाया हुआ और यह उसमें पूर्णतः विश्रवस भी करता था और इसका दार्शनिक आधार हमारे वेदोंतसे यहाँ बहुत कुछ मिलता-जुलता है जहाँ यह माना जाता है कि एक ही आत्मा मनुष्य, पशु, वनस्पति और समस्त सृष्टिमें व्याप्त है। और यह भी निश्चय है कि यही कालिदासका भी अर्थना मत था। किन्तु यदि इसके लिये कल्प-प्रनांशकी आवश्यकता हो तो उर्ध्वशीला यह कथन सबसे अधिक प्रमाणिक होगा जो उसने जता होनेका शाप पाकर और फिर अपना पूर्ण रूप धारण करके अपनी लताकी अवस्थाके अनुभवका बोला हमारे लिये सुरक्षित रख छोड़ा है—

अवभन्तस्करणात् मए पचमरीकिद्वुत्तन्वो वरु महाराथां । (मैंने अपनी भीखी इन्द्रियोंसे महाराजकी सब यातें जान ली थीं ।)

—विक्रमोर्वाशयम्, पृ० १९९, पंक्ति ४

वास्तवमें हिन्दुओंके पुनर्जन्म और आत्मोद्यमयकी भावनाके आधारपर यह तथ्य ऐसे अथसरका सामान्य अनुभव माना जा सकता है और इससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रकृतिके पदार्थ भी ठीक मनुष्योंके समान ही अनुभव कर सकते हैं और अपने विचारोंका भादान-प्रदान कर सकते हैं। इसका सटोक उदाहरण कालिदासके अभिज्ञानशाकुन्तलकी नायिका उस शकुन्तलामें पाया जाता है जो नीचेके उपरतक प्रकृतिकी सची कन्या थी और जिसे पवित्रे केवल मातृत्वमें ही वर्णन नहीं किया है बरन् उसे हमारे समस्त रक्त नससे निर्मित शरीर रूपमें भी लाकर रक्त दिया है और यह योजनी भी है, अनुभव भी करती है, और कार्य भी करती है, और ठीक उसी प्रकार आचरण करती है जैसे उस वातावरणमें उत्पन्न किसी वस्तुसे आशायी जा सकती है और इसीमें हमारे निष्ठाङ्कित अनुसन्धानका वास्तविक कौतुक निहित है।

शकुन्तलाका जन्म स्वर्गीय अम्परा मेनकाके गर्भसे और उन विधागिण्य अपिसे हुआ जिनके भयङ्कर तपसे स्वर्गके रत्नमी इन्द्र इतने डर गए कि उन्होंने अपिकी तुभाने और उनकी तपस्या भंग करनेके लिये मेनकाको नोचे मर्त्यलोकमें भेजा। कन्याके उत्पन्न होते ही माता उसे पनमें छोड़कर स्वर्ग लौट जाती है। इस प्रकार अर्द्धपल छोड़ी हुई पालिकाकी देखभाल वनके पशु करते हैं और उसका तपतक पोषण करते हैं जबतक कण्य अपि उसे छोड़कर उठा नहीं ले जावे। ये उसका नाम शकुन्तला (पशुओं द्वारा पोषित) रख देते हैं और उसे अपनी पालिका कन्या बना लेते हैं।

कण्यने अपनी पालिका कन्याके लिये वासु-मलियोंके रूपमें अनुसूया और प्रियंवदा नामकी दो सखियों भी दे दीं जिनके नाम ही सुविहित रूपसे उनके भिन्न ररभाषोंकी सूचना देते हैं।

इतना ही नहीं वरन् उसके लिये कषवने माधवी, अतिमुक्तक और सबसे अधिक शकुन्तलाको बदन नवमालिका भी दे दी थी जिसका उसने प्रेमसे बदन-ज्योत्स्ना नाम रख दिया था, और पकुल, केसर, सहकार और दूसरे जेह और सावधानीसे रोपे और पाले हुए वृक्ष दिए थे, और हरिण, मृग, मोर, हंस, कोयल, चक्रवाक आदि पशु-पक्षी भी दे दिए थे और वनके देवी-देवता तो उसके साथी थे ही। इन सभी आश्रम-निवासियोंकी तत्परतासे पालना, पानी देना, पोषण करना, इन सबके सुखका ध्यान रखना और समय समयपर भाए हुए अतिथियोंका स्वागत-सत्कार करना, ये सब निरपके कार्य कषवने शकुन्तलाको सौंप दिए थे, और उसे थोड़े ही दिनोंमें ये काम करने भी लगे और इन कामोंमें उसे सेवाका सचा आनन्द भी मिलने लगा था। देखिए—

ए केवल तादृश्रोचो । अलि ममादि सोदरसिरोहो एदेसु ।

(मैं केवल पिताजीकी ही आशासे इन्हें नहीं सौंपती हूँ । मैं स्वयं भी इनको सगे भाई जैसा प्यार करती हूँ ।)

या चतुर्थं अंके कषवका बह प्रसिद्ध श्लोक देखिए—

पार्तु न प्रथमं कषवदपति जलं गुप्तास्वपीतेषु या ।

नादृक्षे प्रियमवडनापि भवतां रोहेन या पल्लवम् ।

आचे वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः ।

सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

—शकुन्तल, ४१६

उसकेपेशु और वनस्पति-जगत्के सभी साथी अपने निजी व्यक्तिव और जीवनसे अनुप्राणित हो उठे और इनके व्यक्तिव और जीवनमें अनसूया और प्रियम्वदासे कुछ कम विशेषता नहीं थी। अतः यह स्वाभाविक था कि उन्होंने शकुन्तलाकी अपनी अपनी परिस्थितियोंके अनुसार सेवा और मैत्रीके लिये प्रेरित किया तो शकुन्तलाकी केवल प्रतिदिन खतासोंमें पानी देना और उनका पोषण ही नहीं करना पड़ता था वरन् जब कभी उनमें उमरते हुए पौवनका लक्षण दिखाई देता था तब उन्हें उपयुक्त वृक्षोंके सहारे चढ़ाया भी पड़ता था अथवा यदि शकुन्तलाके समान ही बर्तनी प्रतीक्षा बिना किये वे स्वयंवर या आत्मनिर्णयसे अपना सम्बन्ध कर लेती थीं तो भी कमसे कम उनके सौभाग्यपर उसव तो अवश्य ही मनाना पड़ता था। इसी प्रकार नन्दे मृगश्रौतोंकी भी सावधानीसे देखरेख आवश्यक होती थी विशेषतः तब, जब पड़ले-पड़ल घास चराते समय उनके मुँह फट जाते थे। एक ऐसा मृगश्रौता वहाँ था भी, जिसकी माँ उसके जन्मते ही मर गई थी। शकुन्तला ही इस धीनेकी माँ बन गई थी और उसने प्रेमसे इनका नाम रखना था—दीर्घापांग (बड़ी-बड़ी पाँपोंवाला)। यह धीरे-धीरे उस धीनेके कटे हुए झोंडोंपर तेल लगाती और सचमुच यह उसे हुलार करनेवाली वैसी ही माँके समान सब काम करती थी जैसे प्रकृति माताने स्वयं शकुन्तलाका उस समय पालन किया था जब उसकी कठोर-हृदया माता मेनका उसे छोड़कर चली गई थी। चतुर्थं अंके शकुन्तलाके शरीरपर विचार तो कीजिए—

(वचने । मुझ साथ छोड़कर जानेवालीके पंढे-पीड़े तू कहां जा रहा है ? तेरी माँ जय तुझे जन्म देकर मर गई थी उस समय मैंने तुझे पालन-पोषण करना किया था । अब मेरे पीड़े विताली तेरी देखभाल करेगी ।)

अथवा इसके पहलेका श्लोक देखिए जहाँ बड़ी भावुकतासे कवय वर्णन करते हैं कि शकुन्तला किस प्रकार अनाथ सैनिका पालन-पोषण किया करती थी—

यस्य रसया प्रणविरोपषमिहृत्तानं
 शैलं न्यविन्दत सुरे पुशानूचिबिन्दे ।
 रयामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
 सोऽयं न पुत्रवृत्तक पदवीं नृगरते ॥

—शकुन्तल, ११४

इस सदानुभूति और सेवाके ऐसे अविरल और स्थिर आदान-प्रदानसे यह आशाकी जाती है कि शकुन्तला और उसके ये सब सद्गो-साथी परस्पर एक दूसरेकी आश्रय-रक्षार्थी और भायोंको भलो-भक्ति समझते होंगे और एक दूसरेके विचारोंको पहलेसे ही समझकर उनकी रक्त या अश्रुत-दृष्ट्याधीकी पूरी करनेके लिये शान्तता करते होंगे । इसलिये जय शकुन्तला वनज्योत्सनाके धावतेमें पानी देती हुई उसकी ओर चावभरो दृष्टिसे देखती है उस समय शकुन्तलाके मनकी बात त्रियंबदा समझ जाय तो कोई आश्चर्य नहीं—

अथसूय । जायासि किंचिदिमिषी सउन्तला वणजोसिषि अदिमेरु पेन्नादि ।...जहा वणजोसिषी अणुस्तेष पाभवेष संगदा, अथ याम पुर्वं धई यि अथणो अणुस्ते परं लहेरं यि ।

(अनसूया । जानती हो शकुन्तला इतनी मगन होकर वनज्योत्सनाको क्यों देख रही है ?...जैसे इस वनज्योत्सनाको अपने घोष पृष्ठ मिल गया है, वैसे ही मुझे भी मेरे घोष घर मिल जाय ।)

किन्तु यहाँ भी यह प्रश्न उठाना क्या वैसा ही उचित न होगा कि क्या शकुन्तलाकी सता-यदन वनज्योत्सना भी शकुन्तलाके लिये वैसा ही नहीं शोच सकती थी और जिस प्रकार अनुसूया और त्रियंबदाने दुष्प्रभके लिये शकुन्तलासे यह प्रेममय पत्र लिखाकर भायक और नायिकावा परस्पर मिलन करानेके उपाय ढूँढ़ दिखाये थे—

तं सुमणो गोविदं करिष्य देवदासेमावदेसेण से द्वापुत्रं पापहर्त्तम् ।

(उसे कृतीमें धिपाकर देवताका प्रसाद बहकर उन्हें दे दिया जाय ।) वैसे ही क्या इस प्रकारसे मिलन करानेकी कोई धृष्टी ही विधि शकुल या केसरर मृष्ट या यनज्योत्सना सदा नहीं शोच सकते थे ? जिस प्रकारसे कात्तिदासने शकुन्तलाके आश्रम-नत्पासोंका पित्रण किया है, उस दृष्टिसे इस प्रकारका भ्रम करना अज्ञान न होगा, क्यों कि पीड़े जय शकुन्तला अपने पहिले घर जानेको उद्यत होती है उस समय केवल अनसूया और त्रियंबदा ही निप्रसन्नचित्त मगल साज नहीं सुझाती हैं—

गोरोध्रणं, तिपमिषिधं, दुग्गाकिमलघातिधि मङ्गलसमालम्भयादि । (गोरोधन, तापं-मृशिका, दूषके पथे घादि मङ्गल सामप्रिनी) और वे यज्ञ (केसर) के पत्रोंकी यह माला भी नहीं भूलती हैं जिने वनज्योत्सने हम अथर्वके लिये अलक्ष्य रज घोड़ा था—

पुदसिंयं चूरमादावल्किधे यारिण्यममुमायु धूर्ध्विमिषी पुत्र काचनरहममा दिविमया

मद् केसरमालिका (वह जो श्यामकी दाखीपर नारियल लटक रहा है उसमें मैंने बहुत दिनोंतक सुगन्धित रहनेवाली बकुलकी माला आजके ही लिये रख छोड़ी है)

चरन् जैसा कालिदासने भी जान-बूझकर कहा है—आधमके वृद्धौने भी शकुन्तलाके विवाहके लिये भेंट दी थी—

श्रीमं केन, चेदिन्दुपायह्यु तक्ष्या माद्गदरमाधिपकृतं
निष्कष्युश्चरखोपभोगमुलभो लाधारसः केनचित् ।
धन्येभ्यो वनत्रेवताकरतलैरापर्वभागोपिधै-
दंतन्यामरथानि सत्किसलयोन्नेदप्रतिद्विभूमिः ॥

—शाकुन्तल, ४२

यह मेरी पहली समस्या है ।

- इसी प्रकार यदि दुष्पन्तके प्रति शकुन्तलाका प्रेम जगानेके पहले धनसूया और त्रिपंषदा प्राप्तमें बड़ी उत्कण्ठासे इस बातपर विचार कर सकती हैं कि राजा सचमुच शकुन्तलाके प्रेमका उचित अधिकारी हो सकेगा या नहीं—

अथसूये ! दूरगमममहा अरुणमा इत्थं कालहरणस । जलिस यद्भाषा एसा सो जलामभूदो पौरवाणः । तुत्तं से अहिस्तासो अद्विणन्दिहुं ।

(अनसूया ! इसको प्रेम-व्यथा इतनी बढ़ गई है कि कोई उपाय शीघ्र ही करना चाहिए। सचमुच इस बातकी तो सराहना करनी ही पड़ेगी कि शकुन्तलामें प्रेम किया तो पुरवंगके भूषण दुष्पन्तसे ही ।)

शोर फिर जब राजा स्वर्ध अनायास रत्नमन्थपर आ पहुँचते हैं, उस समय भी यदि वे ही दोनों सखियों एवं प्रेम-श्रीदामके सकलपरिणामकी सिद्धिके लिये सभी उपायोंका अवलम्बन करती हुई इस प्रकार कहती हैं—

वयससं । बहुबलहा रात्रायो सुखोद्यन्ति । जह यो पियसही वन्नुद्ययसोअण्णिजा य होदि वह णियमहेदि । (वयस्य ! सुनते हैं कि राजाश्रीको बहुत सी सखियाँ होती हैं । तो हमारी प्यारी सखीके लिये कुछ ऐसा प्रबन्ध कीजियेगा कि हम सगे सखियोंको फिर पढ़ताया न पड़े ।)

—तो क्या हमें यह शाशा करनेका अधिकार नहीं है कि कविने वनरपति और पशुवर्गमेंसे शकुन्तलाकी जिन सखियोंका वर्णन किया है उनके द्वारा भी कवि, शकुन्तलाके भावी मंगलके लिये उसी प्रकारकी उत्कंठा प्रदर्शित करावे ?

यह मेरी दूसरी समस्या है ।

अन्तमें उस प्रसिद्ध और मुक्तकवडसे प्रशंसित चतुर्थ अरुके विदागले दरवमें, जहाँ सगुण प्रकृति शकुन्तलाके जाते समय उसके वियोगसे दुखी है—

उगलितदम्भकयला मिथा परिचलणचक्षरा मोरा ।

शोसरियपयदुपत्ता मुशन्ति अस्तु विद्य सदाशो ॥

[उद्वलितदम्भकयला मृगाः परिचलनघांता मयुर्वः ।

अपसृतपाशुपयः मुशन्त्यधूषीय जताः ॥]

—शाकुन्तल, ४१२

और जहाँ तुवांताके शपके भवायने परिणामका विचार करके विदाहके अन्तिम समय भी वे दोनों सखियाँ शकुन्तलाकी तात्कालिक बदधारे धोषा तथा देनेके लुप्य यहासेसे दुष्पन्त ही भँगूँतीका

स्मरण कराते हुए प्रसन्नवश हतना भर कहती हैं कि जब आवश्यकता पड़े तो अँगूठीका प्रयोग कर लेना पर सूखता बरके शापकी बात विषा लेती हैं—

रविप्रद्वारा वसु पकिदिपेलवा पिधसही।

(उस कोमल स्त्रभाववाली स्त्री सखीकी रक्षा तो काली ही होगी) और अपनी पुत्रीकी भावी विपत्ति और स्वधाको पढ़लेते जाननेकी दिव्य दृष्टि रहनेवाला पिता कश्य भी कोई ऐसा संकेत या चेतावनी नहीं देते और यह बात केवल उस नातिके उपदेशमें ही नहीं है जिसे वे विशेष रूपसे शकुन्तलाको सुनाते हैं—

शुभ्रूपस्य गुरुन् गुरु भियसलीवृत्ति सपमीजने ॥ आदि

शाकुन्तल—४:१२

पारु चोर-पुत्रके लले पैडकर दुष्कृतके लिये उन्होंने जो संदेश अव्यक्त सोच समझकर कहा है—

अस्मान् साधु विचिन्त्य संवमधनानुचैः कुल चात्मन-

स्वव्यसया ऋणमन्यनानधवतुर्नास्तेऽमरुतिः च ताम् ।

शाकुन्तल—४:१७

उसमें भी उन्होंने अपनी पुत्रीके लिये किसी विशेष कृपाकी याचना न करते हुए केवल यही चाहा है कि उसे अपने भाग्यका निर्णय करनेके लिये समान अवसर और समान स्वतन्त्रता मिले—

सामान्य प्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु हरया त्रया ।

भाग्यायामसः परं न सलु वद्वाच्यं वधूवन्धुभिः ॥

शाकुन्तल—४:१९

मैं पुनः पुष्टराता हूँ कि इस विदाईके हरवमें जहाँ हम शकुन्तलाको अपनी सुख सुध छोड़कर, विधासभरी आशासे, सजे कपारकी और बंदते हुए देखते हैं और जहाँ (यद्यपि भिन्न-भिन्न अभिप्रायोंसे) उसकी सखियोंने और पिताने माने आपसमें यह संशयपर ली है वे उसके सिरपर लटकती हुई आपत्तियोंकी विशेषपर पिता तो ब्यर्थ ही अपने शोकपूर्ण पिचारोंको दवानेका प्रयत्न कर रहे हैं—यहाँ हम लोग ऐसी वषों न कल्पना करें कि नायिकाकी मनुष्येतर सखियोंमें से

● तपः प्रभावत् प्रत्यसमेतत् तत्र भयतः कश्यस्य ।

† पंचम अङ्कमें शकुन्तलाके शब्द देसिए—

परिण्य एव संदेशे । मुदो दाग्नि मे दूराद्विरोहिणी आणा ।

(आपपुत्रको जब विशारमें ही उन्दै हो रहा है तब जो मैंने और बड़ी बड़ी आचार्य सौध रखते थी उनका तो फिर ठिकाना ही करों दे ।)

‡ इसका सबसे बड़िया प्रमाण यह श्लोक है—

अभिजनयो मनुः स्वप्ने विवना शृङ्गीवदे

विमरगुहमि दृष्टेस्तस्य पतिपान्नामुला ।

कुछ जो ऐसी निकलीं जो श्रष्टिके मनकी बात समझकर अपनी श्रॉखों, इच्छितों और गतिथोंकी भाषामें कमसे कम थोड़ी देरके लिये तो शकुन्तलाको सावधान कर दें, भले ही वह पीछे किसी बाह्य परिस्थितिके बश भूल जाय। इस अज्ञानका परिणाम यह होता है कि दुर्धतकी राजसभामें जब वह पहुँचती है तो वह उस संघट्टसे एकदम अनभिज्ञ रहती है जो उसके ऊपर अचानक धरारा जाता है ?

यह मेरी तीसरी समस्या है।

कालिदासके अभिज्ञान-शकुन्तलके इतने चपोंके अध्ययनसे मेरे मनमें यह बात अच्छी तरह बैठ गई है कि यदि अन्धवर्धित रूपसे सम्पादित किए हुए संस्करणोंके शकुन्तलकी छुड़कर हमारे सामने वह वास्तविक शकुन्तल अपने उसी मौलिक रूपमें होता जैसा उसे कालिदासने रचा था, तो उपर्युक्त सभी समस्याओंके उत्तर तत्त्वय ठीक ठीक मिल जाते। किन्तु परिस्थिति ऐसी नहीं है। उर शकुन्तलकी समस्या उसी प्रकार हल की जानी चाहिए जिस प्रकार तत्सम्बद्ध महा-भारतकी समस्या हल की जा रही है। दोनों दशार्थोंमें पाठ-सुधारके आधारभूत सिद्धान्त एक ही हैं, महत्वपूर्ण अन्तर केवल यह होगा कि थो० शो० थार० इन्स्टीट्यूटके एम डूहलू जोरकाव्यके संस्करणके वर्तमान सुविचारित पाठकी रचना करते हुए, 'उच्चकोटिकी आलोचना' नामकी वस्तु तो कहीं कहीं देखनेमें आती है पर कालिदासकी इस महान् कृतिमें इसे अधिक विस्तारपूर्वक काममें लाना होगा, क्योंकि नाटकमें यह समस्या अपेक्षाकृत कम लटिल है। रचानकी कमीके कारण मैं सूचित किए हुए पाठसम्बन्धी सुधारोंका यहाँ वर्णन नहीं करूँगा अपितु इतना ही कहकर संतोष करूँगा कि यदि सुधारे हुए पाठको शुद्ध मान लिया जाय तो हम लोग शकुन्तलाकी निर्माण-संक्षिप्तोंके द्विषयमें जैसे ही निष्कर्ष निकालनेमें समर्थ हो सकते हैं जैसा कोई भी कालिदास जैसे उस सबे द्विभूसे आशा कर सकता है जो प्रकृतिके सभी पत्राणोंको जीवन और चेतनतासे अनु-प्राणित समझता था।

सर आशुतोष मुखर्जी सिलवर जुबिली ओरियन्टलिदाके द्वितीय खण्डके ३५६ से ३६६ पृष्ठोंमें मैंने एक लेखमें अपना यह मत प्रदर्शित किया था कि अभिज्ञान-शकुन्तलके प्रथम शङ्कूकी बात-चौतका क्रम नेपथ्यमें नायिकाके इस कथन से—

इदो इदो विजसहीयो ! [इधर आओ, इधर आओ, प्यारी यधियो !]
प्रारम्भ होकर वनज्योत्स्नाके यौवकेसे मैंरेके निकलने तकका भाग—

वनज्योत्स्नात् प्राचीवाकं प्रवृष च पावन

मम विरहना न त्व वत्से छुन्नं गणविष्पति ॥

जो यन्त्री शकुन्तलाको टावस बँवाने और प्रसन्न करनेके अभिप्रायसे ही कटा गया है फिर जो दोस्तवक कर्ण-गीतके समान हरिणी-छन्दमें ढाल दिया गया है। और यह जान-भूतकर किया हुआ कर्म-कर्म है, जिसका पता इस बातसे चल जाता है कि इस नाटकमें केवल तीन ही श्लोक ऐसे हैं जो इस छन्दमें रक्ले गए हैं, और सचमुच वे अपने स्थानपर वैसे उपयुक्त लँवते हैं।

अगो। सलिलसे अर्धभमादी सोमालिखं उगिगन्ध वधार्थं मे महुधरो अद्विवदृदि। [थोर रे ! जल पढ़नेसे दधराकर उठा हुआ यह भीरा नहीं थनेलीको छोड़कर मेरे ही मुँह पर मँडराने लगा है।]
— आञ्जलके संस्कारयोगोंमें उलटा हो गया है। नवीन धंगाली संस्कारणमें इस स्थल पर ३७ सम्वाद दिए गए हैं, फारसीकी नये संस्करणमें २७, और वैपलर द्वारा संपादित दक्षिण-भारतीय संस्करणके साधवाले नागरी संस्करणमें केवल २०। इन संपादकोंमें आई हुई कथा तीन घटनाओंका वर्णन करती है—शकुन्तलाके बन्ने हुए बच्चोंको डीला करना (वद्वलशिधिलीकरण), बेसर वृषके वद्वल-नायक सवेतपर शकुन्तलाका उससे पास जाना (वेमरसमीप गमन),

एसो चादेरिद्वरलवागुलीहिं तुवरेदि विथ मं वेसर ररररयोः । जाव र्थं समभावेमि । [यह बेसरका वृष पत्रके भोजितसे हिलती हुई पत्तियोंकी धँगलियोंमें मानो मुझे भटपट हुला रहा है। चलो इसरा भी मन रग लें।]

—और शकुन्तलाके हाथों नवमासिका लतारा र्थीया जाना (नवमासिकासेवन)। प्राप्त मुद्रित संस्कारणोंमें वद्वल-शिधिलीकरणका प्रसंग बेसरसमीप गमनके पहले है। केवल उम नवीन संस्करणमें, जो एकमात्र भोजनपर पांडुलिपि (बीम्बे गवर्नमेन्ट कलेजियन नं० ११२) सन् १८२७ में मिली (और जो अथ बी० थो० धार० इंस्टिट्यूटमें जमा कर दा गई है), बेसर-समीप-गमन-वाली घटना पहले दो गई है। उन्नी पांडुलिपिमें हमें यह भी पता चलता है कि राजा इसी बेसर-वृषके पीछे छिपे हुए थे। तो इस दशामें आश्चर्य नहीं कि एक अपरिचित व्यक्ति को अदृष्टपूर्व उपरिधितसे बेसरका वृष भ्रममें पड़ गया हो और शकुन्तलाको (जिसे सभी आरांतुकोपर ध्यान रखनेका भार सौंपा गया था) दृष्टिसे अपनी ओर बुलाने लगा हो। यदि ऐसी बात न होती तो शकुन्तलाने यों ही चलती हुई इधरसे बेसरके पक्षमें हिलने-मात्रसे यह क्यों समझ लिया कि वेद उसे बुला रहा है ? घासकी एक पत्ती भी बिना किसी अभिप्रायके नहीं हिल सकती—यही हिन्दू-धर्मके विशासका आधार था। दूसरे स्थलपर कालिदासने यह कहलाया भी है कि वृष, माय पत्तियोंके द्वारा (और हम इसका और जोड़ दें कि भीरोंके उड़ने और पत्तियोंके हिलने-डोलनेके द्वारा) अपने विचार प्रकट किया करते हैं। उदाहरणार्थ—

अनुमतगमना शकुन्तला तरनिरिथं वनवासवंपुनि ।

परभृतविरतं फलं यथा प्रतिपत्तीकृतमेभिराभन ॥

--शकुन्तल, ५१।०

बेसर वृषके पास शकुन्तलाके जानेका वर्णन उन संस्कारणोंमें 'तथा करोति' के नाटकीय संकेत द्वारा किया गया है। केवल भोजनपरवाली पांडुलिपिमें ही 'राज. सन्निकर्षं आगच्छति' लिखा है। इसके पश्चात् जब नायिकाको इसी वृषके पान्यगली लताके समान धताया जाता है—
जाव वृष उवगदाण लदासकाहो विथ अर्थं केमररररयोः पडिभादि ।

[जब तू पेड़से लगकर लड़ी होती है तब यह बेसरका वृष ऐसा लगता है मानो उससे कोई लता लिपटी हुई हो]

—उसकी ध्यंजना तभी पूरी उतरती है जब राजा उसी वृषके पीछे हों, और यदि वद्वलशिधिलीकरण भी उसी समय हो जब नायिका, नायकके (जिसकी उपस्थितिकी मरतीकी शक्यता नहीं है) इतने पास हो, तभी उसमें वह शझारका भाव आता है जिसे धमसे धम कालिदास जीने

कवि तो छोड़ ही नहीं सकते थे। अतः इस नाटकीय संकेतमें कुछ ऐसी बात अवश्य है जिससे सिद्ध होता है कि पाण्डुलिपिके क्रमसे का हृद्य सन्दर्भ तो मौलिक पाठसे अवश्य मेल खाते हैं। केवल मूर्त या पंडितमन्यव लोग ही उपयुक्त नाटकीय संकेतको शेष संस्करणों के नीरस 'तथा करोति' के रूपमें परिवर्तित करनेको बात सोचेंगे।

इसके पश्चात् सेचन-दृश्यमें जो संवाद आते हैं और विशेषतः शकुन्तलाके ये शब्द—

दत्ता । रमणीयं कुरु काले हमारसं लदापादयमित्युत्सवस्य वदशरी संवृत्तो । रायवृत्तुसुमनोभ्यशा वणजोसिषी, बद्धपल्लवपद्म उपभोग्यगम्भो सहस्यारो ।

[सखी ! सचमुच इस लता और वृक्षका मेल बड़ी अच्छी पड़ी हुआ है। इधर यह वनज्योत्सना फूलका नवयौवना हुई है और उधर पत्तोंसे लता हुआ आतना वृक्ष भी उभारपर आया हुआ है।]

—शकुन्तलाकी भीतरी मनोवृत्तियोंकी पूर्ण रूपसे सूचना देते हैं। प्रियवदाका अनुमान ठीक रूपपर पड़ता है और नायिकाको भ्रमों काल देता है। किन्तु क्या दूसरी नितर-सखियों और विशेषकर जिस वनज्योत्सनाके-विषयमें चर्चालाप हो रहा था, वह इसी प्रकार नहीं ताक सकती थीं ? अवश्य ताक सकती थीं और लगाने बटे ही सुन्दर ढंगसे यह बात जताई थी। यह शकुन्तलासे पहले विराहित हो चुकी थी इसलिये जब उसने अपने हुए राजाको देखा लिया और उसे शकुन्तलाके योग्य समझ लिया तब उसने अपनी छोटी पद्म शकुन्तलाको उसके भावी पतिसे मिलानेका काम उसी प्रकार पूरा किया जैसे पड़ी महान अपनी छोटी बहनके लिये किया करती है। अतः हम लोगोंको बड़ी मानना चाहिए कि मैरेको उसरामेका काम उस खतानेही किया। उस दिन प्रातःकाल शकुन्तलाने न जाने कितने वृक्षों और लताओंको संघा था, तो केवल वनज्योत्सनाके ही ध्यानसे अमारको यहाँ निकलना चाहिए था ? कुछ लोग उत्तर देंगे—“केवल संयोग” किन्तु जिस जगत्में एक अन्तर्ध्यापिनी शक्ति का नाम जाना जाता है वही संयोगके लिये स्थान ही कहाँ है ? मैं अपनी प्रथम समस्याको इसी प्रकार हल करना चाहता हूँ।

दूसरी समस्याका संतोषजनक समाधान करनेकी क्षमता रखना मानो कालिदासकी शकुन्तलाके स्वरूपको समझनेकी अपनी शक्तिको एसी कसौटीपर कसना है। प्रथम शब्दके परिवाग-दृश्यमें जब शकुन्तला शशधर-कवित होकर देवताकी है कि मुद्रिका वनजानमें खरी गई है उसे शक्यता ही शक्तिके जगानेके लिये वह अन्तितम तोग प्रपत्रके रूपमें, सुजायानवाली घटनाका वर्णन करके अपनी बुद्धिमानिका परिचय देती है—

यं पुरुषिभ्यो शोभानिमानवश्ये सुखिणीपत्रभासयगर्दं उदरं तुह हस्ते संविहितं प्राप्ति ।
तन्मखं सो मे पुनकिदयो दीक्षापद्मे साम हरिणपोद्मो उद्विद्धो । तुय—अयं वाम पद्मं विशडिधि
अणुश्रमिणा उवचद्विद्धो उद्विष्य । य उय दे अरिचक्रादो ह्यभभासं उवगदो । पञ्चा तस्मि
एष मय महिदे सज्जिते येष किरी पणयो । तदा तुमं इत्थं पदसिदो स्मि । सज्यो सगन्धेषु विरस-
सदि । हुवे वि पृथ आरण्ये या ति ।

[एक दिन अथ मयमात्रिकाके कुंजमें अश्वने हयमें वालीसे मरा कमलके पत्रका दोना लिए हुए मे । इतनेसे ही वहाँ मेरा पुत्रके समान पाता हुआ दीर्घपाद्म नामका सुगन्धीना भी था पहुँचा । आपने उसपर दया करके कहा—पदके इसे जल पी लेने दो । यह कहकर आप उसे जल पिलाने

लगे। पर परिचित न होनेके कारण यह आपके पास गया ही नहीं। तब मैं ने आपके हाथसे देना ले लिया और यह मेरे हाथसे जल पीने लगा। उस समय आपने हँसकर कहा था कि अपने संग-संबन्धियोंके सभी पदधानते हैं। तुम दोनों ही जनवासी हो न।]

क्या यहाँ यह प्रश्न उठाना उपयुक्त न होगा कि शकुन्तलाने दुष्पन्तको स्मरण दिलानेके लिये यही विशेष घटना क्यों चुनी ? इसमें कोई सन्देह नहीं यहाँ नवमालिका-वृत्रका युवाव वदे महारथका हुआ है। किन्तु मैं यह पृष्ठता हूँ कि दुष्पन्तको कमल-पत्रके दोनेमें पानी लानेकी—थनुमागत, पासके ही किली जलाशयमें—आवश्यकता क्यों पड़ी ? और ठीक इसी ही अरसरपर दीर्घपाद्म भी कुत्रमें क्यों आ पहुँचा ? इन प्रश्नोंकी किसी स्तनकी शालोचनके स्मरणकी उपजके निरर्थक प्रश्न कहकर टाल दिया जा सकता है और यदि कालिदास अपने शब्दोंको तोल-तोलकर रखनेवाले और अपनी प्रत्येक बात किसी विशेष अर्थसे कहनेवाले न होते तो ये प्रश्न संभवतः निरर्थक हो भी सकते थे। कई वर्ष पहले मैं ने विद्वानोंसे इसी विषयपर अपने मत प्रकट करनेके लिये प्रार्थना की थी। कुछ इनेगिने सभाने उत्तर भाँ दिष्ट किन्तु उनसे मुझे पूरा सन्तोष नहीं हुआ। इस दीर्घपाद्मवाली घटनाकी मैं जिस प्रकार समझ सकता हूँ वह यों है—

वृत्रवाली घटना राजाको इस अभिप्रायसे सुनाई गई है कि उन्हें अँगूठी देनेकी बात स्मरण हो जाय। इसलिये यह घटना या तो अँगूठी देनेके ठीक पहले हुई होगी या उसके ठीक पीछे। आगे चलकर जब रोई हुई अँगूठी मिल जाती है और थापका अन्त हो जानेसे राजाको सप थापें स्मरण हो जाती हैं, तब वे अँगूठीवाली घटनाका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सदा स्मनसराय स्थिर्वर्ध मां प्रिया मयापमाह, किमचिरेखायंपुत्रः प्रतिप्रति दारयतीति ।
पश्चादिमां वाममुद्रां उद्गृह्णती निवेशयता मया प्रथमभिहिता—

पूर्वैकमत्रदिग्मे दिवसे मर्त्यं नामाचरं गणय गच्छसि वावदन्वम् ।
सावक्षिमे गदचरोधगृहप्रवेशं मेनाजनस्तव समीपमुपैश्वरतीति ॥

—शकुन्तल, ६।१२

राजाके इस उपयुक्त आश्वासनसे शकुन्तला प्रसन्न हो गई। उसने रोना-घोना बन्द कर दिया और वह अपने प्यारेके चर्चनोंमें अटूट विश्वास करनेको उद्यत हो गई। परम्परागत हिन्दूधर्मके अनुसार इसके पश्चात् शकुन्तलाका अश्रुमलिन मुख घौला हो चादिपृथा। इसलिये कामलपत्रके दोनेमें लाया हुआ जल बही था जिसे भासनेके लिये ही परिस्थितिमें 'सुवोदकम्' कहा है। और इस समय दीर्घपाद्म भी उस कुत्रमें प्यासा होनेके कारण वहीं आया था—बस कि वह अपनी प्यास तो पासवाले जलाशयसे ही बुझ सकता था—वस्तु यह इसलिये आया था कि मैं चलकर अपनी पालन करनेवाली माताको सावधान कर दूँ कि इस अपरिचित ब्यक्तिका दूतनी शीघ्रतासे विश्राम न कर वेदें, क्यों कि दीर्घपाद्मनी दृष्टिमें तो यह राजा, भोजे-भाजे हिरनोंके अपने शब्दोंसे मारनेवाला अहेरी ही था। दीर्घपाद्मने राजाके हाथका जल अस्वकार करके उनमें अपना अविश्वास स्पष्ट रूपसे प्रकट कर दिया था। चौथे अंकमें जब यही दीर्घपाद्म उस समय रंगमंचपर लाकर उभयधर कर दिया जाता है जब शकुन्तला, अपने प्यारे सहकार गृहरो लिपटी हुई जलाबहन वनघोखासे बिदा लेती है—

पणजोसिण्ण ! चूदसंगतावि पचालिह मं इदोगदाहिं साहावाहाहिं ।

(प्यारी वनज्योत्स्ना ! तू ग्रामके वृक्षसे लिपटी होनेपर भी अपनी इधर फैली हुई शासकी चाहींसे मुझसे भेंट तो कर ले ।)

और अपने मन ही मन राजा दुप्यन्तके साथ अपने वैवाहिक जीवनका गुलाबी चित्र स्वीचती है । इसके पश्चात् उसका ध्यान उस हरिणीपर जाता है जो स्वयं शकुन्तलाके समान थोड़े दिनोंमें ही माता बननेवाली थी—

ताद । एसा उदजवजन्तचारिणो गम्भमन्धरा मिश्रयद्दु जदाअण्वप्पसवा होइ तादा मे कंवि पिअण्णिवेदइत्थयं विजिअहरसह । (तात ! आश्रममें धारों धोर गर्भके भारसे अलसाती हुई चलने-वाली इस हरिणीको जब सुखसे क्या हो जाय तब किसीके हाथ यह प्यारा समाचार मेरे पास भिजवा दीजिएगा ।)

उतनी देरके लिये वह पत्नी और रानीवाले अपने प्रारंभिक चित्रको भूलकर अपनेको माताके रूपमें देखने लगती है और हम कल्पना कर सकते हैं कि उस समय शकुन्तला अपने मन ही मन यह सोच रही है कि मेरी माँ मेनकाके मेरे साथ कैसा व्यवहार किया था और मैं अपने भावी पुत्रके साथ कैसा व्यवहार करूँगी—ठीक इतने मन-स्थितिके अवसरपर उसका पालित पुत्र दीर्घापाङ्ग उसके वल्ला खाँचकर मानो यह पूछता है कि मुझे छोड़कर क्या तुम अपनी माँ मेनकाकी अपेक्षा कुछ अच्छा व्यवहार कर रही हो ? मैं तो यह सोचता हूँ कि दीर्घापाङ्गको यहां इसलिये उपस्थित कराया गया है कि वह अपनी धर्म-माताको फिरसे विदाईके समय उस दुप्यन्तके सम्बन्धमें दूसरी चेतावनी दे दे जिसके विश्वासघातका पता भोली-भाली अनुसूयाको भी चल गया था—

एवमं खान विसअपरंमुदरस वि जणरस ए एइं ए विदिअं जधा तेण एण्णा सउन्दलाण अण्णं आअरिअं । (यद्यपि मैं प्रेमकी बातें कुछ भी नहीं जानती फिर भी इतना तो अवश्य कह सकती हूँ कि उस राजाने शकुन्तलाके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया ।)

यदि शकुन्तलाका मन कल्पनाके मधुर स्वप्नोंमें मग्न न होता तो संभावतः वह अपने नितार्थ-साधियों द्वारा दी हुई इन चेतावनियोंको अवश्य समझ जाती । यही मेरी दूसरी समस्याका समाधान है । यदि हम जिज्ञासु भावसे कालिदासके इस प्रमुख ग्रंथको पढ़नेका अभ्यास करें तो हमें सीमाव्यवस्था, इष्ट-उत्तरको छाँटो मोटो यातोंकी छोड़कर विभिन्न पाठोंकी समस्या इस परिणामतक पहुँचनेमें पाधा नहीं डालती ।

सन् १९२३ ई०में एशिया मेजरके द्वितीय खण्डके ८४ से ८७ पृष्ठमें मैंने अपनी तीसरी समस्यापर एक लेखमें पूर्ण विस्तारसे विचार किया है । इसका सम्बन्ध शत्रुघ्न अकरी चक्रवाकवाली घटनासे है । इस घटनासे संबंध रखनेवाले तीन प्राकृत संवाद हैं जिनमें पहलेको छोड़कर दूसरा और तीसरा संवाद देवनागरी संस्करणमें मिलता है, बंगाली संस्करणमें पीछेके दो संवादोंको छोड़कर केवल पहला संवाद मिलता है, काश्मीरी पांडुलिपिमें तीनों संवाद मिलते हैं और यही सभी समीक्षाकी कसौटीपर ठीक उतरता भी है । ठीक क्रमसे ये संवाद इस प्रकार हैं—

१. अनुसूया—सहि । ए सो अरत्तनपदे अथि चित्तयन्तो जो तए विरहिअन्तो अज ए ऊसुअो कदो । पेअस ।

पुडहणि यत्तन्तरिअं बाहरिओ शाणुवाहरोदि पिअं ।

मुदउअुदमुवालो तह दिअिं देइ अण्णाओ ॥

[सति] न स आध्रमपदेऽसित चित्तशान् वस्तुया विश्रामानोऽथ मोक्षुकः कृतः । मेघरज ।
पक्षिनीपत्रान्तरितं व्याहृतो नानुन्याटरति त्रियाम् ।
मुसोद्वपद मृषालस्वयि दष्टिं द्रदाति चक्रवाक ॥]

(सती । यहां आध्रममें कीन पंखा प्राणी है जो तुम्हारे पिछोहसे दुखी नहीं है । देखो ।—
कमलिनीके पत्तेकी ओटमें बैठा हुआ चक्रवाक अपनी प्यारीके बुलानेपर भी उसका उत्तर नहीं दे
रहा है और चाँचमें कमलकी खंडी पकड़े हुए तुम्हारी ही और टट्टकी लगाए देर रहा है ।)

२ शकुन्तला हला ! पेरस !

शलिणी-चन्द्ररिचं एता त्रियसहथरं अपेयजन्ती ।
धारइ चक्रवाहं दुकामहय करेमि ति ॥

(सती । देख तो) कमलिनीके पत्तेकी ओटमें छिपे हुए अपने चक्रवाक न देर सकनेसे यह
चक्रवाक धरारकर चिन्ता रही है । इसलिये मैं जिस कामसे जा रही हूँ वह पूरा होता नहीं
दिखाई देता ।)

३. त्रियंवदा—सहि ! मा एन्यं मन्तेहि ।

एतावि पिण्य त्रिधा गमेइ रयथि त्रिसाट्दोहरं ।
गरथ पि विरहदुरलं आसायन्धो राहावेदि ॥

(सति । ऐसा नहीं सोचना चाहिए । जानती हो ? यह चक्रवाक विश्रामकी लम्बी रातें अपने
प्यारेके बिना अकेली ही काट देती है क्योंकि मिलनेकी आशा वैसे वड़े विरहके दुःखमें भी टाकल
देखाते रहती है ।

यहाँपर यह पूरी घटना शकुन्तलाकी यह समझानेके लिये खार्ई गई है कि थाने तुम्हारे भाग्यमें
कथा बदा है । चक्रवाक पुकारती है किन्तु चक्रवाक उत्तर नहीं देता, क्योंकि उत्तर न देनेके कारणोंपर
उसका कोई बरा नहीं है, उसका हृदय शकुन्तलाके वियोगसे भरा हुआ है । इसी प्रकार शीघ्र ही
शकुन्तला भी पुकारेगी और दुःखान्त भी उसका उत्तर नहीं देगा । अनसूया अपनी सखीको ध्यानवाना
देती है और वह विद्यासे साथ सात्वना दे भी सकती थी क्योंकि उसके हाथमें शापका अन्त
करानेवाली शंखूरी तो थी ही । इसलिये ठीक इस घटनासे अगले संघाटमें ये सतिवा शकुन्तलाकी
शंखूरीका स्मरण करा देती हैं । दूसरी दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि कथवने अपने जिस शोकको
प्रकट नहीं होने दिया उसीको प्रकट करने एक प्रकारके वैवी परिश्रानसे समझकर शकुन्तलाकी भावी
विपत्ति और दुःखको चेतावती दे दी ।

उपर्युक्त मर्मसासे यह भला भाति स्पष्ट हो गया होगा कि कालिदासने शकुन्तलाको उस सती
निसर्ग-कन्याके रूपमें चित्रित किया है जिसे पृथितके उन ,पदार्थोंके साथ अत्यन्त घनिष्ठ व्यवहार
और सम्बन्ध रखनेका अधिभार मिला था जिनके बीचमें वह पत्नी थी । जगतक हम् कविके
“प्रकृति तथ्य” की नहीं समझ लेते तत्रतक कालिदासकी शकुन्तलाके भीतरी मधुक्की हम ठीक-
ठीक समझ नहीं सकते । पिरोल, पाठनकर तथा वैपैलरके प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए भी मैं कह
सकता हूँ कि नाटकके इस भागको और लोगोंका ध्यान न जानेका यही कारण है कि अनी
सक इस नाटकका वारतविक आलोचना-पूर्ण संस्करण तैयार नहीं हो सका है ।

योगवासिष्ठमें मेघदूत

[प्रो० डा० मीलनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट्.]

योगवासिष्ठ महारामायणके निर्वाण-प्रकरणके उत्तरार्द्धके ११३ वें सर्गमें मेघदूतका निम्नोद्धृत-
वर्णन आता है :—

कथयत्येष पथिकः पर्य मन्दरशुल्कके । प्रियायाश्चिरलम्बाया वृत्ता विहसंकथाम् ॥१॥

एकत्र पूरुष किं वृत्तमाश्रयमिदमुद्यमम् । द्वाहुं चञ्चिकटे वृत्तमहं चिन्तान्वितोवदम् ॥२॥

श्रिमन्महाप्रलयकालसो विद्योने यो मां तथेह मनयाति गुहं सकः स्यात् ।

नैवास्त्यसौ जगति यः परदुःखशान्त्यै प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत् ॥ ३ ॥

आ एष शिखरे मेघः स्मराश इय संयुतः ।

विद्युत्तटा विलासिन्या वलितो रसिकः स्थितः ॥ ४ ॥

ध्रातमं व महेन्द्रचापमुचितं ब्यालम्प कखडे गुणं नीचैर्जं सुहृत्कं कुरु दया सा बाष्पपूर्णं पण्डा ।

बाला बालमृणाल कोमलतनुत्वनो न सोढुं क्षमा तां भवा सुगते गलज्जलबेराधासवाला मिलैः ॥१॥

चित्तल्लिकषा चरोमि लिपित्वाऽऽलिङ्गता सती ।

न जाने क्याधुनैवेतः पयोद दयिता गता ॥ ६ ॥

[अर्थात्—त्रेखिष्ट यह पथिक मन्दर पर्वतके गुह्रममें चिरकालसे बियुक्त पत्नीकी पाकर उससे अपने पूर्वकालके विरहकी कथा इस प्रकार कहता है—इस मेरे एक दिनके उत्तम तथा आश्रयजनक वृत्तान्तको सुनो । एक दिन तुम्हारे निकट अपना वृत्तान्त भेजनेके लिये दूतकी विन्ता करते हुए मैंने यह कहा कि इस महाप्रलय कालके समान विद्योयके दुःखमें ऐसा कौन दूत है जो मेरे इस वृत्तान्तको मेरे घर जाकर मेरी प्रियासे कहे, क्योंकि इस संसारमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो प्रीतिसे दूसरेके दुःखकी शान्तिके लिये सरल भावसे प्रयत्न करे । इतनेमें मुझे स्मरण हो आया कि इस पर्वतके शिखरपर दूसरेके दुःखको शान्ति देनेवाला रसिक मेरा अपनी विलासिनी विद्युत् स्त्री प्रियासे संयुक्त स्थित है । इसलिये उससे मैंने कहा कि हे पद्मधनुष स्त्री सुन्दर गाला अपने गलेमें पहने हुए, भर्तृ मेरा मेरी जिन्म पत्नीकी धार्यमें आमुर्गाका जल भरा हुआ है, उसके पास जाकर धीरे धीरे गरजना क्योंकि यह कमलके द्रवके समान कोमल शरीरवाली क्षुरा बाला है और तुम्हारा कठोर या ऊँचा गर्जन सुननेमें असमर्थ है । उने जाने जलकणोंसे युक्त मन्दर पर्वतके शीर्षोंसे जातना । मैंने अपनी प्रियाको हृदयाकाशमें चित्तस्त्री खेरनीसे लिखकर जो आलिङ्गन किया तो न जाने हे मेरा ! यह ताण्डल कहाँ चली गई ।]

श्री योगवासिष्ठ महारामायणके इस छंदसे "मेघदूत" के वर्णनकी यदि हम महाकवि कालिदासके प्रसिद्ध काव्य "मेघदूत" से तुलना करके अध्ययन करें तो जान पड़ता है कि दोनोंके वर्णनमें बहुत ही समानता और एकता है । पाठकोंके सामने यद्येव हम कवि कालिदासके मेघदूतकी उन पंक्तियों और शब्दोंको उद्धृत करते हैं जिनमें यह समानता विशेष रूपसे पाई जाती है ।

योगवासिष्ठ—

"प्रियायाश्चिरलम्बाया वृत्ता विहसंकथाम्" २१॥११३॥

मेघदूतम्—

“वान्ता धिरहयुत्था” ११:

योगवासिष्ठ—

“त्रातु स्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽजदम्” ६३०।११११।२

मेघदूतम्—

“जीमूतेभ स्वकुशलमर्थी हारथिप्यन्यवृत्तिम्” ११७

योगवासिष्ठ—

“अस्मिन्महाप्रलयकालसमे चियोमे यो मां तपेह मम याति गृहं य क. स्यात् ।

नैवास्त्यसौ जगति यः परदुःखशास्त्रै प्रीत्या निरन्तरतरं सरत्तं शरीर ॥” ६३०।११११।३

मेघदूतम्—

“संनतानां त्वमसि शरयं हत्वयोद् प्रियायाः सदेवं मे ह” । ११७

योगवासिष्ठ—

“या एव गितरे मेघः समराध इव संयुतः” । ६३०।११११।७

मेघदूतम्—

“ मेघमाश्लिष्टयानुं ।

यमकीटा-परिष्यत-गज-प्रेक्षणीयं ददर्श ॥ ११२

योगवासिष्ठ—

“विद्युत्तुता विलासिन्या बलितौ रसिकः स्थितः”

मेघदूतम्—

“विद्युद्गर्भः २१७०

“मा भूदेवं उद्यमपि च ते विद्युता विप्रयोगः” २१६८

योगवासिष्ठ—

“स्राहमेवं महेश्वरपामुचितं व्यालरन्ध्र कण्ठे मुखं

नीचैर्जं मुहुर्दं कं कुर शरी सा वाप्यपूर्ववशा ।

यासां बालमृशालकोमलतनुरतन्वी न सीदुं चमा

र्ता गता सुगन्धे गलनखरचैराश्रासयाग्मानिलैः ॥” ६३ ११११।१७

मेघदूतम्—

“तामु धाप्य मन्त्रलक्ष्मिवाश्रितसैनानिलेन

मयाधरतां” सममग्निनर्षीजालकैर्मलितानीम् ।

विद्युद्गर्भः स्तिम्निनयनां त्यज्यनाथे मराच्छे

यन्तु धिदः मन्दिनयचनैर्मन्दिनां इन्द्रमेयाः” ॥ २१७० ॥

योगवासिष्ठ—

“चित्तकृष्टिया व्योम्नि लिखिताऽऽस्तिङ्गिता मर्ता ।

न जाने कोपुनैवेत पयोद इगिता गता” ॥ ६३०।११११।९ ॥

मेघदूतम्—

“त्वामातिरथ प्रलयवृत्तिनां चानुरासैः शिलाया-

साम्मानं ते चरत्य-पठिभं याचद्विष्णुनि कर्तुम् ।

अथैतान्मनुहुस्वचिदैर्दृष्टिरालुप्यते मे

अरुस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥ २१४७ ॥

योगवासिष्ठ महारामायणके निर्वाण प्रकरणके उत्तरार्द्धके ११६ वें सर्गके ३२ वें श्लोककी

इन—

“अस्याः प्रागभवत्यतिः स मुनिना शापेन वृषी कृतो ।

वर्षद्वादशकं तदेव गण्यन्त्येष साऽत्र स्थिता ॥”

दो पत्तियोंकी तुलना भी मेघदूतकी इन पत्तियोंसे कीजिए :-

कश्चित्कान्ता विरह गुरुरास्वाधिकारात्प्रमत्तः ।

शापेनास्तंगमितमट्टिमा वर्षमोग्येण भर्तुः ॥ १११ ॥

मेघदूतमें ही नहीं महाकवि कालिदासके अन्व काव्य कुमारसंभवमें भी कुछ पंक्तियो ऐसी हैं जो कि योगवासिष्ठ महारामायणमें पाई जाती हैं।

उदाहरणार्थ देरिए—

योगवासिष्ठ—

अथ तामतिमात्र विह्वला स कृवाऽऽकाश भवा सरस्वती ।

शफरी हृदशोप-विह्वला प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पत ॥

कुमारसंभवम् :-

इति देह विमुक्तये स्थिता रतिमाकाशभवा सरस्वती ।

शफरी हृदशोपविह्वला प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पत ॥ ४३९ ॥

इन दोनों श्लोकों में ये शब्द—“आकाशभवा सरस्वती। शफरी हृदशोप-विह्वला प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पत ॥” पूर्यतः एक ही हैं। अतएव यह कहना ठीक नहीं है कि ऊपर दिखाई हुई समताएँ आकस्मिक हैं। अथर्व ही योगवासिष्ठकार और कालिदास दोनोंमें से कितनी एकने दूसरेके वाक्यों और विचारोंका प्रयोग किया है। विद्वानोंने अभी तक न तो महाकवि कालिदासका ही और न योगवासिष्ठ रामायणका ही समय पूरे ढंगसे निश्चित कर पाया है। अतएव यह कहना कठिन है कि दोनोंमें से किसको मौलिक कहा जाय। ऐतिहासिक प्रमाणको यदि माना जाय तो योगवासिष्ठ महारामायण आदिकवि शीघ्रात्समीक्षणीकी कृति है और मेघदूत और कुमारसंभवके लेखक महाकवि कालिदास आदि विक्रम सम्राट्के (५० ई० पू०) नगरोंमें से एक थे। जो सबसे केवल दो सहस्र वर्ष भारतपर शासन करते थे अथि वास्तविक अथर्व ही कवि कालिदासके पूर्ववर्ती माने जाने चाहिये। किन्तु आजकलके विद्वानोंके मतमें समूचा योगवासिष्ठ—जैसा कि यह आजकल मिलता है—दूतना पुराना ग्रन्थ नहीं है जितना यह बताया जाता है। उसमें बहुत सा भाग बहुत पीछेना है और अथर्व ही कालिदासके समयके पाँड़े का है। निर्वाण प्रकरणका उत्तरार्द्ध पीछेना जान ही पड़ता है। जिसमें “मेघदूत”की कल्पना भी गई है अतएव यह संभव है कि योगवासिष्ठकारके ऊपर कालिदासके विचारों और प्रयोगोंको कुछ छाप पड़ गई हो। कुछ भी हो, विद्वानोंके लिये यह बात विचारणीय है। आशा है कि पुरातत्वके कोई विद्वान् श्व सम्भवानी और प्दान देकर इसरो मुनामानेना सब करेंगे।

मेघदूतका अध्ययन : शिवका स्वरूप

[छा० श्रीमद्भगवद्गीता, संमहाभ्युत्थ, नैशनल म्यूजियम ऑफ इंडिया, नई दिल्ली]

पंडितोंकी दृष्टिमें मेघदूत-काव्यका संदर्भ बुद्ध भी हो, स्वयं कालिदासने मेघदूतमें बड़े वीरालसे शिवके स्वरूपका सन्निवेश कर दिया है। उज्जयिनीमें महाकाल शिवके पुण्यधामका वर्णन है। शिवके गणोंका, उनके नीलकण्ठ गुल्फका, शिवजीके मृत्युका तथा उसके धारम्भमें गतासुरकी दृष्टिके परिधानका उल्लेख है [मे० ११४०]। शरको मूली कड़कर उनके त्रिशूलकी धोर भी संकेत है। चंडी, भवानी और गौरीके नाम भी हैं। शिवजीके अष्टहासका [मे० ११६२], उनकी जटाओंमें कलोल करती हुई जडुतनयाका तथा पार्वतीके साथ गंगाके सपत्नी भावका भी वर्णन है [मे० ११६४]। शंभुके मुजगोंका, पार्वतीके साथ उनके विहारका, [मे० ११६४], कुबेरके साथ उनकी मैत्रीका, विश्वरिषों द्वारा उनके यशोगानका, त्रिपुरकी विजयका एवं उनके वृषभका भी वर्णन है। शिवजी त्रिनयन हैं [मे० ११६६], उनके सलाहपर द्वितीयाके चन्द्रमाकी कला है [मे० ११६६], मदनका ये दर्शन कर चुके हैं, इसलिये जहाँ शिवका निवास है वहाँ कामदेव जाकेसे डरता है। देवगणनाशोंके दर्पणके समान काममें आनेवाले राजतगिरि कैलासके अरुसंगमें तो अलकापुरी ही बनी हुई है। शिवजी पशुपति हैं [१६०], उनके चरण-न्यासकी परिग्रहा और दर्शन करके अद्यात्त जन स्थिर पद अर्थात् अनापृच्छिमय मोक्ष [सुमार सं० ६] पाकेमें समर्थ होते हैं [मे० ११६६] जो शिवके प्रमथ आदि गणोंका स्थान है।

स्वामिकाविकेय और उनके जन्मका भी उल्लेख कविने किया है। काविकेय स्वयं क्या है ? शिवजीका जो सूर्यसे भी अधिक प्रभाशाली तेज है वही अतिके सुारमें संचित होकर सुमारके रूपमें प्रकट हुआ है [अत्यादित्यं हुवचरसुरे संसृष्टं तद्वि सेज., मे० ११७०]। सुमारका निवास स्थान देवगिरि है, मेघको वहाँ जाकर पुष्पाकार जलजिह्वु बरसानेका आदेश है क्योंकि रज्जुका जन्म देवासुर-संग्राममें देवसेनाकी रक्षाके लिये हुआ था, इसलिये वे पूजाधी अंजलिके अधिकारी हैं। कालिदासने स्वयंके मयूरको भी स्मरण किया है। पुत्रके अतिशय प्रेमने कारण भवानी पार्वती सुमारके वाहन मयूरके गिरे हुए पंखको कानदा अलकार बनाकर पहनती है। उस मयूरको मृत्युके द्वारा आनन्दित करनेका भी मेघको परामर्श है। इस प्रकार अनेक प्रकारसे वृषराजकेतन शिवके स्वरूपका निर्देश कालिदासने मेघदूतमें किया है। इस स्वरूपपर विस्तृत विचार करनेकी आवश्यकता है।

कविके अनुसार मेघ तो कामरूप पुत्र्य है और हरने अपने कोषानलसे कामको भस्म कर दिया था, इसलिये भी शिव और वृषाक्षक मेघका पविष्ट सम्बन्ध है। वस्तुतः कालिदासका सम्पूर्ण दार्शनिक विज्ञान शिवके स्वरूपके सीधे द्विधा हुआ है। शिव, पार्वती और सुमार तीन हैं, इसपर सूक्ष्म विचार कर लेनेसे हम केवल कालिदासके ही नहीं, बल्कि अन्य भारतीय साहित्यके

सिद्धान्तोंकी भी सहजानुभूतिके साथ समझ सकेंगे। कालिदास उल्लृप्त फीटिके अद्वैतवादकी माननेवाले थे। वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्मकी ही वे शिव करते हैं। उद्भवी शिव संज्ञा वेदोंमें भी कई स्थलोंपर आई है—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयरकराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

[यशुः १६।४१]

यहाँ शिवके शम्भु, शंकर, मयरकर, मयोभव नाम आए हैं। कालिदासने शिवकी अखंड सत्ताका बराबर गुणगान किया है। जो ब्रह्म सब लोकोंका अघिष्टता है, जिसकी आत्मशक्ति अपने गुणोंसे युक्त होकर इष्टुतिकी रचना और उसके विसर्जनका कार्य करती रहती है, वही अग्रयात्मा, अज, स्वयम्भू, अष्टमूर्ति [रघुवंश २। ३५] भूवपति महेश हैं। जिन अष्ट स्वरूपोंकी स्तुति कालिदासने शकुन्तलाके मंगल-रत्नोक्तमें की है वे ही गीतामें भी हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ७।१ ॥

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, इन आठ रूपोंमें मेरी प्रकृति विभाजित है। कविने स्वयम्भू, विष्णु और शिव, इस त्रिमूर्तिके अद्वैत भावका भी प्रतिपादन किया है। ब्रह्माका वर्णन करते समय उन्होंने स्पष्ट कहा है कि वे शिव, ब्रह्मा और विष्णुमें कोई भेद नहीं मानते [कुमारसंभव २।४]।

कालिदासके दार्शनिक मतमें एक शब्द इन्द्र अद्वैत ब्रह्म ही परम तत्त्व है। उनकी त्रिदेव-स्तुतियों उपनिषदोंके समान ब्रह्मका सरस और निर्भीक प्रतिपादन करने वाली हैं। रघुवंशके दशम सर्गमें [१६ से ३२ तक] खीरसागर-रिधत अवाङ्मनस-गोचर शेषासीन विष्णु भगवानको प्रशाम करके देव लोग उनकी स्तुति करते हैं।

शिव, विष्णु और ब्रह्माके जो पृथक् पृथक् वर्णन कालिदासने किए हैं उनमें भी अन्योन्य-संज्ञकित भाव और पद हैं। शिवका अद्वैत स्वरूप कुमारसंभवके अनेक रत्नोक्तोंमें आया है—

कलितान्योन्यसामर्ग्यैः पृथिव्यादिभिर्गामभिः ।

देनेदं ध्रियते विरवं भुवैर्यानिमिवाप्यनि ॥ [कुमार संभव, ६।७६]

शिव विरवापुरोगुरु [कु० ६।८३], विरवात्मा [कु० ६।८८], त्रैलोक्य-वन्द्य [कु० ७।२४] और तमोयिकारसे अनपहत [कु० ७।४८] हैं। यह शिव किसीकी स्तुति नहीं करता, उसको सत्य स्तुति करते हैं, वह किसीकी घन्दना नहीं करता, उसकी सत्य घन्दना करते हैं [कु० ६।८३], यह जगत्का ध्वज और मनोरथोंका अधिपति है। [कु० ६।१७], पाथी, मन और बुद्धिकी यहाँ पट्टण नहीं है, उसको लम्बतः कौन जान सकता है ?

किं मेन शूलसि व्यक्तमुत्र वेन विभक्तिं च ॥

अथ विरवरस्य संहर्ता भागः कल्प एव ते ॥ [कु० सं०, ६।३२]

मझके अद्वैतका प्रतिपादन करके कालिदास आगे बढ़ते हैं। जो अनेक पुरुष लोक-लोकान्तर्गता अधिष्ठाता है, परी हमारे आत्म धरममें प्रतिष्ठित है। गीतामें जिसे अक्षर कहा है [अक्षरं परमं ब्रह्म, गी०, ८।८] उसमें और हृदय-देशमें रिपुत आत्मेरवरमें कोई भेद नहीं है। गीताका क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार कालिदासको मान्य है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ [गीता, १३।१]

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वं क्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यदाऽज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

[हे अर्जुन । इसी शरीरको क्षेत्र कहते हैं । इस क्षेत्रको जो जानता है उसे इस शास्त्रको जानने-वाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं । हे भारत । सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वही मेरा ज्ञान माना गया है ।] इस प्रकार-गीताके अक्षर, क्षेत्रज्ञ, तद्विद् आदि शब्द भी कालिदासने ले लिए हैं—

यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमाद्यान्यवलोकयन्तम् । [कुमार०, ३।२०]

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम् ।

यनाष्टतिमयं परम पदमाहुर्मनीषिणः ॥ [कुमार०, ६।७७]

कालिदासने उसी योगसाधना-मार्गका चर्चन किया है जिसका प्रतिपादन गीतामें है—

‘योगाभ्यासी पुरुष एतेऽशुद्ध आसनपर धरणा स्थिर आसनलागिने जो न बहुत ऊँचा हो न नीचा ।

उसपर पहले दर्भ और फिर सृगङ्गाला और वस्त्र बिछाये । वहाँ चित्त और इन्द्रियोंका व्यापार रोककर तथा मनको एकाम करके आत्म-शुद्धिके लिये आसनपर बैठ कर योगका अभ्यास करे ।

काय अर्थात् पीठ, मस्तक और घोंघाको सम करके स्थिर होता हुआ, दिशाओंको न देखे और नासिकाके अग्र भागपर दृष्टि जमावे । वायुरहित स्थानमें रखले हुए दीपककी उभोति जैसे निरचल होती है, वही उपमा चित्तको संयत करके योगाभ्यास करनेवाले योगीकी भी दी-जाती है । योगानुष्ठानसे निरुद्ध हुया चित्त स्वयं आत्माको देखकर आत्मामें ही संतुष्ट हो रहता है.....।

इसकी तुलना कुमारसंभव [३। ४४-२०] से करनी चाहिए—

स देवदारुद्रुमरेदिकायां शार्दूलचर्मण्यवघ्नानवल्गाम् ।

आस्तीनमासन्नशरीरपातक्षिवन्धकं संयमितं ददर्श ॥

पर्यकचन्द्रस्थिरपूर्वकायसृञ्चापत्वं सन्नमित्तोभयांसम् ।

उत्तानपाशिद्वयसन्निवेशात् प्रकुलुराजीवमिवाकम्प्ये ॥

सुतंगमोसृज्जटाकलापं कर्णावसक्तं द्विगुणाच्छत्रम् ।

कंठप्रभा-संग-विशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥

किंचित्प्रकाशरितमितोप्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः ।

नेत्रैरपिस्पन्दितपद्ममालैल्लंपीकृतप्राणमबोमयूथैः ॥

अष्टद्विस्तरंभमिवानुवाहमपामिवाघारमनुत्तरंगम् ।

अन्तरचराणां महतीं निरोधान्नियतनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥

कपालनेत्रान्तरलम्बमार्गैर्योतिः प्ररोहेरुदितैः शिरस्तः ।

सृष्टास्त्रसूयाधिकसौकुमार्यां बालरप लक्ष्मीं ग्लायन्तमिन्द्रेः ॥

मनो नपद्मारनिपिद्धृत्तिं हृदि श्ववस्थाप्य समाधिवश्यम् ।

यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमाद्यान्यवलोकयन्तम् ॥

"शासत्र-मृत्यु कामने देवदारुओंके अधोभागमें बनी हुई वेदीपर वाद्यम्बर बिछाकर बैठे हुए समाधिनिष्ठ शिवको देखा। ये वीरासनसे शरीरके ऊर्ध्व भागको निरचल करके मेरुदण्ड सीधा ताने हुए थे, उनके दोनों स्कन्ध-प्रदेश कुछ आगेको झुके हुए थे, हथेलीके ऊपर रखी हुई हथेलीको प्रफुल्ल कमलके समान रङ्गमें धारण किए हुए थे। मुर्बोंसे लिपटी हुई जटाओंवाले, कानोंसे लटकती हुई दुहरी रुद्राच मालाओंवाले, नीलकण्ठीकी प्रभाके मिलनेसे विचित्र कान्तिवाली कृष्ण गुग्गुला गलेमें गांठ लगाकर पहने हुए शंकरजी, नीचे झुटती हुई प्रकाशकी किरणोंवाले उन नेत्रोंसे नासिकाके अप्रभागको देख रहे थे, जिन मन्द प्रकाशसे युक्त नेत्रोंकी उग्र पुतलियाँ निखल थीं, जो भ्रूविक्षेपमें अनासक्त थे, तथा जिनका निमेषोन्मेष कार्य भी धन्द था। दृष्टि-संज्ञोभसे रहित मेयके समान तथा तरंग-रहित तालके समान प्राणायामादि शरीरस्थ वायुओंका निरोध करके ये निष्कम्प इर्दोपकी भौति स्थित थे। कपालस्थ विवृति-मागोंसे भीतर प्रवेश पाकर सिरपर फूटती हुई तेजकी किरणें कमलसे भी अधिक कोमल इन्दुकी कान्तिको फीकी कर रही थीं। इस प्रकार प्रविधानसे वरुमें किये हुए मनको, समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे हटाकर, हृदय-देशमें अर्धचित्त करके उस परमात्म-तत्त्वको आत्मानमें ही प्रत्यक्ष कर रहे थे, क्षेत्रविद् लोग जिसे 'कूटस्थ' प्रज्ञ कहते हैं।

शिव, विष्णु और ब्रह्माका अद्वैतभाव, शिव और कूटस्थ आत्माका तादात्म्य और योग-द्वारा उस अचर महका साक्षात्कार ही कालिदासका दार्शनिक मत है।

शिवके द्वारा मदन-दहनका रहस्य

शिव जिस समय आत्म-प्रापण करना चाहते हैं, उस समय काम उनके मार्गमें विघ्न करता है। उस कामको वे अपने वशमें करते हैं। योधि-लाभ करनेसे पूर्व भगवान् बुद्धकी भी मार-विजय करना पड़ा था। काम और शिवका सम्बन्ध अत्यन्त पवित्र है। कामकी संज्ञा घृण है, घृण नाम नेत्रका है। मेघ ही घृणा इन्द्रका कामरूप पुरुष है, अर्थात् घृण, काम और मेघ एक ही तत्त्वके नामान्तर हैं। जिस मेघको दूत कल्पित करके यज्ञ अपने कामोद्धारोंका प्रकाश करता है, उसको आरम्भ्य परमेश है कि वह शिवको प्रसन्न करे, मन्त्रिने नद्य होकर दूर-चरन्त्यासकी परिष्कार करे तथा अपना अग्नि गंभीर घोष, पशुपतिके संगीत-साजके काममें लाये। कामका निम्न कामवाले शिव, कामसे किस प्रकार प्रसन्न हो सकते हैं, इसका उत्तर शिव-पार्वतीका विवाह है। पार्वती सुमुख्या नाकीका नाम है। मेरुद्वय हिमालय है, इसीके भीतर सुमुख्या है। इस मेरुद्वयमें घः चक्र और छेतीस पर्व मा अग्नि-पोर है। ये पोर एक दूसरेसे संटे रहते हैं। मेरु ही पर्वत है [पर्वत्यि सन्वत्सर]। उस पर्वतके भीतर रहनेवाली सुमुख्या पर्वतराजकी पुत्री पार्वती है। अग्नि-पोरोंके भीतर एक सिद्ध है, पर्वोंके परस्पर मिलनेसे यह रन्ध्र, दीर्घ-नलिकाकार हो जाता है। इसीके भीतर सुमुख्या नाकी है। यह नाकी मरितकरसे होती हुई पृथ-वर्गमें अथर्वयुत होकर लक्ष्मी भाषेके मूलाधार चक्र तक आती है। पर्वतियके भीतर पहले रहेत, फिर विभूति वर्णका

भूरा मजामय पदार्थ भरा रहता है जो मस्तिष्कके कोशोंमें भी पाया जाता है। इसी मजामय सुषुम्णाके भीतर एक सूक्ष्म विषय है जो नीचेसे ऊपर तक धायत रहता है। सुषुम्णाके बाईं ओर हटा और दक्षिण ओर विंगला नाम की नाड़ियाँ हैं जो सुषुम्णासे संबद्ध रहती हैं और सहस्र जालसे फैलती हुई अन्तमें कपालस्थ धाज्ञाचक्रमें सुषुम्णासे मिल जाती हैं। ये नाड़ियाँ सब प्राणकी वाहिका हैं और प्राण ही जीवन-तत्त्व है।

भौतिक पदमें इस प्राणके आधार वे सब नाड़ी-जाल और पद चक्र हैं। नाड़ियोंकी सूक्ष्मताकी कोई सोना नहीं है। उनकी संख्या योग-शास्त्रके अनुसार ७२००० है। वस्तुतः आधुनिक शरीर-शास्त्रीके लिये भी समस्त नाड़ी-संख्याका निर्धारण कठिन है। इन समयमें मुख्य सुषुम्णा ही है। स्थूल-शरीर-विज्ञान जीवन-तत्त्वके भौतिक आधारका ही परिचय पा सका है, उसका भोगायतन [क्रियायुक्त लौजिकल] रूप प्रयोग-साध्य है। परन्तु योग-विद्या मानसिक पदमें भी प्राणकी गतिका निर्देश और सूक्ष्म परिचय कराती है। इसीलिये भौतिक प्रयोगसे जिस वस्तुका ज्ञान नहीं हो पाता, ध्यानमें उन्हीं शारीरिक रदस्थोंका मानसिक क्रियाओंके साथ प्रत्यक्ष हो जाता है। तन्त्र-प्रयोगमें इसके दो प्रकारसे वर्णन मिलते हैं। कहीं तो भोगायतन-पेचमें शरीर संबन्धनमें जीवन-तत्त्वका अधिष्ठान समझानेके लिये सुषुम्णा आदि संज्ञाओंसे काम लिया जाता है और कहीं उस वर्णनको ध्याप्यमित्तक स्वरूप देकर शिव, पार्वती, कुमार, प्रमद आदि संज्ञाएँ कथित करके योग-प्रत्यक्षको शब्दों-द्वारा प्रकट किया जाता है। पद चक्रोंका स्थान और क्रम इस प्रकार है—

१. मूलाधार [कौशतीजियल रोजन]—इसका संयोग गुह्यसे है। इसमें चार पर्व (वर्ति-प्रल) हैं जो कि ऊपरके पर्वोंकी अपेक्षा छोटे और अर्ध्या दूरातमें हैं। ये चारों पृथक् पृथक् स्फुट स्वरूपके न होकर एक ही अस्थिसे प्रतीत होते हैं जिसे श्रेणैजीमें कौविस्रस कहते हैं। कीकसा अस्थि भी यही ज्ञात होती है। कुंडलिनी शक्ति यहीं निवास करती है। शिव-पार्वतीके विवाहमें कुंडलिनीको जगाकर ही ब्रह्मांड या मस्तिष्कमें ले जाते हैं। इसीको योगकी परिभाषामें सर्पिणी कहते हैं क्योंकि यह सर्पिणियोंकी भाँति कुंडल मारकर सोई रहती है। मूलाधारमें पृथ्वी तत्त्वका स्थान है।

२. स्वाधिष्ठान [सेकल रोजन]—इसका अधिष्ठान लिंगमें है। इसमें पाँच पर्व हैं। ये पाँचों भी एक ही अस्थिमें जुड़े रहते हैं जिसे श्रेणैजीमें सेकम कहते हैं। इन्हीं दोनों अस्थियोंके भी पर्वोंकी निम्नलिखित आधुनिक शरीर-शास्त्री, मेरुदण्डमें २४ अस्थियोंकी गणना करते हैं। पर भारतीयोंने इस शक्तिको तैत्तिरीय पर्वोंसे युक्त ही माना है। स्वाधिष्ठान-चक्रमें जल-तत्त्वका अधिष्ठान है।

३. मणिपूर [लम्बर रोजन]—इसका स्थान नाभि है और मेरुदण्डके इस भागमें २ पर्व हैं। तेज इसका तत्त्व है। इन तीन चक्रोंकी मेरुदण्ड लेनेपर योगी विहाट् भावसे युक्त हो जाता है, उसकी मोह-निव्रा हट जाती है।

४. अनाहत [डोर्सल रोजन]—मेरुदण्डमें १२ पर्वोंवाला यह चक्र हृदयमें स्थित है। यहाँ वायु तत्त्वका स्थान है।

५. विशुद्धि चक्र [सर्विक रोजन]। इसमें सात पर्व हैं और यह श्रोत्रामें स्थित है। यहींसे आकाशगुण्यक शब्दका जन्म होता है। इसके भेद करनेपर योगीको आकाश तत्त्वपर विजय प्राप्त हो जाती है।

६ आजाचक्र—मस्तिष्क प्रदेशके मध्य या त्रिकुटीमें योगी इसका स्थान-मानते हैं। यहाँ सुषुम्णाका धन्व हो जाता है। यहा मन, बुद्धि और अहंकारका निवास है। इसी स्थानपर ज्ञान-चक्षु है जो मृत्योय नेत्र है। यहीं शिवका वास है।

जब योगी पाँच चक्रोंको सिद्ध कर लेता है, तब उसे काम-बाधा नहीं सता सकती। शिवके लिये कालिदासने कहा है—‘अरुणदायं मदनस्य निमदात्’, अर्थात् मदनके निमग्नके कारण रूप या सौन्दर्य उनके चित्तको नहीं हर सकता। पहले शिवने मदनको भस्म कर डाला है [भस्मा-वशेषं मदनं चकार] तभी वे पार्वतीके साथ विवाह करके पदानन्द कुमारको जन्म देते हैं। आजा-चक्रके ऊपर सहस्रदल-कमल [सेरेपल रोजन] है जहाँपर साक्षात् शिव निवास करते हैं।

कुमारका जन्म शिवके रक्तन्दित सेजसे होता है। यह तेज पार्वती रूपी सुषुम्णामें निक्षिप्त होकर क्रमशः चन्द्रों के द्वारा पुष्ट और ज्वालित होता हुआ रक्तन्दको जन्म देता है जो इसी कारण चन्द्रः माताओंके पुत्र या पापमातुर कहे गये हैं। कालिदासने मेघदूतमें रक्तन्दके जन्मका रहस्य सूत्र रूपमें लिख दिया है—

तत्र रक्तन्दं नियतवसति पुष्पमेघीकृतात्सा

पुष्पासारैः सपयतु भवान्भेषोमंगगाजलाद्वैः ।

रक्षादेतोर्नवराशिभृता वासवीनी चमूना-

मत्वादित्यं हुतवहसुक्षे संभृतं तद्धि तेजः ॥ ११७७ ॥

यहाँ देवगिरिपर बसनेवाले कुमारको अपना अन्न-पुष्पलम्बक रूप बनाकर आकाशगंगासे लीची हुई पुष्पदुष्टिसे स्नान कराना। देवसेनको रक्षके हेतु पापकके सुखमें तबित सूर्यसे भी अधिक प्रभाशाली शिवका तेज ही कुमार है—

आशादित्यं हुतवहसुक्षे संभृतं तद्धि तेजः ।

यही रक्तन्दकी परिभाषा है। हुतवह अर्थात् अग्नि नामक सुषुम्णाके सुखमें सूर्यसे भी अधिक प्रकाशित शिवका तेज ही रक्तन्द है। कौयोंमें रक्तन्दको पत्नीका नाम देवसेना है। इन्द्रियोंकी सारिवक और सामयिक वृत्तियोंका इन्द्र देवानुर संग्राम है। जब सतोगुण्यो इन्द्रियों कामसे हारने लगती है, तब वे समाधिमें बैठे हुए शिवसे प्रार्थना करती हैं कि वे उन्हें एक सेनापति दें। देवीने भी यही कहा है—

१ सुषुम्न। सुम्न = आनन्द। पुञ् अग्निये धातुसे सुम्न बनता है। षट्चक्र भेदके पश्चात् रक्तन्द जन्म लेता है। लोकमें रक्तन्दका सम्बन्ध छः की संख्यासे है—पदानन्द, रक्तन्द-पत्नी। आशा-चक्रका ओं चिह्न भी आर्धर एवेकने दिया है उसमें कुमार पदानन्द दिखाए गए हैं।

२ षट्चक्र सुषुम्णा नाड़ीमें ही रहते हैं। शरीर-विशानमें सुषुम्णाके पाँच शामायिक विभाग हो गए हैं, छटा सबसे ऊपर है जहाँ सुषुम्णा (साइन्स कौर्ड), पाँच रज्ज (मैगनम फोटोमैग, अर्थात् मरे छेद) में होती हुई मस्तिष्क या मस्तिष्कमें फैल जाती है। इन पाँच चक्रोंकी दक्षिण-पश्चिमी मादिपैकी सर्वप्रथम सुरा, चिग, नाभि, हृदय और फंडके है। उदाहरणके लिये मणिरू चक्र, नाभि देशका निवन्धन करता है पर उग्रहा स्थान सुषुम्णामें ही है। इसी प्रकार पथ भी है।

तद्विद्यामो विभो सप्तु सेनान्यं तस्य शान्तये । [कुमार०, २११]

अर्थात् उस अमुरको परात परनेके लिये हम लोग एक सेनापति चाहते हैं। शिवजीने इनको भरम किया, तदुपरान्त उमाकी वपस्यासे सुमुग्धा नाड़ी-द्वारा योगकी साधनासे शिव और वंतीका विवाह हुआ अर्थात् प्यक्तिका चिदात्मका शक्ति जो अधोद्वारी थी वह अन्तर्द्वारी होकर वपसारदलमें स्थित पर शिन्दु शिवसे संयुक्त हो जाती है, फिर विषयोंसे उसे कोई भय नहीं रहता। इन्द्रियों और सर्पोंको भय देती हैं, वे ही प्रभुओंके रूपमें शिवके पारंप [परिपदि साधु] होकर ली है। 'अद्यादित्यं द्रुतवह कुले रुभृतं तद्वि तेजः' यो समझनेके लिये तनों नाड़ियोंके नामान लेने चाहिएँ। सुमुग्धा = वह्नि स्वरूपा, सरस्वती, लोहित-वर्णा। इटा = चन्द्र-रूपरूपा, गा, सतोगुणी, अमृत विप्रहा, पीत वर्णा। पिगला = सूर्य स्वरूपा, टैजसवर्णा, रौद्रात्मिका, त्रिणी, वसुना, राजसी।

सुमुग्धाका नाम वह्नि या द्रुतवह है। इसीमें अर्पना तेज दहन करनेसे शिव यज्ञा कहलाते। साधनामें पुरपका तेजइसी वह्निके मुखमें संचित होता रहता है और जब छुर्थे चक्रोंका द पूरा हो जाता है सभी उस कुमारका जन्म होता है जिसकी अभ्युत्थतामें देवसेना कभी नहीं रती। पुराणोंके अनुसार कुमार वे हैं जो प्राजन्म मङ्गलकारी हैं।

सद्वपारदलमें जो शिव हैं वे ही अक्षर तत्त्व हैं। यही समस्त प्रकृतिकी चित् शक्ति है। ज्ञाधार चक्रमें शक्तिपीठ है जहाँ स्वसिकी शक्ति निवास करती है। शक्तिके तीन कोश कहे गए हैं— च्छा, ज्ञान और त्रिया। इन्द्रोंका नाम त्रिपुर है। इनके मध्यमें बसनेवाली शक्ति त्रिपुरसुन्दरी कही गई है। इसी त्रिपुर या त्रिकोणमें हुंडल मारकर शान्त धसनेवाली शक्ति की शब्दगत कल्पना विपिणीकी है। इसीसे शिवके शरीरमें मुजंग लिपटे रहते हैं और शिवको अद्विचलय धारथ्य रनेवाला कहा गया है। कालिदासने कहा है—

द्विवा तस्मिन् मुजंग-वलयं शम्भुना दत्तहरता ।

क्रीडाशैले यदि च विचरेत् पादचरेण गौरी ॥ [मेघ०, ११६४]

मूलाधारमें यह सपिंथी शिवरूप ज्योतिके चारों ओर लिपटी रहती है, परन्तु प्राज्ञा-चक्रमें हँचकर जब शिव-पार्ष्ठीका संयोग हो जाता है तब यह हुंडलिनी पूरी हुल जाती है, मानो शिवजी अपने संपबलयको त्याग देते हैं। जहाँतक शरीरशास्त्रसे सम्बन्ध करनेका विषय है चर्चितक इस प्रकार त्रिकोणात्मिका शक्तिके रूपको शक्यशास्त्रके द्वारा हम नहीं देख सकते। मानस प्रत्यक्षसे संबंध रखनेवाला घन्तु, यन्त्रद्वारा कैरे जानी जा सकती है? इसका दर्शन योगपद्धतमें प्यान

१. केन्द्ररूप नाड़ी-द्वारा की रचना अत्यन्त जटिल है। उन तन्तु-समूह, घटिका-विन्दुओं और प्रतनुओंमें घटित हानेनासे सवेदनात्मक तथा संकल्पारमक कार्यका ठीक ठीक पता आमतक नहीं लग सकता है। कुछ आश्चर्य नहीं यदि भारतीय योगी प्यानमें इसका प्रत्यक्ष कर सके हों। यह भी हमरण रखना चाहिए कि चेतनाका जो भौतिक आधार है वह उसके बहुत मोठे अथवा स्वरूपका परिचय कराता है। कुछ लोग भोगायतन पद्धतमें चेतनाका आधार न पाकर उसकी तलाकी ही सदिग्ध मान बैठते हैं। चेतना [चिदात्मक शक्ति] मनोविज्ञानसे संबंध रखती है, भौतिक रचनामें उगना अपूर्ण आभास मिलता है इसलिये भौतिक रचनाकी उसका प्रमाण-दर्शक नहीं मान सकते।

द्वारा ही हो सकता है। ज्योति या तेजःस्फुलिंगके आकारका शिबलिंग इसीका प्रतीक है। शिव इसी शक्तिके त्रिकोण या त्रिपुरकी ध्वज्य करते हैं, इससे उनकी संज्ञा त्रिपुर-विजयी है। मेरुदंड रूपी पर्वतके सिरेपर उसीके एक प्रदेशका नाम वैलास है। मेरुदंडका उर्ध्व सिरा ही वैलास है जहाँ आशाचक्र है। यहाँ वैलासपर ही अलकापुरी है। कालिदास कहते हैं कि यहाँ कामदेव अपने चापपर शर नहीं धड़ाता—

मवा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्गन्तं ।

प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः पट्पदज्वम् ॥ [मे०, २।१४]

[वैलासके उत्सर्गमें बसी हुई अलकामें शिवका साक्षात् निवास जानकर यहाँ कामको अपनी भौरीकी डोरीवाला धनुष फाममें लानेका साहस नहीं होता।] ठीक भी है, आशा-चक्र-तक सिद्धि-प्राप्त योगीको कामवाधा नहीं सता सकती। इसीलिये यहाँ हिमालयमें ही किन्नरियों निहकर त्रिपुर-विजयके गीत गाती हैं—

संसकाभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः । [मे०, १।६०]

यहाँ धनपतिका यश किन्नर गाते हैं क्योंकि शिव और धनपतिमें सख्य-भाव है—

उद्वगायन्निः धनपतियशः किन्नरैर्वैत्र साधम् ॥ [मे०, २।१०]

धनपति लुबेरका अनुचर यद्यथावसर पाते ही अपने कामरूप पुरुषको शिवकी उपासना करनेका आदेश देता है। पार्वतीकी संज्ञा गुहा, स्कन्दकी गुह और यक्षोंकी गुहाक है। इससे भी इनके परस्पर संबंध का संकेत मिलता है। यद्यथा कामकी मूर्ति है। उसके नेत्रोंसे ही कामदेव टपका करता है। इस प्रकार कामसे भरा हुआ पुरुष यवश्य ही गुहाक या रक्षा करने योग्य है। यह धनपती रक्षाके लिये उस देवकी शरणमें जाता है जिसने कामको भसा कर दिया है, तथा फिर जिसके धनगजित रूपसे सेनानी गुहका जन्म हुआ। शिवजी पिनाक-पाथि हैं—

अरूप-हार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाथि पतिमाप्नुमिच्छति । [कुमार०, २।१२]

पिनाकको शिवका धनुष कहते हैं। निरकमें पिनाकके धर्म हैं—

रम्भः पिनाकमिति दंडरथ । [नैगम कांड ३।४]

अर्थात् रम्भ यौन पिनाक दंडके नाम हैं। यहाँ यह भी लिखा है—

कृत्तिकासाः पिनाक-दृष्टोऽप्यततधन्योऽपि निगमो भवति ।

पिनाक नाम मेरुदंडका ही है। यह शिवका धनुष है। इस दंडाकार धनुषकी दो कोटियाँ, सिरे हैं। नीची कोटि मूलाधार चक्रमें है। यहाँ जो कुंडलिनी पड़ी है, उसीको पिनाककी प्रत्यंघा कल्पित करके उसके दूसरे सिरेको शिव आशा-चक्रमें ले जाते हैं। यही धनुषकी प्रत्यंघा चढ़ाना या ध्वजत-पन्ना होना है। प्रायः धनुषोंकी प्रत्यंघा खुली रहती है और ये दंडाकार होते हैं। जो पुरुष धनुष पर चिह्न [डोरी] खटा सकता है, यही उस धनुषका स्वामी माना जाता है। पिनाकको अपने प्रथम शिष्यने अधिगम किया, इसलिये वे ही उस धनुषके स्वामी हैं।

१. गृहति रक्षति देवतेनामिति गुहः। इः कामः अधिगम यस्य स यद्यः। [गानुजी दीक्षित] अर्थात् देवतेनार्थी को रक्षा करता है वह गुह है और निरक भी अर्थात् काम भरा रहता है यह मद्य है।

शिवजीकी संज्ञा खडपरशु है—

मृतेय खडपरशुगिरिशो गिरिशो मृद । [अमरकोष]

और यहींसंज्ञा मृगुपतिकी म है । मृगुपतिकी संज्ञा मूर्ध्निधारण कालिदासने ही दी है—
इंसद्वारं मृगुपतिवशोवर्धं वक्रौचरुभ्रम् [मे०, ११६१] । कौचदारण सज्ञा स्वामी काविकेय^१ की भी है । इस प्रकार शिव, मृगुपति और कुमारका समन्वय भी स्थापित होता है । शिव और कुमारमें कोई भेद नहीं है क्योंकि शिवका हीतेज कुमार है । यह भी प्रसिद्ध है कि कुमारकी उत्पत्तिमें किमी स्त्रीके गर्भकी आवश्यकता नहीं हुई । परन्तु कालिदासने कुमारकोअग्निके मुखमें समुत्पन्न तेज^२ लिखा है । फिर जो पिताके शिवके पास है, वही अन्वय नामक शिव धनु अत्र परशुरामके पास भी था । इस प्रकार इन तीनोंमें समन्वय प्रतीत होता है । योगकी साधनामें पृथक्पृथक्के भेदके समय प्राणको जिस रुग्णमेंसे निकलकर शिवतक पहुँचना पड़ता है, वही कर्वाचरुग्णका कारण है । कपालस्थ जिस रुग्णमें होकर सुपुण्या मस्तिष्कमें प्रवेश करती है यह द्वार ही यह मूर्ध्नि र-भ्र है । सुपुण्या [स्पाइनल कोर्ड] श्वेत और विमूढि चर्मा पदार्थकी यनी हुई नाड़ी है । वह मूलाधार चक्रसे उठकर, आगेके चार चक्रोंमें होगी हुई विशुद्धि-चक्र [त्रिविज रीजन] को पारकर मस्तिष्कमें पल जाती है । त्रिविज रीजनके प्रथम अक्षि पर्वको अग्नेजामें घुटलस पड़ा जाता है, जो अपने ऊपर आकाश या सुलोकको उठाए हुए था । यहींसे सुपुण्या नाड़ी स्पाइनल चक्रमें होकर मस्तिष्कमें जाती है । इसलिये मूर्ध्नि पर्व ही स्पाइनल चक्र है जिसे मेहुता औबर्लागाटा भी कहते हैं । इसीमें कर्वाचरुग्ण या वड़ा देह है जिसे अग्नेजामें योगमम क्रोरामेन कहे हैं । इसी विषयमें तिर्यग्यायामके साथ अर्थात् तिरछी मुककर सुपुण्या प्रवेश करती है । कुंडलिनी शक्ति जिस समय मूलाधारसे जागकर शिव नामक आज्ञाचक्रमें जाती है, उसे भी इसी द्वारमेंसे होकर जाना पड़ता है । इस रुग्णवा कारण करना मृगुपतिके लिये वड़ा यशस्वी कार्य है, इसीसे कालिदासने इसे मृगुपतिवशोवर्धं [मे०, ११६१] कहा है । प्रलेपाद्रि या दिमाद्रि अर्थात् पर्ववान् पृथ्वीके उर्ध्वतममें ही यह मूर्ध्निद्वार बताया गया है । मृगुपति, शिवका नामान्तर है । मूर्ध्नि धारण, खड-परशु, कुमार, मृगुपति, औरशिव य एक ही चैतन्यके नामान्तर हैं जो विशेषगुणोंके कारण कल्पित किए गए हैं ।

मूर्ध्निचतसे तुरन्त आगे शुभ्र कैलास ही खड़ा है [मे०, ११६२] । योगकी परिभाषामें विशुद्धि-चक्रके अनन्तर आज्ञाचक्र है जहाँ शिवरूप उपोतिता प्रकाश है । मूलाधार चक्रसे योग साधनाके लिये जिस नृत्यका आरम्भ होता है उसकी सिद्धि होनेपर शिवजी उन्नत महदास करते हैं, यही मानो शुभ्र कैलासके रूपमें बनीभूत हो गया है—

राशोभूत प्रतिदिननिधय गन्धकरवाहदास [मे०, ११६२]

इसी कैलासका नाम रत्नगिरि है । यहाँ एक मण्डि तट है । उसपर शिवजी, गौरीके साथ आरोहण करना चाहते हैं । मरणको चाहिए कि वह स्वनिभलान्धजलोद्भव [अपने जलतापको भीतर रोक रखनेवाला] होकर अपने शरीरकी सीढ़ी बनाकर शिवकी चर्मा आरोहण करनेमें सदायत्ता दे ।

१. वाणमातुर शक्तिधर कुमार मूर्ध्निधारण । अमरकोष ।

के श्रेष्ठे धनदावासे मूर्ध्नि, मूर्ध्निचोऽभिषाचते । बृहदारण्यकी ।

२. तेजो हि पाशाद्भवत्यगो हरस्यैव मूर्ध्निचरमित्यर्थ । [महिद्वय], अर्थात् यह तेज शक्ति

१. कात् मूर्ध्निचर ही है ।

इस मखितट्टा का योग-ग्रन्थों में विशद वर्णन है। पादुका-पंचक नामक तन्त्रयोगके ग्रन्थों में मखिपीठकी बड़ी महिमा कही गई है। मखित्पकमें जो परम चिन्मय सहस्रदल-कमल है उसमें अ-क-ध त्रिकोण है। उस त्रिकोणमें मखिपीठ है, उसपर शुभ्र रजताद्रिके समान अनन्तगुरु शिव सुशोभित है यथवा प्रकृति-पुरुषके संयोग रूप शिव-गौरी विराजते हैं। मेखवृत्तमें कामरूप पुरुषकी स्तम्भित करके शिव उस मखितट्टा-पर चढ़ते हैं। इस मखितट्टाकी प्रभा तद्विच्छन्निकी लज्जानेवाली है [पट्ट तद्विच्छन्न-कडारिम-स्पर्द्धमान मखिपाटलप्रभम्]। कालिदासने न केवल कर्त्तव्यग्रन्थके पश्चात् कैलासका ही वर्णन, आचर्यक समझा, वरन् वहाँके मखितट्टाकी भी नाम लिखा है। इससे उनकी योग-परिभाषाका संकेत स्पष्ट सिद्ध है—

भंगी भङ्गना विरचितवपुः स्तम्भितान्तजलौघः ।

सोपानत्वं कुरु मखितट्टारोहखायाप्रयायी ॥ [मे०, ११६४]

[हे मेघ ! तू धागे बढ़कर धपना जल अपने भीतर रोककर जगके मखितट्टापर चढ़नेके लिये सोपान बन जाना ।] इन वर्णनों में कविने काव्यके साथ साथ योगशास्त्रके उच्च अनुभवोंका भी गूढ़ समन्वय किया है।

मखिलगाथने क्रीडाशैली [मे०, ११६०] का अर्थ बताते हुए शम्भु-रत्नका अचरवराय देकर लिखा है—

कैलासः कनकाद्रिश्च मन्दरो गन्धमादनः ।

क्रीडार्थनिर्मिताः शंभोर्द्वयैः क्रीडाद्रयोऽभवन् ॥

[देवताशैलीने शम्भुकी क्रीडाके लिये कैलास (रजताद्रि), कनकाद्रि (मेरु, सुमेरु, हेमगिरि, महा-रत्नगिरि), मन्दर और गन्ध-मादन पर्वत बनाए थे, इसलिये ये सब क्रीडाशैली कहलाते हैं ।]

मेरु पर्वत या मेरुद्वंद्व और उसके समीप-स्थित क्रीडाशैली कैलासका परस्पर सम्यन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। कैलासकी व्युत्पत्ति ही क्रीडा-स्थान है—कैलाशिं समूहः कैलम् [तस्य समूहः इत्यण्] तेन आस्यतेऽत्र [आस्-वैटना] इति कैलासः [भानुजि दीक्षित], अर्थात् शिवकी क्रीडाशैली स्थान कैलास है। यहीं कुबेर रहते हैं, यहीं यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध और चारुणिके मिथुन विहार करते हैं, यहीं ध्यानाचस्थित होकर योगी शंकर तप करते हैं और फिर पार्वती-शक्तिसे विवाद करके क्रीड़ा करते हैं। वस्तुतः यहाँ एक ही मेरुद्वंद्वको पर्यंत कल्पित करके उसके भिन्न भिन्न नाम दिए गए हैं। इस मेरुद्वंद्वका जो भाग मूलाधार-चक्रमें स्थित है उसका नाम चित्रकूट है क्योंकि चित्रा नाम सुशुभ्या या कुंडलिनीका है, और यह चित्रिणी मूलाधार-चक्रके आधारपर उठती हुई है। चित्राका कूट ही चित्रकूट है। यही रामगिरि है क्योंकि शिवधनुको शिवकी भाँति रामने

१. वीदों का महामन्त्र—ॐ मणिपद्मे हुं—हरी मणिकी और संकेत करता है। काशी [शान्तीपुरी, शिवके घाम] में मणिर्गिरिका घाट है जहाँ नहानेसे अथवा प्राण त्यागनेसे मोक्ष होता है। मणिर्गिरिका—सदस्वारदल कमलकी वर्णिका।

२. भूरे और द्येत दो वर्णोंके संयोगके कारण कुण्डलिनीके ललिता या त्रिशू नाम दिया गया है। प्रे मेरु और छारट मेरुके मिश्रणसे चित्र वर्ण बनता है—देरिए आर्धर एरलेनकृत 'स्पेंड पावर', पादुका-पंचक भाग, पृष्ठ १६५ ।

भी अधिष्ठ किया था। यहाँसे काम-गुरुय उदरर फैलासकी गोदमें बसी अलकाको जाता है। मेरुदंडकी एक कोटिपर शिव और दूसरीपर राम हैं, इन्हींके बीचमें यह अजगम धनुष तना हुआ था अथवात है। कुण्डलीके चिचरको सहस्रार पत्र इके हुए है। वृषडलीके चिचर [रपाहनल कौलम-के अन्तर्गत रपाहनल केनाल] से तात्पर्य उस मार्गसे है जिसके द्वारा मूखाधारमें शिव तेजके चारों ओर प्रसुप्त कुण्डलिनी प्रसुप्त होकर ऊपर चढ़ती हुई शिवसे मिल जाती है। चित्रिणीके भीतर ही यह मार्ग है। चित्रिणी उस नलिकाको समझना चाहिए जिसके भीतर यह विचर है। जिस प्रकार कमल अपनी नालके सिरेपर शोभित होता है, वैसे ही चित्रिणी और सहस्रदल तथा द्वादशदल कमलका सम्बन्ध है। चित्रिणी या कुण्डलिनी परम चैतन्य ज्योति है। यही वह स्पन्दनाथरु शक्ति है जिससे सब रचना होती है। इसीकी इच्छा, ज्ञान और भायानयी त्रिगुणात्मिका मूर्ति जोयो [पशुओं] में सत्व, रज और तम रूपमें प्रकट होती है। उसीके संकोच और प्रकर्षके स्फुरणसे मीडा-शरीर बनता है। ऋग्वेदमें इसी अद्विती शक्तिके थाठ पुत्र घटाए गए हैं। शैव दर्शनमें भी शिवकी थाठ मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं। योग-साधनामें सहासि [पंचेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि], कुण्डलिनी-रूपिणी उमा और शिवके बीचमें पढकर उनका विमोह-सम्बन्ध स्थिर करते हैं। जर शिवका पार्वतीके साथ विवाह रचाया जाता है तब ये सातों ऋषि विवाह-यज्ञके अव्ययुं बनते हैं। इस यज्ञमें यदि इनकी अनुमति और शुभाशीर्वाद होता तभी यह सफल हो सकता है। शिवजी कहते हैं—

विवाह-यज्ञे विवतेऽत्र मृगमर्षयवः पूर्ववृत्ता मयेति । [कुमार०, ७१७०]

- [विवाह-यज्ञका विताम होनेपर पहले ही मैंने आप लोगोंको अपना अव्ययुं बना लिया था ।]

मेघदूतमें शिवके वाहन वृषका [११६६] और कुमारके वाहन मयूरका [११७८] भी उल्लेख है। वृष या इन्द्र, इन्द्रियोंकी शक्तिका कारण है। पाणिनि भी इन्द्रिय-शक्तिकी व्युत्पत्ति इन्द्रसे ही करते हैं [११२१६६]। वृष, इन्द्र और कामका धनिष्ठ सम्बन्ध है। शिवजी जिस समय तीसरे नेत्रसे उत्पन्न अग्निमे कामकी भरम कर देते हैं तब मानो वे वृष [काम] पर आरोहण करते हैं। इस वृषपर आरोहण करनेके लिये वे कुम्भोदर सिंहकी सहायता लेते हैं, यथा—

कैलासगौरं वृषमारुहणोः पादापंखानुग्रहपतपृष्टं ।

अथेहि मां किं क्लमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भ-मित्रम् ॥ [रघु०, २१३६]

[कैलासके सदृश शुभ वृषपर आरोहण करनेकी इच्छासे जिसकी पाँठपर पैर रखकर शिव चढ़ते हैं वह मैं अष्टमूर्तिका किहू कुम्भोदर नामका सिंह हूँ ।] काम-शक्तिका वर्णन गीतामें भी यही है—

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् । [३१३०]

[कामदेव बड़े भोगवाला है ।] काम और रसनाका सदा साथ है, क्योंकि जो जलवाय

१. भी चितिशक्तिरेव पारमेस्वरी ज्ञान-क्रिया-भाषा-शक्तित्रितयतया भोषदाधिवादिपदे स्फुरित्वा वृद्धोच्चप्रकारितस्वरजसमोस्तं क्रोडा-घटोरे भवति [लघु-निर्णय पृ० ३७]। सुप्रसुप्त योगी अपनी चित् शक्तिके स्कारसे ही सब अगत्को अपिठिन जागता है [प्रथमिकाध्यास]।

२. इन्द्रियभिन्द्रलिंगभिन्द्रदृष्टभिन्द्रसुष्टभिन्द्रसुष्टभिन्द्रदचमिति वा । [अष्टाध्यायी, ५।१।१३]

इस मण्डितक का योग-ग्रन्थोंमें विशद वर्णन है। पादुका-पंचक नामक तन्त्रयोगके ग्रन्थमें मण्डिपीठकी यन्त्री महिमा कही गई है। मस्तिष्कमें जो परम चिन्मय सहस्रदल-कमल है उसमें य-क-थ त्रिकोण है। उस त्रिकोणमें मण्डिपीठ है, उसपर शुद्ध रजताद्रिके समान धनतगुरु शिव सुरोभित है अथवा प्रकृति-पुरवके संयोग रूप शिव-गौरी विराजते हैं। मेघदूतमें कामरूप पुरवकी स्तम्भित करके शिव उस मण्डितक-पर चढ़ते हैं। इस मण्डितककी प्रभा तद्विचल्युचिकी लजानेवाली है [पद्म विद्वि-कडारिम-स्पर्द्धमान मण्डिपाठस्रप्रभम्]। कालिदासने न केवल क्रीडारत्नके पश्चात् कैलासका ही वर्णन आचरणक समझा, परन्तु यहाँके मण्डितकका भी नाम लिखा है। इससे उनकी योग-परिभाषाका संकेत स्पष्ट सिद्ध है—

भर्गी भपत्या विरचितपपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः ।

सोपामत्वं कुरु मण्डितदारोहेत्यायाप्रयापी ॥ [मे०, ११६४]

[हे मेघ ! तू आने पड़कर अपना जल अपने भीतर रोझकर शिवके मण्डितकपर चढ़नेके लिये सोपाम बन जाता ।] इन वर्णनोंमें कविने काव्यके साथ साथ योगशास्त्रके उच्च अनुभवोंका भी गूढ़ समन्वय किया है।

मल्लिनाथने श्रीदाशैल [मे०, ११६०] का अर्थ बताते हुए शम्भु-रहस्यका अवतरण देकर लिखा है—

कैलासः कनकाद्रिश्च मन्दरे गन्धनादनः ।

क्रीडाद्यनिर्मिताः शंभोर्देवैः श्रीदादयोऽभवन् ॥

[देवताओंने शम्भुकी क्रीडाके लिये कैलास (रजताद्रि), कनकाद्रि (मेरु, सुमेरु, हेमगिरि, महा-रजतगिरि), मन्दर और गन्ध-नादन पर्वत बनाए थे, इसलिये ये सब क्रीडाशैल कहलाते हैं ।]

मेघ पर्वत या मेरुदंड और उसीके समीप-स्थित श्रीदाशैल कैलासका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। कैलासकी व्युत्पत्ति ही क्रीडा-स्थान है—कैलासां समूहः कैलम् [तस्य समूहः इत्यण्] सेन आरभतेऽत्र [आस-वैठना] इति कैलासः [भानुजि दीक्षित], अर्थात् शिवकी क्रीडाशैलीका स्थान कैलास है। यहाँ सुन्दर रहते हैं, यहीं यश, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध और चारणोंके मिथुन विहार करते हैं, यहाँ भ्यानावस्थित होकर योगी शंकर तप करते हैं और फिर पार्वती-शक्तिते विषाद करके क्रोध करते हैं। अस्तुतः यहाँ एक ही मेरुदंडको पर्वत कहियत करके उसके भिन्न भिन्न नाम दिए गए हैं। इस मेरुदंडका जो भाग मूलाधार-चक्रमें स्थित है उसका नाम चित्रकूट है क्योंकि चित्रा नाम सुपुण्या या कुंडलिनीका है, और यह चित्रिणी मूलाधार-चक्रके धाधारपर उदरी हुई है। चित्राका कूट ही चित्रकूट है। यही रामगिरि है क्योंकि शिवचक्रकी शिवकी मूर्ति रामने

१. चौदों का महामन्त्र—ॐ मणिपद्मे हुं—इसी मणिकी ओर संकेत करता है। काशी [शानकी पुरी, शिवके घाम] में मणिनिर्गका पाठ है जहाँ नहानेसे अथवा प्राण लगानेसे मोक्ष होता है। मणिकर्णिका—सहस्रादल कमलकी कर्णिका ।

२. भूरे और श्वेत दो वर्णोंके संयोगके कारण कुण्डलिनीको ललिता या निधा नाम दिया गया है। मे गैटर और हारट गैटरके मिलनेसे चित्र वर्ण बनता है—देखिए गार्थर एवलेनकृत 'सपेंड पावर', पादुका-पंचक भाग, पृष्ठ १६५ ।

भी अचिन्त्य किया था। यहाँसे काम पुरुष उठकर कैलासकी गोदमें बसी अलकाको जाता है। मेरुदंडकी एक कोटिपर शिव और दूसरीपर राम हैं, इन्हींके बीचमें यह अत्रयव धनुष तथा हुआ या अचतत है। कुचडलीके धिचरको सहस्रार पद्म ढके हुए है। कुचडलीके धिचर [स्वाइनल कीलस-के अन्तर्गत स्वाइनल केनाल] से तात्पर्य उस मार्गसे है जिसके द्वारा मूलाधारमें शिव तेजके चारों ओर प्रसुप्त कुचडलिनी प्रतुद्ध होकर ऊपर चढ़ती हुई शिवसे मिल जाती है। चित्रिणीके भीतर ही यह मार्ग है। चित्रिणी उस नलिकाको समझना चाहिये, जिसके भीतर यह विवर है। जिस प्रकार कमल अपनी नालके सिरेपर प्रोमित होता है, वैसे ही चित्रिणी और सहस्रदल तथा द्वादशदल कमलका सम्बन्ध है। चित्रिणी या कुचडलिनी परम चैतन्य ज्योति है। यही वह स्पन्दनामक शक्ति है जिससे सब रचना होता है। इसीकी इच्छा, ज्ञान और मायामयी त्रिगुणात्मिका मूर्ति जीवों [पशुओं] में सत्व, रज और तम रूपमें प्रकट होती है। उसीके सकोच और प्रकर्षके स्फुरणसे फ्रीडा-शरीर बनता है। शम्भेदमें इसी अदिति शक्तिके आठ पुत्र यत्पाप गण हैं। शैव दर्शनमें भी शिवकी आठ भूर्तिर्पाँ प्रसिद्ध हैं।^१ योग-शास्त्रनामों सप्तवि [पचेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि], कुचडलिनी रूपिणी उमा और शिवके बीचमें पक्कर इनका विवाह सम्बन्ध स्थिर करते हैं। जब शिवका पार्ष्णीके साथ विवाह रचाया जाता है तब ये सात^२ ऋषि विवाह-यज्ञके अंगुं बनते हैं। इस यज्ञमें यदि इनकी अनुमति और शुभाशीर्वाद होगा तभी यह सफल हो सकता है। शिवजी कहते हैं—

विवाह-यज्ञे विततेऽत्र यूपसर्ज्वय पूर्ववृता मयेति । [कुमार०, ७।१०]

[विवाह-यज्ञका विधान होनेपर पहले ही मैंने आप लोगोंको अपना अध्यर्षुं- बना लिया था ।]

मेवदूतमें शिवके वाहन वृषका [१।१६] और कुमारके वाहन मयूरका [१।१८] भी उल्लेख है। वृष या हनु, इन्द्रियोंकी शक्तिका कारण है। पाणिनि भी इन्द्रिय-शक्तिकी व्युत्पत्ति इन्द्रसे ही करते हैं^३ [१।२।१३]। वृष, इन्द्र और कामका घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिवजी जिस समय तीसरे नेत्रसे उरग्न अग्निसे कामको भस्म कर देते हैं तब मानो वे वृष [काम] पर आरोहण करते हैं। इस वृषपर आरोहण करनेके लिये वे कुम्भोदर सिद्धकी सहायता लेते हैं, यथा—

कैलासगौर वृषमारुदसो पादार्याणामुग्रहपुवष्टुष्टं ।

अवेदि, माँकिकहस्तमृत्त कुम्भोदर नाम निवृम्भ मित्रम् ॥ [रघु०, २।३६]

[कैलासके सदृश शुभ्र वृषपर आरोहण करनेको इच्छासे जिसको पीठपर पैर रखकर शिव चढ़ते हैं, वह ही अष्टमूर्तिका किन्नर कुम्भोदर नामका सिद्ध है ।] काम शक्तिका घटान गीतार्थों भी यही है—

महाशानो महापाप्मा विद्वयेनमिह वैरिणम् । [१।३०]

[कामदेव बड़े भोगवाला है ।] काम और रसनाका सदा साथ है, क्योंकि जो जलवाय

१. भी चित्रिणीकरिव पारमेधरी ज्ञान किया-भाषा शक्तिभित्तयतया आंशदाधिवदिपदे स्फुरित्वा वृद्धोचप्रसर्पात्सर्वरत्नमारुपं फ्रीडा-शरीरं भवति [ल-द-निर्णय पृ० ३०] । सुप्रसुप्त योगी अपनी चित् शक्तिके द्वासे ही सब अणुओंको अधिष्ठित बनाता है [परमभित्तवात्] ।

२ इन्द्रियभिन्द्रलियभिन्द्रहृष्टभिन्द्रसुष्टभिन्द्रशुष्टभिन्द्रदत्तमिति वा । [अष्टाध्यायी, ५।२।१३]

महाकवि कालिदासकी उपमाओंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन

[श्री पी० के० गोडे, संग्रहालयप्राध्यापक, भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना]

संस्कृत-साहित्यका प्रत्येक विद्यार्थी उस श्लोकसे पूर्णतः परिचित है जो उपमा कालिदासस्वयं प्रारम्भ होता है—

उपमा कालिदासस्य भावैरधंगौरवम् ।

द्विष्टनः पदलालित्यं भाषे सन्निवृत्तयो गुण्याः ॥

—और यद्यपि उस उद्धरणके महत्त्वको कालिदासके बहुतसे शिष्यवर्गों ने समझ भी लिया है फिर भी किसीने उनकी उपमाओंका यह आलोचनात्मक रूप सामने लाकर नहीं रखा, जो केवल अलंकार-शास्त्रके विद्वानोंके लिये ही नहीं अपितु साहित्यके साधारण प्रेमीके लिये भी अत्यन्त आकर्षक और रुचिकर होता। मैं स्वतन्त्र आधारोंपर उपर्युक्त कथनकी परीक्षा करना चाहता हूँ परन्तु ऐसा करनेमें मेरा ध्येय मुख्यतः मनोवैज्ञानिक विरलेषण ही है। मैं केवल कविकी पर्यवेक्षण-परिधि, उसकी सौन्दर्यानुभूति और उसके विस्तृत ज्ञानकी ही और संकेत करना नहीं चाहता, अपितु उनकी उपमान्वेषणकी विचित्र शक्तिके उन विभिन्न रूपोंका विस्तारसे वर्णन करना चाहता हूँ जो 'बौद्धिक जीवनके मूल स्तम्भ' माने जाते हैं।

मैं 'उपमा' शब्दका यदा विस्तृत अर्थ ग्रहण कर रहा हूँ। इसलिये इसमें केवल समानतापर आधारित अलंकार ही नहीं सम्मिलित किए गए हैं परन्तु और भी बहुतसे ऐसे अलंकार इसीमें सम्मिलित हैं जो भारतीय आलंकारिकों द्वारा प्राचीन हुई सीमाओंके बाहर हैं, उदाहरणार्थ—रुद्रोक्तिवर्ण [कदावर्ण] का जीवनकी विशेष परिस्थितियोंके लिये प्रयोग करना वास्तवमें तुलना ही तो है, इसलिये मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मैं उन्हें उपमाओं ही सम्मिलित करना ठीक समझता हूँ।

मैंने केवल 'शकुन्तला' की उपमाओंकी आलोचनामें ही अपने प्रयत्नको परिमित रक्खा है क्योंकि पहले तो यह महाकविकालिदासकी सर्वश्रेष्ठ रचना है और दूसरे, नाटकीय रचना होनेके कारण उसमें उनके कालोंकी अपेक्षा मानव-जीवनका अधिक रसा चित्रण है।

इस आलोच्य ग्रन्थमें सब मिलाकर १२० उपमाएँ हैं। यद्यपि प्रथम और पष्ठ अंक विस्तारमें छागभय बराबर हैं, फिर भी पहला तो उपमाओंसे सूक्ष्म-सा है और उसमें जागभग आठ उपमाएँ हैं जब कि दूसरा उनसे एकदम भरा हुआ प्रकाशमान-सा है, और उसमें सब मिलाकर २१

उपमाएँ हैं। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। प्रथम अष्ट तो पूरी रचनाकी प्रायः भूमिका है और कवि 'जीवनकी आलोचना'की अपेक्षा वर्णन करनेमें अधिक इच्छा है—मुख्यतः जीवनकी वह आलोचना, जो किसी भी दृश्य काश्यमें नाटककारका मुख्य काम है। छठे अंकमें कवि कुछ मानस-अनासक्तिकी सिद्धिमें सफल हुआ है जो मानव-चरित्रके मनोवैज्ञानिक विरलेपण और इसके विरतव्यवहारीकरणके लिये बहुत आवश्यक है। दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें अंकमें क्रमशः १३, १७, २७ और २६ उपमाएँ हैं। छठे अंकमें आगे संख्यामें वृद्धि नहीं है अपितु निश्चित रूपसे हास है और सातवें में केवल ३४ हैं। नाटकका उपसंहार सातवें ही अंकमें प्रारम्भ होता है और उसीमें पूर्ण भी हो जाता है। इसीलिये इसमें उपमाओंकी कमी है। चारवथमें इसमें दो शय मानो रीति-तानी कर रहे हैं। नाटकके प्रारम्भमें चलनात्मक तत्त्वकी प्रधानता है जो कभी तो प्रत्यक्ष रहता है और कभी प्रत्यक्ष। आलोचनात्मक तत्त्व वहीं एकदम गौण हो गया है। इसलिये चौथे अंकमें विशेष रूपसे ऐसा शाव होता है कि कवि पूर्ण अन्वहकार भावनाको स्थिर रखनेमें असमर्थ है। ऐसी ही परिस्थितिमें उपमाओंका प्रादुर्भाव आरंभ हो जाता है। इस स्थलपर कोमल भावनाका पूर्ण आधिपत्य है और मल भावावेशमें मूलने लगता है। इस अंककी शैली विशेषतः भाषात्मक है, विवेचनात्मक नहीं और इसीलिये उपमाओंकी संख्यामें क्रमिक हास दिनाई देता है क्योंकि यह रचना मुख्यतः कविके हृदयको उषत है, न कि उसके मस्तिष्ककी।

इस निबन्धका मुख्य लक्ष्य मनोवैज्ञानिक विरलेपण है, अतः मैं सब उपमाओंको उनके मूल-स्रोतोंके अनुसार पहले विभाजित कर लेना चाहता हूँ। मनुष्य और वस्तुओंके सम्बन्धमें कविका ज्ञान-जगत्, निरत विरत है उतने ही विरत उपमाओंके मूल स्रोत हैं—

१. स्वयं और आकाश—सूर्य अपने अनेक रूपोंमें अधिस्तर गुलनाके लिये प्रयोगमें लाया गया है। जलको खोला देनेवाली प्रीत्य ऋतुकी तपसाका वर्णन तीसरे अंकके इसमें श्लोकमें मिलता है। उसका शक्तिशाली प्रकाश चन्द्रमाको मन्द कर देता है [अंक ३, श्लोक १२]। एक साथ ही चन्द्रमाका उदय और सूर्यका अस्त होना संघातकी एक साथ होनेवाली समृद्धि और दीनताका चोकर है [अंक ४, श्लोक २]। एक प्रकाशमान पुत्रका जन्म पूर्वमें सूर्योदयके समान है [अंक ४, श्लोक १९]। सूर्य हमारे सामने कर्त्तव्य-प्रापणके रूपमें रहता गया है क्योंकि लोगोंको प्रकाश देनेके कर्त्तव्यमें वह कभी नहीं पूरणा [अंक ५, श्लोक ४]। यह अन्वहकार दूर करनेका सबसे बड़ा साधन है [अंक ५, श्लोक १४]। ऐसा होनेपर भी रात्रिका अन्वहकार दूर करनेमें यह असमर्थ ही रहता है [अंक ६, श्लोक ३०]। अन्व्य या प्रातःकालीन सन्धि-येताको उसका अमदूत [या अमदूती] यनाया गया है [अंक ७, श्लोक ४]। सूर्य ही अमलोंको गिनाता है [अंक ६, श्लोक २८]।

जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणसे स्पष्ट है, चन्द्रमाके विविध रूप और उगरी विशेषताएँ संरक्षण-कार्योंमें प्रायः रुढ़ हो गई हैं—

शारदी चन्द्रिका पदुन ही आनर्षक होगी है [अंक ३, श्लोक १२ के पद्यान्]—

'क हृदानी शरीरनिर्षांपवित्री शारदीं ज्योत्स्नीं पदान्नेत चारयति ।'

वह सूर्यके प्रखर प्रकाशके सम्मुख पीकी पदुन महत्प्रदीन हो जाती है [अंक ३, श्लोक १२]।

स्वाधिष्ठान-चक्रका अधिष्ठाता है, वही जिह्वामं वसता है। घृत्पर चढ़नेके लिये कुम्भोदरकी पीठ-पर पैर रखना आवश्यक है। स्कन्दका वाहन मयूर है। हम बता चुके हैं कि स्कन्दका सम्बन्ध छ की संख्यासे है, उसका वाहन मयूर भी पञ्च स्वर संवादी है। सर्परूप कुण्डलिनीका स्वाभाविक वैर मयूरसे है। परन्तु शिवकी साधनासे जन्म हुए बुभारवा वाहन होकर मयूर, कुण्डलिनी-रूपी सापणीका मित्र हो जाता है। शिवके कुटुम्बमें सोप शोर मोर बैर त्याग कर बसते हैं। तत्पर्यय यह कि पहले मनुष्य कुण्डलिनीके पथार्थ स्वरूपको न जानकर उसे विनाशकारी मार्गमें लगाता है पर 'कुमार' स्कन्दके जन्मके पश्चात् यह अपने पट्टचक्रोंके संयमपूर्ण विनियोगको जान जाता है। कामका सम्बन्ध रेतसे है, कामका निवास स्वाधिष्ठान-चक्रमें है। इसी चक्रमें जलका निवास है, जैसा कहा है—वाप. रेतो भूत्वा शिशुम् प्राविशन् [ऐतरेय ङ० १११४]। आयुर्वेदके मतसे भी धीर्यका जलतत्त्वसे सम्बन्ध है। निरक्तमें उभा संस्कृत साहित्यमें भी जलके ही विष शोर धमुत दो नाम हैं। शरीररथ रेत, हिरण्यके समान भास्पर तेजवाला है। जिस समय देवी घृत्तिया श्वासुरी घृत्तियोंसे दूयी रहती है, उस समय रेत, विष स्वरूप होकर सब इन्द्रियोंके तेजको जार्य कर देता है। उस विषको सद्ने, पचाने और धारण करनेकी शक्ति किसी इन्द्रियाधिष्ठाता देवतामें नहीं है। जबतक शिव विषको नहीं पीते तबतक इन्द्रियरूपी देवता उसको लपटोंसे मुक्तसे हुए रहते हैं। गोपाइंजीमें टीक कहा है—

जत सकल सुरवृन्द, विषम गरल जेहि पान किय ।

शिव ही योग-समाधिके कारण उस विषका पान कर सकते हैं। पीचों चक्रोंको भेदकर जब पहले शिव इस रतके शुद्धपञ्च तेजको विशुद्धि-चक्र अर्थात् फटमें स्थापित कर लेते हैं, तभी सब देवता धमुतका भाग पाते हैं। शिवके विषपानके पश्चात् वही रेत धमुत रूप होकर इन्द्रियोंके आत्म-तेजका सवर्द्धन करता है। शिवका विषपान प्रकारान्तरसे योग-साधनाके फलका वर्णन है।

अपने मेघसे एक काम और लिया है—

सुव्यारम्भे हर पशुपतेसार्द्रनागाजिनेच्छुः ।

यान्तोद्वेगारितमितनयनं दृष्टमक्तिर्भवान्या ॥ [मे , ११३६]

[हे मेघ । सार्यकालके समय नयीन जवा पुष्पकी जालीके सदग रक्तिभासे सम्पन्न अपने मंडलको शिवकी मुखाश्रीपर इस प्रकार तान देना कि अपने नाचके आरम्भमें उन्हें राजासुरकी गोली खालकी इच्छा न रहे। उस तेरी शिव भक्तिको उस समय पार्वती भी निश्चल नयन होकर देखेंगी ।]

संक्षेपमें वज्रानुसार इसका अर्थ यह है कि जिस मूलाधार चक्रका पृथ्वी तत्त्व है उसमें एक सप्तशुद्ध अज्ञाकार गोपति है जिसकी पीठपर शिव-तेजके चारों ओर वलित कुण्डलिनी स्थित रहती है। जिस समय योग-साधनकी इच्छासे [नृत्यारम्भे] शिवजी इस चक्रको भेदते हैं, तब इस गजकी मानो मृत्यु हो जाती है। तब व्यक्तिने कामको चरममें नहीं किया है ऐसा कोई व्यक्ति इस गजको परारत नहीं कर सकता ।

१. पञ्च सवादिनोः केका द्विधा भिन्ना शिलादिभिः । रघु० १३९

पञ्च मयूर वदति इति मातगः ॥

आज्ञा-चक्रमें प्रणवका प्रत्यक्ष होता है। वही ही चन्द्रान्तर ज्योतिका दर्शन होता है। यही सूर्य, चंद्र, और अग्निके तीन बिन्दु हैं जिनके नामान्तर शिव, विष्णु और ब्रह्मा चंद्र-ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं। यही साधकों चंद्रकी किरणोंसे टपकनेवाली मुखाके आरवाद्का आर्गद मिलता है। इसी-लिये शिवजी नवशशिभूट [मेघ० ११७०] और हनुमोसर [कुमार० २१०८] हैं। योगशास्त्रमें शिवके रूपका बड़ा विस्तार दिया गया है। शिवपुराण, स्कन्दपुराण तथा संश्रिने इसे बढ़ाकर कथाओंके रूपमें प्रकट किया है। कालिदासका यह कहना बहुत ठीक है—

न सङ्गित्वाथाध्वविद्रः पिताकिनः । [कु०, २१७०]

न विश्वमूर्तेरवधार्यते वयुः । [कु०, २१०८]

[शिवके स्वरूपका ठीक ठीक निर्धारण कौन व्यक्ति करसकता है!] पाशुपतशास्त्रमें शिव, विष्णु और ब्रह्माके अद्वैतको मानकर जीवात्माके साथ परम चित् शक्तिका तादात्म्य दिखाया है। यह चित्-शक्ति रूप परमहंस शिव सहस्रार-पद्ममें प्रतिष्ठित है। उस पर-श्विन्दुतक पहुँचनेका मार्ग, योग-साधना-द्वारा कुंडलिनीको जगाकर ब्रह्मांडमें ले जाया है। जबतक घृपकेतु, घृपाङ्गन, शिव-रूप आत्माके दर्शन नहीं होते, तबतक काम-याथा चित्त-वृत्तियोंको अयोमुरी रसती है। घृपपति शिवकी साधना और भक्ति [मेघ० ११२६] प्राप्त करना प्रत्येक कामरूप घृपके लिये आवन्त आवश्यक है। कालिदासके अनुसार योगके द्वारा परमात्म-संश्लेष परम-ज्योतिका दर्शन करना ही जीवनकी परम सिद्धि है।

योगात्म चान्तः परमात्मसंश्लेषत्वा परं ज्योतिहारायाम् । [कुमार०, ३१२८]

शिवके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान ही कालिदासके दर्शन और साधनाका ज्ञान है।

१. इसकी कथा स्कन्द महापुराणान्तर्गत कार्वाण्डके ६८ वें अध्यायमें दी हुई है। राजासुरने ब्रह्मासे पर पाया था कि कर्दप-वधोभूत कित्ती व्यक्तिके हाथ उसकी मृत्यु न होगी। पार्वतीने जिस समय महादेवके रत्नेश्वर लिंग [मणि तीरथापति शिव] का माहात्म्य सुना उसी समय राजासुर अपने बलवीर्यमें उन्मत्त होकर प्रमथोंका निषेदन करके शिवकी ओर शरयत्र। कर्दपदर्पहारी महादेवने पाठ आनेपर उसे विग्रहमे छेदकर अल्पमे टॉन दिया। महादेवकी गस्तरपर उसने अपना शरीर छत्रकी मूर्ति कौल लिया था। जब उसने शिवकी बहुत स्तुति की तब शिवने पर देना चाहा। राजासुरने कहा कि आप मेरे शरीरका चमड़ा पहन लीजिए। इसीसे शिवजी कृचिवात कहलाए।

२. बीव कार्य है, इसका भाम पशु है। ईश्वर कारण है, वही पशुपति है। पशुपतिमें चित्तकी समाधि ही योग है। भ्रम, विभूति, स्नान आदि तपस्वर्या-विधि है। माघ इसका प्रयोजन है। उस मोक्षका फल कुशलका अन्त है। यही छंदमें पाशुपत-शास्त्र है।

चन्द्रोदय इस जगत्के कुछ व्यक्तियोंके चमकते हुए ऐरव्यका सूचक है [अंक ४, श्लोक २]। केवल वही रात्रिके अन्धकारको दूर करनेमें समर्थ है [अंक ६, श्लोक ३०]। चन्द्रग्रहणका वर्णन अंक ७, श्लोक २२ में है। चन्द्रके धरातलके काले धर्मोंकी चर्चा अंक १, श्लोक १६ में की गई है। कमल-नाल उतना ही कोमल होता है जितनी चन्द्र-किरण [अंक ६, श्लोक १८]। शकुन्तलाका उसही दो सखियोंकी ओर व्यक्तिगत आकर्षण उसी आकर्षण जैसा बताया गया है जिससे कि विशाला-तारक-मण्डलको चन्द्रमा अपनी ओर खींचता है—

‘किमत्र चित्रं यदि विशाले शशांकलेखामनुवर्त्तते ।’ [अंक ३]

चन्द्रकी किरणों यद्यपि स्वयं शीतल होती हैं फिर भी काम-पोहित जनोको तो जलाती-सी ही हैं [अंक ३, श्लोक ३]। दिवमें चन्द्रमाकी अनुपस्थिति, कुमुदिनियोंकी समस्त मनोहारिणी सुन्दरताका अपहरण कर लेती है [अंक ४, श्लोक ३]। चन्द्रमा ही कुमुदिनियोंकी खिलानेका कारण है [अंक ५, श्लोक ७८]।

उपग्रहोंकी चर्चा नाटकमें बहुत कम है। विशाला उपग्रह चन्द्रमा-द्वारा खींचा जाता है [देखो ऊपर]। चन्द्रमण्डलकी उपग्रह रोहियो अपने प्रेमी चन्द्रमासे चन्द्रे-ग्रहणके पश्चात् मिलती है [अंक ७, श्लोक २३]। आकाश-मण्डलके सभी ग्रह-पिण्डोंके ग्रहणोंमें केवल चन्द्रमाकी ही चर्चा है [अंक ७, श्लोक २२]। आकाशके घातलकी चर्चा अंक ७, श्लोक ७ में की गई है। आकाश और पृथ्वीके भूमध्यमें स्थित पक्षियोंके विचरण करने-योग्य स्थानकी चर्चा अंक ५, श्लोक २२ में की गई है।

२. पृथ्वी—आकाशके निम्नाङ्कित व्यापारोंका प्रयोग तुलनाके लिये किया गया है—

संभवतः विद्युत्की चर्चा उस क्षीपते और चमकते हुए प्रकाशके रूपमें की गई है जिसका उद्भव अपारिध्व है [अंक १, श्लोक २४]। प्रातःकालीन अरुण प्रकार, अन्धकारको दूर करनेमें इसलिये समर्थ होता है कि वह सूर्यसे प्रकाश लेता है [अंक ७, श्लोक ४]। वायुका अचिराम गतिसे बहना कर्त्तव्य-निष्ठावा शीतक है [अंक ५, श्लोक ४]। अंधड़से थिना दिले-सुले पर्वत सदा रिधर रहते हैं—‘ननु प्रयासेऽपि निष्कम्पा गिरयः ।’ [अंक ६] वायु, कोमल लताओंके रस भरे हरे-हरे पत्तोंको सुखा देता है [अंक ३, श्लोक ८]। पर्वत-श्रेणी, पश्चिमी चित्तोजपर सन्ध्याके मेघोंके परकीरेके समान दिखाई देती है—‘सान्ध्य इव मेघपरिधः सानुमानालोऽप्यते ।’ [अंक ७]।

भूरे रंगके सघन सन्ध्याके बादलोंके समान प्रकट होते हैं [अंक ३, श्लोक २५]। पृथ्वी पर झुके और पानोंसे भरे हुए मेरुके समान नम्र पुरप होते हैं [अंक ५, श्लोक १२]। दुष्प्रवृत्तने अपनी प्रजाकी सहायताके लिये जो धिरेवास दिया उसका उसने सामयिक वर्षाके समान स्वागत किया—‘वाले प्रवृष्टमिषामिनन्दितं देवस्य भासनम् ।’ [अंक ६]।

समुद्रया एवं वही नदीने सीमा और अविच्छिन्न सम्बन्ध, पुरवंशके प्रसिद्ध उत्तराधिहारीके प्रति शकुन्तलाके दृश्यही प्राकृतिक और उचित अभिलाषाओंकी अभिव्यक्त करता है—‘तद्युगमस्था अभिलाषोऽभिवन्दिताम् ।’ [अंक ३]

शिवकी अप्प्रादित करनेवाला समुद्र उसका पक्ष कटा गया है [अंक ३, श्लोक १८]।

किसी चट्टानमें दो धाराओंमें विभाजित होकर वेगसे बहती हुई नदी राजाके हुजियामें पड़े हुए चितको अभिव्यक्त करती है [अङ्क २, श्लोक १०]। बड़ी नदियाँ समुद्रसे पूर्ण रूपसे सम्बद्ध होती हैं—'सागरमुज्जिता बुज या महानद्यवनरति' [अङ्क ३]

नदीकी वेगवती धार, अपने कगारपर स्थित पृष्ठीको नीचे गिरा देती है [अङ्क २, श्लोक १०]। उमड़ी हुई नदी और मृग-मतीचिकाकी विपमताका प्रयोग अङ्क ६, श्लोक १६ में मिलता है। निराशाकी तुलना मृग मतीचिकासे दी गई है—'अपि नाम मृगगुणिवेद्य नाममात्रप्रस्ताव [अंक ७]। नदीकी चढ़ती हुई धाराके वेगसे उसमें उगे हुए गरबट भुक जाते हैं—'षट्सप्त उञ्जलीला विटम्बयति वृष्टिमाधन. प्रभावेण उठ नदीवेगे' [अङ्क २]।

सरोवरमें स्नान करनेकी कल्पना अङ्क ७, श्लोक १ में है और अपने कगारोंपर उपनाती हुई नदीकी कल्पना अङ्क २ में है जहाँ नि एक गीत भाग्येशसे उफनाता सा कहा गया है—'अहो रामपरिवादिनी गीति'।

श्रॉमूसे भरे हुए और चानन्दातिके सूचित करनेवाले नेत्रोंके वर्णनका भाव नी मूलत उद्ग गेमा ही है [अंक ७]। जल नीचेमे ऊपर नहीं जा सकता। यह प्रकृतिका नियम शकुन्तलाके प्रति विधर किए हुए हुष्यन्तके प्रेमको प्रकट करता है [अंक ३]। हंस पानीको तभी अलग करता है जब कि वह दूधमें मिलाकर उसे दिया जाय [अंक ६, श्लोक २८]। कोमल लताओंपर गर्म जलका नाशकारी प्रभाव अंक ७ में वर्णन किया गया है।

पर्यंतकी विगल शक्तिका वर्णन केवल एक उपमामें किया गया है। संभावितके अत्यधिक लोभसे भी ये अचल विधर रहते हैं [अंक ६]। पृष्ठी-तलकी ऊँचाई निचाईका संकेत अंक ६ में है जहाँ पृष्ठीतलके एक चित्रका वर्णन है।

घासमें ढका हुआ वृष उस समुद्रके समान है जिसने सत्यज्ञा या ना धारण किया हो [अङ्क २]। पृष्ठीका धरातल विगनी उपवन करनेमें असमर्थ है [अङ्क १]। एक मन्दबुद्धि की तुलना सुषियदसे की गई है [अङ्क ६]। पृष्ठीका भार रोपना भगवान् बहन करते हैं [अङ्क २]। पृष्ठी, शासन करनेवाले राजाकी पत्नी बही गई है [अङ्क ३, श्लोक १८]।

अग्नि जगत्में बहुत कम उपमाएँ दी गई हैं, परन्तु जो हैं, उनमेंसे अधिकांश एकदम मौलिक हैं। चमकीला सन, यद्यपि चमरमें अग्निते मिलता तुलना है, फिर भी हाथमे स्पर्श किया जा सकता है [अङ्क १]। मूर्खकी निरर्थक जप मूर्खान्त सखिपर पड़ती है तब उसमेंसे जनावेवाली गर्मी निकलती है [अङ्क २, श्लोक ७]। सनोका पेया जाना अङ्क २, श्लोक १० में वर्णित है। शासने विषकर छोटा कर देवेपर भी सनोमें सख्यन्त चमक भा जाती है [अङ्क ६, श्लोक ६]। सनके सौन्दर्यकी तुलना सनमें की गई है [अङ्क २, श्लोक १]।

३ [१] वनरपति जीवन—इसकी उपमाएँ अत्यन्त हैं—

वाटिका और वनकी लताओंमें विपमता विगर्ह गई है [अङ्क १]। एक घनी भीदकी तुलना लतासे की गई है [अङ्क ३, श्लोक १३]। पाली और कोमल की लताके समान होना है [अङ्क ७]। लताएँ पवन पत्रोंमें तिरगनी हैं [अङ्क ७]। पृष्ठीमें भरी हुई लता समुद्रको प्रिय अग्निधरे रूपमें पाकर प्रसन्न होती है [अङ्क ६]। सरोवरके बुझने शकुन्तलाकी विशाईके

समय लताएँ अधुपात करती हैं [अङ्क ४, श्लोक १२]। एक ध्यानातरिपत साधुकी गर्वके चारों ओर लताओंकी कुण्डली बन गई है [अङ्क ३]।

विशेष पौधों और लताओंसे भी उपमाएँ ली गई हैं। बहुधा कोमलता तथा सौन्दर्यके लिये उनका समीपवश किया गया है—

नामो-लता काटनेमें बड़ी कष्ट होती है [अङ्क १] और शमीकी लकड़ीमें स्वर्ण अग्नि उपग्न करनेकी क्षमता होती है [अङ्क ४, श्लोक ४]। वायुसे माधवी-लता सूख जाती है [अङ्क ३]। अतिमुक्तक लता पत्तोंके भारसे झुकी होती है और सहकार वृक्षसे लिपटी रहती है [अङ्क ३]। नवमालिकाका फूलकी कोमलता अधिकतर शकुन्तलाके लिये प्रयुक्त हुई है [अङ्क १]। सूर्यकी किरणोंसे नवमालिका फूलपर कालिमा छा जाती है [अङ्क २, श्लोक ८]। कौन ऐसा मनुष्य है जो नवमालिका लतापर गर्म पानी छोड़ना चाहे ? [अङ्क ४]। झुकी हुई पद्मशोभना लताका वर्णन अङ्क १ में मिलता है। उसे शकुन्तलाकी भगिनी कहा गया है [अंक ४]।

उड़ फूलोंका भी उपमाओंके लिये प्रयोग किया गया है—

उप.कालमें थोसकणसे भरा हुआ सुन्द-पुष्प मधुपको ललचाता है, परन्तु ठंडे धोसके कारण वह उसका रस लेनेसे रोक दिया जाता है [अंक ५, श्लोक १६]। नील जलजकी कोमलता और शमीकी कठोरतामें विषमता दिखाई गई है [अंक १]। शैवालसे बिरा हुआ कमल मनोहर वीर पड़ता है [अंक १]। कालके पत्ते पड़ना कलनेके लिये प्रयुक्त होते हैं [अङ्क ३, श्लोक १६]। राजमार्गकी धूल कमलके कोमल परताकेशरके समान है [अंक ४,]। मधुपका स्वरभाविक वास-स्थान कमल है [अंक ५, श्लोक १]। सुन्दर हाथ रक्त कमलनालके समान दीप्त पड़ता है [अंक ६]। किसी मिश्रुका कोमल हाथ उप.कालमें रिले हुए कमलके समान दिखाई देता है [अंक ७, श्लोक १६]। सूर्यका कुमुदिनीपर हानिकारक प्रभाव पड़ता है [अंक ३, श्लोक १५]। चन्द्रमाके न रहनेपर कुमुदिनीसे भरे हुए सरोवरकी सचमुच दूषनीय दशा होती है। [अंक ४, श्लोक ३] उसकी उपस्थितिमें वे सिल जाती हैं [अंक ५, श्लोक २८]। कमल केवल सूर्यकी उपस्थितिमें सिलते हैं [अंक ५, श्लोक २८]। युवावस्था उतनी ही शार्कर्यक है जितना कि कोई फूल [अंक १, श्लोक १६]। जिस सौन्दर्यका आनन्द नहीं लिया गया वह मानो बिना सूँपा हुआ सुगन्धित फूल है [अंक २, श्लोक १०]। मधुप एक नवीन पुष्पसे मधु चूसता है [अंक ३, श्लोक २२]। वह फूलोंसे मधु चुरानेवाला खोर है [अंक ६,]। वसन्तसे लताओंके संयोगकी सूचना वसन्तकी कला देती है [अंक ७]। फूलोंका दिखाई देना युवावस्थाकी सूचना देता है [अंक १]। ओठ उठाने ही खाल होते हैं जितने कि पृष्ठोंके साल पत्ते [अंक १, श्लो. २०]। किसी युवतीका अक्षर हठना ही सुन्दर शैल पड़ता है, जितना कि दापसे न हुए हुए पृष्ठोंके कोमल पत्ते [अंक ६, श्लो. ८२, श्लो. १०]। किसी युवतीका निरकलङ्क सौन्दर्य अक्षर कोमल कोंपलके समान होता है। [अंक २, श्लो. १०] हथेलीमेंका रंग पृष्ठोंकी नवीन शाखाओंसे होड़ सेता है [अंक ४, श्लो. ५]। साल कोंपलों और घुरी हुई पत्तियोंमें विषमता दिखाई गई है [अंक ५, श्लो. १३]। एक दोनहार शक्तिवाली

नवयुवकी तुलना एक विराट् वृक्षकी प्रशाखासे की गई है [अंक ७, श्लो० १३]। वृक्षोंकी पत्तियाँ मानो उनकी डंगलियाँ हैं जो दूरकोंको अपने पास आनेके लिये हवा रहो हैं [अंक १,]। वृक्षोंकी शाखाएँ उनकी भुजाएँ हैं जिनसे वे शतनुत्पलाका आलिङ्गन करती हैं। [अंक ७]। फलोंके भारसे मुके हुए वृक्ष, कृपालु मनुष्यकी नम्रता प्रकट करते हैं [अंक १, श्लो० १२]। आत्मिक विचारमें लीन व्यक्ति, वृक्षके तनेके समान मीन होता है [अंक ७]। वृक्षोंकी जड़ें तपस्वियोंके निराश्रयमान हैं [अंक ७, श्लो० २०]।

वृक्ष शतनुत्पलाके मित्र हैं [अंक १, श्लो० १०]। वे सूर्यका अत्यधिक ताप सहन करते हैं और अपने मोच आण हुए लोगोंको शरण देते हैं [अंक १, श्लो० ७]।

आइए, अब कुछ विशेष वृक्षों और पौधापर विचार करें। केवल सहकार वा आश्रयवृक्ष ही अतिमुक्तका भार सहन कर सकता है। वह पनजयोत्पला लताका भी प्रेमी है [अंक १] और नवमालिकाका भी [अंक ४]। कमलमें अपना निवास-स्थान बना लेनेपर भ्रमर आश्रमपरियोंकी तनिक भी चिन्ता नहीं करता [अंक १, श्लो० १]। ये तो वसन्तके प्राण ही हैं [अंक ४]। ये भ्रमरोपर मादक प्रभाव डालती हैं [अंक ६]। नदीकी धाराओंके वेगवान् प्रवाहसे नरकट मुक जाते हैं [अंक २]। ईशकी चर्चा अंक ६ में की गई है। चन्दन वृक्ष, यद्यपि अपने पास आनेवाले सभी जीवोंको प्रसन्न करता है तथापि अपने भीतर कृष्ण सर्प रखनेके कारण वह स्वयं निरस्य समझा जाता है [अंक ७, श्लो० १८]। जब शतनुत्पला केशर-वृक्षकी जड़के पास बैठती है तो वह ऐसा लगता है मानो उससे कोई लता लिपटी हो [अंक १]। असुरोंकी तुलना कौटोसिकी गई है [अंक ७, श्लो० ३]।

कृपि सम्बन्धी उपमाएँ बहुत कम हैं—

समयपर योग्य हुए भीज बहुत अधिक अथ उत्पन्नकरते हैं [अंक ६, श्लो० २४]।

(२) पशु-जीवन—पशु-जीवन अपने साथ पशु-शरीरके सभी विकार भी लाता है। इनका भी उपमाओंमें प्रयोग किया गया है—

दुष्पन्त एक रोगसे दुर्लभ कहा गया है और यह रोग 'शकुन्तला' है [अंक ३]। दुष्पन्तकी दशा लगभग पशुत्व, निराशा-जनक है। एक फोड़ेके ऊपर छोटी कुन्सीका होना अंक २ में दिखाया गया है। विदूषककी अतिस भ्रम उल्लेख है। रोग्य बाल रहो है [अंक ६]।

उपमाओंमें कुछ पशुओंका प्रयोग इसलिए हुआ है कि अन्य पदार्थोंके समान उनमें स्पष्ट विन्तव्यताके गुणोंका स्थानवा को जा सके —

हरिण, संश्लेष आश्रममें तुलनाका एक साधारण मापदण्ड है। शतनुत्पलाके मधु हरिणोंके नेत्रोंके समान है [अंक १, श्लो० २४] और ये हरिणोंके नेत्रोंके समान भी हैं [अंक ६, श्लो० ७]। शतनुत्पलाके कटाओंके समान शिम्बाई देनेवाले शृगालें सुन्दर पटाए, राजाको उसे मानसे रोते हैं [अंक २, श्लो० ३]। शृग-शापका शतनुत्पलाका पोल पुत्र कहा गया है [अंक ४, श्लो० १४]। अवाध शृगवा-प्रसक्त कारण पर्यतोपर भ्रमण करते हुए राजा, यनेले हाथोंके समान जान पड़ते हैं [अंक ७, श्लो० ४]। दिनके कृषोंकी समान वरके विश्राम करता हुआ राजा दाधियोंके उस स्वप्नके समान क्षीण पड़ता है जो उन्हें अपने चरमाहामें छुँदकर एक शीतल-स्थानमें बैठकर विश्राम कर रहा हो [अंक १, श्लो० १]। विदूषा की सपुष्पि गरद हजामत बनाकर गावाज, अपना हलना उस चारों करता है जो विलां क्षुण्णते हुए पशुपर भ्रमण हो [अंक ६,

श्लो० २७]। पहली-द्वारा पकड़ा हुआ चूड़ा जीवनसे निराश हो जाता है [अंक ६]। सर्प जब क्रोध करता है, तब अपना फण फैला लेता है [अङ्क ६, श्लो० ३१]। कृष्ण सर्प अपनी उपरिधितिसे चन्दन घुसको अपवित्र करता है [अङ्क ७, श्लोक १८]। धार्मिकके वृद्धोंपर जमी हुई धूल टिड्डी-इलके समान दिखाई देती है [अङ्क १, श्लोक २६]। कौयल धात्र-मञ्जरियोंको देखकर प्रसन्नतासे भरत हो जाता है [अंक ६,]। वृद्धोंसे धाता हुआ कौकिलका मधुर कृजन, मामी शकुन्तलाके, पतिवृद्द जानेके समय आदेश है [अंक ४, श्लोक १०]। कौकिला कौश्लोंके घोंसलेमें पली हुई मानी गई है [अंक २, श्लोक २२]। चकई पक्षीकी चर्चा अंक ३ में की गई है। उसकी 'पी कहां' की ध्वनि उसके जोड़ेके वियोगके दुःखकी सूचना देती है [अंक ४]। मधुप यद्दी सावधानी और कोमलतासे किसी फूलका मधु-रस चूसता है [अंक ३, श्लोक २२]। इसके लिये यह भी कहा गया है कि यह धात्र-मञ्जरियोंको चूसकर कमलोंमें प्रवेश कर जाता है [अंक २, श्लोक ८]। यह मातृकालकी ओरसे भरे हुए कुन्द फूलका रस नहीं ले सकता है [अंक ४]। यह फूलोंसे युक्त लताका बहुत ही प्रिय अतिथि है [अंक ६]। अमरी, अत्यधिक प्रेमके कारण बिना अपने प्रेमीके मधु नहीं पी सकती [अंक ६, श्लोक १६]। किसी स्थानपर मञ्जिरियोंका न रहना वही पूर्ण शान्तिका शोचक है [अंक २, अंक ६]।

४. गृह-जीवन—ज्ञानके इस विभागसे दी गई उपमाएँ अनेक प्रकारकी और मरेलू हैं—

जिस मनुष्यकी राजरसे अरुचि हो गई है, वह इमली खानेकी इच्छा कर सकता है [अंक २]। सद्यः मधुकी चर्चा अंक २, श्लोक १० में की गई है। कामिनी शिपों मधुर बोली बोलती है [अंक २]। राजाको भी मधु-भापी कहा गया है [अंक २]। ईशका वर्णन छठे अङ्कमें मिलता है। तुल-राशिको जलाकर नष्ट करनेके लिये अग्निकी एक चिमनारी पर्याप्त है [अङ्क १, श्लोक १०]। अग्निके छेदनेपर वह चमकती हुई शिखारमें बल उठती है [अङ्क ७, श्लो० ३१]। अग्निके अतिरिक्त और कोई साधन वस्तुओंको नष्ट करनेवाला नहीं है [अंक ४]। दीपकके पास रहनेपर भी यदि उसे पदोंसे टक दिया जाय तो मनुष्यको अन्धकार ही दीप्त पड़ता है [अंक ४]। जल नाँचेसे ऊपर उखी प्रकार नहीं जा सकता जिस प्रकार राजाका हृदय शकुन्तलाकी ओरसे नहीं फिर सकता [अङ्क २]। राग्य शासनकी तुलना उस क्षत्रसे दी गई है जिसका दण्ड हाथमें धारण किया हुआ हो [अंक २, श्लो० ६]। गर्दसे भरा हुआ दर्पण लक्ष्य प्रतिबिम्ब नहीं देता है, परन्तु वही स्वच्छ कर देनेपर वही सरलतासे स्पष्ट छाया प्रतिबिम्बित करता है [अङ्क ७, श्लो० ३२]। इन्द्रका वज्र किसी खोके आभूषणके समान था, यद्यपि असुरोंके युद्धमें वह अर्ध सिद्ध हुआ [अङ्क ७, श्लोक २६]। एक रेशमी भंडा पीढ़ेकी ओर फरफराता है यद्यपि इसका दण्ड आगेकी ओर ले जाया जाता है, तब वही वशा राजाके मनको भी उस समय थी जब वह शकुन्तलासे प्रथम प्रेम करके अपनी राजधानीकी ओर लौट रहा था [अङ्क १, श्लोक ३१]। तपस्वा तपस्विनीका धन है [अङ्क ४, श्लोक १]। मन और शरीरका संयम स्वर्ण एक कोष है [अङ्क ४, श्लोक १७]। कन्या धरोहर है [अङ्क ४, श्लोक १२]। भारहृत और विलासी भागस्त्रियोंमें वही सम्बन्ध है जो रत्नान किण्व हुण और तेल लगाए हुण में, शुद्ध और अधशुद्ध व्यक्तिमें, पूर्णतः जगे हुण और सोए हुणमें और अन्ध-युक्त तथा अचतन्त्र मनुष्यमें है [अङ्क २, श्लोक ११]।

कौटुम्बिक सम्बन्धोंका भी प्रयोग उपमाओंमें हुआ है। इस नाटकमें छठे पैमानेपर प्राचीन भारतीय जीवनका अनेक रूपोंमें आदर्श चित्र खींचा गया है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि इन

सम्बन्धोंकी महत्वपूर्ण स्थान दिया जाय। पत्नीका पतिपर स्वाभाविक प्रभाव अंक ७, श्लोक ३२में वर्णित है। आनन्दवृष, नवमासिकाका पति है [अङ्क ४, श्लोक १३]। पृथ्वी, शासककी पत्नी है [अङ्क ४, श्लोक २०]। अमर अमरीकी चर्चा अङ्क ६, श्लोक २० में की गई है।

पैतृक प्रेमका निरूपण करनेवाली उपमाएँ निम्नांकित हैं—

पशुस्रांकी सन्तान समकला आदिपु [अङ्क ७, श्लोक १४]। एक मृगशावक को शकुन्तलाका पोष्य पुत्र था [अङ्क ४, श्लोक १४]। राजा अपनी प्रजाकी रक्षा अपनी सन्तानके समान करता है [अंक ५, श्लोक ५]।

भानु सम्बन्धको सूचित करनेवाली उपमाएँ भी ध्यान देने योग्य हैं—राजाको प्रजाका मनु कहा गया है [अङ्क ५, श्लोक ७ और अङ्क ६, श्लोक २३]।

२. सामाजिक-जीवन—प्राचीन भारतमें अतिथि-संस्कार बहुत बढ़ा धर्म माना जाता था। इन्द्र द्वारा हुण्यन्तके सम्मानका विराट् वर्धन अङ्क ७ में मिलता है। मधुप, फूलोंसे भरी हुई लताओंका मिय अतिथि है [अङ्क ६, श्लोक १३]। व्यक्तियोंकी पुकारनेके शिष्टाचारका वर्णन अंक १ में मिलता है। बिना एक दूसरेके हृदयको मली भोंवि समझे, जो मित्रता शीघ्रतामें की जाती है वह अवश्य शकुन्तलामें परिणत हो जाती है [अंक ५, श्लोक २४]। सम्मान सदा अपने मित्रोंकी कृपा दृष्टिसे देखते हैं [अंक ६, श्लोक २३]। कृपाके आदर्श रूपकी उपमा किसी मनुष्यकी फाँसीके सड़तेसे बचाकर हाथीपर चढ़ा देनेसे दी गई है [अंक ६, श्लोक २]।

कुछ मित्रता विरोधी उपमायोजना विषय कथ्य है—

राजाकी उपमा एक मधुरभाषी कपटीसे दी गई है [अंक ५]। उसकी तुलना चोरसे भी की गई है [अङ्क ५, श्लोक २०]। अमरकी ऐसा चोर कहा गया है जो फूलोंसे मधु चुराता है [अंक ५, श्लोक १०]। जनसंकुला नगरीकी उपमा भीड़में धिरे हुए उल घसे दी गई है जिसमें घाग लग गई हो [अङ्क ५, श्लोक १०]। बन्दी होनेकी भावना अंक ६, श्लोक २० में विहित है, जहाँ राजा उस अमरसे ईर्ष्या करता है जिसको कविने शकुन्तलाके मुँहपर मँडराते हुए चित्रित किया है। राजा चाहता है कि मैं भी फललमें बन्द हो जाऊँ। जान-बूझकर दुष्टता करनेसे कुछ लोगोंको जो प्रसन्नता होती है उसका वर्णन दैनिक जीवनकी वद्वत् पटनासे किया गया है—अर्थात् किसी मनुष्यकी आप्त इस प्रकार खोद देना कि उसमेंसे जानू निकलने लगे और फिर उससे इसका कारण पूछना [अंक २]। सैनिक जीवन, मृगया और अन्य खेलोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपमाएँ भी मिलती हैं। मृगभार अपनी प्रियाके मनोहर आलापसे उसी प्रकार आकर्षित किया जाता है जिस प्रकार हुण्यन्त एक सवेग दौड़नेवाले हरिण से [अङ्क १, श्लोक ५]। पुन शङ्क १, श्लोक ६ में हुण्यन्तकी तुलना शत्रुसे की गई है जो हरिणका पीड़ा कर रहे है। एक विभाववाताके दिवापटी धर्माचरणको तुलना करणमें की गई है [अंक ५]। किसी पश्चात्ताप करते हुए हृदयके शोकोद्धार जैसे ही है जैसे उस हृदयके होते हैं जो विष बुझे वाष्पधरसे बेधा गया हो [अंक ३, श्लोक ६]। ऐसा वाष्पधर निकाल लिया जाता है तो जैसा गुण उस मनुष्यको होता है जिसके हृदयमें वह वाष्प निहाला जाता है उसका वर्णन अंक ७ में मिलता है। धनुष्टम्भकी तुलना किसी वन्य पशुके गर्जनसे भी गई है [अंक ३, श्लोक १]।

पृथ्वीकी कल्पना एक ऐसी गैदके समान की गई है जो आकाशमें ऊँचे फँक दी गई हो [अंक ७, श्लोक ३] ।

६. धार्मिक जीवन—योग्य पति पानेके लिये शकुन्तलाको उसकी सरिरवाँ उस समुचित घटनासे उपमा देती हुई बधाई देती है जिसमें होजा-नारा-भुईंसे ढकी हुई अग्नि न देरी जानेपर भी, हृन्प ठीक यज्ञकी अग्निमें ही गिरता हो । शकुन्तलाकी उपमा अन्वये शिष्यने दिग्गु हुप ज्ञानसे दी गई है, क्योंकि ऐसे ज्ञानके नष्ट होनेकी चिन्ता कर्ताको नहीं करनी पड़ती [अंक ६] भातलि-द्वारा बड़ी कठोरतासे पकड़े जानेपर विदूषक अपनी तुलना उस बलि-गुहसे करता है जो जय माना ही चाहता है [अंक ६] ।

निम्नांकित उपमाएँ, कर्म और मोक्षके दो धार्मिक सिद्धान्तोंको स्पष्ट करती हैं—

पूर जन्ममें किए गए अनेक कर्मोंका फल पकना है [अंक २, श्लोक १०] । यदि किसी साधुको अप्सराओं ने मोहित कर लिया तो उनके लिये मोक्ष पानेकी एकदम सम्भावना नहीं है [अंक २] ।

७. पुत्राण और अन्य साहित्य-ज्ञानके मूलसे ली गई उपमाओंसे स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक कथाओं और कहानियोंकी प्राचीन पुरतकोंका कालिदासको बहुत सम्भार ज्ञान था ।

शिवजीके हरिष्ठाका पीछा करनेकी कल्पना पुत्राणोंसे ली गई है [अंक १, श्लोक ६] । जपजीजी, जो सौन्दर्यका केवल एक ही माप-दण्ड हैं, यदि ब्रह्म कर नहीं तो शकुन्तलाकी समतामें खपती हुई जान पड़ती है [अंक २, श्लोक ६] । दुविधामें पड़े हुए किंकर्षण विमूढ़ चित्तकी सटीक तुलना स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमें लटके हुए त्रिशंकुने की गई है [अंक २] । विद्याया उपग्रह और चन्द्रकलाको चर्चा [अंक ३] का मूल यह उद्देश्य-तन्त्र है कि विशाखा उपग्रह चन्द्रमाके पास उस समय दिखाई देता है जब कि आकाश धरत रहता है और बहुत तेजीसे चमकता है अर्थात् वैशाख और ज्येष्ठके महीनेमें ।

प्राचीन पौराणिक कथासे यथाति और शर्मिष्ठाका उल्लेख किया गया है [अंक ४, श्लोक ७] ।

कामनाओं पर आधिपत्य करनेवाले साधुओंके विरुद्ध मोहनेवाली मुक्तिदोका प्रयोग करनेके लिये स्वयंके अप्सराओंका वर्णन अंक २ में मिलता है ।

रथमें जाते हुए घोड़ोंके साथ सूर्यका और शुद्धीका भार बहन करनेवाले शेषनामका वर्णन अंक २, श्लोक ७ में मिलता है । सूर्यके साथ घोड़े हैं, इसकी चर्चा अंक ६, श्लोक ३०में की गई है । सूर्यके सारथी अरुणके विषयमें यह कहा गया है कि वह अपने स्वामीसे शक्ति लेकर अश्वकारका भाग करता है [अंक ७, श्लोक ४] ।

विद्योका विष कालकूट, राजाके रनिवासके विषयमें भाषणको व्यतसाता है [अंक ६, श्लोक २१] ।

दुःखन्त अपने उन गुरे पुरवोंका एक कल्पनिक चित्र रचिने हैं जो पुत्रके न रहनेपर आवश्यक विचित्रोदक नहीं पादेंगे [अंक ६, श्लोक २२] । दुःखन्त और इन्द्रमें इसके अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है कि इन्द्रका रथ पृथ्वी-पर उठे बिना खपता है और दुःखन्तका रथ फले हुए चलता है । मारीचके आश्रममें रहते हुए दुःखन्त अपनेको गहरे अगुल सरोवरमें रहता हुआ समझते हैं, क्योंकि उस स्थानका वायुमण्डल आनन्दसे भरा हुआ है [अंक ७, श्लोक १] । रोहिणी और चन्द्रमाके प्रेमसे सम्बद्ध कथाके साथ-साथ चन्द्रग्रहणके पौराणिक अभिप्रायका प्रयोग अंक ७, श्लोक २६ में किया गया है, जिसमें शकुन्तला और दुःखन्तका

विशेष और संयोग दिखाया गया है। अंक ७, श्लोक २८ में दुष्यन्तकी तुलना इन्द्रसे, उनके पुत्रकी इन्द्रके पुत्र जयन्तसे और शकुन्तलाकी पौलोमीसे की गई है।

दुष्यन्तने इन्द्रके वैसे असुरोंके कुलका नाश कर दिया, अतः उनकी तुलना विष्णुके चौथे अवतार वृसिहसे की गई है [अङ्क ७, श्लोक ३]।

८—ललित कलाएँ—कालिदासके ग्रन्थोंमें ललित कलाओंमें समग्र रचनेवाले उद्धरण इस बातको सिद्ध करते हैं कि कवि होनेके अतिरिक्त उनको काव्यमें सम्पन्न चित्रविद्या और गायन आदि अन्य कलाशौक भी बहुत गम्भीर ज्ञान और तत्सम्बन्धी अलौचन्यात्मक अन्तर्दृष्टि थी।

प्रेचागृहमें रामरत्नके मरुत गानोंको उमरुहता और ध्यानमें सुननेवाले श्रोताओंको चित्र-संचित उपक्रियाका समूह बड़ा गया है [अङ्क १]। किस प्रकार कोई बलाकार एक आदर्श चित्र चित्रित करते समय उसमें सभी सुन्दर रूप निहित करनेका प्रयत्न करता है इसका बहुत अच्छा वर्णन अङ्क २, श्लोक ६ में मिलता है जहाँ राजा, शकुन्तलाके अपार सौन्दर्यमें चौंधिया कर उसकी उत्पत्तिके विषयमें अनेक प्रकारकी भावावेशपूर्ण कल्पनाओंमें लीन हो जाता है। चित्र-कलाका दूसरा सिद्धान्त कि चित्रमें यनाई हुई वस्तुएँ अपनी ऊँचाई निचाईके अनुसार होनी चाहिए, अङ्क ६ में समझाया गया है, जहाँ राजा द्वारा बनाया हुआ चित्र विस्तारसे वर्णित है। उसी चित्रके वर्णनमें यह कहा गया है कि यह तपोवनके पीपोंको सींचनेके कारण किञ्चित् भ्रान्त चित्रित की गई है। [अङ्क ६]।

गायन-सम्बन्धी उपमाएँ 'शकुन्तला'में बहुत कम हैं, यद्यपि कालिदासके अन्य ग्रन्थोंमें और अधिक मिल जायेंगी। गायनका आवेशमय रूप अंक २ में निहित है जहाँ राजा अपनी प्रथम कृपा-पात्रा हंसपदिकाके गायनकी बढ़ी प्रशंसा करता है।

९. मानसिक दशाएँ—परिष्कृत मरिचक या विकृत मस्तिष्ककी दशाओंका वर्णन करनेवाली उपमाएँ और साथ ही साधारण अनुभवोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपमाएँ भी मिलती हैं—

पागलके प्रलापमें अनुबन्धकी आशा नहीं की जा सकती [अङ्क ४, श्लोक १]। कामोन्मत्त विचारोंके आवेशमें अपनी अंगुठोसे वातचीत करते हुए राजा की तुलना पागलसे की गई है [अङ्क ६]। अन्धा मनुष्य अपने शिरपर फेंकी हुई मालाको भ्रम-वश सर्प समझता है [अंक ७, श्लोक २४]। स्वप्नमें अनुभव किए हुए, एक तान्त्रिक द्वारा उत्पन्न किए गए चथवा मरिचककी बदलीनताकी कमीसे पैदा हुए मति भ्रमोंकी ओर अंक ६, श्लोक १० में संकेत किया है।

पृथ्वीकी ओर सीधे उतरते हुए इन्द्रके रथकी अत्यन्त द्रुत गति एक प्रकारका ऐसा भ्रम उत्पन्न करती है कि अचानक दृष्टिपथमें आते हुए पर्वत-शिखरोंसे पृथ्वी रथमें नीचे उतर रही है [अंक ७, श्लोक ८]। विद्वत्सनीय साधुपर आश्रित निष्कण्ठके द्वारा दिसी वस्तुके मिथ्या-ज्ञानमें स्वप्न-ज्ञानमें होनेवाले परिपर्वनका वर्णन अंक ७, श्लोक २१ में किया गया है। अंक ७, श्लोक २१ से हम जानते हैं कि कुछ विषयोंमें हमारी निजी अभिरुचि किस प्रकार मृत वस्तुओंको भी जीवित कर सकती है।

१०. भाव-जगत्—किसी भी ग्रन्थमें उपमाओंके रखनेका मुख्य तात्पर्य यह है कि स्थूल उदाहरणों द्वारा सूक्ष्म भाव स्पष्ट किए जायें। परन्तु शेली आदि कुछ आंग्ल कवियोंकी भाँति कालिदासको भी हम इस ऋणागत पद्धतिके विरुद्ध पाते हैं। बहुधा स्वकीकृत भाव, उपमाका भाव दृष्ट हो जाता है। भाव सम्बन्धी उपमाओंके निम्नादित उदाहरण हैं—

राजाके रथसे उतरकर एक हाथी, कणवके पवित्र लता-वितानमें इस प्रकार चुसता है भाग्ये यह उनकी तपस्याका सूक्तिमान विग्रह हो [अंक १, श्लोक ३०] । अंक ७, श्लोक १३ में शकुन्तला, जो धारतवर्षमें राजाकी कामनाकी लक्ष्य थी, स्वयं कामना-रूपमें अंकित की गई है । हुष्यन्त, शकुन्तला और उनके पुत्र सर्वदमनके प्रेम-मिलनकी उपमा विरवास, भाग्य और वनमेंके आकस्मिक योगसे दी गई है [अङ्क ७, श्लोक २३] । शकुन्तलाके निर्दोष सौन्दर्यकी तुलना महाम् कृष्णके पूर्ण फलसे की गई है [अङ्क २, श्लोक १०] । पश्चात्ताप करता हुआ राजा शकुन्तलासे अपने प्रथम प्रेम-प्रदर्शनकी तुलना उतने ही कम पारितोषिकसे करता है [अंक ६, श्लोक १०] ।

दूसरे श्वशीलत भावोंके उदाहरण भी प्रायः मिल जाते हैं—

दोषोंके कारण बहुतसे अनिष्ट होते हैं [अंक ६] । भाग्य सचमुच सर्वव्यापी है [अङ्क ६] । महामनाकी महानाकाँचाएँ भारतवर्षमें जैसे उड़ा करती हैं [अङ्क ७] । हुष्यन्तकी प्रसिद्धि स्वर्गके धरातल-पर स्थित है [अङ्क ७] । भूल विदूषककी प्रायः खा गई है [अंक ६] ।

११. काव्य-सम्बन्धी या अन्य रुद्रियाँ—

सभी संस्कृत साहित्य-प्रेमियोंकी सत्य कथन है कि बहुतसी भावनाएँ जो प्रारम्भमें धारेश और श्रोपसे बरी हुई थीं उनमें यद्यपि अतिरिक्तकी भी फिर भी वे पिछले खेजेके कवियोंके हाथमें पढ़कर सर्वथा रदियद् और निर्जोष-सी हो गईं । अतः इसमें सन्देह नहीं कि हमको शुद्ध स्वर्ण-के साथ साथ काञ्चिदात्मकी रचनाओंमें कुछ निम्न कोटि की धातुओंका मिश्रण भी मिलता है यद्यपि उनमें कल्पनाकी कीमिया भी पर्याप्त है ।

काम-वीरहित मनुष्यपर चन्द्रमाकी शीतल किरणें अग्निकी वर्षा करती हैं [अङ्क ३, श्लोक १] । काम-वीरित मनुष्योंका रुद्र वर्णन 'शकुन्तला'में भी वैसे ही है वैसे प्राचीन पुस्तकोंमें मिलता है, क्योंकि अनसूया यह आलोचना करती हुई पाई जाती है कि उपयुक्त वर्णन उसकी सखी शकुन्तलाके लिये उपयुक्त ही है [अङ्क ३, श्लोक १४] । लताके साथ भैंसोंकी तुलना बहुत पुरानी है [अङ्क ३, श्लोक १३] । कुमुदिनिशोपर चन्द्रमाका प्रभाव प्रायः सभी संस्कृत-काव्योंमें उद्धृत है, वह उपमाओंमें सबसे अधिक नीरस है [अङ्क ३, श्लोक १६] । पृथ्वी, राजाकी पत्नी समझी गई है [अंक ३, श्लोक १८] । चक्रवा चक्रवर्ति विद्योग एकदम रुद्रियत है [अङ्क ३, श्लोक ३] । चन्दन वृक्षके पास स्थान मलय पर्वतका वर्णन अङ्क ४, श्लोक १२में मिलता है । कोकिलाके वचनोंका पालन-पोषण कौशिकके धोसलामें होता है [अङ्क ४, श्लोक २२] । अथ प्रकृतिवादी ही इस उचितके सत्य-की जाँच करें । कामदेवका धनुष और वायसे सुसजित दिखलाना अंग्रेजी और संस्कृत काव्योंमें समान है [अङ्क ४, श्लोक २३, अङ्क ३, श्लोक ४] । आश्रमजरी कामदेवका सुटा अश्रु है [अंक ५, श्लोक ३, अङ्क ६, श्लोक ८] । आश्रमजरीशोको देखकर अमरोंका मन्दमस्त होना यद्यपि स्वाभाविक है फिर भी यह काव्य-सौन्दर्य प्राप्त करनेके लिये एक प्रवेश-द्वार-सा हो गया है [अङ्क ६] । दूध और जलके मिश्रणसे केवल दूध चूस लेना और जलको छोड़ देना हंस-पक्षीका विशेष गुण है । यह एक शौकालिक रूढीके है [अंक ६, श्लोक ८] ।

बुद्ध साधारण निष्कर्ष—

उपरिलिखित बिचारोंकी तरिखीसे यह भली भाँति स्पष्ट हो जायगा कि साधारण बातोंमें असाधारणके प्रति बालिशताकी भावुकता बहुत ही तीव्र थी । अपने विश्लेषणके निष्कर्षोंसे भी मुझे यह लिखनेमें प्रसन्नता है कि उनकी बुद्धि सचमुच विरत थी और इस बुद्धिने अपने धरेमें चाई हुई

प्रत्येक वस्तुको उचित स्थान दिया। उनका प्रकृति-ज्ञान एकदम नया था। दुष्यन्तके प्रथम प्रेमाने एक स्थायी स्थान बना लिया है। यह कहता है—

न च निम्नादिव सखिलं निवर्तते मे मनो हृदयम् ।

[अपने प्रेम पात्रको झोड़ना लिये उतना ही अयम्भव है जितना कि नीचे बहते हुए जल को ऊपर ले जाना ।]

शब्द-चित्रण कोई उपमा, पहले पशुओंकी सुरसे उठाई हुई और फिर कव्यके तपोदानके वृक्षोंपर स्थित फूलसे अधिक कलात्मक प्रदर्शन नहीं करती। फूलके जमावकी तुलना द्वितीय-प्रधानकी गई है—

शालमसमूह इव रेणुः.....पतति । क्या यह उपमा कालिदासके प्राकृतिक दृष्टिकोणकी नवीनता नहीं सूचित करती ? क्या उनमें प्रायण संकेतोंद्वारा वस्तु प्रदर्शित करनेकी विचित्र शक्ति नहीं है जिनको डेनिसन या प्राउनिंग या अन्य कवि और अधिकृतसे दिखानाते हैं ?

उनके प्राकृतिक ज्ञानके सम्बन्धमें दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने मनुष्य और प्रकृतिके बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची है। समाजमें मनुष्योंका सम्बन्ध पौधोंके पारस्परिक सम्बन्ध-द्वारा समझाया गया है। विशेषतः 'शकुन्तला' में मनस्पति और पशु जीवनके सभी अन्तर बिल्कुल निकाल दिए गए हैं और पूर्ण जीवन हमारे समक्ष रखा गया है।

दुष्यन्तके सम्पूर्ण अनुभवका वर्णन विस्तारसे करनेके लिये कव्यनाके यहूत ही उत्कृष्ट रूपकी आवश्यकता है। उदाहरणार्थ—किस प्रकार नीचे उतरते समय पृथ्वी दुष्यन्तकी ओर लुझका दी गई सी जान पड़ती है, इसका माझल वर्णन अश्ल ७, श्लोक ८ में किया गया है। कालिदासके समयमें वायुयान नहीं थे और फिर भी विचित्रता यह है कि पूराका पूरा वर्णन, पृच्० जी० वेपस-द्वारा अपने कोषमें दिए गए उस वर्णनसे मरिचका स्थाने मरिचका मिल जाता है जिसमें उन्होंने अपनी प्रथम वैमानिक अनुभव हमें बताया है।

फिर भी मैं इस बावपर चल देता हूँ कि सभी उपमाएँ बुद्धिमत्ताकी सूचक नहीं हो सकतीं। संसारकी अन्य वस्तुओंके समान उपमाओंका भी अपना निजी सौन्दर्य होता है। प्रथम तो उन्हें उचित होना चाहिए। जय किसी पवित्रमाननीने एक ऊँची मीनारकी देपरकर इस प्रकार आलोचनाकी "यह गूढका कैसा निरर्थक चार्चारा है" तो उसने सचमुच शिशुता या कवि होनेकी अपनी अयोग्यता प्रकट की।

कालिदासकी उपमाओंमें यह औचित्य निश्चय ही है, इसका विवरण कुछ उदाहरणोंसे चल जायगा। प्रियम्बदा अपनी सररी शकुन्तलाकी योग्य पति पानेपर बधाई देते हुए कहती है :—

दिष्ट्या धूमाकुलितच्छेरपि यजमानस्य पावक पुराहुतिः पतिता ।

वसे ! सुशिष्यपरिदत्ता चिरोवाशोचनीयासि संवृत्ता ।

उपमाओंका औचित्य और सौन्दर्य इस बातमें समझा जाता है कि कविमें यह शक्ति ही कि यह धार्मिक जीवनसे उदाहरण लेकर सांसारिक सम्बन्धको समझा दे।

दूसरी ओर विदूषकके हाथमें पड़कर प्रत्येक गम्भीर और पवित्र विचार असंस्कृत और हास्यास्पद हो जाते हैं। जय नादलि उसे खूब पीट खेदा है वो बट कहता है—

इष्टिपद्युमारं मारितः।

दूसरे दुष्टखण्डपर दुष्ट्यन्तके प्रेमोन्मत्त हो जानेपर यह कहता है—

‘ललितस्य पृथु भूयोऽपि शुकुन्तला व्याधिना’।

यम्संनका हास्य-सिद्धान्त विद्वेषककी चरित्र-वृद्धिमें मन्त्री भौति दिखाया गया है, क्योंकि आत्माके विषयमें वातचीत करते हुए वह सर्वदा शरीर और उसके अस्तस्कृत प्रेमकी और ही निर्देश करता है।

उपमाओंके अन्य गुण जैसे वैचित्र्य, वैविध्य आदिका विशेष रूपसे चर्खन करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे ऊपर दी हुई उपमाओं के मूल स्रोतोंके विभागोंसे स्पष्ट हो गए हैं।

अंग्रेजीसाहित्यका विचारार्थी मिल्टन अथवा होमरमें अधिकतासे मिलनेवाली जग्यी पँछोंवाली उपमा न पाकर आश्चर्यमें पड़ जाता है। किसी एक विचारको जाम-बुझकर पीट-पाटकर बढ़ाना, कृत्रिमताका ही सूचित करता है, चाहे यह कितनी ही चतुराईसे क्यों न किया जाय, क्योंकि मौलिक रचनाके लिये वह किसी प्रकार भी सहायक नहीं है। बनाबट कभी मौलिक रचनाके समकक्ष हो भी नहीं हो सकती। कालिदासकी प्रायः सभी उपमाएँ सीधी सादी हैं और वे भारतीय अस्तित्वपर अपना प्रभाव डालती हैं क्योंकि वे उस भारतीय सम्यताका चित्रण करती हैं जिसका पालन-पोषण यन्में हुआ है न कि ग्रीक और रोमन सम्यताकी भौति नगरकी घटार-दीवारीके भीतर। यतः उन सभीमें वह स्वातन्त्र्यकी झलक दिखाई देती है जो प्रकृतिके शक्तिशाली प्रभावके दैनिक सम्पर्कसे ही सम्भव है।

कालिदासकी छन्दोयोजना

[श्री परिब्रत रामगोविन्द शुक्ल, न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य]

जैसे विभिन्न प्रकारके वर्योंके उच्चारणके लिये विभिन्न प्रकारसे कण्ठवाल्नुके अभिधातोंका भेद है और जैसे विभिन्न प्रकारके वर्यो पृथक् पृथक् रस, भाव तथा अलंकार आदिके व्यञ्जक हैं वैसे ही उन उन रसोंकी व्यञ्जनाके लिये भिन्न भिन्न छन्द भी हैं। जैसे शृङ्गार रसके व्यञ्जक वर्योंके द्वारा ही शृङ्गार रसकी पुष्टि होती है वैसे ही छन्दोंके विषयमें यह विचार किया गया है कि किस छन्दमें रचा हुआ काव्य किस रसकी पुष्टिके लिए उपयुक्त होगा। इसका तात्पर्य यह है कि केवल शब्द-योजना ही काव्यमें रस-सिद्धिके लिये पर्याप्त नहीं है, उसके लिये छन्दोयोजना भी उत्तनी ही अपेक्षित है। महाकवि चोमेन्द्रने अपने सुवृत्त-तिलकमें कहा है कि—

काव्ये रसानुसारेण वर्यनानुगुणेन च ।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभवाचित् ॥

[काव्यमें रस तथा वर्यनीय वस्तुके अनुसार छन्दोयोजना ठीक समझकर छन्दोंका विनियोग करना चाहिए ।]

छन्दोयोजनाका परिज्ञान तो उन महाकवियोंके काव्योंसे ही सम्भव है जिनकी साधारण अचिरल प्रवाह-द्वारा साहित्य तथा साहित्यकारोंकी मृत करती रही है। आचार्य मम्मट भट्टने कहा है कि काव्य-विमर्शाकी स्वाभाविक शक्ति होने पर भी “काव्यज्ञशिष्याभ्यासः”की आवश्यकता रहती ही है। अतएव भये कवि अपने पूर्ववर्तन बड़े-बड़े काव्योंके चनाए हुए मार्गपर ही चलना उचित समझते हैं और तदनुसार एक ऐसी परिपाटी बना लेते हैं जिससे पीछे आनेवाले कवि-बालक भटकते न किरीं प्रत्युत उसी मार्गपर सावधानीसे पैर रखते हुए बड़े चले आ सकें। इसीलिये महाकवि चोमेन्द्रने अपने सुवृत्ततिलक नामक ग्रन्थमें छन्दोयोजनाके विषयमें नियम लिखते हुए कहा है—

आरम्भे सर्वान्वश्य कथाविस्तारसंग्रहे ।
समोपदेशपृच्छान्ते सन्तः शतान्यनुष्टुभम् ॥
शृङ्गारालम्बनोद्गारनायिकारूपवर्णनम् ।
वसन्तादि तद्गर्भं च स्वस्वायमुपजातिभिः ॥
रघोक्षता विभाव्येण भव्या चन्द्रोदयादिसु ।
पाद्भुव्यप्रगुणा भीतिरंशस्वेन पिराजते ॥
वसन्ततिलकं भाति सङ्घरे पीररौद्रयोः ।
कुर्वीत सर्वान्व पर्वण्ये मालिनीं द्रुततालवत् ॥

उपपन्न परिच्छेदकाले शिखरिणी मता ।
 थौदार्यैस्त्रिरौचित्य-विचारे हरिणी मता ॥
 सात्त्विकोऽधोऽधिकारे परं पृथ्वीभरसना ।
 प्रावृत्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ॥
 शौर्यस्त्वये नृपादीनां शार्ङ्गलक्ष्मीदितं मतम् ।
 साधेगदवनादीनां वदनि सन्धरा मता ॥
 दोधकटोटकनकुटसुवत्तं सुवत्तकमेव विराजति सूक्तम् ।
 विविधयस्तु रसादिषु तेषां निर्णयमत्र सदा विनियोगः ॥
 शेषाणामप्यनुक्ताणां वृत्तानां विषयं दिना ।
 वैचिन्त्यमात्रपात्राणां विनियोगो न दर्शितः ॥
 ह्येषेव वश्यवचसा सर्ववृत्त-प्रसंगिनाम् ।
 अदो विभागः सद्बृत्तविनिवेशे विशेषणम् ॥

महाकवि 'शेमेन्द्रकी दृष्टिमें' कालिदासकी छन्दोयोजना इस प्रकार की है—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति ।
 सदशवदस ? स्वेव काम्बोजतुरगाङ्गना ॥
 सुवर्णाहंश्रयन्धेषु यथारधान-निवेशिनाम् ।
 रत्नानामपि वृत्तानां भवत्यभ्यधिका हचिः ॥

महाकवि 'शेमेन्द्रकी' एतत्सम्बन्धी प्रथम संबंधा तारादनीय है फिर भी यह प्रयास छन्दोंकी रसालुकूल योजनाके सम्बन्धमें अपूरा ही कहा जायगा । जबतक छन्दोंके विषयमें पूर्णरूपेण यह सिद्धान्त न बन जाय कि किस छन्दका कहीं प्रयोग करना उचित और कहां अनुचित है तबतक उसकी पूर्णता कैसे मान्य हो सकती है । फिर भी इनके द्वारा इस सम्बन्धमें प्रकाश अवश्य मिलता है । रसि-ग्रन्थकारोंने काव्यदोष गिनते हुए हतवृत्तता नामक दोष भी लिखा है । उनका करना है कि जो वृत्त उसके स्वभावसे विपरीत पक्का हो उसका प्रयोग उस उसके लिये करना ही हतवृत्तत्व दोष है । यद्यपि इस विषयपर एक ऐसे पृथक् निबन्धकी आवश्यकता प्रतीत होती है जिसमें विभिन्न रसोंके अनुगुण विभिन्न छन्दोंकी योग्यता विस्तारसे समझाई जाय किन्तु इस समय हम केवल क्यो विचार करना चाहते हैं कि महाकवि कालिदासने अपने काव्योंमें किन रसों, भावों तथा वर्णोंके लिये किन छन्दोंका प्रयोग किया है—

छन्द

विषय-भाव या रस

१. उपजाति— संशयकर्म, उपस्था तथा नायका-नायिकाता संगम्यं ।
२. अनुदुष्— लम्बों कथाको संक्षिप्त करने तथा उपदेश देनेमें ।
३. संशय— चोरताके प्रकरणमें, चाहे मुख हो या मुखकी तैयारी हो रही हो ।
४. चैतानी— करण रसमें ।
५. शक्तिविनिश्चय— मनुष्यके यत्नमें ।

६. रथोद्धता— जिस कर्मका परिणाम खेदके रूपमें परिखत हो चाहे यह खेद, रक्ति-जनित हो, दुष्कर्म-जनित हो या पद्मात्पाप-जनित हो। अथ एव कामक्रीडा, धारेत आदिका वर्णन इसी छन्दमें है।
७. मन्दाक्रान्ता— प्रवास, विपत्ति तथा वपकि वर्णनमें।
८. मालिनी— सफलताके साथ पूर्ण होनेवाले सर्गके अन्तमें।
९. प्रहर्षिणी— हर्षके साथ पूर्ण होनेवाले सर्गके अन्तमें। यदि मध्यमें भी कहीं इसका प्रयोग है तो वहाँ भी दुःखकी धारामें हर्ष या हर्षकी धारामें हर्षातिरेक ही बखित है।
१०. हरिणी— जय नायकका अभ्युत्थान हो या सौभाग्यका वर्णन हो।
११. घसंततिलका— काव्यकी सफलतापर। ऋतु-वर्णनमें भी पुराणोंकी सफलता या ऋतुकी सफलता वभी सिद्ध हो सकी है जत्र उसका उपभोग उन ऋतुओंका उपभोग कर रहा हो।

इसी प्रकार सफलताके लिये प्रधान या प्राप्तिमें अन्वयार्थान पुन्विताया, निराशाके साथ निवृत्तिमें तोटक, कृतकृत्यतामें शांतिनी, वृथा वीरता प्रदर्शनमें औपच्यन्दसिक, क्रीडाके वर्णनमें (चाहे कामक्रीडा हो या अन्य क्रीडा हो) रथोद्धता, संयोगसे स्वर्धप्राप्त विपत्ति या सम्पत्तिमें रचावता, घमराहटमें मत्तमयूर, प्रपञ्चोका परिव्याग करनेमें नाराच तथा वीरता आदिके वर्णनमें शार्दूलविकीरितका प्रयोग किया गया है।

हमने यहाँ यह समझनेका प्रयत्न किया है कि किस प्रकारकी घटनाओं तथा किस प्रकारके विपत्तियोंके वर्णन कविने किस छन्दमें किया है। हमारी दृष्टिसे महाकवि कालिदासने इस प्रकार छन्दोंके प्रयोग-द्वारा यह भी सिद्ध करनेका और समझानेका प्रयत्न किया है कि किन छन्दोंका प्रयोग किस रसमें करना चाहिए। जिस सर्गकी घटनाओंमें श्लोक-श्लोकपर भाव बदला है या घटना बदली है, ठीक उसीके अनुसार कविने छन्दोंमें भी गिन करके ही परिवर्तन किया है जिससे यह भी मानना अनुचित न होगा कि कविने अपने काव्यके द्वारा रसोंमें छन्दोयोजनाकी शिक्षा दी है।

छन्दोंका प्रयोग समझने और उनका प्रकरण जाननेके लिये छन्दोंकी तालिका आगे दी जाती है जिसके द्वारा पीछे लिखी हुई बातोंकी पुष्टि हो सकेगी—

रसुवशा

प्रथम सर्ग	छन्द	वर्णन
१ से १७ तक	अनुष्टुप्	लक्ष्मणवत् पंचमं वयं गुरवणं च सस्रम । द्वितुयंपादयोर्हृष्यमहाचरमनुष्टुभम् ।
११ वा	प्रहर्षिणी	श्री श्री गच्छिदशपतिः प्रहर्षिणीयम् ।
द्वितीय सर्ग		
१ से ७४ तक	उपजाति	उपेन्द्रवज्रापदसंगतानि यदीन्द्रवज्राचरणानि च स्युः तदोपजातिः कथिता कर्वाण्डैर्मंदाभवन्तीह चतुर्दशास्याः ।
७५ वा	मालिनी	ननयाममुत्तमं मालिनी भोगिलोकैः ।

द्वितीय सर्ग १ से ६६ तक ७० वां	पशुस्थ हरिणी	जती तु वंशस्थमुदीरितं जरी । रसयुगहयैन्तौ श्रौस्त्रौ भो यदा हरिणी तदा ।	
चतुर्थ सर्ग १ से ८६ तक ८७ से ८८ तक	अनुष्टुप् प्रहर्षिणी		(ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
पंचम सर्ग १ से ६९ तक ६९ से ७३ तक ७४ से ७५ तक ७६ वां	उपजाति वसन्ततिलका मालिनी पुष्पितामा	उक्ता वसन्ततिलका तभज्ज जगौषः ।	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो) (ऊपर देखो) अयुजिनयुगरेफतो यकारो युजि च न जौजरगाश्च पुष्पितामा ।
षष्ठ सर्ग १ से ८४ तक ८५ वां ८६ वां	उपजाति माळिनी पुष्पितामा		(ऊपर देखो) (ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
सप्तम सर्ग १ से ६६ तक ७० से ७१ तक	उपजाति मालिनी	द्वितीय सर्गमें, द्वितीय सर्गमें,	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
अष्टम सर्ग १ से ६० तक ६१ वां ६२ वां ६३ से ६४ तक ६५ वां	वैतालीय तोटक प्रहर्षिणी वसन्ततिलका मन्दाप्रान्ता	विषमे यदि पटकलासमेऽष्टौ स्युस्ता इह नो निरन्तराः । न समाश्र पशधिता कला वैतालीयेऽन्ते रक्षौ गुर । इह तोटकमनुषितैः प्रथितम् ।	
नवम सर्ग १ से ५४ तक ५५ से ६३ तक ६४ से ६५ तक ६६ वां ६७ वां ६८ वां	द्रुतविलम्बित वसन्ततिलका शालिनी श्रीपञ्चन्दसिक माळिनी रथोद्धता	मन्दाप्रान्ता जलधिपद्मैर्भ्रान्तौ ताद्रुस्चेत्	
६९ से ७० तक ७१ से ७३ तक ७४ वां ७५ वां ७६ वां	पुष्पितामा रजागता वैतालीय मत्समयूर	द्रुतविलम्बिताह नभौ भरी । पंचम सर्गमें, शालिन्युक्ता गौ शगौ गोष्पिलोकैः । चरमे यदि रेफवौ भवेतामौषधान्दसिकं दलद्वयं तदा । द्वितीय सर्गमें राज्जराविह रथोद्धताः क्षरी ।	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
७७ से ८२ तक	वसन्ततिलका	पंचम सर्गमें स्वागतारणभरैर्गुरया च अष्टम सर्गमें वेदे रभ्रैर्गौ पसगा मत्समयूरम् ।	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
८३ से ८४ तक	वसन्ततिलका	पंचम सर्गमें	(ऊपर देखो)

दशम सर्ग

१ से ८१ तक ८१ वॉ	अनुष्टुप् मालिनी	प्रथम सर्गमें, द्वितीय सर्गमें	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
---------------------	---------------------	-----------------------------------	------------------------------

एकादश सर्ग

१ से ११ तक १२ वॉ १३ वॉ	रथोद्धता वसन्ततिलका मालिनी	नवम सर्गमें पंचम सर्गमें द्वितीय सर्गमें	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
------------------------------	----------------------------------	--	--

द्वादशसर्ग

१ से १०१ तक १०२ वॉ १०३ वॉ १०४ वॉ	अनुष्टुप् मालिनी वसन्ततिलका नाराच	प्रथम सर्गमें द्वितीय सर्गमें पंचम सर्गमें, इह ननरचनुष्टुप् तु नाराचनाचधये ।	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो) (ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
---	--	---	--

त्रयोदशसर्ग

१ से ६७ तक ६८ से ७८ तक ७९ वॉ	उपजाति वसन्ततिलका प्रहर्षिणी	द्वितीय सर्गमें, पंचम सर्गमें, प्रथम सर्गमें	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
------------------------------------	------------------------------------	--	--

चतुर्दश सर्ग

१ से ८६ तक ८७ वॉ	उपजाति मन्दाक्रान्ता	द्वितीय सर्गमें, अष्टम सर्गमें,	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
---------------------	-------------------------	------------------------------------	------------------------------

पंचदश सर्ग

१ से १०२ तक १०३ वॉ	अनुष्टुप् मन्दाक्रान्ता	प्रथम सर्गमें, अष्टम सर्गमें,	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
-----------------------	----------------------------	----------------------------------	------------------------------

षोडश सर्ग

१ से ८१ तक ८६ वॉ ८७ से ८९ तक	उपजाति वसन्ततिलका मन्दाक्रान्ता	द्वितीय सर्गमें, पंचम सर्गमें, अष्टम सर्गमें,	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
------------------------------------	---------------------------------------	---	--

सप्तदश सर्ग

१ से ८० तक ८१ वॉ	अनुष्टुप् मन्दाक्रान्ता	प्रथम सर्गमें, अष्टम सर्गमें,	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
---------------------	----------------------------	----------------------------------	------------------------------

अष्टादश

१ से ११ तक १२ से १३ तक	उपजाति वसन्ततिलका	द्वितीय सर्गमें, पंचम सर्गमें,	(ऊपर देखो) (ऊपर देखो)
---------------------------	----------------------	-----------------------------------	------------------------------

एकोनविंसति सर्ग

१ से ११ तक	रथोद्धता	नवम सर्गमें,	(ऊपर देखो)
------------	----------	--------------	--------------

१६ वॉ	वसन्ततिलका	पंचम सर्गमें,	(ऊपर देखो)
१७ वॉ	मन्दाक्रान्ता	अष्टम सर्गमें,	(ऊपर देखो)

कुमारसम्भव

प्रथम सर्गमें

१ से ११ तक ६० वॉ.	छन्द उपजाति मालिनी	लक्ष्य द्वितीय सर्ग, रघुवंश द्वितीय सर्ग	"
दूसरा सर्ग १ से १३ तक ६४ वॉ	अनुष्टुप् मालिनी	प्रथम सर्ग द्वितीय सर्ग	"
तीसरा सर्ग १ से ७४ तक ७१ वॉ ७६ वॉ	उपजाति वसन्ततिलका मालिनी	द्वितीय सर्ग पंचम सर्ग द्वितीय सर्ग	"
चौथा सर्ग १ से ४४ तक ४१ वॉ ४६ वॉ	वैताल्य वसन्ततिलका पुष्पिताम्रा	अष्टम सर्ग पंचम सर्ग पंचम सर्ग	"
पाँचवाँ सर्ग १ से ८४ तक ८१ से ८६ तक	वंशस्थ वसन्ततिलका	तृतीय सर्ग पंचम सर्ग	"
छठा सर्ग १ से १४ तक १५ वॉ	अनुष्टुप् पुष्पिताम्रा	प्रथम सर्ग पंचम सर्ग	"
सातवाँ सर्ग १ से ४३ तक ४४ से १५ तक	उपजाति मालिनी	द्वितीय सर्ग द्वितीय सर्ग	"
आठवाँ सर्ग १ से १० तक ११ वॉ	रयोद्धा मालिनी	नवम सर्ग द्वितीय सर्ग	"
नयाँ सर्ग १ से ११ तक १२ वॉ	उपजाति पुष्पिताम्रा	द्वितीय सर्ग पंचम सर्गमें	"

दसवों सर्ग १ से ११ तक ६० वीं	अनुष्टुप् मन्दारान्ता	प्रथम सर्ग, अष्टम सर्ग	रघुवंश "
ग्यारहवों सर्ग १ से ११ तक १० वीं	उपजाति हरिणी	द्वितीय सर्ग तृतीय सर्ग	" "
बारहवों सर्ग १ से ११ तक ६०	उपजाति हरिणी	द्वितीय सर्ग तृतीय सर्ग	" "
तेरहवों सर्ग १ से १० तक ११ वीं	उपजाति मालिनी	तृतीय सर्ग द्वितीय सर्ग	" "
चौदहवों सर्ग १ से ११ तक ६० वीं	वंशाथ मालिनी	तृतीय सर्ग द्वितीय सर्ग	" "
पन्द्रहवों सर्ग १ से १२ तक ६३ वीं	वंशाथ शार्दूलविक्रीडित	तृतीय सर्ग सूर्याश्वमेधराज्याः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।	" "
सोलहवों सर्ग १ से ११ तक ६० वीं	अनुष्टुप् हरिणी	प्रथम सर्ग तृतीय सर्ग	रघुवंश "
सत्रहवों सर्ग १ से १३ तक ६४ वीं ६५ वीं	वसन्ततिलका पुष्पितामा मालिनी	पंचम सर्ग पंचम सर्ग द्वितीय सर्ग	" " "

मेघदूत

पूर्वमेघ }
उत्तरमेघ }

मन्दारान्ता

अष्टम सर्ग रघुवंश

ऋतुमंहार काव्य

प्रथम सर्ग

१ से २१ तक

उपजाति

सभी छन्दोंके लक्षण ऊपर था लुके हैं।

२२ से २८ तक

मालिनी

दूसरा सर्ग

१ से २० तक

उपजाति

२१ से २२ तक

वसन्ततिलका

२३ से २४ तक

मालिनी

तीसरा सर्ग

१ से २२ तक

वसन्ततिलका

२२ से २८ तक

मालिनी

चौथा सर्ग

१ से १३ तक

उपजाति

१४ से १८ तक

वसन्ततिलका

१६ याँ

मालिनी

पंचवौं सर्ग

१ से १० तक

उपजाति

११ से १६ तक

मालिनी

छठा सर्ग

१ से १० तक

उपजाति

११ याँ

वसन्ततिलका

१२ से १८ तक

उपजाति

१६ से २८ तक

वसन्ततिलका

२४ से ३७ तक

मालिनी

३८ याँ

शार्दूलविक्रीडित

इस प्रकार अध्ययन करनेसे इतीत होता है कि महानविने वस्तु, भाव तथा रसके प्रभावको स्थिर तथा पुष्ट रङ्गनेके लिये योग्य छन्दोंका प्रयोग करके अपनी छन्दो भोगना शक्तिका भी भावन्त भङ्ग्य परिचय दिया है।

अभिधान-कोष

[पण्डित सीताराम चतुर्वेदी]

अ

अंशुमान—सूर्यवंशी राजा सगरका पौत्र और असमजसका पुत्र । (देखो सगर)

अक्षत—समूचे चावलके दाने जो देवपूजाके काममें आते हैं ।

अगस्त्य—१. ऋषि जिनका जन्म पहलेसे हुआ था, जिन्होंने समुद्र सोल लिया था और जिनके कहनेसे विन्ध्याचल उठ गया था । 'अगं विन्ध्याचल स्थापति इति अगस्त्यः' ऋग्वेदके अनुसार यशस्थलमें उर्वशीको देखकर मित्र और वरुणका धोष स्फुरित होकर यज्ञके हुम्नमें जा गिरा, उसीसे वशिष्ठ और अगस्त्यकी उत्पत्ति हुई । लोपामुद्रासे अगस्त्यका विवाह हुआ । अगस्त्यका आश्रम गोदावरीके उत्तर तटपर दण्डकारण्यमें वर्तमान बरारकी पूर्वोत्तर सीमापर था । देवताओंके अनुरोधसे इन्होंने समुद्र सोल दाला, इत्यल और वातापि अदृश्योंको नष्ट कर दाला । जब विन्ध्याचलने सूर्यका पथ रोक दिया था, उस समय इन्होंने उसे नीचे जिटा दिया था ।

२—उत्तरा जो दक्षिण दिशामें सीर भाद्रपद मासके सत्रद्वयें दिन उदय दाला है । यह उत्तरा जब उदित हो जाता है तब वर्षा समाप्त हो जाती है ।

३—वृष, जिसमें द्वितीयाके चंद्रमाके आकारके फूल लगते हैं ।

अशुभ—मुगन्धित कष्ट । इसके शुरूसे महिलाएँ अपने केश मुगन्धित करती थीं । अगर अशुभ । यह देखनेमें काला पर पत्थरपर बिजनेसे सुदूर पीले रंगका हो जाता है । इसका पेद बहुत बढ़ा होता है और सिलहटके पहाड़ी जंगलमें उगता है । पुराने वृक्षसे गुग्गुल जैसी एक प्रकारकी गोद निकलती है जिसे पीसकर आगपर डालनेसे मोठी गुग्गुल निकलती है ।

अग्नि—आग्नेय-कोण (दक्षिण-पूर्व दिशा) के अग्निष्ठाता देवता ।

दावाग्नि—लक्ष्मीकी आग ; (जडराग्नि-पेटकी-आग जो भोजन पचाती है ; बाडवाग्नि-समुद्रकी अग्नि ।)

अग्निहोत्र—यज्ञ विशेष । एक मासमें इस यज्ञका उद्यापन किया जाता है । फिर यावज्जीवन भी इसका अनुष्ठान हो सकता है । यावज्जीवन यह यज्ञ करनेसे प्रातः और सप्याओ होम करना पड़ता है ।

अङ्ग—किसी गटकका एक कार्य जितने अंशमें पूर्ण होता है उसे अङ्ग कहते हैं ।

अंशु—वे राजे जो गोदमें रखकर घनाप आते हैं । शैवे—शृदग, चाबों तबला, डोचक, पत्तामर ।

अंगराग—वे सब मुगन्धित पदार्थ—चन्दन, कर्पूर, अमर, पराग, आलता आदि जिन्हें लेप करनेसे शरीरमें सुगन्ध और शोभा आती है ।

अंगिरा या अंगिरस् ऋषि—ब्रह्मके द्वितीय पुत्र । इनको पत्नी शुभा और पुत्र बृहस्पति हुए । एक बार महर्षि अगिराने इतना क्रोध तप किया डगकी उद्योतसे सत्तर भर गया । उन्होंने दिनों अग्निदेव भी तपस्या कर रहे थे । जब अगिराके तेजसे अग्निको अपना तेज मन्द जान पड़ने लगा तब उन्होंने सोचा कि ब्रह्मने वृक्षी अग्निका निर्माण किया है । तब अगिराने अग्निसे कहा कि आप अपना अधिकार ले लीजिए, मैं आपका पुत्र बनूँगा । तभीसे बृहस्पतिके नामसे वे अग्निके पुत्र बने ।

देखो अग्नि भी

अजगर—मंत्र क्षामं गिरधि गिलति । जो साँप बकरेकी भी निगल जाय । यह पहाड़ी

सौंप लुशिया और अफ्रीकामें होता है। इसे अंग्रेजी में पाइथन और अमेरिका में योधा कंसिड-
क्टर कहते हैं। यह बकरे, भैंसे, हरिण, भैंसे
और चौलेतरुको निगल जाता है या लिपटकर
उन्हें जरुदकर मार टाकता है।

अञ्जना—ये सुमेरु पर्यंतके पासवाले
प्रदेशके वानरराज केशरी नामके वानरकी पत्नी
थीं। इनके गर्भसे पवनके सम्बन्धसे हनुमानजीका
जन्म हुआ। ये बड़ी धीर, धीर नारी थीं। जब
लका विजयके परवात् हनुमानजी इनसे मिलने
गए तब इन्होंने हनुमानजीको बौंठते हुए कहा
कि तू राक्षस जैसे अशक्त सामान्य व्यक्तिसे युद्ध
करने क्या गया तुम्हें तो चाहेटु था कि अपने उन्हीं
मरतोंसे राक्षसके दुर्मौं सिर तोप लाता, अशोक-
वनके साथ सोताको लाकर रामके पास पहुँचा
देता और अपनी नारीके फेजाकर समुद्रपर पुल
बना देता।

अञ्जलि—दोनों हाथोंकी हथेलियों और
उं गजियोंको मिलाकर उसे हृम प्रकार बना लेना
कि उसमें पानी या कोई वस्तु भरी जा सके।

अट्टहास्य—अट्टेन अतिशयमेन हास्यः। टट-
कर या टटका मारकर हँसना।

अष्टिमा—यह एक पेशरूप सिद्धि है जिसके
सब जानेपर मनुष्य अशक्त सूक्ष्म रूप बना
सकता है, जेम्हां चाहे सिद्धि है—

अष्टिमा अष्टिमां मासि—शकम्भ महिमा तथा।
इतिवत्तं वसिष्ठस्य तथा कामरुमाविता ॥
अष्टिमा, अष्टिमा, मासि, अशकम्भ, महिमा,
इतिवत्तं, वसिष्ठस्य तथा कामरुमाविता (गहिमा)

अतिवला—बला और अनिवला नाम की
दो विद्याएँ विरवाविप्रकोने रामलक्ष्मणको उक्त
समय गिणाई थीं जब ये विरवाविप्रकोने साथ
उनके वनको रणको त्रिपे गए थे। इन विद्या-
ओंके कारण अशकम्भ, अशकम्भ, अशकम्भ, अशकम्भ
कुपु मरिं मरणा, कोरं कुपु हासि नहीं कर
सकता, अशकम्भ अशकम्भ विद्या है, अशकम्भ,

अशकम्भ अशकम्भ, विद्या सब मिल जाता है।
भागमें इनका पाठ करनेसे कोई भय नहीं
होता। ये वैश्वदेवनां विद्याएँ पितृमह प्रज्ञाकी
कन्याएँ हैं।

अतिमुक्त (सता)—तिनहुनेका पेश,
माथवी लता, मोहरा।

अग्नि—सप्तपिण्डोंमेंसे एक ऋषि जो मराने
बधुसे उत्पन्न हुए थे। कर्म अग्निकी पुत्री
अनसूवाको इनका पत्नी है। दत्तात्रेय, दुर्वास
और चन्द्र इनके पुत्र हैं। मनुसे उत्पन्न दस
प्रजापतिपिण्डोंमेंसे ये एक थे—

मरुचिप्रभृद्विरासी पुलस्त्यं पुलहं प्रतुम्।

प्रचेतसं वशिष्ठस्य भृगुं नाशकेशं च ॥

[मनु० १।३५]

अग्नि सप्तपिण्डोंमें इनको गिनती होती है
वे हैं—

मरुचिरभृद्विरासी पुलस्त्यः पुलहः प्रतुम्।
मण्डयो मानसाः पुत्रा वशिष्ठश्चेति सप्त ते ॥

अदिति—ये दसकी पुत्री थीं और करवप
की पत्नी थीं। ये देवमाता और दापावयी
कहलाती हैं।

अन्तःपुर—रजिवास। राजभवनमें रानियों
के निवास और विहारका स्थान।

अन्तःपाल (दुर्ग)—राजकी सीमापर बना
हुआ यह दुर्ग जिसमें राजपर वाहरके कहुकोने
आमगदसे रक्षा की जा सके। अन्तःसीमाने
पात्रपति इति अन्तःपालः।

अन्तर्धान—अपने भीतर छिप जाना।
अन्तर्ध हो जाना।

अनसूया—अग्निगुणकी पत्नी तथा कर्म
अग्निकी पुत्री। (देखो अग्नि)

अनुद्वार—(रर) जब कोई ररा सब
देकर न बोधा जाय तब उसे अनुद्वार कहते हैं।
अं पितृगुणः त्रिमे उ। निपाताः अमे विद्या है—
इदामामानुद्वारस्य स्वरितस्य अनापचः।
सुपे इत्था अनुद्वारस्य काकरी निवताः अचि इ

अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर होते हैं जो उनके उच्चारणमें लगनेवाले समयके अनुसार दीर्घ, ह्रस्व और प्लुत कहलाते हैं। इसके अनुसार अ, इ, उ, अनुदात्त हैं, आ ई ऊ उदात्त, ईं तथा आं, ईं, ऊं, उं स्वरित हैं।

अंधक—द्विके मर्ममे और कश्यपके औरस (धीरे) से इस दैत्यका जन्म हुआ था। उसके अत्याचारसे कश्यप महादेवजीने इसे मार डाला था।

अपराजिता (विद्या)—उह विद्या नियते सीख लेनेपर कभी हार न हो।

अप्सरार्तार्थ—या अप्सरार्तार्थ—१. यह तीर्थ या स्थान जहाँ अप्सराएँ रहतीं हों। २. आकाश-नगारा यह घाट जहाँ अप्सराएँ स्नान करती हैं। ३. अप्सराके समान रूपवाली।

अभिनय—अभिनयति दृष्टभावाभ्यन्तराशयति। नाटकमें निर्दिष्ट पात्रोंके अनुसार वेश भूषा धारण करके उसमें निर्दिष्ट वाग्दशाय और क्रियाओंका अनुकरण करके दिखाना अभिनय कहलाता है—अभिनय चार प्रकारका होता है आंगिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य, नेत्र, स्मिर, हाथ पैर चलाकर अभिनय करना आंगिक होता है। वाशाके उत्तार-चढ़ावसे रोचनेका अभिनय वाचिक होता है। भौंस्, मग्, परीना निकलने आदि का अनुकरण सात्विक कहलाता है। नाटकीय पात्रोंके अनुसार वेशभूषा धारण करना आहार्य कहलाता है।

अभिसारिका—अभिनयति, अभिसारयति या संवेतस्थानम्। किसी निश्चित स्थानपर मित्रोंका सदेव फाके अपने प्रेमाके पास जानेवाली नायिकाको अभिसारिका कहते हैं।

अभिसारयति कान्तं या मन्मथेरप वशावदा ।
स्वयवाऽभिसरत्येवा धारिण्यभिसारिका ॥
(साहित्यदर्पण)
जो स्त्री काम पीड़ित होकर अपने प्रियको

सहेद या संकेत स्थल को भेज दे या स्वयं चहाँ जाय उसे अभिसारिका कहते हैं—ये तीन प्रकार की होती है। १. दिवाभिसारिका जो दिनमें प्रियसे मिलने जाय, दुर्वाभिसारिका (ज्योत्स्नाभि-सारिका) जो रात वरुष पहनकर चाँदनी रातमें मिलने जाय और वृष्णाभिसारिका (श्रेष्ठाभिसारिका) जो अंधेरी रातमें काले कपड़े पहनकर मिलने जाय।

अमरावती—अमरा, देवा विद्यन्ते यस्यां सा, इन्द्रपुरी, विश्वकर्माने सुमेरु पर्वतपर इसका निर्माण किया, यहाँ किसीको बुझाया मृत्यु, शोक और ताप हृद् भी नहीं सकता। यहाँ सुरभि गाय, पेशावत हाथी, उच्चैः श्रवा घोड़ा, अप्सराएँ और नन्दनवनके पंच वृक्ष हैं—मदार, परिजात, सतान, कदम्ब और हरिचरण। इस पुराके भीतरसे अलकनन्दा बहती है, इन्द्र यहाँके स्वामी है विद्वानोंका अनुमान है कि तुर्किस्तानमें योगराके पास इन्द्रालय नामक स्थान ही अमरावती और वर्तमान योगसू ही अलक-नदा थी।

अमरात्य परिपद्—राजाओंकी सहायताके लिये एक मंत्रिपदल रहता था जो विभिन्न विषयोंपर राजाकी सहायता करता था।

अमृत—पृथुत्वके मगसे पृथिवीने गोरूप धारण किया था। देवोंने इन्द्रको बरस बनाकर सुवर्णपात्रमें गोरूप पृथिवीको दूदा। उसके स्तनसे अमृत निकला था, पीठे दुर्वासके शापसे पहले अमृत समुद्रमें जा गिरा। सत्र शेष नामकी रम्पी, मदराचलको रई बनाकर धीरसागरको मग, त्रिमसे फिर अमृतका कलश निकला।

अमृतकिरण—चन्द्रमा, जिसकी छिन्नेमें अमृत रहता है।

अं वक्रा—दुर्गा या पार्वतीका एक रूप।
अयोध्या—सूर्यवरा राजाओंकी राजधानी।
यहाँके राजाओंको युद्धमें कोई पराजित नहीं कर सकता था इसीसे इसका नाम अयोध्या पड़ा।

यह सरयू नदीके तटपर स्थित कोशलकी राजधानी थी। यह उस समयकी सात मुख्य पुरियोंमें थी।—

अयोध्या मथुरा माया काशी काची
छावन्तिका ॥

पुरी द्वारावती चैत्र सस्त्रिता पुरय स्मृताः ।

अरणि—यह लैवनी जिसे रगदनेसे आग निकले। यशमें एक लकड़ीपर बरनेके समान दूसरी लकड़ी रगड़ी जाती थी उससे अग्नि उत्पन्न होती थी। इसके दो भाग होते हैं—
अधरारणि और उत्तरारणि और यह शर्मांमें बगनेवाले पीपलसे तैयार होती है। उत्तरारणिको अर्थात् ऊपरवाली लकड़ीको अधरारणि अर्थात् नीचेवाली अरणिके छेदमें डालकर मथानोंके समान रस्सीसे चलाकर छेदके नीचे रखा हुआ कुछ जल उठता है और यही अरणि-मंथनसे निकली हुई अग्नि यशमें काम आती है।

अरुण—१-सूर्यका सारथि २-सूर्य ३-
प्रातः कालकी जालिमा ।

अरुण्यती—वशिष्ठजीकी पत्नी तथा कर्दम ऋषि-
की बन्धा। २-आकाशमें सप्तपिंधोके वशिष्ठतारेके पास एक घोटासा तारा, जो ऐसे लोमोंको नहीं दिखाई देता जिनकी आयु समाप्त होनेवाली हो—
दीपनिर्वाण मन्थज सुहृदवाचपमरन्धनीम् ।
न तिम्रिति न शृण्वन्ति न परयन्ति
यतायुवः—

जिनकी आयु पूरा हो चली है वे न तो शुभाष्ट
हुए दीपकी गंध सूँघ पाते हैं, न मित्रोंकी बात
सुन पाते हैं और न अरुण्यतीको देख पाते हैं ।
जिह्वा का नाम भी अरुण्यती है इसलिये मृत्यु समीप
आनेपर जिह्वाका अधभाग नहीं दिखाई देता ।

अर्गला—इसके किण्वक वन्द करके उसके
पीठे लकड़ीका जो मूलज द्वारके दोनों ओरवाले
छेदोंमें धारदार डाल दिया जाता है जिनसे
साँझ सुबहनेपर भी धारका देनेसे द्वार न खुले ।

अर्घ्य—अपने घर आण, हुए प्रतिभि या

देवताको हाथ धोनेके लिये जो जल देते हैं उसे
अर्घ्य कहते हैं ।

२-पूजनके लिये जल, दूध, कुशाकी फुनगों,
दही, सासों, चारल और जव ।

३-कहीर दूध और चावल आदि पूजाकी
सामग्री ।

अर्जुन (वृक्ष)—इसका पेड़ अमरुदने पेड़
जैसा होता है और इसकी पत्ती और छाल भी
अमरुद जैसी होती है। इसके छोटे और
खेत फूलोंमें बड़ी तोखी और मांठी गंध होती
है। इसका पेड़ अमरुदके पेड़से बहुत बड़ा
अवध, बंगाल, मध्यभारत और दक्षिणमें
बहुत होता है। इसे फकुम और करवीरक भी
कहते हैं। इसकी छाल लाल रंगकी बलबर्धक
होती है। चमटेको चिकना करने एग कपड़े
रँगनेके काम आती है। यह हृदय रोगकी औषधि
है। इसके काढ़से धो देनेपर घाव सुख जाता है
और हड्डी टूटनेपर इसका चूण फोकनेपर पोषा
कम हो जाती है और हड्डी जुट जाती है ।

अर्थ (पुरुषार्थ)—धर्म, अर्थ, काम,
मोक्ष नामक चार पुरुषार्थोंमेंसे एक । धन,
संपत्ति । अर्थ तीन प्रकारका होता है—पुण्य,
शवल और कृष्य । अपने अपने वर्षोंके अनुसार
कार्यके द्वारा उपार्जित धनको पुण्य, अपनेसे नीचे
वर्षोंकी इच्छा द्वारा कमाया हुआ शवल और
शुद्धा, खोरी, ठगों, परपीठन आदिसे उपार्जित
रिच्यो हुआ कृष्य कहलाता है ।

अर्थचन्द्र (वाण)—एक प्रकारका वाण,
जिसका फल चाँदे चन्द्रमाके आकारका होता है ।
अलकापुरी—हिमालयपर बसी हुई कुवेर-
की नगरी जिसमें शिवजी भी रहते हैं । इसका
वर्षान उत्तर जेयतूममें देखिए ।

अचन्ति (देश)—मालव देश और उसकी
राजधानी उज्जयिनी । विशाल, अचन्ति और
उज्जयिनी तीनों इसके नाम हैं । अचन्ति नगरी
शिवाके तटपर मालवामें बसी हुई है वहीं महा-

काल महादेवजीका प्रसिद्ध मन्दिर है। ईसासे एक शताब्दि पूर्व महाराज विक्रमादित्य यहाँके राजा थे। यहाँ सन्दीपनि आचार्य भी रहते थे जिनके यहाँ बलराम और श्रीकृष्ण अथर्व विद्या सीखने गए थे। शिवरा नदीका भी दूसरा नाम अचरती है।

शशोक (सुहृत्)—एक प्रकारका मृत् जिसका फूल लाल और पीला होता है। इसके अनुसार दो प्रकारके शशोक होते हैं—रक्तशोक और पीलाशोक। शैव मन्त्र अष्टमीको शशोकका आठ कतिवों का लेनेसे शोक नहीं रहता। खाते समय यह श्लोक पढ़े—

त्वामशोक इरामोष्ट, मनुपासन्मुमुक्षुः।

विषामि शोकस्ततो ममशोक सदा कुरु॥

कहा जाता है कि शिवोंको काल पढ़नेसे शशोक फूल उठता है—पारापाताशोकः। इसे बकुल, बंजुल, चित्र भी कहते हैं। यह लोंघो या नागनेशके पेड़ जैसा होता है और बसन्तमें फूलता है। इसके पत्ते लहरियादार होते हैं जो उसवर्षमें सजानेके काम आते हैं। इसके फल गुप्तेदार हलके गुब्बारी रंगके होते हैं। इसकी छाल कन्डी और कड़वी होती है जिससे प्यार, जलन, पेड़के काँड़े, सूयारग और विष दूर होता है। शिवोंके रजोदोषमें इसकी छालका कादा दिया जाता है।

अश्रमेघ—जो लोग स्वर्गका राज्य चाहते हैं वे सो अश्रमेघ यज्ञ करते हैं। इसमें नियम यह है कि एक घोड़ा द्योद दिया जाता है और यह जब चारों ओरसे घूमकर आता है तब उसकी यज्ञदी जाती है। इस यज्ञका यज्ञ माहात्म्य समझा जाता है। इस यज्ञके घोड़े श्यामकण्ठ अर्थात् काले कान्तले होते हैं।

आदिश्वनी—(दक्षकन्या, चन्द्रपत्नी)—२७ नक्षत्रोंमें पहला नक्षत्र। यह चन्द्रकी पत्नी मानी जाती है। दक्षकी १० कन्याओंमें दो अगिराकी, दो इशाश्वकी, १० धर्मकी

और २७ चन्द्रकी ज्याही गई। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उतरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अश्लेषा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ, उतराषाढ, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिष, पूर्वाभाद्रपद, उतरा भाद्रपद और रेवती, ये चन्द्रकी २७ परिवर्षी मानी गई हैं।

अश्विनीकुमार—सूर्यके जुबर्बो पुत्र, जो सूर्यके औरस और विश्वकर्माकी पुत्री संज्ञासे उत्पन्न हुए हैं। ये देवताओंके वैद्य हैं और इनका धौवन और सौन्दर्य शारवत्त हैं। सज्ञाका बृमरा नाम अश्विनी भी है अथ वे अश्विनीकुमार कहलाते हैं।

अष्टमूर्त्ति—शिव। जिनकी आठ मूर्त्तिया ये हैं—जल, अग्नि, होता सूर्य, चंद्र, आकाश, पृथिवी और वायु।

अस्तावल—पश्चिम दिशामें कश्चित् पर्वत जहाँ सूर्याके समय सूर्य अस्त होता माना जाता है।

अश्र—१—फँककर मारे जानेवाले हथियार, बाण, धरौं, चक्र आदि। २—धनुष, करवाल तथा अन्य हथियार।

अस्त्रिचार—(या अस्त्रिचारा मत) जिसमें मुन्दर युवा अपनी युवती पालोके साथ पतिभावसे रहते हुए भी कामभावसे तय न करे। इस मतके दृष्टनेपर नरकमें अस्त्रिचारा अर्थात् तलवार की धारकी चोट लगता है। जैसे कोई तलवारकी धारपर चलकर बिना चोट लागू नहीं रह सकता, वैसे ही इस मतमें भी अस्त्रिग रहना बड़ा कठिन है। इसी लिये किसी कठिन कामके प्रयत्नको अस्त्रिचारा मत कहते हैं।

अहल्या—गौतम ऋषिकी पत्नी अहल्याके नाम जपनेसे महापाप नष्ट हो जाते हैं।—

अहल्या व्रौषदी कुन्ती तारा गदोदरी तथा।
पञ्चकन्या स्मरेन्निय महापातकनाशनम्।
ये वृद्धाश्वकी कन्या थी, इन्द्रने दलसे गौतम

का रूप धारण करके अहल्याका प्रतिग्रह धर्म नष्ट किया, इसपर गौतमने इन्द्रको शाप दिया कि तुम्हारे शरीर भस्म हो जाय और अहल्या को शाप देकर पत्थर बना दिया। वेतामें राम-के चरणस्पर्शसे अहल्या का शाप छूट।

आकाशमंगा—१. आकाशमें रहनेवाली गंगा। आकाश नदी भी इसी अर्थमें प्रयुक्त होता है। २. नक्षत्र मंडल विशेष—यह आकाशमें उत्तर-दक्षिण विस्तृत है। ग्रामीण लोग इसे आकाश जनेऊ या हाथी की सूँठ कहते हैं।

आदित्य—ग्राह्य पञ्चान्न दाते दीपते वा। आदित्य १२ हैं—विश्वान्त, अर्यमा, पूषा, स्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र, एवं उपक्रम,

आन्वीक्षिकी—दण्डनीति तर्कविद्याऽथर्शास्त्रयोः ॥

२—गौतम प्रणीत आत्म विद्या, अथपादने पाँच अध्यायमें इसे पूरा किया है। प्रथममें प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, रटान्त अवयव, तर्क, निर्णय, बन्ध, जल, चित्तदा हेत्वाभास, ज्ञान, जाति, और निग्रह। इन सबके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष मिलता है।

आम्नकूट—एक पहाड़। अमर कटक पर्वत। सुदेव खडीय रीपां राज्यमें पड़ता है। शोण और गर्मदा नदी इसीसे निकलती है। यहीं गर्मदा नदी के चारों ओर मंदिर बने हैं। यह विष्णुचक्रके सातपुरा पर्वतका एक भाग है। यह हिन्दुओं-का पवित्र तीर्थ है और प्रतिवर्ष मेवा लगता है।

आलिम्ब (वाद्य)—जो दापमें लिपटाकर शरीरसे छिपटाकर धजाया जाता है। मृदंग, ढोल, महुवारी और मसक जो बने ढाक बाजेके साथ बजाया जाता है।

आभ्रम—१ मुनिवो का स्थान, २—मठ ३—तपोवन, मुक्त व्यक्ति (परमेस्वरमें लीन रहने तथा धर्मपर रहनेसे मुक्त व्यक्ति) को भी आभ्रम कहते हैं।

२—महापारी मन्त्रितिका शास्त्रीय धार धर्म विशेष, ॥

आसन (वृत्त) या असन या अश्वन—पीतशाल्वृत्त। इसे मगधाधोमें आसन, हिन्दीमें सज और उडियामें पियासाल कहते हैं। इसका पेड़ बहुत बड़ा होता है। इसकी ऊपरी लकड़ी भूरी, काले दागवाली, अत्यन्त कठोर और पक्की होती है। आसनकी पक्की लकड़ीमें पालिश अच्छी लगती है। इसके भीतरकी लकड़ीमें लाल दूध होता है। नेपालीमें इसे घंगी बगड कहते हैं। इसकी लकड़ी धुवले रंग की, ठजली और कोमल होती है। एक प्रकारका और भी आसन बृह होता है जिसे पजाबमें पापर कहते हैं। इसकी भी लकड़ी घूँधले रंग की होती है। भीग जाने या कच्ची रहनेपर इसमें पीला दाग पड़ जाता है। पजाब, दक्षिण और ब्रह्ममें भी आसन नामका एक लकड़ी होती है, जो ऊपर श्वेत और नीला होती है तथा भीतरसे भूरी, काली कठोर और लहरदार रेखावाली होती है। शिमला पहाड़पर भी पैलून नामका आसनका पेड़ होता है जिसे पंजाबमें लफैरा या आसन कहते हैं।

आसच—एक प्रकारका मरा, चीनी या सुकई तानी शराब। आयुर्वेदीय दवा।

आहवनीय—आहुवते। हवनाय हविरत्र। यज्ञका अग्नि विशेष।

यह मार्दव्य अग्निसे लेकर और होमभदिके शिष्ट प्रस्तुत किया जाता है।

आहुति—मग-द्वारा स्वादा कटकर देवताके उद्देश्यसे घृतादिका अग्निमें निक्षेप करना आहुति कहा जाता है।

इन्द्राहु—वैवस्वत मनुके पुत्र। जो सर्व प्रथम धयोष्वाके राजा थे। इनके एक ही पुत्र थे उनमें मरने बड़े बिकुञ्चि थे। मर्यादा पुराणोत्तम श्रीराम चन्द्रजी इन्हींके वंशज थे।

इन्द्र—१—शक्र। देवराज, वेदोक्त प्राचीन देवता। इन्द्र निर्दोषीके पुत्र हैं। इन्हींके मातापे इष्टे इज्याओं वर्ष गर्ममें रोक रक्ता या उससे पाद

इन्द्रने स्वयं दीर्घपथ होकर जन्म ग्रहण किया।
इन्द्रकी माताका नाम प्रजापति था। जन्मके समय
इन्द्रकी माता प्रसन्न हो गई थी। इन्द्रने अपने
पिताके दोनों पैर, पकड़कर उन्हें मार डाला।
२-स्वर्गके राजा।

इन्द्रधनुष—इन्द्र तत्त्वामिके मंत्रे धनुः
इव। इसे इन्द्रधनुष भी कहते हैं। वर्षा कालमें
सूर्यकी विपरीत दिशामें दिखाई पड़ता है।

इन्द्रनीलमणि—एक मणि जिसे दूधमें
हालनेपर दूधका रंग काला पड़ जाता है।
यह मणिग्रहको मिय है। इससे मणिद्वीप
शान्त हो जाते हैं। इसका रंग काले सेव
सैदा होता है। मन्थन रत्न है।

इन्द्रलोक—इसे अमरावती कहते हैं। स्वर्ग
भी इसका नाम है।

इगली—यह दक्षिण भारत तथा अफ्रीकामें
अपने आप टपकत होती है। इसका वृष बड़ा
होता है। इसके फल मधु होते हैं। यह भारतमें
प्रायः सर्वत्र पाई जाती है।

इन्द्रा—समुद्र मन्थने उरपन्न हुआ। स्वेत
रंगका सप्त मुँहवाला घोड़ा, जिसके फल सदा
खड़े रहते हैं, भी अत्यन्त गंभीर स्वरमें दिनदिनाता
है। यह घोड़ा इन्द्रको दे दिया गया था।

उज्जयिनी—मध्यभारतमें मालवाकी पुरानी
राजधानी सिन्धु नदीके दक्षिणी तटपर बनी हुई
थी। आजकल उज्जैन कहते हैं प्राचीन नाम
अवन्ती है। इसे विशाला और पुष्य-करंदिनी
(पूर्वकी इन्द्रिया) कहते हैं। उज्जयिनी सिन्धु
तीर्थ भी है। स्कन्द पुराणके अन्तमें अश्वमेध
उज्जयिनीका विष्णु विषय मिलता है। यहाँ
महाकालका ज्योतिर्लिंग भी है जिसे अन्त
नक्षत्रेश्वर भी कहते हैं। इय जिंगके कारण
उज्जयिनीको पीठस्थान भी कहते हैं।

उत्तराफाल्गुनी—२० नक्षत्रोंमेंसे १२वाँ नक्षत्र।
जिसमें दक्षिणसे उत्तरकी और पल्लवकी स्मृति
बनाये हुए दो तारे होते हैं। इय नक्षत्रमें जन्म

लेने से मनुष्य दाता, दयालु, सुशील, कर्तिमान्,
सुमति, श्रेष्ठ, धीर और अत्यन्त मृदु स्वभावका
होता है। पहले पर्यमें सिंह और शेष तीव्र
शरणाँ में कन्या-राशि पड़ती है। इसे उत्तर-
फाल्गुनी भी कहते हैं।

उत्तराषाढ—मकर संक्रान्तिसे ६ मासतक
सूर्य उत्तरमें रहने हैं। उत्तराषाढमें शिशिर,
वसन्त, शीत ऋतुएँ पड़ती हैं। जब श्रुतिविके
गोलेकी कर्करा सूर्यकी ओर सोंपी हो जाती है
और सूर्यका किरण विपुलत रेखासे सीधी पड़ने
लगती है, तब सूर्य उत्तराषाढ पड़े जाते हैं।
उत्तराषाढमें मृत्यु होनेसे स्वर्ग प्राप्त होता है।
भीष्मने इनीलिये दक्षिणायनमें प्राण नहीं छोड़े।

उत्तरीय—कमरके ऊपर ओम्नेका वस्त्र।
दुपट्टा, श्रोतनी, चारर।

उदयन—इन्द्रकी पत्नीका नाम वासवदत्ता
और पुत्रका नाम नरवाहन था। कौशान्त्रिकोंमें
(मयागके पाप) इन्द्रकी राजधानी थी। ये
वीणा बजाकर हाथी पँसानेकी विद्यामें बड़े
विपुल थे। अश्विनिके राजा अश्वमेधोत्सवने यनागटी
हाथीके द्वारा इन्द्रें बँदा कर लिया और अपनी
कन्या वासवदत्ताका ब्रह्मा शिषक बना लिया।
वहाँ से एक दिन वासवदत्ताके साथ नल-गिरि
हाथीपर चढ़कर निकल आए और वासवदत्ताके
साथ विवाह कर लिया। ये वरस देशके राजा थे
इनीलिये इन्द्रें अस्त्रगत उदयन भी कहते हैं।

उदास (स्वर)—उच्चैरदासः (पा० १।
२।२६) सुसमें ताड आदि उत्पन्नमाने उच्च-
रित होनेवाला स्वर।

उदय (नदी)—एक नदी का नाम।

उपसर्ग—ये अक्षय शब्द जो धातुधोंके
पहले जोड़ देनेसे विभिन्न अर्थ प्रकट करते हैं।
संस्कृतमें निम्न लिखित उपसर्ग हैं—प्र, परा, उप,
सम, धनु, अथ, निय, निर, दुग्, दुर, वि,
माद्, नि, अत्रि, अवि, अति, सु, उर, अमि,
प्रति, परि, उप—ई।

उरुज-मा—या श्रावण ऋषि जिन्होंने शशो-
निज पुत्र उत्पन्न करनेके लिये अपना हृदय मध-
क कल्पित उबालापूर्वक पुत्र उत्पन्न किया और
जिसे समुद्रमें बधवाके मुक्तमें छोड़ दिया जो
निरन्तर जल पीता रहता है। ये ऋषि भृगुवंश
के थे। यह बधवा सूर्यकी पत्नी थी जो घाड़ी-
का रूप धारण करके सूर्यके तापसे और उसके
तेजसे डरती हुई जलमें तपस्या करती थी।

उप-काला—तपस्का समय, जन आकाश
में पूर्वकी ओर हलका उजाला होता है जिसे पौ-
फटना कहते हैं।

उध्वक—ये पाने जिनका मुख ऊपर की
ओर होता है। जैसे १—तरसिहा, २—बह सुदम
जिसका बहुत तीखा स्वर होता है।

भ्रुक्षयान—यह पर्वत गण्डोपाना देशमें
है और ईश्वरके पर्वतसे निकला है। यह सप्त-
ह्रवाचल अर्थात् सात परिवारके पहाड़ोंके बीच
का पर्वत है।

भ्रतु—एक प्रकारके जलवायुके समय को
कतु कहते हैं। भारतमें ६ कतुएँ होती हैं।
सुश्रुतके मतमें माघ कतुनमें शिशिर, वैश-
वैशाखमें वसन्त, ज्येष्ठ-श्रावणमें मान्, भाद्रप
माद्रमें वर्षा, आश्विन कार्तिकमें शरद, आश्विन-
पौषमें हेमन्त। ऋक् संहितामें ५ हा कतुएँ मानी
गई हैं। योरपमें चार कतुएँ मानी जाया है -
जाड़ा, वसन्त, गर्मी, थर्षा। यद्यपि हेमन्त, शिशिर
को एक ही कतु माना है। साधारणतः जाग रत न
ही प्रातु मानते हैं—जाड़ा, गर्मी, वसन्त।

भ्रु रवज—पुराहित। वेदके मंत्रों न यज्ञमें
ब्रह्मण्ड करानेवाला। प्राय यज्ञमें चार
भरिम्ब प्रधान होते हैं—दोता, उद्गाता, अग्नि
और मन्त्रा।

भ्रुव्यष्टय—भ्रुव्यष्टय गुरुव्यष्टय गुरुव्यष्टय
गुरुव्यष्टय। एक गुण। विनयदक न गक करप
ब्रह्मण्य ऋषिका तीर्थ उर्वराका देवका जज्ञों
निर गया जो सुगो-रु। भारिको शारदरा देर-

कन्याय पी जिया। उसके गर्भसे कल्पवृक्षका
जन्म हुआ। इनके सिद्धपर एक शिरवृक्ष सर्पि
भी था। दशरथकी सान्ता नामकी कन्या कल्पवृक्ष-
से ब्याही थी। इन्हीं कल्पवृक्षने दशरथको
पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था।

प्रेद्र (अख)—इन्द्र द्वारा दिया हुआ वह
जस जिसके चक्ष्मणसे भयकर जल बरसता है।

प्रेराद्यत—१। इन्द्रइस्ता—यह सकेद
और चार दंतोवाला है। समुद्र-मन्थनके समय
निकला था। यहो पूर्वदिशाका गत है जो
इन्द्रको दे दिया गया था और इसलिये वह इन्द्र-
वाहन कहलाता है। इरावान् समुद्र- रात्र भव
प्रेराद्यत।

श्रोपधिप्रस्थ—हिमालयका। नगर हवी
नगरके पास हिमालयकी एक चोटपर गुंवाजी
पहल-पहल मझपुरसे उत्तरकर गिरी थीं। श्रोपधि-
बहुजं प्रथ सानुर्वत्र। जहाँ श्रोपधियोंसे भरी
बोटा हो।

यत्र गङ्गा निवसिता पुत्र यज्ञपुरात् सृता।
श्रोपधिस्थनगरस्थानुरे सानुपत्तमः ॥

(काविकापुराण, ४१ अ०)

कक्रुस्थ—सूर्यवंशमें शशाङ्क पुत्र पुरन्धर
नगरके राजा थे। जिन दिनों ये पृथ्वीपर शासन
कर रहे थे उ-ही दिनों देवताओंने दिव्योंने दारका
त्रिपलुगी शरणा ली। उन्होंने सम्मति ही कि राजा
पुरन्धरको सहायता को। पुरन्धर तैयार हो गए।
इन्द्रने सूर्य (सौंद) का रूप धारण किया।
उसीभर चन्द्र पुरन्धरने दिव्योंको हरया। इसी
त्रिये उनका नाम कक्रुस्थ, कक्रुदि तिष्ठतांति—
जो सौंदपर बैठा हो) पद गया।

ककुम्भ (फूल)—यज्ञने नामक फूल और
इसका फूल।

ककुम्भी, ककुम्भी—राजाके अन्तःपुरवा
रक्षक। भारतने उसका लक्षण बताया है—

अन्तःपुरागो वृद्धा विभो गुण्यगान्धित्त।
सर्वे कार्याकुलजः चन्द्रुकरवनिर्वायते ॥

रनिवासमें था-जा सड़नेवाला जो वृद्ध माहाण सप गुणोंमें पूरा हो और तब कामोंमें तब अंगको बातोंमें चतुर हो वह क्युकी कहलाता है ।

कृषय—मेनका द्वारा घोड़ा हुई कन्या शकुन्तलाका पालन करनेवाले कश्यप गोरगले कश्य कारयप ।

कदम्ब—१-वृक्ष, जो भारत, मद्रास और सिङ्गलमें होता है । इसकी लम्बाई ७० से ८० फुट होती है । यह नव्य हरित वृक्ष है । इसके पत्ते महुषके पत्ते जैसे होते हैं । वर्षा ऋतुमें यह फूलता है । इसका फूल गेदके समान गोल होता है । इसपरसे जब पीकी किरणें गड़ जाती हैं तब यह फूल ही पककर फल बन जाता है जो खानेमें रसमिठा लगता है । इसीसे कदम्बरो मंदिरा बनाई जाती है । २-कदम्ब, राजहस पत्नी ।

कनकल—हरिद्वारसे आधे कोसपर गंग के पच्छिमी तटपर बसा हुआ है । यहीं पर दत्तने यज्ञ किया था जहाँ सन्तोंने अयत्ना शरीर छोड़ दिया था और शिव गीते यज्ञोंमें यज्ञ विषयम कर दिया था । यह पवित्र तीर्थ माना जा । है—
हरिद्वारे कुशाभर्त्तं त्रिविके नीलपर्वणे ।
स्ताप्या कनकले तथै पुनर्जन्म न विद्यते ॥

(महाभा० अनु० २५ अ०)

कलैर—(कलिका)

कंदली (पत्नी)—एक प्रकार का गुण्य या वीर्य जिसकी मादियों किलती हैं । २-कुडुर-मुयो को मां कदली कुसुम कहने ।

कन्याराशि—मेघ, वृष, मिथुन, बर्क सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ तथा मीन इन १२ राशियोंमेंसे दुई राशि । यह राशि उदाराकाशगुनीके अन्तिम राशि परश्वर संपूर्व्य हस्त नक्षत्र पर तथा चित्रा नक्षत्रके प्रथम तथा द्वितीय चारख पर रहती है । इस राशिमें जन्म होने से मनुष्यको शास्त्रमें अज्ञा रहने बाधा । उचित प्रायश्चर मां पाश्चात्ताप करनेवाला

पत्नीसे विगत अनेक शास्त्र विशारद सर्वथा सुन्दर सीमापशाली, और सुरतरिप होता है ।

कपिल—१-एक शक्ति नाम, वेद के उपनिषद् भागमें इनका नाम मिलता है । इनके पिता का नाम कदम्ब और माता का नाम देवहृति या, राज्य दर्शन के प्रणेता थे ।

२-जय सगरके भीरे शरवमेध का घोड़ा हृद्दने पुराया तब उसे लाकर पाताजमें तप करने बाने कपिल के शास्त्रमें बांध दिया । उस घोड़े को हूँ दते हुए सगर के ५०००० पुत्र उस शास्त्र में पहुँचकर कपिल मुनिकी माली देने लगे किन्तु ज्योंही कपिल मुनिने समाधि छोडकर उनकी आर देता खोंडां थे मरम हो गये । (शिष्यो सगर)

कपिश्या—राजा शु हुतांको पार परके डरकल पहुँचे थे । मेदिनीपुरके दक्षिणसे प्रवाहित होकर बगालकी रादीमें गिरती है । इसका वर्तमान नाम कसाई नदी है ।

कवच—एक राक्षस । दनु नामके एक दानवकी तपस्यापर प्रसन्न होकर ब्रह्मने दीर्घायुका करदान दिया । वर पाकर वह इद्रसे युद्ध करने पहुँच गया । इन्द्रने पञ्च मारकर उसका शिर धरके भीतर धँसा दिया तब बहुत प्रार्थना करनेपर इन्द्रने उसे एक-एक भोजन खाँधे दोनों हाथ का दिगु और घड़के ऊपर एक मुँद बना दिया । जब राम वनमें चले जा रहे थे तब इसने राम, लक्ष्मण, सीताको अपने हाथमें समेट लिया । रामने उसका हाथ काटकर उसे मार डाला । रामके हाथसे मारनेपर यह दिव्य सृष्टि पाकर स्वर्ग चला गया । यह पिदुले जन्ममें निरवातसु नामका गन्धर्ब था । एक माहाणके शापसे राक्षस ही गया था ।

कमल—यह स्वैत, नील और रक्त तीन प्रकारका होता है । इसका निवास जलमें रहता है । इतको पंचादिवी खोंडां होती है और यह दिनमें गिलता है । यह वर्षा और शरदुमें मिलता है । स्वैत और लाल कमल भारत, ईरान, तिब्बत,

चीन और जापानमें ही मिलता है। नील कमल कमरोंके उधर और तिब्बतमें ही होता है। श्वेत कमलको शतपत्र पुष्करिक सरोज, मलिन और महोपल वा महापत्र कहते हैं। जल कमलको कन्द, रक्तोत्पल और रविप्रिय कहते हैं। नील कमलको इन्द्रावर, कुबलय, गुरु-उपल और भद्र कहते हैं। कमलके बीज कोषको कर्मिकर मणुको मध्वरन्द केशरको किञ्जल्क और नाजको मृगाल कहते हैं।

कमलिनी—जलमें दिनमें खिलनेवाला एक फूल जिस पक्षिद्विषी लम्बी होती है। यह भी सोन रंग की होती है श्वेत रक्त और नीला, कमल और कमलिनीमें भेद यही है कि कमलमें बीजकोष होता है कमलिनीमें नहीं होता। कमलका पर-दिवा चौकी होता है कमलिनीकी पतली और लम्बी।

कर—भूमिके प्रयोग अथवा व्यापार आदिके लिए राजाको जो ध्यायका भाग दिया जाता है। इसे राजस्व भी कहते हैं।

करंजक (वृक्ष)—यह झाड़ी ६ प्रकार की होती है। इसमें छोटे २ खंडाकार कुछ खलाई लिए श्वेत सहे फल लगते हैं। यह झाड़ी वर्षों में फलती है फलोंसे लक्षी यह बहुत सुन्दर भी लगती है। जम्मावर्षोंके अवसर पर श्रीकृष्णजीके जले में खगती है।

कशिफूल—कानमें पहनने वा फूलके सा-कार वा फूलका आभूषण।

कशिकार—(देवी कर्पूत)

कश्योज—शर्तमाग अफलाविरतानवा यह भाग जो कन्दकारके पास है। अक्तिपानम तंत्रमें विरता है—

पात्रालदेवमारम्य मलेषदाक्षिणपूर्वतः
कामवोजदेशोदेशि वाविराशि पराशयः ।

पंजाबसे छागाकर उन्नेषु देव अर्थात् अरयो देविणेषु कश्योज है जहाँ धोरे बहुत होते हैं। १पुंरुमें जो कश्योजका वर्णन आता है यह आधुनिके उत्तरवा कश्योज था।

कलिया—जनपद विशेष। दीर्घतमाके औरस और बलिकी पत्नी सुदृष्याके गर्भसे पक्षिगने जन्म लिया। इन्होंने अपने नामपर वह जनपद बनाया जो जगन्नाथपुराके पूर्व भागसे कृष्णा नदीके तीर तक फैला हुआ है। मेदिनीपुर उड़ीसा और गंजाम और सरकार भीरा पक्षिग नहीं थे।

कल्पलता—स्वर्गकी एक लता विशेषका नाम। सुवर्ण निर्मित लताको कल्पलता कहते हैं। कल्पलता स्वर्गकी लता है जहाँ मनुष्यको नन वाग्द्विस्त फल मिलता है।

कल्पवृक्ष—यह समुद्र मंथनके समय निकला था। परदान्त तक यह नुच बना रहता है। चौदह रथोंमेंसे यह एक है।

कश्यप—उनकी सात पत्नियों) ये ब्रह्मके मानसपुत्र मरीचिके औरस काताके गर्भसे इनका जन्म हुआ था, वेदों के मतसे विरण्य गर्भ प्रज्ञासे कश्यपका जन्म हुआ था। इन्होंने १७ कन्याओंसे विवाह करके देव, वैश्य-दानव, अश्व आदि गन्धर्व, राक्षस, वृक्ष, अप्सरा, सर्प, गृध्र आदि स्वपद जल जन्तु, करक अरण्य, नर, पतंग और शकभ अश्वन्म किष्ट। मार्कण्डेय पुराणमें उनकी ३३ पत्नियाँ हैं। अश्विनि, दिति, इनु, विवता, लला, कद्रु, मुनि शोषा, अरिष्ठा, इरा, ताम्रा, इला और अन्य।

कस्तूरी—एक सुगन्धिग पदार्थ जो कस्तूरी गृहकी गानिसे निकलती है। कस्तूरी इरियके सींग नहीं होते किन्तु इसका आकार इरियोंसे मिलती लुलती है। इसकी छालोंमें अणु कौकी छेद नहीं होते। इसके मुँह दो तीन खंजुल दो गजदन्त याद्वर निकले रहते हैं। और इसके बाल कड़े होते हैं। इसकी उँचाई लगभग २। फीट होती है रंग काला है इसके बीच बीचमें लाल चकत्ते पड़े हुए होते हैं। इसकी गला पीला और पूँच धूलु दोरी है केषल नर इरिय से ही कस्तूरी निकलती है। यह गृह गर्भोंमें समुद्रमलमे आठ हजार फीट उँचे स्थानपर साहचरिया, मय्य पक्षिया, हिमालय

और आमासमें मिलता है। इसमेंसे तिज्रतका मृग सबसे अच्छा होता है। कम्बूरी तीन रंगकी होती है—नैपालकी कविता, कारमारकी विंगला, कामरवकी कगली होती है। इनमें सर्वश्रेष्ठ कामरूपकी होती है। नैपालकी मध्यम और कारमारकी मध्यम होती है।

काकपक्ष—मस्तकके दोनों ओर पालोंको चिकनाईसे पीठकी ओर फेरकर बड़ाए रहना। इसीको पट्टे भी कहते हैं।

काम—१—चार पुरुषार्थोंमेंसे एक। २—इच्छा। ३—कामदेव। शास्त्रकारोंने कामदेवके ५० भेद बताए हैं। स्मरदीपिकामें कहा गया है—प्रतिपदाको परिके अंगुठमें, द्वितीयाको गुरुफमें, तृतीयाको गांपमें, चतुर्थीका सगमें, पचमीकी नाभिमें, षष्ठीकी रतनीमें, सप्तमीको हृदयमें अष्टमीको कुच (बगल में, नवमीको कठ, १० को श्रोत्रमें, ११ को गालोंपर, १२ को नेत्रोंमें—१३ को कानोंपर १४को ललाटपर १५ की मस्तकपर कामदेव रहता है। कामदेवने शय, पद्म, धनुष और बाण रजा है। मद्के कारण उसको आँसुं हुड़ हुड़ मिचो हुड़ हैं उसके भण्डेपर गकर है। रति, प्रीति, शक्ति और उज्वला नामकी चार स्त्रियाँ हैं। जब प्रज्ञाने दृष्ट आदि मागसमुद्र उत्पन्न किए उस समय सध्या नामकी कन्या भी हुई थी। उसी कन्यासे कामदेवका जन्म हुआ। और फिर दक्षसे उत्पन्न रति नामकी सुन्दरीको कामदेवकी पत्नी बना दिया। तारकामुरके उत्पत्त करनेपर जब देवताओंने कामको महादेवकीके पास उन्हें काम पीड़ित करनेके लिए भेजा तब कामदेव उनके मोहसे जल मरा। फिरसे पार्वतीके साथ विवाह हो जानेपर कामकी फिर शरीर मिल गया। इस जन्मसे दृष्टको औरस रुक्मिणीके गर्भासे कामदेवका जन्म हुआ। महाभारतने कामदेवको वर्मका पुत्र माना है। कामदेवके ये पाँच बाण हैं—

अरविन्दशोक च चूतय नयमरिञ्जक।

गौळारपल्लव पन्थैते पद्म भाणाः प्रकीर्तितः ॥

कामदेव—देवी (काम)

कामधेनु—स्वर्गकी गाय। इस गायसे इच्छा-नुसार जो वस्तु माँगते हैं वही पाते हैं। दक्षकी कन्या मुरभिके गर्भमें कश्यपके औरससे रोहिणीका जन्म हुआ। उस रोहिणीसे तपोनिधि भूमसेन नामके औरस वसुसे कामधेनुका जन्म हुआ। इसका यश्व श्वेत है, चारो वेद ही उसके चारो पैर हैं, उसके चारों स्तनोंसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यदा करते हैं। जीवनमें कामधेनु की सुगदरता देखकर एक वैतालने वृष बनकर उसके संगीोग किया। जिसने एक घड़ा त्रिराज मूष उत्पन्न हुआ जो अपनों तपस्याके बलसे महादेवकीका वाहन बना।

कार्तवीर्य—चन्द्रवंशीय वृत्तवीर्य राजा का पुत्र सहजार्जुन। माहिषमती पुरी कार्तवीर्य की राजधानी थी। इसने दत्तात्रेय की धाराधना की जिससे दत्तात्रेयने प्रसन्न होकर इसे हजार भुजा-बाधा बना डाला। अपने पराक्रम से उसने समुद्र पर्यन्त भूमि पर अधिकार कर लिया। उसके राजा राज्य की भी इसने हराकर बन्दी बना लिया था तब पुत्रस्य मुनि जाकर इसको खुदा लाए। कार्तवीर्यने जमदग्नि ऋषिके आश्रमसे यज्ञदेके सहित कामधेनु को भी चुरा लिया था। जमदग्निके पुत्र पानुरामने इसे मार डाला। और धेनुकी ठा लाए।

कार्तिकेय—जब तारकामुरके अत्याचारने पीड़ित होकर देवताओंने महादेवजीसे पुत्र माँगा तब महादेवजीका तेज अग्निमें, अग्निसे गंगाजीमें और गंगाजीसे छत्रों कृत्तिकाओंमें जा पहुँचा। वहाँ तेज धातुरूपमें कार्तिकेय हुए और उन्होंने ही तारकामुरका वध किया। वे मयूरपर बैठते हैं। उनका रंग तने हुए सोनेके समान है। उनके, छः मुँद, दो भुजाएँ हैं और वे श्वेताश्वोंकी सेनाके सेनापति हैं। श्वसेना ही उनकी पत्नी हैं। जिन्हें पक्षी भी कहते हैं इन्हें सेनापति कुमार और स्वामी कार्तिकेय भी कहते हैं।

कालनेमि—१—ये रावण का मामा था और जब हनुमानजी अथमण के शक्ति शयनेपर

द्रोणाचलपर श्रोत्राधि लेने गये थे तब ये भी बीचमें बाधा देने पहुँचा और चाहता था कि हनु-मागजीको एक मगरी निगल जाय किन्तु हनुमान् जीने इन्हें मारकर शाप मुक्त कर दिया और कालनेमिका भी मार डाला ।

२—द्विपथकशिपुका पुत्र एक राक्षस जिसका शरीर मन्दार पत्रके समान विशाल और गौर १०० हाथ और १०० मुख, सुदृक्के रंगका बाल, हरी भूँछ डार्डी बड़े-बड़े बाहर निकले हुए दाँत थे । इसने देवताओंको डराकर स्वर्ग जीत लिया था और फिर अपनी देहको चार भागमें बाँटकर स्वर्गका राजघर चलाया था । विष्णुके हाथ मारे जानेपर यहाँ कौंस हुआ ।

कालागुरु—काले अगस्त्या पेड़ या काला अमर । इसे संस्कृतमें कृष्णकाष्ठ, गंध और शृंगार भी कहते हैं । (देखो धगद) ।

कालिका—जय शुभ और निशुभ देव्योंने इन्द्रादि देवोंको कष्ट दिया इन लोगोंने महा-मायादि देवीकी स्तुति की । देशोंने पूछा—तुम यहाँ क्यों आए हो तब उनके शरीरसे ही एक देवीभूतिने प्रकट होकर कहा कि ये देव लोग निशुंभ और शुभका पथ चाहते हैं । इन्हीं देवोंका नाम कालिका था क्योंकि इनका रंग काला था, इनकी आठ योगिनियाँ हैं । महाकाली, रुद्राणी, उमा, भीमा, पोरा, भ्रमरी, महारात्री और भैरवी ।

कालियनाग—एक सर्प । गरुडसे युद्धमें हारकर यह नाग यमुनाके कुण्डमें छिपकर रहता था इसीसे इसे कालीय कहते हैं ।

के जले, आलोचते इति कालियाः ।
इती नागथी श्रावृष्णजीने नाथकर भेज दिया था ।

कालीयक—१ काला अमर २—पतल अमर, ३—राज ह्वरी, ४—मलेन्द्रा काष्ठ, या एक प्रकारका देवदारु ।

कावेरी—दक्षिणापथकी एक महानदी । आपसंगममें यह पूर्वांशवा मानी गई है ।

गमे च यमुने पिय गादावरी साहज्या । गर्भदे

विन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं वृह । यह नदी पश्चिमी घाट पर्वतमें महागिरासे निकल कर महीं सुरघाटीमेंमे होती हुई मद्रासके दक्षिणमें बंगाल की खाड़ीमें जा गिरती है ।

कौंस—या (काश) वर्षा बतनेपर यह जलो २ घाम कूल उठती है ।

किन्नर—देवयोगि विशेष । एक प्रकार के देव । इनका मुख अश्वके समान और शरीर मनुष्यके समान होता है इन्हें किंपुरुष, अश्वमुख और गीतमोदी भी कहते हैं । ये अत्यंत सर्वांग-प्रेमी होते हैं और निरंतर गाते रहते हैं ।

किन्नरी—विष्णु जातिकी स्त्री—
किरात—तप्त कुण्डसे लेकर रामक्षेत्रान्त पर्यन्त किरात देश है । वह विष्णुशैलमें स्थित है । (शक्तिसंगम सत्र)

किरात—ब्रह्मकां और किरातोंका विवरण मिलता है । नेपालमेंभी किरात रहते हैं । जो आसाम तक फैले हुए हैं । ये लोग कन्या मोल लेकर विवाह करते हैं यह सारा जाति जदार्थ है । और बाघ चलानेमें अद्वितीय हैं ।

किरीट—मुकुटके नाचे बोधी जानेवाली पगड़ी या मुकुट ।

कुङ्कुमसुरो—वर्षाके दिनोंमें गोबर आदि पर तथा कृषेपर जो धतुंगंधार पीया सा निकल आता है । इसे संस्कृतमें कदलीकुमुम भी कहते हैं ।

कुङ्कुम केशर—यह करभोरमें उत्पन्न होता है और एक कूल का किंतुक है । जिनके पीछे छोटे २ होते हैं । यह पवारियोंमें बोया जाता है । लाख, वारीक, तथा कसल की गंधबाजा केशर सबसे अच्छा समझा जाता है ।

कुटज—हुँदिया या तुरवा का पीथा । इसे साधारण योनीमें इन्द्रजव भी कहते हैं । इसका कूल रेत और जवरा मुगनिपत होता है ।

कुंड—देवलात होमके लिए अग्नि प्याविक र्हा जाता है । इसे कुण्ड कहते हैं ।

इसक निर्मायका कर्मकण्डमें बड़ा विधान है । प्रायिक यज्ञमें अलग अलग आकारोंप्रकारके

कुण्ड बनाए जाते हैं। और कुण्ड ठीक बननेपर बड़ा दीप भी जिया है। कुण्ड के दीप इस प्रकार है कुण्डका खात अधिक होनेसे रोगी होना पड़ता है। खात घटा होनेसे धेनुचय और धनचय होता है। कुण्ड टेढ़ा होनेसे दुःख होता है। छिन्न मंडल होनेसे मृत्यु हाती है। मेखलासूय रहनेसे शाक हाता है। मेखला अधिक लगानेसे धननाश होता है। योनिदूष्य होनेसे खोनाश होता है। फण्ड नाश होनेसे पुत्र नाश होता है।

कुन्द—६ पलङ्गियोंका छोटा अत्यन्त धवल फूल इसे शुक्ल पुष्प मकरन्द और सदा पुष्प भा कहते हैं। यह पुष्प शिवजी पर चढ़ाया जाता है। इसके व्यवहारसे सिका रोग और विपत्ति भी दूर हो जाता है।

कुयेर—विश्रवाके पुत्र। कुयेरकी माताका नाम किलाचिला था। उनकी पुद्गिमतासे प्रसन्न होकर मर्यादानी धनपति और सर्वभूषण होनेका आशीर्वाद दिया। फिर वे अपनी सपथ्यासे लाकपाज हुए। और मर्यादानी उन्हें पुष्पम विमान दिया। उनके पितः महागुनि विश्रवाने उन्हें लजापुरीमें राज्य करनेका आदेश दिया। किन्तु राज्याके भयसे लकाकी दोषकर कैलासके पास शककापुरीमें पक्ष कि नर आदि पर शायन करते हुए रहने लगे। उनका पर्यं श्रेष्ठ है आठ दाँत और तीन पैर हैं इनकी विरुद्धापाताके कारण उन्हें कुयेर कहते हैं—

कुयेरः कुशोत्तमात् नाम्ना तेनाय-
मङ्गित उनके पुत्र का नाम नलकुयेर है।
उगकी वैश्रवणा नामक विरतापि सभाके
पारिपद है—विश्रवावसु, हारः, हृहः, सुँरु
पर्यंत, विप्रासन, विश्रप, और अक्षयर्मा।

कुमुद—इसे देशो भाषामें कैव, पीका, कोई कहते हैं। यह रातको जलमें तिलजता है। इसकी पल्लवियाँ छोड़ीं रितु कमलसे छागे होती हैं। यह श्वेत होता है। पञ्चक्रान्त, कैव, चन्द्रकान्त भी कहते हैं।

कुमुद—(नाग) एक नाम जो सत्युर्गमें निवास करता था।

कुमुदिनी—रातको जलमें तिलजनेवाला एक फूल जिसकी पल्लवियाँ छोड़ा, लम्बी होती है। देशी भाषामें इसे कोई कहते हैं।

कुमानसी—(रावण की यदन) यह रावण की बटिन लवणामुर की माँ।

कुरयक—श्वरैवा का फूल इसे रक्त किर्णी या जाल कुरैया या मडुवा भी कहते हैं। इसका फूल लाल होता है।

कुरुरा—एक प्रकारका पपी। जिसे कराकुल भी कहते हैं। यह कराकुल पक्षी वट पानेपर अत्यन्त श्रवणसे रोता है।

कुम्भेश्वर—दशरुतीके उत्तर और सरस्वती नदी के दक्षिण कुम्भेश्वर है। ज्ञा आजकुल दिग्गताक आस-
पक्ष पक्ष है कुम्भ नामके एक राजर्षिन उल्लक्षेत्र की गोता था श्वत उसका नाम कुम्भेश्वर पक्ष गया।

कुश—कुशा—यज्ञादिके कार्यमें आनेवाली एक घासका नाम। जिसका जड़में ताखे कटि होने। इसे दर्भ या डाक भी कहते हैं।

कुसुम—(फूल) या कुसुमन भा कहते हैं। इसके छोटे छोटे छोटे छोटे फूल लगते हैं। जिन्हें छापामें सामधानसे सुगन्धते हैं। इसके फूलसे लाल रंग निकलता है। कुसुमके फूलका रंग सशत प्रकारका होता है, उनमें प्यात्री गुलाबी, उनला गुल्लारा, महरा लाल तो उसका अपना रंग होता है। सेहुबका फूल मित्रानेसे मुनइला और नारंगी रंग आ जाता है। हजरी मिलानेसे पालो अमरका महरा लाल और नील मिलानेसे बैंगला रंगना हो जाता है।

इसके ताव भेद हैं—महाकुसुम, हस्वकुसुम, और वनकुसुम।

कुसुम्भी—(फूल) १—(देगो कुसुम)
२—लालरंग।

कुटनीति कष्ट नीति। ऐयं चाल जितसे विना भेद सुखे काम बन जाय।

कुटशात्मला—(यमका अण)—यमका गदा—

कृत्तिका—तोसरा नक्षत्र । चंद्रकी परती कृत्तिकामें ६ तारे हैं । चंद्रमाके शापसे कृत्तिका नक्षत्रमें यात्रा वर्जित है । एक बार भरणा, कृत्तिका, स वि धरलेखा, मघा, उत्तरा, फल्गुनी, विशाखा, उत्तराषाढा और उत्तर भाद्रपदने चंद्रमाको बहुत डाँटा कि तुम हमसे स्नेह नहीं करते हो; केवल रोदिखीसे ही प्रेम करते हो। दूसरे-पर चन्द्रने इ-हें शाप दिया कि तुमने हमें दुर्वचन कहे हैं इस कारण तुम उग्र और तीक्ष्ण कदलाशोभा और तुम्हारे भोग्य दिनोंमें जो यात्रा करेगा वह अनिष्ट होगा ।

कृत्तिकाएँ—इन ६ कृत्तिकाशोभने कारिकेय का पालन किया था ।

केकय—केकयदेश—शतद्रु (सतलज) नदीसे परिचय और विवाहा या व्यास नदीके शागे था । जिसका कुत्र भाग करनौर में पड़ता है । केकयके राजा अथपति ही केकेवीके पिता वृषभके शत्रु और भरतके माना थे । धाम कल भी केकय वाले वृषका कहलाते हैं ।

केतकी—केयदा । इसके पने लघे, उजले, कोमल और धिक्ने होते हैं । इ-ही पत्तीके दीचते फूल निकलता है । इसके पत्ते काटेदार होते हैं । इसको जड़में प्राय सौं प रहते हैं । केतकीके फूल शिवजीपर नहीं चढाए जाते । ये दो रगकी होती है । सफेद और पीली ।

केरल—दक्षिण भारतके पश्चिमकी शोरकी पट्टीकेरल कहलाती है । धातुकल गोकर्णसे लेकर कुमारी अन्तरीप समुद्रका भाग केरल कहलाता है ।

केवडा—(रेखो केतका)

केशर—१-नागके शका फूल ।

२-मौलीसरी-३-फरमीरमें उत्पन्न होनेवाला एक सुगन्धित फूल । (देखो केशर)

केशी (रासस)—एक रासस जो कंतके कदनेसे इन्द्रावन पशुचक्र शशाधार करने लगा जिसे शृष्णजीने मारा ।

केसर—बुजोरे भीखर बीधमेंसे जो पतले २ ५ तनु निकले रहते हैं, उन्हें केसर कहते हैं ।

केसर (घृत)—१-मौलसरीका पेद ।

२-उन्नागका घृत ।

केसर (सिंहके)—सिंहके कंधे पर फैले हुए पद २ बाल ।

कैकेयी—(देखो केकेय)

कैलास—अपने नामका प्रसिद्ध पर्वत, महादेव और यशोधिप कुबेरका वासस्थान माना रत्नमय शृंगयुक्त हिमशैलके पृष्ठ पर है । यह राक्षस ताला वा रावण इदसे ५० मील दूरपर है । हस्तिसे सिधु शतद्रु, महापुत्र उत्पन्न हुए हैं । भोट इसे 'तिसि' कहते हैं ।

कैलीनां समूहः—कैलं तेन प्रास्वतेऽत्र इति कैलासः—ध्यानन्द तथा श्रीहाका स्थान ।

कौर्य—(देखो-कुमुदिनी)

कोशल या फोसल—काशीसे उत्तर अयोध्या सहित सरयूके तीरका सब भाग । यह सूर्यवंशी राजाब्रह्मा राज्य था और अयोध्या इसके राजधानी थी ।

कोहबर—घरका यह कोष्ठ जहाँ विवाहके समय धियाँ मांगलिक कार्य करती हैं ।

कौरस—ये कुल नामक ऋषिके पुत्र महर्षिभर तन्त्रके शिष्य थे ।

कौपीन—नेत्रलासे बांधकर पदना जाने-वाला कपडा । इसे कपडा, कपडाटिका, कदा, और घटी भी कहते हैं । इसी से घटी शब्द बना ।

कौशल्या—कोशल राजकी कन्या, महाराज वृषभकी बड़ी रानी, रामकी माता । इनके पिता दक्षिण वर्तमान मध्यप्रान्तके राजा रहे होंगे ।

कौशिक (गोत्र)—राजपि कुशिकके पुत्र । इन्हीं का नाम गाधि था । इन्होंने ही कौशिक गोत्र चलाया ।

कौरुभ (मणि)—समुद्र-मंथनसे जो चौदह रत्न निकले उनमें यह मणि भी थी जो भगवान विष्णुको दे दी गयी और जिसे विष्णुने अपने हृदय पर धारण कर लिया । इसमेंसे काञ्चरगकी कौशिकी मूर्तके प्रकाशके किरणोंके समान चमक निकलते हैं ।

क्रयकेशिक—विदुषं देश जो विदुषंके पुत्र क्रय और केशिकने आपसमें बाँट लिया था ।

क्रौंच—सारस या कुरुर पक्षी । ये बगलेंके प्रकारका पौंथ क्रीड ऊँचा पक्षी होता है । इनमेंसे कुछ श्वेत होते हैं, कुछ भूरे पुण्ड्रके रंगके । इनके जोड़े प्रायः ऐतानिं जलाशयके पाम दिशाई पवते हैं । इनमें परस्पर इतना प्रेम होता है कि यदि एक मर जाय तो दूसरा अत्यन्त करुण विलाप करके छटपटाकर प्राण दे देता है । इसी पक्षीके म्याध-शरत् मारे जानेपर मर्दपि बाल्मीकिने यह श्लोक कहा था—

मा निपाद प्रलिप्तां स्वमगमः शशरती समाः ।
यत्क्रीडमिधुनादेकम्यधीः काममोहितम् ॥

[हे म्याध ! तुम्हें अतन्त क्यों तक सुल न मिले क्योंकि तुमने क्रीडके काममोहित जोड़ेमेंसे एकको मार डाला ।] इसे कराकृक भी कहते हैं ।

२—एक पर्वत जो हिमालयका पौत्र और मैनाक पुत्र है । इस अत्यन्त उन्नते पर्वतपर अनेक रत्न मिलते हैं । इस पर्वतपर क्रीड नामका देव रहता था । जिसे कार्तिकेयने मार डाला था, इसीद्विषे इसका नाम क्रीड पड़ गया और कार्तिकेयका नाम क्रीडदारण ।

क्रौंचरन्ध्र—क्रौंच पर्वतका एक श्रेद । काबिदासके मतमें वर्षाकालमें हंस आदि पक्षी इसी श्रेदसे मानसरोवर जाते हैं । जब क्रींच पर्वतको फाड़नेमें कार्तिकेयको अभिमान हो गया तब महादेवजीके शिष्य परशुरामजीने उनका अभिमान बुर करानेके लिये, क्रींच पर्वतमें पेंखा बाण मारा जो क्रींच पर्वतको वैपता हुआ पार कर गया, वही क्रींचरन्ध्र हुआ ।

क्षीर समुद्र—यह श्वेतद्रोणमें दूधका समुद्र है जिसमें विष्णु भगवान् शेषनामपर योगनिद्राके समय शयन करते हैं । देवताओं और देवियों

मिलकर इमे मया या और इसमेंसे चौदह रत्न निकाले थे—काञ्चकट विष, ऐरावत हाथी, लक्ष्मी-श्रवा घोडा, अप्सरा (रंभा), पारिजात (करतरक) चन्द्र, लक्ष्मी, कौस्तुभमणि, कामधेनु, धन्वन्तरि, यामुणी, अमृत, और शंख

खरिडवा—बह नायिका जिसका पति किसी दूसरी स्त्रीके साथ संभोग करके उन चिन्तोंके साथ पतोंके पाम आता है । और यह ईर्ष्या अनित व्यवहार दिखाती है जैसे अस्कृत-चिन्ता, संताप, लंघी सौंस, मौन-भाव, शर्मि बहाना ।

खर—रावण और दूषणका भाई । यह अपनी बहिन शूर्पणखाके साथ पंचरटी वनमें रहता था । जब लक्ष्मणने शूर्पणखाके नाक-कान काट किए तो दोनों खर और दूषण रामके द्वारा मारे गए । इनके पिताका नाम विश्रवा और माताका नाम राका था ।

खस—गडर घासकी लक्ष । जिसमें सुगन्ध आती है । गर्मीमें इसकी टटियाँ धनाकर पानीसे भांगोतर द्वारकर टांग दी जाती हैं जिससे घर ठंडा रहता है । इसके पंखे भी बनते हैं, पान भी बसाए जाते हैं और फूलेज भी बनता है । इसे पांसकर माथेपर डीप देनेसे पागलपन अच्छा हो जाता है । यह घाम ५-६ फीट बढ़ती है । भारत और मद्रासमें बहुत उत्पन्न होती है । इमे उशीर भी कहते हैं ।

खैर (खदिर)—यह दो प्रकारका होता है—रक्तखैर और श्वेतखैर १—यह भारतके प्रायः सभी प्रदेशोंमें पाया जाता है । इसकी लकड़ी बहुत मजबूत होती है । इसकी लकड़ीसे बाज तख्तारको मुकिया बनायी जाती है । जेठ तथा आषाढ़में इसमें फूल खग जाता है और मीठकालमें इसका धीज पक जाता है । इसीके कापसे कथा निकलता है । २—श्वेतखैरको

भाषामें पापको कथा कहते हैं। यह बर्णको साक्ष करता है तथा मुख रोग, रक्तरोप, नाश करता है। शतपथ ब्राह्मणके अनुसार यह प्रजापतिके शरीरसे उत्पन्न हुआ था।

गङ्गा—भारतकी प्रसिद्ध नदी। जिसका उद्गम गंगोत्री में हुआ है। जब भगवान् विष्णुने यज्ञको छलकर अपने तीनों पैरोंसे तीनों लोकोंको नारनेके लिए त्रिविक्रमका रूप धारण किया था, उस समय ब्रह्माजीने उनके नख धोर उस जङ्गलको अपने कर्मदण्डमें रक्त लिया था। वही ब्रह्महत्या स्मरण-वंशज भगीरथने तपसे महादेवजीकी जटासेमि निकार गिरा और वही जङ्गलकी धारा गंगा कहलाई जिसने भगीरथके पीढ़े-पीढ़े चक्रकर कपिलके कोषसे भस्म सगरके साल हतार पुत्रोंका उद्धार किया। यह नदी भारतके उत्तर पूर्वी प्रदेशमें बहती हुई बंगालकी खाद्यमें समुद्रसे मिलती है। इन्होंने इस प्रदेशको मरुभूमि होनेसे बचा लिया है इसीलिये गंगाको माता मानते हैं और विधास करते हैं कि गंगाका नाम देनेसे और उसमें स्नान करनेसे सब पाप दूर हो जाते हैं।

गंगा गमेति यो ब्रह्मात् गोबनाना शतैरपि ।

मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥

गंगाजलकी यह विशेषता है कि वह कभी विगड़ता नहीं, उसमें कना कीड़े नहीं पड़ते।

गंगासागर—यह स्थान जहाँ गंगाजी समुद्रसे मिलती हैं। मकर संक्रान्तिके दिन यहाँ बहुत बड़ा मेला होता है। यहाँके ज्ञान प्यास, दानका बड़ा पुण्य है।

हरिद्वारे प्रयागे च गंगासागर-सगमे ।

सर्वत्र दुर्लभा गंगा त्रयधानेषु सुदुर्लभा ॥

गजमुखा—पुराने हाथीके माथेमें पाया जानेवाला मोती। किन्तु आजके वैज्ञानिक आजतक हाथीके मस्तकमें मोती नहीं पा सके।

हसलिये वे गजमुखाको कल्पित मानते हैं और यदि मोतीको ही गजमुखा मानते हैं। हमारे यहाँ मुखा उत्पन्न होनेके घाट स्थान माने हैं—गज, मेघ, शूकर, शंभ्र, मत्स्य, सर्प, साँपी और बॉस।

करोन्द्र-जीमूत-वराह-शाल-

मत्स्यादि-शुकसुद्रव-नेलुजानि ।

मुकाफ्लानि प्रथितानि लोके

तेषाम्बु शुच्युद्रवमेवभूमिः ॥

गंधमादन—एक पर्वत जो रोमक पत्तन (रोम नगर) के उत्तरमें केनुमाल और इलाहूत वर्षके बीचमें चीन और निपधत्तक फैला हुआ है। विष्णुपुराणके मतसे यह सुमेरुके दक्षिणमें है जिसपर जम्बू नामका केतु पृथ है। इसके पूर्वमें वैश्रवण, दक्षिणमें गंधमादन, पश्चिममें वैश्रवण, उत्तरमें मन्दन नामके चार सरोवर उत्पन्न हैं जिनमें देवता विहार करते हैं। गंधमादनपर त्रिशुक्त क्रिपुरुष या किन्नर और किन्नरी, सिद्ध, चारण्य, पिशाचर और विदारियो विहार करती हैं। इस पर्वतपर महाभद्र नामका बहुत बड़ा सुन्दर सरोवर भी है। किन्तु सिद्धान्त-शिरोमणिके अनुसार मानसरोवर ही गंधमादन पर्वत है।

गन्धर्व—यह एक प्रकारकी धारण्य सुन्दर देव योनि है जो देवताओंकी सभामें गान, वाद्य और नाच करते हैं; इनको दो जातियाँ हैं—दिव्य और मर्त्य। जो भनुष्य इस कल्पमें अपने पुण्य-बलसे गन्धर्व हुए हैं वे मर्त्य हैं। जो इस कल्पके प्रारम्भसे गन्धर्व हैं वे दिव्य हैं। हरिवंशके मतसे स्वारीचिप मन्वन्तरसे अरिष्टाके गर्भसे गन्धर्वोंका जन्म हुआ।

गन्धवती—१. पुरी जिलेमें भुवनेश्वरके पास यह बहती है।

शिवपुराणके मतसे दक्षिण समुद्रके पास दिव्यपादसे यह नदी निकली है।

गंभीरा—चर्मरपती या पवन नदीकी एक शाखा ।

गरुड़—विनताके गर्भमे श्रीर कल्पके श्रीरमये इनका जन्म हुआ । प्ररुष इनके भाई हैं जो सूर्यके अंगे रहते हैं । ये स्वयं अथवा अण्डा फोड़कर निकले थे । पृथ्वार गरुड़ अमृत लेकर विष्णुके माथ जा रहे थे । विष्णुने प्रमत्त होकर कहा—उर मर्गो । गरुड़ने कहा—मैं जालार नामी होकर आपके ऊपरके भागमें रहूँ और अमृतके पिता ही बनर अमर बना रहूँ । विष्णुमे यह वर पाकर गरुड़ने विष्णुमे कहा—आप भी उर मर्गिण । विष्णुने कहा—आप मेरा चाहन रनिष्णु और मेरे पवनपर रहकर मेरे ऊपर भी रहिए ।

गयाजन्म—गाथ (देवा चर्मरपता)

गारुडीय—अर्जुनका धनुष । यह धनुष मझाने प्रणारविको, इन्द्राने इन्द्रको, इन्द्रने सोमको और नोमने अश्वको दिया था । तब अश्विने वरुणमे प्रार्थना करके यह धनुष अर्जुनको दिलाया था । इन सबमें प्रज्ञाने १००० वर्ष, प्रजापतिने ५०३ वर्ष, इन्द्रने ८५ वर्ष, सोमने ५०० वर्ष, वरुणने १०० वर्ष और अर्जुनने ६५ वर्ष इस धनुषको धारण किया था । दधाचिकी हनुसे यह बनाया गया था ।

गान्धर्व (विवाह)—आठ प्रकारके विवाहमेंसे एक विवाह—जिममें घर और कन्या परस्पर एक दूसरेसे प्रेम करके विवाह कर लेते हैं । यह विवाह पत्रियाके खिये हा ठाठ माना गया है । आठ प्रकारके विवाह हैं—आश्र, दैव, आप्त, प्राणपत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पेशाच ।

गायत्री—एक मंत्र ।

ॐ भूर्भुव स्व तसमिदुरीरेण्य भर्गो देव्य श्रीमहि दिरो यो न प्रचोदयान् ।

यह मंत्र वेदमार्ता है और द्विचोका उपान्य

मंत्र है । इनके प्रथा अपि विश्वामित्र हैं । सूर्य इनके देवता है ।

गाढाख—यह अन्न या चाण जिसके खलानेसे सर या विष भाग जायें ।

गार्हपत्य—१ यह अग्नि जो यवमान या गृहपतिके माथ सदा रहती है ।

२ यह कुण्ड जिममें गार्हपत्य अग्नि रानी जाती है ।

गुण—सत्य, रज और तम नामक तीन गुण जिनके नेत्रमे यह सृष्टि हुई है ।

गुरुदक्षिणा—गुरुमे गिया लेकर श्रद्धाके साथ गुरुको जो भेंट दी जाय उसे गुरुदक्षिणा कहते हैं । कर्मा-कर्मा गुरुजोग स्वयं दक्षिणा मर्ग भी लेते थे । जिमे पूरा करना शिष्य अपने खिये गौरव समझता है ।

गृह—निपाद—शतवत्सुरके पुत्र शूद्र जातिके मुखिया जिन्होंने रामको वनवासके समय गतात्म पार उतारा था । उद्य लोग निपादको केन्द्र मानते हैं सिन्धु निपाद-जाति शूद्रोंमेंसे हा हैं । ये लोग शिकार गेखने, मज्जली मारते और डारा डालते थे । मनुके मतसे प्राण्य पिता और शूद्र मातासे उत्पन्न जाति ही निपाद जाति है । उद्य लोग इन्हें धीवर भी मानते हैं ।

गेरु—गरेरु खानोंमे निरुजनेवाणी खात्र मिट्टी जो भुरभुरी होती है । यह कथा धर्म कथा होता है यह पका गेरु कहलाता है । सोनेपर रंग चढ़ानेपर और घर रँगनेमें इसका प्रयोग होता है ।

गोकर्ण—धर्मई प्रान्तके उत्तर कनारा जिनेमें कुन्ता साजुकेमें कुन्ता नगरसे १० मील उत्तर सिन्धुकाका प्रसिद्ध पवित्र तीर्थ स्थान है । रामण और कुम्भकर्णन यहाँ पर तप किया था । यहीं पर महाबलेश्वरका मन्दिर है ।

गोत्र—वंश । जिस पूर्व पुरुषसे किसीके कुलकी उत्पत्ति होती है उस कुलके सब लोग उस पूर्व पुरुषके गोत्रके समझे जाते हैं ।

गोद—गोदावरी नदीके पासका स्थान ।

गोदान—विवाह आदि मंगल कार्योंमें सबस्य गौ देनेका बड़ा पुण्य किया है । और मृत्युके समय जो गोदान करते हैं उन्हें साक्षात् स्वर्ग लोक मिलता है ।

गोदावरी—नूसरा नाम गौतमी नदी है । तीर्थयात्राको जाती हुई ब्राह्मणोंसे एक कासुकने बलपूर्वक रमण किया और जब उससे पुत्र उत्पन्न हुआ तब उसे परित्याग कर दिया । इससे दुःखी होकर ब्राह्मणोंने तप किया और गोदावरी नदी बन गई । पम्बई प्रान्तके नासिक जिलेके शंभरु गाँवके पास पहाड़से यह नदी निकलती है और दक्षिण पठारको पार करती हुई २०२८ मीलतक बहती हुई पंजाबकी खादीमें समुद्रसे जा मिली है ।

गोप्रता—सहस्रके तीरपर जिस स्थानपर रामने अपना पौत्रभौतिक शरीर त्याग किया था वही गोप्रता या गोप्रता तीर्थ कहलाता है ।

गोरोचन—या गोरोजना—पीलेरंगका एक सुगन्धित द्रव्य जो गौके माथेसे निकलता है । इसीसे संभ और देवताओंके कवच लिखे जाते हैं ।

गोवर्धन—वृन्दावनके पास एक पर्वत जिसे श्रीकृष्णने अपनी उँगलीपर उठाया था ।

ग्रह—सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, शुक्र, शुक, शनि, राहु और केतु । इनमें मेघका सूर्य, वृषका चंद्र, मृगका मंगल, कन्याका बुध, कर्क का पुरुषपति, मीनका शुक, तुला का शनि उच्य होता है । इसी प्रकार तुलाका सूर्य, कृत्तिका चंद्र, कर्क का मंगल, मीनका मंगल, मकरका वृहस्पति, कन्याका शुक, मेघका शनि भीच होता है ।

ग्रहण—जब पृथ्वी और सूर्यके बीच चंद्रमा था जाता है तो सूर्यग्रहण होता है और जब चंद्रमा और सूर्यके बीच पृथ्वी आ जाती है तब चंद्रग्रहण लगता है ।

ग्राह—मकर या घड़ियाल ।

घड़ियाल—जलगन्तु जिसका रूप द्विपकजो-के समान किन्तु आकार इतना बड़ा होता है कि ये गाव और भैंसको निगल जाते हैं, इन्हें नाहू या मगर भी कहते हैं ।

चक्रवा—चक्रवाक—जलके पास रहनेवाला एक पक्षी जो देखनेमें हंसके समान होता है । इसकी लंबाई २५-२६ इंच होती है । कहा जाता है कि दिनमें चक्रवा और चक्रवी दोनों बीच मिलकर बैठते हैं और साथ-साथ जलमें तैरते हैं किन्तु रातमें अलग-अलग हो जाते हैं । इनके माथेकी चोटी और दोनों पर्यांका रंग गेरुका होता है छाती तथा पीठका रंग घना नारंगिया होता है । इनकी गर्दनके नीचे और छातीके ऊपरके हिस्सेमें तीन-चार अंगुल चौड़ा एक चमकौला काले रंगका फाँटासा होता है जो छातीसे लगाकर पीठके ऊपरसे घूना हुआ रहता है । यह चक्रवेको होता है, चक्रवीको नहीं, कुछ चक्रवोंको भी नहीं होता है । पाँधेका निचला भाग कुछ-कुछ पीलापन लिए जाल होता है, कुछ चक्रवोंके इस स्थानपर लाल और काले धारे भी होते हैं । इनके पंख और पैर आदि और रंगोंके भी होते हैं । चक्रवीकी देहका रंग पीला और ललाई लिए हुए श्वेत होता है । मस्तक और गर्दनका रंग चूहेके रंगका तथा चौध और पैर काले होते हैं । ये बड़े समग्र रहते हैं इसलिये अश्वरो लोग इन्हें जल्दी नहीं मार पाते हैं । भारतमें जाड़ेके दिनोंमें दिखाई पड़ते हैं ।

चक्रवी—(देखो चक्रवा)

चक्र—एक प्रकारका अस्त्र जो लोहेके

पहिए जैसा तीली धारवाला होता है। शुक्र-नीतिके अनुसार आठ थारों वाला उत्तम, ६ वाला मध्यम, चार वाला अधम कहलाता है। सुचक्रके लिये १६ अंगुलका उत्तम, १४ का मध्यम और १२ का निःकृष्ट समझा जाता है। इसकी परिधि या पुट्टोको चौड़ाई तीन अंगुल उत्तम, साईं अंगुल मध्यम और दो अंगुल अधम समझी जाती है। इसका किनारा थारों औरसे तीखा पैना होना चाहिए।

चक्रवर्ती—एक समुद्रसे दूसरे समुद्र तक फैले हुए राज्यके राजा जिन्हें दूसरे राजा लोग पर देते हैं। ऐसे सात राजा चक्रवर्ती माने गए हैं—

भरतार्जुमान्धातृमगोरपमुभिष्टिराः।

अगरो महारथेष सप्येते चक्रवर्तिनः॥

चैवर या **चामर**—सुरागायकी पूँछ। जिससे चैवरा या मुच्छेड बनाई जाती है। सुरागायको चमरा मृग कहते हैं। यदा चैवर दुल्लयानेसे दीर्घायु, होंदसे भय और विनाश, उजलेसे धन तथा कीर्ति और धनेसे संपदा मिलती है।

चण्डी—दुर्गा।

चन्द्रकान्तमणि—एक प्रकारका रत्न जो पृथ्वीमाके चन्द्रमाको सामने पाकर द्रवित होता है। मुक्ति-रूपतन्में लिखा है—

पूर्वेन्दुकरसंस्पर्शादमृतं यमि द्रवणम्।

चन्द्रकान्तं तदाख्यानं दुर्लभं तन्वली युगे ॥

चन्द्रहार—गलेमें पहननेका सोनेका धाम्प्य जिसमें जडाऊका काम हो।

चन्द्रहास—राज्यका खड्ग।

चर्मस्यन्त—पंखत नदी। इसका दूसरा नाम चर्मपाला और शिव-नदी भी है। प्राचीन वरापुर नगर इसीके तटपर था। महाराज

रन्तिदेवने प्रतिदिन गवालम्ब चर्मोव कर्ई ली वैल मारकर प्रायण और अतिथियोंको खिलाते थे। उन पैलोंके चमड़े और पत्तीनेसे इस नदीकी उत्पत्ति हुई। यमुनाकी सहायक नदी इन्दौर राज्यके जनपाव पर्वतसे निकलकर यमुनामें मिल गई है।

चातक—पपीदा। यह पत्ती स्वातिके जलके अतिरिक्त कोई दूसरा जल नहीं पीता। चातकके शरीरके आगेका भाग हरा और पंख काले होते हैं। रंखकी जड़में सफेद और काला मिश्रा हुआ, कंधेपरके पंख खेत और पूँछ काली होती है। चातकीका रंग भी ऐसा ही होता है किन्तु उसकी पूँछका रंग घना काला होता है किन्तु पंख चातक के पंखोंके समान काला नहीं होता। चातक और चातकी दोनोंकी पाँच और पैरोंका रंग लुद्ध नीला और भूरा होता है। नेत्र खेत, और धुँधले रंगके होते हैं। यह लगभग ५॥ इंच लम्बा होता है। इसके पंख लगभग २॥ इंच पूँछ २ इंच और पाँच तीन इंचकी होती है। कहा जाता है कि इसके गलेमें एक छेद होता है और जब यह पानी पीने लगता है तो बहुत सा पानी इसके गलेमें निकल जाता है।

चामर—मृग—सुरा गाय। (देखो चैवर)

चारण—राजाओंके यहाँ उनकी वंश कीर्तिका विवरण रखनेवाले और अचरपर कवितामें कौति कहनेवाले खोग। इन्हें कुशीलख, भाद और वन्दीजन भी कहते हैं।

चित्रकूट—प्रयागमें दक्षिणमें मन्दाकिनी नदीके किनारे पर्वत पौँदा जिलेमें है। यत्रास्तके प्रारम्भिक दिनोंमें राम इसी पर्वतपर रहे। इति ही रामगिरि भी कहते हैं।

चित्रा—२० मघसेमें यह १४वीं तारा अयनत उत्तराल प्रभागाका है। इसमें एक तारा है। यह पूर्व दिशामें निकलता और पश्चिममें

अस्त होता है। चित्रामें उत्पन्न हुआ मनुष्य शत्रुओंको अस्त श्यता, नीति-शास्त्रमें विपुल और अनेक शास्त्रोंका पण्डित होता है। पुराणके अनुसार यह दक्ष प्रजापतिकी चौदहवीं कन्या और चन्द्रकी पत्नी है। चैत्रकी पूर्णिमाको चन्द्रमा इसीका भोग करता है। चित्रामें यात्रा निषेध है।

चूडामणि—सिरपर पहननेका शीशफूल नामका महना जो माथेके ऊपर ठोक बाँचमें मौंगपर पहना जाता है।

च्यवन—ऋषि। इनके पिता महर्षि ऋगु और माता पुलोमा थी। जब ये माताके गर्भमें थे उस समय एक राक्षस इनकी माताको हरण करनेको आया। अपनी माताको रक्षा करनेके लिये वे तत्काल गर्भसे निकलकर आए और तत्काल उसे मार डाला इसीलिये इसका नाम च्यवन पड़ा। एक बार तपस्या करते-करते इनके शरीरपर वरुणाक या बाँसो उठ आई। केवल दोनों आँखें खुली चमकीली रह गईं। एक दिन शर्पातिकी पुत्री सुकन्याने क्रूरहलधर उनमें कौटि चुमा दिए। महर्षिके क्रोधसे शर्पातिके ताम्रगोला मज मूत्र रूक गया तब शर्पातिने पत्नी मौंगकर अपनी कन्या ब्याह दी। वे इतनी साध्वी थीं कि जब अश्विनोकुमारने परोषा लेनेके लिये इन्हें पुत्रवाचा तब भी ये रुक रही। इससे प्रसन्न होकर इनके पति च्यवनकी अधिनी कुमारने सुन्दर पुत्रक बना दिया। इसके बदलेमें च्यवन ऋषिने अधिनीकुमारको यज्ञमें सोम रस दिया। इसपर इन्द्र रूठ हो गए और इनपर ब्रह्म धजाया। च्यवनने अग्नी मंत्र बलसे उन्हें रोक दिया और उनका नाश करनेके लिए एक विश्राल अशुरकी सृष्टि की। तब इन्द्र भयभीत होकर च्यवनकी शरणमें आया और इन्द्रको मुक्ति मिली। उस विश्राल अशुरको

च्यवनने चार भागोंमें बाँटकर छोड़ दिया, मय, घृत, घीर मृगयामें प्रतिष्ठित कर दिया।

छतिवन या सप्तपत्नी—भारतके सभी शक्तिप्रधान प्रवेशोंमें होनेवाला वृद्ध। इसके एक-एक पतेमें कई दल होते हैं। इसका पैर बड़ा होता है और टहनियोंसे दूध निकलता है। इसका दूध फोबोंको धुँड़ा कर देता है और तेजमें मिलाकर कानमें डालनेसे दर्द दूर हो जाता है।

छलिक—एक प्रकारका रूपक या नाटक।

छोशारा—सुखा हुआ खजूर।

जटायु—एक प्रसिद्ध पक्षी जो सूर्यके सारथी अरुणके औरस तथाश्वेनीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इनके बड़े भाईका नाम संपातो था। जब रावणने सीताका हरण किया तब जटायुने रावणसे युद्ध किया और उसके हाथों मारा गया। रामने अपने पिताका मित्र समझकर उनका दाहसंस्कार किया।

जनक—निमि देशमें इस्वरोमाके पुत्र, मिथिलाके राजा, सीताके पिता। निमिने वशिष्ठीकी उपेक्षा करके यज्ञ किया। इसपर वशिष्ठीने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया। तब ऋषिोंने निमिनी देशको मया जिसमेंसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिनका नाम मथिल होनेके कारण मिथिल हुआ। इन्हींका दूसरा नाम जनक था। इन्हींके द्वारा स्थापित देश मिथिला कहलाया। वे मद्र-ज्ञानी और विरक्त थे। इसलिये विदेह कहलाने हैं और उपवेष्टा होनेके कारण राजपि कहलाते हैं।

जनपद—एकही धोली धोन्नेवाले लोग जितने प्रदेशमें बसते हैं उसे जनपद कहते हैं।

जनस्थान—(१) बृहदारण्यक। (२) बृहदारण्यकके पाठका स्थान। इत्यादिपरसे राजपुत्र दत्तने जब शुक्राचार्यकी कन्या आजाये

यलाकार किया तब शुक्राचार्यने शाप दिया कि तुम सात शत्रुमें भस्म हो जाओ। उन्हींके नाम-पर हम धनका नाम बँडकन पड़ा और उसमें जिस स्वानपर रहनेसे तपस्वियोंकी रक्षा हुई थी उसे जनस्थान कहते हैं। (३) बँडकारणका यह स्थान जिनमें रावणकी सेना लेकर घर, दूपण आदि रहते थे।

जयन्त—इन्द्रका पुत्र।

जया—पार्वतीजीकी मन्त्री जो तपस्याके समय उनके साथ थी।

जलकुम्भकुट—पनडुप्या नामक पत्नी जो जलमें हृत्पर मड़ली आदि जीव निकालकर खाता है। सुरगामी।

जातकर्म—दम संस्कारमेंसे चौथा संस्कार। इसका विधान यह है कि पुत्रके जन्मका तमाचार सुनते ही पिताको यह कहना चाहिए—नाम मा कृन्तत, स्व मं च मातद्दत्त। (नार न काटना, स्नान न पिलाना) और फिर सप्तस्नान करके गण्ड, मारुणदेव और पोद्दशमानृकाका पूजन करके चतुषारा तथा नान्द्रोगुल आदि कार्य करना चाहिए। तब कियो ब्रह्मचारी, कुमारी, गर्भजती या वेदनिष्ठ ब्राह्मणसे एक परस्परकी पटिया चुनवाकर दाहिने हाथकी अनामिका और अंगुष्ठमें चानल और जी लेकर 'कुमारस्य जिह्वा निर्माष्टि ह्यमाशा' कहकर कुमारीको सुश्रावा चाहिए। फिर सोनेका सलाईमें धी लेकर यथाविधि मन्त्रोंके साथ घाबककी जीभपर लपाना चाहिए और 'नामि कृन्तत, स्तनं च दत्त' (नार छेदो, रत्न पिलानो) कहकर बाहर चला जाना चाहिए।

जानकी—जनककी पुत्री, रामकी धर्मपत्नी। इनको वैदेही, मैथिली, सीता और घरणीसुता भी कहते हैं। पैत जोतते हुए रामा जनकको हलके फालसे टकराए हुए एक मिट्टीके घड़ेमें भिली थी। अतः ये जनककी अयोनिजा कन्या थीं

और हलके टकरा होनेके कारण सीता कहलाई। इनका जन्म वैशाख शुक्ल अष्टमीको हुआ था। जब रावणने ऋषियोंने भी कर माँगा तो उन्होंने अपने अँगूठे चीरकर उसके रक्तसे घड़ा भरभर शयणके पास बढ़ बढ़कर भेंट दिया कि इसमें तुम्हारा विनाश निहित है। रावणने बढ़ बढ़ा मिथिलाके रीतमें गन्ना दिया। यही ऋषियोंका रक्त सीताके रूपमें उत्पन्न हुआ।

चन्द्रचय—(देवो दय)

जूही—सकंद चमेलाईसे मिलते सुकते छोटे छोटे धूल जो हिमालयकी ढालपर भाड़ियोंमें होते हैं और सुकदारियोंमें लगाए जाते हैं। इसका पीधा कुन्दसे मिलता है और बरसातमें फूलता है। इसे संस्कृतमें यथिका कहते हैं क्योंकि ये सुँडके सुँड गुच्छोंमें लगते हैं।

ज्वार—प्रतिदिन समुद्रमें दो बार पानी घटा बढ़ता है। इस बढ़ाव-उतारको ज्वार-भाटा कहते हैं। जब पानी बढ़ता है तब ज्वार होता है, जब उतरता है तब भाटा होता है। ज्वारकी संस्कृतमें यक्षा कहते हैं। प्रायः १२ घंटे २० मिनटपर ज्वार आता है।

जंश—(दंश) अंगली मन्जर, डॉल। इस मन्जरके काटनेपर बड़े-बड़े दफोड़े पड़ जाते हैं और बड़ी खुजलाहट होती है।

तत्तक—ब्राह्म नागोंमेंसे एक नाग। इसका जन्म करवप और कदुके गर्भसे हुआ था। यह लावण्य वनमें रहता था। और इसने ही श्वरी ऋषिका शाप सकल करनेके लिये राजा परोक्षिकको काट लिया था। जिसने क्रुद्ध होकर जनमेजयने सर्प-यज्ञ किया था। पत्नीका समाचार सुनकर तत्तकने इन्द्रकी शरण ली और कामुकोंने पशु रोकनेके लिये आस्तीकको भेजा। राजा जनमेजयने तत्तकको इन्द्रका शरणगत जानकर ऋषियोंसे कहा कि तत्तकके साथ इन्द्रकी भी आशुति कर

हालिए । फलत तच्छकके राम इन्द्र भी अग्निकी ओर आकृष्ट हो गए तब इन्द्रने उरकर तच्छकको छोड़ दिया जो अग्निको ओर गिरने लगा । इसी समय आस्तीकने अपनी आन देकर महाराज जनमेजयसे सर्व-यज्ञ बन्द करनेकी भिला मर्गी । श्रीर तभीसे यह प्रसिद्धि है कि आस्तीकका नाम जपनेसे सर्प भय नहीं रहता । सर्प दूर करनेका मंत्र यह है—

सर्पासर्प भद्रन्ते दूर गच्छु महाविप ।

जनमेजयस्य यज्ञन्ते आस्तीक यचन स्मर ।
आस्तीकयचन ध्रुवा य सर्पो न निवर्तते ॥
शतधा भिद्यते मुष्णि शिशवृक्षपल यथा ।
विश्वास किया जाता है कि इच्छानुसार मनुष्य शरीर धारणकर सकता था । यह कहा जाता है—

मसूर निम्ब पत्र च योऽर्त्तमेव गतेरवौ,
श्रवितोपान्मिवास्तस्य तच्छक किञ्चरिष्यति ।

पैशाहमे जो मसूर और निम्बके पत्ते खाते हैं उनपर मोघ करके तच्छक भी कुछ नहीं भिगाव सकता अर्थात् उन्हें कोई विष नहीं चढ़ सकता । नागोंमें ये खाद प्रधान नाग हैं—अगस्त, वासुकि, पद्म, महापद्म, तच्छक, कर्काक, शय और शेष ।

सपोवन—नदीके किनारे हरे भरे राध फलोंसे युक्त जिस वनमें महर्षि लोग तपस्या करते थे ।

उमसा—राध या छोटा सरयुज नदी । जिसके स्पर्श करनेसे पाप नाश हो उसका नाम उमसा है—यथा स्मराचाम्यति पाप सा तमसा । यह जाने समय रामने पहली रात इसी नदीके किनारे विचार्यो था । यह नदी वर्तमान धाउम-गढ़ और बलिया जिलेमेंमे होती हुई बलियाके पास गंगामें मिल गयी है ।

तमाङ्ग—एक वृक्ष जो बीस अट्टाइस फुट तक ऊँचा होता है । देखनेमें गहरा हरा और सुन्दर होता है । वैशाखमें इसमें बड़े बड़े श्वेत फूल लगते हैं और कमला नीवू जैसा एक फल लगता है जिसका झिलका देखके समान धिकना और पीला होता है किन्तु यह इतना खटा होता है कि एक बार खानेसे कई दिनतक दौँत खटा रहता है । सियार इसे बहुत खाते हैं । इसने पत्ते तेजपातके समान हाँते हैं और इसकी छाया बनी घनी होती है । इसे नीलताल कलताळ और नीलपत्र भी कहते हैं । यो तो भारतमें सभी स्थाना पर यह वृक्ष होता है किन्तु समुद्रके किनारे भी बहुत पाये जाते हैं ।

तमोगुण—सत्त्व, रज, तम तीन गुणोंमेंसे एक जिसमें यह गुण विशेष होता है वह क्रोधी और दुष्कर्मा होता है ।

तर्पण—अपने पितरोंको जल दान देकर वृत्त करनेका कार्य । यह तर्पण विशेष विधानके साथ किया जाता है । तर्पणका यह फल लिखा है—कि तर्पण करनेवालेको कितने प्रकारका दुःख नहीं होता ।

ताड़का—यह सुनेतु नामक पत्राभो पत्रकी कन्या थी जिसे उसने ब्रह्मसे वरके रूपमें पाया । इसमें एक सहस्र द्वापिर्घोका बल था । यह जन्मके पुत्र सुन्दरसे ज्यादा थी । जब अगस्त ऋषिने सुन्दरको मार डाला तब यह अपने पुत्र मारीचको साथ लेकर अगस्त्य ऋषिको याने दीक्षी किन्तु उनके शपथे दोषों राधस हो गए । तभीसे यह राधती अगस्त्यचक्रका सपोवन नष्ट करने लगी और यहाँके सब ऋषियोंको ला गयी । हर्मलियु यह जगल ताड़का जगल यहलता है । जब यह विश्वामित्रजीके यन्मों भी विग्र करके खागी तब वे राम, सप्तम्यको से आए और रामने उनका

बध किया। स्त्री समझ कर जब राम मिथक रहे थे तब विश्वामित्रने कहा था—

जो स्त्री धीरके समान युद्ध करे लज्जा और कोमलताका त्याग करे उसे मारनेमें स्त्रीबधका दोष नहीं लगता।

ताण्डव—एक प्रकारका नृत्य। पुराणोंके नृत्यको ताण्डव और खियोंके नृत्यको खास्य कहते हैं। यह नृत्य शिवजीको अत्यन्त प्रिय था।

१—किसीके मतसे इस नृत्यके प्रबर्तक शिव हैं।

२—जब दु नामक ऋषिने पहले पहल इसकी शिष्या दी थी अतः इसका नाम ताण्डव पड़ा।

ताम्रपर्णी—एक नदीका नाम। यह मद्रास प्रान्तके तिन्नेवेलि जिलेमें है। इसे उस भागमें पवने कहते हैं। यह पश्चिमवट पर्यन्तने निकलकर बंगालकी खाड़ीमें जा गिरती है। जल बहनेकी सुविधासे इसमें ८ पुल हैं। ७ हिन्दू राजाओंने, एक अंग्रेजों सरकारने १८८६ ई० में बनवाई। अशोकके समय पाण्ड्यगणका राज्य ताम्रपर्णी तक था।

२—इसीके आगपाम ताम्रपर्णी नामकी एक और नदी। जो पश्चिम की ओर बहती है।

३—उन्नीस प्रान्तके पैलघाम जिलेकी एक छोटी नदी।

तारकोमुर—एक दैत्यका नाम। यह तार नामक असुरका पुत्र था। इसके हजारों धर्म तपस्या करनेके फलस्वरूप एक ऐसी ज्योति मस्तकसे फूट निकली जिससे इन्द्रादि देवता लज्जने लगे। देवताओंने यह वृक्षान्त मग्नाने कहा। तन्नाश ब्रह्माजी तारकोमुरके पास गए। बरदानके रूपमें उसने दो वर माँगे। १—मेरे समान कोई बली न हो। २—मैं शिवके पुत्रके प्रतिरिक्त किसीसे न मारा जाऊँ। वर पाकर

वह अपने घर आया। सब असुरोंने उसे राग्याभियेक किया। वह संसारमें नाना प्रकारका अत्याचार करने लगा। इससे देवता बहुत दुःखी हुए। तब शिवके पुत्र कार्तिकेयने उसका बध किया। (देखो कार्तिकेय)।

ताल—संगीतके समय गीतकी प्रत्येक कड़ीका समय नापनेके लिए दासकी जो ताली बजाई जाती है उसे ताल कहते हैं। अथवा मूर्दंग, तबलै आदि पर विशेष धोलोंमें बँधे हुए जो विभिन्न कड़ियोंके समयकी अभिव्यक्ति को जाती है उसे ताल कहते हैं। ऐसी ताल अनेक हैं। ताजकी उत्पत्ति महादेवजीके ताण्डवके “ता” और पार्वतीजीके खास्यके “ल” से हुई। यह दो प्रकारका होता है। मार्ग और देशी। भरतने ६० प्रकारके मार्ग ताल और १२० प्रकारके देशी तालोंका विवरण दिया है। जिनमेंसे केवल सोढ़से ताल प्रयुक्त होते हैं।

तिन्नी—नीवार या मृन्पत्र। यह एक प्रकारका चावल होता है जो अपने धूप निता चोप उरख हो जाता है। प्रायः बतोंमें भी लोग इसका प्रयोग करते हैं।

तिल—यह छोटा, पक्का, चिपटा बीज होता है जो काला, सफेद और लाल रंगका होता है इसीमें एक छोटा तिल भी होता है जिसे जंगली तिल भी कहते हैं। तैल शब्द इसी तिलके तैलके लिए प्रयुक्त होता है। यह धातु तर्पणदिमें अधिक काम आता है, इसके फूलकी उपमा नाकमें दी जाती है जो सफेद रंगका गिलासके आकारका होता है, ऊपर चार दलोंमें विभक्त रहता है जिनपर भीतरकी और चैगली धारियाँ होती हैं। चार फुटक ऊँचा होता है। इसके पत्ते ८, १० अंगुल लंबे और तीन-चार अंगुल चौड़े होते हैं जिनके निचारे टेढ़े-मेढ़े होते हैं।

तिलक १—चन्दन देशर आदिसे तिलके फूलके समान माये छाती या हाथपर जो चीता जाय उसे तिलक कहते हैं । १—जोधका पेड़ । १—पुष्पागमो जातिका एक पेड़ जिसमें घसन्त शत्रुमें धुत्तेके आकारके फूल लगते हैं ।

तिलाञ्जलि—अपने पितरोंको श्रुत करनेके लिए तर्पणके समय जलमें तिल डालकर जो अञ्जलि दी जाती है ।

तीर्थ—नदियोंके संगम, सत अथवा अन्य किता महापुरुषके जन्म-स्थान अथवा किसी पवित्र घटनाके स्थलको तीर्थ कहते हैं जहाँ स्नान करने, निवास करने या दर्शन करनेसे पाप दूर हो जाते हैं । तीन प्रकारके तीर्थ बताये गये हैं—जंगम, मानस और स्थावर । आशुष्य क्षोम जंगम तीर्थ, सत्य, सना इन्द्रिय निग्रह, दया, ऋजुता, दान, दम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवादिता, ज्ञान, धैर्य और तपस्या ये मानस तीर्थ हैं । अन्य गंगा, काली आदि स्थावर तीर्थ हैं ।

तुरही—मुँहसे फूँककर बजाए जानेवाला एक लंबा बाजा । तूर्य ।

तूर्णार—तरकस । बाण रखनेका खोल । जो दाहिने कन्धेको थोर पीछेसे धँचा रहता है ।

त्रयी—ऋग्वेद, अथर्ववेद और सामवेद । सृष्टिके आदिमें ऋग्वेद, अथर्ववेद, स्थितिमें यजुर्वेद विष्णु, और खणों सामवेद रूद्र हो प्रयी हैं ।

त्रिकूट—तीन शिखरोंवाला पर्वत । ऐसा पर्वत एक लंकामें है, दूसरा क्षीरसागरमें है, तीसरा गुजरातमें गिरिनार पर्वतमें है जिसे पारकर रघु सिन्धुको थोर गये थे ।

त्रिपुर विजय—तारकानुरके तीन पुत्र । तारकान्य, कमलाक्ष्य और विद्युन्मालीने तपस्या करके ब्रह्मामे यह वर ले लिया कि हम तीनों मृत्यु पुरोंमें रहकर पूजित हों और जब एक

साथ मिल जायँ तब उस समय जो एक समय एक बापसे तीनों पुरोंका नाश कर दे । उसीके हाथसे हमारी मृत्यु हो । मयदानवने इनके लिए स्वर्गमें सोनेका, अन्तरिक्षमें चाँदीका, और मर्त्यलोकमें लोहेका लोक बनाया । इन दानवोंने बरके कारण देवताओंपर क्रूरवाचार प्रारम्भ कर दिये । तब महादेवजीने सब देवताओंका आधा-आधा बल लेकर ब्रह्माण्डको सारथी बनाकर विश्वकर्माके बनाये रथपर चढ़कर दिव्य धनुष खींचकर त्रैलोक्य-सार-भूत-बाल छोड़ा जिससे त्रिपुर नष्ट हो गये और भगवानने तीनों पुरोंको जलाकर पश्चिम सागरमें फेंक दिया ।

त्रिपुण्ड्र तीर्थ—ब्रह्माका बनाया एक तीर्थ, जहाँ तीन स्नान हैं ।

त्रिशंकु—एक सूर्यवंशी राजा जो सशरीर स्वर्ग जाना चाहते थे । जब वशिष्ठ और उनके पुत्रोंने ऐसा यज्ञ करना स्वीकार नहीं किया तब त्रिशंकुने विश्वामित्रकी शरण ली । विश्वामित्रने जो यज्ञ किया उसमें कोई देवता नहीं आया तब विश्वामित्रने मोक्षसे त्रिशंकुसे कहा—मेरी तपस्याके फलसे तुम सशरीर स्वर्गमें चले जाओ । स्वर्गको ओर आते देखकर इंद्रने उसे बनेखकर कहा—तुमपर गुरुका शाप है, तुम यथे मुँह बरके लौट जाओ । जब वह नीचे गिरने लगे तब विश्वामित्रने यहीं रोक दिया । तबसे त्रिशंकु यहीं नीचे सिर किए हुए लटके हैं ।

त्रिशूल—तीन फलकवाला एक महादेवजीका अस्त्र ।

त्रैता—मत्स्यपुरा, वैता, इापर, कलियुग नामक चार युगोंमेंसे एक । कार्तिक-शुक्ल नवमोको त्रैता युगको उत्पत्ति हुई । इस युगमें यारहलाख छानवे हजार वर्ष होते हैं । मत्स्यकी यापु १० हजार वर्षकी होती है । लग्याई १४ हाथ होती है । इसमें तीन परव्य पुण्य और

एक चरण पात्र होता है, चोंडोके पात्र ही काममें आते हैं। इस युगमें वामन, परशुराम और रामका अवतार होता है। मनुके अनुवार इस युगमें मनुष्योंकी आयु ३०० वर्षकी होती है। जो अधिक विवेक पूर्ण प्रतीत होता है।

त्रोटक—यह ५, ७, या ९ अंकका एक नाटक होता है। जिसमें स्वर्ग और पृथ्वी दोनोंके विषय वर्णन किये जाते हैं। शृंगारस प्रधान होता है और नायक कोई दिव्य मनुष्य होता है। विक्रमोर्वशीय नाटक श्रेष्ठक ही है।

६

दक्ष—आदितिके पिता और प्रजापति। इन्होंने अरबी १० कन्याएँ धर्मकी, १३ करपकी, २७ चन्द्रमाकी, दो-दो शृगु, अंगिरा और कृष्णदेवकी तथा ४ तापसकी दी थीं। चन्द्रमाकी जो इन्होंने कन्याएँ व्याही थीं उनमेंसे रोहिणीकी वह सबसे अधिक प्रेम करता था तप कृत्तिका आदि सातने दक्षने यह बात कही। जब दक्षके समझानेपर भी चंद्रमा रोहिणीमें ही स्नेह करता रहा तब दक्षने उसे साप दिया कि तुझे चप हो जाय। किन्तु फिर चंद्रमाके विड़मिड़ानेपर इतना समाधान कर दिया कि मासमें एक पंच तुम्हारा पय होगा और एक पत्रमें पुत्रि होगी।

(देखो कृत्तिका)

दक्षकन्या—दक्षकी अलिङ्गनी नामक पत्नीसे ६० कन्याएँ हुईं। (देखो दक्ष)

दक्षिण—पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान, उर्व्व और अधः नामक दस दिशाओंमेंसे तीसरी दिशा। सूर्यकी ओर मुँह करके होकर दाहिना हाथ खरने कन्धकी ओर धरा देनेसे जिपर संकेत होता है वही दक्षिण दिशा है।

दक्षिणनायक—कई नायिकाओंपर समान प्रेम रखनेवाला एकको प्रसन्न रखनेवाला।

दक्षिण-पवन—दक्षिण दिशासे आनेवाला पवन। वसन्त ऋतुमें जो पवन दक्षिणकी ओरसे चलता है। स्वास्थ्यके लिए लाभकर है। इसीलिए वसन्तमें दक्षिण तिल सेवन करनेका विधान है।

दक्षिणायन—आकाश-मण्डलमें सूर्य प्रति वर्ष आषाढ़ मासके अन्तमें उत्तरकी ओर जहाँ तक पहुँचते है अर्थात् सोचे किरण डालते हैं। वहाँ तकका नाम उत्तर संक्रान्ति और उस उत्तर संक्रान्तिसे खेकर जहाँ तक दक्षिणकी ओर पहुँचते हैं अर्थात् सूर्य जब भावस्थसे पीप मास तक उत्तरसे दक्षिणकी ओर आते हैं तब उते दक्षिणायन कहते हैं और माघसे आषाढ़ तक दक्षिणसे उत्तरकी ओर चलते हैं तब उधरायण कहते हैं।

दण्ड—१—डण्ड। २—अपराध करनेपर किर्णको शारीरिक कष्ट या आर्थिक असुविधा दी जाती है उसे दण्ड कहते है।

दण्ड नीति—प्रभुशासक तथा राजनीतिशास्त्र अर्थात् राज्य शासनके चक्रानेके नियम और उपदेश—

दण्डेन नीयते भेदं दण्डं नयति वा पुनः।
दण्डनीतिरिति ख्याता धीन् लोमानतियर्तते ॥
मद्धाने लोक स्थितिके लिए दण्ड नीति बनाई।

दन्तद्वय—काम शास्त्रके अनुसार स्तन, फरोल, घोष्ठ तथा अधरपर जो दाँतके चिह्न बना दिए जाते हैं वे द्विर्दंते सुखकर होते हैं—

स्तनयोगवदयोश्चैव घोष्ठे चैव सथाधरे।
दन्तान्तः प्रकर्ष्यः कामिनीनां सुखावहः ॥

दण—(दे० कुरा)

दण्डाग—यन्मात मन्दसोर नगर जो मध्य भारतमें वर्तमें स्थित है। कुज खोगोंका विशाल है कि काञ्चिदास यहाँके थे।

दशार्ण—विन्ध्यके पूर्वं दक्षिणका देश जिसमें दशान नदी बहती है और जिसको दश-घानी विदिशा (वर्तमान भिखसा) धो, जो कि भूपाल से १३ कोस उत्तर पूर्व सेतवाके किनारे पहाड़ोंपर बसी हुई है।

दक्षिणारण्य (अग्नि)—जो घनुयाकार कुण्डमें अग्निशालाके दक्षिणमें और गार्हपत्य अग्निके आग्नेयकोणमें स्थित होती है।

दक्षायणी—दक्षकी पुत्री करवपकी स्त्री अदिति तथा इन्द्रकी माता।

दाम—(देखो कृशा)

दाम—साम, दाम, दण्ड, भेद नामक चार नीतिग्रामसे एक। घनका लोभ देख कर बाबुको फँसाने की बात।

दिरगज—प्राची दिशाओंको संबालनेवाले और पृथ्वीको दया रखनेवाले साठ हाथो। पूर्वमें देरावत, आग्नेयमें पुण्डरीक, दक्षिणमें वामन, नैऋत्यमें कुमुद, पश्चिममें अंजन, वायव्यमें पुष्पदन्त, उत्तरमें सार्वभौम और ईशानमें सुप्रतीक।

दिरपति—ज्योतिषके अनुसार विभिन्न दिशाओंके स्वामी मह। पूर्वके सूर्य, आग्नेयके शुक्र, दक्षिणके मंगल, नैऋत्यके राहु, पश्चिमके शनि, वायव्यके चन्द्रमा, उत्तरके बुध और ईशानके शुकृत्वति।

दिरपाल—दसों दिशाओंको पालन करने वाले दस देवता। पूर्वमें इन्द्र, आग्नेयमें अग्नि, दक्षिणमें वसु, नैऋत्यमें नैऋत, पश्चिममें वरुण, वायव्यमें मरुत, उत्तरमें कुबेर, ईशानमें ईश्वर (शिव) उर्ध्व दिशामें ब्रह्मा, अधो दिशामें अग्रन्त।

दिरिबजय—अपना पराक्रम विख्यात करनेके

लिए सब देशोंको जीतकर जाते हुए राजाओंसे कर मात्र लेकर उन्हें राज्य लौटा देना।

दिङ्गनाग—प्रमाण समुन्धयके लेखक विद्यापत यौद्ध ग्रन्थकार। मल्लिनाथने दिङ्गनागको काञ्चिदासका प्रतिद्वन्द्वी माना है।

दिव्यशोरु—स्वर्ग, वैकुण्ठ आदि ये लोक जिनमें देवता रहते हैं।

दिव्यास्त्र—भंगमें बलाये जानेवाले ये अस्त्र-शस्त्र जो देवताओंसे प्राप्त किये जाते हैं।

दुपहरियाका फूल—डे। दो हाथ उँचे-उँचे एक पीछेके साँचे डण्डलमें लगनेवाला कंगोरेके आकारका गोल-गहरे लाल रंगका फूल। यह द्यौपहरमें लिखकर फूलता है और संभासे प्राप्तः तम मुरझाया रहता है। इसके पीछेके पत्रे ५-१० अंगुल लम्बे एक-डे। इंच चौड़े और गहरे हरे रंगके होते हैं।

दुर्वासा—एक मुनि। जो शिवजीके अंगसे अग्निके पुत्र थे। श्रीर्व मुनिकी कन्या कन्दर्वासे इनका विवाह हुआ था। विवाहके समय इन्होंने प्रतिज्ञाकी थी कि पत्नीके सौ अपराध तम क्षमा करेंगे। सौ अपराधके पश्चात् अपनी स्त्रीको शापसे भस्म कर दिया। इस पर श्रीर्वने शाप दिया कि तुम्हारा अभिमान दूर होगा। फलतः अम्बरोपने इनका अभिमान दूर किया। ये बड़े क्रोधो थे। इन्हींके शापसे शकुन्तलाके पति दुष्यन्तने उसका प्रत्याख्यान किया था और इन्हींके शापसे यदुवंश नष्ट हुआ था।

दुष्यण—(दे० खर)

देव—अमर। देवता। ये स्वर्ग लोकमें रहते हैं। इनकी पलकें नहीं गिरती और इनके पैर भूमिको स्पर्श नहीं करते।

देव सठनी एकादशी—(देवोत्थान्या एक-दशी) कार्तिक शुक्ल एकादशीको विष्णु भगवान

योगनिद्रामें जागते हैं। इसीलिए उसे देवोत्थान एकादशी कहते हैं। आषाढ़ शुद्ध ११ को विष्णु भगवान् योगनिद्रामें सोते हैं।

देवगिरि—देवताओंका प्रिय एक पर्वत, जो वैज्यामके पास स्थित है यहाँ अनेक देवताओंकी मूर्तियाँ हैं। सुमेरु और हिमालयकीभी देवगिरि कहते हैं।

देवदार—देवदारु नामका एक बहुत ऊँचा पेड़ जो हिमालयपर ६ हजार से ८ हजार फीट तककी ऊँचाईपर उगता है। यह पेड़ ८० गजतक लंबे उँचे चला जाता है। लुमाऊँगे लेकर करमीरतक इसके जंगल हैं। इसकी पत्तियाँ पतली और सुकीली होती हैं और इसका पेरा ऊपरसे नीचे तक कालुआँ होता है। इसकी लकड़ी, सुन्दर हलकी सुगन्धित और गंधुएँ रंगकी श्वेत होती है और इसमें घुब या काड़े नहीं लगने।

देवसेना—देवताओंकी सेना—कालिन्धेयकी पत्नी, और प्रजापतिकी कन्या जो सारिणीके गर्भमें उत्पन्न हुई थी। इनका दूसरा नाम पछी या महापछी भी है। एक बार कन्या दानव इन्हें हर कर ले गया तब इन्होंने इनकी रक्षाकी और स्वन्दर्ये इनका विवाह करा दिया।

देवांगना—अप्सरारण—देवताओंकी परिवर्ध
दैत्य—असुर—जो कश्यपके औरत पुत्र उनकी दिति नामक पत्नी से उत्पन्न हुए थे।

ध

धनुषधर—सीताजीके विवाहके लिए जनकजीने यह प्रश्न किया था जो महादेवजीका धनुष उठाकर उनपर दौरी चढ़ा देगा उसके साथ संतापके विनाश होगा। यद्यपि धनुष राजाजीने धनुष उठानेका प्रयत्न किया किन्तु रामके प्रति रक्त कोई भी धनुष नहीं उठाकर। इसीलिए संतापजीका विवाह रामके लुपा।

धर्म—जिस कामसे इस लोकमें अशुद्धय और परलोकमें मोक्ष मिले वही धर्म है।

धर्मासन—राजा या न्यायाधीश जिस आसनपर बैठ कर न्याय करता है।

धातु—यह मूल त्रियारूप जिससे त्रियाके अनेक रूप बनते हैं—जैसे धम, इ, आदि।

ध्वजा—१ झंडीका डंडा। २ झण्डा।

न

नक्षत्र—अश्विनी आदि २७ तारक समूह। (देखो कृत्तिका)

नक्षत्र—रत्नकालमें प्रेयसीके शरत्पर त्रिव्यक्त द्वारा बनाए गए नक्षत्रके पिंड। कामशास्त्रमें इनपर विस्तारसे वर्णन किया गया है।

नदी—नदीकी पत्नी।

नन्दनवन—इन्द्रका यह उद्यान जिसमें मनुष्य अपना भोगकाज पूरा करके इस वनमें विहार करते हैं। यह विश्वरके सब स्वानामें सुन्दरतम माना गया है। यहाँ आकाश गंगामें सुन्दरले कमल खिलने हैं। भूमिपर फलरूप फलता फूलता है, वामधेनु रहती है। और यहाँ पहुँचकर लोग धर्मशास्त्रोंके साथ विहार करते हैं।

नन्दिग्राम—अयोध्यामें चार कोसपर एक गाँव। जहाँ भरतने रामके वियोगमें १४ वर्षतक तप किया था।

नन्दिर्न—सुरभिने कश्यप और पशुपतिकी कामधेनु जिसे प्रमत्त करके त्रिनापने पुत्र पाया था। एक दिन सेना लेकर विधाभिन्न पशुपतिके यहाँ गए। पशुपतिने नन्दिनी कीके प्रभावमें हनुमानुसार भोग कराया। विधाभिन्नने यह भी मीमांसा। जब पशुपतिने धरतीकार कर दिया तब वे पत्न्यूरक गीको से पत्ने। मार्गमें नन्दिनीके विज्ञानेके उमके त्रिभिन्न चरंगिनिमें स्नेहपूर्ण और पत्नीकी इतनी मेनारण निकल पड़ी कि विधाभिन्न द्वार गए।

नन्दी—१—शाखंसायण । शिवजीके द्वारपाल । २—शिवजीके एक प्रकारके गाय जिनके सान भेद होते हैं—रुनकनन्दी, गिरिनन्दी और शिवनन्दी ।

नमुचि—१—एक दानव । जो शुभ्रम धौर निशुभ्रका होसरा भाई था और करवपको दनु नामक परनसे उरन्न हुआ था । २—विप्रचिति नामक दानवका पुत्र । जो इन्द्रका मित्र था और जिसने सोमरसके साथ इन्द्रका बल हर लिया था और जिसे इन्द्रने सरस्वती और अश्विनी कुमारसे बल लेकर मारा था, इन्द्रने इससे प्रतिशदा की थी कि मैं न तो तुम्हें दिनमें मारूँगा न रातमें । न सूखे चखसे न गीले अण से । इतीक्षिण सगुदने आरुके समान एक पत्राखसे उसका बध किया ।

नमेह—एक प्रकारका पुन्नाग वृक्ष । इसे हिन्दीमें मुस्तानी पम्पा कहते हैं । इसका फूल बड़ा-बड़ा होता है जिसमेंसे अरण्या सुन्दर गंध निकलती है और फूल लाल होता है ।

नरकट—सरकटके समान इक्षुजमें होनेवाली एक घास । जिसमें पीरदार छड़ी निकलती है जिससे खिसनेके कलम बनाने वाले हैं । इसका पौधा बेटके समान, पत्तियाँ बोंसको पत्तियोंके समान, डंठल या छड़ी पौजी होती है । जिसकी छुफेकी निगाखियाँ, टोकरी और मोढ़े भी बनते हैं । इसे नरकुल भी कहते हैं ।

नर्मदा (नदी)—यह रीची राज्‍यके अमरकण्ठक पहाड़से निकलकर भवौचके पास अरर सगरमें गिर जाती है । यह विन्ध्यके दक्षिण ८०० मील तक बहती है । अमरकण्ठके निकलकर माल भूमिमें पहुँचकर वहाँसे ७० कुट नीचे गिरकर कपिलधारा प्रपात बनती है । इस बर्दीमें स्नान करनेका बड़ा पुष्य बताया गया है क्योंकि यह शंकरकी देहसे उत्पन्न हुई है ।

नरहृष्य—शुबेरका पुत्र, मथिप्रोवका भाई । एक बार यह कैलास पर्वतपर गदिरा पीकर छिपोंके साथ विहार कर रहा था तब नारदने शाप दिया, जिससे ये दुन्दावनमें बमज्जुन हुए थे ।

नगनिरि—(हाथी) जो उज्जयिनीके राजा चंद्रमघोषके यहाँ था ।

नवमहिष्—१. चनेलो, २. नेवारी ।

नहुप—ये चन्द्रवंशी राजा आयुके पुत्र और पुरुवाके पीत्र थे । वे बड़े प्रतापी चक्रवर्ती राजा थे । जब यज्ञासुरके मारनेके कारण प्रज्ज-इत्याके बरसे इन्द्र कमलनाभमें क्षिप गए, तब बृहस्पतिने नहुपको ही इन्द्र बना दिया । बड़ी इन्दाणीपर मोहित होकर जब इन्होंने उन्हें पास बुलाना चाहा । तब इन्द्राणोंने कहलाया कि घोर सप्तपिंशोंके कन्धेपर पालकीपर चढ़कर आद्य । पालकीपर चढ़कर हड़बड़ीमें इन्होंने सप्तपिंशोंके कहा—सर्, सर्प अर्थात् जहरी-जहरी चजो । इपर अगस्त्यजीने इन्हें शाप दे दिया । जायो, सर्प हो जायो । किन्तु प्रार्थना करनेपर अगस्त्यने कहा—युधिष्ठिर तुम्हें शापमुक्त करेंगे । इतीसे ये बहुत दिनों हैतवगों परे रहे और जब इनकी पकड़से भीमको छुड़ानेके लिये युधिष्ठिर आए तब इनकी मुक्ति हुई ।

नाग—करवपकी कबु नामक स्त्रीसे अनन्त वासुकि, कन्बल, करकोटक, पद्य महापद्य, शंख, कुञ्जिक और अथराजित नामके नाग उत्पन्न हुए । ये नाग भूमिके नीचे रामणीयक क्षीपमें रहते थे ।

नागकन्धा—नागजातिकी कन्द्या जो बहुत सुन्दर बताई गई है ।

नागपाश—बल्लक अण्ड जिससे वे शत्रुओंको बाँध लेते हैं । मेघनादने इन्द्रसे बड़ी अण्ड प्राप्त किया था । तंत्रके अनुसर बार्द केरेके वन्धनका नाम नागपाश है ।

नागरमोथा—नागरमुस्ता—एक प्रकारकी घास । जो लंबाजी सूखर बहुत खाते हैं ।

नान्दी—नाटकके मारममें देवताओंके प्रसन्न करनेके लिए जो प्रार्थनाएँ की जाती हैं । सहि-स्वदपंथके अनुसार यह खाट या १२ पर्दोंमें होनी चाहिये किन्तु भरतने १० पर्दोंकी मा लितो है । नान्दीका पाठ मध्यम स्वरमें होना चाहिये ।

नारद—अपने पिताको सदा जज्ञदान देनेके कारण इनका नाम नारद पड़ा । ये ब्रह्माके मानस-पुत्र उनके कण्ठमें उतरते हैं । ये देवपितृ-मंडले प्रधान माने जाते हैं ।

नारायण—(नर-नारायण) एक बार शरम स्त्री महादेवने अपने शक्तिमें नरसिंहके दो डुकड़े कर डाले जिसमें उनके नररूपमें वरसो मुनि नरको उरगति हुई और विहाहृति देखने नारायण की । ये नर और नारायण हिमाद्रपपर पदरिका-धर्ममें वरस्या करने लगे । यहाँ उनके तारने दर कर इन्द्र थापा देनेके लिए अस्त्राएँ भेजी । उन्हें लजित करनेके लिए नर-नारायणने अपनी जंघामें उयंशी उतरत करके लकी कर दी ।

निचुल—एक प्रकारके घेतका पेड़ ।

निमिहुल—निमिनाशको श्वाचित करनेवाले और इष्यानुके पुत्र जिन्होंने विदेह बंश पलाया । एक बार निमिने पतिव्रतकोतुलाया किन्तु पतिव्रतों इन्द्रका पक्ष करने चले गए तब निमिने दूसरे ऋषियोंको बुलाकर वर प्रारंभ किया । इस्वर पतिव्रतने शाप दिया भेरी अवनता करनेके कारण नू दोग होगा और मेरा शरीर नहीं रहेगा । निमिने भी पतिव्रतको शाप दिया कि बिना समझे पूजे शाप देनेके कारण आपका भी भेष नहीं रहेगा । यह कहकर निमिने शरीर त्यागदिया और उनको देह लेबमें रत हो गई । तब पतिव्रतको शरीर छोड़ कर मिश्रापदपके लेबमें गना गए और पित

मिश्रापदपके औरससे उयंशीके द्वारा उत्पन्न हुए । यज्ञको समाप्तिपर जब देवताओंने मुक्तक निमिसे वर मांगनेके लिए कहा—तब उन्होंने उत्तर दिया— मैं जीना नहीं चाहता । किन्तु यही चाहता हूँ कि मैं श्रौंणोपर रहूँ तब वे सबकी पक्षकोंपर रहते हैं । उनकी मृत्युदेहसे मयकर एक पुत्र उतरत किया गया जिसका नाम जनक रखा गया । और इसी मयनेमें उतरत होनेके कारण उनका नाम निमि भो या । तबसे समयसे निमि सबको पक्षकोंपर रहते हैं और सबको पक्षकों उठी रहती है । उन्हींका कुज निमिका कुज कहलाता है ।

निर्विन्ध्या—विन्ध्याचलमें निकली हुई एक नदी ।

नोच—पडाङ्को—जो विन्ध्यारी ही एक प्रशाखा है ।

नीति—पद् नाति सन्धि, निग्रह, धान, आपन, संभय, द्वैधीभार ।

नीवार—(देवी इतिहास)

नीशत-१—एक राक्षस । २—नैकुल-कोणके द्विपात्र ।

नैकुल—पश्चिम-दक्षिण कोणकी दिशा ।

नैमिषाण्डाय—वर्तमान निमिखारू नामका तीर्थ जो अवधके गोरगपुर जिलेमें है । यहाँ गौमुंय मुनिने—निमिप्रभारमें असुरोंको भस्मकर दिया था इर्वांसिप इपका नाम नैमिषारण्यपदा । देवी भालवतमें लिखा है १—अप कब्रिकाणके भयमें ऋषि खंभा वरुणके पाग गये तब उन्होंने मनोमय पत्र लेकर कहा कि जहाँ इमको नैमि या घरा। घूर-घूर हो जाय यहाँ पवित्र स्थान गमन्दर रहता । यहाँ नैमिषारण्य है । यहाँ गोमगो मरुं बहती है ।

नैमिषेय वरु—निमिषारण्यमें किया हुआ पत्र ।

न्यायासन—(दे० धर्मासन)

प

पक्षु—प्रतिमासमें १५ दिनका समय ।
कृष्ण पक्षमें चन्द्रमा नित्य एक कला घटता है
शुक्ल पक्षमें नित्य एक कला बढ़ता है ।

पंचतण्डव—पृथ्वी, जल, अग्नि-वायु आकाश,
इन्हीं पाँचके संयोगसे सारी सृष्टि बनी है ।

पंचवटी-१—पीपल, बेल, बद, शौंखला
और और अशोकके वृक्षोंका समूह । इनमेंसे
पीपलको पूर्वकी ओर बेलको उत्तर, बदको पश्चिम,
शौंखलेको दक्षिण और अशोकको आग्नेयकोणमें
लगाकर पाँच वर्ष बाद इस पंचवटीको प्रतिष्ठा
करनी चाहिए और इसके बीचमें चार हाथ लंबी
चौड़ी वेदी बनानी चाहिए ।

२—दण्डकारण्यमें नासिकके पास गौदावरोके
किनारे एक क्षण जिसमें वनवासके समय राम,
लक्ष्मण, सीताने निवस किया था और जहाँ
शूरसेनाके गारु-कान काटे गये थे । और
सीताहरण हुआ था ।

पंचवाण-१—कामदेव २—कामदेवके पाँच
बाण—द्रवण, शोषण, तापन, मोहन और
उन्मादन । कामदेवके पाँच बाण ये हैं—कमल,
अशोक, आमकी भंजरी, नवमल्लिका, (जमेली)
और नीला कमल ।

अरविन्दमयोरुज्ज्वल नवमल्लिका ।

मोलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥

पञ्चाप्सर—पञ्चाप्सर—जहाँ शरद्वर्षी मुनि
तपस्या करते थे । जिसका तप भंग करनेके लिये
इन्द्रने पाँच अप्सराएँ भेजी थीं । रामाप्रणमें इन्हें
भायङ्करी लिखा है ।

पर्यकुटी—पत्नीसे ल्यायी हुई कुटिया या
कोपड़ी । वनवासके समय लक्ष्मणने पञ्चवटीमें
रामके लिए यही सुन्दर पर्यकुटी बनाई थी ।
जिसकी प्रशंसा वासमीकिने की है ।

पताका—मण्डी । मण्डीका कपड़ा ।

पद्मराग—जाल रंगका लाल नामक मणि ।
कहा जाता है कि जब इन्द्रने असुरोंको मारते
समय उनका रक्त पृथ्वीपर न गिरने देनेके लिए
सूर्यको नियुक्त किया और जब रात्रके डरते सूर्य
गिर गए तब असुरोंका रक्त सिंहल देशमें रावण-
गंगा नदीमें जा गिरा । उसीसे तीन प्रकारके
खालमणिकी उत्पत्ति हुई । मुगन्धि, कुरुविन्द,
और पद्मराग । पद्मरागका रंग कमल जैसा, चमक
शुगुनू जैसी कोपल सारस, या चकोर जैसा
देखनेमें लाल जैसा होता है ।

पद्मा—इसे ही मरकत कहते हैं । इसका
रंग हरा उजला होता है । कहा जाता है जिस
समय नाग राज वासुकी वैश्वपतिका पित लेकर
चले जा रहे थे उस समय गरुड उसे प्रसनेकी
नैवार हुए । उसी समय वासुकोने वह पित
तुरकदेशके पर्वतकी घाटियोंपर फेंक दिया ।
और वहाँ मरकतमणि या पद्मा फैल गया । पर्वतमें
यह गुण है कि सर्पका जो विष धौपधि या मंत्रसे
दूर न हो वह इससे दूर हो जाता है पद्मा धारण
करनेसे सब पाप लय हो जाते हैं, धनधान्यकी
वृद्धि, युद्धमें विजय विश्व रोमोंका नाश होता है ।

पंवासर—(दे० पंचाप्सर) दक्षिणमें पंवा
नदीके किनारे और उत्पन्नपर्वतके पास एक
तालाब है । वर्तमान बनगलय नदी ही पंवा नदी
जान पड़ती है और पश्चिमी घाट ही उत्पन्नपर्वत
पर्वत है । यहाँ भतंग ऋषिका आश्रम भी था ।

पद्मासन—बाएँ जंघेके ऊपर दाहिना जंघा
बद्धकर छातीपर छाँटा रखकर नासिकके अग्र-
भागको देखना पद्मासन कहलाता है । इस
आसनकी साधनेसे किसी प्रकारकी कोई व्याधि
नहीं होती ।

परमानन्द—निर्विकल्प समाधिमें सम्य
योगीकी त्रिकुटीमें जब परा ज्योतिका प्रकाश

दिखाई पड़ने लगता है। वही परमात्मन्दकी अवस्था है। इसे महानन्द भी कहते हैं।

परशुराम—जमदग्निके औरत रेणुकाके पुत्र। ये अपने पाँच भाइयोंमेंसे सबसे छोटे थे। इनके भाई थे—हमध्वान्, सुलेष्, वसु और विभावसु। बैर शूरज नृत्याया पुनर्वसु गच्छत्रमें इनका जन्म हुआ था। इन्होंने गन्धमादन पर्वतपर तपस्या करके महादेवजीसे अस्त्र-विद्या सीखी और गणेशजीसे परशुविद्या सीखी। इसलिये परशुराम कहलाते हैं। एक बार इनकी माता रेणुकाने नदीमें चित्ररथको अपनी छाँके साथ विदार करते देखा और वहाँसे कामोद्भिन्न होकर घर आईं। जमदग्निकी इसपर क्रोध हुआ और उन्होंने यारी-यारीसे अपने पुत्रोंको आज्ञा दी कि माताका यथ कर डालो। अन्य चारों भाइयोंने तो पिताका कहना नहीं माना पर परशुरामने पिताकी आज्ञासे माताका तिर काट डाला। इसपर प्रसन्न होकर जमदग्निने वर माँगनेके लिये कहा। परशुरामने कहा—मेरी माताको त्रिदा दीक्षिण उन्हें परमायु दीक्षिण, मेरे भाइयोंको चैतन कर दीक्षिण और ऐसा दीक्षिण कि युद्धमें मेरे सामने कोई न डटे। जमदग्निने ऐसाही पुर दिया। एक बार हैहय रागा कार्तवीर्य सहस्राहुंन जमदग्निसे आश्रयमें आया। रेणुकाने उसका स्वागत किया किन्तु वह मदान्ध होकर वृषोंको उजाड़कर होमधेनुका यज्ञका खेर बल दिया। परशुरामको ज्ञात हुआ तो उन्होंने तुरन्त आकर कार्तवीर्यको सहस्रां भुजाण् काट डालीं। इनके बदलेमें कार्तवीर्यके पुत्रमिथयाने जमदग्निको मार डाला। इसपर क्रुद्ध होकर परशुरामने ऋषियोंके नाशनाश प्रण किया और ऋष ऋषियोंको मार डाला। जब हम भरताकी निन्दा महायोंमें होने लगी तब ये तपस्याके लिये वनमें चले गए। वहाँ इनके पाँच पराशुने यह कहकर इन्हें

उत्तेजित किया कि यथातिके यज्ञमें अभी बहुतसे राजा आए थे इसलिये आपको प्रतिज्ञा प्यर्थ हुई है। इसपर उन्होंने पुनः ऋषियोंका नाश प्रारंभ किया और यह सब कर चुकनेपर सारी पृथ्वी करयणको दान दे दी। करयणने वचे हुए ऋषियोंका रक्षाके लिये परशुरामसे कहा— यह पृथिवी हमारी हो चुकी, अब तुम जात्र दक्षिणमें रहो। तब वे समुद्रके तटपर शूरपारक नामक स्थानमें रहने लगे। परशुरामने २१ बार पृथिवीको निःश्रुत्रिय करके समान्तपंचक (५ ताल) अधिरसे भर दिए और उन्हीं तालोंमें तपश्च करके अपने पितामह महर्षि ऋचीकका दर्शन पाया था जिसमें ऋचीकने परशुरामको श्रुत्रिय-यथ करनेसे रोक दिया। बनारस जिलेमें तुर्षीपारके पास वैराग्यका नाम भागवपुर है। कहा जाता है कि वहाँ परशुरामका जन्म हुआ था और वहाँसे तीन कोस पश्चिममें रनाद नामक तालमें ही सहस्राहुंनका यथ हुआ था। इनमें मादण्य और श्रुत्रिय दोनों अंश थे क्योंकि इनके पिता मादण्य थे और माता श्रुत्रिया।

परा—^१, नाभि रूपी मूलाधार चक्रके पहले-पहले निकलनेवाली वाणी जो परा, पर्यन्ती, मध्यमा और वैतरिनीसे सबसे पहली है।
२. मग्न ज्ञान प्राप्त करनेवाली उपनिषद् विद्या या मग्न विद्या।

परिग्रमा—१. किम्ब पूजनीय व्यक्ति या स्थानके चारों ओर दाहिनी ओरसे घूमना।
२. देवमन्दिरके चारों ओर घूमनेके लिये घना हुई गली।

पारिपार्वक—मूलधारके पाम रहनेवाला एक नट। इसे पारिपार्विक भी कहते हैं।

परिदह—बड़ पवन जो प्रातःकालीन पवनपर रहता है, आवाग-गंगाकी बढ़ावा है और शुक

कारेको घुमाता है। आठ प्रधान पवन ये हैं—
आबह, प्रबह, उद्बह, सम्बह, सुबह, परिवह और
परावह।

पलास—बाक या किंशुक। इसके पत्ते चीड़े
गोल और एक डंठलमें तीन लगते हैं। गर्मिमें इसमें
जाल फूल लगते हैं जिसे टेसू कहते हैं, जिसे
पकानेसे पीला रंग निकलता है। उस पीले रंगसे
लोग ढोली खेलते हैं। इसके पत्ते और जड़में
बड़ा गुण होता है।

पवन—(पौच) प्राण, अपान, समान,
उदान और व्यान। नाभमें स्थित पवन प्राण,
गुदा आदि स्थानोंमें अपान, अन्य जलादिकी
पचानेवाला समान, कण्ठमें उदान, सब
नाड़ियोंमें व्यान है। सांख्यके आचार्योंमें नाग,
कूर्म, गृक, देवदत्त और धनेजय नामक पौच वायु
माने हैं। उगजानेवाले वायुका नाम नाग, अग्नि
खोजनेवालेका नाम कूर्म, भूज उत्पन्न करनेवालेका
नाम गृक, जैभाई उत्पन्न करनेवालेका नाम
देवदत्त और शरीर पोषण करनेवाले वायुका
धनेजय।

पवन—(४९) प्रलयकालके पवन।

पश्यन्ती—मूलाधारसे पहले उठा हुआ
बह नागरूप धर्य था वायो जो हृदयमें पहुँच
जाती है।

पाटल—१. गुलाबका फूल। २. गुलाबी
रंग।

पाताल—शुष्कीके नीचेके सात खोकोमेंसे
सातवें कोक। ये कोक हैं—अतल, वितल, सुतल,
तलातल, महातल, रसातल और पाताल (पद्म-
पुराण)। पाताल भी सात माने गए हैं—अतल,
वितल, वितल, गभस्त्रिमह, तल, सुतल और
पाताल। (शम्भुदावली) ये पाताल अनेक

अथन, उद्यान, उपवन आदिसे सुशोभित हैं। ये
सन स्वर्गलोकसे भी बढ़कर हैं। इनमें महानाग
और सर्प निवास करते हैं यहाँ चन्द्रमा सूर्यप्रकाश
देते हैं, गर्मी सर्दों नहीं होती।

पाण्ड्य—भारतमें धुर दक्षिणका भाग
जिसमें वर्तमान त्रिहयरापुर, मद्रासका दक्षिणी
भाग और कोचीनका राज्य पड़ता है।

पातिग्रन्थ—अपने पक्षिमें शुद्ध निष्ठा रखकर
पक्षिको ही देवता और सर्वरूप माननेका भाव।

पाश—पैर धुलानेके लिये जल।

पारसिक—भारतके पश्चिममें पारस व
ईरान देाके निवासी जो पहले अग्निपूजक थे और
अब मुसलमान हैं।

पारिजात—समुद्र-मन्थनसे निकला हुआ
वृक्ष। यह इन्द्रकी नगरी अमरावतीमें लगा दिया
गया था जिसे श्रीकृष्णजी सारथीभाषाके कहनेसे
द्वारिका ले आए।

पिएडदान—पितरोंको तृप्त करनेके लिये
भात, मधु, शकर, तिल और घीका पियव
दिया जाता है।

पिनाक—महादेवकीका धनुष जो उन्होंने
प्रसन्न होकर जन्मको दिया था।

पिशाच—१. कच्चा मांस खानेवाले।
२. एक हीन देवयोगि। ये अत्यन्त अपवित्र
और गन्दे ब्रह्मण गए हैं।

पंसम्न—गर्भके तीसरे महीनेमें पुन
सन्तान प्रसव करानेके लिये यह संस्कार कराया
जाता है।

पुच्छलतारा—धूपकेतु । एक प्रकारका अल्पतम चमकदार तारा जिसके पीछे लंबी पूँछ दिखाई देती है । कहा जाता है—जय ये दिखाई देता है तब पृथ्वीपर कोई न कोई उपद्रव होता है ।

पुत्रेष्टि—(यज्ञ) पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छासे जो यज्ञ किया जाता है ।

पुनर्जन्तु—२० नक्षत्रोंमेंसे सातवाँ नक्षत्र । इसकी आहुति धनुषके समान, पँच तारांसे युक्त है । इसके पहले तीन चरणोंमें जन्म लेनेसे मिथुन राशि, और चौथे चरणमें कर्क राशि होती है । इस नक्षत्रमेंजो जन्म लेता है वह बहुत भिन्नवाला, शास्त्र पढ़नेवाला, रसोंसे प्रेम करनेवाला, दाता, प्रतापी, और भूस्वामी होता है ।

पुरु—ज्योतिषके सभसे छोटे पुत्र जिन्होंने अपने पिताको शपथ यांत्रिक शक्ति किया था । इन्हींसे चंद्रवंशी क्षत्रियोंकी उत्पत्ति हुई है ।

पुरोहित—जो हित करनेवाला, वेद स्मृति जाननेवाला, साधवादी, पवित्र, भाग्य कर्म करनेवाला, निर्मल आचरण करनेवाला, आपत्ति दूर करनेवाला सौम्य होता है ।

पुलस्त्य—मन्त्रके मानस पुत्र और सप्तपिपोंमेंसे एक ऋषि त्रिनकी गिनती प्रजापतियोंमें भी होती है । इन्हींमें मन्त्रादि पुराण सुनकर उनका प्रचार पृथ्वीपर किया था । विप्रवाके पिता तथा कुशर और राजशुके पितामह थे ।

पुण्ड्र—कुशरका रिमान, जो इन्द्रानुसार चलता था । रायमाने यह रिमान कुशरसे छीन लिया था किन्तु रामने रायशरभके उपरान्त कुशरको लौटा दिया था ।

पुण्ड्ररावर्तक—पुण्ड्र शर्षाङ्ग जलाशय, यावर्तक शर्षाङ्ग समुद्र या नदीमें पड़ी हुई भँवर

जिनमें भाप उठनेसे वादल बनते हैं । ज्योतिष तन्त्रमें शार्पण, सम्यक, पुण्ड्र और द्रोण नामक चार प्रकारके मेघोंका उल्लेख किया गया है । इनमेंसे शार्पण-मेघ निर्मल होता है । संवत् बहुत जलवाला होता है । पुण्ड्र मयंकर जलवाला होता है और द्रोण सब प्रकारके धान्योंकी पशनेवाला होता है—

शार्पणो निर्मलो मेघः सम्यकश्च पण्डकः ।

पुण्ड्रो दुष्कर-जलो द्रोणः शस्य-मयूरकः ॥

[काष्ठिदासने शार्पण वंशके निर्मल मेघ और पुण्ड्र नामक भयंकर जल उरसानेवाले मेघको ही दूत बनाकर भेजा है । क्योंकि इनमेंसे एक प्रजाके लिये निरयंक है, दूसरा मयंकर है ।]

पुष्य—२० नक्षत्रोंमें आठवाँ नक्षत्र । इसकी आहुति वायुके समान है । सब पुष्य कार्य इसी नक्षत्रमें किए जाते हैं । यह नक्षत्र कर्क राशिमें पड़ता है । इसमें जन्म लेनेवाला सुदिमान, वृत्तज्ञ, धनधान्ययुक्त, परम विद्वान, आस्तिक, पिता-माताका भक्त, अभिनय-कुशल और सम्पन्न होता है । इस नक्षत्रमें संग्रहस्तान करनेसे करोड़ों कुर्कोंका उद्धार हो जाता है ।

पृथु—प्रेतापुत्रके भूयवंशी पौत्रर्षे राजा । जब राजा योगेन्द्रा अपुत्र वैद्वान्त हो गया तब माहाशयोंने इनके शैलों हाथ दिलाए । इनके दाहिने हाथमें पृथु उत्पन्न हुए, बाएँसे एक घी शर्षि हुई और इन दोनोंका पान्तर विवाह करा दिया गया । जब पृथुका राज्याभिषेक हुआ तब पृथ्वीने अन्न उत्पन्न होना बन्द होगया । पृथुने ऋतु अपने धनुषपर बाण चलाकर पृथ्वीको दीवापा और कहा—तुम अन्न क्यों नहीं उत्पन्न करती हो । तब पृथ्वीने कहा—मन्त्राने मुझपर जो घोष-पिपों आदि अन्न की घी उतका त्वोग दृष्टायोग

करने लगे। प्रजापालन और लोकहितका किसीको ध्यान नहीं है इसी कारण मोंने सब शोपधियोंको अपने उदरमें रत लिया है। अब थाप राजा हो गए इसलिये कोई बड़दा, दुहनेका घर्तन और दुहने-वाला सदा कोजिए। मुझे ऐसा समतल बना रोजिए कि घर्तका जल गिरकर समान रूपसे फैल जाय। तब पृथुने मनुको बड़दा बनाया और अपने हाथपर सब शोपधियाँ दूह लीं। इसके पश्चात् अनेक भूधियोंने अनेक प्रकारसे अनेक वस्तुओंको बड़दा बनाकर पृथुको दूहा। हिमालयको बड़दा बनाकर पर्वतोंने भी अनेक रत्न बुह जिए थे। समीसे पृथ्वीका नाम दुहिता पडा और पृथ्वी धान्यपूर्णा हो गई। यह सब करके पृथुने ९९ अधमेध यज्ञ किए। जब सोनीं यज्ञ कर रहे थे तब इन्द्र उनका घोड़ा लेकर भागे। पृथुके पीड़ा करनेपर इन्द्रने जो अनेक रूप धारण किए उन्हांसे जैन, बौद्ध, कारालिक आदि मतोंकी सृष्टि हुई। किन्तु पृथुने इन्द्रसे घोड़ा छोन लिया और इनका नाम विजिताथ पडा। इस यज्ञमें पृथुने इन्द्रको मन्त्र द्वारा भस्म करना चाहा पर मन्त्राने आकर मेल करा दिया। यह समाप्त करके पृथुने सनत्कुमारसे ज्ञान प्राप्त किया।

प्रणव—शोकार। शकारसे विष्णु, उकारसे महेश्वर और मकारसे ब्रह्मा। अतः शोकार कहनेसे तीनोंका स्मरण होता है। मनुके अनुसार वेदके पहले और पीछे प्रणवका उच्चारण कर लेना चाहिए। आकार और अथ ये दो शब्द ब्रह्माका कण्ठ श्रेष्ठ कर बाहर निकले थे इसीसे ये ब्रह्मल-जनक कहे जाते हैं। प्रणवके कारण मन्त्र और किमाके सब दोष दूर हो जाते हैं।

प्रतिपदा—प्रत्येक पद्यकी पहिली तिथि (प्रतिपद्)। प्रतिपद् तिथिका नाम नन्दा भी है। प्रतिपद्यको मेल लगाना, यात्र बनवाना और

कोहवा पाना निषिद्ध यज्ञाया है। प्रतिपदाको जो जन्म लेता है वह मणि आदिसे संयुक्त, मनोहर कान्तिवान्ता, प्रतापशाली और कुतका उद्धारक होता है।

प्रतिष्ठानपुरी—चन्द्रवंशी राजा पुरुरवाकी राजधानी गंगा जमुनाके संगमपर थी जहाँ अब कुँसी है।

प्रतिहार—१. द्वारपाल। २. राज कर्मचारी जो सदा राजाओंके पास रहने थे और सब प्रकारके समाचार सुनाया करते थे। ये प्रायः पटे-लिले ब्राह्मण या राजपरिवारके होते थे।

प्रतिहारी—(देखो प्रतिहार)

प्रत्यय—श्राकारणमें वह अक्षर जो शब्दके अन्तमें जोड़ देनेसे अर्थकी विशेषता उत्पन्न करता है। जैसे समर्थ शब्दमें 'ता' लगा देनेसे गुणका बोध कराता है।

प्रदक्षिणा—देवमूर्ति या पूज्य पुरुषकी दाहिनी ओरसे उसके चारों ओर घूमना। देवीकी प्रदक्षिणा एक बार, सूर्यकी सान बार, विनायककी तीन बार, विष्णुकी बार बार और महादेवकी आधे बार करनी चाहिए। कालिकापुराणमें लिखा है कि दाहिना हाथ कैलाश और सिर भुक्तकर देवताको दाहिनी ओर करके एक या तीन बार उनकी परिक्रमा की जाती है।

प्रद्योत—उजयिनीके राजा जो विक्रमकी गताब्दीसे लगभग १०० वर्ष पूर्व राज्य करते थे। इनका नाम पद्य प्रद्योत भी है। इन्दीकी कन्या वासवदत्ताका द्रव्य वात्स्य उदयनने क्रिया था।

प्रमय—१. महादेवजीके मुखके फेलेसे बर्तिस करोड़ प्रमथोंकी सृष्टि हुई है। २. महा-

देवजीके रोज-कूट और विहारमें सहायता देनेवाले उनके गण । ये सब विचित्र आभरणामें अलङ्कृत, जटाशूट और अर्धचन्द्र धारण किए हुए उजले वृषभर चड़े हुए उमाके समान सुन्दरी कामिनिवाका साथ लेकर पार्वती और महादेवके पाँडे-पाँडे उनके विहारमें साथ रहते हैं और जब महादेव पार्वतीजी एकान्त विहार करते हैं तब वे द्वारकी रक्षा करते हैं । ३ शिवके पार्वती जी हास्परसके अधिष्ठाता देवता कहलाते हैं ।

प्रसद-वन—रत्नरामकी कुलपत्नी ।

प्रसोद-वन—मानन्द या विहार करनेका उपवन ।

प्रलय—१. सम्पूर्ण सृष्टिका विनाश । यह चार प्रकारमें होता है—नित्य, निमित्तिक, प्राकृत और प्राण्यन्तिक—

नित्य निमित्तिक चैत्र प्राण्यन्तिकी तथा ।

विश्व सकीर्त्यत नाज्ञा मुनिमि प्रति मध्वर ॥

लोकमें जो यशस्वरूप हुआ करता है वह विषय प्रलय है । कल्पके अन्तमें तीनों लोकोंका जो क्षय होता है यह निमित्तिक या प्राज्ञ प्रलय कहलाता है । जिन समय प्रकृतिके महदादि विशेष तत्त्व विजाय हो जाते हैं वह प्राकृतिक प्रलय कहलाता है । ज्ञानकी पूर्णवस्था प्राप्त होनेपर प्राज्ञ या विचित्र लोभ हो जाना प्राण्यन्तिक प्रलय है ।

प्रदेशक—नदयमें बह स्थल जहाँ दो अशोकके बीचसे घटनाका परिचय कोई पात्र अपने वाता-तार द्वारा सूचित करते हैं ।

प्रयाग—१ शृंगा । २ पत्तको कोयलें ।

प्राग्भ्योतिष—प्रायाम देश जो भारतवर्ष पूर्वमें अवस्थित है ।

प्राणायाम—नाकसे प्राणवायुको भीतर खींचना, रोकना और बाहर निकाल देना प्राणायाम कहलाता है । इसका नियम यह है—जब ३२ गिनते हुए साँस भीतर मीचनी चाहिये तो ६३ तक गिनकर उसे रोक रचना चाहिये और १६ गिनकर उसे धीरे-धीरे छोड़ना चाहिये । तब लोचते हुए या छोड़ते हुए शोभता गढ़ा करना चाहिये अन्यथा यकी हानि होती है और अनेक रोग हो जाते हैं ।

प्रियंगु—एक प्रकारकी सुगन्धित जड़ी जिसे मस्कुतमें फलनी और पांता भी कहते हैं । यह भारतके पश्चिमी तटके देशोंमें और सिवाल, पिनापुर, जाया, सुमात्रा, मलाया में होता है । इसका फल मोटा होता है ।

प्रियाल—इसे मस्कुतमें अलङ्क भी कहते हैं । इसीका बीज चिरीमो कहलाता है । इसका शूल विन्ध्यके दक्षिणके जंगलमें होता है । इसमेंसे यदिया गोंद निकलता है ।

व

वक्रुत—मौलमिरीका पद । इसके पृथ्वीकी सुगन्धि बड़ी मोठी होती है । भारतमें प्राय सभी स्थानोंमें पाया जाता है । इसके लाल रसमें रेशमी और सूती कपड़े रंगे जाते हैं । यह गर्मीमें फूलता है और फूल निरंतर रुदने रहते हैं । इसमें चञ्चलता है जो पकने पर खाली भी जागता है ।

वक्रानर—एक चार भद्रि और भयो-नित्र पुत्रकी हृद्यामें अपना वपस्थल मयने खने । इसमें जो ज्ञानामय पुरुष उत्पन्न हुआ करते पितृत्वमें प्रार्थना की कि मैं भूलने व्याकुल हूँ, मुझे जगत् भङ्ग करनेकी आज्ञा मिले । मन्नाता यह सुनकर भीरके पाम गण और उनसे

कहा कि अपने पुत्रको संभालिए। श्रीने कहा—
आपही कुछ उपाय त्रिनालिए। प्रज्ञा बोले—
समुद्रमें इन्द्रपत्नी यदुवाके मुखमें इसका बीज
होगा और समुद्रके जलरूपी हविसे इसका भुग
मितेगा और यह यदुवानल कहलायेगा। सृष्टिके
अन्तमें यही यदुवानल देवासुरोंको भक्षण कर
जायगा।

बदरिकाश्रम—हिमालय पर्वतपर कण्वाधम
और नन्द पर्वतके बीच वैष्णव तीर्थ है जहाँ नर-
नारायण अर्जुनने तपस्या की थी और श्रीकृष्ण
भी उनके साथ थे। (देखो नर-नारायण)

बन्धुजीव — या बन्धूक — दुपहरियाका
फूल। दुपहरियाका पौधा। यह फूल चार
प्रकारका होता है। गोला, रवेत, पीला और
लाल। छोटी कटोरीके आकारका अत्यन्त लाल फूल
लगभग ६ से १० इंच तक लम्बी शाखाओंमें
लगता है, पत्ते छोटे-छोटे और कोमल होते हैं,
इसे संस्कृतमें रक्तक, जीवन, बन्धूक, बन्धुल,
मण्पन्दिन, हरिमिय, रक्तपुष्प और ओष्ठपुष्प
भी कहते हैं।

बन्धूक—(देखो बन्धुजीव)

बलराम—श्रीकृष्णजीके बड़े भाई जो
रोहिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। वसुदेवकी पत्नी
रोहिणी गोकुलमें रहती थी। जब देवकीको
कारावासमें सातर्षी गर्भ हुआ तब महाभायाने
कंसके भयसे वह गर्भ रोहिणीके उदरमें पहुँचा
दिया। इसी गर्भके संकषणके कारण उनका नाम
संकषण भी पड़ा। उनका नाम बलदेव था।
बलेन दीन्यतीति बलदेवः। अनन्त शेषके अंशसे
जन्म लेनेके कारण वे शेषावतार भी माने जाते
हैं। हल धारण करनेके कारण हली, नीला बल
पहननेके कारण शिथिलास भी कहलाते हैं।
एगकी पत्नीका नाम देवती था। गर्गमुनिने
एगका नामकरण किया था और सान्दीवनि मुनि

इनके गुरु थे। यदुकुल ध्वंस हो जानेपर जब
इन्होंने योगायन साधा तब इनके शरीरमेंसे
सहस्र लाल कणोंवाला एक वदामा रवेत सर्प
निकलकर समुद्रमें पड़ा गया। कुरुराज दुर्योधन
इसका शिष्य था। इनका ध्यान इस प्रकार
किया जाता है—

यत्तदेयं दिवाहृत्तं शंखकुन्देन्दु सतिमम् ।

यामे हलायुधवरं मुसल दक्षिणे करे ॥

हालालीलं नीलवस्त्रं हेलापन्तं समरेत्तरम् ।

यज्ञा—(विद्या) यह विद्या ब्रह्मकन्या
मानी जाती है। विश्वामित्रने रामको यह विद्या
सिखाई थी जिसके प्रभावसे युद्धमें योद्धाको
भूख प्यास नहीं लगती थी। यज्ञा और अतिबला
विद्या समस्त ज्ञानकी मातृस्वरूपिणी है।

बलि—१. देवता, पितर, यक्ष, भूत-प्रेत
आदिके निमित्त किसी विशेष स्थानपर किसी
विशेष कामनासे जो चढ़ाया जाता है उसे काम्य-
बलि कहते हैं। २. किसी देवताके लिए किसी
विशेष उद्देश्यसे किसी वीरका पथ किया जाता है
उसे भी बलि कहते हैं। दक्षिणमार्गी लोग कृष्णपत्र
आदि काटकर बलि चढ़ा देते हैं। ३. प्रजापदके
पौत्र विरोचनके पुत्र तथा पातालके राजा बलि
जिन्हें बौध्ने के लिये स्वर्च विष्णु भगवानने
वामन रूप धारण किया था। बलिनने अग्रभेष
करके अब बहुत दान देना प्रारंभ किया तब
विष्णु भगवान वामनरूप धारण करके यहाँ
आए और तीन पैर भूमि माँगी। शुक्राचार्य
संस्कृतज्ञ पहचान गए और बलिको दान देनेसे
रोक। किन्तु बलिनने कहा—मैं पचन दे चुका हूँ।
मैं अचरय दान दूँगा। तब शुक्राचार्यने शाप दिया
कि मेरे पचनोंकी अवज्ञा करनेके कारण तू श्रीअष्ट
हो जा। किन्तु बलिनने शपथकित होकर विष्णुकी
पूजा की और कहा—भूमि माप लीगिए। विष्णु

मगवान यज्ञे लगे और उन्होंने एक पैरमे समस्त भूमि, शरीरसे आकार और दोनों मुजाओंमें दिशाओंको और दूसरे पैरसे स्वर्ग नाप लिया—तामरे पैरके लिये कोई स्थान नहीं मिला। तब विष्णुने कहा—तुम्हारे वचन पूर्ण नहीं हुए इसलिए तुम नरक जानेकी तैयारी करो। यल्लि बोले—मैं अक्षय्य नहीं बोलता। आग्ने स्वर्ण कपट रूप धारण किया है। अतः तामरा चरण मेरे मस्तकपर रख खोजिए। विष्णु वने प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—मैं तुम्हें वह स्थान दूँगा जो देवताओंको भी अभाष्य है। तुम विधकर्मों द्वारा बनाए हुए सुतत्रमें जाकर रहो, मैं कीमुद्रिकी गदासे तुम्हारा रक्षा करूँगा और तमीमें विष्णु भगवान यल्लिके यहाँ द्वारपाल बनकर रहते हैं।

घाज—मर्दमले रंगका काली पीठ और लाल श्रोता वाला धीनये छोटा एक शिकारी पक्षी जो आकाशमें उड़ता हुई चिड़ियोंको मारकर पकड़ लेता है। पक्षियोंका शिकार करनेवाले इसे पाखते हैं।

घारहसिंगा—हरिणकी जातिकका एक पशु जो सोत-घार फुट ऊँचा और ७-८ फुट लंबा होता है। नर-हरिणकी सींगमें कई शाखाएँ निकलती हैं इसीसे घारहसिंगा कहलाने हैं। इन सींगोंपर कोमल चमड़ा रहता है जो हर साल फाल्गुन या वैश्रमें उतरता है और सींगमें से एक नई शाखा निकलती है जो वक्र, कार्णिक तक पूर्ण बढ़ जाती है। मांशके सींग नहीं होते। ये शैव धाराधनमें बपना देता हैं।

घालगिर्य (गृधि)—जग्राके रोमरूपमे उत्पन्न होनेवाले माट हज्जर मुनि जो चीजोंमें भंगदंडे परावर हैं। (महाभारत, विष्णु पुराण) ये सब बड़े तपस्वी और ऊपरता हैं और

मनुकी मार्ग सन्ततिके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं। ये सूर्यको मार्ग दिखाते चरते हैं।

वाल्लि—मेरु पर्वतपर योगाभ्यास करते समय भग्राको शीलमे सहसा श्रौंकी दूँइ टपकने मे ऋचराज नामका वानर उत्पन्न हुआ जिसे प्रज्ञाने सुमेरु पर्वतपर फल-फूल खाने और अपने पाम रहनेको कहा। एक दिन वह वानर प्यासके मारे मुगेरुके सरोवरमें अपनी छाया देखकर सोचने लगा—यह मेरा शयु है। वह ऋत पानोंमें डूब पड़ा और निकलनेपर सुन्दर ली घन गया। इन्द्र और सूर्य उसपर मोहित हो गए। इन्द्रने उसके मस्तकपर और सूर्यने उसकी ग्रीवापर अपना बाँध छोड़ा। इसी इन्द्रके बाँधमे वाल्लिका जन्म हुआ और सूर्यके बाँधमे सुप्रोत्र। कुछ दिनमें वह पित वानर हो गया और दोनों पुत्रोंको लेकर प्रज्ञाके पाम पहुँचा। प्रज्ञाने उन दोनों पुत्रोंको किष्किन्धामें राख करनेकी आज्ञा दी जहाँ विधामित्रने एक सुन्दर नगरी बसा रखी थी। अत्रयी रात्री ताराके साथ वाल्लि और अपनी ली रोमाके साथ सुप्रोत्र वहाँ रहने लगे। एक दिन वहाँ एक दैत्य थाया। इसमे लडना हुआ वाल्लि पर्वतकी गुहामें घुस गया। जब बहुत दिन पोंत जानेपर भी वाल्लि नहीं लौटा और उस राँइमेंमे रककी धार निरती तर सुप्रोत्रने ममका कि वाल्लि मारा गया। वह गुहाके द्वारपर एक पत्थर रखकर किष्किन्धका राजा हों गया और उसने तारामे शिराह कर लिया। जब वाल्लि लौटा तो उमने राख भी धीन लिया और अपनी परती तथा सुप्रोत्रको परती भी द्योत ली। दरके मारे सुप्रोत्र मर्नगके घात्रममें पहुँच गया। उसी बाँध एक धार राखण उमे हरानेके लिये उसके पाम पहुँचा तर राखणको कॉन्धमें दबाकर वाल्लि तप्या करता रहा। इसी समय एक दिन अश्वर पाकर राखण भग निकला। मोताको दूँइते हुए जब राम वहाँ

पहुँचे तब उन्होंने सुग्रीवसे मित्रता की और पालिका बंधकर वहाँका राज्य सुग्रीवको दे दिया। पालिका पुत्र अंगद भी वहाँ पराक्रमी था। उसने राम-रावण युद्धमें रामकी बड़ी सहायता की।

विष्णुः—पैरकी उँवलिपोंमें पहने जानेवाले दुँवरूदार आभूषण जो चन्द्रके सम्यक थकते हैं।

विन्ध्याः—चन्द्रके नामका कवच जो पकनेपर गहरा लाल हो जाता है। इसकी उपमा सुन्दरियोंके श्रोत्रमे दी जाती है।

वीरबहूटी—ररछातमें सहस्रोंकी संख्यामें निकलकर रँगनेवाला एक कीड़ा जिसका ऊपरी भाग गहरे लाल रंगके मण्डपनी रोपोंसे ढँका होता है। इसे इन्द्रबधू और रामकी गुदिया भी कहते हैं।

बुधः—नक्षत्रहोमें चौथा ग्रह। कहा जाता है कि चन्द्रमाने देवगुरु बृहस्पतिकी पत्नी ताराको हर लिया था। मङ्गलने तथा देवर्षियोंके चन्द्रको बहुत समझाया पर वह नहीं माना। देवोंके गुरु शुक्र भी चन्द्रके सहायक हुए और उनके कारण सभी प्रधान दानव भी चन्द्रके पक्षमें आ गए। बृहस्पति और चन्द्रमें बड़ा युद्ध हुआ किन्तु मङ्गलके बीच बचाव करनेसे बृहस्पतिकी तारा दिला दी गई। किन्तु वह गर्भिणी थी। बृहस्पतिने कहा कि हमारे क्षेत्रमें दूसरेका पुत्र धारण करना तुम्हें उचित नहीं है। यह सुनकर ताराने भूँजके पूजेमें वह गर्भ गिरा दिया जिससे उत्पन्न तेजस्वी बुध उत्पन्न हुए। जब देवतारोंने तारासे पूजा कि वह सतान किसको है तब ताराने खिन्न होकर कहा—चन्द्र की। तब प्रसन्न होकर चन्द्रने बुधसे कहा—बुधजिमान है इसलिये तेरा नाम बुध है। इस ग्रहका रंग दूबके समान

गहरा हरा है। रवि और शुक्र इसके मित्र हैं, चन्द्र शत्रु है। इसकी आकृति घणुपके समान है। यह २५ दिनोंमें एक राशिका भोग करता है। बुधके नवग्रहमें उत्पन्न होनेवाला बालक स्थूल, धीर, सौम्य, दयालु, राजसेवी, प्रसन्न, चतुर, रुच्यपालक, अनेक वेशाधारो तथा रक्षाक्ष होता है। १२वें अंशमें उत्पन्न मनुष्य शास्त्रज्ञ, सुखी, दीर्घायु और बुद्धिमान होता है। १३वें अंशमें उत्पन्न अत्यन्त ऐश्वर्यशाली, सुखी तथा धनी होता है। बुध लोकोका मत है कि बुधकी माताका नाम रोहिणी है।

ब्रह्म—सत्य, रज और तम गुणोंसे परे, विशुद्ध, चिन् स्वरूप, चैतन्य स्वरूप ब्रह्म या ज्ञानमय परमात्मा जो सम्पूर्ण रूढिका कारण है। वहाँ केवल सत्य है।

ब्रह्मचर्य— ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, सन्यास, इन चार आश्रमोंमेंसे पहला आश्रम। पहले २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारणकर गुरुकुलमें शिक्षाअपन करते थे। अष्टांग नेधुनसे बचना ही इसकी विशेषता है। आठ मैथुन से हैं—हारण, कोर्तन, वेलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकथन, अश्ववसाय, क्रियानिबृति।

ब्रह्मतेजः—ब्राह्मणकी तपस्वाका तेज।

ब्रह्मर्षि—ब्राह्मण ऋषि।

ब्रह्मवर्चः—कुलेज, मत्स्य, पांपाल, सूरसेन देश, सरस्वती और टण्डरी नदियोंके बीचका देश। देवनिर्मित होनेके कारण अत्यन्त पवित्र माना जाता था और यहीँकी ब्राह्मण आदि जातियोंका आचरण ही सदाचार कहलाता था।

ब्रह्मार्कः—एक विशेष प्रकारका सव अश्लोमें श्रेष्ठ अन्न जो मंत्राने पवित्र करके चढाया जाता था।

भ

भगीरथ—शंशुमानके पौत्र और दिलीपके पुत्र । कपिलके शापमें जब सगरके साठ हजार पुत्र मरम हो गए तब उनका उद्धार करनेके लिये गंगाको ने पृथिवीपर लाए इसीलिये गंगाका नाम भगीरथी भी है ।

भद्रकाली—दुर्गाकी एक विशेष मूर्ति जो सोलह हाथमाली है, जिन्होंने महिषासुरको मार कर उसे सदा अपने चरणोंपर रहकर पूजित होनेका परदान दिया था ।

—(देखो कालिकापुराण)

भद्रपीठ—राजसिंहासन या यह सिंहासन जिसपर बैठकर राजा या देवताका अभिषेक किया जाता है ।

भरत-वाक्य—नाटकके अन्तमें जो मगला-त्मक आशीर्वाद कामना-कथन होता है ।

भागीरथी—(देखो गंगा और भगीरथ)

भिक्षु—एक नदी ।

भुजधन्ध—भुजाओंमें पहना जानेवाला विजापट या अन्तत नामक आभूषण । यह आभूषण स्त्री और पुरुष दोनों पहनते हैं । इसे बाजूबन्द या अगद भी कहते हैं ।

भुवन—भू भुव स्व मह जन तप और सत्य ये सात दृग्गोचक और अतल, सुतल, वितल, ममस्तितल, महातल, रसातल, पाताल । ये पाताल लोक हैं ।

भूल—भरनेके बाद मनुष्यका घाघ्ना प्रेत योनिमें जाकर अनेक प्रकारके उपद्रव करता है और लोगोंको कष्ट पहुँचाता है । उसकी श्रौचधि इस प्रकार है । श्वेत अथवागिताके मूलको पावसके पोए हुए पानीमें पीसकर उरतीका नम

खेनेसे भूतका उपद्रव शान्त हो जाता है । निचके साथ अगस्त्य पुष्यका नम भी भूतके उपद्रवको शान्त करता है ।

भृगु—१. भगवान् रुद्रने वारुणि मूर्तिधारण कर एक यज्ञका अनुष्ठान किया—इस यज्ञको देखनेके लिये सप्त, षष्ठ, दीक्षा, षत, दिग्पति, देवकन्या, देवपत्नी आई थी । प्रज्ञा उस समय आहुति कर रहे थे । देवको देखकर उनका वीर्य हललन हो गया । सूर्यने उस वीर्यको अग्निमें फेंक दिया । भज्ञाका वीर्य अग्निमें आहुति होते ही उसकी शिखासे भृगु, सधूस अगारसे अँगिरा, तिर्धून अंगारसे कविकी उत्पत्ति हुई । महादेवजीने कहा—यज्ञका अधिष्ठाता मैं हूँ । ये तीनों पुत्र मेरे हैं । यह सुनकर अग्निने कहा कि ये मेरे भगसे उत्पन्न हुए हैं अतः मेरे पुत्र हैं । प्रज्ञाने कहा—मेरे वीर्यसे इनकी उत्पत्ति हुई अतः ये मेरे पुत्र हैं । तब सप्त देवोंने मिलकर इस मगपेका इस प्रकार निपटारा किया । भृगु महादेवको, अँगिरा अग्निको और कवि भज्ञाको दे दिए गए । (भारत अ० पर्व) २. ये भज्ञाके मानस पुत्र थे । ये दस प्रजापतियोंमेंसे एक हैं । दसकी कन्या एयातिके साथ इनका विवाह हुआ । इनके गर्भसे लक्ष्मो कन्या तथा धाता और विधाता नामके दो पुत्र हुए । महात्मा मेरुकी आश्रति और नियति नामकी दो कन्याओंके साथ इन दोनों पुत्रोंका विवाह हुआ । धीरे २ इनका वंश विलुप्त होकर भार्गव नामसे प्रसिद्ध हुआ । भृगु धनुर्विद्याके प्रवर्तक भी थे ।

भृङ्ग—१. विजयना नामका कौड़ा । यह और कीचड़की एक प्रकार उनके सामने सूँघता हुआ उन्हें भी अपने समान बना खेता है । २ इन्द्र अदि देवताधामने तारकामुरके पथने लिये महादेवने उमारके गर्भ और हरके अंतममें एक पुत्रकी मायना की । महादेवजीने उसे स्वर्कार

करके उमाके साथ महासुरत श्रीवा प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार ३२ वर्ष बीत जानेपर सब देवता घबरा गये। अत्यन्त भयभीत होकर वे ब्रह्माके पास गए और कहा कि इस महासुरत श्रीवासे उमाके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होगा वह हम लोगोंके लिये तारकासुरसे भी बढ़कर भयावह होगा। तब ब्रह्माने इन्द्र और देवताओं के साथ महादेवजीके पास जाकर प्रार्थना की। महादेवजीने महासुरत श्रीवा स्थापकर इन देवोंसे आनेका कारण पूछा। देवताओंने कहा—हे महाराज आपको इस महासुरत श्रीवासे तीनों लोकों काँप गये हैं। अतः आप महामैथुन स्थापकर रति मात्रका अथशम्भन कीजिये। महादेवजीने कहा— यह सब मैं आप ही लोगोंके लिये कर रहा हूँ फिर भी आप लोगोंके कहनेसे उस महामैथुनका परिस्थान कर दूँगा। आप लोग इस महामैथुन-प्रसूत तेजको धारण कर सकनेवाले एक देवताको आदेश दीजिये। तब देवोंने अग्निको तैयार किया और महादेवजीने अग्निमें अपना तेज छोड़ा। अग्निमें छोड़े गए महादेवजीके तेजमेंसे दो परमाणु के चराचर तेज पर्वतके शिखरपर गिरा। उससे दो पुत्र उत्पन्न हुए। उसमेंसे एक भोरेके समान कृष्ण वर्णका था। अतः उसका नाम ब्रह्माने भृंगी रखा और दूसरा भले हुए भँजन जैसा काला था अतः उसका नाम महाकाल पड़ा। महादेवजीने उन दोनोंका पालन प्रमथ आदि गणों द्वारा कराया और अथर्षाणि विशेष यज्ञमें उनका पावन किया। बादमें महादेवजीने इन दोनोंको गणाधिपति बना कर क्षरपर नियुक्त कर दिया।

—(काविरापुराण)

भेद—साम, दाम, दण्ड और भेद नामके शत्रुको घरा करनेके चार उपायोंमें से तीसरा, जिस उपायके द्वारा शत्रु-दलमें से किसीको बझाकर उसे दसमें भिन्न किया जाय।

भोजपत्र—एक प्रकारके मकोले आकारके वृक्ष की छाल। जो हिमालय पर पशुत होता है।

ग

मगध—पठारसमे पूर्वका प्रदेश। वर्तमान बिहार मगध कहलाता है। तीर्थ-यात्राके अतिरिक्त यहाँ आना निरिद्ध है।

मगरमच्छ—१ मगर या घटियाल नामका एक प्रसिद्ध जलजन्तु। (दे० घटियाल) २—एक बड़ी मछली।

मंगलसुत्र—वह तागा जो किसी शुभाशुभ पर वेवताके प्रसादके रूपमें हाथमें बांधा जाता है।

मंगलाचारण—जो गीत-पाठ किसी शुभ-कार्यके पहिले किया जाता है। अन्य दिखनेके पहले इसोजिये मंगल किया जाता है कि उसका निर्विघ्न समाप्ति हो। "समाप्तिकामो मंगलमाचरोदिति धृतिः।" कार्यारम्भ, कार्यमध्य, कार्यसमाप्ति, इन तीनोंमें भी मंगल हो सकता है फिर भी कार्यारम्भमें मंगल करना शोभन है।

मन्त्री—१. छोटे पीपे या बत्ता आदिकी नई निकली हुई कलियों तथा शोषणों। २. कुछ विशेष वृक्षोंमें एक स्तंभमें लगे हुए बहुतसे छोटे-छोटे कूलोंका समूह।

मण्डिवन्ध—हाथकी कलाईमें जो आभूषण पहना जाता है उसे मण्डिवन्ध कहते हैं।

मण्डन—चमक-सूतके चारों ओर पहनेवाले घेरे।

मार्तण्ड (शुक्र) —एक ऋषि जो ब्राह्मण राजाके गर्भमें और नापितके पंथमें उत्पन्न हुए थे। मार्तण्डने भवना ही चतस्र सनक पर इनका जन्मजात संस्कार किया। पितार

कहतेपर एक दिन वे यज्ञोप सामान लेनेके लिये एक गंधेश्वर चढ़कर गए। उधर-उधर चलनेके कारण उस गंधेश्वर इन्होंने पूरा पीटा। उस गंधेश्वरी माता गंधीने हमको चोट देकर कहा कि यह ब्राह्मणका लडका नहीं है यह भूदका लडका है क्योंकि ब्राह्मण इतना निर्दयी नहीं होता। यह सुनकर इन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसी दिनसे वे ब्राह्मण्य प्रथम करनेके लिये तपस्या करने लगे। इन्द्रने बार-बार आकर वरदान देनेको कहा पर इन्होंने ब्राह्मणत्वके सिवा वरदान नहीं माँगा। इन्द्रने यह वर देनेमें अपनी शरामयता प्रकट की। अन्तमें इन्होंने यह वर माँगा कि मुझे ऐसा पत्नी बना दीजिए जिसकी सभी वर्याँ वाले पूजा करें। इन्द्रने वही वर दिया और वे छन्दोद्वैतके नामसे प्रसिद्ध हुए।

गद् — हाथियोंके गडस्पलमे बहनेवाला रस।

मदार — इसका बड़े बालुकामय प्रदेशमें प्रायः पाया जाता है। बरसातमें इसको पत्तियों भङ्ग जाती है। इसका दूसरा नाम अक्षय्य या आक भी है। महादेवजीपर इसका पूछ घनाया जाता है।

मध्यमा — पौँची अगुलियोंके बीचवाली अगुली।

मध्यम लय — गीतकी वह लय जो न अति तीव्र हो न अति मन्द।

मध्यलोक — पृथिवी। यह स्वर्ग और पातालके बीचमें पड़ता है इसीमे हमे मध्यलोक कहते हैं।

मनु — मन्नाके पुत्र और मानव जातिके आदि पुत्र, जो प्रजापति और धर्मशास्त्र-रचना होने

है। प्रथम रूपमें १४ मनु होते हैं—स्वामनुव, स्वारीचिधि, उग्रह, तामस, रैवत, चातुग, वैवस्वत, सात्रणि, दण-सात्रणि, ब्रह्म-मानणि, धर्म-सात्रणि, रुद्र-सात्रणि, देव सात्रणि और इन्द्र-सात्रणि। इस समय वैवस्वत मनुका युग चत्र रहा है। ये सातमें मनु चित्रस्वानुके पुत्र आन्व-देव हैं। इनके पुत्र इषागु, नाभाग, पृष्टदास्यति, नरिष्यन्त, नामाग, दिष्ट, करूप, पृथध और चतुमान हैं।

मंत्र — मन्वते गुप्त परिभाष्यते इति मंत्र। ऐसे वचन या शब्दमसूह जिनके जप या उच्चारणसे कोई कार्य सम्पन्न किया जाय। मंत्र केवल अधिकांशमें ही मियाया जाता है अतः इसे मंत्र कहते हैं। मंत्र, तंत्र और धर्ममें सम्ये अधिक शक्तियोंकी मंत्र ही माना जाता है। आदिक तन्त्रमें मिया है। “मन्वान् धारणे यस्मात्समाप्तमत्र प्रकीर्तित ॥” त्रिमके जपनेसे रक्षा हो उसे मंत्र कहते हैं। प्रथम व्यक्तिको मंत्रमे दीक्षित होना चाहिये। अदीक्षितके हाथका अन्न निहाके समान और जल मूदके समान है और उनका किया सब कार्य निष्फल समझा जाता है।

मंदरागल — वह पर्वत त्रिये सीधा लडा करके पारमागर मया गया था। यह पर्वत १ हजार योजन लीचे मडा हुआ था। त्रिपुके कहनेपर धामुकि इसे उपाकर लए और समुद्रके समय मयानी बनाकर मडा किया।

मन्दारिणी — १. नदी जो त्रिपुके पास होकर पड़ती है। यह त्रिपुके पर्वतमे ही निकली है। २. रमंगा इगरी संघर्ष १० हजार

योजन और चौड़ाई १ योजन है। इसका जल वृक्षके समान उनला और ऊँची लहरोवाला है। यह धार वैकुण्ठसे होती हुई स्वर्गलोक तक चली गई है।

मन्दार—एक देववृक्ष विशेष। यह वृक्ष बहुत ज़रूरी वस्तु है। इसका आकार मध्यम होता है। इसके उगनेके समय कँटे रहते हैं। वने हो जानेपर कँटे झड़ जाते हैं। यह वृक्ष भारतमें पानकी जगता तथा मिर्च वृक्षके चारों ओर फेरनेके काम आता है। यह विषनाशक है। इसके काजलसे खोलके सभी प्रकारके रोग नष्ट हो जाते हैं। इसका रस कुमिनाशक तथा रेवक दे तथा कान, दाँतके मसूढ़ेकी पीड़ामें लाभ पहुँचाता है।

मरुत—मणि विशेष। (देखो पन्ना)

मरोचिका—मृगवृक्षा। जल वा जलकी लहरोंकी वइ मिथ्या प्रतीति जो कर्मो-कर्मों मरुभूमिमें कहीं धूप पड़नेके समय होती है। गर्मोंके दिनोंमें जब वायुकी तहोका घनत्व उष्णताके कारण अल्पमान होता है तब पृथ्वीके निकटका वायु अधिक गर्मसे ऊपर उठना चाहता है, परन्तु ऊपरवाला तहँ उसे उठने नहीं देती। इसी कारण उस वायुकी लहरें पृथ्वीके समानान्तर बढ़ने लगती हैं। यही लहरें दूरसे देखनेपर जलकी धारासी दिखाई पड़ने लगती हैं। मृग इससे भावः धोषेमें आकर उसे पीनेके लिये दौड़ते हैं। इसीमे हमें मृगवृक्षा, मृगजल और मरोचिका भी कहते हैं।

मलयबामु—दक्षिण दिशाका पाण्डु। दक्षिणके भौतगिरिके घनद वृक्षकी सुगन्ध लेकर यह बाणु चरता है।

मलयददुर—पश्चिमी घाटकी दो पहाड़ियों जो कावेरीके दक्षिणमें पड़ती हैं।

मलयाचल—मलय पर्वत।

मल्लिका—बेला। जिससमय कामदेव महादेवकी भ्यान तोड़नेके लिये आए तो महादेवजीने ध्वजने पृथ्वी भेजसे उसे जला डाला। कामदेवके भरम होते ही उसका धनुषबाण पृथिवीपर गिर कर पाँच भागोंमें बँट गया। इसी धनुषकी मूठने मल्लिका, आदि वृक्षोंकी उत्पत्ति हुई।

(बामनपुराण १ अ०)

महाकाल—उज्जयिनी नगरीमें शिवाके पूव और पश्चिम मुक्तेश्वरघाटके दक्षिणमें महाकालका विशाल मन्दिर है। महाकालके दर्शनसे करोड़ों अधर्मोंका फल होता है।

महाकालं ततो गण्डेव् नियतो नियतारणः ।
कोटितीर्थमुपसृष्टस्य हयमेघफलं लभेत् ॥

कालिकादेवीकी पूजाके बाद दाहिनी ओर महाकालकी पूजाका विशेष माहुरूप है। भ्यानपूर्वक महाकालका मंत्र जपनेसे सत्य प्रकारकी सिद्धि होती है—मंत्र है—हूं ह्रीं वां रां लां वा कां महाकाल भैरव सर्वविघ्नान् नाशय नाशय ह्रीं कट् स्वाहा—

महाकालं यजेद् यन्नात् पश्चादेवो प्रपूजयेत् ।

महाकोशी—एक मदाका नाम।

महामणि—एक मूल्यवान् रत्न।

महेन्द्र—एक पर्वत। यह मात मन्वे पर्वतमें गिना जाता है।

हनुमानजी इसी पर्वतको लॉकर लंका गए थे। दक्षिणमें तिन्नेबल्लीके समीप इस पर्वतप्रान्तमें त्रिचेनगुडी नगर सोपुरयुक्त सुन्दर मन्दिरसे शोभित है तथा पश्चिममें त्रिषाङ्कुरकी थोर लन्दन मिशनरी सोसाइटीका प्राचीन आवास नगर-कोयल स्थित है। पर्वतपर कढ़वेकी खेतीके लिये जंगलका बहुत भाग काट दिया गया है।

मातलि—इन्द्रका सारथी।

माताएँ—[सात]

माझी माहेरवरी चैन्दी रौद्री वाराहिणी तथा।
कौवेरी चैव कीमारी, मातर सम्प्रकीर्तिता।
ये ही सात माताएँ हैं।

माधवी—एक पुष्पलता। यह चमेलाका एक भेद है। इसमें पुष्प अश्लेषे गन्ध देनेवाके होते हैं।

मानसरोवर—हिमालयके उत्तरमें कैलास पर्वतके दक्षिण भागमें अञ्जन नामक पर्वतके निकट वैद्युत प्रदेशमें पड़ता है। इसीमें सरयू नदी निकली है। इसके किनारे वैश्रज नामका उपवन है। यहाँ महापात नामका राक्षस रहता है। सिन्धु, शतद्रु, महापुत्र नदियाँ यहींसे निकली हैं। यहाँके ३० योजन विस्तृत इस सरोवरकी स्थापना की थी। इसके अनुपम सौन्दर्यको देखकर श्रद्धिपोंने इसे स्वर्ग कहा है।

माया—स्वप्न और इन्द्रजालकी तरह जिसका फल अचिन्तनीय है उसीको माया कहते हैं—

विचित्रकार्यकारण अचिन्तितफलमदा।

स्वप्नेन्द्रजालबल्लोके भाषा तेन प्रकीर्तितः ॥
प्रकृति, अविद्या, अज्ञान, अंधन, शक्ति और धृता भी इसीको कहते हैं।

माया-भृगु—सीताका हरण करनेके लिये रावणने अपने नाममा मारीचको स्वयंभुग बना कर भेजा था जिसने सीताको उसकी सात

खेनेके लिये मुग्ध हो गईं। वह रामको बहुत दूर तक ले गया। अन्तमें रामके हाथसे मारा गया। यह माराच, सुन्दका औरत पुत्र ताड़का राक्षसीके गर्भसे उत्पन्न हुआ था।

मायूरी—संगीतमें एक प्रकारकी मूर्च्छना।

मारिप—नाटकका सूत्रधार अथवा श्रेष्ठ व्यक्ति।

मारीच—१ मरीचिके पुत्र करयप।

२ ताड़काका पुत्र (देखो माया-भृगु)।

माला—सीमा राज्यका यह ३ देश जो नर्मदा नदीके उद्गमसे प्रारम्भ होकर विन्ध्याके पासतक फैला हुआ है।

मालती—एक प्रकारका श्वेत पंखद्वियों वाला फूल, जिसकी दयदल लगभग एक इंचकी होती है। जब फूल मूड़ जाते हैं तो वृक्षके नीचे फूलोंका त्रिछीना-सा त्रिष्ठ जाता है। इसका पौधा वर्षाक प्रारम्भमें लगाया जाता है। पद्म-पुराणमें लिखा है कि गौरी, लक्ष्मी और अज्ञा ये तीन देवियाँ धरती, मालती और तुलसी वृक्षके रूपमें भवतरित हुई हैं। मा अर्थात् लक्ष्मी-से उत्पन्न होनेके कारण इसका नाम मालती पड़ा। यह लता उद्यानोंमें लगाई जाती है और किसी बड़े पेड़ या मयदपपर चढ़ा दी जाती है।

मालिनी—१ धनदेवी, जो पार्यती जीकी सखी थीं। २ नदी, जिसके तटपर महर्षि कश्यपका आश्रम था और जो हिमालयकी तराईमें बहती है। विज्जनौर जिलेमें धनी तक यह नदी है।

मान्यरान—[पर्वत] अर्थात् प्रदेशके रनागिरि जिलेका एक भाग जिसके शीर्षमें जंगलोंसे घिरी हुई पहाड़ियाँ हैं।

माथिलापुरी—महाराज जनककी नगरी (देवो जनक और निमि।)

गुग्गुला—यह नायिका जिसको अपने शौचम-
के आगमनका ज्ञान न हो। इसके दो भेद हैं
[१] रबीया [२] परकीया।

गुरहण—१६ संस्कारोंमेंसे एक संस्कार,
जिसमें बालकका सिर मूँड़ा जाता है। यह
संस्कार यज्ञोपवीतसे पहले होता है।

गुरला—[नदी] नर्मदाका दूसरा नाम।

गूँज—एक प्रकारकी घास जिसमें डंठल या
टहनियों नहीं होतीं। जड़से बहुत पतली पतली
दो दो हाथ लम्बी पत्तियो निकली रहती हैं।
पत्तीके बीचमें एक डोरा नाँचेसे ऊपर तक होता
है। झाड़ीके बीचसे एक पतलीसी छुड़ी निकलती
है जिसके सिरे पर धूँसेसे फूल निकलते हैं। इसमें
सरकंडे-सो गाँठें नहीं होतीं। ब्राह्मणके उपनयन-
के समय बालकको गूँजकी मेखला पहनाई जाती
है। गूँजका रस्सियाँ भी बनाई जाती हैं।

गूल-प्रकृति—शाचाशक्ति, जिसके सदारे
पुरष या मादा सृष्टि करता है। यह अविकृति है।
जब प्रकृतिमें कोई विकार नहीं होता अर्थात्
जबजक सृष्टि नहीं होती तभी तक यह गूल
प्रकृति रहती है।

गृग-नृपणा—भरभूमिमें कहीं धूपके समय
जो चमक, जल या जलकी लहरोंके समान प्रतीत
होती है और जिसके भ्रमके कारण गृग उमकी
छोर दौड़ते हैं उसे गृग-नृपणा कहते हैं। गर्मीमें
जब घासकी चर्होंका घनाव गर्मीके कारण अस-
मान होता है तब पृथ्वीके पासका वायु गरम
होकर ऊपर उठना चाहता है परन्तु ऊपर वाली
चर्हें उसे उठने नहीं देतीं, इसलिये नाँचेवाली
वायु की लहरें पृथ्वीके समानांतर बहने लगती
हैं और दूरसे जलकी धारा सी दिखलाई
देती हैं।

गृदंग—दोलकमें कुछ लम्बा एक धाजा
जो पक्षी मिट्टीका होनेके कारण गृदंग कहलाता
है। जब चिचुरासुर भास गया तब उसके रणमें

पृथ्वीपर जो कीचड़ हो गया था उसीसे ब्रह्माने
गृदंग बनाया। उसी असुरके चमड़ेसे यह बना
गया। नखोंसे उसके पूंहे और डोरियाँ तथा
हड्डीसे उसके गट्टे बना दिए गए। उसका
विनाश करके जब महादेवजी नृत्य करने लगे थे
तब गणेशजीने उसीपर ताल दी थी। द्वापरमें
कृष्णजीकाके समयसे यह काठका बनाया जाने
लगा।

मेघनाद—रावणका पुत्र-यह मेघमें
छिपकर युद्ध किया करता था इसीसे मेघनाद
कहलाया। (देखो इन्द्रजित्)।

मेनका—अप्सरा, शकुन्तलाकी माता,
जिसने इन्द्रकी आज्ञासे विश्वामित्रका तप-भंग
किया था।

मेना—पार्वतीकी माता और हिमालयकी
पत्नी। मेना पूर्व जन्ममें दक्ष-कन्या सतीकी
सखी थीं। जब सतीने दशुके घर प्राण छोड़ा
तब मेनाने इस आशासे तपस्या की कि सती
मेरी कन्या हो। भगवती काली तपस्यासे प्रसन्न
हुई और मेनाके नाँगनेपर यह पर दिया कि
तुम्हारे एक सौ बलवान पुत्र होंगे और मैं ही
तुम्हारी कन्या हूँगी।

वामन पुराणमें लिखा है कि आपाद और
अगहनकी अभावस्थाको इन्द्रने अपने पितरोंको
भक्तिके साथ जो दिंड दिया था उससे प्रसन्न
होकर पितरोंने मेना नामकी मानसी कन्या
उत्पन्न की जिसका विवाह देवताओंने हिमा-
लयसे कर दिया।

मैनसिल—[मन-शिला] [१] एक
प्रकारकी धातु। यह मिट्टीकी तरह पोली होती
है और नेपालके पहाड़ोंमें बहुतपावसे होती है।
इसे मनोज्ञ, नागशिला, ईपाको शिला,
कदवाणिका, रोगशिला, सोला, दिग्दीपधि,
कुनटी, मनोगुप्त भी कहते हैं।

मैना—काले रंगका एक प्रकारका प्रसिद्ध पत्थी। इसकी चोंच नारंगी लिए हुए पीली होती है। यह पत्थी उतना सुन्दर न होनेपर भी सिरानेपर मनुष्यकी तरह मीठी बोली बोल सकता है। स्थान भेदसे मैनामें आकृतिगत बहुत फिर्कणता देखी जाती है। जावा, सुमात्रा और पूर्व समुद्रस्थ सभी द्वीपोंमें जो मैना पाई जाती है उसकी आकृति भारतीय पहाड़ी मैनासे स्वतंत्र है।

मैनाक—पुराणानुसार पर्वतका नाम जो हिमालयका पुत्र माना जाता है। कहते हैं कि इन्द्रसे डरकर यह पर्वत समुद्रमें जा दिया था। इस कारण यह अथवाक सपथ है। लंका जाते समय समुद्रकी आशंसे इसने हनुमानजीको आश्रय देना चाहा था।

मोक्ष—जब आत्मा सप प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होकर परमानन्दमें विलीन हो जाता है, उस अवस्थाको मोक्ष कहते हैं।

मोती—१ एक प्रसिद्ध बहुमूल्य रत्न, जो क्षिप्रुल समुद्रोंमें अथवा रेखाते चट्टानके पाम सांघीमेंसे निकलता है।

मोथा -[घास] १. मुलतः, नगर-मोथा नामक घास। २. उपयुक्त घासकी जड़ जो औषधिकी भाँति प्रयुक्त होता है। यह लृण जलाशयोंमें पैदा होता है। इसकी पत्तियाँ बुराकी पत्तियोंकी तरह लम्बी लम्बी और गहरे हरे रंगकी होती हैं। इसकी जड़ें बहुत मोठी होती हैं जिसे सूखर खाकर खाते हैं।

मोलसिरी—[देवी] एक प्रकारका बड़ा सड़ापदार पेड़। इसकी लकड़ी चन्द्रसे लाल होती है।

य

यज्ञमान—१. यह जो यज्ञ करता हो।

दक्षिणा आदि देकर माहर्षीसे यज्ञ, पूजा आदि धार्मिक कृत्य करानेवाला। २. यह जो प्राणियोंको दान देता हो। ३. महादेवकी आठ मूर्तियोंमेंसे एक मूर्ति।

यज्ञ—जिसमें सभी देवताओंका पूजन, अथवा पुतादि द्वारा दहन हो उसे यज्ञ कहते हैं।

यज्ञशाला—यज्ञस्थान। यह मंडप जहाँ यज्ञ होता है।

यज्ञोपवीत—यज्ञसूत्र, जनेऊ। यथा विहित यज्ञ करके यह उपवीत पहनना होता है इसीसे इसको यज्ञोपवीत कहते हैं। सोमद संस्कारोंमेंमें एक संस्कार है। इसका मूल उदरस्थ संस्कार करके गुरुके पास विद्याभ्ययन करनेके लिये भेजना है।

यम—१. संयम, मन इंद्रिय आदिको परा था रोकने रचना। २. भारतीय आर्योंके एक प्रसिद्ध-देवता जो दक्षिण दिशाके दिग्पाल कहे जाते हैं। आजकल ये शत्रुके देवता माने जाते हैं, पापी और पुण्यप्राप्तके पाप-पुण्यका विचारकर पापीको नरकमें और पुण्यप्राप्तको स्वर्गमें भेजते हैं।

यमराज—देवी यम २।

यमुना—१ उत्तर भारतमें प्रवाहित यह पुण्यतोया नदी गङ्गाके सपके सपके हिमालय शैलके यमुनोत्तरी शृंगसे आई कोस उत्तर और पाँचगौड़ शृंगसे नार कोस उत्तर-पश्चिम उत्तर छुई है। हिमालयमें बहकर प्रयागतक अनेक छोटी नदियाँ इसमें आकर मिली हैं और प्रयागमें आकर त्रिवेणी संगमर यह भी गंगाजीमें मिली है। २. मारकण्डेय पुराणमें लिखा है कि यह यमुना

सूर्यकी कन्या और यमकी मंगिनी हैं। यम और यमुना माताके गर्भसे यमज उत्पन्न हुए। इनका वर्षा काल था।

ययाति—नहुष राजाके एक पुत्रका नाम। महाभारतमें उनका उपाख्यान इस प्रकार लिखा है कि एक दिन ये शिकार खेलने जंगलमें गए। वहाँ एक कुँड़ेमें गिरी हुई देवयानीकी देखा और बाहर निकाल लिया। पीछे एक दिन शुक्रकी कन्या देवयानी अपनी शर्मिष्ठा आदि दो हजार दासियोंके साथ जलविहार कर रही थी। इसी समय ये वहाँ पहुँच गए और जल नाँगने लगे। देवयानीसे राजाने कहा—'मैं राजपुत्र हूँ, मेरा नाम ययाति है, मैं ब्रह्मचर्य धारणकर वेद अध्ययन करता हूँ। शिकार करते-करते थक गया हूँ। देवयानीके कह—'तुम दो हजार कन्या और दासी शर्मिष्ठाके साथ आपका वरण करना चाहती हैं। ययातिने कहा, तुम ब्राह्मण-कन्या हो, मैं पत्रिय हूँ, विवाह कैसे हो सकता है। देवयानीने यह वृत्तान्त अपनी दासीके द्वारा अपने पिता शुक्रसे कहला भेजा कि कुँड़ाने मेरा हाथ पकड़कर कुँड़ेसे बाहर निकाला था। अतः आपसे प्रार्थना है कि मेरा विवाह इनके साथ करनेकी आज्ञा दें। शुक्राचार्यके कक्षमें ययातिने शर्मिष्ठा आदि दासियोंबालो देवयानीसे विवाह कर लिया और अपने घर लौटे। कुछ दिन बाद शर्मिष्ठाने अपनी अशुभताके लिये ययातिसे प्रार्थना की। इसके फलस्वरूप शर्मिष्ठाकी भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। देवयानी यह सुनकर बहुत क्रुद्ध हुई और शर्मिष्ठाके पास जाकर कहा कि तुमने काम-तुज्जा होकर घोर पाप किया है। परन्तु शर्मिष्ठाने जब उसे बताया कि उसने एक ऋषिसे अपनी अशुभता कहाई तब जाकर देवयानी प्रसन्न हुई। अन्तमें जब यौल मूल गई तो देवयानी अपने पिताके घर चली गई। पिताने सारा समाचार लकर क्रुद्ध होकर ययातिको शाप दिया कि तुम्हें

बुझाया जा जायगा। राजाने हजार वर्षतक अपने पुत्र पुरभी जवानों लेकर यौवनका उपभोग किया।

यवन—राजा ययातिके शापसे तुर्वसुके वंशधरगण सदापारहीन होकर यवन जातिमें मिल गए। राजा ययातिने तुर्वसुको यह कहकर शाप दिया है :—

यत्वं हृदयाऽज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्मात् प्रजा समुच्छेदं, तुर्वसोस्तवपाप्यसि ॥
संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च ।
विशितासु चरत्येषु गूढ राजा भविष्यसि ॥
गुरुदारप्रसङ्गेषु तिर्य्यग्योनिरागेषु च ।
पशुधर्मेषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि ॥

[महाभारत १।८३।१३-१४]

इससे ज्ञात होता है कि म्लेच्छ और यवन दो जातियाँ हैं। तुर्वसुवंशीय गण यवन देशमें बसानेके कारण सम्भवतः यवन और अनुके वंशधर म्लेच्छ कहलाए। यवन देशोद्भव होनेके कारण इस जातिको नाम यवन पड़ा।

यद्यपि यादवा जाता सुर्वसोर्वयना स्मृताः
दुष्टोः सुतासु वैभोजा अनेषु म्लेच्छजातयः ।

[भारत १।८२-८३]

यधनी—यवनकी या यवन जातिकी स्त्री—देवी 'यधनी'।

युवराज—राजाका यह राजसुमार जो उसके राजका उत्तराधिकारी हो। राजाका यह सबसे बड़ा लड़का जिसे धामे चनाकर राज्य मिलने वाला हो।

योग—१. अपनी चित्तवृत्तियाँ संसारमें हटाकर ईश्वरमें लगा देना योग कहलाता है।

२. अपने प्राण-वायुकी शरीरके छुर्नों चर्मों की भेदन करनेवाली सुपटलिनियोंके साथ ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचा कर कपाल भेदन कर निकाल देना योग द्वारा शरीर-त्याग करना कहलाता है।

योगनिद्रा—युगके अवसानमें विष्णु-की निद्रा

योगबल—बढ़ शक्ति जो योगकी साधनासे प्राप्त हो।

२

रजोगुण—प्रकृतिका यह स्वभाव जिससे जीवधारियोंमें भोग-विलास तथा दिशावेकी रचि उत्पन्न होती है। यह सारण्यके अनुसार प्रकृतिके तीन गुणोंमें से एक है जो चंचल और भोग विलास आदिमें प्रवृत्त करने वाला कहा गया है।

रति—कामदेवकी पत्नी। यह दस प्रतापतिकी कन्या मानी जाती है। दसने अपने शरीरके पसीनेसे उत्पन्न करके कामदेवको अर्पित किया था।

रन्तिदंश—एक अद्भुतशी राजाका नाम। इसने प्रतिदिन दो हजार बैल तथा दूसरे पशु मारकर मांससहित अन्नदान करके अतुलनीय कीर्ति प्राप्त की थी।

रसायन—जरावशाधिनाशक औषधि जिसके सेवनसे बुढ़ापा और रोग नष्ट हो जाता है।

राक्षस—महाने प्राणियोंकी रक्षाके लिये इनकी सृष्टि की। वे भूतप्याससे श्वाबुल होकर अपना कर्तव्य पूरने गए तो महाने उन्हें मनुष्योंकी रक्षा करनेकी आज्ञा दी। उनमेंसे कुछने रक्षाम कहा वे राक्षस हो गए। कुछने पक्षाम कहा वे पक्ष हो गए।

राजहंस—यह एक प्रकारका हंस है। जो घरमात घानेपर सुंदर बाँपकर मीलोंके किनारे उड़ता है और इसे तोना पक्षी भी कहते हैं।

राजहंसो—राजहंस पक्षीकी पत्नी।
राज्याभिषेक—माह्य लोग चतुर्विधोंके वैदिक विधिसे अनुमार राजहंस प्रहस्य करनेके लिये अभिषिक्त करते थे।

रामगिरि—चित्रकूट पर्वत। कुछ लोग इसे भूलसे रामटेक भी बताते हैं।

रावण—रखानेवालेकी राधण कहते हैं। महाकाके पौत्र विभवाका पुत्र रावण था जो लंकाका राजा और सीताका हरण करने वाला था।

राशि—सम्पूर्ण खगोल यादृ भागोंमें ज्योतिषियोंने बाँट दिया है। वे ये हैं:—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ, मीन।

रद्र—[११] वायुकी सृष्टि करते समय प्रज्ञाकी भौहोंके बीचमें क्रोध रूपसे रुद्रदेव की उत्पत्ति हुई थी। उनकी संख्या ११ है—अज, एकपाद, अद्विघ्न, पिनाकी, अपराजित, श्यम्बर, महेश्वर, वृषारुधि, शम्भु, हरण्य और ईश्वर। गरवपुराणके आधारेसे अज, एकपाद, अद्विघ्न, श्यम्बर, पिश्वररूपहर, बहुरूप, श्यम्बर, अपराजित, वृषारुधि, शम्भु, कपर्दी और रैवत वे ११ रुद्र हैं।

रद्राक्ष—इसी नामसे प्रसिद्ध वृषका भीज है जिसकी माला धारण करना शास्त्रमें बहुत अवज्ञा माना गया है।

रुरु—करतूरीमृग।

रेवती—बलरामकी पत्नी, राजा रेवतकी कन्या, जिसका पिताद महानकी आज्ञासे पल-शमरे साथ हुआ था।

रेवा—(देखो नर्मदा ।)

रोहू—एक प्रकारकी मछली।

ल

लफार—लद्, लिद्, लुद्, लृद्, लेंद्, लोट, लृट्, लिट्, लुट्, लृट्, लृट्, लृट् हैं। वर्तमान कासमें लद्, लोटकासमें लिट्, लण-घन भविष्यमें लुट्, घनघन गंशयित भविष्यमें लृट्, भामश्रय तथा विधि अद्यमें लोट

[जिसका प्रयोग केवल वेदमें होता है], आशी-चाँदमें लोट्, अनद्यतन भूतमें लट्, आशीचाँद तथा आभन्त्रण आदिमें लिट्, अनद्यतन भूतमें लुट्, कारण कार्यके विषयमें लो भविष्यत्के लिये हो लट्का प्रयोग होता है।

लंका—राज्यकी राजधानी जो भारतसे दक्षिणमें थी।

लक्ष—सीता और रामके पुत्र थे। इनका नामकरण लक्ष या गौकी दूँछसे अभिषेक करने कारण हुआ था। चाक्रीकाने इन्हें रामायण पढ़ाया था।

लवणासुर—यह एक असुर था जो विश्व-वसुकी कन्या अनलाकी पुत्री कुम्भीनतीके गर्भसे उत्पन्न हुआ। इसके पिताका नाम था, जिसने महादेवजीके प्रसादसे एक मूल प्राप्त कर लिया था। इसके अत्याचारको शान्त करनेके लिये रामचन्द्रजीने शत्रुघ्नको भेजा था और उन्हींके द्वारा इसका वध हुआ था।

लवली—एक फल गिरीष, जिसे हरकारेवरी कहते हैं।

लाम्य—कोमल लृथ, जिसकी रचना पार्वती जीने की। यह लृथ, भाव और लालके साथ कोमल भाँगीके द्वारा धियोपतः क्षियोंके द्वारा शृंगार आदि कोमल रसोंके उद्गीर्णनके लिये होता है। इसके दो भेद हैं, श्रुति और यौग्य। इसके दस रंग हैं—नेत्रपद, शिपतपाद, आसीन, पुष्पगण्डिका, मण्डेदक, त्रिगूढ, सैन्धवाव्य, द्विगूढक, उत्तमोत्तम और पुष्पप्रयुक्त।

लू—गर्भके दिनोंमें चलनेवाली गर्भ हवा जिसके लगनेपर तीव्र ज्वर हो जाता है और मृत्यु भी हो जाती है। लू लगनेपर कच्चे घाम भूँकर उसकी लुगदी धनाकर गरीरपर लेप करनेसे लूका समाप्त हो जाता है। साथमें प्याज लवनेसे भी-लू नहीं लगती।

लोक—(सात) देवो भुवन।

लोकपाल—आठो दिशाओंके अलग अलग लोकपाल हैं। (देखो दिक्पाल।)

लोकालोक—(पर्वत)—यह पर्वत पृथ्वीके चारों ओर परकोटेके समान खड़ा है। इसके कुछ भागमें सूर्य प्रकाश दिखाई देता है और कुछमें नहीं इसीलिये इसका नाम लोकालोक है। ब्रह्माने इस पर्वतपर चारों ओर प्रपम, पुष्पपूव, वानन और अपराजित नामके चार दिग्गज स्थापित किए हैं।

लोध—[लोध]—एक वृक्ष जो भारतके सभी जंगलोंमें होता है। इसका छिलका खमडा सिक्काने व रँगनेके काम आता है। यह पेड़ १० से १२ फुट ऊँचा होता है। इसकी जड़के चूर्णसे अवीर बनता है।

लोहित्य [नदी] या प्रह्लापुत्र—एक पार शान्तनु मुनि हरिवर्षमें हिरण्यवर्ग मुनिकी कन्या अमोघाके साथ रहते थे। एक दिन अमोघाको शबली पाकर मन्ना उस पर मोहित हुए और उसपर बलात्कार करना चाहा किन्तु अमोघा घरमें छुस गई और ब्रह्म अपना धीर्य वहीं छोड़कर चले गए। जब शान्तनु मुनिने खीटकर यह सच देखा-सुना तो उन्होंने अपनी पत्नीको ब्रह्म-धीर्य पी जानेकी कहा। बहुत देर तक पत्नीमे वाद-विवाद करनेके बाद शान्तनु उसे पी गए। कुछ दिनोंके बाद वह रोज अमोघाके गर्भसे जलराशि बनकर उत्पन्न हुआ जिसके भीष्ममें नक्षत्राक्षर, लक्ष्माला तथा किरिट पहने चतुर्भुज और वर्षापात्रा शिखर १२ मगर] पर चढ़ा हुआ एक पुत्र हिरण्यद दिया। यह जल कैलास, सर्वतोक, गन्धमाधन और जारधि नामके पहाड़ोंके घाटीके बीचमें रज दिया गया। जब परशुराम ऋषि महा-हत्याका पाप छुड़ाने उस कुपडमें स्नान करने गए तब लोहितके लिये

उन्होंने पहाड़ काटकर उस जल-से नदी बनाकर बहा दिया। लोहित सरोवरसे निकलनेसे उसका नाम लोहित्य पड़ गया और प्रज्ञादा अंश होने से महामुत्र कहलाया।

वज्र—इन्द्रने दधीचिकी हड्डीसे विश्व-कर्माके द्वारा घृत्रासुरको मारनेके लिये जो अस्त्र बनवाया उसे वज्र कहते हैं।

वस्त [देश]—प्रयागके चारों ओरका देश जिसकी राजधानी प्रतिष्ठानपुर वर्तमान कुँसी, पी।

वनायु [देश]—अरब देश, जहाके घोड़े प्रसिद्ध होते थे।

वन्दी—अपने आश्रयदाता राजाप्रोत्री विश्वासला कहने वाले भ्रातृ।

वराह—विष्णुका तीसरा अवतार। जब प्रलय सागरमें पृथ्वी डूब गई तब ब्रह्माभी नाकसे अगूठे भरका एक वराह-पील निकला जो निकलते ही आकाशतक बढ़ गया। उन्होंने अपने हाँथों से पृथ्वीको पकड़कर बाहर निकाला और उस देश दिग्बलकी मारा जो पृथ्वीकी नीचे रखातलमें ले गया था।

वसन्तु [ऋषि]—जिन्होंने अपने शिष्य कौत्ससे इतनी गुर-दक्षिणा माँगी कि वह उस गुर-दक्षिणाके लिये रघुके पास पहुँचा और रघुने जिसे चुका दिया।

वसु [नदी]—हिमालयसे निकली हुई एक नदी जिसके तटपर अट्टारह गुजावर्ती देवीकी एक मूर्ति है।

वसु—महाशय, अश्विन, वैश्व और शुक्र।

वसुमाला—वाराह लक्ष्मी। अ से लेकर ह तक वसुं।

वसुमल—१. पेदकी छाल। २. पेदकी छालसे बने हुये वस्त्र।

वसिष्ठ या वसिष्ठ—मुनि। ये मन्त्राके माध्यमे उपलब्ध हुए थे। कर्दमकी पुत्री भरन्धरी इनकी पत्नी थी। अश्वदेके सप्तम महलका

अधिष्ठाता वसिष्ठकी कृति है। जब मित्र और वरुणाका वीर्य बसतीवर नामक वज्रकुंभमें गिरा उनसे अगस्त्य और वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई। [देखो अगस्त्य] इन्होंने इसलिये सूर्यवंशका पौरुहित्य स्वीकारा था कि उस वंशमें राम जन्म लेंगे।

वपट—यज्ञोंमें आहुति देते समय इसका उच्चारण किया जाता है। देवताओंको स्वाहा, श्रौपट्, वौपट्, वपट् और स्वभा शब्दोंके साथ आहुति दी जाती है।

वसन्तोरसन—फाल्गुनकी पूर्णिमाके दिन यह उत्सव मनाया जाता है। उस दिन वसन्त कालमें जो चन्दनके साथ आमकी मंजरी खाता है वह निरवय ही सौ वर्षतक सुखसे जीवन बिताता है।

वामन—विष्णुका पाँचवाँ अवतार। (देखो वाल)

वयव्य [अस्त्र]—अंधसे चलाया हुआ वह बाण जिसके चलते ही आधी चलने लगती है।

वार्त्ता—वैश्वयर्म अर्थात् कृषि, शोरणा, व्यापार और दुर्गादे (महाजनी)।

वादाण्ड्य—मंत्रसे चलाया हुआ वह बाण जो जल बरसा दे।

वाग्भोक्ति—प्रचेत ऋषिके वंशमें दूसरों पुरुष। तमसाके तटपर इनका आश्रम था। ये प्रारम्भमें ब्राह्मण पुत्र होने हुए भी किरातका काम करते थे। शूद्रासे विवाह करके उससे कई मन्त्रान् उपलब्ध की। एकवार इन्होंने कई एक ऋषियोंको भी घेर लिया। उन्होंने कहा कि जो पाप हम करते हो उसमें मुग्धारे परिवारवाले भागी हैं या नहीं। जब परिवार वालोंने भरबीकृति की तब इन्होंने ज्ञान हुआ और इन्होंने मुक्तिका उपाय पूछा। उन्होंने राम नाम अपनेकी कटाती वे उलटा करके मरा जगते थे यही वक्त कि इनके शरीर पर वीर्य उड़ आई। तबसे इनका नाम वाग्भोक्ति हुआ।

इन्होंने राम-जन्मसे बहुत पहिले रामायणकी रचना की। प्रथम कवि होनेके कारण इन्हें आदि कवि भी कहते हैं। सीता वनवासके समय इन्होंने ही रामके पुत्र छप, और कुश को शिक्षा दी थी।

वासुदत्ता—श्वन्तिके राजा चंद्र प्रयो-सकी कन्या जिसे वासराज उद्यन हर ले गया था।

वासुकि या वासुकी—नागोंका राजा। शठ प्रधान नागोंमेंसे एक।

विद्याधर—एक देवयोनि जिसके अन्तर्गत रोचर, गन्धर्व और किन्नर आते हैं।

विष्णु—सृष्टिका भरण-पोषण करनेवाले देवता जो शोरसागरमें शेषनागपर शयन करते हैं और जिनकी नाभिसे उत्पन्न कमलमेंसे मङ्गाकी उत्पत्ति हुई है।

विजया—१. पार्वतीकी एक सखी जो गौतमकी कन्या थी। २. वनदेवी।

विजित्थर—बंद रथ जिसपर चढ़कर विजय अथर्व मिलती है।

विदर्भ [देश]—वर्तमान बरार, हैदरा-बादके उत्तरमें।

विदूर [पर्वत]—एक पर्वत जहाँ वैदूर्य-मणि मिलती है।

विन्ध्याचल—भारतके मध्यमें पूर्वसे पश्चिम फैला हुआ पर्वत (देखो धरास्थ)।

विराध [राजस]—इसके पिताका नाम सुपर्जन्य और माताका नाम शशहदा था। पहिले जन्ममें यह तुम्बर नामका गन्धर्व था जो वैश्रवणके शापसे राजस हो गया था। लक्ष्मणके हाथसे इसकी मृत्यु हुई।

विल—१. एक प्रकारके वीधे २. उच्चैःश्रवा घोड़ा।

विशाखा—सत्तार्दस षष्ठ्यांमेंसे सोलहवाँ मन्थर। इसका रूप तोरखाकार है और इसमें नार घारे हैं। यह मन्थर दो भागोंमें बँटा है इसलिये इसके दो देवता हैं इन्द्र और अग्नि।

विरवकर्मा—देव शिल्पी जो सब प्रकारके शिल्प-शास्त्रके आविष्कर्ता माने जाते हैं। ये प्रभास नामक वसुके श्रौतम तथा पृथस्पतिकी मङ्गचारिणी बहिनकी गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इन्होंने ही देवताओंके लिये विमान बनाए थे।

विरवजित्—यह यज्ञ जिसमें सब कुछ द्रव्योंमें दे दिया जाता है।

विश्वामित्र—इन्होंने छत्रियवंशमें जन्म लेकर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया और सात ब्रह्म महर्षियोंमें गिने जाने लगे। इनके पिताका नाम भाधि था।

विश्वामसु—[गन्धर्व] अमरावतीका निवासी गन्धर्व।

विष्कम्भक—नाटकके किसी अङ्कके प्रारम्भमें संक्षेपसे जो विषय कहा जाता है उसे विष्कम्भक कहते हैं। जहाँ एक या दो मध्यम पात्रोंसे कहलाया जाता है वहाँ छुट, जहाँ तीस तथा मध्यम पात्रोंसे कहलाया जाता है वहाँ संकीर्ण या विमिश्र कहा जाता है।

वीणा—बंद तारका वाजा जिसके दोनों और दो तुम्बियाँ होती हैं और बीचके बँडेपर सात तार बिचे रहते हैं। महादेवकी वीणा लम्बी, सरस्वतीकी कच्छपी, नारदकी मदती और तुम्बुरकी कलावती कहलाती है।

वीरासन—देखो पद्मासन। इस आसनसे बैठकर साधक साधना करते हैं।

वृहस्पति—अक्रियके पुत्र देवताओंके गुरु। धर्मशास्त्रके प्रयोक्ता और नवग्रहोंमें ५चम।

वेत्रवती—श्रेतवा नदी जो मालवासे निकलकर कालपीके पास यमुनामें मिली है।

वेद—शक्, यजु, साम, और अथर्व।

वेदांग [६] शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, उद्योतिष और व्याकरण।

वेदान्ती—वेदान्त जाननेवाला। विरक्त।
वेदी—यज्ञके लिये रचव्य की हुई भूमि।

जो विशेष मापके अनुसार लम्बी, चौड़ी, गहरी और ऊँची बनाई जाती है।

वैतरि—कण्डसे उत्पन्न होनेवाला स्पर्श जो लघु ष गम्भीर सुनाई पड़े।

वैजयन्ती—एक प्रकारकी माला जो पाच रंगोंकी और घुटनों तक लटकी होती है। इसे श्रीकृष्णजी पहिनते थे।

वैतालिक चारण या वन्दी जो प्रातःकाल मङ्गल-गीत व वाद्य यज्ञाकर राजाओंको जगाते थे।

वैदूर्य [मणि]—पीले रंगकी मणि जिसके देवता केतु हैं। इसके धारण करनेसे केतुका दोष नष्ट हो जाता है। इसे लहसुनियों कहते हैं।

वैभ्राज—देखो नन्दन-वन।
वैयाकरण—प्रकारण जाननेवाला।

वैष्णव [वाण]—विष्णुका वाण।
व्यूह—शत्रुसे रक्षा करनेके लिये जा

सेनाका विशेष संघटन किया जाता है उसे व्यूह कहते हैं। यह व्यूह चार प्रकारका होता है, वृषभ, शीघ्र, मगदल और असदहत और इनके भी बहुतसे भेद हैं।

व्रत—किसी विशेष पर्वपर विशेष प्रकारका आहार-विहार सम्बन्धी आचारका पालन करना।

शु

शुक्रावतार—एक तीर्थ जो गंगाके किनारे है जहाँ शुकुन्तलाकी अंगूठी गिर पड़ी थी। [वर्तमान सोरों] जो यदायूँ जिलेमें है।

शृंगार—नवरत्नोंमें प्रधान। इसे भरतने रसाराज माना है। इसमें दो आत्मव्यवहारे हैं भावक और भायिका, ३३ संचारियों और नयो अनुभावोंका प्रयोग होता है। इसका स्थायी भाव रति है—पुंस स्त्रियाँ स्त्रियः पुंसि संयोगं प्रति या रेषुहा। स शृंगार इति यथाता रति क्रीडादि

कारणम् ॥ इसके दो भेद हैं। विप्रलम्भ और संभोग। जहाँ नायक या नायिकाका अनुसारासे परिपूर्ण रहनेपर अपने अपने अभिलषित क्षोणोंके साथ संयोग नहीं होता वही विप्रलम्भ शृंगार होता है। जिस समय दम्पतिके दर्शन, स्पर्श, चुम्बन एवं परिस्मरण आदि संघटन होता है, उस समय संभोग शृंगारकी उत्पत्ति होती है। बिना विप्रलम्भके सम्भोग कभी परिपुष्ट नहीं हो सकता।

न बिना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमनुते।
कपायिते हि परत्रादौ भूवान् रागो विवर्धते ॥

शकुन—शुभाशुभ सूचक लक्षण—जो चिह्न देखनेसे शुभाशुभ जाना जा सके।

शक्ति—(शस्त्र) बर्षा जो फँककर मारा जाय।

शची—इन्द्रकी पत्नीका नाम जो दानव-राज पुलस्तकी कन्या थी।

शतभिनी—बर्षा, एक प्रकारका शस्त्र। यह किसी बड़े पत्थर या लकड़ीके बुन्देमें बहुतसे कील बाँटे डोककर बनाया जाता है। इसका ध्वजदार बुन्दके समय शत्रुओं पर फँकनेमें होता है। यह शस्त्र दुर्गके चारों ओर रखना होता है—

दुर्गं शरिखोपेतं चयाष्टालक संयुतम्।
शतभिनी-यंत्रमुष्मैश्च शतशश्च समानृतम् ॥

शब्दवैधी—(वाण) एक प्रकारका वाण। शब्दोच्चारणके साथ ही जो तालु छेदकर ऊपर निकलता है।

शम्भुरू—एक रूद्र तपस्वी। इसकी तपस्याके कारण प्रेता युगमें रामराज्यमें एक ब्राह्मणका पुत्र शक्राज मृत्युको प्राप्त हुआ था। उसे रामने मारकर मृत ब्राह्मण पुत्रको पुनरुत्पत्ति किया।

शमी—एक प्रकारका वृक्ष। यह पत्रके कारणमें अता है। भारतके प्राय सभी प्रदेशोंमें पाया जाता है। मगल और विहारमें अधिक

होता है। इसकी लकड़ों खदिर जैसी है होती। इस जातिके साल पत्तेवाले घुघ अग्निगर्भ कहलाते हैं।

शरत्—फल्गु विशेष। शरद्वन और कातिक मासमें यह ऋतु मानी जाती है। यह काल उष्ण, पित्तवर्द्धक और मानवों के लिये फलप्रद है। शरत्कालमें वायु प्रशामित और पित्त प्रकुपित होता है। इस कालमें जन्म लेने से मनुष्य उत्तम कार्य करनेवाला, तेजस्वी, पवित्र सुशील, गुणवान् सम्मानि और धनी होता है।

श/भ—एक प्रकारका मृग। इससे घाट पेर होते थे। यह सिंह स भा अधिक बलवान् होता था। अपने लम्बे कटसे यह कुपमें मुँट ढालकर पानी पी लेता था। इसकी जाति मष्ट ही गई है।

शरभग—एक महर्षि। वे दक्षिणमें रहते थे। वनवासके समय भगवान रामने इनका दर्शन बिचा था। वे उन महर्षियोंमें हैं जिस लोगोंने दक्षिणके देशोंमें धार्य सन्यताका विस्तार किया।

शर्मिष्ठा—[देखो जयाति]।

शालकी—सलईका पेड़।

शस्त्र—छद्म या छलवार। जो हाथस पकड़ कर चलाया जाता है उसे शस्त्र और जो फेंककर चलाया जाता है उसे शस्त्र कहते हैं।

शातत्रिणि—पृथ श्रुति। पचास्तर नामके ऋषि-सरोवरमें तप करते थे। पहले ये तप करते समय शृंगोंके साथ पास करते थे। तब इन्द्रने पाच अस्तराश्रोंको भेजकर इन्हें तपसे विरत कर दिया।

शाप—अद्विध कामना सूचक शब्द, जो श्रुति या तपस्या लोग किसी पर रष्ट दीकर करते थे और जो अचरय पूरा होता था।

शांतिजल—जो जल पूनाक बाद

शान्तिके निमित्त धरके रहनेवाले व्यक्ति पर छिड़का जाता है।

शार्ङ्ग [धनुष]—विष्णुके हाथमें रहनेवाला धनुष जो दधीचि नापिनी हड्डीसे बना था।

शाल शालका पेड़। हिमालयकी तराईमें सतलजसे आसाम तक तथा मध्य भारतमें इसके घने जंगल हैं। यह वृक्ष सीधा लम्बा बढ़ता है। और इसके पत्ते बड़े बड़े होते हैं। इसकी छालमें छेद करने पर गुम्बुल निकलता है। इसके वृक्षमें छोटे छोटे फूलके गुच्छे लगते हैं जिन्हें तोड़कर कौष्ठ स्रियों सभ्याको अपने जूतेमें खोस लेती हैं।

शास्त्र—वे प्राचीन ग्रन्थ जिसमें मनुष्योंके अनेक प्रकारके कर्तव्य बताए गए हैं तथा अनुचित कर्तव्योंका निषेध किया गया है। हना) यहा ये ही शास्त्र प्रामाणिक माने गए हैं जो वेद मूलक हैं। इनकी संख्या १८ है— शिक्षा, व्रत, व्याकरण, निरत, उद्योग, धन, धर्मवेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, भीर्तासा, न्याय, पुराण, आनुवेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, और अर्धशास्त्र। इन १८ शास्त्रोंको १८ विद्याएँ भी कहते हैं।

शिप्रा—उज्जैनके पास बहनेवाली नदी। तब यज्ञिएन शरत्पत्नीके साथ विवाह किया उस समय मङ्ग, विष्णु और महादेवने उन्हें शान्तिजल और आशावांद् दिया। यह शान्तिजल पहले मानस पर्वतकी चट्टानमें और पाछे मात धाराश्रीमें विभाज होकर मानस पर्वतस हिमालय पर्वतकी गुहा, शिप्रा और सरोवरमें गृभक् गृभक् भाषसे गिरा। उसस शिप्रा सरोवर बहुत बड़ा था। बादमें विष्णुने चक्र द्वारा शिप्राको काटकर उम प्रवृद्ध जल शान्तिकी सुबधवता गई बनाकर श्रुधियावर भेजा। शिप्रा सरोवरसे इसका उत्पत्ति हुई, इसीसे इसका नाम शिप्रा हुआ। इसमें

नहानेसे सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। कातिक मासकी पूर्णिमा तिथिको इसमें नहानेका विशेष माहात्म्य है।

शिरोप— सिरमका पेड़।

शिलाजीत— पहाटमें उत्पन्न होनेवाली औषधि विशेष। गर्मीके दिनोंमें सूर्यकी किरणों द्वारा सन्तप्त पर्वतोंसे जो धातुसार निकलता है, उसीको शिलाजीत कहते हैं। यह चार प्रकारका होता है—

१—सौवर्ण, जवा पुष्पकी तरह लाल, मधुर, कटु, तीता, शीतवीर्य, और कटुविपाक है। २—सातत, श्वेतवर्ण गीतवीर्य, कटुरस, और मधुर विपाक ३—तामस, मधुर कथककी तरह आम्राविष्ट, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य। ४—आयस, अटाघुके रस जैसा आम्राविष्ट, तीता, लवणरस, कटुविपाक, और गीतवीर्य होता है। यही सबसे श्रेष्ठ है।

शुक्र— [प्रत] नवग्रहमें पाचवाँ प्रत। यह शुभग्रह है। यदि तुरे स्थानमें न हो तो मानवका वरपाप करते हैं। सुख, श्री विलास, भूपथ, विज्ञान शास्त्र, भगिनी, श्री, सगीन, और कविता शक्ति देनेवाले हैं।

शुक्राचार्य— यह देवोंके गुरु और भृगु ऋषिके पुत्र थे। इनकी कन्याका नाम देवयानी तथा पुत्रोंका पयस्य और शर्मन् था। देवगुरु वृहस्पतिके पुत्र कचने इनसे सगीवनी विद्या साक्षात् थी [देखो यथाति और कच]।

शूर्पणखा— रावणकी बहिन। विश्रवा ऋषिके औरस और वैशसिके गर्भसे इसका जन्म हुआ था। भगवान रामचन्द्र जब दण्डकारण्यमें गए थे उस समय धाम पीड़ित होकर रामके पास गया करनेकी इच्छासे आई थी। रामके दृश्यासे लक्ष्मणने इसके नाक फाट काट डाले। इसीका बदला लेनेके कारण रवबली खूब रोष बताकर सीताको

हरण करना पवा। इसका नर सुंपके समान था।

शूलो— लोहेकी बद्ध नोकदार किछी जिसपर प्रपराधीकी गुदाकी ओरसे टोंगते थे और वह विचरर मर जाता था।

शोफादिना— एक प्रकारका पुष्प विशेष। शरत्कालमें इसमें फूल रागते हैं। इस ऋतुके अतिरिक्त इसका पुष्प पूजामें चढ़ाना निषिद्ध है। इसके पत्तेका रस सेवन करनेसे सभी प्रकार के ज्वर नष्ट होते हैं। इसकी गंध बबूची और मीठी होती है। इसकी प्रत्येक सीकमें अरहरकी पत्तियों के समान पच पाच पत्तियाँ होती हैं। जिसका ऊपरी भाग नीला और भीचेका भाग सफेद होता है। इसकी अनेक जातियाँ हैं। किसीमें काले और किसीमें सफेद पुष्प लगते हैं। फूल धामके मोरके मगरोंके समानलगते हैं और केशरिया रंगके होने हैं। इसकी माला प्रणमी जनोंके लिये मिय है।

शेषन ग— रात्र जव यह प्रलय कालमें नष्ट हो जाता है तब भगवान् लक्ष्मीके साथ एतिसागरमें शेषके फणके मोचे शयन करते हैं। ये अपना पूर्व फण पैलाकर कमल पुष्पसे उन्हें आच्छादित करते हैं उतर फणसे भगवान्के सिर पर दक्षिण फणमें पाँव दके रहते हैं। पश्चिम फणको फैलाकर भगवान्को रक्षा कलते हैं। ईशान पश्यके द्वारा शङ्ख, चक्र, मन्द, वज्र, मोनों तूषार तथा मरुदको पूर्व भागनेव फणके द्वारा मदा, पद्म प्रभृति धारण किए रहते हैं। इस प्रकार भगवान् विष्णु प्रलयके समय शयन किया करते हैं।

शेषजीत्या— (दे०—शेषनाग)

श्राद्ध— शास्त्र विधानके अनुसार पितरोंको उद्देश्य करने जो कर्म किया जाता है उसको श्राद्ध कहते हैं। धन्नादिके दानका विशेष माहात्म्य है। संस्कृत भगवनादयश्च पयोदधिपूजावितम्। अद्वावा शीघ्रे यश्नाद्वाद् तेन विगतये॥

श्रीवत्स--विष्णुके वल्लभ-पर अंगुष्ठ प्रमाण श्वेत बालोंका दक्षिणावर्त भीरीकासा चिह्न जो भृगुके चरण-प्रहारका चिह्न माना जाता है।

श्रुति--वेदको ध्रुति, धर्मशास्त्रको स्मृति कहते हैं। जहाँ वेद और धर्मशास्त्रका विरोध पड़ता है वहाँ ध्रुति ही प्रमाण मानी जाती है।

प

पङ्कज--संगीतमें सप्तकका पहला स्वर। मोरका शब्द पङ्कज माना जाता है।

स

संस्कार--यद्यदि दूर करनेकी क्रिया। शास्त्रोंके अनुसार इस प्रकारके संस्कारसे जीवकी शुद्धि होती है--गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, ज्ञातकर्म, नामकरण, निष्कर्मण, अन्नप्राशन, चूदाकर्म, पञ्चोपवीत, वेदारम्भ, समावहन, विवाह, गार्हपत्य, अन्त्येष्टि, कर्णवेध, केशान्त-संस्कार हैं।

सगर--सूर्यवंशमें बाहुनामक भ्रातापी राजा थे। इनकी श्रीका नाम यादवी था। एक दिन अकस्मात् इनके ऊपर शत्रुओंने चढ़ाई कर दी, युद्धमें बाहु परास्त हुए और पत्नीके साथ जंगलमें भाग गए। उस समय इनकी पत्नी गर्भिणी थी। यादवीकी सपत्नीको मालूम हुआ कि यादवी गर्भिणी है तो उसने उसे विष पिला दिया पर उससे अघिष्ट नहीं हुआ। राजाकी मृत्यु जंगलमें ही हो गयी। रानी जब राजाके साथ सती होने जा रही थी उसी समय शीर्ष ऋषिने वहाँ आकर उसे रोक दिया। समय पूरा होने पर उसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। शीर्षने उसका जात-संस्कार किया और विपकर्म-पान करनेके कारण वसका नाम सगर रखा। शीर्षने ही उन्हें वेद-शास्त्र और राज-विद्याकी शिक्षा दी। बादमें

उन्होंने हैहय थादि शत्रुओंको मार डाला। राजा सगर इस तरह शत्रुओंको परास्त कर राजसिंहासन पर बैठे। इनकी दो रानियाँ थीं--वैदर्भी और शैव्या। इन्हें संकरजी एक पत्नीसे ६० हजार पुत्र होंगे तथा उनका नाश होगा। एक पंशधर पुत्र होगा। कुछ दिन बाद वैदर्भीसे एक कद्दू हुआ और शैव्यासे एक वीर्यवान पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा उस कद्दूको फेंकने जा रहे थे कि आकाशवाणी सुनाई दी कि हे राजन् इसमें तुम्हें ६० हजार पुत्र उत्पन्न होंगे। राजाने उस कद्दूमेंसे एक एक धोज निकलवाकर घृत कुण्डमें रख दिया और उसकी रक्षाके लिये एक धाम नियुक्त कर दी। कुछ दिन बाद उसमेंसे एक एक बलिष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए। वे लोग देवताओंके साथ अर्था-चार करने लगे। कुछ दिन बाद राजा सगरने मधमेध यज्ञ प्रारम्भ किया। घोड़ेके साथ उनके ६० हजार पुत्र रक्षाके लिये चले। कुछ दूर पर घोड़ा लुप्त हो गया। राजपुत्रोंने राजासे यह सब घटनाएँ कहीं। राजाने उन्हें खोजनेकी आज्ञा दी। वे सब खोजते खोजते कपिल मुनिके आश्रममें गए। वहाँ यथे हुए घोड़ेको देखकर इन लोगोंने उन्हें तुच्छकरना शुरु किया। ऋषिके क्रोध-गर्जने दृष्टिसे देखने कारण जलकर ६० हजार पुत्र वहाँ भस्म हो गए। बादमें राजा सगरके पीय तथा असमंजसकेपुत्र राजा भगीरथने कठिन तपस्या करके गङ्गाको लाए और इन लोगोंका उद्धार किया।

संजीवनी--१. जीवन देनेवाली औषधि। २. एक विद्या जिसके प्रभावसे मृतक भी जी उठता है। शुक्राचार्यकी यह विद्या अती थी इससे कोई दैत्य मरता ही नहीं था। तप देव ताओंने वृद्धपतिके पुत्र कचको शुक्राचार्यके पास यह विद्या सीखने भेजा। वहाँ दैत्योंने कई बार कचका वध किया किन्तु शुक्राचार्यने उसे जिंदा

कालिदास संबंधी पुस्तकों तथा निबन्धों की सूची

[डा० राम कुमार चौधरी]

नोट — कालिदास संबंधी निबन्धोंका मूल्या इतना अधिक है कि उनकी पूरा सूची इस समय प्रगता दुस्तर है तथापि मुख्य पुस्तकों और निबन्धोंका विवरण नीचे दिया जाता है ।

पुस्तकें

मीकूदानेख	A History of Sanskrit Literature
वेबर	A History of Indian Literature
विन्टर निटज़	A History of Indian Literature
काय	The Sanskrit Drama
— —	A History of Sanskrit Literature
— —	Classical Sanskrit Literature
वृष्णनाथप्यार	History of Classical Sanskrit Literature
कुल्लवर्षी के पा	Sanskrit Drama and Dramatists
महावीर प्रसाद द्विवेदी	कालिदास
विजयन	Hindu Theatre
सिल्ववा लेवा	The Theatre of the Indians (French)
अरविन्द घोष	The Age of Kalidasa
रामकृष्ण भट्टाचार्य	A Peep into the Early Hist. of India
— —	Early Hist. of the Decem.
द्विवेन्द्रलाल राय	कालिदास और भवभूति
मिराशा वासुदेव त्रिपुथु	कालिदास
पट्टोपाध्याय के मा	The date of Kalidasa
लक्ष्मणर काका	The birth place of Kalidasa
डे एस मा	Kalidasa and Valmiki
स्मिथ जी	Early History of India
थापगर व ग्य	Studies in Gupta History
चक्रवर्ती ग्य मा	Social Life in Ancient India
रामकृष्ण श्याम	कालिदासका प्रतिष्ठा और उनके समय तथा प्राय रचना संबंधिना विवेचना पर एक नया दृष्टि
द्विवेदी	Kalidasa (German)
हरदत्त शर्मा	Padmavati and Kalidasa
हट	Die Zeit des Kalidasa

- बलदेव उपाध्याय : संस्कृत कवि-चर्चा
 विष्णु कृष्ण चिपलूणकर : संस्कृत कवि पंचक
 पराजपे कै. शि. म. : साहित्य संग्रह
 लेले कै. शि. म. : विक्रमोर्वशीय सार व विचार
 — — : शाकुन्तल सार व विचार
 हरिचन्द्र : Kalidasa.
 पिरोल : De Kalidasae Shakuntali recensio. (1870)
 — — : Die Recensionen der Shakuntala. (1875)
 हेनरी वी : Les literatures de l'inde.
 वेबर : Indische Studien.
 बीलर : Kashmir Report.
 भगवतशरण उपाध्याय : Social India as depicted by Kalidasa.
 गावरान्सकी : Les Sources de quelques drames Indiens.
 गाड. एच. ए. : Kautalya and Kalidasa.
 गावरान्सकी : Festschrift Windisch.
 — — : The Digvijaya of Raghu. (1915)
 बीलर : Die indischen Inschriften.
 गार्डेण्ट : Lit Orsd Sprache der Singhalasen.
 गन्दर्गीकर ; कुमारदास
 गारदाजी : Literary Remains.
 गेस एच : Ein Bertrung Zur Textkritik daas.
 Kalidasa's Meghadute.
 फान श्लोएडर : Indiens Literature und Cultur.
 गेवसमूलर : India : what it can teach us.
 कर्ण : Introduction to Brihatasnhita of Varahmihir.
 काबैल : Buddhacharit of Ashwaghosha
 चापटे : Dato of Kalidasa (marathi) Bombay.
 Chandragomin und Kalidasa (German)
 चटर्जी ए. एच. : Kalidasa, his poetry and mind.
 रामस्वामी शास्त्री : Kalidasa (Vani Vilas Press)
 काजा : Kalidasa (Bombay 1943)
 सुमनेर एम. : Les Heroines do Kalidasa et Belles
 de Shakespeares (Paris)
 सिनेविरत्ते : Life of Kalidasa (Colombo)

पत्र पत्रिकाओंमें लेख और निबन्ध

- हरमसाद शास्त्री : *Kalidasa, his home JBOS (1916)*
 I A XLVII p 261
 I R XI p 292
- मन्मथदास : *Home of Kalidasa I A XLVII p- 261*
- श्रीधर ठाकुर : *Traditions about Kalidasa J A S B XLVII*
- भाऊदाजी : *Saturday Review Jan 1860*
 J B R A S. 1861
- पंडित एल बी : *Introduction to Raghuvansha*
 लामेन : I A II p 451 & 1158-1160
- मानिपर विलिम्स : *Indian Wisdom p 191*
- गन्धीर : *Introduction to Raghuvansha.*
- वीवर : *Malvika & Aganvika (Berlin)*
- विक्रमदित्य : *Vikramaditya and Shalivahana Essay AS IX p 117*
- संकर अक्षर के जी. : *Quarterly Journal of mythe Soc VIII*
- पाठक : *Introduction to Meghaduta*
- नारायणशास्त्री एल : *Age of Sankhuas*
 Shri Hanish the Dramatist
- जयसवाल : *Kalidasa I A XI p 265*
- पाठक : *Kalidasa J B R A S XIX 35*
- चक्रवर्ती : *Kalidasa J R A S (1904) p 158*
 — — (1903) p 183
- स्वामी : *Kalidasa Z, D M G (1908) p. 671*
- रोएनले : *Kalidasa J. R. A. S (1909)*
- केनेडी : *Kalidasa J. R. A. S (1908)*
- तीलग : *Introduction to Mudra Rakshasha*
- रिमथ की : *Kalidasa J A S, B (1905) p. 227*
- कीथ : *Kalidasa J. R. A. S (1909)*
- मन्मथदास वी स्त्री. : *Kalidasa J R. A. S. (1909)*
- मोदी जे. जे . *Kalidasa, Asiatic Papers.*
- गणपति शास्त्री : *Introduction to Pratima Natak.*
- घन्टसी : *Kalidasa, Asiatic Researches VIII 213*
- कीलहर्न : *Kalidasa Got N (1890) p 257*
Kalidasa I. A. XIX p. 285

बलदेव उपाध्याय : संस्कृत कवि-चर्चा

विष्णु कृष्ण चिपलूणकर : संस्कृत कवि पंचक

पराजपे कै. शि. म. : साहित्य संग्रह

लेले कै. शि. म. : विक्रमोर्वशीय सार व विचार

— — : शाकुन्तल सार व विचार

हरिचन्द्र : Kalidasa.

फिरोल : De Kalidasae Shakuntali recensons. (1870)

— — : Die Recensionen der Shakuntala. (1875)

हेनरी वी : Les literatures de l'inde.

वेबर : Indische Studien.

बीलर : Kashmir Report.

भगवतशरद उपाध्याय : Social India as depicted by Kalidasa.

गावरान्सकौ : Les Sources de quelques dramas Indiens.

शाह. एच. ए. : Kautalya and Kalidasa.

गावरान्सकौ : Foss Schrift Wmdisch.

— — : The Digvijaya of Raghu. (1915)

भीलर : Die indischen Inschriften.

गाईगेट : Lit Orsd Sprache der Singhalasen.

नन्दगीकर ; कुमारदास

भाउदाजी : Literary Remains.

पेल एच : Ein Bertrung Zur Textkritik daes,
Kalidasa's Meghadute.

फान रनोएडर : Indiens Literature und Cultur.

मेक्समूलर : India : what it can teach us.

कर्ण : Introduction to Brihatasnhita of Varahmihir.

कावैल : Buddhacharit of Ashwaghosha

आपटे : Date of Kalidasa (marathi) Bombay,
Chandragomin und Kalidasa (German)

चटर्जी ए. एस्. : Kalidasa, his poetry and mind.

शमस्वामी बापूजी : Kalidasa (Vani Vilas Press)

भाळा : Kalidasa (Bombay 1943)

मुमनेर एन. : Les Heroines de Kalidasa et Belles

de Shakespeares (Paris)

सिनेविरसे : Life of Kalidasa (Colombo)

पत्र पत्रिकाओंमें लेख और निबन्ध

- हरप्रसाद शास्त्री Kalidasa his home JBOS (1916)
I A XLVII p 261
I R XI p 292
- महमदर Home of Kalidasa J A XLVII p 264
- प्राधर सन Traditions about Kalidasa J A S B XLVII
- भाऊदासा Saturday Review Jan 1860
J B R A S 1861
- पंडित श्याम पा Introduction to Raghuvansha
जासन I A II p 451 & 1158-1160
- मानियर विलिम्स Indian Wisdom p 191
- नन्दगौर Introduction to Raghuvansha
- चारर Malvika & Agamitri (Berlin)
- विचक्रुं Vikramaditya and Shalivahana Essay AS IX p 117
- सकर श्रद्वर के जा Quarterly Journal of mythic Soc VIII
- पादर Introduction to Meghaduta
- नारायणराखा टा एम Age of Sankhas
Shri Husha the Dramatist
- जायनवाल Kalidasa I A XL p 260
- पाठक Kalidasa J B R A S XIX 35
- शक्रवर्त Kalidasa J R A S (1904) p 158
— — (1903) p 183
- प्लायर Kalidasa Z D M G (1908) p. 671
- रोणनले Kalidasa J. R A S (1909)
- केनेडा Kalidasa J R A S (1908)
- हेलम : Introduction to Mudra Rakshasha
- रिमप का Kalidasa J A S B (1905) p 237
- बाथ Kalidasa J R A S (1909)
- महमदर पा सा Kalidasa J R A S (1909)
- मोदा जे जे Kalidasa Asiatic Papers
- गणपति शास्त्री Introduction to Pratima Natak
- वेल्खा Kalidasa Asiatic Researches VIII 243
- कावहरां Kalidasa Got N (1890) p 257
Kalidasa J A XIX p 285

- लाइब्रिय : Kalidasa Annual, Rep. of the Ges. des Vaterlandische Kultur (Breslaw 1903)
- याकोबी : (Jacobi) Kalidasa VoJ. III p. 127
- सत्ताचार्य : 1st Verse of Raghuvarsha JASB XXI and oriental Conf. Proc. III (Madras)
- शिवप्रसाद भट्टाचार्य : Analysis of Raghuvarsha JASB. XXI
Proceedings 4th. oriental Conference
Studies of Ritusaukhara. Karna yugin Journal
- बोपेल : Kalidasa Z. D. M. G. LXVI
Kalidasa J. R. A. S. 1913. 401
Kalidasa J. R. A. S. 1912
- स्ट्रेन्डलर : Kalidasa Z. D. M. G. XLIV
- अरविन्द घोष : Kalidasa's Seasons
- बेन्डेल : Kalidasa in Ceylon J. R. A. S. (1880)
- ग्रॉवरन : Are Kalidasa's heroes monogamists J. A. S. B. XLVI p. 39
— — : Some Notes on Kalidasa JASB XLVIII (32-18)
- जेमॉनट : Further proof of Polygamy of Kalidas's heroes JASB. XLVI p. 160
- प्राणनाथ पंडित : Morals of Kalidasa JASB XLV p. 352
- जेहसन : Legend of Kalidas preserved in Ujjain JAOS XXII p. 331
: Time Analysis of Drama of Kalidasa JAOS XX p. 311-59
: Bibliography of Kalidasa's plays JAOS XXII p. 237
XXIII p. 937
- ट्रिब्लू अर. बी. : Traditional Account of Kalidasa JA VII 115
- होसर्नले : Kalidasa and Kamaudaki IA XLI p. 156
- चामर्नी जे. बी. : Kalidasa the great Indian poet. Journal of Mythic Soc VIII p. 261
- वृषिहाचार्यार : Life of Kalidasa J. of Mythic Soc VIII p. 273
- कृष्ण शास्त्री : Formative influences of Kalidas J. My. S. IX p. 557
- व्यङ्ग सुन्दर्या : Kalidasa's Sociological Ideals J. My. S. Ibid 95
- व्यङ्ग रमनय्या : Some Views of Kalidasa's philosophy and Religion J. M. Y. S. Ibid 98
- कृष्ण आचंगर : Kalidasa and Shakespeare J. My. Soc. ibid 151
- भंडारकर डॉ. अर. : Solecisms of Shankaracharya & Kalidasa (I. A. XLI 211)
- वृषिहाचार्यार : Kalidas's Religion and Philosophy (IA, XXXIX 236).

- सोवागो वी. वी. : Essay on Society in the time of Kalidasa (in Malavati)
- रामशास्त्री, अन्नमरान्दु : Heroines of Kalidasa (Sah XXII, 15)
- चटर्जी ए. सी. : Kalidasa, his poetry and mind (M R XI Calcutta)
- शुशुमाचारायण : Kalidasa and Bhavabhuti (Sah XVIII)
- रामानुजाचार्य : Kalidasa's date (Sah XIX)
- रामाचार्य : Kalidasa's Love for deer (Sah XXIV) (Sahodaya, a Sanskrit Journal of Madras)
- शेवगिरि शास्त्री : Kalidasa (IA I 310)
- शुशुस्वामी शर्मा : Poetry of Kalidasa (I R XIV 899)
- शिन्डे : Notes on Kalidasa (IA XLXII)
- हरिचन्द्र : Les Citations des Kalidasa dans le traites d' Alankara (J. A. VII No i, ii)
Kalidasa et la poetique de l'inde Paris Revueed in (J. R. A S 1916)
- वैद्य सी वि : Pandya and the date of Kalidasa
- मन्मथदास के. जी. : Vatsyayana and Kalidasa (IA XLVII 195)
Kalidasa and Kamudaki (IA XLVI 220)
- चटर्जी वी. के. : Poet Kalidasa and sea voyage (Journal Dep of Letters Calcutta XVI)
- आनन्द कौल : Birth place of Kalidasa (Journal of Indian His VII 315)
- राजसुब्रह्मण्य शर्मा : Kalidasa his philosophy of Love (JOR III 310)
- विन्कट रामस्वामी जी. के. : Kalidasa and Bhasa in the light of western Criticism (J My. XVII 125)
- रंगस्वामी सास्वती : Kalidasa J. My. XV 269 XVI 95
- शारदा : Kalidasa and Kautilya (J My. Soc. XI 12, X 303)
Astronomical date in the dramas of Kalidasa (Proceeding, All India Oriental Congress 1921)
- शरद शर्मा के. जी. : Vikrama theory of Kalidasa's date (J. My. XI 199)
- चटर्जी : Date of Kalidasa J. R. A. S (1891) 330
- भाट्टराजी : On the Sunkrit Poet Kalidasa (J. B R A. S VI 1920)
- मन्मथदास वा. सा. : Date of Kalidasa (I B O R S II 355)

- शंकर अक्षर के. जी. : Yasodhaman's theory of Kalidasa's date. (J. B. O. R. S VII 60)
- के. वैन्कट रमन्दा : Kalidasa and Bhasa in the light of western Criticism J. My. S. XVIII 127
- सुन्दराराव शास्त्री : Kalidasa's flowers (Bharati)
- वैन्कट रमन्दा : Was Kalidasa a votary of Kalidasa (Bharti V 688)
- रामकृष्ण अय्या : Ritusanhara; Bharati V 387
- विद्य शार्ङ्ग : Megha Sandesha, Bharati V 678
- रामदास्य : Megha Sandesha, Bharati V 20
- जगो पन्तालू : Kalidasa, Bharati VIII 19
- रामकृष्ण राय : Kalidasa and Bhavabhuti (Bharati III 15)
- सुततमस्य शार्ङ्ग : Kalidasa patrauhityam (Bharati V 326)
- शिवराम मूर्ति : Kalidasa and painting (J. O. R. VII 160)
- वैन्कटराम शार्ङ्ग : Mystical elements Kalidas (J. O. R. VII 357)
- महुमदार : Birth place of Kalidasa IA XLVII 264
- यमस : Birth place of Kalidasa J. R. A. S. 1918 p. 118
- डे. एन. के. : Kalidasa I. H. Q. 1940 385 ff.
- रामनाथ अक्षर : The authorship of Nalodaya (J. R. A. S. 1925)
- गोखले बां बां : The Mangalashtaka of Kalidasa
- महुमदार जं. एन. : Kalidasa and music Annals. B. O. R. I 1925-26 VI
- मंडारकर डॉ. नार. : Date of Kalidasa Annals BORI VIII p. II
- हरदल शर्मा : Padmapurana and Kalidasa Cal. O.S. No 17 1923
- लुई फिनो : Kalidasa in China (I H Q. 1933, 829, 834)
- स्टाइन कोनो : Kalidasa in China (IHQ 1934, 566 ff)
- प्रबोधचन्द्र सेन गुप्त : Date of Kalidasa Sahitya parishad. patrika Bengali XII No 2
- चट्टोपाध्याय के. सी. : Kalidasa and the Hunes, Jour Ind. His. XV pt. I
- भागवत शरण उपाध्याय : Educations and Learning as depicted by Kalidasa and Fine Arts as depicted in Kalidasa, Journal B. H. Uni IV 1-3
- राजवन बां : Women characters in Kalidas's dramas (Annual Oriental Research Uni, Madras IV 1939-40
- कुन्दन राजा : Studies in Kalidasa (Annuals Oriental Res. Uni. Madras V pt 21940-41
- सुमदहयम् ए. सी. : Nature Poetry in Kalidasa's Raghvansha J. Annals Univ. III 1924 and 35

कालिदासके कालमें निर्दिष्ट
शिलेन्द्र गुप्त

भारत का प्राचीन नक्शा

